यजुर्वेद

See in built Index in PDF file

स्वाध्याय मण्डल
किल्ला पारडी
(जिला वलसाड)

यजुर्वेद का सुबोध भाष्य

भाष्यकार

पद्मभूषण डा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर



स्वाध्याय मण्डल

पारडी

प्रकाशक
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय मण्डल, पारडी
[जि० वलसाड]

This book has been published with financial assistance from the Ministry of Education and Culture, Government of India

1985

Rs. 460 for 10 Vols.

मुद्रक
चमन आफसेट प्रिंटर्स, नई दिल्ली



वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल

यजुर्वेद-संहिता ।

अथ प्रथमोऽध्यायः।

॥ओ३म्॥ इषे त्वो॒र्जे त्वा॑ वा॒यव॑ स्थ दे॒वो वः॑ सवि॒ता प्रार्प॑यतु॒ श्रेष्ठ॑तमाय॒ कर्म॑णे॒ आप्या॑यध्व मघ्न्या॒ इन्द्रा॑य भा॒गं प्र॒जाव॑तीरनमी॒वा अ॑य॒क्ष्मा मा व॑ स्ते॒न ई॑शत॒ माघश॑ꣳसो ध्रु॒वा अ॒स्मिन् गोप॑तौ स्यात॑ ब॒ह्वीर्यज॑मानस्य प॒शून्पा॑हि ॥१॥

[१ '(त्वा इषे) सबको उत्पन्न करनेवाला देव सविता देव तुझे अन्न प्राप्तिके लिए प्रेरित करे। (त्वा ऊर्जे) सबको उत्पन्न करनेवाला देव तुझे बलप्राप्तिके लिए प्रेरित करे। (वायवः स्थ) हे मनुष्यो ! तुम प्राण हो। (सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु) सबका सृजन करनेहारा देव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्मके लिए प्रेरित करे। (आप्यायध्वम्) हे मनुष्यो ! बढते जाओ। (अघ्न्याः) तुम सभी प्रजा वध करनेके लिए अयोग्य हो। (इन्द्राय भागं) तुम इन्द्रके लिए अपना भाग बढाकर दो। (प्रजावतीः) तुम संतानयुक्त, (अनमीवाः) रोगमुक्त, (अयक्ष्माः) और क्षयरोग-रहित होओ। (स्तेनः वः मा ईशत) चोर तुम्हारा प्रभु न बने, (अघशंसः मा) पापी तुम्हारा स्वामी न बने, (अस्मिन् गोपतौ ध्रुवा स्यात) इस भूपतिके निकट स्थर रहो।) बह्वीः स्यात) अधिक संख्यामें प्रजा संपन्न होओ (यजमानस्य पशून् पाहि) यज्ञ करनेवालेके पशुओंकी रक्षा करो ॥ १ ॥

'हे मानव ! सविता देव (त्वा इषे) तुझे अन्नकी प्राप्तिके लिए कर्म करनेको प्रेरित करे।' सबसे पहले मानवको अन्न प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, अन्नके बिना मानव जीवितही रह नहीं सकता। इसलिए अन्न पानेके लिए कर्म करनेकी तैयारी करो, इस प्रकार यहां उपदेश दिया गया है। 'सविता' शब्द यद्यपि सूर्यके लिए प्रयुक्त होता है तो भी यहांपर शतपथ ब्राह्मणके 'सविता वै देवानां प्रसविता' (१।१।२।१७) इस वचनके अनुसार सविता सब देवोंका निर्माता परमात्मा, इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अतएव पहले वाक्यका अर्थ है- 'जो सबका उत्पन्नकर्ता परमात्मा है वह तुझे अन्न पानेके लिए कर्म करनेको प्रेरित करे'।

१ (यजु. सु. भाष्य)

यदि केवल अन्नही मिल जाये तो पर्याप्त नहीं, उसे आत्मसात् कर उससे बल बढानेकी आवश्यकता है। इसलिए दूसरेही मंत्रभागमें कहा है कि—

'यह जो सबका बनानेहारा परमात्मा है वह तुझे बल बढानेके लिये प्रेरित करे।' पहले यथेष्ट अन्न प्राप्त करो और पश्चात् उसका योग्य उपभोग लेकर बल बढाओ। अन्नका अत्यधिक सेवन कर चुकनेपर अजीर्णके मारे बल कहीं घट न जाए, इसलिए प्रयत्न करो और जिससे बल सदा बढता रहे, इसी तरह अपना कार्य करते रहो। अब बहुतसा अन्न मिलनेपर शरीर हृष्टपुष्ट तथा बलिष्ठ हो गया तो भी उतनाही पर्याप्त नहीं है। 'मैं कौन हूँ' इस विषयमें पर्याप्त

सोच लेना चाहिए। लोग भूल तथा भ्रमके कारण अपने स्थूल शरीरकोही सब कुछ समझ बैठते हैं। मानवमें 'शरीर, इन्द्रिय+मन, प्राण+बुद्धि तथा आत्मा' पाये जाते हैं। इनके समन्वयसे मानव बनता है। पहले दो स्थूल, दूसरे दोनों सूक्ष्मसे स्थूलको जोडनेवाले तथा अंतिम दो सूक्ष्म तत्त्व हैं। स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मकी शक्ति अधिक है, इस कारण सूक्ष्मका ध्यान देनेयोग्य है और इन्हें मुख्य तत्त्व ऐसा कहते हैं। इसकी सूचना तीसरे मंत्रभागमें दी गयी है।

'हे मानवो! तुम सभी प्राणरूप हो।' शरीर नष्ट होनेवाला है और प्राण तथा आत्मा अमर है। यजुर्वेदके ४० वें अध्यायमें यही बात स्पष्ट कर दी गयी है। 'वायुः अनिलं अमृतं अथ इदं भस्मान्तं शरीरं' (अ. ४०।१५) 'प्राण (अन्+इलं) अपार्थिव अमृत है और यह शरीर भस्म होनेवाला है।' ४० वें अध्यायमें जो यह मंत्र है, उसकी तुलना प्रस्तुत मंत्रसे करनेपर ध्यानमें आ जायेगा कि, जिसके लिए अन्न प्राप्त किया गया तथा जिसका बल बढाया गया, वह मानवी शरीर नष्ट होनेवाला है। इसलिये आवश्यकताके अनुसार मानवदेहकी उन्नति कर चुकनेपर अपने प्राण, बुद्धि एवं आत्माको, जो शाश्वत शक्तिसे अनुस्यूत हैं, उन्नत करनेकी ओर ध्यान देना चाहिये। इस बातकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करनेके लिये यहाँपर उपदेश किया है कि 'तुम प्राणरूप हो।' मनुष्य केवल शरीररूपही नहीं किन्तु प्राणरूप है। पहले दो मंत्र-विभागोंमें एकवचनके प्रयोगद्वारा एक एकके लिए वैयक्तिक तौरपर उपदेश दिया है। हरएकको व्यक्तिशः अन्नप्राप्तिके लिए तथा बलवृद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु मानव संघ, समुदाय बनाकर रहनेवाला प्राणी है, इसलिए उसको उचित है कि वह अगले उपदेशको कार्यरूपमें परिणत करते समय मनमें यह धारणा अक्षुण्ण बनाए रखे कि, 'वह सामुदायिक जीवन बितानेवाला है।' संघिक तथा सामुदायिक जीवनही मानव जीवन है, मानवको अमरता संघसेही सिद्ध होनेवाली है। आगे चलकर इसका अधिक स्पष्टीकरण किया जायगा।

सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु= सबको उत्पन्न करनेवाला देव तुम सब लोगोंको श्रेष्ठतम कर्म करनेके लिये प्रवृत्त करे। इस मंत्रभागमें ऐसा उपदेश दिया है कि, 'सब मिलकर अपने सभी लोगोंकी उन्नतिके लिए जो करनेयोग्य एवं अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य-कलाप हैं उन्हें कार्यरूपमें परिणत करें'। कर्मके विभिन्न प्रकार हैं। विकर्म, अकर्म, कर्म, श्रेष्ठकर्म, श्रेष्ठतर कर्म, श्रेष्ठतम कर्म' ऐसे बहुत प्रकारके कर्म हैं। 'विकर्म' का अर्थ है विरुद्ध कर्म, जिसके करनेसे अवनति होती है। इससे भी क्रमशः अगले कर्म श्रेष्ठ हैं जिनमें सर्वोपरि कर्म 'श्रेष्ठतम कर्म' हैं। अतएव यह मंत्र कह रहा है कि हर मानव या मानव-समुदायको उचित है कि वह 'श्रेष्ठतम कर्म' निष्पन्न करनेकी महात्वाकांक्षा अपने सामने रखे। मानवजाति सदैव सतर्क रहे कि हीन, जघन्य कर्म कभी न होने पायें। यदि पाठक इन चारों मंत्रभागोंके पारस्परिक संबंधको ओर ध्यान देंगे, तो उन्हें पता लगेगा कि, पहले दो मंत्रोमें जो उपदेश दिये हैं कि 'अन्न प्राप्त करो और बल बढाओ' उनमें भी यह भाव छिपा हुआ है कि, 'श्रेष्ठतम, अत्यन्त स्तुत्य कर्मोंके द्वाराही अन्न प्राप्त करो और वैसेही प्रयत्नोंसे बल बढाओ'। उनका यह आशय कदापि नहीं कि किसी भी भलेबुरे मार्गसे अन्न प्राप्त किया जाये। ध्यानमें रहे कि संपूर्ण यजुर्वेदमें जहां कहीं भी 'कर्म करो' ऐसा उपदेश है वहां श्रेष्ठतम, सराहनीय कर्मही अभीष्ट है।

ऐसे श्रेष्ठ कर्तव्यकर्म कर चुकनेपरही आप्यायध्वं=तुम सब अपनी उन्नति करो। 'आप्ययन' का अर्थ है संपूर्ण अविकल उन्नति। संतुलित विकासका भाव इससे झलक पडता है। 'आप्यायन्तु ममांगानि वाक् प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमयो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्म०' (उपनिषच्छान्ति) मेरे सभी अवयव, मेरी सभी इन्द्रियें, मेरा बल आदि सब बढे। ऐसा आदर्श यहाँपर उपस्थित किया है। इस 'आप्यायन' क्रियासे दर्शाया जाता है कि शारीरिक, मानसिक, वैयक्तिक तथा सामुदायिक सभी प्रकारकी उन्नति वांछनीय है। हम सभी विकसिक हों, हम सभी उन्नत बनें इसीलिए अन्न प्राप्त करना, बल बढाना, प्राणशक्तिको पल्लवित करना और अत्यन्त श्लाघनीय कर्म सामुदायिक उन्नतिके लिये करना अत्यंत आवश्यक है।

क्योंकि तुम सभी 'अघ्न्याः' अवध्य हो, तुम्हारी शक्तियाँ क्षीण न हों। हे मानवो! ध्यानमें रखो कि तुम्हारा विनाश तुम्हारे या दूसरोंके द्वारा कभी न होने पाये। सब प्रकारसे तुम्हारी उन्नति हो, जिससे तुम्हारी वृद्धि हो ऐसेही कार्य तुम्हें करने चाहिए और यदि कोई तुम्हारा विनाश करनेका प्रयत्न करे तो तुम उसका प्रतिकार करे, एवं अपनी उन्नतिकी

राहके सभी रोडे दूर करनेकी चेष्टा करो। यही इस समय तुम्हारा प्रशस्ततम श्रेष्ठ कर्म है।' इस भांति अपनी संपूर्ण उन्नति करनेके उद्देश्यसे प्रेरित होकर तुम---

इन्द्राय भागं श्रेष्ठतमाय कर्मणे आप्यायध्वं= अपने नरेन्द्रके लिए अपनी आयका देने योग्य भाग श्रेष्ठ कर्म करनेके लिए बढाकर उसे दो। जो मनुष्योंके शत्रुओंका (इन् शत्रुन् दृणाति इति इन्द्रः) विनाश करता है वह 'इन्द्र' है। ऐसे नरेन्द्रका भाग यदि उसे मनुष्य देंगे, तो वह मनुष्यके लिए वांछनीय राज्यशासन सुचारु रूपसे चलाकर सु-राज्यके प्रबन्धद्वारा प्रजाकी ही वृद्धिको खूब पनपने देगा और इस तरह राजा तथा प्रजा एक दूसरेके सहायकर्ता बनकर यदि मिल जुलकर सर्वांगपूर्ण प्रगतिका कार्य करते रहें तो शीघ्रही दोनों प्रगतिपथपर आगे बढते जायेंगे। अतएव, हे मनुष्यो! नरेन्द्रको उसका उचित भाग देनेके कार्यको न भूलो। इस ढंगसे यदि आप सु-राज्य तथा स्व-राज्य व्यवस्थाको अक्षुण्ण रखोगे तो -

प्रजावतीः, अन्+अमीवाः, अ-यक्ष्माः= तुम उत्तम संततिसे युक्त, आरोग्यसंपन्न एवं क्षय जैसे रोगोंसे छुटकारा पाकर सुखपूर्वक जीवन बिता सकोगे, क्योंकि उत्कृष्ट राज्यव्यवस्थासेही कर्तृत्वशील संततिका निर्माण तथा राष्ट्रका रोगमुक्त होना संभव है। राज्यप्रबंधसे यदि रोग दूर हों, श्रेष्ठ तथा कर्मण्य संतान उत्पन्न हों, तो उस राज्यशासनको श्रेष्ठ समझना चाहिए। यदि कोई दुष्ट, स्वार्थी या चुरानेकी मनोवृत्तिवाला मनुष्य तुमपर शासन चलानेका यत्न करे तो--

स्तेनः वः मा ईशत, अघशंसः वः मा ईशत= चोर तुमपर अधिकार न प्रस्थापित करे और जो मनुष्य पापाचरणसे प्रसिद्ध हुआ है, ऐसा दुष्ट पुरुष वह तुमपर प्रभुत्व न चलाए। इसका तात्पर्य इतनाही है कि तुम चोर या पापी नरेशके राज्यमें न रहो। यदि चोर अथवा पापी पुरुष तुमपर अपनी सत्ता प्रस्थापित करने लगे, तो तुम अवश्य उसका प्रतिकार करो, उसे हराकर दूर भगा दो। तुम निश्चय करो कि चोर या पापियोंकी छत्रछायामें कभी न रहोगे। तुम उसेही अपना (इन्द्र) शासक बनाकर जो तुम्हारे शत्रुओंको अपना शत्रु समझता हो और उन शत्रुओंको हटानेके लिए प्राणपणसे चेष्टा करता हो, ऐसे वीर इन्द्रके राज्यमें तुम आनन्दसे रहो।

अस्मिन् गोपतौ ध्रुवा स्यात= ऐसे पृथ्वीपालककी छत्रछायामें स्थिर बनकर निवास करो। जो तुम्हारे धनको लूटता न हो और तुम लोगोंसे पापपूर्ण बर्ताव न रखता हो, इतनाही नहीं अपितु तुम्हारी (गौ) भूमि-मातृभूमिकी रक्षा सच्चे अंतःकरणसे करता हो, (पति=पाति) ऐसे नरेशके राज्यमें सहर्ष रहिए और---

बह्वीः स्यात= अधिक संख्यामें बढते रहो; संख्या, गुण, कर्तव्य और अन्य सभी दृष्टिकोणोंसे अपनी संख्या बढाओ। तुम्हारी संख्या बढे और तुम्हारे अन्दर विद्यमान अन्य गुण भी विकसित हों।

यजमानस्य पशून् पाहि= यजमानके पशुओंको सुरक्षित रखीए। अब हमें देखना चाहिए कि यहांपर 'यजमान' कौन है, उसके 'पशु' कौन हैं और उनकी रक्षा कैसे की जाय। 'आत्मा यजमानः' (कौ० ब्रा० १७।७; गो० ब्रा० उ० ५।४) इससे जान पडता है कि पहला यजमान आत्मा है और दस इन्द्रियां इसके पशु हैं। 'इन्द्रियाणि पशवः' (नृ० पू० उ० १।४) 'आत्मा नामक जो यजमान है उसके पशु इन्द्रिय हैं'। ये भले बुरे स्थानोंमें चरनेके लिए दौडते हैं, इस कारणसे इनकी देखभाल करनेके लिए एक चतुर निरीक्षककी नियुक्ति करनी चाहिए। नहीं तो ये पशु खेतोंमें दिखाई देनेवाली हरी भरी घास खानेके लिए दौडधूप कर विषयभोगकी खाइयोंमें जा गिरेंगे। दूसरा यजमान यज्ञ करनेवाला याजक है और इसके पास गौ, बछडे आदि पशु हैं। उनका भी संरक्षण करना उचित है, ताकि वे गुमराह न होने पायें, क्योंकि उनके घृत दुग्धका यज्ञमें हवन किया जाता है। तीसरा यजमान प्रजापालक नरेश है। 'यजमानो ह्येव... प्रजापतिः' (श० ब्रा० १।६।१।२०) राष्ट्रमें प्रजाओंका पालन करनेहारा नरेश यजमानस्वरूप है और वह (राष्ट्रं वा अश्वमेधः। श० ब्रा० १३।१।६।३; तै० ३।८।९।४) राष्ट्ररूपी अश्वमेधका अनुष्ठान करता है। इस यजमानका जो राष्ट्रीय महायज्ञ चलता है, उसमें विभिन्न राष्ट्रकार्य करनेके लिए जो अधिकारी नियुक्त हैं वे पशु हैं; क्योंकि ये कभी कभी रिश्वत आदि लेकर पथभ्रष्ट हो जाते हैं, इस कारणसे इनकी देखभाल करनेके लिये एक पर्यवेक्षककी आवश्यकता है। ताकि वे अपनी कर्तव्य-मर्यादाका उल्लंघन न करें और उन्मार्गगामी न होने पायें। ऐसे ये यजमान और ऐसे ये इनके पशु हैं तथा उनकी रक्षाके भी प्रकार इस प्रकार हैं। यदि इनका मनन किया जाय तो पाठकोंको इस उपदेशसे बहुत कुछ जानकारी मिल सकती है॥ १॥

×

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि ।
परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥२॥

[२] (**वसोः पवित्रं असि**) तू वसुओंकी शुद्धता करनेका साधन है, (**द्यौः असि**) तू द्युलोक है, (**पृथिवी असि**) तू पृथ्वी है, (**मातरिश्वनः घर्मः असि**) तू प्राणकी उष्णता है, (**विश्वधा असि**) तू सबका धारक है, (**परमेण धाम्ना दृंहस्व**) तू परम धामकी सहायता पाकर बढे, (**मा ह्वाः**) कुटिल न बन, (**ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत्**) तेरा यज्ञपति कुटिल न बने ॥ २ ॥

प्रथम मंत्रमें इस प्रकारका साधारण कोटिका उपदेश सुनकर कई ऐसी शंका प्रदर्शित करेंगे कि यदि मानव अत्यन्त दुर्बल तथा क्षुद्र हैं तो भला वे इस प्रकार सर्वांगपूर्ण उन्नतिका महान् कार्य कैसे कर सकेंगे ? इस तुच्छ एवं नगण्य भावको जडमूलसे उखाड फेंक देनेके लिए इस दूसरे मंत्रमें कहा गया है कि मानवकी शक्ति कितनी महान् है। भलेही मानव अपनेको क्षुद्र तथा नगण्य समझ बैठे पर तत्त्वके दृष्टिबिन्दुसे उसका सामर्थ्य कितना बडा है, देखिए—

तू 'वसोः पवित्रं असि'= तू वसूओंकी पवित्रता करनेका साधन है। 'पवित्रं' का अर्थ है 'शुद्ध, स्वच्छ करनेका साधन जैसे छलनी आदि' 'वसूनां पावकश्चास्मि' गीतामें कहा है कि मैं वसुओंको पवित्र बनानेहारा हूं, (गी. १०। २३)। 'पावक' शब्दके दो अर्थ हैं, अग्नि एवं पवित्रता करनेवाला। 'वसोः पवित्रं' वाक्यकी तुलना 'वसूनां पावकः' वाक्यसे करने योग्य है। वसु आठ हैं। वे इस तरह हैं— 'अष्टौ वसवः... अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव, एते हीद ँ सर्वं वासयन्ते।' (श० ब्रा० ११।६।६।६) अग्नि, पृथिवी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा तथा नक्षत्र आठ वसु हैं क्योंकि ये सबको बसाते हैं। ब्रह्माण्डमें पाये जानेवाले ये वसु हरएक पिण्डमें भी अंशरूपसे रहते हैं; 'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। ये पृथिवी आदि आठ वसु इस मानवी शरीरमें निवास करते हैं और जीवात्मा देहमें इन वसुओंको निर्दोष बनाकर शुद्ध करनेका कार्य करती है। यही कारण है कि जीवके इस देहमें रहनेतक शरीर पवित्र रहता है और ज्योंही जीव देहका त्याग करता है, शरीर अपवित्र बनता है। यह जीवात्मा मानवी देहमें इन आठ वसुओंको रखकर उन्हें प्रतिपल पवित्र करती है, इसलिये इसे 'वसुओंको पवित्र करनेहारा' ऐसा कहा है। चूंकि यह वसुओंको अपने अधीन रखकर उनकी शुद्धता करनेवाला है इस कारण इसकी योग्यता सचमुच बहुत बडी है। निसर्गतः इसमें पंचमहाभूतोंपर अधिकार प्रस्थापित करनेकी शक्ति है। अतः मानव कभी ऐसी धारणा न कर बैठे कि वह दुर्बल तथा नगण्य है।

'द्यौः असि, पृथिवी असि।' तू द्युलोक है और पृथ्वीलोक भी तू है तथा अंतरिक्षलोक भी तू है। हे मानव! तुझमें इस प्रकार त्रिलोक समाविष्ट है, तू त्रिलोकरूपी है। 'नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिः' (ऋ. १०।९०।१४; वा य. ३१।१३) नाभिमें अंतरिक्ष, मस्तिष्ककी जगह द्युलोक और पैरोंके स्थानपर भूमि है। विराट् पुरुषके ब्रह्माण्ड शरीरमें जैसे त्रैलोक्य पाया जाता है, वैसेही जीवात्माके पिण्डदेहमें भी अंशरूपसे विद्यमान है। मानवके मस्तिष्क, मध्यभाग तथा निम्नभाग क्रमशः द्युलोक, अंतरिक्ष तथा भूलोक हैं। इस तरह त्रैलोक्यका साम्राज्य वैभव मानव शरीरमें पाया जाता है। 'शिरो देवकोषः' (अथर्व. १०।२।२७); 'नवद्वारा देवानां पूः... स्वर्गः।' (अ. १०।२।३१) 'मस्तिष्क देवोंका भंडार है, शरीररूपी यह नगरी नौ दरवाजोंसे युक्त है और स्वर्ग है।' इन वैदिक वर्णनोंसे कल्पना की जा सकती है कि मानवमें विद्यमान शक्ति कितनी बडी है। इस शक्तिको विकसित करना है। जैसे बीजमें वृक्ष गुप्तरूपसे विद्यमान है वैसेही त्रैलोक्य मानवमें छिपा पडा है। यदि मानव चेष्टा करे तो यही शक्ति बडी हुई दीख पडेगी। यहांपर इतनाही दर्शाना है कि तत्त्वतः देखा जाये तो मानव कोई दुर्बल, तुच्छ तथा नगण्य प्राणी नहीं है। यदि मानव अपनी प्रगति तथा वृद्धिके लिये चेष्टा करे तो इसकी आशातीत प्रगति हो सकती है। सब सतर्क मानव इस उपदेशको ध्यानमें रखें।

'मातरिश्वनः धर्मः असि' 'प्राणोंकी उष्णता तू है।' शरीरमें जबतक प्राण रहता है तबतक देहमें उष्णता रहती है और प्राणके निकल जानेपर देहमें ठंडक हो जाती है। 'मातरि-श्वा' का अर्थ 'आकाशमें संचार करनेवाला वायु'

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥३॥

[३] (वसोः शतधारं पवित्रं असि) तू सैंकडों धाराओंसे युक्त वसुओंकी शुद्धता करनेका साधन है । (वसोः सहस्रधारं पवित्रं असि) तू हजारों धाराओंसे युक्त वसुओंकी शुद्धि करनेका साधन है । (सुप्वा सविता देवः शतधारेण वसोः पवित्रेण त्वा पुनातु) भली भांति पवित्र करनेहारा, सबका निर्माता देव सैंकडों धाराओंसे युक्त वसुओंको पवित्र करनेके साधनसे तुझे पवित्र करे । (कां अधुक्षः) तूने किस (गायका) दूध दुहलिया है भला ? ॥ ३ ॥

है और यही मानवशरीरमें प्राणरूपसे कार्य कर रहा है । वास्तवमें शरीरमें जीवात्माके रहनेतकही प्राण यहाँ रहकर उसे उष्णता प्रदान करता है; अतः यहाँपर ऐसा कहा है कि प्राणोंके द्वारा उष्णता अक्षुण्ण रखनेका कार्य प्रमुख रूपसे जीवात्मापर निर्भर है । जीवात्माकीही एक शक्ति इस वर्णनके द्वारा यों बतलाती गयी है । जो बाहर विद्यमान वायुको अपने अधीन रख इस शरीरको उष्णता प्रदान करता है वह मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान यहाँपर मिलता है ।

' विश्वधा असि'– ' तू सबका धारक है ' । पहलेकी हुई चर्चामें बतलाया जा चुका है कि यह जीवात्मा त्रिलोकका धारक है । त्रिलोक ही विश्व है । जैसे परमात्मा ब्रह्माण्डके अंतर्भूत विश्वको धारण करता है वैसेही यह जीवात्मा पिण्डमें पाये जानेवाले विश्वको धारण करती है । जिस समय यह पिण्डका धारण-कर्ता जीव शरीर छोड निकल जाता है, तब यह शरीर छिन्नभिन्न हो सडने लगता है । इससे विदित होता है कि यज्ञ इस विश्वको कैसे धारण करता है । ब्रह्माण्डके विश्वका धारक परमात्मा है और जीवात्मा पिण्डके विश्वको धारण करनेवाला है । पहला ' परम–पिता ' है और दूसरा उसका ' अमृत–पुत्र ' है । पिताके आश्रयसे पुत्र बढता है और अगले मंत्रभागमें यही बात कही है ।

' परमेण धाम्ना दृंहस्व ' ' तू परम धामकी सहायतासे बढ । ' ' परम धाम ' का अर्थ है ' बडा घर । ' बडा घर परमात्माका अर्थात् इस जीवात्माके पिताका है । इस जीवका ' सूक्ष्म धाम ' है । अपनी शक्तिको विकसित कर इस सूक्ष्म धामको विस्तृत, विशाल एवं महान् करना है । परमधाममें सूर्य जैसे जो दिव्य पदार्थ हैं उन्हींके अंश इस अपने सूक्ष्म धाममें नेत्र आदि स्थानोंमें सूक्ष्म रूपमें वर्तमान हैं । इसलिये सूर्य प्रकाशसे नेत्रकी शक्ति बढती है और अंधेरेसे घट जाती है । वायुकी सहायतासे प्राणशक्ति बढती है और ढके हुए कमरेमें रहनेसे न्यून होती है । विश्वमें जो महान् तत्त्व पाये जाते हैं, उनकी सहायतासे अपनी देहके सूक्ष्म तत्त्व विकसित करने चाहिए । यह उन्नतिका नियम है और इसी सिद्धान्त-पर प्रगतिके सभी नियम निर्भर हैं । इसीसे मंत्रमें कहा है कि कि तू 'परम धामकी सहायतासे अपने सूक्ष्म धामको दृढ बना ।'

' मा ह्वाः '= ' कुटिल न बन ' क्योंकि कुटिलतासे मनुष्यका विनाश होता है । प्रारंभमें मानव भूलसे ऐसा समझता है कि कुटिलतासे वह लाभ उठा रहा है, पर यदि अंततक विचार किया जाये तो विदित होगा कि टेढे बर्तावसे अपनीही हानि होती है ।

' ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत् '= ' तेरा यज्ञपति कुटिल न बने ' । जिस कार्यके लिए तू अपनी सारी शक्ति लगा रहा है, वह यदि सार्वजनिक महत्त्वपूर्ण कार्य हो, तो उस संघका जो कोई प्रमुख संचालक रहे, वह भी कुटिल न बने, क्योंकि यदि वह कुटिल मार्गपर चलने लगेगा, तो उसके सभी अनु-यायी भ्रान्त हो जायेंगे और सरल सत्यपूर्ण व्यवहार छोड देंगे, जिसके घोर परिणाम सबको भोगने पडेंगे । इसीलिए इस यजुर्वेदमें जिन कर्मोंको करनेके लिए आदेश दिये हैं वे सभी ' अ–ध्वर ' अर्थात् ' अकुटिल कर्म, अहिंसापूर्ण कर्म ' कहलाते हैं । इन्हीं कर्मोंकी यज्ञ संज्ञा है । इन दो मंत्रभागों-का अर्थ है कि समुदायका हरएक व्यक्ति, समूचा संघ और संघका नेता सभी सरल व्यवहारके अभ्यस्त बनें और कोई भी कुटिलताका आश्रय न ले ॥ २ ॥

' वसोः शतधारं सहस्रधारं पवित्रं असि '= ' तू ऐसा साधन है कि जिसमें सैंकडों तथा सहस्रों धाराएँ हैं और जिससे वसु पवित्र किए जाते हैं । ' इस मंत्रभागने दर्शाया है कि इस शरीरमें और इस विश्वमें अनन्त प्रकारोंसे जीवात्मामें विद्यमान शक्ति कार्य करती रहती है । परम धाममें निवास करनेहारा परमात्मा इस जीवात्माका परम पिता है और वह भी पूर्वोक्त आठ वसुओंको पवित्र करनेकी सर्वोपरि शक्ति धारण करता है तथा उस शक्तिके सहस्रों प्रवाहोंसे समूचे विश्वको पुनीत करनेका कार्य कर रहा है ।

सा विश्वायुः[1] सा विश्वकर्मा[2] सा विश्वधायाः[3] ।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष ॥४॥

---

[४] (सा विश्वायुः) वह पूर्ण आयुष्य [रूपी एक कामधेनु तेरे समीप है]। (सा विश्वकर्म्म) वह सर्वकर्म-शक्ति है [रूपी दूसरी कामधेनु तेरे समीप]। (सा विश्वधायाः) वह सर्वधारकशक्ति [रूपी तीसरी कामधेनु तेरे निकट है]। (इन्द्रस्य भागं त्वा सोमेन आतनच्मि) तुझ इन्द्रके भागको सोमसे पल्लवित तथा विस्तृत करता हूँ। (विष्णो! हव्यं रक्ष) हे विष्णु ! इस हविर्भागका संरक्षण कर ॥ ४ ॥

अगले मंत्रभागमें कहा है कि वह तेरा- मानवका–शुद्धिकरण करे ।

'सुप्वा सविता देवः शतधारेण वसोः पवित्रेण त्वा पुनातु ।' = 'अच्छी तरह सबको पवित्र करनेहारा तथा सबका सृजनकर्ता देव वसुओंको सैकडों धाराओंसे पवित्र करनेवाले साधनके द्वारा तुझे पवित्र करे ।' हे मानव ! इस विश्वनियामक परमात्माकी ओर यदि तेरा ध्यान आकर्षित हुआ तो वह अवश्यही सब प्रकारसे तुझे पवित्र करेगा, पर अपना सारा मन उसमें लगानेकी बडी आवश्यकता है, तभी तू उन्नत एवं पवित्र भी बनेगा । किन्तु उसे छोडकर दूसरे किसी विषयकी ओर प्रवृत्त होगा तो अवश्य तेरा पतन हो जायेगा । इस बातको ध्यानमें रखनेकी बडी आवश्यकता है ।

'कां अधुक्षः ? '= 'भला तूने किस कामधेनुका दूध दुहा ? ' इन स्वर्गमें रहनेवाली कामधेनुओंमेंसे किस किस धेनुका दुग्ध तू पीता आरहा है ? मनुष्यके निकट कौनसी कामधेनुएँ हैं ? ' इस प्रश्नका उत्तर अगले मंत्रभागमें दिया गया है ॥ ३ ॥

'सा विश्वायुः, सा विश्वकर्मा, सा विश्वधायाः '– 'सर्व आयु, संपूर्ण कर्मशक्ति तथा पूर्ण धारकशक्तिके रूपमें ये तीन कामधेनुएँ यहाँ है ।' हरएकके पास ये तीन कामधेनुएँ रहती हैं और हरएकका यह कर्तव्य है कि, वह यह देखे कि वह किस कामधेनुका दूध दुहकर और उसका सेवन कर किस प्रकारकी पुष्टि प्राप्त कर सकता है । कौन अपनी आयु लंबी कर दीर्घ जीवन पा सका, अपनी कार्यशक्ति बढाकर उसके द्वारा अत्यन्त सराहनीय एवं प्रशस्ततम पुरुषार्थसे सफलता कौन पा सका और किसने अपनी धारक-शक्तिको विकसित कर अनेक मानवोंका धारण पोषण करनेमें आशातीत सफलता पायी है ? हरकोई अपने जीवनका निरीक्षण कर इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करे । यदि अबतकके जीवनक्रममें इस दिशामें कोई ठोस कार्य न हुआ हो तो उसे भूलको समझकर भविष्यमें वैसी गलती न होने दे । ऐसा करनेसे प्रगतिपथपर आगे कदम उठाया जा सकता है । मानवमें आयुष्य, कर्तृत्वशक्ति तथा धारकशक्ति है और इनकी सहायतासे मानव अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है, यही आशय इन मंत्रोंद्वारा सूचित किया गया है ।

'इन्द्रस्य भागं त्वा सोमेन आतनच्मि '= 'तू इन्द्रका भाग है, तुझे मैं सोमसे बढाता हूँ ।' इस मंत्रके आशयको भलीभांति समझनेके लिए उन्नतिका एक नियम ध्यानमें रखना आवश्यक है । 'इन्द्रको सोमसे बढाना ' या 'सोमकी सहायतासे इन्द्रशक्ति बढती है ' यह नियम यहांपर सूचित किया है । वेद एवं उपनिषदोंमें 'इन्द्र–सोम, प्राण–रयि, सूर्य-चन्द्र ' जैसे अनेक देवता–युग्मका ज्ञान देनेवाले शब्द अत्यन्त अद्भुत सांकेतिक अर्थमें प्रयुक्त हुये हैं । अनेक स्थानोंमें ये शब्द 'धन–ऋण ' के अर्थमें आये हैं (प्रश्नोपनिषद् देखिये) । धन एवं ऋण शक्तियां एक दूसरेकी पोषक होती हैं । हम देखते हैं कि कर्जदारके कारण साहुकार या ऋणदाता पुष्ट होता है । थोडेसे विचारके पश्चात् ध्यानमें आयेगा कि अनेक शरीरोंकी रयि या सोमशक्ति एक आत्माकी इन्द्रशक्तिको प्रकाशित कर रही है । 'इन्द्र ' शब्दसे 'जीवात्मा, राजा, सूर्य एवं परमात्मा ' आदि सूचित होते हैं । अनुक्रमसे इन इन्द्रोंकी 'शरीर, प्रजा, ग्रहमाला एवं सृष्टि ' जैसी सोम या रयि शक्तियां अपने अपने इन्द्रकी शक्तिको प्रकट करती हैं । स्थूल, सूक्ष्म शरीरोंके कारण आत्माका वैभव स्पष्ट होता है, प्रजाके कारण राजा सुहाता है, ग्रहमालासे सूर्यका महत्त्व ध्यानमें आता है और सृष्टि देखकर परमात्माकी शक्तिका अन्दाज लगाया जा सकता है । 'प्रमुख, नेताकी शक्तिको बढानेके लिए गौण पदार्थोंकी शक्ति खर्च होती है ।' अनेक सैनिकोंके आत्मबलिदानसे सफलता पाकर सेनापति यशस्वी होता है, कई मांडलिकोंके संयुक्त प्रयत्नोंसे सम्राट् विजयी बनता है, उसी तरह अपने शरीरमें विद्यमान अनेक इन्द्रियोंके धर्मानुष्ठानसे जीवात्माकी शक्ति प्रकट होती है । यही अर्थ इन्द्रको सोमके द्वारा

अग्ने॑ व्रतपते व्रतं च॑रिष्यामि तच्छ॑केयं तन्मे॑ राध्यताम् । इदमहमनृ॑तात्सत्यमुपै॑मि ॥५॥

[५] (व्रतपते अग्ने !) हे व्रतपालक तेजस्वी प्रभो ! (व्रतं चरिष्यामि) मैं व्रतका आचरण करूंगा, (तत् शकेयं) वह व्रत मुझसे शक्य होवे, (मे तत् राध्यताम् ।) मेरा वह व्रत सिद्ध होवे, (इदं अहं अनृतात् सत्यं, उपैति ।) यह मैं असत्य छोडकर सत्यका ग्रहण कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

बढानेमें व्यक्त हुआ है। साधकके प्रति कहा हुआ मंत्र यों है– 'तू इन्द्रका भाग है, मैं सोमसे तुझे बढाता हूँ।' 'हे साधना करनेवाले ! चूंकि तू इन्द्रकाही एक विभाग है, अतः तेरी वृद्धि सोमसे होनेवाली है।' जीवात्मा इन्द्रका एक विभाग है। जो इन्द्रशक्ति समूचे संसारको व्याप रही है उसीका एक छोटासा अंश इस मानवी देहमें प्रविष्ट हुआ है और वह अंश रहनेपर भी वास्तवमें इन्द्रही है। अग्निका अंश और अग्नि दोनों अभिन्न हैं। उसी प्रकार जीवात्मा स्वयं एक छोटासा इन्द्र है और वह सोमशक्तिसे बढनेवाला है। अतः हमें निश्चित करना होगा, सोमशक्तिका उपयोग किस भांति कर अपनी उन्नति की जाये। यही विद्या है जिसमें दर्शाया गया है कि शरीरके द्वारा आत्मोन्नति कैसे हो सकती है, सोमसदृश वनस्पतियोंकी सहायतासे शरीर किस तरह आरोग्यसंपन्न तथा सुदृढ रखा जा सकता है। साधक अपनी पर्याप्त उन्नति कर ले इसी उद्देश्यसे परमात्माने प्रकृतिमें यथेष्ट सोमशक्ति रख दी है। साधक उस शक्तिकी यथेष्ट सहायता प्राप्त कर अपनी उन्नति करे। अतः इस मंत्रद्वारा वेद साधकको बतलाना चाहता है कि 'हे साधक ! तू इन्द्रका एक अंश है और तेरी उन्नति सोमशक्तिसे अवश्य होगी।' इस उपदेशसे उन्नतिका साधन ध्यानमें आ सकता है।

'विष्णो ! हव्यं रक्ष।' = 'हे विष्णु ! इस हविको सुरक्षित रख'। 'विष्णु' का अर्थ है 'व्यापक देव' (वेवेष्टि व्याप्नोति) जो समूची चर तथा अचर सृष्टिमें व्याप्त है वही सर्वव्यापक देव विष्णु है। भक्त उस देवसे प्रार्थना करता है– 'हे देव ! यह हविर्भाग अर्थात् अर्पण तेरे लिए मैं लाया हूँ उसकी रक्षा अब तूही कर'। हविर्भागका तात्पर्य यहाँपर आत्मसर्वस्वसे है। हे परमात्मन् ! मैं अपना सर्वस्व तेरे लिए अर्पण कर चुका हूँ, यहाँपर अब मेरा कुछ भी नहीं है (न मम) क्योंकि सब अर्पित हो गया है; इसीलिए अपनी इच्छाके अनुसार इसका संरक्षण कर। सोमशक्तिद्वारा तू अपनी योजनाके अनुसार इसे विकसित कर और मुझे उन्नत बना ॥ ४ ॥

अब मेरी कोई भी विभिन्न वस्तु या पृथक् सत्ता नहीं रही है, आजसे 'मैंही तेरा' बनकर रहूँगा। मुझसे कर्तव्य–कर्म भली भाँति निष्पन्न हों और मैं तेरा बनकर रह सकूँ, जीवन बिता सकूँ, इसलिए मैं यह प्रतिज्ञा कर रहा हूँ—

'व्रतपते अग्ने ! व्रतं चरिष्यामि, तत् शकेयं, मे तत् राध्यतां, इदं अहं अनृतात् सत्यं उपैमि।' = 'हे व्रतके पालनकर्ता तेजस्वी देव ! मैं एक व्रत धारण करता हूँ, मैं उसे निभा सकूं, मेरा वह व्रत संपूर्ण सिद्ध हो। असत्यका त्याग कर सत्यको स्वीकार करता हूँ, यही वह व्रत है।' 'सत्यपालन' महान् व्रत है और उसे समूचे जन्मभर पूरा करना पडता है। सत्यकी खोज करना, सत्यका दर्शन होतेही उसे स्वीकार करना, सदैव सत्यके पक्षमें रहकर जीवनयात्रा बिताना, सत्यके लिए आत्मबलिदान करना, प्राणोंतकका त्याग करनाही सत्यपालनरूपी महान् व्रत है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ (काण्व यजु. ४०।१५; वा. य. ४०। १७ पूर्वार्ध) 'सत्य सुवर्णके बर्तनसे ढका हुआ है। सत्यको देखना चाहो तो वह सोनेका ढक्कन दूर हटाओ।' इसी वेदके अंतिम अध्यायमें इस प्रकार कहा गया है। इस प्रथम अध्यायमें ऐसी प्रतिज्ञा की गई है कि जिससे आगे चलकर सुवर्णके मोहकी वजहसे सत्य दब न जाए। लोभको छोडे बिना सत्यपालन असंभव है और सत्यपालनके बिना आत्मशक्तिका यथेष्ट विकास नहीं हो सकता है। आत्मोन्नति करनेके लिए सत्यपालनकी बडी आवश्यकता है। इस महान् व्रतका अनुष्ठान साधक स्वयं करे। संसारमें परमात्माने इसकी उन्नतिके लिए भलेही सोमशक्ति पर्याप्त मात्रामें रखी हो, तथा साधक चाहे कि इनसे अपना अधिकसे अधिक हित हो, तो उसके लिए यह अनिवार्य है, कि वह निष्ठापूर्वक सत्यपालनरूपी महान् व्रतका अनुष्ठान करे। यही उन्नतिका सच्चा साधन है ॥ ५ ॥

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥६॥
प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥७॥

[६] (कः त्वा युनक्ति ?) कौन तुझे प्रवृत्त करता है ? (सः त्वा युनक्ति) वह तुझे प्रवृत्त करता है। (कस्मै त्वा युनक्ति ?) किसलिए तुझे प्रवृत्त करता है ? (तस्मै त्वा युनक्ति) उसलिए तुझे प्रवृत्त करता है। (कर्मणे वां) कर्म करनेके लिए तुम दोनोंको प्रवृत्त करता है। (वेषाय वां) घरके लिए तुम दोनोंको प्रवृत्त करता है ॥ ६॥

[७] (रक्षः प्रत्युष्टम्) राक्षस भुनाये जा चुके हैं। (अ-रातयः प्रत्युष्टाः) अनुदार लोग दग्ध हो गये हैं। (रक्षः निष्टप्तम्) राक्षस ज्वालासे जल चुके हैं। (अ-रातयः निष्टप्ताः) अनुदार लोग झुलस गये हैं। (उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि) विस्तीर्ण क्षेत्रमें अनुकूलतापूर्वक चला जाता हूँ ॥ ७ ॥

'कः त्वा युनक्ति ? कस्मै त्वा युनक्ति ?' = 'कौन तुझे कार्यमें लगाता है ? वह किसलिए तुझे कर्ममें प्रवृत्त करता है ?' यह विचारणीय है। अपने अंतस्तलमें कर्म करनेके लिए प्रेरणा करनेवाला कौन है और वह किसलिए प्रेरित कर रहा है ? प्रत्येक मानव इस विषयमें सोचे। अपने चित्तमें हुई प्रेरणाके स्रोतको ढूंढ निकालना और सोचकर उस प्रेरणाकर्ताकी खोज करना बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। अगले दो मंत्रभागोंने इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर दिया है।

'स त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति।' = 'वह (आत्मा) तुझे कर्म करनेकी प्रेरणा करता है और वही (उस सत्यधर्म) के दर्शनके लिए तुझे प्रेरित करता है या कर्म निर्दिष्ट करता है।' जैसे घोडे रथमें जोडे जाते हैं उसी तरह सब मनुष्य कर्मसे संबद्ध हैं; इसलिए सभी मानव कुछ न कुछ कार्य करते रहते हैं। मानव अपनी इस कर्मप्रवृत्तिको ठीक राहपरसे चलनेके लिए अनुकूल तथा निषिद्ध कर्मका भली भाँति स्पष्टीकरण कर, विरुद्ध कर्मसे उसे परावृत्त कर, श्रेष्ठतम कर्मकी ओर प्रवृत्त करे। जो मानव श्रेष्ठतम कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है वही शीघ्र अपनी उन्नति कर सकता है। अतः इसके अगले मंत्रभागमें कहा है-

'कर्मणे वां, वेषाय वां युनक्ति' = 'श्रेष्ठ कर्मके लिए तथा गृहप्रवेशके लिए वह तुम दोनोंको कर्मसे जोडता है, कर्मके लिए प्रवृत्त करता है।' हम पहलेही स्पष्ट कर चुके हैं कि कर्म शब्दसे श्रेष्ठतम कर्मका निर्देश होता है। मानवके अंतस्तलमें शुरू शुरूमें तो कुछ न कुछ भला बुरा कर्म करनेकी प्रेरणा होतीही है। कईबारके अनुभवोंसे जब वह समझ लेता है, बुरे कर्मोंका भीषण परिणाम होता है, तब वह अनिष्ट कर्मोंसे मुंह फेरकर सत्कर्मोंमेंही निरत होता है। इस प्रकार केवल कर्मकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी मानवको सत्पथपर ले जाकर उसे धीरेधीरे सन्मार्गगामी बना देती है। इसेही कहते हैं कर्मद्वारा चित्तकी शुद्धता। अब यहां एक सन्देह होता है। भला कर्म क्यों किया जाय और उसका अंतिम उद्देश्य क्या है ? उसके निराकरणार्थ उत्तर दिया है- 'वेषाय' (घरके लिए या घरमें प्रवेश पानेके लिए) यह कर्म है। 'वेश, वेष' शब्दका 'घर या प्रवेश' ऐसा अर्थ होता है। साधकको कर्मके लिए प्रेरित किया जाता है ताकि वह शीघ्र अपने घर पहुँचे और जिस ऊँचे दिव्य स्थानमें वह अभीतक प्रवेश नहीं पा सका वहांपर वह सुगमतासे प्रविष्ट हो सके। इन कर्मोंके कर चुकनेपर साधक शीघ्र अपने घर पहुँचता है और बडी आसानीसे वहांपर उसे प्रवेश मिलता है। 'वां युनक्ति' = तुम दोनोंको वह कर्ममें निरत करता है। ये दो कौन हैं ? ज्ञानी-अज्ञानी, सबल-निर्बल, अधिकारी-अनधिकारी इस प्रकारके उभयविध लोगोंको वह प्रेरित करता है। इसी कारणसे मानवमें पुरुषार्थ कर दिखलानेकी प्रवृत्ति विद्यमान रहती है और मानवीय प्रगतिकी जडमें यही प्रवृत्ति कार्य करती है। यदि कोई ऐसा प्रश्न पूछे- भला पुरुषार्थ अथवा प्रशस्त कर्म किसलिए किये जायँ ? तो यही उत्तर है- मानवमें जो दुर्गुण हैं उन्हें हटानेके लिए, समाजके दुष्ट पुरुषोंको हतबल कर सबका कार्यक्षेत्र विस्तृत करनेके लिए सभी प्रकारके पुरुषार्थ एवं प्रयत्न करने पडते हैं। अगले मंत्रभागोंमें यही प्रतिपादित किया है ॥ ६ ॥

'रक्षः प्रत्युष्टं, निष्टप्तं; अरातयः प्रत्युष्टाः, निष्टप्ताः।' = 'राक्षस एवं शत्रुगण झुलस गए हैं' अर्थात् ये सभी पराभूत हुए और सदाके लिये दूर हट गये हैं। यही पुरुषार्थ तथा प्रयत्नका अंतिम फल है। ऐसे पुरुषार्थ करने चाहिए। (क्षरति इति रक्षः) जिसके कारण क्षीणता पैदा होती हो उसे राक्षस कहना चाहिए। राक्षसोंके कारण क्षति,

क्षीणता दीख पडती है, अतः रोगके कीटाणु, जो शरीरमें घुसकर उसे धीरे धीरे दुर्बल तथा क्षीण कर देते हैं, राक्षस हैं। चूंकि ये शरीरके सप्त धातुओंको शरीरमें नष्ट कर देते हैं, अतः इन्हें तप्त करके इन्हें विनष्ट करना चाहिए। शरीर इनके हमलोंसे छुटकारा पाकरही आरोग्य तथा हृष्टपुष्ट रह सकती है। 'तप' करनेके जो उपाय बतलाये गये हैं, उनसे ये राक्षस संतप्त हो झुलस उठते हैं और विनष्ट होते हैं। उपवास, योगसाधनके अंतर्गत यम-नियम, आसन, प्राणायाम आदि साधन इन अंतःस्थ राक्षसोंको संताप पहुंचाकर दूर हटानेके लिए हैं। इस आशयको ध्यानमें रखकर 'निः-तप्तं' शब्दके तप्त शब्दपर विचार करना उचित होगा। जैसे मानवी देहमें घटनाएँ होती हैं, वैसेही राष्ट्रमें भी चलती रहती हैं। राष्ट्रमें भी बाहरसे राक्षस घुसकर राष्ट्रको क्षीण बना देते हैं। राष्ट्रके अथवा मानवी समुदायके, अभ्युदयके मार्गमें जो रोडे अटकाते हैं, उन्हें राक्षस कहा जा सकता है। जो दूसरोंको पराधीन बनाकर उनकी प्रगतिकी राहमें बाधाएँ खडी कर देता है, वह राक्षसही है। इस तरह सामाजिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्रमें उत्पात मचानेवाले राक्षसोंको सत्याग्रहके बलसे तपाकर दूर करना चाहिए और आत्मिक बलका संपादन करके राष्ट्रीय स्वस्थताका निर्माण करना चाहिए। 'अ-राति' अर्थात् 'अ-दाता' जो दान नहीं करता है। मक्खीचूस, कृपण भी समष्टि तथा व्यष्टिके शत्रुवत् हैं। जो मानवी प्रगतिके शत्रु हों उन्हें 'अ-राति' नामसे पुकारना चाहिए और उनका विध्वंस कर समाजका प्रगतिपथ निष्कंटक एवं अबाध कर देना चाहिए। इस उद्देश्यको सामने रखकर मानव सतत पुरुषार्थ तथा प्रयत्न करते रहें और ये उद्यम इतनी प्रखरतासे करने चाहिए कि प्रयत्नशील लोग स्वयं शत्रुविनाश महोत्सवको देख सकें। चेष्टा करनेवालोंमें इतनी तीव्र लगन या निष्ठा रहनी चाहिए। यह भाव दर्शानेके लिए 'निष्टप्तं' आदि शब्द भूतकालमें प्रयुक्त हुए हैं। यह पुरुषार्थपूर्ण वैयक्तिक या सामाजिक कार्य इतनी अदम्य उत्सुकतासे निष्पन्न हो कि कार्यकर्ताको कार्यसमाप्तिका आनंद भोगनेको मिले। इस प्रकार शत्रुदलका निपात करही अपने कार्यक्षेत्रको विस्तृत करना चाहिए, यह बात दर्शानेके लिए अगले मंत्रभागमें कहा है-

'उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि' = 'बडे विशाल अन्तरिक्षमें मैं जाता हूं।' अबतक छोटेसे अन्तरिक्षमें या, वह सीमित वायुमण्डल दूर हो चुका है, इसलिए मैं अब महान् क्षेत्रमें संचार कर रहा हूं। यद्यपि सभी लोग इस विस्तृत अंतरिक्षमें विहार करते हैं तो भी विद्या, ज्ञान एवं पुरुषार्थमें न्यूनाधिक्य होनेके कारण जिस प्रकारके संस्कार मानवके अंतस्तलमें होते हैं, उन्हींके कारण वह या तो उस संकुचित दायरेके बाहर आ जाता है या फिर उसी संकीर्णतामें आनन्द मानने लगता है। यदि प्रशस्त कर्म पूर्ण करनेका दृढ निश्चय मानव कर चुका हो, और असत्यके त्यागके तथा सत्यके आश्रयद्वाराही अपना जीवन बितानेका निश्चय कर चुका हो, तभी मानव विशाल वायुमण्डलमें यथेष्ट विहार करनेकी क्षमता प्राप्त कर सकता है। स्वार्थवश हो जानेसे मानव दलबन्दीमें फँस जाता है और प्रतिदिन संकीर्ण बनता जाता है। जब मनुष्यमात्रके हितके लिए निष्ठापूर्वक स्वार्थत्याग करनेकी लगन पैदा होती है तभी वह विशाल वायुमण्डलमें संचार कर सकता है। मानवका ज्ञानक्षेत्र तथा कार्यक्षेत्र जितना विशाल एवं बृहद् होगा, उतनेही अनुपातमें उसकी उन्नतिमें सहायता मिलेगी। एक साधारणसे आदमीका दृष्टिबिन्दु अपने परिवारतकही सीमित होता है और उसका उतनाही कार्यक्षेत्र रहता है। जो पुरुष अपने राष्ट्रतकही अपना सेवाभाव मर्यादित करना चाहता है, उसका कार्यक्षेत्र राष्ट्रके अनुपातमें विस्तृत बनता है। यदि मानव सोचने लग जाए कि मानव-जातिका कल्याण कैसे हो तो उसमें 'वसुधैव कुटुम्बकं' का भाव भिन जायगा और उसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त बृहद् हो जायेगा। अन्तरिक्ष-विस्तार जिस अनुपातमें होगा उसी अनुपातमें कार्यकर्ताका महत्त्व बढ जायेगा। इस प्रकार मनोविस्तार तथा अंतरिक्ष-विस्तारका पारस्परिक अटूट संबंध है। बंधनों एवं रुकावटोंके दूर होनेसेही कार्यक्षेत्र विस्तृत बनता जाता है। सभी तरहकी बाधाओं तथा अडचनोंके दूर हो जानेपर अंतरिक्ष इतना विस्तृत बनता है कि उसकी कोई सीमाही नहीं रहती है। इस दशाका नाम मुक्ति है और यह अन्तिम स्थिति है। इस स्थितितक पहुंचनेमें कई मँजिलें तै करनी पडती हैं ॥ ७ ॥

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः ।
देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥८॥

[८] (धूः असि) तू विनाशक है। (धूर्वन्तं धूर्व) घातक एवं हत्यारेको नष्ट कर। (तं धूर्व, यः अस्मान् धूर्वति) जो हमारा विनाश करता है, उसका विनाश कर। (यं वयं धूर्वामः तं धूर्व) हम सभी जिसे नष्ट करना चाहते हैं, उसे विनष्ट कर। (देवानां वह्नितमं) देवोंका उत्तम वाहन, (सस्नितमं) उत्तम शुद्धिकारक, (पप्रितमं) पूर्णता करनेहारा, (जुष्टतमं) सेवनीय, (देवहूतमं असि) तथा देवोंको उत्कृष्ट आमंत्रण देनेवाला तू है ॥ ८ ॥

'धूः असि' = 'तू निवासकर्ता है।' हे मानव ! तू विनाश कर सकता है। तुझमें जो विनाशकी शक्ति है उसे किसी अच्छे उपयुक्त कार्यके लिएही सुरक्षित रखना चाहिए, नहीं तो उस विध्वंसकारी सामर्थ्यकी वजहसे अच्छी बातें चकनाचूर हो जायेंगी। इसीलिए तू अपनी विध्वंसक तथा विनाशात्मक शक्ति अगले मंत्रके कथनानुसार अभीष्ट कार्य करनेमें लगा।

'धूर्वन्तं धूर्व' = 'जो विध्वंस करता है उसीका विनाश कर।' मानवमें जो विनाशात्मक शक्ति है उसका उपयोग केवल उत्पात मचानेवालों तथा हिंसकोंका विध्वंस करनेमें ही करना चाहिए। जो हत्यारे न हों उनका संरक्षण करना उचित है। प्रश्न उठता है कि हत्या करनेवाला किसे कहा जाये ? इसका उत्तर अगले दो मंत्रभागोंमें दिया है।

'यः अस्मान् धूर्वति, तं धूर्व' = 'जो अकेला हम सबको विनष्ट करता है, जो अकेला अनेक लोगोंको कष्ट पहुँचाता है वही घातक, हत्यारा है; ऐसे दुरात्माका विनाश करना चाहिए।' उसी प्रकार—

'यं वयं धूर्वामः तं धूर्व' = 'जिस अकेलेको हम सभी एक मतसे दूर हटाना चाहते हैं, सर्वसंमतिसे जो दुरात्मा ठहराया गया हो उसे हटाना चाहिए।' यदि कोई सारे समाजको कष्ट देवे या समूचे लोग जिससे घृणा प्रकट करें, ऐसेको नष्ट करना चाहिये, जिससे अखिल मानव-समुदायकी बाधा दूर हो। मानवसंघ इस तरह अबाध होनेपर अपनी प्रगति कर सकेगा। इसीलिए व्यक्तिको चाहिए कि वह जनताका प्रगतिपथ निर्बाध करे। ऐसा समझना गलत होगा कि मानव सिर्फ विध्वंसकारी बलसे युक्त है, क्योंकि उसकी योग्यता बहुत बडी है।

'देवानां वह्नितमं, सस्नितमं, पप्रितमं, जुष्टतमं, देवहूतमं असि' = (त्वं देवानां वह्नितमं असि) 'तू देवोंका महान् वहनकर्ता है।' अर्थात् तू देवोंको एक स्थानसे दूसरे स्थान-तक ले चलता है। इस मानवी देहमें सूर्य, चंद्र, वायु, पृथ्वी, अंतरिक्ष, क्रमशः नेत्र, मन, नासिका, पैर तथा नाभिमें अंशरूपसे अवस्थित हैं। संक्षेपमें, ब्रह्माण्डमें पाये जानेवाले सभी देवता इस पिण्डमें अंशरूपमें निवास करते हैं। इस शरीररूपी रथका संचालक आत्मा है और इस देहमें सभी देवता रहते हैं, अतः जीवात्मा इन देवताओंका वाहक है। (त्वं देवानां सस्नितमं असि) = 'तू देवोंको भली भाँति सुदृढ बाँधकर रखनेवाला या शुद्ध करनेहारा या देवोंका बल बढानेवाला है।' निर्विवादरूपसे जीवात्मा दृढतया देवोंको बाँधकर मानवी शरीरमें रख लेती है। इस देहमें उसने नेत्रस्थानमें सूर्यको बाँध रखा है और अन्य इन्द्रियोंमें दूसरे देवोंको संयत कर रखा है। अपने स्नेह-रज्जुसे सभी देव, जिनकी संख्या ३३ कोटी कही जाती है, जीवात्माने पिण्डदेहमें नियत कर रखे हैं और वे इसके अधीन रहते हैं। (त्वं देवानां पप्रितमं असि) = 'तू देवोंकी पूर्णता करनेवाला है।' आत्माके योगानुष्ठानसे इस पिण्डमें विद्यमान सभी देवोंकी शक्ति बढती है, व्यायामसे स्थूल देहका बल बढता है और नेत्र आदि इंद्रिय भी बलवान् बनते हैं। आत्माके प्रयत्नोंके फलस्वरूप इंद्रियोंमें अवस्थित देवतागण प्रबल होकर अधिकाधिक परिपूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार यह जीवात्मा अपने शरीरमें प्रतिष्ठित देवोंके अंशोंको सम्पूर्ण बनाकर उन्हें बढाता है और शक्तिसंपन्न करता है। (त्वं देवानां जुष्टतमं असि) = 'तू देवोंका अति प्यारा है या देव प्यारसे तेरी सेवा करना चाहते हैं।' शरीरमें मन, प्राण, नेत्र आदि स्थानोंमें चन्द्र, वायु, सूर्य आदि देवतागण निवास करते हैं। नेत्रस्थानीय सूर्य इसे मार्ग दर्शाता है, मनःस्थानीय चन्द्र विचारशक्ति प्रदान करता है और नासिकामें रहनेवाला प्राणदेव गतिकी व्यवस्था करता है। इस ढंगसे सभी देव इस आत्मा–रामकी सेवा बडी लगनसे कर रहे हैं। अतः मानव स्वयं सोच सकता है कि जिसकी सेवामें तैंतीस करोड देवता नियुक्त

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥९॥

[९] (अह्रुतं हविर्धानं असि) तू हविर्भागका अकुटिल तथा सरल धारणकर्ता पात्र है। (दृँहस्व) तू सुदृढ बन। (मा ह्वाः) कुटिल न बन, (मा ते यज्ञपतिः ह्वार्षीत्) तेरा यज्ञपति भी कुटिल न बने। (विष्णुः त्वा क्रमताम्) विष्णु तुझपर आरूढ होवे। (वाताय उरु) वायुके लिए विस्तृत स्थानमें घूमते रह। (अपहतँ रक्षः) राक्षस दूर हुए (पञ्च यच्छन्ताम्) पांचो पकड लेवें ॥ ९ ॥

हुए हैं, उसका वैभव कितना अपार होना चाहिए। (त्वं देवहूतमं असि) = 'तू देवोंको बुलानेवाला है।' पिण्डमें निवास करनेवाला यह जीव त्रैलोक्यके सभी महान् देवोंको निमंत्रित करता है। आत्माके आह्वानपर सभी देव इस पिण्डमें आकर रहने लगते हैं और मित्रवत् इसकी सेवा करने लगते हैं। यह जीव भी अपने अद्भुत पुरुषार्थसे तथा अदम्य चेष्टाओंसे उन्हें प्रबल कर देता है, पूर्ण करता है। इसी क्रियाकी संज्ञा यज्ञ है। इसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें भी किया है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
(भ. गी. ३।११)

'यदि इस यज्ञके द्वारा तुम देवोंको समृद्धिशाली करोगे तो देवतागण भी तुम्हें भाग्यशाली बनायेंगे और इस तरह एक दूसरेकी सहायता करते हुए तुम चरम प्रगति करनेमें सफल होओ।' इस वेदमन्त्रमें भी यही सिद्धान्त निर्दिष्ट हुआ है और यही गीताका यज्ञतत्त्व है। शरीररूपी रथपर आरूढ हो विभिन्न देवतागण यहां उपस्थित हुए हैं। इनका योग्य सत्कार किए जानेपर वे तुम्हारी भी अच्छी सेवा करेंगे। इस भाँति, नेत्र आदि स्थानोंमें रहनेवाले देवता आत्माको सहायता पहुँचाएँ और आत्मा अपनी ओरसे उन्हें प्रबल तथा कार्यक्षम रखे। यज्ञका यही प्रमुख सिद्धान्त है कि परस्पर की हुई सहायतासे दोनों प्रगति करनेमें सफलता पायें ॥ ८ ॥

'त्वं अह्रुतं हविर्धानं असि' = 'तू अकुटिल हविर्भाग धारण करनेवाले पात्रके समान बन।' यज्ञमें हवि प्रदान करनेके लिए एक बर्तन रखा जाता है और यह सुतरां आवश्यक समझा जाता है कि वह टेढा न होकर सरल रहे, अतः तू इस यज्ञमें हविधारक बर्तनके समान है, इसलिए तू सरल रह, कुटिल न बन। यदि तू कुटिल बनेगा तो किसी भी अच्छे कार्यके लिए तू अयोग्य बन जायेगा। अतः प्रथम तू सरलतापूर्ण व्यवहार कर, टेढापन छोड दे। तुझे 'पात्र' बनना है, इतनाही नहीं अपितु 'सरल, अकुटिल, अत्रुटित, उत्कृष्ट पात्र' बनना है। तभी तू अच्छे कार्य कर सकेगा। इस हविको अपनेही बर्तनमें स्वयंही रखकर देवताके लिए अर्पित करना है। एकबार 'पात्र' बन जानेपर स्वयंही हविर्भाग बनकर आत्मार्पण करनेकी आवश्यकता है। (ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (भ. गी. ४।२४) 'अर्पणकृत्य तथा हविर्भाग भी ब्रह्मरूपही है; ब्रह्मही ब्रह्मरूपी अग्निमें हवन कर रहा है। इस तरह समूचा कार्यही यदि ब्रह्मरूप हो जाए तो अंतमें ब्रह्मके सिवा कुछ भी नहीं रहता।' गीताके इसी श्लोकको विभिन्न प्रकारसे योंभी पढ सकते हैं 'आत्मार्पणं आत्महविरात्माग्नावात्मना हुतम्। आत्मैव तेन गन्तव्यः आत्मकर्मसमाधिना ॥' यहाँपर अर्पणविधि, हवि, आत्माग्नि, हवनकृत्य सभी आत्माकेही स्वरूप हैं ऐसा कहा है। ऐसा अनुभव जिसे प्राप्त हो और जो समझ लेवे कि संपूर्ण क्रिया-कलाप आत्मामेंही समाविष्ट है, वह आत्म-स्वरूप बन जाता है। यही उपदेश इस मंत्रभागमें सूचित किया है। स्वयंही हविरूप धारण करना है, अपनेही पात्रमें उसे रखकर और स्वयं टेढे न बनकर, तथा सरलतापूर्ण बर्ताव रखकर, निजी बलका उपयोग अपनेही उद्धारके लिये यज्ञके स्वरूपमें करना है। इस ढंगसे स्वयंही अत्यन्त सरल बन जानेपर, सरल तथा सीदेसादे बर्तावके बननेपर --

'दृंहस्व' = 'तू स्वयं सुदृढ बन।' सरलतापूर्ण बर्ताव करनेपर तुझमें बल अधिक आयेगा और तू बलिष्ठ बनेगा। इसी प्रणालीसे आत्मबल बढता है।

'मा ह्वाः। मा ते यज्ञपतिः ह्वार्षीत्' = 'तू कुटिल न बन और तेरा यज्ञपति भी टेढा न हो।' क्योंकि यदि तुम दोनोंमेंसे कोई भी कुटिलतापूर्ण बर्ताव करेगा तो तुम्हारा

×

संपूर्ण विध्वंस हो जाएगा । अतएव टेढा व्यवहार छोडकर सरलतासे व्यवहार करता रह ।

'विष्णुः त्वा क्रमताम्' = 'सर्वव्यापक परमात्मा तुझपर अपना अधिकार प्रस्थापित करे ।' हे मानव ! ध्यानमें रख कि तुझपर किसी न किसीकी सत्ता, उदाहरणार्थ, कभी लोभ, कभी कभी काम या क्रोध, प्रस्थापित हुआ करती है । ये शत्रुरूप हैं । देखा जाता है कि कभी किसीपर भूतपिशाच चढ बैठता है और कोई मंत्रके समान बर्ताव करता है । यदि मानवकी यही दशा हो कि कोई न कोई उसपर अपना प्रभाव बनाए रखे, तो अच्छी बात यही है कि सर्वव्यापक परमात्मा ही उसे प्रभावित करे । जैसे बहुधा देखा जाता है कि मानव काम या क्रोधके वशमें चला जाता है और उनसे प्रभावित होकर नानाविध कुकृत्य कर बैठता है, उसी प्रकार यदि वह परमात्मासे अत्यन्त प्रभावित होगा तो उसका कल्याण होनेमें देरी न लगेगी । अतः मानवको चाहिए कि वह काम क्रोध जैसे राक्षसोंके वशमें न जाकर परमात्मासे प्रभावित हो । ऐसा होनेपर परमात्माके गुण मानवमें प्रवेश कर सकेंगे और वह सर्वगुण या सर्वशक्तिमत्तामें अधिकाधिक प्रगति कर सकेगा । कामविकार मानवपर प्रबल सत्ता स्थापित कर उससे बुरे कार्य करवाता है और उसे नीच बना डालता है । यदि वह परमात्मासे प्रभावित हो और उसकी प्रेरणाके अनुसार कार्य करने लग जाये, तो अवश्यही उसका हित होगा । यदि सच देखा जाये तो मानवके लिए उचित यही है कि वह किसीके भी अधीन न हो, अपितु अपनीही शक्तिसे उद्भासित होता रहे । लेकिन जबतक ऐसा नहीं होता है और राक्षसों एवं भूतपिशाचोंका प्रभाव उसपर जमनेकी उस पर आशंका रहती है, तबतक यही अभीष्ट जान पडता है कि, वह इनके आतंकसे छुट्टी पाकर देवताओंके वशमें रहे, ताकि वह दुष्टतासे सदाके लिए मुक्त होकर अधिकाधिक शिष्ट तथा सुजन बन सके । पश्चात् उसमें दिव्य तेजकी झलक दीख पडेगी । यदि मनुष्यपर कामक्रोधका आतंक प्रस्थापित हो, तो वह दिन-ब-दिन संकीर्ण बनता जायेगा, अगर परमात्मासे वह प्रभावित होगा तो संकुचित चहारदीवारी छोड वह अत्यन्त महान् क्षेत्रमें संचार करनेकी क्षमता पैदा कर सकेगा । जैसे—

'वाताय उरु क्रमताम्' = 'वायु सेवनके लिए विशाल स्थानमें घूमते हैं,' वैसेही इसे समझना उचित है । जो आदमी एक छोटेसे मकानकी बन्द चहारदीवारीमें जीवन बिताता हो, वह संकुचित जगहके कारण क्षीण बनता जाता है, पर यदि वह विशाल वायुमण्डलमें रहकर शुद्ध वायुका सेवन करता रहे, तो अधिकाधिक प्रबल बन जाता है । इस दृष्टान्तसे जान पडेगा कि, काम एवं क्रोधके वशमें हो जाना हानिकारक और परमात्माके बलसे प्रभावित हो जीवन बिताना सुतरां अभीष्ट तथा प्रगतिपोषक है ।

'अपहतं रक्षः' = 'राक्षस मृत्युवश हुए ।' यदि मनुष्यपर परमात्माकी प्रबल सत्ता प्रतिष्ठापित हो, तो उसके जीवनमें पिशाच या राक्षसोंको जगह न मिलेगी । जबतक 'नर' में 'नारायण' का निवास न हो पाया हो या जबतक उसने अपना अंतस्तल परमात्माके लिए मुक्तद्वार न छोडा हो तभीतक उसमें राक्षसोंका क्रीडास्थल रह सकता है । जैसे किसी बंद कमरेमें रोगके कीटाणुरूपी राक्षस रहते हैं वैसेही जहांपर उन्मुक्त वायु विशाल स्थानमें खेल रहा हो, वहां वे नहीं रहने पाते, उसी तरह यहां समझना चाहिए ।

'पञ्च यच्छन्ताम्' = 'पांचों भी पकड लेवें ।' जब देवता हमपर अपनी सत्ता प्रस्थापित कर लें, तो उसे पांचों-द्वारा दृढतया पकड रखे । कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा इन पंचविध साधनोंसे दिव्य तेजको अन्दरही स्थापित करे और बाहर जाने न दे । यदि चतुराईसे इन पंचोंद्वारा उसका कार्य पूरा होते जाये तो वह यहींपर रहेगा और बाहर नहीं जायेगा । अगर इनमेंसे एक भी अन्य कार्यमें लग जाएगा तो देवता वहांसे निकल भागेगा । इसीलिए कहा है कि मनुष्य अपनी कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति, मननशक्ति, बुद्धिशक्ति तथा आत्मशक्तिद्वारा बलपूर्वक उसे पकड ले । इसप्रकार आलंकारिक भाषामें यह उपदेश दिया गया है । इस मंत्रभागका दूसरा अर्थ यों हो सकता है— अपनी पंचविध शक्तियां अपने स्वाधीन रहें । इन्हें अपने अपने काबूमें रखें, उच्छृंखल न होने दें । संयम तथा इन्द्रिय-दमनके बारेमें यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश है । परमात्माके कार्यमें अपनी पंचविध शक्तियां लगा रखनाही मानो उन्हें संयमपूर्वक रखना है, कारण यही है कि बिना संयमके परमात्माके कार्यमें सभी शक्तियां लगही नहीं सकतीं ॥ ९ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ १० ॥
भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृंहन्तां दुर्याः पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमन्वेमि
पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थेऽग्ने हव्यं रक्ष ॥ ११ ॥

---

[१०] (सवितुः देवस्य) सबकी उत्पत्ति करनेहारे देवकी (प्रसवे) प्रसूतिरूपी सृष्टिमें (अश्विनोः बाहुभ्यां) अश्विनौके बाहुओंसे (पूष्णोः हस्ताभ्यां) तथा पूषा देवके हाथोंसे (त्वा) तुझे धारण करता हूं। (अग्नये जुष्टं) अग्निको जो प्रिय लगे उसे मैं लेता हूं (हविष्यान्न खाता हूं)। (अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि) अग्नि तथा सोमको जो प्रिय होवे, वही मैं लेता हूं ॥ १० ॥

[११] (भूताय त्वा) उन्नतिके लिए तुझे उत्पन्न किया है। (न अरातये) अनुदारताके लिए नहीं। (स्वः अभिविख्येषम्) मुझे आत्मप्रकाश दीख पडे। (पृथिव्यां दुर्याः दृंहन्ताम्) भूमिपर जो द्वार हैं वे दृढ रहें। (उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि) विस्तृत अन्तरिक्षमें मैं अनुकूलतापूर्वक चला जाता हूं। (पृथिव्याः नाभौ अदित्याः उपस्थे त्वा सादयामि) पृथ्वीके मध्यमें स्वतंत्रताके निकट तुम्हें मैं बिठाता हूं। (अग्ने ! हव्यं रक्ष) हे अग्निदेव ! इस हविकी रक्षा कर ॥ ११ ॥

अगले मंत्रमें परमात्माके प्रभावको मानवपर प्रतिष्ठित होनेका वर्णन किया है।

' सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां, पूष्णः हस्ताभ्यां त्वा गृह्णामि '= ' इन सबके सृजवकर्ता देवकी रची हुई सृष्टिमें अश्विनौके बाहुओंसे और पूषा देवके हाथोंसे मैं तुझे पकडता हूं। ' जो पूर्वोक्त ढंगसे अनुष्ठान कर रहा हो ऐसे भक्तकी मनःशांतिके लिए परमात्मा कहता है। पीछे कहे हुए प्रकारानुसार जिसका आचरण हो, ऐसे भगवद्भक्तको परमात्मा किसी भी प्रकारसे कष्ट नहीं पहुंचने देता। उसे वह पूषाके हाथोंसे पकडता है अर्थात् उचित ढंगसे परिपुष्ट करता है और उसे अश्विनी देवोंके हाथोंमें सौंप देता है, अर्थात् उसे रोगमुक्त कर देता है। अश्विनीकुमार देवोंके वैद्यराज हैं, इसलिए उनके हाथोंके बलसे सभी रोग दूर हो जाते हैं, और पूषा देव सबकी पुष्टि करनेहारा है। परमात्मा जिस उपासकको इन देवताओंके हाथोंसे ऊठाता हो, वह संपूर्णतया निर्भय होगा, उसके सभी दुःख दूर हो जायेंगे और अपना कार्य निश्चिततया प्रचलित रखें। अब भोजनाच्छादनके बारेमें सोचना चाहिए और उसके लिए अगली दो प्रतिज्ञाएं हैं।

' अग्नये अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ' = ' अग्नि तथा सोमको जो प्रिय लगे उसेही मैं ले लेता हूं। ' हविष्यान्न अग्निका प्यारा भोजन है और दुग्ध जैसे पदार्थ सोमके प्रिय खाद्य हैं। सोमरसमें जो दुग्ध तथा दही आदि पदार्थ मिलाये जाते हैं उन्हें सोम चाहता है और जो अन्न हविके रूपमें दिया जाता है, वह अग्निका प्रिय होता है। मैं इन हविष्यान्नोंका सेवन करता हूं अर्थात् अन्य पदार्थोंको वर्ज्य मानता हूं। ऊपर कहे हुए पदार्थ भूमिमें बोये जाते हैं और इनके सिवा जो चीजें मादक होती हैं उनका सेवन और उत्पादन दोनों हानिकारक हैं। इस प्रकार यज्ञके कारण खानपानमें सावधानीकी आवश्यकता प्रतीत होती है। इस तरह शुद्ध अन्न तथा जलके सेवनसे आचारविचारमें पवित्रता पैदा होती है और पश्चात प्रगतिपथपर आगे बढना सुगम होता है ॥ १० ॥

प्रगतिके लिएही मानवका सृजन हुआ है। यह बात अगले दो मंत्रभागमें अच्छी तरह दर्शायी है।

' भूताय त्वा, न अरातये ' = ' उन्नतिके लिए तेरा निर्माण हुआ है, अनुदारताके लिए नहीं। ' इस भूतलपर मानव उन्नतिके लिए अवतीर्ण हुआ है नकि संकीर्ण बर्तावसे अपनी अद्भुत शक्तियोंका ह्रास करनेके लिए। किसी भी कार्यका सूत्रपात करते समय मनुष्य सोच लेवे कि प्रगतिप्रवण होनेके कारण उस कार्यसे अपनी उन्नति करनेमें सहायता मिलेगी या नहीं, और प्रगतिपोषक कार्यकाही प्रारंभ करना चाहिए। मनकी उदारता व्यक्त हो, संकीर्णता नहीं। उपासक मनमें निश्चय कर अभिलाषा करता है कि—

' स्वः अभिविख्येषं ' ' स्वः, स्व-र् का अर्थ आत्माका प्रकाश है '। मुझे यह आत्मामें विद्यमान उजाला दिखाई दे।

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥१२॥

[१२] (**वैष्णव्यौ पवित्रे स्थः**) तुम दोनों विष्णुकी शक्तिसे उत्पन्न हुए पवित्रीकरणके दो साधनरूप हो। (**सवितुः प्रसवे**) सृजन कर्ता देवकी (**अच्छिद्रेण पवित्रेण**) इस सृष्टिमें छिद्ररहित शुद्धता करनेवाले साधनके द्वारा (**सूर्यस्य रश्मिभिः**) और सूर्यकी किरणोंद्वारा (**वः उत्पुनामि**) तुम सबको भली भांति पवित्र कर देता हूं। (**देवीः आपः**) हे दिव्य जलसमूह ! (**अग्रेगुवः अग्रेपुवः**) तुम अग्रगन्ता एवं प्रथम पवित्र करनेहारे हो। (**अद्य इमं यज्ञं अग्रे नयत ।**) आज इस यज्ञको आगे ले चलो। (**यज्ञपतिं**) यज्ञके पालनकर्ता (**सुधातुं**) श्रेष्ठ धातुसे युक्त तथा (**देवयुवं यज्ञपतिं**) देवकी भक्ति करनेहारे यजमानको (**अग्रे नयत**) आगे ले चलो ॥ १२ ॥

में यह धर्मानुष्ठान इसलिए कर रहा हूं कि मुझको यह आत्मज्योति दीख पडे। यही मेरी एकमेव अभिलाषा है, हे परमात्मन् ! तू इसे पूर्ण कर और—

'पृथिव्यां दुर्याः दृंहन्तां ।' = 'भूमंडलपर सभी घर सुदृढ होवें।' घर कभी टूटेफूटे या ढीले न होने पायें। सभी निवासस्थान स्थायी एवं दृढ नींवपर बंधे हुए हों। इस पृथ्वीपर सज्जन, साधु, उपासक तथा सदाचारी पुरुष बहुत हों। जिन घरोंमें यज्ञ अर्थात् लोककल्याणार्थ कार्य प्रचलित रखे जाते हैं वे अविनाशी होते हैं, और निज निवास स्थानोंमें स्वार्थपूर्ण तथा दुसरोंके लूटनेके विचारोंका विनिमय होता है, वे घर गिरावटके योग्य होते हैं। दुर या द्वारका अर्थ दरवाजा या स्वतंत्रता-प्राप्तिके साधन है। जहांसे परतंत्रता दूर हटायी जा सकती है, वह बंधन-मोचनका सरल द्वार है। उपासक परमात्मासे प्रार्थना करता है कि उसे आत्म-प्रकाश दिखाई दे और इस भूतलपर मानव-समाजके हितमें रत मानवोंके जो घर हैं, वे उसके लिए तथा सब जनताके लिए प्रतिदिन दृढ होते रहें। ऐसे घर यदि स्थायी नींवपर होवें, तो सभी लोगोंका हितही होगा।

'उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि ।' = 'विशाल अन्तरिक्षमें मैं अनुकूलतापूर्वक घूमता हूं।' यदि मुझे आत्माके प्रकाशका दर्शन हो और संसारभरके जो सदाचारी तथा यज्ञमय जीवन-वाले लोग हों, उनके घर सुदृढ रहें तो समस्त भूमण्डलमें विना किसी रुकावटके मैं विहार कर सकूंगा। इस समय अपना कार्यक्षेत्र इसलिए अत्यन्त संकीर्ण हुआ है कि साधु स्वभाववाले पुरुषोंके घर न्यून तथा अक्षम हैं। उधर दुर्जनोंके घरोंकी संख्या अधिक है और वे प्रबल हैं। अतएव सज्जन लोग निर्बाध रूपसे अपना कार्यक्षेत्र नहीं बढा सकते। इतनी बाधाओं तथा रुकावटोंके होनेपर भी वह मानव, जिसके सारे जीवनमें यज्ञका भाव समाया हुआ हो, अवश्यही अपने लिए पर्याप्त कार्यक्षेत्र ढूंढ निकालेगा। ऐसी विकट, बीहड तथा दुरूह परिस्थितिमें भी जो संसारके हितके लिए अपने जीवनका त्याग करता है, उसे परमात्मा विश्वास दे रहा है, देखिए—

'पृथिव्याः नाभौ अदित्याः उपस्थे त्वा सादयामि ।' = 'भूमंडलके मध्यविभागमें और स्वतंत्रता देवीके बिलकुल समीप मैं तुझे बिठाता हूं।' वह मानव इस भूलोकके बीचमें विराजमान होता है। जो पुरुष मध्यमें ऊंची जगहपर बैठता है, उसपर सबकी दृष्टि पडती है, वैसेही पृथ्वीतलके सारे मानवोंकी आंखें उसपर गड जाती हैं अर्थात् समस्त भूमण्डलके लोगोंमें वह ऊंचे एवं प्रमुख पदका अधिकारी बनता है। उसी प्रकार सर्वोच्च स्थानपर बैठकर वह अदितिके अंकपर आश्रय पाता है। दितिका अर्थ बन्धन है, अतः 'अ-दिति' से स्वतंत्रताका बोध होता है। इस स्वतंत्रता देवीके अंकपर यह जा बैठता है अर्थात् निडर बन अपना कर्तव्य-संसारमें प्रमुख ढंगसे करता है। इस परमात्माके द्वारा प्रदत्त सांत्वनासे प्रोत्साहित होकर उपासक पुनरपि आत्म-समर्पणकी प्रतिज्ञा करता है।

'अग्ने ! हव्यं रक्ष ।' = 'हे तेजस्वी देव ! इस हविर्भागका तू संरक्षण कर।' मेरा जीवनही अब हव्यरूपमें परिवर्तित हो गया है; मैं उसे तेरी भेंटमें अर्पित कर चुका हूं। अब चूंकि मैं तेरा बन चुका हूं तू चाहे जैसा इसका उपयोग कर और सुरक्षित रख ॥ ११ ॥

'वैष्णव्यौ पवित्रे स्थः' = 'विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक परमात्माकी शक्तिसे युक्त तथा पवित्रता करनेके तुम साधन हो। तुममें ये दोनों शक्तियां हैं।' प्राण तथा मन दोनों पवित्रता करनेवाले हैं और इनमें अद्‌भुत दिव्य शक्ति विद्यमान है। प्राणसाधनसे हठयोग और मनके साधनद्वारा राजयोगकी सिद्धि होती है। इन दोनोंके सहयोगसे उपासक

अंदर और बाहर पवित्र हो स्वाधीनता देवीकी गोदमें बैठने योग्य बन जाता है। मानव पहले यह समझ ले कि उसके भीतर ये दोनों साधन वर्तमान हैं। पश्चात् उनका उपयोग कर अपनी प्रगति करे। परमात्माने इन दोनों साधनोंको मनुष्यके अधीन कर अपना कार्य पूर्ण किया है और अब समय है कि मानव अपने कर्तव्यपालनमें भूल न करे। यही बात अगले मंत्रभागमें कही है।

'सवितुः प्रसवे, अच्छिद्रेण पवित्रेण, सूर्यस्य रश्मिभिः वः उत्पुनामि।' = 'सृजनकर्ता परमात्माकी इस सृष्टिमें छिद्र-रहित पवित्रता करनेके साधनसे और सूर्यकी किरणोंसे में तुम सबको शुद्ध करता हूं।' निर्माणकर्ता परमात्माकी इस रचना-विश्वमें शुद्धता करनेके अनेक साधन पाये जाते हैं और उनमें सूर्यकिरण अत्यन्त प्रबल तथा प्रभावशाली है। विश्वमें सूर्यकिरणोंद्वारा पवित्रताका सृजन होता है, अतः अपने घरोंमें जो लोग सूर्यकिरण घुसने देते हैं, वहांपर रोगोंका भय नहीं होता है। जो अपने शरीरपर सूर्यप्रकाशका उपयोग करते हैं वे स्वयं आरोग्यसंपन्न बनते हैं। इस तरह सूर्यमें किरणोंद्वारा शुद्धता करनेका धर्म है। पहले कह आए हैं कि प्राण तथा मन दोनों आत्मशक्तिसे युक्त और पवित्रता करनेके साधन हैं। पर वे अ-च्छिद्र अर्थात् छिद्र, दोष, त्रुटिसे मुक्त हों, तो ठीक है। निर्दोष रहनेपरही उनसे पवित्रता होती है, अन्यथा शुद्धताका कार्य रुक जाता है। उदाहरणार्थ- जैसे छलनीमें सूराख न हों तभी उससे पदार्थ ठीक प्रकार छाना जा सकता है, वैसेही मन तथा प्राण छिद्र-शून्य एवं अखंड हों तभी वे पवित्रता पैदा कर सकते हैं। इसी प्रकार जलसे भी शुद्धता की जा सकती है। देखिए—

'देवीः आपः अग्रेगुवः अग्रेपुवः।'= 'दिव्य जलसमूह अग्रगंता और पहलेही पवित्र करनेवाले हैं।' मेघोंसे जो शुद्ध जल पृथ्वीपर आता है वही दिव्य जल है। चूंकि यह द्युलोकसे आता है इसलिए इसे 'देवीः आपः' अथवा दिव्य जलौघ नाम दिया गया है। मेघवृष्टि द्वारा जो जल मिलता है, उससे भीतर बाहर शुद्धता होती है। उपवासके दिन यदि कुछ भी न खाकर केवल यह जलही पिया जाये, तो बडी अच्छी आंतरिक पवित्रता होती है। इसी तरह भापका पानी भी शुद्धता करनेवाला है। शुद्ध जलके कारण शरीरमें स्वच्छता होती है और आरोग्य भी सुधरता है। अतएव कहा गया है कि—

'इमं यज्ञं अद्य अग्रे नयत'= 'इस यज्ञको आजही आगे ले चलो।' आजके दिनही इस यज्ञकी प्रगति करो, इसे पीछे न धकेलो। यज्ञ या यज्ञपुरुषके नामसे वेदमें आत्मा प्रसिद्ध है। इस यज्ञको आगे ले चलना है। शरीरकी शुद्धतासे इस आत्माकी प्रगति होती है। शुद्धता प्रगति करनेका एक साधन है। अतः यदि कोई चाहे कि अपना उत्कर्ष हो, तो वह आत्मशुद्धि करनेकी चेष्टा करे। प्रारंभमें जलसे शरीर पवित्र किया जा सकता है। सूर्यकिरणोंसे सब प्रदेश एवं शरीर भी शुद्ध होता है और प्राणायाम तथा मनसे आन्तरिक पवित्रता पाई जाती है। अबतक कहे हुए शुद्धताके साधन इस प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं, और वे मानवी प्रगतिमें बडी सहायता पहुंचाते हैं। अतएव आगे कहा है कि-

'यज्ञपतिं सु-धातुं देव-युवं यज्ञपतिं अग्रे नयत' = 'यजमानको, उत्तम सप्त धातुओंसे युक्त और देवोंसे संबद्ध कर आगे ले चलो।' यज्ञपतिका अर्थ है यज्ञका पालनकर्ता। (यज्-देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु) अर्थात् जिससे श्रेष्ठ जनोंका सत्कार, जनताका संगठन और दुःखियोंके उपकार सिद्ध किये जा सकते हैं, वह उच्च कोटिका कर्म यज्ञ है। ऐसे कर्म करनेवाला यज्ञपति कहलाता है। यह आवश्यक है कि यज्ञपति बननेकी महत्त्वाकांक्षा रखनेवाला पुरुष सु-धातु अर्थात् अच्छे धातुओंसे युक्त हो। मानवी शरीरमें रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्यके रूपमें सात धातु पाये जाते हैं। जिस शरीरमें ये सातों धातु अच्छी दशामें हों वह सु-धातु बनता है। ऊपर कहे हुए आत्मशुद्धिके साधनोंसे शरीरके ये सप्त धातु अच्छी हालतमें रहते हैं और शरीर आरोग्यसंपन्न तथा दीर्घायुवाला हो जाता है। वैसेही 'देवयुवं' का अर्थ है देवोंसे संपर्क रखनेवाला। उपासक परमात्मासे संबद्ध रहना चाहता है, अतः उसे 'देव-युवं' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इस शब्दका बडा विस्तृत अर्थ किया जा सकता है, जैसे अपनी प्राण-शक्ति बढानेके लिए वायुदेवताके सम्पर्कमें रहनेवाला, नेत्र-सामर्थ्य पानेके लिए सूर्यदेवताके संपर्कमें रहनेवाला, शुद्धताके लिए जलदेवताके समीप जानेवाला और अपने शरीरकी पुष्टिके लिए वनस्पति-देवताओंसे लाभ उठानेवाला जो साधक इस तरह देवताओंके निकट सम्पर्कमें रह अपनी उन्नत्ति कर लिया करता है, उसे 'देव-यु' कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। अपने अस्तित्वके लिए, आरोग्यके लिए, दीर्घायुष्यके लिए और सर्वांगपूर्ण प्रगतिके लिए मानवको देवताओंसे संबद्ध रहना सुतरां आवश्यक है। जो इस ढंगसे देवताओंके निकट सहवासमें रहता है, उसकी प्रगति शीघ्र होती है॥ १२॥

युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ । अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ १३ ॥

[१३] (इन्द्रः वृत्रतूर्ये युष्मा अवृणीत) इन्द्रने वृत्रहत्याके समय तुम्हें स्वीकृत किया था । (यूयं) तुमने (वृत्रतूर्ये) वृत्रवधके समय (इन्द्रं अवृणीत) इन्द्रको स्वीकार किया था । (प्रोक्षिताः स्थ) तुम पवित्र हुए हो । (अग्नये जुष्टं त्वा प्रोक्षामि) अग्निके प्रिय तुझको मैं पवित्र करता हूं । (अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा प्रोक्षामि) अग्नि तथा सोमके प्रिय तुझे मैं पवित्र करता हूं । (दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्) दिव्य कर्मके लिए शुद्ध बनो । (देवयज्यायै) देवोंके यजनार्थ शुद्ध बनो । (यत् वः अशुद्धाः पराजघ्नुः) चूंकि तुममेंसे कुछ लोग अशुद्धताके कारण पराभूत हुए, (तत् वः शुन्धामि) अतः मैं तुम्हें शुद्ध करता हूं ॥ १३ ॥

'इन्द्रः वृत्रतूर्ये युष्मा अवृणीत' = 'इन्द्रने वृत्रहत्याके समय तुझे (जलको) स्वीकृत किया था' और—

'यूयं वृत्रतूर्ये इन्द्रं अवृणीत' = 'तुम भी (जल) वृत्रविनाशके समय इन्द्रको स्वीकार करते हो।' इस तरह एक दूसरेकी सहायतासे वृत्ररूपी शत्रुका वध किया जाता है। यहांपर आत्माको इन्द्र नाम दिया गया है। जिसकी शक्तिके कारण इन्द्रियोंको 'इन्द्रिय' नाम मिला है, उसे इन्द्र कहना उचित है। यह इन्द्र वृत्रसे मुठभेड करता है। वृत्र (वृणोति इति वृत्रः) का अर्थ घेरनेवाला है। चारों ओरसे घेरकर, लपेटकर दम घोटनेवाला शत्रु वृत्र नामसे पुकारा जाता है। ज्वरसदृश विभिन्न रोग शरीरको घेर लेते हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे इन्हें वृत्र कहना ठीक है। जलकी सहायतासे ये दूर किए जाते हैं। इसलिए जलचिकित्साके अनुसार इन्द्र अर्थात् जीवात्माको जलकी सहायता प्रदान कर बीमारीको दूर हटाता है, यह यहांपर कहा है। वृत्रका वध करते समय इन्द्रने जलसे सहायता ली थी और जलके कारण उसे वह प्राप्त हुई थी। इसका सरल आशय इतनाही है कि शरीरको घेरनेवाले ज्वरसदृश रोगोंको इन्द्रने जलचिकित्साद्वारा दूर किया। शुद्ध किया हुआ जल उत्तम आरोग्यप्रदान करता है। वृत्रका नाश होनेपर जल-प्रवाह बहने लगते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि ज्वरके हटनेपर पसीना आता है। इन मंत्रभागोंने अच्छी तरह दर्शाया है कि जल कैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। मानवकी प्रगतिके लिए आरोग्य, बल एवं दीर्घ जीवनकी आवश्यकता है। वह जलके उपयोगसे प्राप्त हो सकता है, अतः आरोग्यके लिए जलसे सहायता ली जाती है।

'प्रोक्षिताः स्थ' = 'तुम (जलके सींचनेसे) पवित्र हुए हो।' छाननेके कारण जल शुद्ध हो चुका है और उस उदकसे दूसरे मानव भी पवित्र बन गये हैं। या यों कह सकते हैं, शुद्धताके नियमानुसार जलसे सबकी शुद्धता होती है।

'अग्नये जुष्टं त्वा प्रोक्षामि, अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा प्रोक्षामि।' = 'अग्नि तथा सोमके तुम प्रिय हो, मैं तुम्हें जलसेकसे पवित्र करता हूं।' जो वस्तु अग्नि तथा सोमको प्रिय लगे उसे पवित्र करकेही अर्पण करना चाहिए। इस नियमको समझनेके लिए यहांपर जठराग्निका उदाहरण पर्याप्त होगा। यह जाठराग्नि कुछ अन्न चाहती है और कुछ अन्नको बिलकुल नहीं चाहती। जो जिसे पचा सकती है वही उसे प्यारा लगता है। अतः जिसकी जाठराग्निको जो अन्न प्रिय हो वही उसे अर्पित करना है, तथापि उस अन्नको निर्दोष, पवित्र तथा शुद्ध स्वरूपमेंही प्रदान करना ठीक है; तभी वह शरीरके लिए पुष्टिकारक ठहरेगा। अन्य अग्नियोंके बारेमें भी इसी प्रकार समझना चाहिए। जाठर अग्निके समानही अपनी देहमें कई अन्य अग्नियां विद्यमान हैं। जैसे ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, वागग्नि तथा कामाग्नि इत्यादि। अग्निके विभिन्न स्वरूपमें ये सभी विभूतियां हैं और इनमेंसे प्रत्येक अग्निका प्रिय अन्न विभिन्न प्रकारका होता है। इस अन्नको पवित्र एवं शुद्ध स्वरूपमेंही उस विशिष्ट अग्निको अर्पित करना चाहिए। मानवी शरीरमें जो उष्ण तथा उद्दीपन करनेवाला भाग है, वह अग्नि और जो शान्त भाग है वह सोम है। मानव-शरीर या विश्व 'अग्नी-षोमीय' है। इनकी व्यवस्था सुचारु रूपसे चलनेके लिए जो कुछ इन्हें देना आवश्यक हो, वह शुद्ध तथा निर्दोष रहे। जैसे जाठराग्निको शुद्ध अन्न देनेसे वह प्रदीप्त होता है, मंद नहीं बनता, वैसेही अन्य अग्नि तथा सोमके सम्बन्धमें समझना चाहिए। प्रज्वलित रहनेपरही शरीरवृद्धिमें सहायता मिलती है।

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावाऽसि पृथुबुध्नः प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

[१४] (शर्म असि) तू सुख है । (रक्षः अवधूतं) राक्षस दूर हुए और (अरातयः अवधूताः) अनुदार भी दूर हटाये गये । (अदित्याः त्वक् असि) स्वाधीनताकी त्वचा तू है । (अदितिः त्वा प्रतिवेत्तु) स्वाधीनता तुझे जान लेवे । (वानस्पत्यः अद्रिः असि) तू वनस्पतिसे निर्मित पर्वतही है । (पृथुबुध्नः ग्रावा असि) तू दृढ नींववाला पत्थर है । (अदित्याः त्वक् त्वा प्रति वेत्तु) अदीनताका आवरण तुझे मिल जाए ॥ १४ ॥

'दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम् ।' = 'दिव्य कर्म करनेके लिए तुम इस तरह शुद्ध और पवित्र अर्थात् निर्दोष बनो ।' यदि तुम्हारी इच्छा हो कि अपनेसे दिव्य कर्म संपन्न हो तो तुम्हें उपर्युक्त ढंगसे अंदर और बाहर निर्दोष, पवित्र और शुद्ध बनना चाहिए । दिव्य कर्मोंके करनेपरही तुम्हारी प्रगति होगी और यदि कहीं आसुरी कर्म हुए तो तुम्हारा अधःपतन होगा । अतएव आसुरी कर्मोंके बजाय अपनेसे दिव्य कर्मही हों इस हेतु तुम अपनी कायिक, वाचिक एवं मनोमय शुद्धता संपादन करो ।

'देवयज्यायै शुन्धध्वम् ।' = 'देवोंकी पूजा करनेके लिए शुद्ध बनो ।' अपने द्वारा देवताओंका सत्कार हो इसलिये तुम शुद्ध बनो । जिन देवोंके लिये यजन करना है, वे देवता अध्यात्म-पक्षमें शरीरस्थ नेत्र जैसे इन्द्रियोंके स्वरूपमें, अधिभूत पक्षमें जनताके ब्राह्मण जैसे वर्णोंके रूपमें और विश्वमें सूर्यादि तेजोगोलके स्वरूपमें विद्यमान हैं । इन सबकी यथोचित ढंगसे पूजा करके प्रगति करनी है । मानवी शरीरमें नेत्र, कर्ण, नासिका आदि देव हैं और इन्हें शुद्ध तथा सरल आचरणमें रखकर सत्कारार्ह बनाना है । राष्ट्रमें (ब्राह्मण) ज्ञानी, (क्षत्रिय) शूर, (वैश्य) धनिक और (शूद्र) शिल्पी चारों देवस्वरूपी हैं । ये ज्ञानदेव, वीर्यदेव, धनदेव तथा कर्मदेवके रूपमें राष्ट्रकी सेवा करते हैं । इनमें जो शुद्धाचरणवाले हों उनकाही सत्कार करना उचित है । इसी तरह विश्वमें जल, वायु आदि अनेक देवता हैं, जिनके कारण सब जीवित हैं । अतः उनका भी सत्कार करना चाहिए । मानव, ऊपर कहे हुए तीनों क्षेत्रोंमें निवास करनेवाले देवताओंकी योग्य अर्चा करे । इस कार्यको करनेके लिए सबसे पहले मानवको शुद्ध होना अत्यावश्यक है । स्वयं शुद्ध बनकर यदि इन सभी देवताओंका भली भांति सत्कार किया जाय तो वे अपने सामर्थ्यके फलस्वरूप मानवको उन्नत बना सकेंगे । अगले मंत्रभागमें कहा है कि शुद्धता क्यों करनी चाहिए ।

'यत् वः अशुद्धाः पराजघ्नुः तत् वः शुन्धामि ।' = 'तुम यदि अशुद्ध रहोगे तो अवश्यही पराभूत होओगे, अतः मैं तुम्हारी शुद्धता करता हूं ।' मानवकी पराजयका प्रमुख कारण यही है कि वह आत्मशुद्धिसे वंचित रहता है, अपवित्र विचार या अन्य कोई दोष उसमें घुस जाते हैं । अतएव यदि हम चाहे कि अपनी विजय हो, तो अपनी शुद्धता अक्षुण्ण रखना अनिवार्य है । अध्यात्मपक्षमें अपने शरीरस्थ रोग जैसे शत्रुओंसे जूझते समय विजयी बननेके लिए शरीरकी आंतरिक तथा बाह्य शुद्धताकी बडी आवश्यकता है । राष्ट्रके विरोधी दलसे मुठभेड करते समय विजय पानेके लिए भी, राष्ट्रके घटकावयवरूपी जो विभिन्न वर्ण एवं मानवी वर्ग विद्यमान हैं, उनमें आचार तथा विचार विषयक पवित्रताही अनिवार्य है अर्थात् शुद्धतापरही विजय निर्भर है । अशुद्धताके कारण हार उठानी पडती है और शुद्धता विजयमें सहायक होती है ॥ १३ ॥

'शर्म असि ।' = 'तू सुखस्वरूप है ।' ध्यानमें रख कि तेरा सच्चा स्वरूप सुखमय है । इसीलिए यदि भौलिक शुद्ध स्वरूपपर तनिक भी कलंक लगे, या वह दूषित हो, तो दुःख होना स्वाभाविक है । अतएव मानवको अपनी शुद्धता अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए । सुख आत्मशुद्धिपर निर्भर है और यदि वह प्राप्त हो तो क्या होता है, देखिए-

'रक्षः अवधूतं । अरातयः अवधूताः ।' = 'राक्षस दूर हुए, शत्रु, या अनुदार दलके लोग दूर हट गये ।' यह अनुभव प्राप्त होता है । शुद्धता होनेपर शत्रुओंके दूर हट जानेसे निर्बाधताका अनुभव मिलता है और यह हरेक मानवको मिलनाही चाहिए । शरीरमें रोगोंके कीटाणु और राष्ट्र तथा मानवी समुदायमें आततायी एवं दुष्ट लोग राक्षसवत् हैं । ये आक्रमण कर दूसरोंको कष्ट पहुंचाते हैं । रोगोंके कीटाणु मानवशरीरपर हमले चढाकर और अधम लोग दुर्व्यवहारसे सज्जनोंको पीडित करते हैं । अतः कोई उनके वशमें न चला जाये, स्वाधीन बनकर रहे । इस मंत्रमें

बतलाया है कि आत्मशुद्धिद्वारा इन्हें दूर किया जा सकता है। यदि किसीके चित्तमें यह सन्देह पैदा हो कि, क्या मानव आत्मिक शुद्धता पानेमें स्वतंत्र नहीं है ? तो उसे हटानेके लिए अगले मंत्रमें कहा है—

'अदित्याः त्वक् असि।' = 'तू अदितिका चर्म है।' 'दिति' का अर्थ है 'बंधन,' परतंत्रता, दीनता, न्यूनता, खंडित होना। 'अदिति' का अर्थ है बंधनसे मुक्ति, स्वतंत्रता, अदीनता, अखंडितता एवं असीम वृद्धि। 'दिति' से दैत्य, असुर तथा राक्षसोंका सृजन होता है और 'अदिति' से आदित्य, देव तथा सुरका निर्माण होता है। दैवी संपत् अदितिकी है और आसुरी विपत्ति दितिकी है। इस संपूर्ण अर्थको दर्शानेके लिए 'अदिति' से स्वाधीनताका भावही यहां लेंगे, पर पाठक दूसरे 'अदीनता, बंधनसे छुटकारा' आदि अर्थ ध्यानमें रखें। 'हे मानव ! तू स्वाधीनताकी त्वचा है।' 'त्वक्' का अर्थ है–'चमडी, बाहरी ढक्कन या आच्छादन।' यहांपर 'आच्छादन' अर्थ लेना चाहिए। 'हे मानव ! तू स्वतंत्रताका आच्छादन है।' अर्थात् तुझमें स्वतंत्रता एवं अदीनताका वास है। तू उन्हें घेरकर अपनेमें समाविष्ट कर लेता है। परतंत्रता, दीनता या पराधीनता मानवकी विकृति है, प्रकृति नहीं; अतः मानव यथासंभव इनसे दूरही रहे। मानव प्राकृतिक प्रेरणासेही स्वतंत्रता एवं अदीनता चाहता है। इस बातको न भूलकर, मानवको उचित है कि वह आत्मशुद्धिद्वारा रोगादि बंधनसे मुक्त होवे, और जनताको भी दुराचारी लोगोंके बंधनसे छुडवानेकी प्रबल अभिलाषा मनमें धरे। मनुष्यकी नैसर्गिक प्रवृत्ति भी उसे ऐसी इच्छा करने तथा उसकी पूर्ति करनेके लिए अविरत चेष्टा करनेको प्रेरित करती है। कभी कभी मानव दशाके हेरफेरसे, ओछे भावोंसे प्रभावित हो इसके विपरीत कार्य कर बैठता है। इसीलिए कहा है—

'अदितिः त्वा प्रतिवेत्तु।' = 'स्वाधीनता तुझे जान ले।' तू स्वाधीनतासे परिचित रह, तुझे अदीनता प्राप्त होवे, स्वतंत्रता तुझसे दूर न चली जाए, क्योंकि तू स्वतंत्रताको व्याप्त कर उसे घेरनेवाला या अपने समीप रखनेवाला है। इस तरह नैसर्गिक स्वतंत्रताके भावोंसे युक्त पुरुष स्वतंत्रताके लाभोंसे परिचित रहे, नहीं तो जैसे एक कंजूस, मक्खीचूस आदमी स्वयं धनाढ्य रहनेपर भी निर्धन मनुष्यके समान बर्ताव रखता है, वैसेही सर्वसाधारण मानव प्रकृतिसेही अदीन तथा स्वतंत्र रहनेपर भी कई कारणोंसे दीन एवं परतंत्र बना हुआ दीख पडता है। इन बाहरी कारणोंसे उसमें कंपकंपी पैदा न हो इस हेतु अगले मंत्रभागमें कहा है—

'वानस्पत्यः अद्रिः असि। पृथुबुध्नः ग्रावा असि।' = 'वनस्पतियोंसे व्याप्त पर्वतके समान तू है। बडी बुनियादवाले चट्टानके समान सुदृढ तू है।' जिस पर्वतपर बडी बडी वनस्पतियां पाई जाती हैं, वह बडाही सुदृढ तथा अविचल रहता है, भलेही उसपर मूसलधार वर्षा हो या भीषण आंधीके आघात हों, वह कभी अपनी जगहसे डावांडोल नहीं होता, उल्टे अपने स्थानपर अटल खडा रहता है। वैसेही मानव भी विविध संकटोंके बवंडरमें फंसनेपर भी अडिग तथा अविचल रह सकता है। जिस प्रकार बडे बडे शिलाखंड तथा चट्टान भूमिमें बहुत गहराईतक पहुंचनेके कारण अपनी अपनी जगह अटल रूपमें अवस्थित होते हैं, उसी तरह सदाचरण एवं संयमकी सुदृढ बुनियादपर खडा हुआ मनुष्य भी सुखदुःखके झकोरोंसे अधिक मात्रामें प्रभावित न हो अपने कर्तव्यक्षेत्रमें समत्व भावसे डटा रहता है। इसलिए मानव बाहरी कठिनाइयोंके आघात–प्रत्याघातोंसे अपने कर्तव्यको छोड न देवे। ऐसी स्थिरता होनेपरही वह स्वयं अदीन, सुदृढ तथा स्वतंत्र बनकर अपने शत्रुदलको परास्त कर अंतर्गत निजी तेजसे उद्भासित होने लगेगा। ऐसी शक्ति पानेके लिए तू अपने आंतरिक स्वरूपसे परिचित बन।

'अदित्याः त्वक् त्वा प्रति वेत्तु' = 'अदीनताका आवरण तुझे परिचित तथा ज्ञात रहे।' अदीनताका आवरण तुझे अपने अंदर ले अर्थात् तू अदीनताके कवचमें जाकर रह, तेरे चारों ओर अदीनता एवं स्वाधीनता बिराजमान होती रहे। जिस वायुमंडलमें तू संचार करता है वही स्वाधीनता एवं अदीनताके भावोंसे परिपूर्ण बना रहे। मानवका मौलिक स्वरूपही अदीनतामय आवरण है। वह अपने उस मूलभूत स्वरूपसे परिचित रहे और कभी उसे भूल न जाये। मानव कभी इस बातको अपनी आखोंसे ओझल होने न दे कि वह दीनताके दलदलमें फंसनेवाला नहीं, अपितु सारी दीनताओंको दूर हटाकर अपनी स्वाधीनता अक्षुण्ण रखनेवाला है। यहां पर प्रायः कोई यह प्रश्न उठाए कि अज्ञानरूपी अंधियारेमें वह संभवतः इसे भूल जाए। परंतु मानवी आत्माका स्वरूप किसी भी प्रकारके अंधेरेसे अछूता एवं अप्रभावित है। वह तो प्रत्यक्ष प्रकाशस्वरूपही है॥ १४॥

अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावाऽसि वानस्पत्यः स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व । हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ १५ ॥

[१५] (अग्नेः तनूः असि) तू अग्निका शरीर है । (वाचः विसर्जनम्) वाणीका विसर्जनही तू है । (देववीतये त्वा गृह्णामि) देवताओके तेजके लिए में तुझे स्वीकार करता हूं । (वानस्पत्यः बृहद्ग्रावा असि) वनस्पतियोंद्वारा निर्मित बडा पत्थर तू है । (स देवेभ्यः इदं हविः शमीष्व) वह तू सब देवोंके लिए यह हवि सुख देनेवाला कर । (सुशमि शमीष्व) भली भांति सुखप्रद ढंगसे सिद्ध कर, शांततापूर्वक प्रदान कर । (हविष्कृत् ! एहि) हे हविरूपी अन्न तैयार करनेवाले ! इधर आ ! (हविष्कृत् ! एहि) हे हविरूपी अन्न तैयार करनेवाले ! इधर आ ! ॥ १५ ॥

' अग्नेः तनूः असि । ' = ' तू अग्निका शरीर है । ' हे मानव ! तेरी आत्मा अग्निरूप है और तेरा शरीरही उस अग्निका बाह्य आवरण है । वह प्रकाशमय आत्माग्नि तेरे शरीरमें प्रतिपल प्रज्वलित हो उठता है । जहांपर अग्नि स्वयं धधक रहा हो वहांपर भला अंधियारा पहुंचेगा ही कैसे ? अतः हे मानव ! तेरे निकट अज्ञान आदि अंधेरा आही नहीं सकता; हां परंतु यदि तूही स्वयं प्रकाशमान होना छोड दे और धीरे धीरे बुझता चला जाए, तो अवश्यही अज्ञान आदि अंधकार तुझे घेर लेंगे । इसलिए तुझे उचित है कि तू ऐसा प्रबंध कर जिससे तेरा प्रकाश धीमा न होने पाय । यह भी मानवकाही एक विशिष्ट तथा प्रेक्षणीय वैशिष्ट्य है ।

' वाचः विसर्जनं । ' = ' वाणीका विशेष रीतिसे सृजन करना ' ही तेरा विशेष धर्म है । मानवमें दिखाई देनेवाला एक विशेष महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वह वाणी तथा शब्दका स्पष्ट उच्चार कर सकता है, आत्माके गुप्त सन्देशको शब्दसमूहद्वारा व्यक्त कर देता है । यह सच है कि अन्य जीव भी कुछ शब्दोंका सृजन कर सकते हैं, पर इस वाग्विसर्जन-सामर्थ्यका जितना चरम विकास मानव कोटिमें हुआ है, उतना अन्य किसी भी प्राणीमात्रमें नहीं । मानव-सृष्टि एवं अन्य जीव-सृष्टिके बीच यदि कोई एक महान् विभिन्नता हो तो वह यही है कि मानव अपने अन्तस्तलके गूढ भावोंको भाषा, वाणीके द्वारा भली भांति प्रकट कर सकता है, जब अन्य कोई प्राणधारी जन्तु ऐसा नहीं करता है । इस शब्द-वाणी-निर्माणमें मनुष्यका मानवत्व छिपा पडा है । शेष मनोवेग तथा भाव दूसरे प्राणियोंमें विद्यमान हैं; आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि कई भाव समान रूपसे सभी जीवधारियोंमें पाये जाते हैं, तथापि मानवकी संभाषणशक्ति किसी भी अन्य प्राणीमें नहीं उपलब्ध होती है । अतः मानवकी सर्वोपरि विशेषता वाक्-विसर्जनही है । यदि मानवत्व इसी वाक्शक्तिपर सुतरां निर्भर है, तो मानवको इस सामर्थ्यका उपयोग बडी सतर्कता एवं सावधानीसे करना उचित है । कमसे कम, जिस शब्द-प्रयोगसे अपना मानवत्व दूषित या कलंकित हो ऐसा कोई भी शब्द-प्रयोग वह न करे । अपनी वाणीद्वारा मानव शुद्ध विचारोंके प्रवाहको अविरत रूपसे संचालित रखे । ऐसा करनेपरही मनुष्य सुखपूर्ण जीवन बिता सकेगा । वाचाशक्ति या शब्द-सामर्थ्यके दुरुपयोगसेही मानव-समुदायके कई संकट पैदा हुए हैं और बढ भी गये हैं । यह जानकर मानव अपनी वाक्सामर्थ्यको सतर्कतासे काममें लाए ।

' देववीतये त्वा गृह्णामि ' = ' देवताओंके तेजके लिये में तुझे स्वीकार करता हूं । ' ' वीति ' के अर्थ ' गति, उत्पत्ति, तृप्ति, संतुष्टि, भोग, तेज, प्रकाश, शुद्धता ' ऐसे हैं । यहांपर तेज या शुद्धता यह अर्थ लेना उचित है । ' हे मानव ! पूर्वोक्त ढंगसे आचरण कर चुकनेपर, तुझे देवताओंका प्रकाश मिले, या देवताओंकी सहायतासे तेरी शुद्धता होवे, इसलिये में तुझे ऊपर उठाता हूं, अपनासा मानकर तुझे स्वीकार करता हूं । ' परमात्मा उपासकको इस भांति विश्वास दे रहा है, यह आशय इस मंत्रभागमें झलक रहा है । यह ढाढस पानेपर मानवमें धीरज बढता है, इसलिए यह आश्वासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इससे मानवके भयभीत होकर धर्मपथसे डिग जानेकी संभावना कम होती है । इतना ढाढस दिलानेपर मानवकी आत्माशक्तिका वर्णन फिरसे किया है ।

' वानस्पत्यः बृहत् ग्रावा असि ' = ' तू वृक्षों तथा वनस्पतियोंसे परिपूर्ण पथरीला (पर्वतके सदृश स्थिर) है । ' मानवको समझाया गया है कि उसमें इतनी शक्ति विद्यमान है कि, उसे बाहरकी रुकावटोंसे विचलित होने या डिगनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । जो पर्वत केवल बालू या रेतीसे हुआ

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयꣳ संघातꣳ संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातयोऽपहतꣳ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥

[१६] (मधुजिह्वः कुक्कुटः असि) तू मिठासभरी वाणी बोलनेवाला वक्ता है। (इषं ऊर्जं आवद) अन्न तथा बलके बारेमें कह। (त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म) तेरी सहायतासे हम शत्रु-दलोंको जीतें। (वर्षवृद्धं असि) हरसाल बढनेवाला ज्ञान तू है। (वर्षवृद्धं त्वा प्रति वेत्तु) हरवर्ष बढनेवाला ज्ञान तुझे मिले। (रक्षः परापूतं) राक्षस दूर हट गये। (अरातयः परापूताः) अनुदारदल हट गया। (रक्षः अपहतम्) राक्षस विनष्ट हुए। (वायुः वः विविनक्तु) तुम्हें वायु शुद्ध करे। (हिरण्यपाणिः सविता देवः) हाथमें सुवर्णके आभूषण धारण करनेहारा देव सविता (वः अच्छिद्रेण पाणिना) तुम्हें अपने छिद्रशून्य हाथसे (प्रतिगृभ्णातु) पकडे ॥ १६ ॥

हो, वह प्रबल आंधी या भीषण वर्षामें धराशायी होगा, पर यदि चट्टानोंसे बना हुआ महान् पर्वत उठ खडा हो, तो उसे प्रलयंकर आंधी या मूसलधार वर्षामें तनिक भी डर नहीं है। अतः हमें इसी भांति निर्भय रहना चाहिए। अनेक कठिनाइयोंसे मुठभेड हो जानेपर भी अपने कर्तव्यको कभी आंखोंसे ओझल न होने दें। इस तरह निर्भयता तथा अपनेमें सुदृढता एवं स्थिरता हो जानेपर—

' स: (त्वं) देवेभ्यः इदं हविः शमीष्व ' = ' ऐसा वह तू देवोंके लिये यह हविर्भाग शांततापूर्वक प्रदान कर। ' देवकार्यके लिए आनन्दपूर्वक अपना तन-मन-धन अर्पित कर, मनमें सन्देह न कर। मनमाने ढंगसे नहीं करेगा, तो —

' सुशमि शमीष्व ' = ' उत्तम सुखप्रद ढंगसे सिद्ध किया हुआ परम शांतिपूर्वक प्रदान कर। ' असावधानीसे किया हुआ कार्य सन्तोषजनक नहीं होगा।

' हविष्कृत् ! एहि ' = ' हे हवि तैयार करनेवाले ! इधर आ। ' हे मानव ! तूने देवताओंके लिए आत्मसमर्पण किया है। अब तू देवताओंकाही बन गया है। सो तू इधर आ। तुझे देवोंके निकट जाना उचित है, राक्षसोंके समीप नहीं। तेरे मनमें स्वार्थी राक्षसी विचार न आने पायें॥१५॥

' मधुजिह्वः कुक्कुटः असि '= ' तू मधुरभाषी एवं उत्कृष्ट वक्ता है। ' तेरी वाणीमें मिठास है और तू अच्छा भाषणकर्ता है। अतः कभी कडवे वचनोंसे कटुभाषी न बन। (कुकं शब्दं कुटते इति कुक्कुटः) जो बडी सतर्कतासे सूक्ष्म विचारपूर्वक योग्य शब्दोंका प्रयोग करता है वह कुक्कुट कहलाता है। मानव मधुरभाषी बन अपनी मिठासभरी वाणीके द्वारा संसारको मधुमय बना दे। यही प्रगतिका मार्ग है। यदि मानवमें कटुता बढ जाय और वह शब्दोंसे उसे फैलाने लगे तो उसकी शक्तियोंका संकोच होगा। अगले मंत्रभागमें सूचित किया है, वाणीद्वारा किन बातोंका उच्चार करना चाहिए।

' इषं ऊर्जं आवद '= ' अन्न तथा बलके संबंधमें घोषणा कर। ' ' इष् ' के अर्थ यों हैं— ' अन्न, समर्पण, शक्ति, बल, उत्साह, सत्त्व, रस, सुख, इच्छाशक्ति, धन, वृद्धि। ' और ' ऊर्ज् ' के अर्थ- ' शक्ति, बल, सत्त्व, रस, अर्क, जीवन, जल, अन्न, उत्साह, वृद्धि। ' इनके संबंधमें यथेष्ट अभिभाषण दिया जा सकता है। पर्याप्त अन्न कैसे पा सकते हैं, बल कैसे बढे, उमंग अक्षुण्ण कैसे रहे, सत्त्व किस तरह टिक सकता है, सुख किस ढंगसे बढे, इच्छाशक्तिमें असीम क्षमता कैसे हो, संपत्ति किस प्रकार बढाई जा सकती है, देवकार्यके लिए आत्मसमर्पण तैयारी कैसे करें, जीवन-यात्रा कैसे सुधरे ? इस तरहकी कई समस्याओंके बारेमें जिनसे अभ्युदय तथा निश्रेयस्की प्राप्ति होती है, आदि विषयोंपर भाषण दिया जा सकता है। जिससे अपना पतन हो या समाजकी बाधा बढे, ऐसा नीच भाषण न किया जाय। सदैव सोचविचारके साथ ऐसा भाषण किया जाय जो परिणाममें शुभप्रद ठहरे। वाणीकी ये मर्यादाएं हैं। जो इस तरह संयमित ढंगसे भाषण-सामर्थ्यका उपयोग करेगा, उससे जनता क्या कहती है, सुनिए —

' त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म '= ' तुम्हारी सहायतासे हम शत्रुके प्रत्येक दलको जीत लें। ' जिस मनुष्यमें अपनी मधुर वाणीसे जनताको मंत्रमुग्ध करनेकी क्षमता रहती है, उसके अनुयायी बढ जाते हैं, उसकी संगठनशक्ति बढती है और लोग उसपर विश्वास करने लगते हैं कि निस्सन्देह यह

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादंसेधा देवयजं वह ।
ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥१७॥

[१७] (धृष्टिः असि) तू धैर्ययुक्त है। (हे अग्ने) हे अग्नि ! (आमादं अग्निं अप जहि) कच्चा मांस खानेवाले अग्निको तू दूर हटा। (क्रव्यादं निः षेध) मांसाहारीका निषेध कर। (देवयजं आ वह) देवपूजकको समीप रख। (ध्रुवं असि) तू स्थिर है। (पृथिवीं दृंह) भूमिको दृढ कर। (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा) ब्राह्मण, क्षत्रिय और सजातीयके हित करनेवाले तुझको, (भ्रातृव्यस्य वधाय) दुष्टोंके वधके लिए (उपदधामि) में समीप करता हूं ॥ १७ ॥

वीर अपने विरोधी दलके छक्के छुडायेगा। ऐसी शक्ति पानेके लिए दो कलाओंका ज्ञान आवश्यक है; प्रथम, वाणीमें मिठास तथा आकर्षकता बढती रहे और दूसरे, जिन उपायोंसे तथा कार्यक्रमसे अन्न, बल, तेज पनपता रहे, उन उपायों तथा योजनाओंकी जानकारी जनतामें प्रसृत करनेकी क्षमता उत्पन्न हो। इसके लिए अनुभवकी आवश्यकता है, जो कुछ वर्षोंके पश्चात्‌ही मिल सकता है। अतः कहा है-

'वर्षवृद्धं असि' = 'तू प्रतिवर्ष बढनेवाला ज्ञान है।' जैसे जैसे वर्ष बीतते जायेंगे वैसे वैसे तुझे विशेष अनुभव मिलेगा जिससे तेरी जानकारी बढ जायेगी। अनुभवरूपी ज्ञान पानेके लिए अनेक वर्ष बिताने पडते हैं और यह ज्ञान जिस अनुपातमें बढेगा उस अनुपातमें पुरुषकी योग्यताका विकास होता है। इस अनुभवजन्य ज्ञानका लगातार उपयोग करना चाहिए, कभी उसे विस्मृतिकी गहरी खाईमें न गिरा दिया जाय। इसलिए कहा है—

'वर्षवृद्धं त्वा प्रति वेत्तु' = 'वर्षोंसे बढता हुआ ज्ञान तेरे समीप रहे।' वह ज्ञान तुझसे पृथक् न होने पाए। ऐसा ज्ञान जिसे होता है उसके सम्मुख नीच विचारके लोग टिक नहीं सकते।

'रक्षः परापूतं। अरातयः परापूताः। रक्षः अपहतं।' = 'राक्षस दूर हुए। अनुदार हट गये। राक्षस मर गये।' (क्षरति) जो अपने दुराचारसे क्षीण होता जाता है या दूसरोंको दुर्बल बना देता है, उसे राक्षस कहते हैं, और जो तन-मन-धनसे दूसरोंका विनाश करनेमें लगे रहते हैं, सर्वहितकारी कृत्योंमें अपनी शक्ति या संपत्तिका उपयोग नहीं करते हैं, वे (अ+राति=अ-दानी) अनुदार कहलाते हैं। ऊपर कहे हुए ढंगके जो लोग अनुभवजन्य ज्ञानसे परिपूर्ण होते हैं और उचित समयपर जो उसका उपयोग करते हैं, उनके सामने ये नर-राक्षस खडे नहीं रह सकते।

'वायुः वः विविनक्तु' = 'वायु तुम्हें शुद्ध करे।' वायुसे शुद्धता होती है, क्योंकि वह प्राणरूप है। इस कारणसे वह शरीरके अंदर घुसता है और शरीरशुद्धि तथा चित्तशुद्धि द्वारा मानसिक एकाग्रतामें सहायक होता है। वायुकी गतिपरही शारीरिक मलशुद्धि निर्भर है। 'विविच्' धातुके अर्थ 'अलग करना, परीक्षा करना, वर्णन करना, एकान्तमें बैठना, शुद्ध या निर्मल करना,' इतने हैं। यहांपर शुद्धता करना अर्थ ठीक जान पडता है। इस तरह प्राणायाम जैसे साधनोंसे आत्मशुद्धि होनेपर—

'हिरण्यपाणिः सविता देवः वः अच्छिद्रेण पाणिना प्रति गृह्णातु।' = 'हाथमें स्वर्णमय आभूषण धारण करनेवाला सविता देव तुम्हें अपने छिद्ररहित हाथोंसे स्वीकृत कर लेवे।' माता जैसे प्यारे हाथोंसे अपने पुत्रको समीप करती है वैसेही समूची सृष्टिका सृजनकर्ता परमात्मा तुम्हें अपने हाथोंसे निकट खींच ले। पूर्वोक्त ढंगसे तुम्हारी शुद्धता हुई तो देव बिना देर लगाये तुम्हें अपने पास रख लेगा। हां, आत्मशुद्धि होनेतक राह देखनी होगी। यहांपर कहा है कि उपासकको परमात्मा आधार देता है, इसपर दृढ विश्वास रखकर मानव शीघ्रही आत्मशुद्धिके कार्यमें लग जावे, क्योंकि परमात्माका वरदहस्त सदैव समीपही है, व्यर्थ शीघ्रतासे कुछ नहीं होगा, देखिए- ॥ १६ ॥

'धृष्टिः असि' = 'तू धैर्ययुक्त है।' 'धृष्टि' का अर्थ है— धैर्य, आत्मविश्वास, प्रगतिपोषक विचार, अनवरत कार्य करनेकी क्षमता। आत्मविश्वासपूर्वक धैर्यसे और बीचमें न रुकते हुए प्रयत्न करो; तभी निस्सन्देह प्रगति होगी। पर ऐसा करते समय तनिक सतर्कताकी आवश्यकता है, जैसे—

'हे अग्ने ! आमादं अग्निं अप जहि। क्रव्यादं निःषेध।' 'हे अग्ने ! कच्चा मांस सेवन करनेवाली अग्निको दूर हटा और मांसाहारीका निषेध कर'। अमिषभोजी लोगोंको दूर कर। ऐसे लोगोंको पहले मीठे शब्दोंसे समझा और

यदि वे उधर ध्यान न दें तो उन्हें बहिष्कृत कर। तुम उस तरहसे बर्ताव न कर। इतना पथ्य रखनेपर आगे क्या किया जाये, इस विषयमें कहता है—

'देवयजं आवह' = 'देवकी पूजा करनेवालेको समीप ले आ।' जो लोग देवोंकी अर्चापूजा या हवन आदि करते हैं उनके संपर्कमें रह। ऐसे व्यक्तियोंका एक संघ बनवाकर उनकी संख्या बढा। पकाये या कच्चे मांसके भोजन करने-वालोंको दूर हटाकर, देवताओंके लिए यज्ञ करनेवालोंको समीप रखना चाहिए। इस भांति अपने आचार, विचार एवं उच्चारविषयक शुद्धता प्रस्थापित कर धीरे धीरे सारे समाज-को उसी दिशामें ले चलनेका प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार व्यष्टि एवं समष्टिकी पवित्रता दृढमूल होतेही मानवी समाजकी भविष्यकालीन प्रगति अबाध रूपसे होती रहेगी। संभवतः किसीके दिलमें यह शंका पैदा हो कि इस क्षणमात्रमें नष्ट होनेवाले संसारमें हमने इतना अथक परिश्रम उठाया, तथापि हमारी चेष्टाको स्थायी रूप मिलनेकी कोई संभावना नहीं है। इस सन्देहको मिटानेके लिए कहता है —

'ध्रुवं असि' = 'तू स्थिर, अविचल है। तू पलभरमें विनष्ट होनेवाला नहीं है।' भलेही यह दिखाई देनेवाला संसार व्यष्टिरूपसे क्षणभंगुर तथा नश्वर ठहरे, पर इसमें तू आत्मरूपमें स्थाणु, स्थिर तथा सर्वत्र अस्तित्वमें रहने-वाला है। तेरा वास्तविक स्वरूप सचमुच त्रिकालाबाधित है। चूंकि तू स्थिर है इसलिए तेरे भलेबुरे कर्मोंके शुभा-शुभ संस्कार अवश्य तुझपर होंगे, अतः सदैव शुभ कर्मके अनुष्ठानकी आवश्यकता है। मनमें यह विचार सदैव अक्षुण्ण रूपसे उठता रहे कि, इस नश्वर संसारमें हम स्थायी हैं। इसी उद्देश्यको ध्यानमें रख ऊपर कहा गया है– देवोंके यजन करनेवालेके समीप जाकर उपासकोंके निकटतम संपर्कमें रह अपने शुभ संस्कार बढाये जायें।

'पृथिवीं दृंह' = 'तू अपने अन्दर विद्यमान भूविभागको सुदृढ कर।' मानवी देहमें जो स्थूल पार्थिव भाग है उसे तथा मातृभूमिके भूप्रदेशको दृढतम बनाना चाहिए। मातृ-भूमिमें निवास करनेवाले लोगोंका उत्तम संगठन कर बलिष्ठ राष्ट्र प्रस्थापित करना चाहिए, ताकि कोई भी शत्रु उस प्रबल सामर्थ्ययुक्त राष्ट्रपर चढाई करनेका साहस न करे। उत्कृष्ट संगठन होनेपर हमले करनेकी ढिठाई भला किस विरोधी दलमें हो सकती है? अगले मंत्रभागमें कहा है, संगठन किस भांति किया जाये —

'ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि त्वा भ्रातृव्यस्य वधाय उपदधामि' = 'ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं सजातीय लोगोंके हितकर्ता तुझे शत्रुओंका वध करनेके लिए मैं समीप रखता हूं।' 'ब्रह्म–वनि' का अर्थ है ज्ञानी या ज्ञानके बारेमें मनमें आदरभाव रख उनका हित करनेवाला; 'क्षत्र-वनि' का अर्थ है शूर एवं शूरताको पूज्य भावसे देख उनका कल्याण करनेवाला; 'सजात–वनि' का तात्पर्य है अपनी जातिके लोगोंसे आदरपूर्वक बर्ताव रख उनका हित करनेवाला। मानवोंमें यदि ऐसे भाव पैदा होने लगें कि, अपने राष्ट्रमें ज्ञान बढे और विद्वान् लोग अच्छी दशामें रहने पाएं, देशमें शौर्यकी वृद्धि हो तथा शूर योद्धा सुखपूर्वक रहें; वैसेही राष्ट्रीय उन्नतिके कार्यमें किसी तरह रोडे न अटकाते हुए अपने ज्ञातिबांधवोंकी प्रगति होने पाये; तो उनकी सामूहिक शक्ति बढने लगती है। दूसरोंकी प्रगतिमें बाधा न डालते हुए अपनी जातिकी उन्नति हो, अन्य जातियोंके विनाशपर स्वजाति–वृद्धिकी अट्टालिका खडी न की जाये और सबके संयुक्त परिश्रम एवं ज्ञानी, वीरोंके ज्ञान तथा वीरताके एकत्रीकरणसे सबकी उन्नति होवे। यही राष्ट्रीय उत्कर्षका ध्येय है। शत्रु वही है जो इसकी राहमें अडचनें या रुकावटें खडी करता है। ऐसे विरोधकर्ताको सदाके लिए हतबल कर देना चाहिए। उसे इस हालतमें रखा जाये कि वह आगे कभी विद्रोहका झण्डा खडा न करने पाए। संगठनका कार्यक्रम यही है कि, '(१) राष्ट्रमें ज्ञान तथा शौर्यकी उन्नति होवे, (२) वे दोनों एक दूसरेके पृष्ठ-पोषक तथा सहायकर्ता हों और (३) निर्बाध रूपसे सब इकठ्ठे हो अपनी प्रगति करते रहें।' जो दल इस कार्य-क्रमको अपनाता है वह धर्मानुकूल कार्य करनेवाला है। इस दलका प्रतिद्वन्द्वी दल समझता है कि, '(१) राष्ट्रमें ज्ञान तथा शूरता घटने लगे तो भी पर्वाह नहीं, (२) ज्ञानी तथा शूर अपना संगठन न कर सकें तो भी कुछ हर्ज नहीं और (३) हम दूसरोंका तनिक भी ख्याल नहीं करेंगे पर अपना हितसंबंध अक्षुण्ण रखेंगे।' दूसरोंके हानिलाभसे हमें क्या पर्वाह? ऐसी दशामें दोनों दलोंमें संघर्ष पैदा होना आश्चर्यजनक नहीं। ऐसे मानव–धर्मके शत्रुवत् लोगोंको वेदमें 'भ्रातृव्य, सपत्न' नाम दिये गये हैं। सहोदर भ्राता-ओंके लडकोंको भ्रातृव्य कहते हैं और एकही पुरुषके दो पत्नियोंसे उत्पन्न पुत्रोंको सपत्न कहते हैं। एकही पितृभूत देशमें रहनेवाले और धर्मानुकूल तथा धर्मविरुद्ध भावोंसे प्रेरित दो दलोंके सदस्य पारस्परिक संबंधमें भ्रातृव्य होते हैं। वैसेही, एकही मातृभूमिमें बसनेवाले पर परस्परविरुद्ध

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय[2] । धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय[3] । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि[4] चित स्थोर्ध्वचितो[5] भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्[6] ॥ १८ ॥

[१८] (अग्ने) हे अग्ने ! (ब्रह्म गृभ्णीष्व) ज्ञानका स्वीकार कर। (धरुणं असि) तू धारक है। (अन्तरिक्षं दृंह) अन्तरिक्षको दृढ कर। (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा) ब्राह्मण, क्षत्रिय और सजातीयके हित करनेवाले। (धर्त्रं असि) तू धारक है। (दिवं दृंह) द्युलोकको बलशाली कर। (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा) ब्राह्मण, क्षत्रिय और सजातीयके हित करनेवाले। (विश्वाभ्यः आशाभ्यः) सभी दिशाओंमें (त्वा उपदधामि) मैं तुझे समीप रखता हूं। (चित्तः स्थ) तुम चेतना देनेवाले हो। (ऊर्ध्वचितः भृगूणां अंगिरसां तपसा तप्यध्वम्) ऊर्ध्वभागकी ओर चेतना देनेवाले बनो और भृगु तथा अंगिरसके तपसे तेजस्वी बनो ॥ १८ ॥

विचारधाराओंसे प्रभावित लोग सापत्न कहे जा सकते हैं। संसारमें जो लडाइयां, झगडेफिसाद तथा मारपीटका बाजार गर्म है वह इस तरहके भ्रातृव्य और सापत्न लोगोंमें प्रचलित है। एक दलके लोग धार्मिक पक्ष प्रस्थापित कर उस धर्मानुकूल मतप्रणालीका प्रसार करना चाहते हैं। धर्मसंस्थापनाके कारण परमात्मा इसे सहायता देता है। इस सत्पक्षके विरोधी लोगोंके दिलोंमें परिवर्तन कर उन्हें या तो धर्मानुकूल बनाना चाहिए, या सदाके लिए विनष्ट कर देना चाहिए। उसका तीन प्रकारसे वध किया जा सकता है- (१) 'मत एवं विचारधारामें क्रान्तिद्वारा, (२) निर्वासित करनेके द्वारा और (३) मृत्युदण्डके द्वारा।' यदि कोई मनुष्य मतपरिवर्तनके कारण असत्पक्ष छोड सत्पक्षमें प्रविष्ट होता है तो असत्पक्षकी संख्या घट जानेसे वह दल मृतवत् हो जाता है। बहिष्कार, कारावास या निर्वासनके जरिये दूसरे प्रकारका वध होता है। पहले दोनों प्रकारोंको 'अशस्त्र वध' कह सकते हैं। तीसरे प्रकारको शरीर-वध कहना ठीक प्रतीत होता है। 'ज्ञान-वध, स्थानवध और शरीरवध' ऐसे नाम भी सुसंगत हैं। पहले दो प्रकार ब्राह्मणी उपाय योजनामें समाविष्ट हो सकते हैं और तीसरा क्षात्र कहलाया जा सकता है। अब पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ गई होगी कि किसे समीप रखा जाय और किसे दूर किया जाय और संगठन-शक्तिके विकासद्वारा अपनी प्रगति कैसे हो सकती है। इस यजुर्वेदमें बारबार यह धारणा दुहराई गयी है, अर्थात् येही वाक्य आगे चलकर बारबार पुनरावृत्त हुए हैं, इसलिए पाठक इस विवेचनको बराबर ध्यानमें रखें। तभी वेदमंत्रोंका गंभीर आशय स्पष्टतया उनके ध्यानमें आ सकेगा। अन्यथा यदि 'भ्रातृव्य तथा सपत्न' के अर्थ ध्यानमें ठीक तरह न आयें तो अर्थका अनर्थ हो जानेकी संभावना रहती है ॥ १७ ॥

'हे अग्ने ! ब्रह्म गृभ्णीष्व।' = 'हे तेजस्वी पुरुष ! ज्ञानका ग्रहण कर।' जहां कहींसे भी तुझे ज्ञान मिले वहांसे उसका संग्रह करना चाहिए। तू अग्निके समान तेजस्वी है और तुझमें ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो चुकी है। तू ज्ञानकी वृद्धि कर ताकि तेरा प्रकाश अधिकाधिक बढे। सभी उन्नतिका ज्ञानही प्रमुख साधन है।

'धरुणं असि।' = 'तू धारणकर्ता है।' तुझसे दूसरोंका धारण होता है। इस तेरे शरीरका धारण एवं जीवन आत्मापर निर्भर है। अतः तुझमें विद्यमान धारक तथा पोषक शक्ति प्रकट होती है। चूंकि तुझमें यह सामर्थ्य अंतर्निगूढ है, अतः—

'अन्तरिक्षं दृंह' = 'अंतरिक्षको दृढ बना।' अंतःकरणके रूपसे तुझमें अंतरिक्ष छिपा है जिसे सुदृढ तथा बलशाली करना है। अपनी आधार-सामर्थ्यसे यदि अंतस्तल बलिष्ठ हो तो भी भविष्यमें सभी पुरुषार्थकृत्य किए जा सकते हैं।

'धर्त्रं असि' = 'तू धारणकर्ता है।' अपनी सामर्थ्यसे, शक्तिसे तू दूसरोंको धारण करता है।' मंत्र १७-१८ दोनोंमें यद्यपि धारक-पोषक गुण समान हैं तो भी एक अंतस्तलका और दूसरा बुद्धिका धारक है; आगे तथा पीछेके मंत्रोंसे यह स्पष्ट होता है। मंत्र १७ में स्थूल शक्तियोंसे संबंध, १८ में अंतःकरणसे संबंध और १८ में मस्तकस्थ ज्ञानशक्तिसे संबंध दर्शाया गया है। पाठक ध्यानमें रखें कि तीनों स्थानोंमें यद्यपि धारण-पोषण अर्थ समान है तो भी विभिन्न शक्तियोंके कारण उनके कार्य विभिन्न प्रकारके हैं।

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु । धिषणाऽसि पर्वती प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु दिवस्कम्भनीरसि धिषणाऽसि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥१९॥

[१९] (**शर्म असि**) तू सुख है । (रक्षः अवधूतं) राक्षस दूर हुए । (अरातयः अवधूताः) अनुदार दूर हुए । (**अदित्याः त्वक् असि**) तू अदीनताकी त्वचा है । (अदितिः त्वा प्रति वेत्तु) अदीनता तुझे परिचित रहे । (**पर्वती धिषणा असि**) पर्वतमें रहनेवाली बुद्धि तू है । (अदित्याः त्वक् प्रति वेत्तु) अदीनताका चर्म तुझे परिचित रहे । (**दिवः स्कम्भनीः असि**) द्युलोकको स्थिर करनेवाली (शक्ति तू) है । (**पार्वतेयी धिषणा असि**) पर्वतमें की बुद्धि तू हैं । (**पर्वती त्वा प्रति वेत्तु**) पर्वतकी बुद्धि तुझे परिचित रहे ॥ १९ ॥

' दिवं दृंह ' = ' द्युलोक बलिष्ठ कर । ' ब्रह्माण्डमें जैसे द्युलोक विद्यमान है, उसी प्रकार मानवी पिण्डमें मस्तिष्कके स्थानमें भी वर्तमान है । उसमें जो दिव्य शक्ति है उसे बढाना चाहिए ।

' विश्वाभ्यः आशाभ्यः त्वा उपदधामि ' = ' सभी दिशाओंमेंसे मैं तुझे समीप रखता हूं । ' यहांपर परमात्मा उपासकसे कहता है, उसे ढाढस दिलाता है– यदि तू पूर्वोक्त ढंगसे आचरण करेगा तो चाहे जिस दिशामें रहे मैं तुझे अपने समीप रखूंगा । इस आश्वासनका इतनाही तात्पर्य है कि, सत्यधर्मका आचरण कभी निष्फल नहीं होता, सच्चे धर्मका पालन कर चुकनेपर मानव अवश्यमेव परमात्माके निकट सहवाससे लाभ उठा सकता है ।

' चितः स्थ । ' = ' तुम चेतना देनेवाले हो । ' मानवकी यह विशेषता देखनेयोग्य है कि, वह चैतन्यशक्तियुक्त है, और उस शक्तिसे वह दूसरोंके मनमें उच्च कोटिकी चेतनाका सृजन कर सकता है । इसलिए—

' ऊर्ध्वचितः भृगूणां अंगिरसां तपसा तप्यध्वं ' = ' ऊर्ध्व भागकी ओर चेतना देनेवाले बनो और भृगु तथा अंगिरस्के समान तपश्चर्याद्वारा तेजस्वी बनो । ' मानवका सर्वोपरि विभाग हृदय तथा मस्तिष्क है । हृदयमें भक्तिकी चेतनता और मस्तकमें विचारोंका चैतन्य प्रज्वलित होना चाहिये । इस तरहकी चेतनाओंको पाकर मानव शक्तिसंपन्न बनता है और तदुपरान्त उसकी योग्यता बढ जाती है । मानवकी योग्यता हृदय तथा मस्तिष्ककी शक्तिओंपर निर्भर रहती है । इस चैतन्यसामर्थ्यके साथही साथ तपकी भी मानवको आवश्यकता पडती है । द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिको तप कहते हैं । ठंडी, गरमी, सुख तथा दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी क्षमता जिस मानवमें पाई जाती है, वही प्रगति कर सकता है । जो शीतोष्ण सहन करनेकी योग्यता नहीं रखता है, वह बडे बडे कार्य नहीं करने पाता । यदि व्यावहारिक क्षेत्रमें या धार्मिक क्षेत्रमें महान् कार्य करनेकी अभिलाषा हो, तो शीतोष्णादि द्वन्द्व सहनेका अभ्यास बढाना चाहिए । अल्पसी उष्णतासे जो मुर्झाने लगता हो या अल्प जाडेसे बीमार पडता हो, वह कदाचित्‌ही विशेष पुरुषार्थ कर दिखला सकेगा । भृगु तथा अंगिरस् शब्दोंसे दो विभिन्न प्रकारके तपकी सूचना मिलती है । भृगु शब्दका अर्थ ' पर्वत शिखर, मानवी शरीरका पर्वत अर्थात् रीढ और उसकी चोटी अर्थात्‌ही मस्तिष्कका भाग, शुक्र या वीर्य ' है । इन सबको बलिष्ठ करनेके लिए जो तप करना पडता है, वही ' भृगूणां तपः ' कहलाता है । उपर्युक्त शक्तियां, जिस योगानुष्ठानसे शरीरमें बढकर संतुलित अवस्थामें रहती हैं, उसे तप कहते हैं । इसी तरह ' अंगिरस् ' शब्द भी अवयवोंमें विद्यमान जीवनरसका निर्देश करता है । सभी अवयवोंमें संचार करनेहारा यह जीवनरस, जिस तपश्चर्यासे पुनीत बनकर, समूचे अंगोपांगोंमें उत्तम सतेज जीवनको प्रस्थापित करता है, वह ' अंगिरसां तपः ' नामसे विख्यात है । इन दो तरहकी तपश्चर्याओंसे स्थूल शरीरसे लेकर मानवमें विद्यमान बुद्धि वैभव सदृश सभी प्रकारकी शक्तियोंका भली भांति विकास होने पाता है, इसलिए मानवी प्रगतिके विचारसे ये द्विविध तप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझने उचित हैं ॥ १८ ॥

इस भांतिके तपश्चरणसे क्या लाभ होता है, यह अगले मंत्रभागमें सूचित किया है ।

' शर्म असि ' = ' तू सुखमय है । ' चूंकि तू स्वयंही सुखमय है, इसलिए बाहरसे सुख तुझे नहीं मिल सकता, वह तो तुझमें अन्तर्निगूढ है । अपनेही भीतर वर्तमान सुखके अनुभवको पानेके लिए ऊपर कहे हुए द्विविध तपको कार्य-

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वो[2] दानाय त्वा[3] व्यानाय त्वा[4]। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना[5] चक्षुषे त्वा[6] महीनां पयोऽसि[7] ॥२०॥

रूपमें परिणत करनेकी आवश्यकता है। यह सदा स्मरण रहे कि अपनीही शक्तियोंका अनुभव पानेके लिए भी अथक परिश्रम करनेकी आवश्यकता होतीही है।

'रक्षः अवधूतं । अरातयः अवधूताः ।' = उपर्युक्त मंत्रके कथनानुसार अपने सुखमय स्वरूपका अनुभव पानेपर साधक तथा उपासकको प्रतीत होता है कि वह अब संपूर्णतया निर्भर तथा शत्रुरहित हुआ है। इस तरह अंतर्विद्यमान सुखका अनुभव ले चुकनेपर और सभी शत्रुओंके निराकरण हो जानेपर, निर्भयत्वकी जानकारी होनेपर अपनी अदीनता एवं स्वकीय दैवी शक्तिका पूर्ण परिचय पाना सुगम होता है, दीन दुर्बलताके भाव विनष्ट हो जाते हैं। अगले मंत्रभागोंमें इस मनोवृत्तिका उल्लेख दीख पडता है।

'अदित्याः त्वक् असि। अदितिः त्वा प्रति वेत्तु। अदित्याः त्वक् प्रति वेत्तु।' = 'तू अदीनताका आवरण है और तू इस अदीनतासे परिचित रह। यह अदीनताका आवरण तुझे परिचित हो।' 'अदिति' देवता प्रसिद्ध है। अदीनता, स्वतंत्रता, स्वाधीनता रूपी देवीसे सभी देव उत्पन्न होते हैं। वैसेही 'दिति' भी असुरोंकी माता है। 'दिति' का अर्थ पराधीनता, दीनता, परतंत्रता है। इससे स्पष्ट होगा कि सुर तथा असुरोंका सृजन किन भावनाओंसे होता है। मानव सोचविचारपूर्वक दैवी सामर्थ्यसे युक्त होनेकी चेष्टा करे, क्योंकि इसके लिए उपर्युक्त विवेक उसमें अवश्य पाया जाता है।

'पर्वती धिषणा असि। पार्वतेयी धिषणा असि। पर्वती त्वा प्रति वेत्तु।' = 'पर्वतमें उपलब्ध होनेवाली विद्या या बुद्धि तू है, तू इससे परिचित रह।' पीठकी रीढ या पृष्ठवंश या मेरुदण्ड पर्वत कहलाता है। (पर्ववान्-पर्ववत्-पर्वत) अर्थात् पर्वोंसे युक्त पर्वत होता है। पृष्ठवंशमें पर्व पाये जाते हैं। रीढपरसे हाथ फेरनेपर उन पर्वोंका ज्ञान होता है। इस पर्वत अर्थात् पृष्ठवंशमें व्याप्त हुई एक अद्भुत शक्ति है, जिसे 'पर्वती, पार्वती, पार्वतेयी' कहते हैं। अब 'पर्वती धिषणा' से स्पष्ट होगा कि जो बौद्धिक शक्ति इस पृष्ठवंशमें व्यापक रूपसे रहती है, उसका उल्लेख यहांपर है। मस्तिष्कमें एक बुद्धि रहती है और पृष्ठवंशमें भी दूसरी बुद्धि विद्यमान है जिसमें पूर्व संस्कार इकठ्ठे होते हैं, अतः इसका महत्त्व अधिक है। इसीलिए योगशास्त्रमें भी पृष्ठवंशकी सुस्थिति या समान स्थितिको अधिक महत्त्व दिया गया है। चूंकि सभी पूर्व संस्कार इसी पृष्ठवंशमें संगृहीत हुए हैं, इस कारण इस रीढकी इडा पिंगलाओंका प्रवाह यदि सुचारु रूपसे चलता रहे, तो मानवकी बौद्धिक प्रगतिको कोई क्षति नहीं। जन्मजात श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता या बुद्धिहीनता अधिकांशमें पृष्ठवंशकी स्थितिपर निर्भर है। अतः इन मंत्रभागोंने उस मेरुदण्डमें वर्तमान बुद्धिका महत्त्व दर्शाया है। इस बुद्धिको अधिक विकसित करनेके लिए योगशास्त्रमें विशिष्ट प्रकारके आसन तथा प्राणायाम निर्दिष्ट किए हैं ! यह बुद्धि जिस प्रकारकी होगी, मानवकी योग्यता भी उसी तरहकी होगी। ये मंत्रभाग उस बुद्धिका परिचय देते हैं। यदि कोई इस बुद्धिकी महानताके बारेमें प्रश्न उठाये तो उत्तर दिया है।

'दिवः स्कंभनीः असि' = 'तूही द्युलोकको अटल बनानेवाली शक्ति है।' तेरी यह बुद्धि इतनी विशाल है, जो द्युलोकतक व्याप्त कर लेती है, स्थिरता पैदा करती है; ऐसी दशामें निस्सन्देह मानव इसी बुद्धिके सहारे भूलोक तथा अंतरिक्षमें भी स्थैर्य पैदा कर सकेगा। मानवी मस्तिष्कमें यह अद्भुत बुद्धि है और पृष्ठवंशमेंसे रीढकी अंतिम हड्डीतक चली गयी है। इसका सामर्थ्य त्रैलोक्यको घेर सकता है। मानव अपने अन्दर विद्यमान इस महान् बलको पहचान लेवे और उसे बढानेकी चेष्टा करे। व्यसनोंके अधीन हो उसे न्यून न कर दे। संयमसे यह बढाया जा सकता है ॥ १९ ॥

इसलिए कहा है—

'धान्यं असि। देवान् धिनुहि।' = 'तू धान्य है इस कारणसे देवोंको तृप्त कर।' (धाने पोषणे हितं) जिससे पोषणकार्यमें सहायता मिलती है वह धान्य है। पोषणकी दृष्टिसे धान्य हितकारक है, अतः वह धान्य कहलाता है। अथवा जिसके फलस्वरूप मानव 'धन्य' होवे वह भी धान्य है। चूंकि मानव देवकार्यके लिए अर्पित है और वह स्वयंही हवि बनता है, अतः उसे 'देवोंका धान्य' नामसे

[२०] (धान्यं असि) तू धान्य है । (देवान् प्रिणुहि) देवताओंको संतुष्ट तथा तृप्त कर । (प्राणाय त्वा) प्राण, (उदानाय त्वा) उदान तथा (व्यानाय त्वा) व्यान प्राणोंके लिए तुझे धारण करता हूं । (आयुषे) आयुष्यके लिए (दीर्घां प्रसितिं अनु धां) विस्तृत-शक्ति मैं अनुकूलतापूर्वक धारण करता हूं । (हिरण्यपाणिः सविता देवः) हाथमें स्वर्णाभरण धारण करनेवाला देव सविता (अच्छिद्रेण पाणिना) छिद्ररहित हाथसे (वः प्रतिगृभ्णातु) तुम्हें पकडे । (चक्षुषे त्वा) नेत्र इन्द्रियके लिए तुझे धारण करता हूं । (महीनां पयः असि) महान् शक्तियोंका दूध तू है ॥ २० ॥

संबोधित किया है। उससे कहा है कि आत्मसर्वस्वके अर्पणसे देवताओंको संतुष्ट करना चाहिए। अध्यात्मकी दृष्टिसे देखनेपर आत्मामें धन्यता तथा पोषणशक्ति है और उसके रहनेतकही इन्द्रियोंकी पुष्टि भली प्रकारसे होती है। ज्योंही वह शक्ति शरीरकी ओरसे पीठ दिखाने लगती है, शरीर क्षीण बनता है। अतः इस मंत्रमें कहा है कि 'तू धान्यवत् पुष्टिकर्ता है, इसलिए अपने शरीरान्तर्गत देवोंको अर्थात् इन्द्रियोंको तृप्त, पुष्ट एवं धन्य कर।' अपनी निजी पुष्टि-कारक आत्मशक्तिसे अपने सुप्त सामर्थ्यको जागृत कर। स्वोद्धारके कार्यके लिए आवश्यक कर्मोंकी उचित पूर्ति करनेमें अपनी शक्तिका उपयोग कर। अपनीही शक्तियोंका अधःपतन हो ऐसे किसी भी जघन्य कर्ममें उस आत्मशक्तिका उपयोग न किया जाये। मानवको उचित है कि वह सर्वंव ऐसा कर्म करे कि जिससे उसकी प्राणशक्तियां बलवती होवें। इस लिए कहा है—

'प्राणाय त्वा, उदानाय त्वा, व्यानाय त्वा (धां)।' = 'प्राण, उदान एवं व्यान प्राणोंके लिए तुझे धारण करता हूं।' प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान-सदृश और अन्य भी प्राणोंकी शक्तिको बढानेके लिए मैं तेरा धारण करता हूं। किसी भी वस्तुको धारण करते समय मानव सोच ले कि, इसके ग्रहणके फलस्वरूप मेरी प्राणशक्ति तथा इन्द्रिय-शक्ति बढेगी या क्षीण होगी ? जिनसे प्राणका बल बढे ऐसी वस्तुओंका ग्रहण करना और जिनके स्वीकारसे प्राणोंकी सामर्थ्य घटे ऐसी चीजोंका त्याग करना उचित है। ऐसा करनेका कारण अगले मंत्रभागमें देखिए—

'आयुषे दीर्घां प्रसितिं अनु धां' = 'आयुष्यके लिए मैं बडी शक्ति अनुकूल ढंगसे धारण करता हूं।' दीर्घ जीवन पानेके लिए मैं प्रचण्ड सामर्थ्य प्राप्त कर उससे यथोचित लाभ उठाऊंगा। 'प्रसिति' के अर्थ हैं- 'अधिकार, प्रभाव, मार्ग, शक्ति, जाला, फंद, ज्वाला, हमला, प्राप्ति।' यहांपर शक्ति अर्थ लेना उचित है। दीर्घ जीवनके लिए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि प्रबल कर चुकनेपर उनसे उचित कार्य कर लेने चाहिए। तभी मुदीर्घ जीवनयात्रा सुखपूर्वक बीत सकेगी। सभी प्रकारके उपभोग तथा कार्य-कलाप ऐसे ढंगसे करने चाहिए कि शक्ति घटनेके स्थानपर बढती जाये। जो मानव इस तरह आत्मशक्ति बढाते हैं उनकी सहायता परमात्मा भी करता है, देखिए —

'हिरण्यपाणिः सविता देवः अच्छिद्रेण पाणिना वः प्रतिगृभ्णातु।' = 'हाथमें स्वर्ण लिए सृजनकर्ता देव अपने छेदरहित हाथोंसे तुम्हें पकड लेवे।' सबका निर्माता परमात्मा उनकी, अपने निर्दोष तथा हितरमणीय वस्तुओंसे परिपूर्ण हाथोंद्वारा, सहायता करता है जो पूर्वोक्त ढंगसे अपनी शक्तियोंका उचित विकास कर लेते हैं। जो लोग अपनीही चेष्टाओंद्वारा अपना उद्धार करनेका महान् उद्यम करते हैं, उन्हें परमात्मासे अवश्य सहायता मिलती है। पहलेही कहा जा चुका है कि प्राणोंकी शक्ति बढानेके लिए अनुकूल वस्तुएंही लेनी चाहिए और दीर्घ जीवन प्राप्त करना चाहिए। जैसे प्राणोंकी वृद्धिके लिए कुछ विशिष्ट नियमोंका पालन अनिवार्य है वैसेही नेत्रसदृश इन्द्रियोंका सामर्थ्य बढानेके लिए भी करना अवश्य है। अगले मन्त्रमें यही बात कही है।

'चक्षुषे त्वा' = 'नेत्र आदि इन्द्रियोंके लिए तुझे धारण करता हूं।' किसी भी पदार्थको लेते समय मानव अवश्यही इस बातका विचार करे, क्या इसके आदानसे तथा उपभोगसे मेरी आंख जैसी इन्द्रिय प्रबल होगी या हतबल होगी। जिनके ग्रहणसे सभी इन्द्रियां शक्तिशाली तथा प्रबल हों, उन्हेंही अपने समीप रखना उचित है और क्षीणता पैदा करनेवाली चीजें दूर रखनी चाहिए। इस मानवमें अनन्त शक्तियां हैं।

'महीनां पयः असि' = 'तू महान् शक्तियोंका दूध है।' इस मानवमें पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, दिशा, सूर्य, विद्युत् आदि अनेक बडी बडी शक्तियोंका सार या अर्क निहित है। जैसे गौओंमें सारभूत दुग्ध पाया जाता है, वैसेही इन सारी विश्वव्यापक प्रचण्ड शक्तियोंका सारभूत तत्त्व मनुष्यही है या मानवमें इनका निचोड पाया जाता है। इस तरह मानव समूचे विश्वकी शक्तियोंका सत्त्वस्वरूप है। यही कारण है कि मानवकी महानताको सभी मुक्त कंठसे स्वीकार करते हैं। मानवमें इस प्रकार सारस्वरूप

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन। सꣳ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥२१॥

[२१] (सवितुः देवस्य प्रसवे) सबके सृजनकर्ता देवकी प्रसूतिरूप सृष्टिमें, (अश्विनोः बाहुभ्यां) अश्विनोंके बाहुओंसे और (पूष्णोः हस्ताभ्यां) पूषा देवके हाथोंसे (त्वा सं वपामि) तुझे विस्तीर्ण करता हूं। (आपः ओषधीभिः सं पृच्यन्ताम्) जल ओषधियोंसे मिले। (ओषधयः रसेन सं) ओषधियां रसीली होवें। (रेवतीः जगतीभिः सं) धनाढ्य वेगवानोंसे मिलजुल कर रहे। (मधुमतीः मधुमतीभिः सं पृच्यन्ताम्) मधुर मधुरोंसे मिल जाएं ॥ २१ ॥

शक्ति है, अतः उसे अपना आयुष्य बढाकर अपनी शक्तियोंका परितोष करना उचित है ॥ २० ॥

जो मानव इस प्रकार अपनी सुप्त सामर्थ्यका पूर्वोक्त ढंगसे विकास करता है, उसे परमात्मासे आश्वासन मिलता है।

' सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णोः हस्ताभ्यां त्वा सं वपामि ' = ' सबका निर्माण करनेवाले देवकी प्रसूतिरूप इस सृष्टिमें अश्विनोंके बाहुओंसे तथा पूषाके हाथोंसे तुझे में फैलाता हूं। ' रोगोंके प्रतिरोधक तथा निवारक बलोंको अश्विनोंके बाहु यह नाम दिया गया है और पूषाके हाथ पोषकशक्तिकी सूचना देते हैं। परमात्मा रोगप्रतिबंधक, रोगनिवारक एवं पोषक बलोंके द्वारा मानवको महान् कर उसके सामर्थ्यको फैलाता है। मानवमें उपर्युक्त बलोंको बढानेके लिए औषधिवनस्पतियोंका उचित मात्रामें सेवन अनिवार्य है। उन औषधियोंके बारेमें अगले मंत्रभागमें कहा है—

' आपः ओषधीभिः सं पृच्यन्तां। ' = ' जल ओषधियोंसे मिश्रित होवें। ' वृक्ष, धान्य, वनस्पति तथा ओषधि द्रव्योंको उचित अवसरपर उचित मात्रामें जल मिलता रहे और—

' ओषधयः रसेन संपृच्यन्तां। ' = ' वे सभी ओषधियां उत्तम रससे युक्त होवें। ' इस भांति जब ओषधियां उच्च कोटीकी रसीली हों तभी उनसे मानव जातिमें रोगप्रतिबंधक, रोगनिवारक तथा पोषक सामर्थ्यका सृजन हो, मानव दीर्घ जीवन तथा आरोग्यसंपन्नता प्राप्त कर सकता है। अब वनस्पतियोंके आहारद्वारा मानव भलीभांति आरोग्यसंपन्न हो सकता है, इस प्रतिपादनके द्वारा समाजकी सुस्थताके लिए एक बडे अनिवार्य नियमका उल्लेख किया गया है, क्योंकि मानवका जीवन समाजपर पूर्णतया निर्भर है।

' रेवतीः जगतीभिः सं पृच्यन्तां। ' = ' धनिक जनता वेगशाली प्रजासे अच्छी तरह मिल जाये। ' मानव-संघके कुछ लोग धनिक और कुछ लोग अतिशीघ्रतासे कार्य करनेमें कुशल होते हैं। यदि दोनों प्रकारके लोग बिना किसी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताके अपने संघके उत्कर्षके लिए उद्यम करें, तो सारा मानवसमुदाय प्रगतिशील बन सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंमें केवल वैश्यश्रेणीके लोग धनाढ्य होते है। ब्राह्मणमें ज्ञानका वेग, क्षत्रियमें शौर्यका वेग और शूद्रोंमें कर्म या सेवाका वेग पाया जाता है। यदि इन सभी वेगवानोंको आधार मिले तो सबकी संतुलित उन्नति हो सकती है। ऐसे प्रगतिशील मानवी संघके हरेक व्यक्तिमें जो अद्‌भुत सामर्थ्य रहता है उसे प्रगतिशील बना देता है। पराधीन समाजके तथा स्वतंत्र संघके और प्रगतिशील समुदायके पुरुषोंमें जन्मसेही स्वाभाविकतया शक्तिका न्यूनाधिक्य पाया जाता है। अतः यदि समूचा समाज उन्नत बने, तो उसके घटक सदस्योंमें निसर्गतः एक असाधारण शक्ति आ जाती है। जो मानवको उन्नत करनेकी अभिलाषा रखते हों, वे इस शक्तिके बारेमें अवश्य सोचें। शक्ति बढानेके लिए दूसरा एक महत्त्वपूर्ण उपाय है वह भी दृष्टव्य है—

' मधुमतीः मधुमतीभिः सं पृच्यन्तां ' = ' मधुर मधुरोंसे मिलजुलकर रहें। ' इनमें असमानता पैदा करनेवाला कोई कडवा या तीखा न आजाये। जिनके विचार, एवं आचारमें मिठास भरी रहती है, उनकी संघशक्ति अभेद्य हुआ करती है। लेकिन अगर उनमें एक भी विरुद्ध विचारधारा रखनेवाला पुरुष प्रवेश पा जाए तो वह संघबल टूट जाता है। अतः संगठन-शक्ति बढानेवालोंको आपसमें मधुरता बढानेकी चेष्टा करनी चाहिए और उसकी सहायतासे अपनी सामुदायिक शक्ति अटूट तथा अक्षुण्ण बनाई रखनी चाहिए। ये दोनों नियम सामान्य कोटिके हैं। खानपानमें तथा औषधियोजनामें भी इन नियमोंसे बडा लाभ हो सकता है। विषम गुणधर्मवाले रसायन एकसाथ न लेने चाहिए। ध्यानमें रखनेयोग्य नियम इतनाही है कि समान गुण तथा योग्यतावालोंके साहचर्यसे लाभ होता है ॥ २१ ॥

४

जनयत्यै त्वा संयौमी॒दम॒ग्नेरि॒दम॒ग्नीषोम॑यो॒रि॒षे त्वा॑ घ॒र्मो॑ऽसि वि॒श्वायु॑रु॒रुप्र॑था उ॒रु प्र॑थस्वो॒रु ते॑ य॒ज्ञप॑तिः प्रथता॒मग्नि॑ष्टे त्व॒चं मा हि॑ꣳसी॒द्दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता श्र॑पयतु॒ वर्षि॑ष्ठेऽधि॒ नाके॑ ॥ २२ ॥

[२२] (जनयत्यै त्वा संयौमि) संतानके लिए तुझसे समागम करता हूं । (इदं अग्नेः) यह अग्निका और (इदं अग्नीषोमयोः) यह अग्नि तथा सोमका है । (इषे त्वा) अन्नके लिए तुझसे संपर्क रखता हूं । (घर्मः असि) तू उष्णतारूपी है । (विश्वायुः) तू पूर्ण आयुवाला है । (उरुप्रथाः) तू बहुत विस्तृत है । (उरु प्रथस्व) इसलिए अधिक विशाल बन । (ते यज्ञपतिः उरु प्रथताम्) तेरे यज्ञपतिकी बहुत प्रसिद्धि होवे । (अग्निः ते त्वचं मा हिंसीत्) अग्नि तेरे चर्मको न दुखावे । (सविता देवः) सविता देव (त्वा वर्षिष्ठे नाके अधि श्रपयतुः) तुझे श्रेष्ठ स्वर्गमें पक्व करे ॥ २२ ॥

' जनयत्यै त्वा संयौमि ' = ' संतानका निर्माण करनेके लिए तुझसे समागम करता हूं । ' यह मंत्रभाग दर्शाता है कि स्त्री–पुरुषका समागम किस कार्यके लिए करना आवश्यक है । उच्च कोटिकी संतान पैदा करनेके लिए नर तथा नारी विवाहसंस्कारसे परस्परसंबद्ध किये जाते हैं । निरी विलासिताके लिए नहीं अपितु श्रेष्ठ संतानोत्पादनके लिए गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना उचित है । जो निरी विलासितामें जीवन बिताते हैं, वे अल्पायु तथा दुर्बल बन विनष्ट होते हैं, पर केवल संतति-निर्माणके लिएही स्त्री–संबंध रखनेवाले वीर्यवान् होनेके कारण दीर्घ जीवन पा सकते हैं । आयुरेखा बलिष्ठ तथा लंबी करनेके लिए उचित ब्रह्मचर्य–पालन अनिवार्य है । इसके लिए यहांपर उपदेश दिया है कि केवल संतानोत्पत्तिके लिएही स्त्रीपुरुषोंका परस्पर समागम हो । जीवनके चार विभागोंमें एकही विभाग गृहस्थाश्रममें बिताया जाता है । अन्य विभागोंमें तो पूर्ण ब्रह्मचर्य–पालन करनाही पडता है और यदि गृहस्थाश्रममें भी संतानोत्पादनके लिएही स्त्री-समागम किया जाय तो ब्रह्मचर्यका पालन उचित ढंगसे हो सकता है । इस प्रकार जीवनभर ब्रह्मचर्य अखंड हो तो मानव दीर्घ जीवन पाकर अपने ध्येय या आदर्शको कार्य-रूपमें परिणत कर सकेगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

' इदं अग्नेः, इदं अग्नीषोमयोः । ' = ' यह अग्नि तथा अग्निसोमके लिए पोषक है । ' मानवी देहमें अग्नि तथा सोमके तत्त्व विद्यमान हैं । शरीरकी उष्णता, उमंग तथा चपलता स्थिर रखना अग्निका कार्य है और शांति, समाधान तथा पुष्टिका कार्य सोमके अधीन है । इसलिए अन्नोदकका सेवन करते समय अच्छी तरह सोच लेना चाहिए कि कौनसी चीजें अग्निवर्धक और कौन कौन वस्तुएं अग्निमान्द्य बढाने-वाली हैं, तथा उनके सेवनसे शरीरमें समता होगी या विषमताजन्य कष्ट होंगे । उचित अवसरपर अभीष्ट वस्तुका ग्रहण लाभदायक होता है । तभी शरीरकी हालत सुधर सकती है और दीर्घ जीवनकी संभावना की जा सकती है । पुष्टिप्रद तथा अग्निवर्धक अन्नका सेवन वांच्छनीय है । विषमता तथा अग्निमन्दता पैदा करनेवाला भोजन सुतरां त्याज्य है । इस प्रकारके—

' इषे त्वा (सं योमि) ' = ' अन्नके लिए मैं तुझसे सहवास रखता हूं । ' ऊपर कहे हुए ढंगसे अन्नकी प्राप्ति हो इसलिए मैं तुझसे संबंध रखता हूं । विवाह–संस्कारके उपरान्त स्त्रीपुरुष एकत्र रहकर परस्पर आरोग्यके संरक्षणार्थ अन्न आदिका सेवन करते समय ऊपर दिया हुआ उपदेश ध्यानमें रखें ।

' घर्मः असि ' = ' तू उष्णता है । ' उष्णता चेतनाकी सूचना देती है और शीततासे ढिलाईका बोध होता है । शरीरमें जबतक प्राण रहता है तबतक उष्णता कुछ अंशमें पाई जाती है और जीवनकी आशा की जा सकती है । यदि सारा शरीर ठिठुर जाये तो आयुरेखा टूट जाती है । इस जीवात्मामें इस भांति चैतन्यप्रद उष्णता है । व्यष्टिके समानही समाजमें या राष्ट्रमें भी चेतनताका संचार करनेके लिए यह अतीव उपयोगी है । इस देहमें चेतनासामर्थ्यको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिएही सभी प्रकारका खानपान वांच्छनीय है । शरीरस्थ अग्नि तथा सोमका विचार इसी-लिए किया है । यदि यह चेतनता अनुकूल हो तो —

' विश्वायुः असि ' = ' तू पूर्ण आयुसे युक्त है । ' तू दीर्घ जीवनवाला है । अबतक दीर्घ जीवनके लिए हितकारक जिन बातोंका उल्लेख किया है उन्हें तथा अन्य मंत्रभागोंमें किये उपदेशोंको ध्यानमें रखनेसे दीर्घ जीवनके उपायोंका पता

मा भेर्मा संविक्थाँ अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वाँ द्विताय त्वैँ कताय त्वाँ ॥ २३ ॥

---

[२३] (मा भेः) भयभीत न बन । (मा संविक्थाः) पीछे कदम न रख । (यज्ञः अतमेरुः) यज्ञ सुदृढ है। (यजमानस्य प्रजाः) यजमानकी प्रजा (अतमेरुः भूयात्) सुदृढ बने । (त्रिताय त्वा द्विताय त्वा, एकताय त्वा) तीन, दो या एकके लिए तुझे पक्व करे ॥ २३ ॥

लगेगा । इस प्रकार पूर्ण आयुष्यका उपभोग करना मानवके लिये असंभव नहीं है ।

'उरुप्रथाः उरु प्रथस्व' = 'तुझमें अधिक विस्तृत-शक्ति है, अतः विशाल बन ।' प्रथ या प्रथनका अर्थ विस्तार, प्रसार या प्रख्याति है । यदि कोई पूछे कि मानव कितना बढ सकता है ? तो उत्तर यही है (उरु-प्रथा) उसका विस्तार बहुत बडा है, वह विशाल बन सकता है । मानवमें बहुत बडी शक्ति बीजरूपमें विद्यमान है और उसकी वृद्धि असीम है । अनंत विकास करनेकी क्षमता मानवमें अवश्य है । यदि वह यहांपर कहे हुए नियमोंके अनुसार अपना बर्ताव रखे तो अवश्य उसका विस्तार प्रचंड हो सकता है, (उरुप्रथाः) । इसलिए मंत्रमें स्पष्ट रूपसे कहा है कि, अत्यधिक विस्तार प्राप्त कर और अपनी शक्ति बढा । छोटे-मोटे मोहजालमें फंसकर अपनी सामर्थ्यको न घटा । कभी न भूल कि इस जन्ममें यथाशक्ति अपनी प्रगति करना परम कर्तव्य है । तुझमें अनेक शक्तियां हैं और उनका यथा-संभव विकास करना तेरा श्रेष्ठतम कर्तव्य है ।

'ते यज्ञपतिः उरु प्रथताम्' = 'तेरा यज्ञपति बहुत प्रसिद्ध हो ।' उसकी शक्ति अधिक बढे । शरीरमें रहनेवाला जीवात्माही यज्ञपति है । जातियों तथा राष्ट्रोंमें वहांके नेता-गण यज्ञपति कहलाते हैं । ये सभी प्रबल हों, इन सबका यश अत्यधिक विस्तृत हो और इसके लिए आप सभी ऐसा अथक परिश्रम करें कि जिसके फलस्वरूप सभी प्रगतिशील बनें और प्रबल हों । यदि आप इस भांति प्रगतिपथपर आगे कदम उठाते चलेंगे, तो सारा विश्व तुम्हारे अनुकूल होगा, उदाहरणार्थ --

'अग्निः ते त्वचं मा हिंसीत्' = 'अग्नि तेरे चर्मको कष्ट न पहुंचाए ।' यद्यपि अग्नि सबको जलाता है, झुलस देता है, तो भी वह ऐसे लोगोंके शरीरको कुछ भी क्षति नहीं पहुंचा सकता है । धर्मानुष्ठानसे इतना बल प्राप्त होता है । विश्वके सभी पदार्थ इस भांति तुम्हारे अनुकूल होंगे और तुम्हारा कोई विरोधकर्ता या शत्रु शेष नहीं बचेगा । पश्चात्-

'सविता देवः त्वा वर्षिष्ठे नाके अधि श्रपयतु' = 'सृजन-कर्ता देव तुझे उच्च कोटिके स्वर्गमें परिपक्व बनवाकर स्थिरता प्रदान करे ।' इन लोगोंकी योग्यता इतनी बढ जाती है कि परमात्मा, जो सबका निर्माता है, उन्हें स्वर्गका सर्वोपरि स्थान प्रदान करता है । प्रशस्ततम कर्म कभी निष्फल नहीं हुआ करता है, और इहलोक या परलोकमें उसका फल मिलही जाता है । इतना धर्माचरणका महत्त्व है ॥ २२ ॥

कभी कभी मानव धर्माचरणसे या सत्यभाषणसे भयभीत हो उठता है । इस कारण उससे कहा है—

'मा भेः' 'मा संविक्थाः' = 'न डर और अपने कर्तव्यसे पीछे न हट ।' बिना किसी भयके अपना कर्तव्य करता रह । डरपोक मानवके लिए उन्नतिका मार्ग खुल नहीं सकता । निडर पुरुषही वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रगति-पथपर आगे बढ सकता है । किसी भी कार्यक्षेत्रमें भयभीत मनुष्यके लिए कोई स्थान नहीं है । अतः उन्नति चाहनेवाले मानवके लिए निर्भयताकी बडी आवश्यकता है । क्योंकि —

'यज्ञः अ-तमेरुः' = 'यज्ञ सुदृढ है ।' यों कहा जा सकता है कि, यज्ञ या प्रशस्ततम कर्म केवल सुदृढ तथा निर्भय मनुष्यसेही निष्पन्न हो सकता है । भीतिग्रस्तके लिये यह असंभव है । निर्भय पुरुषही श्रेष्ठ कर्म कर चुकनेपर अपनी उन्नति कर सकता है । इसलिये कहा है—

'यजमानस्य प्रजाः अ-तमेरुः भूयात् ।' = 'यजमानकी प्रजा सुदृढ होवे ।' जो यज्ञ अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म करनेवाले हैं उनकी प्रजा, उनके अनुयायी सभी बलवान्, निर्भय तथा सुदृढ होवें । उनमें कोई भीरु या विकल न होने पाये, क्योंकि भीरुसे कोई प्रबल पुरुषार्थ नहीं हो सकता ।

'त्रिताय त्वा, द्विताय त्वा, एकताय त्वा (श्रपयतु)' = 'त्रित, द्वित तथा एकताके लिए तुझे परिपक्व बनावे ।' वह परमात्मा इनके लिए तुझे परिपक्व बना दे । सत्त्व, रज तथा तमके गुण-समवायको त्रित, प्रकृतिपुरुषके संयोगको द्वित और केवल शुद्ध आत्माको एकता कहते हैं । अपने अन्दर

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ २४॥

[२४] (सवितुः देवस्य प्रसवे) सबके सृजनकर्ता देवकी प्रसूतिरूप सृष्टिमें (अश्विनोः बाहुभ्यां) अश्विनौ बाहुओंसे और (पूष्णोः हस्ताभ्यां) पूषादेवके हाथोंसे (त्वा आददे) तुझे विस्तीर्ण करता हूं । (देवेभ्यः अध्वरकृतं) देवोंके लिए अहिंसामय कर्म करनेवाले तुझे मैं धारण करता हूं । (इन्द्रस्य दक्षिणः बाहुः असि) इन्द्रका तू दाहिना बाहु है । (सहस्रभृष्टिः शततेजाः तिग्मतेजाः) तू सहस्रों शत्रुओंका नाशक सैकडों तेजोंसे युक्त तथा तीक्ष्ण तेजवाला है । (वायुः असि) तू वायु (प्राण) है । (द्विषतः वधः) तू द्वेष्टाओंका वध करनेवाला है ॥ २४ ॥

विद्यमान तीन गुणोंसे योग्य लाभ उठानेके लिए विशिष्ट तरहकी योग्यता उत्पन्न करनी चाहिए । मानवमें प्रकृति तथा पुरुषका अद्भुत संयोग दीख पडता है और इन दो तत्त्वोंका परिपूर्ण विकास करनेके लिए अच्छी तैयारी कर लेनी पडती है । अंततो गत्वा एकमेवाद्वितीय दशातक पहुंचानेमें भी एक विशिष्ट क्षमताकी आवश्यकता रहती है । परमात्माकी असीम कृपासे इस त्रिविध परिपूर्णताकी सिद्धी ऊपर कहे हुए उत्कर्षके लिए मानवमें होवे । मानव भलेही अन्य सफलताएं प्राप्त करे पर अंतमें आत्माके प्रकाशद्वारा पाई जानेवाली उन्नति केवल परमात्माकी असीम कृपासेही हो सकती है । 'यं एव एष वृणुते तेन लभ्यः ॥ तस्य एष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्' = (कठ उ. १।२।२३) यह आत्मा जिसे स्वयं स्वीकारती है उसेही यह प्राप्त होती है । मानो वह आत्मा अपनेही शरीरको स्वीकारती हो । परमात्मा स्वयं दयालु बन कर जबतक हमें स्वीकार नहीं करता तबतक उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता । अतः उसकी कृपाके पात्र बन जानेयोग्य कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है । उसकी कृपाकी प्राप्ती प्रशस्ततम कर्मोंद्वाराही हो सकती है । अतः ऐसे कर्मोंका रूप यहांपर बतलाया है और ऐसे कर्म करनेवालोंको परमात्मासे आश्वासन मिलता है ॥ २३ ॥

'सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णोः हस्ताभ्यां त्वा आददे' = 'सबके निर्माता देवकी बनाई इस सृष्टिमें अश्विनौके बाहुओंसे तथा पूषाके हाथोंसे मैं तुझे धारण करता हूं ।'

'देवेभ्यः अध्वरकृतं (त्वा आददे)' = 'देवोंके लिए हिंसारहित कर्म करनेवाले तुझे मैं स्वीकार करता हूं ।' यहांपर स्पष्ट रूपसे कहा है कि परमात्मा किसे सहारा देता है, किसे अपनाता है और किसपर कृपा-वृष्टि करता है । 'ध्वरा' का अर्थ है हिंसा, कुटिलता या टेढापनका बर्ताव और जिस कर्ममें इनका अभाव हो वह अध्वर कहलाता है । उस श्रेष्ठ कर्मको अध्वर नाम दिया गया है जिनमें हिंसा, टेढा बर्ताव या कुटिलता न हो । जो सदाचारी मानव देवोंके लिए इस भांति अहिंसामय तथा सरल भावोंसे परिपूर्ण कार्य करता है, उसे परमात्मा अपनाता है, उसपर दयामय निगाह रखता और उसके लिये अपना निजी स्वरूप प्रकट करता है । इतनाही नहीं अपितु वह मानव—

'इन्द्रस्य दक्षिणः बाहुः असि' = 'इन्द्रका दाहिना हाथ है ।' वह प्रभुका दाहिना हाथ बन कार्य करता है । हे मानव ! यदि तू पूर्वोक्त ढंगसे बर्ताव करेगा तो तू परमात्माका दाहिना हाथ बनेगा । इतनी तेरी क्षमता है । प्रत्येक मानव चेष्टा करे ताकि वह 'परमात्माका दाहिना हाथ बने ।' अच्छे कर्मोंके करनेसेही यह सिद्ध हो सकता है ।

'सहस्रभृष्टिः शततेजाः तिग्मतेजाः (असि)' = 'तू हजारों शत्रुओंका विनाश करनेवाला, सैकडों तेजों तथा तीक्ष्ण ज्योतिसे युक्त है ।' अर्थात् यदि मनुष्यका आचरण पूर्वोक्त ढंगसे हो तो मनुष्यमें इतनी प्रचंड शक्ति आ सकती है । उसकी तेजस्विता बढेगी और चारों ओर उसका यश भी फैलेगा । मानों —

'वायुः असि' = 'तू वायुही है ।' ऐसा प्रतीत होगा । जैसे वायु सबको चेतना देता है वैसेही मानवमें सबको चेतनायुक्त करनेकी क्षमता बढेगी । इस संसारमें वायु गतिमानताके लिये प्रसिद्ध है । मानव भी वैसेही सबकी प्रगति कर सकेगा । इतनाही नहीं किन्तु उसी कारणसे मानव सबका प्राणस्वरूप बनेगा । पश्चात्—

'द्विषतः वधः (असि) ।' = 'तू द्वेष करनेवालोंका वध करनेवाला है ।' सभी द्वेष्टाओंको दूर हटानेपर मनुष्य शीघ्रही 'अजात-शत्रु' कहलवानेकी क्षमता प्राप्त कर सकेगा । इस स्थितितक पहुंचनेपर मनुष्यकी चित्तवृत्तिमें महान् उथल-पुथल, महान् परिवर्तन होगा ॥ २४ ॥

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

[२५] (देवयजनि पृथिवि) जिसपर देवोंका यजन हो रहा है ऐसी पृथिवी ! (ते ओषध्याः मूलं) तुझपर होनेवाली ओषधियोंके मूलको (मा हिंसिषम्) मुझसे दुःख न पहुंचे । (व्रजं गोष्ठानं गच्छ, द्यौः ते वर्षतु, सवितः देव परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैः वधान, यः यस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः, अतः तं मा मौक्) तू ग्वालोंकी गोशालामें जा । द्युलोक तुझपर वर्षा करे । हे सृजनकर्ता देव ! इस असीम पृथ्वीमें संकडों जालोंसे उसे बांध दे, जो हम सबसे द्वेष करता है और जिससे द्वेष हम सभी करते हैं, और उस स्थानसे उसे मत छोडो ॥ २५ ॥

पहले मनुष्य शत्रुको देखतेही उसका वध करनेकी इच्छा करता था, पर अब उसका मन इतना अहिंसामय बन गया है कि वनस्पतियोंके मूलको भी कष्ट न देनेकी अभिलाषा पैदा होगी । उस दशाका वर्णन देखिए—

'हे देवयजनि पृथिवि ! ते ओषध्याः मूलं मा हिंसिषं '= 'हे मातृभूमि ! तुझपर देवोंके लिए हवन किया जा रहा है और मैं चाहता हूं कि मुझसे तुझपर उगनेवाली ओषधि-वनस्पतियोंकी जडोंको भी कभी कष्ट न पहुंचे ।' जो मनुष्य पहले शत्रुको देखतेही उसकी हत्या करनेके लिये दौड धूप मचाता था, वही अब सतर्क हो रहा है कि उसके द्वारा वनस्पतियोंको भी कोई बाधा न पहुंचे । इस तरह मानवी प्रगतिकी ये मंजिलें हैं । जो अभीतक पहली मंजिलतकही पहुंच पाया था, वह स्वयं शत्रुवध करना चाहता था, पर वही ऊंची सीढियोंपर चढनेपर इच्छा करता है कि उसके द्वारा किसीको कठिनाई न भुगतनी पडे । यह तो मनकी सर्वोच्च भूमिका है जहांपर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वनस्पतियोंकी जडें भी सुखसे रहने पायें । घरमें गौ आदि पशुसमूह पाले जाते हैं, उन्हें घासतिनकेकी जरूरत होती है; वे वनमें चरनेके हेतु जाती हैं, वहां हिंसा होनेकी बहुत बडी संभावना रहती है । अहिंसा मनकी नैसर्गिक प्रवृत्ति बने, इसमें किसी प्रकारकी कृत्रिमता न हो । अकृत्रिम एवं प्रकृति-सिद्ध अहिंसा उच्च कोटिकी है । चित्तकी इतनी ऊंची तैयारी होनेपर उसके समीप यदि कोई हिंसापूर्ण मनोवृत्तिका प्राणी आजाए तो भी वह अहिंसक बना रहता है । यह हिंसा यथाशक्ति घटे इसलिए ऊपरके मंत्रभागमें कहा है । पशु-पालनके लिए घास काटनीही पडती है, बिना उसके काम रुक जायेगा । इसलिए अनिवार्य दशामें हिंसा कर चुकनेपर वह घास लेकर—

'व्रजं गोष्ठानं गच्छ ' = 'ग्वालोंकी गोशालामें जा ' और गौओंके सम्मुख रखकर परमात्मासे प्रार्थना कर ।

'द्यौः ते वर्षतु ' = 'द्युलोक तुझपर वृष्टि करे । ' हे तृण ! तुझपर यथेष्ट बारिश होवे । लाचार हो मुझे घास काटनी पडी । अब मैं वर्षोंके अधिष्ठाता देवतासे प्रार्थना करता हूं कि वह इस छिन्नविच्छिन्न हरी घाससे आच्छादित भूमि-भागपर पर्याप्त वर्षा करे जिसके फलस्वरूप घास खूब बढ जायेगी । इतनी अहिंसाकी भावना दिलमें दृढमूल होनेपर परमात्माही उसके विरोधियोंका समुचित प्रबन्ध कर देगा । अगले मंत्रभागमें इसीका वर्णन किया है ।

हे सबके निर्माता परमात्मन् ! इस विशाल पृथ्वीमें अपने सैंकडों फंदोंसे उसे बांध दे, जो अकेला दुष्ट हम सभी अन्य मानवोंको कष्ट पहुंचा रहा है और अतः उस अकेलेसे द्वेष अन्य सभी करते हैं । (उसे पाशबद्ध कर चुकनेपर रिहा न कर ।) परमात्माही दुष्टोंको दण्ड देवे । दण्ड देनेका कार्य मानव स्वयं अपने हाथमें न ले, क्योंकि उस तरह शासन अपने हाथमें ले लेनेसे यत्रतत्र बडी अन्धाधुन्धी तथा भगदड मचेगी । देशभरमें गृहयुद्धकी आग धधक उठेगी और अराजकताके फलस्वरूप कोई सुखी न रह सकेगा । अतः दण्ड देनेका प्रबन्ध या तो परमेश्वरके हाथोंमें सौंपा जाय या उसे नरेशके अधीन समझकर मानव आपसमें बर्ताव रखें । इस मंत्रमें शत्रुकी व्याख्या की गई है । शत्रु कौन है इसके उत्तरमें कहा है, जो अकेला व्यर्थ सबसे द्वेष करता हो और जिससे द्वेष सभी लोग सम्मिलित हो एकमतसे करें वही शत्रु है । मानवी समुदायके हितकी दृष्टिसे ऐसे शत्रुको दूर हटाना सर्वथैव उचित है । अल्पसंख्यावाले अधिक संख्यावालोंको व्यर्थ कष्ट न दें और बहुमतवाले अल्पसंख्या-वालोंके अधिकारोंको पददलित न करें । सबका कल्याण हो इस भावसे सभी बर्ताव रखें और कोई भी अन्यायपूर्वक अपनाही विभिन्न हितसंबंध, जो स्थिर बन चुका हो अक्षुण्ण बनाये रखनेका अश्लाघ्य प्रयत्न न करे । तभी मानवी संघमें मन–मुटाव नहीं होगा और सुखका साम्राज्य फैलेगा । समाजमें सुख बढे और अविरोध हो इसलिए देवके उपासक यत्रतत्र दिखाई दें । देवोंकी निन्दा करनेवाले लोग क्षणमात्र भी न रहने पायें; ॥ २५ ॥

इसीलिए कहा है

अपा॒ररुं पृ॑थि॒व्यै दे॑व॒यज॑नाद्वध्यासं॒ व्र॒जं ग॑च्छ गो॒ष्ठानं॒ वर्ष॑तु ते॒ द्यौ॑र्बधा॒न दे॑व सवितः पर॒मस्यां॑ पृथि॒व्याᳪं श॒तेन॒ पाशै॒र्यो॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मस्तम॒तो मा मौ॑क्। अर॑रो दि॒वं मा प॑प्तो द्र॒प्सस्ते॒ द्यां मा स्क॑न्व्र॒जं ग॑च्छ गो॒ष्ठानं॒ वर्ष॑तु ते॒ द्यौ॑र्बधा॒न दे॑व सवितः पर॒मस्यां॑ पृथि॒व्याᳪं श॒तेन॒ पाशै॒र्यो॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मस्तम॒तो मा मौ॑क् ॥ २६ ॥

गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि। सु॒क्ष्मा चासि॑ शि॒वा चा॑सि स्यो॒ना चासि॑ सु॒षदा॑ चा॒स्यू॒र्जस्व॑ती॒ चासि॒ पय॑स्वती च ॥ २७ ॥

---

[२६] (पृथिव्यै देवयजनात्) पृथ्वीपर जो देवपूजाका स्थान है। (अररुं अप वध्यासम्) वहांसे दुष्टको दूर निकाल देता हूं। (व्रजं गोष्ठानं गच्छ। द्यौः ते वर्षतु। सवितः देव परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैः बधान यः अस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः। अतः तं मा मौक्) तू ग्वालोंकी गोशालामें जा। द्युलोक तुझपर वर्षा करे। हे सृजनकर्ता देव ! इस असीम पृथ्वीमें सैकडों जालोंसे उसे बांध दे जो हम सबसे द्वेष करता है और जिससे द्वेष हम सभी करते हैं और उस स्थानसे उसे मत छोड। (अररो ! दिवं मा पप्तः) अरे दुरात्मन् ! तू द्युलोकको क्षति न पहुंचाओ। (ते द्रप्सः द्यां मा स्कन्) तेरा सत्त्वरस द्युलोककी राहमें रोडे न अटकाये। (व्रजं गोष्ठानं गच्छ। द्यौः ते वर्षतु। सवितः देव परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैः बधान यः अस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः। अतः तं मा मौक्।) तू ग्वालोंकी गोशालामें जा। द्युलोक तुझपर वर्षा करे। हे सृजनकर्ता देव ! इस असीम पृथ्वीमें सैकडों जालोंसे उसे बांध दे जो हम सबसे द्वेष करता है और जिससे द्वेष हम सभी करते हैं और उस स्थानसे उसे मत छोड ॥ २६ ॥

[२७] (हे पृथिवि !) (गायत्रेण छन्दसा त्वा परिगृह्णामि) (हे मातृभूमि !) मैं प्राणरक्षक छन्दके द्वारा तेरा स्वीकार करता हूं। (त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा परिगृह्णामि) तीन स्तवनोंके छन्दसे मैं तेरा स्वीकार करता हूं। (जागतेन छन्दसा त्वा परिगृह्णामि) जगत्के छन्दसे मैं तेरा स्वीकार करता हूं। (सुक्ष्मा च असि) हे मातृभूमि ! तू बल देनेवाली है, (शिवा च असि) कल्याण करनेवाली है, (स्योना च असि) आनन्द देनेवाली है, (सुषदा च असि) बैठनेके लिए श्रेष्ठ स्थान देनेवाली है, (ऊर्जस्वती च असि, पयस्वती च असि) अन्नसे युक्त और पेयसे भी युक्त है ॥ २७ ॥

'पृथिव्यै देवयजनात् अररुं अप वध्यासं' = 'पृथ्वीपरके देवपूजकोंके स्थानमें दुष्टको मैं दूर हटाता हूं।' जो लोग देवके उपासक एवं भक्त हों वे संघ प्रस्थापित कर संगठन करें और नास्तिकोंद्वारा आनेवाली बाधाओंसे अपना संरक्षण करें। यह तो नरेशका कार्य है।

अब दुरात्माके लिए उपदेश है –

'हे अररो ! दिवं मा पप्तः' = 'अरे दुरात्मन् ! तू कमसे कम अपने निजी स्वर्गधामको कोई क्षति न पहुंचा।' यद्यपि तू दूसरोंके सुखकी पर्वाह नहीं करता है, तो भी अपने सुख एवं कल्याणकी पर्वाह अवश्यही करता है। तू ऐसे भ्रममें न पड कि दूसरोंको पीडा देनेसे तुझे सुख मिलेगा। प्रारंभमें तुझे अगर कुछ सुखका अनुभव मिले तो भी यह कदापि न भूल कि उसीसे तेरा सच्चा सुख तहस–नहस हो रहा है। दूसरोंको पीडित करनेसे कभी तेरा सुख न बढेगा, दूसरोंको सुख देनेसे तुझे अधिक सुख मिलेगा। द्युलोक अर्थात् तेरा स्वर्ग–लोक तेरे सुखका लोक है। यदि उसमें कुछ बिगाड पैदा होगा तो तेराही सुख घटेगा। अपनेही हाथों अपने सुखकी जड-पर कुठाराघात करना तेरे लिए कदापि श्रेयस्कर नहीं। वैसेही–

'ते द्रप्सः द्यां मा स्कन्' = 'तेरा सत्त्वरस तेरेही स्वर्गको अवरुद्ध न करे।' भलेही स्वर्ग तेरे निकट चला आये, या तू स्वर्गकी ओर प्रस्थान करे लेकिन अपनेही कर्मोंसे तेरी सुखोपलब्धिकी गति कुंठित न बने। मानवमें जो जीवन–रसका प्रवाह चलता है उसे यहांपर 'द्रप्सः' कहा है। प्रत्येकमें यह प्रवाह विभिन्न स्वरूपमें पाया जाता है। चाहे वह किसी भी तरहका हो लेकिन उससे अपनीही क्षति न होने पाये। अगर हरकोई इतनी सतर्कता या सावधानीसे कार्य कर सके तो भी बहुतसा सुख मिल सकेगा। इस प्रकार बर्ताव रखनेसे मानवकी प्रगति यथेष्ट मात्रामें हो सकेगी ॥ २६ ॥

इस मंत्रमें और अगले दो मंत्रोंमें 'छन्द' शब्द दुहराया गया है। इस शब्दमें श्लेष पाया जाता है। 'छन्दस्' के अर्थ यों हैं; इच्छा, आनन्द, इच्छापूर्वक व्यवहार या आचार, मनीषा, युक्ति, कामना, स्वतंत्र इच्छाशक्ति, अक्षरछन्द। 'गायत्र' अर्थात् प्राणोंसे या प्राणोंका रक्षण करना। प्रत्येकके मनमें अपने प्राण बचानेकी इच्छा रहती है और मातृभूमिके उपासकोंके चित्तमें लालसा उठती है कि प्राणतक त्यागकर मातृभूमिकी रक्षा की जाये। वैसेही तीव्र भावसे मैं अपनी मातृभूमिको स्वीकार करता हूं। जिस अवम्य लालसासे मानव अपने प्राण बचाता है उसीसे मैं मातृभूमिका संरक्षण करता हूं। जैसे प्रत्येक मानवमें प्राणरक्षाके भाव सदैव जागृत रहते हैं वैसेही मेरे दिलमें, मातृभूमिको अपनाते समय विचार जागृत हों। उसी प्रकार --

'(हे पृथिवि!) त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा परिगृह्णामि।' = 'हे मातृभूमि! तीन स्तवनोंके छन्दसे मैं तुझे स्वीकार करता हूं।' 'स्तुभ्' का अर्थ है स्तुति करना, पूजा करना, स्तब्ध करना। 'त्रिष्टुभ्' का अर्थ है जिसमें तीनोंकी स्तुति की गयी हो, तीनोंका सत्कार हो रहा हो और तीनोंको अपने सम्मुख स्तब्ध किया हो। जिस कर्ममें, प्रकृति, जीव और परमात्माकी स्तुति, पूजा एवं सत्कार हो उस छन्दद्वारा मैं तुझे स्वीकार करता हूं। इससे भी आगे चलकर—

हे मातृभूमि! जगत्के कर्तव्य करनेके छन्दसे मैं तेरी भक्ति करता हूं अर्थात् सारे विश्वका हित हो इसलिए मैं उपासनीयताके नाते तेरा आदर्श अपने सम्मुख रखता हूं। मेरी इच्छा तो है कि अखिल विश्वका कल्याण होवे, पर इतना बडा कार्य मुझसे होना कठिन है, अतः विश्वहितकी कामनासे मैं अपनी मातृभूमिकी सेवा करता हूं। समूचे संसारके हितमें बाधा न हो इस तरह मैं अपनी मातृभूमिकी सेवा करता हूं। इस मंत्रभागमें तीन छन्दोंका उल्लेख पाया जाता है। 'छन्द' शब्दके दो अर्थ हैं; एक कविताका छन्द और दूसरा किसी बातका चस्का पड जाना। इस स्थानपर दूसरा अर्थ लेना ठीक है। व्यवहारमें देखा जाता है कि हर व्यक्तिको किसी न किसी बातका चस्का लगही जाता है, कभी वह व्यायाममें या योगसाधनमें खूब दिलचस्पी लेता है अर्थात् उसे व्यायामादिका छन्द या चस्का लग जाता है। यहांपर छन्द शब्दका यह अर्थ अभीष्ट है। (१) 'गायत्र छन्द' प्राण (गय) संरक्षण (त्र) का चस्का है। (२) 'त्रैष्टुभ छन्द' (त्रि) तीनोंका (स्तुभ्) आदर करनेका चस्का है। प्रकृति, जीव तथा परमात्माका यथोचित आदर करनेमें इच्छा लेना है। (३) 'जागत छन्द' विश्वके संबन्धमें अपना कर्तव्य पालन करनेका चस्का है। संसारके उद्धारका चस्का ऐसा कह सकते हैं। प्राणशक्तिको बलवान् करके उन प्राणोंका संरक्षण करना व्यक्तिगत तैयारी करनेमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्राणोंको बलिष्ठ करनेके लिए यम-नियम-आसन-प्राणायाम प्रभृति योगके विभाग अति उपयुक्त हैं। इसके उपरान्त, ईश्वरोपासना, आत्मिक बलका संवर्धन और प्रकृतिका यथोचित उपयोग कर सुखके साधनोंको बढाना दूसरे छन्दसे सूचित होता है। सामाजिक तथा राष्ट्रीय व्यवहारोंका उल्लेख भी उससे हो जाता है। अब तीसरे छन्दद्वारा सूचना दी गई है कि राष्ट्रकार्य करते समय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भाव जागृत रहे। विश्वके हितमें राष्ट्रकार्य बाधा न डाले। बडी चतुराईसे तीन मंत्रभागोंमें तीनों छन्दोंका उल्लेख किया गया है, और श्लेषद्वारा उपदेश किया है। जैसे 'बहुव्रीहि' समास तथा बहुतसे चावल अपने समीप रखनेवाले पुरुषका द्योतक है, वैसेही 'गायत्र,त्रैष्टुभ तथा जागत' शब्दोंके दूसरे अर्थ ध्यानमें रखकर उपर्युक्त विवेचन किया है। यदि यह श्लेषार्थ ध्यानमें न रखा जाय तो अर्थके अनर्थ हो जानेकी संभावना है, इसलिए यह सूचना दी गई है। जनताके लिए तीनों बातोंका आकर्षण हो। मानवको यदि प्राणरक्षा करनेका और सृष्टि, जीव एवं परमात्माका आदर करनेका तथा विश्वका हित करनेका आकर्षण लग जाये तो कितना अच्छा होगा। जो मानव किसी बातमें प्रेम न लेता हो, जिसे किसी भी अच्छी बातका चस्का न लगा हो, वह बिलकुल निम्न स्तरपर रह जाता है और उसकी योग्यता भी अधिक नहीं बढती। प्रगति करनेके लिए कुछ बातोंका चस्का लग जाना अतीव आवश्यक है। बहुतसे लोगोंको बुरी बातोंका चस्का लग जाता है जो कदापि अभीष्ट नहीं। इसलिए यहांपर जानबूझकर तीनोंही छन्द रहें ऐसा कहा है। बुरी बातोंका आकर्षण लग जानेसे मानवका पतन होता है अतः वे घातक हैं। चूंकि इन छन्दोंसे मातृभूमिको स्वीकार करना है अर्थात् अंतस्तलमें उसे उपास्यदेवताके स्वरूपमें प्रतिष्ठापित करना है। यदि इन तीन छन्दोंद्वारा मातृभूमिकी उपासना की जाये तो वही संसारके उद्धारका प्रशस्ततम कर्ममार्ग बन जाता है।

यहांपर ऐसा प्रतिपादन किया है कि मातृभूमिकी सहायतासे बल, आनन्द, सुख, स्थान, अन्न तथा पेयकी प्राप्ति होती है। अतः लोग मातृभूमिकी भक्ति अवश्य करें जिससे उन्हें इन सभी सुखसाधनोंकी प्राप्ति हो। पृथ्वीतलपर

पुरा क्रूरस्यं विसृपों विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम् । यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्यं यजन्ते । प्रोक्षणीरासादयं द्विषतो वधोऽसि ॥ २८ ॥

। २८ । (विरप्शिन्) हे विज्ञानयुक्त ! (विसृपः क्रूरस्य पुरा) वीरोंके दोनों दलोंके बीच युद्ध शुरू होनेके पहलेही, (यां जीवदानुं पृथिवीं) जिस जीवन देनेहारी मातृभूमिके उद्धारके लिए (उदादाय) बुद्धिमान् लोग उसके, (धीरासः तां अनुदिश्य यजन्ते) उद्देश्यसेही आत्मयज्ञ करते हैं (स्वधाभिः चन्द्रमसि ऐरयन्) वे उस भूमिको मानों अपनी धारक-शक्तियोंद्वारा चन्द्रमें प्रेरित करते हैं । (प्रोक्षणीः आसादय) शुद्ध करनेवालीको समीप रखो । (द्विषतः वधः असि) द्वेष करनेवालोंका वधकर्ता तू है ॥ २८ ॥

अवतीर्ण हो ऐसेही प्रशस्ततम कर्म करनेकी आवश्यकता है । जन्म लेनेपर मानवको शुद्ध ढंगसे जीवन बितानेकी, सुखपूर्वक दिन बितानेकी और परलोकमें सुख मिलनेमें सहायक कर्म करनेकी बडी आवश्यकता है । इस भांति उच्च कोटिके कर्म करनेवाले अपने पौरुषपूर्ण कृत्योंसे मातृभूमिका तेज बढाते हैं । लोग मातृभूमिकी भक्ति क्यों करें, इस प्रश्नका बडा अच्छा उत्तर इस मंत्रभागमें दिया है । (१) मातृभूमि हमारा बल बढाती है, (२) हरतरहसे हमारा हित करती है, (३) सभी सुखसाधनोंकी पूर्ति कर देती है, (४) हमारे बैठने उठनेके लिए तथा हरेक तरहसे व्यवहार करनेके लिए जगह देती है, (५) हमारी पुष्टिके लिए अच्छे प्रकारके षड्रस अन्न प्रदान करती है, (६) और भांति भांतिके पीनेयोग्य रस भी देती है; इसलिए मातृभूमिकी भक्ति करना प्रत्येकका कर्तव्यही है । अपनी मातृभूमिमें हमें स्वतंत्रतापूर्वक भली प्रकारसे रहना चाहिए और इसके लिए हरतरहका पुरुषार्थ कर सकनेमें अपनी क्षमता बढानी है । मातृभूमिमें निवास करनेवाले सभी मनुष्योंके उद्धारार्थ आत्मसमर्पण करनेके लिए तैयार रहना चाहिए ॥ २७ ॥

' हे विज्ञानयुक्त पुरुष ! वीरोंकी लडाई शुरु होनेके पहलेही जिस जीवन प्रदान करनेवाली मातृभूमिके उद्धारके लिए. धीर तथा बुद्धिमान् लोग जिसके उद्देश्यसे आत्मयज्ञ करते हैं, वे उस मातृभूमिको मानों अपनी धारकशक्तियोंसे चन्द्रवत् तेजस्वी बना देते हैं । ' बहुतसे लोगोंकी धारणा है कि केवल युद्धोंमेंही वीर पुरुष अपनी सभी शक्तियोंकी पूर्णाहुति आत्मयज्ञमें दे डालते हैं, लेकिन इस मंत्रमें कहा है कि बर्बरतापूर्ण युद्धके प्रारंभके पहलेही मातृभूमिके भक्तोंका एवं बुद्धिमान् वीरोंका आत्मबलिदानरूपी यज्ञ चला करता है (क्रूरस्य पुरा धीरासः यजन्ते ।) यह बिलकुल सच बात है । हां, लडाईमें शूर पुरुषोंको अपने शरीरोंका बलिदान करना पडता है पर तो भी ज्ञानी, धनिक एवं कई कार्यकुशल पुरुष अपने अपने सामर्थ्यके अनुकूल मातृभूमिके लिए आत्मयज्ञ करतेही हैं । धीर (धी+र) अर्थात् जो बुद्धिसे विविध विषयोंपर निर्णय देकर राष्ट्रको तथा जनताको योग्य अवसरपर सचेत करते हैं, उनका बौद्धिकयज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । यहांपर वीरोंके युद्धको ' क्रूर ' कहा है । युद्ध सचमुच बडाही क्रूर कर्म है और मानवको इससे पराङ्मुख होना चाहिए, पर जब दुरात्मा पुरुषोंपर सदुपदेशोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पडता है, तब वैसे लोगोंसे छुटकारा पानेके लिए युद्ध जैसे बर्बरतापूर्ण कार्य करनेही पडते हैं । इसके पहलेसेही बुद्धिजीवी श्रेणीके लोग स्वयं ज्ञानयज्ञका प्रवर्तन कर जनतामें आश्चर्यजनक तेजका संचार करते हैं । इन यज्ञोंका सूत्रपात मातृभूमिकी प्रगतिको प्रमुख ध्येय समझकरही किया जाता है । [तां पृथिवीं अनुदिश्य यजन्ते] अब हमें यज्ञके अर्थको अधिक सतर्कतासे समझना चाहिए । यज्ञमें तीन बातोंका विचार प्रमुखतया किया जाता है । ' देवपूजा-संगतिकरण-दानमयो यज्ञः । ' देवोंका सत्कार, संगठन एवं उपकाररूपी तीन महत्त्वपूर्ण बातें यज्ञमें रहा करती हैं । जो हीन दशामें पडे हुए हैं उन्हें ऊपर उठानेके लिए सहायता प्रदान करनी चाहिए । समूचे समाजका संगठन कर संघका बल बढाना चाहिए और जो सत्कारके योग्य हों उनका यथोचित आदर-सत्कार करना चाहिए । यज्ञकर्ममें इन तीनोंका अनुष्ठान करना पडता है । अतः राष्ट्रहित एवं मानवहितके लिए यज्ञोंका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान ध्यानमें रखना चाहिए । अतः कहा है कि तीन छन्दोंद्वारा मातृभूमिको स्वीकार करना चाहिए; उसकी उपासना कर सब सुख प्राप्त करने चाहियें और अपनी पौरुषपूर्ण चेष्टाओंद्वारा उसमें तेजका संचार किया जाये और उसके लिए अपनी अपनी शक्तियां अर्पित की जायं, यही यज्ञ है और यह यज्ञ सब मानवोंके लिए अनिवार्य है । इसमें (तां पृथिवीं स्वधाभिः चन्द्रमसि ऐरयन्) उस मातृभूमिको अपनेमें

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो[1] निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः[2]।
अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि[3] ।
प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो[4] निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः[5] ।
अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि[6] ॥ २९ ॥

---

[२९] (रक्षः प्रत्युष्टम् अ-रातयः प्रत्युष्टाः रक्षः निष्टप्तम् अ-रातयः निष्टप्ताः उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि) राक्षस भुनाये जा चुके हैं। अनुदार लोग दग्ध हो गये हैं। राक्षस ज्वालासे जल चुके हैं। अनुदार लोग झुलस गये हैं। विस्तीर्ण क्षेत्रमें अनुकूलतापूर्वक चला जाता हूं। (अनिशितः सपत्नक्षित् असि) तू तीक्ष्ण न होनेपर भी शत्रुका नाश करनेवाला शस्त्र है, (त्वा वाजिनं वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि) तू बलवान् है, बलके लिए मैं पवित्र करता हूं। (रक्षः प्रत्युष्टम् अ-रातयः प्रत्युष्टाः रक्षः निष्टप्तम् अ-रातयः निष्टप्ताः उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि) राक्षस भुनाये जा चुके हैं। अनुदार लोग दग्ध हो गये हैं। राक्षस ज्वालासे जल चुके हैं। अनुदार लोग झुलस गये हैं। विस्तीर्ण क्षेत्रमें अनुकूलतापूर्वक चला जाता हूं। (अनिशिता सपत्नक्षित् असि) तीक्ष्ण रहित शत्रुओंको विनष्ट करनेवाली तलवार तू है, (त्वा वाजिनीं वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि) उस बल देनेवाले तुझको बलके लिए मैं पवित्र करता हूं ॥ २९ ॥

विद्यमान् धारक शक्तियोंद्वारा चन्द्रमामें प्रेरित करते हैं। 'स्वधा' एवं 'चन्द्रमस्' शब्दोंका अधिक विचार करना चाहिए। 'स्व+धा' अर्थात् निजी धारकशक्ति जिसके सहारे अपना शरीर, समाज, राष्ट्र तथा अखिल विश्वका धारण हो रहा है, वह 'स्वधा' कहलाती है। यदि राष्ट्रके सभी निवासियोंमें ऐसी धारणक्षम शक्ति रहे तोही वह स्वतंत्र रह सकता है, अन्यथा उसपर उन लोगोंका आधिपत्य प्रस्थापित होता है जिनमें यह 'स्वधा' अधिक मात्रामें मौजूद हो। इसीलिए हरेक राष्ट्रके लोगोंका यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे इस 'स्वधा' को विशेषरूपसे वर्धित करनेकी चेष्टा करें। 'स्व+धा' शब्दका यह गर्भितार्थ भली भांति ध्यानमें आ जाये तो सभी लोगोंको अपने कर्तव्य-कर्मका ज्ञान तुरन्त हो जायेगा। 'चन्द्रमाः' शब्दके धातुका अर्थ (चन्दति आल्हादयति इति चन्द्रः) प्रसन्नता तथा आल्हाद प्रदान करना है। जिसे देखनेसे प्रेक्षकको हर्ष हो वह चन्द्र या चन्द्रमा कहलाता है। जो पुरुष अपने महान् कर्मोंसे तथा पुरुषार्थसे अपनी मातृभूमिको चन्द्रके समान आल्हादप्रद बनाते हैं वेही सच्चे मातृभूमिके उपासक हैं। ये लोग अपनी बुद्धि, शूरता, संपत्ति एवं कार्यकुशलतासे मातृभूमिको चन्द्रवत् सुखदायक बनाते हैं और इस पुरुषार्थकोही यज्ञ नाम दिया गया है। अतः सभी धर्मग्रन्थोंमें प्रतिपादन किया है कि यज्ञके द्वारा सबकी उन्नति तथा प्रगति होती है। यदि इस प्रकारकी (स्वधा) धारकशक्ति अपनेमें बढे ऐसी इच्छा हो तो—

×

'शुद्धता करनेहारी बुद्धि समीप रखो।' पवित्रता बढानेवाली बुद्धिको बढाना चाहिए। शरीर, वाणी, मन तथा बुद्धिमें जो कुछ भी त्रुटियां या दोष हों उन्हें दूर कर पवित्रता प्राप्त करनी चाहिये। रहन-सहन, तथा प्रथाएं ऐसी हों कि जिनके परिणाम-स्वरूप मानवकी पवित्रता बढे। क्योंकि आत्मिक पवित्रतासेही सब तरहका कल्याण हो सकता है ॥ २८ ॥

तुम्हें प्रतीत होगा कि शत्रुओंका पतन हो चुका है। तुम्हारी आत्मिक पवित्रता सिद्ध होनेपर और शत्रुबलका प्रतिकार करनेकी शक्ति बढ जानेपर तुम विरोधियोंके आतंकसे छूट जाओगे और कोई शत्रु तुम्हें कष्ट नहीं पहुंचायेगा।

तू बहुत तीक्ष्ण नहीं है। जैसे कोई तीक्ष्ण शस्त्र सुगमतापूर्वक व्रण करता है या तीक्ष्ण स्वभावका पुरुष दूसरोंको कष्ट पहुंचाता है, परंतु मृदु स्वभाववाला मनुष्य उससे अत्यन्त भिन्न स्वभाववाला होता है। हे मानव ! तू मृदु तथा शान्त होनेपर भी शत्रुका विनाश करनेवाला है। वास्तवमें उग्र एवं तीक्ष्ण प्रकृतिका पुरुषही शत्रुको हतबल कर सकता है, ऐसी लोगोंकी धारणा है, पर इस मंत्रभागके कथनानुसार शान्त प्रकृतिका मानव भी शत्रुको परास्त करनेकी क्षमता रखता है। यदि किसी भी उपायसे शांत मनोवृत्ति अक्षुण्ण रखकर भी शत्रुको हटानेकी क्षमता पैदा की जा सके, तो यह अत्यन्त उपादेय है। धर्म भी इसीलिये प्रवर्तित हुआ है कि मानवमें विद्यमान क्रूरता एवं बर्बरताको

अदि॑त्यै॒ रास्ना॑सि॒ विष्णो॑र्वे॒ष्पो॑ऽस्यू॒र्जे त्वा॒ऽद॑ब्धेन त्वा॒ चक्षु॒षाव॑पश्यामि ।
अ॒ग्नेर्जि॒ह्वासि॑ सु॒हूर्दे॒वेभ्यो॒ धाम्ने॑धाम्ने मे भव॒ यजु॑षेयजुषे ॥ ३० ॥

[३०] (**अदित्यै रास्ना असि**) स्वतंत्रताके लिए तू मेखलावत् है। (**विष्णोः वेष्पः असि**) व्यापक परमात्माका घर तू है। (**ऊर्जे त्वा**) अन्न और बलके लिए तुझे प्राप्त करता हूं (**अदब्धेन चक्षुषा त्वा अवपश्यामि**) न दबी हुई आंखोंसे में तुझे देखता हूं। (**अग्नेः जिह्वा असि**) तू अग्निकी जिह्वा है। (**मे धाम्ने धाम्ने**) मेरे घर घरमें तथा (**यजुषे यजुषे**) प्रत्येक यज्ञमें (**देवेभ्यः सुहूः भवः**) तू देवोंका भलीभांति आह्वानकर्ता बन ॥ ३० ॥

हटाकर उसे शान्त बनाया जाय। यदि मानव शान्तता, अहिंसा तथा निर्वैरता बढा सके तो वह लगभग अजातशत्रु हो सकता है। उसके विरोधी उसके सहायकर्ता बन जाते हैं। क्रूरतासे शत्रुओंका विनाश करनेकी अपेक्षा अजातशत्रु बनकर सभी दुष्टोंको निर्वैर मनोभावसे सज्जन कर देना सर्वथैव उचित है। मृदु स्वभावसे युक्त होनेपर भी शत्रुओंको दूर हटानेके कारण तू बलवान् (वाजिनं) है; वास्तवमें यह बल शारीरिक नहीं और नहीं यह क्रूर वीरोंका बल है, यह तो आत्मिक तथा बौद्धिक बल है एवं शांत प्रकृतिवाले मानवोंमें विद्यमान रहता है। यह बल तुझमें बढे इसलिए में बलवृद्धिके हेतु तुझे पवित्र करता हूं; (वाजेध्यायै संमार्ज्मि)। क्योंकि अपनी पवित्रतापरही यह (आत्मिक) बल निर्भर है। जिस अनुपातमें यह बल तुझमें बढेगा उसी अनुपातमें शांतता बढानेपर भी तू सभी शत्रुओंको दूर कर सकेगा। इतनाही नहीं अपितु वे तेरे विरोधी स्वयंही दूर हो जायेंगे। यहांतक अपनी उन्नति करनी चाहिए और इतना हो चुकनेपर— ॥ २९ ॥

'अदित्यै रास्ना असि।' = 'स्वतंत्रताकी तू मेखला है।' जैसे किसी वस्तुको रस्सीसे बांधनेपर वह इधर-उधर बिखर नहीं पाती है, वैसेही मानव स्वतंत्रता देवीके लिए रशना या मेखलारूप है। अर्थात् मनुष्यमें विद्यमान मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूपी रशनाओंसे स्वतंत्रता देवी बांध रखी है, जिससे स्पष्ट है कि इनके वास्तविक स्वरूपपर स्वतंत्रता देवीकी सुस्थिति या बुरी हालत बहुत कुछ निर्भर है। 'दिति' का अर्थ है बन्धन और 'अ-दिति' से स्वाधीनता, मुक्तिका बोध होता है। चूंकि मानव इसके लिए मेखलारूप है, अतः उसे सोचना चाहिए कि क्या उसने स्वतंत्रता देवीको अपने समीप सुदृढ बांध रखा है या दूर कर दिया है और 'दिति' राक्षसीको समीप रखा है। 'अदिति' देव माता है और उसे समीप रखनेसे देवोंके निकटवर्ति बननेका अधिकार मानवको मिल सकता है; पर 'दिति' राक्षसीको समीप करनेसे सब किये कराये पर पानी फिर जायेगा। इस स्वतंत्रता देवीकी उपासना करनेपर—

'विष्णोः वेष्पः असि।' =' तू व्यापक परमात्माका घर है, यह अनुभव रहेगा।' शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं आत्मा सभी देवताके नित्य निवासस्थान बनें। ऊपर कहे हुए ढंगपर बर्ताव रखनेसे ऐसा होना संभव है। मानवका अंतस्तल सर्वव्यापक परमात्माका मंदिर बने और वहांपर वह प्रकट होवे। ऐसा होनेपर—

'ऊर्जे त्वा'=' अन्न एवं बलके लिये तुझे प्राप्त करें, ऐसा लोग कहने लगेंगे क्योंकि तेरे समीप पहुंचनेसे विशेष प्रकारकी शक्तिका अनुभव उन्हें होगा।' तुझमें बल बढनेका यही अच्छा प्रमाण है। इस अध्यायके प्रारंभमेंही यह मंत्रविभाग आया है जहांपर अन्न पानेके लिए मानवको प्रेरणा दी गयी है। अबतकके उपदेशोंको कार्यरूपमें परिणत करनेसे उसकी क्षमता इतनी बढ गयी है कि जनता उसके समीप आत्मिक बल तथा अन्न पानेके लिए आनेको उत्सुक हो जाती है। सुकृतसे इतनी उन्नति हो सकती है।

हरकोई उसे देखनेपर ऐसा कह सकता है क्योंकि उसकी ओर टकटकी लगाकर देखनेसे सब प्रसन्न हो जाते हैं। वह तो शक्तिका केन्द्रही बन जाता है और उसकी प्रशान्त तथा तेजोमय मुखाकृति निरखनेसे सबके दिलमें प्रसन्नता उमड आती है। इस कारण सब जनताका ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। ऐसे महात्माकी योग्यता कितनी महान् है देखिए —

'अग्नेः जिह्वा असि' = 'हे मानव ! तू अग्निकी जिह्वा है।' जैसे अग्निकी ज्वाला अत्यन्त प्रदीप्त होती है, गति प्रदान करती है और प्रकाश देती है, वैसेही तेरी जिह्वा भी तेजस्वी, ज्ञानका प्रकाश देनेवाली और प्रगतिशील है। यहांपर जिह्वासे भाषा, वक्तृत्व-शक्ति, विद्वत्ता आदि अर्थ लेने उचित हैं। पूर्वोक्त ढंगसे शुद्ध तथा पवित्र हुए सत्पुरुषकी

सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥३१॥

[अध्यायः १; कंडिका: ३१, मंत्र-संख्या १३७]

इति प्रथमोऽध्यायः ।

---

[३१] (सवितुः प्रसवे त्वा अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः उत्पुनामि । सवितुः प्रसवे वः अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः उत्पुनामि) सृजनकर्ता देवकी इस सृष्टिमें छिद्ररहित शुद्धता करनेवाले साधनके द्वारा और सूर्यकी किरणोंद्वारा तुम सबको भली भांति पवित्र कर देता हूं। (तेजः असि) तू तेज है। (शुक्रं असि) तू वीर्य है। (अमृतं असि) तू अमृत है। (धाम नाम असि) तूही स्थान तथा यज्ञ है। (देवानां प्रियं अनाधृष्टं देवयजनं असि) तू देवोंका प्यारा तथा न दब जानेवाले यजनही है ॥ ३१ ॥

वाणी ऐसीही ओजगुणपूर्ण रहती है, यह बात सबको विदित है। जिसे इस तरह वाक्शक्ति या वाक्सिद्धि प्राप्त हुई हो उसे एक कर्तव्य-कर्म पूरा करना पडता है, वह ध्यानपूर्वक सुनिये—

मेरे प्रत्येक घरमें और स्थान तथा यज्ञमें देवोंको भली-भांति बुलानेवाला बन। अर्थात् मेरे घरमें आनेपर, यज्ञमें उपस्थित होनेपर देवोंको वहां अवश्य बुलाना चाहिए। यह तभी संभव है जब वाणी इतनी पवित्र एवं प्रभावोत्पादक हो कि बुलानेपर तुरन्तही देव उपस्थित हों। इसके लिए समुचित सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिए। जो लोग मनसे पुकारते हैं उनकीही वाणी देवता सुनते हैं। मानवमें ऐसा सामर्थ्य रहे कि उसके बुलातेही देवता आ जायें। इसलिए कहा है— ॥ ३० ॥

' सवितुः प्रसवे त्वा अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः उत्पुनामि। सवितुः प्रसवे वः अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः उत्पुनामि ' = ' सृजनकर्ता परमात्माकी इस सृष्टिमें छिद्ररहित पवित्रता करनेके साधनसे और सूर्यकी किरणोंसे मैं तुम सबको शुद्ध करता हूं। ' निर्माणकर्ता परमात्माकी इस रचना-विश्वमें शुद्धता करनेके अनेक साधन पाये जाते हैं और उनमें सूर्यकिरण अत्यन्त प्रबल तथा प्रभावशाली है। विश्वमें सूर्यकिरणोंद्वारा पवित्रताका सृजन होता है, अतः अपने घरोंमें जो लोग सूर्यकिरण घुसने देते हैं, वहांपर रोगोंका भय नहीं होता है। जो अपने शरीरपर सूर्यप्रकाशका उपयोग करते हैं वे स्वयं आरोग्यसंपन्न बनते हैं। इस तरह सूर्यमें किरणोंद्वारा शुद्धता करनेका धर्म है। पहले कह आए हैं कि प्राण तथा मन दोनों आत्मशक्तिसे युक्त और पवित्रता करनेके साधन हैं। पर वे अ-च्छिद्र अर्थात् छिद्र, दोष, त्रुटिसे मुक्त हों, तो ठीक है। निर्दोष रहनेपरही उनसे पवित्रता होती है, अन्यथा शुद्धताका कार्य रुक जाता है। उदाहरणार्थ- जैसे छलनीमें सुराख न हों तभी उससे पदार्थ ठीक प्रकार छाना जा सकता है, वैसेही मन तथा प्राण छिद्र-शून्य एवं अखंड हों तभी वे पवित्रता पैदा कर सकते हैं। इसी प्रकार जलसे भी शुद्धता की जा सकती है। शुद्धता होनेपर होनेवाली दशाका वर्णन देखिए—

ये सभी गुण अधिकाधिक उद्दीप्त होने लगेंगे और मानव सचमुच अपने असीम ऐश्वर्यका अनुभव करने लगेगा। यही सभी धर्मानुष्ठानका चरम साध्य है। इससे भी अधिक—

मानवका शरीर तथा निवासस्थान सब देवोंका अति-प्यारा स्थल होगा। (अनाधृष्टं) उसपर आसुरी विचारोंका नहीं आक्रमण होगा और यदि कहीं हुआ भी तो तुरन्त शत्रुओंकी हार होगी। इसी स्थलमें देवताओंका सच्चा सत्कार होगा। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करे कि अपना शरीर अब देवताओंका मंदिर बन गया है और देवगण यहां सदाके लिए बसने आये हैं। जो इस भांति देवताका संपर्क अनुभव करने लगे, वह सचमुच अतीव धन्य है। वैदिक धर्मकी शिक्षाको कार्यान्वित करनेसे यह धन्यता पाना कोई कठिन बात नहीं। इस प्रथम अध्यायमें यह स्पष्टतया दर्शाया गया है कि, प्रशस्ततम कर्मोंके अनुष्ठानसे उपर्युक्त बात संभवनीय है ॥ ३१ ॥

॥ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

श्रेष्ठतम कर्मका आदेश

वाजसनेयी संहिताके इस प्रथम अध्यायमें यह बतलाया है कि मानव श्रेष्ठ कर्मोंकी सहायतासे अपना उद्धार कैसे कर सकता है, चूंकि यजुर्वेद ' कर्मवेद ' है इसलिए इसमें उन सभी शुभ कर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन किया है, जिनका यथावत् अनुष्ठान करना मानवके उद्धारके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्यसे इस सर्वप्रथम अध्यायमें श्रेष्ठतम कर्मके साधारण स्वरूपका दिग्दर्शनमात्र किया है।

गुण तथा कर्म

इस अध्यायका मनन करनेपर एक बात स्पष्ट होती है कि, जिस कर्मके अनुष्ठानके लिये वेद मानवको आज्ञा प्रदान करता है, उस कर्मको कार्यरूपमें परिणत करनेकी क्षमता मानवमें विद्यमान होती है। वेदकी उपदेश देनेकी प्रथा यों है– ' तू शूर है अतएव अपने देशकी रक्षा करनेके लिये शूरता दिखा। ' तनिक सोचनेपर पता लगेगा कि यह रीति सुयोग्य है, क्योंकि यदि उचित योग्यता विरहित मनुष्यको किसी कार्यके करनेका उपदेश दिया जाये तो उससे कुछ भी लाभ नहीं होगा। इसी कारण वेद पहले पहले मानवको उसकी अंतर्गत शक्तियोंसे परिचित कराकर फिर उससे कहता है कि उन शक्तियोंके अनुकूल विशिष्ट कार्य कर। उदाहरणके तौरपर देखिये—

पवित्रं असि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्।

' तू पवित्रता करनेका साधन है, इसलिये देवोंके लिये कर्म करते समय शुद्ध तथा पवित्र बन। ' यहांपर चूंकि शुद्ध बनाना तथा शुद्ध होना मानवके लिए संभव है अतः उससे कहा है, वह देवकार्यका अनुष्ठान करते समय शुद्ध बने। उसी प्रकार—

वाचः विसर्जनम्। मधुजिह्वः असि। इषं ऊर्जं आवद।

' वाणीका उच्चारण करना तेरी प्रमुख विशेषता है और तू मीठा भाषण करनेहारा है, अतः अन्न मिले तथा अपना बल बढे इस हेतु समुचित अभिभाषण कर। ' मानव वाचाशक्तिसे युक्त है अतएव उसे चाहिए कि वह मनमाने ढंगसे भला बुरा न कहकर मिठासभरे शब्दही मुंहसे निकाले और उस मीठे भाषणका परिणाम भी ऐसा हो कि उसे खानपानकी वस्तुएं यथेष्ट मिलें और उसका बल बढे। वाक्शक्तिके मनुष्यमें विद्यमान होनेके कारण इन उपदेशमें औचित्य दीख पडता है। और भी देखिये—

ध्रुवं असि। पृथिवीं दृंह।

' तू स्वयं स्थिर है इसलिये अपनी मातृभूमिको स्थिरता प्रदान कर। ' अर्थात् उसमें अच्छा बल बढे। उसी प्रकार–

धृष्टिः असि। क्रव्यादं निःषेध।

' तू धीरज धरकर शत्रुदलको परास्त करनेवाला है, अतः मांसभक्षकोंका निषेध कर। ' फिर—

धूः असि। धूर्वन्तं धूर्व।

' तुझमें विनाश करनेहारी शक्ति है, इस कारणसे, जो हमारे विनाशके लिए आन्दोलन करता हो, उसीको विनष्ट कर। ' इन ऊपर दिये हुए पांचों उदाहरणोंसे पाठकोंके ध्यानमें आयेगा कि उपदेश करते समय, वेद पहले मानवमें विद्यमान सुप्त या जागृत गुणोंको बतलाता है, और पश्चात् उनकी सहायतासे संभवनीय कर्मोंके द्वारा अपनी प्रगति करनेका पथ दर्शाता है। यह गुणोंका दिग्दर्शन किन्हीं स्थानोंपर पहले किया जाता है तो कभी पश्चात् भी किया जाता है। कई स्थानोंपर गुणोंकी सूचना दी जाती है पर कर्मका उल्लेख नहीं पाया जाता है, उदाहरणार्थ—

शर्म असि। अमृतं असि।

' तू सुखस्वरूप है एवं तू अमर है। ' यहांपर इन दो गुणोंका उल्लेख हुआ है पर उनसे ध्यानमें आने योग्य कर्मोंका उल्लेख नहीं होने पाया है। परंतु पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए कि उनमें सुख विद्यमान है और उनकी आत्मा अमर है। इन्हींका ठीक अनुभव मिलनेके लिएही सभी धर्मकर्मोंका उपदेश किया जाता है। तात्पर्य, जहांपर इस भांति गुणवर्णन हो वहां उसीके सहारे उन गुणोंके अनुकूल तथा संवर्धकके स्वरूपमें अनिवार्य कर्म करनेका उपदेश भी समझ लेना चाहिए। इस नियमको ठीक तरह समझ लेनेपर तुरन्त ध्यानमें आयेगा कि कौनसा वेदमंत्र मानवको किस कर्मको करनेके लिए उपदेश दे रहा है, या उस वेदमंत्रसे मानवको कौनसी शिक्षा मिलती है। इसलिए जो इस वेदके अर्थको जानना चाहते हों, वे पहले यह निश्चित कर लें कि इसमें गुणोंको सूचित करनेवाले मंत्र कौनसे हैं,

कर्मका उपदेश देनेवाले मंत्रभाग कौनसे हैं और उन दोनोंके बीच कौनसा संबंध विद्यमान है। ऐसा करनेपर अर्थनिश्चय हो जानेमें कोई कठिनाई न रहेगी। जहां निरे गुणवर्णनपरक वाक्यही मिलते हों, वहांवर पूर्वापर अविरोधसे अपने कर्तव्य निर्धारित किये जाएं और यदि कर्मकाही उपदेश हो, तो उससे गुणका अनुमान सुगमतापूर्वक हो सकता है।

अबतकके विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आगई होगी कि वेद मनुष्यके अन्दर मौजूद अनन्त शक्तियोंका वर्णन कैसे करता है। संभव है कि कुछ गुण गूढ हों तथा कुछ व्यक्त हों एवं कुछ अधूरी विकसित दशामें पाये जायें। परन्तु निस्सन्देह मानव इन गुणों एवं शक्तियोंसे युक्त है। मानवमें शरीर, इन्द्रियगण, मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि तथा आत्मा विद्यमान हैं। हरएकके कुछ गुणधर्म हैं और इनकी सहायतासे मानव विविध कर्म करता है तथा अपनी उन्नति कर लेता है। ये सातों आत्माके सहारे अस्तित्वमें हैं, इसलिये इस ज्ञानको 'अध्यात्म-ज्ञान' अर्थात् '(अधि-आत्मा) आत्माके आधारपर जो निर्भर हैं, उनके गुणधर्मोंका ज्ञान,' ऐसा कहते हैं। इस अध्यात्म-विषयका विवेचनही वेदोंका मुख्य प्रयोजन है। मानवमें विद्यमान गुणों तथा धर्मों एवं शक्तियोंकी जानकारी दिलानाही वेदका प्रमुख उद्देश्य है। इन शक्तियोंके अनुकूल, मानवसे कर्म करनेके लिए वह प्रगतिपथ बतलाना या उसे उन्नत करना वेदका ध्येय है। अब हम देखेंगे कि यजुर्वेदके इस प्रथम अध्यायमें अध्यात्म-ज्ञानका उपदेश किस प्रकार किया है।

अध्यात्म-ज्ञान

आत्मज्ञानका अर्थ है आत्मा और उसपर निर्भर बुद्धि, अहंकार, चित्त, मन, इन्द्रियगण और शरीरके जो गुण, धर्म तथा कर्म हैं, उनका ज्ञान। अब ध्यान दीजिए कि इस अध्यायमें यह ज्ञान किस तरह दिया गया है। इसे 'आत्म-स्वरूप ज्ञान' भी कह सकते हैं।

१ अमृतं असि। २ शर्म असि।
३ शुक्रं असि। ४ तेजः असि।
५ धाम नाम असि। ६ विष्णोः वेष्पः असि।

(१) 'तू अमर है, (२) तू सुखमय है, (३) तू शक्तिसंपन्न वा पवित्र है, (४) तू तेजःस्वरूप है, (५) तू धाम तथा यश है। इतनाही नहीं अपितु (६) सर्व-व्यापक परमात्माका तू मन्दिरही है।'

इन छः मंत्रभागोंमें आत्माके इन गुणधर्मोंका उल्लेख किया है। जो अध्यात्म-ज्ञान पाना चाहते हों वे इन मंत्र-भागोंपर मनन करें। इन मंत्रोंसे मानवके जो गुणधर्म व्यक्त हुए हैं, उनसे मानवके निम्नलिखित अनिवार्य कर्मोंका बोध होता है।

(१) अपनी अमर दशाकी जानकारी तथा अनुभव पानेके लिए जो अच्छे कर्म करने आवश्यक हों उन्हें कार्य-रूपमें परिणत करना चाहिए। (२) अपने अन्दर विद्यमान सुखकी, जो किसी भी बाहरी निमित्तसे नहीं मिल सकता है और जिसका अनुभव स्वयंही अपने आप किया जा सकता है, अनुभूति पानेके लिए धर्मानुष्ठान करे, (३) अपने आपको बलका केन्द्र समझकर सभीकी प्रगतिके पोषक कार्योंको अपनी शक्तिसे करे या अपने मौलिक शुद्ध स्वरूपको पहचानकर मलिनतासे दूर रहे। (४) 'मैं तेजका केन्द्र हूं,' यह धारणा दृढ करके अपने तेजसे दूसरोंको तेजस्वी बनानेकी चेष्टा करे। (५) 'मुझमें सभी शक्तियोंका भंडार और यशका आविस्रोत है,' ऐसा समझकर अपनेसे सभी शक्तियोंका संवर्धन तथा पोषण हो और यशस्विता पानेके प्रयत्न सुगमतासे हो सकें इस ढंगसे कार्य पूर्ण करे, उसी प्रकार (६) 'सर्वव्यापक परमात्माका मन्दिर मेरा शरीर है, उसका निवास अपने हृदयमंदिरमें है,' ऐसा जानकर ऐसी चेष्टा करे कि सचमुचही यह उसका सजीव और जागृत मन्दिर बने। उपर्युक्त मंत्रोंसे संक्षेपमें इस उपदेशकी प्राप्ति पीछे दर्शाये ढंगसे हो सकती है। अब इसके विरुद्ध अर्थापत्तिसे हम क्या न करें, यह भी इन मंत्रोंसे ध्यानमें आ सकता है, जिसका विचार अब किया जायगा।

(१) 'आत्महत्या नहीं करनी चाहिए, (२) रोती सूरत नहीं करनी चाहिए, (३) हम सर्वथा दुर्बल हैं, इस धारणाको मनमें स्थान नहीं देना चाहिए, (४) तेजकी हानि हो ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए, (५) जिससे अपयश या दुष्कलंक हो ऐसा बुरा कार्य नहीं करना चाहिए, (६) अपने अन्तस्तलमें राक्षसी मनोभावोंको जगह नहीं देनी चाहिए।'

उन्हीं मंत्रोंसे इस प्रकार ज्ञात होता है कि मानव क्या न करे और इन अर्थोंपर अगर अधिक मनन किया जाये तो इससे अधिक उपदेश या बोध मिल सकता है। यहांपर तनिकसी दिशा दर्शानेके लिए भावार्थका किंचिन्मात्र उल्लेख किया है। अब आत्मशक्तिका वर्णन करनेवाले दो मंत्रोंको देखिए।

देवानां वह्नितमं, सस्नितमं, पप्रितमं, जुष्टतमं, देवहूतमं असि। देवानां प्रियं अनाधृष्टं देवयजनं असि ॥

'तू देवताओंको ले आनेवाला, उनकी सहायतासे शुद्धता करनेवाला, पूर्णता करनेवाला, उनका सेवन करनेवाला और देवोंको बुलानेवाला है। उसी प्रकार देवोंके अति प्यारे और शत्रुदलसे परास्त न होनेवाला देवोंके पूजनका स्थानही तू है।'

इन मंत्रोंके कथनपर सोचनेके पहले पाठक एक वैदिक कल्पनाको ध्यानमें रखें कि इस शरीरमें आत्माके साथही सूर्य आदि अन्य देवताओंके प्रतिनिधि या अंश भी आकर रह चुके हैं। हृदयमें जीवात्मा, आंखोंमें सूर्य, नाकमें प्राण, इस भांति दूसरे इन्द्रियों तथा अवयवोंमें दूसरे देव निवास करते हैं और उपनिषद्‌में इसका वर्णन वारंवार पाया जाता है—

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। (ऐ० उ० २।४)

इस प्रकारसे इन सभी देवोंके दैवी अंश इस शरीरमें आकर बसे हैं और यही देवताओंका अंशावतार है। कौन इन देवताओंको इधर बुलाता है? इन्हें कौन यहां लाता है? इस स्थानमें इन सभी देवताओंके साथ कौन रहता है? उन सभी देवताओंसे कौन कार्य करता है? इन देवोंको कौन यहां प्रबल बनाता है? आदि सभी सवालोंका एकही उत्तर 'आत्मा' है। यही आत्मा इन सब देवोंको अपने रथपर बिठलाकर यहां लाती है, उन्हें अपनी अपनी जगहपर बैठाती है, उनका कल्याण करती है, उचित अवसरपर उनसे कार्य करवाती है और चेष्टा करती है कि शत्रु उनपर आक्रमण न करे। यही आत्मा यजमान है और ये देव ऋत्विज या सदस्य हैं। इस प्रकारका यह यज्ञ इस क्षेत्रमें सौ वर्षोंतक चलनेवाला है और उधर रुकावटें डालनेके लिए राक्षस तैयार खडे हैं। इस आत्माको यही चेष्टा करनी चाहिए कि उन रुकावटोंको हटाकर यह शतसांवत्सरिक यज्ञ उचित ढंगसे यहांपर पूरा हो जावे। यह जीवात्माही जो सौ वर्षोंतक ऋतु करती हुई यहांपर सौ वर्षोंतक अच्छे कर्म करनेपर 'शत-ऋतु' बनती है। जिसके यज्ञमें राक्षसगण बीचमेंही रुकावटें खडी कर देते हैं और इस यज्ञभूमिको उजाड एवं वीरान कर देते हैं, उसका यज्ञ निष्फल होता है, जिसके फलस्वरूप वह इस जन्ममें 'शतक्रतु' बननेका सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकता है। परंतु जो बाल्यावस्थाके बीत जानेपर १०० वर्षोंतक प्रशंसनीय कर्म करता रहता है, वह शतक्रतु बनकर मनुष्यजन्मकी सफलताका अनुभव पाता है। उपर्युक्त मंत्रोंके शब्दोंसे यही वैदिक कल्पना प्रकट होती है। यदि इस दृष्टिकोणसे हम इन शब्दोंको ओर देखें तो उनका सच्चा आशय तुरन्त ध्यानमें आ जायेगा। इसी मौलिक कल्पनाके आधारपर रचे हुए अनेक वचन अथर्ववेद तथा उपनिषदोंमें पाये जाते हैं और पुराणोंमें भी बहुतसी कथाएं इसी कल्पनाका स्पष्टीकरण करनेके लिए बनायी गयी हैं। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि देवताओंका मन्दिर अपना शरीरही है जिसमें परब्रह्मका अंशरूप जीवात्मा रहती है और सूर्यादि दूसरे देवोंके अंश भी उसीके साथ यहांपर आए हैं। वैदिक धर्मका उद्देश्य यही है कि सभी देवोंका यह मंदिर सचमुच 'देवोंकाही मंदिर' बने और राक्षसोंके हाथमें यह कभी न जाये। इसीलिए इन मंत्रोंमें ये उपदेश दिये गये हैं। यह समझकर तथा उनपर मनन करके प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर विद्यमान इन दैवी शक्तियोंका अनुभव लेकर दिव्य वायुमंडलमें निवास कर यशस्वी बने।

धारक शक्ति

यह आत्मा सूर्यादि देवोंको यहांपर ले आती है, अपने अस्तित्वभर उन्हें यहांपर पकड रखती है और सभी शक्तियोंका धारण-पोषण करती है। अतः यह धारक शक्तियोंसे युक्त है। इसके निदर्शक निम्न मंत्रभाग हैं—

ध्रुवमसि। धर्त्रं असि। धरुणं असि। विश्वधा असि।

'तू स्वयंही ध्रुव अर्थात् स्थिर है, इसलिए तू दूसरोंको धारण करता है, तू (विश्व-धा) सबको धारण करनेवाला है।'

यदि हम देखें कि इस आत्माने इस शरीरमें पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश एवं सूर्य जैसे देवोंके अंश कैसे आकर्षित कर रखे हैं तो इसकी धारणक्षम शक्तिके कारण हमें अचंभा होता है। चूंकि इसके भीतर यह धारण करनेवाली शक्ति है इसीलिए यह अपना, कुटुम्बका, समाजका, राष्ट्रका और विश्वकुटुम्बका धारण-पोषण कर सकता है। अपने अन्दर विद्यमान धारणकर्त्री शक्तिको बढाकर यह समाजका धारण कर ले तो ठीक। जो यह जानता है कि अंतःशक्तिसे बाह्य दशाको उचित ढंगसे धारण किया जा सकता है वही भलीभांति अपनी धारक शक्तिको पहचान सकता है। वैदिक धर्मकी यही आकांक्षा है कि इस धारक शक्तिको जान लिया जाये और उसका अनुभव ले उसे बढाया जाये। इस शक्तिको बढानेके लिए ही वैदिक धर्मके नियम प्रवृत्त हुए हैं।

ज्ञान और वाक्‌शक्ति

मानवमें ज्ञान जाननेकी शक्ति है और उस प्राप्त ज्ञानको व्यक्त करनेके लिए वाक्‌शक्ति भी उसमें है। चूंकि वह

ज्ञानका ग्रहण कर सकता है, इसीलिए उसे उपदेश दिया है– 'तू ज्ञान प्राप्त कर।'

...ब्रह्म गृभ्णीष्व। चितः स्थ।

'तू ज्ञानको स्वीकार कर, क्योंकि तू चैतन्यशक्तिसे युक्त है।' जो चैतन्यवान् होते हैं वे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए तुम मानवोंको ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मानवोंकी बुद्धिमें यह ज्ञान रहता है और बुद्धिके अनुकूलही मनुष्य बनता है। इसे बतलानेके लिएही निम्नमंत्रमें कहा है–

पर्वती धिषणा असि। पार्वतेयी धिषणा असि।

'तू पृष्ठवंशरूपी पर्वतमें रहनेवाली बुद्धि है।' अर्थात् जैसे मस्तिष्कमें और समूची रीढमें विद्यमान मज्जा–केन्द्रोंमें बुद्धि रहती है वैसे तू है। तेरी योग्यता बुद्धिके अनुपातमेंही है क्योंकि जैसी बुद्धि होती है वैसा ही मनुष्य बनता है। मस्तिष्कमें व्यावहारिक बुद्धि और पृष्ठवंशमें नैसर्गिक बुद्धि रहती है। यह बुद्धि जिस अनुपातमें न्यूनाधिक होती है उसी अनुपातमें मानवकी योग्यता घटती बढती है। इस कारणसे उत्तम ज्ञान प्राप्त कर मानव अपनी योग्यता बढाये। संगृहीत ज्ञान दूसरोंको देनेके लिए वाक्शक्तिका बडा उपयोग होता है। इस विषयमें देखिए—

वाचः विसर्जनम्। मधुजिह्वः असि। इषं ऊर्जं आवद।

'हे मानव! (वाचः) भाषण करनेका (विसर्जनं-विशेषेण सर्जनं) वक्तृता देनेका गुण तुझमें है। यदि तू चाहेगा तो तू मीठा भाषण करनेवाला भी बन सकता है। इसलिए सबको उस ज्ञानका तू उपदेश कर कि जिससे जनताको अन्न पानेमें और बल बढानेमें सहायता मिल सके।'

वेदका उपदेश है कि इस भांति मानव अपनेमें विद्यमान ज्ञानका, बुद्धिका एवं वक्तृत्व–शक्तिका उपयोग करे। सब मानवोंको पर्याप्त मात्रामें अन्न मिले और उनका कायिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक बल भी बढे। इसके लिए समाजके वक्तृता गुणयुक्त पुरुषोंपर उत्तरदायित्व आता है। वेदने समाजके नेताओंको यों उपदेश देकर उन्हें अच्छी तरह जागृत किया है। वक्ता लोग इस उपदेशको ध्यानमें रखें और अपने उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यको जानकर मिठास-भरी वक्तृतासे जनताको ऐसे पथपर चलनेके लिए प्रोत्साहित करें कि उसे पर्याप्त अन्न यथेष्ट मात्रामें मिले तथा उसका बल भी संपूर्णतया बढे। इस प्रकार सार्वजनिक कल्याणके लिए कार्य करते समय यदि स्वार्थपरायण लोग भय दिखलाने लगें तो उनसे डरनेकी आवश्यकता नहीं। इस विषयमें वेदका कथन देखिए—

निर्भयता

मा भेः। मा संविक्थाः।

हे मानव! तू भयभीत न बन और अपने [लोक-जागृतिके सत्कार्यसे] पीछे पैर न हटा।'

तुमने जो आन्दोलन प्रवर्तित किया है कि जनताके प्रत्येक व्यक्तिको यथेष्ट अन्न मिले और सब बलिष्ठ बनें, उसका विरोध करनेवाले भलेही तुम्हें डरानेका प्रयत्न करें लेकिन तुम न डरो, क्योंकि तुम्हारा सत्पक्ष है और जो पुरुष अच्छे पथपर चलता हो उसका सहायक परमात्मा है। यह बात ध्यानमें रखकर अपना सदुपदेशका कार्य प्रचलित रखना चाहिए। ध्यानमें रहे कि तुम सभी लोगोंके उच्च कोटिके पुरुषार्थपरही तुम्हारे लोगोंका सुख तथा कल्याण निर्भर है और इसलिए तुम्हें भांतिभांतिके प्रयत्न करने चाहिए। कुछ दिशा दर्शानेके लिए देखिए—

अनमीवाः। अयक्ष्माः। प्रजावतीः (प्रजाः)।

'हे मानव! तुम्हें आवश्यक है कि तुम आरोग्यसंपन्न तथा स्वस्थ बनो और अच्छी संतान उत्पन्न करो।'

रोगरहित बननेके लिये, स्वास्थ्य संपादन करनेके लिये और पश्चात् अच्छे संस्कारोंसे युक्त संतानके उत्पादनके लिये मानवोंको चेष्टा करनी चाहिए। यदि चारों ओर रोग बढने लगे, सबको किन्हीं अंशोंमें भूखों रहना पडे और यह हालत दिनप्रतिदिन घटनेके बजाय बढती रहे तो निस्सन्देह तुमने अपने कर्तव्यके पालनमें भूल की है। इस-लिये इस कर्तव्यको निभाना अत्यन्त अनिवार्य है। इसका मतलब यह है कि—

आप्यायध्वम्।

'तुम सभी अपनी सर्वांगीण प्रगति करो।' जिसे मानवी प्रगति कहते हैं उस संबंधमें तुम अविरत एवं अबाध रूपसे आगे बढो। इसके लिए तुम पूरी तरह ठान लो कि —

अघ्न्याः (प्रजाः)। स्तेनः नः मा ईशत। अघशंसः वः मा ईशत।

'तुम्हारी यह योग्यता नहीं कि हत्याद्वारा तुम्हारा नाश हो अर्थात् तुम सदैव बढनेयोग्य हो, इसलिए तुमपर शासन करनेवाला चोर या पापी न हो।' चोर या पापिष्ठ मानवकी छत्रछायामें तुम न रहो और अगर ऐसे पुरुष तुमपर शासन चलाये तो तुम उसे विनष्ट करो, क्योंकि ऐसे डाकू या पापीके शासनप्रबंधमें तुम्हारी उचित बृद्धि होगी, यह

सुतरां असंभव है। इसलिए चोरोंके शासनप्रबंधमें रुकावटें डालना तुम्हारे लिए आवश्यक है। तुम—

इन्द्राय भागम्।

'राजाको अपने उत्पादनका भाग करके दो।' पर जो नरेश डाकू या पापी न हो और तुम्हारी सच्ची उन्नति करनेमें सहायता प्रदान करता हो उसीको करभार देना चाहिए। यदि राजा और उसका शासन इस तरहका न हो तथा यदि वह लूटखसोट एवं पापपर अधिष्ठित हो तो कर देनेसे रोकनाही अच्छा है, क्योंकि यह तुम्हारा अधिकार है। राज्यशासनकी बुराई रोकनेके लिए यही एकमेव उपाय है।

'विशि राजा प्रतिष्ठितः' (वा० य० २०।९)

यजुर्वेदनेही आगे चलकर उपदेश दिया है कि राजा प्रजाके सहारे रह सकता है, प्रजाके सहयोगके कारण राजाको स्थिरता प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रजाका सहयोग नष्ट होनेपर राजा सिर्फ अपने बलके आधारसे टिक नहीं सकता। इसीलिए कहा है कि 'तुम चोरों एवं पापियोंके शासनमें न रहो' और ऐसे कहनेका सीधा मतलब है कि इस भांति जो राज्यशासन चलता हो उससे असहयोग करना चाहिए।

मातृभूमिकी भक्ति

जिस स्थानपर मानवका वंश जन्म लेकर पुष्ट हुआ हो वही उसकी मातृभूमि है। माताका दुग्ध जैसे पुत्रको मिलना चाहिए उसी प्रकार मातृभूमिसे मिलनेवाले भोग उसके पुत्रोंको मिलने चाहिए। निम्नलिखित मंत्रमें कहा है कि ये उपभोग कौनसे हैं—

सुक्ष्मा, शिवा, स्योना, सुषदा, ऊर्जस्वती, पयस्वती च असि।

'हे मातृभूमि! तू हमें बल देनेवाली, हमारा कल्याण करनेवाली, हमें आनन्द प्रदान करनेवाली और उठने-बैठनेके लिए विस्तृत स्थानसे युक्त ऐसी है। तुझमें खाने-पीनेकी चीजें मिलती हैं।'

चूंकि मातृभूमिसे ये चीजें मिल सकती हैं, अतः उसका महत्त्व सबको ज्ञात होना सुगम है और इसीलिए—

...जीवदानुं पृथिवी उदादाय धीरासः तां अनुदिश्य... स्वधाभिः... यजन्ते।

'...जीवन देनेवाली मातृभूमिके उद्धारके लिए धीरज रखनेवाले पुरुष उसको लक्ष्यमें रखकर... अपनी धारणा-शक्तियोंसे... आत्मयज्ञ करते हैं।'

मातृभूमिका उद्धार हो इस हेतुसे प्रभावित होकर देशके निवासी सभी धैर्ययुक्त एवं वीर पुरुष उस कार्यके लिए अपनी सारी शक्तियोंका समर्पण कर देते हैं। उनका क्या कथन है सो सुनिए।

त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म।

ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा भ्रातृव्यस्य वधाय उपदधामि।

'हे मातृभूमि! तुझसे एकरूप हो बर्ताव रखनेवाले हम बेशक शत्रुदलको परास्त करेंगे। तू ज्ञानयुक्त, शूरतासंपन्न तथा अपने ज्ञातिबांधवोंका हित करनेवाली है, इसलिए जो तुझसे विरोध करना ठाने उसे हम विनष्ट कर देंगे।'

मातृभूमिके भक्त मनमें ऐसे ख्याल करते हैं और चूंकि उनके दिलोंमें मातृभूमिके प्रति प्रेमकी नदी उमड आती है, अतः वे कर्तव्य कर्म पूरा कर प्रगतिशील बनते हैं।

बल

मातृभूमिकी सेवा करनी हो तो बलकी आवश्यकता है। यदि किसी पुरुषमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक बल न हो या न्यून मात्रामें हो तो उससे मातृभूमिकी सेवा होना असंभव है। इसलिए वेदके आदेशकी ओर ध्यान दीजिए—

इषे त्वा। उर्जे त्वा। वृंहस्व। परमेण धाम्ना वृंहस्व।

'अन्न एवं बल पानेके लिए तुम्हें प्रयत्न करने पडेंगे। तू सुदृढ बन और परम धाममें निवास करनेवाले परमात्माकी सहायतासे तू बलिष्ठ तथा सुदृढ बन।'

इस प्रकार वेदके उपदेशसे हमें शिक्षा मिलती है कि मानव बलिष्ठ बनकर जनतारूपी जनार्दनकी सेवा, एवं प्रगति करनेके लिए अपनी योग्यता बढावे। क्योंकि वैदिक धर्मकी दृष्टिसे देखनेपर—

धृष्टिः असि। घर्मः असि।

'हे मानव! तू धैर्यकी मूर्ति है और तू चेतना देनेवाला उष्णता गुणसे युक्त है।' ये मानवके स्वाभाविक गुण हैं, तो फिर वह क्योंकर घबरा उठता है? इस प्रश्नका यही उत्तर है कि अपनी प्रकृतिसिद्ध शक्तियोंके संबंधमें वह तनिक भी जानकारी नहीं रखता है, अतः उसे डर लगता है। वास्तवमें पाशविक शक्तियोंके बारेमें भयभीत होनेकी मानवको कुछ भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह चैतन्य-स्वरूप अज आत्मा है और उसकी शक्ति अदम्य है। वह तो स्वयंही—

धूः असि। द्विषतः वधः असि। सहस्रभृष्टिः शततेजाः तिग्मतेजाः असि। इन्द्रस्य दक्षिणः बाहुः असि।

' तू शत्रुदलको विचलित एवं उसका वध करनेवाला है। स्वयं एक तेजधारावाला हथियार है और सीधे इन्द्रका दाहिना हाथ खुदही है।'

यदि वीरके अंतःकरणमें धैर्य न हो तो सब शस्त्रास्त्रोंके रहनेपर भी वह कुछ नहीं कर सकता है और वे सभी हथियार निरुपयोगी ठहरते हैं। इसीलिए मनुष्यका अन्तस्तलही सबसे प्रभावशाली शस्त्र है और यदि इसमें धीरज हो तोही यह पराक्रम करनेमें सफलता पायेगा। मनकी तीक्ष्णतापरही शस्त्रोंकी शक्ति निर्भर है।

इस अध्यायमें उपर्युक्त प्रकारका उपदेश दिया गया है। अब हम इसी अध्यायमें बतलाये हुए दूसरे उपदेशोंका ख्याल करेंगे।

किसकी प्रेरणा ?

कर्म करनेके लिए मानवको कौन प्रेरित करता है और किसलिए वह प्रेरणा की जाती है, इस संबंधमें नीचे लिखे मंत्रभाग कहते हैं—

कः त्वा युनक्ति ? स त्वा युनक्ति।
कस्मै त्वा युनक्ति ? तस्मै त्वा युनक्ति।

' कौन तुम्हें कर्ममें जुडाता है ? वह तुम्हें काममें लगाता है। किसलिए वह तुझे कर्मके लिए प्रेरित करता है ? उसके लिए वह तुझे काममें लगाता है।'

ये मंत्रभाग बिलकुल धुंधले एवं अस्पष्ट हैं और इनके उपदेशको सुलझानेके लिए निम्नलिखित मंत्रभागोंपर सोचना उचित है—

भूताय त्वा। न अ-रातये।
उरु प्रथाः उरु प्रथस्व।

' प्रगतिके लिए तुझे पैदा किया है। शत्रुके हाथमें पडकर मृत्युके फंदेमें जाकर नामशेष होनेके लिए नहीं। इसलिये बहुतसा यश पाकर तू यशस्वी बन।'

वह परमात्मा यों प्रेरणाका सृजन करता है और यह प्रेरणा प्रत्येक मानवमें विद्यमान है। ऐसी इच्छा जो होती है कि अपनी उन्नति हो, अपना कल्याण तथा विकास हो, और जिस इच्छाके कारण मानव सब तरहकी चेष्टाएं करता है वह वास्तवमें परमात्माकी प्रेरणासे होती है ताकि मानव प्रगति कर ले। पर कई बार भ्रांतिमें पडकर वह (अरातये) शत्रुके हाथमें जा गिरता है और धोखा खाता है। मनुष्यमें यशस्वी बननेकी जो इच्छा है, वह भी परमेश्वरकी प्रेरणाके रूपमेंही प्रगतिके लिए पोषक ठहरती है। पर यह तभी हो सकता है जब कि मानव स्वयंही कटिबद्ध होकर प्रगतिके लिए अनवरत चेष्टा करेगा। मानव स्वयं ऐसा कर ले कि—

स्वः अभिविख्येषम्।

' मुझे आत्माका प्रकाश दीख पडे।' अपने अंतरात्माका प्रकाश प्रकट होनेके मार्गमें जो रुकावटें हों वे दूर हों। मनमें ऐसी विचारधारा दृढ हो जाय कि आत्म-शुद्धिद्वारा में अपने आत्मप्रकाशको व्यक्त करूंगा, क्योंकि इससे मन विषयगामी नहीं होता है और प्रगतिपोषक सभी आन्तरिक प्रेरणाएं उसकी सहायता करती हैं जिसके फलस्वरूप वह धीरे धीरे प्रगति करता है। पुरुषार्थ कर दिखलानेके लिएही मानवका सृजन हुआ है। देखिए—

कर्मणे वाम्। वेषाय वाम्।

' कर्मके लिए तुम्हें में प्रेरणा देता हूं, अपने घरकी ओर देखनेके लिए तुम्हें प्रवृत्त करता हूं।'

अपने पुरुषार्थों एवं प्रयत्नोंसे तुम्हें अपने घरकी हालत सुधारनी चाहिये। घरसे मतलब है शरीर, गृह, ग्राम, प्रान्त, देश, राष्ट्र, संसार सभी घर है। विस्तारकी दृष्टिसे घर छोटा या बडा कहा जा सकता है। व्यक्तिके अधिकारानुसार किसीका घर विश्वही होगा तो दूसरे किसीका घर उसीके चहारदीवारीके भीतर सीमित होगा। घर कैसेही क्यों न हो पर यह प्रत्येकका कर्तव्य है कि वह उसे शत्रुओंसे सुरक्षित रखे और उसकी हालतको बिगडने न दे। इसीलिए मानवको कर्म करने पडते हैं। प्रत्येक मनुष्य देख ले कि क्या वह अपना कर्तव्य कर्म भली भांति निभा सका या नहीं।

तुमने क्या किया ?

कर्तव्य करनेमें जागृत रहे, इसलिए निम्न मंत्रोंमें कहा है—

कां अधुक्षः ? सा विश्वायुः।
सा विश्वकर्मा। सा विश्वधायाः।

' मनुष्यो ! तुमने किसका दूध निचोडा है ? जो तुम्हारे घरमें (विश्व-आयुः) संपूर्ण आयुष्यरूपी धेनु है उसके दुग्धका सेवन कर तुमने क्या आयुष्य लंबा कर दिया है ? या (विश्वकर्मा) समूची कर्मशक्तिरूपी दूसरी जो गौ है उसका दूध निचोडकर तुमने पी लिया है और क्या तुम महान् पुरुषार्थी बन चुके हो ? अथवा (सर्वधायाः) वह सबको

×

धारण करनेवाली सामर्थ्यरूपी जो गाय तुम्हारे समीप है, उसके दूधके पीनेसे तुमने अपनी धारक शक्तिको बढाया है ?'

तुमने क्या किया है ? बिना इस कार्यके तुम्हारी प्रगति कैसे होगी ? जबतक तुम खुद बडी लगनसे प्रयत्न न करोगे तुम्हारी उन्नतिकी राहमें रोडे अटकाये जायेंगे। उठिए तथा अथक परिश्रम कीजिए, यज्ञको संपन्न कीजिए।

यज्ञका महत्त्व

सभी प्रकारकी दुर्बलताको हटाकर यज्ञ मनुष्यको प्रबल तथा प्रगतिमान बना देता है। मानव अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न करे अर्थात् वह यज्ञ कर लिया करे। यह बतलानेके लिए वेदमंत्र कहता है कि

अ-तमेरुः यज्ञः ।

' यज्ञ सुदृढता करनेवाला है । ' यज्ञकी सहायतासे ढीलापन विनष्ट होता है और शत्रुको रोकनेकी ताकत पाई जाती है। यज्ञका अर्थ है दूसरोंके लिए अपनी शक्ति अर्पण करना। यज्ञका प्रारंभ पहले अपने घरमें होता है। घरसे तात्पर्य है पति, पत्नी तथा बालकोंके रहनेका स्थान। पत्नीके लिए पति अपनी शक्तिका व्यय करके आत्मत्याग करता है, पत्नी भी अपने पतिके लिए अपने सामर्थ्यानुसार यज्ञ करती है और जिस समय मातापिता बालबच्चोंके लिए तथा बालक भी पितरोंके लिए आत्मसमर्पणद्वारा यज्ञ करते हैं तभी गृहमख सम्पन्न हो जाता है। जबतक यह यज्ञ प्रचलित रहता है तभी-तक घरका यश वृद्धिगत हो गुञ्जायमान हुआ करता है, लेकिन अगर परस्पर मनोमालिन्य बढनेसे प्रत्येक स्वार्थी हो तो निश्चित समझना चाहिए कि गृह नामसे विख्यात शक्ति विलुप्त हो चुकी है। त्यागका यही नियम सारे संसारके सुप्रबंधको समान रूपसे लागू हो जाता है।

शरीरके सभी अंगोपांग जबतक समूचे शरीरके सुचारु संचालनके लिए प्रयत्न करते हैं, तभीतक शरीरका स्वास्थ्य अक्षुण्ण बना रहता है; वैसेही घरके सभी लोग जबतक घरके सुयशके लिए चेष्टा करते हों तबतक परिवारमें शक्ति निवास करती है। राष्ट्रके बारेमें भी ऐसाही समझना उचित है। 'पूर्णके लिए अंशका आत्म-बलिदान या आत्मसमर्पणही यज्ञ कहलाता है' और इसी यज्ञपर सबकी प्रगति, सुस्थिति एवं बलिष्ठता निर्भर है। इस यजुर्वेदमें जनताको इस भांति तरहतरहके यज्ञोंकी आयोजना बतलायी हुई है। यही श्रेष्ठ कर्म और इसी उन्नतिको सहायता पहुंचती है।

आत्म-शुद्धि

श्रेष्ठ कर्म करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम शुद्ध बनें या हों। यह विशुद्धता कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक रूपमें विविध प्रकारकी हो सकती है। यदि मन शुद्ध न हो तो कोई भी कार्य भली भांति नहीं हो सकता है और इसी तरह अन्य स्थानोंमें मैला हो तो भी श्रेष्ठ कार्य करना असंभव हो जाता है। इसीलिए स्पष्टतया कहा है कि—

दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम् । देवयज्यायै शुन्धध्वम्

यत् वः अशुद्धाः पराजघ्नुः तत् वः शुन्धामि ।

' दिव्य कर्म करते समय शुद्ध बनो। देवोंका यजन करना हो तो शुद्ध बन जाओ। यदि तुम अशुद्ध रहोंगे तो तुम्हें मुंहकी खानी पडेगी, इसलिए शुद्धताका ख्याल रखो।'

यहां सूचना दी गयी है कि मलिनतासे पराजय हो जाता है और विजय विशुद्धतापर निर्भर रहती है। यदि उच्च श्रेणीका कर्म करना हो तो प्रथम विशुद्ध बन जानेकी ओर ध्यान देना चाहिए। ये सभी उपदेश मनन करनेयोग्य हैं। सार्वजनिक कार्यमें निरत मनुष्य कभी कभी मोहजालमें फंस-कर बुरे मार्गपर चलने लगते हैं और इसका कारण यही है कि उनके भीतर कुछ न कुछ मलिनता रहती है। जिस पुरुषका अंतस्तल विशुद्ध हो उसपर मोहका कुछ भी प्रभाव नहीं पडता है। अतः आत्मशुद्धिकी आवश्यकता है, जिसपर यों बल दिया है—

मा ह्वाः ।

' कुटिल न बनो। ' जो भी कुछ करना हो सरलतापूर्वक करो। उसी प्रकार—

अहं अनृतात् सत्यमुपैमि ।

व्रतं चरिष्यामि, तत् शकेयं, तत् मे राध्यताम् ।

' मैं असत्यका त्याग कर सत्यके निकट पहुंचता हूं। मैं इस व्रतका पालन करूंगा। यह मेरे लिए सुगम हो और इसमें मुझे यश मिले। '

मानव इस सत्यके पालनरूपी प्रतिज्ञाका अंगीकार करे। ऐसी प्रतिज्ञा करके उसे निभानाही आत्मशुद्धिका सरल मार्ग है। सत्यनिष्ठ पुरुषही निर्दोष बनता है और श्रेष्ठ कर्मके द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करता है। ऐसा बर्ताव रखकर—

पृथिव्यां दृर्याः दृंहन्ताम् ।

' भूमिपर विद्यमान सभी घर तथा द्वार सुदृढ हों। ' ऐसा प्रबंध करो कि किसी भी बाजूसे शत्रु भीतर प्रवेश न पाये और तुम सुखपूर्वक वहांपर रह सको। व्यर्थही जैसे तैसे रहना नहीं किन्तु पूर्ण आयु पाकरही रहना चाहिए। इस-लिए कहा है—

विश्वायुः (असि) ।

आयुषे दीर्घां प्रसितिं अनु धाम् ।

' तू पूर्ण आयुवाला है, तुम्हारे लिए जीवनकी लम्बी मर्यादा मैंने रख दी है। '

अर्थात् पूर्णायु पाकरही यहां रहना चाहिए, शुद्ध बनना चाहिए और श्रेष्ठतम कर्म करते हुए अभ्युदय तथा निश्रेयसकी प्राप्ति करनी चाहिए। प्रथम अध्यायमें दिये हुए प्रमुख उपदेशोंका सार यों है। इसमें अन्य उपदेश भी बहुतसे पाये जाते हैं। सब मिलाकर कुल १८९ उपदेश हैं। पुनरुक्त उपदेशोंको अलग करनेपर लगभग १५० अच्छे उपदेश पाये जाते हैं और यदि मननपूर्वक इन्हें कार्यरूपमें परिणत कर लें तो इहलोक एवं परलोक दोनों दृष्टिसे मानवोंका अच्छा कल्याण होगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इस उपसंहारमें कुछ उपदेश लेकर उनमें विद्यमान सुसंगति दर्शानेका प्रयत्न किया है। शेष मंत्र योंही छोड दिये हैं। इसी प्रकार किन्हीं स्थानोंमें मंत्रके कुछ शब्द जान-बूझकर हटा दिये हैं और अर्थ करते समय मतलब सुगमतासे ध्यानमें आजाये इसलिए कुछ पूर्वापर संबंध बतलानेके हेतुसे अधिक शब्द जोडकर अर्थ दिया गया है। यदि शब्दशः अर्थ जानना हो, तो मंत्रोंके अंकोंपरसे, पहले जो अर्थ दिया गया है वह पाठक देख सकते हैं। क्रमांकोंकी सहायतासे तुरन्त ध्यानमें आयेगा कि किस मंत्रमें ये मंत्र-विभाग हैं। पाठक इन सूचनाओंको ध्यानमें रखकर इस विवेचनसे लाभ उठायें और अध्यायके आध्यात्मिक तात्पर्यको ठीक समझ लें।

'दर्शपूर्ण-मास' नामक याज्ञिक विषयपर अब कुछ चर्चा करना उचित जान पडता है।

दर्शपूर्ण मास

यह प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा सोलह कलाओंसे युक्त है। ऐसा माना जाता है कि जीवात्माकी भी सोलह कलाएँ हैं। इस दृष्टिसे वैदिक साहित्यमें एकको दूसरेकी उपमा दी जाती है। जैसे प्रतिपदाके दिन चन्द्रमा बिलकुल छोटा दीख पडता है पर आगे बढता बढता वह पूर्ण सोलह कलाओंसे युक्त बन जाता है और पश्चात् धीरे धीरे कलाएँ घटने लगती हैं जिसके फलस्वरूप वह अदृश्य हो जाता है।

मानवकी आत्मा भी स्वयं 'अज' रहनेपर भी शरीरके साथ जन्मता है, पश्चात् उसका शरीर युवावस्था एवं बुढापा तै करता हुआ अंतमें विनष्ट होता है। अपनी आत्माकी सोलहों कलाओंका विकास होनेके लिए मनुष्यको यथेष्ट परिश्रम उठाना पडता है।

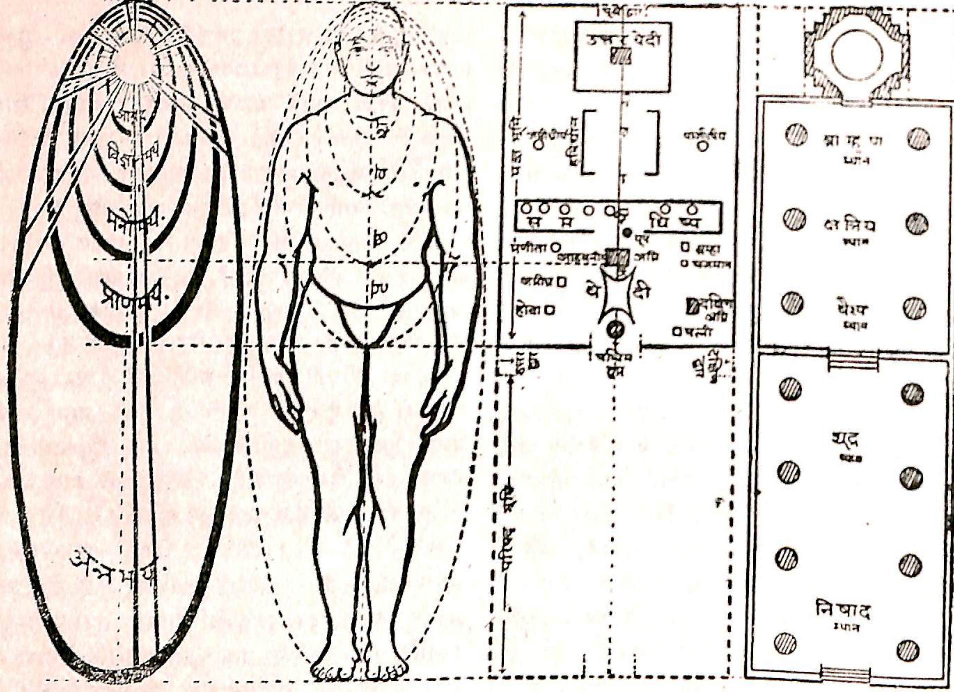
सोलह कलाओंकी वृद्धिकी यह समानता चन्द्रमा एवं मानवी शरीरमें देखनेयोग्य है। इसी सादृश्यके कारण अध्यात्ममें प्रतीयमान वृद्धिका एक अखंड नियम दर्शानेके लिए वेदमें चन्द्रमाकी उपमा दी गयी है। मनुष्यका पुनर्जन्म कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए वेदमें कहा है कि 'चन्द्रमाके समान मानवका पुनर्जन्म होता है।' जिस प्रकार प्रत्येक मासमें चन्द्रमा जन्मता है, बढता है और अदृश्य हो जाता है, वैसेही मानव भी जन्मता है, वृद्धिगत होता है और मृत्युवश हो जाता है। मृत्युके उपरान्त चन्द्रमाकी पुनरुत्पत्तिके समानही मानवका पुनरुत्पादन होता है।

दर्शसे पूर्णिमातक और पूर्णिमासे फिर दर्शतक चन्द्रमाकी जो वृद्धि तथा क्षीणता होती है, उससे मानवकी वृद्धि तथा क्षीणताका ज्ञान हो जाता है और यह दर्शानेके लिए 'दर्श-पूर्ण मास' यागका प्रयोग निर्धारित किया गया है।

मानवी शरीरकी रचना देखकरही यज्ञके मंडपकी रूपरेखा खींच दी गयी है। जैसे मानचित्रमें देशके प्रान्तोंके चित्र दर्शाये जाते हैं और उसमें देशस्थ पर्वत, नदी, ग्राम, प्रान्त देखकर समझ लेना पडता है कि अपने देशमें प्रान्त, ग्राम, नदियां और पर्वत कहां कहां तथा कैसे कैसे हैं। जैसे कंठस्थ करनेके लिए मानचित्र तैयार नहीं किया जाता है पर देशके विभागोंकी जानकारी पानाही उसका उद्देश्य है, ठीक उसी-प्रकार, यज्ञका मंडप, यज्ञके विभिन्न अग्नि तथा हवन-कुण्ड इत्यादि सभी इसलिए बनाये जाते हैं कि उनसे पता लग जाय मानवी देहमें विद्यमान आन्तरिक गूढ तत्त्व कैसे और कहां हैं एवं उनका परस्पर संबंध कैसे है। जो इस तत्त्वसे परिचित होगा वही यज्ञके सिद्धान्तको जान सकेगा और जो यज्ञयागके इस आध्यात्मिक पहलूको नहीं पहचानेगा वह यज्ञके प्रमुख सिद्धान्तको दुरूह पायेगा। इस संबंधमें अधिक विवेचन क्रमशः आगे किया जायेगा, परन्तु यहांपर अत्यन्त संक्षेपमें तनिकसा यज्ञका आध्यात्मिक स्वरूप दर्शायेंगे। आगे पृष्ठ ४६ पर जो चित्र दिया गया है, उससे चतुर पाठकोंके ध्यानमें यह बात सुगमतया आयेगी। यहांपर यह कोष्ठक भी देखिए—

यज्ञके विभाग	शरीरके अवयव
यज्ञ-मंडप	मानवी शरीर
मुख्य अग्नि	आत्माग्नि
अन्य अग्नि	पंचप्राणाग्नि, पंचाग्नि
आहवनीयाग्नि	जाठर अग्नि
गार्हपत्याग्नि	प्रजननेंद्रिय, प्रजननाग्नि
ऋत्विज	इन्द्रियगण
शतक्रतु करना	सौ वर्ष धर्माचरण करना।

इस ऊपर दिये हुए कोष्ठकसे और चित्रपरसे यह बात विशद हो जायगी कि हममें कौनसे आध्यात्मिक तत्त्व अंत-र्निगूढ हैं एवं उनकी जानकारी करा देनेके लिए साधारणतया यज्ञमें कैसी आयोजना की गयी है।



इस प्रथम अध्यायमें इससे अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अगले प्रत्येक अध्यायमें इसी यज्ञके संबंधमें विभिन्न विभाग आनेवाले हैं और उनकी चर्चा उस अवसरपर की जायगी। यह तो उसकी केवल भूमिका मात्र है।

इस यज्ञके सिद्धान्तसे परिचित होनेपर पाठकोंके ध्यानमें आयेगा कि क्योंकर इस अध्यायमें 'तू ऐसा है, इसलिए ऐसा कार्य तुझे करना चाहिए' इस तरह उपदेश दिया है। प्रथम मनुष्यके अंतर्गत शक्तियोंका परिचय करा देनेपर पश्चात् उससे विशिष्ट कार्य करनेके लिए कहना ठीक है, क्योंकि इससे अंतःशक्तियोंका ज्ञान हो जाता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यही प्रमुख उद्देश्य है। देखिए न --

पवित्रं असि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्।

'तू स्वयं पवित्रताका साधन है, इसलिए देवोंके कार्य करते समय तू पवित्र बन।' तू पवित्र बन सकता है, तुझमें पवित्र हो जानेकी क्षमता है, इस कारण तू शुद्ध हो जा। इस सब वर्णनका प्रमुख आशय यही है कि साधक अपनी अध्यात्मशक्तियोंसे परिचित हो और उनके विकासार्थ वह अनुष्ठान कर सके। अध्यात्म-ज्ञान देनाही यहां प्रमुख उद्देश्य है। इसीलिए कहा है कि—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। (कठोप० २।१५)

'जिस पदका वर्णन सभी वेद करते हैं' वही पद सबको अभीष्ट है, वही अध्यात्म है, सभी वेदवाक्योंका यही एक ध्येय है। जो यह जानता हो वही वेद समझ सकता है और यह न जाननेपर समझना चाहिए कि वह वेद जाननेमें अक्षम है। उसी प्रकार—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (भ. गी. १५।१५)

'सभी वेदोंके द्वारा 'मैं' ही ज्ञात होनेयोग्य हूं।' यह स्पष्ट है कि समूचा वेद अपनी आत्मिक या अपने अन्दर विद्यमान शक्तियोंकाही वर्णन करता है क्योंकि प्रत्येक साधकको उपर्युक्त 'अहमेव (मैंही)' शब्दोंसे सूचित अनुभूतिकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इस तरह गीता एवं उपनिषद्में सुसंगति दीख पडती है और वेदमंत्र भी यही उपदेश करता है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। (अ. १०।७।१७)

'जो मानवमें विद्यमान ब्रह्मको जानते हैं, वे परमेष्ठी-रूप प्रजापतिको जान लेते हैं।' इस अथर्ववेदके शब्दोंमें भी यही कहा है कि मानवमें अंतर्निगूढ ढंगकी जो सुप्त ब्रह्म-शक्तियां हैं उन्हें जान लेना चाहिए और वेदमें उनका वर्णन उपर्युक्त ढंगसे किया है।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[1] वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि[2] बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[3] ॥ १ ॥

---

[३२] (आ- ख- रे- ष्ठः कृष्णः असि) स्वर्ग देनेवाले कर्म में सब प्रकारसे स्थिर रहनेवाला तू सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला है (अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि) अग्निके लिए उपासक हुए तुझको मैं पवित्र करता हूं। (वेदि असि) तू ज्ञानी अथवा यज्ञ स्थान है। (बर्हिषे जुष्टं त्वा प्रोक्षामि) यज्ञके लिए सिद्ध हुए तुझे पवित्र करता हूं। (बर्हिः) तू यज्ञ है, (स्रुग्भ्यः जुष्टं त्वा प्रोक्षामि) स्रुचाओंके लिए प्रीति करनेवाले तुझे मैं पवित्र करता हूं ॥ १ ॥

' ख ' नाम स्वर्गका है । ' ख ' शब्दके दूसरे अर्थ ये हैं- सूर्य, आकाश, इन्द्रिय, सुख, कर्म, ज्ञान, ज्ञानी, नगर, क्षेत्र, शून्य (अनन्तका चिन्ह) । यहां इसका अर्थ स्वर्ग अथवा सुख है। ' र ' का अर्थ ' प्रदान करना, देना ' है। ' रा-दाने ' इस धातुसे यह शब्द बना है। ' ख-र ' का अर्थ होता है ' सुख देनेवाला कर्म ।' जिससे सुख होता है, ऐसा शुभ कर्म ' ख-र ' नामसे वेदमें प्रसिद्ध है। ' आ-ख-र ' पदोंका अर्थ है सुखसे प्राप्त होने तक जिनकी मर्यादा है, वैसे कर्म । ' आ ' का का अर्थ है मर्यादा । यहां उन कर्मोंकी मर्यादा कही है कि जिनसे सबका सुख बढे, सबको सुख प्राप्त हो, उन कर्मोंका नाम ' आ-ख-र ' है। ' स्थ ' का अर्थ है रहनेवाला। इसप्रकार ' आ-ख-रे-स्थः ' का अर्थ हुआ कि जो कर्मकर्ता स्वर्ग प्राप्त करनेके अथवा सबका सुख बढानेके कर्मोंकी मर्यादामें ही अपने आपको रखता है। इन शुभ कर्मोंकी मर्यादासे बाहर अपने आपको जाने नहीं देता। सदा शुभ कर्मही करता रहता है, और शुभ कर्मोंकी मर्यादाके अन्दर रहकर नाना प्रकारके पुरुषार्थ करता है। यज्ञ ही शुभ कर्म है। यज्ञ कर्मोंकी मर्यादामें रहकर सर्वदा यज्ञीय कर्म ही करता है, यह इसका तात्पर्य है। इस तरहके सुखो-त्पादक प्रशस्ततम कर्म करनेवाला ' कृष्ण ' अर्थात् ' सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला ' होता है। प्रशस्ततम शुभ कर्ममें यह बल है कि वह सबको अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। जहां शुभ कर्म होता है, वहीं सब शुभ शक्तियां आकर्षित होती हैं।

' कृष् ' धातुका अर्थ ' खींचना, हल चलाना, सेना संचालन करना, प्रभुत्व करना, समर्थ होना और प्राप्त करना ' है। अर्थात् ' कृष्ण ' का अर्थ ' (१) अपनी ओर सबको खींचनेवाला, (२) भूमिको बीज बोने योग्य बनाने के लिए हल चलानेवाला, (३) सेनाका संचालन करनेवाला, (४) सब पर प्रभुत्व स्थापित करनेवाला ' है। जो पूर्वोक्त प्रकार शुभ और प्रशंसनीय कर्म करता है, वह सबको अपनी ओर आकर्षित करता है, सबको यथायोग्य मार्गसे चलाता और उन्नति की ओर ले जाता है, अपना अपना प्रभुत्व स्थापित करता है।

जो उन्नत होनेकी इच्छा करता है, वह शुभ कर्म करे, सबका सुख बढानेवाला पुरुषार्थ करे और अपने सत्कर्मोंसे सबको अपनी ओर आकर्षित करे। यज्ञके अर्थ (१) देव पूजा, (२) संगति करण और (३) दान ये हैं। ये यहां संगत होते हैं। पूज्योंकी पूजा करे, सत्कार करने योग्यों का सत्कार करे, जनतामें संघटन करे और दानके योग्योंको दान देवे। ये शुभ कर्म करनेवाला अपनी धर्ममर्यादामें रह कर सबको अपनी ओर आकर्षित करता है।

' जुष् ' धातुका अर्थ है ' (१) सन्तुष्ट होना, (२) अनुकूल होना, (३) प्रीति करना, (४) भक्ति करना, (५) रहना, (६) बैठना, (७) पसन्द करना और (८) उपासना करना '। इसलिए जुष्टका अर्थ होता है- सन्तुष्ट, अनुकूल, भक्ति करनेवाला, उपासक, सत्कार करनेवाला। अग्नेय जुष्टं का अर्थ यह है कि- ' अग्निकी उपासनामें जिसे आनन्द प्राप्त होता है, जो अग्नि उपासना करता है, अग्निकी उपासनामें जो दत्त चित्त है।' अग्निमें यज्ञ किए जाते हैं, इन यज्ञ कर्मोंमें जो प्रेमसे दत्त चित्त रहता है, एक चित्तसे जो यज्ञ यागादि प्रशस्ततम कर्म करता है, उसे इन सत्कर्मोंके करनेके पूर्व पवित्र बनना चाहिए। ' शरीरकी तथा कपडोंकी पवित्रता जलसे होती है। सत्यसे मनकी शुद्धता होती है, विद्या और तपसे आत्मा की पवित्रता होती है और ज्ञानसे बुद्धिकी पवित्रता होती

है।' (मनु. ५।१०९) इनमेंसे यहां जलसे होनेवाली पवित्रताका साधन बताया है। यह प्रथम साधन है। यज्ञकी ओर प्रवृत्ति होते ही प्रथम जलसे अपनी शुद्धता करनी चाहिए। जिस तरह जलसे बाह्य शुद्धि होती है, उसी तरह आन्तरिक शुद्धि भी होती है और शरीरको पूर्णतया नीरोग बनानेमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार स्वयंको पवित्र करना ही प्रशस्ततम कर्म-यज्ञ-करनेकी पूर्व तैय्यारी है।

'वेदि' का अर्थ है- 'विद्वान्, पंडित, ज्ञानी, यज्ञका स्थान जहां अग्नि सिद्ध करके हवन किया जाता है, मन्दिर या राज मन्दिरका मुख्य स्थान, सरस्वती, भूमि।' हे कर्मकर्ता ! तू वेदि है अर्थात् ज्ञानवाला है और यज्ञका स्थान भी तू ही है। प्रशस्ततम कर्म ही यज्ञ है। इस यज्ञको ठीक तरहसे सिद्ध करनेके लिए पहिली आवश्यकता ज्ञानकी है। उत्तम ज्ञान अर्थात् सत्कर्म करनेका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और स्वयं भी यज्ञरूप बनना चाहिए। त्यागभाव, दानका भाव और यज्ञका भाव अपने मनमें हो तो सुखपूर्वक यज्ञ हो सकता है। मनमें यदि यज्ञ न हो, तो बाहरका यज्ञ भी नहीं हो सकता। इसलिए यहां कहा है कि हे यज्ञकर्ता ! तूही 'वेदि' है। तेरे अन्दर ही सच्ची वेदि है। तेरे अन्दरकी वेदि सिद्ध हो जाए, तो बाहरकी वेदि भी सिद्ध हो सकेगी। मानवमें दानका भाव जन्मसे है, इसलिए मानवही यज्ञ कर सकता है। पर संस्कारसे इसी दानभावको यज्ञमें परिणत कर देना चाहिए। इस तरह मानव जीवनकोही वेदिरूप बनाना चाहिए। जब मनुष्य स्वयं 'वेदि' बनता है, तब उसका जीवन ही यज्ञ होता है। मानव इस तरह उन्नत होगा, तब वह स्वभावसेही प्रशस्ततम कर्म करेगा। मनुष्य ज्ञानी बने और जहां यज्ञही होते हैं, ऐसी वेदिरूपी यज्ञभूमि बने। यह भाव मनुष्यमें है, वह स्वभावसे प्रकट होवे।

'बर्हिस्' का अर्थ है- 'यज्ञ, समर्पण, अग्नि, प्रकाश, तेज, जल, जीवन, आकाश, कुश घास।' यज्ञके लिए जो प्रेम रखता है, यज्ञके लिए जो आत्मसमर्पण करता है, उसका जीवन पवित्र होता है। यहां भी जलसे पवित्रता करनेका निर्देश है। प्रोक्षण जलसे होता है। जलसे शरीरकी पवित्रता होती है। शरीर, वस्त्र, स्थान आदिकी पवित्रता करनेका निर्देश यहां पर है। यज्ञके लिए समर्पित होते ही, स्थानशुद्धि, वस्त्रशुद्धि और शरीरशुद्धि करनीही चाहिए। यह शुद्धता होनेके पश्चात्‌ही यज्ञका प्रारंभ होता है। यज्ञके लिए सिद्ध हुए मानवकी पवित्रता होती है, यज्ञही इसकी पवित्रता करता है। यज्ञकी ओर प्रवृत्ति होतेही पवित्रता होना प्रारंभ हो जाता है। इस तरह यज्ञही पवित्रता करनेवाला है।

'बर्हिः' का अर्थ ऊपर दिया है। यज्ञ, समर्पण और कुश-घास ये इस पदके मुख्य अर्थ हैं। मानव स्वभावतः दानशील है। दानही यज्ञ है। अतः मानव यज्ञही है, ऐसा यहां कहा है। बर्हिः के पूर्वोक्त अर्थ यहां लेनेसे इसके निम्न अर्थ होते हैं-

'तू यह है, तू समर्पण अर्थात् दान करनेके स्वभाववाला है, तू प्रकाश है, तू तेजस्वी है, तू जलके समान शान्ति देनेवाला है, तू कुशघासके समान पवित्रता करनेवाला है।' मानव जन्मतः शुद्ध पवित्र और दानशील है, पर अपने प्रबल स्वार्थोंके कारण वह राक्षस बन जाता है। इसलिए वेद यहां सूचना देता है कि मानव स्वभावतः पवित्र है। उसको इसका ख्याल रखना चाहिए। कुश घाससे सब रस छाने जाते हैं, अतः कुश घास पवित्रता करनेवाला है। इसी तरह मानव पवित्रता करनेवाला है। मानव स्वयं पवित्र है, और इस स्थानको पवित्र करनेवाला भी है, अर्थात् इसके स्वभावमें स्वयं पवित्र बनने तथा अन्योंको पवित्र बनानेकी शक्ति है। मनुष्य अपने अन्दर इस शक्तिको बढाये। पर मनुष्य भूलसे अपनी इस शक्तिको न बढाता हुआ अन्य हीन भावोंको अपने अन्दर बढाता है। मनुष्य ऐसा न करे, यह सूचना यहां दी है।

'स्रुच्' अथवा 'स्रुचा' चमसका नाम है, जिससे यज्ञाग्निमें घी की आहुति डाली जाती है। अतः 'स्रुचा' यज्ञका या समर्पणका सूचक शब्द है। स्रुचा हाथमें पकडकर घृतकी आहुति यज्ञाग्निमें डालनेके कृत्यमें जिसका मन रमता है, उसे पवित्रता प्राप्त होती है। पवित्र बनकर वह यज्ञ करनेके योग्य बनता है, अर्थात् पवित्र बनकर वह यज्ञ ही करता है।

इन छे वाक्योंमें तीन बार 'जुष्टं त्वा प्रोक्षामि' यह वाक्य आया है। 'यज्ञमें प्रेम रखनेवाले तेरी पवित्रता करता हूं' यह वाक्य तीन बार यहां कहा गया है। पवित्र होकर यज्ञ करना और यज्ञसे पवित्र होना, ये दोनों भाव परस्पराश्रित हैं। मनुष्य यज्ञ करनेके लिए पवित्र बने और वही यज्ञ करते करते यज्ञसे भी पवित्र होता जाए। यही होता है।

सुख बढानेवाले सत्कर्म करनेके लिए, सब मनुष्योंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए अर्थात् यज्ञ करनेके लिए स्वयं अत्यन्त पवित्र बननेकी अत्यन्त आवश्यकता है। यही इसके तीनबार दुहरानेसे सिद्ध होता है। हे मनुष्य! यदि तू यज्ञ करके अपनी उन्नति करना चाहता है, तो पहले तीन बार अपनी पवित्रता करो। संक्षेपसे यह आदेश यहां है॥ १॥

अदि॑त्यै॒ व्यु॒न्दन॑मसि॒[1] विष्णो॑ स्तु॒पो॒ऽस्यू॒[2]र्णम्र॑दसं त्वा स्तृणामि स्वास॒स्थां दे॒वेभ्यो॒[3] भुव॑पतये॒ स्वाहा॒[4] भुव॑नपतये॒ स्वाहा॒[5] भू॒ताना॒ं पत॑ये॒ स्वाहा॒[6] ॥ २ ॥

[३३] (अदित्यै व्युन्दनं असि) अखण्डितताके लिये तू जल सिंचन रूप है । (विष्णोः स्तुपः असि) व्यापक देवकी तू रचना विशेष है । (देवेभ्यः स्वासस्थां ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि) देवोंके बैठनेके लिए उत्तम आसन बनानेके हेतु ऊन जैसे मृदुरूप तुझे मैं फैलाता हूं । (भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा) भूमिके पालनकर्ता, भुवनोंके पालनकर्ता और सब प्राणियोंके पालनकर्ताके लिए अपने सर्वस्वका समर्पण हो ॥ २ ॥

'दिति' का अर्थ है 'दीनता, खण्डितता, विभक्तता, टुकडे टुकडे होनेकी स्थिति।' पृथक् होना, विभक्त होना, परस्पर विरोध होनेका भाव इस पदमें है। यही दीनताका हेतु है। 'अ-दिति' का अर्थ है- 'अ-दीनता, अखण्डित रहना, अविभक्त होकर संघटित होकर रहना, संमिलित होना।' मानवोंके उत्कर्षके लिए अदिति अर्थात् अवि-भक्तता व संगठनकी आवश्यकता है। इसके बिना उन्नति अशक्य है। 'दिति' से दैत्य बने, दैत्योंसे विश्वमें झगडे बढते गए, दूसरी तरफ 'अदिति'से आदित्य बने और उनसे विश्वमें प्रकाशका मार्ग खुल गया, यज्ञ बढे, संघटन बढा, और उन्नति हुई। यह बातें पुराणोंमें दैत्यों और आदित्योंकी कथाओंसे प्रकट हो गई है। इसलिए 'दैत्यों' का परिणाम और 'आदित्यों' का परिणाम बतानेकी आवश्यकता नहीं है। इस मंत्रमें 'अदिति' का वर्णन है। 'प्रकाश, संघटना, और एकता' का सूचक यह पद है। मानवोंकी अदीनता इससे यहां बताई है। मानव दीन न बनें। सब मानव अदीन हों अर्थात् उनमें संघटना होकर वे प्रकाशके मार्गसे चलें, उत्कर्षके मार्गसे चलें। इस (अदित्यै) अदीनताकी सिद्धिके लिए, हे मानव ! तू (व्युंदनं असि) जलसिंचन करनेवाला है। एकताके लिए जलसिंचनकी क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है, मिट्टीके कण अलग-अलग रहते हैं, उस अवस्थामें उसका नाम धूली है, यह मृत्कणोंकी विभक्तावस्था है। थोडासा वायु इस धूलको उनकी विभक्तताके कारण सहजहीमें उडा देता है और उससे धूल इधर उधर फैंक दी जाती है, जिससे कुछ भी प्रशंसनीय कार्य नहीं हो पाता। मिट्टीकी 'दिति' अवस्था बननेसे यह नाश हुआ। उसकी 'अदिति' अवस्था बनानेके लिए (व्युन्दनं) जलका सिंचन करनेसे वह धूल गीली हो जाती है, इससे वे मृत्कण संघटित हो जाते हैं, और उससे ईंट, घडे, पात्र और मकान आदि बन जाते हैं। जलके सिंचन रूप संगठन होनेसेही ये कार्य बने। यह महत्त्व है, जलसिंचनका।

यहां यज्ञ करनेवाला मानव जल सिंचन करनेवाला, मिलान करनेवाला बनकर मानवसमाजकी अदीनता सिद्ध करता है। मानवमें सहजहीसे यह मिलान करनेकी प्रवृत्ति है। वह यहां बताई है। बिगाड करनेका जो भाव मानवमें दीखता है, वह मानवके मनकी विकृति है। मानवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अदीनताकी वृद्धि करनेके लिए जल सिंचन करनेकी है। मानवोंकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे यह उसका स्वभाव धर्म बढे और मानवजातिके उत्कर्षके लिए सहायक हो।

विष्णुका अर्थ है 'व्यापक देव, जो देव सर्वत्र व्यापता है, वह विष्णु है।' 'स्तुप' का अर्थ है- 'संचय, संघात, शिखा स्तूप, रचना विशेषसे बनाया स्तंभ आदि (जैसे बौद्धोंके स्तूप होते हैं), ढेर बनाना, ऊंचा बनाना।' 'शक्ति, बल, सांघिक बल।' मानव देह सर्वव्यापक ईश्वरकी एक विशेष रचना है। विशेष रचना करके यह दीपस्तंभ जैसी विलक्षण शक्तिवाली यह देह बनाई है। इस मानवी देहको देखकर उस परमात्माके रचना कौशल्यका पता लगता है। हे यज्ञ करनेवाले मनुष्य ! तू इस देहकी इस अपूर्वताको सदा स्मरणमें रख। तू क्षुद्र नहीं है, तेरे अन्दर बडी शक्ति है और तेरी यह मूर्ति परमात्माने विशेष कुशलतासे बनाई है। इसलिए यह जानकर इस जीवनका परम श्रेष्ठ सत्कर्ममें उपयोग करना तुम्हारा कर्तव्य है। असत्कर्ममें व्यर्थ खोनेके लिए यह शरीर नहीं है।

मनुष्यको अपने देहका महत्त्व प्रथम जानना चाहिए। इससे मनुष्य सदा सावधान रहेगा और अपनी हानि करने-वाले कुकर्मोंसे अपने आपको बचायेगा। सुख बढानेवाले सत्कर्म करने चाहिए, इनके लिए अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिए, और इसके लिए अपने शरीरका महत्त्व जानना चाहिए।

देवोंके लिए मृदु आसन बनाना है, वहां सब देव आकर आनन्दसे बैठें। (सु-आस-स्थां) उत्तम आसन बनने योग्य स्थान बनाना है, जहां आनन्दसे देव बैठ सकें, उन्हें

किसी तरहका कष्ट न हो। (ऊर्ण-म्रदसं) ऊन जैसी मुलायम होती है, वैसा ही मुलायम आसन हो, जो उस पर बैठनेवालेको न चुभे। हे सत्कर्मकर्ता ! तेरा जीवनही ऐसा उत्तम देवोंके लिए सुखासनरूप बने और वह अपना जीवन ही देवोंके लिए तू फैला। जिसे देखकर देव आकर आनंदसे वहां बैठें और तेरा जीवन यज्ञ सफल हो। मानव जीवन एक आयुभर चलनेवाला यज्ञ है। इस यज्ञमें देवोंका निवास होना चाहिए। वास्तवमें मानवी शरीरमें आंखमें सूर्य, मनमें चन्द्र, प्राणस्थानमें वायु, हृदयमें इन्द्र ये देव अंशरूपसे आकर रह रहे हैं। पर इनका प्रभाव एवं देवत्व इस शरीरमें बढना चाहिए। शरीरमें देवोंका साम्राज्य होना चाहिए। यद्यपि सब दैवी शक्तियां बीजरूपसे यहां हैं, तो भी संपूर्ण जीवनमें दैवीभावका पूर्णतया प्रकट होना महाकठिन कार्य दीख पडता है। इसलिए अपने देहस्थानमें देवोंके लिए सुखदायक मृदु आसन बनाने चाहिए। इसमें अपने जीवनको दैवी जीवनका सम्पूर्णभाव निहित है। जबतक कठोरता जीवनमें रहेगी, तबतक वहां देवोंका निवास नहीं होगा, अतः अपने जीवनको देवोंके निवास योग्य बनाना चाहिए। यह यज्ञकी तैय्यारी है। यह जीवन यज्ञकी ही तैय्यारी है।

यहांके शब्द समूह विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य हैं- (१) देवोंके लिए आसन स्थान, (२) देवोंके लिए सु-आसनस्थान (३) देवोंके लिए ऊर्णम्रद सु-आसन स्थान। मंत्रके पदोंसे ये तीन अवस्थायें दृष्टिगोचर होती हैं। 'आसस्थ', 'आसनस्थ' और 'आसनस्थान' एक ही बात है। देव अपने अपने आसनों पर बैठे ही हैं। सूर्य नेत्र रूपी आसन पर बैठा है, चन्द्र मनरूपी आसन पर बैठा है, वायु प्राणरूपी आसन पर बैठा हुआ है, अश्विनी देव नासिकामें बैठे हुए हैं, इन्द्र हृदयमें बैठा हुआ है, दिशायें कानोंमें अपना आसन लगाकर बैठी हुई हैं। इसी तरह अन्यान्य सब देवता इस स्थान पर अपना अपना आसन बिछाये बैठे हुए हैं। जैसे आसन उन्हें प्राप्त हुए हैं, वैसे ही आसनों पर वे बैठे हुए हैं। अतः प्रथम साधकको चाहिए कि वह इन आसनोंको सु-आसन बनाये। साधारण आसन उत्तम आसन बने। पश्चात् 'ऊर्णम्रद स्वासन' ऊनके गद्देके समान उत्तम आसन बनें। मृदु आसन बनें, मृदु और सुन्दर आसन बनें। इन मृदु आसनोंको पाकर प्रत्येक देव वहां आनन्दसे बैठे और अन्त तक वहीं स्थिर रहे। यहां गद्दोंके आसनोंका वर्णन है, अतः आंख, नाक आदिमें भी गद्दे हों, ऐसी बात नहीं है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि ये सभी इन्द्रियें देवोंके लिए सुखदायक आसनरूप बनें और सभी देव वहां सुखसे रहें। यदि आसन कष्टप्रद हों तो उन आसनों पर कोई भी बैठना नहीं चाहेगा। ये देव इस मानव जीवनरूपी यज्ञमें आकर बैठे हुए हैं। इन्हें यह यज्ञ यहां सौ वर्षतक चलाना है। शत सांवत्सरिक सत्रमें इन देवोंको सौ वर्ष तक बैठकर इस यज्ञका कार्य करना है। अतः ये आसन ऐसे होने चाहिए कि इन आसनों पर बैठकर ये देव १०० वर्ष तक इस यज्ञको चला सकें। सूर्य जिसके यज्ञके बीचमें ही उठकर चला जाता है, वह अन्धा हो जाता है। इसी तरह अन्यान्य देवोंके चले जानेसे शरीरमें अन्यान्य विकलतायें उत्पन्न हो जाती हैं। और उतने ही विघ्न इस यज्ञमें होते हैं, इसलिए यहां कहा है कि जो देव यहां आकर रह रहे हैं, उन्हें नरम और उत्तम आसन प्रदान करो। हे यज्ञ कर्ता ! (त्वा स्तृणामि) तू ही इन देवोंका आसन बन और अपने जीवन रूप आसनको अच्छी तरह खोल अथवा मैं आसनरूप तुझे फैला कर रखता हूं। ये देव यहां बैठें और शतसांवत्सरिक यज्ञ चलावें। बीचमें ही विघ्नके आ जानेसे यज्ञ अधूरा न रह जाए।

देव यहां मानवके जन्मके साथही आकर बैठे हैं। मनुष्यको उन्हे बुलाना नहीं पडता, और नाही उन्हें आसन देना पडता है। वह तो वे देव स्वयंही ले लेते हैं। मनुष्यको इतनाही करना होता है कि वह इन देवोंके आसनरूप इन्द्रियोंको अधिकसे अधिक उत्तम, सुन्दर, नरम और सुखदायक बनाए। यही अनुष्ठान है। इसीका दूसरा नाम आत्मसुधार है। आत्मपवित्रता भी यही है। इससे पूर्व जो (प्रोक्षण) पवित्रता करनेका विधान है, उसीसे यह अनुष्ठान बनता है।

भुवपतिः- भूमिका पालनकर्ता है। यह राजा है जो सबका यथायोग्य पालन करता है। 'भुवनस्पतिः' वह है कि जो बनी हुई सब वस्तुओंका यथायोग्य पालन करता है। यह भी राज्य प्रबन्धहीका वर्णन है। 'भूत' का अर्थ है प्राणिमात्र। पर यहां उस शब्दका विशेष अर्थ मनुष्य है और सामान्यार्थ सब प्राणी हैं। इनका जो अच्छी तरह पालन करता है, वह भुवनपति कहलाता है। इस पालनमें पालन, संवर्धन और रक्षण आदि सबका अन्तर्भाव हो जाता है। राज्य व्यवस्यासे यह सब होना चाहिए। राज्य व्यवस्था ठीक तरहसे चलानेके लिए जनतासे करका लेना आवश्यकही है, अन्यथा राज्यव्यवस्था नहीं चल सकती। इसलिए 'स्वाहा' शब्दसे बताया है कि "स्व+आ+हा' जो कुछ (स्व) अपने पास है, उसका (आ) पूर्णतासे (हा) त्याग करना, दान करना, अपना भाग राज्यप्रबन्धके लिए देना चाहिए। भूपति, भुवनपति और भूतपतिके लिए अपने

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः । मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः ॥ ३ ॥

[३४] (विश्वस्य अरिष्ट्यै) विश्वका विनाश न हो इसलिए [यज्ञ करना है]। (ईडे अग्निः ईडितः) वाणीकी पवित्रताके लिए अग्निकी प्रशंसा की है। (यजमानस्य परिधिः असि) यज्ञ करनेवालाकी सुरक्षा है। (विश्वावसुः गंधर्वः) सबको बसानेवाला गंधर्व (त्वा) तुझे (परि दधातु) चारों ओरसे धारण करे। (विश्वस्य अ-रिष्ट्यै) विश्वको सुरक्षित रखनेके लिए (ईडे अग्निः ईडितः) यज्ञमें अग्निकी स्तुति की गई है। (यजमानस्य परिधिः असि) तू यजमानका संरक्षक है। तथा (इन्द्रस्य दक्षिण बाहुः असि) इन्द्रकी दाहिनी भुजा है। (विश्वस्य अरिष्ट्यै) विश्वको सुरक्षित रखनेके लिये (ईडे अग्निः ईडितः) यज्ञमें अग्निकी स्तुति की गई है। (यजमानस्य परिधिः असि) तू यजमानका संरक्षक है। (मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा) मित्र और वरुण अपने अपने स्थिर धर्मके द्वारा (त्वा उत्तरतः परि धत्तां) तेरी उच्चतर साधनसे रक्षा करे ॥ ३ ॥

लाभका भाग (स्व+आ+हा) देना। इससे राज्ययंत्रका बल बढता है और उत्तम राज्य प्रबन्धके कारण हर एक व्यक्ति उत्तम यज्ञ आदि सत्कर्म करके सुखसे, आनंदसे शान्तिसे रहता है। इस तरह व्यष्टि और समष्टिका कल्याण होता है।

यहां पति शब्दसे राज्य व्यवस्थाका प्रजापालन रूप कर्तव्य बताया है। यह उसका अत्यावश्यक कर्तव्य है। यह प्रथम उसके प्रबन्धसे होना चाहिए। उसके बदलेमें प्रजा अपने उत्पन्नका कुछ भाग राजाके लिए समर्पित करे। यह एक राष्ट्रीय यज्ञ है। (परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ गी. ३।११) परस्परकी संभावनासे श्रेय लाभ होनेका जो भाव गीतामें कहा है, वही यहां है। यहां 'पतिके लिए स्व-समर्पण' अर्थात् जो पालन करता है, उसके लिए स्वकीय स्वत्वका समर्पण करता है। पालनके कार्यके लिए यह समर्पण है। जो पालन न करेगा, वह भी गिरेगा और जो पालनका लाभ उठाता हुआ भी उसके लिए कुछ समर्पण नहीं करेगा, वह भी गिरेगा ॥ २ ॥

इस मंत्रमें मुख्यभाग 'विश्वस्य अ-रिष्ट्यै' यह है। विश्वका-सबका विनाश न हो, सबकी सुरक्षा हो, इसलिए यह सब यज्ञकी प्रक्रिया करनी है। विश्वशान्ति, विश्वका उत्कर्ष अर्थात् सबका भला होनेके लिएही सब वैदिक यज्ञकी प्रक्रिया है। यज्ञका मुख्य हेतु यहां स्पष्ट शब्दोंद्वारा बताया है। यह मंत्रभाग यहां तीन बार आया है। यह त्रिवार अभ्यास यहां इसलिए किया है कि यज्ञका यह हेतु धार्मिकोंके मनमें स्थिर हो जाए। 'विश्वस्य अरिष्टिः' सबका भला करनाही यज्ञका साध्य है।

४

'इड्' पदके अर्थ ये हैं- आहुति समर्पण, वाणी, प्रार्थना, अन्न, भूमि, जल, वर्षा, जनता, प्रजा, भक्ति, भक्तिका विषय, उपास्य, देवता, जीवनीय रस, स्वर्ग। इस प्रकार ईडे का अर्थ होता है- सब लोगोंके हितके लिए, सबके जीवनके लिए, सबको अन्न प्राप्त होनेके लिए, वाणीकी पवित्रताके लिए, भूमिके लिए, अर्थात् इतनी बातोंकी सिद्धिके लिए अग्निकी स्तुति की जाती है। अग्नि देवताके स्तोत्रोंमें कौन कौनसे विषय हैं, इसका पता यहां लगता है। अग्निमंत्रोंमें ये विषय हैं। अग्निमंत्रोंसे ये विषय जानने चाहिए।

अग्नि यज्ञके लिए सिद्ध की जाती है और अग्निके स्तोत्र पढकर आहुतियां डाली जाती हैं। इससे यज्ञ होता है। पर आहुतिवाला यह यज्ञ एक प्रतीकमात्र है। यज्ञका वास्तविक उद्देश्य (विश्वस्य अरिष्टिः) 'सबका अविनाश, सबकी भलाई' है। सब मानवोंका हित, अर्थात् उनके लिए स्थान, अन्न, पान, आरोग्य, पवित्र भाषण, उच्च उपासना, श्रेष्ठ जीवन आदिकी प्राप्ति होकर सबको परम आनन्द मिले, यह यज्ञका हेतु है। अग्नि देवकी स्तुतिके मंत्रोंमें ये विविध विषय हैं, इसलिए यज्ञमें ये पढे जाते हैं।

इन्द्र नाम आत्माका है। आत्माही सब शक्तिका केन्द्र है। इन्द्र शक्तिका देवता है। इन्द्रका कार्य (इन् + द्र) शत्रुका नाश करना है। इन्द्र सब शत्रुओंको परास्त करता है। यज्ञ करनेवाला मनुष्य इन्द्रकी दाहिनी भुजा है। दाहिना हाथ बायें हाथकी अपेक्षा अधिक कुशलताके साथ कर्म करनेवाला होता है। जो मनुष्य यज्ञ करता है, वह सबसे श्रेष्ठ कर्म करता है, जिससे सबकी सुरक्षा होती है, सबका उत्कर्ष होता है। भू, भुवन और भूतोंका पालन होता है।

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ४ ॥

[३५] हे (कवे अग्ने) ज्ञानी अग्ने ! (वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं त्वा) समृद्धिके लिए यजन करनेवाले, तेजस्वी और बडे तुझको हम इस ((अध्वरे) हिंसारहित कर्ममें (समिधीमहि) प्रज्वलित करते हैं ॥ ४ ॥

जिस कर्मसे यह सब होता है, सबका कल्याण होता है, उस श्रेष्ठतम कर्मको करनेवाला इन्द्रका दाहिना हाथ होता है। यज्ञ करनेवाला सचमुच श्रेष्ठ है और श्रेष्ठ होता जाता है।

'विश्वा-वसुः' (विश्वस्मिन् सर्वस्मिन् प्रदेशे वसतीति विश्वा वसुः) सब विश्वमें व्यापनेवाला (गं-धर्वः गति धारक) गतिका प्रेरक जो परमेश्वर है, वह तेरे चारों ओर है, वह चारों ओरसे तेरी रक्षा करे। परमेश्वर सर्वत्र बसता है, इसलिए वही यज्ञकर्ताका उत्तम रक्षक होता है। सब स्थानसे प्राप्त होनेवाले भय वही सब ओरसे दूर कर सकता है। अन्य रक्षक तो एक प्रदेशसे रक्षा कर सकते हैं। पर जो 'विश्वा-वसु' है, वह सब प्रदेशोंमें रहनेके कारण सब ओरसे रक्षा कर सकता है।' 'गं-धर्व' वह है, जो (गं) गतिका (धर्वः) धारण करता है। जिसके आधीन सब गति होती है। जिसके अधीन सब गति होगी, वही सबकी रक्षा कर सकता है। यज्ञ करनेवाला सबसे श्रेष्ठ मनुष्य है, इसके प्रयत्नसे (विश्वस्य अरिष्टिः) विश्वका उत्कर्ष होना है। इसलिए इस यज्ञ कर्ता की सब ओरसे सुरक्षा होनी आवश्यक है। अतः यह कार्य इस तरह स्वयं 'विश्वव्यापक गतिमान् देव' करता है।

'मित्रावरुणौ' ये दो देव हैं। मित्र सूर्य है और वरुण चन्द्र। अथवा मित्र-वरुण 'वायु-आदित्य' भी हैं। वरुण जलतत्त्वका स्वामी है और सूर्य, आदित्य या मित्र अग्नितत्त्व का स्वामी है। गर्मी-सर्दीका यह द्वन्द्व है। सब विश्वको 'अग्निषोमीय' कहते हैं, क्योंकि इस द्वन्द्व पर ही इस विश्वकी स्थिति है। मित्रावरुणौ, सूर्याचन्द्रमासौ, अग्नीषोमौ, जलादित्यौ, रयिप्राण आदि सब पद इस द्वन्द्वके वाचक हैं। धन और ऋण शक्ति ही इस विश्वमें कार्य कर रही है। इस तरह सब विश्वके ये आधाररूप दोनों देव उच्चतर साधनोंसे यज्ञ कर्ताकी रक्षा करें। सब ओरसे ही रक्षा करें, यह आशय यहां है। 'उत्-तर-तः' शब्दका आशय यह है कि उच्चर साधनसे, उत्कृष्टतर साधनसे चारों ओरसे घेरें। 'परि धत्तां' क्रिया 'सब ओरसे घेरने' सब ओरसे रक्षा करनेका भाव बता रही है। इसलिए यहांका 'उत्-तर-तः' पद 'उत्कृष्टतर साधनसे, श्रेष्ठतर साधनसे' यह भाव बताता है। नहीं तो यहां इस पदका भाव केवल 'उत्तर-दिशा' ही माना जाए, तो 'चारों ओरसे घेरने' का भाव नहीं हो सकता। अतः 'उत्तरतः परिधा' का अर्थ 'उत्तम साधनोंसे चारों ओरसे रक्षा करना ही है।'

यज्ञकर्ता सबकी भलाई (विश्वस्य अरिष्टिः) करता है, इस लिए उसकी रक्षा चारों ओरसे तथा उत्तम साधनोंसे होना उचित ही है। यही भाव आगेके मंत्रभागमें है -

यज्ञकर्ता का (परि-धिः) चारों ओर से धारण अथवा उसकी सुरक्षा होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि इस यज्ञकर्ता के यज्ञरूप कर्म से 'भू, भुवन और भूतों' की भलाई होनी है, सबका हित होना है, इस जगत् को स्वर्गधाम बनाना है, अतः जो यज्ञ करता है, वह सब तरहसे सुरक्षित होना चाहिए। किसी भी स्थानसे उसे भय नहीं होना चाहिए। वह निर्भय होकर अपना यज्ञ निर्विघ्नता के साथ परिपूर्ण कर सके, ऐसी स्थिति उन्हें प्राप्त होनी चाहिए। निश्चित होकर यज्ञकर्ता अपना काम करे। यज्ञ करने के लिए निर्भय होना अत्यन्त आवश्यक है। रामलक्ष्मणने विश्वामित्र को निर्भय किया, तब वह ऋषि अपना यज्ञ निर्विघ्नताके साथ समाप्त कर सका। जिससे विश्वका कल्याण हुआ (वा. रामायण बाल. ३०)। इसी तरह यज्ञ करनेके लिए सुरक्षित होना चाहिए। प्रथम अध्याय में (प्रत्युष्टं रक्षः) राक्षसों का नाश बताया है। सुरक्षितताके लिए शत्रुओंका नाश अत्यन्त आवश्यक है। प्राणियोंका पालन और सबका उत्कर्ष तब सिद्ध होगा ॥ ३ ॥

यहां 'अग्नि' जड नहीं है, जो 'कवि' अर्थात् तीनों कालोंका ज्ञान यथावत् धारण करता है, अतीन्द्रियार्थोंको जो जानता है, वह अग्नि यहां अभीष्ट है। 'तत् एव अग्निः' (वा. य. ३२।१) इस मंत्रमें कहा है कि 'वह ब्रह्म ही यह अग्नि है।' यह अग्नि ब्रह्म ही है। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा आदि शब्द यहां एक अर्थवाले समझने चाहिए। इस परमात्माशक्तिका अग्निरूपसे प्रकटन यहां हुआ है। ऐसे परमात्मस्वरूप अग्निको हम यहां इस अग्निके रूपसे प्रज्वलित करते हैं। यह अग्नि कैसा है ? 'कवि' है। 'कवि' वह है जो इन्द्रियोंसे दिखाई देनेवाली वस्तुओंसे परे रहने-

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै । सवितुर्बाहू स्थ ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

[३६] (समित् असि) तू समिधा है, (कस्याः चित् अभिशस्त्यै) किसी भी शापसे (त्वा सूर्यः पुरस्तात् पातु) तेरी रक्षा सूर्य आगेसे करे । (सवितुः बाहू स्थ) सविताके तुम बाहू हो । (देवेभ्यः स्वासस्थं ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि) देवोंके बैठनेके लिए उत्तम आसन बननेके हेतु ऊन जैसे मृदुरूप तुझे मैं फैलाता हूं । (वसवः रुद्राः आदित्याः त्वा आसदन्तु) वसु, रुद्र और आदित्य ये तीनों देव तेरे ऊपर बैठें ॥ ५ ॥

बालीको प्रत्यक्ष देखता है, इन्द्रियातीत वस्तुओंका साक्षात्कार करता है और इस अपूर्व अतीन्द्रिय ज्ञानको अपने काव्य द्वारा प्रकट करता है । यहांका अग्नि ऐसा कवि है । वह 'द्युमान्' है, तेजस्वी है, प्रकाश करनेवाला है, दिव्य प्रकाश देता है । 'बृहत्' है, बडा है, सबसे विशाल है । सबसे महान् अकेला 'ब्रह्म' ही है । यह अग्नि ब्रह्मका रूप होनेसे 'बृहत्' शब्द इस अग्निके लिए सार्थक हुआ है । यह अग्नि संपूर्ण विश्वमें व्यापक है अर्थात् यह विश्वके समान बडा है । 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।' (कठ. ५।९) अग्नि प्रतिवस्तुमें प्रविष्ट होकर उस प्रत्येक वस्तुके रूपको लेकर प्रकट होता है । इस तरह विश्वके प्रत्येक वस्तुको रूप देनेवाला यह अग्नि है । अतः यह सर्व-व्यापक है । विश्वका रूप इसी अग्निने प्रकट किया है । यह अग्नि 'वीति-होत्र' है । यहां 'वीति' का अर्थ है- 'गति, हलचल, उत्पत्ति करना, सुख, आनन्द, भोग, खाना पीना, प्रकाश, तेज, पवित्रता करना, प्रसन्नता । अर्थात् 'वीतिहोत्र' का अर्थ है- जो हवनमें प्रीति रखता है, हवनसे जो पवित्रता करता है, हवनसे जो सुख बढाता है, इत्यादि । अग्निका यह अर्थ मनन करने योग्य है । ऐसी अग्निको हम समिधाओंसे (समिधीमहि) प्रज्वलित करते हैं, प्रदीप्त करते हैं, जगाते हैं । क्यों कि हमें इसकी सहायतासे 'अ-ध्वरे' हिंसा और कुटिलतासे रहित कर्म सिद्ध करने हैं । विश्वमें हिंसा और कुटिलताके कारण दुष्ट व्यवहार हो रहे हैं । इससे प्रजाका दुःख बढ रहा है । हमारी इच्छा है कि 'विश्वस्य अ-रिष्टिः' विश्व भरमें शान्ति और आनन्द स्थापित हो, सब लोग 'आ-ख-रे-ष्ठाः' सुखमें रहें, विचरें और आनन्द प्राप्त करें । इस भूमिपर स्वर्गधाम बने । इसलिए हम 'अ-ध्वर' हिंसारहित कर्मोंकी वृद्धि करना चाहते हैं । वह हमारा कर्म इस पवित्रता करनेवाले अग्निकी सहायतासे निस्सन्देह सिद्ध होगा । इसलिए इस अग्निको हम यहां प्रज्वलित करते हैं ॥ ४ ॥

तू समिधा है । हे यज्ञकर्ता ! यज्ञमें हवन होनेवाली समिधा तू है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यं अहमग्निरहं हुतम् ॥ (गी. ९।१६)

यहां मैं यज्ञकर्ता ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि (समिधा आदि हवनीय वस्तु) मंत्र, घृत, अग्नि और आहुति हूं । इस कथन में 'मैं यज्ञकर्ता समिधा हूं' ऐसा स्पष्ट कहा है । वही भाव इस मंत्रभागमें (त्वं समित् असि) 'तू समिधा है' इस कथन से स्पष्ट हुआ है । हर एक मनुष्य जो यज्ञ करता है, वह समिधा है । जो यज्ञ नहीं करता, वह समिधा नहीं हो सकता, वह तो लकडी ही बना रहता है । यह समिधा प्रतिक्षण जल रही है । मृत्यु के समय इस समिधा की अन्तिम आहुति होगी । इसीलिए इसका नाम 'अन्त्येष्टिः' (अन्त्य + इष्टिः) है । जिस तरह समिधा स्वयं जलकर दूसरोंको प्रकाश देती है, इसी तरह मनुष्यको स्वयं जलकर दूसरोंको सन्मार्गवर्ती होनेके लिए प्रकाश बताना चाहिए । यही इसके समिधा होनेका हेतु है । आत्म-सर्वस्व का समर्पण समिधा करती है । मनुष्य यही करे, यह आदेश इसकी समिधा होने में है । समिधा वही हो सकती है जो पूर्ण रीतिसे आत्म समर्पण करता है । समिधा पूर्ण आत्म-समर्पण अर्थात् यज्ञका आदर्श है ।

'अभिशस्ति' का अर्थ 'शाप, हिंसा और दुर्गति' है । हिंसासे यज्ञकर्ताकी सुरक्षा होनी चाहिए । हर तरहकी हिंसासे सूर्य इसकी रक्षा करे । सूर्य सब अज्ञान, अन्धेरा, रोग आदिका नाश करता है । यज्ञका प्रवर्तक सूर्य है । 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः' (ऋ. १।११५।१) सूर्य स्थावर जंगमकी आत्मा है । यह आत्मा जब अन्तःकरणमें पूर्णतया प्रकाशती है, तब किसी शाप या आपत्तिसे इसका कुछ भी अहित नहीं होता । इस तरह यह सूर्य सबको आरोग्य देकर उनकी रक्षा करता है और वह आत्मारूपी सूर्य सबकी आत्मप्रभावसे रक्षा करता है । सर्वत्र सूर्यही विश्वका रक्षक है, इसमें

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद। ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥ ६ ॥

[३७] (घृताची असि) तू घी देनेवाली है, (जुहूः नाम्ना) तेरा नाम जुहू है, (सा) वह तू (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रिय धामके साथ (इदं प्रियं सदः आसीद) इस प्रिय यज्ञसभामें बैठ। (घृताची असि) तू घी देनेवाली है, (उपभृत नाम्ना) तेरा नाम उपभृत् है, (सा) वह तू (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रिय धामके साथ (इदं प्रियं सदः आसीद) इस प्रिय यज्ञसभामें बैठ (घृताची असि) तू घी देनेवाली है, (ध्रुव नाम्ना) तेरा नाम ध्रुवा है, (सा) वह तू (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रिय धाम के साथ (इदं प्रियं सदः आसीद) इस प्रिय यज्ञ सभामें बैठ। (ऋतस्य योनौ ध्रुवा असदन्) यज्ञके स्थानमें ये स्थिर बैठे हैं। हे (विष्णो) व्यापक देव (ताः पाहि) उनकी सुरक्षा कर। (यज्ञं पाहि) यज्ञ की सुरक्षा कर (यज्ञपतिं पाहि) यज्ञपति की सुरक्षा कर (यज्ञन्यं मां पाहि) यज्ञ करनेवाले मेरी रक्षा कर ॥ ६ ॥

सन्देह नहीं है। जो अपने जीवनकी समिधा बनाकर पूर्णतया आत्मयज्ञ करनेके लिए सिद्ध है और जो विश्वका भला करनेके लिए कटिबद्ध है, उसकी सुरक्षा तो सूर्य अवश्य ही करता है।

जो सविता सूर्य सबका संरक्षक कहा गया है, उस सबके संरक्षक सूर्यके तुम बाहू बनो। तुम यज्ञकर्ता उसके बाहू हो ही। क्योंकि सूर्य यज्ञप्रवर्तक है, यज्ञ उसका नाम या स्वरूप ही है। वह यज्ञ जो मानव करते हैं, उनके उसके बाहू होनेमें संदेह ही क्या है? यज्ञकर्ताके हृदयमें यह विचार सदा जाग्रत रहना चाहिए कि हम सविता-देवके बाहू हैं, अतः हमसे कोई ऐसा कोई कार्य नहीं होना चाहिए कि जो हमारे इस बाहू होनेमें शोभा न दे सके। गायत्री मंत्रमें 'सविता' देवकी ही प्रार्थना है। वही सविता इस मंत्रमें है। सविताका अर्थ जिस तरह सूर्य है, उसी तरह उस शब्दका अर्थ 'सबका उत्पन्न कर्ता' भी है (सविता वै देवानां प्रसविता– श. ब्रा. १।१।२।१७)। यह सविता भी परमेश्वर ही है। परमेश्वरका नाम 'यज्ञ' है। जो यज्ञकर्ता है, वह ईश्वरका ही कार्य करता है और कार्य हाथोंसे ही किया जाता है। इसलिए यज्ञकर्ताको ईश्वरका हाथ यहां कहा है। यज्ञकर्ता पर कितना बडा उत्तरदायित्व है, यह यहां जानने योग्य बात है। जिसके हम हाथ हैं, उसके यज्ञके अनुकूल ही हमें कार्य करने चाहिए। इस तरह यज्ञकर्ता ईश्वरका अंग है।

वसु पृथिवीस्थानीय, रुद्र अन्तरिक्षस्थानीय और आदित्य द्युस्थानीय देव हैं। वसु आठ, रुद्र ग्यारह और आदित्य बारह इस प्रकार सब मिलकर ३१ देव होते हैं तथा यज्ञ और प्रजापति मिलकर ३३ देव होते हैं। ये ३३ देव तुम्हारे शरीरमें सुखसे विराजें। तुम्हारे शरीरमें उन देवोंके लिए उत्तम, सुन्दर और मृदु आसन हों। तुम्हारे द्वारा दिए गए उन आसनों पर ये देव सुखसे बैठें और इस जीवनरूप शतसांवत्सरिक यज्ञको उत्तम निर्विघ्नताके साथ समाप्त करें। तुम्हारे अन्दर यह दैवी जीवन जाग्रत हो। पृष्ठवंशमें ३३ मज्जा केन्द्र हैं, उनमें ये देवतांश रहते हैं, और शरीरके अन्दरका कार्य करते हैं। वे सब कार्य दैवी शक्तिसे प्रभावित हों और उसमें आसुरी भाव जरासा भी न हो। यही दैवी स्वराज्यका प्रकटीकरण है, जो यज्ञका साध्य है ॥ ५ ॥

'घृताची' का अर्थ है घी देनेवाली, जिससे घी की प्राप्ति होती है। सबसे प्रथम यह गौ है। गौके दूधसे दही बनता है और उसके मक्खनसे घी बनता है, अतः घीको देनेवाली गौ है। दूसरी घीकी आहुति देनेवाली कडछी है। इसी कडछीको इस मंत्रमें 'जुहू' कहा गया है। 'जुहू' का अर्थ है (हूयते अनया इति) जिससे हवन की आहुतियां डाली जाती हैं। उसमें घी भरकर आहुति अग्निमें डाली जाती है। इसलिए कडछीका नाम घृताची है (घृतं अच्यते यया) जिससे घृत दिया जाता है। यहां घी देनेवाले दो पदार्थ हुए, (१) गौ और (२) कडछी या चमस। इनके 'उपभृत्, ध्रुवा' ये दो नाम प्रसिद्ध हैं। उपभृतका अर्थ है (उप) समीप रहकर (भृत्) भरण पोषण करना। गौ भी मनुष्यके समीप रहती है और उसका भरण पोषण करती है, इसलिए

अग्ने॑ वाजजिद्वाजं॑ त्वा सरिष्यन्तं॑ वाजजितꣳ सम्मा॑र्ज्मि ।
नमो॑ देवेभ्यः॑ स्वधा पितृभ्यः॑ सुयमे॑ मे भूयास्तम् ॥७॥

[३८] हे (**वाजजित् अग्ने**) अन्न प्राप्त करानेवाले अग्ने ! (**वाजं सरिष्यन्तं**) अन्नके प्रति जानेवाले तथा (**वाजजितं त्वा**) अन्नको जीतनेवाले तेरा (**सं मार्ज्मि**) में शोधन करता हूं । (**देवेभ्यः नमः**) देवोंके लिए प्रणाम, (**पितृभ्यः स्वधा**) पितरोंके लिए हम अन्न देते हैं, (**मे सुयमे भूयास्तं**) मेरे सहायक होइए ॥ ७ ॥

' गो ' उपभृत् कहलाती है । घृतकी आहुति देनेवाली तथा घृतको परोसने वाली कडछी भी उपभृत् कहलाती है । इसका कारण यह है कि यह भी अग्निके समीप रहकर घृतकी आहुतियों से अग्निका पोषण करती है । ' ध्रुवा ' पदका अर्थ ' स्थिर ' है । गौ भी दोहन के समय नहीं हिलती है और कडछी भी स्थिरताके साथ आहुति देती है । इसलिए दोनोंको ध्रुवा कहते हैं ।

यह गौ अपने (प्रियेण धाम्ना) प्रिय धामके साथ (इदं प्रियं सदः) इस प्रिय यज्ञस्थानमें बैठे या रहे । ' धाम ' का अर्थ है- (१) स्थान (२) तेज (३) शक्ति । गौ अपने तेज और सामर्थ्यके साथ यज्ञभूमिमें रहे । इसी तरह घृताहुति देनेवाली कडछी भी अपनेमें तेजस्वी घृत धारण करती हुई यज्ञ स्थानमें रहे । गौके बिना यज्ञ नहीं हो सकता, इसलिए यज्ञभूमिमें गौ अवश्य ही रहनी चाहिए । जिसके आज निकाले हुए दूधमेंसे दूसरे ही दिन बनाया हुआ घृत हवनके कार्यमें आ सके । पुराने घी का हवन वैसा लाभकारी नहीं होता जैसा कि हैयंगवीन घृतका हवन लाभकारी होता है । घीके हवनसे वायुमें स्थित रोगोत्पादक विषका नाश होता है । कडछीके बिना भी घृतकी आहुतियां नहीं दी जा सकती । इस तरह इनकी सहायता यज्ञमें है ।

ये गौ और कडछी अपने अपने स्थानमें सुस्थिर रहें । अव्यवस्थासे इधर उधर न जायें । ' विष्णु ' (वेवेष्टि इति विष्णुः), जो सर्व व्यापक देव है, उसे विष्णु कहते हैं । ' यज्ञो वै विष्णुः ' (श. ब्रा, ५।२।३।६; ऐ. ब्रा. १।२५; तां. ब्रा. १३।३।२। गो. ब्रा. ६।७) इस कथनके अनुसार यज्ञ भी विष्णु कहलाता है, क्योंकि यज्ञ भी सर्वत्र है । सर्वव्यापक ईश्वर इस स्थिर बैठी हुई गौ और जुहको सब आपत्तियोंसे सुरक्षा करे, क्योंकि इनकी सहायतासे यज्ञ होता है । इन सब यज्ञ साधनोंकी सुरक्षा हो । (यज्ञं पाहि) यज्ञ की अर्थात् इस यज्ञविधि की सुरक्षा हो, यह यज्ञ निर्विघ्न सिद्ध हो । (यज्ञपतिं पाहि) यज्ञके कर्ताकी रक्षा हो, यजमान सब प्रकारसे सुरक्षित होकर अपना यज्ञ कर्म करता रहे । (यज्ञन्यं पाहि) जो यज्ञको चलाते हैं, उन सबकी रक्षा हो, ये सब सुरक्षित हों और निर्भय होकर अपना यज्ञ चलावें । जिससे विश्वका भला हो, सबका कल्याण हो ॥ ६ ॥

अग्नि ' वाजजित् ' है । ' वाजस् ' का अर्थ है अन्न, बल, सामर्थ्य । अन्नको जीतनेवाला, प्राप्त करनेवाला, शत्रुओंका पराभव करके अन्न लानेवाला ' वाजजित् ' कहलाता है । अग्नि अन्नके पास जानेवाला है और अन्नप्राप्तिमें होनेवाले प्रतिबंधकों दूर करनेवाला है । अग्नि अन्नको सिद्ध करता है, परिपक्व करता है, शत्रुका नाश करके अन्न लाता है । उस अग्निका में शोधन करता हूं । हाथ जोडकर में नमस्कार करता हूं । स्वच्छ स्थानमें स्थापन करके प्रणाम करता हूं । यहां शंका होती है कि अग्नि शत्रुका पराजय करके अन्नको किस तरह लाता है ? उत्तरमें कहा जा सकता है कि अग्नि स्थापन करके यज्ञमें उसकी सामुदायिक उपासना करते हैं । इससे उपासकोंका सांघिक बल बढता है और वे शत्रुका पराभव करनेमें समर्थ होते हैं । जो यह शक्ति मानवोंके संघमें प्रकट होती है, वह अग्निकी सामुदायिक प्रार्थनासे प्राप्त हुई है, इसलिए यह सामर्थ्य अग्निकाही मानना चाहिए । अग्निही इनका अग्रणी है, नेता है, प्रेरक है और उत्साहवर्धक है । अतः यह अग्निकाही कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है । ऐसे अग्नि आदि देवोंके लिए नमस्कार । ' नमः ' शब्दके तीन अर्थ हैं— (१) नमन, (२) अन्न और (३) वज्र । यहां ' देवेभ्यः नमः ' इस पदके लिए नमनका अर्थ लेना चाहिए । (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिए स्वधा । ' स्वधा ' का अर्थ है । (१) अपनी धारक, शक्ति, (२) अपनी इच्छाशक्ति, (३) अन्नका समर्पण, (४) अन्न, (५) अपना भाग, (६) श्राद्ध (७) समर्पण । यहां पितरोंके लिए समर्पण अर्थ लिया है । जो पदार्थ पितरोंके उद्देश्यसे दिया जाता है, उसकी ' स्वधा ' संज्ञा है । स्वधामें नमनका अर्थ भी निहित है । देवों और पितरोंके लिए यहां श्रद्धाभक्तिसे नमन करनेको कहा है ।

—अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳ संभ्रियासम्—मङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात् ॥ ८ ॥

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ॥ ९ ॥

---

[३९] (अद्य देवेभ्यः) आज देवोंको अर्पण करनेके लिए (अस्कन्नं आज्यं सं भ्रियासं) न गिरा हुआ घी में लाया हूं। हे (विष्णो) यज्ञ पुरुष ! (अंघ्रिणा त्वा मा अवक्रमिषं) पांवसे मैं तेरे ऊपर आक्रमण नहीं करूंगा। हे (अग्ने) अग्ने ! (ते वसुमतीं छायां) तेरे धन देनेवाले आश्रयमें (उपस्थेषं) मैं रहूं। (विष्णोः स्थानं असि) तू यज्ञका स्थान है। (इतः) इस स्थानसे (इन्द्रः वीर्यं अकृणोत्) इन्द्रने पराक्रम किया, (अध्वरः ऊर्ध्वः अस्थात्) इससे हिंसारहित कर्म बहुतही श्रेष्ठ हुआ ॥ ८ ॥

[४०] हे (अग्ने) अग्ने ! (होत्रं वेः) इस हवनतत्त्वको जान, (दूत्यं वेः) दूत कर्म के तत्त्वको जान, (द्यावा पृथिवी त्वां अवतां) द्यु और भूमि तेरा पालन करे, (त्वं द्यावा पृथिवी अव) तू द्युलोक और पृथिवी लोककी रक्षा कर। (इन्द्रः हविषा आज्येन) इन्द्र हविरूप घृतसे (देवेभ्यः स्विष्टकृत् भूत्) देवोंके लिए उत्तम यज्ञ करनेवाला हो (स्वाहा) यही हमारा अर्पण है। (ज्योतिषा ज्योतिः सं) तेजसे तेज मिलकर बढे ॥ ९ ॥

(मे सुयमे भूयास्तं) तुम दोनों मेरे सहायक हो जाओ। देवों और पितरोंसे मेरी सहायता हो। उनकी सहायतासे यह मेरा यज्ञ सफल हो, विघ्न दूर हों, और मैं निर्भय होकर इस यज्ञको पूर्ण कर सकूं ॥ ७ ॥

यज्ञ करनेके लिए यज्ञके समीप घृत रखते हैं। यह घृत स्वच्छ और पवित्र रखना चाहिए। घृत ऐसा शुद्ध और पवित्र होना चाहिए कि जो कहीं गिरा न हो, उसमें कोई पदार्थ गिरा न हो। घीकी पवित्रताके बारेमें विशेष ख्याल रखना चाहिए। देवोंके उद्देश्यसे इस घीकी आहुतियां देनी होती हैं।

'विष्णु' का अर्थ 'यज्ञ' है। पांव से इस यज्ञभूमिका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए, अर्थात् यज्ञभूमि को अपवित्र नहीं करना चाहिए। यज्ञभूमिमें सावधानीसे बैठना चाहिए। सभामें जिस रीतिसे बैठा जाता है, उसी रीतिसे यज्ञमें बैठना चाहिए। सभामें इस रीतिसे बैठना चाहिए कि उसके पांवसे किसीको क्लेश न पहुंचे। यहां सभामें बैठने की पद्धति बताई गई है।

अग्निकी छाया (वसुमती) धन देनेवाली, सौभाग्य और यश देनेवाली है। यहां 'छाया' का अर्थ आश्रय और समीपवर्तीस्थान है। जहां तक अग्निका प्रभाव पहुंचता है, वहां तक का स्थान अग्निकी छाया समझना चाहिये। अग्नि के पास बैठकर नाना देवताओंके उद्देश्यसे घी की आहुतियां दी जाती हैं। अतः इस मंत्रसे अग्निके समीप बैठने की सूचना मिलती है। अग्निके पास यज्ञ करनेके लिए बैठना धन देनेवाला है। जो यज्ञ करता है, उसकी सहायता अन्य लोग करते हैं। जहां विश्व हितकारी यज्ञ होता है, वहां चारों ओरसे धन आने लगता है। विश्वहितकारी शुद्ध भावनासे जो यज्ञ होगा, जिसमें छल कपट न होगा, वहीं धन आएगा इसीलिए यज्ञाग्निके समीप का स्थान धन देनेवाला कहा है।

पूर्वोक्त रीतिसे जहां यज्ञ होगा, वह स्थान विष्णुका ही है, यज्ञ ही विष्णु है। यज्ञका स्थान ही ईश्वरका स्थान है, वह विश्वहितकारी कर्मका स्थान है। वह सब प्रकारसे पवित्र स्थान है।

इस यज्ञके स्थानसे इन्द्र ने बडे पराक्रम किए। इस यज्ञकी रक्षाके लिए और यज्ञका प्रभाव बढानेके लिए इन्द्रने बडे पराक्रम किए। इन पराक्रमोंसे यज्ञकी महिमा बढी और यह श्रेष्ठतम कर्म सिद्ध हुआ। जिससे विश्वका भला होता है, सबको सुख पहुंचता है, वह श्रेष्ठ कर्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

अग्निदेव 'होता' है। मनुष्य हवनीय पदार्थ अग्निमें डालते हैं। आगेका कार्य अग्नि स्वयं करता है, इसलिए सच्चा हवन कर्ता अग्नि ही है। जिस तरह मनुष्य पेटमें अन्न डालता है, परन्तु पाचन का कार्य 'जाठर अग्नि' करती है, मनुष्य अन्नका पाचन नहीं कर सकता। उसी तरह यहां भी समझना चाहिए। इसलिए कहा है कि (अग्ने ! होत्रं वेः) हे अग्ने ! हवन कार्य जिस तरह

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ १० ॥

[४१] (इन्द्रः) प्रभु (मयि) मुझमें (इदं इन्द्रियं दधातु) यह इन्द्रियशक्ति स्थिर रखे। (रायः मघवानः अस्मात् सचन्तां) सब धन हम धनवानोंके पास प्राप्त हों। (अस्माकं आशिषः सत्याः सन्तु) हमारे सब अभीष्ट सिद्ध हों। (न आशिषः सत्याः सन्तु) हमारे आशीर्वाद सत्य हों, (स्वाहा) इसलिए आत्मसमर्पण करते हैं, (माता पृथिवी उपहूता) मैंने मातृभूमिकी उपासना की है। (पृथिवी माता मां उपह्वयतां) वह मातृभूमि मुझे अनुमति देवे कि (अग्नीध्रात् अग्निः) में अग्नि प्रदीप्त करनेवाला होनेके कारण प्रदीप्त अग्निवाला होकर [अन्नका भक्षण करता हूं] ॥ १० ॥

करना होता है, उसे तू अच्छी तरह जानता है। तथा तू ही (दूत्यं वेः) सब दैवी शक्तियोंको लाता और उनके पास तक हविर्भाग पहुंचाता है। मनुष्य अपने शरीरमेंही देखे, जाठराग्नि अन्नका पाचन करती है, और अन्नरसके सत्त्व अंशको सब अवयवोंतक पहुंचाता है। मनुष्य केवल अन्नको पेटमें ही डालनेकाही अधिकारी है, आगेका कार्य अग्निही करता है। पाचनाग्नि यदि अनुकूल न हो तो पेटमें अन्न डालने मात्रसे कुछ फायदा होनेवाला नहीं है। अतः हवन करना और सत्त्वांशको यथायोग्य देवताओंतक पहुंचाना अग्निका ही कार्य है। इस तरह ऋतुसंधिमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंको वायु शुद्धि द्वारा दूर करने का कार्य अग्नि ही कर सकता है। यह सब अग्नि करना जानता है और करता भी है। मनुष्यका कार्य केवल हविको इकट्ठा करना और विधिपूर्वक अग्निको सुपुर्द करना मात्र है।

इस मंत्रका द्वितीयभाग यह है कि ' द्यावापृथिवी अग्निकी रक्षा करें और अग्नि द्यावापृथिवीकी रक्षा करे।' यह परस्पर रक्षा करनेका उद्देश्य यज्ञका मूल है। परस्परका पालन और रक्षणही यज्ञ है। भगवद्गीतामें कहा है कि- ' यज्ञसे मनुष्य देवोंका सत्कार करें और देव मानवोंकी रक्षा करें। इस तरह परस्पर सहायता करते हुए दोनों उन्नत हों ' (भ. गी. ३।११)। यही बात इस मंत्रभागमें कही है। द्युलोकसे पृथ्वीतक ' अग्नि-विद्युत्-सूर्य ' ये अग्निके रूप हैं। लोक और अग्नि ये यहां परस्पर उपकारक हैं। परस्पर उपकार करनाही यज्ञ है और मानवकी उन्नति इसी यज्ञसे होती है।

इस मंत्रके तृतीयभागमें कहा है कि- ' इन्द्र हविष्यके द्वारा देवोंका अभीष्ट करे। अर्थात् घृत आदिके समर्पणसे द्वारा देवोंको प्रसन्न करे। पृथ्वी, आप, वायु, औषधि आदि देव घृतके हवनसे प्रसन्न होते हैं। पृथ्वीमें धान्य आदि बोनेके समय घृतका हवन करते हैं। इससे भूशुद्धि होती है

और उत्तम धान्यकी उत्पत्ति होती है। घृतके हवनसे वायुके अन्दरके रोगबीज नष्ट हो जाते हैं। इसी तरह वायुको प्रसन्न करनेका मार्ग जानना चाहिए। अन्यान्य देवोंको प्रसन्न करनेके बारेमें भी जानना चाहिए। प्रभुनेही अपने विशाल विश्व प्रबन्धसे यह सब किया है। मनुष्य यह विश्वव्यापक प्रबन्ध देखे और इन नियमोंको जाने और तदनुसार आचरण करके अपनी उन्नति करे। यज्ञका तत्त्व ' उत्तम इष्ट करनेवाला बनना ' ही है। परस्पर (सु-इष्ट -कृत्) उत्तम इष्ट करनेवाला मनुष्य बने। यज्ञका यह तत्त्व हरएक मनुष्य अपने मनमें सदा स्थिर रखे।

उत्तम रीतिसे अपनी वस्तुको सबकी भलाईके लिए समर्पण करनेका नामही यज्ञ है। यह समर्पण सबका कल्याण करनेके लिएही होना चाहिए। केवल समर्पणसेही यज्ञ नहीं हो सकता, वह समर्पण सबकी भलाई करनेवाला होना चाहिए। तभी वह यज्ञ कहलाएगा। यही यज्ञका मौलिक सूत्र है।

(ज्योतिषा ज्योतिः सं) तेजसे तेज मिले और अधिक ज्योति फैले। यह भी यज्ञही है। एक दीपकसे दूसरा दीपक प्रदीप्त होता है। गुरुसे शिष्यका ज्ञानदीप जलाया जाता है। विश्वमें सबका कल्याण एकके तेजसे दूसरेके तेजकी वृद्धि होनेसे होगा। यज्ञका हेतु यही है कि इससे सब तेजोंका संगठन होवे और सबकी तेजस्विता बढे ॥ ९ ॥

यज्ञ करनेवालेको चाहिए कि वह मातृभूमिकी उपासना करे। मातृभूमिके लिए यज्ञ करनेके लिए सदा तैय्यार रहे। इस तरह मातृभूमिके लिए आत्म-बलिदान करनेवाले मेरे लिए मातृभूमि आवश्यक पदार्थोंका उपभोग करनेकी अनुमति देवे। आवश्यक उपभोग भोगनेकी अनुमति मातृभूमि मुझे देवे।

हर एक मनुष्य सबसे प्रथम मातृभूमिके लिए यज्ञ करे। स्वयंको समर्पित करके भी मनुष्य मातृभूमि की सेवा करे।

उप॑हूतो द्यौष्पि॒तोप॒ मां द्यौष्पि॒ता ह्व॑यताम॒ग्निरा॑ग्नी॒ध्रात्स्वाहा॑ । दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑ं पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । प्रति॑गृह्णाम्य॒ग्नेष्ट्वा॒स्येन॒ प्राश्ना॑मि ॥ ११ ॥

[४२] (**द्यौः पिता उपहूतः**) द्युलोक के पालन कर्ता की उपासना मैंने की है, (**द्यौः पिता मां उपह्वयतां**) अतः द्युलोक का पालक प्रभु मुझे अन्न भक्षण की अनुमति देवे। (**अग्निध्रात अग्निः प्राश्नामि**) अग्नि के प्रज्वलन के कर्म से में अग्नि के सदृश होकर इस अन्न का भक्षण करता हूँ। (**स्वाहा**) यह उत्तम आहुतिरूप होवे। (**सवितुः देवस्य प्रसवे**) सबके उत्पन्न कर्ता प्रभु की प्रेरणासे (**अश्विनोः बाहुभ्यां**) अश्विनीकुमारों की बाहुओं की सहायतासे तथा (**पूष्णः हस्ताभ्यां**) पूषा के दोनों हाथों की सहायतासे (**त्वा प्रति गृह्णामि**) इस यज्ञशेष अन्न को में ग्रहण करता हूँ। (**अग्नेः आस्येन त्वा प्राश्नामि**) अग्निके मुखसे तुझे (तेरे अन्नभागका) में भक्षण करता हूँ ॥ ११ ॥

इस तरह मातृभूमि की प्राणपणसे सेवा करनेवाले को मातृभूमि आज्ञा देती है कि वह अपने लिए आवश्यक भोग लेवे। जो मातृभूमिका सेवक नहीं है, उसे भोग भोगनेका कोई अधिकार नहीं है। मातृभूमि की सेवा एक महान् यज्ञ है, इस यज्ञको करनेवाले ही अपने लिए भोग भोग सकते हैं। मातृभूमिकी सेवारूप यज्ञ करनेसे यज्ञशेष का भक्षण करनेका अधिकार प्राप्त होता है; जो यज्ञ नहीं करता, उसे यज्ञशेष भी प्राप्त नहीं होता। यज्ञ न करते हुए भोग भोगना पाप है।

मातृभूमिके लिए जो आत्मार्पण करके यज्ञ किया जाता है, उसमें अग्निको प्रदीप्त करनेवाला ही यज्ञ करता है। जो राष्ट्राग्नि को प्रदीप्त करता है, वह स्वयं अग्नि के समान तेजस्वी होता है। स्वयं अग्नि होकर ही अन्नका सेवन किया जाता है। जिसका अग्नि प्रज्वलित नहीं हुआ, वह अन्न सेवन करेगा, तो अच्छी तरह उस अन्नका पाचन नहीं होगा।

इसलिये अन्नसेवन करनेके लिए प्रथम अपनी जाठर अग्नि प्रदीप्त करनी चाहिए। जाठराग्नि प्रदीप्त होनेके पूर्व भोजन करना नहीं चाहिए। जिस प्रकार हवनकुंडमें अग्नि प्रदीप्त होनेके बाद ही उसमें हवि दी जाती है, उसी तरह जाठराग्निके प्रदीप्त होने पर ही अन्नका सेवन करना चाहिए।

जो अन्न सेवनीय है, उसका हवन होकर उसमें से जो शेष बच जाता है, वही यज्ञशेष है। यज्ञशेष अन्नही सेवनीय है। यज्ञमेंसे बचा हुआ अन्नही पुण्य अन्न है।

मातृभूमिकी सेवा के लिए मातृभूमिके उद्देश्यसे जो जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेके पश्चात् जो बचे वही सेवन करने योग्य है, और उसका भी सेवन जाठराग्निके प्रदीप्त होनेकी अवस्थामेंही करना चाहिए।

यही सच्चा आत्मसमर्पण है और यही सच्चा यज्ञ है, और यही सच्ची आहुति है ॥ १० ॥

तेजस्वी द्युलोक का प्रतिपालक ईश्वर है, उसकी उपासना मैंने की है। उस मेरी उपासनासे सन्तुष्ट होकर वह द्युलोक का पालक प्रभु इस यज्ञशेष को भक्षण करनेकी आज्ञा या अनुमति देवे। उनकी अनुकूलता से में इस अन्न का भक्षण करूंगा। मातृभूमिके उपासक का यज्ञशेष भक्षण करनेका अधिकार है, परन्तु उसके लिए भी विश्वपालक प्रभु की अनुमति और अनुकूलता चाहिए। अग्नि को प्रज्वलित करनेका कार्य मैंने किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि मेरी अग्नि-जाठराग्नि- भी प्रज्वलित हो गई है। जाठराग्नि के प्रदीप्त होने पर ही में यह यज्ञशेष अन्न भक्षण कर रहा हूं। मेरा यह यज्ञशेष भक्षण इन देवोंकी कृपासे उत्तम आहुति रूप होकर मेरी उन्नति करनेवाला बने।

सब विश्वके प्रसविता अर्थात् जन्म देनेवाले ईश्वर को ' सविता देव ' कहते हैं। विश्व स्रष्टा और विश्व नियामक प्रभुकी विशेष प्रेरणासे यह यज्ञ मैंने किया और उसका शेष यह अन्न भाग है, जिसका भक्षण इस समय में करना चाहता हूँ। मेरी बाहों में वही शक्ति है कि जो शक्ति अश्विनी कुमारों की बाहोंमें है। यह शक्ति रोग बीज दूर करनेवाली है। मेरे हाथों में पूषा देवता की पोषक सामर्थ्य है। मेरे ये हाथ इन दोनों बलोंसे युक्त है। इनसे में इस यज्ञशेष अन्नको स्वीकार करता हूँ अथवा उठाता हूँ। इस कारण यह अन्न अब रोगबीज रहित तथा पोषण करनेवाला हुआ है। अतः नीरोगता और पुष्टि देनेवाले इस अन्नको में लेता हूँ। शरीर में रोगबीजों को नष्ट करनेकी शक्ति चाहिए।

और अग्नि के मुखसे अन्न को खाता हूँ। जिस तरह जठर में अग्नि है, उसी तरह मुखमें भी अग्नि है। इस अग्नि का रूप मुखमें ' लालारस ' है। जब जाठराग्नि अच्छी तरह प्रदीप्त होती है, उस समय उत्तम उत्तम अन्न के सन्मुख आने से मुख मे लार-आग्नेय रस-स्वयं उत्पन्न हो जाती है। यह लार जब अन्न के साथ मिलकर पेट में जाती है, तभी अन्न का पचन होता है। यदि यह रस मुंह में न हो, तो केवल जठर रस से ही अन्न का पचन नहीं होता। इसलिए अग्निमुखसे ही अन्न भक्षण करना चाहिए, यह महत्वपूर्ण आदेश यहां है, वह अत्यन्त मननीय है ॥ ११ ॥

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे । तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव ॥ १२ ॥

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमं दधातु ।
विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥ १३ ॥

एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व । वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ।
अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि ॥ १४ ॥

[४३] हे (सवितः देव) सब विश्वके उत्पन्न कर्ता देव ! (एतं यज्ञं) यह यज्ञ (ते बृहस्पतये ब्रह्मणे प्राहुः) तेरे लिए अर्थात् ज्ञानपति ब्रह्मा के लिए किया जाता है, ऐसा कहते हैं । (तेन यज्ञं अव) इसलिये इस यज्ञकी रक्षा कर, (तेन यज्ञपतिं अव) इसलिए यजमान की रक्षा कर, (तेन मां अव) इसलिए मेरी रक्षा कर ॥ १२ ॥

[४४] (जूतिः मनः आज्यस्य जुषतां) तेरा वेगवान् मन घृतका सेवन करे, (बृहस्पतिः इमं यज्ञं तनोतु) ज्ञानका स्वामी इस यज्ञको फैलावे, (इमं यज्ञं अरिष्टं सं दधातु) इस यज्ञको हिंसारहित करके सम्यक् धारण करे। (विश्वे देवासः इह मादयन्तां) सब देव यहां आनन्दित हों, (ओं प्रतिष्ठ) ऐसा ही होवे, प्रतिष्ठित होवे ॥ १३ ॥

[४५] हे (अग्ने) अग्ने ! (एषा ते समित्) यह तेरे लिए समिधा है, (तया वर्धस्व) इससे तू बढ (च आप्यायस्व च) और हमें भी बढा, (वयं वर्धिषीमहि) हम बढेंगे । (च आप्यासिषीमहि) और बढायेंगे। हे (अग्ने) अग्ने ! तू (वाजजित् असि) अन्नको जीतनेवाला है । (वाजं ससृवांसं) अन्नको उत्पन्न करनेवाले और (वाजजितं त्वा) अन्नको जीतनेवाले तेरा (संमार्ज्मि) मैं शोधन करता हूं ॥ १४ ॥

सविता देव सब विश्वका प्रसविता है । इसीका नाम ज्ञान का स्वामी ब्रह्मा है । ब्रह्मा सृष्टिका निर्माता है । वही सबको यथावत् जाननेवाला है । जो भी यज्ञ किया जाता है, वह इसी की सन्तुष्टि के लिए किया जाता है । यज्ञ नामभी इसी के लिए प्रयुक्त होता है । अर्थात् सविता, देव, बृहस्पति, ब्रह्मा, यज्ञ ये नाम इस एक ही देवता के हैं । यही सबके द्वारा यजनीय अथवा पूजनीय देव है । यह देव यज्ञ की, यजमान की और मेरी उत्तम रक्षा करे, इस रक्षासे सुरक्षित होकर यजमान यज्ञ करते जाएं और यज्ञ से यजमान की उन्नति होती रहे तथा यज्ञ से सब विश्वका कल्याण होता रहे ॥ १२ ॥

मन बडा वेगवान् है, वह मन घृतका सेवन करे । अन्नमें घृत तेजका भाग है । उसका सेवन करनेसे मन तेजस्वी बनता है । ज्ञानका स्वामी इस यज्ञका विस्तार करे, जो ज्ञानवान् है, वह यज्ञभावका प्रसार करे, अपने ज्ञानसे विश्व भरमें यज्ञका भाव प्रसृत करे अर्थात् जगत् भरमें यज्ञ होते रहें, जिनसे सबका कल्याण हो । यज्ञमें किसी तरहकी हिंसा या त्रुटि न रहे । यज्ञ बीचमें छिन्न विच्छिन्न न हो । यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो, योग्य रीतिसे यज्ञ सम्पन्न बने । सब देवता इस यज्ञमें आनंदित हों । देवता अनेक हैं । अग्नि, जल, वायु, सूर्य ये सभी देवता हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये भी देवता हैं, माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये भी देवता हैं । इन सबकी तृप्ति यज्ञसे होती है । इनकी सन्तुष्टि, तृप्ति, पुष्टि तथा प्रसन्नता हो, इसीलिए यज्ञ किया जाता है । यही (ओं) सत्य है और इसी यज्ञसे सबकी सुस्थिति होती है । यज्ञसेही विश्वकी प्रतिष्ठा है ॥ १३ ॥

×

जिस प्रकार अग्निमें समिधा डालनेसे वह बढती है और अन्योंका तेज बढाती है, उसी तरह हम यज्ञसे बढते हैं और अन्योंको बढाते हैं । अपने उन्नत होने और दूसरोंकी उन्नति करनेका यज्ञतत्त्व यहां बताया है । यज्ञसे अपनी उन्नति करने और दूसरोंकी भी उन्नति करनेका मार्ग खुला होता है ।

अग्नि अन्नको प्राप्त करनेवाला तथा जीतनेवाला है, अर्थात् शत्रुको हराकर अन्न प्राप्त करनेवाला है । जो इस तरह अन्नको उत्पन्न करने, प्राप्त करने और जीतनेवाला है । उसीको अधिक आत्मशोधन की आवश्यकता है, क्योंकि विजयी वीरोंकेही पतनकी अधिक संभावना रहती है । अतः यदि वे शुद्ध होते रहें, तो उनके गिरनेकी कतई संभावना नहीं रहती अथवा बहुतही कम रहती है । विजयी वीरोंका शोधन हो, तो उनकी उच्चावस्था सदा सुस्थिर रह सकती है ॥ १४ ॥

अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि । अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि । इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ॥ १५ ॥

[४६] (अग्निषोमयोः उज्जितिं) अग्नि और सोमने जैसी विजय प्राप्त की, (अनु उज्जेषं) वैसी विजय में प्राप्त भी प्राप्त करूं। (वाजस्य प्रसवेन) अन्नकी प्रेरणासे (मा प्रोहामि) में स्वयंको प्रेरित करता हूं। (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है, (यं च वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं (तं अग्नीषोमौ अपनुदतां) उसे अग्नि और सोम दूर करें। (वाजस्य प्रसवेन) अन्नकी प्रेरणासे (एनं अपोहामि । इस शत्रुको दूर करता हूं। (इद्राग्न्यो उज्जितं) इन्द्र और अग्निने जैसी विजय प्राप्त की, उसी तरह में भी (अनु उत् जेषं) विजय प्राप्त करूं। (वाजस्य प्रसवेन) अन्नको प्रेरणासे (मा प्रोहामि) में स्वयंको प्रेरित करता हूं। (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है, (यं च वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं, (तं इन्द्राग्नी अपनुदत्तां) उसे इन्द्र और अग्नि दूर करें। (वाजस्य प्रसवेन एनं अपोहामि) में अन्नकी प्रेरणासे इस शत्रुको दूर करता हूं ॥ १५ ॥

इस मंत्रमें शत्रुको दूर करनेका उपदेश है। अग्नि और सोम तथा इन्द्र और अग्नि संयुक्त देवता है। ये दोनों देवता मिलकर कार्य करते हैं। अग्नि और सोम ये विरुद्ध गुणवाले देवता हैं। ये आपसमें संघटन करते और विजय पाते हैं। इसी तरह इन्द्र और अग्निके संगठनसे विजय मिलती है। इनकी विजयके वर्णन वेदोंके अनेक सूक्तोंमें है। इनकी विजयके वर्णनको देखकर मनुष्य इन देवताओंके समान अपना संगठन करके विजय प्राप्त करे।

इन देवताओंके विजयके अनुकूल बर्ताव करके में अपनी विजय प्राप्त करता हूं। इन देवताओंने किस तरह विजय प्राप्त की, वह में देखता हूं। विजय प्राप्तिके लिए जो साधन जिस प्रकार बर्तने चाहिए, इसका ज्ञान प्राप्त करता हूं और वैसा व्यवहार करके अपनी विजय सिद्ध करता हूं। देवताओंके अनुसार हम अपना आचरण करके अपनी विजय प्राप्त करे। 'यत् देवाः अकुर्वन् तत्करवाणि' जैसा कुछ देवोंने किया है, वैसाही में करूं, यही विजयका सूत्र है। यही बात 'देवानां उज्जितं अनु उज्जेषं' इस मंत्र-भागमें कही है।

अन्नकी प्रेरणासे में अपने आपको प्रेरित करता हूं, उत्साहित करता हूं। मानव जो विविध कार्य करते हैं, वे अन्नके उत्पादनसे, अन्नकी प्रेरणासे प्रेरित होकरही करते हैं। मानवी व्यवहारमें सर्व साधारण प्रेरणा अन्नकीही है। अन्न मिलनेवाला न हो, तो अन्य भोग मिलनेवाले होंगे। अर्थात् भोगोंकी प्राप्ति की प्रेरणासेही मानव उत्साहित होकर कार्य करते रहते हैं। अपने सब व्यवहार भोग प्रेरणासेही सब मानव करते हैं।

भोग या अन्न प्राप्त होना चाहिए। इस भोग प्राप्तिमें कई शत्रु होते हैं, इन शत्रुओंको दूर करना चाहिए, तभी अपनी विजय होगी और अन्नादि भोग प्राप्त होंगे। शत्रुका लक्षण है– 'जो अकेला हम सबसे द्वेष करता है और जिस अकेलेसे हम सब द्वेष करते हैं, वह शत्रु है। शत्रुका यह लक्षण है। जो अकेला सब समाजसे द्वेष करता है और सब समाज जिस अकेलेसे द्वेष करता है, वही शत्रु है और वह उस समाजमें रहने योग्य नहीं है। ऐसे शत्रुको दूर करना चाहिए। जिस तरह अग्नि और सोम अथवा इन्द्र और अग्निने अपने शत्रुओंको परास्त करके भगा दिया, उसी तरह हम आपसका संगठन बढाकर शत्रुओंको दूर करें।

शत्रुओंको क्यों दूर किया जाए ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि अन्नके प्रसवसे, अन्नकी प्रेरणासे में शत्रुको भगाता हूं। शत्रु समाजमें रहेगा तो अन्नप्राप्तिके कार्यमें बाधा उत्पन्न होगी। इसलिए शत्रुको दूर करना आवश्यक है। हमें अन्न भरपूर मिले, इसलिए शत्रुको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

इस मंत्रमें कहा है कि 'अन्नकी प्रेरणासे अपनी उन्नतिके लिए विजय प्राप्त करना और उसी अन्नकी प्रेरणासे शत्रुको दूर करना चाहिए।' इस प्रकार इस मंत्रमें उन्नतिके दो सूत्र बताये हैं– (१) अपनी विजय प्राप्त करना और (२) शत्रुको दूर करना ॥ १५ ॥

वसुभ्यस्त्वा[१] रुद्रेभ्यस्त्वा[२] ऽऽदित्येभ्यस्त्वा[३] संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्[४]। व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा[५] मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि[६] ॥ १६ ॥

---

[४७] (आदित्येभ्यः त्वा) आदित्योंके लिए तुझे अर्पित करते हैं, (वसुभ्यः त्वा) वसुओंके लिए तेरा अर्पण करते हैं, (रुद्रेभ्यः त्वा) रुद्रोंके लिए तेरा अर्पण करते हैं। हे (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी ! तुम दोनों (संजानाथां) यह जानो। (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (वृष्ट्या) वृष्टिसे (त्वा अवतां) तेरी रक्षा करें। (अक्तं रिहाणाः) भीगे हुएको चाटनेवाले (वयः व्यन्तु) पक्षी चले जाएं। (मरुतां पृषतीः गच्छ) मरुतोंकी गतियोंका अनुसरण करके जा। (वशा पृश्निः भूत्वा) वशा गौके द्वारा बने (दिवं गच्छ) द्युलोकको प्राप्त कर। (ततः नः वृष्टिं आ वह) वहांसे हमारे लिए वृष्टिको ले आ। हे (अग्ने) अग्ने ! (चक्षुष्पा असि) तू आंखोंकी रक्षा करनेवाला है, (मे चक्षुः पाहि) अत: मेरी आंखोंका पालन कर ॥ १६ ॥

वसु, रुद्र और आदित्योंके लिए तेरा अर्पण करते हैं। वसु पृथ्वी आदि आठ हैं, वे सबका निवास कराते हैं। रुद्र शत्रुका संहार करते हैं। शरीरमें स्थित ग्यारह प्राणही ग्यारह रुद्र हैं। आदित्य देव बारह है और वे सबको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ये तीनों देव क्रमशः सबका निवास करानेवाले, सबका संहार करनेवाले और सबको आधार देनेवाले हैं। इनके लिए अर्पण करनेका तात्पर्य यह है कि इनके तीनों कार्योंके लिए अपना अर्पण करना अर्थात् इन तीनों कार्योंमें अपना भाग स्वयं करना अर्थात् जगत्का निवास करानेके लिए, शत्रुओंका नाश करनेके लिए और सबको केन्द्रित करनेके लिए मनुष्योंको यत्न करना चाहिए। उक्त तीनों देवोंके उक्त तीनों कार्योंके लिए यहां मानवोंका समर्पण होना है।

मानवोंका संगठन उक्त तीनों कार्योंके लिए हुआ है, यह बात द्युलोकसे पृथ्वीपर्यन्तके तीनों लोकोंमें अच्छी तरह सबको विदित हो। सभी मनुष्य इस बातको जानें।

मित्र और वरुण, सूर्य और चन्द्र अथवा जलाधिपति देव वृष्टि यथासमय करके मनुष्यकी रक्षा करें। इस वृष्टिसे संसारके वृक्षादि पदार्थ भीगते हैं, सिंचित होते हैं। पक्षी जलसे गीले हुए पदार्थको आनन्दसे खाते हैं। वृष्टिसे जिनको आनन्द होता है वे आकाशमें आनन्दसे उडते रहें। जब वृष्टि यथायोग्य होगी, तब धान्यफल आदि उत्पन्न होंगे और उनको खाकर आकाशमें पक्षी उडते रहेंगे। ऐसा आनन्द मानव प्राप्त करें।

वायुकी गतियां प्रसिद्ध हैं, वे बडी विविध भी हैं। सबके लिए हितकारक भी हैं। इन गतियोंके अनुसार, हे मानव ! तू अपनी गति कर। वायुके अनुसार मनुष्य इस विश्वमें संचार करे और वायुके अनुसार सबको जीवनका आनन्द मिले। वायुका यही कार्य जगत्में है, वही मानव यथाशक्ति करे। गौ वशा होकर अर्थात् सुदुघा होकर अर्थात् सहज और उत्तम दूध देनेवाली हो। गौवें यदि वशा हो जाएं, तो इस भूमि पर स्वर्गधाम स्थापित हो जाए। गौ वो तीन प्रकारकी हैं। वशा, सूतवशा और साधारण। वशा वह है कि जो जिस समय और जितना चाहे उस समय और उतना दूध दे। सूतवशा वह है कि जो नौकरके वशमें रहती है और तीसरी गौ इनसे भिन्न साधारण गौ है। वशा गौ ही सबसे उत्तम है, क्योंकि वह हर समय दूध देती है। ऐसी गौवेंही पृथ्वीको स्वर्गधाम बनाती हैं। उक्त प्रकार उत्तम गौओंसे बने स्वर्गको, हे मानव ! तू प्राप्त हो। इस स्वर्गधामसे हमारे लिए सुखोंकी वृष्टि ले आ।

अग्नि आंखका पालन करनेवाला है। वह आंखोंकी रक्षा करे।

इस मंत्रका संक्षिप्त भाव यह है कि मनुष्य तीन कार्य करते रहें- (१) सबका सुखसे निवास हो ऐसा यत्न करें (२) शत्रुओंका नाश करें (३) सबको एक कार्यमें संगठित करें। सब विश्वमें यही कार्य होता रहे। इससे यह संसार स्वर्गधाम बनेगा। तभी यथासमयपर यथायोग्य वृष्टि होगी। सब वृक्ष वनस्पतियां हृष्टपुष्ट होंगी, धान्य अच्छा उपजेगा, जिसका फल खाकर पक्षी आनंदसे आकाशमें उडते रहेंगे और आनंदसे कूजन करते रहेंगे। संसारके आनन्दका यह चिन्ह है। इतना होनेपर सब मानव वायुवेगसे प्रगति करके मानवी जीवनका सुख भोग सकेंगे। पृथ्वीपर स्वर्गधाम बनानेमें गौका बडा भारी उपयोग है। उत्तम दूध देनेवाली वशा गायें यदि अधिक संख्यामें हों, तो यही

यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्गुह्यमानः ।
तं त एतमनु जोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाता अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम् ॥ १७ ॥
सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः ।
इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाट् ॥ १८ ॥

---

[४८] हे (देव अग्ने) हे प्रकाशक अग्ने ! (पणिभिः गुह्यमानः) पणि नामक शत्रुओंके द्वारा घेरे जाने पर (यं परिधिं) जिस परिधिको तूने (परि अधत्थाः) चारों ओर खडा किया, (तं एतं जोषं) उस प्रिय परिधिको (ते) तेरे लिए (अनुभरामि) अनुकूलतासे भर देता हूं । (एषः) यह परिधि (त्वत् न इत् अपचेतयाते) तुझसे पृथक् न हो । (अग्नेः प्रियं पाथः) अग्निका यह प्रिय अन्न (अपि इतम्) तुझे प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[४९] हे (विश्वे देवाः) सब देवो ! (संस्रव भागाः स्थ) अच्छी तरह स्रवनेवाले रसदार अन्नका भाग तुम्हारा है । (एषा बृहन्त) इसके सेवनेसे बडे बनो, (ये प्रस्तरेष्ठाः च परिधेयाः विश्वे देवाः) पत्थरों और परिधिके आश्रयसे रहनेवाले सब देवो ! (इमां वाचं अभिगृणन्तः) इस घोषणाको सुनो कि (अस्मिन् बर्हिषि आसद्य) इस आसन पर बैठे हुए ही तुम (मादयध्वं) आनन्दित होओ, (स्वाहा वाट्) आत्म समर्पण की ही यह घोषणा है ॥१८॥

पृथ्वी स्वर्गधाम बन सकती है, क्योंकि वशा गौ कामधेनु है और कामधेनुही स्वर्ग बनानेवाली है । इसीसे सबको सुख प्राप्त हो सकता है और सबकी आंखें तेजस्वी हो सकती हैं । इस प्रकार इस मंत्रमें संक्षेपमें मानवी उन्नतिके साधन बताये गए हैं ॥ १६ ॥

शत्रुओंकी सेनासे घिर जाने पर अपनी सुरक्षाके लिए अपने चारों ओर अथवा जिस तरफ शत्रुका जोर अधिक हो उस ओर परिधि अर्थात् किलेकी जैसी दीवार खडी करनी चाहिए । यह युद्ध विषयक सन्देश इस मंत्रमें दिया गया है । यह सन्देश युद्धकालमें अत्यन्त उपयोगी है । यहां शत्रुका नाम 'पणि' है । पणि वे शत्रु हैं कि जो व्यापार व्यवहार करते हुए सेना लेकर आक्रमण करते हैं, अर्थात् वैश्य और क्षत्रिय इन दोनोंके गुण जिनमें होते हैं वे पणि होते हैं । इन शत्रुओंके द्वारा घेरे जाने पर जिस ओर शत्रुओंका बल अधिक हो, उस ओर किला अथवा किलेके समान दृढ दीवार खडी कर देनी चाहिए । यहां चारों ओर दीवार खडी कर देनेका उल्लेख है । यह खडी की हुई दीवार यदि शत्रुओंके हमलेके कारण किसी स्थान पर टूट टाट जाए, तो (अनुभरामि) उसे अनुकूलताके अनुसार भर देना, अथवा दुरुस्त कर देना चाहिए । क्योंकि शत्रुके हमलेके समय इसी दीवारका सहारा लेना होता है । शत्रुका हमला होनेपर यह दीवारही एकमात्र आश्रय स्थान बनता है कि जहां पर बचाव हो सकता है । यह दीवार अपने स्थानसे दूर न हो अर्थात् जिस समय आश्रय लेने की आवश्यकता हो, उसी समय इस दीवारका सहारा मिले । किलेकी दीवारें हमेशा दुरुस्त रहें और उनका आश्रय योग्य समय पर मिलता रहे ।

इसी तरह प्रिय अन्न सदा प्राप्त होता रहे । ऐसा समय कभी न आवे कि शत्रुओंसे घिर कर अपने सैनिक अन्न-जलसे वंचित हों । यदि ऐसी स्थिति आ पडे, तो समझ लेना चाहिए कि अपनी पराजय निश्चित है । अतः सावधानीकी सूचना यहां वेद देता है कि अन्न और जल पर्याप्त प्रमाणमें हमारे पास रहें और किलेंकी दीवारें भी सुरक्षित अवस्थामें रहें । इससे शत्रुका भय जाता रहेगा ॥ १७ ॥

ज्ञानदेव, बलदेव, धनदेव और कर्मदेव ये चार प्रकारके देव हैं । देवोंका यही चातुर्वर्ण्य है । ये देव पत्थरोंसे बने किलोंमें रहते हैं तथा पत्थरके आश्रयसे रहते हैं । इस तरह रहकर ये शत्रुओंसे युद्ध कर रहे हैं । समय उनको घासके आसन बैठनेके लिए मिले हैं । उन्हों पर उन्हें बैठना है । अन्य सुखमय आसनों पर वे नहीं बैठ सकते । इन आसनों पर बैठकर ही मधुररस चुआनेवाले रसदार अन्नभागोंका सेवन करते हैं । ये देव जहां भी रहते हैं, वहीं उन्हें यह अन्नभाग प्राप्त होता है । हे देवों ! तुम अपने स्थानका परित्याग मत करो, जहां भी तुम रहोगे, वहीं तुम्हें तुम्हारा अन्नभाग प्राप्त होगा । क्योंकि यह अन्नभाग तुम्हारा है । इसका सेवन करके तुम आनन्दित होओ और अपने स्थान पर रहते हुए तुम शत्रुको परास्त करो । यह समय आत्मसमर्पणका है, यही घोषणा है, इस घोषणाको आनन्दसे सुनो और आनन्दसे तदनुकूल करो ॥ १८ ॥

घृताचीं स्थो धुर्यौं पातꣳ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्[१] ।
यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व स्विष्टे मे संतिष्ठस्व[२] ॥ १९ ॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या अविषं नः
पितुं कृणु सुषदा योनौ स्वाहा वा[१]ऽग्नये संवेशपतये स्वाहा[२] सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा[३] ॥२०॥

---

[५०] (घृताची स्थ) तुम घृतसे युक्त हो, (धुर्यौ पातं) तुम धुरामें नियुक्त हुओंका पालन करो, (सुम्ने स्थ) तुम सुखमें हों, (सुम्ने मे धत्तं) अतः तुम मुझे सुखमें रखो। (यज्ञ) हे यज्ञ ! (च ते नमः) और यह अन्न तुम्हारे समीप लाया गया है, (यज्ञस्य सं शिवे तिष्ठस्व) यज्ञके कल्याणमें तुम रहो, (मे स्विष्टे सं तिष्ठस्व) मेरे उत्तम इष्टमें तुम रहो ॥ १९ ॥

[५१] हे (अदब्धायो अशीतम अग्ने) न दबनेवाली आयु देनेवाले और बहुभक्षी अग्ने ! (दिद्योः मा पाहि) शस्त्रसे मेरी रक्षा कर, (प्रसित्यै पाहि) जालसे बचा, (दुरिष्ट्यै पाहि) विनाशसे बचा, (दुरद्मन्या पाहि) दुष्ट अन्न भक्षणसे बचा, (नः पितुं अविषं कृणु) हमारा अन्न विषरहित कर। (सुषदा योनौ स्वाहा वाट्) सुखसे मैं अपने घर पर रहूं। ऐसा कर, यही मेरी प्रार्थना है। (अग्नये संवेशपतये स्वाहा) समीप स्थानके पालक अग्निके लिए यह अर्पित है। (यशोभगिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा) यशकी बहिन सरस्वती देवीके लिए यह अर्पित है ॥ २० ॥

पन्द्रहवें मंत्रमें शत्रुको दूर भगाने, विजय प्राप्त करने तथा अन्नकी स्पर्धाका वर्णन है। सोलहवें मंत्रमें सबको स्थान देने, सबको इकठ्ठे करने और शत्रुओंके संहार करनेका वर्णन है। इसके साथही विजय प्राप्त करके नयी सुव्यवस्था कायम करनेकी पद्धति पर भी विचार हुआ है। इस तरह शत्रुको दूर करनेके प्रयत्नमें शत्रुओं द्वारा घिर जानेपर क्या करना चाहिए, इस प्रश्नपर १७ वें और १८ वें मंत्रोंमें विचार किया गया है। किलोंमें रहना, किलोंको उत्तम दशामें रखना, अपना स्थान मजबूत करना, अन्न तथा जल अपने पास पर्याप्त प्रमाणमें रखना, वह यथाभाग सबको बांटना आदि सब व्यवस्थाओं पर विचार इन दो मंत्रोंमें किया है। ये विचार बडे मननीय है और राष्ट्रको विजयी बनानेके लिए ये विचार अत्यन्त आवश्यक हैं।

तुम्हारे पास पर्याप्त घृत है, तुम घीसे सिंचित हो, अर्थात् घृतसे परिपूर्ण हो। अतः तुम्हें चाहिए कि जो वीर धुरामें नियुक्त हुए हैं, सबसे आगे रहकर लड रहे हैं, उनके खान-पान आदिका प्रबन्ध करना और उनकी सुरक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य है। यह समय ऐसा है कि जिसके पास अन्न हो, वह उसे त्यागभावसे समाजको समर्पित कर दे, और जो समाजके शत्रुओंसे जूझ रहे हों, उन्हें वह अन्न मिलें। तुम्हारा मन उत्तम है, अतः जो यह मैं कह रहा हूं, उसे उत्तम मनसे स्वीकार करो। सुनो-

यह यज्ञ है, यज्ञके पास अन्न पहुंचना चाहिए, क्योंकि अन्नदानसेही यज्ञ होता है। यज्ञ निर्विघ्न हो, और मुझे जो प्रिय है, वह मुझे तथा हम सबको मिले, ऐसा करो। यज्ञसे सबका कल्याण हो और सबकी उन्नति हो ॥ १९ ॥

जिस जीवनमें दब जाना नहीं होता, दूसरेके अधीन होना नहीं पडता, उस जीवनका नाम 'अ-दब्ध आयु' है। अग्नि 'अशीतमः' है। यह अग्नि बहुत अन्न खाकर उसका उत्तम पाचन करती है। यह अग्निका धर्म है। जिसकी आयुमें शत्रुके वशमें होना नहीं होता और जिसकी आयुमें अपचनका दोष नहीं होता, ऐसे उपास्य देवका वर्णन यहां पर है। यह अग्निदेव यहां रक्षा करता है। शत्रुके शस्त्रसे, शत्रुके जालसे, विनाशसे और जिसकी इच्छा कोई नहीं करता, ऐसी विपत्तिसे, दोषयुक्त अन्नके भक्षणसे, होनेवाले रोगादि कष्टोंसे रक्षा कर। शत्रुके विविध शस्त्रोंसे, शत्रुके कपट जालोंसे, बंधनमें डालनेके लिए शत्रुके द्वारा किए गए विविध प्रचारके उपायोंसे, सब अनिष्ट दुःस्थितियोंसे तथा अन्नदोषसे बचना चाहिए। मनुष्य अपने आपको इन कष्टोंसे बचावे और साथ ही शत्रुके हाथमें न पडे और अन्तमें शत्रुका पराभव भी करे।

हमारा अन्न विषरहित रहे, उसमें विष न मिले। अथवा वह अपचन आदि दोषोंसे विषमय न बने। मेरे अन्नसे ही मुझे विषकी बाधा न पहुंचे। अपने घरमें, अपने देशमें, अपने

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः ।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित । मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥२१॥
संबर्हिरङ्क्ताꣳ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः ।
समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा ॥ २२ ॥
कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति ।
पोषाय रक्षसां भागोऽसि ॥ २३ ॥

---

[५२] हे वेद ! तू (वेदः असि) सबका ज्ञाता है। हे (वेद देव) वेदरूपी देव ! (येन त्वं) जिस प्रकार तू (देवेभ्यः वेदः अभवः) देवोंके लिए ज्ञानका दाता हुआ, (तेन मह्यं वेदः भूया) वैसाही तू मुझे ज्ञान देनेवाला हो। हे (गातुविदः देवाः) हे मार्गदर्शक देवो ! (गातुं वित्त्वा) सत्यमार्गको जानकर (गातुं इत) सत्य मार्गपरही जाओ। हे (मनसस्पते देव) मनके स्वामिन् ईश्वर ! (इमं यज्ञं स्वाहा) इस यज्ञको तेरे लिए समर्पित करता हूं, (वाते धाः) इसे वायुमें स्थापित कर ॥ २१ ॥

[५३] (इन्द्रः आदित्यैः वसुभिः) इन्द्र आदित्यों, वसुओं (मरुद्भिः विश्वदेवेभिः) मरुतों और सब देवोंके साथ (हविषा घृतेन) हवनके घीसे (बर्हिः सं अंक्ताम्) दर्भमुष्टिको अच्छी तरह भिगा दे। (यत् दिव्यं नभः) जो दिव्य आकाश है, वहां यह दर्भमुष्टि (गच्छतु) जाए। (स्वाहा) ये दर्भ समर्पित हैं ॥ २२ ॥

[५४] (कः त्वा विमुंचति) कौन तुझे मुक्त करता है ? (सः त्वा विमुंचति) वह प्रजापालक तुझे मुक्त करता है। (कस्मै त्वा विमुंचति) किसलिए तुझे विमुक्त करता है ? (तस्मै पोषाय त्वा विमुंचति) उस पोषणके लिए तुझे मुक्त करता है। (रक्षसां भागः असि) तू राक्षसोंका भाग है ॥ २३ ॥

स्थानमें, सुख और आनंदसे रहनेका सुख हमें प्राप्त हो। अपने ही देशमें दूसरे सुख भोगे और हम उन सुखोंसे वंचित रहें, ऐसी हमारी स्थिति कभी न हो।

उपनिवेशोंके अधिपति अपना कार्य उत्तम रीतिसे करें, वे जागकर अपने स्थानोंकी रक्षा करें।

यश देनेवाली सरस्वती- विद्याकी देवीको प्राप्त करना चाहिए। इस विद्यासे ज्ञान प्राप्त होता है, यश मिलता है और अपनी रक्षा करके विजय प्राप्त करनेका मार्ग ज्ञात होता है। यहां सरस्वती-विद्याको यशोभागिनी कहा है। विद्याके बिना किसी तरहकी उन्नति नहीं हो सकती, यह इसका तात्पर्य है ॥ २० ॥

वेदही सबका ज्ञाता है। इसलिए उसकी संज्ञा 'वेद' है। वेदसेही देवोंको ज्ञान प्राप्त हुआ और वेदसेही मानवोंको ज्ञान प्राप्त होगा। इस कारण मानवोंको चाहिए कि वे वेदका रहस्य जाननेके लिए उसका उत्तम अध्ययन करें।

देवोंको वेदके अध्ययनसे सत्यमार्गका ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य वेदाध्ययनसे इस सत्यमार्गका ज्ञान प्राप्त करके इसी सत्यमार्गसे चलें और कल्याणको प्राप्त करें। मनका स्वामी आत्मा है, वह इस यज्ञ मार्गको जाने और उस मार्ग परसे चले। इस यज्ञमें मुख्य तत्त्व आत्मसमर्पण है। इस यज्ञको वायुमें धारण करना चाहिए। यज्ञसे वायुको शुद्ध करनेपर सभी प्रसन्न होते हैं। 'ऋतु संधिओंमें व्याधि होती है' अतः ऋतु संधिओंमें यज्ञ करते हैं। इससे वायु शुद्ध होता है ॥ २१ ॥

जिसकी आहुति दी जाती हो, उस वस्तुको घी से अच्छी तरह भिगा देना चाहिए। इसीलिए यहां दर्भको अच्छी तरह भिगा देनेका आदेश है। प्रत्येक हवनीय पदार्थ पर यही नियम लागू होता है। आदित्य, वसु आदि सभी देवोंकी शक्तियां इस हवनीय वस्तुमें रहें, बढें और इस तरह उत्तम रीतिसे तैय्यार की गई वस्तुओंका हवन हो ॥ २२ ॥

तुझे इन दुःखोंसे मुक्त कौन करेगा ? वह प्रजापति परमात्माही सब दुःखोंसे सबको मुक्त करेगा। वही सबको सुख देनेवाला प्रभु है। किस उद्देश्यसे वह सबको मुक्त करेगा ? सबका पोषण हो, इस उद्देश्यसे वह सबको मुक्त करेगा। परतंत्र अवस्थामें यथायोग्य रीतिसे सबका पोषण नहीं हो सकता, बंधनसे मुक्त होनेपरही सबकी पुष्टि यथा-

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो ऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो ऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

[५५] (वर्चसा, पयसा, तनूभिः) तेजस्विता, दूध, शरीर तथा (**शिवेन मनसा सं अगन्महि**) उत्तम मनसे हम युक्त हुए हैं। (सुदत्रः त्वष्टा) उत्तम दाता त्वष्टा (राय: वि दधातु) अनेक प्रकारका धन हमें देवे। (तन्वः यत् विलिष्टं) हमारे शरीरमें जो न्यूनता हो, (तत् अनुमार्ष्टु) वह ठीक होवे ॥ २४ ॥

[५६] (विष्णुः जागतेन छन्दसा) विष्णुने जगती छन्दसे (दिवि व्यक्रंस्त) द्युलोकमें आक्रमण किया। (ततः) वहांसे (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है, (यं च वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं (सः निर्भक्तः) वह हटा दिया गया है। (विष्णुः त्रैष्टुभेन छन्दसा) विष्णुने त्रिष्टुभ् छन्दसे (अन्तरिक्षे व्यक्रंस्त) अन्तरिक्षलोकमें आक्रमण किया। (ततः) वहांसे (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है, (यं च वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः निर्भक्तः) वह हटा दिया गया है। (विष्णुः गायत्रेण छन्दसा) विष्णुने गायत्री छन्दसे (पृथिव्यां व्यक्रंस्त) पृथ्वीपर आक्रमण किया। (ततः यः अस्मान् द्वेष्टि) वहांसे जो हमसे द्वेष करता है, (यं च वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः निर्भक्तः) वह हटा दिया गया है। (अस्मात् अन्नात्) इस अन्नके स्थानसे उस शत्रुको हटा दिया गया है। (अस्यै प्रतिष्ठायै) इस प्रतिष्ठाके स्थानसे उस शत्रुको हटा दिया है। (स्वः अगन्म) हम सब स्वर्गधामको प्राप्त हुए हैं। (ज्योतिषा सं अभूम) तेजके साथ हम मिल चुके हैं ॥ २५ ॥

योग्य रीतिसे हो सकती है। इसीलिए वह सबको मुक्त करता भी है। मुक्त होनेके लिए जो जैसे कर्म होने या करने योग्य हैं, वैसे करनेकी सुविधा वह प्रथम करता है और इस तरह बंधनसे मुक्त होनेका मार्ग वह सुगम करता है। यही उसकी अतुल कृपा है।

अन्नमें देवों, मनुष्यों और राक्षसोंके भाग होते हैं। राक्षसोंका भाग राक्षसोंको प्रथम दिया जाना चाहिए, ताकि वे कोई उपद्रव न कर सकें। और मनुष्य आसानीसे उन्नति करते चले जाएं। इसी उद्देश्यसे राक्षसोंका भाग उन्हें देनेके लिए यहां कहा है। रक्षण करनेवालेकी भी 'राक्षस' संज्ञा है। उनके रक्षणके कार्यके लिए उन्हें वेतन देना भी आवश्यक है ॥ २३ ॥

हम उत्तम शरीरोंसे युक्त हैं। यहां स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंका वर्णन है। हमारे ये तीनों शरीर उत्तम बलसे युक्त हों। हमारा मन शिव संकल्पवाला हो। वह सदा उत्तम विचार करता रहे। हमारे पास पर्याप्त प्रमाणमें दूध रहे। हमारे अन्नमें जितना दूध चाहिए, उतना दूध हमें प्राप्त हो। उसका पान हम यथेष्ट करें। इस दूधको पी कर हम तेजस्वितासे युक्त हों। इस तरह इस मंत्रमें शरीरका स्वास्थ्य, मनकी सुसंस्कृतता, अन्नकी पवित्रता और जीवनकी पवित्रता प्राप्त होनेके पश्चात् धनोंकी इच्छा की है; क्यों कि इतनी संस्कार सम्पन्नताके बाद प्राप्त हुआ धन ही लाभदायी हो सकता है। अन्तमें यह प्रार्थना की गई है कि हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमें जो न्यूनता हो, वह न रहे और हम सब प्रकारसे पूर्ण बनें। हममें किसी तरहकी न्यूनता न रहे ॥ २४ ॥

शत्रु वह है कि जिससे सब लोग द्वेष करते हैं और जो सबसे द्वेष करता है। इस शत्रुको दूर करना चाहिए। व्यापक परमेश्वरने द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वीमें पराक्रम किया है, जिससे कि सब शत्रु दूर हो चुके हैं। इसी रीतीसे मानवोंको यत्न करके अपने शत्रुओंको दूर करना चाहिए। पृथ्वी पर गायत्री छन्दसे प्रयत्न करना चाहिए। यह गायत्री

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि । सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २६ ॥

अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः । अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳ हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २७ ॥

[५७] (स्वयंभूः श्रेष्ठः रश्मिः असि) तू स्वयंभू और श्रेष्ठ तेजकी किरण है, (वर्चोदा असि) तू तेज देनेवाला है, (मे वर्चः देहि) इसलिए मुझे तेज दे। (सूर्यस्य आवृतं अनु आवर्ते) सूर्यकी प्रदक्षिणाके क्रमणानुसार में प्रदक्षिणा करता हूं ॥ २६ ॥

[५८] हे (गृहपते अग्ने) गृह के पालक अग्ने ! (त्वया गृहपतिना) तुझ गृह के रक्षक के साथ रहता हुआ (अहं सुगृहपतिः भूयासं) में उत्तम घर का रक्षक बनूं । हे (अग्ने) अग्ने ! (मया गृहपतिना त्वं) मुझ जैसे गृहपति की उपासना से तू (सुगृहपतिः भूयाः) उत्तम गृहपति बन । हे (अग्ने) अग्ने ! (नौ गार्हपत्यानि) हम दोनों पतिपत्नी के गृहस्थ सम्बन्धी कर्तव्य (शतं हिमाः अस्थूरि सन्तु) सौ वर्षतक सतत चलते रहें । में (सूर्यस्य आवृतं अनु आवर्ते) सूर्य के समान प्रदक्षिणा करता हूं ॥ २७ ॥

छन्द प्राणोंकी रक्षा करता है। जिससे प्राणोंका पालन होता है, उसका नाम गायत्री छन्द है। छन्द उसे कहते हैं कि जिसे स्वेच्छासे किया जाता है। प्राणधारण भी स्वेच्छासे ही किया जाता है। प्राणके बिना मानव रह नहीं सकता। यदि मनुष्य प्राण धारण न करेंगे, तो वे रह नहीं सकते। 'जगती छन्द' दूसरा छन्द है। जगतीका अर्थ 'पृथ्वी अथवा मानवजाति' है। जो मानव जातिकी या मातृभूमिकी स्वेच्छासे उन्नति करनेकी प्रवृत्ति है, उसे 'जगती छन्द' कहते हैं। इस छन्दसे भी बडा कार्य होता है। अन्तरिक्ष लोकमें विष्णुने त्रिष्टुभ् छन्दसे आक्रमण किया। यह 'त्रि + स्तुभ्' है। अर्थात् तीनोंकी मिलकर उपासना है। (१) प्राणधारण (गाय-त्र), (२) जागत अर्थात् मानव-जातिके हितकी साधना और (३) उपासना ये तीन छन्द हैं। जिससे विष्णुकी तीनों लोकोंमें विजय होती है। व्यक्तिकी सुस्थिति, समाजकी उन्नति और प्रभुकी उपासना ये तीन छन्द हैं, जो ऊपरके तीन छन्दोंके रहस्यमय उपदेश हैं। मानव भी इन छन्दोंसे यत्न करेगा, तो उसी प्रकार विजय प्राप्त कर सकता है। जैसा आचरण देवोंने किया था, वैसाही आचरण मनुष्योंको भी करना चाहिए। विष्णुने जिस तरह विजय प्राप्त की, उसे देखकर मनुष्य अपने क्षेत्रमें विजय प्राप्त करे।

सब स्थानोंसे अर्थात् (१) मानव समाजसे, (२) व्यक्तिके क्षेत्रसे और (३) अन्यान्य व्यवहारसे शत्रुको भगा देना चाहिए। इस तरह उक्त रीतिसे सब स्थानोंसे शत्रुको दूर करनेके बाद इस अन्नसे रोगबीजरूपी शत्रुको दूर करना चाहिए। अन्न प्राप्त न करता हुआ भूखा शत्रु परास्त होकर दूर भाग जाए। उसे आश्रयस्थानसे दूर भगाया जाए। किसी स्थान पर उसे स्थिरता न मिले। सर्वत्र ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसे भागनाही पडे।

इस तरह सब स्थानोंसे, व्यक्ति तथा समाजके क्षेत्रोंसे शत्रुओंके दूर होनेसे और अपनी उन्नति होनेसे हम स्वर्गधामको प्राप्त होंगे। अर्थात् यही लोक हमारे लिए स्वर्गधाम बन सकता है। शत्रुके दूर होने और अपनी शक्तिके बढनेसे यह भूलोक स्वर्गधाम बन सकता है। ज्योतिके साथ हम मिले हैं, हम तेजस्वी बने हैं। संसारको स्वर्ग बनानेका यह उपाय है।

जिस विक्रमसे विष्णुने स्वर्गलोकका निर्माण किया, उसी प्रकारका विक्रम करनेसे मानवी जिष्णु शूरसेन संसारमें स्वर्गधामकी स्थापना कर सकते हैं ॥ २५ ॥

तू स्वयं-भू अर्थात् अपनी शक्तिसे स्थिर रहनेवाला है। तेरी स्थितिके लिए किसी दूसरेके सहारेकी आवश्यकता नहीं है। तू तेज देनेवाला श्रेष्ठ किरण है, अर्थात् तू तेजस्विताका स्रोत है। तेज देनेवाला तू है। इसलिए मुझे तेज प्रदान करके मुझे तेजस्वी बना। आत्मा स्वयंसिद्ध, स्वयंभू और अपनी शक्तिसे रहनेवाला है, यही श्रेष्ठ तेजसे युक्त है। अतः आत्मा स्वयंप्रकाशी है।

सूर्य जिस तरह चारों ओर आवर्तन या भ्रमण करके सर्वत्र प्रकाश करता है, सब स्थानका अन्धेरा दूर करता है, वैसाही में करूंगा। में स्वयं ज्ञानवान् और तेजस्वी होकर दूसरोंको ज्ञान प्रदान करूंगा, और उनका अज्ञान दूर करके उन्हें तेजस्वी बनाऊंगा ॥ २६ ॥

अग्नि उत्तम गृहस्वामी है। वह प्रकाशता हुआ उत्तम उजाला घरमें करता है। गृहस्थ भी अपने घरमें इसी तरह

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधी[1]दमहं य एवास्मि सोऽस्मि[2] ॥ २८ ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा[2] ।

अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः[3] ॥ २९ ॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात्[1] ॥ ३० ॥

---

[५९] हे (व्रतपते अग्ने) व्रतों के पालन कर्ता अग्निदेव ! (अहं व्रतं अचारिषं) मैंने नियमों का जो पालन किया है, (तत् अशकं) उसे करने में [तेरी कृपासे] मैं समर्थ हुआ हूं (तत् मे अराधि) वह मेरा कर्म [तेरी ही कृपासे] सिद्ध हुआ है (इदं यः अहं अस्मि) यह कर्म करने पर जो मैं था, (सः एव अस्मि) वही मैं अब हूँ ॥ २८ ॥

[६०] (कव्यवाहनाय अग्नये स्वाहा) पितरोंको दिए अन्नको ले जानेवाली अग्निके लिए यह आहुति है। (पितृमते सोमाय स्वाहा) पितरोंके साथ रहनेवाले सोमके उद्देश्यसे यह समर्पित है। (वेदिषदः असुराः रक्षांसि) वेदिपर आए हुए असुरों और राक्षसोंका (अपहताः) नाश हुआ है ॥ २९ ॥

[६१] (ये असुराः) जो असुर (रूपाणि प्रतिमुंचमानाः सन्तः) अपने रूपोंको बदलते हुए (स्वधया चरन्ति) पितरों को दिए अन्न का सेवन करके संचार करते हैं, (ये परापुराः) जो पूरे मोटे ताजे होते हुए भी (निपुरः भरन्ति) क्षीण जैसे बर्ताव करते हैं, (तान् अग्निः अस्मात् लोकात्) उनको अग्नि इस स्थान से (प्रणुदाति) बाहर निकाल दे ॥ ३० ॥

अपने ज्ञान से और कर्म से प्रकाशता रहे, दूसरों को प्रकाश देता रहे। अग्नि और गृहस्थी दोनों परस्पर सहायक बनें और परस्पर की उन्नति करनेवाले बनें। गृहस्थ के यज्ञ कर्म सौ वर्ष तक निर्विघ्नता के साथ चलते रहें। बीच में विघ्न न हो। एक बैल की गाडी को स्थूरी कहते हैं। अधिक बैलों की गाडी को अस्थूरी कहते हैं। गृहस्थी के शकट को पति पत्नी खीचते हैं। इसलिए इस शकट को 'अ-स्थूरि' कहा है। परस्पर की सहायतासे ही यहां की प्रगति होती है ॥२७॥

यह व्रतपालनकी प्रतिज्ञा यजु. १।५ में की थी। इस मंत्रमें उसकी सिद्धिकी बात कही है। पाठक इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करें तथा इन दोनों मंत्रोंके अन्दर जो उपदेश हैं और धर्म नियमके उपदेश हैं, उनका अनुसंधान भी करें। अध्याय १ मंत्र ५ से लेकर अध्याय २ मंत्र २८ तक जो उपदेश दिए हैं, उनका मनन पुनः पुनः करना चाहिए। पाठक इस बातका भी ध्यान रखें कि उन उपदेशों पर कितना अमल हुआ है। जिसकी प्रतिज्ञा अध्याय १ मंत्र ५ में की थी, उस प्रतिज्ञाकी सिद्धिका उल्लेख अ. २ मंत्र २८ में आया है ॥ २८॥

अग्निमें डाली गई आहुतियां जिस तरह देवोंके पास पहुंचती हैं, उसी तरह पितरोंके पास भी पहुंचती हैं। पितरोंको जो हव्यभाग दिया जाता है उसका नाम 'कव्य' है, और देवोंको जो भाग दिया जाता है उसका नाम 'हव्य' है।

वेदिमें अर्थात् हव्यकव्यको समर्पित किए जानेके स्थानमें जो असुर और राक्षस आए हों, उन्हें दूर करना चाहिए। उनका नाश करना चाहिए। असुरों और राक्षसोंको अपने समीप बिलकुल स्थान नहीं देना चाहिए। क्योंकि जो कष्ट होते हैं, वे अधिकतर असुर और राक्षसोंसेही होते हैं।

अतः जहां असुर और राक्षस हों वहां से उन्हें दूर भगाना अथवा उनका नाश करना चाहिए ॥ २९ ॥

इस मंत्रमें असुरों का वर्णन है। ये असुर अपने वास्तविक रूप का परित्याग करके और नये रूपों को धारण करके समाज में विचरते हैं तथा देवों और पितरों को दिए अन्न का स्वयं भोग करते हैं अर्थात् देवों और पितरों को दिया हुआ अन्न देवों और पितरों का रूप धारण करके स्वयं खाते हैं।

जिस तरह कोई मनुष्य संन्यासी को दिए जानेवाले अन्न संन्यासी का कपटवेश धारण करके स्वयं खा जाए, उसी तरह इन असुरों का भी कर्म है। ये असुरी कपट से विभिन्न

×

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३१ ॥

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त ॥ ३२ ॥

[६२] हे (पितरः) पितरो ! (अत्र मादयध्वं) यहां तुम आनन्दित होओ। (यथा भागं आ वृषायध्वं) यथा भागसे (अन्न प्राप्त करके) बैलके समान पुष्ट होओ। (पितरः अमीमदन्त) पितर हर्षयुक्त हुए। (यथा भागं आ वृषायिषत) यथाभाग (अन्न) प्राप्त करके बैलके समान पुष्ट हुए ॥ ३१ ॥

[६३] हे (पितरः) पितरो ! (वः रसाय नमः) आपके रसके लिए नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः शोषाय नमः) तुम्हारी शुष्कताके लिए नमस्कार है। हे (पितरः) पितरो ! (वः स्वधायै नमः) तुम्हारे जीवनके लिए नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः घोराय नमः) तुम्हारी घोर स्थितिके लिए नमस्कार है। हे (पितरः) पितरो ! (वः मन्यवे नमः) तुम्हारे उत्साह या क्रोधके लिए नमस्कार है। हे (पितरः वः नमः) पितरो ! तुम्हें नमस्कार हो। हे (पितरः) पितरो ! (नः गृहान् दत्त) हमें घर (अर्थात् पुत्र) दो। हे (पितरः) पितरो ! (वः सतः देष्म) हम अपने पास जो है, उसे आपको देते हैं। हे (पितरः) पितरो ! (वः वासः आ धत्त) आपके लिए यह वस्त्र देते हैं ॥ ३२ ॥

वेशभूषा धारण करते हैं। इस प्रकार दूसरों को धोखा देकर दूसरों का अन्न स्वयं खा जाते हैं।

इसलिए जो असुरों या राक्षसों का भाग हो वह उन्हें सर्वप्रथम दे देना चाहिए, ताकि उनके कारण कोई उपद्रव न हो। इतना कुछ करने पर भी वे उपद्रव करते ही हैं, यही असुरों की दुष्टता है।

'प्रतिमुंचति' इस शब्दमें 'प्रति' (विपरीतार्थक) उपसर्गपूर्वक 'मुंच' धातु है, इसका अर्थ है बांधना। दूसरेके रूपोंके चिन्ह अपने शरीर पर बांधना या धारण करना। स्वरूप बदलकर दूसरा वेश धारण करनेका तात्पर्य यहां है। देव, पितर, असुर और राक्षस इन सबके वेश पृथक् पृथक् होते हैं। अतः जिसका वेश जो धारण करेगा, वह उसीके समान दिखाई देगा।

पर इन असुरोंके शरीर बडे और मोटे ताजे होते हैं। देवों और पितरोंके शरीर वैसे नहीं होते। केवल वेष धारण करनेसे शरीरकी मुटाई छिप नहीं सकती। तो भी मोटे ताजे होने पर भी ये असुर क्षीण शरीर जैसे अपने आपको बताते हैं। असुरोंके शरीर प्रमाणमें बडे और देवों तथा पितरोंके शरीर उनकी अपेक्षा क्षीण होते हैं। इसलिए वेषान्तर करनेपर भी असुर छिप नहीं पाते और पहचान लिए जाते हैं। इसलिए असुर प्रयत्न करकेअपने आपको देवों और पितरों जैसाही बताते हैं।

यहां (१) वेषान्तर करना (२) शरीरका मोटा होना, (३) पर क्षीण होनेका प्रयत्न करना (४) और दूसरोंका अन्न स्वयं खाना आदि असुरोंके दुष्कृत्य बताये हैं।

अग्नि उन्हें इस स्थानसे दूर भगाये। अग्निके प्रकाशमें असुरोंको पहचाना जा सकता है, इसलिए अग्निके प्रकाशित होते ही कपटवेषधारी असुर भाग जाते हैं ॥ ३० ॥

प्रथम राक्षसोंको अन्नका भाग दिया, तत्पश्चात् वेष बदलकर अन्दर घुसे हुए असुरोंको बाहर निकाला। अतः पितरोंको उनका अन्नभाग यथायोग्य मिलने लगा। अतः इस मंत्रमें प्रार्थना की है कि यहां आकर वे अपने अन्नका भाग प्राप्त करें, उसका सेवन करें और पुष्ट तथा बलवान् बनें ॥ ३१ ॥

यहां रस, शोष, जीव, स्वधा, घोर और मन्यु ये छः पद क्रमशः 'वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर इन छः ऋतुओंके वाचक हैं। पितरोंकी छिपी शक्तिसे ये छः ऋतु होते हैं और इन छः ऋतुओंसे सबका पालन होता है। यह पितरोंकी कृपा है। वसन्त ऋतुमें रसदार फल उत्पन्न

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ३३ ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः । [अ० २, कं० ३४, मं० सं० ९५]

[६४] हे (पितरः) पितरो । (यथा इह पुरुषः असत्) जिए तरह यहां वीर पुरुष होगा (पुष्कर-स्रजं) उसी तरह कमल की माला धारण करनेवाले (कुमारं) कुमारको गर्भ में (आधत्त) स्थापित कीजिए ॥३३॥

[६५] (ऊर्जं घृतं) हे जलो ! अन्न, घृत, (पयः परिस्रुतं) दूध तथा चूनेवाले रसोंको (वहन्तीः) धारण करनेवाले तुम हो । अतः तुम (अमृतं) अमरत्व धर्मसे युक्त और (कीलालं) उत्तम पानके योग्य हो (स्वधा स्थ) तुम धारकशक्ति बढानेवाले हो । इसलिए (मे पितॄन् तर्पयत) मेरे पितरोंको तृप्त करो ॥ ३४ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

होते हैं, ग्रीष्म ऋतुमें सर्वत्र शुष्कता होती है । वर्षामें वृष्टिके द्वारा सबको नया जीवन प्राप्त होता है । शरदमें विविध अन्न उत्पन्न होते हैं और जीवोंका धारणपोषण होता है । इस कारण इसका नाम ' स्व-धा ' अर्थात् अपना धारण पोषण करनेवाली ऋतु कहा है । हेमन्तमें भयंकर शैत्य या ठंडी होती है और शिशिरमें पुराने पत्ते झडकर वृक्षोंपर नई कोंपलें फूटती हैं । इन छे ऋतुओंके ये छे कार्य हैं, अर्थात् संसार सुव्यवस्थासे चल रहा है । यह पितरोंका जिनसे विश्वपालक शक्तियोंका कार्य है ।

यहां ' रस, शोष, जीव, स्वधा, घोर और मन्यु ' इन शब्दों का अर्थ ऋतु परक ही होता हो, ऐसी बात नहीं है । रसिकता, खुश्की, जीवन, स्वकीय धारक शक्ति, घोरत्व और उत्साह ये वैयक्तिक गुण भी यहां माने जा सकते हैं और ये व्यक्तित्व के रक्षक गुण हैं, इसलिए इन गुणों को ही मानना यहां प्रासंगिक होगा । ये वैयक्तिक गुण ही व्यक्तिसत्ता को सुस्थिर रखते हैं, इसलिए ये व्यक्ति में पितृस्थानीय हैं । पितर रक्षक ही होते हैं ।

व्यक्ति में समय पर रसमयता समय पर खुश्की, समय पर जीवनीयता, अपनी धारण करने की शक्ति, समय पर क्रूरता और समय पर क्रोध या उत्साह धारण करने से मानवी जीवन की सफलता होती है । अतः ये गुण व्यक्ति की सफलता करनेवाले हैं, अतः ये व्यक्तित्व के रक्षक हैं और इसीलिए ये पितर कहलाते हैं ।

पितरों से इस मंत्र में घर मांगा है । यहां घर का अर्थ पुत्र पौत्र आदि संतति है । भार्या, पुत्र और पौत्र के समूह का नाम गृह है । केवल ईंटों के समूह का नाम गृह नहीं है । हमें ऐसे घर चाहिए कि जहां पति पत्नी और बच्चे सुख से मिलजुल कर रहते हों । इसलिए कुटुंब में रस, शोष, जीवन, अन्न, क्रोध और उत्साह चाहिए । इन गुणों की आवश्यकता घर में होती है । पाठक स्वयं इस बात का अनुभव कर सकते हैं । घर में समय पर प्रेम भी करना है, तो समय पर कठोर भी होना पडता है । तभी कुटुंब की उन्नति सुचारुरूप से हो सकती है । इसलिए मेरे विचार से इन पदों का अर्थ मानवीय गुणों के बोधक ही समझने चाहिए । भाष्यकारों ने इन पदों का ऋतुवाचक माना है । यह ऋतुवाचक भाव आधिदैविक अर्थ में सार्थक होगा ।

मंत्रके अन्तिम भाग में यह कहकर कि ' जो कुछ हमारे पास है, वह सब हम पितरोंके लिए समर्पित करते हैं ' पितरों को वस्त्र समर्पित किया है ॥ ३२ ॥

अपने कुल में वीर पुरुष ही उत्पन्न होने चाहिए । उससे सब राष्ट्र की आकांक्षा तृप्त होनी चाहिए । ऐसा पुत्र दम्पति प्राप्त करें । कमलों की माला धारण करनेवाला वीर कुमार उत्पन्न हो । गर्भाधान के समय यह पतिपत्नी की इच्छा हो । इस इच्छा से पतिपत्नी सम्बन्ध स्थापित करें और अपने पूर्वजों से प्रार्थना करें कि वे ऐसे जीव को अपने कुल की यशोवृद्धि के लिए भेजें ।

पितर गुण रूप से व्यक्ति में, वीर रूप से राष्ट्र में, और ऋतुरूपसे विश्व में रहते हैं । इसके अतिरिक्त पूर्वज पितर हैं । इन पूर्वज पितरों की कृपा से इष्ट वीर पुत्र उत्पन्न होता है । इसलिए पितृयज्ञ किया जाता है और उन यज्ञों से सन्तुष्ट हुए पितर इष्ट संतति देते हैं । इसलिए यहां पितरों से वीर पुत्र की प्राप्ति की प्रार्थना की है । पितरों में से ही कोई एक जीव पुत्ररूप में फिर उत्पन्न होता है, ऐसी भी एक मान्यता है ॥ ३३ ॥

बलवर्धक अन्नरस, घी, दूध, फलों फूलोंसे चूनेवाले उत्तम रस, नीरोगता करनेवाले तथा मृत्युको दूर करनेवाले औषधिरस, उत्साहवर्धक पेय, धारणाशक्ति बढानेवाले अन्न-रस पितरोंको तृप्तिके लिए देने चाहिए । इन रसों और अन्नोंको देकर पितरोंकी तृप्ति करनी चाहिए । इस तरह तृप्त किए गए पितर, पितृयज्ञसे तृप्त हुए पितर हमें वीर सन्तानें दें ।

यहां पितृयज्ञका सम्बन्ध वीर पुत्रकी उत्पत्तिसे है ।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे ॥ २ ॥
तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥
उप त्वाऽग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत । जुषस्व समिधो मम ॥ ४ ॥

[६६] (समिधा अग्निं दुवस्यत) समिधा से अग्नि की सेवा करो, (घृतैः अतिथिं बोधयत) घी की आहुतियों से अग्निरूपी अतिथि को जगाओ और (अस्मिन् हव्या आ जुहोतन) पश्चात् इसमें हवनीय द्रव्य की आहुतियों का हवन करो ॥ १ ॥

[६७] (सुसमिद्धाय शोचिषे) उत्तम प्रदीप्त तेजस्वी (जातवेदसे अग्नये) ज्ञानी अग्नि के लिए (तीव्रं घृतं जुहोतन) तेजस्वी घी का हवन करो ॥ २ ॥

[६८] हे (अंगिरः) गतिमान् अग्ने ! (तं त्वा समिद्भिः) उस तुझे समिधाओंसे और (घृतेन) घीसे (वर्धयामसि) हम बढाते हैं। हे (यविष्ठ्य) युवा अग्ने ! (बृहत् आ शोच) तू बडी ज्वालाओंसे प्रकाशित हो ॥ ३ ॥

[६९] हे (अग्ने) अग्ने ! (हविष्मती घृताचीः) हविष्यान्नसे युक्त और घीसे भीगी हुई समिधायें (त्वा उप यन्तु) तुझे प्राप्त हों । हे (हर्यत) कान्तियुक्त अग्ने ! (मम समिधः जुषस्व) मेरी समिधाओंका सेवन कर ॥ ४ ॥

अश्वत्थ आदि की समिधायें डालकर अग्नि को प्रज्वलित करो । ये समिधायें भी घी से भीगी हों । अग्नि प्रज्वलित करनेके लिए घृत की आहुतियां उस अग्निमें डालो। समिधायें और घी डालने से अग्नि जाग उठेगी । अग्नि की ज्वालायें अच्छी तरह प्रज्वलित होने के बाद उस प्रज्वलित अग्नि में नानाविध द्रव्यों की आहुतियां डालो और इस तरह हवन करो ।

यहां 'अतिथि' शब्द अग्नि का विशेषण है । (अत्ति इति अतिथिः) जो खाता है, वह अतिथि है । अतिथि का यह अर्थ इस मंत्र में है। इसका दूसरा अर्थ (अतति) है- जो जाता है, घूमता है, प्रवास करता है, वह अतिथि है। पर वह अर्थ यहां नहीं है । अग्निका सर्वभक्षक गुण इस 'अतिथि' पद से यहां बताया है ॥ १ ॥

उत्तम और सम्यक्तया प्रदीप्त, जिसकी ज्वालायें उत्तम प्रकार फैल रही हैं, जो सब वस्तुमात्र को जानता है अथवा जिसके प्रकाशसे सब वस्तुओं का ज्ञान होता है । अपने प्रकाशसे अग्नि सब वस्तुओंका ज्ञान यथावत् कराता है उस अग्नि में गरम किया हुआ, स्वच्छ शुद्ध तेजस्वी, आग पर गरम किया हुआ घी डालो ।

हवनके लिए घी जमा हुआ न हो, पर पतला हो, यह भाव यहां है। यह अग्नि 'जातवेदस्' है अर्थात् बने हुए पदार्थ मात्रको जो जानता है अथवा जो बताता है। यहां ज्ञान देनेवाले ज्ञानसाधन अग्निका वर्णन है। अग्नि सब कर्मोंका और ज्ञानका साधन है ॥ २ ॥

समिधाओंसे और घीकी आहुतियोंसे अग्निका संवर्धन करना चाहिए, जिससे अग्निकी ज्वालायें बडी होकर चारों ओर उसका अच्छा प्रकाश हो।

'अंगिरः' पद गतिमान् अर्थका वाचक है। अंग-रसमें जो आग्नेय तत्त्व है, उसका नाम भी अंगिरस् है। इसको जीवनका सत्त्व कहते हैं। 'यविष्ठ्य' पदका अर्थ बलवान् अथवा नित्य तरुण, नित्य युवा है। अग्नि कभी बूढा नहीं होता, वह तो सदाही तरुण रहता है। यह आदर्श उपासक अपने सामने रखे ॥ ३ ॥

नाना प्रकारकी हवनकी सामग्रियां तथा घीसे भीगी समिधायें अग्निके समीप लाई हैं, उनका हवन इस अग्निमें हो ॥ ४ ॥

भूर्भुवः स्वः द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ ५ ॥
आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ६ ॥
अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥ ७ ॥

[७०] (भूः, भुवः स्वः) तू सत्ता, ज्ञान और आनन्द रूप है। हे (देव यजनि पृथिवि) देवों के यजन के लिए स्थान देनेवाली पृथिवी ! (तस्याः ते पृष्ठे) उस तेरी पीठ पर (अन्नाद्याय) अन्न के भक्षण के लिए (अन्नादं अग्निं आ दधे) अन्न भक्षक अग्नि की स्थापना करता हूँ। इससे (भूम्ना द्यौः इव) मैं विशालता से द्युलोक के समान और (वरिम्णा पृथिवी इव) वरिष्ठता से पृथिवी के समान होऊं ॥ ५ ॥

[७१] (अयं गौः पृश्निः) इस गमनशील विचित्र दीप्तिमान् अग्निने (आ अक्रमीत्) अन्तरिक्षमें आक्रमण किया। वह (पुरः मातरं असदत्) प्रथम माता पृथ्वीके पास गया। (स्वः प्रयन् पितरं च असदन्) तदनंतर प्रकाशलोकमें जाता हुआ वह पितृरूप द्युलोकतक पहुंच गया ॥ ६ ॥

[७२] (अस्य रोचना) इस अग्निकी दीप्तिमती शक्ति (प्राणात् अपानती) प्राण और अपान रूपसे (अन्तः चरति) अन्दर संचार करती है। (महिषः दिवं व्यख्यत्) यह महान् अग्नि द्युलोकको प्रकाशित करता है ॥ ७ ॥

हे अग्ने, तू सत्तावान्, अस्तित्ववान्, ज्ञानवान् और अपने निज आनंद से युक्त है। तेरे अन्दर सत्ता, ज्ञान और आनंद है। मैं भी तेरी उपासनासे सत्, चित् और आनंद से युक्त बनूं। सत्ता, ज्ञान और आत्म प्रकाश के लिए मैं यह अग्नि की उपासना कर रहा हूँ। वह मेरी कामना पूर्ण और तृप्त हो।

यह पृथ्वी देवों के यजन करने के लिए उत्तम है। यहां देवों के उद्देश्य से हवन किया जाता है। अन्नादि की प्राप्ति हो, पर्याप्त अन्न मिले, इस उद्देश्य से यज्ञ करने के लिए अन्न भक्षक इस अग्नि की स्थापना मैं इस वेदी में करता हूँ। इसमें मेरा यज्ञ सफल हो और मैं द्युलोकके समान विस्तारसे युक्त और पृथ्वीके समान गुरुत्वसे युक्त हो जाऊं।

'भूः भुवः स्वः' का अर्थ टीकाकार अनेक तरहसे करते हैं, यथा-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, अन्न-प्रजा-पशु आदि आदि। कुछ टीकाकार इन तीन महा व्याहृतियों का अर्थ ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ यह भी करते हैं। इनकी परिपूर्णता को सिद्ध करना ही यहां लक्ष्य है। 'भूः, भुवः, स्वः' इन तीनों लोकोंके अन्दर का सब वस्तुमात्र जाना जाता है। यज्ञसे इन सबका हित सिद्ध करना है।

जिस तरह द्युलोक विस्तारसे युक्त है और उसमें सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि तेजस्वी गोलक हैं, उसी तरह मैं भी विस्तारसे युक्त परिवारसे विस्तृत, कार्य व्यापारोंसे विस्तृत, विद्यासे विस्तृत अर्थात् कौटुम्बिक पुत्र-मित्र-इष्टजनोंसे विस्तृत बनूं। यशसे विस्तृत बनूं, और गुरुत्वसे, बडप्पनसे, धनादि सब प्रकारके ऐश्वर्यसे बडा होऊं। विस्तार और महत्त्व इस तरह दो तरहके महत्त्व का वर्णन यहां पर है। मनुष्य की उन्नतिमें इन दोनों प्रकारके महत्त्व की आवश्यकता होती है, अतः इनकी प्रार्थना यहां की है। मनुष्य जो यज्ञ करता है, वह इनकी प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है ॥५॥

वह गतिशील अग्नि विचित्र रंगरूपवाला है। लाल, श्वेत, पीत रंगवाली ज्वालाओंसे प्रकाशित होनेके कारण अग्निको यहां विविध रंगवाला कहा गया है। यह अग्नि विविध स्थानोंपर आक्रमण करता है। अग्निरूपसे पृथ्वीपर, विद्युद्रूपसे अन्तरिक्षमें तथा मेघमंडलमें और सूर्यरूपसे द्युलोकमें इसने आक्रमण किया है। इस तरह त्रिलोकीमें इसका आक्रमण होता है।

पृथिवी माता है और अग्नि उसका पुत्र है। इसलिए वह सबसे प्रथम अपनी माताकी गोदीमें- वेदिमें बैठता है। पृथ्वीपर आक्रमण करता है। उसका पिता सूर्य है, क्योंकि सूर्यसे, सूर्यकिरणसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। अतः पृथ्वीपर विक्रम करता हुआ यह अग्नि यज्ञरूपसे अपने प्रकाशसे सूर्य किरणके आश्रयसे द्युलोकतक पहुंचता है और अपने पिताको प्राप्त करता है। बीचमें अन्तरिक्षमें भी इसका विक्रम मेघमंडलमें दीखता है। अर्थात् यह अग्नि इस प्रकार तीनों लोकोंमें विक्रम करता हुआ प्रकाशता है, इतना इस अग्निका सामर्थ्य है ॥ ६ ॥

इस अग्निकी ज्योति प्राण और अपान रूपसे सब प्राणियोंके अन्दर संचार करती है। वही अन्तरिक्षमें वायु-

त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते । प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥ ८ ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ।

अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ।

ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ९ ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ।

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ १० ॥

---

[७३] (त्रिंशत् धाम विराजति) जो तीस धामोंमें विराजती है, (वाक्) वह वाणी (प्रति वस्तोः) प्रतिदिन और (अह्नः) विशेष दिनोंमें (द्युभिः) अपने तेजोंसे (पतंगाय धीयते) अग्निके लिए प्रयुक्त होती है ॥ ८ ॥

[७४] (अग्निः ज्योतिः) अग्नि ज्योति है और (ज्योतिः अग्निः) ज्योति अग्नि है, (स्वाहा) मैं उसमें अर्पण करता हूं । (सूर्यः ज्योतिः) सूर्य ज्योति है, (ज्योतिः सूर्यः) और ज्योति सूर्य है, (स्वाहा) मैं उसमें अर्पण करता हूं । (अग्निः वर्चः) अग्नि तेज है और (ज्योतिः वर्चः) तेजही अग्नि है, मैं (स्वाहा) उसमें अर्पण करता हूं । (सूर्यः वर्चः) सूर्य तेज है और (ज्योतिः वर्चः) तेजही सूर्य है (स्वाहा) मैं उसमें अर्पण करता हूं । (ज्योतिः सूर्यः) तेज सूर्य है, (सूर्यः ज्योतिः) और सूर्य तेज है (स्वाहा) मैं उसमें अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

[७५] (सवित्रा देवेन सजूः) सविता देवके साथ (इन्द्रवत्याः रात्र्याः सजूः) इन्द्रयुक्त रात्रीके साथ (जुषाणः अग्निः) रहनेवाला अग्नि (वेतु स्वाहा) इस आहुतिको प्राप्त होवे । (सवित्रा देवेन सजूः) सविता देवके साथ (इन्द्रवत्या उषसा सजूः) इन्द्रयुक्त उषाके साथ (जुषाणः) रहनेवाला (सूर्यः) सूर्य (वेतु स्वाहा) आहुतिको स्वीकार करे ॥ १० ॥

रूपसे संचार करता है अर्थात् यह वायु भी अग्निकाही एक रूप है । यही महा समर्थ अग्नि द्युलोकको प्रकाशित करता है । अर्थात् यह अग्निही अग्निरूपसे पृथ्वीपर, वायु और विद्युत् रूपसे अन्तरिक्षमें और सूर्यरूपसे द्युलोकमें विद्यमान है । अन्तरिक्षमें वायुके साथ विद्युद्रूप भी सम्मिलित है ॥ ७ ॥

अहोरात्रके तीस मुहूर्त होते हैं । इन तीस मुहूर्तोंमें वाणी कार्य कर रही है । मानवोंके व्यवहार करती है । यह वाणी दिनभर कार्य करती है । यह वाणी हमेशा कुछ न कुछ बोलती ही रहती है । दिनमें और रात्रीमें प्रतिदिन और विशेष दिन जो वाणीका कार्य होता है, वह गतिमान् अग्निके कारणही होता है । वाणी द्वारा जो कुछ वर्णन हो रहा है, वह अग्निकाही वर्णन है ।

अग्निका नाम पतंग है । सूर्यका भी यही नाम है । जो उडता हुआ जाता है (पतन् गच्छति), वह पतंग है, इसलिए पतंग सूर्य को भी कहते हैं । सूर्य आकाश के तीस विभागोंमेंसे गुजरता है और उसीका वर्णन मानवों की वाणी करती है ॥ ८ ॥

अग्नि और सूर्य ब्रह्मका तेजही है अर्थात् ब्रह्मके तेजकेही अग्नि, सूर्य, ज्योति, वर्च आदि रूप हैं । ऐसा मानकर मैं इस अग्निमें यह ब्रह्मका रूप है, ऐसा जानकर और मानकर हवन करता हूं । इस यज्ञसे मेरी कामना सफल हो ॥ ९ ॥

पहिला मंत्र सायंकालके हवन करनेका और दूसरा मंत्र प्रातःकालके हवन करनेका है । 'सविता' शब्द सब विश्वके प्रसविता परमात्माका वाचक है । सकल जगत्के निर्माता ईश्वरकी शक्तिके साथ, इन्द्रशक्तिके साथ जो रात्री है, उसके साथ रहनेवाले अग्निमें मैं हवन कर रहा हूं । वह हवन सर्व देवतामय अग्निको प्राप्त होवे ।

सब जगत्की उत्पत्ति करनेवाले ईश्वरकी शक्तिके साथ इन्द्रवाली उषाके साथ रहनेवाले सूर्यरूप अग्निमें मैं यह आहुति अर्पण करता हूं, वह सर्व देवतामय अग्निको प्राप्त हो ॥ १० ॥

उपप्रयन्तों अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नयें । आरे अस्मे चं शृण्वते ॥ ११ ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपांꣳ रेतांꣳसि जिन्वति ॥ १२ ॥

उभा वांमिन्द्राग्नी आहुवध्यां उभा राधसः सह मादयध्यैं ।
उभा दातारांविषांꣳ रयीणामुभा वाजस्य सातयें हुवे वाम् ॥ १३ ॥

अयं ते योनिंर्ऋत्वियो यतों जातो अरोंचथाः ।
तं जानन्नंग्न आरोहाथां नो वर्धया रयिम् ॥ १४ ॥

---

[७६] (अ-ध्वरं उप प्रयन्तः) यज्ञके समीप जानेवाले हम (आरे अस्मे च शृण्वते) दूरसे भी हमारा कथन सुननेवाले अग्निके लिए (मंत्रं वोचेम) मंत्र बोलते हैं ॥ ११ ॥

[७७] (दिवः मूर्धा ककुत्) द्युलोक का मस्तक और उच्च भाग तथा (पृथिव्याः पतिः अयं अग्निः) पृथ्वीका पालक यह अग्नि (अपां रेतांसि जिन्वति) जलोंके वीर्यों को पुष्ट करता है ॥ १२ ॥

[७८] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि ! (वां उभौ आहुवध्यै) तुम दोनों को मैं बुलाता हूँ । (राधसः उभौ सह) अन्नके द्वारा तुम दोनोंको (मादयध्यै) मैं सन्तुष्ट करना चाहता हूँ । (उभौ) तुम दोनों (इषां रयीणां दातारौ) अन्नों और धनोंके देनेवाले हो । (उभौ वां वाजस्य सातये हुवे) इसलिए तुम दोनों को अन्नके दानके लिए बुलाता हूँ ॥ १३ ॥

[७९] हे (अग्ने) अग्ने ! (ऋत्वियः अयं) ऋतुके अनुकूल उत्पन्न हुआ यह अग्नि (ते योनिः) तेरा उत्पत्तिस्थान है । (यतः जातः अरोचथाः) जहांसे उत्पन्न होकर तू प्रकाशित होता है । (तं जानन् आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ (अथ नः रयिं वर्धय) और हमारे धनोंकी वृद्धि कर ॥ १४ ॥

जिसमें हिंसा और कुटिलता नहीं है, उस यज्ञको अध्वर कहते हैं । हम हिंसारहित और कुटिलतारहित यज्ञ करते हैं और जहां ऐसे यज्ञ होते हों, वहां हम जाते भी हैं । ऐसे यज्ञोंमें जाकर अग्निदेवकी प्रशंसाके मंत्र बोलते हैं । हमारी की हुई यह प्रशंसा समीप अथवा दूरसे अग्निदेव सुनते हैं, क्योंकि अग्निही सब देवतास्वरूप है । यह अग्नि प्रार्थनाको सुनता है । वह समीप होनेपर भी सुनता है और दूर होने पर भी सुनता है । अग्निके लिए दूर और समीप कुछ नहीं है । उसके लिए सभी कुछ समीप है, इसका आशय यह है कि अग्नि सर्वत्र व्यापक है, वह प्रत्येक वस्तुमें है, इसलिए वह सब कुछ जानता है और इसीलिए हम उसे अपनी प्रार्थना कहते या सुनाते हैं ॥ ११ ॥

अग्नि पृथ्वीका पालन करनेवाला है तथा द्युलोक के ऊपर के भाग पर विराजता है, मानों यह द्युलोक का मस्तक ही है और बैल के पीठ पर जिस प्रकार ऊंचा भाग होता है, उसी तरह यह अग्नि विश्वमें उच्च है और उच्च

स्थान पर विराजनेवाला है । यह अन्तरिक्ष में रहकर वहां मेघ मण्डल में जो जलके सत्वरूप वीर्य रहते हैं, उनमें विद्युत् रूपसे रहकर उत्तेजित करता है । सर्वत्र रहता हुआ सबको प्रेरणा देता है और सबका उत्साह बढाता है ॥ १२ ॥

इन्द्रदेव और अग्निदेव दोनोंही अन्नों और धनोंको देनेवाले हैं । इसलिए उन्हें सन्तुष्ट करनेके लिए मैं उन्हें बुलाता हूं । इस अन्नके दानसे उन्हें सन्तुष्ट करता हूं । इससे वे सन्तुष्ट हों और मुझे पर्याप्त अन्न और धन दें ॥ १३ ॥

गार्हपत्य अग्निसे आहवनीय अग्नि उत्पन्न होती है । गृहपति अर्थात् गृहस्थही दातृत्वभावको उत्पन्न करनेवाला है । गृहस्थधर्ममेंही दानकी प्रथा उत्पन्न होती है । यह जानकरही गृहस्थधर्मको स्वीकार करना और उसका पालन करना चाहिए । दानसेही गृहस्थकी प्रसिद्धि चारों ओर फैलती है और कीर्ति बढती है । गार्हपत्य अग्नि गृहस्थाश्रमका बोधक और आहवनीय अग्नि यज्ञ हवन या दानका सूचक है । इन दो अग्नियोंके परस्पर-संबन्धके वर्णनसे गृहस्थ धर्मका उपदेश दिया है ॥ १४ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳ शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः । पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥ १७ ॥

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि । वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम् ।
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् । चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ १८ ॥

---

[८०] (अयं होता यजिष्ठः) यह हवनकर्ता, यजनशील, (अध्वरेषु प्रथमः ईड्यः) यज्ञोंमें प्रथम पूजनीय अग्निको (धातृभिः इह अधायि) आधान करनेवाले ऋत्विजों ने यहां स्थापन किया है । (यं विभ्वं चित्रं) इस व्यापक और आश्चर्यकारक अग्निको (विशे विशे अप्नवानः भृगवः) मनुष्यमात्रके हितके लिए कर्म करनेवाले भृगु आदि ऋषियों ने (वनेषु वि रुरुचुः) वनोंमें प्रदीप्त किया ॥ १५ ॥

[८१] (अस्य प्रत्नां द्युतं अनु) इस अग्निके पुरातन तेजके अनुकूल रहनेवाले (अह्रयः सहस्रसां ऋषिं) निर्भय ऋत्विजोंने हजारों यज्ञ करनेवाले ऋषि तुल्य गौ से (शुक्रं पयः दुदुह्रे) शुद्ध दूध निचोडा है ॥ १६ ॥

[८२] हे (अग्ने) अग्ने ! (तनूपा असि) तू शरीर का रक्षक है, (मे तन्वं पाहि) अतः मेरे शरीर की रक्षा कर । हे (अग्ने) अग्ने ! तू (आयुर्दा असि) आयु देनेवाला है, (मे आयुः देहि) अतः मुझे दीर्घायु दे । हे (अग्ने) अग्ने ! तू (वर्चोदा असि) तेजस्विता देनेवाला है, (मे वर्चः देहि) अतः तू मुझे तेजस्विता दे । हे (अग्ने) अग्ने ! (यत् मे तन्वा ऊनं) जो मेरे शरीर में न्यूनता हो, (तत् मे आ पृण) वह पूर्ण कर ॥ १७ ॥

[८३] हे (अग्ने) अग्ने ! (वयस्वन्तः सहस्वन्तः) अन्नसे समृद्ध, बलवान् (अदब्धासः) न दबे हुए हम सब (द्युमन्तं वयस्कृतं सहस्कृतं) तेजस्वी अन्न सिद्ध करनेवाले, बलवान् (सपत्नदंभनं) शत्रुका नाश करनेवाले (अदाभ्यं त्वां) और न दबनेवाले तुझ अग्निको (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए (शतं हिमाः समिधीमहि) सौ वर्षतक प्रज्वलित करते रहेंगे । हे (चित्रावसो) हे रात्रि देवी ! (ते पारं स्वस्ति अशीय) तेरे पास कल्याणके साथ हो जाएं ॥ १८ ॥

यह अग्नि हवन करनेवाला है अथवा यज्ञभूमि में देवों को बुलाकर लानेवाला है । यह यजन करनेवाला, और यजन करनेके स्वभावसे युक्त है । यज्ञोंमें सबसे प्रथम पूजन करने योग्य है । ऐसे अग्नि की स्थापना अग्न्याधान करनेवाले ऋत्विजों ने इस वेदिमें की है । यह अग्नि व्यापक, सर्वत्र व्यापक और विभु है । विलक्षण आश्चर्यकारक सामर्थ्यसे युक्त है । मनुष्य मात्रके हित करनेके लिए कर्म करनेवाले, दानशील, दातृत्व गुणसे युक्त, संततिसे युक्त लोग वनों में यज्ञ कर्मों की रचना करते हैं और वहां अग्नि को प्रदीप्त करते हैं । तपशक्तिसे अपने पापों को जलानेवाले लोग भृगु कहलाते हैं । ये ऋषि जनता के हितके लिए यज्ञ करते हैं और मानवी उन्नति को सिद्ध करते हैं ॥ १५ ॥

प्राचीन सनातन कालसे चले आए प्रकाशको देखकर अर्थात् अग्नि प्रदीप्त होते ही, लज्जारहित, भयरहित, निर्भय होकर यज्ञकर्म करनेवाले याजक हजारों यज्ञों की पूर्णता करनेवाली गौ से, ऋषि तुल्य गौ से वीर्य बढानेवाले पवित्र दूध को निकालते हैं, दुहते हैं ।

अग्निके प्रदीप्त होते ही उसके प्रकाशमें गौ का दोहन करके दूध निकालते हैं और दूध से हवन किया करते हैं ॥ १६ ॥

अग्निदेव शरीर की सुरक्षा करता है, दीर्घ आयु देता है, तेज बढाता है और शरीरमें जो न्यूनता होती है, उसे दूर करके शरीर हृष्ट पुष्ट और सुडौल बना देता है । इसलिए यज्ञ द्वारा अग्नि की उपासना करनी चाहिए ॥ १७ ॥

हम सब लोग अन्नको प्राप्त करें, बलको बढावें, किसीके दबावमें न आवें, अग्निको जगाते हुए सौ हिमकालोंतक अग्निकी उपासना करते रहें । सौ वर्षतक अग्निकी सेवा करनेके लिए कमसे कम १०८ वर्षोंकी आयु होनी चाहिए

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाꣳ स्तुतेन ।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳ रायस्पोषेण ग्मिषीय ॥ १९ ॥

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥ २० ॥

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये । इहैव स्त मापगात ॥ २१ ॥

[८४] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं सूर्यस्य वर्चसा सं) तू सूर्यके तेजके साथ, (ऋषीणां स्तुतेन सं) ऋषियों के स्त्रोत के साथ (प्रियेण धाम्ना सं) प्रिय धामके साथ (अगधाः) संगत हुआ है। उसी तरह तू (आयुषा सं) आयुके साथ (वर्चसा सं) तेजस्विताके साथ (प्रजया सं) प्रजाके साथ तथा (रायस्पोषेण सं) धनधान्य के साथ (सं ग्मिषीय) युक्त हुआ है ॥ १९ ॥

[८५] (अन्धः स्थ) तुम अन्न हो, (वः अन्धः भक्षीय) तुम्हारा अन्न मैं खाऊंगा। तुम (महः स्थ) पूज्य हो, मैं (महः भक्षीय) तुमसे पूज्यत्व प्राप्त करूं। तुम (ऊर्जः स्थ) तुम बलयुक्त हो, (वः ऊर्जं भक्षीय) तुमसे बल प्राप्त करूं। तुम (रायस्पोषः स्थ) धनके पोषक हो, (वः रायस्पोषं भक्षीय) तुमसे धनका पोषण प्राप्त करूं ॥ २० ॥

[८६] (रे-वतीः) हे धनवाली गौओ ! (अस्मिन् योनौ) इस स्थानमें (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशालामें, (अस्मिन् लोके) इस देशमें (अस्मिन् क्षये रमध्वम्) इस घरमें आनंदसे रमो। (इह एव स्त) यहीं रहो (मा अपगात) मत दूर जाओ ॥ २१ ॥

और इस आयुके अन्ततक हम बल, सामर्थ्य, अन्न और आत्मप्रभावसे युक्त रहें।

तेजस्वी, अन्नवान्, बलशाली, शत्रुको दबानेवाले अग्निकी हम उपासना करें, जिससे हमारे अन्दर तेज, अन्न, बल, वीर्य और शत्रुके नाशका सामर्थ्य बढता रहे और हम शत्रुके लिए दुर्जय हो जाएं।

'चित्रा-वसु' रात्रीका नाम है। इसमें चित्रविचित्र ग्रह-नक्षत्र बसते हैं, दिखाई देते हैं। हे रात्री ! हम तेरे पार सुखसे हो जायें। इस प्रार्थनामें आया हुआ रात्री शब्द अहोरात्रका वाचक है या दीर्घरात्रीका यह मननीय है। इस भूमिपर ऐसे भी स्थान हैं कि जहां १२ घंटोंसे लेकर छ मास तक रात्रीकी अवधि न्यूनाधिक होती है। यह प्रार्थना छोटीसी रात्रिकी है, या दीर्घरात्रिकी है अथवा सब प्रकारकी है, यह विचारके योग्य है ॥ १८ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी होना चाहिए। ऋषियोंके स्तोत्रों का अध्ययन करना चाहिए, प्रिय धाम की प्राप्ति करनी चाहिए, अपना घर, अपना स्थान, और अपना देश प्रिय होना चाहिए। दीर्घायु, तेजस्विता, उत्तम संतान और धनके साथ पुष्टि प्राप्त करनी चाहिए। अग्नि की उपासना से यह प्राप्तव्य है ॥ १९ ॥

यह गौ की प्रार्थना है। गौवें दूध देती हैं और दूध ही उत्तम अन्न हैं। इसलिए गौ को अन्न कहा है। हे गौवो ! तुम अन्नरूपी दूध देने के कारण अन्नस्वरूप हो। तुमसे अन्न प्राप्त करके मैं उसका सेवन करूंगा। प्राण को धारण करनेवाले अन्न को 'अन्ध' कहते हैं। हे गौवो ! तुम पूज्य हो, मैं तुमसे पूज्यता प्राप्त करूं। तुम बलयुक्त हो, बल देनेवाली हो, तुम से मैं बल प्राप्त करूंगा। तुम्हारे दूधके सेवनसे मुझे बल प्राप्त होगा। धनका पोषण तुमसे होता है, अन्न आदिकी उत्पत्ति तुमसे और बैलोंसे होती है। इसलिए तुमसे अन्नकी पुष्टि मैं प्राप्त करूंगा। अर्थात् मैं अन्न, महत्त्व, बल और पोषणयुक्त होकर उन्नत होऊंगा ॥ २० ॥

गौ धनवाली है। गाय ही धन है। दूधसे शरीरके बल रूपी धनका पोषण होता है। बैल उत्पन्न करके गाय धान्य-रूप धनकी वृद्धि करती है। इस तरह जो सब तरहसे राष्ट्रीय धनकी वृद्धि करती है। इसलिए गौको 'रे-वती' धनवाली कहा है, जो सर्वथा योग्य है।

(योनिः) रहनेका स्थान, जन्मस्थान, (गोष्ठ) गोशाला, गायोंका बाडा, (लोकः) मनुष्य जिस मोहल्ले या गांवमें रहते हैं, वह देश, (क्षयं) निवास स्थान, इन सब स्थानोंमें गायें सुखरूपसे रहें, विचरें, क्रीडा करें, आनंदसे घूमें, इन्हें भय देनेवाला कोई दुष्ट इन स्थानोंमें न रहे। इन स्थानोंमें गायें रहें, बढें और उन्नत होती रहें।

सब प्रजायें गौका दूध पीकर पुष्ट हों। यज्ञसे गौकी रक्षा होती है और जनताका कल्याण इस रीतिसे होता है॥२१॥

×

सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ।
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥ २२ ॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानꣳ स्वे दमे ॥ २३ ॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ २४ ॥
अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥ २५ ॥

[८७] (विश्वरूपी संहिता असि) हे गौ ! तू अनेक रूपोंसे संघटना करनेवाली है । (ऊर्जा गौपत्येन मा आविश) तू बल देनेवाली होकर गोपालनके भावसे मुझमें प्रविष्ट हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (वयं दिवे दिवे) हम सब प्रतिदिन (दोषावस्तः) रातदिन (धिया नमो भरन्तः) श्रद्धा बुद्धिसे तुझे नमन करते हुए (त्वा उप एमसि) तेरे पास आते हैं ॥ २२ ॥

[८८] (राजन्तं अध्वराणां गोपां) तेजस्वी, अहिंसक कर्मोंके रक्षक (ऋतस्य दीदिविं) सत्यके प्रकाशक और (स्वे दमे वर्धमानं) अपने स्थानमें बढनेवाले [अग्निके पास हम जाते हैं] ॥ २३ ॥

[८९] हे (अग्ने) अग्ने ! (सः) वह तू (सूनवे पिता इव) पुत्र के लिए जिस तरह पिता सुख देता है, उसी तरह (नः सूपायनः भव) हमें सुख से प्राप्त होनेवाला हो और (नः स्वस्तये सचस्व) हमारे कल्याण के लिए हमारे साथ रह ॥ २४ ॥

[९०] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं नः अन्तमः) तू हमारे पास रहनेवाला, (उत त्राता) और हमारा रक्षक (शिवः वरूथ्यः भव) हितकारी और घरेलू मित्र हो । (वसुः अग्निः) हमारा निवासक प्रकाश देव (वसुश्रवाः अच्छ नक्षि) कीर्तिमान अग्नि हमारे पास रहे, (द्युमत्तमं रयिं दाः) और तेजस्वी धन हमें दे ॥ २५ ॥

गौ विश्वरूपी है अर्थात् श्वेत, लाल, काली या अनेक रूपोंवाली है अथवा सब विश्वको, अनेक प्राणियोंको रूप देनेवाली, पोषण करके सुरूपता देनेवाली है । सब शुभ गुणोंका संघटन इस गौमें है । एक गौ अनेक विपत्तियोंसे मानवोंको बचा सकती है । यह गौ शस्त्र और बल स्वरूप है, क्योंकि दूध आदि अन्न देकर सबका बल बढाती है । ऐसी गौएं मेरे पास रहें और मैं इन गौओंका स्वामी बनूं, यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यकी हो । इस तरहकी गायें मेरे घरमें रहें ।

प्रतिदिन सबेरे और शामको हविर्द्रव्य समर्पण करके लोग अग्निकी उपासना किया करें । यज्ञ घर घरमें सुबह शाम होता रहे, जिससे रोग दूर होकर आयु, आरोग्य और बल प्राप्त होकर मानवोंका सुख बढे ॥ २२ ॥

अग्नि प्रकाशता है, हिंसारहित सत्कर्मोंकी रक्षा करता है, अर्थात् हिंसारहित, कुटिलतारहित शुभ कर्मोंको फैलानेवाला यह देव है । सत्यधर्मका प्रकाशक है । सरलतायुक्त सत्यधर्मका प्रवर्तक है और अपने यज्ञस्थानमें हवनादि द्वारा यह सदा बढता है । यह अग्निका वर्णन है ।

अग्नि ही यज्ञमार्ग का प्रवर्तक, संवर्धक और प्रसारक है । यज्ञ ही सब मानवों का कल्याण करनेवाला प्रशस्त कर्म है । यह कर्म अग्निसे सिद्ध होता है, इसलिए अग्नि की उपासना करना मानवों के लिए उचित है ॥ २३ ॥

पुत्र जिस प्रकार पिता के पास आसानी से ही जाता है, बीच में किसी की जरूरत नहीं होती, उसी तरह प्रभु के पास हम पहुंचें । उसकी भक्ति से कल्याण प्राप्त करें । ' स्वस्ति = सु + अस्ति ' अर्थात् उत्तम अस्तित्व, हमारे लिए यहां का जीवन सुखमय हो ॥ २४ ॥

अग्नि हमारे पासही है, क्योंकि उसनेही सबको रूप दिया है । अतः वह सबके पास है, वह सबका रक्षक है, सबका हितकारी है, घरमें रहनेवाला साथी है । जब संपूर्ण विश्वरूपी घरमें अकेला अग्नि व्यापक है, तब सभीका वह साथी है । ' अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ? (कठ उ. ५।९) ' अग्नि संपूर्ण भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपका प्रतिरूप हुआ है । ' इस तरह वह सबका हितकर्ता मित्र है । यह सबका (वसुः = वासयिता) निवास करानेवाला, सर्वत्र जिसकी कीर्ति फैली है ऐसा कीर्तिमान है, वह हमें प्राप्त हो । हम उसके तेजसे तेजस्वी और कीर्तिसे कीर्तिमान बने । वही अग्नि हमें अत्यंत तेजस्वी धन देवे, अर्थात् ऐसा धन देवे कि जिसके तेजसे हम तेजस्वी बने ॥ २५ ॥

तं त्वां शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नायं नूनमींमहे सखिंभ्यः ।
स नों बोधि श्रुधी हवंमुरुष्या णों अघायतः संमस्मात् ॥ २६ ॥
इड एह्यदिंत एहिं - काम्या एतं । मयिं वः कामधरंणं भूयात् ॥ २७ ॥
सोमानं स्वरंणं कृणुहि ब्रंह्मणस्पते । कक्षीवंन्तं य औंशिजः ॥ २८ ॥

[९१] (हे शोचिष्ठ दीदिवः) हे तेजस्वी कान्तिवाले अग्ने ! (तं त्वा नूनं सुम्नाय सखिभ्यः ईमहे ।) उस तुझको हम निश्चयसे सुख के लिये और मित्रों के हितके लिये प्राप्त करते हैं । (सः त्वं नः बोधि, हवं श्रुधी, समस्मात् अघायतः नः उरुष्य) । वह तू हमको जानो, हमारी प्रार्थना सुनो, और संपूर्ण पापियों से हमारी रक्षा करो ॥ २६ ॥

[९२] (हे इडे एहि) हे अन्नरूप गौ ! यहां आ । (हे अदिते ! एहि) हे अदीनता करनेवाली गौ ! यहां आ । (हे काम्याः ! एत) हे सबके द्वारा चाहने योग्य गौओ ! यहां आओ । (वः कामधरणं मयि भूयात्) तुम्हारे अन्दर जो कामनाकी पूर्णता करनेकी शक्ति है वह मुझे मिले ॥ २७ ॥

[९३] (हे ब्रह्मणस्पते !) हे ज्ञानके स्वामिन् परमेश्वर ! (सोमानं स्वरणं कृणुहि) सोमरस तयार करनेवाले को उत्तम तेजस्वी कर । (यः औशिजः तं कक्षीवन्तं) जैसे उशिक् पुत्र कक्षीवान् को किया था ॥ २८ ॥

हम सब तेजस्वी प्रतापी अग्निको इसलिये प्राप्त करते हैं कि वह हमें (सुम्नाय) सुख देवे और (सखिभ्यः) हमारे इष्टमित्रों का हित करे । वह हमारे भावको (बोधि) समझे, अथवा जाने, हमारी प्रार्थना (श्रुधि) सुने, और (समस्मात् अघायतः) सब प्रकारके पाप करनेवाले पापी लोगों से हमारा बचाव करे । ईश्वर उपासनासे पापी जनोंकी कुटिल कारवाइयोंसे बचाव होता है, यह बात यहां सूचित की है ॥ २६ ॥ (ऋ. ५।२४।३-४ व्युत्क्रमपाठः)

गौ के तीन नाम यहां कहे हैं । ' इडा ' = जो अन्न देती है, दूध, दही, मक्खन, घी, छास आदि पुष्टिकारक अन्न देती है, इसलिये गौ को ' इडा ' कहते हैं, ' इडा, इरा, इळा ' आदि नाम एक ही अर्थके वाचक हैं । ' अदितिः = (अदनात्)' = जो अन्नरूप है, जो भक्षण किया जाता है, उक्त प्रकार दुग्धादिरूप अन्न देनेसे ही गौका यह नाम हुआ है । इसका दूसरा अर्थ ' अ-दिति = अ-दीना ' है । जो दीनताको हटा देती है और उन्नति लाती है ।

यह गौ ' काम्या ' है अर्थात् सबकी यहा इच्छा होती है कि यह अपने पास अपने घरमें रहे, इसका दूध हमें प्राप्त हो और इसका दूध पीकर मेरे घरके लोग हृष्ट पुष्ट और अदीन बनें तथा मैं इनके दूधसे यज्ञ करूं ।

गौका यह वर्णन उसका महत्त्व बताता है । गौके विषयमें जो यह (काम-धरणं) कामनाओंकी धारणा है, गौसे जो यह सिद्धि मिलती है वह मुझे प्राप्त हो, अर्थात् गौएं मेरे पास बहुत रहें और उनके हविसे मेरा यज्ञ सफल होता रहे और उनसे प्राप्त होनेवाले अन्न से मेरे सब पारिवारिक जन तथा इष्ट मित्र हृष्टपुष्ट तथा नीरोग बने ॥ २७ ॥

ब्रह्मणस्पति वह है कि जो संपूर्ण ज्ञानका अधिपति प्रभु है । हे प्रभो ! तू सोमयाग करनेवालेको ' सु-अरणं ' उत्तम प्रगतिसे युक्त, उत्तम तेजसे युक्त कर । जिस तरह उशिक् ऋषिके पुत्र कक्षीवान् को ज्ञानवान्, तेजस्वी और प्रगति संपन्न किया था, वैसा मुझे करो । ' उशिक् ' वह है जो उन्नति चाहता है, ' कक्षी-वान् ' वह है जो कक्ष्या कमर कसेनी रस्सीवाला होता है । कमर कस कर उन्नतिके कार्य करनेको जो तैयार होता है, उसके ये सांकेतिक नाम हैं । जो अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये सदा कटिबद्ध रहता है उसको जिस तरह प्रभुकी सहायता होती है, वैसी ही मुझे हो, क्योंकि मैं भी अपनी उन्नति चाहता हूं और तदर्थ हर एक प्रकारके यत्न दक्षतापूर्वक कर रहा हूं । इसलिये प्रभुकी सहायता चाहता हूं । वह मुझे प्राप्त हो । ॥ २८ ॥ (ऋ. १।१८।१)

यो रेवान्यो अंमीवहा वंसुवित्पुष्टिवर्द्धंनः । स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ २९ ॥

मा नः शर्ठंसो अंररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

महिं त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः । दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ३१ ॥

नहि तेषामुमा चन नाध्वंसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशर्ठंसः ॥ ३२ ॥

---

[९४] (यः रेवान्) जो धनवान, (यः अमीवहा) जो रोगोंका नाश करनेवाला, (वसुवित् पुष्टिवर्धनः) धनको पास रखनेवाला, (यः तुरः) जो पुष्टि करनेवाला है और जो त्वरासे कार्य करनेवाला है, (सः नः सिषक्तु) वह हमारे पास रहे ॥ २९ ॥

[९५] (हे ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञानपते ! (अररुषः मर्त्यस्य शंसः धूर्तिः) हिंसाकारी घातक शत्रुका शाप अथवा द्रोह (नः मा प्रणक्) हमारे पास न आवे । (नः रक्ष) हमारी रक्षा कर ॥ ३० ॥

[९६] (मित्रस्य अर्यम्णः वरुणस्य) मित्र अर्यमा और वरुण (त्रीणां) इन तीनोंकी (महि द्युक्षं दुराधर्षं) बडी तेजस्वी और शत्रुसे घर्षण होने अयोग्य (अवः अस्तु) सुरक्षा हमें प्राप्त हो ॥ ३१ ॥

[९७] (अघशंसः रिपुः,) पापी शत्रु, (तेषां अमा, अध्वसु, वारणेषु.) उनको घरमें, मार्गोमें अथवा दुर्गम स्थानोंमें (चन नहि ईशे) किसी तरह, काबू करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ३२ ॥

ब्रह्मणस्पति, ज्ञानका स्वामी, प्रभु (रे-वान्) सब प्रकार के धनोंसे युक्त है, कोई धन उसके पास नहीं ऐसा नहीं है, जो (अमीव-हा) आमसे उत्पन्न होनेवाले सब रोगोंको दूर करता है और नीरोगता देता है, यहां रोगोंका कारण ' आम ' है ऐसा कहा है । अपचित अन्नका नाम ' आम ' है । ' अमवान् ' अर्थात् जहां आम होता है वही रोग है । ' अमीव ' नाम रोगका है । ' अमीव-हा ' आमसे उत्पन्न रोगोंका नाशकर्ता । प्रायः सब रोग अपचित अन्नसे-आमसे ही होते हैं, इसलिये जो आमसे अपने पेटको बचाता है वह सब रोगोंसे अपना बचाव करता है । यही ' वसु-वित् ' धनों को यथावत् जानता है, और सब वस्तुओंका ज्ञान पूर्वक प्रयोग करता है । अतः यही ' पुष्टि वर्धनः ' पुष्टिका संवर्धन करनेवाला है । और ' तुरः ' त्वरासे सब शुभ कार्य करनेवाला है । ऐसा गुणसंपन्न प्रभु हमारा साथी होकर हमारी सहायता करे । अर्थात् हम ऐसे कर्म करे कि जिससे वह प्रसन्न होकर वह हमारी पूर्ण रीतिसे सहायता करे ॥ २९ ॥ (ऋ. १।१८।२)

हे ज्ञानके अधिपते, हे प्रभो ! (अ-ररुषः) हिंसा करनेवाले, घातपात करनेवाले, मारक दुष्ट शत्रुके (शंसः) भाषण, शाप, निंदाके प्रयोग अथवा अपशब्द तथा (धूर्तिः) कपटके अथवा हिंसाके मारक प्रयोग किंवा शस्त्र हमतक न पहुंचे । हमारे पास आनेतक ही उनका नाश हो, अथवा वे बिफल होजांय । हे प्रभो, हमारी सुरक्षा कर ॥ ३० ॥ (ऋ. १।१८।३)

मित्र आधिदैवतमें सूर्य है, और अधिभूतमें सुहृत् है, अर्यमन् अधिदैवतमें आदित्य है और अधिभूतमें श्रेष्ठ मनवाला महात्मा है, वरुण आधिदैवतमें जलाधिपति देव है और अधिभूतमें जीवनका रक्षण कर्ता है । अध्यात्ममें ये ही क्रमशः आत्मा, हृदय और प्राण हैं । प्रत्येक क्षेत्रमें ये इन तीनोंकी बडी सहायता हो रही है । इसी सहायताका वर्णन इस मन्त्रमें है ।

इनसे (महि द्युक्षं दुराधर्षं अवः) बडा तेजस्वी दुराधर्ष संरक्षण प्राप्त होता है । जिसमें हीनता या दीनताका भाव नहीं है वह ' द्युक्ष ' अर्थात् स्वर्गीय या तेजस्वी है । शत्रुके द्वारा जिसका घर्षण नहीं हो सकता, शत्रु जिसपर आक्रमण नहीं कर सकते अथवा शत्रुका आक्रमण होनेपर वे परास्त होते हैं वह ' दुराधर्ष ' है । इस तरहका संरक्षण इन तीनों देवताओंसे प्राप्त होता है ।

' मित्रः '= (मिद्यति स्निह्यति मिद्-त्र) जो प्रेमका बर्ताव करता है, ' अर्यमा ' (अर्यं श्रेष्ठं मिमीते) जो श्रेष्ठ कौन है और हीन कौन है इसकी ठीक ठीक परीक्षा करता है, ' वरुणः ' (वृणोति) जो स्वीकृत किया जाता है, जो वरा जाता है, जो सबको प्रिय है, जो वरिष्ठ है । इस तरह इन तीनोंके भाव देखकर इनके गुण किस तरह सहायकारी होते हैं यह मानना चाहिये ॥ ३१ ॥

' अघ-शंसः ' पाप कर्म के लिये ही जो प्रसिद्ध है वह अघशंस है, यही सब जनता का शत्रु है । पाप करनेवाला ही शत्रु है । यद्यपि पाप करनेवाला सबका शत्रु है और वह

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥ ३३ ॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३५ ॥

[९८] (हि ते अदितेः पुत्रासः) निश्चयसे वे अदितिके पुत्र (मर्त्याय जीवसे) मनुष्यको दीर्घजीवन के लिये (अजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति) अविच्छिन्न तेज देते हैं ॥ ३३ ॥

[९९] (हे इन्द्र !) हे इन्द्र ! (कदाचन स्तरीः न असि) कभी भी तुम निष्फल नहीं हो (दाशुषे इन्नु उप सश्चसि) इन्द्र दाताके अनुकूल होता है (हे मघवन्) हे मघवन् ! (देवस्य ते दानं) तुझ देवताका दान (भूयः इन्नु उपपृच्यते) बहुतही प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

[१००] (सवितुः देवस्य) सबको प्रसवनेवाले देवके (तत् वरेण्यं भर्गः धीमहि) उस श्रेष्ठ तेजका हम ध्यान करते हैं । (यः नः धियः प्रचोदयात्) जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है ॥ ३५ ॥

सबको कष्ट पहुंचा सकता है, तथापि पूर्वोक्त तीनों दिव्य गुण कर्मस्वभाववाले देवताओंको अथवा उक्त दिव्य भाववालोंको वह शत्रुभी काबूमें नहीं ला सकता । क्योंकि ' मित्रभाव, आर्यकी ही मान्यता करनेका भाव और श्रेष्ठता ' ये ऐसे शुभ गुण हैं कि इनसे वह पापी शत्रु भी हार खाता है ।

' मित्रभाव ' से शत्रुभी मित्र होते हैं, अर्यको अर्थात् श्रेष्ठकोही में श्रेष्ठ मानूंगा, कभी दबावमें आकर हीनको श्रेष्ठ नहीं कहूंगा और श्रेष्ठकी ही मान्यता करूंगा ' इस वृत्तीसे वीरता और धीरता बढती है और यह मनुष्य किसी के दबावमें नहीं आता और न गिरता है । इसी तरह जो वरणीय है, सबका हितकारी है, सबकी जीवन रक्षामें तत्पर है, वह भी शत्रुके काबूमें नहीं फंसता । इस तरह इन तीनों शुभ गुणों और शुभ गुणवालोंके महत्त्वको जानना उचित है ॥ ३२ ॥

अदिति (अ-दिति) वह है जो खण्डित नहीं है, अविभक्त एक रस, अविभाज्य ऐसी जो विश्वव्यापिनी शक्ति है, वह अदिति है । इसके पुत्र मित्र अर्यमा और वरुण हैं । इनका स्पष्टीकरण पूर्व मंत्रोंमें दिया है । ये मनुष्य को ऐसा विलक्षण तेज देते हैं कि जो प्राप्त होनेसे मनुष्य सुखसे दीर्घजीवन व्यतीत कर सकता है ।

' दिति ' के दैत्य और ' अदिति ' के आदित्य है ' दिति ' का भाव ' खण्डित शक्ति ' है, छोटे छोटे टुकडे जिसमें माने जाते हैं । व्यक्ति व्यक्तिका विभिन्न भाव जिसमें माना जाता है । प्रत्येक व्यक्तिकी भिन्नता माननेसे कलह और युद्ध अपरिहार्य है । यही दितिके पुत्रों, दैत्यों, का युद्ध प्रेम है ।

दितिके विरुद्ध भाव ' अ-दिति ' में है । अविभक्तता, अविभाज्यता, अपृथग्भाव, अखण्डभाव, एकरस एकत्वका-भाव, एकही सत् है यह भाव ' अदिति ' से जाना जाता है । इस अदितिके तेजस्वी आदित्य होते हैं जो जगत् को प्रकाशका मार्ग बताते हैं और सबका उद्धार करते हैं ।

दिति और अदिति के तत्त्वज्ञानसे जगतमें किस तरह विरुद्ध भाव उत्पन्न होता है यह देखनेसे, अदिति के पुत्रोंसे सुखमय जीवन किस तरह होता है यह ध्यानमें आ सकता है ॥ ३३ ॥

' स्तरीः ' का अर्थ है ' वंध्या गौ ' । उपासकके लिये कभी भी वन्ध्या गौके समान इन्द्र निष्फल नहीं होता । सदा पर्याप्त दूध देनेवाली उत्तम गौके समान फलदायी होता है । इन्द्र सदाही दाताके अनुकूल रहता है, सदा सहाय्यकारीही होता है । ' सश्च ' का अर्थ है (to cling, follow, honour, pervade) चिपकना, साथ रहना, अनुसरना, संमान करना, व्यापना । यहां ' अनुसरना ' अर्थ है । इन्द्र हमेशा दाताके अनुकूल होकर उसकी सहायता करता है । ' दानं उपपृच्यते ' का अर्थ है ' दान दिया जाता है । ' इन्द्र दान देता है और वह पर्याप्त प्रमाणमें देता है जिससे उपासक संतुष्ट होता है ॥ ३४ ॥

' सविता ' वह देव है जो (सर्वस्य प्रसविता । श. ब्रा.) सबका प्रसविता है, सबको अपने अन्दरसे सृजन करता है, जैसी मकडी अपने अन्दर से अपना तन्तुजाल बना देती है ।

परिं ते दूडभो रथोऽस्माँ२ अंश्नोतु विश्वतंः। येन रक्षंसि दाशुषंः ॥ ३६ ॥
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैंः ।
नर्य प्रजां मे पाहि शᳬस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥३७॥

[१०१] (येन दाशुषः रक्षसि) जिससे दाताओंकी तुम रक्षा करते हो, (सः ते) वह तेरा, (दूडभः रथः) किसीसे न दबनेवाला रथ, (अस्मान् विश्वतः परि अश्नोतु) हम सब के चारों ओर रहे ॥ ३६ ॥

[१०२] (भूः भुवः स्वः) सत्, चित्, आनन्द स्वरूप प्रभो ! (प्रजाभिः सुप्रजाः) मैं प्रजाओंसे सुप्रजावाला, (वीरैः सुवीरः) वीरोंसे उत्तम वीरवाला, (पोषैः सुपोषः स्याम्) पुष्टियोंसे उत्तम पोषक अन्नोंवाला होऊं । (हे नर्य) हे मानवोंके हितकर्ता ! (मे प्रजां पाहि) मेरी प्रजाकी रक्षा कर। (हे शंस्य) हे प्रशंसायोग्य ! (मे पशून् पाहि) मेरे पशुओंकी रक्षा कर। (हे अथर्य) हे गतिमान् ! (मे पितुं पाहि) मेरे अन्नकी रक्षा कर ॥ ३७ ॥

विश्वव्यापी संसारका जो इस तरह सृजन करता है वह ' सविता देव ' यहां वर्णन किया है। उसके वरणीय तेज का ध्यान करनेका उपदेश यहां है। इस तेजका नाम ' भर्ग ' है, जो सब पापोंका भर्जन करता है, सब दुष्ट भावोंको जला कर नष्ट करता है, इस तेजका ध्यान करना है। यह तेज ऐसा है कि जिससे संपूर्ण विश्व तेजस्वी बना है, अतः इसके ध्यानसे उपासकका तेज भी बढ सकता है। उपासकोंकी बुद्धि इस तेजसे सत्कर्मोंमें प्रेरित होती है। यह उपासनाका फल है।

यह सामुदायिक उपासना है, सबके द्वारा मिलकर करने की है। इसलिये (नः धियः) ' हम सबकी बुद्धियां ' ऐसा बहुवचनी प्रयोग यहां हुआ है। वैयक्तिक उपासनामें भी ' हम सबकी बुद्धियां ' प्रेरित हों, यहा भाव मनमें धारण करना चाहिये। वैदिक धर्मकी सामुदायिक उपासनाका महत्त्व इससे जाना जा सकता है॥ ३५ ॥

' दूडभः (दूळभः, दुर्दभः) ' = किसीसे न दबाया जानेवाला, जिसको कोई प्रतिबंध नहीं कर सकता, जो अपनी गतिसे सर्वत्र संचार कर सकता है, ऐसा प्रभुका रथ है। यह सब ओरसे हमारे पास आवे, हमारे चारों ओर रहे और हमारी चारों ओरसे रक्षा करे। दाताओंकी अर्थात् उपासकोंकी रक्षा परमेश्वरही करता है। परमेश्वर रथका स्वामी है और उपासक उस रथसे सुरक्षित होनेवाला है। उपासक अपने आपको प्रवासी समझे और ईश्वरके रथपर बैठकर इष्ट स्थानको पहुंचना है और उस रथको सुरक्षित स्थानपर लेजानेवाला प्रभु है ऐसी यहां कल्पना करे। यही ध्यानका विषय यहां कहा है ॥ ३६ ॥

(भूः) सत्ता अथवा अस्तित्व, सत् भावसे युक्त, (भुवः) चेतकपन, ज्ञान, चित् भावसे युक्त, (स्वः = स्वर्) अपना प्रकाश, अपना निज आनंद, आनन्दसे युक्त। ' भूः-भुवः-स्वः ' ये तीन व्याहृति मिल कर ' सत्-चित्-आनन्द ' स्वरूप परमात्माका बोध करती हैं। ये ही तीन गुण मानवोंको प्राप्तव्य है। हरएक मानव इनकी प्राप्तिके यत्नमें ही है।

मनुष्यको उत्तम प्रजा, उत्तम सन्तान चाहिये, सुप्रजा होना एक विशेष भाग्यका लक्षण है। (प्रजाभिः सुप्रजाः स्यां) उत्तम सन्तानोंसे शुभ संतानवाला मैं बनूं। (वीरैः सुवीरः स्यां) उत्तम वीरोंसे उत्तम वीरवान् मैं बनूं, उत्तम वीरपुत्रोंसे सुसंतानवाला मैं बनूं, (पोषैः सुपोषः स्यां) उत्तम पोषक खानपानसे युक्त हो कर मैं उत्तम पोषक अन्न-वाला बनूंगा। ऐसा उत्तम पोषक अन्न प्राप्त होनेके बाद मैं उस अन्नका दान करूंगा, यज्ञ करूंगा, और मानवोंका हित करूंगा। (नर्य) मानवोंका हितकर्ता बनूंगा।

(नर्य) हे संपूर्ण मानवों के हितकर्ता प्रभो ! तू सबका हित तो करता ही है। (मे प्रजां पाहि) मेरी प्रजाका, मेरी संतान का सब प्रकारसे हित कर, उनकी सब प्रकारसे रक्षा कर।

(शंस्य) हे प्रशंसाके योग्य प्रभो ! मेरे सब गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर। मेरे सब पशु सुरक्षित हों और उनसे मेरा यज्ञ सफल और सुफल बने।

(अथर्य) हे प्रगतिमान् प्रभो ! हे सबकी प्रगती करने वाले देव ! (मे पितुं पाहि) मेरे अन्नकी रक्षा कर। मेरा अन्न सुरक्षित रहे, रोगबीजों से दूर रहे, मेरा पोषण करनेवाला होवे, और वह सुरक्षित होकर सदा मुझे प्राप्त होता रहे। इस अन्न से मैं, अपनी प्रजा तथा सब जनता पुष्ट होती रहे और इस अन्नसे इस मेरे यज्ञकी सिद्धी होवे।

इस तरह यज्ञ सांग होकर सबका भला हो। सबका कल्याण हो ॥ ३७ ॥

आ गन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् । अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥३८॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥३९॥

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः । अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥४०॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥४१॥

[१०३] (हे सम्राट् अग्ने) हे तेजस्वी अग्ने ! (विश्ववेदसं) सबके ज्ञाता, (अस्मभ्यं वसुवित्तमं) हमारे लिये धन प्राप्त करनेवाले (अभि आगन्म) तुमही के पास हम आते हैं। (द्युम्नं सह) बल के सहित (अभि आ यच्छस्व) तेज हमें प्रदान करो ॥ ३८ ॥

[१०४] (अयं गार्हपत्यः अग्निः गृहपतिः) यह गृहपति अग्नि ही घरका स्वामी है। (प्रजायाः वसुवित्तमः) प्रजाको धन देनेवाला है। (गृहपते अग्ने) हे गृहस्वामी अग्ने ! (द्युम्नं सह) बलके सहित (अभि आ यच्छस्व) तेज हमें प्रदान करो ॥ ३९ ॥

[१०५] (अयं पुरीष्यः अग्निः) यह पृथ्वीपर रहनेवाला अग्नि है (रयिमान्) और यह धनवान् (पुष्टि-वर्धनः) और पुष्टिको बढानेवाला है। (हे पुरीष्य अग्ने !) हे पृथ्वी निवासी अग्ने ! (द्युम्नं सहः आयच्छस्व) हमें तेज युक्त बल प्रदान कर ॥ ४० ॥

[१०६] (हे गृहाः) हे गृहो ! (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कांपो (ऊर्जं बिभ्रतः एमसि) बलको धारण करनेवाले हम तुम्हारे पास आते हैं। (ऊर्जं बिभ्रत्) बलको धारण करनेवाला, (सुमनाः सुमेधाः) उत्तम मनवाला, उत्तम बुद्धिवाला, (मनसा मोदमानः) मनसे आनंदप्रसन्न होकर, (वः गृहान् ऐमि) घरोंको प्राप्त होता हूं ॥ ४१ ॥

(सं-राज्) उत्तम प्रकारसे तेजस्वी जो है वह अग्नि। साम्राज्यका रक्षक अग्नि। सबको मिलकर प्रकाशित करने-वाला अग्नि। (विश्व-वेदस्) सबको मिलकर जाननेवाला। सर्वज्ञ, अथवा सब धनको प्राप्त करनेवाला, (वसु-वित्-तमः) सब प्रकारके धनको प्राप्त करनेवाला अग्नि है। अग्निसे यज्ञ होता है और यज्ञसे ज्ञान और धनकी प्राप्ती होती है। यज्ञका यह महत्त्व है।

(द्युम्नं) Splendour, Energy, Wealth, Inspiration, Oblation) तेज, शक्ति, धन, स्फुरण और दान ये द्युम्नके अर्थ हैं। यह सब हमें प्राप्त हो और इतने बलोंसे हम युक्त हों। अर्थात् हम तेजस्वी, वर्चस्वी, बलवान्, धनवान्, अन्तःस्फूर्तिसे युक्त और दान देनेमें उदार हों।

यह उत्तम प्रार्थना है। मानवोंकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये आवश्यक सब चीजें इसमें हैं ॥ ३८ ॥

यह अग्नि गार्हपत्य अग्नि है। यही हमारे घरका स्वामी है। हमारी प्रजाओंके लिये यही सब प्रकारका धन देता है। हे गृहस्वामी अग्ने ! हम सब तेजस्वी बनें ॥ ३९ ॥

पृथ्वीपर रहनेवाले अग्निको पुरीष्य कहते हैं। (पुरि-इष्य) नगरीमें, नगरनिवासी लोगोंको जो इष्ट है वह पुरीष्य है। ' पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति। श. ब्रा. २।१।१।७ ऐन्द्रं हि पुरीष्यं। श. ब्रा. ८।५।४।६ ' जो धन प्राप्त करता और जो प्रभुशक्ति प्राप्त करता है वह पुरीष्य है। नागरिक लोगोंको धन और नियामक शक्ति की आवश्यकता रहती है। इस बलको देनेवाले अग्निका नाम ' पुरीष्य ' है। नागरिक लोगोंको इष्ट वस्तुओंका प्रदान करनेवाला यह है। (रयिमान्) विविध प्रकारके धन देता है और (पुष्टि-वर्धनः) पोषण की वृद्धि करता है। धन और पुष्टि तो मानवोंको अत्यंत आवश्यक हैं। इनके विना नागरिकोंका जीवन चल नहीं सकता। (आगेका भाग मंत्र ३८ के समानही है, अतः वह वहां देखा जावे) ॥ ४० ॥

(गृहाः ! मा बिभीत) हे घरोंमें रहनेवाले मनुष्यो ! तुम मत डरो, निडर हो कर रहो। निर्भय होकर अपने

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः । गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥४२॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः । अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवं शग्मं शंयोः शंयोः ॥४३॥

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः । करम्भेण सजोषसः ॥४४॥

[१०७] (प्रवसन्) प्रवासको जाता हुआ, (येषां अध्येति) जिनके विषयमें विशेष ख्याल रखता था, (येषु बहु सौमनसः) जिनके विषयमें बहुत प्रीति थी, (तान् गृहानि उपह्वयामहे) उन घरोंको हम हर्ष युक्त करते हैं, (जानतः ते नः जानन्तु) ज्ञानवाले वे घर हमारा यह भाव जाने ॥ ४२ ॥

[१०८] (इह नः गृहेषु गावः उपहूताः) यहां हमारे घरोंमें गौवें संमानसे बुलाई हैं, (अजावयः उपहूताः) भेड बकरीं बुलाई हैं, (अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतः) और अन्नका रस भी लाया है। (क्षेमाय) क्षेमके लिये, (शान्त्यै) शान्तिके लिये, (वः प्रपद्ये) तुम गौओंको प्राप्त करता हूं। (शं-योः शिवं) सुख शान्तिके लिये कल्याण (शं-यो शग्मम्) और सुख प्राप्त हो ॥ ४३ ॥

[१०९] (रिशादसः) शत्रुका नाश करनेवाले, (सजोषसः) प्रीति करनेवाले, (प्रघासिनः च मरुतः) और बहुभक्षी मरुतों को (करम्भेण हवामहे) दधिमिश्रित सत्तु के साथ हम बुलाते हैं ॥ ४४ ॥

कर्तव्यको करो। जहां घर हों वहां निर्भयता रहे, किसी प्रकार शत्रुका कोई भय न हो। (मा वेपध्वं) भयसे मत कांपो। किसीसे डर कर कांपने न लगो। यह जानो कि तुम निर्भय हो। (ऊर्जं बिभ्रतः एमसि) बलका धारण करके हम इन घरोंमें आकर रहते हैं। हम बलवान हैं। इस लिये जहां हम रहते हैं वहां डरने और कांपनेका कोई कारण नहीं है। भय न होनेके और भी हेतु हैं- [१] (ऊर्जं बिभ्रत्) में बलवान् हूं, [२] (सु-मनाः) मेरा मन अच्छे विचारोंसे युक्त है,] ३] (सुमेधाः) मेरी धारणा वती बुद्धि उत्तम है और [४] (मनसा मोदमानः) मेरे मनमें आनंद रहता है, में आनन्द प्रसन्न रहता हूं। इन चार कारणोंसे में जहां रहूंगा वहां निर्भयता ही रहेगी। (१) स्वयं निर्बल होगा, शारीरिक दुर्बलता होगी, (२) मनमें बुरे विचार आवेंगे, मनमें हीनता दीनताके विचार आवेंगे, (३) बुद्धिकी धारणा ठीक न होगी, (४) मन ही खिन्न रहेगा, तो मनुष्यको भय होगा। पर जिसका शरीर सुदृढ और बलिष्ठ है, जिसके मनमें शुभ विचार सदा जाग्रत रहेंगे, जिसकी धारणावती बुद्धि तेजस्वी होगी, और जिसके मनमें आनन्द और प्रसन्नताके भाव सदा रहेंगे, उसके पास किसी तरह भय नहीं आवेगा, और जहां वह रहेगा, उस स्थानमें भी निर्भयता सदा सुस्थिर रहेगी।

निर्भयता किस तरह प्राप्त होती है, इस संबंधमें वेदके ये विचार मनन करने योग्य हैं। इस तरह बर्ताव करके मनुष्य निर्भय हो जांय ॥ ४१ ॥

जिस समय कोई मनुष्य प्रवास को जाता है, उस समय वह अपने उन घरोंका, कि जिनके विषयमें वह सदा विशेष ख्याल रखता है, अथवा जिनके विषयमें उनके हृदयमें प्रेम का भाव रहता है, उन घरों की सुरक्षितता या आदरपूर्वक सत्कार करनेके लिये वह सदा तैयार रहता है। इन घरों के लिये वह व्ययभी करता है। यह पद्धति सब जानते ही है। मानव स्वभाव ही यह है ॥ ४२ ॥

(नः गृहेषु गावः उपहूताः) हमारे घरोंमें गौवें सन्मान के साथ बुलायी जाती हैं, सन्मान के साथ पाली और पोसी जाती हैं। इतनाही नहीं पर हमारे घरोंमें (अजा-अवयः) भेड बकरीं भी संमानके साथ (उपहूताः) बुलायीं जाती हैं और आदरसे उनका पालन पोषण किया जाता है। किसी भी पशुको हमसे कष्ट नहीं हो सकता ऐसा हमारा उदारताका बर्ताव सबसे होता है। (अन्नस्य कीलालः) अन्न रस उत्तमसे उत्तम हम अपने पास संग्रहित करके रखते हैं, और जो अन्न जिसको जैसा चाहिये वैसा देते हैं। इसलिये सबका यथायोग्य पालन पोषण होता है।

सबके (क्षेमाय शान्त्यै) कुशलमंगल और शान्तिसुख के लिये गौओंको हम अपने पास रखते हैं। (शं-योः) शान्तिकी प्राप्ति और अनिष्टको दूर करना यही हमारा कर्तव्य है, इसीलिये (शिवं) कल्याण और (शग्मं) सुख प्राप्त किया जाता है।

मनुष्य यह अपना कर्तव्य समझे और वैसा आचरण करके सुखी होवे ॥ ४३ ॥

(रिश-अदसः) शत्रुको खानेवाले, शत्रुका संपूर्ण नाश करनेवाले, पर अपने सत्पक्षके लोगोंपर (स-जोषसः)

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥४५॥

मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥४६॥

---

[११०] (यत् ग्रामे) जो ग्राममें, (यत् अरण्ये) जो अरण्यमें, (यत् सभायां) जो सभामें, (यत् इंद्रिये) जो इन्द्रिय संबंधमें (यत् एनः चकृम) जो पाप हमने किया है, (वयं तत्) हम उस पापको (इदं अव यजामहे) इस से दूर करते हैं, (स्वाहा) यह ठीक कहा है ॥ ४५ ॥

[१११ (हे शुष्मिन् इन्द्र !) हे बलवन् इन्द्र देव ! (अत्र पृत्सु) इन संग्रामोंमें (देवैः नः) देवोंके साथ रहे (मा सु) हमारा (नाश) न करो । (ते यूयं अव याः हि स्म) क्योंकि वे आप ज्ञानी हैं । (मीढुषः) वृष्टि देनेवाले (हविष्मतः) और हवनीय द्रव्यको लेनेवाले इन्द्र देवका (महः चित् यव्याः) महात्म्य निःसंदेह यवके खाद्यके समान (सेवनीय है) । (गीः मरुतः वन्दते) हमारी वाणियां मरुतोंका वन्दन करती हैं ॥ ४६ ॥

प्रीति करनेवाले, तथा (प्र-घासिनः) शीघ्र और बहुत खानेवाले और साथ साथ खाये अन्नका उत्तम पचन करनेवाले वीर मरुत् हैं । जो वीर (मर्-उत्) मरनेतक उठकर शत्रुसे लडते हैं वे मरुत हैं । ये मरुत् प्रथम (मर्तासः स्यातन । ऋ. १।३८।४) मर्त्य मानव थे, पश्चात् देवत्वको प्राप्त हुए, पर अब उनका प्रभाव ऐसा है कि (वः स्तोता अमृतः स्यात् । ऋ. १।३८।४) उनका उपासक अमर होता है । इन मरुतोंको हम अपने पास बुलाते हैं, पर (करम्भेण) वही और सत्तुका मिश्रण करके वह मरुतों को समर्पण करनेकी इच्छासे उनको हमारे यज्ञमें हम बुलाते है । इस का सेवन वे करें और आनन्द प्रसन्न हों ।

वीरोंके चार लक्षण यहां बताये हैं- (१) शत्रुका नाश करना, (२) सज्जनोंपर प्रीति करना, (३) मरनेतक धर्मयुद्ध करना और (४) अन्नका भक्षण करके उसका उत्तम पाचन करना तथा बलवान बनना । ऐसे वीरोंका संमान करना योग्य है ॥ ४४ ॥

मनुष्यसे अनेकविध पाप होते हैं । कई पाप (ग्रामे) ग्रामके जीवनमें होते हैं, कई (अरण्ये) अरण्यमें किये जाते हैं, कई पाप (सभायां) सभामें, सभाके संचालनमें, सभाके वक्तव्य करनेके प्रसंगमें, सभामें प्रस्ताव विधानमें, (इंद्रिये) इंद्रिय व्यवहारमें होते हैं, नेत्र द्वारा पापदृष्टीसे दूसरेको देनेसे, कानों द्वारा पापी भाषण श्रवणसे, जिह्वा द्वारा अभक्ष्य भक्षणके खानेसे और अपेय पान करनेसे, मुख द्वारा अयोग्य भाषण करनेसे, स्पर्श द्वारा अनधिकार स्पर्शसुख लेनेकी चेष्टा करनेसे, तथा अन्यान्य इंद्रियोंसे जो अन्यान्य पाप होते हैं, उन सब पापोंका सकल्प यहां करना चाहिये । और पश्चात्ताप पूर्वक उस सब पापका अवयजन करनेका संकल्प करना चाहिये । इस पापको दूर करनेके लिये में यह अर्पण करता हूं, इस अर्पणसे यह सब पाप दूर हों जाय, यह इस संकल्पका विषय है । इस तरह अर्पण करनेसे पाप दूर होता है, यह (सु-आह) ठीक ही कहा है, अतः इसमें कोई दोष नहीं है । पापका प्रायश्चित्त होना चाहिये यह बात यहां बतायी है ॥ ४५ ॥

हम सब (देवैः) देवोंके साथ रहते हैं, अतः देवोंकी शक्तिसे हम बलवान् हुए हैं । इसलिये (पृत्सु) संग्रामोंमें हमारा नाश नहीं हो सकता । हम दैवी शक्तिके साथ उन्नतिको ही प्राप्त होते रहेंगे । आप (अव-याः) ज्ञानी हैं, शान्ति करनेवाले हैं, आप नीच स्थानके लोगोंमें जाकर उनको ज्ञानादिका सहारा देकर उन्नत करनेवाले हैं । इसलिये आप उन्नति करनेवाले हैं । आप वृष्टि करनेवाले, नवजीवन देनेवाले, और अन्न समर्पण करनेवाले हैं, अतः आपकी (महः) महिमा बडी वर्णनीय है । इसलिये हमारी (गीः) वाणियां वीर मरुतोंकी (वन्दते) नमनपूर्वक प्रशंसा करती हैं ।

मनुष्य यदि उन्नति चाहता हो, तो वह दैवी संपत्तिवाले वीरोंके साथ रहे, धर्मयुद्धमें अपना कर्तव्य करे, ज्ञान प्राप्त करे और ज्ञान देकर दूसरोंको ज्ञानी बनाये । नवजीवनसे लोगोंके जीवन उच्च बनावे । जो ऐसा करेंगे वे ही प्रशंसनीय होंगे ॥ ४६ ॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा । देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥४७॥
अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥४८॥

[११२] (कर्मकृतः) कर्म करनेवाले (मयोभुवा वाचा सह) सुख देनेवाली वाणीके साथ (कर्म अक्रन्) कर्म करते रहे । (हे सचाभुवः !) हे साथ रहनेवालो ! (देवेभ्यः कर्म कृत्वा) देवोंके लिये कर्म करके (अस्तं प्रेत) अपने घरको जाओ ॥ ४७ ॥

[११३] (हे निचुम्पुण अवभृथ !) हे मंदगति और स्नानयोग्य जलाशय ! (निचेरुः निचुम्पुणः असि) तुम गतिमान होनेपर भी यहां मन्द गतिवाला हो । (देवैः देवकृतं एनः) इंद्रियों द्वारा किये इंद्रिय संबंधी पापको (अव यासिषं) में हटा देता हूं । (मर्त्यैः मर्त्यकृतं [एनः] अव [यासिषं]) मनुष्यों द्वारा किये मानवी पापको भी हटा देता हूं । (हे देव !) हे देव ! (पुरुराव्णः रिषः पाहि) बहुत दुःख देनेवाले शत्रुसे हमारी रक्षा करो ॥४८॥

(कर्मकृतः) कर्म करनेवाले पुरुषार्थी लोग (मयोभुवा वाचा सह) प्रसन्नता करनेवाली शुभ वाणी बोलते हुए, शुभमंगल भाव जिसमें हैं ऐसी पवित्र वाणी बोलते हुए (कर्म अक्रन्) कर्म करते आये हैं । सज्जनोंकी यही परिपाठी है कि वे मंगल भाषणके साथ कर्म करते हैं, वेदमंत्रोंकी वाणी मंगल वाणी है, वेदमंत्र बोलकर कर्म करते हैं । वाणीमें अशुभ विचार नहीं रहना चाहिये । शुभ विचार ही वाणीमें रहने चाहिये । इसका कारण यह है कि अशुभ विचार वाणीसे प्रकट होते ही मन-बुद्धि-चित्तमें मलिनता आने लगती है । इसलिये सदा इस विषयमें सावधान रहना चाहिये । (देवेभ्यः कर्म कृत्वा) देवोंको प्रसन्नताके लिये सुयोग्य शुभ कर्म करनेके पश्चात् हि अपने अपने (अस्तं प्र-इत) घरको ये कर्म कर्ता चले जावें । सब लोग एक स्थानपर जमा हों, वहां शुभ वाणी बोलें, शुभ भावना मनमें धारण करें, और शुभ कर्म करें । यथायोग्य रीतिसे शुभ कर्म करनेके उपरान्त अपने अपने स्थानको चले जांय ॥ ४७ ॥

पापसे बचनेके साधनोंका वर्णन यहां है । तीन प्रकारके पापोंका उल्लेख यहां है । शारीरिक, इन्द्रिय संबंधी और मानवोंके संघ संबंधी ऐसे तीन पापोंका उल्लेख यहां किया है । शारीरिक मल या अपवित्रता यह एक पाप है, इससे नाना रोग होते हैं । ये मल स्नानसे धोये जाते हैं । ' अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति ' (मनु०) जलसे शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं । इस तरह शरीर शुद्धि करनेके लिये नदी आदि जलस्थानमें जाकर स्नान करना चाहिये । इस स्नानका नाम ' अवभृथ ' है । ' अव-भृथ ' का अर्थ ' हटा देना, निकाल देना, दूर करना ' है । स्नान शारीरिक मलोंको दूर करता है इसलिये स्नानको ' अव-भृथ ' कहते हैं । यज्ञ समाप्तिके समय करनेके स्नानको ' अव-भृथ ' कहा जाता है । यह स्नान किस स्थान पर करना चाहिये इसके विशेष निर्देश यहां कहे हैं ।

सब नदियां ' नि-चेरुः ' निम्न भागमें प्रवाहित होती हैं इस लिये वेगवाली होती हैं । पर बडे वेगसे जहां पानी चलता है वहां अच्छी तरह स्नान नहीं किया जा सकता, वह जानेका डर रहता है । इसलिये स्नान करनेके लिये ऐसा स्थान ढूंढना चाहिये कि जहां ' नि-चुम्पुणः ' मन्द गतिसे पानी चलता हो । पानीमें बिलकुल गति न रही तो वह जल स्नानके लिये अयोग्य है, अतः मन्द गतिवाला शुद्ध जलप्रवाह स्नानके लिये पसंद करना चाहिये, और वहीं स्नान करना चाहिये । इस स्नानसे शारीरिक मलोंका दूरीकरण होता है । यहां बहुत वेगवाला और बिलकुल गतिहीन ऐसे दोनों जलाशय स्नानके लिये अयोग्य कहे हैं, यह स्मरण रखने योग्य है ।

' देवैः देवकृतं एनः ' इन्द्रिय संबंधी इन्द्रियोंके क्षेत्रोंमें जो पाप होते हैं, वे विषयोंके संबंधके पाप हैं । पांच इन्द्रियोंके पांच विषय हैं । इनसे पाप हो रहे हैं । मनुष्य अपने व्यवहार को देखे और इनके पापोंका विचार करे । इन पापोंको दूर करना चाहिये । इसी तरह ' मर्त्यैः मर्त्यकृतं ' मानवोंके द्वारा मानवीपाप होते हैं । मनुष्योंके संघसे सांघिक पाप होते हैं । उपर कहे इन्द्रिय संबंधी पाप वैयक्तिक हैं और ये पाप सामुदायिक हैं । मनुष्य संघ बनाकर दूसरोंको सताते हैं । यह सांघिक पाप बडा भारी घातक है । यह भी अवभृथ स्नानसे दूर किया जा सकता है । पर यह स्नान ज्ञान गंगामें करना चाहिये । इसलिये ' मनः सत्येन शुद्धयति, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ' (मनु.) सत्य और ज्ञानसे क्रमशः मन बुद्धि शुद्ध होती है ऐसा मनुने कहा है ।

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरा पत। वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥४९॥

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते स्वाहा ॥५०॥

[११४] (हे दर्वि !) हे दर्वि ! (पूर्णा परा पत) तू पूर्ण भर कर परे जा, (पुनः सुपूर्णा आपत) और पुनः उत्तम पूर्ण भरकर, इधर आ (हे शतक्रतो) हे सौ क्रतु करनेवाले इन्द्र ! (वस्ना इव) हम मूल्यसे खरीदनेके समान (इषं ऊर्जं) अन्न और रसको (विक्रीणावहै) बेचें ॥ ४९ ॥

[११५] (मे देहि, ते ददामि) मुझे दे, तुझे देता हूं। (मे निधेहि, ते निदधे) मुझे प्रदान कर, तुझे प्रदान करता हूं। (निहारं मे हरासि) क्रेतव्य पदार्थ मुझे प्रदान करियें, (निहारं ते निहराणि च) क्रेतव्य पदार्थ तुझे मैं देता हूं। (स्वाहा) उत्तम भाषण हो ॥ ५० ॥

यह ज्ञान गंगा वेदसे बह रही है, वेदज्ञ विद्वानोंसे यह बह रही है। इस ज्ञानगंगामें भी बडे वेगका, अल्पवेगका और वेगहीन ऐसे तीन प्रवाह रहते हैं। वेगहीन प्रवाह वह है कि जहां सत्यग्रहण और असत्यके त्यागके लिये, खोजके लिये अवसर नहीं है। जिस समाजमें कट्टरपंथी लोग होते हैं, जो सचाई कोभी दबा देते हैं, वहां समझना चाहिये कि ज्ञानगंगाका यहांका प्रवाह गतिहीन अतः स्तब्ध हुआ है। इसलिये यहां ज्ञानगंगामें स्नान करनेका पुण्य मिल नहीं सकता।

दूसरा ज्ञानगंगाका वेगवान प्रवाह है, जहां प्रचण्ड बुद्धि-वाले महाज्ञानियोंके हाथमें ही ज्ञान रहता है। इनका उच्चतम कोटीका ज्ञान दूसरोंके समझमें ही नहीं आता इसलिये वे बिचारे हताश रहते हैं। इनका प्रवचन सुननेसे भी न सुननेके समान होता है। इसलिये इस ज्ञानगंगाके प्रवाहका लाभ सर्व साधारण जनताको नहीं होता।

अतः मध्यम गतिवाले ज्ञान प्रवाहमें सर्व साधारण जन गोता लगायेंगे, तो उनके मनबुद्धिपरके सब मल दूर हो जायेंगे और वे पवित्रात्मा बनेंगे। यह मार्ग इंद्रिय पाप और सांघिक पापसे बचनेका है। पाठक इसका विचार करें।

' पुरु-राव्णः ' बहुत रुलानेवाला, अतिदुःखदायी ' रिपः ' घातपात करनेवाला जो शत्रु हो, उससे ' पाहि ' रक्षा करो। शत्रुका नाश करके अपनी रक्षा करो। उक्त शुद्धिसे ही इन शत्रुओंका नाश हो जाता है ॥ ४८ ॥

' दर्वी ' चमस अथवा कडछी को कहते हैं। अग्निमें आहुति देनेके समय यह कडछी पूर्णतासे भरकर अग्निमें आहुति देनेके लिये आगे बढे। कभी चमस कम भरकर आहुति देनेसे घीकी बचत करनेका विचार मनमें न आवे। आहुति देकर वापस आनेके समय वही चमस सुकृतसे पूर्ण भरकर वापस आवे। अर्थात् किसी समय चमसे आधा भरनेका विचार भी मनमें न आवे। इस तरह हम देवोंको घृतादिकी आहुतियां देवें, और वे हमें पवित्रता देवें। इस रीतिसे परस्पर सहायता करते हुए परम उन्नतिको प्राप्त हों (गीता. ३।११ देखो)

' वस्ना इव ' मूल्य देकर वस्तु खरीदनेके समान हम इस कर्मसे ' इषं ऊर्जं ' अन्न और पेयका ' विक्रीणावहै ' बेचना करते हैं। अर्थात् हम आहुती देते हैं और उसके बदलेमें कर्मफल लेते हैं। इस तरह खरीदना और बेचना इस यज्ञ क्रियाके द्वारा चलता है। जो विशेष विचारणीय है।

चमसे भरकर घृताहुती देनी चाहिये, इसमें उदारता है। अपूर्ण चमससे आहुती देनेसे आहुतिदाताके मन में जो कंजूसीके भाव आते हैं वे अधःपातके सूचक हैं ॥ ४९ ॥

क्रय विक्रय, खरीदना और बेचना, लेना देना, इस व्यवहार की बात चीत किस तरह हो, इस विषयमें यह उपदेश यहां दिया गया है। यज्ञसे खरेदी विक्रीका उपदेश इस ढंगसे होता है। देखियें—

(इन्द्रदेव) – हे याजक ! हवि मुझे प्रदान करो,
(याजक) – हे देव ! मैं तुझे हविरन्नका समर्पण करता हूं।
(इन्द्रदेव) – हे याजक ! हवि मुझे प्रदान करिये,
(याजक) – हे देव ! मैं तेरे लिये मूल्य रूप हविर्द्रव्य समर्पण करता हूं।

इस तरह (सु-आह) दोनों दाता और लेनेवालोंमें उत्तम बात चीत यज्ञमें होती रहे। और दोनों परस्परोंकी सहायक होकर परस्पर की सहायता करें। (परस्परं भावयन्तः श्रेयः परं अवाप्स्यथ। गी ३।११) परस्पर की सहायतासे बडा श्रेय प्राप्त करो। व्यापार व्यवहारमें भी यह बातचीत ऐसी हि सरल भावसे हो और सब का लाभ हो ॥ ५० ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५१॥

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन्वान्दिषीमहि ।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५२॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ॥५३॥

आ नं एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥५४॥

[११६] (अक्षन्) अन्न खाया, (अमीमदन्त) आनंद हुआ, (प्रियाः हि अव अधूषत) सन्तुष्ट होकर सिर भी हिलाया, (स्वभानवः विप्राः) आत्म तेजसे युक्त हुए ज्ञानी (नविष्ठया मती अस्तोषत) नूतन बुद्धिसे स्तुति करने लगे । (हे इन्द्र !) कि हे इन्द्र ! (ते हरी नु योज) तू अपने घोडे जोत ॥ ५१ ॥

[११७] (हे मघवन् !) हे इन्द्र ! (वयं सुसंदृशं) हम उत्तम दर्शनीय ऐसे (त्वा वन्दिषीमहि) तुम्हारी वन्दना करते हैं । (स्तुतः) स्तुति किये तुम, (पूर्णबन्धुरः) धन पूर्ण रथके साथ, (वशान्) वशमें रहनेवाले याजकों के पास (नूनं अनुप्रयासि) अनुकूल होकर जाते हैं । (हे इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते हरी नु योज) तेरे घोडों को रथ के साथ जोड ॥ ५२ ॥

[११८] (नाराशंसेन) वीरोंकी प्रशंसाके (स्तोमेन) स्त्रोतसे (पितृणां मन्मभिः च) और पितरोंके स्त्रोत्रोंके साथ (मनः नु आह्वामहे) मनको आह्वान करते हैं ॥ ५३ ॥

[११९] (नः मनः) हमारा मन (क्रत्वे) सत्कर्मके लिये, (दक्षाय) बलके लिये, (जीवसे ज्योक्) दीर्घायुके लिये, (सूर्यं दृशे च) चिरकाल सूर्यदर्शन करनेके लिये (पुनः आ एतु) पुनः पुनः प्रवृत्त हो ॥ ५४ ॥

हमने जो अन्न पितरों को दिया, वे उस अन्न को ' अक्षन् ' खा चुके, और उससे उनको ' अमीमदन्त ' बहुत आनन्द हो चुका है, वे ' प्रियाः ' प्रसन्न हुए हैं और और प्रसन्नता दर्शक वे अपने सिरोंको आनन्दसे ' अवाधूषत ' हिलाने लगे हैं, तथा नवीन भावों को प्रकाशित करते हुए वे ' अस्तोषत ' प्रशंसा भी कर रहे हैं कि यह अन्न अच्छा था, बडा आनन्द पाया इत्यादि प्रकार वे स्तुति कर रहे हैं । अब हे इन्द्र ! तू अपने रथको घोडे जोड और इस यज्ञ भूमिमें आओ । ऐसी प्रार्थना भी वे कर रहे हैं ।

यहां यह उपदेश है कि जब किसी अतिथिको अन्न आदि देना है, उस समय जितना वह अच्छेसे अच्छा दिया जाय, उतना उत्तमसे उत्तम देना चाहिये, जिसे खाकर वह अतिथि संतुष्ट और तृप्त हो जांय, प्रसन्नतासे अन्न की प्रशंसा करें, और प्रसन्न होकर आशीर्वाद भी दें । अतिथि सत्कार की यह रीति देखने योग्य है ॥ ५१ ॥

प्रभु की हम स्तुति प्रार्थना उपासना करते हैं, क्योंकि इस तरह प्रार्थना किया हुआ प्रभु उपासकों को भरपूर धन आदि पदार्थ देते हैं । प्रभु उपासकोंकी सहाय्यतार्थ उनके पास जानेके लिये रथ जोत कर उस पर चढकर तैयार हैं ॥ ५२ ॥

' नाराशंसेन ' वीरोंके साथ संबंध रखनेवाले, अर्थात् शूर मानवोंके व्यवहारके साथ संबंध रखनेवाले स्तोत्रसे, तथा ' पितृणां मन्मभिः ' पितरोंके रक्षकोंके वर्णन करनेवाले स्तोत्रोंसे ' मनः आह्वामहे ' मनकी शक्तिको उत्तेजित करते हैं । मनको सत्कर्ममें प्रेरीत करते हैं ।

ऋग्वेदमें इसी मन्त्रमें ' आ हुवामहे ' पद है, अर्थ यही है । पर ' नाराशंसेन सोमेन ' ये पद द्वितीय चरणमें हैं । ' स्तोम ' पदके स्थान पर ' सोम ' पद है । मनुष्य जिसकी प्रशंसा करते हैं ऐसे सोमसे हम मनको उत्साहित करते हैं । यह ऋग्वेद मंत्रका आशय है । सोम पानने मनका उत्साह बढता है, इसलिये यह आशय ठीक ही है । और ' स्तोमेन ' स्तोत्रसे मनकी शक्ति बढती है इसलिये यजुर्वेदमंत्रका आशय भी ठीक ही है ।

सोमपान द्वारा, उत्तम रसपानद्वारा, वीरोंके काव्यों द्वारा अथवा रक्षकोंके काव्योंके द्वारा मनको उत्साहित करके, सत्कार्यमें प्रवृत्त करना चाहिये, यह इसका आशय स्पष्ट है ॥ ५३ ॥

मनुष्य को उचित है कि वह अपना मन ' क्रत्वे ' सत्कर्ममें लगावे, ' दक्षाय ' बलके संवर्धन करनेके लिये करने योग्य कर्तव्योंमें लगावे, ' जीवसे ' दीर्घ जीवन प्राप्त करनेके

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातꣳ सचेमहि ॥५५॥

वयꣳ सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः । प्रजावन्तः सचेमहि ॥५६॥

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ॥५७॥

[१२०] (हे पितरः) हे पितरो ! (दैव्यः जनः) दिव्य मानव (पुनः नः मनः) फिरसे हमें उत्तम मन (ददातु) देवे । (जीवं व्रातं) जिससे जीवित संघको हम सेवा (सचेमहि) करेंगे ॥ ५५ ॥

[१२१] (हे सोम !) हे सोम ! (वयं तव व्रते) हम तेरे नियममें रह कर, (तनूषु मनः बिभ्रतः) शरीरोंमें मनका धारण करते हुए, (प्रजावन्तः) प्रजाओंसे युक्त होकर, (जीवं व्रातं सचेमहि) जीवित संघकी सेवा करेंगे ॥ ५६ ॥

[१२२] (हे रुद्र) हे रुद्र ! (ते स्वस्रा अम्बिकया सह) तेरी बहिन अम्बिकाके साथ, (एष भागः) यह भाग है, (तं जुषस्व) उसका सेवन करो, (स्वाहा) यह अर्पण है । (हे रुद्र) हे रुद्र ! (एष ते भागः) यह तेरा भाग है, (ते पशुः आखुः) तेरा पशु चूहा है ॥ ५७ ॥

अनुष्ठान में लगावे, और (ज्योक् सूर्यं दृशे) चिरकाल सूर्य दर्शन करे, अर्थात् सूर्यका दर्शन करनेसे उसके नेत्र चिरकाल कार्यक्षम रहेंगे, इसलिये यह साधक प्रतिदिन सूर्य दर्शन करता रहे ।

यहां अनुष्ठान करनेकी रीति ' पुनः पुनः आ एतु ' इन पदोंसे बतायी है । यहां वही अनुष्ठान पुनः पुनः करना चाहिये यह बात विशेष रीतिसे कही है । कोई कर्म पुनः पुनः करनेसेही उस में सिद्धि प्राप्त हो सकती है । कर्मकी प्रवीणता, बलका वर्धन, दीर्घायु प्राप्तिका साधन और सूर्य दर्शन ये अनुष्ठान प्रतिदिन अथवा पुनः पुनः करने योग्य हैं । तब इनमें सिद्धि मिलेगी ॥ ५४ ॥

हे पितरों, हे रक्षकों ! ' दैव्यः जनः ' दिव्य शक्ति जिसको प्राप्त हुई है ऐसा महात्मा हमारे मनको ' पुनः ददातु ' वारंवार उत्साह देवे, सहाय्यता देता रहे; ऐसी प्रेरणा करता रहे कि हमारा मन सदा पवित्र होकर उन्नत होता रहे । हम ' जीवं ' जीवित और जाग्रत ' व्रातं ' संघको प्राप्त हों, अर्थात् ऐसे मानवोंके संघमें हम रहें कि जिनमें जाग्रत वीरताका जीवन है, और उसकी हम सेवा करेंगे । ' जीवं व्रातं ' जीवित और जाग्रत समाज वह है जो उत्साही, वीरत्व युक्त, शूर, विजयी और प्रगतिशील है । मुर्दा समाजमें ये गुण कदापि नहीं दीखते । वह समाज जीवित है कि जो विजयी है, प्रगतिशील है । ऐसे जाग्रत समाजमें हम रहें अर्थात् हम जिस समाजमें हैं वह समाज इस तरह शूरवीर दिग्विजयी हो । दिव्य शक्तिवाले महान् आत्मा (दैव्यः जनः) इस समाजमें वीरताका जीवन व्यतीत करनेकी प्रेरणा करते रहें ।

आदर्श समाजका यह वर्णन पाठक मनन पूर्वक देखें । समाजकी सेवा आत्मसमर्पणके द्वारा करनेका उपदेश यहां आया है । यही यज्ञका मूल मन्त्र है ॥ ५५ ॥

' सोम ' देवता शान्तिकी सूचक है । शान्ति स्थापना करना सोम का व्रत है । सोम चन्द्रमा है, वह शान्ति देता ही है; सोम औषधि है वह रोगादिकोंको दूर करके शान्ति प्रदान करती है । सोम कलावान् है वह कलाओंसे धनादिकी प्राप्ती द्वारा शान्ति स्थापन करता है । सोम ' स + उमा ' उमा नामक ब्रह्मविद्या (देखो केन उपनिषद ३।१२) से युक्त अर्थात् ज्ञानी, यह भी ज्ञान द्वारा शान्ति स्थापन करता है । इस तरह सोम का व्रत ' शान्तिकी स्थापना करना है ' । ' वयं तव व्रते ' हम सोमके व्रतमें रहेंगे, इसका आशय यह है कि ' हम मानव समाजमें शान्ति स्थापनके कार्यमें अपना जीवन अर्पण करेंगे ' । यह साधक यहां प्रतिज्ञा करता है । यह प्रतिज्ञा पूर्ण करना इसका कर्तव्य होता है । (तनूषु मनः बिभ्रतः) हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमें हम अपना ' पूर्व मंत्रके अनुसार ' दिव्य मानव द्वारा सुसंस्कृत हुआ मन विशेष कर्तव्य करनेके लिये स्थिर रखेंगे, ' प्रजावन्तः ' उत्तम सुसंतानोंसे युक्त होकर, जीवित और जाग्रत समाजको प्राप्त होंगे, मानव समाजको जाग्रत करके उसकी सेवारूप यज्ञकर्म हम करेंगे ॥ ५६ ॥

रुद्र वह देववीर है कि जो शत्रुको रुलाकर उनका नाश करता है, शत्रुको रहने नहीं देता । शत्रुसे युद्ध करना और उस का नाश करना इसका कार्य है । इसकी बहिन अम्बिका है । यह ' माता ' है । यदि रुद्र संहार करता है और शत्रुका नाश करके सब की रक्षा करता है, तो उसकी बहिन

अवं रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् ।
यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥५८॥
भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखं मेषाय मेष्यै ॥५९॥
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥६०॥

---

[१२३] (रुद्रं) शत्रुओंको रुलानेवाले, (त्र्यम्बकं देवं अव) तीन दृष्टियोंसे युक्त, देवको समर्पण करके, (अदीमहि) हम अन्न भक्षण करते हैं। (यथा नः वस्यसस्करत्) जिससे हमारा निवास उत्तम हो, (यथा नः श्रेयसस्करत्) हमें कल्याण प्राप्त हो (यथा नः व्यवसाययात्) और हमें व्यवसायकी सफलता प्राप्त हो ॥ ५८ ॥

[१२४] (भेषजं असि,) तू औषध है, (गवे अश्वाय,) गौ, घोडा, (पुरुषाय भेषजं) पुरुषके लिये तू औषध हो, (मेषाय मेष्यै सुखम्) मेष और मेषीके लिये सुख प्राप्त हो ॥ ५९ ॥

[१२५] (सुगन्धिं) सुगंधयुक्त, (पुष्टिवर्धनं) पुष्टिवर्धक (त्र्यम्बकं) तीनों दृष्टियोंसे युक्त (यजामहे) महावीरका हम यजन करते हैं, (मृत्योः मुक्षीय) मृत्युसे हम मुक्त हों, (बन्धनात् उर्वारुकं इव [मुक्षीय]) बन्धनसे ककडीके फलके समान हम मुक्त हो, (अमृतात् मा) पर अमरत्वसे हम कभी वियुक्त न हों। (पतिवेदनं) पतिको देनेवाले (सुगन्धिं) सुगन्धयुक्त, (त्र्यम्बकं) तीनों दृष्टियोंसे युक्त महावीरका (यजामहे) यजन हम करते हैं, (बन्धनात् उर्वारुकं इव) बन्धनसे ककडीका फल मुक्त होनेके समान (मुक्षीय) हम मुक्त हों, (अमुतः मा) वहांसे हम कभी वियुक्त न हो ॥ ६० ॥

अम्बिका मातृभावसे सबकी रक्षा करती है। रुद्रमें वीरता है तो उसकी बहिन अम्बिकामें मातृभाव है। दोनों भाव विश्वके रक्षक भाव हैं। इसलिये कृतज्ञ होकर इन दोनोंको यज्ञभाग देना उचित है। अतः इनके उद्देश्यसे यज्ञमें एकभाग दिया जाता है और कहा जाता है कि 'एष ते भागः तं जुषस्व' यह आपका भाग है, आप दोनों इसका सेवन करें। आपके लिये ही हमने यह (स्वाहा) अर्पण किया है।

रुद्रका पशु (आखुः) चूहा है ऐसा यहां कहा है। इसका आशय खोजका विषय है।

पुराणोंमें रुद्रकी स्त्री अम्बिका है, और चूहा उनके पुत्र गणेश का पशु है। वेद और पुराणोंमें इस विषयमें इतना अन्तर है। यह विषय अन्वेषणीय है ॥ ५७॥

रुद्र शत्रुको रुलानेवाला देववीर है, वह 'त्रि-अम्बकं' तीन नेत्रोंसे युक्त है, उसकी तीन दृष्टियां है, अध्यात्मदृष्टि, अधिभूत दृष्टि और आधि दैविक दृष्टि ये तीन दृष्टियां विश्वरूपकी ओर देखनेकी हैं, ये तीनों दृष्टियां जिसमें उत्तम अवस्थामें रहती हैं वह त्र्यम्बक है, यही शत्रुनाशक महावीर है। इसको अन्नभाग पूर्व मन्त्रमें (मं. ५७ में) दिया है, इससे उसको प्रसन्नता भी हो चुकी है। इसके बाद हम 'अदीमहि' यज्ञशेष अन्नका सेवन करते हैं। महावीरको अन्न समर्पण करके यज्ञशेष प्रसादरूप अन्न हम खाते हैं। देवोंको देकर पश्चात् हम सेवन करते हैं। इससे हमारा 'वस्यसस्करत्' निवास अधिक सुखका होगा, हमें 'श्रेयसस्करत्' अधिक कल्याण प्राप्त होगा और हमारे 'व्यवसाययात्' व्यवसायोंमें सफलता भी हमें मिलेगी। क्यों कि वह महावीर हमारे शत्रुओंका नाश करेगा जिससे हम उक्त सुखोंसे युक्त बनेंगे ॥ ५८ ॥

आत्माका स्वरूप औषध है, अर्थात् अन्दरकी आत्म शक्तिसे ही सब की चिकित्सा होती है। हरएक को यह मालूम होना चाहिये कि अपने अन्दर जो आत्मा अथवा महावीर प्राण रूपी रुद्र है वह (भेषजं) औषध ही है। सब बीमारियोंकी वह दवा है। इसकी अनुकूलतासे सब औषध कार्य करते हैं। इसकी अनुकूलता न रहेगी तो कोई दवा कार्य नहीं करती। सब औषधी वनस्पतियां इसीकी सहायक बनती हैं और दोष दूर करनेका कार्य यह स्वयं करता है। गौ, घोडा, बकरा, मेढा आदि तो इसीकी सहायतासे नीरोग होते हैं, उनके लिये औषधियोंका उपयोग बहुत ही कम करना पडता है। पर मानव के लिये बहुतही दवाइयां बर्ती जाती हैं, इसलिये मानव यह जाने कि सच्ची औषधि आत्मशक्ति है, सच्ची नीरोगिता अन्दरसे प्राप्त होनी है। अतः अपनी आन्तरीय रुद्रशक्ति, प्राणशक्ति, बलशाली करना योग्य है ॥ ५९ ॥

'सुगंधि' सुन्दर मनोहारि सुगन्धसे युक्त, 'पुष्टिवर्धनं' सबके पोषक, 'त्र्यंबकं' तीन दृष्टियोंसे युक्त महादेवका हम

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि ।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥६१॥
त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥६२॥

[१२६] (हे रुद्र !) हे शत्रुको रुलानेवाले महावीर ! (एतत् ते अवसं) यह तेरा हविर्भाग है (तेन अवतत- धन्वा) इसको साथ लेकर धनुषकी डोरी उतार कर, (पिनाकावसः) अपने पिनाक धनुष्यको वस्त्रमें छिपा कर (मूजवतः परः, अतीहि) मूजवान्के परे गमन करो। (कृत्तिवासाः) चर्म परिधान करनेवाले (नः अहिंसन्) तुम हमारी हिंसा न करते हुए (शिवः अतीहि) कल्याणकारी होकर जाओ ॥ ६१ ॥

[१२७] (जमदग्नेः त्र्यायुषं,) जो जमदग्निकी त्रिविध आयु है, (कश्यपस्य त्र्यायुषं) जो कश्यपकी त्रिविध आयु है, (यत् देवेषु त्र्यायुषं,) जो देवोंमें त्रिविध आयु होती है, (तत् त्र्यायुषं नः) वह त्रिविध आयु हमें (अस्तु) प्राप्त हो ॥ ६२ ॥

' यजामहे ' पूजन करते हैं, ' मृत्योः ' वह हमें मृत्युसे ' मुक्षीय ' बचावें । जिस तरह ' बन्धनात् उर्वारुकं इव ' बन्धनसे कोई फल पककर मुक्त होता है वैसी मेरी मुक्ति हो । वृक्षपर फल लगते हैं, वे जब पकते हैं तब स्वयं अपने वृक्षके साथ-वाले बंधनसे अलग हो जाते हैं । वे उस समय स्वतंत्र होते हैं, उनमें उस समय स्वतंत्र वृक्ष बनकर नये फल अपनेमेंसे उत्पन्न करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है, इसलिये वे स्वतंत्र अर्थात् मुक्त किये जाते हैं । इसी तरह जो ऐसे पूर्ण हो जाते हैं वे मुक्त किये जाते हैं । यहां बंधनसे मुक्त होना है ' अमृतात् ' अमरत्वसे ' मा ' नहीं । ईश्वरके अमर भावसे संबंध छोडना नहीं है । यह बंधनसे या मृत्युसे संबंध छोडना ही मुक्ति है ।

इस मन्त्रके जपसे मृत्यु, रोग, अनारोग्य, बन्धन, आदि भयोंसे मुक्तता होती है । पाठक विधिपूर्वक जप करके अनुभव लें ।

' पतिवेदनं ' पतिकी प्राप्ति करानेवाले, सुगंधि, पुष्टि-वर्धक तीन दृष्टियोंसे युक्त महादेवका हम यजन पूजन करते हैं । वह हमें बन्धनसे फल पक्व होकर छूट जाता है वैसा बन्धनसे मुक्त करे अर्थात् ' बन्धनात् ' पिताके घरके बंधनसे ' मुक्षीय ' मेरी मुक्तता करे अर्थात् पतिके साथ विवाह करा कर पिताके घरका संबंध छुडवा देवे और पतिके घरके साथ संबंध जोड देवे । उस पतिके घरसे ' अमुतः मा ' मेरा संबंध कभी न छूट जावे । वह पतिके घरका संबंध अखण्ड रहे ।

यह मंत्र विवाह चाहनेवाली कुमारिका जप करे, जिससे उसका अच्छे सुयोग्य पतिके साथ विवाह हो जाता है और वह विवाह संबंध कभी खण्डित नहीं होता ।

इस मन्त्रके ' त्र्यंबक ' शब्दका विवरण मंत्र ५८ की टिप्पणीमें देखिये ॥ ६० ॥

रुद्र देव शत्रुको रुलानेवाला महावीर है । वह अपने धनुष्यकी ज्या उतारे और उस धनुष्यको कपडेमें लपेट कर चला जावे । अर्थात् शत्रुओंका नाश करनेके पश्चात् उसके धनुष्यको विश्राम देनेका समय आचुका है, इतना कार्य करके वह यहांसे जावे । यहां अब एक भी शत्रु रहा नहीं, ऐसी स्थिति आनेके बाद वह अपने स्थानको चला जावे । (मूजवत परः अतीहि) हिमालयके मौजवान पर्वतके परे ही कैलास पर्वत है, वहां अपने स्थानमें जाकर शान्तिसे महावीर रहे ।

अपने वस्त्र पहिनकर किसीकी हिंसा न करते हुए शान्तिसे महावीर अपने स्थानमें रहें ।

सब देशोंसे शत्रुओंका नाश हुआ, सर्वत्र शान्तिकी स्थापना हो चुकी, तो पश्चात् वीरों और सैनिकोंके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । ऐसी स्थिति आजाय यह इच्छा इस प्रार्थनामें है ॥ ६१ ॥

त्रिविध आयु वह है कि जो बाल्य तारुण्य और वार्धक्य के नामसे पहचानी जाती है । जमदग्नि, कश्यप और अनेक देवोंने अपनी उक्त प्रकारकी त्रिविध आयु जिस प्रकार तेजस्वी जीवनसे व्यतीत की थी, वैसी तेजस्वी आयु हमें प्राप्त हो और उनके समान तेजस्वी और वर्चस्वी कृत्य करके हम उनके समान ही यशस्वी हो जायगे । यह प्रार्थना यहां है ॥ ६२ ॥

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ।
नि वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥६३॥

इति तृतीयोऽध्यायः। [अ० ३, कं० ६३, मं० सं० ७९]

[१२८] (शिवः नाम असि) तेरा नाम शिव है, (स्वधितिः ते पिता) शस्त्र तुम्हारा पालन कर्ता है, (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमन है, (मा मा हिंसीः) मेरी हिंसा न कर। (आयुषे) दीर्घ आयु (अन्नाद्याय) अन्नादिकी प्राप्ति (प्रजननाय) सुप्रजाकी प्राप्ति (सुप्रजास्त्वाय) उत्तम प्रजा होनेका सामर्थ्य (रायस्पोषाय) धनके साथ पुष्टि, (सुवीर्याय) सुवीर्य अथवा उत्तम पराक्रमके लिये (निवर्तयामि) मैं यत्नवान् होता हूं ॥ ६३ ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

तेरा नाम (शिवः) कल्याण है, तू स्वभावसे कल्याणमय है, शस्त्र तेरा रक्षक है, अर्थात् शस्त्रोंसे तेरा संरक्षण हुआ है। अतः तेरे लिये नमस्कार करता हूं। तेरे कारण मेरी हिंसा न हो। तू दूसरे किसीकी हिंसाका हेतु न बन।

(आयुषे) दीर्घ आयुकी प्राप्ति करनी है, (अन्नाद्याय) खानपानके पदार्थ प्राप्त करने हैं, (प्रजननाय) उत्तम संतान उत्पन्न करने हैं, (सुप्रजास्त्वाय) उत्तम सुसंस्कृत प्रजा बनाना है, इसलिये (रायस्पोषाय) धन और पोषणके सहाय्य अन्न आदि प्राप्त करने हैं, (सुवीर्याय) उत्तम पराक्रम करने हैं। यह सब हमारी आयुका ध्येय है, हमें अपनी आयुमें यह सब करना है। इसलिये इनके विघातक मार्गोंसे मैं (निवर्तयामि) निवृत्त होता हूं, पीछे हटता हूं, अर्थात् इनके अनुकूल जो मार्ग होंगे उन मार्गोंमें मैं प्रवृत्त होता हूं। जिससे उक्त साध्य मुझे प्राप्त होंगे और मेरा सब ध्येय प्राप्त होगा तथा मैं कृतकार्य होऊंगा। परमेश्वर मुझे सफलता देवे ॥ ६३ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे ।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम ।
इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः ॥१॥
आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवां शग्मां परि दधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥ २ ॥

---

[१२९] (इदं पृथिव्याः) इस पृथ्वीपरके (देवयजनं) देवोंके यजन करनेके स्थानमें (आ अगन्म) हम आये हैं, (यत्र विश्वेदेवासः) जहां सब देव (अजुषन्त) प्रेमसे बैठे हैं, (ऋक्सामाभ्यां यजुर्भिः) ऋचा, साम और यजुके मंत्रोंसे (सन्तरन्तः) हम (इस यज्ञको) संपूर्ण करते हैं, (रायः पोषेण) और धनकी वृद्धि (इषा) और अन्नकी प्राप्तीसे (संमदेम) हम आनन्द प्राप्त करेंगे । (इमाः देवीः आपः) यह दिव्य जल (मे शं उ सन्तु) मेरे लिये कल्याण करनेवाला हो । (ओषधे !) हे औषधि ! (त्रायस्व) हमारी पालना कर। (स्वधिते !) हे शस्त्र ! (एनं मा हिंसीः) इसकी हिंसा न कर ॥ १ ॥

[१३०] (मातरः आपः) माताके समान यह जल (अस्मान् शुन्धयन्तु) हमें पवित्र करे। (घृतप्वः घृतेन) जलके पवित्र करनेके धर्म जलसे (नः पुनन्तु) हमारी पवित्रता करें । (हि देवीः आपः) निश्चयसे दिव्य (जल) (विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति) हमारे सब दोषोंको दूर बहा देता है। (शुचिः आपूतः आभ्यः) शुद्ध और पवित्र होकर (उत् इत् एमि) मैं इस जलसे ऊपर आता हूं । (दीक्षातपसोः) तू दीक्षा और तपका (तनूः असि) शरीर है । (तां शिवां शग्मां त्वा) उस शुभ और सुखदायी तुमको (भद्रं कान्ति पुष्यन्) कल्याण-कारक कान्तिकी पुष्टि करता हुआ (परिदधे) मैं धारण करता हूं ॥ २ ॥

(पृथिव्याः देवयजनं) यह यज्ञस्थान इस भूमिपर देवताओंकी पूजा करनेका स्थान है। यहां हम (आ अगन्म) इकठ्ठे हुए हैं। यहां (विश्वेदेवासः अजुषन्त) सब देव-गण प्रेमसे आकर बैठे हैं, परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं, प्रेमसे इस बातका विचार कर रहे हैं कि आगे क्या करना चाहिये । देवताओंका आगमन यहां होनेसे इस भूमिपर स्वर्गधाम होचुका है । पृथ्वीपर स्वर्गधामकी स्थापना करनाही इस यज्ञका मुख्य उद्देश्य है। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदके मंत्रोंसे इस यज्ञका सब कार्य चलाया जा रहा है। इससे हम सब दुःखोंके (तरन्तः) पार हो जांयगे। और हम सब (रायः पोषेण) धनकी विपुलता और (इषा) अन्नको प्राप्त करके हम बडे आनंदसे युक्त होंगे। यज्ञ कर्मकी सफलतासे हमें धन, पुष्टि और पर्याप्त अन्न मिलेगा और सबका आनन्द बढ जायगा ।

यह यहांकी नदीका (देवीः आपः) दिव्य जल हम सबको (शं) शान्तिका सुख देनेवाला और सबको निरोग करनेवाला हो ।

×

ये सब औषधियां और वनस्पतियां तथा धान्य आदि पदार्थ हमारी रक्षा करनेवाले हों, इनसे हम सुरक्षित होकर सब प्रकारका सुख प्राप्त करें ।

शस्त्रसे हमारेमेंसे किसीका घातपात न हो, हम सब सब प्रकारसे सुरक्षित होकर, सब प्रकार आनन्द प्राप्त करें।

यज्ञस्थानमें वेद, जल, औषधियां और शस्त्र आदि रहते हैं। इन सबसे शान्ति, पुष्टि और सन्तुष्टी सबको मिले। मानवको यही चाहिये वह निर्विघ्नताके साथ प्राप्त हो ॥ १ ॥

(आपः मातरः) जल माताओंके समान हितकारी है । यह जल तृप्ति करके, रोगबीजोंको दूर करके, जीवन का उत्साह देके और पवित्रता तथा शुद्धता करके हमारे लिये माताके समान सहायक होता है। यह जल (घृत-प्वः = घृत–पुवः) अपने तेजसे पवित्र करनेवाला है, वह अपने तेजस्वी रससे हमें पवित्र करे, शुद्ध बनावे और तेजस्वी करे । यह जल वास्तविक (देवीः आपः) दिव्य जल है, अर्थात् मेघसे आया, आकाशसे गिरा है, अतः निर्दोष है । इसीलिये हमारे अन्दर जो जो (रिप्रं) दोष,

म॒हीनां॒ पयो॑ऽसि वर्चो॒दा अ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि ।
वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑कश्चक्षु॒र्दा अ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि ॥ ३ ॥

चि॒त्पति॑र्मा पुनातु वा॒क्पति॑र्मा पुनातु दे॒वो मा॑ सवि॒ता पु॑ना॒त्वच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ ।
तस्य॑ ते पवित्रपते प॒वित्र॑पूतस्य॒ यत्का॑मः पु॒ने तच्छ॑केयम् ॥ ४ ॥

[१३१] (महीनां पयः असि) तू गौओंका दूध है (वर्चोदा असि) तेज देनेवाला तू है (मे वर्चः देहि) मुझे तेज दो । (वृत्रस्य कनीनकः असि) वृत्रकी कनीनिका तू है, (चक्षुर्दा असि) तू नेत्र देनेवाला है (मे चक्षुः देहि) मुझे नेत्रेन्द्रिय दो ॥ ३ ॥

[१३२] (चित्पतिः मा पुनातु) ज्ञानका अधिपति मेरी पवित्रता करे (वाक्पतिः मा पुनातु) वाणीका अधिपति मेरी पवित्रता करे (सविता देवः अच्छिद्रेण पवित्रेण) सविता देव छिद्ररहित पवित्रसे (सूर्यस्य रश्मिभिः मा पुनातु) और सूर्यकिरणोंसे मेरी पवित्रता करे । (हे पवित्रपते !) हे पवित्रोंके अधिपते परमात्मन् ! (तस्य पवित्र-पूतस्य ते पुनामि) पवित्र और शुद्ध ऐसे आपके सामर्थ्यसे में पवित्र होता हूं । (यत्कामः पुने) जिस कामनासे में पवित्र होना चाहता हूं (तत् शकेयम्) वह सिद्ध करनेके लिये में समर्थ बनूं ॥ ४ ॥

रोगबीज, मल, अपवित्रता, आम, अपचित अन्नदोष होंगे, उन सबको (प्रवहन्ति) बाहर बहा देता है और आन्तरिक शुद्धता करता है। इसीसे मनुष्य नीरोग होता है, प्रसन्न होता है। यह जल चिकित्सा करके रोगोंको भी दूर कर देता है। मनुष्य इसी कारण हृष्टपुष्ट होता है। दोष, रोगबीज और मलोंको दूर करनेका ही नाम (शुचिः पूतः) शुद्ध और पवित्र होना है। इसीसे नीरोग होकर बलवान तथा दीर्घआयु मनुष्य होता है।

मनुष्यका शरीर (दीक्षा-तपसोः तनूः) दीक्षा और तपका शरीर है। शीत और उष्ण आदि द्वन्द्वोंके सहन करनेका नाम तप है। मनुष्य जितना द्वन्द्व सहन करनेका अभ्यास करेगा उतना अधिक वह नीरोग, बलवान् और दीर्घायु होगा। इसी तरह दीक्षा लेनेसे बहुत ही लाभ होते हैं। दीक्षाका अर्थ है व्रत लेना, विशेष नियमोंका दक्षतासे पालन करनेका नाम दीक्षा लेना है। दीक्षा होनेके पश्चात् विशेष नियमोंसे आचरण करना होता है। मानवी उन्नतिके लिये दीक्षा और तपकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यका शरीर दीक्षा और तपके लिये बनाया है। दीक्षा और तपसे मानवका सुधार होता है। (भद्रं कान्ति पुष्यन्) इससे मानवके शरीरपर तपका तेज चमकने लगता है, उसके मुखपर एक प्रकारका प्रकाश दीखता है और उसके साथ रहनेवाले उसके उस तेजसे प्रभावित होते हैं। (शिवां शग्मां परिदधे) कल्याणकारी और सुखदायी उस कान्तिको मनुष्य धारण करना चाहता है। इससे मनुष्य सुखी आनंदी और प्रसन्न रहता है।

स्नान करनेके समय बोलनेके लिये यह मन्त्र है। जलका सब शुभ गुण इससे प्राप्त होता है ॥ २ ॥

गौओंका दूध (वर्चः-दाः) तेजस्विता बढानेवाला है। गौका दूध जो पीता है वह तेजस्वी बनता है। जो तेजस्वी बनना चाहते हैं, जो वर्चस्वी होनेके इच्छुक हैं, वे गोदुग्धका सेवन करें। (वर्चः मे देहि) मुझे तेज दे यह प्रार्थना है। क्योंकि मनुष्य तेजस्वी होना चाहता है वह गौके पास- गोमाताके पास- तेज चाहता है। यज्ञके साथ गौका संबंध अखण्ड है। यज्ञसे गोरक्षा होती है और गोदुग्ध प्राप्त होनेसे मनुष्य तेजस्वी और वर्चस्वी होते हैं।

(वृत्रस्य कनीनकः) यह एक अञ्जनका नाम है। 'इन्द्रो वृत्रं अहन् तस्य कनीनिका परापतत्, तदेवाञ्जनमभवत् ।' (तै० सं.) इन्द्रने वृत्रको मारा, उस समय उसके नेत्रकी कनीनिका गिर पडी वही अञ्जन बन गया। यह अञ्जन नेत्र इन्द्रियकी शक्ति बढानेवाला है। अञ्जन नेत्रमें लगानेके समय यह मंत्र बोलनेसे अञ्जनका धारण विशेष लाभदायक होता है। 'यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्०।' (श. प. ब्रा. ३।१।२।१२) अञ्जनकी उत्पत्तिका यह वर्णन है। वैद्यक ग्रंथोंमें इस विषयकी खोज करनी चाहिये। जो वैद्य हैं वे इसमें सहायता देवें। यह नेत्रदोष दूर करनेवाला अञ्जन है ॥ ३ ॥

ज्ञानपति ज्ञानी है वह ज्ञानदानसे मानवोंके बुद्धियोंको पवित्र करता है। 'बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।' (मनु०) ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है। (चित्पतिः) ज्ञानका अधिपति, चित्तका स्वामी, जिसने चित्तको स्वाधीन किया है वह

आ वो॑ दे॒वास॑ ईमहे वा॒मं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे । आ वो॑ दे॒वास॑ आ॒शिषो॑ य॒ज्ञिया॑सो हवामहे ॥५॥

स्वाहा॑ य॒ज्ञं मन॑सः॒ स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षा॒त्स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳬ स्वाहा॒ वाता॒दार॑भे॒ स्वाहा॑ ॥६॥

[१३३] (हे देवासः !) हे देवो ! (अध्वरे प्रयति) इस हिंसा रहित कर्मके चालू करनेके बाद (वः वामं आ ईमहे) आपसे हम सुंदर धन चाहते हैं । (हे देवासः !) हे देवो ! (यज्ञियासः आशिषः) पूज्य आशीर्वाद (वः आ हवामहे) आपसे हम चाहते हैं ॥ ५ ॥

[१३४] (मनसः यज्ञं स्वाहा) मन लगाकर यज्ञ करते हैं (उरोः अन्तरिक्षात् स्वाहा) विस्तृत अन्तरिक्षसे यज्ञ करते हैं, (द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा) द्युलोक और पृथिवीके लिये यज्ञ करते हैं, (वातात् स्वाहा) वायुकी सहायतासे यज्ञ करते हैं, (आरभे स्वाहा) यज्ञको हम प्रारंभ करते हैं, आत्म समर्पण से यज्ञ करते हैं ॥ ६ ॥

चित्पति है । यही बुद्धिका पवित्रकर्ता है । (वाक्पतिः) वाणीका अधिपति, वाणीका स्वामी मेरी वाणीकी शुद्धता करे । वाणी पवित्र बने, उसमें अपवित्र शब्द न हों, कुविचार न रहें, दूसरेका बुरा करनेका भाव वाणीमें न हो, पवित्रता, कल्याण और शक्तिका स्रोत वाणीसे बहता रहे । मन, बुद्धि, चित्त और वाणीकी शुद्धि इस तरह करनी होती है । अब सूर्य प्रकाशसे शुद्धिके विषयमें विचार करना चाहिये । (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यके किरणोंसे अपनी शुद्धि करनी चाहिये । नंगे शरीर सूर्यातपस्नान करनेसे शरीरका लाभ होता है । यह अभ्यास शनैः शनैः करना और बढाना चाहिये । शनैः शनैः करनेसे शरीरका लाभ होता है । सूर्यके आतपका स्नान भोजनके पूर्व और पश्चात् करना नहीं चाहिये । हानि होती है । अन्य समय शनैः शनैः करनेसे लाभ होता है । सूर्यातपसे शरीर दोषरहित होता है । जलादिकी पवित्रता तो (अ-च्छिद्रेण पवित्रेण) ऐसी छाननीसे छानकर करनी चाहिये कि जो छाननी छिद्ररहित हो, फटी न हो । इस तरह शुद्धिके अनेक विधविधि हैं । इनसे सर्वांगीण शुद्धि करनी योग्य है ।

यहां ज्ञानसे बुद्धिकी, शुद्ध वाणीसे भाषाकी, सूर्यकिरणोंसे शरीरादिकी और उत्तम छाननीसे प्रवाही पदार्थोंकी शुद्धि लिखी है । ऐसे छाने और शुद्ध किये रसोंका सेवन करनेसे लाभ होते हैं । सूर्यकिरणोंसे कमरों, वस्त्रों, वस्तुओं, धान्यों और देहोंकी पवित्रता होती है ।

(पवित्रपतिः) सब पवित्रोंका पति परमात्मा है, उसकी सहायतासे हम सबकी शुद्धी होती है । यह शुद्धि ईश्वरकी भक्तीसे साध्य होनेवाली है ।

(यत्कामः पुने) जिस सिद्धीकी इच्छासे हम यह सब शुद्धि करना चाहते हैं वह सिद्धि प्राप्त करनेका सामर्थ्य (तत् शकेयं) मुझमें रहे, उस सामर्थ्यसे में समर्थ बनकर- उक्त सिद्धिको प्राप्त करूं ।

सर्वतः पवित्र बननेसेही सब प्रकारका आनंद- निजानन्द- अपना आन्तरिक आनन्द मिलता है ॥ ४ ॥

(अ-ध्वरः) जिसमें हिंसा अथवा कुटिलता नहीं है, उस कर्मका नाम अध्वर है । ऐसा हिंसा रहित और कुटिलता रहित कर्म हम शुरू करते हैं । इस कार्य करनेके लिये हमें (वामं) उत्तम धन हमें चाहिये, पवित्र वंदनीय सुंदर धन चाहिये । जिससे उक्त प्रकारका हमारा यज्ञ सफल और सुफल हो ऐसा धन हम चाहते हैं । इस लिये देव हमें यह धन देवें और शुभ आशीर्वाद भी देवें ॥ ५ ॥

अपना (मनसः) मन निष्ठापूर्वक लगाकर यज्ञ करते हैं, मनको चञ्चल रखकर नहीं अपितु कर्ममें पूर्णतया लगाकर यह कर्म करते हैं, (उरोः अन्तरिक्षात्) विस्तृत अन्तरिक्षकी सहायतासे हम यज्ञ करते हैं, द्युलोक और पृथ्वीमें लाभ होनेके लिये हम यह यज्ञ करते हैं, वायुकी अनुकूलतासे हम यज्ञ करते हैं । इस कर्मका हमने यहां आज प्रारंभ किया है । (स्व-आ-हा) आत्म समर्पणसे ही यह यज्ञ होता है । यह बात (सु-आह) सच कही जाती है । समर्पणसे ही यज्ञ होता है । हमारा समर्पण योग्य रीतिसे होकर यह यज्ञ सफल होवे ॥ ६ ॥

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा । आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष । बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥७॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥८॥

[१३५] (आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहा) संकल्पपूर्वक प्रेरणा करनेवाले अग्निके लिये यह आहुती है, (मेधायै मनसे अग्नये स्वाहा) मेधाबुद्धिसे युक्त मनको प्रेरक अग्निके लिये यह आहुती है, (दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा) दीक्षा और तपकी प्रेरक अग्निके लिये यह आहुति है । (सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा) विद्यादेवीके विषयमें प्रेरक पोषक अग्निके लिये यह आहुति है, (हे देवीः बृहतीः विश्व-शं-भुवः आपः !) हे प्रकाशमान् दिव्य, महान् विश्वका कल्याण करनेवाले जलो ! (हे द्यावापृथिवी !) हे द्यावापृथिवी ! (हे उरो अन्तरिक्ष !) हे विशाल अन्तरिक्ष ! (बृहस्पतये हविषा विधेम) ज्ञानपतिके लिये हविद्वारा हम यज्ञ करते हैं, (स्वाहा) उसके लिये यह आहुति है ॥ ७ ॥

[१३६] (विश्वः मर्तः) सब मनुष्य, (नेतुः देवस्य सवितुः) सबके नेता देव सविताकी (सख्यं करीत) मित्रताको प्राप्त करें, (पुष्यसे द्युम्नं वृणीत) पुष्टिके लिये तेजस्वी धन प्राप्त करें । (विश्वः राये इषुध्यति) सब मानव धनकी इच्छा करते हैं (स्वाहा) इसलिये हम अर्पण करते हैं ॥ ८ ॥

शुभ संकल्पकी शक्ति, उत्तम कर्म करनेकी प्रेरणा, धारणावती मेधाबुद्धि, मननकी शक्तिवाला मन, विशिष्ट व्रतकी दीक्षा लेना और उसको निभाना, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंका सहन करना और द्वन्द्वोंसे आहत होकर अपना कर्तव्य न छोडना, सरस्वती अर्थात् विद्यादेवीकी उपासना करना, पुष्टि प्राप्त करना इत्यादिकी सिद्धि करना मनुष्यकी उन्नति के लिये अत्यंत आवश्यक है ।

मनुष्यको ये सब शक्तियां प्राप्त करनी आवश्यक हैं, इस लिये इनके लिये कुछ त्याग करना आवश्यक ही है । इस त्यागकी सूचना यहांके ' स्वाहा ' शब्दसे मिलती है । ' स्वाहा ' का अर्थ है आत्म समर्पण, त्याग करना, अपनी वस्तुका दान करना । यह दान उक्त गुणोंकी प्राप्तिके लिये करना है ।

दिव्य जल (विश्व-शं-भुवः) सब प्रकारकी अशान्ति दूर करके सब प्रकारकी शान्ति देनेवाला है । सब प्रकारकी शान्तिका अर्थ शारीरिक निरोगिता, आरोग्य, उत्साह, बलकी प्राप्ति, मानसिक शान्ति आदि है । जलके प्रयोगसे रोग दूर होते हैं इत्यादी वेदकी विद्यायें वेदमन्त्रोंमें अन्यत्र हैं । उनका अनुसंधान पाठक यहां करें ।

यह जो यज्ञ किया जाता है वह (विश्व-शं-भूः) विश्वशान्तिके लिये ही है । द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और भूलोकमें शान्ति स्थापना करनेके लिये यज्ञ किया जाता है । इस यज्ञके लिये हम यह अर्पण करते हैं ॥ ७ ॥

संपूर्ण विश्वका चलानेवाला, सबका ' नेता ' एक देव है, उसको ' सविता ' इसलिये कहते हैं कि वही अपने अंदरसे सबका प्रसव करता है । ' सविता वै सर्वस्य प्रसविता । (श. ब्रा.) इस एक देवकी सख्यभक्ति सब लोग करें । इससे सबका कल्याण होगा । शरीर पोषण करनेके लिये अनेक प्रकारका धन चाहिये (पुष्यसे द्युम्नं), यह धन भी मनुष्यको प्रयत्नसे प्राप्त हो सकता है, (वृणीत) धन प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये । सब मनुष्य (राये) धन प्राप्तिके लिये (इषुध्यति) प्रबल इच्छा करता है, ईश्वरकी प्रार्थना करता है, हर प्रकारके यत्न करता है, इतनाही नहीं परंतु युद्ध भी करता है । इसलिये जगत्स्रष्टाकी मित्रता, सख्यभक्ति वह करेगा तो यह धन उसको निःसंदेह प्राप्त होगा । यज्ञही इसका उपाय है अतः (स्वाहा) यज्ञके लिये हम यह समर्पण करते हैं । हमारा यह यज्ञ सफल हो ॥ ८ ॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः ।
शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥९॥

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहि । सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि । उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योदृचः ॥१०॥

[१३७] (ऋक्सामयोः) ऋचा और सामका मिलकर (शिल्पे स्थः) यह तुम शिल्प हो, (ते वां आरभे) उन शिल्पोंका में प्रारंभ करता हूं (ते मा अस्य यज्ञस्य) वे मेरी इस यज्ञके (उदृचः पातम्) अन्ततक रक्षा करें। (शर्म असि) तू कल्याणस्वरूप हो, (मे शर्म यच्छ) मुझे कल्याण दो (ते नमः अस्तु) तेरे लिये प्रणाम हो (मा मा हिंसीः) मेरी हिंसा मत कर ॥ ९ ॥

[१३८] (आङ्गिरसी ऊर्क्) अंगोंमें रसका बल बढानेवाला (ऊर्णम्रदाः असि) तू ऊन जैसा मृदु अन्न हो (ऊर्जं मयि धेहि) तू मुझमें बल धारण कर। (सोमस्य नीविः असि) सोमका प्रधान अंग तू है। (विष्णोः शर्म असि) व्यापक ईश्वरसे प्राप्त होनेवाला सुख तू है। यजमानस्य शर्म) अतः यजमानको सुख दे। (इन्द्रस्य योनिः असि) इन्द्र शक्तिका उत्पत्तिस्थान तू है। (कृषिः सुसस्याः कृधि) कृषि उत्तम फलदायी कर। (हे वनस्पते !) हे वनस्पते ! (उच्छ्रयस्व) उन्नत हो, (ऊर्ध्वः अस्य यज्ञस्य उदृचः) ऊंचा होकर इस यज्ञके समाप्ति तक (मा अंहसः पाहि) मुझे पापसे बचाओ ॥ १० ॥

पादबद्ध व्यवस्था जिसमें है वह ऋक् मन्त्र कहलाता है, यह ऋक् मन्त्र गानमें परिणत हुआ तो उसका नाम साम होता है। ऋग्वेदका मंत्र स्तोभोंके साथ, आलापोंके साथ गानेसे साम होता है और यही सामगान है। ऋक् मंत्र तीन स्वरोंमें बोला जाता है, सामगानका सात स्वरोंमें गायन होता है तथा तानें आलाप मूर्छना आदि स्वरविस्तार बहुतही विस्तृत है। सामगान बडो कुशलताका कार्य है। ऋचा और सामका यह गान एक शिल्प है, अर्थात् यह बडी कुशलतासे सिद्ध होनेवाला कार्य है।

वेदमंत्रोंसे सिद्ध होनेवाला यज्ञ भी बडी चातुर्यसे सिद्ध होनेवाली कार्यप्रणाली है। इसलिये विशेष यज्ञविधिको शिल्प कहते हैं। ये शिल्प ऋग्वेद और सामवेदके मंत्रोंसे सिद्ध होते हैं। यज्ञमें हम इनका कार्य शुरू करते हैं, निर्विघ्नतासे ये यज्ञभाग हमसे सिद्ध हों।

यज्ञसे अनेक शिल्पोंकी सिद्धता होती है। राष्ट्रके सब शिल्पी इस यज्ञमें लगाये जाते हैं। यज्ञसेही उनकी उन्नति होती है। इसका विचार विविध यज्ञके प्रसंगमें होगा। यज्ञ सब शिल्पोंकी और सब शिल्पियोंकी उन्नति करनेवाला है।

(शर्म असि) तू सुख स्वरूप हो। इस मंत्रभागका विचार (यजु. अ. १ मंत्र १४ और १९ मंत्रके विचारके प्रसंगमें) हुआ है। वहां इसका विचार पाठक अवश्य देखें। हमें सुख प्राप्त हो। हमारी हिंसा न हो। इसलिये प्रणाम करते हैं। हमारा प्रणाम स्वीकार करो ॥ ९ ॥

' ऊर्ज ' का अर्थ (Vigour, juice, water, food, energy) बल, वीर्य, रस, जल, अन्न, शक्ति है। ' आंगिरसी ऊर्क ' का अर्थ ऐसा है कि ' जो रस शरीरके अंग प्रत्यंगोंमें है उसका वीर्य और बल बढानेवाला रस या अन्न '। शरीरमें बल बढे यह मनुष्य चाहता है, परंतु यह बल योग्य अन्न और रसके सेवनसे बढनेवाला है यह भी मनुष्यको मनमें धारण करना चाहिये। अन्न भक्षण करनेके लिये ऐसा तैयार करना चाहिये कि जो मृदु हो, शुष्क रसहीन न हो।

सोमका मुख्य अंग यह सोमरस ही है। ' नीवि ' का अर्थ ' लपेटनेका वस्त्र, ओढनेका वस्त्र, प्रधान अथवा मुख्य भाग, (Principal, capital) मूल धन, मुख्य सत्त्व, बंधन रज्जु ' होता है, यहां ' मुख्य सत्त्वरस ' यह अर्थ है। सोमवल्लीका मुख्य सत्त्वरस ही बल बढानेवाला उत्तम अन्न है।

सर्वव्यापक परमेश्वरका सुख सब पदार्थोंमें विविध रूपोंमें रहता है। सोमवल्लीमें वह सोमरसके रूपसे रहा है। ' रसोऽहमप्सु ' (गी. ७।८) ' पुष्णामि चौषधीः सर्वाः

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः । दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे । ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥११॥

[१३९] (व्रतं कृणुत) व्रतका पालन करो, (अग्निः ब्रह्म) अग्नि ब्रह्म है, (अग्निः यज्ञः) अग्नि यज्ञ है (वनस्पति यज्ञियः) और वनस्पति यज्ञके योग्य है । (अभिष्टये दैवीं) सहायताके लिये दिव्य (सुमृडीकां वर्चोधां) सुखकारक बलवर्धक (यज्ञवाहसं) यज्ञ साधक (धियं मनामहे) बुद्धिको ही हम विचारमें लेते हैं, (सुतीर्था नः वशे असत्) वह (विद्या-) पारंगत बुद्धि हमारे वशमें रहे। (ये मनोजाताः) जो मनसे उत्पन्न (मनोयुजः) मनके साथ रहनेवाले (दक्षक्रतवः देवाः) दक्षताके साथ कर्म करनेवाले इन्द्रियगण हैं, (ते नः अवन्तु) वे हमारा पालन करें (तेभ्यः स्वाहा) उनके लिये यह आहुति है ॥ ११ ॥

सोमो भूत्वा रसात्मकः। गी. १५।१३) जलोंमें रस ईश्वरकी विभूति है, रसात्मक सोम होकर ईश्वर सब औषधियोंको पुष्ट करता है । इस तरह स्पष्ट हुआ कि सोमवल्लीमें जो सोमरस है वह ईश्वरकी विभूति है । सर्वव्यापक परमेश्वरका सुख इस सोमरसके रूपमें हमें मिलता है । यह सोमरस यजमानको सुख देवे ।

इन्द्रकी (योनिः) उत्पत्ति भी यही है । (इस विषयमें इन्द्रशक्तिका विकास नामक पुस्तकमें विशेष लिखा है, वह पाठक यहां देखें ।) सोम जैसे रसमें शरीरकी इन्द्रशक्ति बढानेका सामर्थ्य रहता है । भक्ष्य वनस्पतियोंके रसोंमें यह सामर्थ्य रहता है । सोमरसमें वह विशेष रहता है । पाठक यह जानें की अपने अन्दर इन्द्रशक्ति बढनेसे ही शौर्य, वीर्य, धैर्य, सामर्थ्य, प्रभाव आदि बढता है । इसलिये अन्नमें ऐसे रस रखने चाहिये कि जिनसे इस सामर्थ्यकी वृद्धि हो सकती हो ।

उत्तम फल जिससे उत्पन्न होते हों ऐसी कृषि कर । सस्य धान्यका और फलका वाचक शब्द है । ऐसी कृषि कर कि जिससे उत्तम धान्य प्राप्त हों और उत्तम फल मिलें । यह इसलिये कि फलोंके रसके सेवनसे भी इन्द्रशक्तिका विकास होता है । इसलिये फल पूर्ण विकसित मिलें ऐसी खेती करनी चाहिये । धान्यके विषयमें भी वही बात है । उत्तम कृषिसे उत्तम फल मिलें, उनके रसके सेवनसे अपने अन्दर इन्द्रकी शक्ति बढे और व्यापक परमेश्वरके सुखदायक रससे हम हृष्टपुष्ट और नीरोग होते रहें इत्यादी पूर्व मंत्रभागोंसे संबंध यहां देखना चाहिये ।

वनस्पतियां ऊपर ऊंची अच्छी तरह बढें, उत्तम रसदार हों, उनके सेवनसे पूर्वोक्त मंत्रोंमें कहे सामर्थ्य हमें प्राप्त हों । और हमारा पापसे बचाव हो (अंहसः पाहि) । इस यज्ञकी समाप्तितक (यज्ञस्य उदृचः) हमारा पापसे बचाव हो, ऐसा यहां कहा है । एक यज्ञ होनेके बाद दूसरा यज्ञ शुरू होता है और मनुष्य पूर्ण आयु भी एक शतसांवत्सरीक यज्ञ है ! इस तरह विचार करनेसे पता लगेगा कि हमारी पापसे रक्षा सदाही होनी चाहिये यह इस प्रार्थनाका मुख्य उद्देश्य है । ऐसीही प्रार्थनाएं स्थान स्थानपर हैं, इसका यही कारण है ॥ १० ॥

(व्रतं कृणुध्वं) नियमोंका पालन करो, कुछ व्रत पालन करनेका नियम करो, इससे अनुशासनमें रहनेका तुम्हें चस्का लग जायगा । जो यज्ञ तुम करते हो तो उसमें जो अग्नि है वह अग्नि (अग्निः ब्रह्म) साक्षात् ब्रह्म ही है, अग्नि ही साक्षात् यज्ञ है और यज्ञ साधक है । और ये वनस्पतियां (यज्ञियः) यज्ञके योग्य हैं । 'वनस्पतयो यज्ञियाः, नहि मनुष्या यजेरन्यद्वनस्पतयो न स्युः ।' (श. ब्रा. ३।२।२।९) वनस्पतियां यजन करने योग्य हैं, यदि वनस्पतियां न हों, तो मनुष्योंसे यज्ञही नहीं होगा । इसलिये अग्नि साक्षात् ब्रह्म है, अग्नि ही यज्ञ है और वनस्पतियोंके हवनसे यज्ञ होता है यह जानो और यज्ञ करनेका व्रत धारण करो ।

इस कार्यमें तुम्हारी सहायता करनेवाली बुद्धिही है । यह ध्यानमें रखो । यह बुद्धि (सुतीर्था) विद्यास्नातिका, व्रतस्नातिका अर्थात् सुविद्यासे सुसंस्कृत बनी हुई हो, (वर्चोधा) बलवती और तेजस्विनी हो, (यज्ञ-वाहसं) यज्ञ निभानेकी इच्छासे युक्त हो, उत्साहके साथ प्रारब्ध यज्ञको सफलता तक पहुंचानेवाली हो, (सु-मृडीकां दैवीं) प्रशंसनीय और दैवी सामर्थ्यसे युक्त हो । इस तरहकी बुद्धि मनुष्यकी सहायिका है । जिसके पास ऐसी बुद्धि हो वही कृतकार्य हो सकता है । यह बुद्धि (वशे असत्) वशमें रहे, सन्मार्गसे चले, कुमार्गमें न चले, तभी सफलता प्राप्त होगी । नहीं तो

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥१२॥
इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम् ।
अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमा विशत पृथिव्या सम्भव ॥१३॥
अग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहि । रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥१४॥

---

[१४०] (हे आपः !) हे जलो ! (यूयं पीताः) तुम पीये जानेके बाद (श्वात्रा भवत) बल बढानेवाले बनो, (अस्माकं उदरे अन्तः सुशेवाः) हमारे पेटमें सुखदायी होओ। (ताः अयक्ष्माः) ये जल रोगरहित (अनमीवाः) आमदोषरहित (अनागसः) पाप दूर करनेवाले (ऋतावृधः) यज्ञभाव बढानेवाले (अमृताः) मृत्युका भय दूर करनेवाले (देवीः) दिव्य शक्तिसे युक्त होकर (अस्मभ्यं स्वदन्तु) हमारे लिये स्वादु रुचिकर हों ॥१२॥

[१४१] (इयं ते यज्ञिया तनूः) यह पृथिवी तेरा पवित्र शरीर है। (अपः मुञ्चामि) मैं जलको त्यागता हूं, (न प्रजाम्) प्रजाको नहीं छोडता। (अंहो मुचः) पापको फैलानेवाले (स्वाहाकृताः) स्वाहा करके स्वीकृत किये जल (पृथिवीं आ विशत) भूमिमें प्रविष्ट हों। (पृथिव्या संभव) वे पृथ्वीसे मिल जावें ॥ १३ ॥

[१४२] (हे अग्ने !) हे अग्ने ! (त्वं सुजागृहि) तुम उत्तम जागो (वयं सुमन्दिषीमहि) हम आनंदसे निद्रा करेंगे (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करते हुए (नः रक्ष) हमारी रक्षा करो (नः पुनः प्रबुधे कृधि) और हमें फिर जाग्रत करो ॥ १४ ॥

ऐसी बुद्धि कुमार्गमें प्रवृत्त हुई तो उसका परिणाम बडा भयानक होगा। इसलिये कहा है कि यह बुद्धि अपने वशमें रहे।

(मनो-जाताः) मनसे उत्पन्न (मनो युजः) मनके साथ संयुक्त, मनके साथ रहनेवाले, (दक्ष-क्रतवः) दक्षतासे कर्म करनेवाले (देवाः) इन्द्रिय हैं। सब इंद्रिय मनके साथ रहनेसेही कार्य कर सकते हैं, इसलिये ये सब विशेषण सुयोग्य हैं। ये सब स्वाधीन रहेंगे तो ही ये (अवन्तु) रक्षा कर सकते हैं। इसलिये इनको स्वाधीन करनेमें अपनी शक्तिका (स्वाहा) कुछ समर्पण होना चाहिये ॥ ११ ॥

जल पीनेके बाद वह (श्वात्राः) बल बढानेवाला और पेटमें कष्ट न देनेवाला होवे। वह जल (अ-यक्ष्माः) क्षय-रोग दूर करनेवाला, (अन्-अमीवाः) आमसे-अपचित अन्नसे उत्पन्न दोषोंको दूर करनेवाला, (अन्-आगसः) पापकी ओरकी प्रवृत्तिको दूर करनेवाला, (ऋता-वृधः) सरलताकी दिव्य प्रवृत्तिको बढानेवाला, (अमृताः) मरणके भयको दूर करनेवाला, अर्थात् अपमृत्युके भयको दूर करने-वाला (देवीः) दिव्य शक्तिसे युक्त हमारे लिये होकर वह हमें स्वादु भी लगे। यहां जलके गुण दिये हैं, जल-चिकित्साका मूल यहां है। 'अनमीव-अनागस्' इन दो शब्दोंका घनिष्ट संबंध है, यकृत् बिगडनेसे अन्नका पाचन नहीं होता और आम बनता है और आम होनेसे पापकी ओर प्रवृत्ति होती है। जल यकृतका सुधार करके पाप-प्रवृत्तिसे बचाता है और सत्प्रवृत्तिको बढाता है इत्यादि उपदेश यहां देखने योग्य है ॥ १२ ॥

मूत्रादि दुर्गन्ध पदार्थकी व्यवस्था करनेके आदेश इस मंत्रमें बडे अच्छे दिये हैं। (इयं) यह पृथिवी तेरा (यज्ञिया तनूः) पवित्र शरीर ही है। तेरा शरीर इस पवित्र भूमिसे बना है और उसीमें मिलानेवाला है, तथा यह पवित्रता करनेवाला है।

इसलिये (अपः मुञ्चामि) मैं मूत्ररूपी जल इस गड्ढेमें छोडता हूं। मूत्र ही छोडता हूं, उसके साथ हस्तस्पर्शादि द्वारा प्रजा उत्पन्न करनेवाला वीर्य नहीं छोडता। वीर्य सुरक्षित रखता हूं और मूत्र ही छोडता हूं। यह जल (स्वाहा-कृताः) यज्ञशेष पवित्र दुग्धादिके स्वीकार करनेके बाद, उसमें जो (अंहः-मुचः) मलरूपी पापरूपी भाग है जो दुर्गन्धरूपी पाप फैलाता है वह (पृथिवीं आ विशत) पृथ्वीमें जो यह गढा किया है उसमें प्रविष्ट होवे।

और (पृथिव्या संभव) पृथ्वीके साथ मिल जावे। जिससे दुर्गन्धि नहीं फैलेगी।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आऽगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आऽगन् ।
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥१५॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः ।
रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥१६॥

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥१७॥

---

[१४३] (मे मनः पुनः आगन्) मुझे मन पुनः प्राप्त हुआ; (मे आयुः पुनः) मुझे आयु पुनः (प्राणः पुनः आगन्) प्राण भी पुनः प्राप्त हुआ, (मे आत्मा पुनः) मुझे आत्मा पुनः प्राप्त हुआ, (चक्षुः पुनः) चक्षु पुनः (मे श्रोत्रं पुनः आगन्) और श्रोत्र भी पुनः प्राप्त हुआ । (वैश्वानरः) विश्वका नेता (अदब्ध) न दब जानेवाला (तनूपाः अग्निः) शरीर रक्षक अग्नि (अवद्यात् दुरितात् नः पातु) निंदनीय पापसे हमारी रक्षा करे ॥ १५ ॥

[१४४] (हे अग्ने !) हे अग्ने ! (देवः त्वं) तू प्रकाशक देव (आ मर्त्येषु) सब मर्त्योंमें (व्रतपाः असि) व्रतोंका पालन करनेवाला है, (त्वं यज्ञेषु आ ईड्यः [असि]) तू यज्ञमें भी पूजनीय है । (हे सोम !) हे सोम ! (इयत् रास्व) इतना धन तो तू हमें दे (भूयः आ भर) पश्चात् और ला दे । (वसोः दाता) धनदाता (सविता देवः) सविता देवने (नः वसु अदात्) हमें धन दियाही है ॥ १६ ॥

[१४५] (हे शुक्र !) हे शुक्र ! (एषा ते तनूः) यह तेरा शरीर है, (एतत् वर्चः) यह तेज है, (तया संभव) इसके साथ एक बनो, मिल जाओ (भ्राजं गच्छ) और प्रकाशको प्राप्त हो । (जूः असि) तू वेगवान् है, (मनसा धृता) मनसे धारण किया (विष्णवे जुष्टा) और व्यापक ईश्वरके लिये प्रीतिसे रखा तू ही है ॥ १७ ॥

यहां मूत्रोत्सर्गादिके विषयमें जो दक्षता कही है वह मानवी आरोग्यके लिये अत्यंत योग्य है ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! तू इस यज्ञगृहमें अच्छी तरह जागता रहे, हम यहां सुखसे शयन करेंगे, अथवा आनन्दसे निवास करेंगे, विश्राम लेंगे । प्रमाद न करते हुए तुम हमारी रक्षा इस रात्रीमें करो और कल सबेरे हमें पुनः योग्य समयमें जाग्रत कराओ । रात्रीमें हमें निद्रासे उत्तम विश्राम मिले, उत्तम गाढ निद्रा लगे ऐसा कर, तथा प्रातः योग्य समयमें हमें जाग्रत कर, जिससे हम उठकर आजका अधूरा कार्य कल उठकर समाप्त करेंगे ॥ १४ ॥

निद्रा समाप्त करके पुनः जाग्रति प्राप्त होते ही पूर्ववत् मुझे मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि सबकी सब शक्तियां जैसे पहिले थी वैसी प्राप्त हुई है । इनमें कोई हेर फेर नहीं हुआ । गाढ निद्रामें इनका बोध मुझे नहीं था, तथापि जाग्रति आते ही मैं ठीक ठीक पहचानता हूं कि मेरे ये सब इंद्रियगण जैसे पहिले थे वैसे ही आज हैं । यहां 'आयु' का अर्थ जीवन है, 'आत्मा' का अर्थ जीवभाव है। 'तनूपा' अग्नि मेरा रक्षक है, वही पापसे बचाता है ।

जिस तरह 'निद्रा' के पश्चात् पूर्व दिनके इंद्रिय दूसरे दिन प्राप्त होते हैं, इसको दैनिक पुनर्जन्म कहते हैं, उसी तरह 'महानिद्रा'–मृत्यु–के पश्चात् पुनर्जन्म में भी पूर्ववत् ही सब इंद्रिय शक्तियां पुनः प्राप्त होती हैं ॥ १५ ॥

अग्निदेव सब मर्त्योंमें रहता है । 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।' (कठ उ.) प्रत्येक वस्तुमें तदाकार होकर रहता है । यही विविध व्रतोंका पालन करनेवाला उत्साह देता है, जिससे मनुष्य विविध कर्म करते हैं । इसलिये अपने अन्दर विद्यमान इस आग्नेयी शक्तिको जानना योग्य है ।

सोम 'कलावान्' है, कलावृद्धि अर्थात् हुनरकी वृद्धिसे वह सब प्रकारका धन देता है । जहां कला होती है वहां धन पहुंचता है । सविता देव सबका उत्पादक है, उसने उत्पत्तिके साथ सब धन प्रत्येकके पास रखा ही है । उस जन्म प्राप्त शक्तिकी वृद्धि करके अन्यान्य धन प्राप्त करने होते हैं ।

हरएक मनुष्य यह बात जानें और अपना कर्तव्य करके इष्ट धनोंकी प्राप्ति करे ॥ १६ ॥

शुक्र नाम वीर्यका है । यही शरीरका आधार तत्त्व है । इसलिये कहा कि यह शरीर शुक्रका ही शरीर है । यह

तस्यांस्ते सत्यसंवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमंशीय स्वाहा ।
शुक्रमंसि चन्द्रमंस्यमृतंमसि वैश्वदेवमंसि ॥१८॥

चिदंसि मनासि धीरंसि दक्षिणासि क्षत्रियांसि यज्ञियास्यदिंतिरस्युभयतःशीर्ष्णी ।
सा नः सुप्राची सुप्रंतीच्येधि मित्रस्त्वां पदि बंध्नीतां पूषाऽध्वंनस्पात्विन्द्रायाध्यंक्षाय ॥१९॥

[१४६] (तस्याः सत्यसवसः ते प्रसवे) उस सत्यप्रवृत्तिवाले तुम्हारी प्रगतिके लिये, (तन्वाः यन्त्रं अशीय) शरीरके यन्त्रको प्राप्त करूं, (स्वाहा) इसलिये आहुति देता हूं । (शुक्रं असि) तू शुक्र हो, (चन्द्रं असि) आनंद दायक हो (अमृतं असि) अमर हो, (वैश्वदेवं आसि) सब देवोंकी शक्तिसे युक्त हो ॥ १८ ॥

[१४७ (चित् असि) तू ज्ञान हो, (मना असि) तू मन हो, (धीः असि) तू बुद्धि हो, (दक्षिणा असि) तू दक्षता हो, (क्षत्रिया असि) तू क्षत्रिय शक्ति हो, (यज्ञिया असि) तू पूजायोग्य हो, (अदितिः असि) तू अखंड शक्ति हो, (उभयतः शीर्ष्णी (असि)) तू दोनों ओर सिरवाली हो, (सा नः सुप्राची) वह तू हमारे लिये आगे बढनेमें (सु प्रतीची) अथवा पीछे हटनेमें (एधि) सहायक हो ! (मित्रः त्वा पदि बध्नीतां) मित्र तुझे पांवमें बांध कर रखे । (पूषा अध्यक्षाय इन्द्राय) पूषा अध्यक्ष इन्द्रके लिये (अध्वनः पातु) मार्गकी रक्षा करे ॥ १९ ॥

शुक्र तेज है, अर्थात् तेज देने और बढानेवाला है । जब शुक्र इस शरीरके साथ एक जीव, एक रूप हो जाता है, तब वह अत्यंत बडे प्रकाशसे चमकने लगता है । उस समय यह बडा तेजःपुंज दीखता है । इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने शरीरमें शुक्रको सुस्थिर करे और तेजस्वी बने ।

जीवन एक वेग है, मनसे इस वेगका धारण होता है, और सर्वव्यापक परमात्माके लिये उसका प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता है । अर्थात् अपने जीवनके प्रचण्ड वेगको सर्व व्यापक परमात्माकी सेवामें प्रीतिपूर्वक अर्पण करना चाहिये । अपनी सब शक्ति उसीकी सेवामें लगानी चाहिये । उसकी सेवासे ही मानवी जीवनके वेगकी सफलता है ॥ १७ ॥

तुम (सत्य-सवसः) अपनी सत्य प्रवृत्ति करो, ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये जो प्रवृत्ति है वह सत्य प्रवृत्ति हो । सत्य धर्ममार्गसे ही ऐश्वर्य प्राप्त करूंगा ऐसा विचार मनमें स्थिर रहना चाहिये । इस प्रवृत्तिके पश्चात् (प्र-सवे) अपने विशेष ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके लिये ही यह (तन्वाः यंत्रं) शरीरका यन्त्र है यह मानो । इस शरीरका भोग (अशीय) हमने करना है वह भोग केवल सुखभोगके लिये नहीं, अपितु (प्र-सवे) सबकी प्रगति और उन्नतिके लिये है, यह बात मनमें धारण करनी चाहिये । इसलिये (स्वाहा) त्याग या दान करना चाहिये । क्योंकि यहां केवल भोगही भोगना नहीं है । सत्प्रवृत्ति रखनेके लिये दुष्ट प्रवृत्तिको हटाना चाहिये, इसी तरह इसमें त्याग बहुत है ।

तेरा स्वरूप (शुक्रं) वीर्य, सामर्थ्य, पावित्र्य, (चन्द्रं) आनंद, (अमृतं) अमरत्व और (वैश्व-देवं) सब देवताओंकी शक्तिसे युक्त है । यह जानो । तुम्हारे अन्दर सब देवताओंकी शक्तियां हैं, उनका विकास करना चाहिये । यही तुम्हारा अनुष्ठान अथवा (प्र-सव) प्रयत्न है । इसको निभाना तेरा कर्तव्य है ॥ १८ ॥

यहां चित्त, मन, बुद्धि, दाक्षिण्य, क्षात्रशक्ति, पूजनीया, अखंड भाव आदि तू है ऐसा कहा है । मानवमें भी ये गुण हैं और मानव ये गुणवाला है, इसलिये मनुष्य ये गुण अपनेमें देखे और उनका विकास करनेका यत्न करे । यह तो मानवके लिये बोध है । पर यह मंत्र यहां गौके उद्देश्यसे विशेष कर आया है । और यहांका 'अदिति' शब्द (अ-दिति, अ-काटच, अवध्य) गौवाचक है । और यह वर्णन गौके लिये यहां आया है । गौ ज्ञान, मन, बुद्धि बढानेवाली, दक्षिणामें ब्राह्मणको देने योग्य, सदा पूजनीय, क्षत्रियको प्रेरणा करनेवाली, (अ-दिति) अवध्या है । यह (उभयतः शीर्ष्णी) दोनों ओर सिरवाली अर्थात् यज्ञके दोनों भागोंमें दुग्धादि देकर यज्ञकी सहायता करनेवाली है । प्राङ्मुख और प्रत्यङ्मुख होकर यज्ञ कर्ममें सहायक होनेवाली गौ है । मित्र-भाव रखनेवाला गौको पांवमें रस्सीसे बांधे । यहां सूचना मिलती है कि गौके गलेमें रस्सी नहीं बांधनी चाहिये, परंतु पांवमें बांधना चाहिये । मार्गमें जहां गौ जाना चाहती है वहां जाते समय मार्गमें पूषा-पोषण शक्तिवाला इसकी रक्षा करे । इस तरह गौ सुरक्षित रहे, उसको किसी तरहका कष्ट न हो और वह यज्ञकी सहायता करे । यह यज्ञपरक भाव है ।

×

अनुं त्वा माता मन्यतामनुं पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूंथ्यः ।
सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमंᳫ रुद्रस्त्वा वर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहिं ॥२०॥

वस्व्यस्यदिंतिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि ।
बृहस्पतिंष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुंभिरा चंके ॥२१॥

[१४८] (त्वा माता अनुमन्यतां) तुझे माता अनुमति दे, (पिता अनु, सगर्भ्यः भ्राता अनु) पिता, सहोदर भाई, (सयुथ्यः सखा अनु) समूहमें रहनेवाला सखा तुझे अनुमति दें । (हे देवि !) हे देवि ! (सा त्वं इन्द्राय) वह तू इन्द्रके लिये (सोमं देवं अच्छ इहि) सोम देवको शीघ्र प्राप्त हो । (रुद्रः त्वा वर्तयतु) रुद्र तुझे परावृत्त करे (सोमसखा स्वस्ति पुनः एहि) सोमरूपी मित्रको साथ रखकर क्षेमपूर्वक फिर इधर आ ॥ २० ॥

[१४९] (वस्वी असि) तू वसुकी शक्ति हो, (अदितिः असि) तू अखण्ड शक्ति हो, (आदित्या असि) तू आदित्य शक्ति हो, (रुद्रा असि) तू रुद्रशक्ति हो, (चन्द्रा असि) तू चन्द्रशक्ति हो । (बृहस्पतिः त्वा सुम्ने रम्णातु) बृहस्पति तुझे आनन्दमें रममाण करे, (रुद्रः वसुभिः आचके) रुद्र तुझे वसुओंके साथ आनंदमें तेजस्वी रखे ॥ २१ ॥

यह मंत्र गौण वृत्तीसे सब मानवोंको भी बोध देता है। मनुष्य क्या है ? उत्तरमें कहा कि 'तू चित्त, मन, बुद्धि, दक्षता, क्षत्रियकी रक्षक शक्ति, पूजनीय पवित्रता और अखण्ड भाव हो।' मानवमें विचारशक्ति, मननशक्ति, बुद्धिज्ञानशक्ति, दक्षतासे चौकस बुद्धिसे कर्म करनेकी शक्ति, शत्रुको दूर करनेकी शक्ति, यज्ञ करनेकी वृत्ती और सबकी ओर अखण्डित एकत्वके भावसे देखकर समबुद्धिसे बर्ताव करनेकी बुद्धि रहती है। हरएक मनुष्य अपने अन्दर ये शक्तियां देखें और उनका उपयोग जानकर इनका विकास करनेका यत्न करे।

आगे बढने और पीछे हटनेमें भी मनुष्य अपनी बुद्धि लगाता है, ये इसके दो सिर हैं। पूर्वकी ओर अथवा पश्चिमकी ओर जानेमें यह बुद्धि सहायक होती है। शत्रुपर हमला करने अथवा समयपर पीछे हटनेमें यह बुद्धि इस मानवके काममें आती है।

इस गौको 'मित्र' ही बंधनमें रखे। अर्थात् जो इसका सच्चा मित्र है वही इसकी गति करनेवाले पांवमें बंधन डालकर इसकी गतिको रोके। जो मित्र होगा वही ठीक तरह इसकी उन्नतिमें रुकावट न हो ऐसी दृष्टीसे इसकी गतिको रोक सकता है। मित्रका बंधन कष्टदायक नहीं होता। यदि शत्रु इसको प्रतिबंध करेगा, तो यह द्विगुणित वेगसे अधिक दौडेगा। इसलिये यहां रोकनेवाला 'मित्र' कहा है। मनुष्य अपने मित्रोंमें ऐसे मित्र रखे कि जो समय-पर इसको अयोग्य मार्गमें जानेसे रोकें।

'पूषा' ही इसका रक्षा मार्गपर चलते समय करे। पूषा वह है कि जो पोषण करता है, पुष्टि देता है। वह इसको मार्गमें रक्षा करता हुआ आगे ले जावे, और पोषणमें बाधा न डालकर, इसकी रक्षा करता हुआ इसकी प्रगति होनेमें सहायक हो।

इस तरह गौणवृत्तीसे इस मंत्रका अर्थ मानवकी उन्नतिमें किस तरह बोध करता है इसका विचार पाठक करें, और बोध प्राप्त करें। गौवाचक अर्थ पहले दियाही है ॥ १९ ॥

माता, पिता, भाई और मित्र तेरे कार्यमें अनुकूल संमति देवें। इनमें कोई भी तुम्हारे इस कार्यमें प्रतिकूल न हों। सोम लानेके लिये तू जा, इन्द्रको देनेके लिये तू सोम यहां ले आ। सोम प्राप्त करनेपर, उस सोमको अपनी पीठपर रखकर तूं यहां आ और रुद्र तुझे वापस आनेमें सहायता देवे अर्थात् शत्रुसे तेरी रक्षा करके तुझे यहांतक सुरक्षित ले आवे।

गौण वृत्तीसे यही मन्त्र मानव के लिये बोध देता है। तेरे माता, पिता, भाई और मित्र तेरे शुभ यज्ञ कर्ममें सहायक हों, इन्द्रको अर्पण करनेके लिये तू जो हविरन्न लाता है, वह सीधे मार्गसे प्राप्त कर और उसको लेकर यहां वापस आ। जाते और आते समय शूर महावीर तेरी रक्षा मार्गमें करें। इस तरह अर्थ जानकर बोध प्राप्त करना उचित है ॥ २० ॥

वसु आठ हैं, 'अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्यु, चन्द्र, नक्षत्र' ये आठ वसु हैं। रुद्र ग्यारह हैं जो दश प्राण और ग्यारहवां मन मिलकर ग्यारह रुद्र हैं। आदित्य बारह हैं। द्वादश मासके कालविभाग बारह आदित्य हैं। ये सब देवगण सब मानवोंको तथा सब विश्वको चलाते हैं। मानवमें वसुशक्ति, रुद्रशक्ति और आदित्यशक्ति अंशरूपसे

अदि॑त्यास्त्वा मू॒र्द्धन्नाजि॑घर्मि देव॒यज॑ने पृ॒थि॒व्या इडा॑यास्प॒दम॑सि घृ॒तव॒त् स्वाहा॑। अ॒स्मे रमस्वा॒स्मे ते॒ बन्धु॒स्त्वे रायो॒ मे रायो॒ मा व॒यꣳ रा॒यस्पोषे॑ण॒ वियौ॑ष्म॒ तोतो॒ राय॑: ॥२२

सम॑ख्ये दे॒व्या धि॒या सं दक्षि॑णयो॒रुच॑क्षसा।
मा म॒ आयु॒: प्रमो॑षी॒र्मो अ॒हं तव॑ वी॒रं वि॑देय॒ तव॑ देवि स॒न्दृशि॑ ॥२३॥

---

[१५०] (अदित्याः पृथिव्याः मूर्धन्) अखण्डित पृथिवीके सिरपर (देवयजने) देवोंके यज्ञस्थानमें (त्वा आजिघर्मि) तुम्हारे लिये घृताहुति देता हूं। (उडायाः पदं असि) तू पृथिवीका स्थान हो, (घृतवत् स्वाहा) घीकी आहुति देता हूं। (अस्मे रमस्व) हमारे अन्दर रममाण हो; (ते अस्मे बन्धुः) तुम्हारे हम बन्धु हैं; (त्वे रायः) तुम्हारे अन्दर धन हैं; (मे रायः) मेरे पास धन रहे; (वयं रायः पोषेण मा वियौष्म) हम धन और पुष्टिसे वियुक्त न हों। (तोतः रायः) तुम्हारा धन है ॥ २२ ॥

[१५१] (देव्या, दक्षिणया) दिव्य, दाक्षिण्यसे युक्त, (उरुचक्षसा धिया समख्ये) विस्तृत दर्शनवाली बुद्धिसे युक्त दीखती हो ! (मे आयुः मा प्रमोषीः) मेरी आयु खंडित न कर, (तव आयुः अहं मा उ) तेरी आयुको में खण्डित नहीं करता। (हे देवि !) हे देवि ! (तव सदृशि वीरं विदेय) तेरी दृष्टिमें वीर पुत्रको प्राप्त करूं ॥२३॥

विद्यमान है। विश्वमें जितनी देवताएं हैं उन सबके अंश मानवमें हैं और उन सब अंशोंसेही यह शरीर बना है। इसी सत्य ज्ञानको ध्यानमें धारण करके तू (वस्वी) वसुशक्ति है, (रुद्रा) रुद्रशक्ति है और (आदित्या) आदित्यशक्ति है ऐसा कहा है, वह नितान्त सत्य है। इतनाही नहीं जितने नक्षत्र आकाशमें हैं उन सबके अंश इस शरीरमें विद्यमान है। जो ब्रह्माण्डमें है वही सब अंशरूपसे पिण्डमें है। ब्रह्माण्डको पिण्डमें देखना चाहिये, यही ज्ञान है।

'अदिति' यह सबका नाम है, इसी अदितिसे सब विश्व बना है। (ऋ. १।८९।१०) 'द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, माता, पिता, पुत्र, सब देव, पञ्चजन, जो होचुका और जो होनेवाला है वह सब अदिति है।' अर्थात् अदिति सब कुछ है। वह व्यक्ति भी है और समष्टी भी है।

इस तरह सब देवताओंका निवास अपने शरीरमें देखना और अनुभव करना चाहिये। यह ज्ञान है। जो यह ज्ञान अपनेमें स्थिर करते हैं उनको (बृहस्पतिः) ज्ञानका स्वामी परम आत्मा (सुम्ने रण्वातु) सुखमें रममाण करता है। 'सुम्न' शब्द 'सु+मन' उत्तम मनका बोधक है। जिसके पास उत्तम शिवसंकल्पयुक्त मन हो वह सुखी होगा ही। सुखकी यही कूंजी है। रुद्र व वसु आदि सब देवताएं उसकी सहायता करती हैं। सब उसको सुख देती हैं।

इस तरह हरएक मानव अपने विषयमें ज्ञान प्राप्त करें। 'गौ' के लिये भी यही मंत्र प्रयुक्त होता है। गौमें उक्त प्रकार सब देवताएं अंशरूपसे रहती हैं। प्रत्येक प्राणीमें भी ऐसी ही सब देवताएं रहती हैं। गौके विषयमें यह मंत्र प्रयुक्त करनेपर गौमें देवतामयी शक्ति देखनी चाहिये। इस रीतिसे इस मंत्रका बोध जानना उचित है ॥ २१ ॥

'अ-दिति पृथिवी' है क्योंकि यह किसी जगह खण्डित नहीं है। सब पृथिवी अविभक्त है। (मूर्धन्) इस पृथ्वी का सिर अर्थात् मुख्य भाग वह है कि जहां यज्ञ किया जाता है। इस यज्ञस्थानमें, इस गौके स्थानमें, इस वाणीके अर्थात् वेद प्रवचन होनेके स्थानमें घीकी आहुतियां अग्निमें देनी चाहिये। यज्ञस्थानमें, हमारे घरोंमें गौवें आनंदसे रहें। गौवें ही धनरूप हैं। यह धन, यह गोधन हमारे पास सदा रहे, हम इससे कभी वियुक्त न हों। हमारे पास विपुल गौवें हों और वे आनन्दसे रहें जिससे सबका कल्याण हो ॥ २२ ॥

पति और पत्नी परस्परको प्रेमसे देखकर पत्नीसे पति बोले कि- 'हे देवि ! तुम (देव्या) प्रकाशन (उरु चक्षसा) विस्तृत दृष्टीवाली तथा (दक्षिणया) दक्षतायुक्त उत्तम शुभ (धिया) बुद्धिसे युक्त तुम्हें में (समख्ये) देखता हूं।' अर्थात् हे पत्नि ! तुम्हारी दृष्टी विशाल है, तुम्हारी बुद्धीमें ज्ञानका प्रकाश है, दक्षिणा देनेका उदारभाव तुम्हारी बुद्धिमें है तथा दक्षता भी है। ऐसी बुद्धिमती स्त्री मुझे मिली यह मेरा भाग्य है। अब हम परस्पर ऐसा व्यवहार और वार्तालाप करें कि जिससे तेरी और मेरी दोनोंकी आयु कम न हो। अर्थात् तेरे व्यवहार और भाषणसे मुझे क्रोध आकर मेरी आयु क्षीण न हो और मेरे व्यवहार और भाषणसे तुझे खेद होकर तेरी आयु भी क्षीण न हो। हम एक दूसरेके शुभ भावोंको बढाते रहेंगे। और हे प्रिय पत्नि ! तेरे उदरसे उत्तम वीर संतान प्राप्त हो।

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा वि चिन्वन्तु ॥२४॥

अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् ।
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः[1] ।
प्रजाभ्यस्त्वा[2] प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि[3] ॥२५॥

---

[१५२] (ते एष गायत्रो भागः) तेरा यह गायत्री छन्द का भाग है (इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मेरा वचन सोमके उद्देश्यसे बोलो । (ते एषा त्रैष्टुभः भागः) तेरा यह त्रिष्टुप् छन्दका भाग है (इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मेरा वचन सोमके उद्देश्यसे कहो । (ते एष जागतः भागः) तेरा यह जगती छन्दका भाग है (इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मेरा वचन सोमके उद्देश्यसे कहो । (छन्दो नामानां साम्राज्यं गच्छ) छन्दोंके नामोंके साम्राज्यको प्राप्त हो (इति मे सोमाय ब्रूतात्) ऐसा मेरा वचन सोमके उद्देश्यसे बोलो । (आस्माकः असि) हे सोम ! तू हम सबका हो । (शुक्रः ते ग्रह्यः) तेरा शक्तिवर्धक रस ग्राह्य है । (विचितः त्वा विचिन्वन्तु) सार और असार भागका विभाग करनेवाले तेरा विभाग करें (और सारभागका ग्रहण करें) ॥ २४ ॥

[१५३] (ओण्योः) द्युलोक (त्यं देवं) और पृथ्वीके बीचमें उस प्रकाशक, (कविक्रतुं) कवित्वका कर्म करनेवाले (सत्यसवं) सत्यके प्रसवनेवाले (रत्नधां) रत्नधारक (अभि प्रियं) सबके प्रिय (मतिं) मननशील (कविं सवितारं) कवि, सबके प्रसवनेवाले देवकी (अभि अर्चामि) में पूजा करता हूं, (यस्य अ-मतिः भाः ऊर्ध्वा) जिसकी अपरिमित प्रभा ऊपर (सवीमनि, अदिद्युतत्) और प्रसवमें यहां भी प्रकाशित होती है, (हिरण्यपाणिः) सुवर्णके भूषण हाथपर धारण करनेवाला (सुक्रतुः कृपाः स्वः) शोभनकर्म कर्ताने अतुल कृपासे स्वर्ग निर्माण किया, उसकी पूजा करता हूं । (प्रजाभ्यः त्वा) प्रजाके कल्याणके निमित्त तुमको प्राप्त करते हैं । (प्रजाः त्वा अनुप्राणन्तु) प्रजा तेरे अनुकूल होकर जीवें (त्वं प्रजाः अनुप्राणिहि) और तू प्रजाको अनुकूल होकर जीवो ॥ २५ ॥

यह हम दोनोंका एकही ध्येय है। पति पत्नी दोनोंका मिलकर 'वीर संतान उत्पन्न करना 'ही एक मात्र ध्येय रहे ॥ २३ ॥

सोमयागमें गायत्री आदि छन्दोंका विधिभाग है वह सोम की प्रशंसा के लिये है। यह सोम वैदिक छन्दोंके साम्राज्य में अर्थात् यज्ञमें प्राप्त होता है। वहां उसका रस लिया जाता है। वही सोम का ग्राह्य भाग है। जो बल और वीर्यवर्धक है।

'यो वै सोमं राजानं साम्राज्यलोकं गमयित्वा क्रीणाति, गच्छति स्वानां साम्राज्यम् । तै० सं०) जो सोम राजाको वैदिक यज्ञ साम्राज्य के लिये अर्थात् सोम याग के लिये ले जाता है वह मानवों के साम्राज्यको प्राप्त होता है। अर्थात् इस छन्दोंके साम्राज्य से मानवोंके साम्राज्यके संचालनका बल प्राप्त होता है। सोम याग से जो संगठना होती है वह साम्राज्य चलानेमें सहायक होती है।

यागोंमें ' राजसूय, अश्वमेध ' आदि यज्ञ ऐसे हैं जो साक्षात् राजाका सार्वभौम आधिपत्य सिद्ध करनेवाले ही हैं। इनका विचार करनेसे भी पता लगता है कि मानवी साम्राज्य का संबंध यज्ञोंसे अवश्य है। यज्ञोंमें देवताओंके साम्राज्यका प्रात्यक्षिक दिखाया जाता है। यह आधिदैविक दृश्य है। इसको देखकर आधिभौतिक अर्थात् मानवसमष्टिके अन्तर्गत साम्राज्यादि राज्यशासन जानना है। जो इस यज्ञतत्त्वको जानते हैं वे इस मानवी शासन विद्याको भी जानते हैं ॥२४॥

(ओण्योः) द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीचमें एक अद्वितीय देव है वह (सविता) सबका प्रसविता है, (सत्य सवं) सच्चा एक मात्र सबका प्रसविता है, (कविं) वह क्रान्तदर्शी है, जिसकी दृष्टि दूरतक पहुंचती है, अतीन्द्रिय पदार्थोंका जो साक्षात्कार करता है, अतएव (कवि-क्रतुं) कवित्वके कर्म जो करता है, ज्ञान तथा कर्म जो करता है, (मतिं) सद्बुद्धिका जो प्रदान करता है, (रत्न-धां) रत्नोंका धारण करने और करानेवाला ऐसा जो देव है उसीकी (अभि अर्चामि) में पूजा करता हूं, उपासना करता हूं । इस देवकी (अ-मतिः भाः ऊर्ध्वाः)

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।
सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण क्रीयसे
सहस्रपोषं पुषेयम् ॥२६॥

मित्रो न एहि सुमित्रध इन्द्रस्योरुमा विश दक्षिणमुशन्नुशन्तंꣳ स्योनः स्योनम् ।
स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तात्रक्षध्वं मा वो दभन् ॥२७॥

---

[१५४] (शुक्रं त्वा शुक्रेण) वीर्यवान् तुझे वीर्यसे (चन्द्रं चन्द्रेण) आल्हाददायक तुझे आल्हाददायकसे (अमृतं अमृतेन) अमृतरूप तुझको अमृतसे (क्रीणामि) क्रय करता हूं । (गोः ते स-ग्मे) गौ तेरे साथ रहे । (ते चन्द्राणि अस्मे) वे आनन्ददायक गुण हमारे पास रहें । (तपसः तनूः असि) तू तपका शरीर हो (प्रजापतेः वर्णः) प्रजापालकका वर्ण तेरा है (परमेन पशुना क्रीयसे) परम पशुसे क्रय किया जाता है (सहस्रपोषं पुषेयम्) सहस्रों पुष्टियोंसे मैं पुष्ट होता हूं ॥ २६ ॥

[१५५] (मित्रः सुमित्रधः नः एहि) हमारा मित्र मित्रोंका वर्धन करता हुआ हमारे पास आओ । (उशन् स्योनः) इच्छा करता हुआ सुखकारी हो कर (इन्द्रस्य उशन्तं स्योनं) इन्द्रके इच्छा करनेवाले सुखकारी (दक्षिणं उरुं आविश) दक्षिण विस्तारमें प्रवेश करो । (स्वान) हे उपदेश कर्ता, (भ्राज) तेजस्वी, (अङ्घारे) पाप नाशक (बंभारे) प्रगतिशील, (हस्त) प्रसन्न, (सुहस्त) उत्तम कुशल हस्त क्रियाके कर्ता, (कृशानो) कृशको जिवानेवाले ! (वः एते सोमक्रयणाः) आपके ये सोमक्रय के पदार्थ हैं, (तान् रक्षध्वम्) उनकी रक्षा करो । (वः मा दभन्) कोई तुमको न दबावे ॥ २७ ॥

अपरिमित प्रभा सब आकाशमें फैली है, जो कुछ प्रकाश है वह उसीका है, वही यहां (सवीमनि) सोमरस निकालनेके समय इस यागमें (अदिद्युतत्) अग्निरूपसे प्रकाशता है । वही (हिरण्यपाणिः) सुवर्णके समान किरणोंवाला (सु-क्रतुः) उत्तम कर्मकी प्रेरणा करनेवाला अपनी अतुल कृपासे (स्वः) द्युलोकमें प्रकाशता है, उसका निर्माण करके प्रकाश करता है ।

हे प्रभो ! सब प्रजाओंके कल्याणके निमित्त तुम्हारी उपासना हम करते हैं, तेरी कृपासे सबका कल्याण हो ।

तेरी अनुकूलतासे सब शक्तियोंसे युक्त होकर सब प्रजा-ओंकी शक्तियोंका विकास होने योग्य सबको उत्तम जीवन प्रदान करो ॥ २५ ॥

तुम्हारे अन्दर वीर्य है, आनन्द है, अमरत्व है । यह तेरा रूप है । मैं अपना वीर्य, अपना आनन्द और अपनी अमर शक्ति देकर अपने लिये तुझे लेता हूं । अपने अन्दर ये शुभ-गुण बढाता हूं और उक्त प्रकार अपने त्यागसे इनकी वृद्धि करता हूं ।

हे यजमान ! तेरे पास गौ रहे । इसीसे तेरे पास शुक्र, चन्द्र (आल्हाद) और अमरत्वकी वृद्धि होगी । गौ ही सब प्रकारका सौभाग्य है ।

हे गौ ! या हे सोम ! तेरे पास अनेक (चन्द्राणि) आल्हाद दायक शुभगुण हैं, वे हम अपने अन्दर बढाना चाहते हैं । ये शुभगुण हमारे पास स्थिर रहें ।

(तपसः तनूः असि) तू तपकी तनु है, तेरा शरीर तपसे बना है, और तप करनेके लिये है । मनुस्मृतिमें कहा है– ' स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः । (मनु. २।२८)' स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रिविद्या, इज्या, सुत, महायज्ञ और यज्ञसे यह ब्राह्मणका शरीर होता है । इतना तप करनेसे उत्तम शरीर प्राप्त होता है । इससे मालूम हो सकता है कि तपसे शरीर किस तरह बनता है । सबके जैसे तप होते हैं वैसा उनका शरीर बनता है । शरीर तपसे मिलता है और इसकी रक्षा भी तपसेही होती है । प्रजापतिके शरीरमें ही मानव रहते हैं, इस लिये प्रजापतिसे इसको वर्णकी प्राप्ति होती है । जो जिसका वर्ण है वही उसको पालन योग्य है । स्ववर्णोचित कर्तव्य करके वह प्रजापतिकी सेवा करे और कृतकृत्य बने । ' स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः । (गी. १८।४६) ' स्व-वर्णोचित कर्मसे प्रजापतिकी पूजा करनेसे मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है । (सहस्रपोषेण पुषेयं) हजारों पुष्टियोंसे मैं पुष्ट होऊं । यह इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये । पुष्ट होकर प्रजापतिकी ही सेवा करूंगा । यह भाव सदा मनमें रहे ॥ २६ ॥

परि॑ माऽग्ने॒ दुश्च॑रिताद्बाध॒स्वा मा॒ सुच॑रिते भज ।
उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृताँ॑२ अनु॑ ॥२८॥

प्रति॒ पन्था॑मपद्महि स्वस्ति॒गाम॑ने॒हस॑म् । येन॒ विश्वाः॒ परि॒ द्विषो॑ वृ॒णक्ति॑ वि॒न्दते॑ वसु॑ ॥२९॥

[१५६] (हे अग्ने) हे अग्ने ! (दुश्चरितात् मा परिबाधस्व) दोष युक्त आचरणसे मुझे निवृत्त करो, (सुचरिते मा आभज) और उत्तम आचरणमें मुझे रखो । (उदायुषा) उत्तम जीवनसे (स्वायुषा अमृतान्) तथा उत्तम आयुष्यसे युक्त हो कर (अनु उद् अस्थाम्) अमर भावोंको में प्राप्त होऊं ॥ २८ ॥

[१५७] (स्वस्तिगां) कल्याणके साथ जाने योग्य, (अनेहसं) जहां विनाशका भय नहीं है, (पन्थां प्रतिपद्महि) ऐसे मार्गको हम प्राप्त होते हैं । (येन विश्वाः द्विषः परिवृणक्ति) जिससे सब शत्रु दूर होते हैं (वसु विन्दते) और धन प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

उत्तम मित्रोंको बढाता है वही सच्चा मित्र है 'सु-मित्र-धः मित्रः एहि' ऐसा मित्र हमारे पास आवे । इससे हमारे मित्र बढेंगे, और जिसके सुमित्र बहुत होते हैं उसका ही कल्याण होता है ।

'उशन् स्योनः' अपनी उन्नतिकी इच्छा करता हुआ तू सबको सुख देनेवाला बन । सबकी भलाई करनेकी इच्छा कर और सबको सुख पहुंचाओ । 'इन्द्र (इन् + द्र)' उसका नाम है कि जो शत्रुओंका नाश करके स्वजनोंकी उत्तम रक्षा करता है, 'इन्द्रस्य उरुं' इस प्रकार शत्रुका नाश करके स्वराष्ट्रकी रक्षा करनेवाले के विस्तृत देशमें, विस्तृत क्षेत्रमें, 'स्योमं दक्षिणं उरुं' सुखदायी दक्षिण क्षेत्र में, सुखदायक दक्षतासे चलावे राज्यमें 'उशन्तं' जो तुमको अपने अन्दर लेना चाहता है ऐसे स्थानमें, देशमें या राष्ट्रमें 'आ विश' प्रवेश करो और रहो तथा वहां रहकर भी 'उशन् स्योनः' उनकी उन्नति करनेकी इच्छा करता हुआ उस क्षेत्रके लिये सुखकारी कर्म करनेवाला हो ।

'स्वान' उत्तम हितकारी उपदेश देनेवाला, 'भ्राज' तेजस्वी, 'अंध-अरे' पापका नाश करनेवाला, 'बं-भारे' गतिसे भरपूर, प्रगतिशील, 'हस्त' हंसनेवाला, अथवा हाथके कर्म करनेवाला, 'सु-हस्त' कुशलतासे हाथका कार्य करनेवाला, 'कृश-अनो' कृश अथवा दुर्बलोंकी प्राणशक्ति को बढानेवाला, ये सात गुण मनुष्यमें अपने अन्दर बढाने चाहिये । ये सात धन शक्तियां हैं । इनसे सोमका क्रय किया जाता है । सोम एक जीवनीय शक्ति है वह इनसे क्रय की जाती है । मोल ली जाती है । इसलिये 'तान् रक्षध्वं' इन सात गुणोंकी सुरक्षा करो । ये सात शुभ गुण 'मा दभन्' दब न जांय । 'वः' आपके अन्दर आपके राष्ट्रके अन्दर ये शुभ सात गुण उन्नतिको प्राप्त हों । इस विषयका प्रयत्न करो ॥ २७ ॥

'दुः-चरितात्' दोषमय आचरण करनेके लिये जिस समय में प्रवृत्त होऊंगा, उस समय 'मा परि बाधस्व' मुझे चारों ओर से बुरे मार्गसे निवृत्त करो और 'सुचरिते' उत्तम सन्मार्ग पर 'मा आभज' मुझे स्थापन करो । अर्थात् मुझसे कभी दोषमय आचरण न हो और सदा शुद्ध सदाचार ही होता रहे ।

'उत्-आयुषा' में अपने आयुष्य को उच्च मार्ग पर से चलनेके उद्योगमें लगा सकूं तथा 'सु-आयुषा' मेरा आयुष्य शुभ गुणोंसे युक्त हो और में 'अमृतान् अनु उदस्थां' अमर-भावोंको, दिव्य गुण कर्म स्वभाव को प्राप्त होकर अमर बन जाऊं, ऐसी अनुकूल परिस्थिति मुझे प्राप्त हो ॥ २८ ॥

'स्वस्ति-गां' सुखके साथ जिसपरसे गमन किया जा सकता है, 'अन्-एहसं' जहां नष्ट भ्रष्ट होनेका भय नहीं है, ऐसे 'पंथां प्रतिपद्महि' मार्गको प्राप्त होकर हम उन्नति करनेकी इच्छा करते हैं । यह हमारी इच्छा सफल हो जाय । इससे 'विश्वाः द्विषः परिवृणक्ति' हमारे सब शत्रु दूर हों और हमें 'वसु विन्दते' सुखसे निवास करानेवाला धन प्राप्त हो । जिससे हम सुखसे यहां रहें ऐसा धन हमें चाहिये । ऐसा धन हमें नहीं चाहिये कि जिससे दुःख बढते रहेंगे ॥२९॥

अदि॑त्यास्त्वग॒स्यदि॑त्यै सद॒ आसी॑द ।
अस्त॑भ्नाद्द्यां वृ॑ष॒भो अ॒न्तरि॑क्ष॒ममि॑मीत वरि॒माणं॑ पृथि॒व्याः ।
आऽसी॑द॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राड्विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ ॥३०॥
वने॑षु॒ व्यु॒न्तरि॑क्षं ततान॒ वाज॒मर्व॑त्सु॒ पय॑ उ॒स्रिया॑सु ।
हृ॒त्सु क्रतुं॒ वरु॑णो वि॒क्ष्व॒ग्निं दि॒वि सूर्य॑मदधा॒त् सोम॒मद्रौ॑ ॥ ३१ ॥
सूर्य॑स्य॒ चक्षु॒रारो॑हा॒ग्नेर॒क्ष्णः क॒नीन॑कम् । यत्रैत॑शेभि॒रीय॑से॒ भ्राज॑मानो विप॒श्चिता॑ ॥३२॥

[१५८] (अदित्याः त्वक् असि) दीनताका रक्षक तू है। (अदित्यै सदः आसीद) अदीनताके लिये यज्ञ स्थानपर बैठ। (वृषभः द्यां अन्तरिक्षं अस्तभ्नात्) बलवान् ईश्वर द्युलोक और अन्तरिक्षको स्थिर रखता है। (पृथिव्या परिमाणं अमिमीत) पृथिवीके विस्तारको नापता है। (सम्राट् विश्वा भुवनानि आसीदत) वह सम्राट् सबः भुवनोंका अधिष्ठाता है। (वरुणस्य विश्वा व्रतानि इत्) वरुण राजाके ये सब कर्म हैं ॥ ३० ॥

[१५९] (वरुणः वनेषु अन्तरिक्षं वि ततान) वरुण देवने वनोंमें अन्तरिक्षको फैलाया, (अर्वासु वाजं) घोडोंमें बल, (उस्रियासु पयः) गौओंमें दूध, (हृत्सु क्रतुं) हृदयोंमें यज्ञ, (विक्षु अग्निं) प्रजाओंमें अग्नि (दिवि सूर्यं) द्युलोकमें सूर्य (अद्रौ सोमं अदधात्) और पर्वतपर सोमको स्थापित किया है ॥ ३१ ॥

[१६०] (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्यकी चक्षु इंद्रिय तू (अग्नेः अक्ष्णः कनीनकं) अग्निकी आंखकी पुतलीपर (आरोह) आरोहण कर। (यत्र विपश्चिता भ्राजमानः) जहां ज्ञानसे युक्त तेजस्वी होकर (एतशेभिः ईयसे) किरणोंसे गति करता है ॥ ३२ ॥

' अदित्याः त्वक् असि ' (वा. य. अ. १।१४, १९) दो बार प्रथमाध्यायमें यह मंत्र आ गया है। इसकी व्याख्या वहां देखो। ' अ-दित्याः ' स्वाधीनता, अखण्डभावका ' त्वक् ' आवरण, रक्षक साधन तू है। स्वतंत्रताका रक्षण करना तुम्हारी शक्तिके अधीन है।

' अ-दित्यै ' स्वतंत्रता अथवा अदीनताके लिये तू यज्ञमें स्थिर रह, ' आसीद ' सुस्थिर रह, यज्ञसे इधर उधर न जा।

' वृषभः ' बलवान् ईश्वर द्यु और अन्तरिक्षका यथा स्थान धारण करता है, पृथ्वीका विस्तार कितना है उसका नाप उसने किया है। वह विश्वका सम्राट् है और वह सब भुवनोंका शासन करता है। विश्वमें दीखनेवाले ' विश्वा व्रतानि ' सब कर्म उसी ' वरुणस्य ' श्रेष्ठ प्रभुके हैं। ये देखकर प्रभुकी सर्वत्र उपस्थिति जानी जा सकती है ॥३०॥

वरुण देव परमात्मा है। उसने वन और उनमें अवकाश निर्माण किया अर्थात् इस पृथ्वीपर स्थान निर्माण करके उस स्थानमें वृक्षादिका निर्माण किया है। वहां घोडे और गौवें चरती हैं और घोडोंमें बल है और गौओंमें दूध निर्माण होता है। यह दूध यज्ञीय हवि है। मानवोंके हृदयोंमें यज्ञ करनेका भाव निर्माण किया है और प्रजाजनोंमें हवनके लिये अग्नि स्थापन किया। दिनके निर्माण करनेके लिये आकाशमें सूर्य रखा है जो प्रकाशता है और दिनमें याजक लोक यज्ञ करते हैं। यज्ञमें सोम चाहिये वह पहाडोंपर उगता है। हिमालयके पर्वतोंमें उत्कृष्ट सोम निर्माण किया है। सर्वोत्कृष्ट सोम हिमालयके मौंजमान पर्वत पर १६००० फीटके ऊपर होता है और मध्यम सोम १२००० फीटके ऊपर होता है। इस वल्लीका रस नीरोगिता करनेवाला, दीर्घायु देनेवाला और बल बढानेवाला है। हवन करनेके बाद वह पीया जाता है। यह वनस्पति गौओंको खिलायी जाती है और उनका दूध सेवन करनेसे भी बडे लाभ होते हैं ॥ ३१ ॥

' सूर्यस्य चक्षुः ' नेत्र सूर्यका अंश है। सूर्य चक्षु होकर शरीरमें नेत्रके स्थानपर रहा है, ' (देखो ऐतरेय उ० १।१) सूर्यकी ही यह आंख है जो हमारे शरीरमें देखनेका कार्य करती है। उस आंखमें जो काली पुतली है उसमें ' अग्नेः अक्षणः कनीनकं ' आग्नेय तेज है। इस लिये कहा है कि ' सूर्यस्य चक्षुः कनीनकं आरोह ' सूर्यके सत्वसे बना नेत्र इंद्रिय कनीनिकाके स्थानपर आरूढ हो कर रहे। ' अग्नेः

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥३३॥

भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि ।
मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन् ।
श्येनो भूत्वा परा पत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम् ॥३४॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत ।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥३५॥

---

[१६१] (हे उस्रौ !) हे बैलो ! (धूर्षाहौ) धुराका भार सहन करनेवाले, (अनश्रू) अश्रुपात न करनेवाले, (अवीरहणौ) वीरोंको न मारनेवाले, (ब्रह्मचोदनौ) मंत्रोंसे प्रेरित होकर (एतं युज्येथां) इसमें लग जाओ (स्वस्ति) और कल्याण करते हुए (यजमानस्य गृहान् गच्छतम्) यजमानके घरोंको पहुंच जाओ ॥ ३३ ॥

[१६२] (हे भुवः पते !) हे भूपति ! (मे भद्रः असि) मेरे लिये तू कल्याण करनेवाला हो, (विश्वानि धामानि) सब स्थानोंको (अभि प्रच्यवस्व) सब प्रकारसे प्राप्त हो । (त्वा परिपरिणः मा विदन्) तुमको चोर न जानें । (त्वा परिपन्थिनः मा विदन्) तुमको बटमार न जानें । (अघायवः वृका त्वा मा विदन्) पापी भेडिये तुम्हें न जानें । (श्येनः भूत्वा परापत) श्येन पक्षी जैसे वेगवान् बन कर तुम दूर जा, (यजमानस्य गृहान् गच्छ) यजमानके घरोंके पास जा, (यत् नौ संस्कृतम्) वह स्थान हमने संस्कार करके रखा है ॥ ३४ ॥

[१६३] (मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे) मित्र वरुणदेवके प्रकाशरूप, (महो देवाय) महादेव, (दूरे दृशे) दूरदर्शी, (देवजाताय) देवता समूहरूप, (केतवे) ज्ञानप्रद, (दिवस्पुत्राय) द्युलोकके पुत्ररूप (सूर्याय नमः) सूर्यके लिये नमस्कार है । (तत् ऋतं सपर्यत) वह यज्ञ करते रहो, (शंसत) उसकी प्रशंसा भी करो ॥ ३५ ॥

अक्षणः कनीनकं ' यह कनीनका अग्नितत्त्वसे बने आंख की है । यहां सूर्य और अग्नि एक तत्त्वके हैं और आंख भी उसी तत्त्वका बना है । इस नेत्र इंद्रियका कार्य ' एतशेभिः ' सूर्य किरणोंसे, तेजोंसे, जिनको अश्व संज्ञा है उन सप्ताश्वोंसे, सूर्यप्रकाशसे ' ईयते ' चलता है, ' विपश्चिता ' ज्ञान भी इनसे मिलता है और ' भ्राजमानः ' तेज या प्रकाश भी मिलता है । रूप, प्रकाश और नेत्र ये तीन एक ही अग्नि तत्त्वके तीन भेद हैं । नेत्रको सूर्य प्रकाशसे सहायता मिलकर बिगाड नहीं होता । सूर्य किरणसे नेत्रकी चिकित्सा होती है ॥ ३२ ॥

बैल बलवान होनेसे ' धूः-साहौ ' गाडीकी धुराका भार सहन करते हैं, अधिक भार होनेपर भी ' अन्-अश्रू ' आंसू नहीं गिराते अर्थात थकते नहीं, ' अ-वीर-हनौ ' वीरोंको मारते नहीं, बालकोंका अपने सींगोंसे घातपात नहीं करते, ऐसे पालतू हैं और ' ब्रह्मचोदनौ ' मंत्रोंसे प्रेरित होते हैं, अर्थात् मंत्र बोलते अथवा इशारा देते ही कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, इधर उधर नहीं भटकते । गाडीको बैल ऐसे वशीभूत हुए जोतने चाहिये । ये गाडीको बाहर ले जायेंगे और सुखपूर्वक वापस भी आवेंगे । ऐसे ही बैल हितकारी होते हैं ॥३३॥

तू कल्याण करनेवाला होकर सर्वत्र संचार कर । यदि तू लोगोंका कल्याण करनेवाला होगा, तो तुझे चोर, लुटेरे और घातक न जानें कि तू फलाने स्थानपर हो । इस तरह तुम सुरक्षित रह सकते है । लोगोंका हित करनेवाला होकर शीघ्र गतिसे तू यज्ञ कर्ताके घरके प्रति जा । वहांका स्थान हमने आपके लिये शुभ संस्कार करके उत्तम सजावट करके रखा है । रहां यज्ञ हो रहा है, वहां जाओ और यज्ञमें शामिल हो जाओ ॥ ३४ ॥

सूर्य ' महो देवः ' महादेव है, ' चक्षसू ' सब लोगोंका चक्षु है, ' दूरे दृशे ' दूरसे दर्शन देता है, ' देव-जात ' अन्यान्य देव जिससे उत्पन्न हुए हैं, सब देव मिलकर जो एक होता है, ' केतवे ' जो ज्ञान देता है, जो ध्वज जैसा विराजता है, ' दिवः पुत्रः ' जो द्युलोकका पुत्र है प्रकाशका जो पुत्र

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमा सीद ॥३६॥

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान् ॥३७॥

इति चतुर्थोऽध्यायः । [अ० ४, कं० ३७, मं० सं० ८९]

[१६४] (वरुणस्य उत्तम्भनं असि) वरुणका उत्कर्ष तू हो। (वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः) वरुणका निरोध करती तुम दोनों हो। (वरुणस्य ऋतसदनी असि) वरुणके यज्ञमें आसनके समान हो। (वरुणस्य ऋतसदनं असि) वरुणके यज्ञका स्थान हो। (वरुणस्य ऋतसदनं आसीद) वरुणके यज्ञ स्थानमें तू बैठ ॥ ३६ ॥

[१६५] (हे सोम हे सोम ! (ते या धामानि) तेरे जो धाम (हविषा यज्ञं यजन्ति) हविद्वारा यज्ञको संपन्न करते हैं, (ते ता विश्वा परिभूः अस्तु) वे सब स्थान तुमसे प्राप्त हों, (गयस्फानः) तू घरका विस्तार करनेवाला, (प्रतरणः) तारण करनेवाला, (सुवीरः) उत्तम वीर, (अवीरहा) शत्रुओं का नाशकर्ता होकर (दुर्यान् प्रचर) यज्ञगृहोंके प्रति प्राप्त हो ॥ ३७ ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

है। वह सूर्य सबको वंदनीय है। उस सूर्यके उदय होते ही ' ऋतं सपर्यत ' यज्ञ कर्मका प्रारंभ करो, और देवताओंके यशका वर्णन करो ॥ ३५ ॥

वरुण देव सब विश्वका एकमात्र प्रभु राजा है। उसके पास उन्नत (उत्तम्भनं) होकर जाना होता है। वहां जानेमें विरोध करनेवाली शक्तियां प्रतिबंध करनेके लिये स्थानपर खडी हैं। उन प्रतिबंधोंका निरोध करनेवाले और अपना मार्ग निर्विघ्न समाप्त करनेवाले साथी चाहिये। उनकी सहायतासे (ऋत-सदनं) यज्ञके स्थानपर पहुंचना चाहिये और यज्ञके समीप (आसीद) बैठ जाना चाहिये। यज्ञस्थान पवित्रताका केन्द्र है, पवित्र होकरही वहां जाना चाहिये और यज्ञके समीप बैठना चाहिये। प्रभुके पास जानेका सरल मार्ग यज्ञही है ॥ ३६ ॥

सोम का यज्ञमें अनेक प्रकारसे उपयोग होता है। सोमसे ही यज्ञ संपन्न होता है। सोम ही यज्ञकी सांगता करता है। यह सोम (गय-स्फानः) यज्ञके स्थान का विस्तार करनेवाला, (प्रतरणः) सबका तारण, रक्षण, करनेवाला है, (सु-वीर) उत्तम वीर निर्माण करता है, (अवीर-हा) जो डरपोक हैं उनको दूर करता है, अर्थात सबके अन्दर वीरता लाता है। ऐसा यह सोम हमारे घरों में विचरे, संचार करे, अर्थात् हमारे घर यज्ञगृह बनें और हम यज्ञ का फैलाव करनेवाले, सज्जनोंका तारण करनेवाले उत्तम वीर हों और यज्ञका भाव सर्वत्र फैलाकर सबकी उन्नति करनेवाले हों ॥ ३७ ॥

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा ऽतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वाऽग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा ॥१॥

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि । गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥२॥

[१६६] हे सोम ! तुम (अग्नेः तनूः असि) अग्निके शरीर हो । (विष्णवे त्वा) परमात्माकी प्रीति प्राप्त हो इसलिये तुमको स्वीकार करता हूं । हे सोम ! तुम (सोमस्य तनूः असि, विष्णवे त्वा) तुम सोमके शरीर हो, तुमको विष्णु देवताके प्रीतिके निमित्त स्वीकार करता हूं । हे सोम ! तुम (अतिथेः आतिथ्यम् असि) अतिथिको अतिथि सत्कारसे संतुष्ट करनेवाले हो, तुमको (विष्णवे त्वा) विष्णु देवके लिये स्वीकार करता हूं । हे सोम ! तुम (सोमभृते श्येनाय) सोम धारण करनेवाले श्येनके समान हो, अतः (विष्णवे त्वा) विष्णुके निमित्त तुमको स्वीकार करता हूं । हे सोम (रायस्पोषदे विष्णवे अग्नये त्वा) धनके पोषण करनेवाले विष्णुके सदृश तुमको स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

[१६७] तुम (अग्नेः जनित्रं असि) अग्नि के उत्पत्ति कारण हो । तुम (वृषणौस्थः) वीर्य को देनेवाले हो । तुम (उर्वशी असि) उर्वशी हो । ' उरु–वशी ' सबको वशमें रखनेवाले हो । तुम (आयुः असि) आयु हो । तुम (पुरूरवाः असि) पुरूरवा नाम वाली हो । (गायत्रेण छन्दसा त्वा मन्थामि) गायत्री छन्दसे तुमको विलोडन करता हूं, (त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा मन्थामि) त्रिष्टुप् छन्दसे तुमको मथता हूं तथा (जागतेन छन्दसा त्वा मन्थामि) जगती छन्दसे तुमको मथता हूं ॥ २ ॥

हे सोम ! अग्नेः तनूः असि– हे सोम ! तू अग्निका शरीर हो ! सोमसे–सोमरस पीनेसे शरीरमें उष्णता उत्पन्न होती है ।

हे सोम ! सोमस्य तनूः असि– हे सोम ! तू सोमरसका शरीर है । तुझमें सोमरस रहता है । अतः सोमरसके लिये तेरा स्वीकार किया जाता है ।

अतिथेः आतिथ्यं असि– सोमरस अतिथिका सत्कार करनेके लिये प्रयुक्त होता है । अतिथिका सत्कार करनेके लिये अतिथिको सोमरस दिया जाता है ।

सोमभृते श्येनाय असि– सोमका भरण पोषण करनेवाले श्येनके लिये प्रदान करनेके लिये तेरा स्वीकार किया जाता है ।

रायस्पोषे विष्णवे अग्नये त्वा– धनसे पोषण करनेवाले सर्व व्यापक अग्निको देनेके लिये तेरा स्वीकार करते हैं ।

' श्येन ' वह है, जो सोमका भरण और पोषण करता है । सोमको लगाना और उसका पोषण करना यह एक महत्वका कार्य है, उसको करनेवाला ' श्येन ' कहलाता है । सोमरस पीनेसे शरीरमें उष्णता सुस्थिर रहती है, उस सोमरससे अतिथिका आदरातिथ्य किया जाता है । शरीर सुस्थिर रहनेसे धन प्राप्त किया जा सकता है और उससे शरीरका उत्तम पोषण भी होता है ॥ १ ॥

अग्नेः जनित्रं असि– अग्निकी उत्पत्ति करनेवाले तुम हो । तुमसे–सोमरस पीनेसे–उष्णता उत्पन्न होती है ।

वृषणौ स्थ– वीर्य उत्पन्न करनेवाले तुम हो । सोमरस पीनेसे वृषण बलवान होते हैं और वीर्य उत्पन्न करते हैं ।

उर्वशी असि– (उरु + वशी) बहुतोंको अपने वशमें करनेवाले हो । वीर्यसे सब वश होते हैं । वीर्यवान् जो बलवान् होता है उसके वशमें सब वीर्यहीन लोग होते हैं । जो बलवान् होता है, उसके वशमें सब बलहीन होते हैं ।

आयुः असि– सोमरस आयु बढानेवाला है । योग्य प्रमाण में सोमरस पीनेसे आयु बढती है ।

पुरु–रवा असि– उत्तम और बहुत भाषण करनेवाला मनुष्य सोमरस योग्य प्रमाणमें पीनेसे बनता है । सोमरससे उत्साह बढता है और उससे भाषण करनेकी शक्ति बढती है ।

गायत्रेण त्रैष्टुभेन जागतेन छन्दसा त्वा मन्थामि– गायत्री, त्रिष्टुप और जगती छन्दके मंत्रोंको बोलकर सोमरस यज्ञमें निकालते हैं ॥ २ ॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥३॥
अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपावा ।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥४॥
आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय। अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳ स्विते मा धाः ॥५॥

[१६८] हे (जातवेदसौ) दोनों अग्नि ! आप (नः समनसौ, सचेतसौ, अरेपसौ भवतम्) एकाग्रमन, समानचित्त और भ्रमप्रमादिसे रहित होवें। (यज्ञं मा हिंसिष्टम्) यज्ञका विनाश न करें। (यज्ञपतिम् मा) यज्ञपतिको विनष्ट न होने देवें। और (अद्य नः शिवौ भवतम्) आज हमलोगोंके लिये मंगल करनेवाले होवें ॥ ३ ॥

[१६९] (ऋषीणाम् पुत्रः वा अभिशस्तिपा अग्निः अग्नौ प्रविष्टः चरति) ऋषियोंके पुत्र रूप तथा शापसे याजकोंकी रक्षा करनेवाला यह अग्नि, आहवनीय अग्निमें प्रविष्ट होकर रहता है। हे अग्नि ! (सः नः स्योनः सुजया इह) वह तू हमारे लिये सुखदायी होकर सुन्दर याग होनेवाले इस स्थानमें (सदम् अप्रयुच्छन् देवेभ्यः हव्यं यज) सदा प्रमादरहित होकर इन्द्रादि देवताओंके निमित्त हविका यजन करो, (स्वाहा) तुम्हारे लिये यह आहुती हम देते हैं ॥ ४ ॥

[१७०] (त्वा परिपतये तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वने ओजिष्ठाय आपतये गृह्णामि) तुमको, सबके स्वामी, शरीरसे पौत्रके समान प्रिय, सबमें समर्थ, बलवान्, सदा गतिशीलके रूपसे ग्रहण करता हूं। तुम (अनाधृष्टम् अनाधृष्यम्, देवानाम् ओजः अनभिशस्ति, अभिशस्तिम् असि) आजतक किसीसे तिरस्कार न पानेवाले तथा आगे भी किसीसे भी तिरस्कृत न होनेवाले हो, तुम देवताओंके बल बढानेवाले, स्वयं अनिन्दनीय और हमको भी निन्दित कर्मसे सुरक्षित करनेवाले हो। तुम (आ अञ्जसा अनभिशस्त्येनम्) सीधे मार्गसे अनिन्दित स्थानको प्राप्त करानेवाले हो। (सत्यम् उपगेषम्) आज हम सच्चे भावसे यज्ञ अनुष्ठान करते हैं। अब (स्विते मा धाः) शोभनमार्गवाले यज्ञ कर्ममें मुझे स्थापन कर ॥ ५ ॥

जात-वेदसौ- (जातं वेत्तीति जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थ मात्रको जाननेवाले ये दोनों हैं। पदार्थमात्रको जानना चाहिये, यही ज्ञान है। वह प्राप्त करना चाहिये।

स-मनसौ- समान मनवाले, समान विचारवाले हों।

स-चेतसौ- समान चिंतन शक्तिवाले हों।

अ-रेपसौ- संदेहरहित, भ्रमरहित हों।

यज्ञं मा हिंसिष्टं- यज्ञका नाश न करो।

यज्ञपतिं मा हिंसिष्टं- यजमानका नाश न करो।

नः अद्य शिवौ भवतं- हमारे लिये आज कल्याणकारी होवो ॥ ३ ॥

अग्निः ऋषीणां पुत्रः- अग्नि ऋषियोंको 'पु-त्रः' नरकसे बचानेवाला है।

पु-त्रः 'पुंनाम नरकात् त्रायते'- नरकसे बचानेवाला पुत्र कहलाता है।

अभिशस्तिपा अग्निः- अभिशापसे अग्नि बचाता है। दुष्ट भाषण किसीसे किया गया, तो अग्नि-अग्रणी होता है वह उसको बचाता है। अग्नि 'अग्र-णी' है उसका कर्तव्य है कि दुष्ट भाषण कोई न करे ऐसी सुव्यवस्था समाजमें अग्रणी करे।

अग्निः अग्नौ प्रविष्टः चरति- अग्रणी दूसरे अग्रगामी लोगोंमें रहकर कार्य करता है। सर्वत्र संचार करता है। अपना कर्तव्य करता है। अग्रगामी मनुष्योंमें रहकर मनुष्य उत्तम कार्य करे।

सः नः स्योनः सुयजा इह- वह तू हमारे लिये सुखदायी तथा हमारे कल्याणके लिये यज्ञके कार्य करनेवाला होकर यहां रह। यज्ञसे आरोग्य बढता है इससे मनुष्योंका सुख भी बढता है।

सदं अप्रयुच्छन् देवेभ्यः हव्यं यज- प्रमाद न करता हुआ तू देवोंके पास यह हविद्रव्य पहुंचा दो।

स्वाहा- 'सु-आह; स्व-आहा' हमारे पासका जो हविर्द्रव्य है उसको हम यज्ञमें आहुति द्वारा डालते हैं। उसका हवन करते हैं।

इस तरह यज्ञ योग्य रीतिसे करनेसे सबका स्वास्थ्य उत्तम रीतिसे विकसित होता है। सब आनन्द प्रसन्न होते हैं ॥४॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियꣳ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि ।
सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः ॥६॥

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे ।
आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व ।
आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय ।
एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥७॥

[१७१] हे (व्रतपा अग्ने) व्रत के पालक अग्नि ! (त्वे व्रतपाः) तुम्हारे अन्दर व्रत के पालक रहें । (तव या तनूः सा इयम् मयि) तुम्हारा जो शरीर है, वह मुझमें प्राप्त हो । (या मम तनूः सा एषा त्वयि) जो मेरा शरीर है सो तुझमें हो । हे (व्रतपते) व्रतपालक ! (नौ सह) हम दोनों साथ रहे; और (दीक्षापतिः) दीक्षा देनेवाले (मे दीक्षाम् अनुमन्यताम्) मेरी दीक्षाको माने, तथा (तपस्पतिः तपः अनु) तपके पति मेरे तप को माने ॥ ६ ॥

[१७२] हे (देव सोम) दिव्य गुण युक्त सोम ! (ते अंशुः अंशुः एक धनविदे आप्यायताम्) तुम्हारे सम्पूर्ण अंश एक धनको पास रखनेवाले इन्द्रके लिये वृद्धिको प्राप्त हों, (तुभ्यम् इन्द्रः आप्यायताम्) तुम्हारे द्वारा इन्द्र वृद्धिको प्राप्त हो, (त्वम् इन्द्राय आप्यायस्व) तुम इन्द्रके लिये वृद्धिको प्राप्त हो । (सखीन्) हमारे मित्रोंके लिये (अस्मान् सन्या मेधया आप्यायस्व) हमारी धनदान बुद्धिके द्वारा तुम वृद्धिको प्राप्त होवो । हे (देव सोम) दीप्तमान् सोम ! (ते स्वस्ति, सुत्याम् अशीय) तुम्हारा कल्याण हो, मैं सोम यज्ञको योग्य रीतिसे समाप्त कर सकूं ऐसा कर । तुम (एष्टाः रायः प्रेषे) हमारे अपेक्षित धनोंको अवश्यही प्राप्त कराओ, तथा (भगाय ऋतवादिभ्यः ऋतम्) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये सत्यवादियोंका सच्चा मार्ग बताओ । (द्यावापृथिवीभ्याम् नमः) द्यावापृथ्वीमें जो वंदनीय हैं उनके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ७ ॥

परिपतये त्वा गृह्णामि– सब प्रकारसे सुरक्षित होनेके लिये तुझे में प्राप्त करता हूं । परि–पतिः— सब प्रकारसे पालक होने योग्य । पालकमें जो गुण होने चाहिये वे सब तुझमें हैं ।

तनू–नप्त्रे– शरीरका पतन न करानेवाले, शरीरका उत्तम संरक्षण करनेवाले ।

शाक्वराय शक्वने– समर्थ और सामर्थ्यवान् ।

ओजिष्ठाय– बलिष्ठ, सामर्थ्यवान्, ओजस्वी ।

आ–पतये गृह्णामि– सब प्रकारसे स्वामी होने योग्य । ऐसे जो होंगे उनको मैं प्राप्त करता हूं ।

अनाधृष्टं अनाधृष्यं देवानां ओजः, अनभिशस्ति अभि-शस्तिः– जिसका पराभव नहीं होता, जिसपर आक्रमण नहीं हो सकता, ऐसा दिव्यजनोंका बल है, इसका कोई नाश नहीं कर सकता और जिसकी हानि किसीने आजतक नहीं की है । ऐसा सामर्थ्य होना चाहिये और वह अपनेमें होना चाहिये ।

अंजसा अनभिशस्त्येनं आ– वेगसे शुभ स्थानको प्राप्त करनेवाला वह सामर्थ्य हो ।

सत्यं उपगवेषम्– सत्यको हमने प्राप्त किया है ।

स्विते मा धाः– उत्तम कर्ममें मुझे रख । मुझसे उत्तम कर्म सदा होता रहे ऐसा कर ॥ ५ ॥

त्वे व्रतपाः– तुम्हारे साथ व्रतका पालन करनेवाले रहें ।

तव या तनूः सा इयं मयि– तुम्हारा शरीर जो है वह मुझमें रहे । मेरे शरीरमें उष्णता रूपी आग्नेय शरीर रहे ।

मम या तनूः सा एषा त्वयि मेरा शरीर तुम्हारे अन्दर रहे । शरीरका उष्मा अग्निका शरीर है । वह हर एक शरीरमें रहता है ।

नौ सह हम दोनों साथ हैं । शरीर और अग्नि साथ रहते हैं ।

दीक्षापतिः मे दीक्षां अनुमन्यताम्– दीक्षा देनेवाला इष मेरी दीक्षाका अनुमोदन करे । दीक्षा देनेवाला और दीक्षा लेनेवाला ये दोनों परस्पर अनुकूल होने चाहिये । ये दोनों साथ साथ रहें ।

तपस्पतिः तपः अनुमन्ताम्– तप करनेमें प्रवीण उत्तम तप करनेवाले का अनुमोदन करें । तप करनेमें प्रवीण गुरु तप करनेवाले शिष्यका उत्तम मार्गदर्शक हो । इन दोनोंमें अनुकूलता हो, प्रतिकूलता न हो ॥ ६ ॥

या तें अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा । या तें अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा । या तें अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा ॥८॥

[१७३] हे (अग्ने) अग्नि ! (या ते तनूः) जो तुम्हारा शरीर (अयःशया वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा स्वाहा) लोहस्थानमें निवास करनेवाला, देवताओंको अभिमत फलको वर्षानेवाला और असुरोंके विषम देशमें स्थित रहनेवाला है, वह तुम्हारा शरीर दैत्योंकी (उग्रं वचः अपावधीत्) उग्रवाणीको नाश करनेवाला है (त्वेषं वचः अपावधीत्) असुरोंके कहे देवताओंपर आक्षेपरूप प्रदीप्त वाक्यको नष्ट करता हुआ इस प्रकारके तुम्हारे शरीरके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो। हे (अग्ने) अग्नि ! (या ते रजः शया तनूः वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा उग्रं वचः अपावधीत् त्वेषं वचः अपावधीत् स्वाहा) जो तुम्हारा रजःस्थानमें वास करनेवाला शरीर है जोकि देवताओंको अभिमत फलका वर्षानेवाला, असुरोंके विषमदेशमें स्थित रहनेवाला वह तुम्हारा शरीर दैत्योंकी उग्रवाणीको नाश करता हुआ तथा असुरोंके कहे देवताओंपर आक्षेपरूप प्रदीप्त वाक्यको नष्ट करता हुआ इस प्रकारके तुम्हारे शरीरके निमित्त श्रेष्ठ होम हो। हे (अग्ने) अग्नि ! (या ते हरिशया तनूः वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा उग्रं वचः अपावधीत् त्वेषं वचः अपावधीत् स्वाहा) जो तुम्हारा सुवर्ण गृहमें वास करनेवाला शरीर है जो कि देवताओंको अभिमत फलका वर्षानेवाला, असुरोंके विषम देशमें स्थित रहनेवाला वह तुम्हारा शरीर दैत्योंकी उग्रवाणीको नाश करता हुआ तथा असुरोंके कहे आक्षेपरूप वचनको विनाश करता हुआ है, इस प्रकारके तुम्हारे शरीरके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ८ ॥

हे सोम देव ! ते अंशु एक-धन-विदे आप्यायताम्- हे दिव्य सोम ! तेरा अंश अर्थात् तेरा भाग धनवान् इन्द्रके लिये सुरक्षित होकर बढता रहे। इन्द्रको तेरा अंश प्राप्त हो।

तुभ्यं इन्द्रः आप्यायताम्- तुम्हारे लिये इन्द्र बढता रहे।

त्वं इन्द्राय आप्यायस्व- तूं इन्द्रके लिये बढता रह।

सोम इन्द्रके लिये और इन्द्र सोमके लिये वृद्धिको प्राप्त हो, बढकर ये दोनों परस्परोंकी सहायता करें। बढनेपर परस्परमें विरोध न उत्पन्न हो। शक्ति बढानी चाहिये और शक्तिमानोंने परस्परकी सहायता करनी चाहिये। परस्परकी मित्रता बढानी चाहिये।

सखीन् अस्मान् सन्या मेधया आप्यायस्व- मित्रोंके लिये तथा हम सबके लिये उत्तम बुद्धिके साथ वृद्धिको प्राप्त हो। बुद्धिको वृद्धि करके सबका कल्याण करनेका यत्न करना चाहिये। अपनी शक्ति बढानेसे द्वेष उत्पन्न नहीं करना, परंतु आपसका प्रेम बढाना चाहिये।

सुत्यां स्वस्ति अशीय- यज्ञमें यज्ञसे कल्याणको प्राप्त करें।

एष्टाः रायः प्रेषे- इष्ट धन हमें प्रप्त हो।

भगाय ऋतवादिभ्यः ऋतम्- ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये सत्य भाषण करनेवालोंको सत्यमार्गका हि अवलंबन करना चाहिये ॥ ७ ॥

अग्निके शरीर

या ते अयःशया तनूः वर्षिष्ठा गव्हरेष्ठा- जो तेरा शरीर लोहा आदि पदार्थोंमें रहता है, वह बडा उपयोगी है और अनेक कार्योंको सिद्ध करनेवाला है। अग्नि सब पदार्थोंमें रह कर बडे उपयोगी कार्य सिद्ध करता है।

या ते रजः शया तनूः- जो तुम्हारा रजस्में रहनेवाला शरीर है। अग्नि ' रजस् 'में रहता है।

ते हरिशया तनूः- अग्नि सुवर्ण आदि अनेक पदार्थोंमें भी रहता है।

(अयः) लोहा, (रजः) चांदी और (हरिः) सुवर्ण आदिमें अग्नि रहता है और मानवोंकी सहायता वहांसे करता है। वस्तुतः पदार्थमात्रमें अग्नि रहता है और वहांसे वह मानवोंकी सहायता करता है ॥ ८ ॥

तप्तायनी मेऽसि[1] वित्तायनी मेऽस्यं[2] वतान्मा नाथितां[3] दवतान्मा व्यथितात्[4] । विदेवग्निर्नभो नाम[5] ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि[6] योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे[7] विदेवग्निर्नभो नाम[8] ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि[9] यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे[10] विदेवग्निर्नभो नाम[11] ऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि[12] यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे[13] । अनु त्वा देववीतये[14] ॥९॥

[१७४] तुम (मे तप्तायनी असि) मेरी उष्णता बढानेवाली हो (मे वित्तायनी असि) मेरे लिये तुम धन देनेवाली हो । तुम (मा नाथितात् अवतात्) याचना करनेकी अवस्थासे मेरी रक्षा करो, मैं तुमको (नभः नाम अग्निः वदेम) आकाश नाम अग्नि समझता है । हे (अङ्गिरः अग्ने) अंगोंमें रहनेवाले अग्ने ! तुम (आयुना नाम्ना एहि) आयु नामसे इस स्थानमें आओ (यः अस्याम् पृथिव्याम् ते यत् यज्ञियम् अनाधृष्टम् तेन त्वा आदधे) जो तुम इस पृथ्वीमें रहते है इस कारणसे तुम्हारा जो रूप यज्ञके योग्य, तिरस्कार रहित है उस रूपसेही तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूँ, तुमको मैं (नभः नाम अग्निः वदेम) नभनाम अग्नि कहता हूं । हे (अङ्गिरः नाम अग्ने द्वितीयस्यां पृथिव्याम् ते यत् यज्ञियम् अनाधृष्टं तेन त्वा दधे) अङ्गिरस् नामवाले अग्नि ! जिस कारण तुम दूसरी पृथ्वी अर्थात् अन्तरिक्षमें हो इस कारण तुम्हारा जो रूप यज्ञके योग्य और नष्ट न होनेवाला है उस रूपसे तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं । हे अग्नि ! हे अग्नि ! (यः तृतीयस्याम् पृथिव्याम् असि यत् ते यज्ञियम् अनाधृष्टम् तेन त्वा आदधे) जिस कारण तुम तीसरी पृथ्वीमें स्थित हो इस कारण तुम्हारा जो रूप यज्ञके योग्य और नष्ट न होनेवाला उस रूपसे तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं । हे मृत्तिके ! (देववीतये त्वा अनु) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त तेरा स्वीकार करता हूं ॥ ९ ॥

मे तप्तायनी असि– मेरी उष्णता बढानेवाली तू हो ।

मे वित्तायनी असि– मुझे धन देनेवाली तू हो ।

मे नाथितात् अवतात्– मेरी निकृष्ट अवस्थासे रक्षण करो । निकृष्ट अवस्थामें मैं न पहुंचूं ऐसा कर ।

नभः नाम अग्निः वदेम– आकाशमें उत्पन्न हुआ अग्नि तू है ऐसा मैं मानता हूं ।

अंगिरः अग्ने– प्रत्येक अंगमें रहनेवाला अग्नि है । अग्नि प्रत्येक अंगमें रहता है और अपनी उष्णतासे वहांका कार्य करता है ।

आयुना नाम्ना एहि– आयु नामसे यहां आ । शरीरमें जो उष्णता रहती है तब तक आयु होती है । शरीर ठंडा हुआ तो मृत्यु होती है । योग्य प्रमाणमें शरीरमें उष्णता रहे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये । शरीरमें उष्णता न बढे और न घटे ऐसा करना चाहिये ।

अस्यां पृथिव्यां यत् ते यज्ञिय अनाधृष्टं तेन त्वा आ दधे– इस पृथिवीमें जो पूज्य और आदरणीय है उस तेरे रूपसे मैं तुझे स्वीकारता हूं । पृथिवीपर जो अग्निका उत्तम रूप है उसको लेकर मैं अपने कार्य करता हूं ।

नभः नाम अग्निः वदेम– आकाशमें सूर्यरूप जो अग्नि है उसका मैं आदर करता हूं । क्योंकि वही सबका अस्तित्व रखता है ।

अंगिरा नाम अग्ने ! द्वितीयस्यां पृथिव्यां ते यत् यज्ञियं नाम यज्ञियं अनाधृष्टं तेन त्वा दधे– हे अंगोंमें रहनेवाले अग्ने ! अन्तरिक्षमें जो तेरा पवित्र शरीर है उसका मैं स्वीकार करता हूं । अन्तरिक्षमें जो तेरा पवित्र शरीर है उसका मैं स्वीकार करता हूं । अन्तरिक्षमें विद्युत् रूपी अग्नि है उसका उपयोग करना चाहिये । इस विद्युत्का मनुष्यको बहुत उपयोग है ।

यः तृतीयस्यां पृथिव्यां असि, यत् ते यज्ञियं अनाधृष्टं तेन त्वा आदधे– जो पृथिवीसे ऊपरके तीसरे स्थानमें तेज है उसको मैं लेकर उपयोग करता हूं ।

देववीतये त्वा अनु– देवताओंकी प्रीति संपादन करनेके लिये तेरा मैं स्वीकार करता हूं । विद्युत् शक्ति लेकर सब देवोंको अनुकूल बनानेके कार्योंमें उसको लगाना चाहिये ।

अग्नि पृथिवीपर, अन्तरिक्षमें और स्वर्ग अर्थात् तृतीय लोकमें तीन रूपोंमें रहता है । पृथिवीपर आगके रूपमें अन्तरिक्षमें विद्युत्रूपमें और आकाशमें सूर्यरूपमें अग्नि रहता है । ये अग्निके तीनों रूप मनुष्यके अत्यन्त उपयोगी हैं । मनुष्य इनका अपने अभ्युदयके कार्योंको करनेके लिये उपयोग करे ॥ ९ ॥

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व
सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥१०॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वाऽऽदित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निः सृजामि ॥११॥

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्या वह देवान् यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा ॥१२॥

---

[१७५] तुम (सिंही सपत्न-साही असि) सिंहिनीके समान हो कर, शत्रुओंका पराभव करनेवाली हो, (देवेभ्यः कल्पस्व) देवताओंके हितके लिये समर्थ हो। तुम (सिंही असि, सपत्नसाही असि) सिंही हो, शत्रुओंका नाश करनेवाली हों, (देवेभ्यः शुन्धस्व) देवताओंके हितके लिये शुद्ध हो । तुम (सिंही असि सपत्नसाही असि, देवेभ्यः शुम्भस्व) सिंही हो, शत्रुगणोंका नाश करनेवाली हो, इस कारण देवताओंकी प्रीतिके लिये शुद्ध होनेसे शोभित होती हो ॥ १० ॥

[१७६] (इन्द्रघोषः वसुभिः त्वा पुरस्तात् पातु) इन्द्र नामसे विख्यात देवता आठों वसुओंके साथ तेरी पूर्व दिशा की ओरसे रक्षा करे। (प्रचेताः रुद्रैः पश्चात् त्वा पातु) वरुण देवता एकादश रुद्रोंके साथ पश्चिम दिशा की ओरसे तुम्हारी रक्षा करे। (मनोजवाः पितृभिः दक्षिणतः त्वा पातु) मनके समान वेगवाला पितरोंके साथ दक्षिण की ओर से तुम्हारी रक्षा करे। (विश्वकर्मा आदित्यैः उत्तरतः त्वा पातु) विश्वकर्मा बारह आदित्योंके साथ उत्तर की ओर से तुम्हारी रक्षा करे। (अहं तप्तम् इदं वाः यज्ञात् बर्हिर्धाः निः सृजामि) मैं, इस तप्त जलको यज्ञवेदीसे बाहर की ओर फेंकता हूं ॥ ११ ॥

[१७७] विक्रममें असुरोंका नाश करनेवाली तुम (सिंही असि, स्वाहा) सिंही रूप हो, तुम्हारे लिये यह हवि देते हैं, तुम (आदित्यवनिः सिंही असि स्वाहा) आदित्योंपर प्रीति करनेवाली सिंही रूपा हो तुम्हारे निमित्त हवि देते हैं, उसका ग्रहण करो । तुम (ब्रह्मवनिः सिंही असि स्वाहा) ज्ञानको जाननेवालेके प्रीती जनक, पराक्रममें सिंही-रूप हो, यह आहुति तुम्हारे लिये दी जाती है। तुम (सुप्रजावनिः रायस्पोषवनिः सिंहि असि स्वाहा) अच्छी प्रजा, धन और पुष्टिकी देनेवाली पराक्रममें सिंही रूपा हो, यह आहुति तुम्हारे निमित्त दी जाती है इसको स्वीकार करो। तुम विक्रममें (सिंही असि, यजमानाय देवान् आवह, स्वाहा) सिंहीरूपा हो, यजमानके उपकारके निमित्त देवताओंको यहाँ लाओ, यह आहुति तुमको दी जाती है ग्रहण करो। (भूतेभ्यः त्वा) जरायुजादि सब प्रकारके प्राणियोंकी प्रीतिके निमित्त तुमको वेदीके ऊपर ग्रहण करता हूं तुम जरायुजादिके भाग हो ॥ १२ ॥

सिंही सपत्नसाही असि- तू सिंहीनीके समान शत्रुका पराभव करनेवाली हो । शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिये ।

देवेभ्यः कल्पस्व- देवोंका हित कर। जो श्रेष्ठ आचारवाले हैं उनको लाभ पहुंचा ।

देवेभ्यः शुंधस्व- शुद्ध रहकर तू सज्जनोंका हित कर।

देवेभ्यः शुंभस्व- देवोंका हित करनेके लिये शुद्ध होकर कार्य कर । शुची होकर कार्य करने चाहिये।

देवताओंके समान शुद्ध रहना चाहिये। इससे सब प्रकारका बल बढता रहता है और कल्याण होता है ॥ १० ॥

इन्द्रघोषः वसुभिः त्वा पुरस्तात् पातु- इन्द्र तुम्हारा आठ वसुओंकी सहायतासे संरक्षण करें। वसु आठ होते हैं। वे सबका संरक्षण करें ।

आदित्यवनिः- सूर्य सबका संरक्षण करता है।

ब्रह्मवनिः- ज्ञान सबका संरक्षण करता है।

सुप्रजावनिः- उत्तम प्रजा सबका संरक्षण करती है।

यजमानाय देवान् आवह- यजमानके हित करनेके लिये देवताओंको यजमानके पास ले आ ।

भूतेभ्यः त्वा- भूतमात्रके कल्याणके लिये तुम्हे मैं बुलाता हूं। भूतमात्रका कल्याण करनेका ध्येय मनमें रखना चाहिये ॥ १२ ॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳह अच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥१३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा ॥१४॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा ॥१५॥

---

[१७७] हे मध्यम परिधि ! तुम (ध्रुवः असि, पृथिवीं दृꣳह) स्थिर हो, इस स्थलकी पृथ्वीको दृढ करो। हे दक्षिण परिधि ! तुम (ध्रुवक्षित् असि अन्तरिक्षम् दृꣳह) स्थिर यज्ञमें निवास करती हो अन्तरिक्ष को दृढ करो। हे उत्तरपरिधि ! तुम (अच्युतक्षित् असि दिवम् दृꣳह) विनाश रहित यज्ञमें निवास करती हो द्युलोक को दृढ करो। हे सम्भार ! तुम (अग्नेः पुरीषम् असि) अग्निके पूरक हो ॥ १३ ॥

[१७८] (बृहतः विपश्चितः विप्रस्य) बडे ज्ञानसे महत्त्वको प्राप्त हुए ज्ञानीको देखकर (विप्राः होत्राः मनः युञ्जते) सच्चे ज्ञानी लोग अपने मनको एकाग्र करके योगमें लगाते हैं। (उत धियः युञ्जते) और बुद्धियोंको भी धर्म कार्यमें युक्त करते हैं। (वयुनावित् एकः इत् विदधे) सत्कर्म करनेकी मनोवृत्तिको जाननेवाले उस एक ज्ञानीनेही सच्चे-सामर्थ्यको जाना है, जिस कारण उनके द्वारा की हुई (सवितुः देवस्य परिष्टुतिः मही स्वाहा) प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा देवकी स्तुति महान है, उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं ॥ १४ ॥

[१७९] (विष्णुः इदं विचक्रमे) सर्वव्यापी परमात्माने इस जगतको धारण किया है। और वही (त्रेधा पदम् निदधे) प्रथम भूमि दूसरे अन्तरिक्ष और तीसरे द्युलोकमें तीन पदोंको स्थापन करता है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है। इस विष्णुके (पांसुरे समूढम् स्वाहा) पदमें सम्यक् प्रकार विश्व अन्तर्भूत है, उस परमात्म देवके निमित्त हविर्दान करते हैं ॥ १५ ॥

पृथिवीं दृंह– पृथिवीको स्थिर करो।
अन्तरिक्षं दृंह– अन्तरिक्षको स्थिर करो।
दिवं दृंह– द्युलोक को स्थिर करो।

सर्वत्र चंचलता न हो, सब सुस्थिर रहें। यही इच्छा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

बृहतः विपश्चितः विप्रस्य विप्राः होत्राः मनः युञ्जते– बडे ज्ञानी ब्राह्मणकी उच्च अवस्था देखकर अन्य ज्ञानी ब्राह्मण हवन करते हुए अपने मनको एकाग्र करनेके कार्यमें लगाते हैं।

विप्राः मनः युञ्जते– ज्ञानी अपने मनको एकाग्र करनेमें लगाते हैं।

विप्राः धियः युञ्जते– ज्ञानी अपनी बुद्धिको एकाग्र करनेमें लगाते हैं।

युञ्जते– योगसाधन करते हैं। युज्– योगसाधन करना।
वयुनावित् एक इत् विदधे– सत्कर्म करनेवाला अकेला विद्वान् योग्य मार्गको जानता है और उसपर चलता है।

सवितुः देवस्य परिष्टुतिः मही– सर्व जगत्को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वरकी स्तुती करना बडे महत्त्वको प्राप्त करनेका उत्तम साधन है।

सविता– (सर्वस्य प्रसविता) सब जगत्को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर सविता कहलाता है ॥ १४ ॥

विष्णु इदं विचक्रमे– परमेश्वरने यह सब क्रमपूर्वक निर्माण किया है।

पदं त्रेधा निदधे– अपने पांवको तीन स्थानोंमें उसने रखा है। तीनों स्थानोंमें वह ईश्वर व्यापक है।

पांसुरे समूढम्– उसके पदमें सब समाया है।

स्वाहा– (सु+आह)– यह सत्य और उत्तम कथन है।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन स्थान हैं जिनमें परमेश्वरने अपना पांव रखा है, अर्थात् वह ईश्वर इन तीनों लोकोंमें पूर्णतया व्याप्त है ॥ १५ ॥

इरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे दशस्या ।
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा[1] ॥१६॥

देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतं　प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्[2] ।
स्वं गोष्ठमा वदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्ट[3]मत्र रमेथां वर्ष्मन्
पृथिव्याः[4] ॥१७॥

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांꣳसि ।
यो अस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा[2] ॥ १८ ॥

---

[१८०] हे (रोदसी) द्यावापृथ्वी ! तुम सबके कल्याणार्थ (इरावती धेनुमती सूयवसिनी मनवे दशस्या भूतम्) अन्नसे युक्त, बहुत धेनुओंसे युक्त, बहुत उत्कृष्ट खाद्यपदार्थ देनेवाली, और मानवोंको हितके साधनोंकी देनेवाली हो। हे (विष्णो) सर्वव्यापी परमात्मन् ! तुमने (एते व्यस्कभ्नाः) इन द्यावा पृथ्वीको विभक्त करके रखा है। (पृथ्वीम् मयूखैः अमितः दाधर्थ) और पृथ्वीको अपने आकर्षक किरणोंसे, सब ओर अच्छीप्रकार धारण करते हो (स्वाहा) अतः तुम्हारे लिये आहुती प्रदान करते हैं ॥ १६ ॥

[१८१] तुम (देवश्रुतौ देवेषु अघोषतम्) देव सभामें प्रसिद्ध विद्वानोंमें कहो। (अध्वरं कल्पयन्ती प्राची प्रेतम्) इस यज्ञकर्मको समर्थन करते हुये पूर्वमुख जाओ, (यज्ञम् ऊर्ध्वम् नयतम्) यज्ञको उच्च बनाओ (मा जिह्वरतम्।) अधःपतित न करो (देवी दुर्ये स्वं गोष्ठम् आवदतम्) देवस्थानमें रहनेवाले अपनी गोशालामें निवास करें यजमानकी जबतक (आयुः मा निर्वादिष्टम्) आयु है, तब तक उनके धन आदिसे रहित होनेको मत उच्चारण करो ॥ (प्रजाम् मा निर्वादिष्टम्) यजमानके पुत्रादिको बुरे वाक्य मत कहो। (पृथिव्याः अत्र वर्ष्मन् रमेथाम्) पृथ्वीके यहां रमणीय सुखसेवन युक्त प्रदेशमें आनन्दसे वास करो ॥ १७ ॥

[१८२] (विष्णोः नुकम् वीर्याणि प्रवोचम्) सर्वव्यापी परमात्माके किन किन कर्मोंको मैं वर्णन करूं। (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जिसने अपने सामर्थ्यसे पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोकादिस्थानोंका निर्माण किया है। तथा (यः त्रेधा विचक्रमाणः) जो तीनों लोकोंमें विक्रम करता (उरुगायः) बहुत प्रशंसित होकर (उतरं सधस्थं अस्कभायत्) उच्चतम स्थानको शोभायमान करता है ॥ १८ ॥

रोदसी ! इरावती धेनुमती सूयवसिनी मनवे दशस्या भूतम्– हे द्यु और पृथिवी ! तुम अन्न देनेवाली, गौवोंवाली, खाद्यपदार्थोंका दान करनेवाली और मानवोंका हित करनेवाली हो। अन्न, गौवें तथा खाद्य पदार्थ विपुल होने चाहिये। मनुष्य इनकी उत्तम प्रमाणमें उत्पत्ति करे और उनका अपने हितके लिये उपयोग करे।

विष्णो ! एते व्यस्कभ्नाः– हे परमेश्वर ! तूने पृथिवी और द्युलोकको पृथक् करके रखा है।

पृथिवी मयुखैः अभितः दाधर्थ– पृथिवीको अपने आकर्ष शक्तियोंसे– किरणकी शक्तियोंसे धारण करके रखा है ॥१६॥

देवेषु आघोषतम्– ज्ञानियोंकी सभामें इस बातकी घोषणा करो।

अध्वरं कल्पयन्ती प्राची प्रेतं– हिंसारहित कर्म करते हुए पूर्व दिशासे आगे बढो। जिस दिशासे उदय हो, उस दिशासे आगे बढो।

यज्ञं उर्ध्वं नयतं– यज्ञको उच्च भावसे करो। कर्मको श्रेष्ठतर बनाओ।

मा जिह्वरतं– पीछे न हटो। हीन कर्म न करो। विनाशक कर्म न करो।

देवीदुर्ये स्वं गोष्ठं आवदतं– उत्तम स्थानमें अपनी गोशाला रखो।

आयुः मा निर्वादिष्टम्– आयुष्यका नाश हो ऐसा कार्य न करो।

प्रजां मा निर्वादिष्टम्– प्रजाका नाश हो ऐसे कार्य न करो।

पृथिव्याः अत्र वर्ष्मन् रमेथाम्– पृथिवीपर जहां सुखसे रह सकते हैं वहां रहो ॥ १७ ॥

४

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात ।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्र यच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥ १९ ॥

प्र तद्विष्णुं स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २० ॥

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि ।
वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ॥ २१ ॥

---

[१८३] हे (विष्णो) सर्वव्यापी परमेश्वर ! तुम कृपा करके हम लोगोंको (दिवः वसुना आपृणस्व) इस महामण्डल द्युलोकसे द्रव्यके साथ सुखोंसे पूर्ण कीजिये । और (पृथिव्याः उत वा महः उत उरोः अन्तरिक्षात् हि) भूमिसे उत्पन्न हुवे पदार्थ अथवा महान् विस्तीर्ण अन्तरिक्षसे द्रव्यके साथ सुखोंसे निश्चय करके पूर्ण कीजिये । हे (विष्णो) सबमें प्रविष्ट ईश्वर ! तुम (दक्षिणात् उत सव्यात्) दक्षिण और वाम पार्श्वसे सुखोंको दीजिये उस (त्वा विष्णवे) तुझ व्यापक ईश्वरको यज्ञके द्वारा सुपूजित करते हैं ॥ १९ ॥

[१८४] (गिरिष्ठाः कुचरः भीमः मृगो न) पर्वतमें स्थित, कुत्सित आचार करनेवाले भयंकर सिंहके समान (विष्णुः वीर्येण स्तवते) सर्वव्यापी परमात्मा उसके पराक्रमके कर्मके कारण स्तुतिको योग्य होता है । (यस्य ऊरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा अधिक्षियन्ति) जिस व्यापक परमात्माके महान् तीन स्थानोंमें सम्पूर्ण प्राणि निवास करते हैं ॥ २० ॥

[१८५] (विष्णोः रराटम् असि) व्यापक परमात्माका प्रकाश फैल रहा है । (विष्णोः ध्रुवा असि) विष्णुके द्वारा यह विश्व स्थिर रहा है, तथा (विष्णोः स्यूः असि) ईश्वरसे यह जगत् विस्तृत हुआ है । यह सब जगत् (वैष्णवम् असि) परमात्मासे व्याप्त है । (विष्णोः श्नप्त्रे स्थः) सर्व व्यापक ईश्वरके द्वारा जड और चेतन यह दो प्रकारका जगत् हुआ है । उस जगत्के उत्पन्न करनेवाले (त्वा, विष्णवे) तुझ व्यापक परमात्माके लिये यह अनुष्ठान करते हैं ॥ २१ ॥

विष्णोः वीर्याणि प्रवोचं– सर्व व्यापक परमात्माके पराक्रमोंका मैं वर्णन करता हूं ।

यः पार्थिवानि रजांसि विममे– जिसने पृथिवीके रजःकणोंका निर्माण करके धारण किया है ।

यः त्रेधा विचक्रमाणः– जो तीनों स्थानोंमें विक्रम करता है । इसका प्रमाण यह विश्वसृष्टी है जो पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाशमें विभक्त है ।

उरुगायः– वह ईश्वर बहुत प्रकारोंसे प्रशंसनीय है । वह स्तुति करने योग्य है ।

उत्तरं सधस्थं व्यस्कभ्नात्– जो सबसे ऊपरके स्थानमें आनंदसे रहकर अपने कार्य करता है ॥ १८ ॥

हे विष्णो ! दिवः वसुना आपृणस्व– हे विष्णो ! दिव्य धनसे हमें भरपूर भर दे ।

पृथिव्याः उरोः अन्तरिक्षात् हि आपृणस्व– पृथिवीसे तथा इस विशाल अन्तरिक्षसे हमें भरपूर धनसे भर दे । परिपूर्ण कर ।

हे विष्णो ! त्वा विष्णवे दक्षिणात् उत सव्यात्– हे व्यापक ईश्वर ! तेरी अर्थात् व्यापक ईश्वरकी दक्षिण अथवा उत्तर भागसे में प्रार्थना करता हूं । तू सर्वत्र व्यापक है अतः तू सब स्थानोंसे मेरा कल्याण कर ॥ १९ ॥

विष्णुः वीर्येण स्तवते– परमात्मा उसके पराक्रमके कारण स्तुति करने योग्य होता है । जो पराक्रम करता है उसकी स्तुति होती है ।

यस्य ऊरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा अधिक्षियन्ति– जिस परमात्माके तीन स्थानोंमें संपूर्ण विश्व रहता है । वह सर्वाधार है ॥ २० ॥

विष्णोः रराटं असि– परमात्माका प्रकाश फैल रहा है ।

विष्णोः ध्रुवा असि– परमात्माके कारण यह स्थिर है ।

विष्णोः स्यूः असि– परमात्मासे यह जगत् विस्तारित हुआ है ॥ २१ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे[1] नार्यसि[2]—दमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि[3] ।
बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद ॥२२॥

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवी[1]—मिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि[2] यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि[3] यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि[4] यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि[5] ॥२३॥

[१८६] (सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम् आददे) सविता देवकी प्रसन्नताके लिये अश्विनीकुमारोंकी दोनों भुजाओंसे तथा पूषा देवताके दोनों हाथोंसे तुमको ग्रहण करता हूं । तुम (नारी असि) हमारी सहायता करनेवाली हो । मैं जो (इदं) इस कार्यको करता हूं इसके द्वारा (अहं रक्षसाम् ग्रीवा अपि कृन्तामि) मैं राक्षसोंकी गर्दन छेदन करता हूं । तुम (बृहत् बृहद्रवाः असि) महान् और बडा शब्द करनेवाले हो । (इन्द्राय बृहतीम् वाचम् वद) इन्द्र देवताके लिये इस प्रकार बडे जोरसे स्तुतिका उच्चारण करो ॥ २२ ॥

[१८७] हे ज्ञानी मनुष्य ! जैसे (अहम् वलगहनम् रक्षोहणम् वैष्णवीं यं बलगम् उत्किरामि) मैं बलोंसे शक्तिमान् हुए और राक्षसों का नाश करनेवाले कर्म करता हूं तथा व्यापक ईश्वर की प्रीतिके लिये जिस प्रकार बलको प्राप्त करनेवाले इस कर्मको करता हूँ (तम्) उस कार्य को वैसे ही तू भी (इदं) इसी कार्यको कर । जैसे (मे निष्ट्यः अमात्यः यम् इदम् निचखान तम्) मेरा कर्ममें कुशल सहायक विद्वान् मनुष्य जिस कर्मको निःसंदेह करता है वैसे उसको तेरा भी भृत्य करे । जैसे (अहम् यम् बलगम् इदम् उत्किरामि तम्) मैं जिस बल प्राप्त करनेवाले कर्म को अच्छे प्रकार सम्पादन करता हूँ वैसे उस कर्म को तू भी कर । जैसे (मे समानः असमानः यम् निचखान) मेरा सदृश वा असदृश मनुष्य जिस कर्मको करता है वैसे तू भी कर जैसे (अहम् यम् बलगम् इदम् उत्किरामि तम्) मैं जिस आत्मबल प्राप्त करनेवाले इस कर्मको सम्पन्न करता हूँ वैसे उसको तू भी कर । जैसा (मे सबन्धुः असबंधु यम् निचखान) मेरा मित्र वा अमित्र जिस कर्मको करता है वैसे उस कर्मको तेरा मित्र भी करे । जैसे (अहम् यम् बलगम् इदम् उत्किरामि तम्) मैं जिस बल प्राप्त करनेवाले इस कर्मको सम्पादन करता हूँ वैसे उसको तू भी कर । जैसे (मे सजातः असजातः यम् कृत्याम् निचखान) मेरा साथी वा अलग उत्पन्न हुआ मनुष्य जिस कर्म को निःसन्देह करता है वैसे तेरे मित्र इस को निःसन्देह करें । जैसे मैं सब कर्मोंको (उत्किरामि) सम्पादन करता हूँ वैसे तू भी कर ॥ २३ ॥

सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां, पूष्णोः हस्ताभ्यां आददे– सब विश्वके उत्पन्न करनेवाले देवकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये मैं अश्विनौ और पूषाके हाथोंसे इस पदार्थको ग्रहण करता हूं ।

अश्विनौके हाथ वैद्योंके हाथ हैं । वे सुयोग्य पदार्थका ही ग्रहण करते हैं । पूषा पोषक देव है । उसके हाथ पोषणके कार्यमें लगे रहते हैं ।

उत्तम वैद्योंके तथा पोषण कर्ताके हाथ जिसका ग्रहण करते हैं वह उत्तम ही पदार्थ होना चाहिये । वैद्यकीय परीक्षा तथा पोषण करनेवालेका पोषक शक्ति इनसे युक्त पदार्थ, इनसे परीक्षित पदार्थ स्वीकृत करने चाहिये ।

राष्ट्रमें वे पदार्थ आने योग्य हैं कि जिनको उत्तम वैद्य और पोषण प्रवीण पसंद करें ।

नारी असि ' न+अरिः असि '– जो शत्रु सदृश न हो वह राष्ट्रमें आने योग्य है । नारी–स्त्री, न+अरिः– जो शत्रु समान न हो ।

अहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि– मैं राक्षसोंका गला काटता हूं । जो राक्षस होंगे उनको सुरक्षित रखना नहीं चाहिये ।

बृहद्रवा असि– बडे आवाजसे व्याख्यान देना योग्य है । सबको सुनाई दे ऐसी आवाज हो ।

बृहतीं वाचं वद– बडे आवाजसे बोल । सबको सुनाई दे ऐसा भाषण करना योग्य है ॥ २२ ॥

स्वराडसि सपत्नहा[1] सत्त्रराडस्यभिमातिहा[2] जनराडसि रक्षोहा[3] सर्वराडस्यमित्रहा[4] ॥२४॥
रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान्[1] रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्[2]
रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्[3] रक्षोहणौ वां वलगहना उप दधामि वैष्णवी[4]
रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी[5] वैष्णवमसि[6] वैष्णवा स्थ[7] ॥२५॥

---

[१८८] हे मनुष्य ! जिस कारण तू (स्वराट् असि, सपत्नहा) प्रकाशमान हुआ है और शत्रुओंको हनन करनेवाला हुआ है। जिस कारण तू (सत्त्रराट् असि अभिमातिहा) यज्ञमें कार्यकर्ता हुआ है और अभिमानी पुरुषोंको मारनेवाला होता है। जिससे तू (जनराट् असि, रक्षोहा) धार्मिक विद्वानोंमें प्रकाशित है, इससे दुष्ट राक्षसोंको वध करनेवाला होता है। तथा जिस कारण तू (सर्वराट् असि, अमित्रहा) सबमें प्रकाशित है इससे अमित्ररूप शत्रुओंको दण्ड देता है ॥ २४ ॥

[१८९] तुम (रक्षोहणः वैष्णवान् वः प्रोक्षामि) दुष्टोंका नाश करनेवाले हो, और सर्वव्यापक परमेश्वरके उपासक हो, अतः तुमको मैं शुद्ध करता हूं। तुम (रक्षोहणः वलगहनः वैष्णवान् वः अवनयामि) दुष्टोंको मारनेवाले हो। वैसे शत्रुसेनाका नाश करनेवाला मैं बलवान् बनकर ईश्वरके भक्तों-तुमको ऊपर उठाकर दुष्टोंको दूर करता हूं ! जैसे (वलगहनः रक्षोहणः वैष्णवान् वः अव स्तृणामि) मैं बलवान् बनकर दुष्टोंका नाश करता हूं, शत्रुओंको मारने और सर्व व्यापक ईश्वरकी भक्ति करनेवाले तुमको सुखसे युक्त करता हूं। जैसे तुम (रक्षोहणौ वलगहनौ वाम् उपदधामि) राक्षसोंके मारने और बलोंको बढानेवाले विद्वान्को धारण करते हो वैसे मैं भी धारण करता हूं। जैसे (रक्षोहणौ वलगहनौ वाम् वैष्णवी वैष्णवम् पर्यूहामि) राक्षसोंके मारनेवालोंको विलोडनेवाले प्रजा और सभाध्यक्ष तुम दोनों सब विद्याओंमें व्यापक विद्वानोंकी क्रिया वा जो विष्णु सम्बन्धी ज्ञान है उन सबोंको तर्कसे जानते हैं वैसे मैं भी तर्कसे अच्छे प्रकार जानूं। और जैसे तुम सब लोग (वैष्णवाः स्थ) सर्वत्र व्यापक परमात्माकी उपासना करनेवाले हैं, वैसे मैं भी होऊं ॥ २५ ॥

अहं वलगहनं रक्षोहणं वैष्णवीं यं उत्किरामि- मैं बलसे सामर्थ्यवान बनी, राक्षसोंका नाश करनेवाली, जिस सर्व व्यापक ईश्वरीय शक्तिको बढाता हूं, उस प्रकार सब लोग अपने सामर्थ्यका संवर्धन करें।

मे निष्ठ्यः अमात्यः इदं निचखान- मेरा निष्ठावान् सहाय्यक इस शक्तिको बढाता है, उस प्रकार सब अपनी शक्तिको बढावें।

मे समानः असमानः यं निचखान- मेरे समान अथवा असमान मनुष्य जिस शक्तिको बढाता है वैसा शक्तिका विकास सब करें।

मे सबंधुः असबंधुः यं निचखान- मेरा भाई अथवा संबंधी जैसा शक्ति बढाता है, वैसा सब अपनी शक्ति बढावें।

मे सजातः असजातः यं कृत्यं निचखान- मेरा सजातीय अथवा विजातीय जिस कर्तृत्वशक्तिको बढाता है वैसी अपनी शक्ति सब बढावें।

सबको उचित है कि वे अपना हर प्रकारका सामर्थ्य बढाते रहें। अपने सामर्थ्यको कम करनेका कोई यत्न न करे। उस सामर्थ्यका उपयोग उत्तमसे उत्तम कार्योंमें ही करना चाहिये, जिससे सबका भला होता रहे, सबकी उन्नति होती रहे ॥ २३ ॥

सपत्नहा स्वराड् असि- शत्रुका नाश करके अपना स्वराज्य चलानेवाला बनो।

अभिमातिहा सत्त्रराड् असि- शत्रुका नाश करके अपने राज्यको उत्तम रीतिसे करनेवाला बनो।

रक्षोहा जनराड् असि- दुष्टोंका नाश करनेवाला हो और जनताका उत्तम पालन करो।

सर्वराड् असि अमित्रहा- संपूर्ण राष्ट्रका राज्य करो और दुष्टोंका नाश करो।

(सपत्नहा) शत्रुका नाश कर्ता, (अभिमातिहा) दुष्टोंको दूर करनेवाला, (रक्षोहा) राक्षसोंका विनाशकर्ता राजा बने और वह (स्वराट्) स्वराज्यका शासक, (सत्त्रराट्) उत्तम कर्मोंको करनेवाला, (जनराट्) संपूर्ण जनताका पालन करनेवाला (सर्वराट्) सर्व राष्ट्रका उत्तम शासक बने।

यहां उत्तम शासनकर्ताके शुभ गुण कहे हैं, शासक इन शुभगुणोंसे युक्त हों और प्रजाका उत्तम शासन करें ॥ २४ ॥

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ दंदे[1] नार्यसी[2]—दमहंᳯ रक्षंसां ग्रीवा अपिं कृन्तामि[3] । यवोंऽसि यवयास्मद्द्वेषों यवयारांतीः[4]—
दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा[5] शुन्धंन्तांल्लोकाः पितृषदंनाः[6] पितृषदंनमसि[7] ॥२६॥

[१९०] (सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम् आददे) सबके उत्पन्न कर्ता देवकी प्रसन्नताके लिये अश्विनी कुमारोंकी भुजाओंसे तथा पूषा देवताके दोनों हाथोंसे उत्तम कार्य करके तुमको में उन्नत करता हूं, तुम (नारी असि) हमारी उपकारिणी हो। मैं जो (इदं) इस शुभ कार्यको करता हूं इसके द्वारा (अहं रक्षसाम्-ग्रीवा अपि कृन्तामि) मैं राक्षसोंकी गर्दन काटना चाहता हूं। तुम (यवः असि) युवा हो इस कारणसे हमारे (द्वेषः) शत्रुको (अस्मत् यवय) हमसे दूर करो तथा (अरातीः यवय) हमारे शत्रु समूहको हमसे दूर करो (दिवे त्वा) द्युलोकके हितके निमित्त तुझे शुद्ध करता हूं। (अन्तरिक्षाय त्वा) अन्तरिक्षके हितके निमित्त तुझको शुद्ध करता हूं। (पृथिव्यै त्वा) पृथ्वीके हित करनेके लिये तुझे शुद्ध करता हूं। (पितृषदनाः लोकाः शुन्धन्ताम्) जहां पितर निवास करते हैं वे लोक शुद्ध हो जायें। तुम (पितृषदनम् असि) पितृगणके आसन रूप बनो ॥ २६ ॥

रक्षोहणः वैष्णवान् वः प्रोक्षामि– राक्षसोंका नाश करनेवाले जो परमेश्वरके भक्त होंगे, उनको मैं शुद्ध करता हूं। राक्षसी स्वभाववाले विनष्ट हों, और परमेश्वरके उपासक आनन्दसे रहें।

रक्षोहणः वलगहनः वैष्णवान् वः अवनयामि– राक्षसोंका नाश करनेवाले सामर्थ्यवान् परमेश्वरभक्त जो होंगे, उनको में संघटित करता हूं। उनको में एकत्रित करके ऊपर उठाता हूं।

रक्षोहणौ वलगहनौ वां उपदधामि– राक्षसोंको मारनेवाले बलवान् वीर जो होंगे उनको में एकत्रित करके बढाता हूं।

रक्षोहणौ वलगहनौ वैष्णवी वां वैष्णवं पर्यूहामि– राक्षसोंको मारनेवाले बलवान् ईश्वरभक्त ऐसे तुमको मैं परमेश्वर भक्त करके जानता हूं और इस कारण तुमको उपर उठाता हूं।

वैष्णवाः स्थ– सर्वव्यापक ईश्वरके उपासक बनकर रहो।

'विष्णु' सर्वव्यापक परमेश्वरका नाम है। 'वेवेष्टि इति विष्णुः' जो सर्वत्र व्यापकर रहता है वह 'विष्णु' है। इस विष्णुदेव– सर्व व्यापक ईश्वरके जो भक्त होते हैं वे वैष्णव कहलाते हैं। ये भक्त आचरण और व्यवहारसे शुद्ध होते हैं, क्योंकि ये सर्वत्र ईश्वरको देखते हैं, और उस ईश्वरको सर्वत्र देखकर अपना व्यवहार करते हैं। इस कारण उनका व्यवहार शुद्ध होता है ॥ २५ ॥

सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्यां त्वा आददे– 'सविता' सबका उत्पादन करनेवाला देव है। उसकी प्रसन्नताके लिये तुझे मैं स्वीकारता हूं। मेरे स्वीकारनेके लिये आगे हुए बाहू अश्विनी देवोंके सामर्थ्यसे युक्त हों और पूषाके हाथोंके समान बलवान हों। अश्विनौ देवोंके हाथोंमें विलक्षण शक्ति रहती है, वैसी शक्ति मेरे हाथोंमें हो और पूषाके हाथों जैसे मेरे हाथ पुष्ट हों।

यहां बाहू और हाथ उत्तम पुष्ट और सामर्थ्यवान हों ऐसा कहा है। प्रत्येक मनुष्य अपने बाहु और हाथ ऐसे पुष्ट तथा शक्तिमान करनेका प्रयत्न करे।

नारी असि– 'नारी' का अर्थ 'न + अरि' शत्रुरूप होना योग्य नहीं है। सहाय्यक होना योग्य है।

अहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि– मैं राक्षसोंका गला काटता हूं अर्थात् दुष्टोंका नाश करता हूं। अपने समाजसे दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये।

यवः असि, द्वेषः अस्मत् यवय– तूं जवान या बलवान् हो अतः शत्रुको हमसे दूर करो। शत्रु हमारे पास न रहे ऐसा कर।

अरातीः यवय– दुष्टोंको हमसे दूर कर। अदानशील जो होता है वह समाजमें रहने योग्य नहीं होता। दानी मनुष्य समाजमें रहने योग्य होते हैं।

दिवे, अन्तरिक्षाय पृथिव्ये त्वा 'शुंधामि' द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथिवीमें शान्ति रहे इस लिये तू शुद्ध होकर व्यवहार कर। कदापि दुष्ट व्यवहार न कर।

पितृषदनाः लोकाः शुन्ध्यन्ताम्– पिता आदि श्रेष्ठ लोक रहनेके स्थान शुद्ध सदाचारी लोकोंसे, निवाससे शुद्ध रहें। दुराचारी लोक वहां न रहें। दुष्टोंका उपद्रव किसीको न हो।

पितृ-सदनं असि– पिता आदि श्रेष्ठ लोक रहनेका स्थान तुम्हारे पास हो। तुम जहां रहते हो वह स्थान सुखदायक हों। कष्टदायक न हो ॥ २६ ॥

उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥२७॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् ।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥२८॥

[१९१] (दिवम् उत्तभान) द्युलोकको ऊंचा करो (अन्तरिक्षं पृण) अन्तरिक्षको पूर्ण करो, और (पृथिव्यां दृंहस्व) पृथ्वीमें दृढता हो ऐसा करो। (द्युतानः मारुतः ध्रुवेण धर्मणा त्वा मिनोतु) प्रकाशमान वायु देवता स्थिर धर्मसे तुमको संयुक्त करें। तथा (मित्रावरुणौ) मित्र-वरुण, तुम्हारी रक्षा करें। (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि रायस्पोषवनि त्वा पर्यूहामि) ज्ञानसे युक्त, क्षात्रधर्मसे युक्त और वैश्यवर्णसे युक्त रहे; तुझको में सुदृढ करता हूं। (ब्रह्म दृंह) ज्ञानको बढाओ (क्षत्रं दृंह) क्षत्रियत्वको दृढ करो, (आयुः दृंह) आयुको बढाओ तथा (प्रजां दृंह) पुत्रादिको बलवान् करो ॥ २७ ॥

[१९२] हे यजमानकी भार्या ! जिस प्रकार तू (प्रजया पशुभिः अस्मिन् आयतने ध्रुवा असि) अपनी सन्तानों और गाय आदि पशुओंके सहित इस सत्कार करानेके योग्य यज्ञमें सुदृढ हैं, वैसे (अयम् यजमानः ध्रुवः घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्) यह यज्ञ करनेवाला तेरा पति यजमानभी दृढ संकल्प है, तुम दोनों इस घृतयज्ञसे आकाश और भूमिको परिपूर्ण करो। हे यज्ञ करनेवाली स्त्री ! तू (इन्द्रस्य छदिः असि) इन्द्रकी छायाके समान है, अतः तू और तेरा पति (विश्वजनस्य छाया भूयात्) संसारका सुख बढानेवाला छायारूप हो ॥ २८ ॥

दिवं उत्तभान- द्युलोकको उंचा देखो। द्युलोक जैसा उच्च स्थानमें है वैसा तुम उंचे स्थानमें रहो। अपना अधःपतन हो ऐसा कोई दुष्ट कृत्य न करो।

अन्तरिक्षं पृण- अन्तरिके समान परिपूर्ण होओ।

पृथिव्यां दृंहस्व- पृथिवीके समान सुदृढ हो जावो।

द्युतानः मरुतः ध्रुवेण धर्मणा त्वा मिनोतु- तेजस्वी मरुत् अपने सुस्थिरतायुक्त रक्षणके कर्मसे तेरा संरक्षण करें। मरुत सैनिक हैं। सेना राष्ट्रका संरक्षण करती है। उस अपनी सेनासे तुम सुरक्षित होकर अपने राष्ट्रमें विराजो।

ब्रह्मवनि क्षत्रवनि रायस्पोषवनि त्वा पर्यूहामि- ज्ञान, क्षात्रतेज और धनसे तुझे मैं सुरक्षित रखता हूं। ज्ञान, शौर्य और धन इन तीन साधनोंसे प्रजा सुरक्षित रहनी चाहिये।

ब्रह्म दृंह- ज्ञानको अपने देशमें बढाओ।

क्षत्रं दृंह- क्षात्रशक्तिको अपने देशमें बढाओ।

आयुः दृंह- अपनी आयुको बढाओ।

प्रजां दृंह- प्रजाकी वृद्धि करो।

ज्ञान, शौर्य, आयु और प्रजाकी वृद्धि करनी चाहिये। यह राष्ट्रीय कर्तव्य है। राष्ट्रके लोक विचार करके अपने राष्ट्रमें इनकी वृद्धि करनेका सतत यत्न करें ॥ २७ ॥

अस्मिन् आयतने प्रजया पशुभिः ध्रुवा असि- इस यज्ञ स्थानमें तुम प्रजा और पशुओंसे युक्त होकर सुस्थिर रहते हैं। प्रजा अर्थात् संतानोंसे मनुष्य स्थिर होता है। जिसको प्रजा नहीं हुई उसकी स्थिरता- वंशकी सुस्थिरता- रहना अशक्य है। सर्वसाधारण मनुष्य विवाह करके संतानोंकी प्राप्ती करे और अपने स्थानमें सुस्थिर होवे।

अयं यजमानः ध्रुवः घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्- यह यज्ञ करनेवाला यजमान सुस्थिर बने और घीके हवनसे द्युलोक और पृथिवीलोकको भर देवे। हवनसे द्यावापृथिवीको भर दे। हवनसे वायु शुद्ध होता है। वैसा वायु सर्वत्र फैले। हवन सर्वत्र होता रहे इससे वायु शुद्ध होगा और सब लोगोंका लाभ होगा।

इन्द्रस्य छदिः असि- तू इन्द्रका छत जैसा आवरण है। अर्थात् तुम्हारे अंदर 'इन्द्र' है। इसी लिये आंख, नाक, कान, हाथ, पांव आदि अवयवोंको 'इन्द्रिय' कहते हैं। इन्द्रियां इन्द्रकी शक्तियां हैं, इससे शरीरमें इन्द्र निवास करता है, यह सिद्ध होता है।

विश्वजनस्य छाया भूयात्- संपूर्ण मानवोंका सुख बढानेवाली यह छायारूप शक्ति है। प्रत्येक प्राणीमें इन्द्र अपनी अतुलनीय शक्तिके साथ रहता है, इससे जीवित रहा प्राणी इस अपरिमित शक्तिसे संपन्न रहता है। प्रत्येक प्राणीमें जो आत्मशक्ति है उस शक्तिकी तुलना दूसरी किसी शक्तिसे नहीं हो सकती। ऐसी यह आत्माकी शक्ति अद्भुत शक्ति है। यही शक्ति जानने योग्य और शक्तियोंमें मनन करने योग्य है ॥ २८ ॥

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥२९॥
इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि । ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥३०॥
विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः । श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥३१॥
उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः
सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदन
ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥३२॥

[१९३] हे (गिर्वणः) स्तुतियोंसे स्तुति करने योग्य इन्द्र ! (इमाः विश्वतः गिरः त्वा परिभवन्तु) ये मेरी की हुई समस्त स्तुतियां तुम्हारेको सब प्रकारसे प्राप्त हों । और (वृद्धायुं अनु वृद्धयः जुष्टयः जुष्टाः भवन्तु) वृद्धोंके समान आचरण करनेवाले तुम्हारे पश्चात् अत्यन्त बढती हुई, प्रीति करने योग्य प्यारी हों ॥ २९ ॥

[१९४] तुम (इन्द्रस्य स्यूः असि) इन्द्रको सीवन हो ! तुम (इन्द्रस्य ध्रुवः असि) इन्द्र सम्बन्धसे स्थिर हो । तुम (ऐन्द्रम् असि) इन्द्रके संबंधके कारण हो । तुम (वैश्वदेवम् असि) समस्त देवताओंके प्रतिनीधि हो ॥३०॥

[१९५] यह अग्नि (विभूः असि) व्यापक है, यह (प्रवाहणः वह्निः असि) प्रधान कार्यनिर्वाहक वह्नि है, तथा (हव्यवाहनः श्वात्रः असि) समस्त हवियोंका वहन करनेसे हव्यवाहन और मित्र है । यह अग्नि (प्रचेताः तुथः विश्ववेदाः असि) प्रकृष्ट ज्ञानवान् और ज्ञानका बढानेवाला है, इस कारण विश्ववेद नामसे विख्यात है ॥ ३१ ॥

[१९६] तू (उशिक् असि) कान्तिमान् है, (अंघारिः कविः असि) पापहारी, और ज्ञानी है, (बम्भारिः अवस्यूः असि) पालक और उत्तम रीतिसे शत्रुसे सुरक्षा करनेवाला है । तू (दुवस्वान् शुन्ध्यूः असि) प्रशंसनीय और शुद्ध है तथा (मार्जालीयः सम्राट् असि) सबका शोधन करनेवाला, तथा अच्छी प्रकार प्रकाशमान् है । तू (कृशानुः पवमानः परिषद्यः असि) अनुष्ठानसे कृशतनु यजमानको भी पुनीत करनेवाला स्वयं पवित्र, सभामें कल्याणके कार्य करनेवाला है, तथा (प्रतक्वानभः असि) हर्षित व अपहरण करनेवालेका हन्ता है । तू (हव्यसूदनः मृष्टः असि) होमके द्रव्यको यथायोग्य व्यवहारमें लानेवाला और पवित्र है । तू ही (स्वर्ज्योतिः ऋतधामा असि) अपना प्रकाशक, तेजस्वी और सत्यका स्थान है ॥ ३२ ॥

गिर्वणः- इन्द्र स्तुति करनेके लिये योग्य है । जितनी उस इन्द्रकी शक्तिकी प्रशंसा की जाय उतनी थोडी है । इन्द्रकी शक्तिसेही सब विश्वके कार्य हो रहे हैं ।

वृद्धायु अनुवृद्धयः जुष्टाः भवन्तु- जैसी वृद्धकी प्रशंसा होती है उसी प्रकार इस इन्द्रकी प्रशंसा सर्वत्र हो रही है । क्योंकि यह इन्द्र सबमें वृद्ध है और प्रशंसाके योग्य है ॥ २९ ॥

इन्द्रस्य स्यूः असि- तूमे इन्द्रका संबंध जोडनेवाला धागा हो । तुमसे इन्द्रके साथ उत्तम संबंध होता है ।

इन्द्रस्य ध्रुवः असि- तूं इन्द्रके साथ रहनेवाला स्थिर मित्र हो ।

ऐन्द्रं असि- तु इन्द्रकी शक्ति हो ।

वैश्वदेवं असि- सब देवोंकी शक्ति तुझमें है ।

मनुष्यमें इन्द्रकी शक्ति रहती है । उसकी सब इंद्रियां इन्द्रकी तथा देवोंकी शक्तियां दी हैं । यह जानकर मनुष्य अपने अन्दरकी शक्तियां इन्द्रकी तथा देवोंकी शक्तियां ही हैं यह ज्ञान प्राप्त करे । सब देवताएं इस शरीरमें रहती है यह ज्ञान प्राप्त करे और वैसा अनुभव करे और अपने शरीरमें विश्वकी सब शक्तियां देखे । यह शरीर देवताओंका मंदिर है ॥ ३० ॥

विभूः असि- हे अग्नि ! तू व्यापक हो । अग्नि सब पदार्थोंमें है । उष्णता सबमें कम ज्यादा होती है ।

प्रवाहणः वह्निः असि- प्राधान्यसे कार्यकर्ता अग्नि है । चलानेवाला अग्नि है । अग्नि गति उत्पन्न करता है । अन्योंको चलाता है ।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात् ॥३३॥
मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माऽग्नयः पिपृत माऽग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट ॥३४॥

---

[१९७] परमेश्वर ! तू (समुद्रः विश्वव्यचाः अजः असि) समुद्रके समान विशाल सर्व व्यापक और अजन्मा है; (एकपात् अहिः बुध्न्यः असि) सब संसार जिसके एक चरणमें है, जो क्षीणतारहित और प्रथम होनेसे सर्वत्र प्रसिद्ध है। वह (वाक् असि) वाणीरूप है; तथा (ऐन्द्रं सदः, ऋतस्य द्वारौ, मा मा सन्तप्तम्) परम ऐश्वर्यका स्थान, यज्ञके द्वारदेशमें स्थापित होनेसे हमको किसी प्रकार सन्तापित करनेवाला न हो। हे (अध्वपते) शुद्ध मार्गके पालक ! हम किसी भी मार्गसे गमन करें। तुम (अध्वनाम् मा प्रतिर) मार्गोंके मध्यमें धर्मकार्य करनेवाले मुझको संवर्धित करो, जिससे (अस्मिन् देवयाने पथि मे स्वस्ति भूयात्) इस देवयान मार्गमें मेरा कल्याण हो ॥ ३३ ॥

[१९८] (मित्रस्य चक्षुसा मा ईक्षध्वम्) मित्रकी दृष्टिसे मुझे देखो। और (स-गराः अग्नयः सागरेण नाम्ना सागराः स्थ) स्तुतिके योग्य हे समर्थ अग्नियो ! तुम स्तुतिके योग्य हो, अतः हे (अग्नयः) अग्नियो ! (रौद्रेण अनीकेन मा पातम्) अपने उग्र मुखसे हमारी रक्षा करो। हे (अग्नयः) अग्नियो ! (मा पिपृत मुझको पूर्ण करो, (मा गोपायत) मेरा पालन करो। (वः नमः अस्तु) तुमारे लिये मेरा नमस्कार हो। (मा मा हिंसिष्ट) मुझको मत मारना ॥ ३४ ॥

हव्यवाहनः श्वात्रः असि– हवन किये द्रव्योंको ले जानेवाला, यथास्थान पहुंचानेवाला है।

प्रचेताः तुथः असि– विशेष ज्ञानी और ज्ञान बढानेवाला है अतः ज्ञानवान, ज्ञानी कहलाता है।

विश्ववेदाः– सब ज्ञान जाननेवाला, विशेष ज्ञानी ॥३१॥

उशिक असि - तू तेजस्वी हो। आत्माका तेज तुझमें विकसता है।

अंघारिः कविः असि– तू पापको दूर करनेवाला ज्ञानी है। प्रत्येक मनुष्य चाहे तो पापसे दूर रह सकता है और ज्ञानी हो सकता है। यह शक्ति मनुष्यमें रहती है, इस कारण कई लोक ज्ञानी बने हैं। उस तरह प्रयत्न करके हर-एकको ज्ञानी बननेका प्रयत्न करना योग्य है।

बम्भारिः अवस्युः असि– तू पालन करनेवाला तथा उत्तम संरक्षण करनेवाला है। शत्रुसे सुरक्षा करनेवाला 'बंभारि' होता है। शत्रुसे अपनी सुरक्षा करनी अत्यंत आवश्यक है।

दुवस्वान् शुन्ध्युः असि– तू तेजस्वी तथा शुद्ध हो। अपने आपको तेजस्वी तथा उद्योगी बनानेवाला।

मार्जालीयः सम्राट् असि– शुद्ध ओर तेजस्वी हो।

कृशानुः पवमानः परिषद्यः असि– तेजस्वी, शुद्ध और सभामें उत्तम कार्य करनेवाला तू है। इस तरह स्वयं तेजस्वी और शुद्ध बनकर सभाका कार्य उत्तम रीतिसे करनेवाला बनो।

प्रतक्वा नभः असि– स्वयं प्रसन्न तथा शत्रुनाशक हो।

हव्यसूदनः मृष्टः असि - हवनीय द्रव्योंको योग्य रीतिसे ले आवे और स्वय शुद्ध रहकर उनका योग्य उपयोग करे।

स्वर्ज्योतिः ऋतधामा असि– अपना तेज बढानेवाला और सत्यको आश्रय देनेवाला हो।

यहां जो उपदेश किया है उसको मनुष्य ध्यानमें रखे और ये गुण अपनमें बढावे और कृतकृत्य हो जावे ॥ ३२ ॥

समुद्रः विश्वव्यचाः अजः असि– ईश्वर समुद्रके समान विस्तृत सर्वव्यापक और जन्मरहित है। वह सर्वत्र है।

एकपात् अहिः बुध्न्यः असि– सब संसारमें जिसका एक चरण व्याप रहा है। वह नष्ट होनेवाला नहीं है और वह सब विश्वका आदि है। इसीसे संपूर्ण विश्व बना है।

वाक् असि– वाणीका उत्पादक वही है। उस आत्माकी प्रेरणासे वाणी उत्पन्न होती है।

ऐन्द्रं सदः, ऋतस्य द्वारौ, मा मा संतप्तम्– इन्द्रका–जीवात्माका स्थान, सत्यके द्वारमें है। वह मुझे संताप उत्पन्न न करे। वह मुझे सदा आनन्द देनेवाला होवे। आत्मा ही आनंदका स्थान है। वह मुझे सदा आनंदित रखे।

अध्वपते ! अध्वनां मा प्रतिर– हे सन्मार्गके रक्षक ईश्वर ! शुद्ध मार्गसे मुझे दूर न कर। सदा शुद्ध मार्गपर ही मुझे रहनेके लियें प्रेरित कर।

अस्मिन् देवयाने पथि मे स्वस्ति भूयात्– इस दिव्य मार्गपरसे चलनेके कारण मेरा कल्याण हो ३३ ॥

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाᳪं समित्। त्वᳪं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथᳪं स्वाहा जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥३५॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥३६॥
अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयᳪं शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥३७॥

[१९९] हे (सोम) सोम ! तुम (विश्वेषां देवानां विश्वरूपं ज्योतिः समित् असि) सब देवोंके संपूर्ण रूपयुक्त, सबोंके प्रकाश करनेवाले प्रकाशक दीपक हो। (त्वं अन्यकृतेभ्यः द्वेषोभ्यः तनूकृद्भ्य यन्ता) तुम, हमारे विरोधियोंसे प्रेरित द्वेष करनेवाले शत्रुओं, शरीर छेदक राक्षसोंके दण्डदाता हो। (उरु वरूथम असि स्वाहा) हमारे निमित्त तुम अत्यन्त बलयुक्त हो तुमको दी हुई यह हवि सुन्दर रूपसे प्राप्त हो। (जुषाणः अप्तुः आज्यस्य वेतु स्वाहा) प्रीयमाण सोमदेवता मेरे दिये हुये इस घृतका पान करो हमारी दी हुई यह आहुति सुन्दर रूपसे गृहीत हो॥३५॥

[२००] हे (अग्ने) विश्वज्योति परमात्मन्! (देव) दिव्य गुणयुक्त तुम (विश्वानि वयुनानि विद्वान् अस्मान् राये सुपथा नय) सम्पूर्ण मार्ग वा ज्ञानोंको जाननेवाले, अनुष्ठानकर्ता हमलोगोंको धन वा यज्ञ फलके निमित्त शोभनमार्गसे प्राप्त करो। (अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि) हम यज्ञानुष्ठान करनेवालोंसे अभिलषित क्रियाके प्रतिबन्धक पापको पृथक करो। (ते भूयिष्ठाम् नम उक्तिम् विधेम) तुम्हारे निमित्त अत्यन्त नमस्काररूप वाणीको कहते हैं ॥ ३६ ॥

[२०१] (अयं अग्निः नः वरिवः कृणोतु) यह अग्नि हमको धन प्रदान करे। (अयं मृधः प्रभिन्दन् पुरः एतु) वह, संग्राममें द्वेषी सेनादलको छिन्नभिन्न करता हुआ अग्रसर हो। और (अयं वाजसातौ वाजान् जयतु) यह अग्निही अन्नके विभाग करनेमें अन्नको जीते। और (जर्हृषाणः अयं शत्रून् जयतु स्वाहा) अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ यह अग्नि शत्रुओंको जीते, हमारी यह आज्य आहुति सुन्दर रूपसे गृहीत हो ॥ ३७ ॥

मित्रस्य चक्षुषा मा ईक्षध्वम्- मित्रकी दृष्टीसे मुझे देखो। शत्रुकी दृष्टीसे किसीको देखना नहीं चाहिये।

सागरा अग्नयः सागरेण नाम्ना सागराः स्थ- स्तुतिके योग्य अग्नि हैं। स्तुतिसे प्रशंसित होकर अग्नि बढे और सबका कल्याण करें।

रौद्रेण अनीकेन मा पातम्- अपने उग्र मुखसे मेरा रक्षण करो। अपने उग्र मुखसे शत्रुका नाश करो और मेरा संरक्षण करो।

मा पिपृत- मुझे पूर्ण करो, मैं अधूरा न रहूं ऐसी कृपा मुझपर करो।

मा गोपायत- मेरा रक्षण करो।

मा मा हिंसिष्ट- मेरी हिंसा हो ऐसा कोई कार्य न करो।

वः नमः अस्तु- तुझको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३४ ॥

हे सोम ! विश्वेषां देवानां विश्वरूपं ज्योतिः समित् असि- हे सोम ! तू सब देवोंको प्रकाश देनेवाले प्रकाशक हो। सोम सबको प्रकाश देनेवाला है। सोम तेजस्वी है।

त्वं अन्यकृतेभ्यः द्वेषोभ्यः तनूकृद्भ्यः यन्ता- तूं अन्य शत्रुका और द्वेष करनेवालोका उत्तम नियंत्रण करनेवाला है। शत्रुओंका नियंत्रण करना योग्य है।

उरु वरूथं असि- तुम विशेष बलवान हो। विशेष शक्तिमान होना योग्य है ॥ ३५ ॥

हे देव ! अस्मान् राये सुपथा नय- हे ईश्वर ! हमें उत्तम मार्गसे धन प्राप्त करनेके लिये ले जाओ।

अस्मत् जुहुराणं एनः युयोधि- हमारे द्वारा दुष्टतायुक्त पापसे युद्ध कराओ। और इस युद्धमें हमारा विजय हो ऐसा करो।

विश्वानि वयुनानि विद्वान्- तूं सब कर्मोको उत्तम रीतिसे जानते हो।

ते भूयिष्ठां नम उक्ति विधेम- तेरे लिये बहुत नमनके भाषण हम करते हैं। तेरा आशीर्वाद हमारे ऊपर सदा रहे ॥ ३६ ॥

अयं अग्निः नः वरिवः कृणोतु- यह अग्नि हमें धन देवे।

अयं मृधः प्रभिन्दन् पुरः एतु- यह शत्रुओंको मारकर आगे बढे।

अयं वाजसातौ वाजान् जयतु- यह अन्नदानके समय अन्नका जय हो।

अयं शत्रून जयतु- यह शत्रुपर विजय करे ॥ ३७ ॥

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥३८

देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्।
एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२ उपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण
स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ॥३९॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳ सा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिः ॥४०॥

[२०२] हे (विष्णो) हे सर्व व्यापक ईश्वर ! परमात्मन् ! (उरु विक्रमस्व) हमारे शत्रु तथा कामादि विकारोंके ऊपर बहुत आक्रमण करो। (क्षयाय नः उरु कृधि) हमारे निवासके लिये हमको विस्तृत करो। हे (घृत योने) घृतसे वृद्धि पानेवाले ! इस (घृतं प्रपिब) घृतका पान करो। (यज्ञपतिं प्र तिर) यजमानकी अतिशय वृद्धि करो। (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारे निमित्त प्रदान करते हैं ॥ ३८ ॥

[२०३] हे (सवितः देव) सबके प्रेरक देव ! (एषः सोम ते, तम् रक्षस्व) यह सोम तुमको समर्पित है इसकी रक्षा करो। (त्वा मा दभन) तुझे कोई नष्ट न करे। हे सोम ! (त्वं देवः, देवान् एतत् उपागाः) तुम दिव्यगुण युक्त हो, इसलिये अपनी देवताओंको इस समय यहां प्राप्त करो। (इदं अहं रायस्पोषेण सह मनुष्यान्) यह मैं धन और पुष्टिकी सहायतासे अपने साथी मनुष्योंकी सहायताके लिये यहां आया हूं। (स्वाहा, वरुणस्य पाशान् निर्मुच्ये) यह आहुति देवताओंको समर्पण कर और वरुणके पाशसे मुक्त हो ॥ ३९ ॥

[२०४] हे (अग्ने) अग्नि ! तू (व्रतपाः) व्रतोंका पालन करनेवाला है, अतः (त्वे व्रतपाः) तेरे सन्मुख मैं व्रतोंके पालक होकर रहता हूं। (तव या तनूः मयि अभूत्, सा एषा त्वयि) तुम्हारा जो शरीर मुझमें स्थित है वह यह शरीर तुम्हारा ही है। (या उ तनूः त्वयि अभूत सा इदं मयि) जो यह मेरा शरीर तुझमें है वह शरीर मुझमें स्थिर हो। हे (व्रतपते) व्रतपालक अग्नि ! (नौ व्रतानि यथायथम्) हमारे व्रतकर्मोंको यथायोग्य सम्पादन करो। (दीक्षापतिः मेदीक्षाम् अन्वमंस्त) दीक्षापालक देवने मेरी दीक्षानियमोंका अनुमोदन किया है और (तपस्पतिः तपः अनु) तपके पालक देवने मेरा तप भी अंगीकार कर लिया है ॥ ४० ॥

उरु विक्रमस्व- विशेष पराक्रम करो।

नः क्षयाय नः उरु कृधि- हमारे निवासके लिये हमें विकसित कर।

घृत पिब- घी पीओ।

यज्ञपति प्रतिर- यज्ञ करनेवालेको उन्नत करो।

स्वाहा- इसके लिये हम आत्मसमर्पण करते हैं ॥ ३८ ॥

एष ते सोम; तं रक्षस्व- यह सोम तेरे लिये है, इसको रक्षा करो।

त्वा मा दुभन्- तेरा कोई नाश न करे। तूं यहां सुरक्षित रहो।

त्वं देवः, देवान् एतत् उपागाः- तूं दिव्य गुणोंसे युक्त हो, अतः देवताओंको प्राप्त होओ। जो दिव्य गुणोंसे संपन्न होते हैं, वे ही देवताओंको प्राप्त कर सकते हैं। गुणहीन मनुष्य देवता प्राप्त नहीं कर सकता।

अहं रायस्पोषेण सह मनुष्यान्- मैं धन और पुष्टीसे युक्त होकर मनुष्योंके पास जाकर उनका हित करूंगा।

वरुणस्य पाशान् निर्मुच्ये- वरिष्ट देवके पाशोंसे मैं मुक्त होता हूं। सदाचारी बनकर देवताके पाशोंसे मनुष्य मुक्त हो सकता है ॥ ३९ ॥

व्रत-पाः— नियमोंका पालन मनुष्य करे। ' व्रत '- का अर्थ धर्मके नियमोंका पालन करना है। मनुष्यकी उन्नति इसीसे होती है।

त्वे व्रतपाः- तेरे-ईश्वरके-सामने मैं व्रतका पालन करने-की प्रतिज्ञा करता हूं। मैं अवश्य धर्म नियमोंका पालन करूंगा।

तव तनूः मयि, एषा त्वयि- तेरा शरीर परमात्मामें और परमात्मा तेरे शरीरमें है यह स्मरण रखना चाहिये। मनुष्यका शरीर परमात्मामें है और परमात्मा मनुष्य शरीरमें

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥४१
अत्यन्याँ२ अगां नान्याँ२ उपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः।
तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा।
ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः ॥४२॥

[२०५] हे (विष्णो) व्यापक आहवनीय अग्निरूप परमात्मन् ! (उरु विक्रमस्व) हमारे शत्रु तथा कामादिके प्रति बहुत पराक्रम करो। (क्षयाय नः उरुकृधि) ब्रह्मगृहनिवासके निमित्त हमको अधिकतर करो। (घृतयोने घृतं प्रपिब) घृतसे वृद्धि पानेवाले तुम इस घृतको विशेषकर पान करो। (यज्ञपतिम् प्रतिर स्वाहा) यजमानको अतिशय वृद्धिको प्राप्त करो, यह आहुति तुम्हारे निमित्त देते हैं ॥ ४१ ॥

[२०६] हे (वनस्पते देव) वनस्पतियोंके निर्माण करनेवाले देव ! जैसे तूं (अन्यान्, अन्यान् उप अगाम्) दुष्ट जनोंको छोडके, विद्वानोंके समीप जाते हैं, वैसे मैं भी विद्वानोंके समीप जाउंगा। जिस प्रकार तू (परेभ्यः परः अवरेभ्यः अर्वाक् तं त्वां अविदम्) उत्तमोंसे उत्तम और समीपसे समीप हो अतः तुमको मैं पाऊं। जैसे (देवाः देवयज्यायै त्वा, त्वा जुषामहे) विद्वान लोग उत्तम गुणवान् होनेके कारण तुझको चाहते हैं वैसे हम भी तुझे चाहें। और लोग (देवयज्ञायै त्वा) देव यज्ञके लिये तुझे चाहते हैं, वैसे हम लोग भी चाहें। जैसे औषधियोंका समूह (विष्णवे स्वधिते त्वा, एनं मा हिंसीः) यज्ञके लिये सिद्ध होकर सबकी रक्षा करता है वैसे हे रोगोंको दूर करने और दुःखोंको विनाश करनेवाले विद्वान् जन हम लोग तुझे यज्ञके लिये चाहते हैं, श्रेष्ठ विद्वानजन जैसे यज्ञका विनाश नहीं चाहता वैसे तू भी ज्ञान यज्ञको मत बिगाड ॥ ४२ ॥

है। मनुष्य इसका स्मरण रखेगा, तो परमात्माको अपने शरीरमें देखकर बुरे कर्मोंसे वह सदा दूर रहेगा और इससे वह पवित्र बनेगा।

व्रतानि यथायथम्- धर्मनियमोंका पालन यथायोग्य रीतिसे होना चाहिये।

दीक्षापतिः मे दीक्षां अन्वमंस्त- दीक्षाका पालक ईश्वर दीक्षाके पालन करनेके मेरे कार्य मुझसे योग्य रीतिसे कराकर लेवे।

तपस्पतिः मे तपः अन्वमंस्त- तपका स्वामी ईश्वर मेरे तप करनेके कार्यमें मेरी अनुकूलता करे। मुझसे तपके कार्य योग्य रीतिसे करा ले ॥ ४० ॥

उरु विक्रमस्व- बडे पराक्रम करता रहो। पराक्रम करनेसे पीछे न हट जाओ। पराक्रम करनेका समय व्यर्थ न जाय ऐसा यत्न कर।

नः क्षयाय उरु कृधि- अपने निवासके लिये विशेष प्रयत्न कर। अपना जीवन उत्तम यशस्वी हो ऐसा यत्न कर।

घृतं प्रपिब- घीका पान कर। गौका घी पीओ।

यज्ञपतिं प्रतिर- यज्ञ करनेवालेका उद्धार कर, यज्ञकर्ताकी सहायता कर ॥ ४१ ॥

अन्यान् अन्यान् उप अगाम- दुष्ट जनोंको हम छोड देंगे और अच्छे सज्जनोंके पास जांयगे। इससे हमारा लाभ होगा।

परेभ्यः परः अवरेभ्यः अर्वाक् तं त्वा उप अगाम- दूरसे दूर अथवा पाससे पास रहनेवाले जो श्रेष्ठ विद्वान हो, उनके पास में पहुंचता हूं। और उनसे ज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य होता हूं। ज्ञानी कहां भी हों उनके समीप जाकर उनसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

देवा देवयज्यायै त्वा जुषामहे- देवोंका सत्कार करनेके लिये तेरी प्रीति हम चाहते है। ज्ञानियोंका सत्कार किया जाय और जनताका भला होजाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

विष्णवे स्वधिते त्वा- सर्व व्यापक परमेश्वरकी उपासना-के लिये और अपने शोभन जीवनके लिये तेरा स्वीकार हम करते हैं। किसीका स्वीकार करना हो तो उससे जीवन उत्तम हो और परमेश्वरकी उपासना हो ऐसा होना चाहिये ॥ ४२ ॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव ।
अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय ।
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ॥४३॥

[अ० ५, कं० ४३, मं० सं० १५०]

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

[२०७] (द्याम् मा लेखीः अन्तरिक्षं मा हिंसीः, पृथिव्याः सम्भव) द्युलोकके पदार्थोंका नाश मत कर, अन्तरिक्षके पदार्थका नाश न कर, तू पृथ्वीके साथ मित्रताके साथ रह । (हि तेतिजानः अयम् स्वधीतिः महते सौभगाय त्वा प्रणिनाय) निश्चयसे अत्यन्त तीक्ष्ण यह कुठार बडे शोभन यज्ञके निमित्त तेरे पास आया है । हे (वनस्पते देव) वनस्पति देव ! (अतः त्वम् शतवल्शः विरोह, वयम् सहस्रवल्शः) इस स्थानमें तुम सैकडों वर्षवाले होकर विशेषरूपसे बढता रह, हम भी इस यज्ञ कार्यके बलसे सहस्रों प्रकारके धनसे सम्पन्न हों ॥ ४३ ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

द्यां मा लेखीः- द्युलोकमेंसे किसी पदार्थका नाश न कर । द्युलोकसे सूर्य प्रकाश आता है । उसको प्राप्त कर । वह आत्माका सामर्थ्य बढानेवाला है । 'सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषः च' सूर्य स्थावर जंगम पदार्थोंका आत्मा है ।

अन्तरिक्षं मा हिंसीः- अन्तरिक्षमेंसे किसी पदार्थका नाश न कर । अन्तरिक्षका वायु मनुष्योंके जीवनके लिये सहायक है ।

पृथिव्याः संभव- पृथिवीपर तू मिलजुलकर रहो । पृथिवीके पदार्थोंसे तुम्हारा विशेष संबंध है । इस कारण तू यहां पृथिवीपर प्रेमसे व्यवहार कर । 'संभव' का अर्थ एकत्र रहकर मिलजुलकर जीवन चलाओ ।

तेतिजानः अयं स्वधितिः महते सौभगाय त्वा प्रणिनाय- यह तीक्ष्ण कुल्हाड तेरे महा सौभाग्यको बढानेवाला होगा । शस्त्रसे वृक्ष आदि काटकर गृह आदि बनाये जाते हैं । न काटनेसे नहीं बन सकते । अतः तीक्ष्ण शस्त्र भी उपयोगी हैं ।

शतवल्शः विरोह- सौ वर्षतक बढते रहो ।

वयं सहस्रवल्शाः- हम हजार वर्षोंतक बढते रहेंगे । राष्ट्रकी यह आयु है । हजारों वर्षोंतक राष्ट्र बढता रहे ॥४३॥

॥ पांचवा अध्याय समाप्त ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आ ददे[1] नार्यसि[2]—दमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि[3] । यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयाराती[4]—र्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा[5] शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः[6] पितृषदनमसि[7] ॥१॥

अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति[1] देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु[2] सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः[3] । द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीः[4] ॥२

---

[२०८] (सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम् त्वा आददे) सविता देवताकी प्रसन्नताके लिये अश्विनीकुमारकी दोनों भुजाओंसे और पूषा देवताके हाथोंसे तुझको ग्रहण करता हूं। तू (नारी असि) नारी अर्थात् घरकी नेत्री है, और (अहं) मैं पुरुष तेरा पति (इदम् राक्षसां ग्रीवाः अपि कृन्तमि) यह विघ्नकारी राक्षसोंकी गर्दन काटता हूं। तू (यवः असि) हमारे शत्रुओंको दूर करनेवाला है, अतः तू (असमत् द्वेषः यवय) हमसे द्वेष करनेवालोंको दूर कर और (अरातीः यवय) शत्रुओंको भी दूर कर। (पितृषदनाः लोकाः त्वा दिवे अन्तरिक्षाय पृथिव्यै शुन्धताम्) पिताके समान देशके पालक समस्त प्रजाजन तुझे द्यौलोकमें सूर्यके समान अन्तरिक्षमें वायुके समान और पृथ्वीके हितके लिये शुद्ध करें। तू स्वयं (पितृ षदनम् असि) समस्त प्रजाके पालक पुरुषोंके समान हो ॥ १ ॥

[२०९] तू (अग्रेणीः असि) सबको आगे ले चलनेवाला अग्रणी है। तू (उत् नेतृणां स्ववेशः एतस्य विताात्) ऊंचे मार्गमें ले चलनेवाले उत्तम नेताओंको भी सन्मार्गपर स्थापित करनेवाला है अतः इस महान कार्यको भली प्रकारसे जान ! (देवः सविता त्वा अधिस्थास्यति) दिव्यगुणोंवाला सबका पालक परमात्मा तुम्हारेपर भी अधिष्ठाताके रूपमें स्थित रहेगा, वही (त्वा मध्वा आनक्तु) तुझको मधुर गुणोंसे सिंचित करे। तू (अग्रेण द्याम् अस्पृक्षः) अपने अग्रगामी सर्वोत्कृष्ट गुणोंसे द्यौलोकको स्पर्श कर अर्थात् महान तेजस्वी बन। (मध्येन अन्तरिक्षम् अप्राः) अपने मध्य, बीचके साधारण कार्योंसे अन्तरिक्षको प्रजाके मध्यजनोंको पालन कर, और (उपरेण पृथिवीम् अदंहीः) अपने शेष नीचेके भागसे उत्कृष्ट नियत व्यवस्थासे पृथ्वीके या प्रजाके तृतीय श्रेणीके लोगोंको दृढ कर ॥ २ ॥

सवितुः देवस्य प्रसवे– सूर्य देवके उदयके समय। 'प्रसव' का अर्थ उदय है। सूर्यका उदय होते ही उसके प्रकाशसे सब विश्व प्रकाशित होता है, प्रसन्न होता है। यह समय शुभ कार्य करनेके लिये उत्तम है।

अश्विनोः बाहुभ्यां, पूष्णोः हस्ताभ्यां त्वा आददे– अश्विदेवोंके बाहुओंसे और पूषाके हाथोंसे तेरा ग्रहण करता हूं। अश्विदेव वैद्य हैं। वैद्योंके हाथोंसे योग्य पदार्थका ग्रहण करना योग्य है। पोषकके हाथोंसे भी वैसा ही योग्य है। हम किसी पदार्थका ग्रहण करनेके समय वैद्योंके हाथोंसे और पोषणकर्ताके हाथोंसे उस वस्तुका ग्रहण करें। हमारे हाथ पुष्ट हों और वैद्यों जैसे संस्कार संपन्न हों।

नारी असि– तू नारि है। न+अरि = वह पत्नी घरकी चलानेवाली उत्तम मित्र है। पत्नी ऐसी मित्रवत् आचरण करनेवाली हो। शत्रुरूप स्त्री कदापि न हो।

रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि– दुष्टोंका गला काटना योग्य है। दुष्ट अपने पास न रहें। उनको दूर करना चाहिये।

यवः असि, अस्मत् द्वेषः यवय– शत्रुको दूर करनेका सामर्थ्य मनुष्यमें अवश्य चाहिये। द्वेष करनेवालोंको दूर करें। उनको पास रहने देना अयोग्य है।

अरातीः यवय– अनुदार मनुष्योंको दूर कर।

पितृषदनाः लोकाः त्वा दिवे अन्तरिक्षाय पृथिव्यै शुंधन्ताम्– पिताके समान पालन करनेवाले लोक द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवीको शुद्ध रखें। दुष्ट लोक इस पृथिवीपर न रहें।

पितृषदनं असि– पिताके घरके समान तू आश्रय स्थान है। पिताके घरके समान यह सब पृथिवीके उपरके स्थान हों ॥ १ ॥

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि । ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं
रायस्पोषवनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह ॥३॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥

---

[२१०] हम (ते या धामानि गमध्यै, उष्मसि) तेरे जिन भवनोंमें जानेकी इच्छा करते हैं, वे ऐसे हों (यत्र भूरि शृङ्गाः गावः अयासः) जहां बहुत प्रकाशकी किरणें आया करती हों। (उरुगायस्य विष्णोः तत् अत्र अह अव भारि) विशेष प्रशंसनीय उस व्यापक देवका वह उत्कृष्ट स्थान यहां ही विराजता है। मैं तुझको (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि) ब्राह्मणों, क्षत्रियों और ऐश्वर्यसे युक्त वैश्योंको यथोचित धनादि ऐश्वर्यका योग्य विभाग करनेवाला जानता हूं। तू (ब्रह्म दृंह) ब्राह्मण बलको बढा, (क्षत्रं दृंह) क्षात्रबलको बढा, (आयुः दृंह) प्रजाकी आयुको बढा और (प्रजां दृंह) प्रजाको भी बढाओ ॥ ३ ॥

[२११] हे मनुष्यो ! (विष्णोः कर्माणि पश्यत) व्यापक ईश्वरके जगतकी, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्थाके नाना कार्योंको देखो। (यतः व्रतानि पस्पशे) जिनके अन्दरसे अनेक नियमोंको देखा जाता है। वह परमेश्वर (इन्द्रस्य युज्यः सखा) आत्माका योग्य मित्र है ॥ ४ ॥

अग्रेणीः असि- तूं अग्रेसर होकर आगे चलनेवाला हो। तू अग्रणी है, यह समझकर वैसा अपना कर्तव्य कर। और अग्रणी बनकर अपना कर्तव्य कर।

नेतृणां स्ववेशः एतस्य वित्तात्- नेताओंको भी तू सन्मार्ग पर स्थापित करनेवाला है, यह तूं जान (नेतालोग भी सन्मार्गपर ही चलनेवाले हों, अन्यथा वे असन्मार्गपर चलनेवाले होंगे, तो उनके पीछे चलनेवालोंका अकल्याण होगा इसमें संदेही नहीं है।

देवः सविता त्वा अधिस्थास्यति- सब जगत्का उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर तुम्हारे ऊपर अधिष्टाता होकर रहा है। यह ध्यानमें रख और कुमार्गमें प्रवृत्त न हो जाओ।

त्वा मध्वा आनक्तु- वह ईश्वर तुझे मधुरतासे युक्त करे।

अग्रेण द्यां अस्पृक्षः- तुम्हारे मुख्य गणसे तूं द्युलोकको स्पर्श कर। तुम्हारे अन्दर ऐसे उत्तम शुभ गुण चाहिये।

मध्येन अन्तरिक्षं अप्राः- तुम्हारे मध्यमें रहे शुभ गुणसे तूं अन्तरिक्षको भर दे। तेरे अन्दर ऐसे शुभ गुण रहें।

उपरेण पृथिवीं अदृंहीः- तुम्हारे गुणोंसे इस पृथिवीको सुदृढ कर।

अपने अन्दरके शुभ गुणोंसे सबको शुभ बनाना योग्य है। शुभ गुणोंसे ही ऐसा हो सकता है। अतः हरएकको अपने अन्दर शुभगुण बढाने योग्य हैं। यह राष्ट्रकी सुशिक्षासे ही हो सकता है। अतः राष्ट्रमें सुशिक्षा हो ऐसा करना अत्यावश्यक है ॥ २ ॥

ते या धामानि गमध्यै, उष्मसि- जिस स्थानको हम जाना चाहते हैं वे स्थान इच्छा करने योग्य उत्तम हों। उत्तम स्थानोंमें ही जाना योग्य है।

यत्र भूरिशृंगाः गावः अयासः- जहां बहुत प्रकाश किरणे होती हैं। प्रकाशयुक्त स्थानमें ही रहना चाहिये। जहां सूर्यकी किरणें पहुंचती है वह स्थान रोगरहित होता है। इस कारण ऐसे स्थानमें ही जाना योग्य है। जहां गौवें होती हैं वह स्थान भी रहने योग्य है।

उरुगायस्य विष्णोः तत् अत्र अह अव भारि- प्रशंसनीय परमेश्वरका वह वर्णनीय स्थान यहां है क्योंकि वह सर्व व्यापक है।

ब्रह्मवनि क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि- ब्राह्मण, क्षत्रिय और धनी वैश्योंके लिये योग्य धन और पोषणका विभाग करके उनको योग्य वितरण करनेवाला तू है यह मैं जानता हूं। धनका योग्य विभाग हो ऐसी राज्यव्यवस्था होनी चाहिये।

ब्रह्म दृंह- ब्राह्मणोंके ज्ञानको राज्यमें बढाओ।

क्षत्रं दृंह- राष्ट्रमें क्षात्र शक्तिकी वृद्धि करो। राष्ट्र निर्बल न रहे ऐसी योजना राष्ट्रमें करो।

आयुः दृंह- प्रजाकी आयु बढे ऐसी राष्ट्रीय आयोजना करो।

प्रजां दृंह- प्रजाकी सब क्षेत्रोंमें उन्नति हो ऐसा करो ॥ ३ ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत- हे मनुष्यो ! सर्व व्यापक ईश्वरके द्वारा इस जगत्में होनेवाले नाना प्रकारके कार्योंको

तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥५॥

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणाम् ।
दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशुः ॥६॥

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥७॥

---

[२१२] (सूरयः विष्णोः परमम् पदम्) विद्वानजन व्यापक परमेश्वरके पदको (दिवि आततम् चक्षुः इव सदा पश्यन्ति, तत्) द्युलोकमें व्याप्त तेजके समान सदा देखते हैं, उसको तुम लोग भी निरन्तर देखो ॥ ५ ॥

[२१३] हे ईश्वर ! (त्वं परिवीः असि) तू सर्वत्र व्यापक हो । (त्वा दैवीः विशः परिव्ययन्ताम्) तुझे विद्वान प्रजाजन सर्वत्र व्याप्त करके जानें । (इमं यजमानम् मनुष्याणां रायः ' परिव्ययन्ताम् ') इस यजमानको मनुष्योंके उपयोगी ऐश्वर्य भी चारों ओरसे प्राप्त हों । हे यज्ञकर्ता ! तू (दिवः सूनुः असि) प्रकाशक पुत्रके समान तेजस्वी है । (एषः पृथिव्यां लोकः ते) यह पृथ्वीपर निवास करनेवाले समस्त लोक तेरे मित्रही हैं और (आरण्यः पशुः ते) अरण्यवासी समस्त पशु भी तेरे ही हैं ॥ ६ ॥

[२१४] तू (उपावीः असि) प्रजाके नित्य समीप रहकर उनका पालन करनेवाला रक्षक है । (दैवीः विशः उशिजः वन्हितमान् देवान् उप प्र अगुः) दिव्यगुणवाली प्रजायें, कान्तिमान् तेजस्वी, समर्थ विद्वान् पुरुषोंको प्राप्त हों । हे (देव) दिव्य पुरुष ! (त्वष्टः वसु रम) तूं निर्माण करनेवाला हो । अतः तू नानाविध सम्पत्तियोंका उपयोग कर । (हव्या ते स्वदन्तम्) नाना प्रकारके भोग्य पदार्थ तुझे आस्वाद दें ॥ ७ ॥

देखो । और उनसे उस परमेश्वरके सामर्थ्यका अनुभव करो ।

यतः व्रतानि पस्पशे– इससे योग्य नियमोंको जाना जाता है । परमेश्वरके कार्य देखकर उनके नियमोंको तुम जानो और उस रीतिसे स्वयं योग्य कार्य करनेवाला बनो ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा– परमेश्वरका योग्य मित्र तू बन । तुम्हारे साथ परमेश्वर है, वह तुम्हारा परम मित्र है । अतः तू उसका योग्य मित्र बनकर, योग्य कार्य कर ॥ ४ ॥

सूरयः विष्णोः परमं पदं दिवि आततं पश्यन्ति– ज्ञानी लोक सर्वव्यापक परमेश्वरका परम उच्च पद द्युलोकमें फैला है ऐसा देखते हैं । ज्ञानी लोक परमेश्वरको सर्वत्र देखते हैं तथा द्युलोकमें उसका प्रकाश फैला है ऐसा अनुभव करते हैं ।

इसी तरह सबको व्यापक परमेश्वर सर्वत्र है ऐसा अनुभव करना चाहिये ॥ ५ ॥

त्वं परिवीः असि– तू सर्व व्यापक हो । ईश्वर सर्वत्र है यह समझकर उसको सर्वत्र देखना और अपना कार्य योग्य रीतिसे करना चाहिये ।

दैवीः विशः त्वा परिव्ययन्ताम्– दिव्य लोक–ज्ञानी जन परमेश्वरको सर्वत्र देखते हैं और उसको सर्वत्र देखते हुए अपने कर्तव्य निर्दोष रीतिसे करते हैं ।

इमं यजमानं मनुष्याणां रायः परिव्ययन्ताम्– इस यज्ञ कर्ताको मनुष्योंके उपयोगमें आनेवाले सब धन प्राप्त हों ।

दिवः सूनुः असि– तू द्युलोकके प्रकाशका पुत्र हो । विश्वमें प्रकाश फैले और अंधकार दूर हो ऐसा करना चाहिये ।

एष पृथिव्यां ते लोकः– इस पृथिवीपर तेरा कार्यक्षेत्र है ॥ ६ ॥

उपावीः असि– तूं पास रहकर सुरक्षा करनेवाला हो । (उप+आवीः) पास रहकर संरक्षण करनेवाला ।

दैवीः विशः उशिजः वह्नितमान् देवान् उप प्र अगुः– दिव्य प्रजाजन सदिच्छावाले तेजस्वी ज्ञानियोंके पास जाते हैं । श्रेष्ठ लोक तेजस्वी ज्ञानियोंको प्राप्त करते हैं ।

त्वष्टः ! वसु रम– हे निर्माण करनेवाले कारीगर ! प्राप्त धनमें रममाण रह ।

हव्या ते स्वदन्ताम्– योग्य पदार्थ तुझे प्राप्त हों और तू उनका भोग ले ॥ ७ ॥

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि ।
ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि धर्षा मानुषः ॥८॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नि युनज्मि । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः । अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥९॥

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः ।
सं ते प्राणो वातेन गच्छतां समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा ॥१०॥

[२१५] हे (रेवतीः) ऐश्वर्यसे सम्पन्न प्रजाओ ! (रमध्वम्) आनन्दमें रहो । हे (बृहस्पते) विद्वान् पुरुष ! तू (ऋतस्य देवहविः वसूनि धारय) सत्य व्यवहारके द्वारा प्राप्त दिव्यहवि और श्रेष्ठ धनोंको धारण कर । हे राजन् ! (मानुषः पाशेन त्वा प्रति मुञ्चामि) मैं मानवोंके द्वारा निर्मित बन्धनसे तुझे छुडाता हूं । तू धर्ष) सब अज्ञानोंको घर्षण कर बलपूर्वक वश कर ॥ ८ ॥

[२१६] मैं (त्वा देवस्य सवितुः प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम्) तुमको, सर्वोत्पादक परमेश्वरके प्रशासनमें अश्विदेवोंके तेजस्वी बाहुओंसे और पोषक देवके हाथोंसे मैं स्वीकार करता हूं । और (त्वा अग्नीषोमाभ्याम् जुष्टं नि युनज्मि) तुमको अग्नि-सोमके तेजसे युक्त कार्यमें लगाता हूं । (त्वा अद्भ्यः औषधीभ्यः प्रोक्षामि) तुमको जलों और औषधियों द्वारा शुद्ध करता हूं । (त्वा माता अनुमन्यताम्) तुमको तुम्हारी माता अनुमति दे, (पिता अनुमन्यताम्) पिता तुझे अनुमति दे, (भ्राता अनु) भाई अनुमति दे, (सयूथ्यः सखा अनु) तेरा सहवासी मित्र भी अनुमति दे ॥ ९ ॥

[२१७] तू (अपां पेरुः असि) जलका रक्षक है । (देवीः आपः चित् स्वात्तम्) दिव्य जलोंको अपने पास रखो । (देव हविः सं स्वदतु) दिव्य हवन सामग्री अपने पास रखो । मेरे (आशिषाते अङ्गानि यजत्रैः सम्) आशीर्वादसे तेरे अवयव यज्ञ करानेवालोंके अच्छी प्रकारसे सहायक हों । और (प्राणः वातेन सं गच्छताम्) प्राणवायुके साथ उत्तमतासे मिलकर रहे । तू (यज्ञपतिः) यज्ञका पालन करनेवाला हो ॥ १० ॥

रेवतीः रमध्वम्– धन प्राप्त करके आनन्दसे रहो ।

ऋतस्य देवहविः वसूनि धारय– सत्यमार्गसे प्राप्त दिव्य धनोंको धारण कर ।

मानुषः पाशेन त्वा प्रतिमुंचामि– मानव द्वारा उत्पन्न किये बंधनसे तुझे छुडाता हूं ।

धर्ष– तू स्वयं प्रयत्न करता रह । दुष्टतासे संघर्ष करता रहो ॥ ८ ॥

सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णोः हस्ताभ्यां गृह्णामि– संपूर्ण जगत्के उत्पादकके लिये किये जानेवाले इस यज्ञकार्यमें वैद्योंके बाहुओंसे और बलवानके हाथोंसे तुम्हारा स्वीकार करता हूं । पदार्थके स्वीकार करनेके समय ऐसी भावना मनमें हो ।

अग्नि-सोमाभ्यां जुष्टं नि युनज्मि– अग्नि और सोमके इस यज्ञ कार्यमें तुम्हारा मैं नियोजन करता हूं । अच्छे यज्ञीय पदार्थोंको यज्ञके कार्यमें उपयुक्त करना योग्य है ।

अद्भ्यः ओषधीभ्यः प्रोक्षामि– जल और औषधियोंके रससे शुद्ध करता हूं ।

माता पिता भ्राता सयूथ्यः अनुमन्यताम्– माता पिता भाई और मित्र तेरा अनुमोदन करे । तुम जो कार्य कर रहे हो उसका अनुमोदन तेरे संबंधी करें । तेरे संबंधी जन तेरा विरोध न करें । तेरे संबंधी तेरे अनुकूल रहें, विरोध न करें ॥ ९ ॥

अपां पेरुः असि– जलोंका सागर तू है ।

देवीः आपः चित् स्वात्तम्– दिव्य जलको भी उत्तम रीतिसे अपने पास रखो । उत्तम जल अपने पास रखना योग्य है ।

देवहविः सं स्वदतु– देवोंको देनेका हव्य योग्य रीतिसे रखा जाय ।

ते अंगानि आशिषा यजत्रैः समं– तेरे अवयव वैदिक आशीर्वादके साथ यज्ञ करनेवालोंके साथ रहें । तेरा जीवन पूर्णतया यज्ञके कार्यमें समर्पित हो ।

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथांᳬ रेवति यजमाने प्रियं धा आ विश ।
उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव ।
वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥११॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि । घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु ॥१२॥
देवीरापः शुद्धा वोढ्वᳬ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म ॥१३॥

---

[२१८] तुम दोनों (घृतेन अक्तौ पशून् त्रायेथाम्) घृतसे युक्त होकर पशुओंका पालन करो। हे (रेवति) भाग्यवती स्त्री ! तू (यजमाने प्रियं धाः) यजमानके साथ प्रिय आचरण कर और (आविश) उसके साथ एक चित्त होकर रह । (देवेन वातेन सजूः उरोः अन्तरिक्षात्, अस्य हविषः त्मना यज) दिव्य प्राणके साथ इसकी सह धर्मचारणी होकर, विशाल अन्तरिक्षसे जिस प्रकार वायु सबकी रक्षा करता है, उसी प्रकार उसकी रक्षा कर और यज्ञके योग्य पदार्थोंसे स्वयं भी यज्ञ कर । तथा (अस्य तन्वा सम् भव) इसके शरीरसे ही तू प्रेमसे पुत्र लाभकर । हे (वर्षो) सब सुखोंकी दात्री ! (वर्षीयसि यज्ञे यज्ञ पतिं धाः) अति विस्तीर्ण, महान यज्ञमें यज्ञको पालन करनेमें समर्थ गृहपतिको स्थापित कर । (देवेभ्यः स्वाहा, देवेभ्यः स्वाहा) यज्ञके लिये पहिले आये देवोंका सत्कार करो और पश्चात् आनेवाले देवोंका भी आदर सत्कार करो ॥ ११ ॥

[२१९] तू (आहिः माभूः) सर्पके समान क्रोधी मत हो, अथवा विषैले-हिंसक प्राणियोंके समान प्राणोंका नाश कभी न हो । हे (आतान) यज्ञ सम्पादक पुरुष ! (ते नमः) तुम्हारे लिये नमस्कार है, (अनर्वा प्रेहि, घृतस्य कुल्या उप) निर्विघ्न रूपसे तू आ और जलकी धाराको शुद्ध होनेके लिये स्वीकार कर तथा (ऋतस्य पथ्या अनु) सत्य ज्ञानके मार्गका अनुसरण कर ॥ १२ ॥

[२२०] हे (आपः देवीः) जलरूप देवताओ ! हे शान्त स्त्रियो ! तुम सब (शुद्धाः वोढ्वम्) शुद्ध आचरण वाली होकर विवाह करो, (देवेषु सुपरिविष्टाः) दिव्य जनोंके साथ उत्तम रीतिसे रहो । (वयं सुपरिविष्टाः) हम विद्वानोंके हाथों दी जावें । (वयं परिवेष्टारः) हम विवाह करनेके समय उन स्त्रियोंका पाणि ग्रहण करें ॥ १३ ॥

प्राणः वातेन संगच्छताम्- तेरा प्राण बाह्य शुद्ध वायुके साथ सुसंबद्ध होकर रहे ।

यज्ञपतिः- तू यज्ञका पालक होकर रहो ॥ १० ॥

घृतेन अक्तौ पशून त्रायेथाम्- घीसे युक्त होकर पशुओंका रक्षण करो । घी पीकर पुष्ट होओ और अपने घरमें गौ आदि पशुओंका पालन करो ।

रेवति- धनवाली स्त्री, गौ, साममंत्र ।

यजमाने प्रियं धाः- यजमानका हित कर ।

आविश- पास रह, साथ रह ।

देवेन वातेन सजूः- दिव्य प्राण जबतक रहेगा, तबतक इस पतिके साथ रहो ।

अस्य तन्वा संभव- इस पतिके शरीरसे पुत्र उत्पन्न कर ।

यज्ञे यज्ञपति धाः- यज्ञमें यजमानका धारण कर ।

देवेभ्यः स्वाहा- देवताओंके लिये यह समर्पण है ॥ ११ ॥

अहिः मा भूः- तू सर्पके समान विषयुक्त न बन । सर्पके समान विनाशकर्ता न बन ।

अनर्वा प्रेहि- निर्विघ्नताके साथ तूं यहां आ ।

ऋतस्य कुल्या उप- सत्य मार्गसे जीवन चलाओ ।

ऋतस्य पथ्या अनु- सत्य मार्गसे चलो ॥ १२ ॥

शुद्धा वोढ्वं- शुद्ध रहकर विवाह कर । शुद्धाचार युक्त विवाह करें । अशुद्ध मनुष्य विवाहके अयोग्य हैं ।

देवेषु सुपरिविष्ठाः- दिव्य जनोंके साथ रहो ।

वयं सुपरिविष्टाः- हम स्त्रियां उत्तम पुरुषोंके साथ विवाहित होकर रहें ।

वयं परिवेष्टारः- हम पुरुष स्त्रियोंके साथ विवाहित होकर रहें ॥ १३ ॥

४

वाचं ते शुन्धामि[1] प्राणं ते शुन्धामि[2] चक्षुस्ते शुन्धामि[3] श्रोत्रं ते शुन्धामि[4]
नाभिं ते शुन्धामि[5] मेढ्रं ते शुन्धामि[6] पायुं ते शुन्धामि[7] चरित्राँस्ते शुन्धामि[8] ॥१४॥

मनस्त आ प्यायतां[1] वाक्त आ प्यायतां[2] प्राणस्त आ प्यायतां[3] चक्षुस्त आ प्यायतां[4]
श्रोत्रं त आ प्यायताम्[5]। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु[6]
शमहोभ्यः[7]। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः[8] ॥१५॥

रक्षसां भागोऽसि[1] निरस्तं रक्षः[2] इदमहं रक्षोऽभि तिष्ठामीदमहं रक्षोऽव बाध इदमहं
रक्षोऽधमं तमो नयामि[3]। घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां[4] वायो वे स्तोकानाम्[5] अग्निराज्यस्य
वेतु स्वाहा[6] स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्[7] ॥१६॥

---

[२२१] मैं विविध शिक्षाओंसे (ते वाचं शुन्धामि) तेरी वाणीको शुद्ध करता हूं, (ते प्राणं शुन्धामि) तेरे प्राणको शुद्ध करता हूं, (ते चक्षुः शुन्धामि) तेरे नेत्रको शुद्ध करता हूं, (ते नाभिम् शुन्धामि) तेरे नाभिको पवित्र करता हूं, (ते मेढ्रं शुन्धामि) तेरे प्रजननाङ्गको शुद्ध करता हूं, (ते पायुम् शुन्धामि) तेरे गुदेन्द्रियको पवित्र करता हूं और (ते चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरित्र अर्थात् समस्त व्यवहारोंको पवित्र शुद्ध धर्मानुकूल करता हूं ॥ १४ ॥

[२२२] (ते मनः आप्यायताम्) तेरा मन सत्कर्मके अनुष्ठानसे वृद्धिको प्राप्त हो, (ते प्राणः आप्यायताम्) तेरा प्राण बलादियुक्त हो, (ते चक्षुः आप्यायताम्) तेरी दृष्टि निर्मल हो, (ते श्रोत्रं आप्यायताम्) तेरा कर्ण सद्गुणोंसे युक्त हो, (ते यत् क्रूरं निःस्त्यायताम्) तेरा जो क्रूर स्वभाव है वह दूर हो, (यत् ते आस्थितम् आप्यायताम्) जो तेरा निश्चय है वह पूरा हो। (ते तत् शुध्यतु) तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो, (अहोभ्यः शम्) सब दिनोंके लिये तुझे सुख प्राप्त हो। हे (ओषधे) औषधे ! (एनम् त्रायस्व) इसकी रक्षा करो और (मा हिंसीः) व्यर्थ इसका नाश न कर। हे (स्वधिते) शस्त्र ! तुम भी इसकी (त्रायस्व) रक्षा करो ॥ १५ ॥

[२२३] हे दुष्ट कर्म करनेवाले ! तू (रक्षसां भागः असि) दूसरोंका नाश करनेवाले नीच पुरुषोंका ही भाग है, इस कारण (रक्षः निरस्तम्) राक्षस स्वभाववाला तू यहांसे दूर हो। (अहं इदं रक्षः अभितिष्ठामि) मैं इस राक्षसको दूर करता हूं तथा (अहं इदं रक्षः अवबाधे) मैं इस दुष्ट जनको प्रतिबंध करता हूं। और (अहं इदं रक्षः अधमं तमं नयामि) मैं ऐसे दुष्ट राक्षसको नीच स्थानमें पहुंचाता हूं। और हे श्रेष्ठ गुणी मनुष्य ! तू (स्तोकानां वेः द्यावा पृथिवी प्रोर्णुवाथाम्) सूक्ष्मसे सूक्ष्म व्यवहारोको जाननेवाले हो तेरे यज्ञशोधित जलसे सूर्य और भूमि अच्छे प्रकार भर जाय। (अग्निः स्वाहा वेतु) अग्नि तेरे घृतादि पदार्थके अच्छे होम किये हुयेको जाने तथा (स्वाहा कृते ऊर्ध्व नभसं मारुतं गच्छतम्) हवन किये हुये स्नेह द्रव्यको प्राप्त पूर्वोत जो सूर्य और भूमि हैं वे तेरे यज्ञसे शुद्ध हुये जलको ऊपर पहुंचानेवाले पवनको प्राप्त हों ॥ १६ ॥

मनुष्य अपने शरीरके सब अवयवोंको शुद्ध रखे। दुराचारसे वे अवयव अशुद्ध न हों ॥ १४ ॥

ते मनः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं आप्यायताम्– तेरा मन प्राण, नेत्र और कान आदि उन्नतिको प्राप्त हों। वे निर्बल न रहें। अपने अपने कार्य करनेमें पूर्ण शक्तिमान हों।

यत् ते क्रूरं, निस्त्यायताम्– जो क्रूरता तुम्हारे अन्दर हो, वह दूर हो।

यत् ते आस्थित, आप्यायताम्– जो शुभ गुण तुम्हारे अंदर हो वह बढ जाय।

ते तत् शुध्यतु– जो तुम्हारे अंदर गुण हो वह शुद्ध होकर विराजता रहे।

अहोभ्यः शम्– सब दिनोंमें तुम्हें सुख प्राप्त हो।

ओषधे ! एनं त्रायस्व– हे औषधे ! इसकी सुरक्षा कर।

मा हिंसी– इसका नाश न कर।

८ स्वधिते ! त्रायस्व– हे शस्त्र ! इसकी सुरक्षा कर ॥१५॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥१७॥

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा
समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत् प्रयुतं द्वेषः ॥१८॥

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा।
दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥१९॥

[२२४] हे (आपः) जले ! (अवद्यं च यत् मलं, यत् च अभिदुद्रोह) जो निन्दनीय और मिलन कार्य है तथा जो कुछ मैं दूसरे प्रति द्वेष, घात, वैर आदि करूं, (यत् अनृतम् च अभिरुणम् शेपे इदम् प्रवहत) जो असत्य भाषण करूं और जो निर्भय होकर दूसरेको कोसूं निन्दाजनक अपशब्द कहूं उन सब मलोंको बहुत शीघ्र जलोंके समान बहाकर दूर करो। (आपः च पवमानः मा तस्मात् मुञ्चतु) वे जलप्रवाह और ये पवित्र करनेवाला वायु मझको उस पापसे मुक्त करे ॥ १७ ॥

[२२५] (ते मनः मनसा प्राणः प्राणेन सं गच्छताम्) तेरा मन मनन सामर्थ्यसे युक्त हो और प्राण प्राणबलसे युक्त हो। तू (रेट् असि) शत्रुओंको मारनेवाला है, (त्वा अग्निः श्रीणातु) तुझे अग्नि परिपक्व करे, (आपः त्वा सम् अरिणन्) जल तुझे अच्छे प्रकार प्रेरित करें। (त्वा वातस्य ध्राज्यै पूष्णः रह्यै उष्मणः व्यथिषत्) तुझको वायुकी तीव्र गति और पोषक सूर्यकी प्रचण्ड गर्मीसे तपाया जाता है इस कारण तुम्हारी प्रचण्डतासे (द्वेषः प्रयुतं) द्वेषकारी शत्रु तुमसे पीडित हों ॥ १८ ॥

[२२६] हे (घृतवानः घृतं पिबत) घृतको पास रखनेवाले पुरुषो ! तुम घृतका पान करो। (वसापावानः वसां पिबत) वसाको पास रखनेवालो ! तुम वीररसकी वाणीका स्वीकार करो। तू (अन्तरिक्षस्य हविः असि स्वाहा) अन्तरिक्षकी हवि है, इस समय हम हवन करते हैं (दिशः प्रदिशः आदिशः विदिशः उद्दिशः दिग्भ्यः स्वाहा) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशायें, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान उपदिशायें सामने मुंहकी दिशा, पीछेकी दिशा और जिस ओर शत्रुके आनेकी दिशा उन सब दिशाओंसे योग्य हविके द्वारा हम हवन करते हैं ॥ १९ ॥

रक्षः निरस्तम्- राक्षसोंको दूर करो। दुष्टोंको पास आने न दो।

अहं इदं रक्षः अभितिष्ठामि- मैं इन दुष्टोंको दूर करता हूं। दुष्टोंका सामना करके उनको दूर करना चाहिये।

अहं इदं रक्षः अवबाधे- मैं इन दुष्टोंको दूर करता हूं। मैं दुष्टोंको कष्ट पहुंचाकर दूर करता हूं।

अहं इदं रक्षः अधमं तमः नयामि- मैं इन दुष्टोंको नीच अवस्थाको पहुंचाता हूं।

स्तोकानां वेः द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाताम्- हे कार्यको जानने-वालो ! तुम द्यु और पृथिवीको भर दो ! सब लोक सत्कर्मको जाननेवाले हों।

स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्- यज्ञमें स्वाहाकार करनेपर यह आकाशकी हवामें हवन किये पदार्थ जांय और वहां शुद्धता करें ॥ १६ ॥

जल प्रवाह और वायु इस जगतमें शुद्धता करते है और गंधगी दूर करते हैं।

अवद्यं मलं अभिदुद्रोह- निंदनीय मलको दूर कर।

अनृतं अभिरुणं शेपे इदं प्रवहत- असत्य, दुःखदायी शापके समान भाषण यह सब दूर कर दो। कोई ऐसा अयोग्य भाषण न करे।

आपः पवमानः मा तस्मात् मुंचतु- जलप्रवाह तथा वायु मुझे उस पापसे दूर करे। इनकी सहायतासे मैं शुद्ध होऊं ॥ १७ ॥

ते मनः मनसा, प्राणः प्राणेन संगच्छताम्- तेरा मन मननशक्तिके साथ और प्राण प्राणशक्तिके साथ मिलकर रहे। ये सहायक होकर रहें।

रेट् असि- तू दुष्टोंको दूर करनेवाला है। अतः सब दुष्ट भावोंको दूर कर।

द्वेषः प्रयुतं- द्वेष करनेवाले शत्रुको दूर करो ॥ १८ ॥

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे॑ अङ्गे नि दी॑ध्यदैन्द्र उ॑दानो अङ्गे॑ अङ्गे निधी॑तः ।
देव॑ त्वष्ट॒र्भूरि॑ ते॒ सꣳ समे॑तु सल॑क्ष्मा॒ यद्विषु॑रूपं॒ भवा॑ति ।
दे॒व॒त्रा यन्त॒मव॑से॒ सखा॒योऽनु॑ त्वा॒ माता॑ पि॒तरो॑ मदन्तु ॥२०॥

समु॒द्रं ग॑च्छ स्वाहा॑[1] ऽन्तरि॑क्षं ग॑च्छ स्वाहा॑[2] दे॒वꣳ स॑वि॒तारं॑ ग॑च्छ स्वाहा॑[3] मि॒त्रावरु॑णौ ग॑च्छ स्वाहा॑[4] ऽहोरा॒त्रे ग॑च्छ स्वाहा॑[5] छन्दा॑ꣳसि ग॑च्छ स्वाहा॑[6] द्यावा॑पृ॒थि॒वी ग॑च्छ स्वाहा॑[7] य॒ज्ञं ग॑च्छ स्वाहा॑[8] सोमं॑ ग॑च्छ स्वाहा॑[9] दि॒व्यं नभो॑ ग॑च्छ स्वाहा॑[10] ऽग्निं वै॑श्वान॒रं ग॑च्छ स्वाहा॑[11] मनो॑ मे॒ हार्दि॑ यच्छ॒[12] दिवं॑ ते धू॒मो ग॑च्छतु॒ स्व॒र्ज्योति॑: पृ॒थि॒वीं भस्म॒नाऽऽपृ॑ण॒ स्वाहा॑[13] ॥२१

[२२७] हे (त्वष्टः देव) शत्रुबल विदारक दिव्यगुण युक्त देव ! (अवसे अङ्गे अङ्गे ऐन्द्रः निदीध्यत्) अपनी सुरक्षाके लिये तुम्हारे प्रत्येक अङ्गमें इन्द्र शक्ति रहती है (अङ्गे अङ्गे उदानः निधीतः) और प्रत्येक अङ्गमें उदानवायु कार्य करता है । (ते यत् सलक्ष्म विषुरूपम् भूरि सम् एतु) तेरा जो एक ही चिन्हसे युक्त एक ही प्रकारका सुंदर पोशाक पहननेवाला सेना बल है वह बहुत अधिक प्रमाणमें एकत्रित हो । (देवत्रा यन्तम् त्वा अनु सखायः अवसे) दिव्य पुरुषोंके बीच गमन करते हुये तेरे पीछे पीछे चलनेवाले तेरे सुहृद वीर लोग तेरी रक्षाके लिये चलें और (माता पितरौ त्वा अनु मदन्तु) तुम्हारे माता पिता भी तुम्हारे कार्यका अनुमोदन करें ॥ २० ॥

[२२८] तू (स्वाह समुद्रं गच्छ) उत्तम साधनेसे समुद्रकी यात्रा कर । विमानसे (अन्तारिक्षं गच्छ) अन्तरिक्षमें गमन कर । (सवितारम् देवम् गच्छ स्वाहा) सबके उत्पादक परमेश्वरको प्राप्त कर । (स्वाहा मित्रा वरुणौ गच्छ) उत्तम साधन से मित्र और वरुणके समीप पहुंच । (स्वाहा अहो रात्रे गच्छ) उत्तम साधनसे दिन और रात्रीका ज्ञान प्राप्त कर । (स्वाहा छन्दांसि गच्छ) उत्तम वेदकी विद्यासे समस्त छंदोंका अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चारों वेदोंका ज्ञान कर । (स्वाहा द्यावा पृथिवी गच्छ) उत्तम विद्यासे द्यावाभूमिका ज्ञान प्राप्त कर । (स्वाहा यज्ञं गच्छ) उत्तम उपदेशसे यज्ञकी विधिका ज्ञान प्राप्त कर । (स्वाहा सोमम् गच्छ) उत्तम उपदेश द्वारा समस्त औषधियोंके रसको प्राप्त कर । (स्वाहा दिव्यं नभं गच्छ) उत्तम विद्या द्वारा दिव्य गुण युक्त आकाशके भागोंको जान । (स्वाहा अग्निं वैश्वानरं गच्छ) अच्छे विद्योपदेश द्वारा वैश्वानर अग्निका ज्ञान प्राप्त कर । हे परमात्मन् ! (मे हार्दि मनः यच्छ) मेरे हृदयमें प्राप्त होने योग्य उत्तम ज्ञान प्रदान कर । (ते धूमः दिवं गच्छ) तेरे अपने सामर्थ्यसे तू द्युलोकमें जा और तेरी (ज्योतिः स्वः) ज्योति अन्तरिक्षको प्राप्त हो तथा तू (पृथिवीम् भस्मना स्वाहा आपृण) पृथ्वीको अपने तेज और शत्रुको दबानेवाले सामर्थ्यसे उत्तम रीतिसे पूर्ण कर ॥२१॥

घीको अपने पास रखनेवाले घीसे हवन करें और त्रैलोक्यको शुद्ध करें ॥ १९ ॥

त्वष्टा देवः– कर्ममें अत्यंत कुशल देव है । त्वष्टा कुशल कारीगरको कहते हैं ।

अवसे अंगे अंगे ऐन्द्रः निदिध्यात्– संरक्षणके लिये प्रत्येक अंगमें इन्द्रशक्ति रही है । शरीरके अंगोंमें यह संरक्षक शक्ति है । मनुष्य इस शक्तिको विकसित करके अपनी तथा राष्ट्रकी सुरक्षा करनेमें सामर्थ्यवान् बने ।

अंगे अंगे उदानः निधीतः– प्रत्येक अवयवमें उदानवायु रखा है । इससे शरीरकी सुरक्षा होती है । मनुष्य इसको जाने और इसके द्वारा अपनी सुरक्षा करे ।

ते सलक्ष्म विषुरूपं भूरि सं एतु– तेरे अन्दर जो समान अथवा विषम सामर्थ्य हैं वे एकत्रित हों और वह तेरे हितके लिये उपयोगी होवें । मनुष्यमें सम या विषम अनेक प्रकारकी शक्तियां हैं । वे सब एकत्रित होकर इसकी उन्नति करनेके कार्यमें लगें । इससे मानवकी योग्य रीतिसे उन्नति हो सकती है ।

देवत्रा यन्तं त्वा सखायः अवसे अनु– दिव्य पुरुषोंके साथ चलनेवाले तेरे साथ तेरे मित्र तेरी सुरक्षाके लिये रहें । दिव्य पुरुषोंके साथ रहनेसे अपनी शक्ति बढती है । तथा मित्रोंकी संघटनासे भी शक्ति विकसित होती है ।

मातापितरौ त्वा अनुमदन्तु– तेरे माता पिता तेरे द्वारा किये जानेवाले अच्छे कार्योंका अनुमोदन करें । वे प्रतिकूल न हों ॥ २० ॥

माऽपो मौषधीर्हिंसीर्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च ।
यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥२२

हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ२ आ विवासति ।
हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्माँ२ अस्तु सूर्यः ॥२३॥

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ
विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ । अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥२४॥

---

[२२९] तुम अपने स्थानमें (आपः ओषधीः मा हिंसीः) जल और औषधियोंको मत नष्ट करो । (ततः धाम्नः धाम्नः नः मा मुञ्च) उस प्रत्येक स्थानसे हम लोगोंको मत त्यागो । हे (वरुण) वरुण ! (अघ्न्यः इति शपामहे) न मारने योग्य गौ आदि पशुओंको न मारनेकी हम लोग शपथ धारण करते हैं । (नः आपः सुमित्रियाः सन्तु) हम लोगोंके लिये जल प्रवाह श्रेष्ठ मित्रके समान हों । तथा (यः अस्मान् द्वेष्टि च वयम् यम् द्विषः तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु) जो हम लोगोंसे वैर रखता है और हम लोग जिससे वैर करते हैं उसके लिये वे औषधियां दुःख देनेवाले शत्रुके तुल्य हों ॥ २२ ॥

[२३०] (इमाः आपः हविष्मतीः हविष्मान् आविवासति) ये जलप्रवाह सदा उत्तम हवनके योग्य रस और अन्नसे युक्त हों, उनको हविःके रूपमे ज्ञानी पुरुष प्रयोगमें लावे । (देवः अध्वरः हविष्मान्) दिव्य गुणयुक्त अहिंसामय यज्ञ हविसे संयुक्त हो और (सूर्यः हविष्मान् अस्तु) सूर्य भी यजमानको फल देनेके लिये योग्य हो ॥ २३ ॥

[२३१] (अमूः याः इन्द्राग्नयोः भागधेयीः स्थः) वे जो इन्द्र और अग्निका भाग उनको देनेवाली है । (मित्रावरुणयोः भागधेयीः स्थ) मित्र और वरुणको उनका हवनीय भाग देनेवाली हैं । (विश्वेषाम् देवानाम् भागधेयीः स्थ) सब देवोंका भाग सब देवोंको देनेवाली हैं । उन (वः अपन्न गृहस्थ अग्नेः सदसि सादयामि) तुम सबोंको जिनको गृहस्थाश्रम नहीं प्राप्त हुआ है, उस ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले उत्तम ब्रह्मचारीकी सभामें मैं स्थापित करती हूँ और जो (सूर्ये उप वा याभिः सह सूर्यः) सूर्यके उदय होनेपर उपस्थित होती हैं अथवा जिनके साथ सूर्य रहता है (ताः नः अध्वरम् हिन्वन्तु) वे सब हमारे यज्ञको बढावें ॥ २४ ॥

आपः औषधीः मा हिंसी– जल औषधियोंका नाश न कर ।

धाम्नः धाम्नः नः मा मुञ्च– प्रत्येक स्थानसे हमको मत त्यागो । हमें अपने अपने स्थानमें सुखसे रहने दो ।

अघ्न्या इति शपामहे– गौ मारने योग्य नही है ऐसी प्रतिज्ञा हम करते हैं ।

आपः न सुमित्रियाः सन्तु– जलप्रवाह हमारे लिये उत्तम मित्रके समान सुखदायक हों ।

यः अस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः, तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु– जो अकेला हम सबका द्वेष करता है, और जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं, उसके लिये ये जलप्रवाह शत्रुके समान हानिकारक हों ॥ २२ ॥

इमा आपः हविष्मतीः– ये जल उत्तम हविके समान उत्तम हैं ।

देवः अध्वरः हविष्मान्– दिव्य यज्ञ उत्तम हवनसामाग्रीसे युक्त हो ।

सूर्यः हविष्मान् अस्तु– सूर्योदय होनेसे उत्तम यज्ञमें हविका समर्पण होता रहे ॥ २३ ॥

अमूः याः इन्द्राग्न्योः मित्रावरुणयोः विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ, वः अपन्नगृहस्य अग्नेः सदसि सादयामि– जो ये इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, विश्वेदेव इनका भाग इन देवोंको अर्पण करनेके लिये यज्ञ करनेवालीं हैं उनको मैं यज्ञगृहमें पहुंचाता हूं । स्त्री पुरुष यज्ञके स्थानपर जांय और यज्ञमें अपना भाग उचित रीतिसे करें ।

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा । ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥२५॥
सोम राजन् विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु ।
शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः ।
श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञꣳ शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा[3] ॥२६॥
देवीरापो अपां नपाद्यो व ऊर्मिर्हविष्य इन्द्रियावान् मदिन्तमः ।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा[2] ॥२७॥
कार्षिरसि[1] समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि[2] । समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः[3] ॥२८॥

[२३२] (देवेषुः होत्राः) देवोंकी प्रीतिके लिये यज्ञ कर्मका अनुष्ठान करनेवाली हैं, और जैसे हम भी (हृदे त्वा) अन्तःकरणसे तुझे (मनसे त्वा) मनसे तुझे वा (दिवे त्वा) द्युलोककी प्रीतिके लिये तुझे, वा (सूर्याय त्वा) सूर्यके प्रीतिके लिये तेरे लिये यज्ञ किया जाता है, वैसे तू भी (दिवि इमम् अध्वरम् यच्छ) द्युलोकके देवताओंके लिये इस यज्ञको कर ॥ २५ ॥

[२३३] हे (सोम राजन्) सोम राजन् ! (त्वम् विश्वाः प्रजाः उप अवरोह) तू समस्त प्रजाओंके अनुकूल होकर रह । और (विश्वाः प्रजाः त्वा उप अवरोहन्तु) समस्त प्रजायें तेरे अनुकूल होकर रहें । (समिधा अग्निः मे हवम् शृणोतु) उत्तम समिधाओंसे प्रदीप्त अग्नि मेरी प्रार्थनाको सुनें । और (आपः देवीः धिषणाः मे हवम् शृण्वन्तु) दिव्य जल मेरी बुद्धिसे की गई प्रार्थना सुने । हे (ग्रावाणः) तुम सुदृढ लोग भी (विदुषः ' विद्वांसः ' यज्ञं न श्रोत) हे विद्वानों बुद्धिमानो ! यज्ञमें किये मेरे निवेदनको सुनो और (सविता देवः मे हवम् शृणोतु स्वाहा) सर्व विश्वका उत्पादक दिव्य गुणोंवाला देव भी मेरी प्रार्थना सुने ॥ २६ ॥

[२३४] हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (यः वः अपां नपात्) जो तुममेंसे जलोंको न गिरानेवाला है, ऐसा (ऊर्म्मिः हविष्यः इन्द्रियावान् मदिन्तमः) जलोंके बीच तरङ्गके समान उन्नत, हवनसे सत्कार करने योग्य, समस्त इन्द्रियोंको बलसे सम्पन्न करनेवाला और सबको हर्षित करनेमें अधिक समर्थ है उसको (देवेभ्यः शुक्रपेभ्यः देवत्रा दत्त) समस्त विद्वानोंके हितार्थ वीर्यरक्षा करनेवालोंके देवत्वके रक्षकोंके हितार्थ सम्पूर्ण अधिकार प्रदान करो । (येषाम् भागः स्थ, स्वाहा) जिनमेंसे तुम भी एक श्रेष्ठ भाग हो, यह मेरा उत्तम कथन है ॥ २७ ॥

[२३५] तू (कार्षिः असि) कृषिकर्म करनेवाला है, (त्वा समुद्रस्य अक्षित्यै उत् यामि) तुझे समुद्रतक जितनी भूमि है उस भूमिकी उन्नति करनेके लिये ऊपर उठाता हूं, तुम सब लोग (अभिः आपः औषधीभिः सम् अग्मत) जलोंसे और जलोंके साथ औषधियोंसे अच्छी प्रकार उन्नत होओ ॥ २८ ॥

सूर्ये उप– सूर्य उदय होनेपर यज्ञ करनेवाले एकत्र होकर यज्ञ करें ।

याभिः सह सूर्यः– जिनके साथ सूर्य है । अर्थात् सूर्य आकाशमें रहनेके समय ही यह यज्ञ होता रहे ।

ताः नः अध्वरं हिन्वन्तु– वे हमारे यज्ञको बढावें । यहां ' ताः ' पद स्त्रियोंका वाचक दीखता है । वे स्त्रियां यज्ञ करें ॥ २४ ॥

यज्ञसे देवतागण प्रसन्न होते हैं और वे अपना कार्य उत्तम रीतिसे करते हैं । इसलिये यज्ञ करना योग्य है । यज्ञसे अनेक लाभ होते हैं । यह जानकर यज्ञ मानवोंको करना योग्य है ॥ २५ ॥

दिव्य जल इन्द्रियोंके सहायक, आनंद बढानेवाले और वीर्यरक्षा करनेवाले हैं अतः उनको शुद्ध रखना चाहिये ॥ २७ ॥

समुद्रतक जितनी भूमि है, उस भूमिमें कृषिसे धान्य आदि अन्न उत्पन्न करना चाहिये । अनेक औषधियोंकी उत्पत्ति करनी चाहिये । इससे मानवोंका कल्याण हो सकता है ॥ २८ ॥

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥२९॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे रावाऽसि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् ।
उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा ॥३०॥

मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वि तृषन् ॥३१॥

---

[२३६] हे (अग्ने) अग्नि ! (यम् मर्त्यम् पृत्सु अव) जिस पुरुषको तू संग्राममें रक्षा करता है और (वाजेषु यम् जुनाः) संग्रामोंमें जिसको भेजता है (सः शश्वतीः इषः यन्ता स्वाहा) वह पुरुषही निरन्तर अन्नादि पदार्थोंको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

[२३७] मैं (सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम् त्वा आददे) सर्वोत्पादक इस परमेश्वरके यज्ञमें अश्विदेवोंके बाहुओंसे तथा पोषक देवके हाथोंसे तुझे ग्रहण करता हूं । तू (रावा असि) उत्तम दाता है । (इदम् अध्वरम् गभीरम् इन्द्राय सषूतमम् उत्तमेन पविना) इस यज्ञको गम्भीर और ऐश्वर्यवान् प्रभूके लिये बल बढानेवाले उत्कृष्ट पवित्र शस्त्रोंके बलसे इस यज्ञको (ऊर्जस्वन्तम् मधुमन्तम् पयस्वन्तम् कृधि) उत्तम बलयुक्त, मधुर अन्नादि पदार्थोंसे समृद्ध, दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थोंसे सम्पन्न बनाओ ॥ ३० ॥

[२३८] तुम अपने गुणोंसे (मे मनः तर्पयत) मेरे मनको तृप्त करो, (मे वाचं तर्पयत) मेरी वाणीको तृप्त करो, (मे प्राणं तर्पयत) मेरे प्राणको तृप्त करो, (मे चक्षुः तर्पयत) मेरे नेत्रोंको तृप्त करो, (मे श्रोत्रं तर्पयत) मेरे कानोंको तृप्त करो, (मे आत्मानं तर्पयत) मेरे आत्माको तृप्त करो, (मे प्रजां तर्पयत) मेरी सन्तानादि प्रजाको तृप्त करो, (मे पशून् तर्पयत) मेरे गौ, हाथी, घोडे आदि पशुओंको तृप्त करो, (मे गणान् तर्पयत) मेरे सेवक अनुयायी गणोको तृप्त करो (मे गणाः मा वितृषन्) मेरे अनुयायी वा सेवकजन मत उदास हों ॥ ३१ ॥

संग्रामों युद्ध करनेके लिये जो वीर पुरुष जाते हैं, और जिनका वहां विजय होता है, उनको ही सर्वदा अबाधि पदार्थ प्राप्त होते हैं । अतः संग्राम करनेका समय आनेपर वीर पुरुष वहां जांय, अपना वीरत्व वहां दिखावें, और विजय प्राप्त करें और विपुल अन्न आदि उपभोग्य पदार्थ प्राप्त करें ॥ २९ ॥

सवितुः प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा आददे– सर्व जगत् उत्पन्न करनेवाले ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले इस यज्ञमें अश्विदेवोंके बाहुओंसे और पूषाके हाथोंसे यज्ञीय पदार्थोंको लेता हूं । और उनका यज्ञमें समर्पण करता हूं ।

रावा असि– तूं उत्तम दान देनेवाला है ।

इदं गभीरं अध्वरं इन्द्राय सषूतमं, उत्तमेन पविना ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं कृधि– इस बडे यज्ञको इन्द्रकी प्राप्तिके लिये उत्तम साधनोंसे सामर्थ्यवान, मधुयुक्त, दुग्धयुक्त अर्थात् उत्तम हवनीय पदार्थोंसे युक्त कर । यज्ञमें उपयोग जिनका होता है वे सब पदार्थ उत्तमोत्तम होने चाहिये ॥ ३० ॥

मे मनः प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, आत्मानं, प्रजां, पशून्, गणान्, तर्पयत– मेरे मन, प्राण, नेत्र, कान, आत्मा, प्रजा, पशु और साथी इन सबको तृप्त करो । यज्ञसे सबको संतोष प्राप्त होता है ।

मे गणाः मा वितृषन्– मेरे साथी जन मेरे साथ विरोध न करें । मेरे साथी मुझसे दूर न हो जांय ॥ ३१ ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वा ऽऽदित्यवत इन्द्राय त्वा ऽभिमातिघ्ने ।
श्येनाय त्वा सोमभृते ऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥३२॥
यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे ।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः ॥३३॥
श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीः ।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥३४॥
मा भेर्मा सं विक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् ।
पाप्मा हतो न सोमः ॥३५॥

---

[२३९] (त्वा वसुमते रुद्रवते इन्द्राय) तुझको ऐश्वर्यवान् शत्रुओंको रुलानेवाले वीर पुरुषोंसे युक्त इन्द्रके लिये नियुक्त करता हूं, (आदित्यवते इन्द्राय त्वा) आदित्योंके सहित ऐश्वर्यवान् पुरुषके लिये तुझे नियुक्त करता हूं, (अभिमातिघ्ने इन्द्राय त्वा) शत्रुघाती इन्द्रके लिये तुझे नियुक्त करता हूं, (सोमभृते श्येनाय त्वा) सोमका भरणपोषण करनेके लिये बाजपक्षीके समान शत्रुपर आक्रमण करनेवालेके लिये तुझे नियुक्त करता हूं और (रायस्पोषदे अग्नये त्वा) ऐश्वर्यकी पुष्टि करनेवाले अग्रणीपदके लिये तुझको नियुक्त करता हूं ॥ ३२ ॥

[२४०] हे (सोम) सोम देव । (ते यत् दिवि, यत् पृथिव्याम् यत् उरौअन्तरिक्षे ज्योतिः) तेरा जो द्युलोकमें, जो पृथ्वीमें और जो विस्तृत अन्तरिक्षमें प्रकाश फैला है (तेन अस्मै दात्रे यजमानाय उरु कृधि) उससे तू इस परोपकारके लिये दान करनेवाले यजमानके लिये बडी सहायता कर, तथा इसके (राये अधिवोचः) ऐश्वर्य वृद्धिके निमित्त आज्ञा प्रदान कर ॥ ३३ ॥

[२४१] हे (देवीः) दिव्य गुणोंसे युक्त स्त्रियो ! तुम (वृत्रतुरः राधोगूर्त्ताः पत्नीः श्वात्राः स्थ) शत्रुका नाश करनेवाली धनकी वृद्धि करनेवाली, पतिकी सहायता करनेवाली और शत्रुपर आक्रमण करनेवाली तथा (ताः देवत्रा) वे तुम अच्छे अच्छे गुणोंसे युक्त देवताओंके साथ भक्तिसे रहती हो अतः (इमम् यज्ञं नयत) इस यज्ञको पूर्ण कराओ और यज्ञमें (उपहूताः अमृतस्य सोमस्य पिबत) बुलाई हुई अति स्वादयुक्त सोमके रसका पान करो ॥ ३४ ॥

[२४२] तू (वीड्वी सती मा भेः) बलयुक्त होती हुई शत्रुसे भयभीत न हो, (मा संविकथाः) न कम्पायमान हो, (ऊर्जं धत्स्व) बल और पराक्रमको धारण कर । तुम दोनों (धिषणे ऊर्जं दधाथाम्) बुद्धि और पराक्रमको धारण करो, जिससे (वीडयेथाम् पाप्मा हतः) सुदृढ बलवाले हों, और उत्तम बर्ताव वर्तते हुये तुम दोनोंका दोष दूर हो, और (सोमः न) चन्द्रमाके समान सब सहायकोंको आनन्दित करते रहो ॥ ३५ ॥

वसुमते रुद्रवते आदित्यवते अभिमातिघ्ने इन्द्राय, सोमभृते श्येनाय, रायस्पोषदे अग्नये त्वा– धनयुक्त, रुद्रों और आदित्योंसे युक्त, शत्रुनाशक इन्द्रके लिये, सोम लानेवाले श्येनके लिये, धनके साथ पोषण करनेवाले अग्निके लिये मैं तेरा स्वीकार करता हूं ।

यज्ञीय पदार्थ इनके उद्देश्यसे लिये जाते है ।

' रुद्र ' का अर्थ शरीरमें प्राण है । ये ११ हैं । शरीरमें आदित्य १२ हैं । दस प्राण हैं और ग्यारहवा आत्मा हैं । पांच प्राण और पांच उपप्राण और एक आत्मा मिलकर ग्यारह होते हैं ॥ ३२ ॥

स्त्रियां ' देवीः ' अर्थात दिव्य गुणोंसे युक्त हैं । उनके दिव्य गुणोंका विकास करना योग्य है ।

वृत्रतुराः राधोगूर्ता श्वात्राः पत्नी स्थ– पत्नियां शत्रुको दूर करनेवाली, धनकी वृद्धि करनेवाली, पतिकी सहायता करनेवाली हों ।

इमं यज्ञं नयत– यज्ञकी सहायता पत्नीयां करें ।

अमृतस्य सोमस्य पिबत– अमृत जैसे सोम रसका पान स्त्रियां करे ॥ ३४ ॥

स्त्री बलशालिनी हो, भयभीत न हो, पराक्रम करनेवाली हो बुद्धिमती हो, पाप भाव दूर करे और आनंद बढानेवाली हो । स्त्रीमें इन शुभगुणोंकी वृद्धि होनी चाहिये ॥ ३५ ॥

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिश आ धावन्तु । अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥३६॥
त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥३७॥

इति षष्ठोऽध्यायः। [अ० ६, कं० ३७, मं० सं० ११७]

---

[२४३] हे (अम्ब) माता ! जो तेरी (अरीः) प्रगति (प्राक्, अपाक्, उद्, अधारक् सर्वतः दिशः आ धावन्तु) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और सब दिशाओंसे होती रहें। तुम उनका (निः पर) पूर्ण रीतिसे पालन कर, और वे भी (त्वा सं विदाम्) तुझे अच्छे भावसे देखे ।। ३६ ।।

[२४४] हे (अङ्ग) हे (शविष्ठ) शक्तिमान् ! हे (मघवन्) धनवान् ! हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मन् ! (देवः त्वम्) दिव्य गुणयुक्त तू (मर्त्यम् प्रशंसिषः) इस मनुष्यको उत्तमशिक्षा प्रदान कर, (त्वत् अन्यः मर्डिता न अस्ति) तुम्हारे सिवाय और कोई सुख देनेवाला नहीं है। मैं (ते वचः ब्रवीमि) तेरे वचनोंकोही कहता हूं ॥ ३७ ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

सब कार्योंमें तथा सब दिशाओंमें अशुद्धी नहीं होनी चाहिये। सब दिशाओंसे उत्तम प्रगति होनी चाहिये। इस विषयमें सब दक्ष रहें ॥ ३६ ॥

हे देव ! त्वं मर्त्यं प्रशंसिषः– हे देव ! तू मनुष्यको उत्तम शिक्षण देनेवाला है।

त्वत् अन्यः मडिता नास्ति– तुझसे भिन्न सुख देनेवाला कोई नहीं है ॥ ३७ ॥

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः ।
देवो देवेभ्यः पवस्व, येषां भागोऽसि ॥१॥

मधुमतीर्न इषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा
स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥२॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा
त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता
भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥३॥

[२४५] हे मनुष्य ! तू (वाचः पतये पवस्व) वाणीके पतिके लिये पवित्र हो, (वृष्णः अंशुभ्यां गभस्तिपूतः देवः येषां भागः असि) समस्त सुखोंके देनेवाले सूर्यकी किरणोंसे पवित्र होकर दिव्यगुणवाला तू जिन देवोंका अंश है, उन (देवेभ्यः पवस्व) देवोंके लिये पवित्र हो ॥ १ ॥

[२४६] हे (सोम) सोम ! तू (नः इषः मधुमतीः कृधि) हमारे अन्न मधुर रसयुक्त कर, (ते यत् अदाभ्यम् जागृवि नाम तस्मै ते स्वाहा) तुम्हारा जो हिंसारहित सबको जाग्रत करनेवाला नाम है, उस तुम्हारे लिये यह हवि प्रदान करता हूं । हे (सोम) सोम ! (ते सोमाय स्वाहा) तेरे सोमके लिये यह आत्मसमर्पण है, अब मैं (उरु अन्तरिक्षम् अनु एमि) विशाल अन्तरिक्षमें व्याप्त ईश्वरको प्राप्त होता हूं ईश्वरका ध्यान करता हूं ॥ २ ॥

[२४७] (इन्द्रियेभ्यः दिवेभ्यः पार्थिवेभ्यः स्वाङ्कृतः असि) इन्द्रियोंके हितके लिये दिव्यजनोंके हितके लिये, तथा पृथिवीपर रहनेवाले प्राणियोंकी भलाईके लिये तू अपने सामर्थ्यसे स्वयं प्रकाशित हुआ है । (त्वा मनः अष्टु) तुझे शुद्ध मन प्राप्त हो । हे (सुभव) प्रशंसित जन्मवाले मानव ! (त्वा सूर्याय) तुझको सूर्य प्रकाशमें कार्य करनेके लिये नियुक्त करता हूं, और (मरीचिपेभ्यः देवेभ्यः त्वा) किरणोंके समान पवित्र करनेवालों दिव्यजनोंके लिये तुझे नियुक्त करता हूँ । हे (देव) दिव्य मानव ! हे (अंशो) प्रकाशमान् ! (यस्मै त्वा ईडे तत् सत्यम्) जिस कारणसे मैं तेरी स्तुति करता हूँ वह तेरा सत्याचरणही है । (उपरिप्रुता भङ्गेन हतः असौ फट्) सत्यकी मर्यादाका भंग करनेवाला अतः उस कारण निहतसा हुआ यह तुम्हारा शत्रु विनष्ट हो जाय । (त्वा प्राणाय, व्यानाय त्वा) तुझे प्राणके लिये और व्यान नामक प्राण विभागके लिये तुझको नियुक्त करता हूँ ॥ ३ ॥

वाचस्पतये पवस्व– वाणीका पालन होनेके लिये तू शुद्ध हो । वाणीका उत्तम रीतिसे उपयोग करना हो, तो प्रथम अपना आचरण शुद्ध करो । शुद्ध मनुष्यही अपनी वाणीका उत्तम उपयोग कर सकता है ।

देवेभ्यः पवस्व– देवताओंके समीप जाना हो, तो प्रथम शुद्ध बनो और पश्चात् देवोंके पास जाओ । दिव्यगुणसंपन्न देव होते हैं । अतः उनके पास जाकर उनसे मिलना हो, तो प्रथम स्वयं शुद्ध होना चाहिये ॥ १ ॥

नः इषः मधुमतीः कृधि– हमारा अन्न मधुर हो । अधिक तीखा या अधिक खट्टा न हो । मधुर अन्न सेवन करनेसे मन भी मधुर विचार करनेवाला होता है ।

ते अदाभ्यं जागृवि नाम– तेरा –ईश्वरका नाम– शान्ति देनेवाला, जागृत करनेवाला है ।

सोम (स+उमा) = संरक्षण शक्तिसे युक्त ईश्वरकी शक्ति ॥ २ ॥

इन्द्रियेभ्यः दिवेभ्यः पार्थिवेभ्यः स्वाङ्कृतः असि– इन्द्रियोंके लिये, दिव्यजनोंके हित करनेके लिये तथा पृथिवीपर रहनेवाले मानवोंके हितके लिये तूं उत्पन्न हुआ है और विद्यासे–ज्ञानसे प्रसिद्ध हुआ है ।

त्वा मनः अष्टु– तुझे मन शुद्ध होकर प्राप्त हो । अर्थात् मन शुद्ध होना चाहिये ।

सुभव– उत्तम जन्म प्राप्त कर ! जन्मसे उत्तम बननेका प्रयत्न कर । अपना जीवन परिशुद्ध होना चाहिये ।

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् । उरुष्य राय एषो यजस्व ॥४॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।

सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥५॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य उदानाय त्वा ॥६॥

[२४८] तू (उपयामगृहीतः असि) यम नियमादिका पालन करनेवाला है, इस कारण (अन्तः यच्छ) आंतरिक शक्तीको अपने वशमें कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्य सम्पन्न ! तू (सोमं पाहि) अपनी संरक्षक शक्तिकी रक्षा कर। और जो क्लेश हैं उनको (उरुष्य) अपने बलसे नष्ट कर, जिससे तुझे (रायः इषः आयजस्व) सब प्रकारके धन और अन्नादि प्राप्त हों ॥ ४ ॥

[२४९] हे (मघवन्) हे धनवान ! परमेश्वर (ते अन्तः द्यावा पृथिवी दधामि) तेरे अधिकारमें द्यौ और पृथ्वी ये दोनों हैं ऐसी मैं धारणा करता हूँ और (ते अन्तः उरु अन्तरिक्षम् दधामि) तेरेही अन्दर यह विशाल अन्तरिक्ष भी है ऐसा मैं मानता हूँ। तू (अवरैः देवेभिः सजूः च परैः अन्तर्यामे मादयस्व) अपने पास रहे देवोंके साथ रहो और दूसरे शत्रुओंके साथ मिलकर रहकर समस्त प्रजाओंको सुखी कर ॥ ५ ॥

[२५०] हे (सुभव) उत्तम जीवन व्यतीत करनेवाले ! तू (स्वाङ्कृतः असि) स्वयं प्रयत्नशील हो। (इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः विश्वेभ्यः देवेभ्यः मरीचिपेभ्यः त्वा) मैं इन्द्रियोंका तथा उत्तम प्रशस्त गुणोंसे तथा उत्तम विद्वानों और तेजस्वी पुरुषोंके हित करनेवाला तू है ऐसा मैं जानता हूं। (पार्थिवेभ्यः त्वा) पृथ्वीपरके उत्तम पुरुषोंके हित करनेवाला तू है ऐसे तुझको मैं जानता हूं। (सूर्याय उदानाय त्वा) सूर्यकी तरह उत्कृष्ट जीवनके लिये तुझे ग्रहण करता हूँ, जिससे (त्वा मनः स्वाहा अष्टु) तुझे, उत्तम मन और सत्यानुष्ठान करनेकी क्रिया प्राप्त हो ॥ ६ ॥

सूर्याय त्वा, मरीचयेभ्यः देवेभ्यः त्वा– तुमको सूर्य और सूर्य किरणोंको प्राप्त करके रहना योग्य है। सूर्य किरणोंमें अपना शरीर थोडा समयतक रखनेसे मनुष्यका जीवन दीर्घ कालतक रह सकता है। सूर्यकिरणोंका स्नान लाभदायक है।

उपरिप्लुता भंगेन हतः– उपरके नियमका भंग करनेसे मनुष्य जलदी मृत्युको प्राप्त होता है।

प्राणाय त्वा, व्यानाय त्वा– प्राण और व्यानके लिये तेरा जीवन लगाओ। अर्थात् प्राणायाम आदि करके दीर्घ जीवन प्राप्त करो। प्राणके आयामसे मनुष्य लाभ प्राप्त कर सकता है ॥ ३ ॥

उपयाम–गृहीतः असि– यम और नियमोंको अपने जीवनमें लेनेवाला तू है। उप-याम- यमनियमोंके पास रहनेवाला। यम-नियमोंका पालन करनेवाला। अहिंसा–सत्य–अस्तेय-ब्रह्मचर्य–अपरिग्रह ये पांच यम हैं और शौच–संतोष–तप–स्वाध्याय–ईश्वरभक्ति ये पांच नियम हैं। इनका योग्य रीतिसे पालन करना चाहिये।

अन्तः यच्छ– अन्तःकरण शुद्ध कर, आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये।

सोमं पाहि– (स + उमा = सोमः) अपने अन्दर संरक्षणकी शक्ति उत्तम रीतिसे रहे।

उरुष्य– अपने बलसे सब क्लेशोंको दूर कर।

रायः इषः आयजस्व– धन और अन्न प्राप्त कर और उसका दान कर ॥ ४ ॥

ते अन्तः द्यावा–पृथिवी दधामि– हे परमेश्वर ! तेरे अन्दर ये द्यौ और भूमि है, यह मैं जानता हूं।

ते अन्तः उरु अन्तरिक्षं दधामि– तेरे अन्दर यह विशाल अन्तरिक्ष है यह मैं जानता हूं अर्थात् तेरे अन्दर यह सब विश्व है और तू इस सबमें है, ऐसा मैं जानता हूं।

अवरैः देवेभिः सजूः परैः च अन्तर्यामे मादयस्व– तू दूरके और पासके सब देवोंके साथ रहकर आनन्दसे रहता है। आनंद प्रसन्नतासे सदा रहना चाहिये ॥ ५ ॥

सुभव- जन्मसे उत्तम बन। बुरा न होवो।

स्वाङ्कृतः असि– तूं स्वयं प्रयत्न करते रहनेवाला बन। मनुष्य प्रयत्न शील हो। आलसी न हो।

इन्द्रियेभ्यः विश्वेभ्यः दिव्येभ्यः देवेभ्यः मरीचिपेभ्यः त्वा– इन्द्रियोंके, तथा सब दिव्य महाजनोंके और तेजस्वी पुरुषोंके

आ वा॑यो भूष शुचिपा उप॑ नः सहस्रं॑ ते नियुतो॑ विश्ववार ।
उपो॑ ते अन्धो मद्य॑मयामि यस्य॑ देव दधिषे पू॑र्वपेय॑ वायवे॑ त्वा॑ ॥७॥

इन्द्र॑वायू इमे सुता उप प्रयो॑भिरागतम् । इन्द॑वो वामुशन्ति हि ।
उपयामगृ॑हीतोऽसि वायवं इन्द्रवायुभ्यां त्वै॒ष ते योनि॑ः सजोषो॑भ्यां त्वा॑ ॥८॥

अयं वाँ मित्रावरुणा सुतः सोम॑ ऋतावृधा । ममेदिह श्रु॑तꣳ हव॑म् ।
उपयामगृ॑हीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा॑ ॥९॥

---

[२५१] हे (शुचिपाः वायो) हे शुद्धताको पालनेवाले पवन ! तू (नः सहस्रं नियुत उप आभूष) हमारे सहस्रों शुभ गुणोंको सुभूषित कर । हे (विश्ववार) समस्त गुणोंके स्वीकार करनेवाले ! जो (ते मद्यं अन्धः) तेरा अच्छी तृप्ति करनेवाला अन्न है, उसको (उपो अयामि) तेरे समीप पहुंचाता हूं । हे (देव) दिव्य गुणयुक्त ! (यस्य ते पूर्व पेयं दधिषे, वायवे त्वा) जिस तेरा अपूर्व पेयरूपी अन्न है, जिसको तू धारण कर रहा है, उसके लिये में तुझे स्वीकार करता हूं ॥ ७ ॥

[२५२] हे (इन्दवायु) इन्द्र और वायो । (हि इमे सुताः इन्दवः वाम् उशन्ति) निश्चयसे ये उत्पन्न हुये सुखकारक सोमके पदार्थ तुम दोनोंको प्राप्त होनेके इच्छुक हैं, अतः तुम इनके (प्रयोभिः आगमतः) पास आओ । (वायवे उपयाम गृहीतः असि) वायुके लिये तेरा पापसे स्वीकार किया है ! (एषः ते योनिः) यही तुम्हारे लिये घर है । और (इन्द्र वायुभ्यां त्वा, सजोषोभ्यां त्वा) इन्द्र और वायुके लिये सोमरस रखा है । तुमको में चाहता हूं ॥ ८ ॥

[२५३] हे (मित्रा वरुणा) मित्र वरुण ! हे (ऋतावृधा) सत्यकी अथवा यज्ञकी वृद्धि करनेवाले देवताओ ! (वाम् अयम् सुतः, इह ममेत् हवम् श्रुतम्) तुम्हारी प्रीतिके निमित्त यह सोमरस तैयार किया है, इस यज्ञमें हमारे इस आह्वानको श्रवण करो । हे सोमरस ! तुम (उपयाम गृहीतः असि) उपयाम पात्रमें गृहीत हो, (मित्रा वरुणाभ्यां त्वा) मित्रावरुण संज्ञक देवताओंके प्रीति निमित्त तुमको समर्पित करता हूं ॥ ९ ॥

हित करनेके कार्यके लिये तू उत्पन्न हुआ है । तेरा कर्तव्य है कि तू इन सब सत्पुरुषोंका हित हो ऐसा कार्य कर ।

पार्थिवेभ्यः त्वा– पृथिवी परके सज्जनोंका हित करनेके लिये तुझे में स्वीकारता हूं ।

सुर्याय उदानाय त्वा– सूर्य प्रकाशमें रहनेके लिये तथा उदान आदि प्राणोंसे लाभ प्राप्त करनेके लिये तुझे में प्राप्त करता हूं । सूर्यप्रकाशसे मनुष्यके अनेक लाभ होते है । ‘ सूर्य आत्मा जगत: तस्थुषश्च ’ (ऋ. १।१।१५।१)

त्वा मनः स्वाहा अष्टु– तुझे उत्तम मन तथा दानभाव प्राप्त हो । मनुष्यका मन उच्च विचार करनेवाला तथा दानभावसे युक्त हो ॥ ६ ॥

शुचिपा वायो– वायु शुद्धता करता है । मनुष्य जाने कि शुचिता वायु करता है । इसलिये मनुष्य शुद्ध वायुका सदा सेवन करे । अशुद्धस्थानमें कदापि न रहे ।

नः सहस्रं नियुत आभूष– हमारे हजारों शुभ गुणोंको भूषित कर । बढाओ । नियुत– घोडा, घोडोंका समूह, काव्य, निरंतर बहना, स्थिर रहना । दस लाखकी संख्या ।

ते मद्यं अन्धः उपो अयामि– तेरा तृप्ती करनेवाला अन्न में प्राप्त करता हूं ।

पूर्वं पेयं दधिषे– तू अपने पास अपूर्व पेय रखता है । उत्तम पेय अपने पास रखना चाहिये ॥ ७ ॥

हे इन्द्रवायू ! इमे सुताः इन्दवः वां उशन्ति– हे इंद्र और हे वायो ! ये निकाल कर रखे सोमरस तुम्हारी इच्छा करते हैं । तुम्हारे पास आना चाहते हैं । यज्ञमें सोमरस निकाल कर देवताओंको समर्पण करनेके लिये रखा जाता है ॥ ८ ॥

राया वयꣳ संसवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः । तां धेनुं मित्रावरुणा
युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा ॥१०॥

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् ।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा ॥११॥

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम् ।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे ।
उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो
देवास्त्वा शुक्रपाः प्र णयन्त्वनाधृष्टाऽसि ॥१२॥

[२५४] जिस गौके होनेसे वयम् राया ससवांसः मदेम) हम धनसे सम्पन्न होकर प्रसन्न होते हैं, (देवाः हव्येन, गावः यवसेन) जिस प्रकार देवगण हवि लाभसे, और गौयें घासादिसे प्रसन्न होती हैं। हे (मित्रा वरुणा) मित्र वरुण ! (युवम् ताम् अनपस्फुरन्तीम् धेनुं नः विश्वाहा धत्तम्) तुम दोनों उस न भागजानेवाली धेनुको हमारे समीप सर्वदा रखो। (एषः ते योनिः) यह तुम्हारा स्थान है, (ऋतायुभ्याम् त्वा) सत्य और यज्ञके लिये इस गौको इस यज्ञ स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ १० ॥

[२५५] हे (अश्विना) हे अश्विदेवो ! (या वाम् मधुमती सूनृतावती कशा) जो तुम्हारी प्रशंसनीय मधुर और सत्य वाणी है (तया यज्ञम् मिमिक्षतम्) उससे इस यज्ञको सिद्ध करो। तुमको (उपयाम गृहीतः असि) हमने यम नियमादिकोंसे स्वीकार किया है, (ते एषः योनिः) तेरा यह स्थान है। इससे (अश्विभ्यां त्वा, माध्वीभ्यां त्वा) अश्विदेवोंके साथ तुमको, मधुरतासे युक्त तुमको आश्रय स्थान मानते हैं ॥ ११ ॥

[२५६] तू (उपयामगृहीतः असि) योगके अङ्गोंका ग्रहण करनेवाला है। (ते एषः योनिः अपमृष्टः शण्डः यासु वर्द्धसे) तेरा यह स्वभाव सुखका हेतु है, शमादि गुण युक्त है और जिससे तू वृद्धिको प्राप्त होता है। और (विश्वथा प्रत्नथा पूर्वथा इमथा जेष्ठतातिम् बर्हिषदम् स्वर्विदम् प्रतीचीनम् आशुम् जनयन्तम् धुनिम् वृजनम् दोहसे) सब प्राचीन महर्षि, पूर्वकालके योगी, वर्तमान योगियोंकी तरह अत्यन्त प्रशंसनीय हृदयाकाशमें स्थिर सुखलाभ करने, अविद्यादि दोषोंसे प्रतिकूल होने, शीघ्र सिद्धि देने, उत्कर्ष पहुंचाने और इन्द्रियोंको संयमित करनेवाले योगबलको परिपूर्ण करते हैं, (तम् शुक्रपाः देवाः त्वा प्रणयन्तु) जो वीर्यबलकी रक्षा करनेहारे, दिव्यगुणयुक्त योगी लोग हैं वे तुमको अच्छी तरह वहां पहुंचावें। उस योगबलको प्राप्त हुये (शण्डाय अनाधृष्टा असि) शमदमादि गुणयुक्त तुम्हारे लिये योगकी दृढ वीरता हो, तुम उस (वीरताम् पाहि, अनु त्वा) वीरताकी रक्षा करो, वह रक्षाको प्राप्त हुई वीरता तुमको अनुकूल होकर पाले ॥ १२ ॥

वयं राया ससवांसः मदेम– हम धनसे संयुक्त होकर आनंदित होते हैं।

देवाः हव्येन, गावः यवसेन– देवता हवनसे और गौवें घाससे प्रसन्न होती हैं।

अनपस्फुरन्तीं धेनुं नः विश्वाहा धत्तम्– न भागनेवाली गौको हमारे पास सदा रखो।

ऋतायुभ्यां त्वा– सत्य और यज्ञके लिये गौको इस यज्ञ स्थानमें रखता हूं ॥ १० ॥

वां मधुमती सूनृतावती कशा– तुम्हारी मधुर और सत्य भाषण करनेकी रीति है। मनुष्यको उचित है कि वह मधुर और सत्य भाषण करें।

तया यज्ञं मिमिक्षतं– उस मधुर और सत्य वाणीसे इस यज्ञको परिपूर्ण करो। मनुष्य सदा मधुर और सत्य भाषण करे।

उपयाम गृहीतः असि– यम नियमोंके अनुसार किसीका स्वीकार करना योग्य है। अनियमोंसे किसीका स्वीकार नहीं करता चाहिये ॥ ११ ॥

सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम् ।
सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥१३
अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥१४॥
स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा इन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा ।
तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहा ऽयाडग्नीत् ॥१५॥

---

[२५७] हे वीर पुरुष ! तू (सुवीरः वीरान् परि इहि) श्रेष्ठ वीर होकर और वीर पुरुषोंको तैयार करता हुआ देशभरमें भ्रमण कर और (रायः पोषेण यजमानम् अपि इहि) धन ऐश्वर्यकी समृद्धिसे अपने दानशील यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हो, इस प्रकार (दिवा पृथिव्या संजग्मानः शुक्रः शुक्रशोचिषा) सूर्य और पृथ्वीमें सदा संगति लाभ करते हुये तेजस्वी और शुद्ध कान्तिसे युक्त होकर विराजमान हो । इस तरह (शण्डः निरस्तः) बलवान परंतु दुष्ट वीर देशसे बाहर कर दिया जाय । हे राजन् ! तू स्वयं (शुक्रस्य अधिष्ठानम् असि) वीर्य पराक्रमका आश्रय दाता है ॥ १३ ॥

[२५८] हे (देवः सोम) दिव्यगुणयुक्त सोम ! (सुवीर्यस्य ते अच्छिन्नस्य रायः पोषस्य ददितारः स्याम) हम प्रजाजन उत्तम शक्तिवान ऐसे तेरे लिये अक्षय अटूट ऐश्वर्यकी समृद्धिको देनेवाले हैं, (सा विश्ववारा प्रथमा संस्कृतिः) वह सबके द्वार। वरणीय पहिली संस्कृति है । (सः प्रथमः मित्रः प्रथमः अग्निः) वह प्रथम बनाया हुआ राजा प्रजाका रक्षक मित्र और सर्वोत्तम अग्रणी है ॥ १४ ॥

[२५९] (सः प्रथमः चिकित्वान् बृहस्पतिः) वह पहिला विज्ञानवान् और बृहती वेदवाणीका रक्षक है । तुम लोग (तस्मै इन्द्राय सुतम् स्वाहा आ जुहोत) उस ऐश्वर्यवान् इन्द्रके लिये सोमरसका अर्पण करो । और (होत्राः मध्वा तृम्पन्तु) हवन करनेवाले उसको मधुर भोगोसे तृप्त करें, (यत् याः स्विष्टाः याः सुप्रीताः सुहुताः स्वाहा) जो उत्तम रीतिसे अपना इष्ट भाग प्राप्त कर और जो सुप्रसन्न होकर हवन कार्यमें लगे हैं वे शक्तिसे युक्त होकर (अग्नीत् अयाड्) अग्निके समीप जाय ॥ १५ ॥

सुवीरः वीरान् परि इहि– स्वयं उत्तम वीर बनकर उत्तम वीरोंको प्राप्त कर ।

रायः पोषेण यजमानं अपि इहि– धन और पोषणसाधनसे युक्त होकर यजमानको प्राप्त कर ।

शुक्रः शुक्रशोचिषा– वीर्यके बलसे वीर्यवान बन ।

शण्डः निरस्तः– दुष्टको दूर करना चाहिये ।

शुक्रस्य अधिष्ठानं असि– तूं पराक्रमोंकें स्थान है ॥१३॥

सुवीर्यस्य ते अच्छिन्नस्य ते रायः पोषस्य ददितारः स्याम– उत्तम पराक्रमी जो राजा है उसको उत्तम धन देनेवाले प्रजाजन होते हैं। प्रजा कर रूपसे धनका भाग राजाको देती है । इससे राजा धनवान् होता है ।

सा विश्ववारा प्रथमा संस्कृति– वह विश्वने वरणीय पहिली संस्कृति है ।

सः प्रथमः मित्रः– वह राजा पहिला मित्र है ।

सः प्रथमः अग्निः– वह राजा पहिला अग्रणी है । जो अग्रणी होता है वहां पहिला राजा होता है । जो मुख्य होता है वही राजा होता है ॥ १४ ॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपाᳬ संङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीं रिहन्ति ।
उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥१६॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्यां वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते योनिः प्रजाः
पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्र णयन्त्वनाधृष्टासि ॥१७॥

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्याभि रायस्पोषेण यजमानम् ।
सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥१८॥

---

[२६०] (अयं वेनः, रजसः विमाने, ज्योतिर्जरायुः, पृश्निगर्भाः चोदयत्) यह कान्तिमान् देव अन्तरिक्षके मध्यमें तेजसे युक्त होकर जलोंको वर्षारूपमें प्रेरित करता है। (इमम् अपां संगमे) इन जलोंके प्राप्त हो जानेपर (विप्राः, सूर्यस्य शिशुं न, मतिभिः रिहन्ति) विद्वानलोग, सूर्यके पुत्रके समान, अपनी बुद्धियोंसे उसकी स्तुतियोंको करके उसकी अर्चना करते हैं। तुम (उपयामगृहीतः असि) यज्ञ द्वारा ग्रहण किये गये हो। और (मर्काय त्वा) दुष्टोंको शान्त करनके लिये तुमको यहां स्थापित किया है ॥ १६ ॥

[२६१] (येषु हवनेषु, मनः न तिग्मं, विपः शच्या द्रवन्तौ वनुथः) जिन यज्ञोंके समय मनके समान तीव्र गतिवाले कार्य कुशल पुरुषको, अपनी शक्तिसे प्रगति करते हुये प्राप्त करता है, और जो पुरुष (तुविनृम्णः अस्य आदिशं गभस्तौ शर्याभिः आश्रीणीत) बहुत ऐश्वर्यवान ऐसे तुम्हारे लिये प्रत्येक दिशामें अपने बलपर प्रहार करनेवाली शत्रु सेनाओंसे अपना रक्षण करनेवाले वीर सब प्रकारसे तुम्हाराही आश्रय करते हैं, ऐसा जो वीर पुरुष है (एषः ते योनिः) यह तेरी उत्पत्तिका स्थान है, उससे तू (प्रजाः पाहि) प्रजाकी रक्षा कर। और उसके द्वारा (मर्कः अपमृष्टः) दुःख देनेवालोंको दूर कर। (त्वा मन्थिपाः देवाः प्रणयन्तु) तुमको शत्रुओंके मंथन करनेवाले पुरुषके रक्षक देवगण विजय मार्गपर ले चलें। उस वीर पुरुषके होनेसे तुम भी (अनाधृष्टा असि) अति निर्भय हो गये हा ॥ १७ ॥

[२६२] (सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्, रायः पोषेण, यजमानम् अभि परि इहि) उत्तम प्रजायुक्त तुम प्रजाजनोंको प्रकट करते हुये, धनकी सहायतासे यज्ञादि अच्छे कामोंके करनेवाले यजमानको सर्वथा धनकी वृद्धिसे युक्त करो। (मन्थी दिवा पृथिव्या संजग्मानः मन्थिनः अधिष्ठानम् असि) सद्विचारोंका वारंवार मन्थन करने और सूर्य वा पृथ्वीके समान शुभ गुणोंसे युक्त तुम योग्य गुणोंके आधार हो, इस कारण तुम्हारी स्थिति (मन्थि शोचिषा मर्कः निरस्तः) दुःखमय करनेवाला अन्यायी तेजसे तुमसे दूर हो ॥ १८ ॥

विप्राः मतिभिः रिहन्ति– ज्ञानी लोक अपनी बुद्धियोंसे उसकी स्तुति करते हैं।

मर्काय त्वा– शत्रुको दूर करनेके लिये तुझे यहां स्थापन करते हैं ॥ १६ ॥

प्रजाः पाहि– प्रजाजनोंका संरक्षण कर।

मर्कः अपमृष्टः– दुःख देनेवाले शत्रूओंको दूर कर।

मन्थिपाः देवाः त्वा प्रणयन्तु– शत्रुका विनाश करनेवाले दिव्य जन तेरा संरक्षण करें।

अनाधृष्टा असि– तू निर्भय हो गया है।

मनः तिग्मं– मन तीव्र गति करनेवाला है।

विपः शच्या द्रवन्तौ वनुथः– विशेष शक्तिसे चलनेवाले पुरुष जिसको प्राप्त करते हैं, उसको तुम भी प्राप्त करो ॥ १७ ॥

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्– उत्तम प्रजा निर्माण करो।

रायस्पोषेण यजमानं अभिपरीहि– धनकी वृद्धिसे यज्ञ करनेवालेको युक्त कर।

मन्थिनः अधिष्ठानं असि– सद्विचारोंका मंथन करनेवालोंका तू आश्रय है।

मन्थि शोचिषा मर्कः निरस्तः– दुःख देनेवाला अन्यायी तुम्हारे तेजसे दूर हुआ है ॥ १८ ॥

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥१९॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः ।
पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि ॥२०॥

सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवत इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥२१॥

[२६३] (ये महिना दिवि एकादश देवासः स्थ) जो अपनी महिमासे द्युलोकमें ग्यारह देव हैं, और (पृथिव्याम् अधि एकादशस्थ) पृथ्वीके ऊपर ग्यारह हैं तथा (अप्सुक्षितः एकादश स्थ) जलके आश्रयसे ठहरनेवाले ग्यारह हैं (ते देवासः इमम् यज्ञम् जुषध्वम्) वे देव इस जीवनरूप यज्ञमें कार्य करते हैं वैसे हे (देवासः) दिव्य जनो ! तुम सब अपने अपने कार्योंमें दक्ष होकर (इमम् यज्ञम् जुषध्वम्) इस यज्ञको करनेवाले होओ ॥ १९ ॥

[२६४] जिस कारण (त्वम् उपयामगृहीतः असि) तुम इस यज्ञ साधनसे लिया गया हो इस कारण (यज्ञं पाहि) इस यज्ञकी रक्षा करो, (स्वाग्रयणः आग्रयण असि) जिस प्रकार तुम अपने अग्रभागमें जानेवाला हो वैसाही तुम आगे बढनेवाला होवो (यज्ञपतिम् पाहि) अतः यज्ञपति यजमानकी रक्षा करो, यह (विष्णुः इन्द्रियेण त्वाम् पातु) व्यापक देव अपने सामर्थ्यसे तेरी रक्षा करे, (विष्णुं पाहि) इस विष्णु देवकी तुम रक्षा करो, और (सवनानि अभि पाहि) तीन सवनोंकी सब ओर से तुम रक्षा करो ॥ २० ॥

[२६५] (सोमः अस्मै ब्रह्मणे पवते) यह सोम रस इस ब्राह्मणके लिये निकाला जा रहा है । (सोमः अस्मै क्षत्राय पवते) सोम इस क्षत्रियवर्णके लिये निकाला जाता है, (अस्मै सुन्वते यजमानाय पवते) इस सोम याग करनेवाले यजमानके लिये निकाला जाता है, (इषे ऊर्जे पवते) अन्नकी वृद्धि और बल प्राप्त करानेके लिये निकाला जाता है, (द्यावा पृथिवीभ्याम् पवते) द्यौ और पृथ्वी दोनों लोकोंकी सन्तुष्टिके निमित्त निकाला जाता है, (सुभूताय पवते) उत्तम जीवनके लिये निकाला जाता है ! (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) सम्पूर्ण देवताओंको देनेके निमित्त सोमका ग्रहण करता हूं, (एषः ते योनिः) यह यज्ञ तेरा आश्रय स्थान है, (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) सम्पूर्ण देवताओंके निमित्त तुमको लेता हूं ॥ २१ ॥

दिवि महिना एकादश देवासः स्थ- द्युलोकमें अपनी महिमाके साथ ११ देव रहते हैं ।

पृथिव्यां अधि एकादश स्थ- पृथिवीपर ११ देव हैं ।

अप्सुक्षितः एकादश स्थ- अन्तरिक्षके जल स्थानमें ११ देव रहते हैं ।

अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें ११-११-११ देव रहते हैं । सब मिलकर इन तीनों स्थानोंमें ३३ देव रहते हैं । यह सब विश्व इन ३३ देवोंसे व्याप्त हुआ है ।

मनुष्यके शरीरमें देव हैं, विश्वमें देव हैं, और राष्ट्रमें भी देव हैं । इस तरह यह सब विश्व इन देवोंसे व्याप्त हुआ है । जहां देखा जाय वहां देव ही हैं ऐसा देखनेवालेको ज्ञान होगा ॥ १९ ॥

यज्ञं पाहि- यज्ञकी सुरक्षा करो ।

स्वाग्रयणः आग्रयणः असि- तू अपने मार्गसे आगे बढनेवाला है, अतः आगे बढो ।

यज्ञपतिं पाहि- यजमानकी सुरक्षा करो, उत्तम कर्म करनेवालेकी सुरक्षा करो ।

विष्णुः इंद्रियेण त्वां पातु- व्यापक देव अपनी इंद्रियोंकी शक्तियोंसे तेरी सुरक्षा करे । इंद्रियोंकी सुरक्षा हो और उससे तुम्हारी सुरक्षा हो ।

सवनानि अभि पाहि- यज्ञके भागोंको सुरक्षित रखो ॥२०॥

सोमरस ब्राह्मणों, क्षत्रियों, यज्ञ करनेवालोंके लिये यज्ञस्थानमें निकाला जाता है । अन्न प्राप्त हो और बल बढे इसलिये सोम याग करते हैं । द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि । यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वै[1]—ष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा[2] देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि[3] ॥२२

मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[1]—न्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[2]—न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[3]—न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[4]—न्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[5]—न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि[6]।२३

[२६६] तू (उपयामगृहीतः असि) उत्तम नियमोंद्वारा बंधा है, (उक्थाव्यम् त्वा इंद्राय बृहद्वते वयस्वते गृह्णामि) स्तुतिसे रक्षा करनेवाले तुझको मैं परम ऐश्वर्ययुक्त बहुत विस्तृत कार्यसे युक्त अति दीर्घजीवनवाले प्रभुके लिये नियुक्त करता हूं। हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् देव ! (यत् ते बृहत् वयः तस्मै त्वा) जो तेरा महान् और यह दीर्घजीवन साध्य कार्य है, मैं उसके लिये तुझको नियुक्त करता हूं। (विष्णवे त्वा एषः योनिः) विश्वव्यापक ईश्वरके लिये तुझे नियुक्त करता हूं, यह तेरा आश्रय है। (देवाव्यम् त्वा गृह्णामि) देवोंका रक्षण करनेके कार्यके लिये स्वीकारता हूं। और मैं तुझे (यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) इस यज्ञके दीर्घजीवनके लिये नियुक्त करता हूं ॥२२॥

[२६७] (यज्ञस्य आयुषे मित्रावरुणाभ्याम् देवाव्यम् त्वा गृह्णामि) यज्ञीय जीवन होनेके लिये मित्र और वरुणके लिये विद्वानोंकी रक्षा करनेवाले तुझको स्वीकार करता हूँ। (यज्ञस्य आयुषे इन्द्राय देवाव्यं त्वा गृह्णामि) यज्ञीय जीवनके लिये परम ऐश्वर्यवान् प्रभुके अर्थ विद्वानोंकी रक्षा करनेवाले तुझको ग्रहण करता हूँ। (यज्ञस्य आयुषे इन्द्राग्निभ्याम् देवाव्यं त्वा गृह्णामि) यज्ञके लिये इन्द्र और अग्निके अर्थ रक्षा करनेवाले तुझको ग्रहण करता हूँ। (यज्ञस्य आयुषे इन्द्रावरुणाभ्यां देवाव्यं त्वा गृह्णामि) यज्ञीय जीवनके लिये इन्द्र और वरुणके, गुण प्रकट होनेके अर्थ दिव्यजीवनवाले तुझको ग्रहण करता हूं। (यज्ञस्य आयुषे इन्द्रा बृहस्पतिभ्यां देवाव्यं त्वा गृह्णामि) यज्ञकी आयुके लिये इन्द्र और बृहस्पतिके लिये तुझको ग्रहण करता हूँ। और (यज्ञस्य आयुषे इन्द्राविष्णुभ्याम् देवाव्यं त्वा गृह्णामि) यज्ञकी आयुके लिये इन्द्र और विष्णुके लिये ब्रह्मज्ञानीको संतुष्ट करनेवाले तुझको ग्रहण करता हूँ ॥ २३ ॥

पृथिवी लोकमें सबका कल्याण हो इसलिये सोमयाग करते हैं। उत्तम जीवन चले इसलिये यज्ञमें सोमरस निकालकर उसका पान करते हैं। सबका संगठन करनेके लिये यज्ञ किया जाता है। विद्वानोंका सत्कार हो, सबका संगठन बढे, और गरीबोंको अन्न मिले इस कार्यके लिये यज्ञ किये जाते हैं ॥ २१ ॥

उपयामगृहीतः असि– तू धर्मनियमोंसे, यज्ञके नियमोंसे युक्त हो। मनुष्य धर्मनियमोंका पालन करे। यज्ञके नियमोंका पालन करे।

उक्थाव्यं त्वा गृह्णामि– स्तुति करनेवालेको ईश्वर सुरक्षा करता है। ऐसे ईश्वरका उपासनासे मैं स्वीकार करता हूं।

यत् ते बृहत् वयः तस्मै त्वा गृह्णामि– तो तेरा बडा कार्य चल रहा है, उसके लिये तेरा ग्रहण मैं करता हूं। इस विश्वमें परमेश्वरका विश्वव्यापक कार्य चल रहा है,

४

उसको मनुष्य देखे, और उसका अनुभव करे। वैसा स्वयं करनेका यत्न करे।

यज्ञस्य आयुषे त्वा गृह्णामि– यज्ञीय जीवन चलानेके लिये मैं तेरा आदर्श सामने रखता हूं ॥ २२ ॥

यज्ञस्य आयुषे मित्रावरुणाभ्यां देवाव्यं त्वा गृह्णामि– यज्ञके लिये समर्पित आयुके लिये, मित्र और वरुणके लिये दिव्य जीवन व्यतीत करनेवाले तुझे मैं प्राप्त करता हूं। मित्र सबकी मित्रता करता है। वरुण श्रेष्ठ होता है। मित्र बनने और श्रेष्ठ बननेके लिये देवताके समान आचरण करना चाहिये।

अपनी आयु यज्ञरूप अर्थात् सबका उपकार करनेवाली होनी चाहिये।

देवाव्यं (देव + अव्यं) दिव्य गुणोंसे युक्त देव होते हैं। देव जिनका रक्षण करते हैं वह देवाव्य कहलाता है। देव अपना संरक्षण करें ऐसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये ॥२३॥

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२४॥

उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम
एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममव नयामि ।
अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥२५॥

यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते अꣳशुर्ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात् ।
अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳ स्वाहा देवानामुत्क्रमणमसि ॥२६॥

प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥२७॥

---

[२६८] (देवाः, दिवः मूर्द्धानं, पृथिव्याः अरतिं ऋते आजातं वैश्वानरं) दिव्य गुणोंवाले विद्वान् प्रकाशमान सूर्यके शिरके सदृश, पृथ्वीके गुणोंको प्राप्त होनेवाले, सत्यमार्गमें अच्छे प्रकार प्रसिद्ध, समस्त मनुष्योंको आनन्द पहुंचाने और (जनानां अतिथिं आसन् पात्रं कविं अग्निं सम्राजं आ जनयन्त) सत्पुरुषोंके अतिथिके समान सत्कार करने योग्य, तथा अपने शुद्ध मुखसे समस्त शुद्ध व्यवहारकी रक्षा करनेवाले, शुभगुणोंसे प्रकाशित होते हैं, वैसे सब मनुष्योंको करना योग्य है ॥ २४ ॥

[२६९] तू भी (उपयामगृहीतः असि) नियमोंसे बद्ध है। तू (ध्रुवः असि) स्थिर है। तू (ध्रुवक्षितिः) स्थिर निवासवाला हो। तू (ध्रुवाणां ध्रुवतमः) समस्त स्थिर रहनेवालोंमें सबसे अधिक स्थिर हो। तू (अच्युत-क्षित् तमः) अपने स्थानसे च्युत न होनेवाला हो। (एषः ते योनिः) यह तेरा स्थान है। (त्वा वैश्वानराय ध्रुवेण मनसा वाचा सोमं अवयामि) तुझको मैं समस्त प्रजाओंके नेतृपदपर तथा स्थिर चित्तसे और वाणीसे तुझे सोम प्रदान करता हूं। (अथ नः इन्द्रः इत् विशः असपत्नाः समनसः करत्) अब तू हमारा ऐश्वर्यवान् प्रभु होकर सब प्रजाओंको शत्रुरहित और समान चित्तवाली बना ॥ २५ ॥

[२७०] (यः ते द्रप्सः स्कन्दाति) जो तेरे पास यज्ञीय पदार्थोंका समूह आता है, और (यः ते ग्रावच्युतः अंशुः धिषणयोः पवित्रात् उपस्थात् वा यः अध्वर्योः वा परि) जो तेरे यज्ञके पत्थरोंसे निकाला सोम रस प्रकाश और भूमिके गोदके स्थानको प्राप्त करता है, अथवा जो अध्वर्युके पास रहता है, (तम् ते स्वाहा मनसा वषट् कृतम् जुहोमि) उसको मैं तेरे लिये सत्यवाणी और मनसे किये हुये संकल्पके साथ अर्पण करता हूं जो (देवानाम् उत्क्रमणम् असि) विद्वानोंके लिये उच्चता प्राप्त करनेवालेके समान है ॥ २६ ॥

[२७१] तू (वर्चोदाः मे प्राणाय पवस्व) तेजका प्रदाता है, मेरे शरीरमें प्राणके बलको बढानेका उद्योग कर। हे (वर्चोदाः) बल प्रदान करनेवाले ! तू (व्यानाय वर्चसे पयस्व) शरीरमें व्यानके बल बढानेका उद्योग कर। (वर्चोदाः) बलसे युक्त पुरुष ! (मे उदानाय वर्चसे पयस्व) मेरे शरीरमें उदान वायुके बलकी वृद्धिके लिये तू उद्योग कर। हे (वर्चोदाः) तेजको बढानेवाले पुरुष ! तू (मे वाचे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीरमें वाणीके तेजकी वृद्धिके लिये उद्योग कर। हे (वर्चोदाः) तेज और बलको बढानेवाले पुरुष ! तू (क्रतुदक्षाभ्याम् वर्चसे पवस्व) यज्ञ वृद्धि, ज्ञान वृद्धि और तेजवृद्धिके लिये उद्योग कर। हे (वर्चोदाः) बल बढानेवाले ! तू मेरे शरीरमें (श्रोत्राय वर्चसे पवस्व) श्रोत्र इंद्रियके तेजकी वृद्धिके लिये उद्योग कर। हे (वर्चोदसौ) तेजके देनेहारे ! तुम दोनों (चक्षुर्भ्याम् वर्चसे पवेथाम्) शरीरमें आखोंके समान बलकी वृद्धि करनेके लिये उद्योग करो ॥ २७ ॥

—आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौ —जसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौ—युषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वै विश्वांभ्यो मे प्रजाभ्यों वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥२८॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि । यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम । भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥२९॥

---

[२७२] हे (वर्चोदाः) तेजका बल देनेवाले ! तू (मे आत्मने वर्चसे पवस्व) मेरे आत्माके बलकी वृद्धिके लिये उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज देनेवाले! (ओजसे मे वर्चसे पवस्व) आत्मबल बढानेके लिये तेजकी वृद्धिके लिये तू उद्योग कर। हे (वर्चोदाः) तेजकी वृद्धि करनेवाले पुरुष ! (आयुषे मे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीरमें आयुके अर्थात् दीर्घजीवनकी वृद्धिके लिये उद्योग कर। हे (वर्चोदाः) तेजके बढानेवाले ! तुम (मे विश्वाभ्यः प्रजाभ्यः वर्चसे पवेथाम्) मेरे समस्त प्रजाओंके तेज बढानेका उद्योग करो ॥ २८ ॥

[२७३] (कः असि) तू कौन है ? (कतमः असि) अपने वर्गमेंसे कौनसा है ? (कस्य असि) किसका है ? (कः नाम असि) तेरा क्या नाम है ? (यस्य ते नाम अमन्महि) जिस तेरे नामको हम जानें, (यं त्वा सोमेन अतीतृपाम) जिस तुझको सोमरससे तृप्त करते हैं। मैं (भूः भुवः स्वः प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम्) भूमि, अन्तरिक्ष, और द्यु इन तीनोंकी शक्तिसे युक्त होकर प्रजाजनोंके साथ उत्तम रीतिसे युक्त होऊं। और (वीरैः सुवीरः, पोषैः सुपोषः) इन वीर पुरुषों द्वारा मैं सुवीर होऊं और इन पोषक ऐश्वर्यवान् पुरुषोंसे मिलकर राष्ट्रका उत्तम पोषक हो जाऊं ॥ २९ ॥

उपयामगृहीतः असि– तू नियमोंके अनुकूल चलनेवाला है।

ध्रुवः असि– तू सुस्थिर रहनेवाला है।

ध्रुवक्षितिः– तू सुस्थिर हुआ है।

ध्रुवाणां ध्रुवतमः– स्थिरोंमें तू अधिक स्थिर हैं।

अच्युतक्षित्तमः– तू स्थिरोंमें अत्यंत स्थिर है।

इन्द्रः नः विशः असपत्नाः समनसः करत्– इन्द्र हमारे सब प्रजाजनोंको शत्रुरहित तथा एक भावसे युक्त करे। प्रजामें एकता उत्पन्न करे ॥ २५ ॥

वर्चोदाः मे प्राणाय, व्यानाय, उदानाय, वाचे, श्रोत्राय, चक्षुर्भ्यां, पवस्व– तू तेज देनेवाला है, अतः मेरे प्राण, व्यान, उदान, वाणी, कान और आंखोंके लिये इनका बल बढानेके लिये प्रयत्न कर।

इन अवयवोंका बल बढानेका प्रयत्न करना आवश्यक है ॥ २७ ॥

हे वर्चोदाः ! मे आत्मने, ओजसे, आयुषे, विश्वाभ्यः प्रजाभ्यः वर्चसे पवस्व– हे तेजसे बल देनेवाले ! मेरे आत्मा, बल, आयु, तेज आदिकी वृद्धि करनेका प्रयत्न कर। सब प्रजाका बल बढे इसलिये प्रयत्न कर ॥ २८ ॥

त्वं कः असि ? – तू कौन है ?

त्वं कतमः असि ? – तू किस क्रममें है ?

कस्य असि ? – तू किसका है ?

कः नाम असि ? – क्या नाम तुम्हारा है ?

यस्य ते नाम अमन्महि– जिस तेरा नाम हम जानना चाहते हैं।

यं त्वा सोमेन अतीतृपाम– तुझे हम सोमरस देकर तृप्त करना चाहते हैं।

भूः भुवः स्वः– अस्तित्व, ज्ञान और आत्मानंद प्राप्त करना चाहिये।

प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम– हम सब प्रजाओंके साथ उत्तम प्रजाजन होकर रहेंगे।

वीरैः सुवीरः– वीरोंके साथ उत्तम वीर होकर रहेंगे।

सुपोष पोषैः– उत्तम पोषणकर्ताओंके साथ उत्तम परिपुष्ट होकर रहेंगे ॥ २९ ॥

उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वो[1]—पयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वो[2]—पयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वो[3]—पयामगृहीतोऽसि शुचये त्वो[4]—पयामगृहीतोऽसि नभसे त्वो[5]—पयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वो[6]—पयामगृहीतोऽसीषे त्वो[7]—पयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वो[8]—पयामगृहीतोऽसि सहसे त्वो[9]—पयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वो[10]—पयामगृहीतोऽसि तपसे त्वो[11]—पयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वो[12]—पयामगृहीतोऽस्यꣳहसस्पतये त्वा[13] ॥३०॥

इन्द्राग्नी आ गतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वै[2]—ष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा[3] ॥३१॥

---

[२७४] तू (उपयाम गृहीत असि त्वा मधवे) नियमों द्वारा गृहीत है, अतः तुझको मधुमासके लिये लेता हूं। तू (उपयामगृहीतः असि माधवाय त्वा) नियमों द्वारा गृहीत है, अतः वैशाख मासके लिये तुझे नियुक्त करता हूं। हे श्रेष्ठ पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि शुक्राय त्वा) बंधा हुआ है, इसलिये जेष्ठ मासके लिये तुझे नियुक्त करता हूं। तू (उपयामगृहीतः असि शुचये त्वा) नियमोंसे बंधा है, अतः असाढ मासके लिये तुझको नियुक्त करता हूं। तू (उपयामगृहीतः असि नभसे त्वा) बंधा हुआ है, इसलिये श्रावणमासके निमित्त तुझे नियुक्त करता हूं। हे राजपुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि नभस्याय त्वा) बंधा हुआ है, अतः भाद्रमासके निमित्त तुझे नियुक्त करता हूं। तू (उपयाम गृहीतः असि इषे त्वा) नियमोंसे बंधा है, अतः अश्विन मासके निमित्त तुझे नियुक्त करता हूं। हे राजपुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि ऊर्जे त्वा) नियमोंमें बंधा है, अतः कार्तिक मासके लिये तुझको नियुक्त करता हूं। तू (उपयामगृहीतः असि सहसे त्वा) नियमोंमें बंधा है, अतः मार्गशीर्ष मासके लिये तुझे ग्रहण करता हूं। हे राजपुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि सहस्याय त्वा) नियमोंसे बंधा है, इसलिये पौष मासके लिये तुझको ग्रहण करता हूं। हे राजपुरुष ! तू (उपयाम गृहीतः असि तपसे त्वा) नियमोंके द्वारा गृहीत है, अतः माघ मासके निमित्त तुझको ग्रहण करता हूं। तू (उपयाम गृहीतः असि तपस्याय त्वा) नियमों द्वारा बंधा है, अतः फाल्गुन मासके निमित्त तुझको नियुक्त करता हूं। तू (उपयाम गृहीतः असि अंहस्पतये त्वा) नियमों द्वारा बंधा हुआ है, अतः मलमास मासके लिये तुझको नियुक्त करता हूं ॥ ३० ॥

[२७५] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि ! तुम दोनों (आगतम्) आओ, और (गीर्भिः वरेण्यम् नभः सुतम्) अपनी उत्तम वाणियोंसे की गई स्तुतिसे प्रसन्न होकर श्रेष्ठ सुखको उत्पन्न करो, तथा (इषिता, धिया अस्य पातम्) हमारी प्रार्थनाको सुनने पर अपनी बुद्धिसे इसकी रक्षा करो ! तू (उपयाम गृहीतः असि, त्वा इन्द्राग्निभ्याम्) यज्ञके द्वारा ग्रहण किया हुआ है, तुझको इन्द्र अग्निके लिये यह समर्पण करते हैं। (एषः ते योनिः) यह तेरा स्थान है, (इन्द्राग्निभ्याम् त्वा) इन्द्र और अग्निके पदके लिये तुझको हम यहां रखते हैं ॥ ३१ ॥

बारह महिनोंमें (उपयाम-गृहीतः असि) नियमोंसे तू बंधा है, अतः बारह महिने तू नियमोंमें रहकर अपनी उन्नति कर। यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेसेही मानवको उत्तम उन्नति हो सकती है। धर्मके नियमोंको न माननेसे किसीकी उन्नति नहीं हो सकती। अतः कहा है कि, नियमोंका ग्रहण कर, तथा उन नियमोंके अनुसार चल और अपनी उन्नति प्राप्त करके आनंदमें अपना जीवन व्यतीत कर ॥ ३० ॥

यज्ञस्थानमें इन्द्र और अग्निकी प्रथम प्रार्थना की जाती है। और उनके लिये हविष्यान्न अर्पण किया जाता है इनसे अपना संरक्षण हो ऐसी प्रार्थना की जाती है।

अग्नि प्रत्येक शरीरमें जब तक रहता है तब तक ही यह शरीर जीवित रहता है। आत्मा चला गया तो यह शरीर थंडा होता है। यही मृत्यु है।

अतः इन्द्र और अग्निकी यहां प्रार्थना है कि वे इस शरीरमें रहें और हमें जीवित रखें ॥ ३१ ॥

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् । येषामिन्द्रो युवा सखा ।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥३२॥

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ।
उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥३३॥

विश्वे देवास आ गत शृणुता म इमं हवम् । एदं बर्हिर्निषीदत ।
उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥३४॥

इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्याते अपिबः सुतस्य ।
तव प्रणीती तव शूर शर्मन्ना विवासन्ति कवयः सुयज्ञाः ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥३५॥

[२७६] (ये अग्निम् घ इन्धते) जो विद्वान् अग्निको प्रदीप्त करते हैं और (आनुषक् बर्हिः आ स्तृणन्ति) अपनी अनुकूलतासे उसमें हवि समर्पण करते हैं तथा (येषाम् युवा इन्द्रः सखा) जिनका तरुण इन्द्र मित्र है, (अग्नीन्द्राभ्याम्) अग्नि और इन्द्रके लिये (उपयामगृहीतः असि) उस यज्ञका ग्रहण किया गया है, (ते एषः योनिः) तेराही यह स्थान है, उस (त्वा) तुझको प्राप्त करके हम लोग (अग्नीन्द्राभ्याम् त्वा) इन्द्र और अग्निके लिये तुझमें हव्य अर्पण करते हैं ॥ ३२ ॥

[२७७] हे (विश्वे देवासः) सब देवो ! तुम (ओमासः चर्षणी धृतः) सबके रक्षक और प्रजाके धारण करनेवाले हो, तथा (दाशुषः दाश्वांसः) दान देनेवालेको ऐश्वर्यके प्रदाता हो । तुम लोग (सुतम् आगत) इस यज्ञमें आओ । (उपयामगृहीतः त्वा विश्वेभ्यः देवेभ्यः, ते एषः योनिः) सुनियमोंसे ग्रहण किये गये तुझको समस्त देवोंके लिये यह समर्पण करता हूं । तेरा यह स्थान है । (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देवोंके लिये तेरा ग्रहण करता हूं ॥३३॥

[२७८] हे (विश्वे देवासः, आगत) समस्त देवो ! आओ और (इदम् बर्हिः आनिषीदत) इस आसन पर बैठो, (मे इमम् हवम् श्रृणुत) मेरी यह स्तुति सुनो । तू (उपयामगृहीतः असि, त्वा विश्वेभ्यः देवेभ्यः, एषः ते योनिः) विद्वानोंसे ग्रहण किया हुआ है, तुझे विद्वानोंके पास पहुंचाते हैं ! यह तेरा घर ही है, इस कारण (त्वा विश्वेभ्यः देवेभ्यः) तुझे समस्त विद्वानोंसे सहायता प्राप्त होगी ॥ ३४ ॥

[२७९] (मरुत्वः इन्द्र) मरुतोंके साथ रहनेवाले हे इन्द्र ! (यथा शार्याते सुतस्य अपिबः) जिस प्रकार यज्ञ करनेवाले शर्यातिके यज्ञमें सोमरसको तुमने पिया था, उसी प्रकारसे (इह सोमं पाहि) यहां हमारे यज्ञमें सोमकी रक्षा करो और पीओ । हे (शूर) वीर ! (तव प्रणीती, सुयज्ञाः कवयः तव शर्मन् आ विवासन्ति) तुम्हारी उत्कृष्ट नीतिसे, श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले, दूरदर्शी कवि तुम्हारे सुखप्रदस्थानमें चिरकाल तक तुम्हारी उपासना करते हैं, तुम (उपयामगृहीतः असि) धर्म नियमोंको स्वीकार किये हो इस कारणसे (मरुत्वते इन्द्राय त्वा) मरुत देवताओंसे युक्त इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त तुम्हारी स्तुति करता हूं । और (त्वा इन्द्राय मरुत्वते) तुझ परम ऐश्वर्ययुक्त मरुतोंके साथ रहनेवाले इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ ३५ ॥

अग्निको प्रदीप्त करके उसमें इन्द्र और अग्निके लिये हवन करना योग्य है ॥ ३२ ॥

विश्वे देवासः ओमासः चर्षणीधृतः दाशुषः दाश्वासः– सब देव संरक्षणकर्ता हैं, प्रजाका धारण करनेवाले हैं, दाता हैं और उत्तम रीतिसे उदार हैं ।

सुतं आगत– यज्ञमें आओ ।

उपयामगृहीतः त्वा विश्वेभ्य देवेभ्यः ते एषः योनिः– सुनियमोंसे ग्रहण करनेवाले तुझे समस्त देवोंको अर्पण करनेके लिये यह हवन है ॥ ३३ ॥

विद्वान् आगये तो उनको उत्तम आसन बैठनेके लिये देना चाहिये । पश्चात् उनकी स्तुति करनी योग्य है । उनका योग्य गुणवर्णन करनेसे सबका लाभ होता है । स्तुतिका अर्थ यथार्थ गुणवर्णन है ॥ ३४ ॥

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम् ।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ।
उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे ॥३६॥
सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् ।
जहि शत्रूँरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥३७॥

[२८०] (कवयः नूतनाय अवसे) विद्वान् लोग नवीन नवीन रक्षा आदि गुणोंके लिये (मरुत्वन्तम् वृषभम् वावृधानम् अकवारिं दिव्यं शासं विश्वसाहं उग्रं सहोदां तं इन्द्रं इह हुवेम) प्रशंसनीय प्रजा युक्त, सबसे उत्तम, अत्यन्त शुभ गुण और कर्मोंमें उन्नतिको प्राप्त, दुःखोंको निवारण करनेवाले, दिव्य गुणयुक्त, शासनकारी, सर्व सहनशील, प्रचण्ड पराक्रमयुक्त, बलपूर्वक शत्रुको दमन करनेमें समर्थ, उस इन्द्रको यहां बुलाते हैं। हे इन्द्र ! तू जिस कारण (उपयामगृहीतः असि) नियमोंके पालक है, इससे (त्वा मरुत्वते इन्द्राय) तुम्हारा वीरोंके साथ रहनेके कारण हम स्वीकार करते हैं, (एषः ते योनिः) यह स्थान तेरे घरके तुल्य है, इससे (त्वा मरुत्वते इन्द्राय, उपयाम गृहीतः असि) तुझे मरुतोंके साथ रहनेवाले इन्द्रका स्वीकार करते हैं, तू नियमोंका पालक है, इससे (मरुताम् ओजसे त्वा) मरुतोंके पराक्रमके कार्यके लिये तुझे ग्रहण करता हूं ॥ ३६ ॥

[२८१] (सजोषाः मरुद्भिः सगणः) सबको समानभावसे प्रेम करनेवाले, मरुत्‌रूप सैनिकोंके गणोंसे युक्त होकर हे (इन्द्र) इन्द्र ! हे (शूर) शूरवीर ! (विद्वान् वृत्रहा सोमं पिब) विद्वान्, घेरनेवाले शत्रुओंका नाश करनेवाले तुम सोमका पान करो और (शत्रून् जहि, मृधः अपनुद) शत्रुओंको मारो, शत्रु सेनाओंको भी दूर हटादो। तू (नः विश्वतः अभयं कृणुहि) हमें सब ओरसे भयरहित करो । हे इन्द्र ! तू (उपयामगृहीतः असि) नियमोंसे नियुक्त किया गया गया है, मैं (इन्द्राय मरुत्वते त्वा) मरुत् नामक सैनिकोंके स्वामीके स्थानपर तुझे नियुक्त करता हूं। (एषः ते योनिः) यह तेरा आश्रय स्थान है, (इन्द्राय मरुत्वते त्वा) इन्द्र और वीर मरुतोंके स्थानके लिये तुझे स्थापित करता हूं ॥ ३७ ॥

कवयः नूतनाय अवसे– ज्ञानी अपने नवीतम संरक्षणके लिये तेरे पास आते हैं । नवीन संरक्षण करनेवाला बल प्राप्त करना योग्य है ।

वृषभं वावृधानं अकवारिं दिव्यं शासं– बलशाली बढनेवाले, दुःखोंके निवारक, दिव्य शासकको प्राप्त करो । ऐसे उत्तम शासकको शासन कर्मके लिये नियुक्त करो ।

विश्वासाहं उग्रं सहोदां इन्द्रं इह हुवेम– सब कष्ट सह॥३६॥

सजोषाः मरुद्भिः सगणः– मरुत् नामक वीरोंके साथ उत्साहके साथ रहनेवाला इन्द्र है । मरुत् अपने गणोंके अन्दर रहते हैं और वे अपने सैनिकीय कर्तव्य गणोंमें रहकरही करते हैं । मरुतोंकी सेना गणशः रहती है और वे अपने सैनिकीय कर्तव्य गणशः ही करते हैं ।

विद्वान् वृत्रहा इन्द्रः– इन्द्र विद्वान् है और अपने घेरनेवाले शत्रुओंको मारनेवाला है ।

शत्रून् जहि, मृधः अपनुद– शत्रुओंका पराभव कर, तथा शत्रुकी सेनाको भगा दे ।

नः विश्वतः अभयं कृणुहि– हमें सब प्रकारसे निर्भय कर ॥ ३७ ॥

मरुत्वाँ२ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय ।
आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वꣳ राजाऽसि प्रतिपत्सुतानाम् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥३८॥

महाँ२ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः ।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वै—ष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥३९॥

महाँ२ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२ इव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वै—ष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥४०॥

---

[२८२] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (मरुत्वान्, वृषभः, अनुस्वधम्, मदाय रणाय, सोमं पिब) सेनाओंका स्वामी, अत्यन्त श्रेष्ठ बलवाला, तू अपनी धारणा शक्तिके अनुसार, सबको हर्षित करनेके लिये संग्रामके पूर्व सोमका पान कर । (जठरे मध्वः ऊर्मिम् आसिञ्चस्व) अपने उदरमें मधुर रसकी लहरीको प्रवाहित करो । (त्वं सुतानाम् प्रतिपत् राजा असि) तू सोमरसोंका मुख्य राजा ही है । (उपयाम गृहीतः असि इन्द्राय त्वा मरुत्वते) नियमोंके अनुसार तुझे नियुक्त किया है, मरुतों अर्थात् सैनिकोंके स्वामीके लिये तुझे स्वीकार किया जाता है, (एषः ते योनिः, इन्द्राय त्वा मरुत्वते) यह तेरा आश्रय स्थान है, वीरोंके स्वामी इन्द्रके पदके लिये तुझे स्थापित करता हूं ॥ ३८ ॥

[२८३] तुम (उपयाम गृहीतः असि) सुनियमोंसे ग्रहण किये गये हो, इससे (महेन्द्राय त्वा) अत्यन्त उत्तम ऐश्वर्य युक्त होनेके लिये हम लोग तुम्हारी उपासना करते हैं । (उत ते एषः योनिः) तुम्हारी यह उपासना हमारे लिये कल्याणका कारण है, अतः (त्वा महेन्द्राय) तुम जैसे परम ऐश्वर्यसे युक्त होनेके लिये हम तुमको सुपूजित करते हैं, जो (महान् नृवत् आ चर्षणिप्राः, द्विबर्हा अस्मद्र्यक्, अमिनः, उरुः पृथुः कर्तृभिः सुकृतः इन्द्रः भूत्) श्रेष्ठ, नेताके समान अच्छी प्रकार सब मनुष्योंको सुखोंसे युक्त करने, व्यवहार और परमार्थके ज्ञानोंको बढाने, दो प्रकारके ज्ञानसे युक्त हम सबको अपनी सर्वज्ञतासे जाननेवाले, अतुल पराक्रम सम्पन्न, बहुत विस्तारयुक्त, अच्छे कर्म करनेवाले, शुभ कर्म करनेवालेके समान, और अत्यन्त ऐश्वर्यवाले तुम इन्द्र हो । ऐसे तुम्हारा आश्रय किये हुये हम लोग (सहोभिः वीर्याय वावृधे) श्रेष्ठ बलोंके साथ परम उत्कृष्ट वीर्यकी प्राप्तिके लिये दृढ उत्साह युक्त होते हैं ॥ ३९ ॥

[२८४] जो तुम (उपयामगृहीतः असि) सुनियमोंसे ग्रहण किये गये हो, इस कारण हम लोग (त्वा महेन्द्राय) श्रेष्ठ ऐश्वर्यके लिये तुम्हारा आश्रय करते हैं, (ते एषः योनिः) तुम्हारा यह उपासना कार्य हमारे लिये कल्याणका कारण है, अतः (त्वा महेन्द्राय) तुम्हारा, महान् ऐश्वर्यके लिये ध्यान करते हैं । (यः महान् वृष्टिमान् पर्जन्य इव) जो बडे और वर्षनेवाले मेघके तुल्य (वत्सस्य स्तोमैः ओजसा इन्द्रः वावृधे) स्तुतिकर्ताकी स्तुतियोंसे प्रसन्न होकर अपने अनन्त बलके साथ परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सुखकी वर्षा करता है, उसको जानकर मनुष्य अपनी उन्नतिको प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

मरुत्वान् वृषभः- मरुत् नामक सैनिकोंसे बलवान बना इन्द्र है ।

अनुस्वधं मदाय रणाय- अपनी शक्तिके अनुसार आनंद और युद्धके लिये तैयारी कर । वीरोंको उचित है कि वे युद्धके लिये तैयार रहें और उसमें आनंद मानें ।

जठरे मध्व ऊर्मि आसिचस्व- पेटमें मधुर रस भरपूर रखो ।

त्वं सुतानां प्रतिपत् राजा असि- तू मधुर रसोंका महान् स्वामी है ॥ ३८ ॥

महेन्द्राय त्वा- तुम बडे प्रभु होनेके कारण तुम्हारी उपासना हम करते हैं ।

महान् नृवत् आचर्षणिप्राः- तू बडा है और सब मनुष्योंके सुखोंको बढानेवाला है । मानवोंका संरक्षक तू है । इस प्रकार मानवोंका संरक्षक बनना चाहिये ।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यꣳ स्वाहा ॥४१॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥४२॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा ॥४३॥
अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन् ।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥४४॥

---

[२८५] (उत्यम् जातवेदसं सूर्यं देवं) निश्चयसे उस वेदोंके तथा सबके प्रकाशक ईश्वर को ओर (विश्वाय दृशे) समस्त जगतको यथावत् दिखानेके लिये (केतवः उत् वहन्ति) ये किरणें या पताकायें ऊपर फहरा रही हैं। (स्वाहा) उसके लिये यह समर्पण करता हूं ॥ ४१ ॥

[२८६] वह (देवानाम् चित्रं अनीकं) देवोंका विशेष बल, (मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) मित्र, वरुण और अग्निका आंख, (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्) आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्षका धारक, (सूर्यः, जगतः च तस्थुषः आत्मा उद्गात्) सूर्य, जगत् और स्थावरका आत्मा है। (स्वाहा) उसके लिये यह हवि अर्पण करते हैं ॥४२॥

[२८७] हे (अग्ने) सर्वत्र प्रकाश करनेवाले ! हे (देव) दिव्य गुणयुक्त परमेश्वर ! (अस्मान् राये सुपथा नय) हमें ऐश्वर्य प्राप्त करानेके लिये उत्तममार्गसे ले चलो, तुम (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त मार्गोंको जानते हो, कृपा करके (जुहुराणम् एनः अस्मत् युयोधि) कुटिलतारूप पापको हमसे युद्ध कराके दूर कर दो, हम (ते भूयिष्ठाम् नमः उक्तिम् विधेम) तेरे लिये बहुत आदर युक्त वचन कहते हैं; (स्वाहा) यह आहुति हम देते हैं ॥ ४३ ॥

[२८८] (अयं अग्निः नः वरिवः कृणोतु) यह अग्नि हमको धन प्रदान करे, (अयं मृधः अभिन्दन् पुरः एतु) यह संग्राममें द्वेषी सेनादलको छिन्नभिन्न करते करते आगे चले, (अयं वाजसातौ वाजान् जयतु) यह अन्नके विभाग कर देनेके लिये अन्नको जीतकर ले आवे और (जर्हृषाणः अयं शत्रून् जयतु) अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ यह शत्रुओंको जीते; (स्वाहा) हमारी यह आज्य आहुति है ॥ ४४ ॥

द्विबर्हा– ऐहिक और परमार्थिक ऐसे दोनों प्रकारके सुखोंको देनेवाला तू है।

अग्निः उरुः पृथुः– अतुल पराक्रमी, विस्तार करनेवाले महान् वीर हो।

सहोभिः वीर्याय वावृधे– अनेक बलोंके साथ अपना वीर्य–पराक्रम–बढानेके लिये बढते हैं ॥ ३९ ॥

त्यं जातवेदसं सूर्यं देवं विश्वाय दृशे केतवः उत वहन्ति– उस वेदोंको प्रकट करनेवाले, सबके उत्पन्न करनेवाले, सूर्य देवका सबको दर्शन हो इसलिये किरणें फैल रहीं हैं ॥ ४१ ॥

वह ईश्वर सब देवों और संपूर्ण त्रिभुवनोंका आत्मा अर्थात् संचालक है ॥ ४२ ॥

अस्मान् सुपथा राये नय– हम सबको उत्तम मार्गसे धन प्राप्त करनेके मार्गसे चलाओ।

विश्वानि वयुनानि विद्वान्– तू सब कर्मोंको जाननेवाला हो।

अस्मत् जुहुराणं एनः युयोधि– हमसे दुष्ट पापको युद्ध कराके दूर कर। अपने अन्दरके पाप भावको अपने प्रयत्नसे दूर करो।

भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम– तुम्हारे लिये हम इसके लिये बहुत प्रणाम करते हैं ॥ ४३ ॥

अयं अग्निः नः वरिवः कृणोतु– यह अग्रणी हमें धन देवे।

अयं मृधः अभिन्दन् पुरः एतु– यह शत्रुओंको मारकर आगे बढे।

अयं वाजसातौ वाजान् जयतु– यह अन्नका बटवारा करनेके लिये अन्नको जीते।

जर्हृषाणः अयं शत्रून् जयतु– आनंदसे यह शत्रुओंको जीते ॥ ४४ ॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा वि भजतु ।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा[1] वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं[2] यतस्व सदस्यैः[3] ॥४५॥
ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम्[1] ।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमा विशत[2] ॥४६॥

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्त्वमशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे[1] रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्त्वमशीय प्राणो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे[2] बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्त्वमशीय त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे[3] यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्त्वमशीय हयो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे[4] ॥ ४७ ॥

---

[२८९] जैसे मैं (रूपेण वः रूपम् अभि आ अगाम्) अपनी दृष्टिसे आकारको देखता हूं वैसे (विश्ववेदाः वः वि भजतु) सबको जाननेवाले ज्ञानी तुम लोगोंको पृथक् पृथक् कार्यमें विभक्त करें। (तुथः स्वः ऋतस्य पथा अन्तरिक्षम् वि पश्य) सबसे अधिक ज्ञानवाले तुम सूर्यके समान सत्यके मार्गसे अन्तरिक्षको देखो। (सदस्यैः प्र यतस्व) सभासदोंके साथ सत्य मार्गसे विशेष प्रयत्न करो। तथा हे (चन्द्रदक्षिणाः) सुवर्णके दान करनेवाले ! तुम लोग धर्मको (वीत) विशेषतासे प्राप्त होओ ॥ ४५ ॥

[२९०] मैं (अद्य पितृमन्तम् पैतृमत्यम् ऋषिम् आर्षेयम् सुधातु दक्षिणम् ब्राह्मणम् विदेयम्) आज विख्यात विद्वान् यशस्वी पिताके सुपुत्र, जनमान्य पितामहवाले, मन्त्रोंको जाननेवाले, ज्ञानसे विख्यात, जिनके निकट सम्पूर्ण सुवर्णदक्षिणाका संचय होता है ऐसे सर्वगुण सम्पन्न ब्राह्मणको प्राप्त करूं। और (अस्मद् राताः देवत्रा गच्छत) हमारे द्वारा दी गई सम्पूर्ण दक्षिणा देवताओंसे अधिष्ठित ऋत्विक् गणके समीप जाये और देवताओंको तृप्त करे (प्रदातारम् आविशत) उत्कृष्ट दानशील यजमानमें इस यज्ञका फल देनेके लिये प्रवेश करे ॥ ४६ ॥

[२९१] जिस (अग्नये मह्यम् त्वा वरुणः ददातु, सः अमृतत्त्वम् अशीय) अग्निके समान तेजस्वी होनेके लिये मुझे तुझको सर्वोत्तम विद्वान् वरुण देवे, वह मैं अपने पवित्र कर्मोंसे सिद्ध किये अमृतत्वको प्राप्त होऊं। उस (दात्रे आयुः एधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यम् मयः) दानशील विद्वान्का बहुत कालपर्यन्त जीवन बढाइये और विद्या ग्रहण करनेवाले मुझ ब्रह्मचारीके लिये सुखकी वृद्धि कीजिये। जिस (रुद्राय मह्यम् त्वा वरुणः ददातु) चालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य आश्रमका सेवन करके रुद्रके गुण धारण करनेकी इच्छावाले मेरे लिये रुद्रनामक पढानेवाले तुमको अत्यन्त उत्तम गुणयुक्त देवे (सः अमृतत्वम् आशीय) वह मैं अमृतत्वको प्राप्त होऊं, उस (दात्रे प्राणः एधि) विद्या देनेवाले विद्वान्के लिये प्राणका बल प्राप्त कराइये, और (प्रतिगृहीत्रे मह्यम् वयः) विद्या ग्रहण करनेवाले मेरे लिये दीर्घ आयु प्राप्त कराइये। जिस (बृहस्पतये मह्यम् त्वा वरुणः ददातु सः अमृतत्त्वम् अशीय) मुझ बृहस्पतीके लिये तुमको विद्वान् देवे, वह मैं अमृतत्त्वका भोग करूं। उस (दात्रे त्वक् एधि) पूर्ण विद्या देनेवाले महाविद्वान्के अर्थ स्पर्शका सुख बढाइये और (प्रतिग्रहीत्रे मह्यम् मयः) विद्याके ग्रहण करनेवाले मुझ शिष्यके लिये पूर्ण विद्याका सुख दीजिये। जिस (यमाय मह्यम् त्वा वरुणः ददातु सः अमृतत्त्वम् अशीय) यमके लिये मुझे तुझे वरुण देवे, वह मैं मुक्तिके सुखको प्राप्त होऊं। उस (दात्रे हयः एधि) ब्रह्मविद्या देनेवाले महाविद्वान्के लिये ब्रह्मज्ञानकी वृद्धि करो, और (प्रतिग्रहीत्रे मह्यम् वयः) मोक्ष विद्याके ग्रहण करनेवाले मेरे लिये आयुको प्राप्त कराइये ॥ ४७ ॥

रूपेण वः रूपं अभि आ अगाम्– अपना दृष्टिसे मैं आपके स्वरूपको देखता हूं। अपनी दृष्टी उत्तम रहे और उससे दूसरोंके रूप उत्तम रीतिसे देखे जांय।

तुथः स्वः ऋतस्य पथा अन्तरिक्षं वि पश्य– ज्ञानी अपने सत्य मार्गसे अन्तरिक्षको विशेष रीतिसे देखें। अन्तरिक्षका उत्तम रीतिसे निरीक्षण करना चाहिये।

सदस्यैः प्रयतस्व– सभासदोंके साथ रह कर उन्नतिके लिये प्रयत्न कर।

×

कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥ ४८ ॥

[अ० ७, कं० ४८, मं० सं० १४०]

इति सप्तमोऽध्यायः ।

---

[२९२] (कः अदात्) कौन देता है ? और (कस्मै अदात्) किसके लिये देता है ? (कामः अदात्) काम देता है, (कामाय अदात्) कामकोही देता है । (कामः दाता) कामही दाता है और (कामः प्रतिग्रहीता) कामही लेनेवाला है । हे (काम) काम ! (ते एतत्) तेरे लिये यह सब है ॥ ४८ ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

चन्द्रदक्षिणाः ! वीत- हे सुवर्णका दान देनेवालो ! तुम विशेषताको अपने अन्दर बढाओ । तुम विशेष गुणसंपन्न बनो ॥ ४५ ॥

उत्तम कुलीन विद्वान ब्राह्मणको प्राप्त कर ।

अस्मत् राताः देवत्रा गच्छत- हमारी दक्षिणा देवताओं-तक पहुंचे । ऐसे विद्वानको दक्षिणा दी जाय कि जिनके द्वारा देवता गण उत्तम रीतिसे संतुष्ट बने ।

प्रदातारं आविशत- दानशीलको दानका फल प्राप्त हो ॥ ४६ ॥

कः अदात्- कौन देता है ?

कस्मै अदात्- किसको देता है ?

कामः अदात्- काम देता है ।

कामाय अदात्- कामके लिये देता है ।

कामः दाता- काम देनेवाला है ।

कामः प्रतिग्रहीता- काम ही लेनेवाला है ।

हे काम ! ते एतत्- हे काम ! तेरा यह सब है ।

कामसेही सब कुछ बनता है । काम ही सबका कारण है ॥ ४८ ॥

॥ सातवा अध्याय समाप्त ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा । विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥१॥
कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत आदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥
कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य सवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥
यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः ।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

---

[२९४] तू (उपयामगृहीतः असि) नियमों द्वारा बांधा हुआ है । (त्वा आदितेभ्यः) आदित्यके समान तेजस्वियोंके लिये तुझे देता हूं । हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! हे (उरुगाय) महान् कीर्तिवाले ! (एष सोमः ते) यह सोम तेरे लिये है (तम् रक्षस्व) उसकी रक्षा करो । शत्रु (त्वा मा दभन्) तुझे पीडा न दें ॥ १ ॥

[२९५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुम (कदाचन स्तरीः न असि) कभी भी हिंसक नहीं हो, और (दाशुषे उप नु उप इत् सश्चसि) दाताके लिये उसके अत्यन्त समीपके स्थानमें रहते हो । हे (मघवन्) उत्तम धनैश्वर्य सम्पन्न इन्द्र ! (इन्नू भूपः) यजमानके द्वारा दी हुई हविके परिवर्तनमें (ते देवस्य दानम् उपपृच्यते) तुझ देवका दान विशेष संपन्न होता है । हे इन्द्र ! मैं (आदित्येभ्यः त्वा) आदित्योंकी प्रीतिके निमित्त तुम्हारी उपासना करता हूं ।।२।।

[२९६] हे (आदित्य) आदित्य, हे प्रकाशमान् ! तू (कदाचन प्र युच्छसि) कभी भी प्रमाद नहीं करता है, तू (उभे जन्मनी निपासि) दोनो जन्मोंको उत्तम रीतिसे पालन करता है । हे (तुरीय) सबसे अधिक उच्च ! (ते सवनम् इन्द्रियम् दिवि अमृतम् आतस्थौ) तेरा सबको प्रेरणा करनेवाला ऐश्वर्यवान् प्रकाशमय ज्ञान अमर रहा है, अविनाशी अखण्डरूप होकर स्थिर रहा है, (त्वा आदित्येभ्यः) तुझको समस्त ज्ञानी पुरुषोंके मुख्य पदपर स्थापित करता हूं ॥ ३ ॥

[२९७] (यज्ञः देवानाम् सुम्नम् प्रत्येति) यज्ञ देवोंके सुखके लिये आता है । इस कारण हे (आदित्यासः) आदित्य गणो ! तुम (आमृडयन्तः भवत) सबके लिये सुखकारी हो कर रहो । (वः सुमतिः अर्वाची आववृत्यात्) तुम्हारी जो उत्तम बुद्धि है वह हमारे पास आकर रहे, और (अंहः चित् या वरिवोवित्तरा असत्) पापकारीकी जो मति धनके उपार्जन करनेमें लगी है वह हमारे साथ मिलकर रहे । (आदित्येभ्यः त्वा) आदित्योंकी प्रीतिके निमित्त तुमको ग्रहण करता हूं ॥ ४ ॥

उपयामगृहीतः असि– तू नियमोंसे बंधा है । नियमोंको पालनेवाला है ।

आदितेभ्यः त्वा– तेजस्वियोंके पास तुझे पहुंचाता हूं ।

त्वा मा दभन्– शत्रु तुझे न दबावें । शत्रु तेरे ऊपर कबजा न करें ॥ १ ॥

कदाचन स्तरीः न असि– तू कभी हिंसक नहीं बनता है ।

दाशुषे उप सश्चसि इत्– तू दाताके समीप रहता है ।

हे मघवन् ! ते देवस्य दानं उपपृच्यते– हे इन्द्र ! तुझ देवका दान बडा महत्वपूर्ण होता है ॥ २ ॥

आदित्यः– ब्रह्मचारी जो ४८ वर्षपर्यंत पूर्ण ब्रह्मचर्यमें रहता है ।

कदाचन प्रयुच्छसि– कभी भी प्रमाद नहीं करता ।

उभे जन्मनी निपासि– दोनों जन्मोंमें कर्तव्यका पालन करता है । ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो आश्रम हैं । इनमें उत्तम नियमोंका पालन करके रहनेवाला यह है ।

तुरीय– उत्तम श्रेष्ठ आचरण करनेवाला, सबसे श्रेष्ठ, सर्वोच्च बनकर रहनेवाला ।

ते सवनं इन्द्रियं दिवि अमृतं आतस्थौ– तेरा यज्ञीय

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व ।
श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः ।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे ॥ ५ ॥
वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यꣳ सावीः ।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ६ ॥
उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि ।
जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ ७ ॥

---

[२९८] हे (विवस्वन् आदित्य) विविध प्रकारसे सबका निवास करनेवाले आदित्य ! (एषः ते सोमपीथः) यह तुम्हारा सोमका रस पीनेका यज्ञ स्थान है। (तस्मिन् विश्वाहा मत्स्व) उसमें तुम सब दिन आनन्दित होकर रहो। हे (नरः) मनुष्यो ! तुम लोग (अस्मै वचसे अत् दधातन) इस भाषणके लिये सत्यकाही धारण करो (यत् गृहे दम्पती वामं अश्नुतः) जब गृहाश्रममें स्त्री पुरुष प्रशंसनीय धर्मका पालन करते हैं, उस समय (आशीर्दा अरपः पुमान् पुत्रः जायते) आशीर्वाद देनेमें समर्थ, निष्पाप पुरुषार्थी पुत्र उत्पन्न होता है, और वह (वसु विन्दते) धनको प्राप्त करता है, (अधः एधते) इसके अनन्तर वह विद्या और धनसे बढता है ॥ ५ ॥

[२९९] हे (सवितः) सबके उत्पादक ! (अद्य वामम् सावीः) आज उत्तम सुख उत्पन्न करो और (उश्वः) आगामी दिन भी उत्तम सुख उत्पन्न करो तथा (अस्मभ्यं दिवे दिवे वामम्) हमारे लिये प्रतिदिन उत्तम सुख उत्पन्न करो। हे (देव) दिव्यगुण युक्त ! हम (हि वामस्य भूरेः क्षयस्य अयाधिया वामभाजः स्याम) निश्चयसे बहुत उत्तम ऐश्वर्योंसे युक्त, घरमें रहनेवाले हम इस उत्तम बुद्धिसेही सब उत्तम सुखोंका भोग करनेवाले हों ॥६॥

[३००] तू (उपयामगृहीतः असि) नियमों द्वारा बद्ध है, (सावित्रः चनोधाः असि) सविताका उपासक और अन्न समृद्धिको करनेवाला है क्योंकि तूही (चनोधाः असि) अन्नादिको धारण करता है । तू (मयि चनः धेहि) मुझे अन्न प्रदान कर । (यज्ञं जिन्व, यज्ञपतिं जिन्व) यज्ञको संपूर्ण कर और यज्ञपतिको परिपूर्ण कर (भगाय देवाय सवित्रे त्वा) समस्त ऐश्वर्यमय देव सविताके लिये तुझको नियुक्त करता हूं ॥ ७ ॥

जीवन, इन्द्रकी प्रभावी शक्तिसे युक्त होकर, स्वर्गीय जीवन जैसा प्रभावशाली हो गया है।

त्वा आदित्येभ्यः– संपूर्ण उत्तम ब्रह्मचारियोंमें तू श्रेष्ठ है। ऐसा श्रेष्ठ बनना योग्य है ॥ ३ ॥

यज्ञः देवानां सुम्नं प्रत्येति– यज्ञ देवोंको प्रसन्नताके लिये होता है ।

आदित्यासः आमृडयन्तः भवत– सूर्यप्रकाश सुख देनेवाला हो ।

वः सुमतिः अर्वाची आववृत्यात्– तुम्हारी उत्तम बुद्धि हमारे पास आवे ।

अंहः चित् वरिवोवित्तरा असत्– पापी मनुष्यकी बुद्धि केवल धनको प्राप्त करनेमें ही लगी रहती है ॥ ४ ॥

विश्वाहा मत्स्व– सब दिनोंमें आनंदित रहो ।

हे नरः ! अस्मै वचसे अत् दधातन– हे मनुष्यो ! इस भाषणके लिये सत्यका आश्रय करो । सत्यका आश्रय करकेही भाषण करना चाहिये ।

गृहे दम्पती वामं अश्नुतः– घरमें स्त्रीपुरुष, पतिपत्नी मिलकर, धर्मका पालन करते रहें ।

आशीर्दाः अरपः पुमान् पुत्रः जायते– आशीर्वाद देनेमें समर्थ निष्पाप पुरुष पुत्र उनको होता है । पुत्रको सुशिक्षा देकर ऐसा समर्थ पुत्र उत्पन्न करना योग्य है ।

वसु विन्दते– वह धन कमाता है ।

अधः एधते– वह विद्या और धन प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

अद्य वामं सावीः– आज उत्तम सुख उत्पन्न करो ।

उश्व– कल भी उत्तम सुख उत्पन्न करो ।

अस्मभ्यं दिवे दिवे वामं– हमारे लिये प्रतिदिन उत्तम सुख मिले ।

भूरेः वामस्य क्षयस्य अयाधिया वामभाजः स्याम– बहुत सुख देनेवाले इस घरके हम अपनी इस बुद्धिसे सुख प्राप्त करनेवाले हों ॥ ६ ॥

उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मांऽसि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः ।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ ॥

उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त इन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ२ ऋध्यासम् ।
अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहꣳ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ ९ ॥

अग्ना३इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा ।
प्रजापतिर्वृषाऽसि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥१०॥

---

[३०१] हे (उपमयागृहीतः असि) सुनियमोंसे बद्ध है, तू (सुशर्मा असि) उत्तम सुखकारी घरवाला है। (बृहद् उक्षाय नमः) बडे कार्यके भारका करनेवाले तुझे प्रणाम हो। (त्वा विश्वेभ्यः देवेभ्यः) तुझको समस्त विद्वानोंके लिये नियुक्त करता हूं। (एषः ते योनिः) यह तेरा स्थान है (विश्वेभ्यः देवेभ्यः त्वा) समस्त देवोंके लिये तुझको स्थापित करता हूं ॥ ८ ॥

[३०२] तू (उपयामगृहीतः असि) उत्तम नियमोंसे बद्ध है। हे (देव, सोम) देव! सोम! (इन्द्रियावतः इन्द्रोः पत्नीवतः बृहस्पतिसुतस्य ते ग्रहान् ऋध्यासम्) ऐश्वर्यवान्, सबके आह्लादक, अपनी पालक-शक्तिसे युक्त, ज्ञानदेनेवाली वाणीके पालक विद्वान्के द्वारा प्रेरित तेरे निमित्त समस्त अङ्गोंको मैं समृद्ध करता हूं। (अहं परस्ताद् अवस्तात्) मैं परेसे परे और अति समीपसे भी वृद्धिको प्राप्त होऊं। (यद् अन्तरिक्षं तत् उमे पिता अमूत्) जो अन्तरिक्ष है वह भी मेरा पालक ही है। (अहं सूर्यम् उभयतः ददर्श) मैं सूर्यको दोनों ओर देखूं। ओर (देवानां गुहा यत् परमं) विद्वानोंके हृदयमें जो परम तत्व ज्ञान हो उसका भी दर्शन करूं ॥ ९ ॥

[३०३] हे (अग्ने) तेजस्वी देव! (सजूः, देवेन त्वष्ट्रा स्वाहा सोमम् पिब) समान प्रीति करनेवाले तुम, दिव्य सुख देनेवाले, सबके उत्पादक सत्यवाणीके द्वारा बनाये सोमरसको पियो। हे (पत्नीवन्) स्त्रीसे युक्त! (वृषा, रेतोधाः प्रजापतिः असि) वीर्यवान् वीर्य धारण करने और सन्तानके पालनेवाले तुम हो, वह (मयि रेतः धेहि) मुझमें वीर्यको धारण करो। मैं (वृष्णः रेतोधसः प्रजापतेः ते रेतोधां अशीय) वीर्य सींचने पराक्रम धारण करने और सन्तानादिकी रक्षा करनेवाले तुम्हारे संबंधसे वीर्यवान् अति पराक्रम युक्त पुत्रको प्राप्त होऊं ॥ १० ॥

उपयाम गृहीतः असि– तूं सुनियमोंसे उत्तम रीतिसे बंधा है।

चनोधाः असि– अन्नका धारण करनेवाला तू है।

मयि चनः धेहि– मुझे अन्न दो।

यज्ञं जिन्व– यज्ञको पूर्ण कर।

यज्ञपतिं जिन्व– यजमानको परिपूर्ण कर। उसमें न्यूनता न रहे ऐसा करो ॥ ७ ॥

सुशर्मा असि– तू उत्तम घरवाला अथवा नामवाला है।

बृहद उक्षाय नमः– बडे कार्यभारका सहन करनेवालेके लिये प्रणाम ॥ ८ ॥

अहं परस्तात् अवस्तात्– मैं दूरसे और समीपसे जानता हूं।

देवानां गुहा परमं– ज्ञानियोंके हृदयमें जो परम श्रेष्ठ तत्त्व है, उसको मैं देखूं ॥ ९ ॥

वृष्णः रेतो धाः प्रजापतिः असि– तू बलवान् वीर्यका धारण करनेवाला, प्रजाका पालन करनेवाला है।

मयि रेतः धेहि– मुझमें वीर्य धारण हो ऐसा करो।

वृष्णः रेतोधसः प्रजापतेः ते रेतोधां अशीय– बलवान् वीर्यवान् प्रजापालक को वीर्य धारण करनेकी शक्ति मुझे प्राप्त हो और वह शक्ति मुझमें स्थिर रहे ॥ १० ॥

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा[1] । हर्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय[2] ॥११॥
यस्ते अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि[1] ॥१२॥

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि[1] मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि[2] पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस एनसोऽवयजनमसि[5] ।
यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि[6] ॥१३॥

---

[३०४] तू (उपयामगृहीतः असि) सुनियमोंके द्वारा बंधा हुआ है और (हरिः असि) दुःखोंको दूर करनेवाला है तथा (हरियोजनः) दुखोंको दूर करनेकी आयोजना करनेवाला है। मैं (त्वा हरिभ्यां) तुझको दुःख दूर करनेवाले और उसके संचालन करनेवाले इन दोनोंके लिये नियुक्त करता हूं। तुम सब लोग (सह सोमाः इन्द्राय हर्योः धानाः स्थ) सोमके साथ परमेश्वर्यके पद पर धारण करनेहारे हो ॥ ११ ॥

[३०५] (यः ते अश्वसनिः) जो तेरा घोडों से युक्त और (यः गोसनिः) जो गौ आदि पशुओंसे युक्त है और उस (भक्षुः) अन्नका जो भोक्ता है, (तस्य इष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्य) उस यज्ञ करनेवाले तथा प्रशस्त स्तुति करनेवाले, श्रेष्ठ विद्वान्के साथ (उपहूतस्य) आदर पूर्वक आमन्त्रित अर्थात् (उपहूतः भक्षयामि) बुलाया गया मैं उक्त अन्नका भोग करूं ॥ १२ ॥

[३०६] तू (देवकृतस्य एनसः अवयजनम् असि) विद्वानोंके किये अपराधको दूर करनेवाला है। तू (मनुष्यकृतस्य एनसः अवयनम् असि) मनुष्यों द्वारा किये पापको भी दूर करनेवाला है। इसी प्रकार (पितृकृतस्य एनसः अवयजनम् असि) तू पिताने किये पापको दूर करता है। (आत्मकृतस्य एनसः अवयजनम् असि) स्वयं अपने किये गये अपराधको दूर करनेमें समर्थ है। (एनसः एनसः अवयजनम् असि) तू एक पापके कारण उत्पन्न होनेवाले दूसरे पापको भी दूर करनेवाला है। और (यत् च एनः अहं विद्वान् चकार, यत् च अविद्वान् तस्य सर्वस्य एनसः अवयजनम् असि) जो अपराध मैं जान बूझकर करूं, अथवा जो अपराध बिना जाने करूं, उन सब प्रकारके अपराधोंको तू दूर करनेमें समर्थ है ॥ १३ ॥

हरिः असि- तू दुखोंको दूर करनेवाला है।

हरि-योजना- दुःख दूर करनेकी योजना करनेवाला तू है।

त्वा हरिभ्यां- तुझे दुःख दूर करनेकी दो योजनाओंसे नियुक्त करता हूं। दुःखका कारण दूर करना और दुःख दूर करना ये दो प्रकार अवलंबन करने योग्य हैं।

इन्द्राय हर्यो धानाः स्थ- परमेश्वरके स्थानमें दुःख दूर करनेका कार्य करनेवालोंको स्थापन कर। दुःख दूर करनेका कार्य ईश्वरका कार्य है। अतः जो दूसरोंके दुःखको दूर करते हैं वे श्रेष्ठ हैं ॥ ११ ॥

जो अश्वमेध तथा गोमेध करते हैं, उनके निमंत्रित होनेपर यज्ञस्थानमें आकर मैं यज्ञशेष अन्नका प्रसाद भक्षण करता हूं ॥ १२ ॥

देवकृतस्य मनुष्यकृतस्य पितृकृतस्य आत्मकृतस्य एनस एनसः अवयजनं असि- देवों, मनुष्यों, पितरों और आत्मा आदिकों द्वारा जो पाप बने हैं, उन सबका निराकरण करना योग्य है।

यत् च एनः अहं विद्वान् चकार, यत् च अविद्वान् चकार, तस्य सर्वस्य एनसः अवयजनं असि- जो पाप मैंने जान बूझकर किया है, जो पाप न जानते हुए हुआ है, उन सब पापोंका तू निराकरण करनेवाला है।

सब प्रकारके पापोंको दूर करना योग्य है ॥ १३ ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१४॥

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सꣳ सूरिभिर्मघवन्त्सꣳ स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाꣳ सुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥१५॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१६॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥१७॥

---

[३०७] हम (वर्चसा पयसा तनूभिः शिवेन मनसा सम् अगन्महि) तेज, जल, उत्तम शरीर और कल्याण करनेवाले विचार करनेवाले चित्तसे सदा संयुक्त हों । (सुदत्रः रायः विदधातु) उत्तम दानके देनेवाला विद्वान् हमें ऐश्वर्य प्रदान करें । और (यत् तन्वः विलिष्टम् अनुमार्ष्टु) जो हमारे शरीरका पीडित भाग हो उनको ठीक तरह दुरुस्त करें ॥ १४ ॥

[३०८] हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् और हे (मघवन्) धनयुक्त परमात्मन् ! तु (नः मनसा गोभिः सूरिभिः सं नेषि) हमें मनसे गो आदि पशुओं और विद्वान् पुरुषोंके साथ संयुक्त कर । और (ब्रह्मणा देवकृतम् यत् अस्ति सं नेषि) ज्ञानपूर्वक दिव्य मनुष्यों द्वारा जो उत्तम कर्म किया जाता है, उससे भी हमें संयुक्त कर । और (यज्ञियानां देवानां सुमतौ स्वाहा स्वस्त्या सं नेषि) सत्संग करनेयोग्य श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषोंके शुभ मतिके साथ हमें उत्तम वाणी द्वारा सुखपूर्वक सब कुछ प्राप्त करा ॥ १५ ॥

[३०९] हम सब लोग (वर्चसा पयसा तनूभिः शिवेन मनसा सं अगन्महि) तेज, जल, दृढ शरीरों और कल्याणकारी शुद्ध मनसे भली प्रकार संयुक्त रहें । (सुदत्रः त्वष्टा रायः विदधातु) उत्तम पदार्थोंका दाता सर्वोत्पादक परमेश्वर हमें समस्त ऐश्वर्य प्रदान करे और (तन्वः यत् विलिष्टम् अनुमार्ष्टु) हमारे शरीरमें जो कुछ अनिष्टकारक पदार्थ हों उसको दूर करे ॥ १६ ॥

[३१०] (धाता रातिः सविता प्रजापतिः निधिपाः अग्निः देवः त्वष्टा विष्णुः इदं जुषन्ताम्) धाता, राति, सविता, प्रजापति, अग्नि, त्वष्टा और विष्णु ये सब देवगण इस हमारी हवि को सेवन करें, और ये देवतायें (प्रजया संरराणाः यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा) संततिके साथ भली प्रकार रमण करनेवाले यजमानके लिये धनका प्रदान करें, यह हमारी आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १७ ॥

वर्चसा पयसा तनूभिः शिवेन मनसा सं अगन्महि– तेज, जल, शरीर, शुद्ध मन आदिसे हम योग्य रीतिसे संयुक्त हों । हमारे ये भाग उत्तम कार्यक्षम हों ।

सुदत्रः रायः विदधातु– उत्तम दान देनेवाला हमें धन देवे ।

यत् तन्वः विलिष्टं, अनुमार्ष्टु– जो शरीरमें दोष हुआ है वह दूर हो ॥ १४ ॥

नः गोभिः सूरिभिः संनेषि– हमें गौओं और ज्ञानियोंके साथ संयुक्त कर ।

ब्रह्मणा देवकृतं यत् अस्ति, संनेषि– ज्ञानके साथ, तथा विद्वानोंने जो शुभ कर्म किये हैं उनके साथ हमारा संबंध जोड दे ।

यज्ञियानां देवानां सुमतौ संनेषि– यज्ञ करनेवाले ज्ञानियोंकी बुद्धिके साथ हम संबंधित हों ॥ १५ ॥

वर्चसा पयसा तनूभिः शिवेन मनसा सं अगन्महि– तेज, शुभ जीवन, शरीर, शुभ मनके साथ हमारा नित्य संबंध रहे ।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदꣳ सवनं जुषाणाः ।
भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥१८॥

याँ२ आऽवह उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳ स्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥१९॥

वयꣳ हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह ।
ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुप याहि विद्वान्त्स्वाहा ॥२०॥
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित । मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥२१॥

[३११] हे (देवाः) देवताओ ! (ये इदम् सवनम् जुषाणा आजग्म वः सदना सुगाः अकर्म) जो तुम इस यज्ञको सेवन करते हुये इस स्थानमें आये हो, वे तुम्हारे स्थान सुखसे प्राप्त होने योग्य कर दिये हैं। (वसवः) सबको बसानेवाले देवताओ ! (हवींषि भरमाणाः वहमाना अस्मे वसूनि धत्त स्वाहा) हवियोंको भोग करते हुये, और उसको वहन करते हुये, हमारे लिये धनोंका दान करो, यह सत्य कथन है ॥ १८ ॥

[३१२] हे (अग्ने) अग्नि ! हे (देव) प्रकाशमान ! (यान् उशतः देवान् आवहः, तान् देवान् स्वे सधस्थे प्रेरय) जिन यज्ञकी इच्छा करनेवाले देवताओंको तुम बुलाकर लाये हो, उन देवताओंको अपने अपने स्थानमें प्रेरित करो, और (विश्वे जक्षिवांसः पपिवांसः च असुम् धर्मम् स्वः अन्वातिष्ठत स्वाहा) तुम सब लोग यज्ञके अन्नको भक्षण करते और सोमरस पीते हुये भी, इस समय यज्ञ समाप्ति में प्राण रक्षण करनेवाले वायु मण्डलमें अथवा अत्यन्त तेजयुक्त आदित्य मण्डलका आश्रय करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १९ ॥

[३१३] हे (अग्ने) अग्नि ! (हि इह अस्मिन् यज्ञे प्रयति होतारम् त्वा वयम् अवृणीमहि) इस स्थानमें इस यज्ञके प्रवृत्त होनेमें होमके निष्पादक तुझको हमने वरण किया; इसी कारण (ऋधक् अयाः उत् ऋधक् अशमिष्ठाः) यज्ञको वृद्धि देते हुये तुमने यज्ञ कराया, और समृद्धिपूर्वक यज्ञके विघ्नोंको शान्त किया, अब (विद्वान् यज्ञम् प्रजानन् उपयाहि स्वाहा) ज्ञानवान् तुम, यज्ञको पूर्ण हुआ जानकर अपने स्थानको गमन करो, यह आहुति भली प्रकार स्वीकृत हो ॥ २० ॥

[३१४] हे (गातुविदः देवाः) धर्म मार्गोंको जाननेवाले विद्वानो ! तुम लोग (गातुम् वित्त्वा) धर्मके मार्गोंको जानकर (गातुम् इत) योग्य मार्गको प्राप्त करो, योग्य मार्गसे चलो। हे (मनसस्पते देव) मनके अधिपति विद्वान् ! तुममेंसे प्रत्येक (स्वाहा इमं यज्ञं वाते धाः) स्वाहा करके होनेवाले इस यज्ञको विशेष रीतिसे जान कर इस यज्ञको करो ॥ २१ ॥

सुदत्रः रायः विदधातु– दाता धन देवे।

तन्वा यत् विलिष्टं, अनुमार्ष्टु– शरीरमें जो अनिष्टकारक हो वह सब दूर हो जाय ॥ १६ ॥

धाता– धारण करनेवाला। रातिः– दाता।

सविता– उत्पन्न करनेवाला।

प्रजापतिः– प्रजाका पालन कर्ता। अग्निः– अग्रणी।

त्वष्टा– निर्माण करनेवाला। विष्णुः– व्यापक देव ॥१७

गातुविदः देवाः– योग्य मार्गको जाननेवाले ज्ञानी जन।

गातुं वित्वा गातुं इत– योग्य मार्गको जानकर उस मार्गसे चले।

मनसस्पते देव ! – हे अपने मनपर उत्तम अधिकार रखनेवाले ज्ञानी !

इमं यज्ञं वाते धाः– इस यज्ञको सुगंधित पदार्थोंसे करो और वायुको शुद्ध बनावो ॥ २१ ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ।
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा ॥२२॥
माहिर्भूर्मा पृदाकुः । उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ।
नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः ॥२३॥
अग्नेरनीकमप आ विवेशापां नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम् ।
दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा ॥२४॥
समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः ।
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा ॥२५॥

---

[३१५] हे (यज्ञ) यज्ञ करनेवाले ! तू (यज्ञं गच्छ) यज्ञके पास पहुंचो ! (यज्ञपतिं गच्छ) यज्ञके करनेवालेके पास जाओ । तू (स्वां योनिं गच्छ) अपने आश्रय स्थानको प्राप्त कर, (स्वाहा) यह समर्पण करता हूं । हे (यज्ञपते) यजमान ! (ते एषः यज्ञः) तेरा ही यह यज्ञ (सहसूक्त वाकः सर्ववीरः) उत्तम वेदके सूक्तोंके मनन करनेवाले विद्वान् और अनेक वीर पुरुषोंसे युक्त है (तं स्वाहा जुषस्व) उसको तू उत्तम रीतिसे स्वाहाकार करके करो ॥ २२ ॥

[३१६] तू (अहिः मा भूः) सांपके समान दुष्ट न बन, (मा पृदाकुः) अजगरके समान हिंसक मत बन, (वरुणः राजा सूर्याय अनु एतवै उ उरुं पन्थां चकार) वरुण नामक श्रेष्ठ ईश्वरने सूर्यके जानेके लिये विशाल मार्ग बना दिया है वह (अपदे पादा प्रतिधातवे अकः) जहां पैर भी नहीं रखा जा सके, ऐसे स्थानमें भी दौडनेके लिये योग्य मार्ग बना देता है, और वह (हृदयाविधः चित् अपवक्ता) हृदयको दुःख देनेवाले दुष्टोंका निग्रह करनेवाला है, ऐसे (वरुणाय नमः) सर्वश्रेष्ठ पापोंके निवारण करनेवाले ईश्वरको नमस्कार है । (वरुणस्य पाशः अभिष्ठितः) ऐसे सर्वश्रेष्ठ ईश्वरका दमनकारी पाश सर्वत्र स्थिर है ॥ २३ ॥

[३१७] हे (अग्ने) अग्नि ! जो तुम्हारा (अपान्नपात् अनीकम् अपः आविवेश) जलोंको न गिरानेवाला सामर्थ्य है उसको जलोंमें प्रविष्ट करो । और (दमे दमे असुर्यम् प्रतिक्षन् समिधं यक्षि) प्रत्येक गृहमें असुरकृत विघ्नसे रक्षा करते हुये समिधाओंसे यज्ञ करो । हे (अग्ने) अग्नि ! (ते जिह्वा घृतम् प्रतिउच्चरण्यत् स्वाहा) तुम्हारी ज्वाला घृतके प्रति उद्यत हो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २४ ॥

[३१८] (ते हृदयम् अप्सु अन्तः समुद्रे) तेरा हृदय जलाशयके अन्दर अर्थात् समुद्रमें, कार्योंके महासागरमें लगे । और (त्वाम् ओषधीः उत् आपः आविशन्तु) तेरे प्रति औषधियां और जलप्रवाह चलते रहें । हे (यज्ञपते) यज्ञके पालक ! (यज्ञस्य सूक्तोक्तौ नमोवाके यत् स्वाहा त्वा विधेम) जिसमें वेदके सूक्त कहे जांय, ऐसे उत्तम यज्ञ कार्यमें, और वैदिक वचनोंके उच्चारणके समयमें जो हवनके योग्य पदार्थ हैं वह तुझे हम अर्पण करें ॥ २५ ॥

यज्ञं गच्छ- यज्ञके पास जाओ ।

यज्ञपतिं गच्छ- यज्ञ करनेवालेके पास जाओ ।

स्वां योनिं गच्छ- अपने स्थानको जाओ ।

एष यज्ञः सह सूक्तवाकः सर्ववीरः तं जुषस्व- यह यज्ञ मंत्रोंके सूक्तोंके बोलनेसे हो रहा है, सब वीर यहां आ गये हैं, उस यज्ञके पास जाओ ॥ २२ ॥

अहिः मा भूः- सर्प जैसा दुष्ट न बन ।

पृदाकुः मा भूः- अजगर जैसा दुष्ट न बन ।

अपदे पादा प्रतिधातवे अकः- जहां पांव रखना कठिन है, वहां दौडनेके लिये योग्य मार्ग बना दिया है ।

हृदयाविधः चित् उपवक्ता- हृदयको कष्ट देनेवाले दुष्टोंका विनाशक ।

४

देवीराप एष वो गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतं बिभृत ।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥२६॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ।
देवानाꣳ समिदसि ॥२७॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह । यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति ।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥२८॥

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी । अङ्गान्यहुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा २९

[३१९] हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (वः एषः गर्भः तम् सुप्रीतं सुभृतं बिभृत) तुम्हारा यह उत्पत्ति स्थान है उसको उत्तम रीतिसे और प्रीतिसे पोषण करके धारण करो । हे (देव सोम) देव सोम ! (ते एषः लोकः च तस्मिन् शम् वक्ष्व परिवक्ष्व च) तुम्हारा यह स्थान है और उसमें ही रहकर सुखको प्राप्त करो तथा हमारे सब दुःखोंको दूर कर हमारी रक्षा करो ॥ २६ ॥

[३२०] हे (अवभृथ) स्नातक ! और हे (निचुम्पुण) सोम ! तू (निचेरुः असि) नित्य संचार करनेवाला है, अतः (निचुम्पुणः) तू गति बढानेवाला है । हे (देव) दिव्य गुणवाले ! मैं (देवकृतं एनः देवैः अव यासिषम्) विद्वानों द्वारा किये गये अपराधको दिव्य पुरुषों द्वारा दूर ही करूंगा और (मर्त्यकृतम् एनः मर्त्यैः अवयासिषम्) मानवों द्वारा किये अपराधको साधारण जनोंके द्वाराही दूर करूंगा । हे (देव) दिव्य जन ! तू (पुरुराव्णः रिषः पाहि) अनेक प्रकारसे कष्टोंके देनेवाले हिंसक पुरुषोंसे हमारी रक्षा कर । तू (देवानाम् समित् असि) विद्वानोंकी परिषदके समान हो ॥ २७ ॥

[३२१] (दशमास्यः गर्भः जरायुणा सह एजतु) दश महीनेका गर्भ गर्भवेष्टन जरायुके साथ कम्पित हो (यथा अयम् वायुः एजति) जिस प्रकार यह वायु कम्पित होता है और (यथा समुद्रः एजति) जिस प्रकार समुद्र अपनी लहरोंसे कम्पित होता है (एवम् अयम् दशमास्यः जरायुणा सह असत्) इसी प्रकार यह दश महीनेका पूर्ण गर्भ जरायुके साथ उदरसे बाहर हो ॥ २८ ॥

[३२२] (यस्यै यज्ञियः गर्भः) जिसके शरीरमें यज्ञके समान निर्दोष गर्भ है और (यस्यै योनिः हिरण्ययी) जिसकी योनि स्वर्णके समान निर्दोष है, उस (मात्रा) माताके साथ (तम्) उस पुरुषका (यस्य अङ्गानि अहुता) जिसके अङ्ग कुटिल नहीं है (सम् अजीगमं स्वाहा) सङ्ग हो, यही उत्तम प्रजननाहुति है ॥ २९ ॥

वरुणस्य पाशः अभिष्ठितः— ईश्वरका पाश सबपर रहा है ॥ २३ ॥

दमे दमे असुयं प्रतिक्षन् समिधं यक्षि— प्रत्येक स्थानमें असुरोंके द्वारा किये गये विघ्नोंको दूर करके समिधाओंसे यज्ञ कर ॥ २४ ॥

निचेरुः असि— तू नित्य संचार करनेवाला है ।

निचुंपुणः— तू प्रगति बढानेवाला है । प्रगति करनेवाला है ।

देवकृतं एनः देवैः अवयासिषं— देवों अर्थात् इंद्रियोंके द्वारा किया पाप इंद्रियोंके सुधारसे दूर करता हूं । विद्वानोंके द्वारा किया पाप विद्वान्ही दूर कर सकते हैं ।

पुरुराव्णः रिषः पाहि— अनेक कष्ट देनेवाले शत्रुओंसे हमारी सुरक्षा करो ।

देवानां समित् असि— देवोंकी सभा तू हो । राष्ट्रमें विद्वानोंकी सभा राष्ट्ररक्षणके लिये हो ॥ २७ ॥

दशमास्यः गर्भः जरायुणा सह एजतु— दस महिने होनेपर गर्भस्थानीय बालक अपने गर्भके वेष्टनके साथ बाहर आजाय ॥ २८ ॥

यस्यै यज्ञियः गर्भः— जिस स्त्रीमें यज्ञके समान पवित्र गर्भ रहता है । यह स्त्री संगतिके लिये योग्य है । पुरुष संबंध ऐसी स्त्रीके साथ हो ।

पुरुद॒स्मो विषु॑रूप॒ इन्दु॑र॒न्तर्म॑हि॒मान॑मानञ्ज॒ धीरः॑।
एक॑पदीं द्वि॒पदीं॑ त्रि॒पदीं॒ चतु॑ष्पदीम॒ष्टाप॑दीं॒ भुव॒नानु॑ प्रथन्ता॒ᳪ स्वाहा॑ ॥ ३० ॥

म॒रु॑तो॒ यस्य॒ हि क्षये॑ पा॒था दि॒वो वि॑महसः । स सु॑गो॒पात॑मो॒ जनः॑ ॥ ३१ ॥

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न इ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम् । पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः ॥ ३२ ॥

आ ति॑ष्ठ वृत्रह॒न्रथं॑ यु॒क्ता ते॒ ब्रह्म॑णा॒ हरी॑ । अ॒र्वा॒चीन॒ᳪ सु ते॒ मनो॒ ग्रावा॑ कृणोतु व॒ग्नुना॑ ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिन॑ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिने॑ ॥ ३३ ॥

यु॒क्ष्वा हि के॒शिना॒ हरी॒ वृष॑णा कक्ष्य॒प्रा । अथा॑ न इन्द्र सोमपा गि॒राmुप॑श्रुतिं चर ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिन॑ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिने॑ ॥ ३४ ॥

---

[३२३] (पुरुदस्मः विषुरूपः इन्दुः धीरः) अधिक दानशील, बहुतसे कार्योंको करनेवाला, ऐश्वर्यवान् और धीर होकर (अन्तः महिमानम् आनञ्ज) राष्ट्रमें अपने महान सामर्थ्यको प्रकट करता है, तुम जिसमें (एकपदीम् द्विपदीम् त्रिपदीम् चतुष्पदीम् अष्टपदीम् स्वाहा भुवना अनु प्रथन्ताम्) एक पद, जिसमें दो पद, जिसमें तीन पद, जिसमें चार पद तथा जिसमें ये आठ पद होते हैं, सब गृहस्योजन उन घरोंकी प्रशंसा करें, और उनके सब मनुष्योंको बढावें ॥ ३० ॥

[३२४] (दिवः विमहसः मरुतः) द्युलोक सम्बन्धी विशिष्ट तेजसे युक्त मरुतगण (यस्य क्षये पाथा हि सः सुगोपातमः जनः) जिस यजमानके यज्ञगृहमें सोमपान किये, निश्चय करके वह बहुत कालपर्यन्त तुम्हारे द्वारा रक्षित होता है ॥ ३१ ॥

[३२५] (मही द्यौः पृथिवी) बृहद् द्युलोक और यह भूलोक (भरीमभिः नः च इमम् यज्ञम् मिमिक्षताम्) हिरण्य धन धान्य आदि अनेक वस्तुओं द्वारा हमारे इस यज्ञको पूर्ण करें, तथा (पिपृतां) उसकी सुरक्षा करें ॥ ३२ ॥

[३२६] हे (वृत्रहन्) शत्रुके हन्ता इन्द्र ! तू (रथं आतिष्ठ) रथ पर विराजमान हो, (ते हरी ब्रह्मणा- युक्ता) तेरे हरितवर्णके दोनों घोडे कहने मात्रसे चलनेवाले हैं, (ग्रावा वग्नुना अर्वाचीनम् ते मनः सु कृणोतु) यह यज्ञ शब्द मात्रसे तेरे चित्तको इधर ले आवे, तू (उपयामगृहीतः असि) नियमों द्वारा बद्ध है; (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझको सोलहों कलाओंसे सम्पन्न ऐश्वर्यवान्के स्थान पर रखता हूं, (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रय स्थान है ॥ ३३ ॥

[३२७] हे (सोमपाः इन्द्र) सोमरस पीनेवाले इन्द्र ! तुम (केशिना वृषणा कक्ष्यप्रा हरी रथम् युक्ष्व) जिनके अच्छे बाल हैं, उन बलवान, इष्ट देशतक पहुंचानेवाले, थानके चलानेहारे दोनों घोडोंको रथमें जोडो, (अथ नः गिरां उपश्रुतिं हि चर) इसके अनन्तर हमलोगोंकी प्रार्थनाको समझो, तुम (उपयामगृहीतः असि) नियमोंके द्वारा बद्ध हो, इस कारण (षोडशिने इन्द्राय त्वा, एषः ते योनिः) सोलह कलाओंसे परिपूर्ण परम ऐश्वर्यके लिये तेरी प्रार्थना करता हूं, यह तेरा आश्रय स्थान है, इस (षोडशिने इन्द्राय त्वा) सोलह कलाओंसे परिपूर्ण परम ऐश्वर्य देनेवाले तेरी उपासना करता हूं ॥ ३४ ॥

यस्य अहुता अंगानि– जिस पुरुषके अंग निर्दोष हैं, ऐसे स्त्री पुरुषोंका संबंध होने योग्य है ॥ २९ ॥

पुरुदस्मः विषुरूपः इन्दुः धीरः अन्तः महिमानं आनंज– दानशील, अनेक रूपोंमें कार्य करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, धीर गंभीर, मनुष्य राष्ट्रमें महत्त्वके स्थानको प्राप्त करता है।

एकपदीं, द्विपदीं, त्रिपदीं, चतुष्पदीं, अष्टापदीं भुवना अनुप्रथन्ताम्– एक, दो, तीन, चार, आठ गुणीत अनुकूलता सब लोक इस विषयमें प्रकट करें ॥ ३० ॥

सब यज्ञकी सहायता करें और उसकी सुरक्षा करें ॥ ३२ ॥

नः गिरां उपश्रुतिं चर– हमारी प्रार्थनाको समझो। प्रार्थना सुनकर उसका आशय समझो।

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् । ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्[1] ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन[2] एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने[3] ॥३५॥

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी[1] ॥३६॥

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् ।
तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा[1] ॥३७॥

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम्[1] ।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस[2] एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे[3] ।
अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्[4] ॥ ३८ ॥

---

[३२८] हे (सोमपाः) सोमका पान करनेवाले और इन्द्र) शत्रुओंका विनाश करनेवाले इन्द्र! तुम (षोडशिने इन्द्राय) षोडश कलायुक्त उत्तम ऐश्वर्यके लिये, (अप्रतिधृष्टशवसं हरी) जिन्होंने अपनी शक्तिकी पूर्ण वृद्धि कर रखी है ऐसे दो घोडे उस (इन्द्रं इत् वहतः) इन्द्रको ले जाते हैं, उनसे युक्त होकर (ऋषाणां च स्तुतीः मानुषाणाम् यज्ञम् च उप) ऋषियोंकी स्तुति और मनुष्योंके यज्ञकी रक्षा करते तथा उनके समीप प्राप्त होते हैं। (ते एषः योनिः) तेरा यह आश्रय स्थान है, तू (उपयामगृहीतः असि) नियमों द्वारा बद्ध है ऐसे (त्वा षोडशिने इन्द्राय, त्वा) तुझको षोडश कलायुक्त उत्तम ऐश्वर्यके लिये प्रजा आश्रय लेवें और हम भी तुम्हारा आश्रय लेवें ॥ ३५ ॥

[३२९] (यस्मात् परः अन्यः न जातः अस्ति) जिस परमात्मासे उत्तम और दूसरा नहीं हुआ है, और (यः विश्वा भुवनानि आविवेश) जो समस्त भुवनोंमें व्यापक है (सः प्रजापतिः प्रजया संरराणः त्रीणि ज्योतींषि सचते) वह प्रजाका पालक परमेश्वर अपनी प्रजासे भली प्रकार रमण करता हुआ सूर्य, विद्युत् और अग्नि इन तीनों ज्योतियोंको अपने भीतर धारण करता है, वही (षोडशी) सोलहों कलाओंसे युक्त है ॥ ३६ ॥

[३३०] (इन्द्रः च वरुणः सम्राड् च राजा) इन्द्र और वरुण दोनों सम्राट् और राजा हैं। (तौ अग्रे ते एतं भक्षं चक्रतुः) वे दोनों सबसे प्रथम तेरे इस भोग्य पदार्थको उत्पन्न करते हैं। और (तयोः अनु अहम् भक्षं भक्षयामि) उन दोनोंके पश्चात् मैं भोग्य पदार्थका उपभोग करता हूं। (वाग् प्राणेन स्वाहा जुषाणा देवी सोमस्य तृप्यतु) वाणी प्राणके साथ मिलकर सोमसे संतुष्ट होती है, उस प्रकार सोम राजासे मिलकर सब तृप्त हों ॥ ३७ ॥

[३३१] हे (अग्ने) अग्नि ! (स्वपाः) अच्छे कर्म करनेवाले तुम (अस्मे सुवीर्यम् वर्चः पवस्व) हमें उत्तम पराक्रमसे युक्त तेज प्रदान करो। (मयि पोषम् रयिं दधत्) मुझमें पुष्टिकारक ऐश्वर्य स्थापन करो। तुम (उपयामगृहीतः असि, अग्नये वर्चसे त्वा) उत्तम व्यवस्थाके नियमोंमें रहनेवाले हो, अग्रणीपदके लिये और तेजस्विताके लिये मैं तुम्हारा स्वीकार करता हूं। (ते एषः योनिः) तेरा यह स्थान है। (अग्नये वर्चसे त्वा) तेजस्वी देवकी प्राप्तिके लिये तथा बलके लिये तेरा स्वीकार करता हूं। हे (वर्चस्विन् अग्ने) तेजस्विन् अग्नि ! (देवेषु त्वं वर्चस्वान् असि) देवताओंके मध्यमें तुम अति दीप्तिमान् हो, इस कारण तुम्हारे प्रसादसे (अहं मनुष्येषु वर्चस्वान् भूयासम्) मैं मनुष्योंमें अति तेजस्वी हो जाऊं ॥ ३८ ॥

षोडशिने इन्द्राय त्वा– सोलह कलाओंमें प्रवीण इन्द्रकी मैं प्रार्थना करता हूं।

केशिना वृषणा कक्ष्यप्रा हरी रथं युक्ष्व– अच्छे बालोंसे युक्त, बलवान्, इष्ट स्थानको पहुंचानेवाले दो घोडे तेरे रथको जोड ॥ ३४ ॥

यस्मात् परः अन्यः न जातः अस्ति– जिससे श्रेष्ठ दुसरा कोई हुआ नहीं है।

यः विश्वा भुवनानि आविवेश– जो सब भुवनोंमें व्याप रहा है।

सः प्रजापतिः– वह परमेश्वर प्रजाका पालक है।

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसे एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे ।
इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ।
उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ।
सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ४० ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।
उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ॥ ४१ ॥

आ जिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः ।
पुनरूर्जा नि वर्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्मा विशताद्रयिः ॥ ४२ ॥

---

[३३२] हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! तू (चमू सुतम् सोमं पीत्वी ओजसा सह उत्तिष्ठन् शिप्रे अवेपयः) पात्रमें रखे हुये सोमका पान करके, अपने पराक्रमसे उन्नतिको प्राप्त होते हुये अपने हनु और नासिका इन दोनोंको हिलाओ। तू (उपयामगृहीतः असि) नियमोंके द्वारा बद्ध है। (ते एषः योनिः) तुम्हारा यह स्थान है, इससे (त्वा ओजसे इन्द्राय) तुम्हारे पराक्रमके कारण हम तुम्हारी सेवा करते हैं, (ओजसे इन्द्राय त्वा) अत्यन्त पराक्रमके लिये तुमको प्राप्त करते हैं। हे (ओजिष्ठ इन्द्र) अत्यन्त बलवान् इन्द्र ! जैसे (त्वं देवेषु ओजिष्ठः असि) तुम समस्त देवोंमें अत्यन्त पराक्रमी हो वैसे ही (अहं मानुष्येषु ओजिष्ठः भूयासम्) मैं मनुष्योंमें सबसे अधिक पराक्रमी हो जाऊँ॥३९॥

[३३३] (यथा अस्य केतवः रश्मयः जनान् अनु वि अदृश्रं भ्राजन्तः अग्नयः) जिस प्रकार इस सूर्यकी किरणें सम्पूर्ण मनुष्योंको विशेषरीतिसे दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार, तू (उपयामगृहीतः असि) नियमोंसे बद्ध है। (भ्राजाय सूर्याय त्वा) तेजस्वी सूर्यके लिये तुझे स्वीकारता हूं। (एषः ते योनिः) तेरा यह आश्रय स्थान है। (भ्राजाय सूर्यायत्वा) प्रकाशमान तेजस्वी सूर्यपदके लिये तुझे स्वीकारता हूं। हे (भ्राजिष्ठ सूर्य) अत्यन्त तेजस्वी सूर्य ! तू (भ्राजिष्ठः देवेषु असि) सब देवोंमें सबसे अधिक प्रकाशमान है। तेरे तेजसे (मनुष्येषु अहं भ्राजिष्ठः भूयासम्) मनुष्योंमें मैं सबसे अधिक प्रकाशमान होऊँ॥ ४० ॥

[३३४] (उत्यं जातवेदसं सूर्यं देवं) निश्चयसे उस वेदोंके प्रकाशक सूर्य देवको और (विश्वाय दृशे) समस्त संसारको दृष्टि देनेके लिये (केतवः उत् वहन्ति) किरणें अच्छी प्रकार प्रकाशित करती हैं। हे ईश्वर ! तुम हम लोगोंसे (उपयामगृहीतः असि) नियमोंसे स्वीकार किये हो, उस (त्वा) तुमको हम स्वीकार करते हैं (ते एषः योनिः) तेरा यह स्थान है, (त्वा भ्राजाय सूर्याय) तुझ प्रकाशमान सूर्यकी उपासनाके लिये हमारा यह यज्ञ है ॥४१॥

[३३५] हे (महि) पूजनीय गौ ! तुम इस (कलशम् आजिघ्र) सोमरसके कलश को सूंघो, (इन्दवः त्वा आविशन्तु) यह सोमके रस तुम्हारे अन्दर प्रवेश करें। (सा, ऊर्जा पुनः निवर्तस्व, नः सहस्रं धुक्ष्व) वह तू श्रेष्ठ तेजस्वी दूधके साथ फिर हमारे पास आओ और हमको सहस्र प्रकारके धन दो। तथा (पुरुधारा पयस्वती रयिः पुनः मा आविशतात्) बहुत दूध देनेवाली दुधारी गायोंका धन मुझको प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

सः प्रजापति प्रजया संरराणः- वह परमेश्वर प्रजाके अन्दर व्यापक होकर रहा है ॥ ३६ ॥

स्वपाः अस्मे सुवीर्यं वर्चः पवस्व- उत्तम कर्म करनेवाला तू हमारे लिये उत्तम पराक्रम युक्त तेज प्रदान कर।

मयि पोषं रयिं दधत्- मुझमें पोषण और धन दो।

वर्चसे त्वा- तेजस्विताके लिये तुझे प्राप्त करते हैं।

त्वं देवेषु वर्चस्वान् असि- श्रेष्ठोंमें तू अधिक तेजस्वी हो।

अहं मनुष्येषु वर्चस्वान् भूयासम्- मैं मनुष्योंमें अधिक तेजस्वी तथा बलवान बनूं ॥ ३८ ॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति ।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्[1] ॥ ४३ ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । यो अस्माँ२ अभिदासत्यधरं गमया तमः[1] ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृध[2] एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे[3] ॥४४ ॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा[1] ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण[2] एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे[3] ॥४५॥

---

[३३६] हे (इडे, रन्ते, हव्ये, काम्ये, चन्द्रे, ज्योते, अदिते, सरस्वति, महि, विश्रुति, अघ्न्याः) सबसे स्तुत्य, रमणीय, हवन करने योग्य दूध और घीवाली, इच्छनीय, आल्हादकारिणी, तेजस्विनी, अदीन, दुग्धवती, माननीय और अवध्य धेनु ! (ते एता नामानि) तुम्हारे ये नाम हैं । (देवेभ्यः सुकृतम् मा ब्रूतात्) देवताओंके हमारे सुन्दर कर्मोंको और इस कर्म करनेवाले मुझको कहो ॥ ४३ ॥

[३३७] हे (इन्द) इन्द्र ! तू (नः मृधः विजहि) हमारे शत्रुओंको पराभूत कर । (पतन्यतः नीचा यच्छ) हमारे ऊपर सेना भेजनेवाले शत्रुओंको नीचे रखो, पराभूत करो, और (यः अस्मान् अभि दासति अधरं तमः गमय) जो हमको दास करना चाहता है उसको नीचेके स्थानको पहुंचा और तू (उपयामगृहीतः आसि) सुनियमोंका स्वीकार करनेवाला है, अतः (त्वा विमृधे इन्द्राय) तुमको शत्रुओंके नाशक इन्द्रके पदके लिये स्वीकारता हूं, (ते एषः योनिः) तेरा यह स्थान है, (विमृधः इन्द्राय त्वा) विशेष संग्राम करनेवाले इन्द्रके संतोषके लिये तुमको ग्रहण करता हूं ॥ ४४ ॥

[३३८] (वाचः पतिं विश्वकर्माणं मनोजुवं अद्या वाजे हुवेम) महा विद्वान्, शुभ कर्मोंके करनेवाले और मनके समान वेगवान् पुरुषको हम आज यज्ञके कार्यमें बुलाते हैं । (सः साधुकर्मा विश्वशम्भूः नः विश्वानि हवनानि जोषत्) वह श्रेष्ठ कर्म करनेवाला सबका कल्याण करनेवाला हमारे हवनीय पदार्थोंको स्वोकार करे । तू (उपयाम गृहीतः असि, त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे, एषः ते योनिः, त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) सुनियमोंके पालन करनेवाला है, तुम 'विश्वकर्मा इन्द्र' हो । यह तेरा स्थान है । तुमको इन्द्र विश्वकर्मा कहा जाता है ॥ ४५ ॥

इडा– स्तुतियोग्य, रन्ता– रमणीय, हव्या– यज्ञीय घी आदि देनेवाली, काम्या- इच्छनीय, चन्द्रा– आल्हाददायक, ज्योती–तेजस्विनी, अदिती- अदीन, सरस्वती– दूधका प्रवाह देनेवाली, मही– महान्, विश्रुती– सुप्रसिद्ध, अघ्न्या– अवध्य ये नाम गौके हैं । इनसे गौका महत्व जाना जा सकता है ॥ ४३ ॥

नः मृधः विजहि– हमारे शत्रुओंका पराभव कर । हमारे शत्रुओंका नाश कर ।

पृतन्यतः नीचा यच्छ– हमारे ऊपर सैन्यसे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंको नीचेके स्थानमें भेजो । शत्रुओंका पराभव करो, और उनको हीन अवस्थामें पहुंचाओ ।

यः अस्मान् अभिदासति, अधरं तमः गमय- जो हमारा नाश करना चाहता है उसको नीचे अंधेरेमें पहुंचाओ । हमारा द्वेष करनेवालेका नाश करो ॥ ४४ ॥

वाचस्पति विश्वकर्माणं मनोजुवं अद्य वाजे हुवेम– विद्वान् सर्व श्रेष्ठ कर्मोंका करनेवाला, मनःपूर्वक कार्य करनेवाला जो होगा उसको आज इस कार्यमें हम बुलाते हैं । ऐसे विद्वान्को ही विशेष कार्यमें बुलाना चाहिये ॥ ४५ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथाऽसत् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण[2] एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे[3] ॥४६॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रछन्दसं गृह्णामी[1]न्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि[2]
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्य[3]नुष्टुप्तेऽभिगरः[4] ॥४७॥

व्रेशीनां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[1] कुकूननानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[2]
भन्दनानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[3] मदिन्तमानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[4]
मधुन्तमानां त्वा पत्मन्ना धूनोमि[5] शुक्रं त्वा शुक्र आ धूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु[6] ॥४८॥

---

[३३९] हे (विश्वकर्मन्) समस्त श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुरुष ! तू (वर्धनेन हविषा त्रातारम् अवध्यम् अकृणोत्) वृद्धि करनेवाले हविरूप साधनोंसे अपने रक्षक को अवध्य बना देता है। (तस्मै पूर्वी विशः सम् अनमन्त) उसके आगे समस्त प्रजायें अच्छी प्रकार नम्र होती हैं। (अयम् विहव्यः यथा असत्) यह विशेष आदरसे बुलाने योग्य हो वैसा प्रयत्न कर। (उपयामगृहीतः असि, त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे, एषः ते योनिः, त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) सुनियमोंके द्वारा तू स्वीकृत है, तुमको ' विश्वकर्मा इन्द्र ' के पद पर नियुक्त करता हूं, यह तेरा स्थान है, अतः तुझको इन्द्र विश्वकर्मा पद पर स्थापित करता हूं ॥ ४६ ॥

[३४०] तू (उपयामगृहीतः असि) नियमों द्वारा स्वीकृत हुआ है, (अग्नये गायत्र-छन्दसं त्वा गृह्णामि) अग्निके लिये गायत्री छन्दसे तुमको स्वीकार करता हूं, (त्रिष्टुप् छन्दसं त्वा इन्द्राय गृह्णामि) त्रिष्टुप् छन्दसे तुझको इन्द्रके लिये स्वीकार करता हूं और (जगत् छन्दसं त्वा विश्वेभ्यः देवेभ्य गृह्णामि) जगती छन्दसे तुझको समस्त देवोंके लिये स्वीकार करता हूं। हे राजन् ! (ते अभिगरः अनुष्टुप्) तेरा वर्णन करनेवाला अनुष्टुप् छद है ॥ ४७ ॥

[३४१] (व्रेशीनाम् पत्मन् त्वा आधूनोमि) मेघोंके अन्दर रहनेवाले जल को वर्षनेके लिये कम्पित करता हूं। (कुकूननानाम् पत्मन् त्वा आधूनोमि) शब्द करते हुये मेघके उदरमें रहनेवाले जलके वर्षणके लिये तुझको कम्पित करता हूं। (भन्दनाम् पत्मन् त्वा आधूनोमि) अत्यन्त प्रसन्नके करनेवाले मेघोंके अंदरके जलको वर्षनेके निमित्त कम्पित करता हूं। (मदिन्तमानां पत्मन् त्वा आधूनोमि) अत्यंत तृप्तिकारी जो मेघके उदरमें जल हैं उनके वर्षनेके निमित्त कम्पित करता हूं। (मधुन्तमानाम् पत्मन् त्वा आधूनोमि) अमृत स्वरूप जो मेघोदक है उनके भूमिपर वर्षणके निमित्त तुमको कम्पित करता हूं। (शुक्रम् त्वा शुक्रे आधूनोमि) बलयुक्त शुद्ध ऐसे तुमको शुद्ध जलके रूप में कम्पित करता हूं। तथा तुझको (अन्हः रूपे सूर्यस्य रश्मिषु) दिनके रूप सूर्यकी किरणोंसे कम्पित करता हूं ॥४८॥

वर्धनेन हविषा त्रातारं अवध्यं अकृणोत्- वृद्धि करने योग्य साधनके प्रदानसे संरक्षकको अवध्य तुमने किया है। जो दूसरोंका संरक्षण करता है वह संरक्षी है।

तस्मै पूर्वीः विशः सं अनमन्त- उसके सामने सब प्रजाएं नम्र होकर रहती हैं।

अयं विहव्यः यथा असत्- यह आदरसे निमंत्रण देनेके लिये योग्य है ॥ ४६ ॥

अग्निका वर्णन गायत्री छंदमें, इन्द्रका वर्णन त्रिष्टुप् छंदमें तथा जगती छंदमें विश्वे देवोंका वर्णन होता है। अनुष्टुप् छंदमें भी देवताके वर्णन होते हैं। ये छन्द जानने चाहिये ॥ ४७ ॥

ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः ।
यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥४९॥
उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा
त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥५०॥
इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ।
उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन् । रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा ॥५१॥

[३४२] हे (सोम) सोम ! (वृषभस्य ककुभं बृहत् रूपं रोचते) सब सुखोंके वर्षानेवाले, दिशाओंका शुद्ध और महान् स्वरूप प्रकाशमान होता है ऐसे तुम (शुक्रस्य पुरोगाः शुक्रः सोमस्य पुरोगाः सोमः) शुद्ध, अग्रगामी, तथा ऐश्वर्यमय सोमके गुणोंसे युक्त होइये । (यत् ते अदाभ्यम् नाम जागृवि, तस्मै त्वा गृह्णामि) जो तुम्हारा प्रशंसा करने योग्य नाम प्रसिद्ध हो रहा है, उसीके लिये मैं तुमको ग्रहण करता हूं । और हे (सोम) सोम ! (तस्मै सोमाय ते स्वाहा) उस श्रेष्ठ कर्ममें प्रवृत्त हुये तुम्हारे लिये सत्यवाणी द्वारा स्तुति प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

[३४३] हे (देव सोम) दिव्य सोम ! तू (उशिक् अग्नेः प्रियं पाथः अपीहि) कान्तिमान् और अग्रणीका प्रेम प्राप्त करनेवाले मार्गको निश्चयसे प्राप्त करो । हे (देव सोम) देव सोम ! (त्वं वशी इन्द्रस्य प्रियम् पाथः अपीहि) तू जितेन्द्रिय इन्द्रके प्रिय मार्गको निश्चयसे प्राप्त करो । हे (देव, सोम) दिव्यगुणवाले ! सोम ! तुम (अस्मत् सखा विश्वेषां देवानाम् प्रियं पाथः) हमारे मित्र होकर समस्त देवोंके प्रिय कर्ममार्गको प्राप्त होओ ॥ ५० ॥

[३४४] तुम्हारी (इह रतिः) यहां प्रीति हो, (इह रमध्वम्) यहां आनन्दपूर्वक रहो, (इह धृतिः) यहां तुम्हें धैर्य प्राप्त हो, और तुम्हारी (स्व धृतिः स्वाहा) अपनी स्थिति अपने समर्पणके साथ रहे । तुम लोग (धरुणं मात्रे उप असृजन्) धारण करने योग्य सन्तानको माताके अधीन करते हो, वह (धरुणः मातरम् धयन् अस्मासु स्वाहा रायः पोषं दीधरत्) बालक उस माताका स्तन्य पान करनेके कारण हममें रहकर उत्तम समर्पण और श्रेष्ठ आचार करके माताके लिये धन ऐश्वर्य देता रहे ॥ ५१ ॥

हे सोम ! वृषभस्य ककुभं बृहत् रूपं रोचते– हे सोम ! बलवान् तेजस्वी ऐसा तुम्हारा महान् स्वरूप प्रकाशता है । सोमरस अंधेरेमें चमकता रहता है ।

शुक्रस्य सोमस्य पुरोगाः शुक्रः– शुद्ध सोमका अग्रेसर शुद्ध स्वरूप चमकता है ।

यत् ते अदाभ्यं नाम जागृवि, तस्मै त्वा गृह्णामि – तेरा-सोमका-प्रशंसनीय नाम जागता है, अतः मैं उस सोमको ग्रहण करता हूं ।

तस्मै सोमाय ते स्वाहा- उस सोमके लिये मैं समर्पण करता हूं । सोमयागके लिये अपना धनदान करता हूं ।॥४९॥

हे सोम देव ! उशिक् अग्नेः प्रियं पाथः अपीहि हे सोम ! तू अनुकूल अग्निके प्रिय मार्गको जान ।

अस्मत् सखा विश्वेषां देवानां प्रियं पाथः– तू हमारा मित्र सब देवोंके प्रिय मार्गका आश्रय करनेवाला है ॥५०॥

इह रतिः– यहां तुम आनंदसे रममाण होकर रहो ।

यहां रमध्वम्– यहां तुम आनंदित होकर रहो ।

इह धृतिः– यहां तुम धैर्यसे रहो ।

स्वधृतिः– अपने खुदके धैर्यसे यहां रहो । अपने रहनेका भार दूसरे पर न डालो ।

मात्रे धरुण उप असृजत्– माताको आधार देनेके लिये तुम संतान उत्पन्न करो । संतानका कर्तव्य है कि वह माताका धारण पोषण बडा होनेपर करे ।

धरुणः मातरं रायस्पोषं दीधरत्– धारण करनेमें समर्थ पुत्र माताके लिये धन ऐश्वर्य धारण करता है । माताका आधार पुत्र है । पुत्र माताका पालन करे । पिताके पश्चात् माताका पालन कर्ता पुत्र ही है ॥ ५१ ॥

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम ।
दिवं पृथिव्या अध्याऽरुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः ॥ ५२ ॥
युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं-तमिद्धतं वज्रेण तं-तमिद्धतम् ।
दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत् । अस्माकꣳ शत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः ।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ॥५३॥
परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धो अच्छेतः ।
सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम् ॥५४॥

---

[३४५] तू (सत्रस्य ऋद्धिः असि) यज्ञकी समृद्धिरूप है, तुम्हारे सङ्गसे हम लोग (ज्योतिः अगन्म) विज्ञानके प्रकाशको प्राप्त होवें, (अमृता अभूम) अमरता प्राप्त करें और (दिवम् पृथिव्याः अधि आरुहाम) स्वर्ग पर पृथ्वीसे आरोहण करें । हम (देवान् ज्योतिः स्वः आविदाम) विद्वानोंको, विज्ञान विषयक ज्योतिको तथा अत्यन्त सुखको प्राप्त करनेवाले होवें ॥ ५२ ॥

[३४६] हे (इन्द्रपर्वता) इन्द्र और पर्वत ! (युवाम् पुरायुधा यः नः पृतन्यात् तं तं इत् अप हतम्) तुम दोनों आगे बढकर, जो भी हम पर चढाई करे उसको मार भगाओ। और (तं तं इत् वज्रेण हतम्) उनको वज्रसे मार डालो । (यत् गहनम् इनक्षत् दूरे चत्ताय छन्त्सत्) यदि वह शत्रुदल हमारे पास पहुंच जाय, तो उसको दूर भगानेके लिये प्रयत्न करो । हे (शूर) पराक्रम करनेवाले वीर ! तू (दर्मा अस्माकं विश्वतः शत्रून् विश्वतः दर्षीष्ट) शत्रुदलके फाड देनेमें समर्थ होकर, हमारे सब ओर आये हुये बैरियोंको चारों ओरसे विनष्ट कर दो । हम (भूः भुवः स्वः प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम) भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु तीनों लोकोंमें उत्तम सन्तानोंसे प्रशंसित सन्तानोंवाले होवें, तथा (वीरैः सुवीराः पोषैः सुपोषाः स्याम) वीरोंसे अच्छे वीरोंवाले और धनादि ऐश्वर्योंसे उत्तम ऐश्वर्योंवाले होवें ॥ ५३ ॥

[३४७] तुमने (व्याहृतायां वाचि परमेष्ठी प्रजापतिः अच्छेतः) कहे भाषणमें परमेष्ठी प्रजापति परमेश्वरको अच्छे प्रकार व्यक्त किया, (विश्वकर्मा दीक्षायाम् सोमक्रयण्यां पूषा) सब कर्मोंको करनेवाले श्रेष्ठ कार्यकर्ता और नियमोंके धारण करनेमें, सोमादि औषधियोंके ग्रहण करनेमें कुशल, पूषाको जाना और (सविता सन्याम् अभिधीतः अन्धः) सब जगत्के उत्पादक परमात्माको मनसे अच्छी प्रकार ध्यान करके सुसंस्कृत अन्नका सेवन किया तो सदा सुखी हो जावोगे ॥ ५४ ॥

सत्रस्य वृद्धिः असि– तू यज्ञकी वृद्धि करनेवाला हो ।

ज्योतिः अगन्म– तेजको हम प्राप्त करें ।

अमृता अभूम– हम अमरता प्राप्त करें ।

पृथिव्या दिवं अधि आरुहाम– हम पृथ्वीपरसे स्वर्ग पर चढ कर जांय ।

देवानां ज्योतिः स्वः आविदाम– देवोंके तेजको प्राप्त करें ॥ ५२ ॥

इन्द्रापर्वता– इन्द्र शत्रुओंका विदारण करनेवाला उत्तम वीर है । पर्वत वह है कि जिस पर किला होता है जो नगरका संरक्षण करता है । अतः इन्द्र और पर्वत ये दोनों उत्तम संरक्षण करनेवाले हैं ।

युवां परायुधा यः पृतन्यात् तं तं अप हतम्– तुम दोनों युद्ध करनेके लिये जो शत्रु हमारे ऊपर अपने सैनिकोंको ले आवे उस प्रत्येकको मार दो ।

वज्रेण तं तं हतम्– उस प्रत्येक शत्रुको वज्रसे मारो ।

यदि गहनं इनक्षत्, दूरे चत्ताय छन्त्स्यत्– यदि शत्रु दल हमारे समीप आ जाय तो उसको दूर भगाना उचित है ।

हे शूर ! दर्मा अस्माकं शत्रून् विश्वतः दर्षीष्ट– हे वीर ! शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होकर हमारे शत्रुओंको चारों ओरसे विनष्ट कर ।

प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम– उत्तम संतानोंसे उत्तम सन्तानवाले हम हो जांय ।

×

—इन्द्र॑श्च म॒रुत॑श्च क्र॒या॒यो॒पोत्थि॒तो[1] ऽसु॑रः प॒ण्यमा॑नो[2] मि॒त्रः क्री॒तो[3] विष्णुः शिपिवि॒ष्ट उ॒रावास॑न्नो[4] विष्णु॑र्न॒रन्धि॑षः[5] ॥५५॥

प्रो॒ह्यमा॑णः सोम॒ आग॑तो[1] वरु॑ण आस॒न्द्यामास॑न्नो[2] ऽग्निराग्नी॑ध्र[3] इन्द्रो॑ ह॒वि॒र्धाने॑[4] ऽथर्वो॑पावह्रि॒यमा॑णः ॥५६॥

विश्वे॑ दे॒वा अ॒ꣳशुषु॒ न्युप्तो॑[1] विष्णु॑राप्रीत॒पा आ॑प्या॒य्यमा॑नो[2] य॒मः सू॒यमा॑नो[3] विष्णुः सम्भ्रि॒यमा॑णो[4] वा॒युः पू॒यमा॑नः[5] शु॒क्रः पू॒तः[6] शु॒क्रः क्षी॑र॒श्री[7]—म॒न्थी स॑क्तु॒श्रीः[8] ॥५७॥

विश्वे॑ दे॒वाश्च॑म॒सेषू॒न्नी॑तो[1] ऽसु॒र्होमा॑यो॒द्य॑तो[2] रु॒द्रो हू॒यमा॑नो[3] वातो॑ऽभ्यावृ॑त्तो[4] नृ॒चक्षाः॒ प्रति॑ख्यातो[5] भ॒क्षो भ॒क्ष्यमा॑णः[6] पि॒तरो॑ नाराश॒ꣳसाः ॥५८॥

---

[३४८] हे (क्रयाय इन्द्रः च मरुतः च असुरः पण्यमानः मित्रः) क्रयविक्रयके लिये इन्द्र और मरुत् तथा मेघ, स्तुतिके योग्य मित्र (शिपिविष्टः विष्णुः नरन्धिषः विष्णुः ऊरौ आसन्न उपोत्थितः क्रीतः) किरणोंसे व्याप्त और पालक विष्णु सर्व शरीरमें व्याप्त परमात्मा, समीपमें प्रकाशित होनेवाला जो आत्मा है उनको जानो ॥ ५५ ॥

[३४९] (प्र उह्यमाणः आगतः सोमः) अत्यन्त मानके साथ श्रेष्ठ रथ द्वारा लाया गया सोम है (आसन्द्यां आसन्नः वरुणः) सिंहासनपर विराजमान हुआ वरुण है, (आग्नीध्रे अग्निः) यज्ञके पद पर स्थित अग्नि है, (हविर्धाने इन्द्रः) अन्नके स्थान पर इन्द्र है तथा (उपावह्रियमाणः अथर्वा) रक्षा करनेके लिये सदैव संनिकट रहनेवाला अथर्वा है ॥ ५६ ॥

[३५०] हे (विश्वेदेवाः) समस्त देवो ! तुम्हारा (अंशुषु न्युप्तः) किरणोंमें स्थापित हुआ, (आप्रीतपाः विष्णुः, आप्यायमानः, यमः सूयमानः विष्णुः, सम्भ्रियमाणः वायुः) अच्छी प्रीतिके साथ प्राप्त होनेवाला विष्णु, वृद्धिको प्राप्त हुआ यम, व्यापक और अच्छी प्रकार पुष्ट किया हुआ प्राण, (पूयमानः शुक्रः, पूतः शुक्रः, मन्थी क्षीरश्रीः सुक्तुश्रीः) पवित्र पराक्रम, शुद्ध वीर्य, और शत्रुओंको मथन करवाले शौर्यादि गुण ये सब तुम्हारा आश्रय करनेवाले होते हैं ॥ ५७ ॥

[३५१] जिन्होंने (होमाय चमसेषु उन्नीतः) होमके लिये चमसोंमें हवनीय वस्तुओंको ऊंचा उठाया है, (असु उद्यतः) अपना प्राण ऊपर ऊठाया है, जो (हूयमानः रुद्रः, प्रतिख्यातः नृचक्षाः, अभ्यावृत्तः वातः, भक्षमाणः भक्षः) जिनके लिये हवन किया जाता है ऐसा ' रुद्र ', प्रत्येक मनुष्यको देखनेवाला ' नृचक्ष ', सबको चारों ओरसे घेर-कर रखनेसे ' वात ', और भक्षण करनेवाला ' भक्षक ' संज्ञक है, उनको ही (विश्वेदेवाः नाराशंसः पितरः) सब देव, मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय और पितर अर्थात् संरक्षक कहते हैं ॥ ५८ ॥

वीरः सुवीराः– उत्तम वीर संतानोंसे उत्तम वीर हम हो जांय ।

पोषैः सुपोषाः स्याम– उत्तम पुष्ट संतानोंसे हम उत्तम पुष्ट हो जांय ॥ ५३ ॥

व्याहृतायां वाचि परमेष्ठी प्रजापतिः अच्छेतः– तुमने कहे भाषणमें परमेश्वर प्रजापालक का उत्तम वर्णन किया ।

दीक्षायां विश्वकर्मा–दीक्षामें विश्वनिर्माताका वर्णन किया ।

सोमक्रयण्यां पूषा– सोम यज्ञमें पूषाका वर्णन किया ।

सविता सन्यां अभिधीतः– सर्व जगत्के उत्पादकका ध्यान किया । ऐसा करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ५४ ॥

इन्द्र और मरुत् सब जगत्का व्यवहार करते हैं ।

असुरः– प्राणोंका रक्षक भी वही इन्द्र है ।

शिपिविष्टः विष्णुः– तेजस्वी व्यापक देव है ।

नरंधिषः विष्णुः– सर्व व्याप्त विष्णु ॥ ५५ ॥

विष्णुः– व्यापक; यम– सबको अपने नियमोंमें रखने-वाला; शुक्रः– वीर्यवान्, बलवान । मन्थी– शत्रुका मथन करनेवाला वीर। सक्तुश्रीः– अन्नसे शोभा युक्त बना ॥५७॥

होमाय चमसेषु उन्नीतः– जो हवन करनेके लिये चम-सोंमें हव्यको ऊपर उठाते हैं ।

असुः उद्यतः–प्राणको ऊपर उठाते हैं । प्राणायाम जो करते हैं ॥ ५८ ॥

सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो
ययोरोजसा स्कभिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा ।
या पत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन्वरुणा पूर्वहूतौ ॥५९॥

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु
पितॄन्पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥६०॥

चतुस्त्रिंशत्तन्तवो ये वितत्निरे य इमं यज्ञं स्वधया ददन्ते ।
तेषां छिन्नं सम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मो अप्येतु देवान् ॥६१॥

---

[३५२] (अवभृताय उद्यतः सन्तः सिन्धुः) अवभृत स्नानके लिये तैयार हुआ ' सिन्धु ' कहलाता है, (अभ्यवह्रियमाणः समुद्रः) चलाया जानेवाला ' समुद्र ' कहलाता है, और (प्रप्लुतः सलिलः) व्यापक बनता है, तब ' सलिल ' कहलाता है । (ययोः ओजसा रजांसि स्कभिता) जिसके पराक्रमसे यह समस्त लोक स्थित हुए हैं और (याः वीर्येभिः वीर्यतमा शविष्ठाः) जो अपने बलोंसे अत्यन्त बलवान हैं तथा जो (सहोभिः अप्रतीताः) अपनी शक्तियोंसे अप्रतिम हैं, वे (पत्येते) शत्रुओंपर टूट पडते हैं । (विष्णू वरुणा पूर्वहूतौ अगन्) व्यापक सामर्थ्यवान् और शत्रुओंका निवारण करनेमें समर्थ सबसे पूर्व सम्मानित किये जाते हैं । ॥ ५९ ॥

[३५३] जो (यज्ञः देवान् दिवम् अगन् ततः मा द्रविणम् अष्टु) यज्ञ देवों और द्युलोकको प्राप्त होता है उससे मुझको ऐश्वर्य प्राप्त हो, जो (यज्ञः मनुष्यान् अन्तरिक्षम् अगन् ततः मा द्रविणम् अष्टु) यज्ञ मनुष्यों और अन्तरिक्षको प्राप्त होता है उससे मुझको उत्तम धन प्राप्त हो, और जो (यज्ञः पितॄन पृथिवीम् अगन् ततः मा द्रविणम् अष्टु) यज्ञ पितृलोगों और पृथ्वीको प्राप्त होता है उससे मुझको श्रेष्ठ द्रव्य प्राप्त हो । और वह (यज्ञः यं कं च लोकम् अगन् ततः मे भद्रम् अभूत्) यज्ञ जिस किसी लोकको भी प्राप्त हो उससे मुझे कल्याण ही हो ॥ ६० ॥

[३५४] (ये चतुस्त्रिंशत तन्तवः यज्ञम् वितत्निरे) जो चौंतीस तन्तु अर्थात् आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र, प्रजापति और प्रकृति ये यज्ञका विस्तार करते हैं और (ये स्वधया इमं ददन्ते) ये उत्तम हवनीय पदार्थोंसे इस यज्ञको देते हैं, (तेषाम् छिन्नं एतत् स्वाहा सं दधामि) उनसे जो किया हुआ यज्ञ, उसको स्वाहाकारसे मैं करता हूं, (उ घर्म्मः देवान् अपि एतु) और वही यज्ञ देवों को निश्चयसे प्राप्त हो ॥ ६१ ॥

अवभृताय उद्यतः सन्नः सिन्धुः- यज्ञके अन्तिम भागमें किये जानेवाले अवभृथ स्नानके लिये तैयार होता है उसको सिन्धु कहते हैं ।

अभ्यवह्रियमाणः समुद्रः- सिद्धतक चलाया जानेवाला समुद्र कहलाता है । समुद्र जलसे पूर्ण रहता है, वैसा जो जीवन समुद्रमें परिपूर्ण होता है उसको समुद्र कहते हैं ।

ययोः ओजसा रजांसि स्कभिता- जिनके सामर्थ्यसे ये लोक सुस्थिर हुए हैं उनके द्वारा सुरक्षा होती है ।

वीर्येभिः वीर्यतमाः शविष्ठाः- अपने सामर्थ्योंसे जो विशेष पराक्रमी बने हैं ।

सहोभिः अप्रतीताः- अपने सामर्थ्योंसे जो पीछे नहीं हटते ।

पत्येते- शत्रुओंपर हमला करते हैं ।

विष्णू वरुणा पूर्वहूतौ अगन्- विष्णु और वरुण ये दोनों सबसे पूर्व संमानित हुए हैं ॥ ५९ ॥

जो यज्ञ देवोंको, मानवोंको तथा पितरोंको प्राप्त होता है वह मुझे धन देवे । इस यज्ञसे मेरा कल्याण हो जाय ॥६०॥

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सो अष्टधा दिवमन्वाततान ।
स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायां रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥६२॥
आ पवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत् । वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा ॥६३॥

[अ०८, कं० ६३, मं० सं० १५०]

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

---

[३५५] (यज्ञस्य दोहः पुरुत्रा विततः) यज्ञका फल अनेक प्रकारसे फैला है। (सः अष्टधा दिवम् अनु आततान) वह आठों दिशाओंमें आकाशमें फैला है । हे (यज्ञ) यज्ञ ! वह तू (मे प्रजायां महि रायः पोषं धुक्ष्व) मेरी प्रजामें महान् धनादि पदार्थोंकी समृद्धिको प्रदान कर, जिससे मैं (स्वाहा विश्वम् आयुः अशीय) सत्य यज्ञ क्रियासे सम्पूर्ण आयुको प्राप्त करूं ॥ ६२ ॥

[३५६] हे (सोम) सोम ! तू (वीरवत् अश्ववत् हिरण्यवत् आ पवस्व) वीर पुरुषोंसे युक्त, अश्वोंसे युक्त और सुवर्ण रत्नादिसे समृद्ध ऐश्वर्यको प्राप्त कर, और हमें (गोमन्तम् वाजम् स्वाहा आ भर) धेनुओंसे युक्त अन्नको उत्तम ज्ञान और कर्म द्वारा प्राप्त करा ॥ ६३ ॥

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ आठवा अध्याय समाप्त ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥१॥
ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनःसदं—मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्ये—ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदं—मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्ये—ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदं—मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्ये—ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥२॥

---

[३५७] हे (देव सवितः) तेजस्वी सबके उत्पादक परमात्मन् ! इस (यज्ञं प्रसुव) यज्ञको विशेष रीतिसे संपन्न करो, (यज्ञपतिम् भगाय प्रसुव) यजमानको ऐश्वर्य लाभके निमित्त प्रेरणा करो, (दिव्य केतपूः गन्धर्वः नः केतं पुनातु) दीप्यमान अन्नके पवित्र करनेवाले रश्मियोंके धारक तुम हमारे अन्नको पवित्र करो, और (वाचस्पतिः नः वाजम् स्वदतु स्वाहा) वाणीके अधिपति तुम हमारे वाक्योंको माधुर्यसे युक्त करो, यह आहुति भली प्रकार स्वीकृत हो ॥ १ ॥

यज्ञं प्रसुव— यज्ञको उत्तम रीतिसे करो ।

यज्ञपतिं प्रसुव— यज्ञकर्ताको यज्ञ करनेके लिये प्रेरित करो ।

केतपूः गंधर्वः नः केतं पुनातु— तेजस्वी अन्नको पवित्र करनेवाला हमारे अन्नको पवित्र करे ।

वाचस्पतिः वाजं स्वदतु— वाणीका अधिपति हमारी वाणीको मधुर बनावे । मीठी वाणी बोलनी चाहिये ॥ १ ॥

[३५८] हे राजन् ! तू (उपयामगृहीतः असि) सुनियमों द्वारा स्वीकृत है, (त्वा इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि ते एषः योनिः) तुझको इन्द्रके योग्य जानकर स्वीकारता हूं; तेरा यह आश्रय स्थान है । (जुष्टतमं ध्रुवसदं नृसदं मनः सदं त्वा) सबसे अधिक योग्य, स्थिररूपसे विराजनेवाला, समस्त मनुष्योंमें प्रतिष्ठित तुझको यहां स्थापित करता हूं । इसी प्रकार (अप्सुषदं घृतसदं व्योमसदं त्वा उपयामगृहीतः असि त्वा इन्द्राय इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि ते एषः योनिः) जलोंमें रहनेवाले तुझको तेजस्वी रूपसे स्थापित करता हूं ! तू स्वीकृत है, तुझको इन्द्रपदके योग्य जानकर इस पदके लिये नियुक्त करता हूं, तेरा यह आश्रयस्थान पद है । इसी प्रकार (पृथिवीसदं अन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदं त्वा उपयामगृहीतः असि त्वा इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि ते एषः योनिः) पृथ्वी पर स्थिर रूपसे विराजमान्, अन्तरिक्षमें वायुके समान व्यापक, द्युलोकमें सूर्यके समान प्रकाशित, विद्वान् श्रेष्ठजनोंमें प्रतिष्ठित, सब दुःखोंसे रहित तुझको मैं यहां प्रतिष्ठित करता हूं, तू स्वीकृत हुआ है, तुझको इन्द्रपदके योग्य जानकर इस पदके लिये नियुक्त करता हूं, तेरा यह आश्रयस्थान है ॥ २ ॥

त्वा इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि— तुझको इन्द्रपदके लिये योग्य समझकर तुम्हारा स्वीकार करता हूं । जो राज्यपदके लिये योग्य हो, उसीको राजाके पदका प्रदान करना योग्य है ।

जुष्टतमं ध्रुवसदं नृसदं मनःसदं त्वा गृह्णामि— अधिक योग्य, सुस्थिर रहकर कार्यरत होनेवाला, मानवोंको हित करनेवाला, सबके मनोंको आकर्षित करनेवाला तू है, ऐसे तेरा मैं स्वीकार करता हूं । राज्य शासनके लिये ऐसे मनुष्यका स्वीकार करना योग्य है ।

पृथिवीसदं, अन्तरिक्षसदं, दिविसदं, देवसदं, नाकसदं त्वा गृह्णामि— पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिव्य पुरुष, स्वर्गधाममें जो बहु संमानित है, उसका स्वीकार करता हूं ॥ २ ॥

अपाँ रसमुद्वयसँ सूर्ये सन्तँ समाहितम् । अपाँ रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तम-
—मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्ये—ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥३॥
ग्रहा ऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् । तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जँ समग्रभम्-
—मुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्ये—ष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ।
सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥४॥
इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसास्त्वयायं वाजँ सेत् ।
वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥५॥

[३५९] (इन्द्राय वः सूर्ये सन्तं समाहितं उद्वयसं अपां रसं गृह्णामि) इन्द्रके लिये और तुम्हारे लिये सूर्यके प्रकाशमें रहनेवाले, सर्व प्रकारसे ऊपर धारण करने योग्य जलोंके सारको मैं ग्रहण करता हूं । (यः अपाम् रसस्य रसः तं उत्तमं गृह्णामि) जो जलोंके सारका सार है, उस कल्याणकारक रसका मैं स्वीकार करता हूं । तू (उपयामगृहीतः असि, इन्द्राय जुष्टं त्वा, ते एषः योनिः, जुष्टतमं त्वा) सुनियमोंके द्वारा स्वीकृत है, परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये भक्ति करके रहनेवाला मैं तुम्हारा स्वीकार करता हूं, तुम्हारा यह घर है, उस अत्यन्त सेवनीय तुमको परमसुखके लिये ग्रहण करता हूं ॥ ३ ॥

सूर्ये सन्तं समाहितं उद्वयसं अपां रसं गृह्णामि— सूर्यके प्रकाशमें रहनेवाले, सर्वोत्तम, श्रेष्ठ जलके रसका मैं लेता हूं । सूर्य प्रकाशसे जल पवित्र होता है । ऐसा जल लेना योग्य है ।

यः अपां रसस्य रसः, तं उत्तमं गृह्णामि— जो जलोंमें उत्तम साररूप जल है, उस उत्तमसे उत्तम जलको मैं लेता हूं । सर्वोत्तम जो जल होगा उसी जलको लेना तथा उसीको पीना योग्य है । यज्ञमें उसीका उपयोग करना योग्य है ॥ ३ ॥

[३६०] हे (ऊर्जाहुतयः ग्रहाः) बलको ग्रहण करने और बल बढानेमें समर्थ पुरुषो ! तुम (विप्राय मतिं व्यन्तः) वृद्धिमान पुरुषके लिये मनन योग्य ज्ञान विविधप्रकारसे प्रदान करते रहो, (विशि प्रियाणां तेषां इषं ऊर्जं सं अग्रभम्) प्रजाजनोंके प्रिय लोगोंके लिये मैं अन्न और बलका संग्रह करता हूं, तुम (उपयामगृहीतः असि इन्द्राय जुष्टं त्वा, ते एषः योनिः जुष्टतमं त्वा) सुनियमोंके द्वारा स्वीकार करने योग्य तथा परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रीति पूर्वक वर्तनेवाले तुमको मैं ग्रहण करता हूं, तुम्हारा यह घर है, तुमको परम सुखके लिये ग्रहण करता हूं । तुम दोनों भी (सम् पृचौ स्थः) परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो, (मा भद्रेण सं पृंक्तम्) मुझको कल्याण और सुखसे युक्त करो । तुम दोनों (विपृचौ स्थः, मा पाप्मना विपृङ्क्तं) पृथक् रहनेवाले हो, मुझको पापसे दूर रखो ॥४॥

ऊर्जाहुतयः ग्रहाः— तुम बल बढानेके लिये अपनी शक्तिका भाग अर्पण करनेवाले हो ।
विप्राय मतिं व्यन्त— ज्ञानीके लिये उत्तम मननीय विचार प्रकट करो ।

विशि प्रियाणां तेषां इषं ऊर्जं सं अग्रभम्— प्रजाजनोंमें जो प्रिय हैं उनके लिये अन्न और बल प्रदान करनेके लिये मैंने संग्रहित किया है ।

संपृचौ स्थः— तुम दोनों मिलकर रहो । पृथक् न होओ ।
मा भद्रेण संपृंक्तम्— मुझे कल्याणसे संयुक्त करो ।
विपृचौ स्थः, मा पाप्मना विपृंक्तम्— तुम दोनों पृथक् रहनेवाले हो, अंतः मुझे पापसे पृथक् रखो ॥ ४ ॥

[३६१] तू (इन्द्रस्य वज्रः असि) इन्द्रके वज्रके समान शत्रुका नाशक है । तू (वाजसाः) युद्धोंका अनुभवी है । (त्वया अयं वाजं सेत्) तेरे साथ रह कर यह राजा युद्धमें विजय प्राप्त करे । (नु वाजस्य प्रसवे महीं अदितिं मातरं वाचसा नाम करामहे) निश्चयसे हम युद्धके ऐश्वर्य जनक कार्यमें बडी अखण्डित भूमिमाताको उत्तम भाषण द्वारा यशस्वी करें । (यस्यां इदं विश्वं भुवनं आविवेश) जिसमें यह समस्त संसार स्थित है । (तस्यां सविता देवः नः धर्म साविषत्) उसमें सबका उत्पादक देव हमारे धर्मकी सुव्यवस्था करे ॥ ५ ॥

अप्स्वुन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः ।
देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजंꣳ सेत् ॥६॥

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंꣳशतिः । ते अग्रेऽश्वमयुञ्जँस्ते अस्मिञ्जवमा दधुः ॥७॥

वातरꣳहा भव वाजिन्युज्यमान इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥८॥

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तो अचरच्च वाते ।
तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः ।
वाजिनो वाजजितो वाजंꣳ सरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥९॥

इन्द्रस्य वज्रः असि— तू इन्द्रके वज्रके समान शत्रुनाशक हो।

त्वया अयं वाज सेत्— तेरे साथ रहकर यह युद्धमें विजयी होगा।

वाजस्य प्रसवे महीं अदितिं मातरं वचसा नाम करामहे— अन्नके उत्पादनके समय इस बडी मातृभूमिका अपने भाषणमे प्रशंसा करते हैं।

यस्यां इदं विश्वं भुवनं आविवेश— जिस मातृभूमीमें यह सब विश्व प्रविष्ट होकर रहा है।

तस्यां सविता देवः नः धर्म साविषत् — इस मातृभूमिमें सबका उत्पादक ईश्वर हमारे धर्मको आधाररूप होकर रहता है ॥ ५ ॥

[३६२] (अप्सु अन्तः अमृतम्) जलोंके अंदर अमृत है, (उत् अप्सु भेषजम्) और जलोंके बीचमें औषध भी है। हे (अश्वाः) अश्वो ! (वाजिनः भवत) तुम बलवान हो तथा (अपाम् प्रशस्तिषु भवत) जलोंके प्रशस्त भागोंमें रहो। हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (वः यः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसाः ऊर्मिः) तुम्हारा जो शीघ्र चलनेवाली ऊंची अन्नको देनेवाली तरङ्गें हैं, (तेन अयं वाजं सेत्) उनसे युक्त हुआ यह ईप्सित अन्नको प्रदान करनेवाला हो ॥ ६ ॥

[३६३] (वातः वा मनः वा सप्तविंशतिः गन्धर्वाः) वायु और मन तथा सत्ताईस गन्धर्व जैसे वेग धारण करते हैं, उसी प्रकार (ते अग्रे अश्वं आयुञ्जन्) वे भी अपने रथोंके आगे अश्वको जोडते हैं। और (ते अस्मिन् अश्वं जवं आदधुः) वे उसमें वेग और बलका धारण करते हैं ॥ ७ ॥

वायु और मन बडे वेगवान हैं।

ते अग्रे अश्वं आयुंजन्— वे अपने रथके साथ घोडेको जोडते हैं।

ते अस्मिन् जवं आदधुः— वे इस घोडेमें वेग धारण करते हैं। वेगसे रथको चलाते हैं ॥ ७ ॥

[३६४] हे (वाजिन्) घोडे ! तुम रथके साथ (युज्यमानः वातरंहाः भव) जुड जानेपर, वायुके समान वेगवान् होओ, (दक्षिणः इन्द्रस्य इव श्रिया एधि) दक्ष रहकर इन्द्रकी शोभाकी वृद्धि करो। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) समस्त ज्ञानसे युक्त मरुत् गण तुमको रथमें नियुक्त करें। और (त्वष्टा ते पत्सु जवम् आदधातु) त्वष्टा देव तुम्हारे पावोंमें वेगको स्थापन करे ॥ ८ ॥

[३६५] हे (वाजिन्) अश्व ! (यः ते जवः गुहा निहितः, यः श्येने परीतः च वाते अचरत्) जो तेरा वेग हृदयमें है, जो श्येन पक्षीमें व्याप्त है, और जो वायुमें है (तेन बलेन बलवान्) उस बलसे बलवान् होते हुये, हे (वाजिन्) वेगवान् घोडे ! तुम (नः वाजजित्) हमारे लिये युद्धको जीतनेवाला बनो (च समने पारयिष्णुः) और संग्राममें शत्रुका पराभव कर संकटसे पार करनेवाले हो। (वाजजित् वाजं सरिष्यन्त) अन्नके जीतनेवाले और अन्नके प्रति जाते हुये, हे (वाजिनः) अश्वो ! तुम (बृहस्पतेः भागं अवजिघ्रत) बृहस्पतिके अन्न भागको सूंघो ॥९॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम् ।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम् ।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम् ।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम् ॥१०॥

बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयत ।
इन्द्र वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्द्रं वाजं जापयत ॥११॥

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् । एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् ॥१२॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम् ।
वाजिनो वाजजितोऽध्वन स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ॥१३॥

---

[३६६] (सत्यसवसः सवितुः देवस्य सवे अहम् बृहस्पतेः उत्तमं नाकं रुहेयम्) सत्यप्रेरक सवितादेवके यज्ञमें रहकर मैं बृहस्पतिके श्रेष्ठ स्वर्गमें आरोहण करूं । (सत्यसवसः सवितुः देवस्य सवे इन्द्रस्य उत्तमं नाकं रुहेयम्) अनुल्लंघनीय प्रेरणावाले सविता देवकी अनुज्ञामें रहकर मैं इन्द्रके उत्कृष्ट स्वर्गमें आरोहण करूं । (सत्यसवसः सवितुः देवस्य सवे अहम् बृहस्पतेः उत्तमं नाकं अरुहम्) अनुल्लंघनीय प्रेरणावाले सवितादेवकी प्रेरणासे मैं बृहस्पतिके उत्कृष्ट इस स्वर्गमें आरूढ हुआ । और (सत्यसवसः सवितुः देवस्य सवे अहम् इन्द्रस्य उत्तमम् नाकम् आरुहम्) अनुल्लंघनीय सविता देवके यज्ञमें वर्तमान मैं इन्द्रके स्वर्गमें चढा था ॥ १० ॥

[३६७] हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! तुम (वाजं जय) संग्राममें विजय प्राप्त करो । तुम लोग (बृहस्पतये वाचं वदत) बृहस्पतिके लिये स्तुतिकी वाणी बोलो तथा (बृहस्पतिं वाजं जापयत) बृहस्पतिको अन्न जय कराओ । हे (इन्द्र) ! तुम (वाजं जय) संग्राममें विजय प्राप्त कर । हे विद्वान् पुरुषो ! तुम लोग (इन्द्राय वाचं वदत) इन्द्रके लिये वाणीसे स्तुति करो और (इन्द्रं वाजं जापयत) इन्द्रको युद्धमें विजय कराओ ॥ ११ ॥

वाजं जय— युद्धमें अपना विजय प्राप्त हो ऐसा करो ।

इन्द्रं वाजं जापयत— इन्द्रका युद्धमें विजय हो ऐसा करो ॥ ११ ॥

[३६८] (वः एषा सा सत्या संवाक् अभूत्) तुम लोगोंकी यह सत्य और एक दूसरेसे मिलानेवाली वाणी होनी चाहिये (या बृहस्पतिं वाजं अजीजपत) जिससे बृहस्पतिको और संग्रामको जितानेमें समर्थ हो सको । तुम लोग (बृहस्पतिं वाजं अजीजपत) बृहस्पति युद्धमें विजयी हो ऐसा करो । हे (वनस्पतयः) जनोंके अधिकारियो ! तुम अपने सैनिकों, अश्वों और दस्तोंको (विमुच्यध्वम्) छोड दो, (वः एषा सत्या संवाग् अभूत्) तुम लोगोंकी यह सच्ची, परस्पर सम्मिलित वाणी है (यया इन्द्रम् वाजम् अजीजपत) जिससे तुम लोग इन्द्रको विजय प्राप्त कराते हो । हे (वनस्पतयः) वनोंके रक्षको ! तुम लोग विजयके नंतर (विमुच्यध्वम्) छोड दो, उनको वन्धनोंसे मुक्त कर दो ॥ १२ ॥

[३६९] (अहं, सवितुः सत्य प्रसवसः देवस्य बृहस्पतेः सवे) मैं, सर्व प्रेरक, सत्य आज्ञाके प्रदाता, सर्व प्रकाशक, बृहस्पतिके शासनमें रहकर उस (वाजजितः वाजं जेषम्) संग्राम विजयीके संग्राममें विजय प्राप्त करूं । हे (वाजजितः वाजिनः) संग्रामके जीतनेवाले वेगवान अश्वो ! (अध्वनः स्कभ्नुवन्तः काष्ठां गच्छत) शत्रुके बढनेके मार्गको रोकते हुये अपने वेगसे दिशाओंको लांघते हुये तुम सब परली सीमातक पहुंच जाओ ॥ १३ ॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि ।
क्रतुं दधिक्रा अनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा ॥१४॥

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः ।
श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा ॥१५॥

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥१६॥

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳ समिथेषु जभ्रिरे ॥१७॥

वाजे-वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥१८॥

वाजजितः वाजं जेषम् -- मैं संग्राममें विजयी होकर विजय प्राप्त करूं ।

अध्वनः स्कभ्नुवन्तः काष्ठां गच्छत- शत्रुके मार्गको रोककर दूर तक जाओ ॥ १३ ॥

[३७०] (एषः वाजी) यह अश्व (यः ग्रीवायां कक्षे असनि अपि बद्धः) जो गर्दनमें, पुठ्ठेमें और मुखमें भी बंधा हुआ है, (सः दधिक्रा क्रतुं अनु संसनिष्यत् पथां अकांसि अन्वापनिफणत्) वह अश्व यज्ञके उद्देशसे शब्द करता हुआ और आगे चलता हुआ मार्गोंमें लगे समस्त विघ्नोंको दूर करता है, तथा उस घोडेपर बैठा वीर (क्षिपर्णि तुरण्यति, स्वाहा) अपने शस्त्रोंको शीघ्रतासे शत्रुपर फेंकता है, वह उत्तम कथन है ॥ १४ ॥

[३७१] जो (उर्जा स्वाहा सह) पराक्रमके और उत्तम भाषणके साथ (अस्य द्रवतः तुरण्यतः वेः पर्णं न) इस दौडनेवाले और शीघ्र उडनेवाले पक्षीके पंखोंके समान तथा (तरित्रतः दाधिक्राव्णः अङ्कसं परि अनु वाति स्म) अत्यंत शीघ्रता पूर्वक चलते हुये अश्वके सदृश सब प्रकार अपनी प्रगति करता है, वही शत्रुओंको जीत सकता है ॥ १५ ॥

[३७२] (हवेषु वाजिनः नः शं भवन्तु) संग्राममें वेगवान् घोडे हमारा कल्याण करनेवाले हों, और वे (देवताता मितद्रवः सु अर्काः) देवताओंके कार्यके लिये यज्ञमें योग्य गतिसे जानेवाले उत्तम रीतिसे प्रकाशमान हों, तथा वे (अहिं वृकं रक्षांसि अमीवाः सनेमि अस्मद् युवयन्) सर्प, वृक और दुष्ट पुरुषों एवं व्याधियोंको शीघ्रही हमसे दूर करें ॥ १६ ॥

[३७३] (ते अर्वन्तः हवनश्रुतः विश्वे वाजिनः मितद्रवः) वे अश्वोंके ऊपर चढनेवाले यज्ञमें हवन करनेके लिये प्रसिद्ध, सब प्रकारके बलोंसे युक्त, अपरिमित गतिवाले वीर (मे हवं शृण्वन्तु) मेरे वचन सुनें, वे (सहस्रसाः मेधसाता सनिष्यवः) अनेक जनोंको तृप्त करनेवाले, यज्ञ करनेवाले और अन्नोंको प्राप्त करनेवाले हैं ऐसे (ये समिथेषु महः धनं जभ्रिरे) वीर लोग संग्रामोंसे महान् ऐश्वर्यको प्राप्त करते हैं ॥ १७ ॥

[३७४] हे (वाजिनः) बलवान वीरो ! (विप्राः अमृताः ऋतज्ञाः, वाजे वाजे धनेषु नः अवत) बुद्धिमान्, अमर और सत्यके जाननेवाले तुम सम्पूर्ण अन्नों और धनोंमें रखकर हमारी पालना करो । (अस्य मध्वः पिबत, मादयध्वम्) इस मधुर रसको पान करके तृप्त हो जाओ । और तृप्त होकर (देवयानैः पथिभिः यात) देवयानके मार्गोंसे गमन करो ॥ १८ ॥

×

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे ।
आ मां गन्तां पितरां मातरा चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात् ।
वाजिनो वाजजितो वाजंꣳ ससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः ॥१९॥

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहा ऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहा ऽहर्पतये स्वाहा ऽह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिने आन्त्यायनाय स्वाहा ऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहा ऽधिपतये स्वाहा ॥२०॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम ॥२१॥

---

[३७५] (मा वाजस्य प्रसवः आजगम्यात्) मुझे अन्नका उत्पादन करनेका ज्ञान प्राप्त हो । (इमे विश्वरूपे द्यावापृथिवी आगन्ताम्) ये दोनों विश्वरूप आकाश और पृथ्वी मेरे पास आजांय । (मा पितरा च मातरा आ गन्ताम्) मुझे पिता और माता प्राप्त हों । मा सोमः अमृतत्वेन आ गम्यात्) मुझे सोम अमृतभावके साथ प्राप्त हो । हे (वाजजितः वाजिनः) संग्रामको जीतनेवाले बलवान वीर पुरुषो ! तुम लोग (वाजं ससृवांसः) संग्रामको करनेवाले हो, अतः (निमृजानः बृहस्पतेः भागं अवजिघ्रत) सर्वथा पवित्र चित्त होकर बृहती सेनाके स्वामीके सेवने योग्य भागको प्राप्त होओ ॥ १९ ॥

[३७६] (आपये स्वाहा) व्यापक देवताके लिये यह आहुति दी जाती है । (स्वापये स्वाहा) सर्वव्यापीके लिये यह आहुति दी जाती है । (अपिजाय स्वाहा) पुनः पुनः प्रकट होनेवाले देवताके लिये यह आहुति दी जाती है । (क्रतवे स्वाहा) यज्ञरूप ईश्वरके लिये यह आहुति दी जाती है। (वसवे स्वाहा) जगत्‌की उत्पत्ति करनेवालेके लिये यह आहुति दी जाती है । (अहर्पतये स्वाहा) दिनके स्वामीके निमित्त यह आहुति दीजाती है । (मुग्धाय अह्ने स्वाहा) सुन्दर दिवसके निमित्त यह आहुति दी जाती है (वैनंशिनाय मुग्धाय स्वाहा) अविनाशी सुन्दर दिनके निमित्त यह आहुति दी जाती है । (आन्त्यायनाय वनंशिने स्वाहा) अन्ततक पहुंचनेवाले अविनाशीके निमित्त यह आहुति दी जाती है । (भौवनाय अन्त्याय स्वाहा) भुवनकी सीमाके लिये यह आहुति दी जाती है । (भुवनस्य पतये स्वाहा) सम्पूर्ण भुवनके पतिके निमित यह आहुति दी जाती है । (अधिपतये स्वाहा) अधिपतिके लिये यह आहुति दी जाती है, उसका स्वीकार हो ॥ २० ॥

[३७७] (यज्ञेन आयुः कल्पताम्) यज्ञसे हमारी आयु वृद्धिको प्राप्त हो । (यज्ञेन प्राणः कल्पताम्) यज्ञसे हमारे प्राण वृद्धिको प्राप्त हो । (यज्ञेन चक्षुः कल्पताम्) यज्ञसे हमारी नेत्र इन्द्रिय सामर्थ्यको प्राप्त हो । (यज्ञेन श्रोत्रं कल्पताम्) यज्ञसे हमारी श्रवणके इन्द्रियका बल वृद्धिको प्राप्त हो । (यज्ञेन पृष्ठं कल्पताम्) यज्ञसे हमारी पीठका बल वृद्धिको प्राप्त हो । (यज्ञेन यज्ञः कल्पताम्) यज्ञसे हमारे यज्ञ वृद्धिको प्राप्त हों । हम सब (प्रजापतेः प्रजाः अभूम) परमेश्वरकी प्रजायें बनकर रहें । हम लोग (देवाः स्वः अगन्म) विजयी दिव्य गुणवान् होकर परम सुखमय स्थितिको प्राप्त हों तथा हम सब (अमृताः अभूम) दीर्घायु प्राप्त कर अमर हों ॥ २१ ॥

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तु वः ।
नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयं ते राड्
यन्ताऽसि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः । कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥२२॥
वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमं राजानमोषधीष्वप्सु ।
ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥२३॥
वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् ।
अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छतु स्वाहा ॥२४॥
वाजस्य नु प्रसव आ बभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
सनेमि राजा परि याति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे स्वाहा ॥२५॥
सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे । आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिं स्वाहा ॥२६॥

---

[३७८] हे (दिशः) दिशाओ ! (वः इन्द्रियं अस्मे अस्तु) तुम्हारा समस्त ऐश्वर्य हमें प्राप्त हो। तुम्हारा (नृम्णम् उत क्रतुः अस्मे) धन और कर्मसामर्थ्य हमें प्राप्त हो। (वः वर्चांसि अस्मे सन्तु) तुम्हारा तेज हमें प्राप्त हों। (मात्रे पृथिव्यै नमः) मातृभूमिके लिये नमस्कार है, (मात्रे पृथिव्या 'नमः') माता पृथ्वीके लिये हमारा आदर है। (इयं राड्) यह तेरी शासन शक्ति है। तू (यन्ता असि) संचालक है। तू (यमनः ध्रुवः धरुणः असि) सब प्रकारसे नियमन करनेवाला, ध्रुव अर्थात् स्थिर और सबका आश्रय स्थान है। (त्वा कृष्यै, त्वा क्षेमाय, त्वा रय्यै, त्वा पोषाय) तुझको खेतीके लिये, हमारे योगक्षेमके लिये, जगत्के कल्याणके लिये, राष्ट्रमें ऐश्वर्य वृद्धिके लिये तथा तुझको प्रजा पालनके लिये स्वीकारता हूं ॥ २२ ॥

[३७९] (वाजस्व प्रसवः अग्रे) अन्नके उत्पन्न करनेवालेने सबसे प्रथम (ओषधीषु अप्सु इमं सोमं राजानं सुषुवे) औषधि और जलोके मध्यमें इस सोमवल्ली नामक दीप्तमान् पदार्थको उत्पन्न किया है। (ताः अस्मभ्यम् मधुमतीः भवन्तु) वे सोम औषधियां हमारे लिये मधुररससे युक्त प्राप्त हों। (पुरोहिताः वयं राष्ट्रे जागृयाम) आगे रहकर हम अपने राष्ट्रमें जागृत रहें ॥ २३ ॥

पुरोहिताः वयं राष्ट्रे जागृयाम– अग्रेसर होकर हम अपने राष्ट्रमें जागृत रहें ॥ २३ ॥

[३८०] (वाजस्य प्रसवः इमां दिवं इमा विश्वा भुवनानि शिश्रिये) अन्नके उत्पन्न करनेवाले परमात्माने इस द्युलोकको और इन सम्पूर्ण भुवनोंको आश्रय दिया है। (सः सम्राट् आदित्सन्तं प्रजानन् दापयति) वह सबका अधिपति हवि देनेकी इच्छावाले मुझे जानता हुआ, मुझसे आहुति दिलाता है, वह (नः सर्ववीरं रयिं नियच्छतु, स्वाहा) हमारे लिये सब प्रकारका पुत्र आदि धन प्रदान करे, यह आहुति भली प्रकार दी जाती हैं ॥ २४ ॥

[३८१] (नु वाजस्य प्रसवः इमा विश्वा भुवनानि सर्वतः आबभूव) यह आश्चर्य है कि, अन्नके उत्पन्न करनेवाले प्रजापतिने इन सम्पूर्ण भुवनोंको सब ओरसे उत्पन्न किया है। (च सनेमि विद्वान् राजा) और वह पुरातन, सब कुछ जाननेवाला राजा (अस्मे प्रजां पुष्टिं वर्धमानः परियाति) हमारे लिये प्रजा, धन और पशुओंकी समृद्धिको बढाता हुआ, सबके ऊपरके स्थानमें विराजता है, (स्वाहा) उसके निमित्त यह आहुति है ॥ २५ ॥

[३८२] जिस प्रजापतिने हमारे (अवसे) प्रतिपालनार्थ (राजानं सोमं अग्निं आदित्यान् विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिं अन्वारभामहे , राजाको, सोमको, अग्निको, बारह आदित्योंको, सबके प्रसवकर्ता सूर्यको, ब्रह्माको और बृहस्पतिको उत्पन्न किया है, हम उस प्रजापतिकी आराधना करते हैं। (स्वाहा) उसके निमित्त यह आहुति है ॥ २६ ॥

अर्य॒मणं॒ बृह॒स्पति॒मिन्द्रं॒ दाना॑य चोदय ।
वाचं॒ विष्णु॒ꣳ सर॑स्वती॒ꣳ स॑वि॒तारं॑ च वा॒जिन॒ꣳ स्वाहा॑ ॥२७॥

अग्ने॒ अच्छा॑ वदे॒ह नः॒ प्रति॑ नः सु॒मना॑ भव ।
प्र नो॑ यच्छ सहस्रजि॒त्त्वꣳ हि ध॑न॒दा असि॒ स्वाहा॑ ॥२८॥

प्र नो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र पू॒षा प्र बृह॒स्पतिः॑ । प्र वाग्दे॒वी द॑दातु नः॒ स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॑न्त्रि॒ये॑ दधामि॒ बृह॒स्पते॑ष्ट्वा॒ साम्रा॑ज्येना॒भि षि॑ञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

अ॒ग्निरेका॑क्षरेण प्रा॒णमुद॑जय॒त्तमुज्जे॑षम॒श्विनौ॒ द्व्य॑क्षरेण द्वि॒पदो॑ मनु॒ष्या॒नुद॑जयतां॒ तानुज्जे॑षं॒ विष्णु॒स्त्र्य॑क्षरेण॒ त्रीँल्लो॒कानुद॑जय॒त्तानुज्जे॑षꣳ॒ सोम॒श्चतु॑रक्षरेण॒ चतु॑ष्पदः प॒शूनुद॑जय॒त्तानुज्जे॑षम् ॥३१

[३८३] तुम (**अर्यमणं बृहस्पतिं इन्द्रं**) अर्यमाको, बृहस्पतिको, इन्द्रको (**वाचं सरस्वतीं विष्णुं सवितारं वाजिनं दानाय चोदय**) वाणीकी अधिष्ठात्री सरस्वतीको, सबके प्रसव कर्ता सूर्यको और बलशाली देवोंको धन प्रदानके निमित्त प्रेरणा करो । (**स्वाहा**) यह आहुति तुम्हारे लिये दी गयी है ॥ २७ ॥

[३८४] हे (**अग्ने**) अग्ने ! तुम (**इह नः अच्छावद**) इस यज्ञमें हमको अच्छे प्रकार उपदेश करो और (**नः प्रतिसुमना भव**) हमारे प्रति अच्छे मनवाले होओ । हे (**सहस्रजित्**) सहस्रोंके जीतनेवाले ! (**हि त्वम् धनदाः असि**) जिस कारणसे तुम धनके देनेवाले हो, इस कारण (**नः प्रयच्छ**) हमको धन प्रदान करो । (**स्वाहा**) हमारी यह आहुति है ॥ २८ ॥

नः इह अच्छावद— हमारे लिये यहां अच्छा भाषण करो ।
नः प्रति सुमना भव— हमारे साथ तुम उत्तम विचारोंके साथ रहो ।
सहस्रजित्— सहस्रो युद्धोंमें विजय पानेवाला वीर ।
नः प्रयच्छ— हमें धन दो ॥ २८ ॥

[३८५] (**अर्यमा नः प्रयच्छतु**) अर्यमा हमारे लिये दान देवे । (**पूषा प्र**) पूषा देवता हमारे लिये प्रदान करे । (**देवी वाक् नः ददातु**) सरस्वती वाणीकी अधिष्ठात्री हमारे निमित्त अभीष्ट प्रदान करे । (**स्वाहा**) हमारी यह आहुति दी जाती है ॥ २९ ॥

[३८६] (**असौ**) यह मैं (**सवितुः देवस्य प्रसवे**) सर्वोत्पादक प्रकाशमान् जगदीश्वरके उत्पन्न किये संसारमें (**सरस्वत्यै वाचः**) वेद वाणीके मध्यमें (**अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम् त्वा दधामि**) अश्विनौकी भुजाओंसे और पूषा देवताके हाथोंसे तुझे धारण करता हूं । और (**यन्तुः बृहस्पतेः यन्त्रिये साम्राज्येन त्वा अभिषिञ्चामि**) नियमन करनेवाले बृहस्पतिके उत्तम नियन्त्रणमें इस साम्राज्यके अधिष्ठाताके स्थान पर तुमको स्थापित करता हूं ॥ ३० ॥

[३८७] (**अग्निः एकाक्षरेण प्राणं उदजयत् तं उज्जेषम्**) अग्निने एकाक्षरके प्रभावसे प्राणको जय किया है, मैं भी उस प्राणको एकाक्षरके प्रभावसे जय करूं । (**अश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदः मनुष्यान् उदजयताम् तान् उज्जेषम्**) अश्विनीकुमारोंने दो अक्षरवाले छन्दके प्रभावसे दो पैरोंवाले मनुष्योंको उत्कृष्ट रूपसे जय किया है, मैं भी दो अक्षरके प्रभावसे उनको जय कर सकूं । (**विष्णुः त्र्यक्षरेण त्रीन् लोकान् उदजयत् तान् उज्जेषम्**) विष्णुने तीन अक्षरके छन्दसे तीन लोकोंको जय किया, मैं उनके प्रभावसे उन तीनों लोकोंको जय करूं । और (**सोमः चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशून् उदजयत् तान् उज्जेषम्**) सोमने चतुरक्षर मन्त्रके प्रभावसे चार पैरवाले पशुओंको जय किया है, मैं भी उसके प्रभावसे उन पशुओंको जय करूं ॥ ३१ ॥

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत्ता उज्जेषᳬं सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ॥ ३२

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतᳬं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ ३३ ॥

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशᳬं स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषᳬं रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशᳬं स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशᳬं स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशᳬं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशᳬं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

---

[३८८] (पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्चदिशः उदजयत् ताः उज्जेषम्) पूषा देवताने पञ्चाक्षर छन्दके प्रभावसे पांच दिशाओंको जय किया, उसीके प्रभावसे में उन दिशाओंको जय करूं। (सविता षडक्षरेण षड् ऋतून् उदजयत् तान् उज्जेषम्) सविता देवताने षडक्षर छन्दके प्रभावसे छः ऋतुओंको जय किया, उसीके प्रभावसे उन छः ऋतुओंको में जय करूं। (मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् उदजयन् तान् उज्जेषम्) मरुत् देवताने सप्ताक्षर मन्त्रके प्रभावसे सात ग्राम्यगवादि पशुओंको जय किया, में भी उनको जीतूं। और (बृहपति अष्टाक्षरेण गायत्रीम् उदजयत् ताम् उज्जेषम्) बृहस्पतिने अष्टाक्षर मन्त्रके प्रभावसे गायत्रीको वशीभूत किया, में भी उसके प्रभावसे उसको वशीभूत कर सकूं ॥ ३२ ॥

[३८९] (मित्रः नवाक्षरेण त्रिवृत्तम् उदजयत् तम् उज्जेषम्) मित्र देवताने नवाक्षर छन्दसे त्रिवृत् स्तोमको जय किया, उसी प्रकार में भी उसको जय करूं। (वरुणः दशाक्षरेण विराजम् उदजयत् तम् उज्जेषम्) वरुणने दशाक्षरछन्दसे दशाक्षरा विराट्के अभिमानी देवताको जय किया, में भी उसी प्रकार उसको जय करूं। (इन्द्रः एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभम् उदजयत् ताम् उज्जेषम्) इन्द्रने एकादश अक्षरसे एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्दके अभिमानी देवताको जय किया, उसको में जय करूं। और (विश्वेदेवाः द्वादशाक्षरेण जगतीम् उदजयन् ताम् उज्जेषम्) विश्वेदेवाओंने बारह अक्षरसे जगती छन्दके अभिमानी देवताको जय किया, में भी उसको वशीभूत कर सकूं ॥ ३३ ॥

[३९०] (वसवः त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशᳬं स्तोमम् उदजयन् तम् उज्जेषम्) वसुओंने तेरह अक्षरवाले छन्दसे त्रयोदशस्तोमको उत्कृष्टरूपसे वशीभूत किया, उसीको में जय करूं। (रुद्राः चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशम् स्तोमम् उदजयन् तम् उज्जेषम्) रुद्रोंने चौदह अक्षर छन्दसे चौदहवें स्तोमको उत्कृष्टरूपसे जय किया, उसको में जय करूं। (आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण पंचदशम् स्तोमम् उदजयन् तम् उज्जेषम्) आदित्योंने पञ्चदश अक्षरके छन्दसे पन्द्रहवें स्तोमको उत्कृष्टरूपसे जय किया, उसको में सम्यक् प्रकारसे जय करूं। (अदितिः षोडशाक्षरेण षोडशं स्तोमम् उदजयत् तम् उज्जेषम्) अदिति देवमाताने सोलह अक्षरके छन्दसे सोलह स्तोमको उत्कृष्टरूपसे जय किया, उसको में जय करूं। और (प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशᳬं स्तोमम् उदजयत् तम् उज्जेषम्) प्रजापतिने सप्तदशाक्षर छन्दसे सप्तदशाख्य स्तोमको जय किया, उसको में वशीभूत करूं ॥ ३४ ॥

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहा ऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा
यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा
मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरासद्भ्यः स्वाहा
सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥

ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा
विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः
स्वाहा ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य । दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि ॥ ३७ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । उपांशोर्वीर्येण जुहोमि हतं रक्षः
स्वाहा रक्षसां त्वा वधायावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः ॥ ३८ ॥

---

[३९१] हे (निर्ऋते) पृथिवि ! (एषः ते भागः तम् जुषस्व स्वाहा) यह तुम्हारा भाग है इसको प्रीतिपूर्वक सेवन करो, यह आहुतिको स्वीकार करो। (अग्निनेत्रेभ्यः पुरः सद्भ्यः देवेभ्यः स्वाहा) जिनका अग्नि नेता है उन पूर्व दिशामें बसनेवाले देवताओंकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दी जाती है, भली प्रकार गृहीत हो। (यमनेत्रेभ्यः दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा) यम जिसका नेता है उन दक्षिण दिशावासी देवताओंकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं, भली प्रकार गृहीत हो। (विश्वदेवनेत्रेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः देवेभ्यः स्वाहा) विश्वेदेवा जिनके नेता हैं उन पश्चिम दिशामें निवास करनेवाले देवताओंकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दी जाती है, भली प्रकार गृहीत हो। (वा मित्रावरुणनेत्रेभ्यः मरुत्नेत्रेभ्यः उत्तरासद्भ्यः देवेभ्यः स्वाहा) या जिनके नेता मित्रावरुण हैं अथवा जिनके नेता मरुत् देवता हैं उन उत्तर दिशामें निवास करनेवाले देवताओंकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दी जाती है, भली प्रकार गृहीत हो। (सोमनेत्रेभ्यः दुवस्वद्भ्यः उपरिसद्भ्यः देवेभ्यः स्वाहा) जिनका नेता सोम है ऐसे हविभोजी ऊपरीभाग अन्तरिक्ष वा द्युलोक निवासी उन देवताओंको प्रीतिके निमित्त यह आहुति दी जाती है, सम्यक् गृहीत हो ॥ ३५ ॥

[३९२] (ये देवाः अग्निनेत्राः पुरः सदः तेभ्यः स्वाहा) जो देवता अग्निनेतासे युक्त हैं और पूर्वमें निवास करते हैं उन देवताओंके निमित्त यह आहुति दी जाती है। (ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदः सदः तेभ्यः स्वाहा) यम जिनका नेता है वे देवता जो दक्षिण दिशावासी हैं उनके निमित्त यह आहुति दी जाती है। (ये देवाः विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदः तेभ्यः स्वाहा) जो देवता विश्वदेवनेतावाले पश्चिम निवासी हैं उनके निमित्त यह आहुति दी जाती हैं। (ये देवाः मित्रावरुणनेत्राः वा मरुन्नेत्राः वा उत्तरासदः तेभ्यः स्वाहा) जो देवता मित्रावरुणवाले अथवा मरुत-नेतावाले और उत्तर दिशा निवासी हैं उनके निमित्त यह आहुति दी जाती है। (ये देवाः सोमनेत्रा दुवस्वन्तः उपरिसदः तेभ्यः स्वाहा) जो देवता सोमके नेतावाले, हविस्वीकार करनेवाले द्युलोकवासी हैं उनके निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति प्राप्त हो ॥ ३६ ॥

[३९३] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (पृतनाः सहस्व, अभिमातीः अपास्य) शत्रुसेनाको पराभव करो और उन शत्रुओंको विदारित करो। (दुष्टरः) दुर्निवार तुम (अरातीः तरन्) शत्रुओंको दूर करते हुये (यज्ञवाहसि वर्चः धाः) यज्ञ करनेवाले इस यजमानको अन्न वा तेज प्रदान करो ॥ ३७ ॥

[३९४] (स्वाहा, सवितुः देवस्य प्रसवे) यह उत्तम आहुति देते हैं। ऐश्वर्यके उत्पन्न करनेवाले देवके राज्यमें (उपांशो वीर्येण) समीपस्थके सामर्थ्यसे (अश्विनौ बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम्) अश्विनी कुमारोंके दोनों बाहुओंसे और पूषा देवताके दोनों हाथोंसे (रक्षसां वधाय त्वा जुहोमि) राक्षसोंके विनाश करनेके लिये तुम्हारे लिये आहुति देता हूं, जैसे तूने (रक्षः हतम्) दुष्टोंको नष्ट किया, वैसे हम लोग भी दुष्टोंको (अवधिष्म) विनष्ट करें, जिससे (असौ रक्षः हतः) यह दुष्ट राक्षस नष्ट हो गया, वैसे हम लोग (अमुम् अवधिष्म) इनको नष्ट करें ॥ ३८ ॥

सविता त्वा सवानांꣳ सुवतामग्निर्गृहपतीनाꣳ सोमो वनस्पतीनाम्।
बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥३९॥
इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ४० ॥

[अ० ९, कं० ४०, मं० सं० ११७]

इति नवमोऽध्यायः।

---

[३९५] (सविता सवानाम् त्वा सुवताम्) जगत्का नियन्ता परमेश्वर यज्ञके लिये तुमको प्रेरणा करे। (सोमः वनस्पतीनां) सोम देवता तुमको वनस्पतियोंका प्रदान करे। (बृहस्पतिः वाचे, इन्द्रः ज्येष्ठाय, रुद्रः पशुभ्यः, मित्रः सत्यः, वरुणः धर्मपतीनाम्) बृहस्पति वाग्विषयक आधिपत्यमें, इन्द्र ज्येष्ठ आधिपत्यमें, रुद्र पशुबलके आधिपत्यमें, मित्र देवता सत्य व्यवहारमें और वरुण देवता तुमको धर्ममें प्रेरणा करे ॥ ३९ ॥

[३९६] (महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठ्याय महते जनराज्याय) बडे भारी क्षात्रबलके लिये, बडे भारी सर्व श्रेष्ठ राजपदके लिये, बडे भारी जनोंके ऊपर राजा हो जानेके लिये और (इन्द्रस्य इन्द्रियाय, देवाः असपत्नम् इमम् सुवध्वम्) परम ऐश्वर्यवान् राजाके ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये, देवगण शत्रुओंसे रहित इस योग्य पुरुषको अभिषिक्त करें। (इमं अमुष्य पुत्रं अमुष्यै पुत्रं अस्यै विशे) इस अमुक पिताके पुत्र, अमुक माताके पुत्रको इस प्रजाके लिये राज्याभिषिक्त किया जाता है। हे (अमी) अमुक अमुक राजाओ ! (वः एषः राजा सोमः) तुम लोगोंका यह राजा, सोमके समान आल्हादक है। वह (अस्माकम् ब्राह्मणानाम् राजा) हमारे वेदज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणोंका भी राजा है ॥ ४० ॥

॥ नववा अध्याय समाप्त ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः ।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

---

[३९७] (देवाः मधुमतीः ऊर्जस्वतीः राजस्वः चितानाः अपः अगृभ्णन्) देवताओंने मधुरस्वादसे युक्त, विशिष्ट अन्नरससे सम्पन्न, राजाओंकोभी सेवन करने योग्य, चेतना देनेवाले ज्ञानको प्राप्त करनेवाले, जलोंको ग्रहण किया, (याभिः मित्रावरुणौ अभ्यषिञ्चन्) जिन जलोंसे मित्रावरुण देवताओंको अभिषेक किया । तथा (याभिः अरातीः इन्द्रं अति अनयन्) जिन जलोंसे देवताओंने शत्रुओंको दूर करनेवाले इन्द्र को राज्याभिषेक किया, उन जलोंको ग्रहण करते हैं ॥ १ ॥

देवाः मधुमतीः ऊर्जस्वतीः राजस्वः, चितानाः अपः अगृभ्णन्— देवोंने मधुर, बलवान्, राजशक्ति देनेवाले, चैतन्य बढानेवाले जलोंका ग्रहण किया । इससे देव मीठे, बलवान्, राज्यसंपन्न, चैतन्य उत्पन्न करनेवाले जीवनसे संपन्न हुए । अतः जो इन गुणोंका धारण करेंगे वे भी ऐसे गुणी बनेंगे ।

याभिः इन्द्रं अरातीः अति अनयन्— जिन गुणोंसे इन्द्रके शत्रु दूर हुए, वे ये गुण हैं । वे गुण ये हैं– १ मधुरता, २ बल, तेजोयुक्त शक्ति, ३ राज्य करनेकी शक्ति, राज्यशासन करनेका ज्ञान, ४ सुविचार, प्रेरणा देनेवाले सुविचार, ५ शान्ति बढानेवाला जीवन । ये गुण राज्यशासन करनेवाले पुरुषमें होने आवश्यक हैं ॥ १ ॥

[३९८] जिस कारण तू (वृष्णः ऊर्मिः राष्ट्रदा असि) बलसंवर्धक, ज्ञानको प्राप्त करानेवाला और राष्ट्रका प्रदाता है, इससे (मे स्वाहा राष्ट्रं देहि) मुझे सत्य नीति द्वारा राष्ट्रका प्रदान कर । (वृष्णः ऊर्मिः राष्ट्रदा असि अमुष्मै राष्ट्रं देहि) तू सुखकी वृष्टि करनेवाला और राष्ट्रका प्रदान करनेवाला हो, अतः उसको राष्ट्रका प्रदान करो । तू (राष्ट्रदाः वृषसेनः असि, मे स्वाहा राष्ट्रं देहि) तू राष्ट्रका देनेवाला और बलवान् सेनासे युक्त है, मेरे लिये सुन्दरवाणीके साथ राज्यको दो । तथा (राष्ट्रदाः वृषसेनः असि अमुष्मै राष्ट्रं देहि) राज्यको देनेवाले, बलवान् सेनासे युक्त हो, इसलिये तू उसके लिये राज्यको दो ॥ २ ॥

वृष्णः ऊर्मिः राष्ट्रदाः असिः— तू बलको बढानेवाला और राष्ट्र देनेवाला है ।

मे राष्ट्रं देहि— मुझे राष्ट्र दो ।

अमुष्मै राष्ट्रं देही— उसको राष्ट्र दो । मैं और वह राष्ट्रशासन करनेवाले हैं, अतः हमें राष्ट्रके शासन करनेमें भाग प्राप्त हो ।

वृषसेनः असि, राष्ट्रं देहि— मैं बलशाली सेनाके साथ हूं, अतः मुझे राष्ट्रका प्रदान करो ।

जिसके पास उत्तम सेना है उसको राष्ट्र प्राप्त होना योग्य है ॥ २ ॥

अर्थेतं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[1] ऽर्थेतं स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौ[2]जस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौ[3]जस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ता[4]पः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[5] ऽपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ता[6]पां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा[7] ऽपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्य[8]पां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा[9] ऽपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि[10] ॥ ३ ॥

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[1] सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[2] सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[3] सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[4] मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[5] मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[6] व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[7] व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[8] वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[9] वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[10] शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[11] शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[12] शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[13] शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[14] जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[15] जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[16] विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा[17] विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ता[18]पः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त[19]। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना[20] अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः[21] ॥ ४ ॥

---

[३९९] हे (आपः) जलो ! आप्त पुरुषो ! तुम (अर्थेतः स्थ राष्ट्रदा) अर्थ प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हो, अतएव तुम भी राष्ट्रको देनेवाले हो, तुम लोग (मे राष्ट्रं स्वाहा दत्तम्) उत्तम रीतिसे मुझे राष्ट्र प्रदान करो। हे वीर पुरुषो ! तुम लोग (अर्थेतः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) ऐश्वर्यके बलके कारण समर्थ हो, अतः राष्ट्र दिलानेहारे हो, तुम लोग उस योग्य पुरुषको राष्ट्र प्रदान करो। तुम सब (ओजस्वतीः स्थ राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे दत्त) ओजस्वी, विशेष पराक्रमशील और राष्ट्रको देनेमें समर्थ हो अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करो। तुम लोग (ओजस्वतीः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) महान् बलसे युक्त राष्ट्र देनेमें समर्थ हो, अतः उस योग्य पुरुषको राज्य प्रदान करो। हे वीरो ! तुम (परिवाहिणीः राष्ट्रदा स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) सब प्रकारसे उत्तम सेनाओंसे युक्त हो अतः राष्ट्र प्राप्त करने में समर्थ हो, मुझे राष्ट्र प्रदान करो। तथा तुम सब लोग (परिवाहिणीः राष्ट्रदाः स्थ, अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) सब प्रकारसे सेनासे युक्त राज्य प्रदान करनेमें समर्थ हो अतः उस योग्य पुरुषको राज्य प्रदान करो। तू (अपां पतिः असि राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे देहि) समस्त जलोंका पालक है तथा राष्ट्र प्राप्त करानेवाला है, अतः मुझे राष्ट्र प्राप्त करा। तू (अपां पतिः असि, राष्ट्रदाः, राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) समस्त जलोंका रक्षक है, सबका नेता राष्ट्र प्राप्त करानेमें समर्थ है, अतः अमुक योग्य पुरुषको राष्ट्र प्रदान कर। तथा तूही (अपां गर्भः असि राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे देहि स्वाहा) जलोंको अपने अधीन रखनेमें समर्थ है, अतः मुझे राष्ट्र अच्छी प्रकार प्राप्त करा। तू (अपां गर्भ राष्ट्रदाः असि, राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) जलोंको वश करनेमें समर्थ है, राष्ट्र प्राप्त करानेवाला है, अतः अमुक योग्य पुरुषको राज्य प्रदान कर ॥ ३ ॥

स्वामि होने योग्य जो होगा, उसीको राष्ट्रका शासनाधिकारी बनाना योग्य है। ऐसे योग्य पुरुषको ही राज्य-शासनाधिकार प्राप्त हो ॥ ३ ॥

×

[४००] हे राजपुरुषो ! तुम लोग (सूर्यत्वचसः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ, मे राष्ट्रम् दत्त) सूर्यके सदृश अपने प्रकाशसे सब तेजको प्रकाशित करनेवाले हो अतः तुम राष्ट्रको देनेवाले हो, इसलिये मुझे राज्यको प्रदान करो। जिस कारण (सूर्यत्वचसः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) सूर्यके समान तेजधारी हो अतः तुम राज्य देनेवाले हो इसलिये उस पुरुषके लिये राज्य प्रदान करो। (सूर्यवर्चसः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) सूर्य प्रकाशके समान हो अतः तुम लोग राज्यदाता हो इस कारण मुझको राज्य प्रदान करो। जिस कारण (सूर्यवर्चसः राष्ट्रदाः स्थ, अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) सूर्यके समान प्रकाशमान हो अतः तुम लोग राज्य देनेवाले हो इसलिये उस प्रकाशमान पुरुषके लिये राज्यको प्रदान करो। और (मान्दाः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) मनुष्योंको आनन्द देनेवाले होते हुये तुम लोग सत्य वचनोंके साथ राज्य देनेवाले हो इसलिये मुझे राज्य प्रदान करो। तुम लोग (मान्दाः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) प्राणियोंके सुख देनेवाले होके राज्य दाता हो अतः उस सुखदाता जनको राज्यको प्रदान करो। जिस लिये तुम लोग (व्रजक्षितः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) गौ आदि पशुओंके स्थानोंको बसाते हुये सत्य क्रियाओंके सहित राज्यदाता हो अतः मुझे राज्यको प्रदान करो। (व्रजक्षितः राष्ट्रदा स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) स्थानादिसे पशुओंके रक्षक होते हुये राज्य देनेवाले हैं अतः तुम सब उस गौ आदि पशुओंके रक्षक पुरुषके लिये राज्यको प्रदान करो। जिस कारण तुम लोग (वाशाः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) कामना करते हुये सत्यनीतिसे राज्य दाता हैं अतः मुझे राज्यको प्रदान करो तथा (वाशाः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) इच्छायुक्त होते हुये तुम सब राज्य देनेवाले हो इसलिये इस इच्छायुक्त पुरुषके निमित्त राज्यको प्रदान करो। तुम लोग (शविष्ठाः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) अत्यन्त बलवाले होते हुये सत्यपुरुषार्थसे राज्य दाता हैं अतः मुझ बलवान्को राज्य प्रदान करो और (शविष्ठाः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) अति पराक्रमी राज्यदाता हैं इस कारण उस अति पराक्रमी जनके लिये राज्यको प्रदान करें। हे राणी लोगो ! जिसलिये तुम सब (शक्वरीः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) सामर्थ्यवाली प्रजा होती हुई सत्यपुरुषार्थसे राज्य देनेवाली हैं अतः सामर्थ्यवान् मुझे राज्यको प्रदान करें और (शक्वरीः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) सामर्थ्ययुक्त राज्य देनेवाली हैं इस कारण उस सामर्थ्ययुक्त पुरुषके लिये राज्यको दीजिये। तथा तुम लोग (जनभृतः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) श्रेष्ठ मनुष्योंको पोषण करनेवाली होती हुई सत्य कर्मोंके साथ राज्य देनेवाली हैं इसलिये श्रेष्ठ गुणयुक्त मुझे राज्य प्रदान करो। तुम सब (जनभृतः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) श्रेष्ठ जनोंको धारण करनेवाली राज्यप्रदात्री हैं इस लिये उस सत्यप्रिय पुरुषके लिये राज्य प्रदान करें। हे सभाध्यक्षादि राजपुरुषो ! तुम लोग (विश्वभृतः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ मे राष्ट्रम् दत्त) सब संसारके पोषण करनेवाले होते हुये सत्यवाणीके साथ राज्य प्रदाता हैं, अतः सबके पोषक मुझे राज्यको प्रदान करो। तुम लोग (विश्वभृतः राष्ट्रदाः स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) विश्वको धारण करनेवाले राज्य दाता हैं अतः उन धारण करनेवाले मनुष्योंके लिये राष्ट्रको प्रदान करें, तथा तुम लोग (आपः स्वराजः राष्ट्रदा स्थ अमुष्मै राष्ट्रम् दत्त) सब विद्या और धर्मोंको जाननेवाले, स्वयं प्रकाशमान् राज्य प्रदाता हैं इसलिये उस धर्मज्ञ पुरुषके लिये राज्य प्रदान करें। हे श्रेष्ठ गुणोंवाली स्त्री लोगो ! तुम सबको चाहिये कि (क्षत्रियाय महि क्षत्रम् वन्वानाः) क्षत्रियोंके लिये बडे पूजाके योग्य राज्यको चाहती हुई (सहौजसः क्षत्रियाय महिक्षत्रम् दधतिः) बल पराक्रमके सहित वर्तमान क्षात्रधर्मके पालन करनेवालोंके लिये बडे राज्यको धारण करती हुई (अनाधृष्टाः मधुमतीः मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्) शत्रुओंके वशमें न आनेवालीं, मधुरादि मधुरादि रसोंवाली ओषधि तथा मधुरादि गुणोंसे युक्त वसन्तादि ऋतुओंके सुखोंको सिद्ध किया करें। हे श्रेष्ठ सज्जन पुरुषो ! तुम लोग इस प्रकारकी स्त्रियोंको (सीदत) प्राप्त होओ ॥ ४ ॥

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्[1] । अग्नये स्वाहा[2] सोमाय स्वाहा[3] सवित्रे स्वाहा[4]
सरस्वत्यै स्वाहा[5] पूष्णे स्वाहा[6] बृहस्पतये स्वाहे[7]न्द्राय स्वाहा[8] घोषाय स्वाहा[9] श्लोकाय
स्वाहा[10] ऽंशाय स्वाहा[11] भगाय स्वाहा[12] ऽर्यम्णे स्वाहा[13] ॥ ५ ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ[1] सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः[2] ।
अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः[3] ॥ ६ ॥

सधमादो द्युम्निनीराप एता अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः ।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः[1] ॥ ७ ॥

---

[४०१] जिस प्रकार तुम (सोमस्य त्विषिः असि) ऐश्वर्यके प्रकाश करनेवाले हो वैसे मैं भी होऊं, जिससे (तव इव मे त्विषिः भूयात्) तुम्हारे समान मेरी भी कान्ति होवे । (अग्नये स्वाहा) अग्निके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (सोमाय स्वाहा) सोमके लिये यह आहुति दी जाती है, (सवित्रे स्वाहा) सविता देवताके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (सरस्वत्यै स्वाहा) सरस्वतीके लिये यह आहुति दी जाती है, (पूष्णे स्वाहा) पूषा देवके लिये यह आहुति दी जाती है, (बृहस्पतये स्वाहा) बृहस्पतिके लिये यह आहुति दी जाती है, (इन्द्राय स्वाहा) इन्द्रके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (घोषाय स्वाहा) शब्द करनेवाले देवताके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (श्लोकाय स्वाहा) जनोंमें कीर्तित परस्पर आन्दोलन रूपके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (अंशाय स्वाहा) पुण्यपापके विभाग करनेवालेके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (भगाय स्वाहा) ऐश्वर्यके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (अर्यम्णे स्वाहा) विश्वको व्याप्त करनेवाले अर्यमा देवताके निमित्त यह आहुति दी जाती है ॥ ५ ॥

[४०२] दोनों प्रकारकी प्रजाओ ! (पवित्रे स्थः) पवित्र, शुद्धाचरणवाली होकर रहो । तुम दोनों (वैष्णव्यौ, वः सवितुः प्रसवे अच्छिद्रेण पवित्रेण उत्पुनामि) परमेश्वरके भक्त हो अतः तुम दोनोंको सर्वोत्पादक परमेश्वरके बनाये ऐश्वर्यमय जगतमें त्रुटि रहित शुद्ध पवित्र व्यवहार द्वारा पवित्राचारवान् करके उत्पन्न करूं और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी किरणोंसे पवित्र होकर जल ऊपर जाता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हें उन्नत पदको पहुंचाऊं । हे प्रजाओ ! तुम (अनिभृष्टं असि) भ्रष्टता रहित आचरण करनेवाली हो तुम (वाचः बन्धुः) वाणी द्वारा एक दूसरेसे बन्धुके समान हो कर रहो, (तपोजाः) ब्रह्मचर्य विद्याध्ययन आदि तपोंसे अपनेको बढाओ । तुम लोग (सोमस्य दात्रम् असि) राजाके पदको प्रदान करनेमें समर्थ हो, (स्वाहा राजस्वः) सत्य क्रियासे राज्यका ऐश्वर्य सम्पादन करो ॥ ६ ॥

[४०३] (एताः आपः सधमादः द्युम्निनीः) ये जल आनन्द देनेवाले और तेजस्वी हैं । वे (अपस्यः अनाधृष्टाः वसानाः) उत्तम कर्म करनेमें कुशल, शत्रुओंसे पीडित न होकर एकत्र ही निवास करती हैं । उन (पस्त्यासु वरुणः अपां शिशुः मातृतमासु अन्तः सधस्थं चक्रे) गृह बनाकर रहनेवाली प्रजाओंमें प्रजा द्वारा वरण करने योग्य सर्वोत्तम राजा जलोंके भीतर व्यापक अग्निके समान उत्तम प्रजाओंके भीतर रहता हुआ उनमें ही अपना स्थान बनाता है ॥ ७ ॥

जैसा जलमें अग्नि रहता है, उस प्रकार प्रजाओंमें राजा रहे ॥ ७ ॥

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसी—
—न्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयाऽयं वृत्रं वधेत् । दृवाऽसि
रुजाऽसि क्षुमाऽसि । पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ॥८॥

आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपति—रावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रता-
—वावित्तः पूषा विश्ववेदा आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवा—वावित्तादितिरुरुशर्मा ॥ ९ ॥

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमा रोह गायत्री त्वाऽवतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त
ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥

दक्षिणामा रोह त्रिष्टुप् त्वाऽवतु बृहत्साम पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥

प्रतीचीमा रोह जगती त्वाऽवतु वैरूपꣳ साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥

---

[४०४] हे राजन् ! तू (क्षत्रस्य उल्वम् असि) क्षात्रबलका रक्षा करनेवालेके समान रक्षक है। (क्षत्रस्य जरायु असि) क्षात्रबलका आवरण है और (क्षत्रस्य योनिः असि) क्षात्रबलका उत्पादक है। तू (क्षत्रास्य नाभिः असि) क्षात्रलका केन्द्र है, (इन्द्रस्य वार्तघ्नम्) इन्द्रके शत्रुनाशक बलका साक्षात् रूप है, (मित्रस्य वरुणस्य असि) मित्रका और वरुणका योग्य अस्त्र शस्त्र है, (त्वया अयं वृत्रं वधेत्) तेरे साथ रहकर यह शत्रुका विनाश करे। तू (दवा असि) शत्रुओंके गढोंको तोडनेवाला है, तू (रुजा असि) बाणके समान शत्रुओंको पीडा देनेवाला है। तू (क्षुमा असि) सत्यका उपदेश करनेवाला है। हे वीर सैनिक पुरुषो ! तुम लोग (प्राञ्चं एनं पात) आगे बढते हुये इस राजाकी रक्षा करो, (एनं प्रत्यञ्चं पात) इसको विमुख जाते रक्षा करो, (एनं तिर्यञ्चं पात) इसको तिरछे जाते रक्षा करो, और इसकी (दिग्भ्यः पात) समस्त दिशाओंसे रक्षा करो ॥ ८ ॥

[४०५] (मर्य्याः आविः) समस्त मनुष्य इसका संरक्षण करें। (गृहपतिः अग्निः आवित्तः) गृहपालक अग्नि इस यजमानको जाने, (वृद्धश्रवाः इन्द्रः आवित्त) विख्यात कीर्तिमान् इन्द्र इसको जाने, (धृतव्रतौ मित्रा-वरुणौ आवित्तौ) नियममें तत्पर मित्रावरुण इसको जानें, (विश्ववेदाः पूषा आवित्तः) सब कुछ जाननेवाले पूषा देवता इसको जाने, (विश्वशम्भुवौ द्यावापृथिवी आवित्ते) संसारका कल्याण करनेवाली पृथ्वी और द्युलोक इसको जानें और (उरुशर्मा अदितिः आवित्ता) बडे सुविस्तीर्ण सुखके आश्रयरूप देवमाता इसको जाने ॥ ९ ॥

[४०६] (दन्दशूकाः अवेष्टाः) काटनेके स्वभाववाले सर्पादि विनष्ट हुये। तुम (प्राचीं आरोह) पूर्व दिशाको आरोहण करो, (गायत्री रथन्तरं साम त्रिवृत् स्तोमः, वसन्त ऋतुः ब्रह्मद्रविणम् त्वा अवतु) गायत्री छन्द, रथन्तर साम, त्रिवृत् स्तोम, वसन्त ऋतु और ज्ञानरूप धन तेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

[४०७] तुम (दक्षिणां आरोह) दक्षिण दिशाको चलो। (त्रिष्टुप् बृहत् साम, पञ्चदशस्तोमः, ग्रीष्मः ऋतु, क्षत्रम् द्रविणम् त्वा अवतु) त्रिष्टुप्, बृहत्साम, पञ्चदशस्तोम, ग्रीष्मऋतु और क्षत्रबलरूप धन तेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥

[४०८] तुम (प्रतीचीम् आरोह) पश्चिम दिशामें आगे चलो। (त्वा जगती वैरूपं साम सप्तदश स्तोमः वर्षाऋतुः विड् द्रविणम् अवतु) तुम्हारी जगती छन्द, वैरूपं साम, सप्तदश स्तोम, वर्षाऋतु, वैश्यसम्बन्धी ऐश्वर्य रक्षा करे ॥ १२ ॥

उदीचीमा रोहानुष्टुप् त्वाऽवतु वैराजꣳ सामैकविꣳश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वामा रोह पङ्क्तिस्त्वाऽवतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् । मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥ १५ ॥

हिरण्यरूपा उषसो विरोक उभाविन्द्रा उदिथः सूर्यश्च ।
आ रोहतं वरुण मित्र गर्त्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥ १६ ॥

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभि षिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण ।
क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून् पाहि ॥ १७ ॥

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ।
इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥१८॥

---

[४०९] तुम (उदीचीम् आरोह) उत्तर दिशाको गमन करो। (अनुष्टुप् वैराजं साम, एकविंशः स्तोमः, शरद् ऋतुः, फलं द्रविणं त्वा अवतु) अनुष्टुप् छन्द, वैराजसाम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और यज्ञफलरूप ऐश्वर्य तेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

[४१०] तुम (ऊर्ध्वां आरोह) ऊपरको आक्रमण करो। (पंक्ति शाक्वररैवते सामनी, त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ, हेमन्त शिशिरौ ऋतु वर्चः द्रविणम् त्वा अवतु) पंक्ति छन्द, शाक्वर और रैवत साम, त्रिनव और त्रयस्त्रिंश नामक दोनों स्तोम, हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतु और तेजरूप धन ये तेरी रक्षा करे। (नमुचेः शिरः प्रति अस्तम्) पापाचारको न छोडनेवालेका शिर काटकर फेंक दिया जाय ॥ १४ ॥

[४११] जिस प्रकार तू (सोमस्य त्विषिः असि) ऐश्वर्यका प्रकाशक है, (ओजः असि) पराक्रम युक्त है, (सहः असि) बलवान् है, (अमृतं असि) जन्ममरणादिसे रहित है, उसी प्रकारसे मैं भी होऊं। (तवेव मे त्विषिः भूयात्) तुम्हारे समानही मेरा प्रकाश और बल पराक्रम हो। मुझको (मृत्योः पाहि) मृत्युसे रक्षा करो ॥ १५ ॥

[४१२] हे मित्र ! और हे वरुण ! (उभा हिरण्यरूपौ इन्द्रौ) तुम दोनों स्वर्णके समान तेजस्वी राजाके सदृश ऐश्वर्यवान् (उषसः विरोके सूर्यः च उदिथः) उषाओंको विशेष प्रकाश द्वारा सूर्य और चन्द्रमाके सदृश नाना कार्योंको प्रकाशित करते हुये उदय होते हो। हे (वरुण मित्र) वरुण ! हे मित्र ! तुम दोनों (गर्त्तं आरोहतं) रथ पर आरूढ होओ, (ततः अदितिं दितिं अक्षाथां) अखण्ड राज्यव्यवस्था और खण्ड खण्ड रूपसे विद्यमान समस्त विभक्त व्यवस्थाका भी उपदेश करो। हे मित्र ! तू (मित्रः असि) सर्व स्नेही है, और हे वरुण ! तू (वरुणः असि) सब शत्रुओंको वारण करनेमें समर्थ है ॥ १६ ॥

[४१३] (त्वा, सोमस्य द्युम्नेन अग्नेः भ्राजसा, सूर्यस्य वर्चसा, इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चामि) तुझको चन्द्रमाके समान प्रकाशसे, अग्निके समान तेजसे और इन्द्रके बलसे अभिषेक करता हूं। तू (क्षत्राणाम् क्षत्रपतिः एधि) क्षत्रियोंका अधिराज होकर रह और (दिद्यून् अति पाहि) प्रजाके नाश करनेवाली सब विपत्तियोंको पार करके प्रजाकी रक्षा कर ॥ १७ ॥

[४१४] हे (देवाः) दिव्य पुरुषो ! तुम लोग (इमं महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठ्याय, महते जानराज्याय इन्द्रस्य इन्द्रियाय) इस योग्य पुरुषको बडे भारी क्षत्रबल सम्पादनके लिये, बडे भारी उत्तम राज्य प्राप्त करनेके लिये, बडे भारी जनराज्य स्थापित करनेके लिये और इन्द्रपदके सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिये (असपत्नं सुवध्वम्) शत्रुरहित इस वीर पुरुषको अभिषिक्त करो। (अमुष्य पुत्रं अमुष्यै पुत्रं इमं अस्मै विशे) अमुक पिताके पुत्र, अमुक माताके पुत्र इसको इस प्रजाके निमित्त अभिषिक्त करो। हे (अमी) अमुक प्रजाजनो ! (एषः वः राजा) यह तुम लोगोंका राजा है, (एषः सोमः अस्माकं ब्राह्मणानां राजा) यह सोमही हमारे ब्राह्मणोंका भी राजा है ॥ १८ ॥

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः ।
ता आऽववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः[1] ।
विष्णोर्विक्रमणमसि[2] विष्णोर्विक्रान्तमसि[3] विष्णोः क्रान्तमसि[4] ॥ १९ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्त्वयममुष्य पितासावस्य पिता वयꣳ स्याम पतयो रयीणाꣳ स्वाहा[1] ।
रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा[2] ॥ २० ॥

इन्द्रस्य वज्रोऽसि[1] मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि[2] ।
अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टो अर्जुनो[3] मरुतां प्रसवेन जय[4] —पाम मनसा[5] समिन्द्रियेण[6] २१

मा त इन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासो अब्रह्मता विदसाम ।
तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वश्वान्[1] ॥ २२ ॥

---

[४१५] जिस प्रकार (प्र पर्वतस्य पृष्ठात् इयानाः नावः) पर्वतके पृष्ठसे निकलनेवाली जल धारायें बहती हैं, उसी प्रकार (वृषभस्य इयानाः स्वसिचः नावः चरन्ति) श्रेष्ठ राजाके पीठ परसे भी जाती हुई शरीरका सिंचन करनेवाली जल धारायें अभिषेक समयमें बहती हैं। (ता अधराक् उदक् बुध्न्यं अहिं रीयमाणः ताः आववृत्रन्) वे नीचे और ऊपर सर्वत्र सबके आश्रयमें स्थित अहन्तव्य वीर पुरुषको, पर्वत की जल धारायें जिस प्रकार उनके मूल भागको घेरती हैं उसी प्रकार घेरती हुई वे उसको प्राप्त करती हैं। हे पृथिवी ! तू (विष्णोः क्रमणं असि) व्यापक राजशक्तिका विक्रम करनेका स्थान है। हे अन्तरिक्ष ! तू (विष्णोः विक्रान्तम् असि) व्यापक वायुके समान बलशाली राजाका नाना प्रकारके पराक्रमोंका स्थान है। हे स्वःलोक ! तू आदित्यके समान (विष्णोः क्रान्तम् असि) अपनी शक्तिसे व्यापक राजाका स्थान है ॥ १९ ॥

राजाका पराक्रम पृथिवीपर होता है। अतः पृथ्वी राजाका आश्रय स्थान है ॥ १९ ॥

[४१६] हे (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (एतानि ता विश्वा रूपाणि परि त्वत् अन्यः न बभूव) इन समस्त नानारूपवाले पदार्थों तथा चर अचर प्राणी शरीरोंके ऊपर तुझसे दूसरा कोई स्वामी नहीं है। हम लोग (यत् कामाः जुहुम तत् नः अस्तु) जिस कामनासे तुम्हारे निमित्त हवन करते हैं वह कामना हमारी पूर्ण हो। (अयं अमुष्य पिता) यह अमुकका पिता है, और (अस्य असौ पिता) इसका अमुक पिता है, हम इस प्रकार तुमको पिता स्वीकार करते हैं। तेरे द्वारा (वयम् स्वाहा रयीणाम् पतयः स्याम) हम सब उत्तम व्यवस्था और धर्मानुकूल आचरण द्वारा ऐश्वर्योंके स्वामी बनें। हे (रुद्र) रुद्र ! (ते यत् परं नाम क्रिवि तस्मिन् हुतं असि) तेरा जो श्रेष्ठ उत्कृष्ट नाम स्वरूप सर्व हन्ताका अधिकार है उसपर तू रहा है। तू (अमा इष्टं असि) घर घरमें पूज्य आदरके योग्य है। (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

[४१७] तू (इन्द्रस्य वज्रः असि) इन्द्रका वज्र है, (प्रशस्त्रोः मित्रावरुणयोः प्रशिषा त्वा युनज्मि) शासनकारी मित्र वरुण देवताके प्रशासनसे तुमको युक्त करता हूं, और (त्वा स्वधायै) तुझको अपनी चीजको धारण करनेके लिये नियुक्त करता हूं। तू (अरिष्टः अर्जुनः मरुतां प्रसवेन जय) किसीसे भी हिंसित न होकर और अति प्रदीप्त तेजस्वी होकर शत्रुओंको मारनेवाले वीरोंके उत्कृष्ट बलसे विजय प्राप्त कर। हम लोग (मनसा इन्द्रियेण सं आपाम्) मनसे तथा बलसे भी तेरे साथ मिले हैं ॥ २१ ॥

[४१८] हे (तुराषाट्, वज्रहस्त इन्द्र) शीघ्रही शत्रुओंको पराजय करनेमें समर्थ, हाथमें वज्र धारण करनेवाले ऐश्वर्यवान् ! और हे (देव) दिव्य गुण युक्त ! तुम (यं रथं अधितिष्ठ स्वश्वान् रश्मीन् आयससे) जिस रथमें बैठकर अच्छे सुशिक्षित घोडोंकी लगामको थामते हो (ते वयं) तुम्हारे हम (ते अयुक्ताः मा विदसाम) तुम्हारेसे पृथक् होकर हानिको न प्राप्त करें, और (अब्रह्मता) ज्ञानसे रहित होकर न रहें अर्थात् हम नास्तिक न हों ॥ २२ ॥

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा।
पृथिवि मातर्मा मा हिंꣳसीर्मो अहं त्वाम् ॥ २३ ॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २४ ॥

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि ॥
इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

स्योनाऽसि सुषदाऽसि क्षत्रस्य योनिरसि ।
स्योनामा सीद सुषदामा सीद क्षत्रस्य योनिमा सीद ॥ २६ ॥

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥

---

[४१९] (गृहपतये अग्नये स्वाहा) गृहपालक अग्निके निमित्त यह आहुति हो। (वनस्पतये सोमाय स्वाहा) वनस्पतिरूपी सोमके निमित्त यह आहुति हो। (मरुतां ओजसे स्वाहा) मरुतगणोंके बलके निमित्त यह हवि हो। (इन्द्रस्य इन्द्रियाय स्वाहा) इन्द्रके बलके निमित्त आहुति हो। हे (मातः पृथिवि) मातृभूमि! तुम (मा मा हिंसीः) मेरा विनाश मत करो और (अहं त्वां मा) मैं तुमको क्लेश न दूं ॥ २३ ॥

[४२०] तू (हंसः, शुचिषत्, वसुः अन्तरिक्षसत्, होता, वेदिषत्, अतिथिः) शुद्ध आचरण करनेवाला, प्रजाओंको बसानेवाला, अन्तरिक्षमें रहकर सबका पालन कर्ता, यज्ञमें आहुति देनेवाला, भूमिरूप वेदि पर प्रतिष्ठित, अतिथिके समान सर्वत्र पूजनीय है। तू ही (दुरोणसत् नृषत् वरसत् ऋतसत् व्योमसत्) बडे बडे कष्ट सहन करके पालन योग्य राष्ट्ररूप गृहमें विराजमान, समस्त नेता पुरुषोंमें प्रतिष्ठित, सत्य पर आश्रित, विशेष रक्षाकारी (अब्जा गोजाः ऋतजाः अद्रिजाः बृहत् ऋतम्) जलोंका उत्पादक, पृथ्वी पर विशेष सामर्थ्यवान्, सत्य विद्याओंका प्रसिद्ध कर्ता, न विदीर्ण होनेवाले अभेद्य बलसे सम्पन्न, सब लोगोंमें सबसे महान् और सत्यरूप बलवीर्यको धारण करनेवाला है ॥ २४ ॥

[४२१] तू (इयत् असि) इतना बडा है। तू ही (आयुः असि, मयि आयुः धेहि) जीवन स्वरूप है, मुझमें आयु प्रदान कर। तू (युङ् असि) सबको शुभकर्मोंमें जोडनेवाला है, (वर्चः असि मयि वर्चः धेहि) तेज स्वरूप है, अतः मुझमें तेज प्रदान कर। तू (ऊर्क् असि मयि ऊर्जं धेहि) बलस्वरूप है मुझे बल प्रदान कर। हे मित्र, और वरुण! (वां वीर्यकृतः इन्द्रस्य बाहू) तुम दोनों सामर्थ्यवान् इन्द्रके दो बाहुओंके समान हो, मैं तुम दोनोंको (अभि उप आवहरामि) उसके समीप ले जाता हूं ॥ २५ ॥

[४२२] तू (स्योना असि) सुखकारिणी है। तू (सुषदा असि) सुखसे बैठने योग्य है। तू (क्षत्रस्य योनिः असि) राष्ट्रके रक्षाकारी बलवीर्यका उत्पत्ति स्थान है। तू (स्योनाम् आसीद) सुखसे बैठने योग्य इस असन्दि पर विराजमान होओ। (सुषदाम् आसीद) सुखसे बैठने योग्य इस राजगद्दी पर विराजो और (क्षत्रस्य योनिं आसीद) क्षात्रबलके परम आश्रयरूप इस राजगद्दी पर बैठो ॥ २६ ॥

[४२३] (धृतव्रतः, सुक्रतुः, वरुणः पस्त्यासु साम्राज्याय) प्रजा पालनके शुभव्रत राज्य व्यवस्थाको धारण करनेवाला, उत्तम क्रियावान्, सर्व श्रेष्ठ राजा, न्याय गृहोंमें साम्राज्यके स्थापन और उसके संचालनके लिये (आ नि ससार) अधिष्ठाता रूपसे विराजमान हुआ ॥ २७ ॥

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँ॒स्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो
वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः ।
बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करे॒न्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणो अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा
स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳ सजातानां मध्यमेष्ठ्याय ॥ २९ ॥

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणे-
नौजसाग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्र सर्पामि ॥ ३० ॥

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वे॒न्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥
वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिस्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३१ ॥

---

[४२४] तू (अभिभूः असि) शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ है। (एताः पञ्चदिशः ते कल्पन्ताम्) ये पांच दिशायें तेरे लिये सुखकारी हों। हे (ब्रह्मन्) महान् शक्तिवाले ! तू (ब्रह्मा असि) बडा ज्ञानी है। तू (सत्यप्रसवः सविता असि) सत्य व्यवहारका उत्पादक देव है। तू (सत्यौजाः वरुणः असि) सत्य पराक्रमशील वरुण है। तू (विशौजाः इन्द्रः असि) प्रजाओंके द्वारा पराक्रम करनेवाला इन्द्र है। तू (सुशेवः रुद्रः असि) सुखपूर्वक सेवा करने योग्य रुद्र है। हे (बहुकार) बहुतसे कार्योंको निभानेवाले ! हे (श्रेयस्कर) कल्याण करनेवाले ! हे (भूयस्कर) अत्यन्त समृद्धिके कर्ता ! तू (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्रका वज्र है (तेन मे रध्य) उससे मेरे लिये सिद्धि प्रदान कर ॥ २८ ॥

[४२५] जिस प्रकार (अग्निः पृथुः धर्मणः पतिः) अग्नि विस्तृत महान् पुरुषार्थ युक्त धर्मका पालक है उसी-प्रकार (अग्निः पृथुः धर्मणः पतिः स्वाहा आजस्य वेतु) सबका अग्रणी तेजस्वी राजा, विशाल शक्ति सम्पन्न और राजधर्मका पालक होकर उत्तम सत्य पर आश्रित व्यवस्थासे पराक्रम को प्राप्त करे। हे (स्वाहा कृताः) उत्तम ऐश्वर्य आदि देकर बनाये गये अधिकारी पुरुषो ! तुम लोग (सूर्यस्य रश्मिभिः सजातानां मध्यमेष्ठाय यतध्वम्) सूर्यकी किरणोंसे बलवान होकर इस अपने राजाके समान शक्तिमें समर्थ राजाओंके मध्यमें रहकर कार्य सम्पादनके निमित्त यत्न करो ॥ २९ ॥

[४२६] (प्रसवित्रा सवित्रा) समस्त ऐश्वर्योंके उत्पादक सविताके दिव्य गुणसे, (सरस्वत्या वाचा) उत्तम विज्ञान युक्त वाणीसे, (रूपैः त्वष्ट्रा) रूपोंके अधिष्ठात्री देवता प्रजापतिके रूपसे, (पशुभिः पूष्णा) पशुओंसे युक्त पूषासे, (ब्रह्मणा बृहस्पतिना) वेदके ज्ञानसे युक्त वाक्पति वेदज्ञसे, (अस्मे इन्द्रेण) अपने आप स्वयं इन्द्र, राजारूपसे, (ओजसा वरुणेन) पराक्रमसे युक्त वरुणसे, (तेजसा अग्निना) तेजसे युक्त अग्निसे, (राज्ञा सोमेन) राजास्वरूप सोमसे, (दशम्या विष्णुना) दश गुणयुक्त विष्णुसे, इन दस (देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि) देव अर्थात् विशेष गुणों द्वारा प्रेरित या शक्तिमान् होकर में आगे उत्कृष्ट मार्गपर प्रगति करता हूं ॥ ३० ॥

[४२७] तुम (अश्विभ्याम् पच्यस्व) सूर्य-चन्द्रमाके समान अध्यापक और उपदेशके द्वारा शुद्ध बुद्धिवाले होओ। (सरस्वत्यै पच्यस्व) अच्छी शिक्षायुक्त वाणीके लिये अपनेको परिपक्व करो। (सुत्राम्णे इन्द्राय पच्यस्व) राष्ट्रकी उत्तम रीतिसे रक्षा करनेवाले परमैश्वर्यवान् राजाके लिये स्वयं परिपक्व बलवान् होनेका यत्न करो। (पवित्रेण वायुः पूतः प्रत्यङ् सोमः अतिस्रुतः इन्द्रस्य) शुद्धधर्मके आचरणसे वायुके समान निर्दोष पूजाको प्राप्त अच्छे गुणोंसे युक्त ऐश्वर्यवाले, अत्यन्त ज्ञानवान् परमेश्वरके (युज्यः सखा) योगाभ्यास युक्त मित्र होओ ॥ ३१ ॥

कुविदुङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नम उक्तिं यजन्ति ॥
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥
युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा । विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ३३ ॥
पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥

[अ०१०, कं० ३४, मं० सं० १३९]

इति दशमोऽध्यायः ।

---

[४२८] हे (अङ्ग) ज्ञानवान् ! जो (कुवित् अश्विभ्याम् उपयामगृहीतः असि) बहुत ऐश्वर्यवाले तुम अश्विनी कुमारोंके उत्तम नियमों द्वारा प्राप्त हुए हो । (सरस्वत्यै त्वा इन्द्राय) विद्यायुक्त वाणीके लिये तुमको उत्तम ऐश्वर्यके निमित्त तथा (त्वा सुत्राम्णे, त्वा) तुझको प्रजाओंकी उत्तम रक्षा करनेके लिये हम लोग तुमको प्राप्त करते हैं । (ये बर्हिषः नम उक्तिम् यजन्ति, भोजनानि) जो वृद्ध पुरुष अन्नके कथन को कहते हैं उनके लिये सत्कारके साथ तुम भोजनादि प्रदान करो । (यथा यवमन्तः इहेव यवं अनुपूर्वं दान्ति, चित् वियूय) जैसे बहुत जौ आदिसे युक्त खेती करनेवाले किसान इस व्यवहारमें यवादि अन्नको क्रमसे काटते हैं, भुससे भी जौ आदिको पृथक् करके रक्षा करते हैं, वैसे (एषां कृणुहि) इन सबोंके सत्य और असत्यको विचार करके दुष्टोंको नष्ट कर, श्रेष्ठोंकी रक्षा करो ॥ ३२ ॥

[४२९] हे (अश्विना) सर्व जन हितकारी अश्विनी कुमारो ! (नमुचौ आसुरे सुरामम्) नमुचि संज्ञक दैत्यमें स्थित अधिक रमणीय रसको (सचा विपिपाना) साथ एकीभूय विविध प्रकारसे पीते हुये (शुभः पती युवं कर्मसु इन्द्रं आवतं) शुभकर्मके पालक तुम दोनोंने उन कार्योंमें इन्द्रको पालन करनेवाले हुये ॥ ३३ ॥

[४३०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (उभा अश्विना काव्यै दंसनाभिः त्वा आवथुः) दोनों अश्विनी कुमारोंने काव्योंसे अशुद्ध इसका पान कर विपत्तिको प्राप्त हुए तुम्हारी रक्षा की, (इव पितरौ पुत्रम्) जिस प्रकार माता पिता पुत्रकी रक्षा करते हैं । हे (मघवन्) इन्द्र ! (यत् शचीभिः सुरामं व्यपिव) जब नमुचि वधादि कर्म करके प्रसन्न करनेवाले सोमको तुमने पान किया तब (सरस्वती अभिष्णक्) सरस्वती वाणीने तुम्हारी सेवा की ॥ ३४ ॥

॥ दसवा अध्याय समाप्त ॥



अथैकादशोऽध्यायः ।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः । अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत् ॥ १ ॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥
युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान् ॥ ३ ॥
युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

---

[४३१] (सविता प्रथमं मनः धियः तत्त्वाय) सर्व-उत्पादक प्रजापति परमेश्वर सबसे पहिले मन और धारण सामर्थ्योंको विस्तृत करके (अग्नेः ज्योतिः निचाय्य) अग्निसे प्रकाशको उत्पन्न करके (पृथिव्याः, अधि आभरत्) पृथ्वीके ऊपर फैलाता है ॥ १ ॥

सविता प्रथमं मनः धियः तत्त्वाय निचाय्य— सबके उत्पादक परमेश्वरने सबसे प्रथम मन और बुद्धियोंको उत्पन्न करके उनकी शक्तियोंको फैलाया है ।

अग्नेः ज्योतिः निचाय्य— अग्निका प्रकाश भी उसी ईश्वरने फैलाया है ।

पृथिव्याः अधि आभरत्— पृथिवीपर उन्होंने यह अग्नि आदिकी शक्तियोंको फैलाया है ॥ १ ॥

[४३२] (सवितुः देवस्य सवे) सर्वोत्पादक ईश्वरके उत्पन्न किये इस विश्वमें रहकर (वयम् युक्तेन मनसा) हम एकाग्र योग युक्त मनसे (स्वर्ग्याय शक्त्या) परमसुख लाभके लिये अपनी शक्तिसे प्रयत्न करें ॥ २ ॥

सवितः देवस्य सवः— सर्वोत्पादक परमेश्वरका यह बनाया विश्व है ।

सवितः देवस्य सवे युक्तेन मनसा वयं शक्त्या स्वर्ग्याय— संपूर्ण जगत् उत्पन्न करनेवाले ईश्वरके बनाये इस विश्वमें रहकर हम अपनी शक्तिसे प्रयत्न करें और उत्तम सुखको प्राप्त करें ।

युक्तेन मनसा— मनको योगाभ्याससे बलवान् तथा एकाग्र बनाना योग्य है ॥ २ ॥

[४३३] (सविता स्वः यतः देवान्) सबको उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर, सुख तथा प्रकाशका नियमन करनेवाले देवोंको (धिया दिवं युक्त्वाय) अपनी बुद्धिसे उनमें तेजको धारण करके वही (सविता बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) सबका उत्पन्न करनेवाला परमात्मा, महान् प्रकाश सर्वत्र प्रकाशित करनेवाले (तान् प्र सु वाति) उन देवोंको वही उत्तम रीतिसे प्रेरित करता है ॥ ३ ॥

स्वर्यतः देवाः— प्रकाश फैलानेवाले सूर्य आदि देव हैं ।

धिया दिवं युक्त्वाय— अपनी बुद्धिसे उन देवोंको प्रकाश फैलानेके कार्यमें नियुक्त करता है ।

सविता बृहत् ज्योतिः करिष्यतः तान् प्रसुवाति— सबका उत्पन्न करनेवाला ईश्वर प्रकाश फैलानेके लिये उन देवोंको उत्पन्न करता है । इस कारण सूर्य आदि देव इस विश्वमें प्रकाशको फैला रहे हैं ॥ ३ ॥

[४३४] (बृहतः, विपश्चितः, विप्रस्य होत्राः विप्राः) बडे विद्वान ज्ञानी लोग यजमानका हवनका कार्य करनेके समय उसी यज्ञके कार्यमें अपने (मनः युञ्जते) मनको लगाते हैं, (उत धियः युञ्जते) और अपनी बुद्धियोंको भी लगाते हैं । वही (एकः इत् वयुनावित् विदधे) एक अद्वितीय परमात्माही सब विज्ञानोंका जाननेवाला संसारको बनाता और धारण करता है । उस (सवितुः देवस्य परिष्टुतिः मही) सबके उत्पादक सविता देवकी स्तुति बडी होती है ॥ ४ ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥
यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥ ६ ॥

बृहतः विपश्चितः विप्रस्य होत्राः विप्राः मनः युञ्जते, उत धियः युञ्जते— बडे ज्ञानीके यज्ञकार्य करनेवाले विद्वान् अपने मनको करने योग्य कार्यमेंही लगाते हैं, मन कार्यमें लगाकरही कार्य करना चाहिये। मन अन्यत्र लगा हो तो उस समय किया हुआ कार्य उत्तम फल कार्यकर्ताको नहीं दे सकता । अतः कर्तव्य कर्म करनेके समय अपना मन उसी कार्यमें लगाना आवश्यक है ।

मन और बुद्धिको कार्यमें लगाकर ही कर्तव्य करने योग्य हैं । मन और बुद्धिको अन्यत्र लगा कर जो कार्य किया जायगा, उसका फल कर्ताको योग्य रीतिसे नहीं मिलेगा ।

वयुनावित् एकः इत् विदधे — कर्म करनेका विधि उत्तम रीतिसे जाननेवाला एक कार्यकर्ता ही अपना कार्य उत्तम रीतिसे करता है । अतः उसको उत्तम फल भी प्राप्त होता है ।

सविता देवस्य मही परिष्टुतिः— सबके उत्पन्नकर्ता परमेश्वरकी स्तुति बडी होती है । उस परमात्माकी जितनी स्तुति की जाय उतनी अच्छी लाभदायक होती है ॥ ४ ॥

[४३५] (वां) तुम दोनोंके हितके लिये मैं (नमोभिः पूर्व्यं ब्रह्म युजे) अन्नकी आहुतियोंके द्वारा किये गये उत्तम ज्ञानसे संपन्न हुए इस यज्ञ कर्मको करता हूं । (सूरेः श्लोकः वां पथ्या इव वि एतु) विद्वान्का ज्ञानोपदेश तुम दोनोंको उत्तम मार्गसे उत्तम स्थान तक पहुंचावे । और (ये दिव्यानि धामानि आतस्थुः) जो दिव्य स्थानोंको प्राप्त हैं उन लोगोंसे, हे (विश्वेपुत्राः) समस्त पुत्रो, बालको ! तुम लोग (अमृतस्य शृण्वन्तु) उस अमृत स्वरूप उपदेशका श्रवण करो ॥ ५ ॥

वां नमोभिः पूर्व्यं ब्रह्म युजे— आप दोनोंके हितके लिये मैं प्राचीन उत्तम ज्ञानसे यह कर्म करता हूं । हर एक उत्तम कर्म उत्तम ज्ञान प्राप्त करके उत्तमसे उत्तम पद्धतिसे करने चाहिये ।

सूरेः श्लोकः वां पथ्या इव वि एतु— उत्तम ज्ञान तुम दोनोंको उत्तम मार्गसे उत्तम स्थानको पहुंचावे ।

विश्वे पुत्राः ! ये दिव्यानि धामानि आतस्थुः अमृतस्य शृण्वन्तु— हे पुत्रो ! जो दिव्य लोक उत्तम स्थानको प्राप्त हुए हैं, उनसे तुम उत्तम उपदेश सुनो, और उनके उपदेशके अनुकूल अपना आचरण करो, और श्रेष्ठ बनो ॥ ५ ॥

[४३६] (अन्ये देवाः यस्य देवस्य प्रयाणं महिमानं इत् ओजसा अनुययुः) सब देवता जिस एक देवताके कर्मको, महिमाको और सामर्थ्यको अनुसरते हैं, (यः सविता रजांसि विममे) जो सबको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा सम्पूर्ण लोकोंको बनाता है (सः देवः महित्वना एतशः) वह परमात्मा अपनी महिमासे इस लोकमें प्रविष्ट हुआ है ॥ ६ ॥

अन्ये देवाः यस्य देवस्य प्रयाणं महिमानं ओजसा इत् अनुययुः— अन्य सब देव जिस एक देवके कर्मको, महिमाको बलसे अनुसरते हैं ।

यः रजांसि विममे जिसने ये लोक बनाये हैं ।

सः देवः महित्वना एतशः— वह ईश्वर अपनी महिमासे सर्वत्र प्रविष्ट होकर रहा है ॥ ६ ॥

देवं सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ ७ ॥

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्र णय देवाव्यंᳫं सखिविदंᳫं सत्राजितं धनजितंᳫं स्वर्जितम् ।
ऋचा स्तोमंᳫं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ॥ ८ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्थादग्निं
पुरीष्यमङ्गिरस्वदा भर त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ ९ ॥

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निंᳫं शकेम खनितुंᳫं सधस्थ आ । जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् १०

---

[४३७] हे (देव सवितः) दिव्यगुण युक्त सबके उत्पादक परमेश्वर ! (यज्ञं प्रसुव) यज्ञ करनेकी प्रेरणा करो, (यज्ञपतिं भगाय प्रसुव) यजमानको ऐश्वर्यको प्राप्तीके निमित्त प्रेरणा करो । (दिव्यः केतपूः गन्धर्वः नः केतं पुनातु) दिव्य ज्ञानका रक्षण करनेवाला, वाणीका आधार सबका उत्पादन कर्ता देव हमारे ज्ञानको पवित्र करे, और (वाचस्पतिः नः वाचम् स्वदतु) वाणीका पति देव हमारे वाणीको मधुरतायुक्त करे ॥ ७ ॥

हे सवितः देव ! यज्ञं प्रसुव— हे ईश्वर ! सबको उत्तम प्रशस्ततम कर्म करनेकी प्रेरणा दो । यज्ञ वह है जिससे (१) विद्वानोंका सत्कार, (२) संमिलित होकर कार्य करना और (३) दान ये तीन भाव रहते हैं ।

यज्ञपति भगाय प्रसुव— यज्ञ करनेवालेको ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये सुयोग्य कर्म करनेकी प्रेरणा दो । ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर वह यज्ञ करेगा और इससे जगत्का हित होता रहेगा ।

दिव्यः केतपूः गंधर्वः नः केतं पुनातु — श्रेष्ठ ज्ञानका रक्षक, वाणीका रक्षक, हम सबके ज्ञानका उत्तम रीतिसे रक्षण करे ।

वाचस्पतिः नः वाचं स्वदतु— वाणीका रक्षक हमारी वाणीको मीठी बनावे । कटु शब्दका प्रयोग कभी भी करना योग्य नहीं । सदा मीठा भाषण ही करना सबको योग्य है ॥ ७ ॥

[४३८] हे (देवसवितः) दिव्यगुणयुक्त सविता देव ! (नः इमं देवाव्यं, सखिविदं, सत्राजितं, धनजितं, स्वर्जितं यज्ञं प्रणय) हमारे इस देवताओंको तृप्त करनेवाले, सखित्व बढानेवाले, यज्ञकार्यको वश करनेवाले, धनको जीतनेवाले और सुखके बढानेवाले यज्ञको सम्पन्न करो । (स्तोमं ऋचा समर्पय) यज्ञको ऋग्वेदके मन्त्रोंसे समृद्ध करो । (गायत्रेण रथन्तरं) गायत्री छन्दसे रथन्तर सामको और (गायत्रवर्तनि बृहत्) गायत्र सामसे बृहत् सामको सम्पन्न करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ८ ॥

[४३९] मैं (सवितुः देवस्य प्रसवे गायत्रेण छन्दसा) सबके उत्पादक सविता देवकी प्रेरणासे गायत्री छन्दसे (अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम् त्वा अङ्गिरस्वत् आददे) अश्विनी कुमारोंकी दोनों भुजाओंसे, पूषा देवताके हाथोंसे तुझको अङ्गिराके समान ग्रहण करता हूं । और तू (अङ्गिरस्वत् त्रैष्टुभेन छन्दसा पृथिव्याः सधस्थात् पुरीष्यं अग्निं) अङ्गिराके समान त्रिष्टुप् छन्दके प्रभावसे पृथ्वीके एक स्थानसे पोषक अग्निको (अङ्गिरस्वत् आभर) अङ्गिराके समानही पूर्ण करो ॥ ९ ॥

[४४०] (त्वया सधस्थे वयं) तेरे साथ एकस्थानमें रहनेवाले हम लोगोंके लिये, तू (अभ्रिः नारी असि) उत्तम स्त्रीके समान ग्रहण करनेके योग्य स्त्री हो, अतः तुम्हारे द्वारा हम (जागतेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् अग्निं खनितुं आशकेम) जगती छन्दसे अङ्गिराके समान अग्निको बढानेके लिये अच्छी प्रकार समर्थ हो जांय ॥ १० ॥

विवाहित स्त्री पुरुष एक घरमें रहें और यज्ञ करनेके लिये अपने रहनेके स्थानमें अग्निको प्रदीप्त करें और पश्चात् उसमें हवन करें ॥ १० ॥

हस्ते आधाय सविता बिभ्रदभ्रिꣳ हिरण्ययीम् ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरदानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ ११ ॥

प्रतूर्त्तं वाजिन्ना द्रव वरिष्ठामनु संवतम् ।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित् ॥ १२ ॥

युञ्जाथाꣳ रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू । अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥ १३ ॥

योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

---

[४४१] (सविता हस्ते अङ्गिरस्वत् हिरण्ययीं अभ्रिं आधाय बिभ्रत्) सबका उत्पादक सविता देव अपने हाथमें, अङ्गिराके समान सुवर्णकी अभ्रिको लेकर उसको धारण करके (अग्नेः ज्योतिः निचाय्य पृथिव्याः अधि) अग्निके ज्योतिको विश्वासपूर्वक भूमिके ऊपर बढावे और (आनुष्टुभेन छन्दसा आभरत्) अनुष्टुप् छन्दसे अच्छी प्रकार भरणपोषण करे अर्थात् उसको प्रदीप्त करे ॥ ११ ॥

[४४२] हे (वाजिन्) विशेष ज्ञानसे युक्त विद्वान् ! (ते दिवि परमं जन्म) तेरा द्युलोकमें श्रेष्ठ जन्म स्थान है, (तव अन्तरिक्षे नाभिः) तुम्हारा अन्तरिक्षमें नाभि स्थान है और (पृथिव्याम् अधि योनिः) पृथ्वीके ऊपर तुम्हारा आश्रय स्थान है । तू (प्रतूर्त्तं वरिष्ठां संवतं इत् अनु आ द्रव) अतिशीघ्र, अत्यन्त उत्तम सेवन करने योग्य स्थानको प्राप्त कर ॥ १२ ॥

मनुष्यका मस्तिष्क द्युलोक, नाभी स्थान अन्तरिक्ष, और पृथिवीपर आधार स्थान रहता है । मनुष्यका शरीर विश्वशरीरका अंश होता है । प्रत्येक मनुष्य अपने शरीरका यह महत्व जाने ।

मानवी शरीरको तुच्छ दृष्टीसे देखना नहीं चाहिये । इस मानवी शरीरमें उक्त प्रकार स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथिवी तत्त्व सदा रहते हैं । इस दृष्टीसे अपने शरीरका महत्व हरएक मानव जाने ॥ १२ ॥

[४४३] हे (वृषण्वसू) बलयुक्त धनोंकी वृद्धि करनेवालो ! (युवं अस्मिन् यामे) तुम दोनों इस कर्ममें (अस्मयुं अग्निं भरन्तं रासभं युञ्जाथां) हमारे हितकारी अग्निको बढानेवाले गर्दभको बांधो ॥ १३ ॥

[४४४] (सखायः योगे योगे) परस्पर मित्रताको बढानेवाले हम सब लोग प्रत्येक कर्ममें (तवस्तरं इन्द्रं ऊतये) औरोंसे अत्यधिक बलशाली इन्द्रको अपनी रक्षा करनेके लिये तथा (वाजे वाजे हवामहे) प्रत्येक संग्राममें अपनी सहायताके लिये बुलाते हैं ॥ १४ ॥

योगे योगे सखायः— प्रत्येक कार्यमें मित्रतासे सब रहें । परस्पर द्वेष न करें ।

तवस्तर इंद्रं ऊतये वाजे वाजे हवामहे — बलवान् वीर इन्द्रको हम अपनी सुरक्षाके लिये प्रत्येक युद्धमें बुलाते हैं । युद्ध होनेपर बलवान् वीरोंको अपने साथ रहने और युद्धमें सहायताके लिये बुलाना योग्य है ॥ १४ ॥

[४४५] तू (तूर्वन् अशस्तीः अवक्रामन् प्र एहि) अतिवेगसे प्रगति करता हुआ, दुष्ट आचरणोंको दूर करके आगे बढ । और (मयोभूः, रुद्रस्य गाणपत्यं एहि) सबका कल्याण करनेकी भावना मनमें धारण करके शत्रुओंके रुलानेवाले सेनाके सेनापतिपदको प्राप्त कर । तथा (स्वस्ति गव्यूतिः, सयुजा पूष्णासह) सुखपूर्वक निष्कंटक मार्गसे चलकर, अपने साथ रहनेवाले महान् सेनाबलसे सबको (अभयानि कृण्वन्) भयरहित करता हुआ (अन्तरिक्षं वि इहि) अन्तरिक्षको विशेषरूपसे प्राप्त कर ॥ १५ ॥

पृथिव्याः सधस्थाद्ग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदा भरा॒ग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमो
ऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः ॥ १६ ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ॥ १७ ॥

आगत्य वाज्यध्वानं सर्वा मृधो वि धूनुते । अग्निं सधस्थे महति चक्षुषा नि चिकीषते ॥१८॥

तूर्वन्— वेगसे अपनी प्रगति कर ।

अशस्तीः अवक्रामन्— दुष्ट भावनाओंको दूर कर ।

प्र एहि— प्रगति कर, अपनी उन्नति कर । वेगसे आगे बढ ।

मयोभूः— सबका कल्याण करनेके विचार मनमें धारण कर । जनताका उत्तम कल्याण जिससे होगा वह कार्य कर ।

रुद्रस्य गाणपत्यं एहि— शत्रुका विनाश करनेवाले वीरकी सेनामें जाकर वहां अपना कर्तव्य कर ।

रुद्रः— शत्रुको रुलानेवाला वीर सेनापति । (रोदयति शत्रून् स रुद्रः)

गाणपत्यं — रुद्रके गणोंका सदस्यत्व । रुद्रके गणोंमें जाकर वहांका कार्य करनेवाला बनना । वीरकी सेनामें जाकर रहना और वहांका कार्य करना ।

स्वस्ति गव्यूतिः— सुखपूर्वक मार्गसे चलना । सुखपूर्वक शत्रुपर आक्रमण करना ।

सयुजा पूष्णा सह— अपने साथी महाबलवान् पोषण करनेवालेके साथ रहना ।

अभयानि कृण्वन्— निर्भयता उत्पन्न करना । अपने प्रयत्नोंसे जनताको भयरहित करना ॥ १५ ॥

[४४६] तू (पथिव्याः सधस्थात् पुरीष्यं अङ्गिरस्वत् अग्निं आभर) भूमिके ऊपरसे सबका पालन करनेमें समर्थ तेजस्वी, अग्रणीका पालन पोषण कर । हम लोग भी (पुरीष्यं अङ्गिरस्वद् अग्निं अच्छेम्) पालन करनेमें समर्थ तेजस्वी और अग्निके समान शत्रुविनाशक नेताको प्राप्त हों । (पुरीष्यं अङ्गिरस्वद् भरिष्यामः) पालन करनेमें समर्थ अङ्गिराके समान तेजस्वी नेताका हम पालन पोषण करेंगे ॥ १६ ॥

पृथिव्याः सधस्थात् पुरीष्यं अंगिरस्वत् अग्नि आभर— पृथिवीके ऊपर जो लोकोंका पोषण करता है, तेजस्वी है, ऐसा जो अग्रणी है, उसीका पालन और पोषण कर । उसीकी सहायता कर ॥ १६ ॥

[४४७] (प्रथमः जातवेदाः अग्निः) सबमें पहलेही विद्यमान जातवेदस् अग्नि (उषसां अग्रं अहानि अन्वख्यत्) उषःकालसे पहिले दिनोंको प्रसिद्ध करता है, (च सूर्यस्य अग्रं पुरुत्रा रश्मीन् अन्वाततन्थ) और सूर्यके पहिले बहुत स्थानोंमें किरणोंको फैलाता है, तथा (द्यावा पृथिवी) द्यु और पृथ्वी लोकको प्रकाशित करता है ॥१७॥

प्रथमः जातवेदाः अग्निः उषसां अग्रं अहानि अन्वख्यत्— पहिला जातवेद अग्नि उषाओंके पूर्व प्रकट होकर दिनोंको प्रकाशित करता है । उषःकालके पूर्व अग्निको प्रज्वलित करते हैं और हवन करते हैं । और दिन गिने जाते हैं ।

सूर्यस्य अग्रं पुरुत्रा रश्मीन् अन्वाततन्थ— सूर्यके अग्र भागसे चारों ओर किरणें फैलती हैं । जिससे द्युलोकसे पृथिवी-तक प्रकाश फैलता है ॥ १७ ॥

[४४८] जिस प्रकार (वाजी अध्वानं आगत्य सर्वाः मृधः विधूनुते) वेगवान् घोडा अपने मार्गपर आकर सब संग्रामोंको जीतता है, और जिस प्रकार गृहस्थ पुरुष (चक्षुषा महति सधस्थे अग्निं निचिकीषते) नेत्रोंसे बडी पृथ्वी पर यज्ञाग्निको देखता है उसी प्रकारसे तुम भी करो ॥ १८ ॥

वाजी अध्वानं आगत्य सर्वाः मृधः विधूनुते— घोडा अपने मार्गपर आकर सब युद्धोंको जीतता रहता है । इस प्रकार वीर युद्धोंमें विजय प्राप्त करे ॥ १८ ॥

आक्रम्यं वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्। भूम्यां वृत्वायं नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम् ॥१९॥

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्माऽन्तरिक्षꣳ समुद्रो योनिः ।
विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यतः ॥ २० ॥

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् ।
वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ २१ ॥

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकꣳ सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निꣳ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा ।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम् ॥ २३ ॥

---

[४४९] हे (वाजिन्) वेगवान्, बलवान् शूर पुरुष ! (त्वं पृथिवीं आक्रम्य रुचा अग्निं इच्छ) तू पृथ्वी पर आक्रमण करके अपनी प्रीतिके अनुसार अग्रणीके समान तेजस्वी होनेकी इच्छा कर । और (भूम्या वृत्वाय नः ब्रूहि) भूमिपर पूर्ण अधिकार करनेके लिये हमें कहो (यतः, तं खनेम) जहांसे हम उस ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुषको प्राप्त करें ॥ १९ ॥

त्वं पृथिवीं आक्रम्य रुचा अग्निं इच्छ— तू पृथिवीपर आक्रमण करके अपने तेजसे अग्निके समान तेजस्वी होकर अग्रणी बनो ।

भूम्या वृत्वाय नः ब्रूहि— भूमीपर अपना अधिकार स्थापन करनेके लिये हमें आज्ञा दो ।

तं खनेम— उस तेजस्वीको हम प्राप्त हो सकें ऐसा करो ॥ १९ ॥

[४५०] (द्यौः ते पृष्ठं) स्वर्ग तुम्हारा पृष्ठ है, (पृथिवी सधस्थं) पृथ्वी पांव है, (अन्तरिक्षं आत्मा) अन्तरिक्ष लोक जीवात्मा है, (समुद्रः योनिः) समुद्र तुम्हारा उत्पत्ति स्थान है, (त्वं चक्षुषा विख्याय, पृतन्यतः अभितिष्ठ) तू नेत्रोंसे देखकर, संग्राम करनेकी इच्छा करनेवाले शत्रुपर आक्रमण कर, उस शत्रुका नाश करो ॥ २० ॥

त्वं चक्षुषा विख्याय पृतन्यतः अभितिष्ठ— तू अपने आंखसे चारों ओर देखकर अपने शत्रुपर आक्रमण कर ॥ २० ॥

[४५१] हे (वाजिन्) बलवान् ! (द्रविणोदाः, महते सौभगाय अस्मात् आस्थानात् उत्क्राम) धन देनेवाले होकर तुम बडे ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये इस स्थानसे ऊपर चढो, (अस्याः पृथिव्याः उपस्थे अग्निं खनन्तः) इस भूमिके ऊपरी भागमें अग्निको प्रदीप्त करनेका उद्योग करते हुये (वयं सुमतौ स्याम) हम उत्तम बुद्धिमें स्थित होवें ॥ २१ ॥

द्रविणोदाः महते सौभगाय अस्मात् स्थानात् उत्क्राम— तू धन देनेवाला होकर महान् सौभाग्यके लिये इस स्थानसे ऊपरके स्थानपर चढकर वहां रह ।

वयं सुमतौ स्याम— हम उत्तम बुद्धि प्राप्त करके रहेंगे । मनुष्य उत्तम बुद्धिमान् बनकर इस पृथिवीपर रहें ॥२१॥

[४५२] (अर्वा द्रविणोदा वाजी पृथिव्यां उदक्रमीत्) चञ्चल धनदाता घोडा पृथ्वीमें उच्च स्थानपर चलकर आया है, (सुलोकं सुकृतं अकः) उसने सुन्दर लोकको पुण्यवान् बनाया है, (ततः नाकं उत्तमं स्वः अधिरुहाणाः) उस देशसे दुःखरहित श्रेष्ठ स्थानको आरोहण करनेकी इच्छावाले हम (सुप्रतीकं अग्निं खनेम) सुन्दर सुख देनेवाले अग्निको भूमीपर प्रदीप्त करते हैं ॥ २२ ॥

[४५३] हे अग्नि ! (विश्वा भुवनानि प्रतिक्षियन्तं) सम्पूर्ण भुवनोंमें निवास करनेवाले (तिरश्चा पृथुं वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठं अन्नैः रभसं, दृशानं त्वा) तिरच्छी ज्योतिसे विस्तीर्ण, आयुसे महान्, सबसे अधिक व्यापक, अन्नादि पदार्थोंसे बलवान् और प्रत्यक्ष दीखनेवाले तुमको (मनसा घृतेन आ जिघर्मि) श्रद्धा युक्त मनसे घृतद्वारा प्रदीप्त करता हूं ॥ २३ ॥

२६ (यजु. सु. भाष्य)

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत ।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २४ ॥

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् । दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २५ ॥

परि त्वाऽग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि । धृषद्वर्णं दिवे-दिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् ॥ २६ ॥

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ २७ ॥

विश्वा भुवनानि प्रतिक्षियन्तं— संपूर्ण भुवनोंमें अग्नि रहता है ।

तिरश्चा पृथुं— ज्योतीसे बडा व्यापक ।

व्यचिष्टं— सर्वत्र व्यापक अतः महान् अग्नि है ।

अन्नैः रभसं दृशानं— हवनीय अन्नाहुतीयोंसे तेजस्वी होता है ।

मनसा घृतेन आजिघर्मि— मनन पूर्वक दी हुई घीकी आहुतियोंसे प्रदीप्त होता है, ऐसा यह अग्नि है ॥ २३ ॥

[४५४] हे अग्ने ! तुम (विश्वतः प्रत्यञ्चम्) सब ओर पूर्णरूपसे व्याप्त हो, मैं तुमको (आजिघर्मि) घृत द्वारा प्रदीप्त करता हूं, तुम (अरक्षसा मनसा तत् जुषेत) क्रोधरहित मनसे उस घृतका सेवन करो। (मर्यश्रीः, स्पृहयद्वर्णः तन्वा जर्भुराणः अग्निः अभिमृशे न) मनुष्योंसे सेवन करने योग्य, कान्तिमान्, अपने शरीरसे इधर उधर गमन करनेवाला अग्नि तिरस्कार करने योग्य नहीं है ॥ २४ ॥

विश्वतः प्रत्यंचं आजिघर्मि— सर्वत्र व्यापक अग्निको मैं प्रदीप्त करता हूं ।

अरक्षसा मनसा तत् जुषेत— शान्त मनसे उसका स्वीकार करो ।

मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णः— यह अग्नि मनुष्योंकी संपत्ति है और यह सुंदर वर्ण युक्त है ।

तन्वा जर्भुराणः अग्निः अभिमृशे न— अपने शरीरसे अनेक स्थानोंमें रहनेवाला यह अग्नि सर्वत्र वर्णन करने योग्य है। निंदनीय कभी भी नहीं ॥ २४ ॥

[४५५] (वाजपतिः कविः अग्निः) अन्नका स्वामी क्रान्तदर्शी अग्नि (दाशुषे रत्नानि दधत्) हवि देनेवाले यजमानके लिये रत्नोंको धारण करता हुआ (परि अक्रमीत्) सब ओरसे प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

वाजपतिः कविः अग्निः दाशुषे रत्नानि दधत्— अन्नोंका स्वामी यह अग्नि दाताको रत्नोंका दान करता है। यज्ञ करनेवाले यजमानके पास अन्य लोगोंसे अनेक धन आते हैं ।

परिक्रमीत्— चारों ओर यह घूमता है ॥ २५ ॥

[४५६] हे (सहस्य) बलसे युक्त (अग्ने) अग्ने ! (पुरं विप्रं धृषद्वर्णं दिवेदिवे भंगुरावतां हन्तारं त्वा) अनेक रूपोंमें स्थित, बुद्धिवान्, वीर स्वरूप और प्रतिदिन राक्षसोंका नाश करनेवाले तुम्हारा (वयं परिधीमहि) हम सब ओरसे सम्मान करते हैं ॥ २६ ॥

सहस्यः— बलवान्, साहसके कार्य करनेमें समर्थ ।

पुरं विप्रं धृष्टद्वर्णं— अनेक प्रकारके रूपोंमें रहनेवाले, ज्ञानी, शत्रुका नाश करनेवाले वीरका संमान होना योग्य है ।

भंगुरावतां हन्तारं — विनाशकारी दुष्टोंका विनाश करनेवाला वीर हो । ऐसे वीरका सन्मान होना योग्य है ॥२६॥

[४५७] हे (नृपते अग्ने) मनुष्योंके पालक अग्नि (त्वं शुचिः आशुशुक्षणिः द्युभिः जायसे) तुम पवित्र, शीघ्र ही अन्धकारको दूर करनेवाले प्रतिदिन उत्पन्न होते हो । (त्वं अद्भ्यः) तुम जलोंसे उत्पन्न होते हो, (त्वं अश्मनः परि) तुम पाषाणसे उत्पन्न होते हो (त्वं वनेभ्यः) तुम वनोंमें उत्पन्न होते हो, (त्वं ओषधीभ्यः) तुम औषधियोंसे उत्पन्न होते हो, (त्वं नृणां) तुम यज्ञ करनेवाले यजमानोंके घर उत्पन्न होते हो ॥ २७ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत्खनामि ।
ज्योतिष्मन्तं त्वाऽग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम् ।
शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत्खनामः ॥ २८ ॥
अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महाँ२ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥ २९ ॥
शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽछिद्रे बहुले उभे । व्यचस्वती सं वसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् ॥ ३० ॥

नृपतिः अग्निः— अग्नि मनुष्योंका संरक्षक है। शरीरमें उष्णता रहनेतकही मनुष्य जीवित रहता है।

शुचिः— अग्नि शुद्ध है और शुद्धि करनेवाला भी है।

आशु शुक्षणिः— तत्काल अंधकारको दूर करता है।

त्वं अद्भ्यः— तू अग्नि जलोंसे उत्पन्न होता है। जलोंमें उष्णता रहता है। समुद्रमें अग्नि रहता है।

त्वं अश्मनः परि— पत्थर पर दूसरे पत्थरका घर्षण करनेसे अग्नि उत्पन्न होता है।

त्वं वनेभ्यः— वनोंमें अग्नि लगता है और उनको जलाता है।

त्वं ओषधिभ्यः— अग्नि औषधियोंसे उत्पन्न होता है।

त्वं नृणां— अग्नि मनुष्योंके यज्ञोंमें उत्पन्न होकर अनेक यज्ञ करता है ॥ २७ ॥

[४५८] मैं (सवितुः देवस्य प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्यां) सबके उत्पादक देवकी आज्ञामें रहकर, अश्विनीकुमारकी भुजाओंसे, पूषा देवताके हाथोंसे (पुरीष्यं अग्निं पृथिव्या सधस्थात् अङ्गिरस्वत् खनामि) सर्वत्र रहनेवाले अग्निको भूमिके ऊपरके प्रदेशसे अङ्गिराके समान उत्पन्नकरता हूं। हे (अग्ने) अग्नि! (ज्योतिष्मन्तं सुप्रतीकं अजस्रेण भानुना दीद्यतं प्रजाभ्यः) ज्वालायुक्त, सुन्दर शोभावान्, निरन्तर कान्तिसे चमकनेवाले प्रजाके हित करनेके लिये (शिवं अहिंसन्तं त्वा पुरीष्यं अग्निं) शान्तरूप, हिंसा न करनेवाले तुझ समृद्धिसे युक्त अग्निको (पृथिव्याः सधस्थात् अङ्गिरस्वत् खनाम) भूमिके गर्भसे अङ्गिरसके समान प्रदीप्त करते हैं ॥ २८ ॥

[४५९] तुम (अपां पृष्ठं असि) जलोंके ऊपर रहनेवाले हो और (अग्नेः योनिः) अग्निके उत्पन्नकर्ता हो। तुम (समुद्रं पिन्वमानं अभितः वर्धमानः महान् पुष्करे आ) समुद्रको बढाते हो, सब ओर वृद्धिको प्राप्त होते हुये बडे जलमें सब प्रकार स्थित हो। और (दिवः मात्रया च वरिम्णा प्रथस्व) द्युलोककी तेजःशक्तिसे और पृथ्वीकी विशालतासे चारों ओर विस्तृत हो ॥ २८ ॥

अपां पृष्ठं, अग्नेः योनिः असि— तू जलोंकी पीठ और अग्निका उत्पन्न होनेका स्थान है।

दिवः मात्रया वरिम्णा च प्रथस्व— अग्नि द्युलोकमें श्रेष्ठ स्थानमें है। वहां वह रहता और बढता रहता है ॥२९॥

[४६०] (अच्छिद्रे बहुले व्यचस्वती उभे शं स्थः) छिद्ररहित, बहुत विस्तृत और सुखदायक तुम दोनों कल्याणकारी हो (च वर्मस्थः) और कवचके समान संरक्षक हो। तुम दोनों (पुरीष्यं अग्निं संवसाथां) समृद्धि करनेवाले अग्निको आश्रय देनेवाले बनो (च भृतम्) और उसको धारण करो ॥ ३० ॥

बैठनेके आसन (अ-छिद्रे) छिद्ररहित (बहुले व्यचस्वती) बहुत विस्तृत और (शं स्थः) सुखदायी हों।

वर्मस्थः— संरक्षण करनेवाले आसन हों। दुःखदायी न हों।

व्यचस्वती— आसन आनंददायक हों। बैठनेवालेको आनंद प्राप्त हो।

पुरीष्यं अग्नि संवसाथां भृतं च— पोषक अग्निका संवर्धन करनेवाले बनो ॥ ३० ॥

×

सं वसाथार्ठ० स्वर्विदा समीची उरसा त्मना । अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥३१॥

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२ ॥

तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः । वृत्रहणं पुरन्दरम् ॥ ३३ ॥

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् । धनञ्जयर्ठ० रणे-रणे ॥ ३४ ॥

सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञर्ठ० सुकृतस्य योनौ ।

देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ३५ ॥

---

[४६१] तुम दोनों (स्वर्विदा समीची अजस्रमित्) अपनेको जाननेवाले एकचित्त होकर निरन्तर (ज्योतिष्मन्तं अग्निं) तेजवान् अग्निको (उदरे अन्तः भरिष्यन्ती) उदरके भीतर धारण करते हुये (उरसात्मना अग्निं संवसाथां) अपने शरीरमें हृदयमें रहे । अग्निको प्रदीप्त करके रखो ॥ ३१ ॥

स्वर्विदा— अपने आत्माको जाननेवाले तुम बनो ।

समीची— एक मनसे संमिलित होकर रहो ।

उरसा आत्मना अग्निं संवसाथाम् — हृदयसे और आत्मासे भक्ति भावसे अग्निको प्रदीप्त करो । जो कर्म करना हो वह मन और हृदयकी भक्तिसे भर कर करते रहो । भक्ति रहित मनसे किया कर्म सुफल देनेवाला नहीं होता है ॥३१॥

[४६२] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (पुरीष्यः विश्वभरा असि) हितकारी और समस्त विश्वके पालन करनेवाले हो । (प्रथमः अथर्वा त्वा निरमन्थत्) सबसे पहिले अथर्वाने तुमको, अच्छी प्रकार मंथन द्वारा प्रकट किया, तत्पश्चात् हे (अग्ने अग्नि ! (अथर्वा पुष्करात् अधि त्वां निरमन्थत्) अथर्वाने पुष्करसे तुमको मथित किया और अन्तमें (विश्वस्य वाघतः मूर्ध्नः) सम्पूर्ण संसारके ऋत्विजोंने आदरसे तुमको मथित कर प्रकाशित किया ॥ ३२ ॥

पुरीष्यः विश्वभरा असि— तू सर्व हितकारी तथा विश्वको पूर्ण करनेवाले हो ।

प्रथमः अथर्वा त्वां निरमन्थत— प्रथम अथर्वाने तुझे मन्थन करके उत्पन्न किया ।

अथर्वा त्वां पुष्करात् अधि निरमंथत्— अथर्वाने तुझे पुष्करसे मन्थन करके उत्पन्न किया । घर्षणसे अग्निकी उत्पत्ति है ॥ ३२ ॥

[४६३] (अथर्वणः पुत्रः दध्यङ्) अथर्वाके पुत्र दध्यङ्ने (तं उ वृत्रहणं पुरन्दरं त्वा ईधे) उस शत्रु नाशक और शत्रुओंके गढ तोडनेमें समर्थ तुमको प्रज्वलित किया ॥ ३३ ॥

अथर्वणः पुत्रः दध्यङ् तं वृत्रहणं पुरंदरं त्वा ईधे— अथर्वाके पुत्र दध्यङ्ने वृत्रको मारनेवाले, शत्रुके किलोंको तोडनेवालेको प्रज्वलित किया ।

पुरं-दरः— शत्रुकी नगरियोंको तोडकर उनका पराभव करनेवाला ॥ ३३ ॥

[४६४] (पाथ्यः वृषा) सन्मार्गसे चलनेवाले और बलवान् हे अग्ने ! (तं दस्युहन्तमं) उस शत्रुओंका नाश करनेवाले और (रणे रणे धनञ्जयं त्वा ईधे) प्रत्येक संग्राममें विजेता तुमको मैं प्रदीप्त करता हूं ॥ ३४ ॥

पाथ्यः वृषा— सन्मार्गसेही चलनेवाला, शक्तिमान् वीर ।

दस्युहन्तमः— शत्रुका विनाशकर्ता ।

रणे रणे धनंजयः— प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला ।

त्वा ईधे— ऐसे तुझ वीरको मैं तेजस्वी बनाता हूं ॥ ३४ ॥

[४६५] हे (होतः) बुलानेवाले (अग्नि) अग्नि ! (चिकित्वान् स्वे उ लोके सीद) सब जाननेवाले तुम अपने लोकमें स्थित होओ, और (सुकृतस्य योनौ यज्ञं आसादय) श्रेष्ठ कर्मरूपी यज्ञको सिद्ध करो । हे (अग्ने) अग्नि ! (देवावीः, हविषा देवान् आयजसि) देवताओंको प्रसन्न करनेवाले तुम, हविद्वारा देवताओंको तृप्त करते हो, इस कारण (यजमाने बृहत् वयः धाः) यजमानमें बडी आयु वा बहुत अन्नको धारण करो ॥ ३५ ॥

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ असदत्सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥ ३६ ॥

सꣳसीदस्व महाँ२ असि शोचस्व देववीतमः । वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ ३७

अपो देवीरुप सृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः । तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ ३८

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ ३९ ॥

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमाऽसदत्स्वः । वासो अग्ने विश्वरूपꣳ सं व्ययस्व विभावसो ॥ ४०

[४६६] (होता विदानः त्वेषः दीदिवान्) देवताओंको बुलानेवाला सबको जाननेवाला, तेजस्वी, गमन करनेवाला (सुदक्षः अदब्धव्रतप्रमतिः वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वः अग्नि) कुशल, अति उत्कृष्ट बुद्धि सम्पन्न, उत्तम निवासी, सहस्रोंका पोषण कर्ता और अति पवित्र अग्निके समान तेजस्वी (होतृसदने नि असदत्) होम निष्पादक स्थानमें भली प्रकार उपविष्ट हुआ है ॥ ३६ ॥

यज्ञ करनेवाला यज्ञ स्थानमें आकर अपने आसनपर बैठा है ॥ ३६ ॥

[४६७] हे (मियेध्य प्रशस्त) यज्ञके उपयोगी और प्रशंसित (अग्ने) अग्नि ! तुम (देववीतमः महान् असि) देवोंमें अत्यन्त प्रिय और महान् हो, यहां (सं सीदस्व) अच्छे प्रकार बैठो और (शोचस्व) प्रदीप्त होओ। तथा आहुति देकर (दर्शतं अरुषं धूमं विसृज) दर्शनीय तेजस्वी धूमको छोडो ॥ ३७ ॥

[४६८] तुम (मधुमतीः देवीः अपः उत्सृजः) प्रशंसित मधुर पवित्र जलोंको उत्पन्न कर, जिससे (तासां आस्थानात् सुपिप्पला ओषधयः) उन सींचे जलोंके स्थानसे सुन्दर फलवाली ओषधियां (प्रजाभ्यः अयक्ष्माय उज्जिहताम्) प्रजाओंके यक्ष्मा आदि रोगोंके दूर करनेके लिये उत्पन्न हो जाय ॥ ३८ ॥

मधुमतीः देवीः अप उत्सृज — मधुर दिव्य जल उत्पन्न कर।

तासां आस्थानात् सुपिप्पला ओषधयः प्रजाभ्यः अयक्ष्माय उज्जिहाताम्— उन जलोंके स्थानोंसे उत्तम फलवाली औषधियां प्रजाके आरोग्यके लिये निर्माण की जांय।

उत्तम औषधियां लगानी चाहिये जिनसे अनेक लाभ मानवोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥ ३८ ॥

[४६९] (उत्तानायाः ते यत् हृदयं विकस्तं) ऊर्ध्वमुख रहनेवाले तेरा जो हृदय दुःखित हुआ है, उसको (मातरिश्वा सन्दधातु) मातरिश्वा वायु अच्छी प्रकार सुधार कर धारण करे। हे (देव) देव ! (यः देवानां प्राणथेन चरसि) जो तुम सम्पूर्ण देवोंको प्राण शक्तिके साथ संचार करते हो, ऐसे (तुभ्यं) तुम्हारे लिये (कस्मै वषट् अस्तु) यह पृथ्वी सुख देनेवाली हो ॥ ३९ ॥

ते विकस्तं हृदयं मातरिश्वा संदधातु — तेरा संतप्त हृदय प्राणवायु ठीक करेगा। प्राणायाम करनेसे हृदय रोगरहित होता है।

देवानां प्राणथेन चरसि, तुभ्यं वषट् अस्तु — दिव्य प्राणशक्तिसे तुम विचरण करते हो, अतः तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ३९ ॥

[४७०] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (ज्योतिषा सह सुजातः वरूथं स्वः शर्म आसदत्) तेजके साथ उत्तम रूपसे प्रकट होकर, श्रेष्ठ सुखकारी यज्ञ गृहको प्राप्त होओ ! तथा हे (विभावसो) विशेष कान्तिसे युक्त अग्नि ! तुम (विश्वरूपं वासः संव्ययस्व) विश्वरूप वस्त्र संम्यक् प्रकारसे धारण करो ॥ ४० ॥

हे अग्ने ! ज्योतिषा सह सुजातः वरूथं स्वः शर्म आसदत्— हे अग्ने ! तेजके साथ उत्तम रीतिसे प्रकट होकर अपने यज्ञस्थानको आरामसे प्राप्त हो।

विश्वरूपं वासः संव्ययस्व — विश्वरूप वस्त्र परिधान कर। विश्व व्यापक होकर रहो। सर्व व्यापक बनो ॥४०॥

उदु तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया। दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः ॥४१॥

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।

ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ४२ ॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु ।

चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः ॥ ४३ ॥

स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन् । पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

---

[४७१] हे (स्वध्वर अग्ने) सुन्दर हिंसारहित यज्ञ करनेवाले अग्नि ! (उत्तिष्ठ) उठो, (देव्या धिया नः उ आ अव) दिव्य गुणों तथा दिव्य स्वभाववाली बुद्धिसे हमारा सब प्रकारसे पालन करो, (च सुशुक्वनिः बृहता भासा दृशे सुशस्तिभिः आयाहि) और श्रेष्ठ किरणोंके फैलानेवाले बडे तेजसे सबको देखनेके लिये प्रशंसित गुणोंसे आगमन करो ॥ ४१ ॥

स्वध्वरः अग्निः — हिंसारहित कर्म करनेवाला अग्नि है।

देव्या धिया नः उ आ अव— दिव्य बुद्धिसे हमारा उत्तम रक्षण कर।

सुशुक्वनिः बृहता भासा दृशे सुशस्तिभिः आयाहि— श्रेष्ठ तेजको फैलाकर विशेष तेजस्वी होकर यहां आकर रहो। तेजस्वी होकर रहना योग्य है ॥ ४१ ॥

[४७२] तुम (नः ऊतये सविता देवः न, ऊर्ध्वः ऊषु अतिष्ठ) हमारी सुरक्षाके लिये सबके उत्पादक सूर्यके समान हमारे ऊपर तुम विराजमान हो। तुम (ऊर्ध्वः वाजस्य सविता) ऊच्च हो। तथा तुम अन्नके देनेवाले हो, (यत् अञ्जिभिः वाघद्भिः विह्वयामहे) अतः सबको प्रकट करनेवाली और हविको वहन करनेवाली किरणोंसे युक्त तुमको हम बुलाते हैं ॥ ४२ ॥

नः ऊतये, सविता देवः न, ऊर्ध्वः सु अतिष्ठ हमारी सुरक्षाके लिये सूर्य देवके समान, तू सबसे ऊपर विराजमान होकर रहो।

विह्वयामहे— हम तुम्हारी प्रार्थना करते हैं ॥ ४२ ॥

[४७३] हे (अग्ने) अग्नि ! (सः चारुः) वह तुम अत्यन्त सुन्दर हो, और (ओषधीषु विभृतः, चित्रः, शिशुः, रोदस्यो जातः, गर्भः असि) ओषधियोंमें उनको पुष्ट करनेके लिये रहनेवाला, नानावर्णकी रश्मियोंके कारण सुंदर, शिशु अत: प्रशंसनीय, द्यावापृथ्वीके मध्यमें उत्पन्न हुये गर्भरूप हो, ऐसे तुम (अक्तूनि तमांसि परि) रात्रिके अन्धकारको दूर करते हुये (मातृभ्यः अधि कनि क्रदत् प्रगाः) माताके समान औषधिवनस्पतियोंके पाससे शब्द करते हुये शीघ्रतासे चलो ॥ ४३ ॥

[४७४] हे (अर्वन्) गमनकुशल घोडे ! (स्थिरः वीड्वङ्गः भव) स्थिर होकर दृढ अङ्गोवाला होओ, (आशुः वाजी भव) वेगवान् होकर बलवान् होओ, तथा (पुरीषवाहन त्वं) सबको चलानेवाला तू (पृथुः अग्नेः सुखदः भव) बडे अग्निके लिये सुख देनेवाला होओ ॥ ४४ ॥

स्थिरः वीड्वङ्गः भव – सुस्थिर तथा सुदृढ अंगोंवाला होवो।

आशुः वाजी भव — चपल घोडा बन।

पुरीष वाहन— उठाकर ले जानेवाला।

सुखदः भव— सुख देनेवाला हो ॥ ४४ ॥

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः ।
मा द्यावापृथिवी अभि शोचीर्माऽन्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥४५॥
प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा ।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् । अग्न आ याहि वीतये ॥ ४६ ॥
ऋतं सत्यमृतं सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः ।
ओषधयः प्रति मोदध्वमग्निमेतं शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः ।
व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहि ॥ ४७ ॥

---

[४७५] हे (अङ्गिरः) अग्निरूप, अग्निके प्रिय ! (त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवः भव) तू मानव प्रजाओंके लिये कल्याणकारी हो । तू (द्यावा पृथिवी मा अभिशोचीः) द्यावापृथ्वीको मत सन्तप्त कर । (अन्तरीक्षम् मा) अन्तरिक्षको मत सन्तापित करो, तथा (वनस्पतीन् मा) वनस्पतियोंको मत सन्तापित करो ॥ ४५ ॥

त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवः भव — तू मानवी प्रजाओंके लिये कल्याण करनेवाला बन ।

द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वनस्पतीन् पृथिवी मा अभिशोचीः— द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वनस्पति आदिमें शोक उत्पन्न न हो ऐसा व्यवहार कर ॥ ४५ ॥

[४७६] (वाजी कनिक्रदत् प्रैतु) वेगवान् अश्व शब्द करता हुआ आगे बढे । और (पत्वा रासभः नानदत्) दौडवाला गर्दभ शब्द करता हुआ चले । यह (पुरीष्यं अग्निं भरन् आयुषः पुरः मा पादि) शरीरस्थानी अग्निको परिपुष्ट करता हुआ आयुके पूर्व न मरे (वृषा, वृषणं अपां गर्भं समुद्रियं अग्निं भरन्) अति बलवान् और सामर्थ्यवान् जलोंके मध्य अर्थात् सागरमें रहनेवाले अग्निको धारण करके यह आगमन करे । हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (वीतये आयाहि) हवि भक्षणके लिये हमारे पास आओ ॥ ४६ ॥

वाजी कनिक्रदत् प्रैतु — घोडा शब्द करता हुआ आगे बढे ।
पत्वा रासभः नानदत् — दौडनेवाला गर्दभ शब्द करता हुआ आगे बढे ।
आयुषः पुर मा पादि— पूर्ण आयुके पूर्व कोई न मरे ।
वृषा वृषणं भरत्— बलवान् बलको चारों ओर भर दे ॥ ४६ ॥

[४७७] (ऋतं सत्यं ऋतं सत्यम् अग्निं पुरीष्यम् अङ्गिरस्वत् भरामः) सरल, सत्य, सीधा और अविनाशी अग्निको अङ्गिराके समान हम परिपुष्ट करते हैं । हे (ओषधयः) सम्पूर्ण ओषधियो ! तुम (एतं शिवं अत्र युष्माः अभि आयन्तं अग्निं प्रति मोदध्वं) इस कल्याणकारक और इस स्थलमें तुम्हारे सम्मुख आनेवाले अग्निको सम्मुखमें रहकर आनंदित करो । हे अग्ने ! तुम यहां (निषीदन् नः विश्वाः अनिराः अमीवा व्यस्यन्) रहकर हमारे सम्पूर्ण पीडाओं और व्याधियोंको विनष्ट कर, हमारी (दुर्मतिं अपजहि) दुर्बुद्धिको नाश कर दे ॥ ४७ ॥

ऋतं सत्यं अग्निं पुरीष्यं अग्निरस्वत् भराम— सरल, सच्चे अग्निको सर्वत्र उपस्थित देखकर, हम अंगिराओंके समान उसका स्वागत करके उसको अर्पण करते हैं ।

हे ओषधयः ! एतं शिवं अत्र युष्मा अभिआयन्तं अग्निं प्रति मोदध्वं— हे वनस्पतियो ! यह कल्याणकारक अग्नि तुम्हारे समीप आता है, इसको देखकर प्रसन्न हो जाओ ।

प्रदीप्त अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे अनेक रोग दूर हो सकते हैं । अतः कहा है —

निषीदन् नः विश्वाः अनिरा अमीवा व्यस्यन्— तुम यहां रहकर हमारी सब पीडा और रोगोंको दूर कर । अग्निको प्रदीप्त करनेसे सब रोगबीज विनष्ट होते हैं ॥ ४७ ॥

ओषधयः प्रति गृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः । अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमाऽसदत् ४८
वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीतौ ॥ ४९ ॥
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ ५० ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ ५१ ॥

[४७८] हे (ओषधयः) ओषधियो ! तुम (पुष्पवती सुपिप्पलाः प्रतिगृभ्णीत) फूलोंवाली और अच्छे फलोंवाली होकर इस अग्निका स्वीकार करो, (वः गर्भः ऋत्वियः) तुम्हारा गर्भ ऋतुकालके अनुकूल होता है (अयं प्रत्नं सधस्थं आसदत्) यहां यह अग्नि पुरातन कालसे रहा हुआ है ॥ ४८ ॥

औषधियोंके योग्य रीतिसे हवन करनेसे रोग दूर होते हैं । इस यज्ञ कार्यके लिये उत्तम परिपक्व औषधियां प्राप्त करनी चाहिये ।

पुरातन कालसे ग्रामों और नगरोंमें यज्ञ गृह होने चाहिये, जहां योग्य औषधियोंका ऋतुके अनुकूल हवन होता रहेगा, तो ग्राम या नगर रोगरहित होकर रहेगा ॥ ४८ ॥

[४७९] हे (पृथुना पाजसा शोशुचानः) बडे बलसे दीप्तिमान् अग्नि ! तुम (द्विषः रक्षसः अमीवाः वि बाधस्व) शत्रुओं, राक्षसों और समस्त व्याधियोंको विनष्ट करो । (अहं, सुशर्मणः बृहतः सुहवस्य अग्नेः प्रणीतौ शर्मणि स्याम्) मैं, अच्छे सुखसे युक्त होकर महान् हवन कार्यमें बुलाने योग्य अग्निको प्रसन्न करनेके कार्यमें नियुक्त होऊं ॥ ४९ ॥

पृथुना पाजसा शोशुचानः— बडे बलसे तेजस्वी बना अग्नि है । अग्निको प्रदीप्त स्थितिमें रखना चाहिये । ऐसा प्रदीप्त अग्निहि रोगोंको विनष्ट करता है ।

अहं सुशर्मणः बृहतः सुहवस्य अग्नेः प्रणीतौ शर्मणि स्यां— मैं उत्तम कल्याण करनेवाले बडे हवन जिसमें होते हैं ऐसे अग्निके स्थानमें आनंदसे रहेंगे ।

ऐसा हवन करनेका कार्य करनेवाला यज्ञ गृह नगरमें होगा तो वह नगर सुखी होगा । यज्ञ होनेके कारण उस नगरमें रोगोंकी पीडा नही होगी और लोग आनंद प्रसन्न रहेंगे ॥ ४९ ॥

[४८०] हे (आपः) जलो ! तुम (मयोभुवः स्थ) सुखके उत्पादक हो, (ताः, नः महे रणाय चक्षसे हि ऊर्जे आदधातन) वे तुम बडे विशाल बलके दर्शनके लिये ही बलसे युक्त होनेका अनुभव करो ॥ ५० ॥

आपः मयोभुवः— जल सुख उत्पन्न करनेवाला है ।

ताः आपः नः महे रणाय चक्षसे ऊर्जे आदधातन — वे जल हमारे बडे विशाल बल बढानेके लिये ही विशाल बलसे युक्त होनेका अनुभव हमें कर दें ।

जलके सुयोग्य उपयोगसे शरीर रोगरहित और बलवान् होता है ऐसा अनुभव मनुष्य करें ॥ ५० ॥

[४८१] हे जलो ! (वः यः शिवतमः रसः इह) तुम्हारा जो सुख देनेवाला रस यहां है (नः तस्य भाजयत) हमको उस रसका आस्वाद लेनेवाला करो । (इव उशतीः मातरः) जिस प्रकार प्रीति करनेवाली मातायें अपने पुत्रोंके लिये हितकारिणी होती है । ॥ ५१ ॥

जलोंमें जो रस है वह लाभ दायक है, उसका योग्य रीतिसे उपयोग करना चाहिये ।

उत्तम माताएं पुत्रका जैसा हित करती है वैसा हित जल करता है ॥ ५१ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥ ५२ ॥

मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह ।

सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳ सृजामि प्रजाभ्यः ॥ ५३ ॥

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे । तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते ॥ ५४ ॥

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम् । हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥५५॥

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा । सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥ ५६ ॥

[४८२] हे (आपः) जलो ! (वः तस्मै अरं गमाम) तुम्हारे उस रसको हम शीघ्र प्राप्त हों । (यस्य क्षयाय जिन्वथ) जिस रससे निवास करनेवाले सबको तुम तृप्त करते हो । (च नः जनयथ) और हमको उत्पन्न करते हो ॥ ५२ ॥

यस्य क्षयाय जिन्वथ, वः तस्मै अरं गमाम — जिसके निवासके लिये तुम उत्पन्न हुए हो वह पूर्ण रूपसे हमें प्राप्त हो । जलसे हमारा उत्तम लाभ हो ।

नः जनयथ — हमारी उत्पत्ति भी तुम करते हैं । जनन कार्यमें जलका भाग बडा रहता है । जल न हो तो प्रजननका कार्य नहीं होगा ॥ ५२ ॥

[४८३] (मित्रः पृथिवीं च भूमिं ज्योतिषा सह सं सृज्य) मित्र देवता ' आदित्य ' विस्तृत अन्तरिक्ष और भूमिको अपने प्रकाशसे संयुक्त करता है और मैं भी (सुजातं जातवेदसं त्वा) सुन्दर जन्मवाले जातवेदस तुझ अग्निको भी (प्रजाभ्यः अयक्ष्माय सं सृजामि) प्रजाओंके रोग निवृत्तिके लिये उत्पन्न करता हूं ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार परमेश्वर पृथिवीपर सूर्यके द्वारा प्रकाश करता है, उसी प्रकार मैं यहां इस पृथिवीपर अग्निको जलाकर प्रकाश करता हूं । इस अग्निसे रोग दूर होते हैं ॥ ५३ ॥

[४८४] (रुद्राः पृथिवीं संसृज्य, बृहज्ज्योतिः समीधिरे) रुद्रोंने पृथिवीको उत्पन्न करके महान् दीप्तिमान अग्निको प्रदीप्त किया, (तेषां शुक्रः भानुः देवेषु) उन रुद्रोंकी शुद्ध प्रदीप्त ज्योति देवताओंके मध्यमें (अजस्रः इत् रोचते) निरन्तर भली प्रकारसे प्रकाशित होती है ॥ ५४ ॥

रुद्रोंने पृथिवीको उत्पन्न किया और उस पर प्रकाश भी उत्पन्न किया । वह प्रकाश फैल रहा है और वही प्रकाश अन्य देवोंको बता रहा है । उस प्रकाशसे ही हम सब विश्वका दर्शन कर रहे हैं ॥ ५४ ॥

[४८५] (सिनीवाली धीरैः वसुभिः रुद्रैः) चन्द्रकलायुक्त अमावस्या धैर्ययुक्त वसुओं और रुद्रगणों द्वारा (संसृष्टां मृदं हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा) उत्पन्न हुई मिट्टीको हाथोंसे मुलायम करके (तां कर्मण्यां कृणोतु) उसको कर्मके योग्य करें ॥ ५५ ॥

मिट्टीको जल मिश्रित करके नरम बनाना चाहिये । पश्चात् इसी मिट्टीसे अनेक पदार्थ बनाये जा सकते हैं ॥ ५५ ॥

[४८६] हे (अदिते) दीनतारहित देवमाता ! हे (महि) महान् शक्ति ! (सा सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा सिनीवाली) वह सुन्दर केशवाली, उत्तम आभूषणवाली और श्रेष्ठ अङ्गोवाली चन्द्रयुक्त अमावस्या (तुभ्यं हस्तयोः उखां दधातु) तुम्हारे लिये अपने दोनों हाथोंमें उखाको धारण करे ॥ ५६ ॥

सुकपर्दा— उत्तम सुंदर केशवाली स्त्री ।
सुकुरीरा— उत्तम आभूषण धारण करनेवाली स्त्री ।
स्वौपशा — उत्तम सुंदर अवयवोंवाली स्त्री ।
उखा— पकानेका पात्र ।

सिनीवाली तुभ्यं हस्तयोः उखां दधातु — चन्द्रके समान सुंदर स्त्री तुम्हारे लिये हाथोंमें पकानेके लिये पात्र धारण करे । इस पात्रमें वह स्त्री अन्न पकावे ॥ ५६ ॥

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया ।
माता पुत्रं यथोपस्थे साऽग्निं बिभर्तु गर्भ आ । मखस्य शिरोऽसि ॥ ५७ ॥

वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽसि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाᳬं रायस्पोषं गौपत्यᳬं सुवीर्यᳬं सजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽस्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाᳬं रायस्पोषं गौपत्यᳬं सुवीर्यᳬं सजातान्यजमानायादित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽसि द्यौरसि धारया मयि प्रजाᳬं रायस्पोषं गौपत्यᳬं सुवीर्यᳬं सजातान्यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवाऽसि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाᳬं रायस्पोषं गौपत्यᳬं सुवीर्यᳬं सजातान्यजमानाय ॥ ५८ ॥

अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु । कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये ।
पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति ॥ ५९ ॥

---

[४८७] (अदितिः शक्त्या धिया बाहुभ्यां उखां कृणोतु) अदीन स्त्री अपनी शक्ति, बुद्धि तथा दोनों हाथोंसे पाकपात्रको धारण करे। (सा गर्भे अग्निं आ बिभर्तु) वह अपने मध्यमें सब प्रकारसे अग्निको धारण करे (यथा माता उपस्थे पुत्रं) जिस प्रकार माता अपनी गोदमें पुत्रको धारण करती है ॥ ५७ ॥

अदितिः शक्त्या धिया बाहुभ्यां उखां कृणोतु— अदीन स्त्री अपनी शक्तिसे, बुद्धिसे और भुजाओंसे पकाने पात्रका धारण करे। और उसमें अन्न पकानेका कार्य करे ॥ ५७ ॥

[४८८] हे उखे ! (वसवः गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस्वत त्वा कृणवन्तु) वसुगण गायत्री छन्दके प्रभावसे अङ्गिराकी तरह तुझको प्रदीप्त करें, तुम (ध्रुवा असि, पृथिवी असि मयि यजमानस्य प्रजां रायः पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् आधारय) दृढ हो, पृथ्वीरूप हो, मुझ यजमानके लिये सन्तान धन पुष्टि गोपतित्व सुन्दर पराक्रम सहोदर गणके सहित हमको यथोचित सौहार्द धारण करो। हे उखे ! (रुद्रा त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा कृण्वन्तु, ध्रुवा असि, अन्तरिक्षम् असि, मयि यजमानस्य प्रजां रायः पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् आधारय) रुद्रगण त्रिष्टुम छन्दके प्रभावसे अङ्गिराके समान तुमको निर्माण करें, तुम दृढ हो, अन्तरिक्षरूप हो, मुझ यजमानके निमित्त सन्तान धन, पुष्टि, गोपतित्व, सुन्दर पराक्रम, सहोदर गणके सहित हमको यथोचित सौहार्द धारण करो। हे उखे ! (आदित्याः जागतेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा कृण्वन्तु ध्रुवा असि द्यौः असि मयि यजमानस्य प्रजां रायः पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् आ धारय) बारह आदित्य जगति छन्दके सामर्थ्यसे अङ्गिराके समान तुझको निर्माण करें, तुम दृढ हो, द्युलोक रूप हो, मुझ यजमानके निमित्त सन्तान, धन, पुष्टि, गोपतित्व, सुन्दर पराक्रम, सहोदर गणके सहित हमको यथोचित सौहार्द धारण करो। (वैश्वानराः विश्वे देवाः अनुष्टुभेन छन्दसा) विश्वेदेवा देवता अनुष्टुभ छन्दके प्रभावसे हे उखे ! (त्वा अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) तुमको अङ्गिराके समान निर्माण करें; तुम (ध्रुवा असि, दिशः असि, मयि यजमानस्य प्रजां रायः पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान्, आधारय) दृढ हो, दिशास्वरूप हो, मुझ यजमानके निमित्त सन्तान, धन, पुष्टि, गोपतित्व, सुन्दर पराक्रम सहोदर गणके सहित हमको यथोचित सौहार्द धारण करो ॥ ५८ ॥

[४८९] तुम (अदित्यै रास्ना असि) अदिति देवताके प्रभावसे इस उखाकी काञ्चीके स्थानमें हो। हे उखे ! (अदितिः ते बिलं गृभ्णातु) अदिति देवमाता तुम्हारे भागको ग्रहण करे। (अदितिः महीं मृन्मयीं अग्नये योनिं उखां कृत्वाय) देवमाता अदिति, यह मृत्तिकाकी, अग्निकी स्थानभूत उखाको निर्माण करे (श्रपयान् पुत्रेभ्यः प्रायच्छत् इति) और अपने पुत्रोंके लिये उसको प्रदान करे ॥ ५९ ॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥

अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् खनत्ववट
देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वद्दधतूखे[२]
धिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे[३]
वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूखे[४]
ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्पचन्तूखे[५]
जनयस्त्वाच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्पचन्तूखे[६] ॥ ६१ ॥
मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि । द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६२ ॥

---

[४९०] हे उखे ! (वसवः गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा धूपयन्तु) वसुगण गायत्री छन्दसे अङ्गिराके समान तुम्हारा वर्णन करे। (रुद्राः त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा धूपयन्तु) रुद्रगण त्रिष्टुप् छन्दसे अङ्गिराके समान तेरा वर्णन करें। (आदित्याः जागतेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा धूपयन्तु) आदित्य गण जगती छन्दसे अङ्गिराके समान तुम्हारा वर्णन करें। (वैश्वानराः विश्वेदेवाः आनुष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा धूपयन्तु) सबके हितकारक विश्वेदेवा देवता अनुष्टुप छन्दसे अङ्गिराके समान तुम्हारा वर्णन करे। (इन्द्रः त्वा धूपयतु) इन्द्र तुम्हारा वर्णन करे, (वरुणः त्वा धूपयतु) वरुण तुम्हारा वर्णन करे और (विष्णुः त्वा धूपयतु) विष्णु देवता तुम्हारा वर्णन करे ॥ ६० ॥

धूप्— वर्णन करना, गुणगान करना, प्रशंसा करना ॥ ६० ॥

[४९१] हे (अवट) गर्त ! (विश्वदेव्यावती देवी अदितिः पृथिव्याः सधस्थे त्वा अङ्गिरस्वत् खनतु) समस्त देवताओंकी अधिष्ठात्री, दिव्यगुणयुक्त देवमाता पृथ्वीके ऊपर भागमें तुझको अङ्गिराके समान खनन करे। हे (उखे) उखे ! (देवानां पत्नीः विश्वदेव्यावती देवीः पृथिव्या सधस्थे अङ्गिरस्वत् त्वा दधतु) देवताओंकी स्त्रीयां समस्त देवताओंके सहित तेजस्वी पृथ्वीके ऊपर अङ्गिराके समान तुमको स्थापन करें। हे (उखे) उखे ! (विश्वदेव्यावतीः धिषणाः देवीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् त्वा अभीन्धताम्) सब देवोंकी अधिष्ठात्री, प्रशंसित बुद्धिवाली, दिव्यतायुक्त पृथ्वीके ऊपर अङ्गिराके समान तुझको प्रदीप्त करें। हे (उखे) उखे ! (विश्वदेव्याः वतीः वरूत्रयः देवीः पृथिव्या सधस्थे अङ्गिरस्वत् त्वा श्रपयन्तु) सम्पूर्ण देवगणोंसे युक्त अहोरात्रकी देवी पृथ्वीके ऊपर अङ्गिराके समान तेरे लिये पकावें। हे (ऊखे) ऊखे ! (विश्वदेव्यावतीः ग्नाः देवीः पृथिव्याः अङ्गिरस्वत् त्वा पचन्तु) सारे देवोंकी अधिष्ठात्री देवी पृथ्वीके ऊपर अङ्गिराके समान तुझे पक्व करें। हे (उखे) उखे ! (अच्छिन्नपत्राः जनयः जनयः देवीः विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् त्वा पचन्तु) निरन्तर गमनशील देवियें सब देवताओंके सहित पृथ्वीके ऊपर अङ्गिराके समान तेरे लिये पाक करें ॥ ६१ ॥

[४९२] (देवस्य चर्षणीधृतः मित्रस्य) दीप्तिमान्, मनुष्योंके पोषण करनेवाले मित्र देवताके (सानसि चित्रश्रवस्तमं द्युम्नं अव) सदासे चले आये, विचित्र पदार्थोंसे समृद्ध ऐश्वर्यको हम प्राप्त हों ॥ ६२ ॥

×

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या ।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आ पृण ॥ ६३ ॥

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम् । मित्रैतां त उखां परि ददाम्यभित्या एषा मा भेदि ॥६४॥

वसवस्त्वाऽऽच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाऽऽच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाऽऽच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजं स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजं स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहा ऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥६७॥

---

[४९३] (सुबाहुः सुपाणिः स्वङ्गुरिः सविता देवः) सुन्दर बाहुओं, अच्छे हाथों, और उत्तम अङ्गुलियों-वाला सवितादेव (शक्त्या उत त्वा उद्वपतु) स्वशक्ति और बुद्धिसे तुझको प्रकाशित करे, और तू (अव्यथमाना पृथिव्यां आशा दिशः आ पृणः) व्यथाको न प्राप्त होकर पृथ्वीमें अपनी समस्त कामनाओं और दिशाओंको पूर्ण करो ॥ ६३ ॥

सुबाहुः सुपाणिः स्वंगुलिः त्वा शक्त्या उद्वपतु— उत्तम बाहु, उत्तम हाथ और उत्तम अंगुलिवाला देव अपनी शक्तिसे तुझे उपर उठावे । बाहु, हाथ, अंगुलियां उत्तम निर्दोष हो इस विषयमें मनुष्य प्रयत्न करें ॥ ६३ ॥

[४९४] हे उखे ! (त्वं उत्थाय बृहती भव) तुम उठकर बडी होओ; (उत ऊ ध्रुवा उत्तिष्ठ) और स्थिर होकर अपने कार्यमें दृढ होकर कार्य करनेवाली होओ । हे (मित्र) मित्र देवता ! (एतां उखां अभित्यै ते परि ददामि) इस उखाको खण्डित न होनेके लिये तुझे सौंपता हूं । (एषा मा भेदि) यह किसी प्रकार विदीर्ण न हो ॥६४॥

उत्थाय त्वं बृहती भव— उठकर तू बडी होनेका यत्न कर ।

ध्रुवा उत्तिष्ठ— स्थिरतासे अपने कार्यको करो ।

एषा मा भेदि— यह विदीर्ण न हो । अच्छी रहकर कार्य करे ।। ६४ ॥

[४९५] हे उखे ! (वसवः गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा आच्छृन्दन्तु) वसुगण गायत्री छन्दके प्रभावसे अङ्गिराके समान तुझको सिंचन करें । (रुद्राः त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा आच्छृन्दन्तु) रुद्रगण त्रिष्टुप छन्दसे अङ्गिराके समान तुझको सिंचन करें । (आदित्याः जागतेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा आच्छृन्दन्तु) आदित्य गण जगति छन्दके सामर्थ्यसे अङ्गिराके समान तुझको सिंचन करें । और हे उखे ! (वैश्वानराः विश्वेदेवाः आनुष्टुभेनच्छन्दसा अङ्गिरस्वत् त्वा आच्छृन्दन्तु) विश्वके हितकारी विश्वेदेवा अनुष्टुप् छन्दके प्रभावसे अङ्गिराके समान तुझको सिंचन करें ॥ ६५ ॥

[४९६] (आकूतिं अग्निं प्रयुजं स्वाहा) प्रेरक अग्निको इस यज्ञ कर्ममें यह आहुति प्रदान की जाती है । (मनः मेधां प्रयुजं अग्निं स्वाहा) मन और बुद्धिके प्रेरक अग्निको आहुति देते हैं । (चित्तं विज्ञातं प्रयुजं अग्निं स्वाहा) चित्त, ज्ञान साधन विज्ञानके प्रेरक अग्निको आहुति देते हैं । (वाचः विधृतिं प्रयुजं अग्निं स्वाहा) वाणी और विशेष धारणाके प्रेरक अग्निको आहुति देते हैं । (मनवे प्रजापतये स्वाहा) मन्वन्तर प्रवृत्त करनेवाले प्रजापतिके निमित्त आहुति प्रदान करते हैं । (वैश्वानराय अग्नये स्वाहा) विश्वके हितकारी अग्नि देवताके निमित्त होम करते हैं ॥ ६६ ॥

[४९७] (विश्वः मर्तः नेतुः देवस्य सख्यं वुरीत) सम्पूर्ण मनुष्य, सबके संचालक परमात्माके सख्यताको स्वीकार करें, (पुष्यसे द्युम्नं वृणीत) ज्ञानके पोषणके लिये तेजस्विता प्राप्त करें, और (राये विश्वः इषुध्यति) ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये सब जनवाणादि आयुधोंको धारण करें, (स्वाहा) उनके लिये हमरा त्यागभाव हो ॥ ६७ ॥

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु । अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥ ६८ ॥
दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृताऽसि ।
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् ॥ ६९ ॥
द्वन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः । सहसस्पुत्रो अद्भुतः ॥ ७० ॥
परस्या अधि संवतोऽवराँ२ अभ्या तर । यत्राहमस्मि ताँ२ अव ॥ ७१ ॥

विश्वः मर्तः नेतुः देवस्य सख्यं वुरीत— सब लोक नेता देवकी मित्रता प्राप्त करें।
पुष्यसे द्युम्नं वृणीत — पोषणके लिये तेज प्राप्त करें।
राये विश्वः इषुध्यति — ऐश्वर्यके लिये सब झगडते हैं ॥ ६७ ॥

[४९८] हे (अम्ब) माता ! तू हमको विद्यासे (मा सु भित्थाः) मत छुडावे और (मा सु रिषः) मत दुःख दे, (धृष्णु सुवीरयस्व) दृढतासे उत्तम वीरके कार्यको संपन्न करो, तथा (अग्निः च इदं करिष्यथः) अग्नि और तुम दोनों इस कार्यको समाप्ति पर्यन्त करो ॥ ६८ ॥

मा सुभित्थाः— कर्तव्यसे मत छुडाओ ।
मा सुरिषः— दुःख न दे ।
धृष्णु सुवीरयस्व— धैर्यसे उत्तम वीरके कार्य कर ॥ ६८ ॥

[४९९] हे (देवि पृथिवि) देवी पृथ्वी ! (स्वस्तये दृꣳहस्व) कल्याणके लिये उत्तम रीतिसे सुदृढ होकर रहो (स्वधया आसुरी माया कृता असि) तू अपनी धारणशक्तिसे अपने प्राणकी शक्ति बढाती हो । (इदं हव्यं देवेभ्यः जुष्टं अस्तु) यह हव्य देवताओंके लिये प्रिय हो, (त्वं अरिष्टा अस्मिन् यज्ञे उदिहि) तू नष्ट न होकर इस यज्ञमें उदयको प्राप्त करो ॥ ६९ ॥

स्वस्तये दृंहस्व— अपने कल्याणके लिये सुदृढ होकर प्रयत्न करो ।
स्वधया आसुरी माया कृता— अपनी शक्तिसे असुरोंने शक्ति बढाई है ।
त्वं अरिष्टा अस्मिन् यज्ञे उदिहि— तू विनष्ट न होकर इस यज्ञमें उदयको प्राप्त हो ॥ ६९ ॥

[५००] (द्वन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नः) जिसका प्रधान भक्ष्य वृक्षकी समिधायें हैं, जिसका प्रधानपेय घृत है, जो पुरातन है, तथा जो (होता वरेण्यः सहसः पुत्रः अद्भुतः) देवगणोंको बुलानेवाला, श्रेष्ठ बलसे उत्पन्न होनेवाला और आश्चर्यरूप है ॥ ७० ॥

द्वन्नः (द्रु+अन्नः)— वृक्षकी समिधाएं इसका अन्न है । समिधाएं अग्निका अन्न है ।
सर्पिः आसुतिः— अग्निका मुख्य पेय घी है ।
सहसः पुत्रः— यह बलका पुत्र है । बलसे मंथन करनेसे यह अग्नि उत्पन्न होता है ।
होता— देवोंको यज्ञस्थानमें यह अग्निही बुलाकर लाता है ॥ ७० ॥

[५०१] हे अग्ने ! (परस्याः संवतः अधि) शत्रुसेनाके साथ होनेवाले युद्धमें स्थित हम (अवरान् अभ्यातर) समीपस्थोंकी रक्षा कर, और (यत्र अहं अस्मि) जहां मैं स्थित हूं वहां (तान् अव) उन सबोंकी भी रक्षा कर ॥ ७१ ॥

परस्याः संवतः अधि, अवरान् अभ्यातरः— शत्रुसेनासे होनेवाले युद्धमे हम खडे हैं । हमारे जो लोग यहां हैं उन सबकी सुरक्षा कर ।
यत्र अहं अस्मि, तान् अव— जहां मैं हूं, उनका संरक्षण कर ॥ ७१ ॥

परमस्याः परावतो रोहिदंश्व इहा गहि । पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥
यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि । सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७३ ॥
यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति । सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७४ ॥
अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥ ७५ ॥
नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ ७६ ॥
याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत ।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

---

[५०२] हे (अग्ने) अग्नि ! (रोहिदश्वः पुरीष्यः पुरुप्रियः त्वं) रोहित नाम अश्व रखनेवाला, समृद्धिमान् एवं बहुत जनप्रिय तुम (परमस्याः परावतः इह आगहि) अतिदूरसे भी यहां आगमन करो और (मृधः आतर) संग्राममें शत्रुओंका विनाश करो ॥ ७२ ॥

[५०३] हे (यविष्ठ्य अग्ने) बलवान् अग्नि ! (यत् कानि चित् दारूणि ते आदध्मसि) जो कोई भी समिधायें तुम्हारे लिये अर्पण करे, (तत् सर्वं ते घृतं अस्तु) वह सब तुमको घृतके समान प्रिय हो, (तत् जुषस्व) उसको प्रीतिसे सेवन करो ॥ ७३ ॥

[५०४] (उपजिह्विका यत् अत्ति) दीमक जो काष्ठ भक्षण करते हैं (वम्रः यत् अतिसर्पति) बल्मीक नामका कीडा जिस काष्ठको निकलता है, हे (यविष्ठ्य) तरुण अग्नि ! (तत् ते घृतं अस्तु) वह काष्ठ तुम्हारे लिये घृतवत् प्रिय हो, (तत् जुषस्व) उसको प्रीतिसे सेवन करो ॥ ७४ ॥

[५०५] हे (अग्ने) अग्नि ! (ते प्रतिवशा अहरहः अप्रयावं) तुम्हारे आश्रयवाले हम निरन्तर अप्रमत्तके समान (अस्मै घासं भरन्तः तिष्ठते अश्वाय इव) इस यज्ञके लिये समिधारूप भक्ष्यको सम्पादन करते हुये, वाजिशालामें स्थित घोडेके लिये जैसे प्रतिदिन घास देते हैं, वैसे ही तुम्हें हवि देते हुये (ते इषा रायः पोषेण सम्मदन्तः मा रिषाम) तेरे धन, ऐश्वर्यकी समृद्धिसे हर्षको प्राप्त करते कभी पीडित न हों ॥ ७५ ॥

[५०६] (पृथिव्याः नाभा समिधाने अग्नौ) पृथ्वीके नाभि स्वरूप इस यज्ञस्थानमें अग्निके प्रज्वलित होने पर (इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं) अन्नसे तृप्त होनेवाले, बडे स्तुतिके योग्य, यज्ञके योग्य (पृतनासु जेतारं सासहिं अग्निं) संग्रामोंमें जीतनेवाले, शत्रुओंके आक्रमणको सहन करनेवाले अग्निको (बृहते रायः पोषाय हवामहे) बहुतसे धनकी पुष्टिके निमित्त बुलाते हैं ॥ ७६ ॥

पृतनासु जेतारं सासहिं अग्निं बृहते रायः पोषाय हवामहे— युद्धोंमें विजय प्राप्त करनेवाले, शत्रुके हमलेको सहन कर सकनेवाले, अग्रणीको बडे धन प्राप्त करनेके लिये बुलाते हैं ॥ ७६ ॥

[५०७] हे (अग्ने) अग्नि ! (याः सेनाः अभीत्वरीः उत आव्याधिनीः उगणाः) जो शत्रुकी सेना हमारे सम्मुख आनेवाली और सब ओरसे शस्त्रप्रहार करनेवाली हथियारोंसे विरोध करनेके लिये उद्यत हुई है, (ये स्तेनाः च ये तस्कराः तान्) जो चोर हैं और जो डाकू हैं (तान् ते आस्ये अपिदधामि) उन सबोंको तुम्हारे प्रज्वलित मुखमें डालता हूं ॥ ७७ ॥

दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ२ उत ।
हनुभ्याꣳ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥ ७८ ॥

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने । ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः । निन्द्याद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥८०॥

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम् । सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥ ८१ ॥

उदेषां बाहू अतिरमुद्वर्चो अथो बलम् । क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वाँ२ अहम् ॥ ८२ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र-प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ८३ ॥

[अ० ११, कं० ८३, मं० सं० ११२]

इत्येकादशोऽध्यायः ।

---

[५०८] हे (भगवः) परमऐश्वर्य सम्पन्न अग्नि ! (त्वं मलिम्लून् दंष्ट्राभ्यां) तू मलिन कर्म करनेवाले दुष्टोंको दाढोंसे, (तस्करान् जम्भ्यै) दस्युओंको आगेके दांतोंसे, (उत स्तेनान् हनुभ्यां) और चोरोंको ठोडीसे पीडित कर, तथा (तान् सुखादितान् खाद) उन सबोंको जो अच्छे प्रकार नष्ट करने योग्य है उनको जीवरहित कर अर्थात् भक्षण कर ॥ ७८ ॥

[५०९] हे अग्ने ! (ये जनेषु मलिम्लव, स्तेनासः) जो मनुष्योंमें मलिन आचारवाले और चोर हैं, जो (वनेः तस्कराः) वनप्रदेशमें गमन करनेवाले तस्कर नामसे प्रसिद्ध हैं और (ये कक्षेषु अघायवः) गहन स्थानोंमें मनुष्योंके प्राण हरनेवाले हैं (तान् ते जम्भयोः दधामि) उन सबोंको तुम्हारे डाढोंके अन्दर खानेके लिये रखता हूं।।७९।।

[५१०] हे अग्ने ! (यः जनः अस्मभ्यं अरातीयात्) जो मनुष्य हमारे लिये शत्रुता करे, (च यः नः द्वेषते) और जो पुरुष हमसे द्वेष करे, (यः निन्दात्) जो हमारी निन्दा करे, (च अस्मान् धिप्सात्) तथा जो हमको भय दिखावे (तं सर्वं भस्मसा कुरु) उन सबको भस्म कर दो ॥ ८० ॥

[५११] (यस्य अहं पुरोहितः अस्मि) जिस यजमानका में पुरोहित हूं उसका और (मे) मेरा (संशितं ब्रह्म) प्रशंसाके योग्य वेदका विज्ञान, (संशितं वीर्यं बलम्) प्रशंसाके योग्य वीर्य बल और (संशितं जिष्णु क्षत्रं) प्रशंसाके योग्य विजयशील क्षत्रियत्व प्रबल होवे ॥ ८१ ॥

[५१२] हे अग्ने ! में (एषां बाहू उत् अतिरं) इन दुष्ट पुरुषोंके बाहूके बल पराक्रमसे अधिक श्रेष्ठ पराक्रमी बनूं । (अथो वर्चः बलं उत् अतिरं) और उनके तेज और शक्तिसे भी अति श्रेष्ठ बनूं क्योंकि (ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणोमि) ज्ञानके बलसे में शत्रुओंका नाश करता हूं और (अहं स्वान् उत् नयामि) में अपने लोकोंको ऊपर उठाता हूं ॥ ८२ ॥

[५१३] हे (अन्नपते) अन्नके पालक अग्ने ! तू (नः अनमीवस्य शुष्मिणः अन्नस्य देहि) हमें रोगरहित, बलकारी अन्नको प्रदान कर । और (दातारं प्रप्रतारिष) दानशील पुरुषको सुरक्षित रख । (नः द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं धेहि) हमारे मनुष्य पुत्रादि और गौ आदि पशुओंके लिये बलकारी अन्न प्रदान कर ॥ ८३ ॥

॥ ग्यारहवा अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ १ ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकᳬ समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाः ॥ २ ॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥ ३ ॥

---

[५१४] (दृशानः द्यौः अग्निः उर्व्या व्यद्यौत्) दीखानेवाला, और प्रकाशस्वरूप अग्नि इस भूमिमें, सबको विविध प्रकारसे प्रकाशित करता है, वैसे जो (श्रिये रुचानः रुक्मः अभवत्) सौभाग्यकी रुची उत्पन्न करता है, तथा सुशोभित होता रहता है, और जो (सुरेताः अमृतः दुर्मर्षं आयुः अजनयत्) उत्तम वीर्ययुक्त, नाशरहित, दुःखको दूर करनेवाले, आयुको प्रकट करता है, तथा जो (वयोभिः एनं) शक्तियोंके साथ इस विद्वान्‌को प्रसिद्ध करता है, उसका तुम निरन्तर स्तुति करो ॥ १ ॥

दृशानः द्यौः अग्निः उर्व्या व्यद्यौत्— सब पदार्थोंको दिखानेवाला तेजस्वी अग्नि इस भूमिपर प्रकाशता है। और इसके प्रकाशसे सब पदार्थोंका दर्शन होता है ।

श्रिये रुचानः रुक्मः अभवत्— ऐश्वर्यकी रुची उत्पन्न करके स्वयं तेजस्वी होता है, । शोभाकी रुची उत्पन्न करके स्वयं तेजस्वी बनना चाहिये ।

सुरेताः अमृतः दुर्मर्षं आयुः अजनयत्— उत्तम वीर्यवान् बनकर, अमर होकर, दुःखको दूर करनेमें समर्थ आयुष्यको प्राप्त करना और बढाना चाहिये ।

वयोभिः एनं – नाना शक्तियोंसे इसको संयुक्त करना चाहिये ॥ १ ॥

[५१५] (समनसा विरूपे समीची नक्तोषासा एकं शिशुं धापयेते) समान मनवाले एक दूसरेसे विरुद्ध कान्तिवाले परंतु परस्पर मिलनेवाले रातदिन एक शिशु जैसे अग्निको सायं प्रातः अग्निहोत्रसे तृप्त करते हैं। जिससे वह (द्यावाक्षामा अन्तः रुक्मः विभाति) द्युलोक और पृथ्वीके अन्दर प्रकाशित होकर विराजता है, इस (अग्निं) अग्निको (द्रविणोदाः देवाः धारयन्) हविष्यरूपी धन देनेवाले देव धारण करते हैं ॥ २ ॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करके यजमान अग्निको प्रज्वलित स्थितिमें रखते हैं, मानो यह अग्नि दिनरात्रीका पुत्र ही है। मातापिता अपने पुत्रका जैसा संरक्षण करते हैं। उस प्रकार रात्री और दिन इस अग्निका संरक्षण करते हैं ॥ २ ॥

[५१६] (वरेण्यः कविः सविता उषसः अनुविराजति) श्रेष्ठ दूरदर्शी सवितादेव उषःकालके समय अनुकूलतासे प्रकाशित होता है, और (विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते) सब रूपोंको प्रकाशित करता है, तथा (द्विपदे चतुष्पदे नाकं भद्रं व्यख्यत् प्रासावीत्) दो पगवाले और चार पगवाले प्राणियोंके हितके लिये सब दुःखोंसे रहित कल्याणकारक सुखको उत्पन्न करता और सबकी उन्नति करता है ॥ ३ ॥

उषःकालके पश्चात् सूर्यका उदय होता है और उसके प्रकाशसे सब द्विपाद और चतुष्पादोंका कल्याण होता है। अर्थात् सूर्य प्रकाशसे सबका कल्याण होता है ॥ ३ ॥

सुपर्णोऽसि गुरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । स्तोमं आत्मा छन्दाᳬंस्यङ्गानि
यजूᳬंषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ।
सुपर्णोऽसि गुरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आ रोह पृथिवीमनु वि क्रमस्व
विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आ रोहान्तरिक्षमनु वि क्रमस्व
विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आ रोह दिवमनु वि क्रमस्व
विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्द आ रोह दिशोऽनु वि क्रमस्व ॥ ५ ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ६ ॥

---

[५१७] हे अग्ने ! तुम (सुपर्णः गुरुत्मान् असि) सुन्दर पंखवाले वेगवान् गरुडके समान हो, (त्रिवृत् ते शिरः, गायत्रं ते चक्षुः) त्रिवृत् स्तोम तुम्हारा शिर और गायत्री तुम्हारा नेत्र हैं, (बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोमः आत्मा, छन्दांसि अङ्गानि, यजूंषि नाम) बृहत् और रथन्तर साम ये दो पंख, यज्ञ आत्मा, सब छन्द तुम्हारे अङ्ग और यजु तुम्हारे नाम हैं, (वामदेव्यं साम ते तनूः, यज्ञा यज्ञियं पुच्छम्, धिष्ण्याः शफाः) वामदेव्य नामक साम तुम्हारा शरीर है, यज्ञायज्ञियनामक साम तुम्हारा पुच्छ है और होतृ आदि धिष्ण्यमें स्थित तुम्हारे खुरनख स्थानीय हैं, इस प्रकार हे अग्ने ! तुम (गरुत्मान् सुपर्णः असि) वेगवान् गरुडके समान हो, अतः (दिवं गच्छ, स्वः पत) आकाशमें गमन करो और स्वर्ग लोकको प्राप्त होओ ॥ ४ ॥

यहां यज्ञको पक्षीका आलंकारिकरूप दिया है। पक्षी आकाशमें उडते हैं उस प्रकार यज्ञ पक्षी बनकर यजमानको स्वर्गमें पहुंचाता है ॥ ४ ॥

[५१८] तुम (विष्णोः सपत्नहा क्रमः असि) विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वरका शत्रुघाती कार्यक्रम हो (गायत्रः छन्द आरोह) गायत्री छन्द पर आरोहण करो (पृथिवीं अनु विक्रमस्व) और भूमिके प्रदेशमें विशेष पराक्रम करो । तुम (विष्णोः अभिमातिहा क्रमः असि) व्यापक ईश्वरके शत्रु नाशक क्रम हो (त्रैष्टुभं छन्द आरोह) त्रिष्टुभ् छन्द पर आरोहण करो । (अन्तरिक्षमनु विक्रमस्व) और अन्तरिक्षमें पराक्रम करो। तुम (विष्णोः क्रमः अरातीयतः हन्ता असि) सर्व व्यापक ईश्वरके क्रम हो, तुम शत्रुओका नाशक हो (जागतं छन्द आरोहि) जगती छन्दको आरोहण करो (दिवं अनुविक्रमस्व) द्युलोकमें पराक्रम करो ! तुम (विष्णोः क्रमः शत्रूयतः हन्ता असि) सर्व व्यापक ईश्वरका क्रम, शत्रुता करनेवालेके नाशक हो (अनुष्टुभं छन्दः आरोह) अनुष्टुभ छन्द पर आरोहण करो । हे अग्ने ! तुम (दिशः अनु विक्रमस्व) सब दिशाओंमें पराक्रम करो ॥ ५ ॥

क्रमः— आक्रमण, शत्रुपर चढाई, चढाई करनेके लिये सैन्यके साथ आक्रमण ।

सपत्नहा क्रमः — शत्रुका विनाश करनेके लिये शत्रुपर चढाई करना ।

शत्रूयतः हन्ता असि — शत्रुओंका विनाश करनेवाला तू हो ।

दिशः अनु विक्रमस्व — सब दिशाओंमें पराक्रम करो और शत्रुनाश करो ॥ ५ ॥

[५१९] (अग्निः द्यौः इव स्तनयन् क्षामा रेरिहत्) अग्नि आकाशस्थ मेघके समान गर्जना करता हुआ पृथ्वी पर शब्द करता है; (वीरुधः समञ्जन् अक्रन्दत्) वृक्षोंको व्याप्त करके प्रदीप्त होता है; और (हि सद्यः जज्ञानः इद्धः ईं व्यख्यत्) निश्चयसे शीघ्र प्रकट होकर तथा प्रदीप्त होकर सबको प्रकाशित करता है, तथा (रोदसी अन्तः भानुना आभाति) द्यावापृथ्वीके मध्यमें अपने किरणोंसे प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन । सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥ ७ ॥
अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः ।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमा कृधि पुनर्नो रयिमा कृधि ॥ ८ ॥
पुनरूर्जा नि वर्त्तस्व पुनरग्न इषाऽऽयुषा । पुनर्नः पाह्यंहसः ॥ ९ ॥
सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया । विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ १० ॥
आ त्वाऽहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ ११ ॥
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ १२ ॥

अग्नि प्रदीप्त होकर प्रकाशता है और चा.. ओर प्रकाशको फैलाता है । यज्ञमें प्रदीप्त हुआ अग्नि अपने प्रकाशसे चारों दिशाओंमें व्यापता है ॥ ६ ॥

[५२०] हे (अभ्यावर्तिन् अग्ने) सम्मुख प्रदीप्त होनेवाले अग्नि ! (आयुषा, वर्चसा, प्रजया, सन्या, मेधया रय्या पोषेण) आयु, कान्ति, सन्तान, इष्टलाभ, धारणावती बुद्धि, सुवर्णादि अलंकार, तथा पुष्टिसे (मा अभि निवर्तस्व) मेरे सन्मुख प्राप्त हो ॥ ७ ॥

इतने शुभ गुण मनुष्यको प्राप्त करने चाहिये ॥ ७ ॥

[५२१] हे (अङ्गिरः अग्ने) अङ्गिरोंके समान देदीप्यमान अग्नि ! (ते आवृतः शतं सन्तु) तेरे हमारे प्रति आगमन सकडों हों, (ते उपावृतः सहस्रं सन्तु) तुम्हारा हमारे समीप लौटना भी हजारों हों, (अथ पोषस्य पोषेण नः नष्टं पुनः कृधि) और पुष्टिकारक धनकी वृद्धिसे हमारे हाथसे गये धनको भी हमें पुनः प्राप्त कराओ । एवं (नः रयिं पुनः आ कृधि) हमारे ऐश्वर्यको फिर प्रदान करो ॥ ८ ॥

[५२२] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (ऊर्जा पुनः निवर्तस्व) शक्तिके साथ फिर आगमन करो और (इषा आयुषा पुनः) अन्न तथा आयुके साथ पुनः आओ, और आकर (पुनः अंहसः नः पाहि) फिर पापसे हमारी रक्षा करो ॥ ९ ॥

(ऊर्जा) शक्ति, (इषा आयुषा) अन्न तथा आयुष्यको प्रदान करो और (अंहसः पाहि) पापसे हमारा रक्षण करो । बल, अन्न तथा आयुष्य बढाना चाहिये और पापसे दूर रहना चाहिये । ये मानवी जीवनका ध्येय है ॥ ९ ॥

[५२३] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (रय्या सह निवर्तस्व) धनके सहित लौटो, और (विश्वप्स्न्या धारया विश्वतः परि पिन्वस्व) सबके उपभोगी जल धारासे सम्पूर्ण जगत्के ऊपर सिंचन करो ॥ १० ॥

[५२४] हे अग्ने ! (त्वा आहार्षम्) तुझको मैंने लाया है, तुम (अविचाचलिः ध्रुवः अन्तरं तिष्ठ) अचल होकर हमारे अंदर स्थिर रहो हमारी (सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु) सम्पूर्ण प्रजायें तुम्हारी इच्छा करें, (त्वत्, राष्ट्रं मा अभिभ्रशत्) तुम्हारेसे यह राष्ट्र, भ्रष्ट न हो ॥ ११ ॥

[५२५] हे (वरुण) वरुण ! अपने (उत्तमं पाशं अस्मत् उत् आश्रथाय) उत्तम पाशको हमसे निकाल कर दूर करो, (अधमं अव) नीचेके बन्धनको नीचे गिरा दो, और (मध्यमं) मध्यम प्रदेशमें स्थित अपने पाशको दूर कर दो, (अथ) अब (आदित्य) हे सूर्य ! (अनागसः तव व्रते वयं अदितये स्याम) निष्पाप होकर तुम्हारे कर्ममें वर्तमान हम दीनतारहित हों ॥ १२ ॥

हमारा जीवन निष्पाप हो और हम स्वतंत्रताकी प्राप्तीके लिये यत्न करे ॥ १२ ॥

अग्ने॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षाऽऽऽगा॑त् ।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॒न्यप्राः॑ ॥ १३ ॥

ह॒ꣳसः शु॑चि॒षद्व॑सु॒रन्तरिक्ष॒सद्धोता॑ वेदि॒षदति॑थिर्दुरोण॒सत् ।
नृ॒षद्व॑र॒सदृ॑त॒सद् व्यो॑म॒सद॒ब्जा गो॒जा ऋ॑त॒जा अ॑द्रि॒जा ऋ॒तं बृ॒हत् ॥ १४ ॥

सीद॒ त्वं मा॒तुर॒स्या उ॒पस्थे॒ विश्वा॑न्यग्ने व॒युना॑नि वि॒द्वान् ।
मैनां॒ तप॑सा॒ माऽर्चिषा॒ऽभि शो॑चीर॒न्तर॑स्याꣳ शु॒क्रज्यो॑तिर्वि भा॑हि ॥ १५ ॥

अ॒न्तर॑ग्ने रु॒चा त्वमु॒खायाः॒ सद॑ने॒ स्वे । तस्या॒स्त्वꣳ हर॑सा॒ तप॒ञ्जात॑वेदः शि॒वो भ॑व ॥ १६ ॥

शि॒वो भू॒त्वा मह्य॑मग्ने॒ अथो॑ सीद शि॒वस्त्वम् । शि॒वाः कृ॒त्वा दिशः॒ सर्वाः॒ स्वं योनि॑मि॒हास॑दः ॥ १७ ॥

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञे अ॒ग्निर॒स्मद् द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः ।
तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ अज॑स्र॒मिन्धा॑न एनं जरते स्वा॒धीः ॥ १८ ॥

---

[५२६] (बृहन् अग्निः उषसां अग्रे ऊर्ध्वः अस्थात्) महान् अग्नि उषःकालके आगे ऊंचा हुआ, अर्थात् प्रदीप्त हुआ । (तमसः निर्जगन्वान ज्योतिषा आ अगात्) अन्धकारसे निकला, और ज्योतिके साथ यहां आ गया है । वह (रुशता भानुना स्वङ्गः जातः विश्वा सद्मानि आ अप्राः) अपने किरणोंसे सुशोभित होतेही सम्पूर्ण लोकोंको स्वतेजोंसे पूर्ण करता है ।। १३ ॥

[५२७] (हंसः, शुचिषत् अन्तरिक्षसत् वसुः) सबका आत्मा, पवित्र स्थानमें रहनेवाला, अन्तरिक्षमें रहनेवाला, सबका निवास करनेवाला (वेदिसत् होता, दुरोणसत्, अतिथिः, नृषत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्) अग्निरूपसे वेदिमें रहनेवाला, देवताओंको बुलानेवाला, यज्ञगृहमें स्थित, सबका पूजनीय अतिथिरूप, मनुष्योंमें प्राण रूपसे रहनेवाला, उत्कृष्ट क्षेत्रोंमें विराजमान, यज्ञमें रहनेवाला, आकाशमें रहनेवाला ऐसे अग्नि देवकी हम प्रार्थना करते हैं । (उ अब्जा, गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, ऋतं, बृहत्) और जो जलोंमें, भूमिमें रहनेवाला, सत्य और ज्ञानसे विशेष सामर्थ्यवान्, पाषाणमें अग्निरूपसे होनेवाला, सत्य और महान् है ॥ १४ ॥

अग्नि सर्वत्र है, ऐसा अग्नि यज्ञमें प्रदीप्त किया जाता है ॥ १४ ॥

[५२८] हे (अग्ने) अग्नि देवता ! (विश्वानि वयुनानि विद्वान् त्वं अस्याः मातुः उपस्थे सीद) सम्पूर्ण कर्मोंको जाननेवाले तुम इस माताके समीप स्थित हो, (एनां तपसा मा अभिशोचीः) इसको अपनी उष्णतासे मत सन्तापित करना, और अपनी (अर्चिषा मा) ज्वालासे मत जलाना, तथा (अस्यां अन्तः शुक्रज्योतिः विभाहि) इसके मध्यमें अपने निर्मल प्रकाशसे विशेष प्रदीप्त हो जाओ ॥ १५ ॥

[५२९] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (रुचा उखायाः अन्तः स्वे सदने) अपनी दीप्तिसे इस उखाके मध्यमें अपने घरके अन्दर प्रदीप्त होकर रहो ! हे (जातवेदः) सबके जाननेवाले अग्ने ! (त्वं हरसा तपन् तस्याः शिवः भव) तुम ज्योतिसे तपते हुये उस उखाका कल्याण करनेवाला होओ ॥ १६ ॥

[५३०] हे (अग्ने) अग्नि ! (त्वं मह्यं शिवः भूत्वा) तू मेरे लिये कल्याणकारी होकर और (अथो शिवः सीद) इसके अनन्तर शान्तिसे बैठो । और (सर्वाः दिशः शिवाः कृत्वा, इह स्वं योनिं आसद) सम्पूर्ण दिशाओंको सुखकारी बना करे, इस अपने स्थानमें स्थिर होओ ॥ १७ ॥

[५३१] (जातवेदाः अग्निः प्रथमं दिवः परि जज्ञे) सबका ज्ञाता अग्नि प्रथम द्युलोकमें सूर्यरूपसे प्रकट हुआ, (द्वितीयं अस्मद् परि) दूसरे हमारे स्थानोंमें प्रादुर्भूत हुआ, (तृतीयं अजस्रं अप्सु एनं स्वाधी इन्धानः जरते) तीसरे नित्य निरन्तर जलके अन्दरमें स्थित इस अग्निको सुन्दर बुद्धिवाला यजमान प्रदीप्त करता हुआ स्तुति करता है ॥ १८ ॥

×

विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥ १९ ॥

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन् ॥ २० ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ २१ ॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा वि भात्यग्र उषसामिधानः ॥ २२ ॥

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

---

[५३२] हे (अग्ने) अग्नि ! (ते त्रेधा धाम आ विद्म) तेरे तीन प्रकारके तेजको हम जानते हैं। और (पुरुत्रा विभृता ते 'धाम' आविद्म) गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचनआग्नीध्रीयादि स्थानोंमें धारण करनेवाले तुम्हारे स्थानको भी हम जानते हैं। (यत् ते परमं गुहा नाम आविद्म) जो तुम्हारा अत्यन्त गुप्त बुद्धिमें स्थित नाम है उसको भी हम जानते हैं और (तं उत्सं आविद्म यतः आजगन्थ) उस उत्स जलरूप स्थानको भी जानते हैं, जिस जलरूप स्थानसे विद्युतरूप तुम प्राप्त हुये हो ॥ १९ ॥

[५३३] हे (अग्ने) अग्नि ! (नृमणाः समुद्रे ईधे) मनुष्योंमें मननशीलने समुद्रमें बडवानल रूपमें तुमको प्रदीप्त किया; (नृचक्षाः अप्सु अन्तः) तेजस्वी प्रजापतिने अन्तरिक्षके जलोंके भीतर तुम्हें विद्युत्‌रूपसे प्रकाशित किया, (दिवः ऊधन् तृतीये रजसि तस्थिवांसं त्वा) द्युलोकमें तीसरे सुन्दर तेजोमण्डलमें सूर्यरूपसे रहनेवाले तुझे प्रजापतिने प्रदीप्त किया, और (महिषाः अपां उपस्थे अवर्द्धन्) महान् इच्छावालोंने जलोंमें स्थित तुमको बढाया ॥ २० ॥

[५३४] (अग्निः द्यौः इव स्तनयन् क्षामा रोरिहत्) अग्नि द्युलोकमें गर्जना करता हुआ पृथ्वीको प्रकाशित करता है; (वीरुधः समञ्जन् अक्रन्दत्) वृक्षोंको अंकुरित करता हुआ सबको व्यापकर प्रदीप्त होता है; और (हि सद्यः जज्ञानः इद्धः ईं व्यख्यत्) निश्चयसे शीघ्र प्रकट हुआ अग्नि प्रदीप्त होकर सबको प्रकाशित करता है, तथा (रोदसी अन्तः भानुना आभाति) द्यावा पृथ्वीके मध्यमें अपनी किरणोंके द्वारा प्रकाशमान होता है ॥ २१ ॥

[५३५] (श्रीणां उदारः) ऐश्वर्योंका देनेवाला, (रयीणां धरुणः) धनोंका धारण करनेवाला, (मनीषाणां प्रार्पणः) मनके अभिलाषाओंको प्राप्त करानेवाला, (सोमगोपाः वसुः, सहसः सुनुः) सोमका रक्षक, सबका निवास हेतु, मन्थनसे प्रकट होनेसे पुत्ररूप, (अप्सु राजा, उषसां अग्रे इधानः विभाति) जलोंमें प्रकाशित उषःकालके पश्चात् आदित्यरूपसे प्रकाशमान अग्नि विशेषकर शोभित होता है ॥ २२ ॥

[५३६] यह अग्नि (विश्वस्य केतुः, भुवनस्य जायमानः रोदसी आ अपृणात्) समस्त जगतका ध्वज स्वरूप सब लोकोंके अन्दर प्रकट होकर द्यावा पृथ्वीको तेजसे पूर्ण करता है; तथा (परायन् वीडुं चित् अद्रिं अभिनत्) सब ओर गमन करता हुआ अति दृढ मेघको भी विदीर्ण करता है; ऐसे (अग्निं, पञ्चजनाः आ अयजन्त) अग्निके प्रीतिके लिये पंचजन संयुक्त होकर यज्ञ करते हैं ॥ २३ ॥

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि ।
इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ २४ ॥

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ २५ ॥

यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ २६ ॥

आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थ उक्थ आ भज शस्यमाने ।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः ॥ २७ ॥

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ २८ ॥

[५३७] (उशिक् पावकः अरतिः सुमेधाः अमृतः अग्निः मर्त्येषु निधायि) कान्तिमान्, शोधक, दुष्टोंपर प्रीति न करनेवाला, उत्तम बुद्धि सम्पन्न, अविनाशी स्वरूप अग्नि मनुष्योंमें स्थापित किया गया है; यह (अरुषं धूमं उदियर्ति) उपद्रव रहित धूमको ऊपर फेंकता है और (भरिभ्रत् शुक्रेण शोचिषा द्यां इनक्षन्) जगतको धारण करता हुआ निर्मल कान्तिसे द्युलोकको व्याप्त करता है ॥ २४ ॥

[५३८] जैसे (दृशानः द्यौः अग्निः उर्व्या व्यद्यौत्) दिखलानेवाला, स्वयं प्रकाश स्वरूप अग्नि अति स्थूल भूमिके साथ सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है, वैसे जो (श्रिये रुचानः रुक्मः अभवत्) सौभाग्यके लिये रुचिकर्ता, सुशोभित जन होता है, और जो (सुरेताः अमृतः दुर्मर्षं आयुः अजनयत्) उत्तम वीर्ययुक्त, नाश रहित, शत्रुओंके दुःखको निवारण करने योग्य, आयुको प्रकट करता है, तथा जो (वयोभिः एनं) शक्तियोंके साथ इसको प्रकट करता है उसको तुम सदा सेवन करो ॥ २५ ॥

[५३९] हे (भद्रशोचे) कल्याणकारी प्रकाशयुक्त ! (देव) दिव्यगुणयुक्त ! (अग्ने) अग्नि ! (अद्यः यः ते घृतवन्तं अपूपं कृण्वत्) आज जो यजमान तुझको घृतसिक्त पुरोडासको प्रदान करता है, (तं प्रतरं वस्यः प्रणय) उस यजमानको अतिश्रेष्ठ स्थानको प्राप्त कर । और हे (यविष्ठ) युवा देव ! उसे (देवभक्तं सुम्नं अभि) देवताओंके योग्य सुखको भी सब प्रकारसे प्रदान कर ॥ २६ ॥

[५४०] हे (अग्ने) अग्नि ! (तं सौश्रवेषु आभज) उस यजमानको उत्तम यज्ञकर्ममें सब प्रकारसे रखो; (उक्थे उक्थे शस्यमाने आभज) प्रत्येक प्रशंसा योग्य यज्ञादि कार्यके वर्णन करनेके अवसर पर भी उनको सन्मानका स्थान प्रदान करो। तुम्हारा उपासना करनेवाला यजमान (सूर्ये प्रियः, अग्ना प्रिया प्रिय भवाति) सूर्यका प्रिय और अग्निका भी प्रिय होता है । तुम (जातेन उद्भिनदत् जनित्वैः उत्) उत्पन्न हुये पुत्रसे वृद्धिको प्राप्त होओ और होनेवाले पौत्रादिसे भी वृद्धिको प्राप्त होओ ॥ २७ ॥

[५४१] हे (अग्ने) अग्नि ! (यजमानाः त्वां अनु) अनेक यजमान तुम्हारी सेवामें लगे हैं (द्यून् वार्य्याणि विश्वा वसु दधिरे) प्रतिदिन स्वीकार करने योग्य सब प्रकारके धनैश्वर्यको धारण करते हैं। और (त्वया सह द्रविणं इच्छमानाः) तुम्हारे साथ धनकी कामना करते हुये (उशिजः गोमन्तं व्रजं विवव्रुः) बुद्धिमान जन, गौवें जहां रहती है ऐसी गोशालाओंको प्राप्त करते हैं ॥ २८ ॥

उशिजः गोमन्तं व्रजं विवव्रुः— बुद्धिमान् लोक गौवें रहनेके स्थानको स्वीकारते हैं ।

यजमानाः त्वां अनुद्यून् वार्याणि विश्वावसु दधिरे— यजमान तुम्हारे अनुकूल रहकर प्रतिदिन स्वीकार करने योग्य धनको धारण करते हैं ॥ २८ ॥

अस्तांव्यग्निर्नराᳬं सुशेवों वैश्वानर ऋषिभिः सोमंगोपाः ।
अद्वेषे द्यावांपृथिवी हुवेम देवां धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ २९ ॥

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आऽस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ३० ॥

उदु त्वा विश्वें देवा अग्ने भरन्तु चित्तिंभिः । स नों भव शिवस्त्वᳬं सुप्रतीको विभावसुः ॥३१॥

प्रेदंग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिंᳬसीस्तन्वा प्रजाः ॥ ३२ ॥

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ३३ ॥

प्र-प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः ।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यो अतिथिः शिवो नः ॥ ३४ ॥

---

[५४२] (नरां सुशेवः वैश्वानरः सोमगोपाः अग्निः) मनुष्योंके द्वारा उत्तम सेवा करने योग्य सब मनुष्योंका हित करनेवाला और सोमरक्षक अग्नि (ऋषिभिः अस्तावि) ऋषियों द्वारा स्तुति किया गया है (अद्वेषे द्यावा पृथिवी हुवेम) द्वेष रहित भूमि और द्युलोकके अधिष्ठात्री देवताको हम बुलाते हैं, हे (देवाः) देवो ! (अस्मे सुवीरं रयिं धत्त) हमें वीरपुत्र युक्त उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करो ॥ २९ ॥

नरां सुशेवः वैश्वानरः अग्निः— मनुष्यों द्वारा उत्तम सेवा जिसकी होती है ऐसा यह अग्नि है ।

अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम— परस्पर द्वेष न करनेवाले द्यु और पृथिवी है । मनुष्य इसी प्रकार परस्पर द्वेष न करें और आनंदसे रहें ।

अस्मे सुवीरं रयिं धत्त— हमें उत्तम वीरपुत्र और धन मिले एसा करो ॥ २९ ॥

[५४३] तुम (समिधा अग्निं दुवस्यत) समिधा द्वारा अग्निकी परिचर्या करो, (घृतैः अतिथिं बोधयत) घीकी आहुतियोंसे इस अतिथिरूपी अग्निको प्रज्वलित करो । और (अस्मिन् हव्या आजुहोतन) इस प्रज्वलित अग्निमें हव्य पदार्थोंका हवन करो ॥ ३० ॥

[५४४] हे (अग्ने) अग्नि ! (त्वा विश्वे देवाः चित्तिभिः उदुभरन्तु) तुझे सब देव श्रद्धापूर्वक बढावें । (सः सुप्रतीकः विभावसुः त्वं नः शिवः भव) वह उत्तम भावयुक्त, सुन्दर, और तेजस्वी धनयुक्त तुम हमारे लिये कल्याणकारी होओ ॥ ३१ ॥

[५४५] हे (अग्ने) अग्नि ! (शिवेभिः अर्चिभिः इत् ज्योतिष्मान् त्वं प्रयाहि) कल्याणकारी ज्वालाओंके साथही तुम आगमन करो । और (बृहद्भिः भानुभिः भासन् तन्वा प्रजा मा हिंसीः) बडी किरणोंसे प्रकाशमान होकर, हमारे प्रजा पुत्रादिकोंको किसी प्रकारकी पीडा मत दो ॥ ३२ ॥

[५४६] (अग्निः द्यौः इव स्तनयन् क्षामा रेरिहत्) अग्नि द्युलोकके समान गर्जनाकरता हुआ पृथ्वीको प्रकाशित करता है; (वीरुधः समञ्जन् अक्रन्दत्) वृक्षोंको अङ्कुरित करता तथा अपनी ज्वालाओंसे सबको प्रदीप्त करता है; और (हि सद्यः जज्ञानः इद्धः ई व्यख्यत्) निश्चयसे शीघ्र प्रदीप्त होकर सबको प्रकाशित करता है, तथा (रोदसी अन्तः भानुना आभाति) द्यावा पृथ्वीके मध्यमें अपनी किरणों द्वारा प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

[५४७] (अयं अग्निः भरतस्य प्रशृण्वे) यह अग्नि यजमानके आह्वानको सुनता है और (सूर्यः न बृहद्भाः प्ररोचते) सूर्यके समान बडा दीप्तिमान होता हुआ प्रकाशित होता है, (यः पृतनासु पूरुं अभितस्थौ) जो संग्रामोंमें राक्षसोंके सन्मुख खडा होता है, वह (दैव्यः अतिथिः) दिव्य अतिथि (नः शिवः दीदाय) हमारे लिये कल्याणकारी होकर प्रकाशित हो ॥ ३४ ॥

आपो देवीः प्रति गृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳ सुरभा उ लोके ।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत् ॥ ३५ ॥

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे । गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥ ३६ ॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् । गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥ ३७ ॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने । सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरा ऽसदः ॥३८॥

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने । शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳ शिवतमः ॥ ३९ ॥

पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषाऽऽयुषा । पुनर्नः पाह्यꣳहसः ॥ ४० ॥

भरतः— आहुतियोंसे जिसका भरणपोषण होता है।

यः पृतनासु पुरः अभितस्थौ— जो युद्धोंमें राक्षसोंके सामने खडा होता है।

देव्यः अतिथिः— यह देवोंमें अतिथिरूप है।

नः शिवः वीवाय— हमारे लिये यह अग्नि कल्याण करनेवाला हो ॥ ३४ ॥

[५४८] हे (देवीः आपः) दिव्य जलो। तुम (भस्म प्रतिगृभ्णीत) भस्मको ग्रहण करो, (स्योने सुरभौ लोके उ एतत् कृणुध्वं) सुखकारक सुगन्धयुक्त स्थानमें हो इसको रखो, (सुपत्नीः जनयः तस्मै नमन्तां) उत्तम पत्नी अर्थात् स्त्रियां जैसी पतिके समीप झुकती हैं उस प्रकार तुम भी उस अग्निके पास झुको। (एनत् अप्सु बिभृत, माता इव पुत्रं) इस भस्मको जलोंमें धारण करो, माता जिस प्रकार पुत्रको धारण करती है ॥ ३५ ॥

[५४९] हे (अग्ने) अग्नि! (अप्सु तव सधिः) जलमें तुम्हारा स्थान है, (सः ओषधीः अनुरुध्यसे) वह तुम ओषधियोंको प्राप्त होते हो और (गर्भेसन् पुनः जायसे) अरणीके मध्यमें होते हुये फिर प्रकट होते हो ॥३६॥

[५५०] हे (अग्ने) अग्नि! तुम (ओषधीनां गर्भः असि) ओषधियोंके गर्भ हो, (वनस्पतीनां गर्भः) वनस्पतियोंके गर्भ हो, (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सम्पूर्ण प्राणियोंके गर्भ हो, और (अपां गर्भः असि) सम्पूर्ण जलोंके गर्भ हो ॥ ३७ ॥

अग्नि औषधियो, वनस्पतियो, सब भूतों, और सब जलोंमें रहता है ॥ ३७ ॥

[५५१] हे (अग्ने) अग्नि! (त्वम् भस्मना योनिं पृथिवीं च अपः प्रसद्य) तुम भस्मद्वारा पृथ्वीको और जलोंको प्राप्त होकर (मातृभिः संसृज्य) मातारूप जलोंसे युक्त होकर (ज्योतिष्मान् पुनः आसदः) तेजस्वी होकर पुनः यज्ञमें आते हो ॥ ३८ ॥

[५५२] हे (अग्ने) अग्ने! (शिवतमः अपः च पृथिवीं सदनं आसद्य) अति कल्याणरूप तुम जल और पृथ्वीके स्थानको प्राप्त होकर (पुनः अस्यां अन्तः शेषे) फिर इसके मध्यमें शयन करते हो (यथा मातुः उपस्थे) जैसे माताके गोदमें बालक सोता है ॥ ३९ ॥

[५५३] हे (अग्ने) अग्नि! तुम (ऊर्जा पुनः निवर्तस्व) अपने बलके सहित फिर आगमन करो और (इषा आयुषा पुनः) अन्नके साथ पुनः आओ और आकर (पुनः अंहसः नः पाहि) फिर पापसे हमारी रक्षा करो॥४०॥

सह र॒य्या नि व॑र्तस्वाग्ने॒ पिन्व॑स्व॒ धार॑या । वि॒श्वप्स्न्या॑ वि॒श्वत॒स्परि॑ ॥ ४१ ॥

बोधा॑ मे अ॒स्य वच॑सो यविष्ठ॒ मंहि॑ष्ठस्य॒ प्रभृ॑तस्य स्वधावः ।
पीय॑ति त्वो॒ अनु॑ त्वो गृणाति व॒न्दारु॑ष्टे त॒न्वं॑ वन्दे अग्ने ॥ ४२ ॥

स बो॑धि सू॒रिर्म॒घवा॑ वसु॑पते॒ वसु॑दावन् । यु॒यो॒ध्य॒स्मद् द्वेषां॑सि॒ विश्वक॑र्मणे॒ स्वाहा॑ ॥ ४३ ॥

पुन॑स्त्वाऽऽदि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ समि॑न्धतां॒ पुन॑र्ब्र॒ह्माणो॑ वसुनीथ य॒ज्ञैः ।
घृ॒तेन॒ त्वं त॒न्वं॑ वर्धयस्व स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑ ॥ ४४ ॥

अपे॑त॒ वीत॒ वि च॑ सर्प॒तातो॒ येऽत्र॒ स्थ पु॒राणा॒ ये च॒ नूत॑नाः ।
अदा॑द्य॒मोऽव॒सानं॑ पृथि॒व्या अक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै ॥ ४५ ॥

---

[५५४] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (रय्या सह निवर्तस्व) अपने ऐश्वर्यके सहित लौटो और (विश्वप्स्न्या धारया विश्वतः परि पिन्वस्व) सब संसारके उपभोगी जलधारासे सम्पूर्ण जगतके ऊपर सिंचन करो ॥ ४१ ॥

[५५५] हे (स्वधावः) धनवान् ! हे (यविष्ठ अग्ने) श्रेष्ठ तरुण अग्नि ! (मे अस्य मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य वचसः बोध) मेरे इस बडे वचनोंके अभिप्रायको जानो। (त्वः पीयति त्वः अनु गृणाति) कोई तुम्हारी निन्दा करता है और कोई तुम्हारी स्तुति करता है परन्तु मैं (वन्दारु ते तन्वं वन्दे) स्तुति करनेके स्वभाववाला तुम्हारे शरीरको प्रणाम करता हूं ॥ ४२ ॥

[५५६] हे (वसुपते) धनपते ! हे (वसुदावन्) धनके दाता अग्नि ! (सः, सूरिः मघवा, बोधि) वह तुम विद्वान और ऐश्वर्यवान् हो, अतः हमारे अभिप्रायको जानो, और जानकर (अस्मत् द्वेषांसि युयोधि) हमारे शत्रुओंको दूर करो, (विश्वकर्मणे स्वाहा) समस्त कार्यको उत्तम रीतिसे करनेवाले तुम्हारे लिये यह हमारी हवि भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४३ ॥

अस्मत् द्वेषांसि युयोधि — हमारे शत्रुओंके साथ हमारा युद्ध हो और हमारे शत्रु पराभूत होकर भाग जांय या विनष्ट हों ॥ ४३ ॥

[५५७] हे (वसुनीथ) ऐश्वर्यके प्राप्त करानेवाले अग्नि ! (आदित्याः रुद्राः वसवः त्वा पुनः समिन्धतां) आदित्य, रुद्र और वसु तुझको फिर प्रदीप्त करें। (ब्रह्माणः यज्ञैः पुनः, त्वं घृतेन तन्वं वर्धयस्व) ऋत्विग्यजमान यज्ञ करके फिर तुमको प्रज्वलित करें, और तुम भी घृतके द्वारा अपने शरीरको बढाओ, तुम्हारी वृद्धिको प्राप्त होनेमें (यजमानस्य कामाः सत्याः सन्तु) यजमानके मनोरथ सफल हों ॥ ४४ ॥

[५५८] (ये अत्र पृथिव्याः पुराणाः च ये नूतनाः पितरः स्थ) जो यहां भूमिके ऊपर पुराने और नये रक्षक हैं (ते अस्मै इमं लोकं अक्रन्) वे इसके लिये इस लोकको अनुकूल करें, (यमः अवसानं अदात्) नियामकने पृथ्वीका स्थान इस यजमानके लिये दिया है, तुम लोग (अतः अपेत वीत, अत्र विसर्पत) यहां अधर्मसे दूर रहो, और यहां इसी स्थानमें विशेषतासे प्रगति करो ॥ ४५ ॥

पितरः— रक्षा करनेवाले लोक ॥ ४५ ॥

संज्ञानमसि कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयात् ।
अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चित स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ ४६ ॥

अयꣳ सो अग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः ।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳ ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः ॥ ४७ ॥

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥ ४८ ॥

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ२ ऊचिषे धिष्ण्या ये ।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥ ४९ ॥

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः । जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः ॥ ५० ॥

इडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिं गोः शश्वत्तमꣳ हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ५१ ॥

---

[५५९] हे अग्ने ! तू (संज्ञानं असि) उत्तम ज्ञान देनेवाला है। (ते कामधरणं मयि कामधरणं भूयात्) तेरी, अपनी जो अभिलाषा है वह मेरी अभिलाषा हो। तू (अग्नेः भस्म असि) अग्निका भस्म है; और (अग्नेः पुरीषम्) अग्निका रूप है। तुम लोग (चित्तः स्थ, परिचितः, ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम्) अपने चित्तके व्यवहारमें कुशल हो, सब पदार्थोंको इकट्ठे करनेवाले बनो ॥ ४६ ॥

[५६०] (सः अयं अग्निः) वह यह अग्नि है (यस्मिन् वावशानः इन्द्रः) जिसमें इच्छा करनेवाले इन्द्रने (सुतं सहस्रियं वाजं अत्यं न सप्तिं सोमं जठरे धत्ते) अभिषव किये, सहस्रोंके योग्य अन्नके समान, उस हर्षकारक और तृप्ति करनेवाले सोमको उदरमें धारण किया; हे (जातवेदः) सबको जाननेवाले अग्नि ! वैसी (ससवान् सन् स्तूयसे) हवियोंको भक्षण करनेपर यजमानोंके द्वारा तुम्हारी स्तुती की जाती है ॥ ४७ ॥

[५६१] हे (आयजत्र अग्ने) यज्ञके योग्य अग्नि ! (ते यत् दिवि वर्चः) तुम्हारी जो द्युलोकमें ज्योति है, (यत् पृथिव्यां ओषधिषु अप्सु) जो भूमिमें ओषधियोंमें और जलोंमें तेज है, (येन उरु अन्तरिक्षं आततन्थ) जिसने विद्युतरूपसे बडे अन्तरिक्ष लोकको व्याप्त किया है, (सः त्वेषः अर्णवः नृचक्षाः भानुः) वह सब ओर गमनशील मनुष्योंके शुभाशुभ कर्मोंका द्रष्टा तुम्हारा कान्तिमान् तेज ही है ॥ ४८ ॥

[५६२] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (दिवः अर्णं अच्छ जिगासि) द्युलोकके जलको भली प्रकार प्राप्त करते हो, (ये धिष्ण्याः ऊचिषे देवान् अच्छ) जो बुद्धिके प्रेरक हैं उन प्राणरूप देवताओंके सन्मुख तुम गमन करते हो। (आ रोचने सूर्यस्य परस्तात्) दीप्तिरूप वर्तमान सूर्यके परे (याः आपः, च अवस्तात् याः उपतिष्ठन्ते) जो जल हैं, और नीचे जो जल हैं, उन सबके मध्यमें तुम विराजते हो ॥ ४९ ॥

[५६३] (पुरीष्यासः प्रावणेभिः सजोषसः अद्रुहः अग्नयः) प्रजाओंके पालन करनेमें तत्पर, समान मनोंसे युक्त, कभी द्रोह न करनेवाली अनेक अग्नियां इस (यज्ञं) यज्ञका, (अनमीवाः महीः इषः जुषन्तां) रोगरहित बहुत अन्नका सेवन करें ॥ ५० ॥

[५६४] हे (अग्ने) अग्नि ! (पुरुदं सं इडां शश्वत्तमं गोः सनिं) बहुत कर्मोंके साधक अन्नको निरन्तर देनेवाला धेनुके दानको अर्थात् दूध दही घृतादिको (हवमानाय साध) हवन करनेवाले यजमानके लिये प्राप्त करो। (नः विजावा तनयः सूनुः स्यात्) हमें प्रजावान औरस पुत्र हो। हे (अग्ने) अग्नि ! (सा ते सुमतिः अस्मे भूतु) वह तुम्हारी सुन्दर बुद्धि हमारे लिये अनुकूल हो ॥ ५१ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥५२॥
चिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद परिचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५३॥
लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् । इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५४ ॥
ता अस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः । जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ५५ ॥
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः । रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ५६ ॥
समितꣳ सं कल्पेथाꣳ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥
सं वां मनाꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् ।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥ ५८ ॥

---

[५६५] हे (अग्ने) अग्नि ! (ते अयं ऋत्वियः योनिः) तुम्हारा यह ऋतु विशेषमें सिद्ध हुआ अग्नि उत्पत्ति स्थान है, (यतः जातः आरोचथाः तं जानन् आरोह) जिस कालसे उत्पन्न हुये तुम प्रदीप्त होते हैं, उसको जानकर अपने स्थानमें आरोहण करो । (अथ नः रयिं आवर्धय) इसके पश्चात् हमारे धनको सब प्रकार बढाओ ॥५२॥

[५६६] तुम (चित् असि) ज्ञानरूप हो (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवासीद) उस देवता द्वारा प्राणोंके समान दृढतापूर्वक इस स्थानमें स्थित होओ । तुम (परिचित् असि) सब ओरसे परिचय करनेवाली हो, (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद) उस प्रसिद्ध देवता द्वारा अङ्गिराके समान दीर्घकालतक निश्चल इस स्थानमें स्थित होओ ॥ ५३ ॥

[५६७] (त्वं लोकं पृण) तुम लोकको पूर्ण करो, (छिद्रं पृण) छिद्रको पूर्ण करो, (अथो ध्रुवा सीद) और दृढ होकर स्थिर होओ । (इन्द्राग्नी बृहस्पतिः अस्मिन् योनौ त्वा आसीषदन्) इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति देवताने इस स्थानमें तुमको स्थापन किया है ॥ ५४ ॥

त्वं लोकं पृण— तू लोकको पूर्ण करो । कहीं भी अपूर्णता न रहे ऐसा करो ।

छिद्रं पृण— छिद्रको पूर्ण करो, अपने कर्तव्यमें न्यूनता रहने न दें ॥ ५४ ॥

[५६८] (दिवः पृश्नयः सूददोहसः ताः) द्युलोक सम्बन्धी अनेक प्रकारके अन्न सम्पादन करने व बलको बढानेवाले वे प्रसिद्ध जल प्रवाह (देवानां जन्मन्) देवताओंके उदयके समयमें (त्रिषु आरोचने अस्य विशः सोमं आश्रीणन्ति) तीन सवनोंके मध्यमें इस यज्ञ सम्बन्धी सोमको योग्य रीतिसे परिपूर्ण करते हैं ॥ ५५ ॥

[५६९] (विश्वाः गिरः) समस्त वेदवाणियां अर्थात् ऋक् यजुसाम अथर्वरूप स्तुतियां (समुद्र व्यचसं, रथीनां रथीतमं) समुद्रवत् विस्तीर्ण, सब रथियोंके मध्यमें महारथी और (वाजानां पतिं, सत्पतिं इन्द्रं अवीवृधन्) अन्नोंके स्वामी, निजधर्ममें रहनेवालोंके पालक इन्द्रको संवर्धित करते हैं ॥ ५६ ॥

सब स्तुतियां इन्द्रका उत्तम वर्णन करती हैं ॥ ५६ ॥

[५७०] (सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्य मानौ) समान प्रीतिवाले, कान्तिमान् और परस्पर संमिलित चित्तवाले देवताओ ! (इषं ऊर्जं अभिसंवसानौ) अन्न घृतादि रसको स्वीकार करके (समितं सङ्कल्पेथां) एक मन होकर एक संकल्प करके यज्ञका निष्पादन करो ॥ ५७ ॥

सबको मिलकर यज्ञ करना उचित है । मिलकर ही धर्मके कार्य करने चाहिये ॥ ५७ ॥

[५७१] हे दोनो अग्नियो ! (वां मनांसि समाकरम्) तुम दोनोंके मनोंको सब प्रकारसे मिलाता हूं, (व्रत सं चित्तानि सं) व्रत वा कर्मोंमें तुमको मिलाता हूं, (उ पुरीष्य अग्ने) हे यज्ञ कार्यके साधक अग्नि ! (त्वं नः अधिपा भव) तुम हमारे अधिपति हो, अतः (इषं ऊर्जं यजमानाय धेहि) अन्न और बल यजमानके लिये प्रदान करो ॥ ५८ ॥

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२ असि । शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥५९॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ६० ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा ।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु ॥ ६१ ॥

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य ।
अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ ६२ ॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं वि चृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयैनम् ॥ ६३ ॥

यस्यास्ते घोर आसञ्जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय ।
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाऽहं परि वेद विश्वतः ॥ ६४ ॥

---

[५७२] हे (अग्ने) अग्नि ! (त्वं पुरीष्य रयिमान् पुष्टिमान् असि) तुम हितकारक, धनवान और पुष्टि-कारक हो, अतः हमारे लिये (सर्वा दिशः शिवः कृत्वा) सब दिशायें कल्याणकारक करके (इह स्वं योनिं आसदः) यहां अपने स्थानमें स्थिर रहो ॥ ५९ ॥

[५७३] हे (जातवेदसौ) दोनों जातवेदस अग्नि ! (नः समनसौ सचेतसौ अरेपसौ भवतं) हमारे कार्यसिद्धिके लिये एकाग्र मनवाले, समान विचारवाले और प्रमादादि दोष शून्य हो जाइये । हमारे (यज्ञं मा हिंसिष्टं) यज्ञका विनाश मत कीजिये, (यज्ञपतिं मा) यज्ञपति अर्थात् यजमानका विनाश न होने दीजिये, (अद्य नः शिवौ भवतम्) आज हमारे लिये कल्याण स्वरूप होइये ॥ ६० ॥

[५७४] (इव माता पुत्रं स्वे योनौ अभाः) जिस प्रकार माता पुत्रको अपने गर्भस्थानमें धारण करती है, उसी प्रकार (पृथिवि उखा पुरीष्यं अग्निं) भूमिपर आनेवाली उखा प्राणियोंके हितकारी अग्निको अपने मध्यमें धारण करती है (विश्वैः देवैः ऋतुभिः संविदानः) सम्पूर्ण देवताओं और ऋतुओं द्वारा एकताको प्राप्त हुये उखाने कहा कि (विश्वकर्मा प्रजापतिः तां विमुञ्चतु) सृष्टिके निर्माता प्रजापति उखाको पाशसे विमुक्त करो ॥ ६१ ॥

[५७५] हे (निर्ऋते) दुष्टोंका दमन करनेवाली शक्ति ! तू (असुन्वन्तं अयजमानं इच्छ) सोमयाग न करनेवाले और दान धर्मसे रहित पुरुषकी इच्छा कर । (ते सा इत्या) तेरी वही इच्छा है । हे (देवि) देवी ! (तुभ्यं नमः अस्तु) तुम्हारे लिये नमस्कार हो ॥ ६२ ॥

[५७६] हे (निर्ऋते) निर्ऋते ! (तिग्मतेजः ते नमः) तीक्ष्ण तेजसे युक्त तेरा बल है । तू (एतं अयस्मयं बन्धं विचृत) इस लोहेसे बने बन्धनको दूर कर और (यमेन यम्या संविदाना एनं उत्तमे नाके अधिरोहय) अग्नि और पृथ्वीके साथ एक मतको प्राप्त होनेवाले इस यजमानको उत्कृष्ट स्वर्गलोकमें चढाओ ॥ ६३ ॥

[५७७] हे (घोरे) घोररूप निर्ऋति देवी ! (एषां बन्धानां अवसर्जनाय) इन यजमानोंके बंधनोंके नाशके लिये जिस (यस्याः ते आसन् जुहोमि) तुम्हारे मुखमें आहुतिको डालता हूं (जनः यां त्वा भूमिः इति प्रमदन्ते) साधारण मनुष्य तुमको भूमि करके कहता है, परन्तु (अहं त्वा विश्वतः निर्ऋतिं परिवेद) मैं तुमको सब प्रकार निर्ऋति देवी करके ही जानता हूं ॥ ६४ ॥

यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम् ।
तं ते वि ष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं पितुमद्धि प्रसूतः । नमो भूत्यै येदं चकार ॥ ६५ ॥

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभि चष्टे शचीभिः ।
देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥ ६६ ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६७ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

शुनꣳ सु फाला वि कृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मै ॥ ६९ ॥

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाऽभ्या ववृत्स्व ॥ ७० ॥

---

[५७८] (निर्ऋतिः देवी ते ग्रीवासु यं अविचृत्यं पाशं आबबन्ध) निर्ऋति देवीने तुम्हारी ग्रीवामें जो दृढ पाशको बांधा था । (तं ते आयुषः मध्यात् न विष्यामि) उसको तुम्हारे आयुके मध्यसे इसी समय दूर करता हूं, (अथ, प्रसूतः एनं पितुं अद्धि) पाश विमोचनके अनन्तर इस रक्षा करनेवाले अन्नको भक्षण करो, (या इदं चकार भूत्यैः नमः) जिसके प्रसादसे यह सम्पन्न हुई उस ऐश्वर्यरूप देवीके निमित्त नमस्कार हैं ॥ ६५ ॥

[५७९] (निवेशनः वसूनां संगमनः सत्यधर्मा) स्वगृहमें यजमानका स्थापक, धनोंका प्रापक, सत्य धर्मोका पालक अग्नि (शचीभिः विश्वारूपा अभिचष्टे) अपने अपने कर्मोंसे अनेक रूपोंको प्रकाश करता है । और (सविता देवः इव) सविता देवके समान प्रकाशक होकर (पथिनां समरे) शत्रुओंके साथ युद्धमें (इन्द्रः न तस्थौ) इन्द्र समान स्थित होता है ॥ ६६ ॥

[५८०] जिस प्रकार (धीराः कवयः सीराः युगा युञ्जन्ति) धीरजन और मेधावी लोग हलोंको जोडते हैं और (सुम्नया देवेषु पृथक् वितन्वते) सुखके साथ विद्वानोंको अलग अलग विस्तारयुक्त करते हैं वैसे सब लोग करें ॥ ६७ ॥

[५८१] हे कृषक लोगो ! (सीरा युनक्त युगा वि तनुध्वम्) हलोंको जोतो, जुओंको नाना प्रकारसे फैलाओ । (योनौ कृते इह बीजं वपत) खेतके तैयार हो जानेपर इसमें बीज बोओ, (च गिरा श्रुष्टिः सभराः असत्) और कृषिविद्याके अनुसार अन्नकी नाना जातियां अच्छी प्रकार हृष्टपुष्ट हों, वे (नेदीयः इत् सृण्यः नः पक्वं आ इयात्) शीघ्रही काटने योग्य अनाज हमारे लिये पक कर प्राप्त हो ॥ ६८ ॥

[५८२] (सुफालाः भूमिं शुनं विकृषन्तु) हलके नीचे लगी लोहेकी बनी उत्तम फालियें भूमिको सुखपूर्वक नाना प्रकारसे बाहें, और (कीनाशाः वाहैः शुनं अभियन्तु) किसान लोग बैलोंसे सुखपूर्वक उनके पीछे जावें । हे (शुनासीरा) वायु और आदित्य ! तुम दोनों (हविषा तोषमानौ) हविसे संतुष्ट होकर (अस्मै, ओषधीः सुपिप्पलाः कर्तन) इसके लिये ओषधियोंको उत्तम फलयुक्त करो ॥ ६९ ॥

[५८३] (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता सीता) सम्पूर्ण देवता और मरुत् गणोंसे अङ्गीकार की हुई हलकी फाली (मधुना घृतेन समज्यताम्) मधुर घृत अर्थात् अमृत जलसे सिंचित हो । हे (सीते) हलकी फाली ! (ऊर्जस्वती, पयसा पिन्वमाना) अन्नवान् तुम, पय घृतादिसे दिशाओंको पूर्ण करती हुई (पयसा अस्मान् अभ्याववृत्स्व) दुग्धादिसे हमको सब प्रकार अनुकूल होओ ॥ ७० ॥

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवंꣳ सोमपित्सरु । तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणम् ॥ ७१ ॥
कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च । इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यः ॥ ७२ ॥
वि मुच्यध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस्पारमस्य । ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥
सजूरब्दो अयवोभिः[1] सजूरुषा अरुणीभिः[2] ।
सजोषसावश्विना दꣳसोभिः[3] सजूः सूर एतशेन सजूर्वैश्वानर इडया घृतेन स्वाहा[5] ॥ ७४ ॥
या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च[7] ॥ ७५ ॥
शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः । अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ ७६ ॥
ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः । अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः[1] ॥ ७७ ॥

---

[५८४] (तत् पवीरवत् सुशेवं सोमपित्सरुः लाङ्गलं) वह फालीसे संयुक्त सुखकारक सोम निष्पादक हल (पफर्व्यं अविं पीवरीं गां च प्रस्तावत् रथवाहनं उद्वपति) अति वेगवान् छाग, मेष, स्थूल पुष्ट अङ्गवाली गौ और गमनमें समर्थ रथवाहक अश्वादिको प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

उत्तम खेतीसे रथ चलानेवाले घोडे प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७१ ॥

[५८५] हे (कामदुघे) मनोरथपूरक सीते ! (मित्राय, वरुणाय, इन्द्राय, अश्विभ्याम्, पूष्णे प्रजाभ्यः) मित्र, वरुण, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार, पूषा, प्रजाओंके भोगार्थ (च ओषधीभ्यः कामं धुक्ष्व) और ओषधियोंके लिये अपेक्षित भोगको सम्पादन करो ॥ ७२ ॥

[५८६] हे (देवयानाः) देवताओंके संतुष्टीके लिये कर्म करनेवाले ! (अघ्न्या विमुच्यध्वं) मारनेके अयोग्य गौ आदिको, जगत्की सुस्थितिके हेतुसे प्राप्त करो । तुम्हारी कृपासे हम (अस्य तमसः पारं अगन्म) इस दुःखसे पार हों और पुनः (ज्योतिः आपाम) तेजस्विताको प्राप्त करें ॥ ७३ ॥

अघ्न्याः विमुच्यध्वम् - गौओंको बंधनसे मुक्त करो ।

अ-घ्याः - गौवें अवध्य हैं, उनको मारना नहीं चाहिये ॥ ७३ ॥

[५८७] (अब्दः अयवोभिः सजूः) संवत्सर जलोंका दाता अयवमाससे प्रीतियुक्त, (उषा अरुणीभिः सजूः) प्रातःकालकी देवी उषा अरुणवर्णवाली गौवोंसे प्रीतियुक्त, (अश्विनौ दंसोभिः सजोषसौ) अश्विनीकुमार चिकित्सादि कर्मोंसे प्रीतियुक्त, (सूरः एतशेन सजूः) सूर्य घोडोंसे प्रीतियुक्त और (वैश्वानरः इडया घृतेन सजूः) वैश्वानर अग्नि हविर्द्रव्यरूप अन्न एवं घृतसे प्रीतियुक्त हैं, (स्वाहा) इन देवताओंके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ७४ ॥

[५८८] (पुरा याः पूर्वाः ओषधीः देवेभ्यः त्रियुगं जाताः) सृष्टिके आदिमें जो पहले ओषधियां वसन्त, वर्षा और शरद इन तीन ऋतुओंमें उत्पन्न हुई हैं, ऐसे (बभ्रूणां शतं च सप्त धामानि अहं नु मनै) जगत्की उत्पत्ति पालनमें समर्थ सौ और सात व्रीहि गोधू आदि नामोंको मैं निश्चयसे जानता हूं ॥ ७५ ॥

[५८९] हे (अम्ब) माताके समान पुष्टिकारक ओषधियो ! (आ वः धामानि शतं) सब प्रकार तुम्हारे नाम सैंकडों हैं (उत वः रुहः सहस्रम्) और तुम्हारे अङ्कुर सहस्रों हैं, (शतक्रत्वः) सैंकडो कार्योंके साधक ओषधियों ! (यूयं म इमं अगदं कृत) तुम सब मेरे इस यजमानको निरोगी करो ॥ ७६ ॥

[५९०] हे (ओषधीः) ओषधियो ! तुम (पुष्पवतीः प्रसूवरीः अश्वाइव सजित्वरी) पुष्पोंसे युक्त, फल उत्पन्न करनेवाली, घोडोंके समान वेगसे प्रगति करनेवाली, (वीरुधः पारयिष्णवः प्रतिमोदध्वम्) अनेक प्रकारकी व्याधियोंको दूर करनेवाली तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होओ ॥ ७७ ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे । सनेयमश्वं गां वासं आत्मानं तवं पूरुष ॥ ७८ ॥
अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ७९ ॥
यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव । विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥
अश्वावतीꣳ सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् । आऽवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥८१॥
उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते । धनꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तवं पूरुष ॥ ८२ ॥
इष्कृतिर्नाम वो माताऽथो यूयꣳ स्थ निष्कृतीः । सीराः पतत्रिणीं स्थन यदामयति निष्कृथ ॥८३॥
अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः । ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः ॥८४ ॥

[५९१] हे (मातरः) जगत् निर्माण करनेवाली (देवीः) दिव्यगुणोंसे युक्त (ओषधीः) ओषधियो ! (वः इति तत् उपब्रुवे) तुमसे इस प्रकार हम प्रार्थना करते हैं, वह तुम्हें स्वीकार हो। हे (पुरुष) परमेश्वर ! (तव) तुम्हारी कृपासे मैं (अश्वं, गां, वासः, आत्मानं सनेयं) घोडे, गौ, वस्त्र और रोगरहित शरीरवाला मैं होऊं॥७८॥

[५९२] हे औषधियो ! (वः अश्वत्थे निषदनं) तुम्हारा पीपल काष्ठ निर्मित उपभृत और स्रुच पात्रमें स्थान है, और (वः पर्णे वसतिः कृतः) तुमने पलाश पत्रसे बनी हुई जुहूमें स्थान किया है। हे हविर्भूत ओषधियों ! (किल गोभाजः इत् असथ) निश्चय करके तुम गौको ही सेवा करनेवाली हो, (यत् पुरुषं सनवथ) इस कारण तुम यजमानको अन्नादिसे युक्त करो ॥ ७९ ॥

[५९३] (इव राजानः समितौ) जिस प्रकार संग्राममें शत्रु जय करनेको शना जाता है, उसी प्रकार हे (ओषधिः) ओषधियो ! तुम (यत्र समग्मत) जिस स्थानमें रोग जय करनेको जाती हो, वहां उस समय (सः रक्षोहा) वह वैद्य रोगरूपी राक्षसोंका नाशक होता है। वही (अमीवचातनः विप्रः भिषग् उच्यते) औषधि देकर रोग नाश करनेवाला ब्राह्मण वैद्य कहा जाता है ॥ ८० ॥

[५९४] (अस्मै अरिष्टतातये) इसके दुःखदायक रोगोंको छुडानेके लिये (अश्वावतीं सोमावतीं ऊर्जयन्तीं उदोजसं सर्वाः ओषधीः) घोडेके समान बल बढानेवाली, सोमयागके लिये लाभकारी, बल और पराक्रम बढानेवाली और ओजकी वृद्धि करनेहारी सम्पूर्ण ओषधियोंको (आ अवित्सि) सब प्रकारसे जानता हूं ॥ ८१ ॥

[५९५] हे (पूरुष) पुरुष ! (तव आत्मानं) तुम्हारे आत्माके प्रति (धनं सनिष्यन्तीनां ओषधीनां शुष्माः उदीरते) धन्यता देनेकी इच्छा करनेवाली ओषधियोंकी शक्ति प्रकट होती है, (इव गावः गोष्ठात्) जैसे गौवें गोष्ठसे बाहर निकलती हैं वैसी औषधियां प्राप्त होती हैं ॥ ८२ ॥

तव आत्मानं धनं सनिष्यन्तीनां ओषधीनां शुष्माः उदीरते– तेरे आत्माको धन्यता देनेवाली औषधियोंकी शक्ति बढती है। औषधियोंके योग्य उपयोगसे मनुष्यकी शक्ति बढती है ॥ ८२ ॥

[५९६] हे ओषधियो ! (निष्कृतिः नाम वः माता) 'निष्कृति' नामसे प्रसिद्ध भूमि तुम्हारी माता है, (अथो यूयं निष्कृतीः स्थ) और तुम भी निष्कृति अर्थात् व्याधि दूर करनेवाली हो, एवं (सीरा पतत्रिणीः स्थन्) क्षुधाको दूर करनेवाली अन्नके समान हो, (यत् आमयति निष्कृथ) इस कारणसे मनुष्योंमें स्थित रोगोंका विनाश करते हो ॥ ८३ ॥

यूयं निष्कृतिः स्थ— तुम औषधियां रोग दूर करनेवाली हो।
सीरा पतत्रिणी स्थन्— क्षुधाको दूर करनेवाली हो।
यत् आपयति निष्कृथ— जिससे मनुष्य रोगरहित होते हैं ॥ ८३ ॥

[५९७] (स्तेनः इव व्रजं अति अक्रमुः) चोर जिस प्रकार गौवोंके बाडेपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार (परिष्ठाः विश्वाः ओषधीः) सर्वत्र व्यापनशील ओषधियां भी रोगोंपर आक्रमण करती हैं, और (यत् किं च तन्वः रपः) जो कुछ भी शरीरका रोग होता है उसको वे दूर कर देती हैं ॥ ८४ ॥

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे । आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ ८५ ॥
यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः । ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ८६ ॥
साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना । साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥ ८७ ॥
अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत । ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥
याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥८९॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत । अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ ९० ॥
अवपतन्तीरवदन्दिव ओषधयस्परि । यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ ९१ ॥

---

[५९८] (यत् अहं इमाः ओषधीः वाजयन् हस्ते आदधे) जब मैं इन ओषधियोंको अधिक बलशाली बनाकर अपने हाथमें धारण करता हूं, उस समय (यक्ष्मस्य आत्मा पुरा नश्यति) प्रथम ही यक्ष्मा रोगका आत्मा नाशको प्राप्त होता है, (यथा जीवगृभः) जैसे बधके लिये ले जाया हुआ प्राणी वधसे पहले ही अपनेको हत मानता है ॥ ८५ ॥

[५९९] हे (ओषधीः) ओषधियो ! (यस्य अङ्गं अङ्गं परुः परुः प्रसर्पथ) जिस रोगी पुरुषके अङ्ग अङ्ग और पोरु पोरुमें तुम अच्छी तरह फैल जाती हो (ततः) तदनन्तर (मध्यमशी उग्रः इव यक्ष्मं विबाधध्वे) शत्रुके मर्मस्थलको काटनेवाले प्रचण्ड बलवान् वीरकी तरह तुम उस शरीरसे रोगोंको विनष्ट कर देती हो ॥ ८६ ॥

औषधियां शरीरमें जाकर प्रत्येक अंग विभागमें स्थित रोगको दूर कर देती है। पेटमें गई औषधियां जहां रोग हो वहां पहुंचता हैं और वहांसे रोगोंको दूर करता हैं ॥ ८६ ॥

[६००] हे (यक्ष्म) रोग ! ज्ञानपूर्वक किये प्रयोगके साथ ही तू परे भाग जा, और (वातस्य ध्राज्या साकं) वायुके गतिके साथ एवं (निहाकया साकं) रोगको निःशेष दूर करनेकी प्रक्रियाके साथ (नश्य) नष्ट हो जा ॥८७॥

[६०१] हे ओषधियो ! (वः अन्या अन्यां अवतु) तुम्हारे मध्यमें एक ओषधी दूसरीकी रक्षा करे अर्थात् एकके प्रभावसे दूसरी वृद्धि करे। (अन्या अन्यस्याः उप अवत) रक्षित हुई एक औषधि दूसरीकी रक्षा करनेको समीप आवे। (ताः सर्वाः संविदानाः मे इदं वचः प्र अवत) वे सब परस्पर सहयोग करती हुई मेरे इस वचनकी रक्षा करें ॥ ८८ ॥

औषधियां परस्पर मिलकर अनेक रोगोंको दूर करनेमें समर्थ होती है ॥ ८८ ॥

[६०२] (याः फलिनीः) जो ओषधियां फलवाली हैं, (याः अफलाः) जो फलरहित हैं, (याः अपुष्पाः) जो फूलवाली नहीं हैं (च याः पुष्पिणीः) और जो फूलवाली हैं, (ताः बृहस्पति प्रसूताः नः अंहसा मुञ्चन्तु) वे सब ओषधियां बृहस्पति अर्थात् ज्ञानी वैद्यकी प्रेरणासे हमको रोगसे छुडावें ॥ ८९ ॥

[६०३] ओषधियें (शपथ्यात् अथो वरुण्यात्) कुपथ्य या निन्दायोग्य कुकर्मसे होनेवाले कष्टसे और जलरोगोंसे (अथ यमस्य पड्वीशात्) और यमके नियम तोडनेसे होनेवाले पापसे (उत सर्वस्मात् देव किल्बिषात् मा मुञ्चन्तु) तथा सब प्रकारके देवके प्रति किये गये अपराधोंसे मुझको छुडावें ॥ ९० ॥

औषधियां सब प्रकारके रोगोंसे मनुष्यको बचाती है ॥ ९० ॥

[६०४] (दिवः परि अवपतन्तीः ओषधयः) द्युलोकसे भूमिपर आती हुई ओषधियां (अवदन्) कहती हैं कि (यं जीवं अश्नवामहै) जिस प्राणधारी जीवने हमें खाया है (सः पुरुषः न रिष्यति) वह पुरुष नहीं नष्ट होता है ॥ ९१ ॥

औषधियोंके योग्य रीतिसे सेवन करनेसे मृत्यु भी दूर किया जा सकता है। अर्थात् आयु दीर्घ की सकती है ॥ ९१ ॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः । तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शं हृदे ॥ ९२ ॥
या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु । बृहस्पतिप्रसूता अस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ ९३ ॥
याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः । सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ ९४ ॥
मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः । द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ९५ ॥
ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥ ९६ ॥
नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि । अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥९७॥
त्वां गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः । त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥९८॥
सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः । सहस्व सर्वं पाप्मानं सहमानास्योषधे ॥ ९९ ॥

[६०५] (याः ओषधीः सोमराज्ञीः) जो ओषधियें जिनमें सोमवल्ली मुख्य है और (शतविचक्षणाः) सैंकडों रोगोंके दूर करनेमें नाना प्रकारसे सहायक होती हैं (तासां त्वं उत्तमा असि) उनमेंसे, हे ओषधे ! तू सबसे अधिक उत्तम है। तू (कामाय हृदेशं अरं) यथेष्ट सुखके प्राप्त करनेके लिये और हृदयको शान्ति देनेके लिये पूर्ण सहायक है ॥ ९२ ॥

[६०६] (याः ओषधीः सोमराज्ञीः) जो ओषधियें सोमवल्लीके गुणोंके समान गुणवाली होती हैं और (पृथिवीं अनु विष्ठिताः) पृथ्वीपर नाना प्रकारसे रहती हैं, (बृहस्पतिप्रसूता) ज्ञानीके द्वारा दी हुई वे ओषधियां (अस्मै वीर्यं सन्दत्त) इस पुरुषको वीर्य प्रदान करे, अर्थात् वीर्य बढावे। जिस ओषधिका हम उपयोग करते हैं वह हमारे लिये वीर्य बढानेवाली हो ॥ ९३ ॥

[६०७] (याः उप च याः दूरं परावत) जो ओषधियां समीप हैं और जो हमसे दूर तक फैली हुई हैं, (च इदं शृण्वन्ति) तथा इस हमारे वचनको जो सुनती हैं, वे (वीरुधः सर्वाः संगत्य) नाना प्रकारसे उगनेवाली सब ओषधियां मिलकर (अस्मै वीर्यं संदत्त) इस पुरुषके लिये वीर्य बढाकर बल प्रदान करें ॥ ९४ ॥

[६०८] हे ओषधियो ! रोगचिकित्साके लिये तुम्हारी मूलकी आवश्यकता है, इसलिये (यः खनिता) जो कोई तुमको खनन करता है, वह खनन करनेके अपराधसे (मा रिषत्) हानिको मत प्राप्त हो, (यस्मै वः अहं खनामि) जिस रोगीकी चिकित्साके निमित्त तुमको में खनन करता हूं, वह रोगी भी हानिको न प्राप्त हो, (अस्माकं द्विपात् च चतुष्पाद् सर्वं अनातुरं) हमारे स्त्री, पुत्रादि द्विपाद और चौपाये गाय आदि सब ही रोग रहित हों ॥९५॥

[६०९] (ओषधयः राज्ञा सोमेन सह समवदन्त) ओषधियां अपने राजा सोमके साथ मानो संवाद करती हैं, कि हे (राजन्) राजन् सोम ! (ब्राह्मणः यस्मै कृणोति तं पारयामसि) विद्वान् ब्राह्मण जिस रोगीके निमित्त हमारे मूल, फल, पत्रसे चिकित्सा करता है उस रोगीको हम रोगरहित करती हैं ॥ ९६ ॥

[६१०] हे ओषधे ! तु (बलासस्य अर्शसः उपचितां नाशयित्री असि) बलको नाश करनेवाले कफ रोगको, बवासीर और दोषके एकत्र हो जानेसे उठनेवाले गण्डमाला आदि रोगोंको नाश करनेवाली हो। (अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोः नाशनी असि) और इस प्रकारके सैंकडों रोगोंके और पकनेवाले फोडेको भी नाश करनेवाली हो ॥ ९७ ॥

[६११] हे (ओषधे) ओषधि ! (गन्धर्वाः त्वां अखनन्) गन्धर्वोंने तुमको खोदा, (इन्द्रः त्वां) इन्द्रने तुमको खोदा, (बृहस्पतिः त्वां) बृहस्पतिने तुमको खोदा, (सोमः राजा विद्वान् त्वां यक्ष्मात् अमुच्यत) सोम राजाने तुम्हारी शक्तिको जानकर और तुमको सेवन कर यक्ष्म रोगको दूर कर आरोग्यको प्राप्त किया ॥ ९८ ॥

[६१२] हे (ओषधे) ओषधि ! तुम (सहमाना असि) रोगोंको दूर करनेवाला हो, (मे अरातीः सहस्व) मेरे शत्रुओंको दूर करो, (पृतनायतः सहस्व) संग्राम चाहनेवाले शत्रुओंको जीतो, और (सर्वं पाप्मानं सहस्व) समस्त पापाचरणको विनष्ट करो ॥ ९९ ॥

दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥ १०० ॥

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः । उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ२ अभिदासति ॥१०१॥

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट् ।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १०२॥

अभ्या वर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह । वपां ते अग्निरिषितो अरोहत् ॥ १०३ ॥

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम् । तद्देवेभ्यो भरामसि ॥ १०४ ॥

इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥ १०५ ॥

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥ १०६ ॥

---

[६१३] हे (ओषधे) ओषधि ! (ते खनिता दीर्घायुः) तुम्हारा खनन करनेवाला दीर्घ आयुवाला हो, (च यस्मै अहं त्वां खनामि) और जिस रोगीके लिये मैं तुझको खनता हूं, वह भी दीर्घ उम्रवाला हो। (अथो त्वं दीर्घायुः भूत्वा शतवल्शा विरोहतात्) और तुम भी दीर्घायु होकर सौ वर्षोंके दीर्घ आयुको प्राप्त होओ ॥ १०० ॥

[६१४] हे (ओषधे) ओषधि ! (त्वं उत्तमा असि) तुम उत्कृष्ट हो, (वृक्षाः तव उपस्तयः) वृक्ष तुम्हारे समीपमें रह कर उपकार करते हैं। (यः अस्मान् अभिदासति सः अस्माकं उपस्थितः अस्तु) जो हमसे द्वेष करता है, वह हमारा अनुयायी होकर रहे ॥ १०१ ॥

[६१५] (यः पृथिव्याः जनिता) जो प्रजापति पृथ्वीका उत्पन्न करनेवाला है, (यः सत्यधर्मा दिवं व्यानट्) जो सत्यधर्मका पालन करनेवाला द्युलोकको व्याप्त करता है, (च यः प्रथमः आपश्चन्द्राः जजान) और जो सबसे प्रथम होकर आह्लादक जलको उत्पन्न करता है, वह (मा मा हिंसीत) मुझे कभी भी दुःखी न करे, हम (कस्मै हविषा विधेम) उस प्रजापतिके निमित्त हवि प्रदान करते हैं ॥ १०२ ॥

[६१६] हे (पृथिवि) भूमि ! (यज्ञेन पयसा सह अभ्यावर्तस्व) यज्ञ और दुग्धादिके साथ सन्मुख आओ, (इषितः अग्निः ते वपां आरोहत) प्रजापतिके द्वारा प्रेरित अग्नि तुम्हारे पृष्ठरूपप्रदेशपर आरोहण करे ॥ १०३ ॥
पृथिवीपर अग्नि प्रदीप्त होकर यज्ञमें उत्तम हविर्द्रव्योंका हवन हो ॥ १०३ ॥

[६१७] हे (अग्ने) अग्नि ! (ते यत् शुक्रं) तुम्हारा जो अङ्ग शुक्लवर्ण दीप्तिमान है, (यत् चन्द्रं) जो अङ्ग आह्लाद करनेवाला है, (यत् पूतं) जो ज्योति पवित्र है (च यत् यज्ञियं) और जो यज्ञ कार्यके योग्य है (तत् देवेभ्यः भरामसि) वह देवोंके लिये समर्पण करते हैं ॥ १०४ ॥

[६१८] (ऋतस्य योनिं इषं ऊर्जं) सत्यके कारण अन्न और बलकारक घृतादिको (महिषस्य धारां इतः अहं आदम्) महान् अग्निकी आहुतिको इस प्रदेशसे मैं लेता हूं, और यह सब (मा आविशतु) मेरे पास आवे, (तनूषु गोषु आ) मेरे पुत्रादिके शरीरोंमें, मेरे धेनु आदि पशुओंमें रहे। मैं (अनिरां अमीवां सेदिं जहामि) अन्नसे रहित स्थितिको तथा रोगोंसे उत्पन्न, प्राणनाशक विपत्तिको त्याग करता हूं ॥ १०५ ॥

[६१९] हे (विभावसो, बृहद्भानो कवे अग्ने) कान्तिरूप धनवाले, महान् दीप्तिमान्, क्रान्तदर्शिन् अग्नि ! (तव श्रवः महि वयः अर्चयः भ्राजन्ते) तुम्हारे शब्द, बृहद् धूम और दीप्ति प्रकाशित होती हैं। तुम (दाशुषे शवसा, उक्थ्यं वाजं दधासि) हविके दाता यजमानके लिये बल सहित, और यज्ञके योग्य अन्नको देते हो ॥ १०६ ॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥ १०७ ॥
ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥१०८॥
इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥ १०९ ॥
इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तꣳ राधसो महः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिꣳ रयिम् ॥११०॥
ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳ सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥१११॥
आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥११२॥

---

[६२०] हे अग्ने ! तुम (पावकवर्चाः शुक्रवर्चाः अनूनवर्चाः भानुना उदियर्षि) शोधक दीप्तिवाले, निर्मल कान्तिमान् और पूर्णशक्ति सम्पन्न अपने प्रकाशसे उच्च अवस्थाको प्राप्त होते हो, तथा (विचरन् उपावसि) सब ओरसे विचरते हुये जगत्‌की रक्षा करते हो, जिस प्रकार (पुत्रः मातरा उभे रोदसी पृणक्षि) पुत्र मातापिताकी रक्षा करता है उसी प्रकार तुम मातापितारूप दोनों पृथ्वी और द्युलोकका पालन करते हो ॥ १०७ ॥

[६२१] हे (ऊर्जो नपात् जातवेदः) अन्नोंका विनाश न करनेवाले प्रज्ञावान् अग्नि ! (धीतिभिः हितः सुशस्तिभिः मन्दस्व) यज्ञकर्मोंसे सबका हित करते हुये, श्रेष्ठ स्तुतियोंसे तुम सुप्रसन्न होओ। (भूरिवर्पसः चित्रोतयः वामजाताः त्वे इषः संदधुः) अनेक रूपवाले, बहुत प्रकारके रक्षा साधनोंसे सुरक्षित और श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुये यजमानोंने तुझमें अपने हविरूप अन्नको होमा ॥ १०८ ॥

[६२२] हे (अमर्त्य अग्ने) मरणधर्मरहित अग्नि ! (जन्तुभिः इरज्यन् रायः अस्मे प्रथयस्व) मनुष्यों द्वारा प्रदीप्त होते हुये तुम अनेक प्रकारके धनोंको हमारे निकट ले आओ। (सः दर्शतस्य वपुषः विराजसि) वह तुम दर्शनीय शरीरसे विशेष प्रदीप्त होते हो, और (सानसिं क्रतुं पृणक्षि) संकल्पित यज्ञको पूर्ण करते हो ॥ १०९ ॥

[६२३] (अध्वरस्य इष्कर्तारं प्रचेतसं) यज्ञके रचनेवाले, श्रेष्ठ चित्तवाले हे अग्ने ! तुम (क्षयन्तं वामस्य महः राधसः रातिं) यज्ञस्थानमें निवास करनेवाले यजमानको श्रेष्ठ बडे धनके दानको और (सुभगां महीं इषं) श्रेष्ठ ऐश्वर्ययुक्त बडे अन्नको तथा (सानसिं रयिं दधासि) सनातन अक्षय सम्पत्तिको देते हो ॥ ११० ॥

[६२४] (ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतं श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं दैव्यं त्वा अग्निं) सत्यरूप, महान्, संसारके दर्शनीय, कर्णोंसे प्रार्थना सुनकर उसके सम्पादन करनेवाले, अति कीर्तिमान्, देवताओंके हितकारी तुझ अग्निको (सुम्नाय पुरः जनाः दधिरे) यज्ञके निमित्त सबसे प्रथम लोगोंने स्थापित किया और (मानुषा युगा गिरा) मनुष्योंके युग, जोडे अर्थात् नरनारीने वेदवाणी द्वारा तुम्हारी स्तुति की ॥ १११ ॥

[६२५] हे (सोम) सोम ! (विश्वतः विष्ण्यं ते समेतु) सब ओरसे व्यापक तेज तुमको प्राप्त हो, तुम (अप्यायस्व, वाजस्य सङ्गथे आ भव) अपने पराक्रमसे सब प्रकार बढो और यज्ञादि सत्कार्यके उपयोगी अन्नके प्राप्तिके निमित्त हमारे समीप होओ ॥ ११२ ॥

सं ते पर्यांꣳसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांꣳस्युत्तमानि धिष्व ॥११३॥
आ प्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः । भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥११४॥
आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् । अग्ने त्वाङ्कामया गिरा ॥११५॥
तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक् । अग्ने कामाय येमिरे ॥११६॥
अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य । सम्राडेको वि राजति ॥११७॥

[अ०१२, कं० ११७, मं० सं० ११९]

इति द्वादशोऽध्यायः ।

[६२६] हे (सोम) सोम ! (पयांसि अभिमातिषाह ते संयन्तु) पीने योग्य अनेक रस पापनाशक होकर तुम्हारे साथ रहें, (वाजाः सम्) बलवर्धक अनेक प्रकारके अन्न तुम प्राप्त करो । तुम (आप्यायमानः उ अमृताय) वृद्धिको प्राप्त होते हुयेही चिरस्थायी होनेके लिये समृद्धिको प्राप्त करो और (दिवि उत्तमानि श्रवांसि धिष्व) द्युलोकमें श्रेष्ठ अन्नोंको धारण करो ॥ ११३ ॥

[६२७] हे (मदिन्तम सोम) अतिशय आनन्द देनेवाले सोम ! (सप्रथस्तमः विश्वेभिः अंशुभिः आप्यायस्व) अत्यधिक विस्तृत यशों और गुणोंसे प्रसिद्ध कीर्तिमान् तुम समस्त किरणोंसे वृद्धिको प्राप्त करो, और (नः वृधे सखा आ भव) हमारी वृद्धिके निमित्त हमारा मित्र होओ ॥ ११४ ॥

[६२८] हे (अग्ने) अग्नि ! (ते वत्सः) तुम्हारा वत्स स्वरूप यजमान (त्वां कामया गिरा) तुमको स्तुति की इच्छावाली वाणीद्वारा (परमात् सधस्थात् चित् मनः आयतम्) उत्कृष्ट स्थानसे भी मनको हटाकर एकाग्र करता है ॥ ११५ ॥

[६२९] हे (अङ्गिरस्तम) अति तेजस्वी ! हे (अग्ने) अग्नि ! (पृथक् विश्वाः ताः सुक्षितयः) अनेक प्रकारकी सम्पूर्ण स्तुतियें (कामाय तुभ्यं येमिरे) अभिलाषा पूर्ण करनेवाले तुम्हारे निमित्त की जाती हैं, अर्थात् अपनी अपनी मनोकामना सिद्धिके निमित्त भिन्न भिन्न ढङ्गसे तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥ ११६ ॥

[६३०] (भूतस्य भव्यस्य कामः सम्राट् अग्निः) उत्पन्न और उत्पद्यमान यजमानोंकी कामना पूर्ण करनेवाला सम्यक् प्रकारसे विराजमान अग्नि अपने (प्रियेषु धामसु एकः विराजति) प्रिय स्थानोंमें एक मात्र रूपसे अकेला ही विराजता है ॥ ११७ ॥

॥ बारहवां अध्याय समाप्त ॥

४

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

मयि॑ गृह्णाम्यग्रे॑ अ॒ग्निꣳ रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य । मामु॑ दे॒वताः॑ सचन्ताम् ॥ १ ॥

अ॒पां पृ॒ष्ठम॑सि॒ योनि॑र॒ग्नेः स॑मु॒द्रम॒भितः॒ पिन्व॑मानम् ।
वर्ध॑मानो म॒हाँ२ आ च॒ पुष्क॑रे दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थस्व ॥ २ ॥

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॒ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः' ॥ ३ ॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत् ।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ४ ॥

---

[६३१] में यजमान (अग्ने, रायः पोषाय, सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय) सबसे पहिले धनकी वृद्धिके लिये, उत्तम पुत्रकी प्राप्तिके लिये, और उत्तम सामर्थ्यके लिये (अग्निं, मयि गृह्णामि) अग्निको अपने गृहमें स्थापन करता हूं । इसके लिये (देवताः मां सचन्ताम्) देवता मुझे सहाय्य करें ॥ १ ॥

रायस्पोषाय— धनकी वृद्धिके लिये ।

सुप्रजास्त्वाय— उत्तम संतान हो इसलिये ।

सुवीर्याय— उत्तम पराक्रम करनेका सामर्थ्य प्राप्त हो इसलिये घरमें यज्ञस्थानमें अग्नि स्थापित किया जाता है ॥ १॥

[६३२] तुम (अपां पृष्ठं) जलके ऊपर रहनेसे पत्तेके रूप हो, (अग्नेः योनिः असि) अग्निकी उत्पत्तीके कारण हो और (पिन्वमानं समुद्रं अभितः महान् पुष्करे आ) बढनेवाले समुद्रको सब ओरसे बुद्धिको प्राप्त जलमें सब प्रकार रहे हो, तथा (दिवः मात्रया वरिम्णा पथस्व) द्युलोकके प्रमाणको तथा दीर्घताको प्राप्त हो ॥ २ ॥

[६३३] (पुरस्तात् प्रथमं जज्ञानं) पूर्व दिशासे सबसे प्रथम प्रकट होता हुआ (ब्रह्म सीमतः सुरुचः विआवः सः) सबसे महान्, अपनी सीमासे सुन्दर रुचिवाले इन लोकोंको अपने प्रकाशसे प्रकट करता हुआ, वह प्रसिद्ध आदित्य (वेनः उपमाः च अस्य विष्ठाः) कान्तिमान्, समान रीतिसे रहनेवाला और इस जगत्का निवासस्थान (बुध्न्याः सतः च असतः योनिं विवः) अन्तरिक्षमें दिशाओंमें विद्यमान् मूर्त और अमूर्तके उत्पत्ति स्थानको प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

[६३४] जो (हिरण्यगर्भः, भूतस्य पतिः एकः जातः आसीत्) हिरण्यगर्भ पुरुष ब्रह्माण्डमें रहा हुआ एक प्रजापति, उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्का एक ही प्रसिद्ध स्वामी था, और जो (अग्रे समवर्त्तत) सबके उत्पत्तिके पहले भी वर्तमान था, (सः इमां पृथिवीं उत् द्यां दाधार) वही इस पृथ्वी और द्युलोकको धारण कर रहा है, हम लोग (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप प्रजापति देवकी भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

हिरण्यगर्भः भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्— हिरण्यगर्भ यह सबसे प्रथम एक ही उत्पन्न हुआ था ।

अग्रे समवर्तत— सबसे पूर्व वह हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुआ । जिससे मध्यमें तप्त सुवर्णके समान तेजस्वी मूल तत्त्व था ।

स इमां पृथिवीं उत द्यां दाधार— यही हिरण्यगर्भ इस पृथिवीको और इस द्युलोकको धारण करता है ॥ ४ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः' ॥ ५ ॥
नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु । ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः' ॥ ६ ॥
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१रनु । ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः' ॥ ७ ॥
ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु । येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः' ॥ ८ ॥
कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२ इभेन ।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः' ॥ ९ ॥

---

[६३५] (यः पूर्वः द्रप्सः पृथिवीं अनुचस्कन्द) जो प्रथम मुख्य सबका आदि जो कि द्रप्स नामसे प्रसिद्ध तत्त्व पृथ्वीको सींचता है (च द्यां अनु) और द्युलोकको सींचता है, (च इमं योनिं अनु) और इस मूलोकको सींचताः है, ऐसे (समानं योनिं सञ्चरन्तं द्रप्सं) अपने समान आश्रय स्थानको विचरण करते हुये आदित्यको (सप्त होत्रा अनु जुहोमि) सात हवन करनेवाले होम करते हैं ॥ ५ ॥

[६३६] (ये के च पृथिवीं अनु) जो कोई भी शत्रु इस पृथ्वीपर और (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्षमें तथा (ये दिवि) जो द्युलोकमें विद्यमान हैं (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः अस्तु) उन सर्पण स्वभाववाले शत्रुओंको नमस्कार हो । (सर्पेभ्यः नमः) उन सर्पण स्वभाववाले पुरुषोंके लिये नमन हो ॥ ६ ॥

सर्पः— गमनशील, अग्रे गमनशील । तीनों लोकोंमें जो गमनशील हैं उनके लिये नमस्कार हो ।

अग्रभागमें जो गमन करते हैं और दूसरोंका विनाश करते हैं, उनको दूर करना चाहिये ॥ ६ ॥

[६३७] (याः यातुधानानां इषवः) जो राक्षसोंके बाण हैं, (ये वा वनस्पतीन् अनु) जो वृक्षोंके आश्रित सर्पोंके समान रहते हैं, और (ये अवटेषु शेरते) जो गढोंमें रहनेवालोंके समान निचली श्रेणियोंमें निवास करते हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः) उन सब कुटिल स्वभावके लोगोंका दमन हो ॥ ७ ॥

[६३८] (ये वामी दिवः रोचने) जो वाममार्गी द्युलोकके प्रकाशयुक्त स्थानमें हैं (वा ये सूर्यस्य रश्मिषु) अथवा जो लोक सूर्यकी किरणोंमें निवास करते हैं, और (येषां अप्सु सदः कृतं) जिनका जलोंके अन्दर निवासस्थान है (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः) उन सब सर्पोंके निमित्त दूरसेही नमस्कार है, अर्थात् उनको हम अपने वशमें करें ॥ ८ ॥

[६३९] हे अग्ने ! तुम (अस्ता असि) शत्रुओंको हटानेवाले हो, (इव आमवान् राजा इभेन याहि) जिस प्रकार सहायवान् राजा हाथी द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओं पर आक्रमण करो, और (पृथिवीं प्रसितिं न पाजः कृणुष्व) बडे विशाल पक्षि पकडनेके निमित्त फैलाये हुये जालके समान बलका विस्तार करो, तथा (तृष्वीं प्रसितिं अनुद्रुणानः तपिष्ठैः रक्षसः विध्य) वेगवान् जाल द्वारा शत्रुओंको मारनेवाले व तपानेवाले तुम राक्षसोंको ताडन करो ॥ ९ ॥

अस्ता असि— तू शत्रुको दूर करनेमें समर्थ हो ।

आमवान् राजा इव इभेन याहि— उत्तम सहाय्यवान राजाके समान तू हाथीसे-सेनासे शत्रुओंपर आक्रमण कर ।

पृथिवीं प्रसितिं न पाजः कृणुष्व— पृथ्वीपर जाल फैलाकर जैसे पक्षियोंको पकडते हैं, उस तरह तू इस पृथ्वीपर अपनी बुद्धिसे जाल फैलाकर शत्रुओंको पकडो ।

तपिष्ठैः रक्षसः विध्य— तापदायक साधनोंसे तुम राक्षसोंको-दुष्टोंको— शासित करो ॥ ९ ॥

तव॑ भ्र॒मास॑ आशु॒या प॑त॒न्त्यनु॑स्पृश धृष॒ता शोशु॑चानः ।
तपूँ॑ष्यग्ने जु॒ह्वा पत॒ङ्गान॒सन्दि॑तो॒ वि सृ॑ज॒ विष्व॑गु॒ल्काः ॥१०॥

प्रति॒ स्पशो॒ वि सृ॑ज॒ तूर्णि॑तमो॒ भवा॑ पा॒युर्वि॒शो अ॒स्या अद॑ब्धः ।
यो नो॑ दू॒रे अ॒घशं॑सो॒ यो अन्त्य॑ग्ने॒ मा कि॑ष्टे॒ व्यथि॒रा द॑धर्षीत् ॥११॥

उद॑ग्ने तिष्ठ॒ प्रत्या त॑नुष्व॒ न्य॒मित्राँ॑२ ओषतात्तिग्महेते ।
यो नो॒ अरा॑तिं समिधान च॒क्रे नी॒चा तं ध॑क्ष्यत॒सं न शुष्क॑म् ॥१२॥

ऊ॒र्ध्वो भ॑व॒ प्रति॑ वि॒ध्याध्य॒स्मदा॒विष्कृ॑णुष्व॒ दैव्या॑न्यग्ने ।
अव॑ स्थि॒रा त॑नुहि यातु॒जूनां॑ जा॒मिमजा॑मिं॒ प्र मृ॑णीहि॒ शत्रू॑न् ।
अ॒ग्नेष्ट्वा॒ तेज॑सा सादयामि ॥१३॥

---

[६४०] हे (अग्ने) अग्नि ! (तव आशुया भ्रमासः पतन्ति) तुम्हारी शीघ्रगामी ज्वालायें पवनसे इधर उधर चलायमान होती हैं उस (धृषता शोशुचानः) घर्षण करनेवाले ज्वालाओंसे प्रकाशमान तुम (तपूंषि पतङ्गान् अनुस्पृश) तपानेवालों राक्षसोंको ज्वालाओंसे दग्ध करो और (जुह्वा आसन्दितः, विष्वक् उल्काः विसृज) हवन करनेपर तुम अखण्डित होकर, सर्वत्र ज्वालाओंको राक्षसोंके नाश करनेके लिये छोडो ॥ १० ॥

तपूंषि पतंगान् अनुस्पृश— ताप देनेवाले राक्षसोंको अपनी ज्वालाओंसे जला दो। दुःख देनेवाले शत्रुओंका नाश करना चाहिये ॥ १० ॥

[६४१] हे (अग्ने) अग्नि ! (नः दूरे यः अघशंसः) हमारा दूरदेशमें जो शत्रु है (यः अन्ति) जो निकट में वर्तमान शत्रु है (तूर्णितमः अदब्धः प्रति स्पशः विसृज) बडे वेगवान् अहिंसित तुम उसकी ओर बन्धन करनेवाले सैनिकोंको भेजो, (अस्याः विशः पायुः भव) इस हमारी प्रजाके रक्षा करनेवाले होओ। (ते किः मा आदधर्षीत्) तुम्हारा कोई भी शत्रु तुम्हें दुःख न दे सके ॥ ११ ॥

नः दूरे यः अघशंसः यः अन्ति तूर्णितमः अदब्धः प्रतिस्पशः विसृज— हमसे दूर अथवा समीप जो हमारा शत्रु है, उसपर उसका नाश जलदी करनेमें समर्थ संरक्षक सेनानायक भेजो।

अस्या विशः पायुः भव— इस प्रजाका तू संरक्षक बन ।

ते किः मा आदधर्षीत्— तुम्हारा कोई शत्रु तुम्हें कष्ट न दे ॥ ११ ॥

[६४२] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम (उत्तिष्ठ प्रत्यातनुष्व) जाग्रत होओ और ज्वालाका विस्तार करो। हे (तिग्म हेते) तीक्ष्ण आयुधवाले ! (अमित्रान् न्योषतात्) शत्रुओंको अत्यन्त भस्मीभूत करो। हे (समिधान) दीप्तिमान् ! (नः यः अरातिं चक्रे) हमारा जो शत्रु दानका प्रतिषेध करता है (तं नीचा धक्षि) उसको नीचेके स्थानमें भस्म करो (न शुष्कं अतसं) जिस प्रकार सूखे वृक्षको भस्म करते हो ॥ १२ ॥

हे तिग्महेते ! अमित्रान् न्योषतात्— हे तीक्ष्ण आयुधवाले अग्नि ! शत्रुओंको पूर्णतासे विनष्ट करो।

नः यः अरातिं चक्रे, तं नीचा धक्षि— हमारी शत्रुता जो करता है उसको नीचेके स्थानपर धकेल दो।

शुष्कं अतसं न— सूखी लकडी जैसी जल जाती है वैसे हमारे शत्रु जलकर विनष्ट हो जाय ॥ १२ ॥

[६४३] हे (अग्ने) अग्नि ! तू (ऊर्ध्वः भव) सबसे ऊंचा होकर रहो, (अस्मत् शत्रून् अधि प्रतिविध्य) हमारे शत्रुओंको ताडन करो, (दैव्यानि आविः कृणुष्व) दिव्य कर्मोंको प्रकट करो, (यातुजूनां स्थिरा अवतनुहि) राक्षसोंके सुस्थिर शस्त्रोंको निकम्मे करो, (जामिन् अजामिन् शत्रून् प्रमृणीहि) हमेशासे असंबंधित और संबंधित शत्रुओंका विनाश करो। (अग्नेः तेजसा त्वा सादयामि) अग्निके तेजसे तुमको स्थापन करता हूं ॥ १३ ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ।
इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥१४॥

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥१५॥

ध्रुवाऽसि धरुणाऽऽस्तृता विश्वकर्मणा ।
मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥१६॥

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन् । व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥१७॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥१८॥

ऊर्ध्वः भव— तू ऊंचा हो, उच्च स्थानपर विराज।

अस्मत् शत्रून् अधिप्रतिविध्य— हमारे शत्रुओंका पूर्णतासे विनाश करो।

दैव्यानि आविष्कृणुष्व - दिव्य कर्मोंको प्रकट करो।

यातुजूनां स्थिरा अवतनुहि— राक्षसोंके सुस्थिर शस्त्रोंको विनष्ट करो।

जामिन् अजामिन् शत्रून् प्रमृणीहि - संबंध रखनेवाले अथवा संबंध न रखनेवाले शत्रुओंको विनष्ट करो ॥ १३ ॥

[६४४] (अयं अग्निः दिवः कुकुत्) यह अग्नि द्युलोकके शिरके समान उन्नत है, (पृथिव्याः पतिः अपां रेतांसि जिन्वति) भूमिका पालक यह जलोंके बलोंको पुष्ट करता है, ऐसे अग्निके लिये (इन्द्रस्य ओजसा त्वा सादयामि) इन्द्रके बलसे तुमको संयुक्त करता हूं ॥ १४ ॥

[६४५] हे (अग्ने) अग्नि ! तुम जब (हव्यवाहं जिह्वां चकृषे) हवि धारण करनेवाली जिह्वारूप ज्वालाको प्रकट करते हो, तब (यज्ञस्य च रजसः नेता भुवः) यज्ञके और अन्तरिक्षके नायक होते हो। तुम ही (यत्र शिवाभिः नियुद्भिः सचसे) जहां कल्याणकारी वेगादि गुणोंके सम्बन्धको प्राप्त होते हो, वहां (दिवि स्वर्षां मूर्द्धानं दधिषे) द्युलोकमें स्थित आदित्यको धारण करते हो ॥ १५ ॥

[६४६] तुम (धरुणा विश्वकर्मणा आस्तृता ध्रुवा असि) भूमि रूपसे विश्वको धारण करनेवाली, विश्वकर्मा द्वारा विस्तार की हुई दृढ हो। (समुद्रः त्वा मा उद्वधीत्) समुद्र तुमको मत नष्ट करे, (सुपर्णः मा) सुपर्ण भी तुमको मत नष्ट करे अर्थात् वायु तुमको नष्ट न करे। तुम (अव्यथमाना पृथिवीं दृंह) स्वयं दुःखी न होकर पृथ्वीको सुदृढ करो ॥ १६ ॥

[६४७] (प्रजापतिः त्वा व्यचस्वतीं पथस्वतीं) प्रजापति तुझ अवकाशवाली और विस्तारवालीको (अपां पृष्ठे समुद्रस्य एनं सादयतु) जलोंके ऊपर और समुद्रके स्थानमें स्थापन करे, तुम भी (प्रथस्व) विस्तारको प्राप्त होओ, भूमिसे प्रकट होनेसे तुम (पृथिवी असि) पृथ्वी रूपही हो ॥ १७ ॥

[६४८] तुम (भूः भूमिः असि) सुखोंको देनेवाली भूमि हो, (विश्वधाया अदिति असि) विश्वको पुष्ट करनेवाली देवमाता हो, (विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री असि) सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंको धारण पोषण करनेवाली हो, (पृथिवीं यच्छ) भूमिको कृपा दृष्टिसे अवलोकन करो, (पृथिवीं दृंह) पृथ्वीको दृढ करो और (पृथिवीं मा हिंसीः) पृथ्वीको मत पीडा दो ॥ १८ ॥

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
अग्निष्ट्वाऽभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१९॥
काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः-परुषस्परि । एवा नो दूर्वे प्र तनु सहस्रेण शतेन च ॥२०॥
या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि । तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम् ॥२१॥
यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥२२॥
या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः । इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥२३॥
विराड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधारयत् । प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥२४॥

---

[६४९] (विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय उदानाय प्रतिष्ठायै) सब प्राण, अपान, व्यान और उदान नामक वायुसे प्रतिष्ठाके लाभके लिये (चरित्राय, अग्निः मह्या स्वस्त्या शन्तमेन छर्दिषा त्वा अभिपातु) सच्चरित्रताकी रक्षाके लिये, अग्नि बडी कल्याणकारिणी सुखसामग्री और अतिशान्त गृहादि द्वारा तुम्हारी रक्षा करे, तुम (तया देवतया ध्रुवा अङ्गिरस्वत् सीद) उस परमदेवताके अनुग्रहसे दृढ हुई अङ्गिराके समान स्थिर हो ॥ १९ ॥

[६५०] हे (दूर्वे) दूर्वे ! तुम (काण्डात् काण्डात् परुषः पुरुषः परि प्ररोहन्ती) प्रत्येक काण्डसे और प्रत्येक पर्व से सब ओर से बढ जाती है अतः तुम (एव सहस्रेण च शतेन नः आ प्रतनु) ही सहस्रों और सैकडों ऐश्वर्यों पुत्र पौत्रादिसे हमारी भी सब प्रकारसे वृद्धि करो ॥ २० ॥

[६५१] हे (देवि) दीप्यमान् ! हे (इष्टके) इष्टके ! (या शतेन प्रतनोषि) जो तुम सैकडों काण्डोंसे विस्तारको प्राप्त होती हो और (सहस्रेण विरोहसि) सहस्र अङ्कुरोंसे अनेक प्रकारसे अङ्कुरित होती हो, अतः (वयं ते हविषा विधेम) हम तुम्हारा हवि देते हैं, तुम्हारे द्वारा हमारी सन्ततिकी वृद्धि होती रहे ॥ २१ ॥

[६५२] हे (अग्ने) अग्ने ! (याः ते रुचः) जो तेरी दीप्ति (सूर्ये रश्मिभिः दिवं आतन्वन्ति) सूर्य मण्डलमें किरणों द्वारा द्युलोकको प्रकाश करती हैं, (अद्य ताभिः सर्वाभिः नः) आज उन सम्पूर्ण किरणोंसे हमें तथा (नः जनाय) हमारे पुत्र पौत्रादिकों को (रुचे कृधि) तेजस्वी करो ॥ २२ ॥

[६५३] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्राग्नी ! हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! हे (देवाः) हे देवो ! (वः याः रुचः सूर्ये) तुम्हारा जो तेज सूर्यमें है, (याः रुचः गोषु)जो दीप्तियें धेनुओंमें और जो (अश्वेषु) घोडोंमें स्थित हैं (ताभिः सर्वाभिः नः रुचं धत्त) उन सम्पूर्ण दीप्तियोंसे हमारे अंदर तेजस्विताको स्थापन करो ॥ २३ ॥

[६५४] (विराट् ज्योतिः अधारयत्) विशेष तेजस्वी विराट्ने ज्योतिको धारण किया । (स्वराट् ज्योतिः अधारयत्) स्वयं प्रकाशमान् द्युलोकने ज्योतिको धारण किया । (प्रजापतिः विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय ज्योतिष्मतीं त्वा) प्रजाके पालक प्रजापति सम्पूर्ण प्राण अपान व्यानकी ज्योतिसे युक्त तुझको (पृथिव्याः पृष्ठे सादयतु) पृथ्वीके पृष्ठपर स्थापित करे, तुम (विश्वं ज्योतिः यच्छ) सम्पूर्ण ज्योतिको प्रदान करो, (अग्निः ते अधिपतिः) अग्नि तुम्हारा अधिपति है, (तया देवतया ध्रुवा अङ्गिरस्वत् सीद) उस देवताके साथ दृढ होकर तुम अङ्गिराके समान तेजस्वी होओ ॥ २४ ॥

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥२५॥
अषाढाऽसि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः। सहस्रवीर्याऽसि सा मा जिन्व ॥२६॥
मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥२७॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२८॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥

[६५५] (मधुः च माधवः च वासन्तिकौ) चैत्र और वैसाख ये दोनों ही महिने वसन्त ऋतुके हैं। (ऋतू) ऋतुरूप दोनों इष्टकाओ ! तुम (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि) अग्निके अन्दर दृढतासे लगाये हुए हो। अग्नि चयन करनेवाले (मम ज्यैष्ठ्याय द्यावा पृथिवी कल्पन्ताम्) मुझ यजमानके उत्कर्षताके लिये यह द्यावापृथ्वी सहायता करें। (आपः ओषधयः कल्पन्तां) जल और ओषधियां हमारी सहायता करें। (सव्रताः पृथक् अग्नयः कल्पन्ताम्) समान व्रतमें स्थापित अनेक अग्नियां उत्कृष्टतासे सहायताका कार्य करें। (इमे द्यावा पृथिवी अन्तरा समनसः ये अग्नयः वासन्तिकौ ऋतू अभिकल्पमानाः देवाः इन्द्रं इव अभिसंविशन्तु) यह द्यावा पृथ्वीके मध्यमें वर्तमान एक मनवाले जो अग्नियें हैं, वे वसन्त सम्बन्धी ऋतुके सम्पादन करते हुये, इस कार्यका आश्रय करें, जिस प्रकार सब देवता इन्द्रका आश्रय करते हैं। (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतं) उस देवताके साथ अङ्गिराके समान स्थिर होकर विराजमान होओ ॥ २५ ॥

[६५६] हे इष्टके ! तुम (सहमाना अषाढा असि) स्वभावसे शत्रुओंको पराजित करनेवाली तथा शत्रुओंसे कभी भी पराजित न होनेवाली हो। तुम (अरातीः सहस्व) शत्रुओंको पराजित करो, (पृतनायतः सहस्व) संग्रामकी इच्छा करनेवाले शत्रुओंको पराजित करो। तुम (सहस्रवीर्या असि) अनन्त बलवाली हो, अतः (सा मा जिन्व) वह प्रसिद्ध तुम मुझपर प्रसन्न होओ ॥ २६ ॥

सहमाना आषाढा असि— तू शत्रुका पराजय करनेवाली, तथा शत्रुसे कभी भी परास्त न होनेवाली है।
अरातीः सहस्व— शत्रुओंका पराभव करो।
पृतनायतः सहस्व— सेनासे हमला करनेवाले शत्रुका पराभव करो।
सहस्रवीर्या असि— अनंत पराक्रम करनेवाली है ॥ २६ ॥

[६५७] (ऋतायते वाता मधु) यज्ञकी इच्छा करनेवाले यजमानके लिये वायु मधुर हों। (सिन्धवः मधु) स्यन्दमान नदियें मधुर हों। (नः ओषधीः माध्वीः सन्तु) हमारे लिये सम्पूर्ण ओषधियां मधुर रससे युक्त हों ॥ २७ ॥

[६५८] (नः पिता द्यौः मधु अस्तु) हमारे लिये पिताके समान द्युलोक मधुर हो, (पार्थिवं रजः मधुमत्) पृथ्वीकी धूलि भी हमें मधुके समान सुखप्रद हो, (नक्तं उत उषसः मधु) रात्री और प्रभात समय भी हमें मधुर हों ॥ २८ ॥

[६५९] (वनस्पतिः नः मधुमान्) वनस्पतियां हमारे लिये मधुर अर्थात् सुख बढानेवाली हों। (सूर्यः मधुमान् अस्तु) आदित्य हमें मधुररस देनेवाला हो। और (नः गावः माध्वीः भवन्तु) हमारे लिये गौवें मधुर रस प्रदान करनेवाली हों ॥ २९ ॥

३१ (यजु. सु. भाष्य)

अपां गर्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभि ताप्सीन्माऽग्निर्वैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥३०॥

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम् ।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः ॥३१॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतां नो भरीमभिः ॥३२॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥३३॥

ध्रुवाऽसि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जातवेदाः ।
स गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥३४॥

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय । सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥३५॥

---

[६६०] तुम (अपां गर्भं सीद) जलोंके गम्भीर स्थानमें स्थिर हो, (त्वा सूर्यः मा अभिताप्सीत्) तुमको वहां सूर्य मत संतप्त करे (वैश्वानरः अग्निः मा) सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी अग्नि भी तुमको मत सन्तापित करे, (आच्छिन्नपत्राः प्रजाः अनुवीक्षस्व) अखण्डित अवयववाली प्रजाका तुम निरंतर निरीक्षण करो । और (दिव्यावृष्टिः त्वा अनुसचतां) दिव्यवृष्टि तुमारी सहायता करे ॥ ३० ॥

[६६१] (अपां पतिः इष्टकानां वृषभः) जलोंके पति तुम समस्त अभीष्ट सुख साधनोंके देनेवाले हो ! तुमनेही (त्रीन् स्वर्गान् समुद्रान् समसृपत्) तीन स्वर्गोंको और समुद्रके स्थानोंको भली प्रकार प्राप्त किया है। तुम (पुरीषं वसानः तत्र गच्छ) पशुओंके साथ रहते हुये उस स्थानमें गमन करो (यत्र सुकृतस्य लोके पूर्वे परेताः) जहां पुण्यात्माओंके लोकमें पूर्व समयके परमपदको प्राप्त उत्तम पुरुष गये हैं ॥ ३१ ॥

[६६२] (मही पृथिवी च द्यौ) बडी विस्तारवाली पृथ्वी और द्युलोक (नः इमं यज्ञं मिमिक्षताम्) हमारे इस यज्ञको पूर्ण करें तथा (भरीमभिः नः पिपृताम्) भरणपोषणकारी पदार्थोंसे हम सबोंकी पालना करें ॥ ३२ ॥

[६६३] हे मनुष्यो ! (विष्णोः कर्माणि पश्यत) व्यापक ईश्वरके नाना कर्मोंको देखो (यतः व्रतानि पस्पशे) जिसके द्वारा उसने सब व्रतोंको निर्माण किया है। वह परमेश्वर (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इंद्रका योग्य मित्र है ॥ ३३ ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत— व्यापक ईश्वरके कर्मोंको देखो ।

यतः व्रतानि पस्पशे— जिसने सब व्रतोंको किया है।

इन्द्रस्य युज्यः सखा— जीवात्माका योग्य मित्र वह परमेश्वर है ॥ ३३ ॥

[६६४] हे उखे ! (धरुणा ध्रुवा असि) जगतको धारण करनेवाली तुम स्थिर हो ! (जातवेदाः प्रथमं इतः अधिजज्ञे) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाला जातवेद अग्नि पहले यहाँ तुम्हारे (एभ्यः योनिभ्यः) इन उत्पति स्थानोंसे ही प्रकट हुआ, (सः प्रजानन्) वह प्रसिद्ध अग्नि अपने अधिकारको भली प्रकार जानता हुआ (गायत्र्या त्रिष्टुभा च अनुष्टुभा देवेभ्यः हव्यं वहतु) गायत्री, त्रिष्टुभ और अनुष्टुभ छन्दोंके मंत्रोंसे दी हुई आहुतियों से देवताओंके पास हव्य को पहुंचावे ॥ ३४ ॥

[६६५] हे उखे ! (इषे राये सहसे द्युम्ने ऊर्जे अपत्याय रमस्वे) अन्न, धन, बल, यश, दुग्ध घृतादि रस और पुत्र पौत्रादि देनेके निमित्त यहां दीर्घकाल पर्यन्त आनन्दसे रहो । तुम भूमिके (सम्राट् असि) सम्राट् हो और (स्वराट् असि) स्वयं प्रकाशमान हो, (त्वा सारस्वतौ उत्सौ प्रावताम्) तुमको सरस्वती सम्बन्धी मन और वाक् पालन करें ॥ ३५ ॥

अग्ने॑ यु॒क्ष्वा हि ये तवाश्वा॑सो देव सा॒धव॑ः । अरं॒ वह॑न्ति म॒न्यवे॑ ॥३६॥

यु॒क्ष्वा हि दे॑व॒हूत॑माँ२ अश्वाँ॑२ अग्ने र॒थीरि॑व । नि होता॑ पू॒र्व्यः स॑दः ॥३७॥

स॒म्यक् स्र॑वन्ति स॒रितो॒ न धेना॑ अ॒न्तर्हृ॒दा मन॑सा पू॒यमा॑नाः ।
घृ॒तस्य॒ धारा॑ अ॒भि चा॑कशीमि हि॒र॒ण्ययो॑ वे॒त॒सो मध्ये॑ अ॒ग्नेः ॥३८॥

ऋ॒चे त्वा॑ रु॒चे त्वा॑ भा॒से त्वा॑ ज्योति॑षे त्वा॑ ।
अभू॑दि॒दं विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ वाजि॑नम॒ग्नेर्वै॑श्वान॒रस्य॑ च ॥३९॥

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान् रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान् । स॒ह॒स्र॒दा अ॑सि स॒ह॒स्रा॑य त्वा ॥४०॥

आ॒दि॒त्यं गर्भं॒ पय॑सा॒ सम॑ङ्ग्धि स॒हस्र॑स्य प्रति॒मां वि॒श्वरू॑पम् ।
परि॑ वृङ्ग्धि॒ हर॑सा॒ माऽभि म॑ꣳस्थाः श॒तायु॑षं कृणुहि ची॒यमा॑नः ॥४१॥

[६६६] हे (देव अग्ने) देदीप्यमान अग्ने ! (ये ते साधवः अश्वासः) जो तुम्हारे चतुर घोडे तुमको (अरं मन्यवे वहन्ति) शीघ्र यज्ञके लिये ले जाते हैं, उनकोही (हि आयुक्ष्व) निश्चयपूर्वक रथमें जोड दो ॥३६॥

[६६७] हे (अग्ने) अग्ने ! (देवहूतमान् अश्वान् हि रथी इव) देवताओंको बुलानेवाले घोडोंको अवश्य ही रथीके समान शीघ्र (आयुक्ष्व) रथमें जोड दो क्योंकि (पूर्व्यः होता निषदः) सबसे पहिले बुलानेवाले तुम आज इस यज्ञ कार्यमें आसन पर विराजमान होओ ॥ ३७ ॥

[६६८] (सरितः न) नदियोंके समान (अन्तः हृदा मनसा पूयमानाः धेनाः सम्यक् स्रवन्ति) अन्दर हृदय और मनसे पवित्र की हुई वाणियें भी विद्वान् पुरुषके मुखसे भली प्रकार प्रवाहित होती हैं, यह आत्मा (हिरण्ययः वेतसः) सुवर्णके समान देदीप्यमान और अति रमणीय दण्डके समान है, इससे निकली उठती ज्ञानधाराओंको भी (अग्नेः मध्ये घृतस्य धाराः) अग्निके बीचमें घृतके धाराके समान मैं (अभिचाकशीमि) देखता हूं ॥ ३८ ॥

सरितः न, हृदा मनसा पूयमानाः अन्तः धेनाः सम्यक् स्रवन्ति— नदियोंके समान, हृदय और मनसे पवित्र हुई वाणियां ठीक तरह बाहेर प्रवाहित होती हैं । हृदयसे और मनसे परि शुद्ध वाणी हि बोलनी चाहिये । हृदय और मनको जो योग्य न प्रतीत हो वह वाणी बोलनी नहीं चाहिये ॥ ३८ ॥

[६६९] (त्वा ऋचे) तुझको यथार्थ ज्ञानके लिये (त्वा रुचे) तुझको कान्तिके लिये, (त्वा भासे) तुझको विज्ञान प्राप्तिके लिये और (त्वा ज्योतिषे) तुझको तेज प्राप्त करनेके लिये प्राप्त करता हूं । तुम्हारा (इदं) यह श्रोत्र (विश्वस्य भुवनस्य च वैश्वानरस्य अग्नेः वाजिनं अभूत्) सम्पूर्ण प्राणि समूह तथा समस्त मनुष्योंके हितकारी अग्निके वचनको जाननेवाला हुआ है ॥ ३९ ॥

[६७०] हे तेजस्विन् ! तू (ज्योतिषा ज्योतिष्मान् अग्निः) कान्तिसे कान्तिमान होनेसे ' अग्नि ' है, (वर्चसा वर्चस्वान् रुक्म) तेजसे तेजस्वी होनेके कारण ' रुक्म ' अर्थात् सुवर्णके समान प्रकाशमान है । तू ही (सहस्रदाः असि) सहस्रों ऐश्वर्योंका देनेवाला है (त्वा सहस्राय) तुम्हारी उपासना सहस्रों अभीष्ट लाभके लिये करता हूं ॥४०॥

[६७१] (गर्भं सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपं आदित्यं) देवताओंका उत्पत्ति स्थान व पशुओंको भरण पोषण करनेवाला, सहस्रोंकी मूर्ति और विश्वप्रकाशक अग्निको (पयसा समङ्ग्धि) दूधसे सिंचित करो और (हरसा परिवृङ्ग्धि) प्रज्वलित तेजसे रोगोंको सब ओरसे नाश करो, (चीयमानः शतायुषं कृणुहि) वृद्धिको प्राप्त होके यजमानको शतायु करो एवं (अभिमंस्था मा) अभिमान मत करो ॥ ४१ ॥

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्ये ।
शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ॥४२॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिꣳसीरदितिं विराजम् ॥४३॥

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाꣳ रजसः परस्मात् ।
महीꣳ साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ॥४४॥

यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥४५॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आऽप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥४६॥

---

[६७२] हे (अग्ने) अग्ने ! (वातस्य जूतिं, वरुणस्य नाभिं, सरितस्य मध्ये जज्ञानम्) वायुके समान वेगवान्, वरुण देवताके नाभि स्वरूप, जलके मध्यमें उत्पन्न, (नदीनां शिशुं, हरिं, परमे व्योमन्, अद्रिबुध्नं अश्वं मा हिंसी) नदियोंके बालक, हरित्वर्ण, परम आकाशमें रहनेवाला और अपने खुरोंसे पाषाणों को भी चूर्ण करनेवाला ऐसे अश्व को अर्थात् अग्निको मत विनष्ट करो ॥ ४२ ॥

[६७३] (अजस्रं इन्दुं अरुषं, पूर्वचित्तिं, नमोभिः भुरण्यं अग्निं ईडे) क्षयरहित, ऐश्वर्यसे युक्त, रोष-शून्य, पूर्वमहर्षियोंसे चयनके योग्य और अन्नोंसे सबके पोषणकर्ता अग्निकी स्तुति करता हूं। (सः, पर्वभिः ऋतुशः कल्पमानः) वह प्रसिद्ध अग्नि अमावस्या आदि पर्वों द्वारा प्रतिऋतुमें कर्मोंको सम्पादन करता है। तुम (अदितिं विराजं गां मा हिंसीः) अखण्डित वा अदीन दुग्धदानादिसे विराजमान गौको मत मारो ॥ ४३ ॥

[६७४] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (परमे व्योमन् त्वष्टुः वरूत्रीं वरुणस्य नाभिं) उत्कृष्ट स्थानमें रहनेवाली, अनेक रूपोंको निर्माण करनेवाली, वरुण की नाभितुल्य रक्षणीय, (परस्मात् रजसः जज्ञानं) परम उच्च स्थानसे जायमान (महीं साहस्रीं अविं असुरस्य मायां मा हिंसी) बडी, सहस्रों उपकार करनेवाली, रक्षण करनेवाली प्राणियोंकी प्रज्ञा शक्ति को मत नष्ट करो ॥ ४४ ॥

[६७५] (यः अग्निः, अग्नेः शोकात् अध्यजायत) जो अग्नि अग्निकी ज्वालासे उत्पन्न हुआ, (उत दिवः पृथिव्याः परि) और द्युलोकके व पृथ्वीके ऊपर तेजरूपसे दीखता है (विश्वकर्मा येन प्रजाः जजान) विश्व उत्पन्न करनेवालेने जिससे प्रजाको उत्पन्न किया है, हे (अग्ने) अग्ने ! (ते हेडः तं परि वृणक्तु) तुम्हारा क्रोध उसको छोड दे अर्थात् उस यज्ञकर्ताके प्रति तू क्रोध न कर ॥ ४५ ॥

[६७६] वह ईश्वर (देवानां चित्रं अनीकं) देवताओंका विचित्र बल, (मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः चक्षुः) मित्र, वरुण और अग्निका नेत्र है, (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं आप्रा) द्युलोक पृथिवी और अन्तरिक्षमें वह भरकर रहा है, वही (सूर्यः जगतः च तस्थुषः आत्मा उदगात्) सूर्य तथा जंगम और स्थावरका आत्मा उदयको प्राप्त हुआ ॥ ४६ ॥

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः ।
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद ।
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४७॥

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु ।
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद ।
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४८॥

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये ।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद ।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४९॥

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।
उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद ।
उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥५०॥

---

[६७७] हे (अग्ने) अग्ने ! (मेधाय चीयमानः इमं द्विपादं पशुं मा हिंसीः) यज्ञके लिये लाये हुए इस दोपाये और चौपाये पशुको भी मत मारो । तुम (मेधं मयुं पशुं जुषस्व) पवित्र अन्न उत्पन्न करनेवाले पशु पर प्रेम करो और (तेन चिन्वानः तन्वः निषीद) उससे अपने शोभाको वृद्धि करता हुआ स्वशरीरमें हृष्टपुष्ट होकर रह । (ते शुक् मयुं ऋच्छतु) तेरा क्रोध हिंसक पशुको प्राप्त हो और (यं द्विष्मः तं ते शुक् ऋच्छतु) जिसका हम द्वेष करते हैं उसको तेरा क्रोध प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

[६७८] हे अग्ने ! (इमं कनिक्रदं वाजिनेषु वाजिनं एक शफं पशुं मा हिंसीः) इस शब्द करनेवाले वेगवालोंमें अत्यन्त वेगवान और एक खुरवाले पशुको मत पीडा देना (ते आरण्यं गौरं अनु दिशामि) तुम्हारे लिये गौरवर्णके मृग जो हानि पहुंचानेवाले हैं, उनको नष्ट कर (तेन तन्वः चिन्वानः निषीद) उससे अपनी ज्वालाओंकी वृद्धि करता हुआ यहां स्थिर रहो । (ते शुक् गौरं ऋच्छतु) तेरा सन्ताप गौर मृगको प्राप्त हो और (यं द्विष्मः तं ते शुक् ऋच्छतु) जिसले हम द्वेष करें उसको तुम्हारा सन्ताप प्राप्त हो ॥ ४८ ॥

[६७९] हे (अग्ने) अग्ने ! (परमे व्योमन् इमं साहस्रं शतधारं उत्सं सरिरस्य मध्ये व्यच्यमानम्) उत्कृष्ट स्थानमें स्थित, इस सहस्र मूल्यके योग्य, शत संख्याक क्षीरधारासे युक्त कूपसदृश दूधको देनेवाली, लोकोंके मध्यमें अनेक प्रकारसे व्यवहारको प्राप्त, (जनाय घृतं दुहानां अदितिं मा हिंसीः) समस्तजनोंके हितके लिये, घृतको और दूधको देनेवाली, अहिंसा योग्य गौको मत पीडा देना; यदि पीडा देनेकी इच्छा हो तो (आरण्यं गवयं ते अनुदिशामि) वनके गवय पशुको तुम्हारे पास देता हू । तुम (तन्वः तेन चिन्वानः निषीद) अपनी ज्वालाको वृद्धि करते हुये उसके साथ स्थित होओ । (ते शुक् गवयं ऋच्छतु) तुम्हारी ज्वाला गवयको प्राप्त हो (यं द्विष्मः तं ते शुक् ऋच्छतु) जिससे हम द्वेष करतें हैं उसको तुम्हारा क्रोध प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

[६८०] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (परमे व्योमन् त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रं वरुणस्य नाभिं) उत्कृष्ट स्थानमें स्थित, प्रजापतिकी प्रजामें सबसे प्रथम उत्पन्न, वरुणकी नाभि सदृश प्रिय, (द्विपदां चतुष्पदां पशूनां त्वचं इमं मा हिंसीः) दो पाये, चौपाये पशुओंमेंहो शरीरको ऊनसे बने कम्बल आदिसे ढकनेवाले इस ऊनके प्रदाता भेडको मत मारो (अरण्यं उष्ट्रं ते अनु दिशामि) वनके ऊंट तुमको दिखाता हूं (तेन चिन्वानः तन्वः निषीद) उससे समृद्ध होकर शरीरके सुखोंको प्राप्त करो । (ते शुक् उष्ट्रं ऋच्छतु) तेरी पीडाजनक प्रवृत्ति ऊंटको प्राप्त हो । (यं द्विष्मः तं ते शुक् ऋच्छतु) जिससे हम द्वेष करें उसको तुम्हारी ज्वाला प्राप्त हो ॥ ५० ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः ।
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद ।
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥५१॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः । रक्षा तोकमुत त्मना ॥५२॥

अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्य-
पां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि
समुद्रे त्वा सदने सादयामि सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्य-
पां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्य-
पां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि
गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि
जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि
पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥५३॥

[६८१] (अजः अग्नेः शोकात् अजनिष्ट) अजन्मा जीव अग्निरूप परमेश्वरके तेजसे ज्ञानवान तेजस्वी हो जाता है, तभी वह (अग्रे जनितारं अपश्यत्) अपनेसे भी पूर्व विद्यमान समस्त जगदुत्पादक परमेश्वरका साक्षात्कार करता है । (ते देवाः अग्रं देवतां आयन्) उसी अजन्मा आत्माके द्वारा विद्वान् जन उत्तम देवताको प्राप्त होते हैं और (तेन मेध्यासः रोहं आयन्) उसीके बलसे ज्ञानवान पुरुष उन्नतपदको प्राप्त करते हैं । (ते, आरण्यं शरभं अनुदिशामि) तुझको में जंगली शरभको दर्शाता हूं; (तेन चिन्वानिः तन्वः निषीद) उसके समान अपने रक्षा साधनोंका संग्रह करता हुआ अपने शरीरकी रक्षाके लिये स्थिर हो कर रह । (ते शुक् शरभं ऋच्छतु) तेरा शोक शरभ नामक पशुको प्राप्त हो, और (यं द्विष्मः तं ते शुक् ऋच्छतु) जिससे हम द्वेष करते हैं उसको तुम्हारी ज्वाला प्राप्त हो ॥५१॥

[६८२] हे (यविष्ठ) अतिशय तरुण अग्ने ! (त्वं गिरः शृणुधी) तुम हमारी स्तुतियोंको श्रवण करो, (दाशुषः नॄन् पाहि) हवि देनेवाले यजमानके मनुष्योंकी रक्षा करो (उत आत्मना तोकं रक्ष) अपने यजमानके अपत्यकी रक्षा करो ॥ ५२ ॥

[६८३] हे अपस्या नामक इष्टके ! (त्वा अपां एमन् सादयामि) तुमको जलोंके स्थान अर्थात् वायुमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां ओद्मन् सादयामि) तुमको ओषधियोंमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां भस्मन् सादयामि) तुमको अभ्रमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां ज्योतिषि सादयामि) तुमको विद्युत् ज्योतिमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां अयने सादयामि) तुमको भूमिमें स्थापन करता हूं, (त्वा अर्णवे सदने सादयामि) तुमको प्राणके स्थानमें स्थापन करता हूं, (त्वा समुद्रे सदने सादयामि) मनके स्थानमें स्थापन करता हूं, (त्वा सरिरे सदने सादयामि) तुमको वाणीके स्थानमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां क्षये सादयामि) तुमको चक्षुके निवासमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां सधिषि सादयामि) तुमको श्रोत्रमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां सदने सादयामि) तुमको द्युलोकमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां सधस्थे सादयामि) तुमको अन्तरिक्षमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां योनौ सादयामि) तुमको समुद्रमें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां पुरीषे सादयामि) तुमको सिकतामें स्थापन करता हूं, (त्वा अपां पाथसि सादयामि) तुमको अन्नोंमें स्थापन करता हूं, (त्वा गायत्रेण छन्दसा सादयामि) तुमको गायत्री छन्दसे स्थापन करता हूं, (त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा सादयामि) तुमको त्रिष्टुभ छन्दसे स्थापन करता हूं, (त्वा जागतेन छन्दसा सादयामि) तुमको जगति छन्दसे स्थापन करता हूं, (त्वा अनुष्टुभेन छन्दसा सादयामि) तुमको अनुष्टुभ छन्दसे स्थापन करता हूं, (त्वा पाङ्क्तेन छन्दसा सादयामि) तुमको पंक्ति छन्दसे स्थापन करता हूं ॥५३॥

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो[२] वसन्तः प्राणायनो[३] गायत्री वासन्ती[४]
गायत्र्यै गायत्रं[५] गायत्रादुपाꣳशुरुपाꣳशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं[८] वसिष्ठ ऋषिः[९]
प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः[१०] ॥५४॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा[१] तस्य मनो वैश्वकर्मणं[२] ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी[४]
त्रिष्टुभः स्वारꣳ[५] स्वारादन्तर्यामो[६] ऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद्
भरद्वाज ऋषिः[९] प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः[१०] ॥५५॥

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं[२] वर्षाश्चाक्षुष्यो[३] जगती वार्षी[४]
जगत्या ऋक्सममृक्समाच्छुक्रः[६] शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं[८] जमदग्निर्ऋषिः[९]
प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः[१०] ॥५६॥

---

[६८४] (अयं पुरः भुवः तस्य प्राणः भौवायनः) यह अग्नि सबसे प्रथम होनेवाला सत् रूपसे विद्यमान था उसकाही यह सामर्थ्य प्राण है, उससे ही उत्पन्न होनेसे ' भौवायन ' नाम वाला है, (प्राणायनः वसन्तः) प्राणका पुत्र वसन्त ऋतु है। (वासन्ती गायत्री) वसन्तकी गायत्री है। (गायत्र्यै गायत्रं) गायत्रीसे गायत्र साम उत्पन्न हुआ है, (गायत्राद् उपांशु) गायत्र सामसे उपांशु नामक प्राण उत्पन्न हुआ, (उपांशोः त्रिवृत्) उपांशुसे त्रिवृतः स्तोम उत्पन्न हुआ, (त्रिवृतः रथान्तरम्) त्रिवृत स्तोमसे रथान्तर उत्पन्न हुआ, उन सबका (ऋषिः वसिष्ठः) ऋषि वसिष्ठ हुआ। हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया त्वया प्रजाभ्यः प्राणं गृह्णामि) प्रजापतिके द्वारा ग्रहण की हुई तुम्हारी सहायतासे मैं प्रजाओंके लिये निरोग प्राणको ग्रहण करता हूं ॥ ५४ ॥

[६८५] (विश्वकर्मा अयं दक्षिणा) विश्वकर्मा नामसे प्रसिद्ध यह इष्टका दक्षिण दिशामें वहन करती है, (मनः तस्य वैश्वकर्मणं) मन उस विश्वकर्माका अपत्य है, (ग्रीष्मः मानसः) ग्रीष्मऋतु मनका अपत्य है, (त्रिष्टुप् ग्रैष्मी) त्रिष्टुप छन्द ग्रीष्मसे प्रकट है, (त्रिष्टुभः स्वारं) त्रिष्टुप् छन्दसे स्वारसाम प्रकट हुआ, (स्वारात् अन्तर्यामः) स्वरसामसे अन्तर्याम ग्रह हुआ, (अन्तर्यामात् पञ्चदशः) अन्तर्यामसे पञ्चदश स्तोम हुआ, (पञ्चदशात् बृहत्) पञ्चदशस्तोमसे बृहत्साम हुआ, (भरद्वाजः ऋषिः) भरद्वाज उसका द्रष्टा ऋषि है। हे इष्टके ! मैं (प्रजापति गृहीतया त्वया प्रजाभ्यः मनः गृह्णामि) प्रजापतिके द्वारा ग्रहण की हुई तुम्हारी सहायतासे प्रजाओंका मन ग्रहण करता हूं ॥ ५५ ॥

[६८६] (विश्वव्यचाः अयं पश्चात्) विश्वव्यचा नामसे प्रसिद्ध यह इष्टका पश्चिम दिशामें है, (चक्षुः तस्य वैश्वव्यचसम्) नेत्र उस विश्वव्यचा सूर्यसे उत्पन्न हुआ अपत्य है, (वर्षा चाक्षुस्या) वर्षाऋतु चक्षुसे प्रकट है, (जगती वार्षी) जगती छन्द वर्षाऋतुसे प्रकट है, (जगत्यै ऋक्सामं) जगति छन्दसे उत्पन्न ऋक्साम है, (ऋक्सामात् शुक्रः) ऋक्सामसे शुक्र प्रकट है, (शुक्रात् सप्तदशः) शुक्रसे सप्तदश स्तोम प्रकट हुआ है, (सप्तदशात् वैरूपम्) सप्तदश स्तोमसे वैरूप हुआ है, (जमदग्निः ऋषिः) जमदग्नि उसका द्रष्टा ऋषि है। हे इष्टके ! (प्रजापति गृहीतया त्वया प्रजाभ्यः चक्षुः गृह्णामि) प्रजापतिके द्वारा ग्रहण की हुई तुम्हारी सहायतासे प्रजाओंका चक्षु ग्रहण करता हूं ॥ ५६ ॥

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रंᳬ सौवंᳬ शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिन एकविᳬशं एकविᳬशाद्वैराजं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५७॥

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ्मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत आग्रयण आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिᳬशौ त्रिणवत्रयस्त्रिᳬशाभ्याᳬ शाक्वररैवते विश्वकर्म ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यो लोकं ता इन्द्रम् ॥५८॥

[अ० १३, कं० ५८, मं० सं० १३१]

इति त्रयोदशोऽध्यायः ।

---

[६८७] (इमं उत्तरात् स्वः) यह उत्तर दिशामें स्वर्ग है, (श्रोत्रं तस्य सौवं) श्रोत्र उस प्रजापतिका सुखका साधन है, (शरत् श्रौत्री) शरद् ऋतु श्रोत्रसे उत्पन्न है, (अनुष्टुप् शारदी) अनुष्टुप् छन्द शरद् ऋतुसे प्रकट है, (अनुष्टुभः ऐडम्) अनुष्टुप् छन्दसे एडसाम प्रकट है, (ऐडात् मन्थी) ऐडसामसे मन्थी ग्रह हुआ, (मन्थिनः एकविंशः) मन्थी ग्रहसे एकविंश नामसे प्रसिद्ध 'एकविंश स्तोम' हुआ, (एकविंशात् वैराजम्) एकविंशस्तोमसे वैराज सामकी उत्पत्ति हुई, (विश्वामित्रः ऋषिः) विश्वामित्र उसका द्रष्टा ऋषि है। हे इष्टके ! (प्रजापति गृहीतया त्वया प्रजाभ्यः श्रोत्रं गृह्णामि) प्रजापतिके द्वारा ग्रहण की हुई तुम्हारी सहायतासे प्रजाओंके निमित्त श्रोत्रको ग्रहण करता हूं ॥ ५७ ॥

[६८८] (उपरि इयं मतिः) सबके ऊपर विराजमान यह मति है, (तस्यै मत्या वाक्) उसी मतिसे वाणी पैदा हुई है, (हेमन्तः वाच्या) हेमन्त ऋतु वाणीसे प्रकट है, (पंक्तिः हैमन्ती) पंक्ति छन्द हेमन्त ऋतुसे प्रकट है, (निधनवत् पंक्त्यै) निधनवत् साम पंक्ति छन्दसे प्रकट है, (निधनवतः आग्रयणः) निधनवत्सामसे आग्रयण ग्रह प्रकट हुआ है, (आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) आग्रयणग्रहसे त्रिणव और त्रयस्त्रिंश दो सामके स्तोम हुये हैं, (त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम् शाक्वररैवते) त्रिणव और त्रयस्त्रिंशनामक स्तोत्रोंसे शाक्वर व रैवत दो पृष्ठ प्रकट हुये हैं, (विश्वकर्मा ऋषिः) विश्वकर्मा द्रष्टा ऋषि हैं, हे इष्टके ! (प्रजापति गृहीतया त्वया प्रजाभ्यः वाचं गृह्णामि) प्रजापतिके द्वारा ग्रहण की हुई तुझ इष्टिका की सहायतासे प्रजाओंके निमित्त निरोगिता प्राप्तिके लिये वाणीको ग्रहण करता हूं। हे सम्पूर्ण इष्टकाओ ! (लोकम्) लोकको पूर्ण करो, तुम्हारे लिये (ताः) वे सारी जनता (इन्द्रम्) इन्द्रको आव्हान करती हैं ॥ ५८ ॥

॥ तेरहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवाऽसि ध्रुवं योनिमा सीद साधुया ।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाऽश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ १ ॥
कुलायिनी घृतवती पुरंन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः ।
अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ २ ॥
स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानांꣳ सुम्ने बृहते रणाय ।
पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा सं विशस्वाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

---

[६८९] तुम (ध्रुवक्षितिः ध्रुवयोनिः ध्रुवा असि) स्थिर निवासवाली, स्थिर कारणवाली और स्थिर स्वरूप वाली हो, तुम (उख्यस्य प्रथमं केतुं जुषाणा ध्रुवा असि) अग्निके प्रथम पताकाके रूपका धारण करती हुई दृढ हो, और (ध्रुवं साधुया योनिं आसीद) स्थिर, उत्तम स्थानको प्राप्त हो, (देवानां अध्वर्यू इह त्वा सादयताम्) देवताओंके अध्वर्यु अश्विनी कुमार इस स्थलमें तुमको अच्छी प्रकार स्थिर करें ॥ १ ॥

[६९०] तू (कुलायिनी, घृतवती, पुरन्धिः) गृहवाली, घृतसे युक्त और पुरको धारण करनेवाली है; तू (पृथिव्याः स्योने सदने सीद) पृथ्वीके सुखदायक स्थानमें रहो; (रुद्राः वसवः त्वा अभिगृणन्तु) रुद्रगण और वसु गण तुम्हारी स्तुति करें, (इमाः ब्रह्म सौभगाय पीपिहि) इन मन्त्रोंकी तुम ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये रक्षा करो, (अश्विनौ अध्वर्यू इह त्वा सादयताम्) दोनों अश्विनीकुमार अध्वर्यु रूपमें इस स्थानमें तुमको स्थापित करें ॥ २ ॥

कुलायिनी, घृतवती, पुरंधिः पृथिव्याः स्योने सदने सीद— अपना घर जिसका है, जिसके घरमें घी रहता है, नगरका धारण करनेवाली ऐसी स्त्री इस पृथ्वी पर उत्तम घरमें रहे ।

स्त्री अपने उत्तम घरमें रहे । (कुलायिनी) अपना घर जिसका है । (घृतवती) अपने घरमें दूध देनेवाली गौवें हों, और उनके दूधसे घी निकाल कर घरमें सबको भोजनके समय परोसनेके लिये रखा हो ।

इमाः ब्रह्म सौभगत्वाय पिपीहि— इन मंत्रोंका रक्षण तुम ऐश्वर्यकी समृद्धिके लिये करो । वेदमंत्रोंके सुयोग्य अर्थ-ज्ञानसे घरमें उत्तम सौभाग्य प्राप्त होता है ।

अश्विनौ अध्वर्यू इह त्वा सादयन्ताम्— अश्विनौ ये दोनों वैद्य यज्ञके अध्वर्यू होकर यहां तुझे सहाय्यता करें । अध्वर्यू वे होते हैं जो अहिंसासे सब कार्य उत्तम रीतिसे करते हैं । यहां अश्विनौ ये वैद्य अध्वर्यु हैं । यज्ञकार्य निर्विघ्नतासे समाप्त करना इनका कर्तव्य है ॥ २ ॥

[६९१] जैसे राजा (स्वैः दक्षैः देवानां बृहते रणाय सुम्ने दक्षपिता इह एधि) अपने बलों और दिव्य शक्तिवालोंके साथ वर्तता हुआ देवताओंके रमणीय बडे सुखके लिये बलों वा चतुर सैनिकोंका पालन करनेवाला होकर विजय प्राप्त करके बढता है, वैसे इस चितिके स्थानमें तू भी बढती रह, और (सुम्ने आसीद) सुखमें स्थिर होकर बैठ । (सूनवे पिता इव सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्व) जिस प्रकार पिता पुत्रके लिये सुखदायक होता है, वैसे तू भी सुखकारिणी, सुखप्रवेशवाले शरीरके साथ यहाँ निवास कर । (अध्वर्यू अश्विना इह त्वा सादयताम्) अध्वर्यु अश्विनी कुमार इस स्थानमें तुमको स्थापन करें ॥ ३ ॥

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः ।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा ऽऽ यजस्वाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ४ ॥
अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम् ।
ऊर्मिर्द्रप्सो अपामसि विश्वकर्मा त ऋषिरश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ५ ॥
शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप
ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
ग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥६॥

राजा दक्ष सैनिकोंके साथ सुखसे रहे और बढे । ऐसेहि पिता पुत्रोंके साथ रहे और बढे ।

स्वैः दक्षैः देवानां बृहते रणाय सुम्ने दक्षपिता इह एधि सुम्ने आसीद— अपने उत्तम शक्तिवाले सैनिकोंके साथ रहकर उत्तम रमणीय सुख राजा प्राप्त करता है, वैसा तू यहां आकर रह और सुख प्राप्त कर ।

पिता सूनवे इव स्वावेशा सुशेवा तन्वा संविशस्व— जैसा पिता पुत्रके लिये सुखदायक होता है, वैसी तू भी यहां अपने शरीरसे सुखकारिणी होकर रहो, और आनंद प्राप्त करो ॥ ३ ॥

[६९२] तुम (पृथिव्याः पुरीष्यं अप्सो नाम असि) पृथ्वीकी रक्षा करनेवाली और जलसे निर्मित हो। (तां त्वा विश्वेदेवाः अभिगृणन्तु) उस तुझको सम्पूर्ण देवता सब ओरसे स्तुति करें । तुम (स्तोमपृष्ठा घृतवती इह सीद) स्तुतियोंको जाननेकी इच्छावाली, घृतसे युक्त इस स्थानमें रहो, (प्रजावत् द्रविणा अस्मे आयजस्व) पुत्र पौत्रादि प्रजायुक्त धन हमारे लिये सब ओरसे प्रदान करो । (अध्वर्यू अश्विना इह त्वा सादयताम्) अध्वर्यु अश्विनीकुमार इस स्थानमें तुमको स्थापित करें ॥ ४ ॥

[६९३] हे इष्टके ! (अन्तरिक्षस्य धर्त्रीं, दिशां विष्टम्भनीं भुवनानां अधिपत्नीं त्वा) अन्तरिक्ष लोकको धारण करनेवाली, पूर्वादि दिशाओंको स्थिर करनेवाली और सब प्राणियोंकी स्वामिनी तुमको (अदित्याः पृष्ठे सादयामि) पृथ्वीके ऊपर स्थापन करता हूं । तुम (अपां द्रप्सः ऊर्मि असि) जलोंकी रसरूप तथा तरङ्गरूप हो । (विश्वकर्मा ऋषिः) विश्वकर्मा तुम्हारा द्रष्टा है । (अध्वर्यू अश्विना त्वा इह सादयतां) अध्वर्यु अश्विनी कुमार तुमको इस स्थानमें स्थापित करें ॥ ५ ॥

[६९४] (शुक्रः च शुचिः च ग्रैष्मौ) जेष्ठ और आषाढ ग्रीष्म ऋतु हैं। हे (ऋतू) दोनों ऋतू ! तुम (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि) अग्निके मध्य दाहशक्ति है, (मम ज्येष्ठाय द्यावा पृथिवी कल्पन्ताम्) मेरे उत्कर्षके लिये द्युलोक और भूलोक सहाय्यता करें। (अपः ओषधयः कल्पन्ताम्) जल और ओषधियाँ हमारी सहायता करें। (सव्रताः पृथक् अग्नयः कल्पन्ताम्) समानकर्मवाली अनेक अग्नियाँ हमारी श्रेष्ठता सम्पादन करें । (इमे द्यावा-पृथिवी अन्तरा समनसः ये अग्नयः ग्रीष्मौ ऋतू अभिकल्पमाना अभिसंविशन्तु) ये द्युलोक और पृथ्वी लोकके मध्यमें वर्तमान समान कर्मवाले जो अग्नियां हैं वे ग्रीष्म ऋतुको निर्माण करते हुये, इस स्थानमें स्थिर हों, (देवाः इन्द्रं इव तया देवतया) जैसे देवता इन्द्रको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस देवतासे स्थापित तुम (अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्) अङ्गिराके समान दृढ होकर रहो ॥ ६ ॥

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[1] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[2] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[3] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[4] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा[5] ॥ ७ ॥

प्राणं मे पाह्य[1]पानं मे पाहि[2] व्यानं मे पाहि[3] चक्षुर्म उर्व्या वि भाहि[4] श्रोत्रं मे श्लोकय[5] । अपः पिन्वौ[6]षधीर्जिन्व[7] द्विपादव[8] चतुष्पात् पाहि[9] दिवो वृष्टिमेरय[10] ॥ ८ ॥

---

[६९५] (ऋतुभिः सजूः विधाभिः सजूः वयोनाधैः देवैः सजूः त्वा वैश्वानराय अग्नये) ऋतुओंके सहित प्रीतिमान् जलोंके साथ प्रीतिमान बाल्यादि अवस्था प्राप्त करनेवाले प्राणोंके सङ्ग, तथा इन्द्रादि देवोंके सहित प्रेम करनेवाली तुमको सबके हितकारी अग्नि देवताके तृप्तिके निमित्त ग्रहण करता हूं। इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यु अश्विना त्वा इह सादयताम्) अध्वर्यू अश्विनी कुमार तुमको इस दूसरी चितिमें स्थापन करें। हे इष्टके ! (ऋतुभिः सजूः विधाभिः सजूः वसुभिः सजूः वयोनाधैः देवैः सजूः त्वा वैश्वानराय अग्नये) ऋतुओंके साथ प्रीति युक्त जलोंके साथ प्रीतियुक्त वसुओंके सहित, प्रीति युक्त प्राणोंके साथ देवताओंके साथ प्रीति युक्त तुमको विश्वके हितकारी अग्नि की तृप्तिके लिये ग्रहण करता हूं; इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू अश्विना त्वा इह सादयताम्) अध्वर्यू अश्विनी कुमार तुमको इस दूसरी चितिमें स्थापन करें। हे इष्टिके ! दक्षिणमें (ऋतुभिः सजूः विधाभिः सजूः रुद्रैः सजूः वयोनाधैः देवैः सजूः त्वा वैश्वानराय अग्नये) ऋतुगणके सहित, प्रिय जलोंके साथ, प्रिय रुद्रगणोंके सङ्ग, प्रिय प्राणोंके सहित, देवताओंके सहित तुमको विश्वके हितकारी अग्निकी प्रीतिके लिये ग्रहण करता हूं, इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू अश्विना त्वा इह सादयताम्) अध्वर्यु अश्विनी कुमार तुमको इस दूसरी चितिमें स्थापन करें। उत्तर दिशामें (ऋतुभिः सजूः विधाभिः सजूः आदित्यै सजूः वयोनाधैः देवैः सजूः त्वा वैश्वानराय अग्नये) ऋतुओंसे प्रिय जलोंसे प्रिय आदित्य गणोंसे प्रिय, प्राणदेवताओंसे प्रिय तुमको सब विश्वके हितकारी अग्निके प्रीतिके लिये ग्रहण करता हूं, इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू अश्विना त्वा इह सादयताम्) अध्वर्यु अश्विनी कुमार तुमको इस दूसरी चितिमें स्थापन करें। हे इष्टके ! (ऋतुभिः सजूः विधाभिः सजूः विश्वैः वैश्वदेवैः सजूः वयोनाधैः देवैः सजूः त्वा वैश्वानराय अग्नये) ऋतुगणोंसे सेवित, प्राणोंसे प्रिय, सम्पूर्ण देवगणोंसे प्रिय, प्राण देवगणोंसे प्रिय तुमको, सब जगतके हितकारी अग्नि देवताके प्रीतिके लिये ग्रहण करता हूं, इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू अश्विना त्वा इह सादयताम्) अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस दूसरी चितिमें स्थापन करें ॥ ७ ॥

ऋतुभिः सजूः, विधाभिः सजूः आदित्यै सजूः, वयोधानैः देवैः सजूः त्वा वैश्वानराय अग्नये— ऋतु, जल, सूर्य, प्राण, अन्नधारक देवताके तथा वैश्वानर आदि देवताओंके लिये मैं तुझे प्राप्त करता हूं। अग्निसे इन सब देवताओंका कार्य ठीक रीतीसे चलता है। अग्नि सब देवताओंका सहाय्यक देव है ॥ ७ ॥

[६९६] तुम (मे प्राणं पाहि) मेरे प्राणवायुकी रक्षा करो, (मे अपानं पाहि) मेरे अपानवायुकी रक्षा करो, (मे व्यानं पाहि) मेरे व्यान वायुकी रक्षा करो, तुम (मे चक्षुः ऊर्व्या विभाहि) मेरे नेत्रोंको विस्तीर्ण दृष्टिसे युक्त करो, (मे श्रोत्रं श्लोकय) मेरे कर्णेन्द्रियको पूर्णतया श्रवण शक्तिमें समर्थ करो, तुम्हारे प्रसादसे यह पृथ्वी (अपः पिन्व) वृष्टिके जलसे सिंचित हो, तुम (ओषधीः जिन्व) ओषधियोंको पुष्ट करो (द्विपात् अव) द्विपाये प्राणियोंकी रक्षा करो, (चतुष्पाद् पाहि) चौपायों पशुकी रक्षा करो, तथा (दिवः वृष्टिं एरय) द्युलोकसे वर्षाको सब प्रकारसे प्रेरणा करो ॥ ८ ॥

मेरे प्राण, अपान, व्यान, नेत्र, कान, जल, ओषधि, द्विपाद, चतुष्पाद प्राणी इन सबकी सुरक्षा उत्तम रीतिसे करनी चाहिये। किसीको भी कष्ट नहीं पहुंचने चाहिये। जो दुष्ट हों उन दुष्टोंको ही कष्ट देकर उनको दूर करना चाहिये ॥८॥

×

मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः[१] क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो[२] विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो[३]
विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो[४] बस्तो वयो विबलं छन्दो[५] वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः[६]
पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो[७] व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः[८] सिंहो वयश्छदिश्छन्दः[९]
पष्ठवाड्वयो बृहती छन्द[१०] उक्षा वयः ककुप् छन्द[११] ऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः[१२] ॥ ९ ॥
अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो[१] धेनुर्वयो जगती छन्द[२]स्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो[३]
दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः[४] पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्द[५]स्त्रिवत्सो वय उष्णिक् छन्द[६]
स्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप् छन्दो[७] लोकं[८] ता इन्द्रम्[९] ॥ १० ॥

---

[६९७] (प्रजापतिः छन्दः वयः मूर्धा) प्रजापतिने स्वशक्तिसे क्षात्रबलकी मुख्य स्थानमें स्थापना की (क्षत्रं वयः मयन्दं छन्दः) दुःखसे रक्षा करनेवाली क्षात्रशक्ति हुई अर्थात् सुखदेनेवाली शक्ति प्रजापतिसे हुई । इसी लिये प्रजापतिने क्षत्रियंजाति की रचना की । (अधिपतिः विष्टम्भः वयः छन्दः) अधिक संरक्षण करनेवाले सुखदाता प्रजापतिने उनके सामर्थ्यसे धन संचयकारी वैश्य उत्पन्न किये । (परमेष्ठी विश्वकर्मा वयः छन्दः) परमेष्ठी प्रजापति स्वशक्तिसे संपन्न हुये। प्रजापतिने (बस्तः विबलं छन्दः वयः) अजाको प्रजापतिने उत्पन्न किये छन्दसे उत्पन्न किया है । (विशालं छन्दः वृष्णिः वयः) विशाल छन्द होकर समर्थ मेष पशुको ग्रहण किया । (तन्द्रं छन्दः पुरुषः वयः) पंक्ति छन्द होकर पुरुषको ग्रहण किया, अथवा पंक्ति छन्दके प्रभावसे प्रजापतिने पुरुष (मनुष्य) की रचना की । (अनाधृष्टं छन्दः व्याघ्रः वयः) विराट् छन्द होकर व्याघ्रपशुको प्रजापतिने उत्पन्न किया (छदिः छन्दः सिंहः वयः) अति जगती छन्द होनेपर सिंहको उत्पन्न किया, (बृहती छन्दः पष्ठवाट् वयः) बृहती छन्द होकर पीठपर बोझ लेजानेवाले पशुओंकी जाति उत्पन्न की (ककुप् छन्दः उक्षा वयः) कुकुप् छन्द हो गया, उस ककुप् छन्दके प्रभावसे उक्षा जाति उत्पन्न की । (सतो बृहती छन्दः ऋषभः वयः) बृहती छन्दसे मल्लूको अर्थात् सतोबृहती छन्दसे ऋषभको उत्पन्न किया ॥ ९ ॥

छंद	उत्पत्ति-विषय		छंद	उत्पत्ति-विषय
१ प्रजापतिः छंदः	१ वयः मूर्धा	।	२ मयन्दं छन्दः	२ क्षत्रं वयः
३ अधिपतिः विष्टंभः	३ वयः छन्द	।	४ परमेष्टी विश्वकर्मा	४ वयः छन्द
५ वस्तः विबलं	५ वयः छन्द	।	६ विशालं छन्दः	६ वृष्णि वयः
७ तन्द्रं छन्दः	७ पुरुषं वयः	।	८ अनाधृष्टं छन्दः	८ व्याघ्रं वयः
९ छदिः छन्दः	९ सिंहं वयः	।	१० बृहती छन्दः	१० पष्टवाट् वयः
११ ककुप् छन्दः	११ उक्षा वयः	।	१२ सतोबृहती छन्दः	१२ ऋषभः वयः

[६९८] (पंक्तिः छन्दः अनड्वान् वयः) पंक्ति छन्द होनेपर प्रजापतिने बैलकी रचना की । (जगती छन्दः धेनुः वयः) जगती छन्द होनेपर प्रजापतिने धेनुजाति उत्पन्न की । (त्रिष्टुप् छन्दः त्र्यवि वयः) त्रिष्टुप् छन्द होनेपर प्रजापतिने त्र्यविजातिकी रचना की । (विराट् छन्दः दित्यवाट् वयः) विराट् छन्दसे धान्यवाहन करनेवाले पशुकी प्रजापतिने दित्यवाह जाति उत्पन्न की । (गायत्री छन्दः पंचाविः वयः) गायत्री छन्दसे प्रजापतिने पंचाविको उत्पन्न किया । (उष्णिक् छन्दः त्रिवत्सः वयः) उष्णिक् छन्द होनेपर तीन वत्सरवाले पशुको उत्पन्न किया । (अनुष्टुप् छंदः तुर्यवाट् वयः) अनुष्टुप् छन्द होनेपर प्रजापतिने तुर्यवाट् जाति उत्पन्न की। तुम (लोकं) लोकको रक्षा करो । (ताः इन्द्रं) वे सब प्राणी ऐश्वर्यवान इन्द्रकी स्तुति करते हैं ॥ १० ॥

छंद	पशुओंकी उत्पत्ति		छंद	पशुओंकी उत्पत्ति
१ पंक्ति छंदः	१ अनड्वान् (बैल) वय	।	२ जगती छंदः	२ धेनुः वयः
३ त्रिष्टुप् छंदः	३ त्र्यविः वयः	।	४ विराट् छंदः	४ दित्यवाड् वयः
५ गायत्री छंदः	५ पंचाविः वयः	।	६ उष्णिक् छंदः	६ त्रिवत्सः वयः
७ अनुष्टुप् छंदः	७ तुर्यवाट् वयः	।		

इन्द्राग्नी अव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम् । पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च वि बाधसे ॥ ११ ॥
विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
वायुष्ट्वाऽभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १२ ॥
राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक्सम्राडसि प्रतीची दिक्
स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥ १३ ॥
विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १४ ॥

---

[६९९] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्राग्नी दोनों देवताओ ! (युवं अव्यथमानां इष्टकां दृंहत) तुम दोनों कष्ट रहित इष्टकाको दृढ करो । (पृष्ठेन द्यावापृथिवी च अन्तरिक्षं विबाधसे) तुम अपने ऊपरके भागसे द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्षसे संबंध करनेमें समर्थ हो ॥ ११ ॥

[७००] (विश्वकर्मा त्वा व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं अन्तरिक्षस्य पृष्ठे सादयतु) विश्वकर्मा प्रजापति तुझे विस्तृत विस्तारवालीको अन्तरिक्षके ऊपर स्थापन करे । तुम (विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय उदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय अन्तरिक्षं यच्छ) सम्पूर्ण विश्वके प्राण अपान व्यान उदान आदि प्राणोंकी प्रतिष्ठाके लिये और गमनादिके लिये अन्तरिक्षको सुयोग्य करो, (अन्तरिक्षं दृंह) अन्तरिक्षको दृढ करो, (अन्तरिक्षं मा हिंसीः) अन्तरिक्षमें मत पीडा करो। (वायुः त्वा मह्या स्वस्त्या शन्तमेन छर्दिषा अभिपातु) वायु देवता तुम्हारी बडी योगक्षेमसे शुभकारी और विशेष तेजसे सब ओरसे रक्षा करे, तुम (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद) उस देवतासे अनुगृहीत होकर अङ्गिराके समान निश्चल स्थिर होओ ॥ १२ ॥

[७०१] तुम (राज्ञी प्राची दिक् असि) तेजस्विनी पूर्व दिशा हो, अर्थात् इस पूर्वदिशा राज्ञी करके प्रसिद्ध है । (विराट् दक्षिणादिक् असि) विशेष प्रकारसे तेजस्विनी तुम दक्षिणदिशा हो (सम्राट् प्रतीची दिक् असि) भली प्रकार विराजमान तुम पश्चिम दिशा हो (स्वराट् उदीची दिक् असि) स्वयं विशेष तेजस्वी तुम उत्तर दिशा हो (अधिपत्नी बृहती दिक् असि) अधिक रक्षा करनेवाली तुम बडी ऊर्ध्व दिशा हो, अर्थात् तुमको मध्य दिशाको अधिपत्नी करके स्थापित करते हैं ॥ १३ ॥

[७०२] (विश्वाकर्मा ज्योतिष्मतीं त्वा अन्तरिक्षस्य पृष्ठे सादयतु) विश्वका निर्माण कर्ता तुमको अन्तरिक्षके ऊपर स्थापित करे, यजमानके (विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिः यच्छ) सम्पूर्ण प्राण अपान व्यानके लाभके लिये सम्पूर्ण ज्योति को प्रदान करो । (वायुः ते अधिपतिः तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद) वायु देवता तुम्हारा अधिपति है, उस अधिष्ठाताके प्रभावसे अङ्गिराके समान इस कार्यमें स्थिर हो ॥ १४ ॥

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप
ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १५ ॥

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप
ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
शारदावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १६ ॥

आयुर्मे पाहि[1] प्राणं मे पाह्य[2]पानं मे पाहि[3] व्यानं मे पाहि[4] चक्षुर्मे पाहि[5]
श्रोत्रं मे पाहि[6] वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वा[ऽऽ]त्मानं मे पाहि[7] ज्योतिर्मे यच्छ ॥ १७ ॥

---

[७०३] (नभः च नमस्यः वार्षिकौ ऋतू) श्रावण और भाद्रपद ये दोनों वर्षा ऋतुके भाग हैं । तुम (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि) प्रकाशित अग्निके अन्दर दृढताके लिये लगाये गये हो, (मम जैष्ठ्याय द्यावा पृथिवी कल्पन्ताम्) मेरे उत्कर्षके लिये यह द्यावा पृथ्वी सहायता करें (आपः ओषधयः कल्पन्ताम्) जल और ओषधियां हमारी सहायता करें, (स व्रताः पृथक् अग्नयः कल्पन्ताम्) एक यज्ञमें नामोंकी अग्नियां उत्कर्षको प्राप्त करें, (इमे द्यावापृथिवी अन्तरा समनसः ये अग्नयः वार्षिकौ ऋतू अभिकल्पमानाः अभि सं विशन्तु इव देवा इन्द्रम्) यह द्यावा पृथ्वीके मध्यमें वर्तमान एक मनवाले जो अग्नि हैं वे वर्षा सम्बन्धी ऋतुको सम्पादन करते हुये इस कार्यका आश्रय करें जिसप्रकार देवता इन्द्रको परिचर्या द्वारा सहायता करके आश्रय करते हैं, हे इष्टके ! (तया देवतया अङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतं) उस प्रसिद्ध देवता द्वारा अङ्गिराके समान स्थिर होकर विराजमान होओ ॥ १५ ॥

[७०४] (इषश्च ऊर्जश्च शारदौ ऋतू) अश्विन कार्तिक मास ये दोनों शरद्‌ऋतुके दो भाग हैं, हे इष्टिकाओ ! तुम (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि) प्रदीप्त अग्निके अन्तरमें स्थित होकर श्लेष अर्थात् दृढताके निमित्त लगाये गये हो, (मम जैष्ठ्याय द्यावापृथिवी कल्पन्ताम्) मेरे उत्कर्षके निमित्त यह द्यावापृथ्वी सहायता करें, (आपः ओषधयः कल्पन्ताम्) जल और ओषधियां हमारी सहायता करें, (सव्रताः पृथङ् अग्नयः कल्पन्ताम्) एकही यज्ञमें पृथक् अर्थात् अनेक नामोंकी अग्नियाँ उत्कर्ष प्राप्त करें, (इमे द्यावा पृथिवी अन्तरा समनसः ये अग्नयः शारदौ ऋतू अभि कल्पमाना अभि संविशन्तु इव देवा इन्द्रम्) यह द्यावा पृथ्वीके मध्यमें वर्तमान एक मनवाले जो अग्नियें हैं वे वर्षा सम्बन्धी ऋतुको निर्माण करते हुये इन्द्रका आश्रय करते हैं, हे इष्टके ! (तया देवतया अङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्) उस देवता द्वारा अङ्गिराके समान स्थिर होकर विराजमान होओ ॥ १६ ॥

[७०५] हे परमेश्वर ! (मे आयुः पहि) मेरी आयुकी रक्षा कर, (मे प्राणं पाहि) मेरे प्राणकी रक्षा कर, (मे अपानं पाहि) मेरे अपान वायुकी रक्षा कर, (मे व्यानं पाहि) मेरे व्यानवायुकी रक्षा कर, (मे चक्षुः पाहि) मेरे दोनों नेत्रोंकी रक्षा कर, (मे श्रोत्रं पाहि) मेरे दोनों कानोंकी रक्षा कर, (मे वाचं पिन्व) मेरी वाणीको प्रसन्न कर, (मे मनः जिन्व) मेरे मनको प्रसन्न कर, (मे आत्मानं पाहि) मेरे आत्माकी रक्षा कर और (मे ज्योतिः यच्छ) मेरे तेजको प्रदान कर ॥ १७ ॥

मा छन्दः[1] प्रमा छन्दः[2] प्रतिमा छन्दो[3] अस्रीवयश्छन्दः[4] पङ्क्तिश्छन्द[5]
उष्णिक् छन्दो[6] बृहती छन्दो[7] ऽनुष्टुप् छन्दो[8] विराट् छन्दो[9] गायत्री छन्द[10]—
स्त्रिष्टुप् छन्दो[11] जगती छन्दः[12] ॥ १८ ॥

पृथिवी छन्दो[1] ऽन्तरिक्षं छन्दो[2] द्यौश्छन्दः[3] समाश्छन्दो[4] नक्षत्राणि छन्दो[5]
वाक् छन्दो[6] मनश्छन्दः[7] कृषिश्छन्दो[8] हिरण्यं छन्दो[9] गौश्छन्दो[10]
ऽजाश्छन्दो[11] ऽश्वश्छन्दः[12] ॥ १९ ॥

अग्निर्देवता[1] वातो देवता[2] सूर्यो देवता[3] चन्द्रमा देवता[4] वसवो देवता[5]
रुद्रा देवता[6] ऽऽदित्या देवता[7] मरुतो देवता[8] विश्वे देवा देवता[9] बृहस्पतिर्देवते[10]—
न्द्रो देवता[11] वरुणो देवता[12] ॥ २० ॥

मूर्धाऽसि राड्[1] ध्रुवाऽसि धरुणा[2] धर्त्र्यसि धरणी[3] ।
आयुषे त्वा[4] वर्चसे त्वा[5] कृष्यै त्वा[6] क्षेमाय त्वा[7] ॥ २१ ॥

यन्त्री राड्[1] यन्त्र्यसि यमनी[2] ध्रुवाऽसि धरित्री[3] ।
इषे त्वो[4]—र्जे त्वा[5] रय्यै त्वा[6] पोषाय त्वा[7] लोकं ता इन्द्रम् ॥ २२ ॥

---

[७०६] (मा छन्दः) मनन करके इस छंद (प्रमा छन्दः) विशेष मनन करके प्रमा छन्दको (प्रतिमाः छन्दः) प्रतिमा छन्द (अस्त्री वयः छन्दः) अस्त्रीवय छन्द (पंक्तिश्छन्दः) पंक्ति छन्दको (उष्णिक् छन्दः) उष्णिक् छन्द (बृहती छन्दः) बृहती छन्दको और (अनुष्टुप् छन्दः, विराट् छन्दः, गायत्री छन्दः, त्रिष्टुप छन्दः जगती छन्दः) अनुष्टुप छन्द, विराट् छन्द, गायत्री छन्द, त्रिष्टुप छन्द एवं जगती छन्द हैं उनका प्रयोग करता हूं ॥ १८ ॥

[७०७] (पृथिवी छन्दः) पृथ्वी छन्दको, (अन्तरिक्षं छन्दः, द्यौः छन्दः, समा छन्दः, नक्षत्राणि छन्दः वाक् छन्दः मनः छन्दः) अन्तरिक्षवाले छन्द, द्युदेवता छन्द, वर्षा देवता छन्द, नक्षत्र देवता छन्द, वाक् देवता छन्द, मन देवता छन्दको और (कृषिः छन्दः, हिरण्यं छन्दः, गौः छन्दः, अजाः छन्दः, अश्वः छन्दः) कृषिदेवता छन्द, हिरण्य देवता छन्द, गो देवता छन्द अजा देवता छन्द व अश्व देवता छन्दको मनन करके स्थापन करता हूं ॥ १९ ॥

[७०८] (अग्निः देवता, वातः देवता, सूर्यो देवता, चन्द्रमा देवता) अग्नि देवता, वात देवता, सूर्य देवता, चन्द्रमा देवता, (वसवो देवता, रुद्राः देवताः, आदित्याः देवताः, मरुतः देवताः) आठ वसु देवता, ग्यारह रुद्र प्राण देवता, बहार आदित्य देवता, मरुत् गण देवता, (विश्वेदेवाः देवताः बृहस्पतिः देवता, इन्द्रः देवता, वरुणः देवता) विश्वेदेव देवता गण, बृहस्पति देवता, इन्द्र देवता और वरुण देवता ये सब ब्रह्माण्डमें परमेश्वरी शक्तिके स्वरूप हैं, इनको मनन करके स्थापन करता हूं ॥ २० ॥

[७०९] तू (मूर्धाराट् असि) तू सबसे उच्च शिरोभाग पर स्थित है अथवा तू 'राट्' अर्थात् तेजस्वी है, (ध्रुवा धरुणा असि) स्वयं स्थिर होकर दूसरोंका धारण करनेवाली है, (धर्त्री धरणी असि) तू समस्त प्रजाका धारण करनेवाली भूमिके समान सबका आधार है, (आयुषे त्वा) आयु जीवन वृद्धिके लिये तुम्हें स्वीकार करता हूं, (वर्चसे त्वा) तेजकी वृद्धिके लिये तुम्हें स्वीकार करता हूं (कृष्यै त्वा) खेती अन्नादिकी उत्पत्तिके लिये भूमिका स्वीकार करता हूं, और (क्षेमाय त्वा) सुख वृद्धिके लिये तुम्हें स्वीकार करता हूं ॥ २१ ॥

[७१०] तुम (यन्त्री राट्) नियमसे युक्त विराजमान हो, (यन्त्री यमनी असि) स्वयं भी नियमवाली और नियम पालन करानेवाली हो, तुमही (ध्रुवा धरित्री असि) स्थिर भूमि जैसी हो, मैं (इषे त्वा) अन्न प्राप्तिके निमित्त तुमको स्वीकार करता हूं, मैं (ऊर्जे त्वा) पराक्रमके लिये तुमको स्वीकारता हूं, मैं (रय्यै त्वा) ऐश्वर्य वृद्धिके लिये तुमको स्वीकार करता हूं, मैं (पोषायत्वा) सबके पोषणके लिये तुमको स्वीकार करता हूं। तुम (लोकं) लोकको रक्षा करो,) ताः इन्द्रम्) वे सब प्राणी ऐश्वर्यवान् इन्द्रको चाहते हैं ॥ २२ ॥

आशुस्त्रिवृद्[1] भान्तः पञ्चदशो[2] व्योमा सप्तदशो[3] धरुण एकविंशः प्रतूर्तिरष्टादशो—
स्तपो नवदशो[6] ऽभीवर्त्तः सविंशो[7] वर्चो द्वाविंशः सम्भरणस्त्रयोविंशो[9]
योनिश्चतुर्विंशो[10] गर्भाः पञ्चविंशा[11] ओजस्त्रिणवः[12] क्रतुरेकत्रिंशः[13]
प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो[14] ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो[15] नाकः षट्त्रिंशो[16]
विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशो[17] धर्त्रं चतुष्टोमः ॥ २३ ॥

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमः[1]
इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदश स्तोमः[2]
नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रं स्पृतं सप्तदश स्तोमः[3]
मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृत एकविंश स्तोमः[4] ॥ २४ ॥

---

[७११] (त्रिवृत् आशुः) त्रिवृत् स्तोमका इस स्थानमें स्थापन करता हूं । (पञ्चदशः भान्तः) पन्द्रह दिनमें ह्रास और वृद्धि पानेवाले चन्द्र ज्योतिका स्थापन करता हूं । (व्योमाः सप्तदशः) प्रजापति सप्तदशस्तोम रूप है, सप्तदश व्योमके लिये तुमको स्थापन करता हूं। (धरुणः एकविंशः) धारणकर्ता एकविंश स्तोम है, एकविंश देवताका मनन करके में उनको स्थापन करता हूं। (प्रतूर्तिः अष्टादशः) बारह महीने पाँच ऋतु एक संवत्सर मिलकर अठारह अवयववाला प्रतूर्तिस्तोम है, अष्टादश प्रतूर्ति देवताका मनन करते इष्टका स्थापन करता हूं । (तपः नवदशः) तपरूप नवदशस्तोम है, नवदश तप देवताके लिये यह इष्टका स्थापन करता हूं । (अभिवर्तः सविंशः) समावृत्तिरूप सविंशस्तोम है, अथवा सब प्राणियोंको आवर्तन करनेवाला बारह महीने सात ऋतु संवत्सररूप वीस संख्या सहित विंश अभीवर्त देवता इष्टका सादन करता हूं (वर्चः द्वाविंशः) विशेष बल देनेवाला द्वाविंश स्तोम है, वर्च द्वाविंश देवताको मनन करते इष्टका सादन करता हूं, (संभरणः त्रयोविंशः) सम्यक् पुष्टिकारक त्रयोविंशः स्तोम है, हे इष्टके ! त्रयोविंश सम्भरण देवताको मनन करते तुमको स्थापन करता हूं ।(योनिः चतुर्विंशः) प्रजाका उत्पादक चतुर्विंश स्तोम है, चतुर्विंश योनिदेवताकी इष्टका स्थापन करता हूं । (गर्भाः पञ्चविंशः) सामगर्भ पंचविंश स्तोम है, पंचविंशगर्भ देवताके लिये इष्टका स्थापन करता हूं । (ओजः त्रिणवः) ओजस्वी त्रिणवस्तोम है, त्रिणव ओजदेवताको इष्टका स्थापन करता हूं । (क्रतुः एकत्रिंशः) यज्ञके उपयोगी एकत्रिंशस्तोम है एकत्रिंश ऋतु देवताकी इष्टका स्थापन करता हूं । (प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशः) स्थितिका हेतु त्रयस्त्रिंश स्तोम है, त्रयस्त्रिंशत् प्रतिष्ठा देवताका मनन करके इष्टका स्थापन करता हूं । (ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशः) सूर्यका निवासस्थान चतुस्त्रिंशस्तोम है, चतुस्त्रिंशब्रध्नविष्टप देवताकी इष्टका स्थापन करता हूं । (नाकः षट्त्रिंशः) स्वर्गका देनेवाला षट्त्रिंश स्तोम है, षट्त्रिंश नामक देवताकी इष्टका सादन करता हूं । (विवर्तः अष्टचत्वारिंशः) सामके आवर्तनोंसे युक्त अष्टचत्वारिंश स्तोम है, अष्टचत्वारिंशत् विवर्त देवता इष्टकाकी स्थापन करता हूं । (धर्त्रम् चतुष्टोमः) धारक होनेसे त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश इन चार स्तोमोंका समूह रूप है, चतुष्टोम-धर्त्र देवताको मनन करते में इष्टका स्थापन करता हूं ॥ २३ ॥

[७१२] तुम (अग्नेः भागः असि) अग्निके भाग हो, तुम्हारे ऊपर (दीक्षायाः आधिपत्यं त्रिवृत्स्तोमः ब्रह्म स्पृतम्) दीक्षाका आधिपत्य है, जिस कारण तुमसे त्रिवृत्स्तोम द्वारा ब्राह्मण वर्ण मृत्युसे रक्षित हुआ त्रिवृत्स्तोमको मनन करके तुमको रक्षण करता हूं । तुम (इन्द्रस्य भागः असि) इन्द्रके भाग हो, तुम्हारे उपर (विष्णोः आधिपत्यं पञ्चदशस्तोमः क्षत्रम् स्पृतं) विष्णुका आधिपत्य है, पञ्चदश स्तोमसे क्षत्रिय वर्णने मृत्युमुखसे संरक्षण पाया, पञ्चदशस्तोम देवताको मनन करते तुमको स्थापन करता हूं । हे इष्टके ! तुम (नृचक्षसाम् भागः असि) मनुष्योंके शुभाशुभ जाननेवाले देवताओंके भाग हो, तुम्हारे ऊपर (धातुः आधिपत्यं सप्तदशस्तोमः जनित्रं स्पृतम्) धाताका आधिपत्य है, तुमने सप्तदश स्तोम द्वारा वैश्य वर्णको मृत्युके मुखसे बचाया, में सप्तदश स्तोमको मनन करते तुमको स्थापन करता हूं । हे इष्टके ! तुम (मित्रस्य भागः असि) प्राणके भाग हो, तुम्हारे ऊपर (वरुणस्य आधिपत्यं एकविंशस्तोमः दिवः वृष्टिः वातः स्पृतः) वरुणका आधिपत्य है, एकविंशस्तोमके द्वारा द्युलोक सम्बन्धिनी वर्षा व पवन मृत्युके मुखसे रक्षा प्राप्त किये हैं, एकविंशस्तोम देवताको मनन करते में तुमको सादन करता हूं ॥ २४ ॥

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विंᳬशः स्तोमः[1]
आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृताः पञ्चविंᳬशः स्तोमो[2]
ऽदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यमोजः स्पृतं त्रिणव स्तोमो[3]
देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यᳬ समीचीर्दिशः स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः[4] ॥ २५ ॥
यवानां भागोऽस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिंᳬशः स्तोमः[1]
ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतᳬ स्पृतं त्रयस्त्रिंᳬशः स्तोमः[2] ॥ २६ ॥

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप
ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ।२७।

---

[७१३] तुम (वसूनां भागः असि) वसुगणोंके भाग हो, (रुद्राणां आधिपत्यम् चतुर्विंशस्तोमः चतुष्पाद् स्पृतम्) रुद्रोंका तुम्हारे ऊपर आधिपत्य है, तुमने चतुर्विशस्तोमके द्वारा चौपायोंकी मृत्युके मुखसे रक्षा की है, चतुर्विश-स्तोमदेवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें स्थापित करता हूं। हे इष्टके ! तुम (आदित्यानां भागः असि) आदित्यगणोंके भाग हो, तुम्हारे ऊपर (मरुतां आधिपत्यं, पञ्चविंशस्तोमः गर्भाः स्पृतम्) मरुद्गणोंका आधिपत्य है, पञ्चविंशस्तोमके द्वारा गर्भोंकी मृत्युमुखसे रक्षा की है, पंचविंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं। हे इष्टके ! तुम (अदित्यै भागः असि) अदितिके भाग हो, (पूष्णः आधिपत्यं त्रिणवस्तोमः ओजः स्पृतम्) पूषा देवताका तुम्हारे ऊपर अधिकार है, त्रिणवस्तोम द्वारा प्रजाओंके ओजकी रक्षा की है, मैं त्रिणवस्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करता हूं। हे इष्टके ! तुम (सवितुः देवस्य भागः असि) सबके प्रेरक सविता देवके भाग हो, तुम्हारे ऊपर (बृहस्पते आधिपत्यम्) बृहस्पति देवताका अधिकार है, (चतुष्टोमस्तोमः समीचीः दिशः स्पृताः) चतुष्टोमस्तोमके द्वारा सम्पूर्ण मनुष्योंके जाने योग्य दिशा मृत्युसे तुमने रक्षा की, चतुष्टोमस्तोम देवताका मनन करते तुमको सादन करता हूं ॥ २५ ॥

[७१४] हे इष्टके ! तुम (यवानाम् भागः असि) शुक्लपक्षीय तिथिके भाग हो, तुम्हारे ऊपर (अयवानां आधिपत्यं) कृष्णपक्षीय तिथिका स्वामित्व है, तुमने (चत्वारिंशस्तोमः प्रजाः स्पृताः) चत्वारिंशस्तोमके द्वारा प्रजाको मृत्युके मुखसे रक्षा की है, चत्वारिंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करता हूं। हे इष्टके ! तुम (ऋभूणां भागः असि) ऋभु नामक देवताओंके भाग हो, तुम्हारे ऊपर (विश्वेषां देवानाम् आधिपत्यम्) सम्पूर्ण देवताओंका आधिपत्य है, (त्रयस्त्रिंशस्तोमः भूतम् स्पृतम्) त्रयस्त्रिंशस्तोमके द्वारा तुमने प्राणीमात्रको मृत्यु-मुखसे रक्षित किया है, त्रयस्त्रिंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करता हूं ॥ २६ ॥

[७१५] (सहः च सहस्य च हेमन्तिकौ) मार्गशीर्ष और पौष हेमन्तऋतुके अवयव हैं। हे (ऋतू) ऋतु ! तुम (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि) अग्निके अन्तरमें स्थिर होकर श्लेष अर्थात् दृढताके निमित्त लगाये हुये हो, जिस तरह भीतर दृढताके निमित्त लकडी लगा देते हैं। अग्निचयन करते (मम जैष्ठ्याय द्यावापृथिवी कल्पन्ताम्) मुझ यजमानके उत्कर्षताके निमित्त यह द्यावा पृथ्वी स्वोचित उपकारका सम्पादन करें। (आपः ओषधयः कल्पन्ताम्) जल और ओषधियां हमारा सम्पादन करें। (सव्रताः पृथक् अग्नयः कल्पन्ताम्) समान व्रतमें दीक्षित पृथक् अर्थात् अनेक नामोंकी अग्नियां उत्कृष्ट सहायता करें। (इमे द्यावापृथिवी अन्तरा समनसः ये अग्नयः हेमन्तिकौ ऋतू अभि कल्पमानाः

एक॑याऽस्तुवत प्र॒जा अधी॑यन्त प्र॒जाप॑तिरधि॑पतिरासीत्।
ति॒सृभि॑रस्तुवत॒ ब्रह्मा॑सृज्यत॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒रधि॑पतिरासीत्।
प॒ञ्चभि॑रस्तुवत भू॒तान्य॑सृज्यन्त भू॒ताना॒ पति॒रधि॑पतिरासीत्।
स॒प्तभि॑रस्तुवत स॒प्त ऋ॒षयो॑ऽसृज्यन्त धा॒ताऽधि॑पतिरासीत् ॥ २८ ॥
न॒वभि॑रस्तुवत पि॒तरो॑ऽसृज्यन्ता॒दिति॒रधि॑पत्न्यासी॒—
दे॒का॒द॒शभि॑रस्तुवत ऋ॒तवो॑ऽसृज्यन्तार्त॒वा अधि॑पतय आस॒—
त्र॒यो॒द॒शभि॑रस्तुवत॒ मासा॑ असृज्यन्त संव॒त्स॒रोऽधि॑पतिरासीत्
प॒ञ्च॒द॒शभि॑रस्तुवत क्ष॒त्रम॑सृज्य॒तेन्द्रोऽधि॑पतिरासीत्
स॒प्त॒द॒शभि॑रस्तुवत ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ऽसृज्यन्त॒ बृह॒स्पति॒रधि॑पतिरासीत् ॥ २९ ॥

अभि सं विशान्तु इव देवाः इन्द्रम्) यह द्यावा पृथ्वीके मध्यमें वर्तमान एक मनवाले जो अग्नियें हैं वे हेमन्त सम्बन्धी ऋतुको सम्पादन करते हुये इस कार्यका आश्रय करें जिस प्रकार देवता इन्द्रको परिचर्या द्वारा सहायता करते हुये आश्रय करते हैं। हे इष्टके ! (**तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्**) उस प्रसिद्ध देवताद्वारा अङ्गिराके समान स्थिर होकर विराजमान होओ ॥ २७ ॥

[७१६] देवोंने उस प्रजापति परमेश्वरकी (**एकया स्तुवत**) एक वाणीके साथ स्तुति की तभी उस परमेश्वरने (**प्रजा अधि-इयन्त**) प्रजाओंको उत्पन्न किया, उस समय (**प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्**) प्रजापति परमेश्वरही सबका स्वामी था। उसने (**तिसृभिः ब्रह्म असृज्यत**) प्राण, अपान और व्यान इन तीनों शक्तियोंसे ब्रह्माण्डको बनाया, उन तीनोंके द्वाराही उस परमेश्वरकी (**अस्तुवत**) स्तुति की जाती है। जिसकी स्तुति की गई है वह (**अधिपतिः ब्रह्मणस्पतिः आसीत्**) ब्रह्माण्ड हिरण्यगर्भका स्वामी वेदवाणीका पति परमेश्वरही था। (**पञ्चभिः अस्तुवत भूतानि असृज्यन्त**) पाँच प्राणोंसे उस परमेश्वरकी स्तुति किये जाते हुये उस परमेश्वरने पञ्चभूतोंका सृजन किया। उन (**भूतानां पतिः अधिपतिः आसीत्**) पाँचों भूतोंका स्वामी परमात्माही सबका अधिपति था। (**सप्तभिः अस्तुवत सप्त ऋषयः असृज्यन्त**) दो श्रोत्र, दो नासिका, दो चक्षु और एक जिह्वा इन सातोंकी सहायतासे सप्त ऋषि वा प्राण बने अथवा प्रकट हुये, (**धाता अधिपतिः आसीत्**) जगतका धारण करनेवाला परमात्माही उसका स्वामी उस समयमें भी विद्यमान था ॥ २८ ॥

[७१७] हे मनुष्यो ! जिस परमात्माने तुम्हारे लिये (**पितरः असृज्यन्त**) रक्षक पितरोंको उत्पन्न किया है और जिसके द्वारा (**अदितिः अधिपत्नी**) अखण्डित शक्ति अदिति अत्यन्त रक्षक माता (**आसीत्**) हुई है उस परमात्माको (**नवभिः अस्तुवत**) नव प्राणोंसे गुणोंकी प्रशंसा करो। जिनसे (**ऋतवः असृज्यन्त**) वसन्तादि ऋतुयें सृजन की गई हैं, तथा जिनके द्वारा (**आर्त्तवाः अधिपतयः आसन्**) उन उन ऋतुओंके गुण अपने अपने विषयमें अधिकारी होते हैं उनकी (**एकादशभिः अस्तुवत**) दश प्राणों और ग्यारहवें आत्मासे स्तुति करो। जिसने (**मासाः असृज्यन्त**) सारे मासोंको रचा है और (**पंचदशभिः संवत्सरः अधिपतिः आसीत्**) जो पन्द्रह तिथियोंके सहित संवत्सर सब कालका अधिकारी बनाया है उसकी (**त्रयोदशभिः अस्तुवत**) दश प्राण ग्यारहवाँ जीवात्मा और दो प्रतिष्ठाओंसे स्तुति करो। जिसने (**इन्द्रः अधिपतिः आसीत्**) परम सम्पत्ति का हेतु सूर्य अधिष्ठाता उत्पन्न किया है, तथा जिसने (**क्षत्रम् असृज्यत**) राज्य वा क्षत्रिय कुलको रचा है उसको (**सप्तदशभिः स्तुवतः**) दश पांवकी अङ्गुलियों दो जंघाओं दो जानुओं और एक नाभिके ऊपरके अङ्ग इन सत्रहोंसे स्तुति करो। जिसने (**बृहस्पतिः अधिपतिः आसीत्**) बडे बडे पदार्थोंका रक्षक वैश्य अधिकारी रचा है और (**ग्राम्याः पशवः असृजन्त**) ग्रामके गौ आदि पशु रचा है उस परमेश्वरकी पूर्वोक्त सब पदार्थोंसे युक्त होके (**अस्तुवत**) स्तुति करो ॥ २९ ॥

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्—
मेकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत्
त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाऽधिपतिरासीत्
पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत्
सप्तविंशत्याऽस्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायँस्त एवाधिपतय आसन्। ३०।
नवविंशत्याऽस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासी—
देकत्रिंशताऽस्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसँ—
स्त्रयस्त्रिंशताऽस्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासी—
ल्लोकं तां इन्द्रम् ॥ ३१ ॥

[अ० १४, कं० ३१, मं० सं० १६५]

इति चतुर्दशोऽध्यायः ।

---

[७१८] (नवदशभिः अस्तुवत) दश हाथोंकी अङ्गुलियाँ और शरीर गत नौ प्राण ये उन्नीस शक्तियाँ शरीरकी रक्षा करता हैं, इन शक्तियोंके वर्णन द्वारा भी उसी परमेश्वरकी रचना कौशलकी विद्वान्गण स्तुति करते हैं, उन उन्नीस अभ्यान्तर और बाह्य अङ्गोंके समानही (शूद्रार्यौ असृज्येताम्) शूद्र और आर्य अथवा श्रमजीवी और स्वामी लोगोंके परस्पर संघोंकी रचना हुई है, उनके (अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्) दिन और रात्री स्वामिनी हुई। (एक विंशत्या स्तुवतः) दश हाथकी और दश पाँव की अङ्गुलियाँ और एक आत्मा शरीरमें काम कर रही हैं इनको देखकर उन द्वारा भी विद्वत्जन प्रजापति परमात्माकी स्तुति करते उनके रचनाके गुणोंका दर्शन करते और उनका अनुकरण करते हैं, उसके अनुकूल (एकशफाः पशवः असृज्यन्त) एक खुरवाले पशुओंकी रचना हुई, उनका (अधिपतिः वरुणः आसीत्) अधिपति वरुण हुआ है। (त्रयोविंशत्या अस्तुवत) दश पैरकी अङ्गुलियाँ, दश हाथकी अङ्गुलियाँ दो पैर और तेरहवाँ आत्मा देहमें विद्यमान हैं इनको देखकर विद्वान जन परमात्माके अद्भुत रचना की स्तुति करते हैं, उन अङ्गोंकी शक्तियों द्वारा (क्षुद्राः पशवः असृज्यन्त) क्षुद्र पशुओंकी रचना हुई है, उन सबका (पूषा अधिपतिः आसीत्) अधिपति पूषा अर्थात् अन्नदात्री पृथ्वी हुई। (पञ्चविंशत्या अस्तुवत) हाथों और पाँवों की दश, दश अङ्गुलियाँ दो बाहु, दो पैर और पच्चीसवाँ आत्मा ये पच्चीस देहके घटक हैं इसके द्वारा विद्वान् लोग विधाता की स्तुति करते हैं, उन घटक अवयवोंसेही (आरण्याः पशवः असृज्यन्त) जंगली पशु रचे गये हैं, इन सबका (वायुः अधिपतिः आसीत्) वायु अधिपति हुआ। (सप्तविंशत्या स्तुवत) हाथों व पैरोंकी दश दश अङ्गुलियाँ दश प्राण और इकतीसवाँ आत्मा इन घटकोंसे समस्त शरीर बना है इनको देखकर विद्वान लोग परमेश्वरके कुशलताका वर्णन करते हुये स्तुति करते हैं, इनके द्वाराही (द्यावापृथिवी व्यैताम्) द्यौ और पृथ्वी दोनों व्याप्त होते हैं, और उनमेंही (वसवः रुद्राः आदित्याः अनु वि आयन्) आठ वसु, ग्यारह रुद्र अर्थात् प्राण, और बारह मास उत्तमतासे रहते हैं, (त एव अधिपतयः आसन्) वे ही उन दोनों आकाश और पृथ्वीके अधिपति हुये ॥ ३० ॥

५

[७१९] **(एकविंशत्या अस्तुवत)** देहमें हाथों पैरोंकी दश दश अङ्गुलियां नौ प्राण इस प्रकार उन्नीस घटक शक्तियां विश्वको रच रही हैं, उन द्वारा विद्वान् जन विधाता प्रजापतिकी स्तुति करते हैं, **(वनस्पतयः असृज्यन्त)** उन घटक शक्तियोंसेही वनस्पतियोंको बनाया गया है **(सोमः अधिपतिः आसीत्)** सोम उनका अधिपति हुआ। **(एकत्रिंशता अस्तुवत)** हाथपैरकी दश दश अङ्गुलियाँ दश प्राण इकतीसवाँ जीवात्मा इन घटकोंसे समस्त शरीर बने हैं, इन शक्तियों द्वाराही विद्वान् जन परमेश्वरके कौशलका वर्णन करते हुये स्तुति करते हैं, इन शक्तियोंसेही **(प्रजाः असृज्यन्त)** समस्त प्रजा सृजी गई हैं, उनके **(यवाः च अयवाः च अधिपतयः आसन्)** पूर्वपक्ष और अपरपक्ष अथवा पुरुष और स्त्रियेंही उनके अधिपति हुये। **(त्रयः त्रिंशता अस्तुवत)** हाथोंपैरोंकी दश दश अङ्गुलियाँ, दश प्राण, दो चरण और तैंतीसवाँ जीवात्मा इन घटकोंसे समस्त शरीर बने हैं, इन शक्तियों द्वाराही परमविधाता परमेश्वरकी विद्वान् जन स्तुति करते हैं, उनसेही **(भूतानि अशाम्यन्)** समस्त प्राणीगण सीखी होते हैं, उन सबका **(परमेष्ठी प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्)** परमेष्ठी सर्वोच्च पदपर प्रजापति परमात्माही सबका अधिपति हुआ ॥ ३१ ॥

॥ चौदहवां अध्याय समाप्त ॥



अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।

अग्ने जातान् प्र णुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् नुद जातवेदः ।
अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडँस्तव स्याम शर्मं स्त्रिवरूथ उद्भौ ॥ १ ॥

सहसा जातान् प्र णुदा नः सपत्नान् प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयथ्ठ स्याम प्र णुदा नः सपत्नान् ॥ २ ॥

षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिंथ्ठश स्तोमो वर्चो द्रविणम् ।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः ।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व ॥ ३ ॥

---

[७२०] हे (जातवेदः अग्ने) सब पदार्थोंको जाननेवाले अग्ने ! (नः जातान् सपत्नान् आ प्रणुद) हमारे उत्पन्न हुए शत्रुओंको सब प्रकारसे विनष्ट करो, और (अजातान् प्रतिनुद) अनुत्पन्न शत्रुओंको प्रतिबन्ध करो। (नः अहेडं सुमनः नः अधि ब्रूहि) हमारा अनादर न करके प्रसन्न मनसे हमको वर प्रदान करो। हम (तव त्रिवरूथे उद्भौ शर्मन् स्याम) तेरे त्रिविध तापोंके निवारण करनेवाले उत्तम सुखोंके उत्पादक आश्रयमें रहें ॥ १ ॥

नः जातान् सपत्नान् आ प्रणुद— हमारे उत्पन्न हुए शत्रुओंको दूर करो।

अजातान् सपत्नान् प्रतिनुद— हमारे प्रकट न हुए शत्रुओंको भी दूर करो।

तव त्रिवरूथे उद्भौ शर्मन् स्याम— हम तेरे त्रिविध दुःखोंको दूर करनेवाले उत्तम सुखोंके उत्पादक स्थानमें रहें ॥ १ ॥

[७२१] हे (जातवेदः) सबको जाननेवाले अग्ने ! (सहसा जातान् नः सपत्नान् आ प्रणुद) हमारे बलवान शत्रुओंको सब ओरसे नाश करो, और (अजातान् प्रतिनुदस्व) उत्पन्न न हुए शत्रुओंको विनष्ट कर दो। तुम (सुमनस्यमानः नः अधि ब्रूहि) उत्तम मनवाले होकर हमें उपदेश करो जिससे (वयं आस्याम) हम सब सबप्रकारसे अधिक बलवान् हों, (नः सपत्नान् प्रणुद) हमारे सब शत्रुओंको नाश करो ॥ २ ॥

सहसा जातान् नः सपत्नान् आ प्रणुद— बलवान् बने हमारे शत्रुओंका नाश करो।

अजातान् प्रतिनुदस्व— जो शत्रु, इस समय शत्रुता करते नहीं हैं, परंतु जो आगे शत्रु होंगे, उनका भी नाश करो।

सुमनस्यमानः नः अधिब्रूहि— उत्तम मनसे हमें उपदेश करो। हमें उत्तम विचारपूर्वक उत्तम उपदेश करो।

वयं आ स्याम— हम उत्तम बलवान बनकर यहां रहेंगे।

नः सपत्नान् प्रणुद— हमारे सब शत्रुओंको दूर करो ॥ २ ॥

[७२२] (षोडषी स्तोमः ओजः द्रविणम्) सोलह कलाओंसे युक्त 'स्तोम' पराक्रम रूप धन देता है। (चतुश्चत्वारिंशः वर्चः द्रविणम्) चौवालीस बलोंसे युक्त स्तोम भी तेज और बल प्रदान करता है। तू (अप्सः नाम अग्नेः पुरीषं असि) रक्षक नामसे अग्निके अथवा अग्रणीके बलको बढानेवाली है, (तां त्वां विश्वे देवाः अभिगृणन्तु) उस तुम्हारी सम्पूर्ण देवता स्तुति करते हैं। तू (स्तोमपृष्ठाः घृतवती इह सीद) समस्त बलों और वीर्यवान् पुरुषोंका आश्रय होकर तेजको धारण करती हुई इस भूतलपर स्थिर हो और (अस्मे प्रजावत् द्रविणं आयजस्व) हमें प्रजाओंसे युक्त यथेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान कर ॥ ३ ॥

एवश्छन्दो[1] वरिवश्छन्दः[2] शम्भूश्छन्दः[3] परिभूश्छन्द[4] आच्छच्छन्दो[5] मनश्छन्दो[6]
व्यचश्छन्दः[7] सिन्धुश्छन्दः[8] समुद्रश्छन्दः[9] सरिरं छन्दः[10] ककुप्छन्द[11]—
स्त्रिककुप्छन्दः[12] काव्यं छन्दो[13] अङ्कुपं छन्दो[14] ऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः[15] पदपङ्क्तिश्छन्दो[16]
विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः[17] क्षुरो भ्रजश्छन्दः[18] ॥ ४ ॥

आच्छच्छन्दः[1] प्रच्छच्छन्दः[2] संयच्छन्दो[3] वियच्छन्दो[4] बृहच्छन्दो[5] रथन्तरञ्छन्दो[6]
निकायश्छन्दो[7] विवधश्छन्दो[8] गिरश्छन्दो[9] भ्रजश्छन्दः[10] सꣳस्तुप्छन्दो[11] ऽनुष्टुप्छन्द[12]
एवश्छन्दो[13] वरिवश्छन्दो[14] वयश्छन्दो[15] वयस्कृच्छन्दो[16] विष्पर्धाश्छन्दो[17]
विशालं छन्द[18]—श्छदिश्छन्दो[19] दूरोहणं छन्द[20]—स्तन्द्रं छन्दो[21] अङ्काङ्कं छन्दः[22] ॥ ५ ॥

षोडशी स्तोमः, ओजः द्रविणम्— सोलह कलाओंसे होनेवाला स्तोम है, उसका धन पराक्रमयुक्त बल है।

चतुश्चत्वारिंशः वर्चः द्रविणम्— चवालीस प्रकारके बलोंसे युक्त तेज है, जो बल बढाता है।

अप्सः नाम अग्नेः पुरीषं असि— जलमें उत्पन्न होनेवाला अग्निका बल है।

तां विश्वेदेवाः अभिगृणन्तु— उस बलकी सब देव स्तुति करें।

अस्मे प्रजावत् द्रविणं आयजस्व— हमें प्रजासे युक्त धन प्रदान करो। हमें प्रजा हो तथा धन भी प्राप्त हो ॥ ३ ॥

[७२३] (एवः छन्दः) गति यह आनंद है। (वरिवः छन्दः) श्रेष्ठतामें आनंद है। (शम्भू छन्दः) सुखदायक होनेसे आनंददायक है। (परिभूः छन्दः) सब ओरसे व्याप्त होकर रहना आनंददायक है। (आच्छत् छन्दः) आच्छादन करनेवाला आनंददायक है (मनः छन्दः) मनकी मनन शक्ति आनंद देनेवाली है। (व्यचः छन्दः) व्याप्त करनेकी शक्ति आनंद देती है। (सिन्धुः छन्दः) सिन्धु आनंद देनेवाला है। (समुद्रः छन्दः) समुद्र आनंद देनेवाला है। (सरिरं छन्दः) पानी आनंद देनेवाला है। (ककुप् छन्दः) ककुप आनंद देनेवाला है। (त्रिककुप् छन्दः) त्रिककुप् आनंद देनेवाला छंद है। (काव्यं छन्दः) काव्य आनंद देनेवाला है। (अङ्कुपं छन्दः) अंकुप छंद आनंद देता है। (अक्षरपंक्तिः छन्दः) अक्षरपंक्ति छंद आनंद देता है। (पदपंक्तिः छन्दः) पदपंक्ति छंद आनंद देता है (विष्टारपंक्तिः छन्दः) विष्टारपंक्ति छंद आनंद देता है। (क्षुरो भ्रजः छन्दः) क्षुरोभ्रज छन्द आनंद देता है ॥ ४ ॥

छंद आनंद देते हैं — १ एवः छन्दः २ वरिवः छन्दः ३ शंभू छन्दः ४ परिभूः छन्दः ५ आच्छत् छन्दः ६ मनः छन्दः ७ व्यचः छन्दः ८ सिन्धुः छन्दः ९ समुद्रः छन्दः १० सरिरं छन्दः ११ ककुप् छन्दः १२ त्रिककुप् छन्दः १३ काव्यं छन्दः १४ अङ्कुपं छन्दः १५ अक्षरपंक्तिः छन्दः १६ पदपंक्तिः छन्दः १७ विष्टारपंक्तिः छन्दः १८ क्षुरोभ्रजः छन्दः ॥ ४ ॥

[७२४] हे इष्टके ! (आच्छत् छन्दः) शरीरका आच्छादक अन्नका मनन करते तुमको सादन करता हूं। (प्रच्छत् छन्दः) शरीर प्रच्छादक जलका मनन करते तुमको सादन करता हूं। (संयत् छन्दः) व्यापारकी निवर्तक रात्रीका मनन करते तुमको सादन करता हूं। (वियत् छन्दः) विशेष व्यापार प्रवर्तक दिनको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (बृहत् छन्दः) विस्तीर्ण द्युलोकको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (रथन्तरं छन्दः) जहां रथादि द्वारा गमन करते हैं उस भूलोकको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (निकायः छन्दः) अत्यन्त शब्दकारक वायुको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (विवधश्छन्दः) जहां भूतप्रेतरूपसे विविध प्रकारके पाप भोगे जाते हैं उस अन्तरिक्ष को मनन करते तुमको सादन करता हूं। (गिरः छन्दः) भक्षण योग्य अन्नको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (भ्रजः छन्दः) प्रकाशमान अग्निको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (संस्तुप् छन्दः) वैखरी वाणीको

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वान्वित्या दिवा दिवं जिन्व
सन्धिनाऽन्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व
विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवयाऽह्नाऽहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीं जिन्वो-
शिजा वसुभ्यो वसूञ्जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व ॥ ६ ॥

मनन करते तुमको सादन करता हूं। (अनुष्टुप् छंदः) मध्यमा वाणीको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (एवश्छंदः) पृथ्वी लोकको मनन करते तुमको सादन करता हूं (वरिवश्छंदः) प्रभामण्डलको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (वयः छन्दः) बाल्यादि वयके हेतु मनन करते तुमको सादन करता हूं। (वयस्कृत् छंदः) बाल्यादि कारक जाठराग्निको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (विष्पर्द्धाः छंदः) विविध ऐश्वर्यकी प्राप्तिवाले स्वर्गके स्पर्द्धामूल अहंतत्वको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (विशालं छंदः) जहां मनुष्य अनेक प्रकारसे शोभित होते हैं उस भूतलको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (छदिः छंदः) सूर्यकी किरणोंसे छादित होनेवाले अन्तरिक्ष वा मायाको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (दूरोहणं छंदः) ज्ञान वा कठिनतासे प्राप्त होने योग्य निष्काम ज्योतिहोमादि यज्ञके प्रसादसे सिद्ध ज्ञानरूप सूर्यको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (तन्द्रं छंदः) अज्ञान वा स्थान संकोचक श्रेणीको मनन करते तुमको सादन करता हूं। (अङ्काङ्कं छन्दः) आस्तिकता का निदर्शन अथवा गर्त पाषाणादि युक्त जलको मनन करते तुमको सादन करता हूं ॥ ५ ॥

ये छंद आनंद देते हैं— १ आच्छत् छन्दः २ प्रच्छत् छन्दः ३ संयत् छन्दः ४ वियत् छन्दः ५ बृहत् छन्दः ६ रथन्तरं छन्दः ७ निकायः छन्दः ८ विवधः छन्द ९ गिरः छन्दः १० भ्रजः छन्दः ११ संस्तुप् छन्दः १२ अनुष्टुप् छन्दः १३ एवः छन्दः १४ वरिवः छन्दः १५ वयः छन्दः १६ वयस्कृत् छन्दः १७ विष्पर्धाः छन्दः १८ विशालं छन्दः १९ छदिः छन्दः २० दूरोहणं छन्दः २१ तन्द्रं छन्दः २२ अंकाङ्कं छन्दः ॥ ५ ॥

[७२५] तुम (रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व) तेजके द्वारा सत्यके लिये सत्यको संतुष्ट करो। (प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्व) उत्तम ज्ञानयुक्त धर्मके आचरणसे धर्मको तृप्त करो। (अन्वित्या दिवा दिवं जिन्व) प्रगतिवालेके प्रभावसे तेजस्विताके द्वारा द्युलोकको संतुष्ट करो। (सन्धिना अन्तरिक्षेण अन्तरिक्षं जिन्व) संधिके द्वारा अन्तरीय स्थानसे तुम अन्तरिक्षको जानो। (प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व) अन्नके द्वारा पृथ्वीके हितके लिये पृथ्वीसे प्रीति करनेवाली होओ। (विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व) स्तंभन करनेवाली वृष्टिके लिये वर्षाको जानो। (प्रवया अह्ना अहः जिन्व) अन्नके लिये तुम दिनको जानो। (अनुया रात्र्या रात्रिं जिन्व) अनुकूल रात्रीके मननसे तुम रात्रीको जानो। (उशिजा वसुभ्यः वसून् जिन्व) सबके हितकी इच्छा करनेवाले वसुओंकी संतुष्टिके लिये वसुओंको तृप्त करो। (प्रकेतेन आदित्येभ्यः आदित्यान् जिन्व) ज्ञानके द्वारा आदित्यगणोंके लिये तुम आदित्योंको संतुष्ट करो ॥ ६ ॥

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व— तेजस्विताके साथ सत्यके संरक्षण करनेके लिये सत्यसे प्रेम करो।

प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्व— उत्तम ज्ञानपूर्वक धर्मके द्वारा धर्मको पालन करो, धर्मपर प्रीति करो।

अन्वित्या दिवा दिवं जिन्व— प्रगति करते हुए तेजस्वितासे द्युलोक को संतुष्ट रखो। प्रगति करते हुए तेजस्विता अपनेमें बढाओ और दिव्य पुरुषोंको संतुष्ट रखो।

संधिना अन्तरिक्षेण अन्तरिक्षं जिन्व— संधिके द्वारा तुम अन्तरिक्षके द्वारा ही अन्तरिक्ष को जानो। अन्तरिक्षका प्रत्यक्ष दर्शन करके अन्तरिक्ष की स्थितिको जानो।

प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व— अन्नके द्वारा पृथिवीकी स्थितिको जानो। अन्न विपुल उत्पन्न हुआ, तो पृथिवी की स्थिति उत्तम है ऐसा समझो ॥ ६ ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वाऽनुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥८॥

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाऽधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ ९ ॥

---

[७२६] तुम (तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व) शरीरके संवर्द्धक अन्नके प्रयोगकी आयोजना करके धनका योग्य रीतिसे पोषण करो । (सं सर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्व) सुयोग्य संबंधसे वेदकी रक्षाके लिये वेदपरही प्रीति करो । (एडेन ओषधीभिः ओषधीः जिन्व) औषधिके द्वारा ओषधियोंकी आयोजनासे ओषधियोंको प्राप्त करो । (उत्तमेन तनूभिः तनूः जिन्व) उत्तम अन्नके प्रभावसे शरीर बढानेके लिये शरीरपर प्रीति करो । (वयोधसा अधीतेन अधीतं जिन्व) शरीरके लिये बलकारी अन्नके प्रभावसे अध्ययनके लिये अध्ययन परही प्रीति करो । (आभिजिता तेजसा तेजः जिन्व) विजयशील तेजसे तेज प्राप्त करो ॥ ७ ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व— पोषक अन्नके उपयोगसे, धनके पोषणसे धन और पोषण प्राप्त करो । धन प्राप्त करो और उस धनके सुप्रयोगसे अपने शरीरका पोषण करो ।

संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्व— उत्तम गुरुके संबंधसे वेदज्ञानकी सुरक्षाके लिये वेदका ज्ञान ही प्राप्त करो ।

एडेन ओषधीभिः ओषधीः जिन्व— औषध बनानेके लिये औषधियोंसे औषध प्राप्त करो ।

उत्तमेन तनूभिः तनूः जिन्व— उत्तम साधनासे शरीरोंसे उत्तम शरीर प्राप्त करो । उत्तम व्यायाम आदिसे स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरोंके द्वारा उत्तम शरीर निर्माण करो ।

मनुष्यके स्थूल, सूक्ष्म, कारण ऐसे शरीर रहते हैं । इनको उत्तम स्थिति रखकर अपना शरीर उत्तम अवस्थामें रखना योग्य है ।

वयोधसा अधीतेन अधीतं जिन्व— बलवर्धक अन्नका उपयोग करके शरीरको उत्तम बनाना और अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करना योग्य है ।

अभिजिता तेजसा तेजः जिन्व— विजयी तेजसे तेज प्राप्त करो, अपना तेज बढाओ ॥ ७ ॥

[७२७] तुम (प्रतिपत् असि) बुद्धि हो, (प्रतिपदे त्वा) बुद्धिके लिये तुमको प्राप्त करता हूं । तुम, (अनुपत् असि) अन्नके स्वरूप हो, (अनुपदे त्वा) अन्नके लिये तुमको स्वीकारता हूं । तुम (सम्पत् असि) सम्पत्ति हो' (सम्पदे त्वा) सम्पत्तिके लिये तुमको प्राप्त करता हूं । तुम (तेजः असि) शरीरमें तेज हो, (तेजसे त्वा) तेजके निमित्त तुमको स्वीकार करता हूं ॥ ८ ॥

प्रतिपद् असि— तू बुद्धि है, बुद्धिरूप है । मनुष्य बुद्धिरूप है । जैसी जिसकी बुद्धि वैसा वह मनुष्य होता है । अतः बुद्धि बढानी चाहिये । बुद्धि बढनेसे मनुष्यकी योग्यता बढती है ।

प्रतिपदे त्वा— बुद्धिके लिये मैं तुझे प्राप्त करता हूं ।

अनुपत् असि— तू अन्नरूप हो । जैसा अन्न मनुष्य खाता है वैसा वह बनता है ।

संपत् असि— मनुष्यके पास जैसी संपत्ति होती है, वैसा वह कहलाता है ।

तेजः असि— मनुष्य तेजःस्वरूप है । जैसा उसका तेज होता है वैसा वह बनता है ॥ ८ ॥

[७२८] तुम (त्रिवृत् असि) तीन सवनोंसे बननेवाला यज्ञ हो (त्रिवृते त्वा) उस यज्ञके लिये तुमको स्वीकारता हूं । तुम (प्रवृत् असि) सबको कार्यमें प्रवृत्त करनेवाले हो (प्रवृते त्वा) कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये तुमको स्वीकारता हूं । तुम (विवृत् असि, विवृते त्वा) प्रत्येक कार्यमें विशेष रीतिसे संबंधित होते हो, इस विवृत्तिके

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪ श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳪ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १० ॥

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪ श्रयतु प्र उगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

निमित्त तुमको ग्रहण करता हूं। तुम (सवृत् असि, सवृते त्वा) उत्तम चरित्रवाला हो, ऐसे उत्तम चरित्रवालेका मैं स्वीकार करता हूं। तुम (आक्रमः असि, आक्रमाय त्वा) आक्रमक हो, तुझ आक्रमण कर्ताको स्वीकार करता हूं। तुम (संक्रमः असि, संक्रमाय त्वा) सम्यक् रीतीसे चढाई करनेवाला हो, तुझ सम्यक् रीतिसे चढाई करनेवालेको मैं स्वीकार करता हूं। तुम (उत्क्रमः असि, उत्क्रमाय त्वा) उन्नत होनेके लिये तुमको ग्रहण करता हूं। तुम (उत्क्रान्तिः असि, उत्क्रान्त्यै त्वा) उत्क्रान्ति करनेवाले हो, उत्क्रान्तिके लिये तुमको स्वीकार करता हूं ॥ ९ ॥

त्वं त्रिवृत् असि। त्रिवृते त्वा— तीन भागोंसे बनने वाला यज्ञ है। अतः त्रिभागोंसे होनेवाले तुझे मैं प्राप्त करता हूं।

प्रवृत् असि। प्रवृते त्वा— तू सत्कर्मका प्रवर्तक हो, तुझे सत्कर्म प्रवृत्ति उत्पन्न करनेके लिये स्वीकारता हूं।

विवृत् असि। विवृते त्वा— तू विशेष रीतिसे कार्यको करनेवाले हो। ऐसे सत्कार्य करनेवाले तेरा मैं स्वीकार करता हूं।

सवृत् असि। सवृते त्वा— तू उत्तम चरित्रवाला हो। उत्तम चारित्र्यवाले तेरा मैं स्वीकार करता हूं।

आक्रमः असि। आक्रमाय त्वा— आक्रमण करनेवाला तू है। मैं शत्रुपर आक्रमण करनेवाले तुझे पास करता हूं।

संक्रमः असि, संक्रमाय त्वा— उत्तम रीतिसे चढाई करनेवाला तू है, ऐसे उत्तम चढाई शत्रुपर करनेवालेको पास बुलाता हूं।

उत्क्रमः असि, उत्क्रमाय त्वा— तुम उत्तम रीतिसे उन्नत होनेवाला है, ऐसे उन्नत होनेवाले तुझे मैं स्वीकारता हूं।
उत्क्रान्तिः असि, उत्क्रान्त्यै त्वा — तू उत्क्रान्ति करनेवाला है, उत्क्रान्ति करनेवाले तेरा मैं स्वीकार करता हूं ॥ ९ ॥

[७२९] तुम (प्राची दिक् राज्ञी असि) पूर्व दिशा राज्ञी जैसी हो। (वसवः देवाः ते अधिपतयः) आठ वसु देवता तुम्हारे अधिपति हैं। (अग्निः हेतीनां प्रतिधर्ता) अग्नि तुम्हारे सम्पूर्ण कष्टोंके निवारक है। (त्रिवृत्स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) त्रिवृत्स्तोम तुमको पृथ्वीमें स्थापन करें। (आज्यं उक्थं अव्यथायै स्तभ्नातु) घृत और स्तोत्र तेरी दृढताको सुदृढ करे। (रथन्तरं साम अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै) रथन्तर साम अन्तरिक्ष लोकमें प्रतिष्ठाके निमित्त तुमको दृढ करे। (प्रथमजाः ऋषयः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा त्वा प्रथन्तु) प्रथमोत्पन्न ऋषिगण द्युलोकमें श्रेष्ठ देवोंमे तुझे सुस्थिर करें। (विधर्ता च अयं अधिपतिः च त्वा) विशेष रीतिसे यह धारण करनेवाला अधिपति भी तुमको विस्तारित करें, इस प्रकार (ते सर्वे संविदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयतु) वे सब वसु आदि देवता एकत्र मिलकर सुखस्वरूप स्वर्गलोकमें यजमानको अवश्यही स्थापित करें ॥ १० ॥

[७३०] तुम (विराट् दक्षिणा दिक् असि) विशेष विराजमान दक्षिण दिशा हो, (रुद्राः देवाः ते अधिपतयः) सारे रुद्र देवता तुम्हारे पालक हैं, (इन्द्रः हेतीनां प्रतिधर्ता) इन्द्र व्याधियोंका निवारणकर्ता है, (पञ्चदशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) पञ्चदशस्तोम तुमको भूमिमें स्थापित करें। (प्रउगं उक्थं अव्यथायै स्तभ्नातु) प्रउग नामक उक्थ दृढताके लिये तुमको सुदृढ बनावे। (बृहत्साम अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै) बृहत्साम अन्तरिक्षमें तुम्हारे

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १२ ॥

स्वराडस्युदीची दिङ्मरुतस्ते देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविᳬशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १३ ॥

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिणवत्रयस्त्रिᳬशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याᳬ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताᳬ शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १४ ॥

प्रतिष्ठाके कारण हो। (प्रथमजाः ऋषयः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा त्वा प्रथन्तु) प्रथमोत्पन्न ऋषिगण द्युलोकमें श्रेष्ठ देवांशोंमें तुझे स्थापित करें। (विधर्ता च अयं अधिपतिः च त्वा) इष्टका निष्पादन करनेवाला और यह देवता भी तुमको विस्तारित करें। इस प्रकार (ते सर्वे संविदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयतु) वे सब वसु आदि देवता एकत्र आकर स्थित हुये सुखस्वरूप स्वर्गलोकमें यजमानको अवश्यही पहुंचावें ॥ ११ ॥

[७३१] तुम (सम्राद् प्रतीची दिक् असि) विशेष दीप्तिमान् पश्चिमा दिशा हो, (आदित्याः देवाः ते अधिपतयः) आदित्यगण दिव्यगुणोंवाले देव तुम्हारे पालक हैं, (वरुणः हेतीनां प्रतिधर्ता) वरुण दुःखोंका निवर्तक है, (सप्तदशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) सप्तदश स्तोम तुमको भूमिमें स्थापित करे। (मरुत्वतीयं उक्थं अव्यथायै स्तभ्नातु) मरुत्वतीय शस्त्र दृढताके निमित्त तुमको स्थिर करें। (वैरूपं साम अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै) वैरूपसाम अन्तरिक्षमें तुमको प्रतिष्ठाके निमित्त दृढ करें। (प्रथमजाः ऋषयः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा त्वा प्रथन्तु) प्रथमोत्पन्न ऋषिगण अर्थात् सम्पूर्ण प्राण द्युलोकमें श्रेष्ठ देवांश स्थापित करें। (विधर्ता च अयं अधिपतिः च त्वा) यह प्रधानभूत देवता भी तुमको विस्तारित करें। इस प्रकार (ते सर्वे संविदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयतु) वे सब वसु आदि देवता एक संमतिसे सुखस्वरूप ऊपर स्वर्गलोकमें यजमानको अवश्यही प्राप्त करें ॥ १२ ॥

[७३२] तुम (स्वराद् उदीची दिक् असि) स्वयं विराजमान होनेवाली उत्तर दिशा हो; (मरुतः देवाः ते अधिपतयः) मरुत देवगण तुम्हारे पालक हैं; (सोमः हेतीनां प्रतिधर्ता) सोम व्याधियोंका निवारक है; (एकविंशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) एकविंश स्तोम तुमको भूमिमें स्थापित करे; (निष्केवल्यं उक्थं अव्यथायै स्तभ्नातु) निष्केवल्य नाम शस्त्र दृढताके लिये तुमको स्थापन करे; (वैराजं साम अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यैः) वैराज साम अन्तरिक्षमें तुमको प्रतिष्ठाके निमित्त दृढ करे। (प्रथमजाः ऋषयः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा त्वा प्रथन्तु) प्रथमोत्पन्न ऋषिगण अर्थात् सम्पूर्ण द्युलोकमें श्रेष्ठ देवांश प्रथित करें। ((विधर्ता च अयं अधिपतिः च त्वा) इष्टका निष्पादन करनेवाला और यह प्रधान भूत मनोभिमानी देवता भी तुमको विस्तारित करें। इस प्रकार (ते सर्वे संविदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयतु) वे सब वसु आदि देवता एकमतिसे स्थित हुये सुखस्वरूप ऊपर स्वर्गलोकमें यजमानको अवश्यही प्राप्त करें ॥ १३ ॥

[७३३] तुम (अधिपत्नी बृहती दिक् असि) अधिक पालन करनेवाली बडी ऊर्ध्व दिशा हो; (विश्वे देवाः ते अधिपतयः) सब देवगण तुम्हारे पालक हैं; (बृहस्पतिः हेतीनां प्रतिधर्ता) बृहस्पति दुःखोंका निवारक

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ ।
पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो
नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ ।
मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु
ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ ।
प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु
ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १७ ॥

है; (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ त्वा पृथिव्यां श्रयताम्) त्रिनवत्रयस्त्रिंश स्तोम तुमको भूमिमें स्थापित करें; (वैश्वदेवाग्नि मारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीतां) वैश्वदेव अग्नि मारुत उक्थ दृढताके निमित्त तुमको स्थापित करें। (शाक्वररैवते साम्नी अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै) शाक्वररैवत दोनों साम अन्तरिक्षमें तुमको प्रतिष्ठाके निमित्त दृढ करें। (प्रथमजाः ऋषयः देवेषु दिवः मात्रया वरिम्णा त्वा प्रथन्तु) प्रथमोत्पन्न ऋषिगण अर्थात् सम्पूर्ण प्राण द्युलोकमें श्रेष्ठ देवांश प्रथित करें। (विधर्ता च अयं अधिपतिः च त्वा) इष्टका निष्पादन करनेवाला और यह प्रधान भूत मनोभिमानी देवता भी तुमको विस्तारित करें। इस प्रकार (ते सर्वे संविदानाः नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयतु) वे सब वसु आदि देवता एक मतिसे स्थित हुये सुखस्वरूप ऊपर स्वर्ग लोकमें यजमानको अवश्यही प्राप्त करें ॥ १४ ॥

[६३४] (अयं पुरः हरिकेशः सूर्यरश्मिः) यह पूर्व दिशामें स्थापित इष्टकारूप अग्नि कनक वर्णके ज्वालाओंसे युक्त सूर्यके सदृश किरणोंवाला है, (तस्य रथगृत्सः, च रथौजाः सेनानीग्रामण्यौ, च पुञ्जिकस्थला अप्सरसौ) उस अग्निके रथ विद्यामें कुशल और रथयुद्धमें कुशल सेनानायक और ग्रामनायक दोनों वसन्त ऋतु हैं, और संकल्प और रूपादि ज्ञानकी आधारभूत दिशा और उपदिशा रूप हैं, (च दङ्क्ष्णवः पशवः हेतिः) और काटनेका स्वभाव धारण करनेवाले व्याघ्रादि पशु आयुध वज्र हैं, (पौरुषेयः वधः प्रहेतिः) परस्पर हननरूप वध शस्त्र है इस प्रकार (तेभ्यः नमः अस्तु) उस अग्निके सम्पूर्णपरिचारकोंके निमित्त नमस्कार हो। (ते नः मृडयन्तु) वे सब हमारे लिये सुख दें, (ते नः अवन्तु) वे सब हमारी रक्षा करें, (ते यं द्विष्मः च यः नः द्वेष्टि तं एषां जम्भे दध्मः) वे सब, जिससे हम सब द्वेष करते हैं और जो हमारा द्वेष करनेवाला है उनको इनके डाढोंमे डालते हैं ॥ १५ ॥

[७३५] (अयं दक्षिणा विश्वकर्मा) यह दक्षिण दिशामें स्थापित सब कर्मकर्ता वायु है, (तस्य रथस्वनः च रथे चित्रः सेनानीग्रामण्यौ) उसका रथमें स्थित हो शब्द करनेवाला, और रथके ऊपर चित्रके समान स्थित हो शासन करनेवाले सेनापति और नगररक्षक ग्रीष्म ऋतु रूप हैं, (मेनका सहजन्या अप्सरसौ) और सबसे माननीय जो सर्व साधारणके साथ स्थित हो यह दो अप्सरायें हैं, (च यातुधाना हेति) और राक्षसोंका अवान्तर जातिभेद शस्त्र है, (रक्षांसि प्रहेतिः) अतिक्रूर राक्षस तीक्ष्ण शस्त्र हैं, इस प्रकार (तेभ्यः नमः अस्तु) उस इष्टका रूप सब कर्म कर्ता वायुके सम्पूर्ण परिचारकोंके निमित्त नमस्कार हो, (तेन मृडयन्तु) वे सब हमारे लिये सुख दें, (ते नः अवन्तु) वे सब हमारी रक्षा करें, (ते यं द्विष्मः च यः नः द्वेष्टि तं एषां जम्भे दध्मः) वे सब, जिससे हम सब द्वेष करते हैं, और जो हमारे लिये द्वेष करनेवाला है उसको इनको डाढोंमें डालते हैं ॥ १६ ॥

[७३६] (अयम् पश्चात् विश्व व्यचाः) यह पश्चिम दिशामें सब विश्वका प्रकाशक आदित्य है, (तस्य रणप्रोतः च असमरथः सेनानी ग्रामण्यौ) उसका रथयुद्धमें धैर्यवान शूर और अनुपमरथी सेनापति और ग्रामपालक

+

अयमुत्तरात्संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ ।
विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु
ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १८ ॥
अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ ।
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु
ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १९ ॥
अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपांꣳ रेतांꣳसि जिन्वति ॥ २० ॥
अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः । मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥

वर्षाऋतु है; (प्रम्लोचन्ती च अनुम्लोचन्ती अप्सरसौ) अपने वेशविन्यासादि द्वारा सबके मनको हरनेमें समर्थ, एकबार मुग्ध होकर कष्ट पानेवाले व्यक्तिको पुनः मोहित करनेवाली दोनों अप्सरायें हैं, (च व्याघ्राः हेतिः) और व्याघ्रजीव शस्त्र हैं, तथा (सर्पाः प्रहेतिः) तीक्ष्ण हथियार हैं, (तेभ्यः नमः अस्तु) उन सबोंके लिये नमस्कार हो, ते नः मृडयन्तु) वे सब हमारे लिये सुख दें, (ते नः अवन्तु) वे सब हमारी रक्षा करें, (ते यं द्विष्मः च यः नः द्वेष्टि तं एषां जम्भे दध्मः) वे सब जिससे हम सब द्वेष करते हैं और जो हमारे लिये द्वेष करनेवाला है उनको इनके दाढोंमें डालते हैं ॥ १७ ॥

[७३७] (अयम् उत्तरात् संयद्वसुः) यह उत्तर दिशामें स्थापित इष्टका धनसे प्राप्त होनेवाला यज्ञ है, (तस्य तार्क्ष्यः च अरिष्टनेमिः सेनानी ग्रामण्यौ) उसका अन्तरिक्षमें तीक्ष्ण पक्षरूपी आयुधोंका विस्तार करनेवाला और अरिष्ट नाशक अप्रतिहत हथियारोंवाले सेनानी और ग्रामपालक शरद ऋतु हैं (च विश्वाची च घृताची अप्सरसौ) और संसारसे वन्दित तथा घृत भक्षण करनेवाली दो अप्सरायें हैं, (च आपः हेतिः वातः प्रहेतिः) और जल शस्त्र हैं तथा पवन तीक्ष्ण आयुध है, (तेभ्यः नमः अस्तु) उन सबोंके लिये नमस्कार हो, (ते नः मृडयन्तु) वे सब हमारे लिये सुख दें, (ते नः अवन्तु) वे सब हमारी रक्षा करें, (ते यं द्विष्मः च यः नः द्वेष्टि तं एषां जम्भे दध्मः) वे सब जिससे हम सब द्वेष करते हैं और जो हमारा द्वेष करनेवाला है उनको इनके दाढोंमें डालते हैं ॥ १८ ॥

[७३८] (अयं उपरि अर्वाग्वसुः) यह ऊपर मध्यदिशामें वर्तमान इष्टिका पर्जन्य है । (तस्य सेनाजित् च सुषेणः सनानी ग्रामण्यौ) उसके सेना जीतनेवाले और सुन्दर सेनावाले सेनापति और ग्रामपालक हेमन्त ऋतु है, (च उर्वशी च पूर्वचित्तिः अप्सरसौ) और विस्तीर्ण कामको स्वाधीन करनेवाली एवं अधिक रूपवती होनेसे पुरुषोंके मनोंको वश करनेवाली दो अप्सरायें हैं, (च अवस्फूर्जन् हेतिः, 'विद्युत् प्रहेतिः) और भयका हेतु वज्र शस्त्र है, बिजली तीक्ष्ण आयुध है, (तेभ्यः नमः अस्तु) उन सबोंके लिये नमस्कार हो (ते नः मृडयन्तु) वे सब हमारे लिये सुख दें, (ते नः अवन्तु) वे सब हमारी रक्षा करें, (ते यं द्विष्मः च यः नः द्वेष्टि तं एषां जम्भे दध्मः) वे सब जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमारे द्वेष करनेवाला है उनको इनके दाढोंमें डालते हैं ॥ १९ ॥

[७३९] (अयं अग्निः दिवः मूर्धा) यह अग्नि द्युलोकके मूर्धाके समान प्रधान और (ककुत्) बैलके स्कंध सदृश उन्नत है, यही अग्नि (पृथिव्याः पतिः, अपां रेतांसि जिन्वति) भूमिका पालक और जलोंके बलोंको पुष्ट करता है ॥ २० ॥

[७४०] (अयम् अग्निः) यह अग्नि (कविः, सहस्रिणः, शतिनः वाजस्य पतिः) क्रान्तदर्शी, सहस्रों सुखोंका स्वामी, सैकडों ऐश्वर्योंवाला अन्नका स्वामी और (मूर्धा रयीणां पतिः) शिरके समान उच्च पदपर विराजमान श्रेष्ठ-रत्नोंका मालिक है ॥ २१ ॥

त्वाम॑ग्ने पुष्क॑राद॒ध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत । मू॒र्ध्नो विश्व॑स्य वा॒घतः॑ ॥ २२ ॥

भु॒वो य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑ ।
दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म् ॥ २३ ॥

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म् ।
य॒ह्वा इ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑ ॥ २४ ॥

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृष॒भाय॒ वृष्णे॑ ।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वीव॑ रु॒क्ममु॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत् ॥ २५ ॥

अ॒यमि॒ह प्र॑थ॒मो धा॑यि धा॒तृभि॒र्होता॒ यजि॑ष्ठो अध्व॒रेष्वीड्यः॑ ।
यमप्न॑वानो॒ भृग॑वो विरुरु॒चुर्वने॑षु चि॒त्रं वि॒भ्वं॑ वि॒शेवि॑शे ॥ २६ ॥

जन॑स्य गो॒पा अ॑जनिष्ट॒ जागृ॑विर॒ग्निः सु॒दक्षः॑ सुवि॒ताय॒ नव्य॑से ।
घृ॒तप्र॑तीको बृह॒ता दि॑वि॒स्पृशा॑ द्यु॒मद्वि भा॑ति भर॒तेभ्यः॒ शुचिः॑ ॥ २७ ॥

---

[७४१] हे (अग्ने) अग्ने ! (विश्वस्य वाघतः अथर्वा) सम्पूर्ण संसारके ऋत्विजोंमें श्रेष्ठ अथर्वाने (मूर्ध्नः त्वां) शिरके तुल्य वर्तमान तुमको (अधि पुष्करात् निरमन्थत्) आकाशके बीचसे मंथन द्वारा अच्छी प्रकार मथ करके प्रकाशित किया ॥ २२ ॥

[७४२] हे (अग्ने) अग्नि ! जब तुम (हव्यवाहं जिव्हां चकृषे) हवि धारण करनेवाली जिव्हारूपज्वालाको प्रकट करते हो, तब (यज्ञस्य च रजसः नेता भुवः) यज्ञके और यज्ञ परिणामरूप ज्वालाओंके प्रवर्तक नेता होते हो, (यत्र शिवाभिः नियुद्भिः सचसे) जहां मंगल अश्वोंके सहित तुम प्राप्त होते हो वहां (दिविस्वर्षां मूर्द्धानं दधिषे) द्युलोकमें स्वर्गके देनेवाले आदित्यको धारण करते हो ॥ २३ ॥

[७४३] (जनानां समिधा अग्निः अबोधि) मनुष्योंकी समिधासे अग्नि प्रज्वलित होता है, (इव आयतीं धेनुं उषासं प्रति) जिस प्रकार आती हुई धेनुको देखकर बछडा प्रबुद्ध होता है, उसी प्रकार उषाकालके आनेपर मनुष्य प्रबुद्ध होते हैं। और (भानवाः नाकं अच्छ प्रसिस्रते इव वयाः यह्वा प्रोज्जिहानाः) दीप्तिमान् उसकी किरणें स्वर्गको प्राप्त करनेको ऊपर फैलती हुई उठती हैं, जिस प्रकार बडे पक्षी उडते हुये ऊपर आकाश मण्डलमें प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

[७४४] हम (कवये मेध्याय वृषभाय वृष्णे वन्दारु वचः अवोचाम्) कान्तदर्शी, यज्ञके योग्य, बलिष्ठ, सेचनमें समर्थ अग्निके निमित्त स्तुति को करते हैं। (गविष्ठिरः नमसा स्तोमं अग्नौ अश्रत्) वाणीमें स्थिर होता पुरुष अन्नको स्तोमके आहवनीय अग्निमें अर्पण करता है (इव दिवि रुक्मं उरुव्यञ्चं) जिस प्रकार स्वर्गमें प्रकाशमान सूर्यको सन्ध्या वन्दन आदिमें प्रयुक्त की हुई बडी स्तुति अर्पित होती है ॥ २५ ॥

[७४५] (अयं) यह अग्नि (होता यविष्ठः अध्वरेषु ईडयः) देवताओंको आव्हान करनेवाला, यज्ञका कर्ता, यागादिमें ऋत्विजोंके द्वारा स्तुतिको प्राप्त हुआ, (इह प्रथमः धातृभिः आधायि) इस यज्ञमें ऋत्विजोंसे स्थापित किया गया है, (अप्नवानः भृगवः विशे विशे चित्रं विभुं) सन्तानवाले भृगुओंने प्रत्येक प्रजामें आश्चर्यरूप व्यापक (यं) जिस अग्निको (वनेषु विरुरुचुः) वनोंमें प्रदीप्त किया है ॥ २६ ॥

[७४६] (जनस्य गोपाः, जागृविः, सुदक्ष, घृतप्रतीकः, शुचिः अग्निः) यजमानोंका रक्षक, जाग्रत, अत्यन्त दक्ष, घृतको अपनेमें रखनेवाला और पवित्र अग्नि (नव्यसे, सुविताय भरतेभ्यः अजनिष्ट) नवीन यज्ञकार्यके लिये याजक ऋत्वियोंके द्वारा प्रकट किया गया है, यह (दिविस्पृशा बृहता द्युमत् विभाति) द्युलोकको स्पर्श करनेवाली बडी कान्तियोंसे विशेष प्रकाशमान होता है ॥ २७ ॥

त्वाम॑ग्ने अङ्गि॑रसो गुहा॑ हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रिया॒णं वने॑-वने ।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः सहो॑ म॒हत्त्वाम॑हुः सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥ २८ ॥

सखा॑यः सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिष॒ꣳ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑ । वर्षि॑ष्ठाय क्षि॒तीना॑मू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते ॥ २९ ॥

सꣳस॒मिद्यु॑वसे वृ॒षन्नग्ने॒ विश्वा॑न्य॒र्य आ । इ॒डस्प॒दे समि॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्या भ॑र ॥ ३० ॥

त्वां चि॑त्रश्रवस्तम॒ हव॑न्ते वि॒क्षु ज॒न्तवः॑ । शो॒चिष्के॑शं पुरुप्रि॒याग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे ॥ ३१ ॥

ए॒ना वो॑ अ॒ग्निं नम॑सो॒र्जो नपा॑त॒मा हु॑वे । प्रि॒यं चेति॑ष्ठमर॒तिꣳ स्व॑ध्व॒रं विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म् ॥ ३२ ॥

विश्व॑स्य दू॒तम॒मृ॒तं विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म् । स यो॑जते अरु॒षा वि॒श्वभो॑जसा॒ स दु॑द्रव॒त्स्वा॒हुतः ॥ ३३ ॥

स दु॑द्रव॒त्स्वा॒हु॒तः स दु॑द्रव॒त्स्वा॒हुतः । सु॒ब्रह्मा॑ य॒ज्ञः सु॒शमी॒ वसू॑नां दे॒वꣳ राधो॒ जना॑नाम् ॥ ३४ ॥

---

[७४७] हे (अङ्गिरः अग्ने) अंगिराके लिये प्रिय अग्ने ! (अङ्गिरसः, गुहाहितं वने वने शिश्रियाणं त्वां अन्वविन्दन्) अङ्गिरसोंने गुहाके देशमें स्थित और अनेक वनस्पतियोंमें निवास करनेवाले तुमको प्राप्त किया । (सः महत्सः मथ्यमानः जायसे) वह तुम बडे बलसे मथ्यमान होने पर अरणीसे उत्पन्न होते हो, इसी कारण मुनिजन (त्वां सहसा पुत्रं आहुः) तुमको बल का पुत्र कहते हैं ॥ २८ ॥

अरणीका भ्रमण होनेसे अग्नि उत्पन्न होती है, और अरणीका मन्थन बलसे किया जाता है, इस कारण अग्निको बलका पुत्र कहते हैं ॥ २८ ॥

[७४८] हे (सखायः) मित्रो ! (क्षितीनां वः) मननशील मनुष्य तुम्हारे (ऊर्जः नप्त्रे सहस्वते वर्षिष्ठाय अग्नये) जलके पौत्ररूप, बडे बलवाले अग्निके लिये (सम्यञ्चं इषं च स्तोमं सम्) नवीन हवि रूप अन्न और स्तोमको सम्पादन करें ॥ २९ ॥

[७४९] हे (वृषन् अग्ने) बलवान् अग्ने ! सबके (अर्यः) स्वामी तुम (विश्वानि सं आ संयुवसे) सम्पूर्ण यज्ञके फलोंको सब ओरके यजमानको प्राप्त कराते हो, तुम (इडस्पदे समिध्यसे) पृथ्वीके स्थान उत्तर वेदीमें अच्छी तरह प्रदीप्त होते हों, (सः इत् नः वसूनि आभर) वह प्रसिद्ध तुम ही हमारेलिये श्रेष्ठ धनोंको सब प्रकार लाकर प्रदान करो ॥ ३० ॥

[७५०] (चित्रश्रवः पुरुप्रियः अग्ने) हे कीर्ति और ऐश्वर्यसे अत्यन्त प्रिय अग्ने ! (विक्षु) प्रजाओंमें (जन्तवः, तं त्वां हव्याय वोढवे हयन्ते) समस्त जन उस तुमको हविका हवन करवानेके लिये बुलाते हैं ॥ ३१ ॥

[७५१] (वः एनाः नमसा) तुम्हारे इस अन्न द्वारा (ऊर्जः नपातं प्रियं चेतिष्ठं) जलके पौत्र, प्रिय अतिशय ज्ञान देनेवाला (अरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतं अमृतं अग्निं आहुवे) सदा उद्यमी, उत्तम यज्ञशील, सबके यज्ञादि कार्य करनेसे दूतरूप, मरणरहित अग्निको मैं बुलाता हूं ॥ ३२ ॥

[७५२] (अमृतं विश्वस्य दूतं) मरण रहित, सबके दूतको तथा (अमृतं विश्वस्य दूतं) अविनाशी सबके समान रूपसे प्रतिनिधि अग्निको हम बुलाते हैं । (सः अरुषा विश्वभोजसा योजते) वह प्रसिद्ध अग्नि क्रोध रहित, श्रेष्ठ सब यज्ञके भाग भोगनेवाले दो अश्वोंको अपने रथमें जोडता है, और (स्वाहुतः सः दुद्रवत्) उत्तम रीतिसे बुलाया जाकर वह शीघ्र दौडकर आता है ॥ ३३ ॥

[७५३] (सुब्रह्मा, सुशमी यज्ञः) श्रेष्ठ ऋत्विजोंसे युक्त, शुभ कर्मवाला यज्ञ है, उस यज्ञमें (सः स्वाहुतः दुद्रवत्) वह प्रसिद्ध अग्नि अच्छी प्रकारसे बुलानेपर आता है. और (सः स्वाहुतः जनानां देवं राधः) वह उत्तम रीतिसे आहूत होकर जहां यजमानोंका दिव्य धन है वहां (वसूनां दुद्रवत्) वसु रुद्र आदि देवगणोंके यज्ञमें शीघ्रतासे गमन करता है ॥ ३४ ॥

अग्ने वाज॑स्य॒ गोम॑त॒ ईशा॑नः सहसो यहो । अ॒स्मे धे॑हि जातवेदो॒ महि॒ श्रवः॑ ॥ ३५ ॥

स इ॑धा॒नो वसु॑ष्क॒विर॒ग्निरी॒डेन्यो॑ गि॒रा । रे॒वद॒स्मभ्यं॑ पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥

क्षपो॑ राजन्नु॒त त्मनाऽग्ने॒ वस्तो॑रु॒तोषसः॑ । स ति॑ग्मजम्भ र॒क्षसो॑ दह॒ प्रति॑ ॥ ३७ ॥

भ॒द्रो नो॑ अ॒ग्निराहु॑तो भ॒द्रा रा॒तिः सु॑भग भ॒द्रो अ॑ध्व॒रः । भ॒द्रा उ॒त प्रश॑स्तयः ॥ ३८ ॥

भ॒द्रा उ॒त प्रश॑स्तयो भ॒द्रं मनः॑ कृणुष्व वृत्र॒तूर्ये॑ । येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहः॑ ॥ ३९ ॥

येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहोऽव॑ स्थि॒रा त॑नुहि॒ भूरि॒ शर्ध॑ताम् । व॒नेमा॑ ते अ॒भिष्टि॑भिः ॥ ४० ॥

अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नवः॑ ।
अस्त॒मर्व॑न्त आ॒शवोऽस्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ४१ ॥

---

[७५४] हे (सहसः यहो जातवेदः अग्ने) बलके पुत्र, सर्वज्ञान सम्पन्न अग्ने ! (**गोमतः वाजस्य ईशानः**) गौओंसे युक्त अन्नके अधिपति तुम (अस्मे महि श्रवः धेहि) हमारे लिये बडा धन प्रदान करो ॥ ३५ ॥

गोमतः वाजस्य ईशानः— गौके उत्पन्न घीका स्वामी अग्नि है। गोघृतकाही हवन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

[७५५] हे (पुर्वणीक) बहुत सुखवाले ! (सः इधानः वसुः कविः गिरा ईडेन्यः अग्निः) वह दीप्यमान, सबके निवासके हेतु, क्रान्तदर्शी, वेदोंसे स्तुति योग्य यज्ञप्रवर्तक अग्नि (अस्मभ्यं रेवत् दीदिहि) हमारे लिये धनके समान प्रकाशित होओ ॥ ३६ ॥

[७५६] हे (राजन्) दीप्यमान् ! हे (तिग्मजम्भ) वज्रके समान तीक्ष्ण डाढवाले ! हे (अग्ने) अग्ने ! (सः) वह प्रसिद्ध तुम (त्मना उत, क्षपः वस्तोः उत उषसः रक्षसः प्रतिदह) अपने तीक्ष्ण स्वभावसेही राक्षसोंको नष्ट करनेवाले हो। अतः दिनके और उषा कालके सम्बन्धी राक्षसोंको जला दो ॥ ३७ ॥

[७५७] हे (सुभग) सुन्दर ऐश्वर्यवाले विद्वान् पुरुष ! (आहुतः अग्निः न भद्रः) ऋत्विजों द्वारा प्रदीप्त हुआ अग्नि हमारे लिये कल्याणकारी हो, (रातिः भद्रा) दान कल्याणारी हो, (अध्वरः भद्रः) यज्ञ कल्याणकारी हो और (प्रशस्तयः उत भद्राः) स्तुतियां भी सुखकारी हों ॥ ३८ ॥

[७५८] हे अग्ने ! (येन समत्सु सासहः मनः) जिस मनसे तुम संग्राममें शत्रुओंको पराभूत करते हो, उस मनको (वृत्रतूर्ये भद्रं कृणुष्व) आवरण करनेवाले शत्रुके साथ होनेवाले युद्धमें हमारा कल्याण करो, तुम्हारी (प्रशस्तयः उत भद्राः) स्तुतियां भी कल्याणरूप हों ॥ ३९ ॥

समत्सु सासहः मनः— युद्धोंमें बलवान मन हो, वह शत्रुके पराभव करनेका विचार करे।

वृत्रतूर्ये भद्रं कृणुष्व— शत्रुके साथ होनेवाले युद्धमें हमारा कल्याण करो ॥ ३९ ॥

[७५९] हे अग्ने ! तुम (येन) जिस शक्तिसे (समत्सु सासहः) संग्रामोंमें शत्रुओंको नाश करते हो उससे प्रेरित होकर (भूरि शर्धतां स्थिरा अवतनुहि) बहुत युद्ध करनेवाले शत्रुके स्थिर धनुषोंको ज्या रहित करो। (ते अभिष्टिभिः आ वनेम) तुम्हारे दिये हुये भोगोंसे हम सुख प्राप्त करें ॥ ४० ॥

येन समत्सु सासहः— जिस शक्तिसे युद्धोंमें विजय होता है, उस शक्तिको प्राप्त करें।

भूरि शर्धतां स्थिरा अवतनुहि— बहुत युद्ध करनेवाले शत्रुके वीरोंके धनुष्य स्थिर हों और ज्यारहित हों। धनुष्यकी रसी टूट जाय और शत्रुका धनुष्य निकम्मा हो जाय ॥ ४० ॥

[७६०] (यः वसुः तं अग्निं मन्ये) जो सबका आवास करनेवाला है उस अग्निको मैं जानता हूं, (धेनवः यं अस्तं) गायें जिस अग्निको प्रज्वलित जानकर अपने अपने घरोंमे आगमन करती हैं, (आशवः नित्यासः वाजिनः अर्वन्तः) शीघ्रगामी घोडे नित्यही बलसे सम्पन्न और वेगवान होकर (तं) उस अग्निको प्रज्वलित देखकर (अस्तं) घरको प्राप्त होते हैं, हे अग्ने ! इस प्रकारका तु (स्तोतृभ्यः इषं आ भर) स्तुति करनेवालोंके लिये अन्न भरपूर दो ॥ ४१ ॥

सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः ।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सᳬं सुजातासः सूरय इषᳬं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४२ ॥
उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि ।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषᳬं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४३ ॥
अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रᳬं हृदिस्पृशम् । ऋध्यामा त ओहैः ॥ ४४ ॥
अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः । रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ ४५ ॥
एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः । अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ ४६ ॥
अग्निᳬं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुᳬं सूनुᳬं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ४७ ॥

[७६१] (यः वसुः, सः गृणे) जो धन वा ऐश्वर्य है वह अग्नि ही है, उसकी स्तुति करता हूं । यह वही अग्नि है (यं धेनवः समायन्ति) जिसके पास गायें आतीं हैं, (रघुद्रुवः अर्वन्तः सं) शीघ्र गमनशील घोडे जिसके पास आते हैं और (सुजातासः सूरयः सं) उत्तम जन्म लेकर अच्छे संस्कारवाले विद्वान् जिस की उपासना करते हैं, ऐसे गुणोंसे सम्पन्न हे अग्ने ! (स्तोतृभ्यः इषं आभर) स्तुति करनेवालोंके लिये अन्न भरपूर प्रदान करो ॥ ४२ ॥

यः वसुः सः गृणे— जो बसानेवाला है, धनसे सहायक है, उसकी स्तुति करता हूं ।

यं धेनवः, रघुद्रुवः अर्वन्तः सूरयः समायन्ति तं अग्निं गृणे— जिस अग्निके पास गौवें, चपल घोडे तथा विद्वान मिलकर आते हैं उसकी स्तुति करता हूं ॥ ४२ ॥

[७६२] (सुश्चन्द्र) हे चन्द्रमाके समान उत्तम आल्हाद देनेवाले ! तुम अपने (आसनि सर्पिषः उभे दर्वी श्रीणीषे) मुखमें घृत पान करनेके लिये दोनों दर्वीरूप हाथोंका उपयोग करते हो । (उतो) और हे (शवसः पते) बलके अधिपति ! तुम (उक्थेषु नः पुपूर्याः) स्तुति करके किये हुए यज्ञोंमें हमको धनोंसे पूर्ण करो, अतः (स्तोतृभ्यः इषं आभर) स्तुति करनेवालोंके लिये उत्तम अन्नका प्रदान करो ॥ ४३ ॥

[७६३] (न अश्वं) जिस प्रकार वेगवान अश्वको अन्नोंसे समृद्ध करते हैं और (न हृदिस्पृशं भद्रं) जिस प्रकार अतिप्रिय चिरकालतक मनमें रहे कल्याणरूपी यज्ञको समृद्ध करते हैं, उसी प्रकारसे हे (अग्ने) अग्ने ! (अद्य ते तं क्रतुं ओहैः स्तोमैः आऋध्याम्) आज उस यज्ञको साममंत्रोंसे सब प्रकार परिपूर्ण करते हैं ॥ ४४ ॥

[७६४] हे (अग्ने) अग्ने ! (अधा हि) और तू निश्चयसे (भद्रस्य दक्षस्य साधोः बृहतः ऋतस्य रथीः बभूथ) कल्याणकारी, दक्ष, कल्याणकारी फलदानमें समर्थ, उत्तम कार्य साधक, महान् और सत्ययज्ञके रथके स्वामीके समान, नेता होइये ॥ ४५ ॥

अग्नि यज्ञका मुख्य नेता है । विना अग्निके कोई हवनका यज्ञ नहीं हो सकता ॥ ४५ ॥

[७६५] हे (अग्ने) अग्ने ! (नः एभिः अर्कैः सुमनाः) हमारे इन प्रार्थनाके मन्त्रोंसे प्रसन्नमन होकर अपने (विश्वेभिः अनीकैः नः अर्वाङ् आभव) सारे किरणोंसे हमारें सन्मुख प्रकाशित होइये । (न स्वर्णज्योतिः) जिस प्रकार सूर्य उदित होकर सम्पूर्ण जगतके सन्मुख होता है ॥ ४६ ॥

[७६६] (यः देवः स्वध्वरः) जो दिव्य गुणयुक्त सुंदर यज्ञ करनेवाला अग्नि (ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा शोचिषा आजुह्वानस्य सर्पिषः घृतस्य विभ्राष्टिं अनुवष्टि) ऊंची देवताओंके समीप जानेवाली ज्वालासे सब ओरसे होमे हुये अङ्गमें फैलनेवाले घृतके निरन्तर पानकी इच्छा करता है, उस (अग्निं) अग्निको (होतारं दास्वन्तं वसुं सहसः सूनुं जातवेदसं) देवताओंका बुलानेवाला, दानशील, सबका निवास देनेवाला, मथन होनेसे बलका पुत्र, सब प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न और (जातवेदसं विप्रं इव मन्ये) सब शास्त्रोंको जाननेवाले ब्राह्मणके समान मानता हूं ॥४७॥

अग्ने॒ त्वं नो॒ अन्त॑म उ॒त त्रा॒ता शि॒वो भ॑वा वरू॒थ्यः॑ ।
वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ अच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मं र॒यिं दाः॑ ।
तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः ॥ ४८ ॥

येन॒ ऋष॑य॒स्तप॑सा स॒त्रमाय॒न्निन्धा॑ना अ॒ग्निं स्व॑रा॒भर॑न्तः ।
तस्मि॑न्न॒हं नि द॑धे॒ नाके॑ अ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑व स्ती॒र्णब॑र्हिषम् ॥ ४९ ॥

तं पत्नी॑भि॒रनु॑ गच्छेम देवाः पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भिरु॒त वा॒ हिर॑ण्यैः ।
नाकं॑ गृभ्णा॒नाः सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के तृ॒तीये॑ पृ॒ष्ठे अधि॑ रोच॒ने दि॒वः ॥ ५० ॥

आ वा॒चो मध्य॑मरुहद्भुर॒ण्युर॒यम॒ग्निः सत्प॑ति॒श्चेकि॑तानः ।
पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णुतां॒ ये पृ॑त॒न्यवः॑ ॥ ५१ ॥

अ॒यम॒ग्निर्वी॒रत॑मो वयो॒धाः स॑ह॒स्रियो॑ द्योतता॒मप्र॑युच्छन् ।
वि॒भ्राज॑मानः सरि॒रस्य॒ मध्य॒ उप॒ प्र या॑हि दि॒व्यानि॒ धाम॑ ॥ ५२ ॥

[७६७] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं नः अन्तमः) तू हमारे सबसे निकट रहनेवाला हो, (उत त्राता शिवः वरूथ्यः) और हमारा रक्षक सुखकारी, हमारे गृहोंके लिये हितकारी हो, तू (अग्निः, वसुः वसुश्रवाः) सबका अग्रणी, जनोंका निवास करनेवाला और ऐश्वर्यके कारण महान् कीर्तिसे सम्पन्न हो। हे (अच्छ) निर्मल अग्ने ! तुम (नक्षि द्युमत्तमं रयिं दा) हमारे यज्ञस्थानमें जाओ, और अत्यन्त तेजस्वी धनका प्रदान करो। हे (शोचिष्ठ) अत्यन्त कान्तिमान् ! (दीदिवः तं त्वा सखिभ्यः सुम्नाय नूनं ईमहे) सबको प्रदीप्त करनेवाले धनकी निश्चयपूर्वक तुम्हारेसे याचना करते हैं ॥ ४८ ॥

[७६८] (येन तपसा ऋषयः सत्रं आयन्) जिस तपसे ऋषिगण यज्ञके समीप आते हैं, और (यं अग्निं इन्धानाः स्वः आ भरन्तः सत्रं) जिस अग्निको प्रज्वलित करते हुये आनंद को प्राप्त कर सच्चे सुख को भोगते हैं, (तस्मिन् लोके अग्निं निदधे) उसी सुखमय लोक पर में अग्निको स्थापित करता हूं, (यं मनवः तीर्णबर्हिषं आहुः) जिस अग्निको मननशील मनुष्य आकाशको व्याप्त करनेवाला करके कहते हैं ॥ ४९ ॥

[७६९] हे (देवाः) दिव्य गुण युक्तो ! (तृतीये दिवः पृष्ठे) तीसरे द्युलोकके ऊपर (सकृतस्य रोचने लोके) शुभ कर्मसे प्राप्त तेजस्वी स्थानमें (नाकं अभिगृभ्णानाः) परम सुखमय स्थानको प्राप्त करते हुये, हम (पत्नीभिः पुत्रैः वा भ्रातृभिः उत हिरण्यैः तं अनुगच्छेम) धर्मपत्नियोंसे, पुत्रोंसे और भाइयोंसे तथा सुवर्णादि द्रव्योंके साथ उस अग्निका सेवन यज्ञ द्वारा करते हैं ॥ ५० ॥

[७७०] (अयं भुरण्युः सत्पतिः चेकितानः) यह जगतका कर्ता, सत्पुरुषोंका पालक, विद्वान्, (पृथिव्याः पृष्ठे निहितः, दविद्युतत् अग्निः) पृथ्वीके ऊपर स्थापित, अत्यन्त प्रकाशमान् अग्नि (वाचः मध्यं आरुहत) वाणीके मध्यस्थानमें चढा, वह अग्नि (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुताम्) जो सेनासे युद्धकी इच्छा करनेवाले दुष्ट शत्रु हैं उनको नीचे स्थान पर गिरा दे ॥ ५१ ॥

[७७१] (अयं वीरतमः वयोधाः सहस्रियः अग्निः) यह अतिशय वीर हवि ग्रहण करनेवाला, सहस्रों कार्य करनेवाला अग्नि (अप्रयुच्छन् द्योततां सरिरस्य मध्ये विभ्राजमानः) कर्मोंमें प्रमाद न करता हुआ, दीप्तिमान् हो, वह इस लोकमें विशेष प्रकाशमान होकर (दिव्यानि धामानि उप प्रयाहि) दिव्य स्थानोंको भली प्रकार प्राप्त करे ॥ ५२ ॥

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम् ।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानाऽन्वाताᳬंसीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥ ५३ ॥

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳬं सृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ ५४ ॥

येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् । तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ५५ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥५६॥

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप
ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
शैशिरावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥५७॥

---

[७७२] तुम सब (संप्रच्यवध्वं उप सम्प्रयात) इस अग्निके समीप आओ, समीप आकर भले प्रकार उसको प्राप्त करो । और हे (अग्ने) अग्ने ! तुम भी (देवयानान् पथः कृणुध्वम्) देवयान मार्गको प्रकाशित करो, (पुनः पितरा युवाना कृण्वानाः) फिर पितरोंको तरुण करते हुये ऋषियोंने (एतं तन्तुं त्वयि अतन्वातांसीत्) इस यज्ञको तुझमें क्रमपूर्वक विस्तारित किया है ॥ ५३ ॥

[७७३] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं उद्बुध्यस्व, प्रतिजागृहि) तुम जागृत होओ और प्रतिदिन इस यजमानको जागृत करो, (इष्टा-पूर्ते संसृजेथाम्) 'इष्ट', इष्ट सुख देनेवाले उत्तम कर्म दान, यज्ञ तप आदि और 'पूर्त' शरीर और गृहको पूर्ण करनेवाले कर्म किया करो; तुम्हारे प्रसादसे (अयं च) यह यजमान भी इष्टापूर्त फलको प्राप्त करे । हे (विश्वे देवाः) विश्वे देव ! तुम्हारे संबंधसे भी इष्टापूर्तसे निष्पाप (यजमानः च सधस्थे) यजमान भी स्व-स्थानमें अर्थात् (अस्मिन् उत्तरस्मिन् अधि सीदत) इस सबसे उत्कृष्ट यज्ञस्थानमें चिरकालतक निवास करे ॥ ५४ ॥

[७७४] हे (अग्ने) अग्ने ! (येन सहस्रं वहसि) जिस सामर्थ्यसे सहस्र दक्षिणावाले यज्ञको चलाते हो और (येन सर्व-वेदसं) जिस सामर्थ्यसे सर्वस्व दक्षिणावाले यज्ञको करते हो (तेन नः इमं यज्ञं देवेषु गन्तवे स्वः नय) उस सामर्थ्यसे हमारे इस यज्ञको देवताओंके प्रति ले जानेके लिये स्वर्गमें ले चलो ॥ ५५ ॥

[७७५] हे (अग्ने) अग्ने ! (ते अयं ऋत्वियः योनिः) तुम्हारा यह गार्हपत्याग्नि उत्पत्ति स्थान है, (यतः जातः अरोचथाः) जिस ऋतुसे उत्पन्न हुये तुम प्रदीप्त होते है । हे अग्ने ! (तं जानन् आरोह) उस गार्हपत्य को जानकर आरोहण करो, (अथ नः रयिं आवर्धय) इसके उपरान्त हमारे लिये धनकी सबप्रकारसे वृद्धि करो ॥ ५६ ॥

[७७६] (तपः च तपस्यः शैशिरौ ऋतू) माघमास और फाल्गुन मास शिशिर ऋतु हैं । तुम (अग्नेः अन्तः श्लेषः असि) प्रदीप्त अग्निमें स्थित होकर श्लेष अर्थात् दृढताके लिये हो, तुम्हारे द्वाराही (द्यावापृथिवी कल्पन्ताम्) (द्युलोक और भूमि आनन्द दायक हो, (आपः ओषधयः कल्पन्ताम्) जल और सोमलतादि ओषधियाँ आनंद-दायक हों, (अग्नयः मम जैष्ठ्याय सव्रताः पृथक् कल्पन्ताम्) सब अग्नि मुझ यजमानके उत्कर्षके लिये अपना कार्य करनेमें समर्थ हों । (ये द्यावा पृथिवी अन्तरा समनसः अग्नयः) जो द्यावा पृथ्वीके बीचमें एक मनवाले अनेक अग्नि हैं वे (इमे शैशिरौ ऋतू अभिकल्पमाना इव देवाः इन्द्रं अभि संविशन्तु) इस शिशिर ऋतुसे संबंधित होकर, जिस प्रकार देवता गण इन्द्रको अपना आश्रय बनाकर कार्य करते हैं, उसी प्रकार तुम सब भी इस ऋतुका आश्रय कर कार्य सम्पादन करो । (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्) उस प्रसिद्ध देवताद्वारा अङ्गिराके समान स्थिर होकर तुम भी चिरस्थायी होओ ॥ ५७ ॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५८ ॥
लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् । इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ॥ ५९ ॥
ता अस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः । जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ६० ॥
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः । रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥
प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् ।
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ ६२ ॥
आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायाꣳ समुद्रस्य हृदये ।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्यापृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

---

[७७७] (परमेष्ठी ज्योतिष्मतीं त्वा दिवः पृष्ठे सादयतु) विश्वकर्मा तुझ तेजस्विनी को द्युलोकके ऊपर स्थापन करें, (सूर्यः ते अधिपतिः) सूर्य तुम्हारा स्वामी है, तुम यजमानके (विश्वस्मै प्राणाय, अपानाय, व्यानाय विश्वं ज्योतिः यच्छ) सम्पूर्ण प्राण, अपान और व्यानके उत्कर्षके लिये सम्पूर्ण ज्योतिको प्रदान करो । और (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवा सीद) उस देवताके प्रभावसे अङ्गिराके समान इस यज्ञ कार्यमें अचल रूपसे स्थिर रहो ॥५८॥

[७७८] (त्वं लोकं पृण) तुम लोक को पूर्ण करो, (छिद्रं पृण) छिद्र पूर्ण करो, (अथो ध्रुवा सीद) और दृढ होकर स्थिर रहो; (इन्द्राग्नी बृहस्पतिः अस्मिन् योनौ त्वा अवसीषदन्) इन्द्र और अग्नि तथा बृहस्पति देवताने इस स्थानमें तुमको स्थापित किया है ॥ ५९ ॥

[७७९] (दिवः सूददोहसः पृश्नयः) द्युलोकसे जलोंसे युक्त जो सूर्यकी रश्मियां हैं (ताः देवानां जन्मन्) वे देवताओंके प्रकट होनेके समयसे तथा (त्रिषु आरोचने) तीन सवनोंके मध्यमें (अस्य विशः सोमं श्रीणन्ति) इस यजमानके सोमको परिपक्व करती हैं ॥ ६० ॥

[७८०] (विश्वाः गिरः) समस्त वेदवाणियां, (समुद्रव्यचसं रथीनां रथीतमं) समुद्रसमान व्यापक, सब रथियोंके मध्यमें महारथी और (वाजानां पतिं सत्पतिं इन्द्रं अवीवृधन्) अन्नोंके स्वामी, निजधर्ममें रहनेवालोंके पालक इन्द्रको बढाती हैं ॥ ६१ ॥

सबकी वाणियां इन्द्रकी स्तुतियां करती हैं ॥ ६१ ॥

[७८१] (यदा महः संवरणात् व्यस्थात्) जिस समय बडे अरणी काष्ठसे अग्नि प्रकाशित होता है, तब (न अश्वः अविष्यन् यवसे, प्रोथत्) जिस प्रकार घोडा भोजनकी इच्छा करता हुआ घासके लिये शब्द करता है, उसी प्रकार वह अग्नि भी शब्द करता है । (आत् शोचिः वातः अस्य अनुवाति) अग्निके प्रज्वलित शब्दके पश्चात् प्रज्वलित करनेवाला वायु इस अग्निकी ज्वाला को देख कर उसके पीछे गमन करता है, (अध ते व्रजनं कृष्णं अस्ति स्म) और तब तुम्हारा यह गमन कृष्ण वर्ण होता जाता है ॥ ६२ ॥

[७८२] (अवतः, समुद्रस्य आयोः) पालन करनेवाले समुद्रके समान गम्भीर, आयु नामसे प्रसिद्ध आदित्य देवताके (छायायां हृदये सदने) आश्रयरूप हृदयस्थानमें, (रश्मीवतीं भास्वतीं त्वा सादयामि) बहुत किरणोंसे युक्त प्रकाशमान तुमको स्थापन करता हूं (त्वं द्यां आभासि) तुम द्युलोकको प्रकाशित करती हो और (पृथिवीं उरु अन्तरिक्षं आ) विस्तीर्ण अन्तरिक्षको सब ओरसे ज्योतिर्मय कर देती हो ॥ ६३ ॥

यज्ञस्थानमें अग्नि प्रदीप्त होता है तब उसका प्रकाश सर्वत्र फैलता है ॥ ६३ ॥

+

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृंह दिवं मा हिंसीः ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
सूर्यस्त्वाऽभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६४ ॥
सहस्रस्य प्रमाऽसि सहस्रस्य प्रतिमाऽसि सहस्रस्योन्माऽसि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥६५॥

[अ०१५, कं० ६५, मं० सं० १३६]

इति पञ्चदशोऽध्यायः ।

---

[७८३] (परमेष्ठी व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं त्वा दिवः पृष्ठे सादयतु) विश्वकर्मा प्रजापति विस्तार युक्त तुमको द्युलोकके ऊपर स्थापन करे। तुम (विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय उदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय) सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राण, अपान, व्यान और उदानकी शक्तिकी दृढताके लिये स्वगृहकी प्रतिष्ठा और सदाचारके लिये सहायक होओ। (सूर्यः त्वा अभिपातु) सूर्य तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे। (दिवं मा हिंसीः) द्युलोकको मत पीडा दो। (मह्या स्वस्त्या शन्तमेन छर्दिषा अभिपातु) बडी योगक्षेमकी सम्पत्तिसे शुभकारी तेजसे तुम सब ओरसे सबकी रक्षा करो और (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवे सीदतम्) उस अपनी अधिष्ठात्री देवतासे अनुकूल होकर अङ्गिराके समान निश्चल होकर स्थिर होओ ॥ ६४ ॥

[७८४] हे अग्ने ! तू (सहस्रस्य प्रमा असि) हजारों शक्तियों का मापक हो। तू (सहस्रस्य प्रतिमा असि) सहस्रों ऐश्वर्योंकी प्रतिमा रूप हो। सहस्रों बलोंसे तुम बलवान हो। तू (सहस्रस्य उन्मा असि) हजारोंसे अधिक उच्च स्थान पर रहनेवाले हो। इसीसे तू (साहस्रः असि) हजारोंके उपर अधिष्ठाता होने योग्य है। मैं (सहस्राय त्वा) सहस्र उच्चपदोंके लिये तुमको नियुक्त करता हूं ॥ ६५ ॥

॥ पंदरहवां अध्याय समाप्त ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

नर्मस्ते रुद्र मन्यर्व उतो त इषवे नमः । बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥
या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी । तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥२॥
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे । शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ ३ ॥
शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि । यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥ ४ ॥

---

[७८५] हे (रुद्र) दुष्टोंको रुलानेवाले रुद्र ! (ते मन्यवे नमः) तुम्हारे क्रोधके लिये मेरा नमस्कार है। (उतो ते इषवे नमः) और तुम्हारे बाणोंके लिये मेरा आदर है। (उत ते बाहुभ्यां नमः) और तुम्हारे दोनों भुजाओंके लिये भी मेरा प्रणाम है ॥ १ ॥

रुद्र वह है जो शत्रुओंको रुलाता है।

ते मन्यवे नमः— तेरे, क्रोधके लिये मेरा प्रणाम है।

ते इषवे नमः— तेरे बाणोंके लिये तथा तेरे शस्त्रास्त्रोंके लिये मेरा आदर है। रुद्रके शस्त्रास्त्र अत्यंत तीक्ष्ण होते हैं। रुद्र युद्धशास्त्रमें अत्यंत प्रवीण है।

ते बाहुभ्यां नमः— तेरे बाहुओंके बलके लिये मेरा प्रणाम है।

रुद्रका क्रोध, उनका शरीरका बल और उनके शस्त्र दुष्टोंका नाश करते हैं और सज्जनोंका पालन करते हैं। इस सोलहवे अध्यायमें रुद्रकाही वर्णन है। इस अध्यायके मननसे रुद्रका स्वरूप जाना जा सकता है ॥ १ ॥

[७८६] (गिरिशन्त) पर्वतके किलेमें रहनेवाले रक्षक (रुद्र) शत्रुको रुलानेवाले वीर ! (या ते शिवा अघोरा अपापकाशिनी तनूः) जो तुम्हारा शान्त मंगलरूप, निष्पाप या पापको दूर करनेवाला होनेसे सौम्य, पाप दूर करनेवाला शरीर है (तया शन्तमया तन्वा नः अभिचाकशीहि) उस सुखपूर्ण शरीरसे हमको अवलोकन करो ॥ २ ॥

रुद्र पर्वतपर रहता है। कैलास पर्वत उसका मुख्य निवास स्थान है। शत्रुको रुलाता है इस लिये इसको रुद्र कहते हैं। शत्रुको दूर करनेके कारण वह रुद्र शान्ति स्थापन करनेवाला है।

शिवा अघोरा अपापकाशिनी तनूः— शान्त, अक्रूर और पापोंको दूर करनेवाला यह वीर है ॥ २ ॥

[७८७] हे (गिरिशन्त, गिरित्र) करनेवाले स्वरूपमें सबको शान्तिदायक ! वेदवाणीमें स्थित होकर प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले रुद्र ! तुम (यां इषुं अस्तवे हस्ते बिभर्षि) जिस बाणको शत्रुओंको नाश करनेके लिये हाथमें धारण करते हो (तां शिवां कुरु) उस बाणको कल्याणकारी करो और (पुरुषं जगत् मा हिंसी) मनुष्यों तथा जगतके गौ आदि पशुओंको मत मारो ॥ ३ ॥

[७८८] हे (गिरिश) पर्वतमें रहनेवाले रुद्र ! हम (त्वा शिवेन वचसा अच्छा वदामसि) तुझको कल्याणकारी वचनसे भली प्रकार निवेदन करते हैं, कि (यथा नः सर्वं इत् जगत् अयक्ष्मं सुमना असत्) जिससे हमारा समस्त जगत रोग-रहित और शुभ मनवाला होवे ॥ ४ ॥

सब लोग रोगरहित और उत्तम शुभ विचार करनेवाले हों ॥ ४ ॥

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥ ५ ॥
असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः ।
ये चैनꣳ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳ हेड ईमहे ॥ ६ ॥
असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः । उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥७॥
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे । अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥ ८ ॥
प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम् । याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥ ९ ॥

---

[७८९] (अधिवक्ता, प्रथमः दैव्यः भिषक् अध्यवोचत्) मुख्य भाषण करनेवाला सर्वश्रेष्ठ, दिव्य वैद्य रुद्र हमें कह रहा है कि (च सर्वान् अहीन् जम्भयन्) सब सर्पादि क्रूर राक्षस जैसे दुष्टोंको विनष्ट करके (सर्वाः अधराचीः यातुधान्यः च परासुव) सम्पूर्ण नीच राक्षसी वृत्तीके लोकोंको हमसे दूर करो ॥ ५ ॥

दुष्टोंको सदा दूर करना योग्य है ॥ ५ ॥

[७९०] (यः असौ ताम्रः अरुणः उत बभ्रुः सुमङ्गलः) जो यह उदयके समय ताम्रवर्ण, मध्य समयमें अरुण वर्ण, और अस्त समय भूरे वर्णवाला है वह उत्तम मंगल करनेवाले अनेक कर्मोंका विस्तार करनेवाला है, (च ये सहस्रशः रुद्राः एनं अभितः दिक्षु श्रिताः) और जो सहस्रों रुद्र इसके सब ओर नाना दिशाओंमें हैं (एषां हेडः अव ईमहे) इनका क्रोध हमसे दूर रहे ॥ ६ ॥

असौ रुद्रः ताम्रः अरुणः बभ्रुः सुमंगलः— यह रुद्र उदयके समय ताम्र, मध्य समयमें अरुण, और अस्त समयमें भूरे रंगका होता है, वह सब उत्तम मंगल करनेवाला है ।

ये सहस्रशः रुद्राः दिक्षु श्रिताः एषां हेडः अव ईमहे— जो हजारों रुद्र चारों दिशाओंमें हैं, इनका क्रोध हमसे दूर रहे॥६॥

[७९१] (यः असौ नीलग्रीवः उत विलोहितः अवसर्पति) जो यह अस्त समयमें नीलकंठके समान और विशेष रक्तवर्ण आदित्यरूपसे निरन्तर गमन करता है, (एनं गोपाः अदृश्रन्) इसको गौवोंके पालक देखते हैं और (उदहार्यः अदृश्रन्) जल ले जानेवाली नारीयां भी दर्शन करती हैं (सः, दृष्टः नः मृडयाति) वह रुद्र देखा जाकर हमको सुखी करता है ॥ ७ ॥

स दृष्टः नः मृडयाति— उस सूर्यका दर्शन करनेसे वह सूर्य हमें सुखी करता है। सूर्यका उदय होनेपर उसका थोडासा दर्शन किया जाय तो वह देखना लाभकारी होता है । सूर्य प्रकाशमें रहकर सूर्यका दर्शन करना हितकारक है ॥ ७ ॥

[७९२] (नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे नमः अस्तु) नीलकण्ठ, सहस्रनेत्र, सेचनमें समर्थ रुद्रके लिये मेरा नमस्कार हो । (अथो अस्य सत्वानः) और इसके जो सत्त्वांश हैं (तेभ्यः अहं नमः अकरम्) उनके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥

सहस्राक्षः— सूर्य; मीढुष्— सुखदायी, सूर्यप्रकाश सुखदायक है । सूर्यप्रकाश मनुष्य शरीरपर अल्प समयतक पडा, तो उससे शरीरका लाभ होता है ॥ ८ ॥

[७९३] हे (भगवः) ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान रुद्र ! अपने (धन्वनः उभयोः आर्त्न्योः ज्यां त्वं प्रमुञ्च) धनुषकी दोनों कोटियोंमें स्थित ज्याको तुम दूर कर लो अर्थात् उतारलो, (च याः ते हस्ते इषवः ताः परावप) और जो तुम्हारे हाथमें बाण हैं उनको दूर कर दो ॥ ९ ॥

शान्तिके समय धनुष्य आदि युद्धसहायक शस्त्र अस्त्र दूर रखे जांय । युद्धके समय शत्रुपर फेंकनेके समय ही उन धनुष्यबाण आदिकोंको पास रखना उचित है ॥ ९ ॥

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२ उत ।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥ १० ॥

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः । तयाऽस्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज ॥ ११ ॥

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः । अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्नि धेहि तम् ॥ १२ ॥

अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे । निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे । उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥ १४ ॥

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ १५ ॥

---

[७९४] (कपर्दिनः धनुः विज्यं) जटाधारी वीर रुद्रका धनुष ज्यारहित हो, (उत बाणवान् विशल्यः) और तरकस बाणोंसे शून्य हों। (अस्य याः इषवः अनेशन्) इस देवताके जो बाण हैं वे न दीखें। बाण दूर रहें। (अस्य निषङ्गधिः आभुः) इनके खड्ग रखनेका कोश खाली हो, अर्थात् शान्तिके समय सब शस्त्रास्त्र दूर रहें। युद्धके समयही सब शस्त्र पास रहें ॥ १० ॥

शान्तिके समय सब शस्त्र अस्त्र दूर रहें। युद्धके समयही वीर पुरुष उन शस्त्रास्त्रोंको अपने पास धारण करके रखें। धनुष्यकी ज्या दूर की जाय। धनुष्य ज्यारहित ही रहें ॥ १० ॥

[७९५] हे (मीढुष्टम) सुखका सिंचन करनेवाले रुद्र ! (ते या हेतिः) तुम्हारे हाथमें जो हथियार है वह (ते हस्ते धनुः बभूव) तुम्हारे हाथमें धनु है, (तया अयक्ष्मया त्वं विश्वतः अस्मान् परिभुज) उस उपद्रवरहित शस्त्रसे तुम सब ओरसे हमारा पालन करो ॥ ११ ॥

वीरोंके हाथोंमें शस्त्र रहें, परंतु उनका उपयोग शान्तिके समय वे वीर न करें। युद्धके समय ही वीर लोग शस्त्रास्त्रोंका उपयोग करें ॥ ११ ॥

[७९६] हे रुद्र ! (ते धन्वनः हेतिः विश्वतः अस्मान् परिविणक्तु) तुम्हारे धनुष्य और बाण आदि आयुध हैं वे सब ओरसे हमारी रक्षा करें, हमें शत्रुओंके आक्रमणसे बचायें। (अथो यः तव इषुधिः) और जो तुम्हारा तरकस है (तं अस्मत् आरे निधेहि) उसको हमसे दूर स्थापन करो ॥ १२ ॥

[७९७] हे (सहस्राक्ष) हजारों नेत्रोंवाले ! हे (शतेषुधे) सहस्रों तरकसवाले रुद्र ! (त्वं धनुः अवतत्य) तुम धनुषको ज्या रहित करके और (शल्यानां मुखाः निशीर्य) बाणोंके मुखों अर्थात् फालोंको निकाल करके (नः शिवः सुमनाः भव) हमारे लिये कल्याणकारी व शोभन चित्तवाले होओ ॥ १३ ॥

[७९८] हे रुद्र ! (ते अनातताय आयुधाय नमः) तुम्हारे धनुषपर न चढाये बाणके लिये नमस्कार है। (ते उभाभ्यां बाहुभ्यां) तुम्हारे दोनों बाहुओंके लिये (उत तव धृष्णवे धन्वने नमः) और तुम्हारे शत्रुको पराजय करनेमें समर्थ धनुषके लिये मेरा नमस्कार है ॥ १४ ॥

ते अनातताय आयुधाय नमः— तेरे युद्धके लिये न तैयार हुए आयुधोंके लिये मेरा नमस्कार है। शान्तिके समय सब शस्त्रास्त्र युद्धसे दूर रखने योग्य हैं।

तव धृष्णवे धन्वने नमः— तेरे सामर्थ्यवान् धनुष्यके लिये मेरा प्रणाम है।

शान्तिके समय वीरके शस्त्रास्त्र सज्य न रहें। युद्धके समयही उनको तैयार रखने चाहिये ॥ १४ ॥

[७९९] हे (रुद्र) रुद्र ! (नः महान्तं मा वधीः) हमारे बडे गुरुजनोंको मत मारो, (उत नः अर्भकं मा) और हमारे बालकोंको मत मारो, (नः उक्षन्तं मा) हमारे तरुण पुरुषको मत मारो, (उत नः उक्षितं मा) और हमारे गर्भस्थ बालकको मत मारो, (नः पितरं मा) हमारे पिताको मत मारो, (उत नः मातरं मा) और हमारी माताको मत मारो, (नः प्रियाः तन्वः मा रीरिषः) हमारे प्यारे पुत्रपौत्रादिकोंको मत मारो ॥ १५ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ॥ १६ ॥

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः
पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो
नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥ १७ ॥

नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो
नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥१८॥

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौ—
षधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो
नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

---

[८००] हे (रुद्र) रुद्र ! (नः तनये तोके मा रीरिषः) हमारे पुत्रपौत्रको मत मारो, (नः आयुषि मा) हमारी आयुको मत नष्ट करो, (नः गोषु मा) हमारी गौवों पर मत प्रहार करो, (नः अश्वेषु मा) हमारे घोडोंमें मत चोट पहुंचाओ, (नः भामिनः वीरान् मा वधी) हमारे क्रोधी शूरवीरोंको मत हनन करो, (हविष्मन्तः सदं इत् त्वा हवामहे) हवियुक्त होकर निरन्तर तुमको हम आह्वान करते हैं ॥ १६ ॥

[८०१] (हिरण्यबाहवे नमः) भुजाओंमें सुवर्णके अलंकार धारण करनेवाले महाबाहु सेनापति रुद्रके लिये नमस्कार है। (दिशांपतये सेनान्ये च नमः) दिशाओंके अधिपति अर्थात् समस्त जगत्को अपनी भुजाओंसे रक्षा करनेवाले सेनापतिके लिये भी नमस्कार है। (हरिकेशेभ्यः वृक्षेभ्यः नमः) पर्णरूप हरे बालोंवाले वृक्षरूप रुद्रोंके निमित्त नमस्कार है। (पशूनां पतये नमः) पशुओंके पालन करनेवाले रुद्रके निमित्त नमस्कार है। (त्विषीमते शष्पिञ्जराय नमः) कान्तिमान् बालतृणवत् वर्णवाले रुद्रके निमित्त नमस्कार है। (पथीनां पतये नमः) मार्गोंके पति रुद्रके लिये नमस्कार है। (उपवीतिने हरिकेशाय नमः) उपवीत धारण करनेवाले नीलवर्णकेश वा बुढापारहित रुद्रके लिये नमस्कार है। (पुष्टानां पतये नमः) पुष्ट मनुष्योंके स्वामी रुद्रके लिये नमस्कार है ॥ १७ ॥

[८०२] (बभ्लुशाय व्याधिने नमः) कपिल वर्ण और शत्रुओंको वेधनेवाले व्याधिरूप रुद्रको नमस्कार है। (अन्नानां पतने नमः) अन्नोंके पालक रुद्रके लिये नमस्कार है। (भवस्य हेत्यै नमः) संसारके आयुध अर्थात् संसारके रक्षक रुद्रके लिये नमस्कार है। (जगतां पतये नमः) जगतके स्वामी रुद्रके लिये नमस्कार है। (आततायिने रुद्राय नमः) उद्यत आयुधवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। (क्षेत्राणां पतये नमः) क्षेत्रोंके पालन करनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। (अहन्त्ये सूताय नमः) हनन न करनेवाले प्रधान सारथी रूप रुद्रके लिये नमस्कार है। और (वनानां पतये नमः) वनोंके पालक रुद्रके निमित्त नमस्कार है ॥ १८ ॥

[८०३] (रोहिताय स्थपतये नमः) लोहितवर्ण गृहादि स्थानोंके पालक रुद्रके लिये नमस्कार है। (वृक्षाणां पतये नमः) वृक्षोंके पालक रुद्रके लिये नमस्कार है। (भुवन्तये वरिवस्कृताय नमः) भूमण्डलके विस्तार करनेवाले, और धन ऐश्वर्य पैदा करनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। (ओषधीनां पतये नमः) ओषधियोंके पालक रुद्रके लिये नमस्कार है। (मन्त्रिणे वाणिजाय नमः) कुशल व्यापार कर्ताओंके लिये नमस्कार है। (कक्षाणां पतये नमः) वनके गुल्म वीरुधादिके पालक रुद्रके लिये नमस्कार है। (आक्रन्दयते उच्चैः घोषाय नमः) शत्रुओंको रुलानेवाले, युद्धमें बडे उग्र शब्द करनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है, और (पत्तीनाम् पतये नमः) पैदल सेनाके पति रुद्रके लिये नमस्कार है ॥ १९ ॥

नमः कृत्स्नायतया धावते[१] सत्वनां पतये नमो[२] नमः सहमानाय निव्याधिन[३]
आव्याधिनीनां पतये नमो[४] नमो निषङ्गिणे ककुभाय[५] स्तेनानां पतये नमो[६]
नमो निचेरवे परिचरायाऽ[७]रण्यानां पतये नमः[८] ॥ २० ॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते[१] स्तायूनां पतये नमो[२] नमो निषङ्गिण इषुधिमते[३]
तस्कराणां पतये नमो[४] नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो[५] मुष्णतां पतये नमो[६]
नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो[७] विकृन्तानां पतये नमः[८] ॥ २१ ॥

---

[८०४] (कृत्स्नायतया धावते नमः) हमारी रक्षाके लिये धनुष खंच कर शत्रुपर दौडनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। (सत्वनां पतये नमः) सब आस्तिकोंके पालक रुद्रके लिये नमस्कार है। (सहमानाय निव्याधिने नमः) शत्रुओंको पराजित करनेवाले और वैरियोंको अधिक मारनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। (आव्याधिनीनां पतये नमः) सब प्रकारसे प्रहार करनेवाली शूर सेनाओंके पालक रुद्रके लिये नमस्कार है। (निषङ्गिणे ककुभाय नमः) उपद्रवकारियों पर खड्ग चलानेवाले महान रुद्रके लिये नमस्कार है। (स्तेनानां पतये नमः) गुप्त चरोंके पालन करनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। (निचेरवे परिचराय नमः) अपहारकी बुद्धिसे निरन्तर फिरनेवाले तथा आपण स्थानमें हरणकी इच्छासे घूमनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। और (अरण्यानां पतये नमः) वनोंके पालन करनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है॥ २० ॥

कृत्स्नायतया धावते— प्रजाकी सुरक्षाके लिये धनुष्यको तैयार करके शत्रुपर दौडनेवाले रक्षक रुद्रके लिये।

सत्वनां पतिः— सात्विकोंका रक्षक।

सहमानाय निव्याधिने— शत्रूका पराभव करके शत्रुका अधिक नाश करनेवाला।

आव्याधिनीनां पतिः— शत्रुका अतिविनाश करनेवाले शूर सैनिकोंका रक्षक।

निषङ्गिणे ककुभाय— उपद्रव करनेवालोंपर शस्त्र चलाकर उनका नाश करनेवाला वीर।

स्तेनानां पतिः— गुप्तचरोंका रक्षक, चोरोंका पालक। शत्रुपर चोरों द्वारा हमला करनेवाला।

निचेरवे परिचराय— सतत भ्रमण करके उपद्रव देनेवाले दुष्टोंसे रक्षक।

अरण्यानां पति— अरण्योंपर स्वामित्व करनेवाला। ये रुद्रके रूप हैं॥ २० ॥

[८०५] (वञ्चते परिवञ्चते नमः) ठगोंके स्वामीको विश्वास दिलाकर व्यवहारमें उनको ठगानेवालोंके साक्षी रुद्रके लिये नमस्कार है। (स्तायूनां पतये नमः) गुप्तचारोंके पालकके लिये नमस्कार है। (निषङ्गिणे इषुधिमते नमः) खड्गधारी और बाणधारी अर्थात् उपद्रव करनेवालोंको शान्त करनेवालेके लिये नमस्कार है। (तस्कराणां पतये नमः) चोरोंके पालकके लिये नमस्कार है। (सृकायिभ्यः जिघांसद्भ्यः नमः) वज्र लेकर हत्याकारी रुद्रके लिये नमस्कार है। (असि मद्भ्यः नक्तं चरद्भ्यः नमः) खड्गधारी रात्रीमें फिरनेवालेके लिये नमस्कार है, (विकृन्तानां पतये नमः) छेदन करके हरनेवाले दस्युगणके पालन करनेवालेके लिये नमस्कार है॥ २१ ॥

वञ्चते परिवञ्चते— ठगाने और लूटनेका कार्य करनेवाले।

स्तायूनां पतिः— गुप्तचरोंका पालक।

निषङ्गी इषुधिमान्— खड्धारी और बाणधारी।

तस्कराणां पतिः— चोरोंका स्वामी।

सृकायिभ्यः जिघांसद्भ्यः— शस्त्र लेकर हमला करनेवाले।

असिमद्भ्यः नक्तं चरद्भ्यः— शस्त्र धारण करके रात्रीके समय घूमनेवाले।

विकृन्तानां पतिः— दूसरोंका छेदन करनेवालोंके मुख्य। ये सब रुद्रोंके रूप हैं। इनको स्वाधीन रख कर प्रजाका पालन करना चाहिये॥ २१ ॥

नम॑ उष्णी॒षिणे॑ गिरि॒च॒राय॑[1] कुलु॒ञ्चानां॒ पत॑ये॒ नमो॒[2] नम॑ इषु॒मद्भ्यो॑[3] धन्वा॒यिभ्य॑श्च॒ वो॒ नमो॒[4]
नम॑ आतन्वा॒नेभ्य॑ः[5] प्रति॒दधा॑नेभ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[6] नम॑ आ॒यच्छ॒द्भ्यो॑[7] ऽस्य॑द्भ्यश्च॒ वो॒ नम॑ः[8] ।२२।
नमो॑ विसृ॒जद्भ्यो॒[1] विध्य॑द्भ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[2] नम॑ः स्व॒पद्भ्यो॒[3] जाग्र॑द्भ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[4]
नम॒ः शया॑नेभ्य॒[5] आसी॑नेभ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[6] नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो॒[7] धाव॑द्भ्यश्च॒ वो॒ नम॑ः[8] ॥ २३ ॥
नम॑ः स॒भाभ्य॑ः[1] स॒भाप॑तिभ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[2] नमोऽश्वे॒भ्यो[3] ऽश्व॑पतिभ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[4]
नम॑ आव्या॒धिनी॑भ्यो[5] वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च॒ वो॒ नमो॒[6] नम॒ उग॑णाभ्य[7]स्तृँहती॒भ्य॑श्च॒ वो॒ नम॑ः[8] ।२४।

---

[८०६] (उष्णीषिणे गिरिचराय नमः) पगडी धारण करनेवाले और पर्वतमें विचरनेवाले रुद्रोंके लिये नमस्कार है, (कुलुञ्चानां पतये नमः) बुरे स्वभावसे दूसरोंके पदार्थ खोंसनेवाले रुद्र देवके लिये नमस्कार है। (इषुमद्भ्यः च धन्वायिभ्यः वः नमः) मनुष्योंके डरानेके लिये बाण धारण करनेवाले और धनुष साथ लेकर चलनेवाले वा कुलुञ्च गणोंके रुद्रके लिये नमस्कार है। (आतन्वानेभ्यः नमः) दुष्टोंके दमनार्थ धनुष पर ज्या चढानेवालेके निमित्त नमस्कार है, (च प्रतिदधानेभ्यः वः नमः) और धनुषपर बाण चढानेवालेके लिये नमस्कार है। (आयच्छद्भ्यः नमः) दुष्टोंके दमनार्थ धनुषको आकर्षण करनेवालेके लिये नमस्कार है। (च अस्यद्भ्यः वः नमो नमः) और बाणके निक्षेप करनेवाले तुम्हारे निमित्त बारम्बार नमस्कार है ॥ २२ ॥

कुलुञ्चानां पतये नमः— दूसरोंके पदार्थ जबरदस्तीसे अपने कब्जेमें करनेवाले शूरोंके लिये नमन।

इषुमद्भ्यः धन्वायिभ्यः नमः— धनुष्यबाण धारण करनेवालेके लिये नमन।

आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यः नमः— धनुष्य खींचने तथा पुनः बाण चढानेवाले वीरोंके लिये नमन हो।

आयच्छद्भ्यः अस्यद्भ्यः नमः— बाण लेकर शत्रुपर फेंकनेवाले शूरवीरोंके लिये प्रणाम हो।

ये सब वीर रुद्र नामसे कहे जाते हैं। इन वीरोंका राष्ट्रमें सन्मान होना योग्य है ॥ २२ ॥

[८०७] (विसृजद्भ्यः नमः) शत्रुओंपर बाण छोडनेवालेके लिये नमस्कार है, (च विध्यद्भ्यः वः नमः) और शत्रुओंको लक्ष्य वेधनेवाले रुद्रके लिये नमस्कार है। (स्वपद्भ्यः नमः) सोनेवालोंके लिये नमस्कार है (च जागृद्भ्यः वः नमः) और जाग्रत अवस्थाके लिये नमस्कार है। (च आसनीभ्यः वः नमः) और आसनपर बैठे हुओंके लिये नमस्कार है, (तिष्ठद्भ्यः नमः) ठहरे हुओंके लिये नमस्कार है, (च धावद्भ्यः वः नमः) और वेगवान् गतिवालों रुद्रके लिये नमस्कार है ॥ २३ ॥

विसृजद्भ्यः विध्यद्भ्यः— शस्त्र शत्रूपर फेंकनेवाले और शत्रुका वेध करनेवाले शूरोंके लिये प्रणाम है।

जाग्रद्भ्यः— जाग्रत रहकर राष्ट्रकी सुरक्षा करनेवाले वीरोंके लिये समादर प्राप्त हो।

आसीनेभ्यः— बैठकर शत्रुपर हमला शस्त्रोंसे करनेवाले वीर आदरके लिये योग्य है।

तिष्ठद्भ्यः— खडे रहकर युद्ध करनेवाले वीरोंके लिये आदर देना योग्य है।

धावद्भ्यः— शत्रुपर दौडकर हमला करनेवाले वीरोंके लिये प्रणाम करना योग्य है।

ये सब पद उत्तम वीरोंके वाचक हैं। ये वीर युद्ध करते हैं, शत्रुको दूर करते हैं और राष्ट्रकी सुरक्षा करते हैं ॥ २३ ॥

[८०८] (सभाभ्यः नमः) सभारूप रुद्रके लिये नमस्कार है, (च सभापतिभ्यः वः नमः) और सभापतिरूप रुद्र तुम्हारे निमित्त नमस्कार है। (अश्वेभ्यः नमः च अश्वपतिभ्यः वः नमः) प्रत्येक अश्वोंरूप रुद्रके लिये नमस्कार है, तथा अश्वोंके अधिपति रुद्रके लिये नमस्कार है। (आव्याधिनीभ्यः नम, च विविध्यन्तीभ्यः वः नमः) सेनाओंमें स्थितके निमित्त नमस्कार है, और विशेषकर शत्रुको वेधनेवाली सेना स्थित रुद्रके लिये नमस्कार है। (उगणाभ्यः नमः च तृंहतीभ्यः वः नमः) उत्कृष्ट भृत्य समूहवाली सेनाके निमित्त नमस्कार है, और युद्धमें प्रहार करनेवाले दुर्गादिमें स्थित सेनाके लिये नमस्कार है ॥ २४ ॥

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्रातेभ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒
नमो॒ गृत्सेभ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो॒ विश्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नम॑: ॥२५॥

नम॑: सेना॑भ्य॑: सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ अ॒र॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒
नम॑: क्ष॒त्तृभ्य॑: संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ म॒हद्भ्यो॑ अ॒र्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नम॑: ॥ २६ ॥

सभाभ्यः सभापतिभ्यः नमः— राज्यशासक सभा हो, ओर उसका सभापति हो। उनको प्रणाम है।

अश्वेभ्यः अश्वपतिभ्यः नमः— घोडे और घोडोंके स्वामीके लिये प्रणाम। घुडसवारोंका दल हो।

व्याधिनीभ्यः विविध्यन्ताभ्यः नमः— शत्रुपर हमला करनेवाली और शत्रुका विदारण करनेवाली सेना और उसके सेनापतिके लिये प्रणाम।

उगणाभ्यः तृंहतीभ्यः नमः— उत्तम सेनागण और युद्धमें शत्रुपर प्रहार करनेवाली सेनाके लिये प्रणाम।

ये सब सेनाके विविध प्रकार हैं। ये सेनागण शत्रुको दूर करते हैं और राष्ट्रमें शान्ति रखते है, इसलिये इनको प्रणाम हो॥ २४ ॥

[८०९] (गणेभ्यः नमः च गणपतिभ्यः वः नमः) भूतगणोंके लिये नमस्कार और गणोंके अधिपतिके लिये नमस्कार है। (व्रातेभ्यः नमः च व्रातपतिभ्यः वः नमः) विशेष गण वा अनेक जातियोंके पतिके निमित्त नमस्कार और व्रातगणोंके अधिपतिके लिये नमस्कार है। (गृत्सेभ्यः नमः च गृत्सपतिभ्यश्च वः नमः) बुद्धिमानोंके लिये नमस्कार और बुद्धिमानोंके रक्षकके लिये नमस्कार है। (विरूपेभ्यः नमः च विश्वरूपेभ्यः वः नमः) विविध रूपवालोंके लिये नमस्कार और नानाविध रूपवाले रुद्र देव तुम्हारे निमित्त नमस्कार है॥ २५ ॥

गणः, गणपतिः— सेनाके समूह और उस सेना समूहके अधिपति।

व्रातः, व्रातपतिः— सेनाके आक्रमक समूह और उन समूहोंके अधिपति।

गृत्सः, गृत्सपतिः— बुद्धिमान और बुद्धिमानोंका समूह।

विरूपः विश्वरूपः— विशेष रूप धारण करनेवाले, नाना प्रकारके रूप धारण करनेवाले सेना समूह।

इस तरह अनेक प्रकारके सेना समूह थे और वे राष्ट्रकी सुरक्षाका कार्य उत्तम रीतिसे करते थे, अतः उन रक्षकोंके लिये प्रणाम करना योग्य है॥ २५ ॥

[८१०] (सेनाभ्यः नमः, च सेनानिभ्यः वः नमः) सेनाके लिये नमस्कार है और सेनापतिके लिये नमस्कार है। (रथिभ्यः नमः च अरथेभ्यः वः नमः) रथवाले वीरोंके निमित नमस्कार और रथहीन वीरके लिये नमस्कार है। (क्षत्तृभ्यः नमः, च संग्रहीतृभ्यश्च वः नमः) रथके अधिष्ठातृके अन्तरमें स्थितके निमित्त नमस्कार है और रण सामग्री ग्रहणकर्ताके निमित्त नमस्कार है। (महद्भ्यः नमः च अर्भकेभ्यः वः नमः) बडे उत्कृष्ट पूज्य रूपके निमित्त नमस्कार है और प्रमाण आदिसे अल्परूप तुझ रुद्रके निमित्त नमस्कार है॥ २६ ॥

सेना, सेनानी— सैन्य और सैन्यका नायक।

रथी, अरथीः— रथमें बैठकर लडनेवाले और रथके विना लडनेवाले वीर।

क्षतृभ्यः, संग्रहीतृ— युद्ध करनेवाले वीर और एकत्र संगृहीत अर्थात् मिलकर रहनेवाले वीर।

महद्भ्यः, अर्भकेभ्यः— बडे और छोटे आयुवाले वीर।

इन सब वीरोंके लिये हमारा प्रणाम हो॥ २६ ॥

+

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो
नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ २७ ॥

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च
पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥ २८ ॥

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च
नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च ॥ २९ ॥

---

[८११] (तक्षभ्यः नमः) तरखानोंके लिये नमस्कार (च रथकारेभ्यः वः नमः) और रथ निर्माण करनेवाले उत्कृष्ट तक्षाके रूपके लिये नमस्कार है। (कुलालेभ्यः नमः च कर्मारेभ्यः वः नमः) उत्तम मिट्टीके पात्र बनानेवालों और लोहेके शस्त्र बनानेवालोंके लिये नमस्कार है। (निषादेभ्यः नमः च पुञ्जिष्ठेभ्यः वः नमः) गिरिचारी भीलादिके लिये नमस्कार तथा पुल्कसादिके लिये नमस्कार है। (श्वनिभ्यः नमः च मृगयुभ्यः वः नमः) कुत्तोंके गलेमें रस्सी बाँधकर धारण करनेवालोंके लिये नमस्कार और मृगोंकी कामनावाले व्याधोंके लिये नमस्कार है ॥ २७ ॥

तक्षा, रथकारः— तरकस और रथ बनानेवाला।
कुलाल, कर्मारः— कुम्हार और कारीगर।
निषादः, पुञ्जिष्ठः— निषाद और जंगली जातीवाला।
श्वनिः, मृगयुः— कुत्तोंके पालक और मृगया करनेवाले ॥ २७ ॥

[८१२] (श्वभ्यः नमः च श्वपतिभ्यः वः नमः) कुत्तोंके लिये और कुत्तोंके स्वामी किरातोंके लिये नमस्कार है। (च भवाय नमः) जिससे सब संसार उत्पन्न होता है उसके लिये नमस्कार है (च रुद्राय नमः) और दुःख दूर करनेवाले देवके लिये नमस्कार है। (च नीलग्रीवाय नमः) और नीलवर्ण ग्रीवावालेके लिये नमस्कार है, (च शितिकण्ठाय) और नीलकण्ठवाले रुद्रके निमित्त नमस्कार है ॥ २८ ॥

श्वा, श्वपति— कुत्ते और कुत्तोंके पालनेवाले।
भवः, रुद्रः— सबका उत्पन्नकर्ता और शत्रुको रुलानेवाला वीर।
नीलग्रीवः— नीले अर्थात् काले गलेवाला।
शितिकण्ठः— काले गलेवाला।
ये सब वीर हैं, ये संरक्षण करते हैं। अतः ये नमस्कारके योग्य हैं ॥ २८ ॥

[८१३] (कपर्दिने नमः) जटाजूटधारीके निमित्त नमस्कार है। (च व्युप्तकेशाय नमः) मुण्डित केशके लिये नमस्कार है, (च सहस्राक्षाय च शत धन्वने नमः) और सहस्र लोचनके लिये नमस्कार एवं शतधनुष धारण करनेके निमित्त नमस्कार है। (च गिरिशयाय नमः) और पर्वतपर रहनेवालेके लिये नमस्कार है। (च शिपिविष्टाय नमः) और सब प्राणियोंमें व्यापक विष्णुरूपके लिये नमस्कार है। (च मीढुष्टमाय नमः) सुखरूप तृप्ति कर्ताके निमित्त नमस्कार है (च इषुमते नमः) और बाणधारीके निमित्त नमस्कार है ॥ २९ ॥

कपर्दी — केशोंको बढाकर धारण करनेवाला।
व्युप्तकेश— जिसके केश कटे हैं।
सहस्राक्षः— हजार आंखवाला, हजारों मानवोंके आंखोंसे शत्रुका निरीक्षण करनेवाला, जिसने सहस्रों गुप्तचर रखे हैं।
शतधन्वा— सैकडों धनुष्यधारी सैनिकोंवाला वीर।
गिरिशः— पर्वतपर रहनेवाला, पर्वतके किलेमें रहकर युद्ध करनेवाला।
शिपिविष्ट— शौर्यकी तेजस्वी किरणोंसे सुभूषित।
मीढुष्टमः— प्रजाका सुख बढानेवाला वीर।
इषुमान्— बाणोंसे शत्रुके साथ लडनेवाला वीर ॥ २९ ॥

नमो॑ ह्रस्वाय॑ च वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च
स॒वृधे॑ च॒ नमोऽग्र्या॑य च प्रथ॒माय॑ च ॥ ३० ॥

नम॑ आ॒शवे॑ चा॒जि॒राय॑ च॒ नमः॒ शीघ्र्या॑य च॒ शीभ्या॑य च॒ नम॑ ऊ॒र्म्या॑य चा॒-
वस्व॒न्या॒य च॒ नमो॑ ना॒द्ेयाय॑ च॒ द्वीप्या॑य च ॥ ३१ ॥

नमो॑ ज्ये॒ष्ठाय॑ च कनि॒ष्ठाय॑ च॒ नमः॒ पूर्व॒जाय॑ चा॒परजाय॑ च॒ नमो॑ मध्य॒माय॑ चा॒-
पग॒ल्भाय॑ च॒ नमो॑ जघ॒न्या॒य च॒ बुध्न्या॒य च ॥ ३२ ॥

नमः॒ सोभ्या॑य च प्रतिस॒र्या॒य च॒ नमो॒ याम्या॑य च॒ क्षेम्या॑य च॒ नमः॒ श्लोक्या॑य चा॒-
वसा॒न्या॒य च॒ नम॑ उर्व॒र्या॒य च॒ खल्या॑य च ॥ ३३ ॥

---

[८१४] (ह्रस्वाय च नमः च वामनाय नमः) अल्पशरीरके लिये नमस्कार है और संकुचित अवयववालेके लिये नमस्कार है। (च बृहते च वर्षीयसे नमः) और प्रौढाङ्गके लिये तथा अति वृद्धके लिये नमस्कार है। (च वृद्धाय च सुवृधे नमः) और अधिक वृद्धके लिये तथा युवाके निमित्त नमस्कार है। (च अग्र्याय च प्रथमाय नमः) और अधिकारमें मुख्य प्रथम प्रादुर्भूत होनेवालेके निमित्त तथा अन्य गुणोंमें प्रथम सर्वश्रेष्ठके निमित्त नमस्कार है ॥ ३० ॥

ह्रस्वः वामनः— आकारमें छोटा, पर बडा वीर।

वृहत् वर्षीयाम्— बडी आयुवाला।

वृद्धः सुवृधः— बडा और बडी आयुवाला।

अग्र्यः प्रथमः— आगे होकर लडनेवाला पहिला वीर ॥ ३० ॥

[८१५] (आशवे च नमः च अजिराय नमः) शीघ्रगतिवालेके लिये नमस्कार तथा गतिशीलके लिये नमस्कार है। (च शीघ्र्याय च शीभ्याय नमः) और वेगवानके लिये तथा प्रवाहवानके लिये नमस्कार है। (च ऊर्म्याय च अवस्वन्याय नमः) और जलतरङ्गमें होनेवालेके लिये तथा स्थिर जलोंमें विद्यमानके निमित्त नमस्कार है। (च नादेयाय च द्वीप्याय नमः) और नदीमें होनेवाले और द्वीपमें होनेवालेके लिये नमस्कार है ॥ ३१ ॥

प्रगति करनेवाले इतनेवीरोंके लिये हमारा प्रणाम है ॥ ३१ ॥

[८१६] (च ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय नमः) और ज्येष्ठ तथा कनिष्ठके लिये नमस्कार है। (च पूर्वजाय च अपरजाय नमः) और पूर्वज तथा आधुनिक के लिये नमस्कार है। (च मध्यमाय च अपगल्भाय नमः) और मध्यम तथा अविकसित के निमित्त नमस्कार है। (च जघन्याय च बुध्न्याय नमः) और जघन्य स्वेदज निमित्त और वृक्षादिके मूलमें होनेवालेके निमित्त नमस्कार है ॥ ३२ ॥

[८१७] (सोभ्याय च नमः च प्रतिसर्य्याय नमः) सोभ्यके प्रति भी नमस्कार तथा प्रतिसरण, शत्रुपर चढाई करने और उसके पीछा करनेमें समर्थ वीरके लिये नमस्कार हो। (च याम्याय च क्षेम्याय नमः) और पापियोंको दुःख देनेवालेको तथा कुशल रहनेवालेके लिये नमस्कार है। (च श्लोक्याय च अवसान्याय नमः) और मन्त्रोंकी व्याख्या करनेमें प्रवीणके लिये तथा वेदान्तमें प्रसिद्धके लिये नमस्कार है। (च उर्वर्य्याय च खल्याय नमः) और बडे ऐश्वर्योंके स्वामीके लिये तथा अच्छे अन्नादि पदार्थोंके संचय करनेमें बुद्धिमानके लिये नमस्कार है ॥ ३३ ॥

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चा-
शुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च
श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च ॥ ३५ ॥

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चा-
युधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥ ३६ ॥

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च
सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

[८१८] (वन्याय च नमः च कक्ष्याय नमः) वनमें बढनेवालेके लिये नमस्कार तथा उसकी कक्षामें बढनेवालेके लिये नमस्कार है। (च श्रवाय च प्रति श्रवाय नमः) और कीर्तिमान तथा सुप्रसिद्धके निमित्त नमस्कार एवं अति विख्यातके लिये नमस्कार है। (च आशुषेणाय च आशुरथाय नमः) और शीघ्र चलनेवाली सेनामें रहनेवालेके लिये नमस्कार तथा जलदी चलनेवाले रथोंमें विद्यमान वीरके लिये नमस्कार है। (च शूराय च अवभेदिने नमः) और युद्ध विशारदोंके लिये तथा शत्रुके हृदय वेधनेवाले शस्त्रोंमें प्रवीणके लिये नमस्कार है ॥ ३४ ॥

वन्यः, कक्ष्यः— वनवासी और वनके समीप रहनेवालेके लिये नमस्कार ।

श्रवाय, प्रतिश्रवाय— प्रसिद्ध और अति प्रसिद्धके लिये नमस्कार ।

आशुषेणाय, आशुरथाय— शत्रुपर शीघ्र आक्रमण करनेवाली और जलदी चलनेवाले रथोंकी सेनाके नायकको नमस्कार ।

शूराय अवभेदिने— शूर और शत्रुका नाश करनेवाले वीरके लिये प्रणाम ।

ये सब वीर सैनिक है। ये राष्ट्रकी रक्षा करते हैं। इस लिये उनको प्रणाम है ॥ ३४ ॥

[८१९] (च बिल्मिने च कवचिने नमः) और शिरस्त्राण धारण करनेवालेके लिये और कवच धारण करनेवालेके लिये नमस्कार है। (च वर्मिणे नमः च वरूथिने नमः) और कवच धारण करनेवालेके लिये तथा अम्बारीमें बैठनेवालेके लिये नमस्कार है। (च श्रुताय च श्रुतसेनाय नमः) और प्रसिद्धके लिये नमस्कार एवं शूरतामें विख्यात सेनावालेके लिये नमस्कार है। (च दुन्दुभ्याय च आहनन्याय नमः) और रणके बाजेमें विद्यमानके निमित्त तथा वाद्यसाधनवालेके निमित्त नमस्कार है ॥ ३५ ॥

[८२०] (च धृष्णवे नमः च प्रमृशाय नमः) और शत्रुओंके घर्षण करनेमें समर्थके लिये नमस्कार तथा उत्तम विचारशील शस्त्रज्ञके निमित्त नमस्कार है। (च निषङ्गिणे नमः च इषुधिमते नमः) और खड्गधारीके लिये नमस्कार एवं तर्कसवालेके लिये नमस्कार है। (च तीक्ष्णेषवे च आयुधिने नमः) और तीक्ष्णबाणवालेके लिये तथा उत्तम हथियारोंसे सजेके निमित्त नमस्कार है। (च स्वायुधाय च सुधन्वने) और शोभन आयुध धारण करनेवालेके निमित्त और श्रेष्ठ धनुष धारण करनेवालेके लिये नमस्कार है ॥ ३६ ॥

उत्तम शास्त्रास्त्रधारी सैनिकोंके लिये नमस्कार ॥ ३६ ॥

[८२१] (च स्रुत्याय च पथ्याय नमः) और क्षुद्र मार्ग स्थितके लिये तथा राजमार्गमें होनेवालेके लिये नमस्कार है। (च काट्याय च नीप्याय नमः) और दुर्गममार्ग में स्थितके निमित्त एवं पर्वतके नीचेके मार्गमें स्थितके निमित नमस्कार है। (च कुल्याय च सरस्याय नमः) और नहरके मार्गमें स्थितके निमित्त एवं सरोवरमें होनेवालेके निमित्त नमस्कार है। (च नादेयाय च वैशन्ताय नमः) और नदीमें जलरूपसे स्थितके निमित्त तथा अल्प सरोवरके जलमें स्थिरके लिये नमस्कार है ॥ ३७ ॥

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च
विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च
रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ ३९ ॥

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च
दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥४०॥

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च
शिवतराय च ॥ ४१ ॥

---

[८२२] (च कूप्याय नमः च अवटयाय नमः) और कूपके समीप रहनेवालेके निमित्त नमस्कार तथा गर्तमें रहनेवालेके लिये नमस्कार है। (च वीध्रयाय नमः च आतप्याय नमः) और प्रकाशमें रहनेवालेके लिये नमस्कार तथा सूर्यके तापमें होनेवालेके लिये नमस्कार है। (च मेध्याय च विद्युत्याय नमः) और मेघमें होनेवालेके निमित्त तथा विद्युत्में होनेवालेके निमित्त नमस्कार है। (च वर्ष्याय च अवर्ष्याय नमः) और वर्षाके धारामें रहनेवालेके निमित्त तथा वृष्टिके अन्दर होनेवालेके निमित्त नमस्कार है ॥ ३८ ॥

[८२३] (च वात्याय नमः च रेष्म्याय नमः) और वायु प्रवाहमें होनेवालेके लिये नमस्कार तथा प्रलयकी पवनमें होनेवालेके निमित्त नमस्कार है। (च वास्तव्याय च वस्तुपाय नमः) और वास्तुगृहमें होनेवालेके निमित्त एवं वास्तुघरको पालनेवालेके लिये नमस्कार है। (च सोमाय च रुद्राय नमः) और चन्द्रमाके लिये तथा दुःख नाश करनेवालेके लिये नमस्कार है। (च ताम्राय च अरुणाय नमः) और सायंकाल सूर्यमें स्थित ताम्रके लिये तथा प्रभात कालीन सूर्यमें स्थित अरुणके निमित्त नमस्कार है ॥ ३९ ॥

[८२४] (शंगवे नमः च पशुपतये नमः) कल्याण करनेवाली बोलनेवालेके निमित्त नमस्कार और प्राणियोंके पालकके लिये नमस्कार है। (च उग्राय च भीमाय नमः) और शत्रुओंके मारनेके लिये कठिन अन्तःकरण-वालेके निमित्त और शत्रुओंके भय उत्पादकके लिये नमस्कार है। (च अग्रेवधाय च दूरेवधाय नमः) और सम्मुखके शत्रुको वध करनेवालेके निमित्त और दूरके शत्रुको वध करनेवालेके लिये नमस्कार है। (च हन्त्रे नमः च हनीयसे नमः) और शत्रुको मारनेवालेके लिये नमस्कार और शत्रुके अतिशय हन्ताके लिये नमस्कार है। और (हरिकेशेभ्यः वृक्षेभ्यः नमः ताराय नमः) हरे पत्तेरूप केशवाले तरुरूपके लिये नमस्कार तथा संसारके तारनेवाले परमात्माके निमित्त नमस्कार है ॥ ४० ॥

[८२५] (च शम्भवाय च मयोभवाय नमः) और आनन्दमय तथा सुख दाताके लिये नमस्कार है। (च शङ्कराय च मयस्कराय नमः) और कल्याणकारी तथा सुख देनेवालेके लिये नमस्कार है। (च शिवाय च शिवतराय नमः) और मंगलस्वरूप एवं अत्यन्त शान्त स्वभक्तोंको निष्पाप करनेवालेके निमित्त नमस्कार है ॥ ४१ ॥

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥ ४२ ॥

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥ ४३ ॥

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥ ४४ ॥

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥ ४५ ॥

[८२६] (च पार्याय च अवार्याय नमः) और पारमें विद्यमानके निमित्त तथा इस पारमें विद्यमानके निमित्त नमस्कार है। (च प्रतरणाय च उत्तरणाय नमः) और तारनेवालेके लिये तथा उत्कृष्ट तत्वज्ञानसे संसारके पार करनेवालेके निमित्त नमस्कार है। (च तीर्थ्याय च कूल्याय नमः) और तीर्थमें विद्यमानके निमित्त तथा जलके किनारेमें प्रकट होनेवालेके निमित्त नमस्कार है। (च शष्प्याय च फेन्याय नमः) और कुश अङ्कुरादिमें विद्यमानके निमित्त तथा सागरादिके फेनमें होनेवालेके निमित्त नमस्कार है ॥ ४२ ॥

[८२७] (च सिकत्याय च प्रवाह्याय नमः) और नदी आदिके रेतोंमें विद्यमान तथा जल प्रवाहमें होनेवालेके निमित्त नमस्कार है। (च किंशिलाय च क्षयणाय नमः) और वृक्ष कंकरादिमें विद्यमान या क्षुद्रपाषाणकी शर्करायुक्त स्थानमें स्थितके निमित्त तथा स्थिर जलमें रहनेवालेके लिये नमस्कार है। (च कपर्दिने च पुलस्तये नमः) और कपर्द अर्थात् कौडी, सीप, शंख आदिमें विद्यमानके निमित्त तथा पूर्ण जलमें अथवा शरीरमें अन्तर्यामी रूपसे निहितके निमित्त नमस्कार है। (च इरिण्याय च प्रपथ्याय नमः) और तृणरहित ऊपर भूमिमें विराजमानके निमित्त तथा बहुसेवित मार्ग वा नालोंमें विद्यमानके लिये नमस्कार है ॥ ४३ ॥

[८२८] (च व्रज्याय च गोष्ठ्याय नमः) और गोचारण स्थानमें विद्यमान और गोशालामें विद्यमानके निमित्त नमस्कार है। (च तल्प्याय च गेह्याय नमः) और शय्यामें विद्यमानके लिये तथा घरमें विराजमानके लिये नमस्कार है। (च हृदय्याय च निवेष्प्याय नमः) और हृदयमें जीवरूपसे स्थितके निमित्त तथा हिम समूहमें विराजमानके लिये नमस्कार है। (च काट्याय च गह्वरेष्ठाय नमः) और कठिन मार्गमें विराजमानके लिये तथा गिरगुहा वा गंभीरजलमें विराजमानके निमित्त नमस्कार है ॥ ४४ ॥

[८२९] (च शुष्क्याय च हरित्याय नमः) और सूखे काष्ठादिमें विराजमानके निमित्त तथा हरे पत्ते आदिमें विद्यमानके निमित्त नमस्कार है। (च पांसव्याय च रजस्याय नमः) और धूलीमें रहनेवालेके निमित्त तथा पुष्प-परागमें विद्यमानके लिये नमस्कार है। (च लोप्याय च उलप्याय नमः) और अगम्य स्थानमें विराजमानके निमित्त तथा बल्वजादि तृणमें विराजमानके निमित्त नमस्कार है। (च ऊर्व्याय च सूर्व्याय नमः) और उर्व भूमि वा वडवानलमें विराजमानके निमित्त तथा महाप्रलयकी अग्निमें विराजमानके निमित्त नमस्कार है ॥ ४५ ॥

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानाꣳ हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥

द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित ।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ्मो च नः किंचनाममत् ॥ ४७ ॥

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः ।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ ४८ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी । शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ४९ ॥

---

[८३०] (च पर्णाय नमः च पर्णशदाय नमः) और पर्णमें विद्यमानके निमित्त नमस्कार तथा पर्ण पतित पर्ण स्थित वेशरूप वा पर्णमें उत्पन्न कीटादिमें विद्यमानके निमित्त नमस्कार है । (च उद्गुरमाणाय च अभिघ्नते नमः) और निरन्तर उद्यमी उत्पन्न करनेवालेके निमित्त तथा शत्रुओंके संहारकके निमित्त नमस्कार है । (च आखिदते च प्रखिदते नमः) और अभक्तोंको सर्वदा दुःख देनेवालेके निमित्त तथा त्रिविधतापके उत्पन्नकर्ता वा पापिओंको अत्यन्त दुःख देनेवालेके निमित्त नमस्कार है । (इषुकृद्भ्यः च धनुष्कृद्भ्यः वः नमः) बाणके उत्पन्न करनेवालेके लिये और धनुषके करनेवाले रुद्ररूप तुम्हारे लिये नमस्कार है । (देवानां हृदयेभ्यः किरिकेभ्यः वः नमः) देवताओंके हृदय स्वरूप वृष्ट्यादि द्वारा जगतको सृजन करनेवाले तुम रुद्रके लिये नमस्कार है । (विचिन्वत्केभ्यः नमः) धर्मात्मा और पापात्माको पृथक पृथक करनेवालोंके लिये नमस्कार है । (विक्षिणत्केभ्यः नमः आनिर्हतेभ्यः नमः) विविध उपायोंसे शत्रुओंको नाश करनेवालेके लिये नमस्कार तथा गुप्त रूपसे सब तरफ शत्रुदेशमें व्याप्त हो जानेवालेके लिये नमस्कार है ॥ ४६ ॥

[८३१] हे (द्रापे) शत्रुओंको दुर्दशामें पहुंचा देनेवाले ! हे (अन्धसस्पते) अन्नके पालक ! हे (दरिद्र) सहायशून्य निष्परिग्रह ! हे (नीललोहित) नील रोहित रुद्र ! (नः आसां प्रजानां, एषां पशूनां मा भेः) हमारे इन प्रजा पुत्रादिको तथा इन गो आदि पशुओंको मत भयभीत करो । तथा इनको (मा रोक्) रोगसे पीडित मत करो । (च किञ्चन मा आममत्) और किसी प्रकार भी हमको तथा हमारी प्रजा पशुओंको मत रोग ग्रसित करो ॥ ४७ ॥

[८३२] (यथा द्विपदे चतुष्पदे शं) जिस प्रकार दो पाये मनुष्यों और चौपायों गवादि पशुओंमें सुखकी प्राप्ति हो तथा (अस्मिन् ग्रामे विश्वं पुष्टं अनातुरं असत्) इस गांवमें सब प्राणिसमूह पुष्ट उपद्रव रहित हों, उसी प्रकार हम (इमाः मतीः तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय रुद्राय प्रभरामहे) इन अपनी बुद्धियोंको महाबली जटिल शूरवीरोंके निवासभूत रुद्रदेवताकी सेवाके लिये समर्पण करते हैं ॥ ४८ ॥

[८३३] हे (रुद्र) रुद्र ! (या ते शिवा, विश्वाहा शिवा भेषजी) जो तुम्हारा शान्त, निरन्तर कल्याणकारी संसारकी व्याधि निवृत्त करनेवाली ओषधि तथा (रुतस्य शिवा भेषजी तन्वा) शरीर रोगकी समीचीन ओषधिरूप शक्ति है (तया नः जीवसे मृड) उस शक्तिसे हमारे जीवनको सुखी करो ॥ ४९ ॥

उत्तम औषधीके सेवनसे जीवन सुखी होता है ॥ ४९ ॥

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दुर्म॒तिर॑घा॒योः ।
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड ॥ ५० ॥
मीढु॑ष्टम॒ शिव॑तम॒ शि॒वो नः॑ सु॒मना॑ भव ।
प॒र॒मे वृ॒क्ष आयु॑धं नि॒धाय॒ कृत्तिं॒ वसा॑न॒ आ च॑र॒ पिना॑कं॒ बिभ्र॒दा ग॑हि ॥ ५१ ॥
विकि॑रिद्र॒ विलो॑हित॒ नम॑स्ते अस्तु भगवः । यास्ते॑ स॒हस्र॑ꣳ हे॒तयो॒ऽन्यम॒स्मन्नि व॑पन्तु॒ ताः ॥५२॥
स॒हस्रा॑णि सहस्र॒शो बा॒ह्वोस्तव॑ हे॒तयः॑ । तासा॒मीशा॑नो भगवः परा॒चीना॒ मुखा॑ कृधि ॥ ५३ ॥
असं॑ख्याता स॒हस्रा॑णि॒ ये रु॒द्रा अधि॒ भूम्या॑म् । तेषा॑ꣳ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥५४॥
अ॒स्मिन् म॑ह॒त्य॑र्ण॒वे॒ऽन्तरि॑क्षे भ॒वा अधि॑ । तेषा॑ꣳ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥५५॥
नील॑ग्रीवाः शिति॒कण्ठा॒ दिव॑ꣳ रु॒द्रा उप॑श्रिताः । तेषा॑ꣳ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥५६॥

---

[८३४] (**रुद्रस्य हेतिः नः परि वृणक्तु**) रुद्रके आयुध हमारा परित्याग करे, अर्थात् हमसे दूर रहें। (**त्वेषस्य अघायोः दुर्मतिः परि**) पापियों पर क्रोधित होकर दण्ड देनेकी इच्छावाली दुर्मति हमसे सब प्रकार दूर रहे। हे (**मीढ्वः**) अभिलषितफलप्रद ! (**मघवद्भ्यः स्थिरा अवतनुष्व तोकाय मृड**) धनसे युक्त यजमानका भय दूर करनेके लिये अपने दृढ धनुषोंको ज्याहीन करो तथा हमारे पुत्र पौत्रादिको सुख प्रदान करो ॥ ५० ॥

[८३५] हे (**मीढुष्टम**) अतिशय अभिलषित फलदाता ! हे (**शिवतम**) अतिशय कल्याणकारी रुद्र ! तू (**नः शिवः सुमनाः भव**) हमारे लिये शान्त और सुन्दर मनवाले होओ। (**परमे वृक्षे आयुधं निधाय कृत्तिं वसानः आचर**) ऊंचे वृक्षपर अपने हथियारको रखकर, चर्मको धारण करके आगमन करो, वा (**पिनाकं बिभ्रत् आगहि**) धनुषको धारण कर हमारे पास आओ ॥ ५१ ॥

[८३६] हे (**विकिरिद्र**) अनेक उपद्रवोंका नाश करनेवाले ! हे (**विलोहित**) शुद्धस्वरूप ! हे (**भगवः**) ऐश्वर्य स्वरूप रुद्र ! (**ते नमः अस्तु**) तुम्हारे लिये नमस्कार हो। (**ते याः सहस्रं हेतयः ताः अस्मत् अन्यं निवपन्तु**) तेरे जो सहस्रों शस्त्र हैं वे हमको छोडकर और कहीं किन्हीं उपद्रवियोंपर पडें ॥ ५२ ॥

[८३७] हे (**भगवः**) भगवन् ऐश्वर्य सम्पन्न रुद्र ! (**तव बाह्वोः सहस्राणि सहस्रशः हेतयः**) तुम्हारे भुजाओंमें बहुत प्रकारके सहस्रों खड्गशूलादि आयुध हैं (**ईशानः**) जगत्‌के स्वामी तुम (**तासां मुखा पराचीना कृधि**) उन संहारकारी आयुधोंके मुख हमसे दूर कर दीजिये ॥ ५३ ॥

[८३८] (**ये असंख्याताः सहस्राणि रुद्राः भूम्यां अधि**) जो असंख्य हजारों प्राणियोंको रुलानेवाले रुद्र भूमिके ऊपर स्थित हैं (**तेषां धन्वानि**) उनके धनुषोंको हम (**सहस्रयोजने अवतन्मसि**) हजारों योजन तक दूर करें ॥ ५४ ॥

इस भूमीपर असंख्य रुद्र हैं, जो मनुष्यादि प्राणियोंको कष्ट देते हैं। उनके दुःख देनेके साधन हमसे बहुत दूर रहें। अर्थात् दुःख देनेवाले हमारे पास न आवें। हम सुखी रहें ॥ ५४ ॥

[८३९] (**अस्मिन् अन्तरिक्षे महति अर्णवे अधि भवाः**) इस अन्तरिक्षमें और बडे सागरमें आश्रय करके जो रुद्र स्थित हैं (**तेषां धन्वानि सहस्रयोजने अवतन्मसि**) उनके धनुषोंको हमसे सहस्र योजन दूर ज्या रहित करके रखो ॥ ५५ ॥

[८४०] (**नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः रुद्राः**) नीले गर्दन और श्वेतकण्ठवाले जो रुद्र गण (**दिवं उपश्रिता**) द्युलोकमें आश्रय किये हुये हैं, (**तेषां धन्वानि सहस्र योजने अवतन्मसि**) उनके धनुषोंको हमसे सहस्र योजन दूर ज्या रहित करके रखते हैं ॥ ५६ ॥

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५७॥
ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५८॥
ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५९॥
ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुर्युधः । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६०॥
ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६१॥
येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६२॥
य एतावन्तश्च भूयांꣳसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे । तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६३॥

---

[८४१] (नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाः अधः क्षमाचराः) नीली गर्दनवाले और श्वेत कण्ठयुक्त जो शर्व नामक रुद्र नीचे पृथ्वीपर विचरण करनेवाले हैं (तेषां धन्वानि सहस्र योजने अवतन्मसि) उनके सब धनुष सहस्र योजन दूर करते हैं ॥ ५७ ॥

[८४२] (ये शष्पिञ्जराः नीलग्रीवाः विलोहिता वृक्षेषु) जो हरितवर्ण नीलग्रीवावाले तेजोमय शरीरयुक्त वृक्षोंमें वर्तमान हैं (तेषाम् धन्वानि सहस्र योजने अवतन्मसि) उन रुद्रोंके सम्पूर्ण धनुष सहस्र योजन दूर करते हैं ॥ ५८ ॥

[८४३] (ये भूतानां अधिपतयः) जो रुद्र प्राणियोंके अधिपति हैं तथा (विशिखासः कपर्दिनः) शिखा-हीन अर्थात् मुण्डित शिर एवं जो जटाजूटसे युक्त हैं (तेषां धन्वानि सहस्र योजने अवतन्मसि) उनके सम्पूर्ण धनुष सहस्र योजन दूर करते है ॥ ५९ ॥

[८४४] (ये पथां पथिरक्षयः ऐलबृदः आयुर्युधः) जो लौकिक तथा वैदिक मार्गोंके स्वामी, पथोंके रक्षक और अन्नसे प्राणियोंको पुष्ट करनेवाले तथा जीवन पर्यन्त युद्ध करनेमें तत्पर हैं (तेषां धन्वानि सहस्र योजने अवतन्मसि) उन रुद्रोंके सब धनुष सहस्र योजन दूर करते हैं ॥ ६० ॥

[८४५] (ये सृकाहस्ताः निषङ्गिणः तीर्थानि प्रचरन्ति) जो रुद्रगण भाला हाथमें लिये तलवार बांधे तीर्थ-स्थानोंमें फिरते हैं (तेषां धन्वानि सहस्र योजने अवतन्मसि) उनके सम्पूर्ण धनुष सहस्र योजन दूर करते हैं॥ ६१ ॥

[८४६] (ये अन्नेषु जनान् विविध्यन्ति) जो रुद्र अन्नोंमेंसे प्राणियोंको विशेष करके ताडन करते हैं, अर्थात् रोगोंको पैदा करते हैं, और (पात्रेषु पिबतः) पात्रोंमें जल दूध आदि पीनेवाले जनोंको रोगग्रसित करते हैं (तेषां धन्वानि सहस्रयोजने अवतन्मसि) उनके धनुषोंको सहस्र योजन दूर करते हैं ॥ ६२ ॥

[८४७] (च ये रुद्राः एतावन्तः च भूयांसः दिशः वितस्थिरे) और जो रुद्रगण इन दशों दिशाओंमें और इन कहे हुओंसे भी अधिक दिशाओंमें आश्रित हैं (तेषां धन्वानि सहस्र योजने अवतन्मसि) उनके सम्पूर्ण धनुष सहस्र योजनकी दूरी पर फेंकते हैं ॥ ६३ ॥

+

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश
प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो
यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६४ ॥
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश
प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो
यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६५ ॥
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश
प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो
यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६६ ॥

[अ० १६, कं० ६६, मं० सं० ९८०]

इति षोडशोऽध्यायः ।

---

[८४८] (ये दिवि) जो रुद्र द्युलोकमें विद्यमान हैं, (येषां वर्षं इषवः तेभ्यः रुद्रेभ्यः नमः) जिन रुद्रोंके वृष्टि ही बाण हैं उन रुद्रोंके लिये नमस्कार है। (तेभ्यः दशप्राचीः, दशदक्षिणा, दश प्रतीचीः दशोदीचीः दशोर्ध्वा नमः) उन रुद्रोंके लिये पूर्व दिशामें दश अङ्गुली होकर अर्थात् हाथ जोडकर, दक्षिणमें दश अङ्गुली होकर, पश्चिममें दश अङ्गुली होकर, उत्तरमें दश अङ्गुली होकर और ऊर्ध्वमें दश अङ्गुली होकर अर्थात् कर जोडकर प्रार्थना करता हूँ, उनके लिये नमस्कार हो। (ते नः अवन्तु) वे रुद्र हमारी रक्षा करें, (ते नः मृडयन्तु) वे हमको सुखी करें; (ते यं द्विषः च यः नः द्वेष्टि) वे रुद्र, जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है (तं एषां जम्भे दध्मः) उसको इन रुद्रोंके दाढमें स्थापन करते हैं ॥ ६४ ॥

[८४९] उन (रुद्रेभ्यः नमः अस्तु) रुद्रोंके लिये नमस्कार हो (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्षमें विद्यमान हैं; (येषां इषवः वातः) जिनके बाण पवन हैं। (तेभ्यः दश प्राचीः, दश दक्षिणा, दश प्रतीचीः दशोदीचीः दशोर्ध्वाः नमः) उन रुद्रोंके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और उर्ध्व दिशामें हाथ जोडकर प्रार्थना करता हूं; उनके लिये नमस्कार हो। (ते नः अवन्तु) वे रुद्र हमारी रक्षा करें, (ते नः मृडयन्तु) वे हमको सुखी करें, (ते यं द्विषः च यः नः द्वेष्टि तं एषां जम्भे दध्मः) वे रुद्र, जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उसको उन रुद्रोंके दाढमें स्थापन करते हैं ॥ ६५ ॥

[८५०] उन (रुद्रेभ्यः नमः अस्तु) रुद्रोंके लिये नमस्कार है, (ये पृथिव्यां) जो पृथ्वीमें स्थित हैं (एषां इषवः अन्नं) जिनके बाण अन्न हैं। (तेभ्यः दश प्राचीः, दश दक्षिणा, दश प्रतीचीः दशोदीचीः दशोर्ध्वाः नमः) उन रुद्रोंके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशामें हाथ जोडकर प्रार्थना करता हूं, उनके लिये नमस्कार हो। (ते नः अवन्तु) वे रुद्र हमारी रक्षा करें (ते नः मृडयन्तु) वे हमको सुखी करें, (ते यम् द्विषः च यः नः द्वेष्टि तम् एषाम् जम्भे दध्मः) वे रुद्र, जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उसको उन रुद्रोंके दाढमें स्थापन करते हैं ॥ ६६ ॥

॥ सोलहवा अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यः ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो अधि सम्भृतं पयः ।
तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणाः अश्मँस्ते क्षुन्मयि त ऊर्ग्यं
द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ १ ॥

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं
चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता
मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥ २ ॥

ऋतव स्थ ऋतावृध ऋतुष्ठा स्थ ऋतावृधः ।
घृतश्चुतो मधुश्चुतो विराजो नाम कामदुघा अक्षीयमाणाः ॥ ३ ॥

---

[८५१] हे (मरुतः) मरुद्गण ! (संरराणाः) अन्न आदिको भरपूर देनेवाले तुम (अश्मन् पर्वते शिश्रियाणां ऊर्जं) पाषाणमें पर्वतमें रहनेवाले बलको और (अद्भ्यः ओषधीभ्यः वनस्पतिभ्यः अधि सम्भृतं पयः) जलोंसे, ओषधियोंसे और वनस्पतियोंसे प्राप्त किये रसको तथा (तां इषं ऊर्जं नः धत्त) उस अन्न व बलको हमारे अन्दर स्थापन करो। हे (अश्मन्) सर्व भक्षक अग्ने ! (ते क्षुत्) तुम्हारे लिये क्षुधा प्राप्त हो अर्थात् तुम बहुत हविको भक्षण करो (ते ऊर्ग्यं मयि) तेरा सारभाग मेरेमें रहे, (ते शुक् तं ऋच्छतु यं द्विष्मः) तुम्हारा क्रोध उसको प्राप्त हो जिसके साथ हम द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

[८५२] हे (अग्ने) अग्नि ! (इमाः इष्टकाः मे धेनवः सन्तु) ये इष्टकायें मेरे लिये गौवें हों जो (एका च दश, च दश च शतं च शतं च सहस्रं) एक दश सौ और सहस्र होता है। (च सहस्रं च अयुतं च अयुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं) और अयुत संख्या होती है और नियुत अर्थात् लाख संख्या होती है और नियुतको दशगुणा करनेसे प्रयुत अर्थात् दशलाख संख्या होती है। (च अर्बुदं च न्यर्बुदम् च समुद्रः च मध्यं च अन्तः च परार्द्धः) और इसको दशगुणा करनेसे करोड, उसका दशगुणा करनेसे दशकोटि होता है, और इसका दशगुणा करनेसे न्यर्बुद अर्थात् अब्ज संख्या होती है, और इसका दशगुणा करनेसे खर्व, और खर्वका दशगुणा करनेसे निखर्व, इसका दशगुणा महापद्म, इसका दशगुणा शंकु, शंकुका दशगुणा समुद्र और समुद्रका दशगुणा करनेसे मध्य, और मध्यका दशगुणा करनेसे अन्त और इसका दशगुणा करनेसे परार्द्ध संख्या होती है। हे (अग्ने) अग्ने ! (एताः इष्टकाः अमुत्र च अमुष्मिन् लोके मे धेनवः सन्तु) ये इष्टिका इस लोकमें और दूसरे लोकमें मेरे लिये यथेष्ट प्रकारसे कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु गायोंके तुल्य हों ॥ २ ॥

[८५३] तुम (ऋतावृधः ऋतवः स्थ) सत्य वा यज्ञकी वृद्धि करनेवाली वसन्तादि रूप हो, (ऋतावृधः ऋतुष्ठाः) सत्यको बढानेवाली ऋतुओंमें स्थित हो, तथा (घृतच्युतः मधुश्च्युतः विराजः नाम कामदुघाः अक्षीयमाणाः स्थ) घृत देनेवाली, मधुर रस देनेवाली, विशेष तेजस्वी ऐश्वर्योंसे युक्त, कामनाओंको पूर्ण करनेवाली और क्षय रहित हो ॥ ३ ॥

समुद्रस्य त्वाऽवकयाग्ने परि व्ययामसि । पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥ ४ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणाऽग्ने परि व्ययामसि । पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥ ५ ॥

उप ज्मन्नुप वेतसेऽव तर नदीष्वा । अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरा गहि
सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि ॥ ६ ॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥ ७ ॥

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया । आ देवान् वक्षि यक्षि च ॥ ८ ॥

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२ इहा वह । उप यज्ञं हविश्च नः ॥ ९ ॥

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुच उषसो न भानुना ।
तूर्वन् न यामन्नेतशस्य नू रण आ यो घृणे न ततृषाणो अजरः ॥ १० ॥

---

[८५४] हे (अग्ने) अग्ने ! (समुद्रस्य अवकया त्वा परिव्ययामसि) सागरके शैवाल द्वारा तुमको सब ओर वेष्टन करता हूं, (अस्मभ्यं पावकः शिवः भव) हमारे लिये पवित्रकर्ता तुम अग्नि कल्याणकारी होओ ॥ ४ ॥

[८५५] हे (अग्ने) अग्ने ! (हिमस्य जरायुणा त्वा परिव्ययामसि) हिमके जरायुवत् शैवालद्वारा तुमको सब ओरसे वेष्टन करता हूं, (अस्मभ्यं पावकः शिवः भव) हमारे लिये तुम पवित्र करनेवाला और कल्याणकारी होओ ॥ ५ ॥

[८५६] हे (अग्ने) अग्ने ! (ज्मन् उपावतर) भूमिके ऊपर आओ (वेतसे उप) वेतस शाखाका अवलम्बन करो तथा (नदीषु आ) सब नदियोंमें भी आश्रय करो, क्योंकि तुम (अपां पित्तं असि) जलोंके तेज स्वरूप हो । हे (मण्डूकि) मण्डूकि ! तुम भी (ताभिः आगहि) उन जलोंके साथ आगमन करो (सा इमं अस्माभिः यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि) सो तुम इस हमारे यज्ञको पवित्र और मंगलकारी करो ॥ ६ ॥

[८५७] (इदं अपां न्ययनम्) यह अग्निका स्थान जलोंका आश्रय और (समुद्रस्य निवेशनं) समुद्रका गृहस्थानीय है । हे अग्ने ! (ते हेतयः अस्मत् अन्यान् तपन्तु) तुम्हारी ज्वालायें हमसे भिन्न शत्रुओंको पीडित करें; तुम (अस्मभ्यं पावकः शिवः भव) हमारे लिये पवित्र और कल्याणकारक होओ ॥ ७ ॥

[८५८] हे (पावक) शोधक ! हे (देव) दीव्यगुण युक्त ! हे (अग्ने) अग्ने ! तुम अपने (रोचिषा मन्द्रया जिह्वया देवान् आवक्षि) तेजसे और हर्षित करनेवाली ज्वालाओंसे देवताओंको बुलाओ (च यक्षि) तथा यजन करो ॥ ८ ॥

[८५९] हे (पावक) शोधक ! हे (दीदिवः) दीप्तिमान् ! हे (अग्ने) अग्ने ! (सः, देवान् नः इह आवह) वह तुम, देवताओंको हमारे इस यज्ञमें बुलाओ, (च नः हविः यज्ञं उप) और हमारी हविके यज्ञके समीप देवताओंको प्राप्त कराओ ॥ ९ ॥

[८६०] (यः, पावकया चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचे) जो अग्नि अपनी पवित्र करनेवाली दीप्तिसे पृथ्वी पर शोभाको प्राप्त होता है, (न उषसः भानुना) जैसे उषाकाल अपने सूर्य प्रकाशसे शोभा देते हैं। और (यः ततृषाणः अजरः) जो पूर्णाहुति पानेकी कामना करनेवाला, बुढापारहित अग्नि (एतशस्य यामन् रणे तूर्वन् न घृणे नु आ) गमन कुशल घोडेसे कार्य लेनेवाले युद्धमें शत्रुओंको मारनेवाले वीर सैनिकके समान दीप्तिसे सब प्रकार सब ओर देदीप्यमान होता है ॥ १० ॥

नम॑स्ते हर॑से शोचिषे नम॑स्ते अस्त्वर्चिषे॑ ।
अन्याँस्ते॑ अस्मत्त॑पन्तु हेतयः॑ पावको अस्मभ्य॑ᳬ शिवो भ॑व ॥ ११ ॥

नृषदे॒ वे॑ड॑प्सुषदे॒ वेड्॑ बर्हिषदे॒ वेड्॑ व॑नसदे॒ वेट्॑ स्वर्विदे॒ वेट्॑ ॥ १२ ॥

ये दे॒वा दे॒वानां॑ य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञिया॑नाᳬ संवत्सरीणमुप॑ भागमास॑ते ।
अहुतादो॑ हविषो॑ य॒ज्ञे अ॒स्मिन्त्स्वयं॑ पिबन्तु मधु॑नो घृतस्य॑ ॥ १३ ॥

ये दे॒वा दे॒वेष्वधि॑ दे॒वत्वमाय॑न् ये ब्रह्म॑णः पुर एतारो॑ अ॒स्य ।
येभ्यो॒ न ऋ॒ते पव॑ते धाम॒ किञ्च॒न न ते दि॒वो न पृ॑थि॒व्या अधि॒ स्नुषु॑ ॥ १४ ॥

प्राण॒दा अ॑पान॒दा व्या॑न॒दा व॑र्चो॒दा व॑रिवो॒दाः ।
अन्याँस्ते॑ अस्मत्त॑पन्तु हेतयः॑ पावको अस्मभ्य॑ᳬ शिवो भ॑व ॥ १५ ॥

---

[८६१] हे अग्ने ! (ते हरसे शोचिषे नमः) तुम्हारे सब रसोंके आकर्षण करनेवाले ज्वालाके लिये नमस्कार है । (ते अर्चिषे नमः अस्तु) तुम्हारे तेजके लिये नमस्कार हो । (ते हेतयः अस्मत् अन्यान् तपन्तु) तुम्हारी ज्वालायें हमसे भिन्न दूसरे शत्रुओंको तपावें । तुम (अस्मभ्यं पावकः शिवः भव) हमारे लिये पवित्र करनेवाला और कल्याण कारक होओ ॥ ११ ॥

[८६२] यह अग्नि (नृषदे, वेट्) मनुष्योंमें जठराग्निरूपसे स्थित प्राणरूप है उसके निमित्त यह आहुति दी जाती है । यह अग्नि (अप्सुषदे, वेट्) जलके मध्यमें वडवाग्निरूपसे स्थित है, उसकी प्रीतिके निमित्त आहुति दी जाती है । यह अग्नि (बर्हिषदे, वेट्) यज्ञीय कुशादिमें निवास करता है, उसके प्रीतिके लिये यह आहुति दी जाती है । वह अग्नि (वनसदे, वेट्) वृक्ष समूहमें दावाग्निरूपसे स्थित है, उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दी जाती है । और यह अग्नि (स्वर्विदे वेट्) स्वर्लोकके प्रधान सूर्य नामसे प्रसिद्ध है, उसकी प्रीतिके लिये यह आहुति देते हैं, भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १२ ॥

वेट्— देवताको पुकारकर बुलाना । यज्ञाहुति लेनेके लिये बुलाना ॥ १२ ॥

[८६३] (ये देवाः अहुतादः) जो देवगण विना स्वाहाकार किये अन्नको भक्षण करते हैं, वे प्राणरूप देवता गण (अस्मिन् यज्ञे मधुनः घृतस्य हविषः स्वयं पिबन्तु) इस यज्ञमें मधु घृतके हवि भागको स्वयं ही पान करें; और जो कि (यज्ञियानां देवानां यज्ञियाः संवत्सरीणं भागं उपासते) यजन करने योग्य देवताओंके मध्यमें यज्ञ-योग्य हैं, वे संवत्सरमें होनेवाले यज्ञके भागका स्वीकार करते हैं ॥ १३ ॥

[८६४] (ये देवाः देवेषु अधिदेवत्वं आयन्) जो प्राणादि देवोंने इन्द्रादि देवताओंमें अधिष्ठान प्राप्त किया है, (ये अस्य ब्रह्मणः पुरः एतारः) जो प्राण इस आत्माग्निके आगे गमन करते हैं और (येभ्यः ऋते किञ्चन धाम न पवते) जिन प्राणोंके विना कोई भी शरीर न चेष्टा कर सकता है (ते न दिवः, न पृथिव्यां, स्नुषु अधि) वे प्राण न द्युलोकमें न पृथ्वीमें हैं किन्तु प्रत्येक इन्द्रियमें वर्तमान हैं ॥ १४ ॥

[८६५] हे अग्ने ! तुम (प्राणदाः, अपानदाः, व्यानदाः, वर्चोदाः, वरिवोदाः) प्राणके देनेवाले, अपानके देनेवाले, व्यानके देनेवाले, बलदाता और धनके दाता हो । (ते हेतयः अस्मत् अन्यान् तपन्तु) तुम्हारे शस्त्रास्त्र हमसे अन्य शत्रुओंको पीडित करें, और तुम (अस्मभ्यं पावकः शिवः भव) हमारे लिये पवित्र करनेवाला एवं कल्याणकारी होओ ॥ १५ ॥

अ॒ग्निस्ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ यास॒द्विश्वं॒ न्य॒त्रिण॑म् । अ॒ग्निर्नो॑ वनते र॒यिम् ॥ १६ ॥

य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒दृषि॒र्होता॒ न्यसी॑दत् पि॒ता नः॑ ।
स आ॒शिषा॒ द्रवि॑णमि॒च्छमा॑नः प्रथम॒च्छद॑व॑राँ२ आ वि॑वेश ॥ १७ ॥

किँस्वि॑दासीदधि॒ष्ठान॑मा॒रम्भ॑णं कत॒मत्स्वि॑त्क॒थाऽऽसी॑त् ।
यतो॒ भूमिं॑ ज॒नय॑न् वि॒श्वक॑र्मा॒ वि द्यामौर्णो॑न्महि॒ना वि॒श्वच॑क्षाः ॥ १८ ॥

वि॒श्वत॑श्चक्षुरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहुरु॒त वि॒श्वत॑स्पात् ।
सं बा॒हुभ्यां॒ धम॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॒भूमी॑ ज॒नय॑न् दे॒व एकः॑ ॥ १९ ॥

किँस्वि॒द्वनं॒ क उ॒ स वृ॒क्ष आ॑स॒ यतो॒ द्यावा॑पृथि॒वी नि॑ष्टत॒क्षुः ।
मनी॑षिणो॒ मन॑सा पृ॒च्छतेदु॒ तद्यद॒ध्यति॑ष्ठ॒द्भुव॑नानि धा॒रय॑न् ॥ २० ॥

[८६६] (अग्निः तिग्मेन शोचिषा विश्वं अत्रिणं नियासत्) अग्नि अपने तीक्ष्ण तेजसे सम्पूर्ण विघ्नकारी राक्षसोंको सर्वथा विनष्ट कर डाले, और यही (अग्निः नः रयिं वनते) अग्नि हमारे लिये ऐश्वर्यको प्रदान करे ॥ १६ ॥

[८६७] (यः नः पिता इमाः विश्वा भुवनानि जुह्वत) जो हमारा पालक परमेश्वर इन समस्त लोकोंको प्रलयकालमें संहार करके (ऋषिः होता नि असीदत्) स्वयं ज्ञानवान् और देवोंको आह्वान करनेवाला होकर विराजता है। (सः आशिषा) वह परमेश्वर अपने आशीर्वादके सामर्थ्यसे (द्रविणं इच्छमानः प्रथमच्छत् अवरान् आविवेश) अपनी कामना पूर्ण करनेकी इच्छा करता हुआ, सबको अपने आधीन करके अपने अधीन हुए समस्त भूतोंमें व्यापक होकर रहता है ॥ १७ ॥

[८६८] सृष्टिके उत्पन्न करनेके पूर्व (किं स्वित् अधिष्ठानं आसीत्) कौनसा आश्रय था ? संसार को (आरम्भणं कतमत् स्वित्) बनानेके लिये प्रारम्भक मूल द्रव्य कौनसा था ? वह (कथा आसीत्) किस दशामें था ? (यतः विश्वकर्मा भूमिं जनयन्) जिससे वह समस्त संसारका कर्ता भूमिको उत्पन्न करता हुआ, अपने (महिना विश्वचक्षाः द्यां वि और्णोत्) महान सामर्थ्यसे सम्पूर्ण जगत को साक्षात् करनेवाला होकर द्युलोकको विशेष रूपसे व्याप्त करता है ॥ १८ ॥

[८६९] वह परमेश्वर (विश्वतः चक्षु) सर्वत्र आंखवाला (उत विश्वतः मुख) सब ओर मुखवाला, (विश्वतो बाहुः) सब ओर भुजावाला, (उत विश्वतः पात्) और सब ओर चरणवाला है, वह (बाहुभ्यां) अपनी भुजाओंसे अर्थात् बाहुस्थानीय बलवीर्यसे (एकः देवः द्यावा भूमी जनयन् पतत्रैः सं धमति) एक अद्वितीय देव द्युलोक और पृथ्वी लोकको प्रकट करता हुआ पतनशील अथवा प्रगतिशील प्रकृतिके परमाणुओंसे संसारको सुव्यवस्थित करता और रचता है ॥ १९ ॥

परमेश्वर सर्व शक्तिमान है और वह सर्वत्र विराजता है और अपनी शक्तिसे सर्वत्र उचित कार्य करता रहता है। उसके सर्वत्र सब अवयवोंके कार्योंके समान कार्य हो रहे हैं, अतः इस मंत्रमें कहा है कि उनके हस्तपादादि अवयव सर्वत्र हैं और उनसे वह सब प्रकारके कार्य करता रहता है ॥ १९ ॥

[८७०] (किं स्विद् वनं) वह कौनसा मूल कारण सबके भजन करने योग्य परम तत्त्व है ? (कः उ सः वृक्षः आस) वह वृक्ष कौन सा है ? (यतः द्यावा पृथिवी निः ततक्षुः) जिसमेंसे स्वर्ग और भूमि को परमेश्वरने

या ते धामा॑नि पर॒माणि॒ याऽव॒मा या म॑ध्य॒मा वि॑श्वकर्मन्नु॒तेमा ।
शिक्षा॒ सखि॑भ्यो ह॒विषि॑ स्वधावः स्व॒यं य॑जस्व त॒न्वं॑ वृधा॒नः ॥ २१ ॥

विश्व॑कर्मन् ह॒विषा॑ वावृधा॒नः स्व॒यं य॑जस्व पृथि॒वीमु॒त द्याम् ।
मुह्य॑न्त्व॒न्ये अ॒भितः॑ स॒पत्ना॑ इ॒हास्माकं॑ म॒घवा॑ सू॒रिर॑स्तु ॥ २२ ॥

वा॒चस्पतिं॑ वि॒श्वकर्मा॑णमू॒तये॑ मनो॒जुवं॒ वाजे॑ अ॒द्या हु॑वेम ।
स नो॒ विश्वा॑नि॒ हव॑नानि जोषद्वि॒श्वश॑म्भूरव॑से सा॒धुक॑र्मा ॥ २३ ॥

विश्व॑कर्मन् ह॒विषा॒ वर्ध॑नेन त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मकृणोरव॒ध्यम् ।
तस्मै॒ विशः॒ सम॑नमन्त पू॒र्वीर॒यमु॒ग्रो वि॒हव्यो॒ यथाऽस॑त् ॥ २४ ॥

निकाला है । हे (**मनीषिणः**) विवेकी पुरुषो ! तुम लोग भी (**तत् पृच्छत**) उस मूल कारणके सम्बन्धमें पूछो अर्थात् प्रश्न, तर्कवितर्क जिज्ञासा करो । (**यत् भुवनानि धारयन् अधि अतिष्ठत्**) जो समस्त भुवनों को धारण करते हुये अध्यक्ष रूपसे शासन कर रहा है ॥ २० ॥

वह कहां रहता है ? क्या करता है ? इसका विचार करो ॥ २० ॥

[८७१] हे (**विश्व कर्मन्**) संसारके कर्ता ! हे (**स्वधावः**) बहुत धारणशक्तिसे युक्त परमेश्वर ! (**या ते परमाणि अवमा मध्यमा उत इमा धामानि**) जो तेरे उत्कृष्ट, सूक्ष्म और बीचके तथा ये सभी स्थान और कर्म हैं उन सबको (**सखिभ्यः शिक्षा**) हम मित्ररूप जीवोंको तू प्रदर्शित करता है । तुम ही (**तन्वं वृधानः हविषि स्वयं यजस्व**) हम जीवोंके शरीरकी वृद्धि करता हुआ, योग्य अन्नादिसे स्वयं यजन करो ॥ २१ ॥

इस विश्वमें जो स्थान हैं, उनमें परमेश्वर भरकर रहा है । यह विश्वरूप महायज्ञ वही चला रहा है । उसका यह पवित्र कार्य सबको देखने योग्य है ॥ २१ ॥

[८७२] हे (**विश्वकर्मन्**) विश्वके कर्ता परमात्मन् ! (**हविषा वावृधानः**) मेरे दिये हुये हविरूप अन्नसे प्रसन्न हुये तुम मेरे इस यज्ञमें (**पृथिवीं उत द्यां स्वयं यजस्व**) भूमिके आश्रितजीवोंके हितके लिये स्वयं यजन करो, और तुम्हारी कृपासे (**अभितः अन्ये सपत्नाः मुह्यन्तु**) सब ओरसे दूसरे शत्रु मोहको प्राप्त हों, (**इह, मघवा अस्माकं सूरिः अस्तुः**) यहां इस यज्ञमें इन्द्र हमारे लिये आत्मज्ञानका उपदेशक महा विद्वान् रूप हो ॥ २२ ॥

हमारे शत्रु मोहित होकर दूर भाग जांय, और विद्वानोंकी सहायता हमें प्राप्त होती रहे ॥ २२ ॥

[८७३] (**अद्य वाजे, वाचस्पतिं मनोजुवं विश्वकर्माणं ऊतये हुवेम**) आज युद्धमें, वेदवाणीके रक्षक, मनके समान वेगवान, सब कर्मोंमें कुशल इन्द्र परमात्माको अपनी रक्षाके लिये हम बुलाते हैं, (**सः विश्वशम्भूः साधुकर्मा**) वह संसारका कल्याण करनेवाला और उत्तम कर्मोंका कर्ता (**नः विश्वानि हवनानि अवसे जोषत्**) हमारे समस्त आह्वानोंको हमारा रक्षण करनेके लिये प्रेमसे श्रवण करता है ॥ २३ ॥

[८७४] हे (**विश्वकर्मन्**) सम्पूर्ण शुभ कर्मोंके करनेवाले परमेश्वर ! (**वर्धनेन हविषा इन्द्रं त्रातारं अवध्यं अकृणोः**) बढानेवाले हवन द्वारा तुमने इन्द्रको जगतका रक्षक और अवध्य किया है, (**तस्मै पूर्वीः विशः समनमन्त**) उस इन्द्रके सामने सब प्रजाएं भली प्रकार झुकती हैं, (**अयं यथा उग्रः विहव्यः असत्**) यह इन्द्र उग्रवीर जैसा अनेक कार्योंमें बुलाने योग्य हुआ है ॥ २४ ॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ २५ ॥

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥ २६ ॥

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ २७ ॥

त आऽयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ २८ ॥

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे ॥ २९ ॥

---

[८७५] (यदा इत् पूर्वे) जिस समय पूर्व महर्षियोंने (अन्तः अददृहन्त) द्यावा भूमिके अन्तर्देशोंको दृढ किया (आत् इत् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्) उसके अनन्तरही द्यावापृथ्वी विस्तार युक्त हुईं, तब (चक्षुषः पिता मनसा धीरः हि) सम्पूर्ण चक्षु आदि इन्द्रियोंका पालक परमात्मा अपने मनके बलसे धीरता युक्त होकर ही (एने नम्नमाने घृतं अजनयत्) इन नम्रमान द्यावा पृथ्वीके अन्दर जलको उत्पन्न करता है ॥ २५ ॥

[८७६] हे मनुष्यो ! जो परमात्मा (विश्वकर्मा) समस्त संसारका बनानेवाला, जो (विमनाः, विहायाः, धाता, विधाता, संदृक्, परः) अनेक प्रकारके मननीय ज्ञानसे युक्त, विविध प्रकारसे पदार्थोंमें व्याप्त, सबका धारण-पोषण कर्ता, सृष्टिका रचनेवाला, सर्वद्रष्टा और सबसे उत्तम है, जिसको (एकं आहुः) एक अद्वितीय कहते हैं। (आत् यत्र सप्तऋषीन् इषा सं मदन्ति) और जिसमें पांच इन्द्रियें, मन और बुद्धि इन सातोंको प्राप्त होकर इच्छासे जीव अनेक प्रकारके आनन्दको प्राप्त होते हैं (उत् तेषां परमा इष्टानि) और जो उन जीवोंके सुख देनेवाले कामोंको पूर्ण करता है, उस परमात्माकी तुम सब उपासना करो ॥ २६ ॥

सप्त ऋषयः— सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें–मानव शरीरमें रहते हैं। दो आंख, दो कान, दो नासिका छिद्र और एक मुख ये सात प्रत्येक शरीरमें होतेही हैं ॥ २६ ॥

[८७७] (यः नः पिता जनिता) जो परमेश्वर हमारा पालक और उत्पादक है, (यः विधाता) जो विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है, जो (विश्वा धामानि भुवनानि वेद) सम्पूर्ण स्थानों व लोकोंको जानता है, (यः एकः देवानां नामधाः) जो एक होकर भी अनेक देवताओंके अनेक नाम धारण करता है, (अन्या भुवना सम्प्रश्नं तं यन्ति) दूसरे भुवनके लोक प्रशंसा करनेयोग्य उसको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

[८७८] (ते ऋषयः जरितारः न) वे पूर्वके ऋषिगण स्तुति करनेवालोंके समान (अस्मै द्रविणं सं आयजन्त) इस ईश्वरको बहुत ऐश्वर्य यज्ञमें समर्पण करते रहे हैं। (ये असूर्ते सूर्ते निषत्ते रजसि) जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रजोगुणमें रहकर (इमानि भूतानि सं आ कृण्वन्) इन भूतोंको विशेष रूपसे उत्पन्न करते हैं ॥ २८ ॥

[८७९] (यत् अस्ति) जो है वह (दिवः परः) द्युलोकसे भी दूर हैं, (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीसे परे है और (देवेभिः असुरैः परः) देवताओंसे तथा असुरोंसे भी दूर है, (आपः प्रथमं कं गर्भं दध्रे, किं स्वित्) जलोंने पहले किस गर्भको धारण किया, वह गर्भ कैसा आश्चर्य रूप था ? (यत्र पूर्वे देवाः समपश्यन्त) जहां पूर्वकालीन देवगण उस तत्त्वका सम्यग् दर्शन करते हैं ॥ २९ ॥

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ३० ॥

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ३१ ॥

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद्गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः ।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा ॥ ३२ ॥

यत् अस्ति, दिवः परः एना पृथिव्याः परः देवेभिः असुरैः परः— जो मुख्य तत्त्व है, वह द्युलोकसे परे, इस पृथिवीके परे, देव तथा असुरोंके परे है।

आपः प्रथमं कं गर्भं दध्रे ?— जलोंने पहिले किस प्रकारके गर्भको धारण किया था, जिससे इस संसारकी उत्पत्ति हुई है।

किं स्वित्— वह प्रथम उत्पन्न हुआ तत्त्व कैसा था ? उसका स्वरूप कैसा था?

यत्र पूर्वे देवाः समपश्यन्त— जहाँ पूर्व कालीन ज्ञानियोंने सम्यक् दर्शन करके उस तत्त्वको जाना था।

इस मूलतत्त्वको जानना चाहिये ॥ २९ ॥

[८८०] (तं इत् प्रथमं आपः गर्भं दध्रे) उस सबसे प्रथम विद्यमानने जलके गर्भको धारण किया है, (यत्र विश्वेदेवाः सं अगच्छन्त) जहां समस्त दिव्य शक्तियां, मिलकर रहीं हैं। वस्तुतः (अजस्य नाभौ एकं अधि अर्पितम्) इस अजन्मा ईश्वरके रूपके नाभि केन्द्रमें एक परम तत्व सर्वोपरि विद्यमान है, (यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः) जिसमें समस्त भुवन आश्रय पाकर स्थिर है ॥ ३० ॥

आपः तं प्रथमं इत् गर्भं दध्रे— जलोंने उसको सबसे प्रथम गर्भमें धारण किया, जिससे सब प्रकारकी सृष्टी पश्चात् उत्पन्न हुई है।

यत्र विश्वेदेवाः समगच्छन्त— जिसमें सब दिव्य शक्तियां मिलकर रहीं हैं और मिलकर प्रगति कर रहीं हैं।

अजस्य नाभौ एकं अधि अर्पितम्— अजन्मा परमात्माकी नाभीमें — अर्थात् उसके मध्यमें एक तत्त्व रहा है, जिससे सब विश्व बनता है।

यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः— जिसमें सब भुवन रहे हैं, वह एक तत्त्व है ॥ ३० ॥

[८८१] हे मनुष्यो ! (यः इमा जजान) जो इन समस्त लोकोंको पैदा करता है, तुम लोग (तं न विदाथ) उसको नहीं जानते, वह (अन्यत्, युष्माकं अन्तरं बभूव) और ही तत्त्व है जो सबसे भिन्न होकर भी तुम लोगोंके मध्यमें व्यापक है, (नीहारेण प्रावृताः जल्प्या असुतृपः, उक्थशासः चरन्ति) कुहरेसे घिरे हुओंके समान, केवल विवाद या मौखिक वार्ता ही करनेवाले और एकमात्र प्राणपोषण की चिन्तामें लगे, ऐसे लोग ज्ञानके तत्वका विचार करनेवाले बनकर विचरण करते हैं। अर्थात् लोग ईश्वरके सम्बन्धमें वाद विवाद बहुत करते हैं परन्तु साक्षात्कार नहीं करते हैं ॥ ३१ ॥

यः इमा जजान, तं न विदाथ— जिसने ये विश्वके नाना पदार्थ उत्पन्न किये हैं उसको तुम जानते नहीं।

अन्यात्, युष्माकं अन्तरं बभूव— वह दूसरा है, अर्थात् वह तुमसे भिन्न है। वह तुम्हारे अन्दर रहता है।

नीहारेण प्रावृताः जल्प्या असुतृपः उक्थशासः चरन्ति— अज्ञानके कुहरेसे घिरे हुए, केवल बातें करनेवाले, केवल शरीरके प्राणके रक्षण करनेवाले तत्त्वज्ञानका बकवास करते रहते हैं ॥ ३१ ॥

[८८२] सबसे प्रथम (विश्वकर्मा देवः हि अजनिष्ट) विश्वका कर्ता परमात्मा प्रकट हुआ था, (आत् इत् द्वितीयः गन्धर्वः अभवत्) पश्चात् उसके गौ, पृथ्वी आदिका धारक सूर्य प्रकट हुआ। (तृतीयः ओषधीनां जनिता च पिता) तीसरा ओषधियोंका पालक और उत्पादक मेघ है, वह (अपां गर्भं पुरुत्रा व्यदधात्) जलोंके गर्भको बहुत प्रकारसे अपनेमें धारण करता है ॥ ३२ ॥

+

आशुः शिशा॑नो वृष॒भो न भी॒मो घ॑नाघ॒नः क्षोभ॑णश्चर्षणी॒नाम् ।
संक्रन्द॑नोऽनिमि॒ष ए॑कवी॒रः श॒तꣳ सेना॑ अजयत् सा॒कमिन्द्रः॑ ॥ ३३ ॥

संक्रन्द॑नेनानिमि॒षेण॑ जि॒ष्णुना॑ युत्का॒रेण॑ दुश्च्यव॒नेन॑ धृ॒ष्णुना॑ ।
तदिन्द्रे॑ण जयत॒ तत्स॑हध्वं॒ युधो॑ नर॒ इषु॑हस्तेन॒ वृष्णा॑ ॥ ३४ ॥

स इषु॑हस्तैः॒ स नि॑षङ्गिभि॑र्व॒शी सꣳस्र॑ष्टा॒ स यु॒ध इन्द्रो॑ ग॒णेन॑ ।
सꣳसृ॒ष्टजित्सो॑म॒पा बा॑हुश॒र्ध्यु॑ग्रध॑न्वा॒ प्रति॑हिताभि॒रस्ता॑ ॥ ३५ ॥

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हाऽमित्राँ॑२ अप॒बाध॑मानः ।
प्र॒भ॒ञ्जन्त्सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेध्यवि॒ता रथा॑नाम् ॥ ३६ ॥

प्रथम विश्वका निर्माण करनेवाला था । दूसरा पृथिवी आदिका धारण कर्ता हुआ । तीसरा औषधियोंका निर्माता हुआ । इसके पश्चात् अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति हो गई है ॥ ३२ ॥

[८८३] (आशुः शिशानः वृषभः न भीमः) बडे वेगसे शत्रुओंपर आक्रमण करनेवाला, अपने हथियारोंको अत्यन्त तीक्ष्ण करके रखनेवाला, वृषभके समान भयंकर, (घनाघनः चर्षणीनां क्षोभणः संक्रन्दनः अनिमिषः एक वीर इन्द्रः) शत्रुओंको निरन्तर हनन करनेवाला, समस्त शत्रुसेनाको त्रस्त करदेनेवाला, बारम्बार शत्रुओंको आह्वान करनेवाला, पलक भी न हिलानेवाला अत्यन्त सावधान, एक अद्वितीय वीर इन्द्र (शतं सेनाः साकं अजयत्) सैंकडों शत्रुकी सेनाओंको पराजित करता है ॥ ३३ ॥

[८८४] हे (युधः नरः) युद्ध करनेवाले वीर पुरुषो ! तुम सब (धृष्णुना संक्रन्दनेन युत्कारेण अनिमिषेण) धैर्यशील अतः भयरहित, शब्द करनेवाले, विविध प्रकारकी व्यूह रचनाओंसे योद्धाओंको मिलाने और आवश्यकता न होनेपर न मिलानेवाले, एक चित्तके साथ (इषुहस्तेन जिष्णुना दुश्च्यवनेन वृष्णा इन्द्रेण तत् जयत) हाथमें बाण धारण किये जयशील, अजय्य कामनाओं वर्षानेवाले इन्द्रके प्रभावसे उस शत्रुसेनाको पराजित करो और (तत् सहध्वम्) उस सेनाको वशमें करके अपना विजय करो ॥ ३४ ॥

[८८५] (सः वशी इषुहस्तैः निषङ्गिभिः संस्रष्टा) वह जितेन्द्रिय वा शत्रुओंको वशमें करनेवाला, बाण हाथमें लिये खड्गधारी वीरोंके साथ मिलकर उनको उत्तम व्यवस्थापक है, (सः गणेन युधः) वह अपने सैन्यगण अर्थात् सैन्यदल सहित युद्ध करनेवाला है, और (स इन्द्रः संसृष्टजित् सोमपाः बाहुशर्धी उग्रधन्वा प्रतिहिताभिः अस्ता) वह इन्द्र युद्धके लिये एकत्रित हुये शत्रुओंको जीतनेवाला, यज्ञोंमें सोमपान करनेवाला, बाहुओंके बलसे युक्त, उत्कृष्ट धनुषवाला और अपने धनुषसे प्रेरित बाणोंको शत्रुओं पर चलाता है, उपरोक्त गुणोंसे सम्पन्न इन्द्र हमारी रक्षा करें ॥ ३५ ॥

वीरके ये शुभगुण है—

वशी— जितेन्द्रिय, अपने वशमें इन्द्रियोंको रखनेवाला ।

इषुहस्तैः निषंगिभिः संस्रष्टा— बाण हाथमें लेकर खड्गधारी वीरोंके साथ रहकर अपनी सेनाकी उत्तम व्यवस्था करनेवाला ।

स गणेन युधः— वह सैन्यके गणोंको साथ लेकर युद्ध करनेवाला ।

संसृष्टजित् बाहुशर्धी उग्रधन्वा प्रतिहिताभिः अस्ता— वह युद्धमें जीतनेवाला, बलवान् बाहुवाला, उग्र धनुष्यधारी, बाणोंसे शत्रुको पराजित करनेवाला ॥ ३५ ॥

[८८६] हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! तुम (रक्षोहा) राक्षसोंके नष्ट करनेवाले हो, (रथेन परिदीया) रथके द्वारा सब ओर गमन करते, (अमित्रान् अपबाधमानः) शत्रुओंको पीडा देते, उस शत्रुओंकी (सेनाः प्रभञ्जन्) सेनाओंको विशेषरूपसे छिन्न भिन्न करते, (युधा प्रमिणः जयन्) युद्धसे हिंसाकारियोंको जय करते (अस्माकं रथानां अविता एधि) हमारे रथोंके रक्षक होओ ॥ ३६ ॥

बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित् ॥ ३७ ॥

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमꣳ सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रꣳ सखायो अनु सꣳ रभध्वम् ॥ ३८ ॥

[८८७] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुम (बलविज्ञायः, स्थविरः, प्रवीरः, सहस्वान् वाजी उग्रः अभिवीरः) सेनासंचालनमें चतुर, युद्धमें बडा अनुभवी, सबपर अनुशासन करनेवाले, अतिशय शूर, शत्रुपर विजय प्राप्त करनेवाले बलसे युक्त, वेगवान् उग्र, सब ओरसे श्रेष्ठ वीरोंसे घिरा हुआ, (अभिसत्त्वा, सहोजाः, गोवित्, सहमानः, जैत्रं रथं आतिष्ठ) बलवान् पुरुषोंके साथ रहनेवाला, बलके कारण ही विख्यात, पृथ्वीको विजयसे प्राप्त करनेवाला, शत्रुओंको पराजित करनेवाला हो, अपने जयशील रथमें आरोहण करो ॥ ३७ ॥

इन्द्रके शुभ गुण ये हैं—
बलविज्ञायः— सेनाका संचालन करनेमें चतुर ।
स्थविरः— अनुभवमें बडा वृद्ध ।
प्रवीरः— विशेष वीरतासे युक्त । उत्तम वीर ।
सहस्वान्— अत्यंत सामर्थ्यवान् ।
वाजी— बलशाली ।
उग्रः — उग्र वीर, उत्तम शूर ।
अभिवीरः— शूर वीरोंसे घिरा हुआ ।
अभिसत्वा— बलवान वीरोंसे घिरा हुआ ।
सहोजाः— बलिष्ठ वीरोंसे युक्त । ओजस्वी ।
गोवित्— भूमिको विजयसे प्राप्त करनेवाला ।
सहमानः— शत्रुको पराजित करनेवाला ।
जैत्रं रथं आतिष्ठ— अपने विजयी रथपर बैठ ॥ ३७ ॥

[८८८] हे (सजाताः) समान जन्मवाले ! हे (सखायः) मित्रो ! (इमं गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं अज्म जयन्तं) इस पर्वतोंको तोडनेवाले शत्रुका नाशक, वेदवाणीके ज्ञाता विद्वान, हाथमें वज्र धारण करनेवाले, संग्रामको जीतनेवाले और (ओजसा प्रमृणन्तं इन्द्रं अनुवीरयध्वम्) बलसे शत्रुओंको मारनेवाले इन्द्रको वीरकर्मका उत्साह दिलाओ (अनु सं रभध्वम्) इस वीरको तुम आनंदित करो ॥ ३८ ॥

सजाताः— एक ज्ञातीमें उत्पन्न । एक विचारवाले वीर ।
गोत्रभिद्— पर्वतीय किलोंको तोडनेवाला शूरवीर ।
गोविद्— वेदवाणीका ज्ञाता ।
वज्रबाहुः— वज्रके समान सुदृढ बाहुवाला ।
अज्म जयन्— युद्धोंमें विजय प्राप्त करनेवाला ।
ओजसा प्रमृणन्— बलसे शत्रुओंको मारनेवाला ।
अनु वीरयध्वं— वीरकर्म करनेका उत्साह दो ।
अनु संरभध्वं— (वीरको) आनंदित करो ॥ ३८ ॥

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳ सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ३९ ॥
इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ४० ॥
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुताꣳ शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ ४१ ॥

---

[८८९] (सहसा, गोत्राणि, अभि गाहमानः) अपने बलसे शत्रुके किलोंको तोडनेवाला (अदयः, वीरः, शतमन्युः, दुश्च्यवनः, पृतनाषाड् अयुध्यः इन्द्रः) वैरियोंपर दया न करनेवाला, शूरवीर, अनेक प्रकारसे शत्रुपर क्रोध करनेमें समर्थ, अजेय, संग्राममें शत्रुसेनाको पराजित करनेवाला, जिसके साथ कोई भी युद्ध न कर सके ऐसा वह इन्द्र (युत्सु अस्माकं सेनाः प्र अवतु) युद्धोंमें हमारी सेनाओंकी उत्तमरीतिसे रक्षा करे ॥ ३९ ॥

सहसा गोत्राणि अभिगाहमानः— अपने सामर्थ्यसे शत्रुके किलोंको तोडनेवाला ।

अदयः वीरः— शत्रुपर दया न करनेवाला वीर ।

शतमन्युः— अनेक प्रकारसे शत्रुपर क्रोध करनेवाला ।

दुश्च्यवनः— अपने स्थानसे जिसको हटा नहीं सकते ऐसा वीर ।

पृतनाषाट्— शत्रुकी सेनाको पराजित करनेवाला ।

अयुध्यः— शत्रु जिसके साथ युद्ध नहीं कर सकते ऐसा सामर्थ्यवान् वीर ।

युत्सु अस्माकं सेनाः अवतु— युद्धोंमें हमारी सेनाका संरक्षण करे ॥ ३९ ॥

[८९०] (बृहस्पतिः इन्द्रः) बृहस्पति और इन्द्र, (आसां अभिभञ्जतीनां, जयन्तीनां देवसेनानां नेता) इन शत्रुओंका मर्दन करनेवाली विजयशील देव सेनाओंके नायक व संचालनकर्ता हैं, (यज्ञः सोमः दक्षिणा पुरः एतु) यज्ञ, सोम और दक्षिणा आगे गमन करें; (मरुतः अग्रं यन्तु) सेनाके मरुतगण सबके अग्रभागमें गमन करें ॥ ४० ॥

इन्द्रः बृहस्पतिः आसां अभिभंजतीनां जयन्तीनां देवसेनानां नेता— इन्द्र और बृहस्पति ये इन आक्रमण करनेवाली तथा शत्रुपर विजय करनेवाली देवोंकी सेनाके संचालनकर्ता नायक हैं ।

मरुतः अग्रं यन्तु— मरुत् वीर आगे चलें और शत्रुपर आक्रमण करें ।

इन्द्र वीर तथा शूर है और बृहस्पति ज्ञानी ब्राह्मण है । शूर और ज्ञानी राष्ट्रमें मिलकर रहें और राज्यशासन करें, तब राष्ट्रका कल्याण होगा ॥ ४० ॥

[८९१] (महामनसां भुवनच्यवानां, जयतां) बडे विचारशील भुवनको कंपा देनेवाले, विजयशील (देवानां आदित्यानां मरुतां वृष्णः इन्द्रस्य, राज्ञः वरुणस्य) देवोंके, आदित्योंके, मरुद्गणोंके, अनेक योजनाओंकी घोषणा करनेवाले इन्द्रके और राजा वरुणके (उग्रं शर्धः घोषः उदस्थात्) उत्कृष्ट बलके कारण सेनाका जयनाद उत्कृष्ट-रीतिसे हुआ ॥ ४१ ॥

महामनसां भुवनच्यवानां जयतां देवानां उग्रं शर्धः घोषः उदस्थात्— बहुत विचार करके कार्य करनेवाले, भुवनोंको हिलानेवाले विजयी देवोंकी सेनाका उग्र शब्दका घोष हुआ । देवोंकी सेना बडा शब्द करती हुई आगे बढती है ॥ ४१ ॥

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि ।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥ ४२ ॥

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ२ उ देवा अवता हवेषु ॥ ४३ ॥

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥ ४४ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व माऽमीषां कं चनोच्छिषः ॥ ४५ ॥

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु । उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ ॥ ४६ ॥

---

[८९२] हे (मघवन्) इन्द्र ! तुम अपने (आयुधानि उद्धर्षय) शस्त्रास्त्रोंको भली प्रकार तीक्ष्णता पूर्वक तैयार करो, (मामकानां सत्वनां मनांसि उत्) हमारे पक्षके वीरोंके मनोंको उत्तेजित करो और (वाजिनां वाजिनानि उत्) घोडोंके शीघ्रगमनको उत्तेजित करो । हे (वृत्रहन्) वृत्रहन्ता इन्द्र ! (जयतां रथानां घोषाः उद्यन्तु) जयशील रथोंके जय घोष ऊपर उठें ॥ ४२ ॥

आयुधानि उद्धर्षय— अपने शस्त्रास्त्रोंको भलीप्रकार तीक्ष्ण करके तैयार रखो ।

मामकानां सत्वनां मनांसि उद्धर्षय— हमारे पक्षके वीरोंके मन उत्साहित रखो ।

वाजिनां वाजिनानि उद्धर्षय— हमारे घोडोंके गतिको उत्तेजित करो । हमारी घोडोंकी सेना उत्साही हो ।

जयतां रथानां घोषाः उद्यन्तु— हमारे विजयी रथोंके घोष-शब्द-ऊपर उठें । अर्थात् हमारी सेनाका विजय घोष बडा उत्साह बढानेवाला हो ॥ ४२ ॥

[८९३] (ध्वजेषु समृतेषु अस्माकं इन्द्रः) रथोंपर लगे झण्डोंके उत्तम रीतिसे उत्तेजित हो जानेपर हमारा शत्रुहन्ता इन्द्र और (याः अस्माकं इषवः) जो हमारे बाण हैं, (ताः जयन्तु) वे सब जयको प्राप्त हों । (अस्माकं वीराः उत्तरे भवन्तु) हमारे वीर पुरुष युद्धमें ऊंचे हो जांय अर्थात् हमारा विजय हो और (देवाः हवेषु अस्मान् उ अवत) सब देव अर्थात् दैवी शक्तियां संग्रामोंमें हमारी ही रक्षा करें ॥ ४३ ॥

[८९४] हे (अप्वे) शत्रुओंको दूर भगा देनेवाली भयंकर सेने ! तू (अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती) उन शत्रुओंके चित्तको मोहित करती हुई उनके (अङ्गानि गृहाण) अङ्गोंको जकड ले और (परेहि) दूर चली जा, तथा (अभि-प्रइहि शोकैः हृत्सु निर्दह) आगे बढती हुई अपनी ज्वालाकी लपटोंसे शत्रुओंके हृदयमें अग्नि प्रदीप्त कर दे, जिससे (अमित्राः अन्धेन तमसा सचन्ताम्) शत्रु गहरे अन्धकारसे अर्थात् शोक पीडासे युक्त हो जाँय ॥ ४४ ॥

[८९५] (ब्रह्मसंशिते) ज्ञानसे तीक्ष्ण किये हुये हे (शरव्ये) बाणरूपी अस्त्र ! तुम हमसे (अवसृष्टा परापत, अमित्रान् गच्छ) छोडे हुये एक साथ शत्रुसेना पर गिरो और गिरकर शत्रुओंको त्रस्त करो, तथा शत्रुओंके शरीरमें (प्रपद्यस्व, अमीषां कञ्चन मा उच्छिषः) प्रवेश करके इनमें किसीको भी मत छोडो अर्थात् उनको जीवित रहने न दो ॥ ४५ ॥

[८९६] हे (नरः) वीर पुरुषो ! (प्रेत, जयत) शत्रुओंकी सेना पर शीघ्रतासे आक्रमण करो और विजय प्राप्त करो । (इन्द्रः वः शर्म यच्छतु) शत्रुओंका नाशक सेनापति इन्द्र तुमको सुख या आनंद प्रदान करे । (वः बाहवः उग्राः सन्तु) तुम्हारे बाहुएँ उग्र अर्थात् बडे बलवान हों, (यथा अनाधृष्याः असथ) जिससे तुम लोग किसी शत्रुसे भी आक्रमण होनेके योग्य न होओ ॥ ४६ ॥

प्रेत, जयत— शत्रुपर आक्रमण करो और जय प्राप्त करो ।

वः बाहवः उग्राः सन्तु— तुम्हारे बाहु उग्र बलवान हों ।

अनाधृष्या असथ— शत्रुसे तुम्हारे ऊपर आक्रमण न हो ॥ ४६ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथाऽमी अन्यो अन्यं न जानन् ॥ ४७ ॥

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
तन्न इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥ ४८ ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजाऽमृतेनानुवस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वाऽनु देवा मदन्तु ॥ ४९ ॥

उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत । रायस्पोषेण सꣳ सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ ५० ॥

इन्द्रेमं प्रतरां नय सजातानामसद्वशी । समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदा असत् ॥ ५१ ॥

यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्धया त्वम् । तस्मै देवा अधि ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ५२ ॥

---

[८९७] हे (मरुतः) मरुतो ! (या असौ परेषां सेना ओजसा स्पर्द्धमाना) जो यह शत्रुओंकी सेना अपने पराक्रमसे हमसे स्पर्द्धा करती हुई (नः आ अभ्यैति) हमारी ओरही बढती चली आरही है, (तां अपव्रतेन तमसा गूहत) उस सेनाको अनियंत्रित धूमादिसे घेर दो (यथा अमी अन्यो अन्यं न जानन्) जिससे ये लोग एक दूसरेको न जान सके ऐसा करो ॥ ४७ ॥

जो शत्रुकी सेना हमारे ऊपर चढाई करके आती है, उस सेनाको ऐसी भ्रांतिमें डालना चाहिये कि वे आपसके वीरोंको भी न जान सकें। शत्रुसेनामें ऐसी घबराहट उत्पन्न करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

[८९८] (यत्र बाणाः सम्पतन्ति) जिस रणक्षेत्रमें वीरोंके छोडे हुए बाण इधर-उधर गिरते हैं। (इव विशिखाः कुमाराः) जिस प्रकार शिखा रहित बालक चपलताके कारण इधर उधर गिरते फिरते हैं। (तत् बृहस्पतिः अदितिः इन्द्रः नः शर्म यच्छतु) उस युद्धमें बृहस्पति. देवमाता और इन्द्र हमारे लिये कल्याण प्रदान करें, और (विश्वाहा शर्म यच्छतु) सदा सबको सुख दिया करें ॥ ४८ ॥

[८९९] मैं (ते मर्माणि वर्मणा छादयामि) तुम्हारे मर्मस्थानोंको कवचसे आच्छादित करता हूं। (राजा सोमः अमृतेन त्वा अनुवस्ताम्) राजा सोम अमृतसे तुमको घेरकर रखे और (वरुणः ते उरोः वरीयः कृणोतु) वरुण तुम्हारे कवचको बहुत अधिक उत्तम करे, तथा (देवाः जयन्तं त्वा अनुमदन्तु) देवगण विजय करते हुये तुझको उत्साहित करें ॥ ४९ ॥

[९००] हे (घृतेनाहुत अग्ने) घीकी आहुतियोंसे आहुत अग्ने ! (एनं उत्तरां नय) इस यजमानको ऐश्वर्यकी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त कराओ, (उत रायस्पोषेण संसृज) और धनकी पुष्टिसे संयुक्त करो। (च प्रजया बहुं कृधि) तथा पुत्र पौत्रादिसे बडे कुटुम्बवाला बनाओ ॥ ५० ॥

[९०१] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (इमं प्रतरां नय) इस यजमानको बहुत उत्कृष्ट मार्गसे ले चलो, जिससे यह (सजातानां वशी असत्) स्वबांधवों को अनुकूल करनेमें समर्थ हो, (एनं वर्चसा संसृज) इसको तेजसे संयुक्त करो उससे यह (देवानां भागदा असत्) देवताओंको भाग देनेवाला हो ॥ ५१ ॥

[९०२] हे (अग्ने) अग्ने ! हम (यस्य गृहे हविः कुर्मः) जिस यजमानके घरमें हवन करते हैं (तं त्वं वर्धय) उस यजमानको तुम बढाओ, (च देवाः तस्मै अधिब्रुवन्) और उसके बढजानेपर देवतागण उस यजमानको 'यह बडा है ' ऐसा कहें। (अयं ब्रह्मणः पतिः) यह वेदोंका रक्षक है ॥ ५२ ॥

उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः । स नो भव शिवस्त्वꣳ सुप्रतीको विभावसुः ॥५३॥

पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः ।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषे अधि यज्ञो अस्थात् ॥ ५४ ॥

समिद्धे अग्नावधि मामहान उक्थपत्र ईड्यो गृभीतः ।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः ॥ ५५ ॥

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः ।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुः ॥ ५६ ॥

वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति ।
ततो वाका आशिषो नो जुषन्ताम् ॥ ५७ ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२ अजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ ५८ ॥

---

[९०३] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वा विश्वेदेवाः चित्तिभिः उ उद्भरन्तु) तुमको सम्पूर्ण देवगण अपनी बुद्धियों द्वारा बढावें । (सः नः सुप्रतीकः विभावसुः शिवः भव) वह प्रसिद्ध तुम हमारे लिये सुन्दर दीप्तिरूप धनवाले तथा कल्याण करनेवाले होओ ॥ ५३ ॥

[९०४] (दैवीः पञ्चदेवीः दिशः) इन्द्र यम वरुण सोम और ब्रह्मासे सम्बन्ध रखनेवाली पांच पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और मध्य ये दिव्य गुणोंवाली दिशायें हमारी (अमतिं दुर्मतिं अपबाधमानाः) बुद्धिकी मन्दताको तथा दुष्टबुद्धि को विनाश करती हुई (रायस्पोषे यज्ञपतिं आभजन्तीः) धनकी पुष्टिमें यज्ञकर्ता यजमानको प्राप्त करती हुई हमारे (यज्ञं अवन्तु) यज्ञकी अच्छी प्रकार रक्षा करें, और हमारा (यज्ञः रायः पोषे अधि अस्थात्) यज्ञ, धनकी पुष्टिमें अधिक समृद्धिको प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

[९०५] (देवाः यत् तप्तं घर्मं परिगृह्य यज्ञं अयजन्त) विद्वान् लोग जब तप्त सिंचन योग्य घृत लेकर यज्ञको करते और अग्निमें आहुति देते हैं, तब (ऊर्जा अग्नौ समिद्धे) घीके द्वारा अग्निके प्रज्वलित होनेपर (अधिमामहानः उक्थपत्रः ईड्यः गृभीतः) अत्यधिक पूजनीय, वेदवचनों द्वारा ज्ञान करने योग्य, स्तुत्य यज्ञ सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

[९०६] (देवाः देवेभ्यः अध्वर्यन्तः अस्थुः) ज्ञानीलोक विद्वानोंके हितके लिये ही हिंसारहित यज्ञादि श्रेष्ठ-कर्मोंको करते रहते हैं । वे विद्वान् लोग जो (देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः) दिव्यगुण युक्त लक्ष्मीसे युक्त, शुभवृत्तिको धारण करनेवाले और सैंकडो दुधारु गौवोंके दुग्धादि पुष्टकारक पदार्थोंसे संपन्न होता हैं उस पुरुषको (दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे परिगृह्य यज्ञं आयन्) दिव्यगुणोंमे सम्पन्न, जगतके धारक, सबको प्रेम करनेवाले परमेश्वरकी स्तुतिके लिये ही आश्रय करके यज्ञ करनेके लिये प्राप्त होते हैं ॥ ५६ ॥

[९०७] (यत्र वीतं शमिता शमितं हविः) जहां सर्वत्र व्याप्त होने योग्य शान्तिदायक पुरुष द्वारा शान्ति सुख देने योग्य बनाया गया आहुतिका यज्ञ (यजध्यै एति) अग्निमें आहुति देनेके लिये शुरु होता है, वह (तुरीयः यज्ञः) सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहा जाता है (ततः आशिषः वाकाः नः जुषन्ताम्) उस समय यज्ञसे उठे हुये शुभ आशीर्वादको कहनेवाले वेद वाक्य हमें सुनाई देते हैं ॥ ५७ ॥

[९०८] (सूर्यरश्मिः हरिकेशः सविता ज्योतिः) जो सूर्यके किरणोंके सदृश है, कनकवर्ण ज्वालारूप केश-वाला, सबका पालक ज्योतिरूप अग्नि (पुरस्तात् उदयान्) अग्रस्थानमें प्रकट होता है, वही (गोपाः विद्वान् पूषा) धर्मरक्षक, अपनी प्रवृत्तियोंको जानता हुआ, पोषणकारी (तस्य प्रसवे) उस उत्पन्न हुये जगतमें (विश्वा भुवनानि सम्पश्यन् अजस्रं याति) सम्पूर्ण लोकोंको भलीप्रकार देखता हुआ निरन्तर गमन करता है ॥ ५८ ॥

विमानं एष दिवो मध्यं आस्त आपप्रिवान् रोदंसी अन्तरिक्षम् ।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ ५९ ॥

उक्षा संमुद्रो अंरुणः सुंपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चंक्रमे रजंसस्पात्यन्तौ ॥ ६० ॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः । रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

देवहूर्यज्ञ आ चं वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञ आ चं वक्षत । यक्षदग्निर्देवो देवाँ२ आ चं वक्षत् ॥ ६२ ॥

वाजस्य मा प्रसव उंदग्राभेणोदंग्रभीत । अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२ अकः ॥ ६३ ॥

उदग्राभं चं निग्राभं च ब्रह्म देवा अंवीवृधन् ।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी में विषूचीनान्व्यस्यताम् ॥ ६४ ॥

---

[९०९] (एषः विमानः दिवः मध्ये आस्ते) यह सूर्य जगतके निर्माणमें समर्थ द्युलोकके मध्यमें रहता है। (रोदसी अन्तरिक्षं अपप्रिवान्) द्यावा पृथ्वी और अन्तरिक्षको सब प्रकार अपने तेजसे पूर्ण कर रहा है। (सः विश्वाचीः घृताचीः अभिचष्टे) वह प्रसिद्ध सूर्य विश्वको अपनेमें रखनेवाला और जलको धारण करनेवाला सबको देखता है और (पूर्वं अपरं अन्तरा च केतुं) इस लोक, दूसरे लोक और मध्य लोकमें स्थित लोगोंके चित्त वा अभिप्रायको भी देखता है ॥ ५९ ॥

[९१०] जो आदित्य (उक्षा समुद्रः अरुणः अश्मा सुपर्णः) वृष्टिद्वारा सिंचन करनेवाला, जलयुक्त दीखनेवाला, उदयकालमें अरुणवर्ण, आकाशमें व्यापक, उत्तम गमन करनेवाला, (दिवः मध्ये निहितः) द्युलोकके मध्यमें रहा है, (पृश्निः पूर्वस्य पितुः योनिं आविवेश) अनेक रश्मियोंसे व्याप्त, पूर्व दिशामें स्थित, द्युलोकके स्थानमें प्रवेश करता है, वही (विचक्रमे, रजसः अन्तौ पाति) आकाशमें घूमता और लोकोंको सब ओरसे रक्षा करता है ॥ ६० ॥

[९११] (समुद्रव्यचसं) समुद्रवत् व्यापक (रथीनां रथीतमं) समस्त रथियोंमें सबसे बडा महारथी, (वाजानां पतिं सत्पतिं इन्द्रं) अन्नोंके स्वामी और सज्जनोंके पालक इन्द्रको (विश्वाः गिरः अवीवृधन्) सम्पूर्ण स्तुतिरूप वाणियां बढाती हैं ॥ ६१ ॥

[९१२] (देवहूः यज्ञः आवक्षत्) देवोंका आह्वाता यज्ञ देवोंके लिये हवि वहन करे, (च यक्षत्) और उनका यजन करे, (सुम्नहूः यज्ञः आवक्षत्) सम्पूर्ण सुखोंका प्रदाता यज्ञ सब प्रकारसे यजन कार्यका वहन करे, (च देवः अग्निः, देवान् आवक्षत च) और देवता अग्नि देवताओंको बुलावे और उनका सत्कार करे ॥ ६२ ॥

[९१३] (इन्द्रः वाजस्य प्रसवः उदग्राभेण मा उदग्रभीत) ऐश्वर्यवान इन्द्र अन्नका उत्पादक होकर ऊपर लेजानेवाले सामर्थ्यसे मुझको उत्तम स्थितिमें रखे। (अधा निग्राभेण मे सपत्नान् अधः अकः) और दण्ड देकर वह मेरे शत्रुओंको नीचे करे ॥ ६३ ॥

[९१४] (देवाः उदग्राभं निग्राभं च ब्रह्म अवीवृधन्) देवगण हमारे उत्कृष्ट होनेके सामर्थ्यको तथा शत्रुओंको नीचे गिराने व दण्डित करनेकी शक्तिको और ज्ञानको नित्य बढावें। (अधा इन्द्राग्नी मे विषूचीनान् सपत्नान् व्यस्यताम्) और इन्द्र व अग्नि दोनों मेरे शत्रुओंको विविध उपायोंसे विनष्ट करें ॥ ६४ ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳ हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ ६५ ॥

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरो अग्निर्भवेह ।
विश्वा आशा दीद्यानो वि भाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ६६ ॥

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ ६७ ॥

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिरे ॥ ६८ ॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ६९ ॥

---

[९१५] तुम (अग्निना नाकं उख्यं हस्तेषु बिभ्रतः क्रमध्वम्) अग्निसे अत्यन्त सुखको प्राप्त होकर और पात्रमें पकाये हुये भोजनको हाथोंमें धारण करते हुये, पराक्रम करो। और (देवेभिः मिश्राः) विद्वानोंसे मिलकर (दिवः पृष्ठं स्वः गत्वा आ ध्वम्) द्युलोकमें स्वयं जाकर तेजस्विता प्राप्त करके स्थिर होओ ॥ ६५ ॥

[९१६] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (प्राचीं प्रदिशं प्र इहि) पूर्व दिशाको गमन करो, (पुरो अग्निः इह भव) आगे चलनेवाला सबका अग्रणी होकर यहां रहो, (विश्वाः आशाः दीद्यानः विभाहि) सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुये, प्रदीप्त होओ, और (नः द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं धेहि) हमारे द्विपाये पुत्र-पौत्रादि और चौपाये गौ आदिमें बलको स्थापन करो ॥ ६६ ॥

प्राचीं प्रदिशं प्रइहि— तू पूर्वदिशामें आगे होकर रहो।

इह पुरः अग्निः भव — यहां आगे रहनेवाला अग्रणी होकर रहो।

विश्वाः आशाः दीद्यानः विभाहि— सब दिशाओंको प्रकाशित करके स्वयं प्रकाशित होकर यहां रहो।

नः द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं धेहि— हमारे द्विपाद पुत्रादि तथा चतुष्पाद गौआदिकोंको बलवान् करके रखो ॥ ६६ ॥

[९१७] (अहं पृथिव्याः उत अन्तरिक्षं आरुहम्) में पृथ्वीसे अन्तरिक्षमें आरूढ हुआ हूं, (अन्तरिक्षात् दिवं आरुहम्) अन्तरिक्षसे स्वर्गलोकको आरूढ हुआ हूं और (दिवः नाकस्य पृष्ठात् स्वः ज्योतिः अहं अगाम्) द्युलोकके दुःख रहित देशसे स्वर्गलोकमें स्थित परम प्रकाशयुक्त आदित्य मण्डलको भी में प्राप्त हुआ हूं ॥ ६७ ॥

यह ध्यानमें आये अनुभवका वर्णन है। ध्यान करनेसे मन और बुद्धिमें जो स्थिति होती है वह यह स्थिति है ॥ ६७ ॥

[९१८] (ये सुविद्वांसः) जो उत्तम विद्वान (विश्वतोधारं यज्ञं) विश्वको धारण करनेवाले यज्ञका (वितेनिरे) अनुष्ठान करके यज्ञ कर्मको फैलाते हैं, वे (स्वः यन्तः, न अपेक्षन्ते) सुखमय स्वर्गको जाते हुये ऐहिक भोगोंकी इच्छा नहीं करते हैं, प्रत्युत (रोदसी द्यां आरोहन्ति) द्यावा पृथिवीमेंसे स्वर्गपर आरोहण करते हैं ॥ ६८ ॥

[९१९] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (देवयतां प्रथमः) देव बननेकी इच्छा करनेवालोंके मध्यमें मुख्य हो और (देवानां उत मर्त्यानां चक्षुः) देवों तथा मनुष्योंके नेत्ररूप हो, इस कारण (प्रेहि) आगे गमन करो। और तुम्हारी कृपासे (इयक्षमाणाः भृगुभिः सजोषाः यजमानाः स्वस्ति स्वः यन्तु) यज्ञ करनेकी इच्छावाले, पापोंको जलानेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके समान प्रेम करनेवाले स्वर्गलोकको प्राप्त होवें ॥ ६९ ॥

+

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥ ७० ॥

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः ।
त्वंसाहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ ७१ ॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद ।
भासाऽन्तरिक्षमा पृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद्दृंह ॥ ७२ ॥

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमा सीद साधुया ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ ७३ ॥

देवयतां प्रथमः— देव बननेकी इच्छा करनेवालोंमें तू मुख्य अर्थात् प्रथम स्थानके योग्य हो ।

देवानां उत मर्त्यानां चक्षुः— देवों और मानवोंको दिव्य दृष्टी देनेवाला तू है ।

प्रेहि— योग्य मार्गसे आगे बढ ।

इयक्षमाणाः भृगुभिः सजोषाः यजमानाः स्वस्ति स्वः यन्तु— यज्ञ करनेकी इच्छा करनेवाले, पापोंको जलानेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके समान प्रेम करनेवाले स्वर्गको प्राप्त हों ॥ ६९ ॥

[९२०] (नक्तोषासा विरूपे समीची एकं शिशुं धापयेते) रात्री और दिन दोनों एक दूसरेसे विपरीत, कान्तिवाले अर्थात तमःस्वरूप और प्रकाशस्वरूप होकर भी परस्पर संगत होकर एक पुत्ररूप अग्निको उत्पन्न करके उसको प्रदीप्त करते हैं । वह अग्नि भी (द्यावा क्षामा अन्तः रुक्मः विभाति) आकाश और पृथ्वीके मध्यमें प्रदीप्त होकर प्रकाशित होकर विराजता है, (द्रविणोदाः देवाः अग्निं धारयन्) यज्ञके लिये धनके दाता देवगण उस अग्निको धारण करते हैं ॥ ७० ॥

[९२१] हे (सहस्राक्ष) हजारों नेत्रोंवाले ! हे (शतमूर्धन्) सौ शिरोंवाले ! हे (अग्ने) अग्ने ! (ते शतं प्राणाः) तुम्हारे सैकडों प्राण हैं, (सहस्रं व्यानाः) सहस्रों व्यान हैं, (त्वं साहस्रस्य रायः ईशिषे) तुम सहस्रों सम्पत्तियोंके अधिकारी हो (तस्मै ते वाजाय विधेम) उस तुम्हारे लिये अन्नरूप हवि प्रदान करते हैं, (स्वाहा) हमारी आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ७१ ॥

अग्निकी उष्णता शरीरमें रहनेसे ही प्राण, अपान, व्यान आदि शरीरमें रहते हैं । अग्निकी शक्तिसे प्राणोंका धारण होता है । यह अग्निकी शक्तिसे होता है ॥ ७१ ॥

[९२२] हे अग्ने ! तू (सुपर्णः गरुत्मान् असि) सुखसे पूर्ण हो और गरुत्मान अर्थात् महान गौरवसे युक्त हो इस कारणसे (पृथिव्याः पृष्ठे सीद) पृथ्वीके ऊपर स्थित हो । तुम अपनी (भासा अन्तरिक्षं आपृण) कान्तिसे अन्तरिक्षको भर दो । और अपनी (ज्योतिषा दिवं उत्तभान) ज्योतिसे द्युलोकको प्रकाशित कर; तथा अपने (तेजसा दिशः उद् दृंह) तेजसे दिशाओंको प्रकाशित करो ॥ ७२ ॥

[९२३] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तात् स्वं साधुया योनिं आसीद) आह्वान किये हुये, उत्तम दर्शनीय होते हुये पूर्व दिशामें उत्तम स्थानमें स्थित होओ । हे (विश्वेदेवाः) विश्वे देवो ! तुम (च यजमानः) और यह यजमान (अस्मिन् उत्तरस्मिन् सधस्थे अधिसीदत) इस अधिक उत्कृष्ट स्थानमें अग्निके साथ विराजे ॥ ७३ ॥

ताꣳ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाऽहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाꣳ सहस्रधारां पयसा महीं गाम् ॥ ७४ ॥

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे ।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवीꣳषि जुहुरे समिद्धे ॥ ७५ ॥

प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ । त्वाꣳ शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ॥ ७६ ॥

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳ हृदिस्पृशम् । ऋध्यामा त ओहैः ॥ ७७ ॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन्वीतिहोत्रा ऋतावृधः ।
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहाऽदाभ्यꣳ हविः ॥ ७८ ॥

सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि ।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरा पृणस्व घृतेन स्वाहा ॥ ७९ ॥

---

[९२४] (वरेण्यस्य सवितुः) सबों द्वारा स्वीकार करने योग्य सविता देवताके (तां चित्रां विश्वजन्यां सुमतिं अहं आवृणे) उस अद्भुत, समस्त जनोंके हितकारी जगत्को उत्पन्न करनेमें समर्थ, श्रेष्ठ बुद्धिको मैं स्वीकार करता हूं । (कण्वः अस्य यां प्रपीनां सहस्र धारां पयसा) मेधावी जनने इस सविता देवके जिस अतिपुष्ट सहस्र धाराओंको धारण करनेवाली, इस दूधसे युक्त (महीं गां अदुहत्) बडी अर्थात् सब सिद्धिको प्रदान करनेवाली गौको दुहा । अर्थात् सविता देवकी मति जो काण्वने स्वीकारी उसीको मैं स्वीकार करता हूं, वह बुद्धि मुझे प्राप्त हो ॥ ७४ ॥

[९२५] हे (अग्ने) अग्ने ! (परमे जन्मन् ते विधेम) परम उत्कृष्ट जन्मवाले तुझमें हम हवि अर्पण करते हैं । (अवरे सधस्थे स्तोमैः विधेम) उससे पासके स्थानमें तुम्हारे निमित्त मन्त्रपाठपूर्वक हवि अर्पण करते हैं । तुम (यस्मात् योनिः उदारिथ तं यजे) जिस स्थानसे भी उद्गत हुये हो, तुम्हारे उस स्थानको मैं यज्ञके लिये योग्य करता हूं, फिर (समिद्धे त्वे हवींषि प्रजुहुरे) अच्छी प्रकार प्रज्वलित होनेपर तुम्हारेमें हवियोंको हवन करता हूं ॥७५॥

[९२६] हे (यविष्ठ) अतियुवा ! हे (अग्ने) अग्ने ! (अजस्रया सूर्म्या प्रेद्धः) क्षीण न होनेवाले काष्ठसे अति प्रदीप्त हुये तुम (नः पुरः दीदिहि) हमारे आगे प्रदीप्त होओ, हम (त्वां शश्वन्तः वाजाः उपयन्ति) तुमको सदा अन्नरूप हवि प्रदान करते हैं ॥ ७६ ॥

[९२७] हे (अग्ने) अग्ने ! (न अश्वं) जिस प्रकार घोडेको सुरक्षित रखते हैं और (न हृदिस्पृशं भद्रं) जिस प्रकार अतिप्रिय चिरकालतक हृदयमें रहे कल्याणकारी संकल्पको योग्यरीतिसे पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार (अद्य ते तं क्रतुं आहैः स्तोमैः आ ऋध्याम्) आज तुम्हारे उस यज्ञको रक्षणादि उपायों और सामस्तुतियोंसे अच्छि प्रकार समृद्ध करता हूं ॥ ७७ ॥

[९२८] मैं (मनसा घृतेन चित्ति जुहोमि) मननपूर्वक घृतसे इस यज्ञ स्थानीय अग्निको आहुतियोंके द्वारा प्रसन्न करता हूं। (यथा इह वीतिहोत्राः ऋतावृधः देवाः आगमन्) जिससे इस यज्ञमें आहुतिकी इच्छा करनेवाले तथा सत्यको बढानेवाले देव आगमन करें, (भूमनः विश्वस्य पत्ये) बडे भारी विश्वके स्वामी (विश्वकर्मणे) सबको उत्पन्न करनेका कार्य जिसने किया है, उसके निमित्त (अदाभ्यं हविः विश्वाहा जुहोमि) स्वादिष्ट हवि प्रतिदिन हवन करता हूं ॥ ७८ ॥

[९२९] हे (अग्ने) अग्ने ! (ते सप्त समिधः) तुम्हारी सात समिधायें हैं, तुम्हारी (सप्त जिह्वाः) ज्वाला-रूप सात जिह्वा हैं, (सप्त ऋषयः) सात ऋषि तुम्हारे द्रष्टा हैं, तुम्हारे (सप्त प्रियाणि धाम) सात प्रिय गायत्री आदि छन्द धाम हैं, (सप्त होत्रा सप्तधा त्वा यजन्ति) सात होता सात प्रकारसे तुम्हारे लिये यज्ञ करते हैं, (सप्त योनीः) सात चिति तुम्हारे उत्पत्ति स्थान हैं उनको (घृतेन आपृणस्व) घृतको आहुतियोंसे पूर्ण करो । (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ७९ ॥

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च । शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यंहाः ॥ ८० ॥
ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च । मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥ ८१ ॥
ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च । धर्ता च विधर्ता च विधारयः ॥ ८२ ॥
ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च । अन्तिमित्रश्च दूरे अमित्रश्च गणः ॥ ८३ ॥
ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन ।
मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ॥ ८४ ॥

[९३०] (शुक्रज्योतिः च चित्रज्योतिः) शुद्ध तेजवान और अनेक प्रकारकी ज्योतियोंसे युक्त (च सत्यज्योतिः) और सत्य प्रकाशसे युक्त (च ज्योतिष्मान्) और तेजस्वी (च शुक्रः) और दीप्यमान, (च ऋतपाः) और सत्य अथवा यज्ञकी रक्षा करनेवाले, (च अत्यंहाः) और पापोंसे रहित मरुत्गण हमारे यज्ञमें आवें ॥८०॥

[९३१] (ईदृङ् च अन्यादृङ्) इस यज्ञको एक ओरसे देखनेवाले और दूसरे अन्नाहुतियों को भी देखनेवाले, (च सदृङ्) और समान रीतिसे देखनेवाले (च प्रतिसदृङ्) और उसके प्रति समान भावसे देखनेवाले, (च मितः) और संमान को प्राप्त (च सम्मितः) और एकीभावसे संमिलित् होनेवाले (च सभराः) और समान शस्त्रास्त्र धारण करनेवाले मरुद्गण हमारे यज्ञमें आवें ॥ ८१ ॥

[९३२] (ऋतः च सत्यः) सरल और सत्यस्वरूप (च ध्रुवः) और स्थिर (च धरुणः) और धारण करनेवाले, (च धर्ता) और धारक (च वि-धर्ता) और विशेषरूपसे धारण करनेवाले, (च विधारयः) और विविध प्रकारसे धारण करनेवाले, मरुत हमारे यज्ञमें आवें, यह आहुति उनके निमित्त है ।। ८२ ॥

[९३३] (ऋतजित् च सत्यजित्) ऋतके जय करनेवाले और सत्यके जय करनेवाले (च सेनजित्) और शत्रुकी सेनाको जीतनेवाले, (च सुषेणः) और उत्तम सेनावाले, (च अन्तिमित्रः) और समीप मित्ररूपसे रहने वाले, (च दूरे अमित्रः) और दूर शत्रुको हटानेवाले, (च गणः) और सबके सामने गणोंके रूपमें रहनेवाले मरुत् आवें । उनके लिये यह आहुति दी जाती है ॥ ८३ ॥

ऋतजित्— सरलताका विजय करनेवाले ।
सत्यजित्— सत्यका विजय करनेके लिये तत्पर ।
सेनजित्— अपनी सेनासे शत्रुपर जय कमानेवाले ।
सुषेणः— उत्तम सेना तैयार करनेवाले ।
अन्तिमित्रः— अपने मित्रोंके समीप रहनेवाले ।
दूरे अमित्र— शत्रुको दूर करनेवाले ।
गणः— गणशः रहनेवाले ।

ये वर्णन मरुत् वीरोंके हैं । मरुत् वीर ऐसे थे, अतः वे शत्रुको पराजित करके अपना विजय करनेमें समर्थ थे ॥ ८३ ॥

[९३४] हे (मरुतः) मरुतो ! तुम (ईदृक्षासः उ एतादृक्षासः) ऐसे हो और इस प्रकार देखनेवाले (सदृक्षासः) और भली प्रकार तुम परस्पर समान देखनेवाले, (च प्रतिसदृक्षासः) और प्रत्येकको समान जैसे देखवाले, (न मितासः च सम्मितासः) और प्रमाण युक्त तथा संमिलित होकर कार्यको करनेवाले एवं (सभरसः) समान अलङ्कार को धारण करनेवाले मरुत देवता (अद्य नः अस्मिन् यज्ञे एतन) आज हमारे इस यज्ञमें आगमन करें, उनकी प्रीतीके निमित्त यह आहुति दी जाती है ॥ ८४ ॥

स्वर्तवाँश्च प्रघासी चं सान्तपनश्चं गृहमेधी चं। क्रीडी चं शाकी चोज्जेषी॑ ॥ ८५ ॥

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्।
एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥ ८६ ॥

इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमा विशस्व ॥ ८७ ॥

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमा वह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥ ८८ ॥

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२ उदारदुपाꣳशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॑ ॥ ८९ ॥

ईदृक्षासः एतादृक्षासः— मरुत् ये सैनिक ऐसे हैं, इस प्रकार रहते हैं, इनका पोषाख और रहन सहन सबका समान होता है।

सदृक्षासः, प्रतिसदृक्षासः— ये सब वीर समान दीखनेवाले हैं। पोषाख, शस्त्र अस्त्र सबके समान होते हैं।

मितासः सम्मितासः— सबका एक समान रहना, चालचलन आदि समान रहता है।

समरसः-- सबकी कार्यरुची समान है।

ये सेनाके अन्दर रहते हैं। रहना, चालचलन्, सबका समान होता है ॥ ८४ ॥

[९३५] (**स्वतवान् च प्रघासी**) स्वयं बलशाली और मुखसे अन्नका भक्षण करनेवाले, (**च सान्तपनः**) और उत्तमरूपसे तप करनेवाले वा शत्रुओंको तपानेवाले, (**च गृहमेधी**) और गृहस्थधर्मका पालन कर्ता (**च क्रीडी**) और क्रीणाशील (**च शाकी**) और शक्तिमान् (**च उज्जेषा**) और उत्कृष्ट जयशील होनेसे सुप्रसिद्ध ऐसे मरुत् हमारे यज्ञमें आगमन करें ॥ ८५ ॥

[९३६] (**यथा दैवीः मरुतः विशः इन्द्रं अनुवर्तमानः अभवन्**) जिस प्रकार दैवी शक्तिवाले मरुतगण इन्द्रकी अनुगामिनी हैं, (**एवं दैवीः च मानुषीः विशः इमं यजमानं अनुवर्तमानाः भवन्तु**) उसी प्रकारही प्रजायें देवलोककी और मनुष्य लोककी प्रजायें इस यजमानके लिये अनुकूल हों ॥ ८६ ॥

[९३७] हे (**अग्ने**) अग्ने ! (**सरिरस्य मध्ये**) जलके मध्यमें वर्तमान (**इयं उर्जस्वन्तं अपां प्रपीनं स्तनं धय**) इस विशिष्ठ रससे युक्त, घृतधारासे पूर्ण स्रुक्रूप स्तनको पान करो। हे (**अर्वन्**) सबके आगे गमनशील अग्ने ! (**मधुमन्तं उत्सं जुषस्व**) मधुर स्वादयुक्त घृतसे भरे स्रुग्रूपका प्रीतिसे सेवन करो। और (**समुद्रियं सदनं आविश**) समुद्रके समान इस यज्ञगृहमें प्रवेश करो ॥ ८७ ॥

[९३८] मैं (**घृतं मिमिक्षे**) घृतको अग्निके मुखमें डालनेकी इच्छा करता हूं, (**घृतं अस्य योनिः**) घृत इस अग्निका उत्पत्ति स्थान है, यह (**घृते श्रितः**) घृतमें आश्रित है, (**घृतं उ अस्य धाम**) घृतही इसका स्थान है। हे अध्वर्यु ! (**अनुष्वधं आवह मादयस्व**) हविसंस्कार करनेके उपरान्त अग्निको आह्वान करो और तृप्त करके कहो हे (**वृषभ**) कामनाओंके वर्षानेवाले ! (**स्वाहा कृतं हव्यं वक्षि**) स्वाहाकार करके हुत हुये हविको देवताओंको प्राप्त कराओ ॥ ८८ ॥

[९३९] (**मधुमान् ऊर्मिः समुद्रात् उदारत्**) रसवान् तरङ्ग घृतरूप समुद्रसे उठती हुई (**अंशुना सं अमृतत्वं उपानट्**) प्राणभूव अग्निके द्वारा एक होकर अमृतत्व को प्राप्त होती हैं, (**यत् तस्य गुह्यं नाम**) जो उस घृतका गुप्त नाम श्रुतिमें पठित है, वही (**देवानां जिह्वा, अमृतस्य नाभिः अस्ति**) देवोंकी जिव्हा और अमृत की नाभि है ॥ ८९ ॥

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः ।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद्गौर एतत् ॥ ९० ॥

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ आ विवेश ॥ ९१ ॥

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन् ।
इन्द्र एकꣳ सूर्य एकं जजान वेनादेकꣳ स्वधया निष्टतक्षुः ॥ ९२ ॥

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे ।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥ ९३ ॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥ ९४ ॥

---

[९४०] (वयं अस्मिन् यज्ञे घृतस्य नाम प्रब्रवाम) हम इस यज्ञमें घृतका नाम उच्चारण करते हैं, और यज्ञको (नमोभिः धारयामः) अन्नोंद्वारा धारण करते हैं, (ब्रह्मा शस्यमानस्य उपशृणवत्) ब्रह्मा संज्ञक ऋत्विक स्तुतिको प्राप्त इस घृतके नामको सुनो जो कि (चतुःशृङ्गः गौरः एतत् अवमीत्) चार शृङ्ग अर्थात चार होतादि युक्त गौरवर्ण यह घृत यज्ञफलको आहुतिसे प्रकट करता है ॥ ९० ॥

[९४१] (अस्य चत्वारि शृङ्गाणि) इस यज्ञके ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु ये चार शृङ्ग हैं, (त्रयः पादाः) ऋक्, यजुः सामरूप तीन चरण हैं, (द्वे शीर्षे) हविर्धान और प्रवर्ग्य दो शिर हैं, (अस्य सप्त हस्तासः) इसके सात छन्द हाथ हैं, (त्रिधा बद्धः) तीन प्रकार प्रातःसवन, माध्यंदिनसवन और सायंसवन इन तीन स्थानोंमें बंधा हुआ (वृषभः रोरवीति) यह बलवान् महान शब्द करता है, वह यह (महादेवः मर्त्यान् आविवेश) अतिशय पूजनीय देव मनुष्यलोकमें स्थित है ॥ ९१ ॥

[९४२] (त्रिधा हितं पणिभिः गुह्यमानं घृतं) तीन प्रकारसे लोकोंमें स्थित असुरोंसे छिपाये हुये, यज्ञके आधारभूत घृतको (देवासः गवि अनु अविन्दन्) देवताओंने गौमेंसे प्राप्त किया । उसके (एकं इन्द्रः जजान) एक भागको इन्द्रने प्रकट किया, (एकं सूर्यः) एक भागको सूर्यने प्रकाशित किया और (एकं वेनात् स्वधया निष्टक्षुः) एक भाग यज्ञ साधनभूत अग्निसे आहुतिरूपसे ब्राह्मणोंने प्राप्त किया ॥ ९२ ॥

यज्ञके उपयोगी गौका घी इसमें वर्णित है । यह उत्कृततम है । इसीकी आहुति अग्निमें दी जाती है ॥ ९२ ॥

[९४३] (एताः शतव्रजाः घृतस्य धाराः) ये अनेक प्रकारकी गतिवाली घृतकी धारायें (हृदयात् समुद्रात् अर्षन्ति) हृदयरूपी समुद्रसे संकल्प द्वारा निकलती हैं (रिपुणा न अवचक्षे) शत्रुसे यह खण्डित नहीं होती हैं, (आसां मध्ये हिरण्ययो वेतसः अभिचाकशीमि) इसके मध्यमें विराजमान हिरण्मय अग्नि देवताको में सब ओरसे देखता हूं ॥ ९३ ॥

[९४४] (अन्तः हृदा मनसा पूयमाना धेनाः) शरीरके अन्तर मनके द्वारा पवित्र हुई वाणियें (सरितः न सम्यक् स्रवन्ति) नदियोंके समान अविच्छिन्न प्रवाह रूपसे चलती रहती हैं । (एते घृतस्य ऊर्मयः अर्षन्ति) ये घृतकी तरङ्गें यज्ञमें चलती हुई जाती हैं (इव क्षिपणोः ईषमाणाः मृगाः) जैसे व्याधसे डरे हुये मृगोंके झुण्ड भागते हैं ॥ ९४ ॥

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥ ९५ ॥

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्युः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ९६ ॥

कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि ।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥ ९७ ॥

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ॥ ९८ ॥

धामं ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ॥ ९९ ॥

[अ० १७, कं० ९९, मं० सं० १०६]

इति सप्तदशोऽध्यायः ।

---

[९४५] (घृतस्य यह्वाः धाराः पतन्ति) घृतकी बडी धारायें यज्ञाग्निमें गिरती हैं (इव सिन्धोः शूघनासः वात प्रमयः प्राध्वने) जिस प्रकार महानदीकी वेगसे बहनेवाली वायुके द्वारा प्रचालित तरङ्गे विषम प्रदेशमें गिरती हैं, अथवा (न अरुषः वाजी काष्ठाः भिन्दन् उर्मिभिः पिन्वमानः) जैसे क्रोधरहित श्रेष्ठ गुणोंसे उत्कृष्ट घोडा संग्रामस्थलको विदीर्ण करता हुआ संग्रामभेदनके श्रमसे निकले हुये पसीनेसे पृथ्वीको सिंचन करता हुआ गमन करता है ॥ ९५ ॥

[९४६] (इव समानाः कल्याण्यः स्मयमानाः योषाः) जिस प्रकार समानमनवाली रूपयौवनसम्पन्न कुछ हास्य करती हुई, स्त्रियें पतिके समिप गमन करती हैं, उसी प्रकार (घृतस्य धाराः अग्निं अभि प्रवन्तः) घृतकी धारायें अग्निको प्राप्त करनेके लिये उसके समीप चारों ओरसे गमन करती हैं, (ताः समिधः नसन्तः) वे धारायें प्रदीप्त अग्निको व्याप्त करती हैं, (जातवेदाः जुषाणः हर्यति) जाननेवाला अग्नि उनसे प्रसन्न होता है ॥ ९६ ॥

[९४७] (यत्र सोमः सूयते) जिस स्थानमें सोम रस निकाला जाता है, (यत्र यज्ञः) जहाँ यज्ञ होता है (तत् उ घृतस्य धाराः अभिचाकशीमि) वहां ही घृतकी धारायें जाती हुई मैं देखता हूं, (इव अञ्जि अञ्जानाः कन्या वहतुं एतवै पवन्ते) जिस प्रकार चाहने योग्य रूपको प्रकट करती हुई कन्यायें पतिके समीप जाती हैं ॥ ९७ ॥

[९४८] हे देवताओ ! तुम सब (सुष्टुतिं गव्यं आजिं अभ्यर्षत) श्रेष्ठ स्तुतिसे युक्त घृतयुक्त यज्ञको सब ओरसे प्राप्त होओ । जिस यज्ञमें (घृतस्य धाराः मधुमत् पवन्ते) घृतकी धारायें मधुर स्वादके साथ गिरती हैं । (नः इमं यज्ञं देवता नयत) हमारे इस यज्ञको देवलोकमें प्राप्त कराओ और (अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त) हमें अति आनन्द करनेवाले अनेक प्रकारके धनोंको प्रदान करो ॥ ९८ ॥

[९४९] हे अग्ने ! (ते धीमनि विश्वं भुवनं अधि श्रितं) तुम्हारे धारण सामर्थ्यके आश्रयपर यह समस्त विश्व आश्रित है । (समुद्रे अन्तः हृदि, आयुषि अन्तः, अपां अनीके समिथे) सागरके बीचमें, हृदयमें, जीवनमें, जलोंके संघातमें और यज्ञमें (यः ऊर्मिः आहृतः) जो तेरा उत्कृष्ट रूप प्राप्त है उस (मधुमन्तं ऊर्मिं अपश्याम्) ज्ञानमय मधुर आल्हादकारी रस स्वरूप तरङ्गको हम प्राप्त करें ॥ ९९ ॥

॥ सत्रहवा अध्याय समाप्त ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः ।

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥

ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥

---

[९५०] इस (यज्ञेन मे वाजः) यज्ञसे मेरे लिये अन्न, (च मे प्रसवः) और मेरे लिये ऐश्वर्य, (च मे प्रयतिः) और मेरे लिये उत्कृष्ट प्रयत्न करनेकी शक्ति, (च मे धीतिः) और मेरे लिये बुद्धिके साथ विचार शक्ति, (च मे क्रतुः) और मेरे लिये कर्मशक्ति, (च मे स्वरः) और मेरे लिये स्वर, (च मे श्लोकः) और मेरे लिये श्लोक, (च मे श्रवः) और मेरे लिये श्रवण करनेकी शक्ति, (च मे श्रुतिः) और मेरे लिये कर्णोंकी शक्ति, (च मे ज्योतिः) और मेरे निमित्त ज्योति, (च मे स्वः) और मेरे निमित्त उत्तम आत्माकी शक्ति, (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे प्राप्त हों ॥ १ ॥

मेरे अन्दर ये शक्तियां बढें—

१ वाजः– अन्न; २ प्रसवः– ऐश्वर्य, ३ प्रयतिः– प्रयत्न शक्ति, ४ धीतिः– विचार शक्ति, ५ क्रतुः– कर्म शक्ति, ६ स्वरः– स्वर शक्ति, ७ श्लोकः–प्रसिद्धी, स्तुति, ८ श्रवः– श्रवण शक्ति, ९ श्रुतिः– कर्ण शक्ति, १० ज्योतिः–तेजस्विता ११ स्वः–स्वत्व

ये शक्तियां मेरे अन्दरकी बढें और उनसे मैं सामर्थ्यवान बनूं ॥ १ ॥

[९५१] (च मे प्राणः) और मेरे लिये प्राण ऊर्ध्ववायु, (च मे अपानः) और मेरे लिये अपान अधोवायु, (च मे व्यानः) और मेरे लिये व्यान सर्व शरीर संचारी वायु, (च मे असुः) और मेरे लिये मुख्य प्राणवायु (च मे चित्तं) और मेरे लिये विचार शक्ति (च मे अधीतं) और मैंने जो अध्ययनसे प्राप्त किया ज्ञान, (च मे वाक्) और मेरे लिये वाणी, (च मे मनः) और मेरा मन, (च मे चक्षुः) और मेरा नेत्रका सामर्थ्य, (च मे श्रोत्रम्) और मेरा श्रोत्र इन्द्रियका सामर्थ्य, (च मे दक्षः) और मेरी दक्षता (च मे बलम्) और मेरा बल यह सब (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढें, अधिक शक्तिशाली बनें ॥ २ ॥

[९५२] (च मे ओजः) और मेरा ओज. (च मे सहः) और मेरी सहन शक्ति (च मे आत्मा) और मेरा आत्माका बल, (च मे तनूः) और मेरा शरीर, (च मे शर्म) और मेरा सुख, (च मे वर्म) और मेरा कवच, (च मे अङ्गानि) और मेरे सब अङ्गोंकी दृढता, (च मे अस्थीनि) और मेरे शरीरकी अस्थियाँ (च मे परूंषि) और मेरे सब अङ्गुल्यादि पर्वोंकी दृढता, (च मे शरीराणि) और मेरे शरीरकी आरोग्यता, (च मे आयुः) और मेरा पूर्ण आयु, (च मे जरा) और मेरे लिये वृद्धावस्था इस (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढती रहे ॥ ३ ॥

मेरी ये शक्तियां बढें और मेरा लाभ हो ॥ ३ ॥

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥४॥

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ५ ॥

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ७ ॥

---

[९५३] (च मे ज्यैष्ठ्यं) और मेरी श्रेष्ठता, (च मे आधिपत्यं) और मेरा स्वामित्व, (च मे मन्युः) और मेरा उत्साह, (च मे भामः) और मेरा दुष्टों परका असहनशीलत्व, (च मे अमः) और मेरी गंभीरता (च मे अम्भ) और मेरी जीवन शक्ति (च मे जेमा) और मेरी विजयशीलता, (च मे महिमा) और मेरा महत्त्व, (च मे वरिमा,) और मेरी अधिक श्रेष्ठता, (च मे प्रथिमा) और मेरा विस्तार, (च मे वर्षिमा) और मेरा दीर्घजीवन (च मे द्राघिमा) और मेरा बडापन (च मे वृद्धं) और मेरी वृद्धावस्था (च मे वृद्धिः) और मेरी उत्कर्षता (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञके द्वारा बढती रहें ॥ ४ ॥

[९५४] (च मे सत्यं) और सत्य (च मे श्रद्धा) और मेरी श्रद्धा (च मे जगत्) और मेरा जंगम पदार्थ (च मे धनं) और मेरा धन (च मे विश्वं) और मेरा विश्वका भाग, (च मे महः) और मेरा महत्त्व, (च मे क्रीडा) और मेरी खेलनेकी शक्ति, (च मे मोदः) और मेरा हर्ष, (च मे जातं) और मेरा पुत्र आदि अपत्य, (च मे जनिष्यमाणं) और मेरा उत्तम होनेवाला पुत्र, आदि (च मे सूक्तं) और मेरे सूक्त, (च मे सुकृतं) और मेरा पुण्याचरण इस (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढें ॥ ५॥

[९५५] (च मे ऋतं) और मेरा सरल कर्म, (च मे अमृतम्) और मेरा अमृत (च मे अयक्ष्मम्) और मेरा क्षयादि रोगोंका अभाव, (च मे अनामयम्) और मेरा आरोग्य (च मे जीवातुः) और मेरी व्याधिनाशक औषधि, (च मे दीर्घायुत्वम्) और मेरा दीर्घआयु, (च मे अनमित्रम्) और मेरे लिये शत्रुओंका अभाव (च मे अभयम्) और मेरी निर्भयता, (च मे सुखम्) और मेरा सुख (च मे शयनम्) और मेरा शयन, (च मे सूषाः) और मेरी सन्ध्या वन्दनादि युक्त सुप्रभात, (च मे सुदिनम्) और मेरे उत्तम दिन इस (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढते रहें ॥ ६ ॥

[९५६] (च मे यन्ता) और मेरा नियन्तृत्व, (च मे धर्ता) और मेरा धारण पोषण करनेकी शक्ति, (च मे क्षेमः) मेरी संपदाका संरक्षण, (च मे धृतिः) और मेरा धैर्य, (च मे विश्वम्) और मेरे सब अनुकूल पदार्थ, (च मे महः) और मेरा महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य, (च मे संवित्) और मेरा ज्ञान, (च मे ज्ञात्रम्) और मेरा विज्ञान सामर्थ्य, (च मे सूः) और मेरा आज्ञा करनेका बल, (च मे प्रसूः) और मेरा संतान उत्पन्न करनेकी शक्ति, (च मे सीरम्) और मेरे कृषि आदिके उपयोगी हलादि पदार्थ (च मे लयः) और मेरी विरोधकी निवृत्ति (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे प्राप्त हों ॥ ७ ॥

+

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मेऽक्षितं च मेऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १० ॥

वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च म ऋद्धं च म ऋद्धिश्च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ११ ॥

[९५७] (च मे शम्) और मेरा सुख, (च मे मयः) और मेरा आनंद, (च मे प्रियम्) और मेरी प्रीति उत्पादक वस्तु (च मे अनुकामः) और मेरे निमित्त अनुकूल पदार्थ (च मे कामः) और मेरा विषय भोग आदि सुख, (च मे सौमनसः) और मेरे मनके स्वास्थ्यकारी बन्धुवर्ग, (च मे भगः) और मेरा ऐश्वर्य (च मे द्रविणम्) और मेरा श्रेष्ठ धन, (च मे भद्रम्) और मेरा कल्याण, (च मे श्रेयः) और मेरा श्रेय (च मे वसीयः) और मेरा निवास योग्य धन (च मे यशः) और मेरा यश (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढावें ॥ ८ ॥

[९५८] (च मे ऊर्क्) और मेरा अन्न, (च मे सूनृता) और मेरी उत्तम सत्य ज्ञानवाली वाणी, (च मे पयः) और मेरा दूध, (च मे रसः) और मेरा रस (च मे घृतम्) और मेरा घी, (च मे मधु) और मेरा शहद, (च मे सग्धिः) और मेरा सहभोजन (च मे सपीतिः) और बन्धुओंके साथ मिलकर दुग्धादि पान, (च मे कृषिः) और मेरी कृषि द्वारा धान्य प्राप्ति, (च मे वृष्टिः) और मेरे लिये धान्य उत्पन्न करनेवाली अनुकूल-वृष्टि, (च मे जैत्रम्) और मेरा विजय करनेका सामर्थ्य, (च मे औद्भिद्यम्) और मेरी वृक्षोंकी उत्पत्ति (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढावें ॥ ९ ॥

(९५९] (च मे रयिः) और मेरी संपत्ति, (च मे रायः) और मेरा उत्तम ऐश्वर्य, (च मे पुष्टम्) और मेरे निमित्त शरीरका हृष्टपुष्ट होना, (च मे पुष्टिः) और मेरे निमित्त हर प्रकारकी पुष्टिका होना, (च मे विभु) और मेरा व्यापक सामर्थ्य, (च मे प्रभु) और मेरी सबपर प्रभुता करनेकी शक्ति, (च मे पूर्णम्) और मेरी पूर्णता, (च मे पूर्णतरम्) और मेरी बहुलता, (च मे कुयवम्) और मेरा कुत्सित यवादि धान्य (च मे अक्षितम्) और मेरा क्षयरहित अन्न (च मे अन्नम्) और मेरे निमित्त चावल आदि (च मे क्षुत्) और मेरी क्षुधा (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढावें ।। १० ।।

[९६०] (च मे वित्तम्) और मेरा धन (च मे वेधम्) और मेरा प्राप्त करने योग्य द्रव्य, (च मे भूतम्) और मेरा पूर्व प्राप्त धन (च मे भविष्यत्) और मेरा भविष्य कालमें प्राप्त होनेवाला धन (च मे सुगम्) और मेरे योग्य सुखगम्य प्रदेश, (च मे सुपथ्यम्) और मेरा शोभन हित, (च मे ऋद्धम्) और मेरा समृद्ध कर्म (च मे ऋद्धिः) और मेरी सम्पत्तिकी समृद्धि, (च मे क्लृप्तम्) और मेरा कार्यसाधक अपर्याप्त द्रव्य, (च मे क्लृप्तिः) और मेरी स्वकार्य साधन सामर्थ्य, (च मे मतिः) और मेरी मति (च मे सुमतिः) और मेरे निमित्त शोभन उत्तम मति (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञके फलसे बढावें ॥ ११ ॥

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १३ ॥

अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १४ ॥

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १५ ॥

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १६ ॥

[९२१] (च मे व्रीहयः) और मेरे लिये व्रीहिधान्य, (च मे यवाः) और मेरे लिये जौ, (च मे माषाः) और मेरे लिये उडद, (च मे तिलाः) और मेरे तिल, (च मे मुद्गाः) और मेरे मूंग, (च मे खल्वाः) और मेरे चने, (च मे प्रियङ्गवः) और मेरे प्रियङ्ग नामक क्षुद्र धान्य, (च मे अणवः) और मेरे चीनक तंदुल, (च मे श्यामाकाः) और मेरे सांवा चावल, (च मे नीवाराः) और मेरे नीवार धान्य, (च मे गोधूमाः) और मेरे निमित्त गेहूं, (च मे मसूराः) और मेरे निमित्त मसूर, (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे इनको समृद्धि करें ॥ १२ ॥

[९६२] (च मे अश्मा) और मेरे पाषाण, (च मे मृत्तिका) और मेरी अच्छी मिट्टी, (च मे गिरयः) और मेरे छोटे पर्वत, (च मे पर्वताः) और मेरे बडे पहाड, (च मे सिकताः) और मेरी रेत, (च मे वनस्पतयः) और मेरी समस्त वनस्पतियां, (च मे हिरण्यम्) और मेरे सुवर्ण, (च मे अयः) और मेरे लोहा, (च मे श्यामम्) और मेरा काला लोह, (च मे लोहम्) और मेरा लाल लोह, (च मे सीसं च) और मेरा सीसा, (च मे त्रपु) और मेरा टिण, (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढें ॥ १३ ॥

[९६३] (च मे अग्निः) और मेरा अग्नि, (च मे आपः) और मेरा जल, (च मे वीरुधः) और मेरी गुल्मतृण आदि वनस्पतियां, (च मे ओषधयः) और मेरी औषधियां (च मे कृष्टपच्याः) और मेरी जोतनेसे प्राप्त होनेवाली औषधियां, (च मे अकृष्टपच्याः) और मेरी बिना क्षेत्र जोते उत्पन्न होनेवाली औषधियां, (च मे ग्राम्याः) और मेरे ग्राम्यपशु गोमहिषीघोडे अजा उष्ट्रादि, (च मे आरण्याः) और मेरे वनके पशु, हस्ती, मृगादि, (च मे वित्तम्) और मेरा पूर्व लब्ध धन, (च मे वित्तिः) और मेरा प्राप्ति धन (च मे भूतम्) और मेरे निमित्त विद्यमान पुत्रादि, (च मे भूतिः) और मेरे स्वयं उपार्जित ऐश्वर्य (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञके फलसे देवता बढावें ॥ १४ ॥

[९६४] (च मे वसु) और मेरा निवासके योग्य धन, (च मे वसतिः) और मेरा निवासस्थान गृह, (च मे कर्म) और मेरा कर्म, (च मे शक्तिः) और मेरी कर्म करनेकी शक्ति, (च मे अर्थः) और मेरा अर्थ, (च मे एमः) और मेरा साधन, (च मे इत्या) और मेरा इष्टप्राप्तिका उपाय (च मे गतिः) और मेरा गमन सामर्थ्य (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञके फलसे बढता है ॥ १५ ॥

[९६५] (च मे अग्निः च मे इन्द्रः) और मेरे अग्नि और मेरे इन्द्र, (च मे सोमः च मे इन्द्रः) और मेरे सोम और मेरे इन्द्र, (च मे सविता च मे इन्द्रः) और मेरे सविता और मेरे इन्द्र, (च मे सरस्वती च मे इन्द्रः) और मेरे सरस्वती और मेरे इन्द्र, (च मे पूषा च मे इन्द्रः) और मेरे पूषा और मेरे इन्द्र, (च मे बृहस्पति च मे इन्द्रः) और मेरे बृहस्पति और मेरे इन्द्रकी अनुकूलता (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे बढती रहे ॥ १६ ॥

मित्रश्चं म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता चं म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ १७ ॥

पृथिवी चं म इन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे द्यौश्चं म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ १८ ॥

अंशुश्चं मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च म उपांशुश्चं मेऽन्तर्यामश्चं म ऐन्द्रवायवश्चं मे मैत्रावरुणश्चं म आश्विनश्चं मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्चं मे मन्थी चं मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥१९॥

आग्रयणश्चं मे वैश्वदेवश्चं मे ध्रुवश्चं मे वैश्वानरश्चं म ऐन्द्राग्नश्चं मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्चं मे सारस्वतश्चं मे पात्नीवतश्चं मे हारियोजनश्चं मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

---

[९६६] (च मे मित्रः च मे इन्द्रः) और मेरे लिये मित्रदेवता और मेरे लिये इन्द्र, (च मे वरुणः च मे इन्द्रः) और मेरे लिये वरुण और मेरे लिये इन्द्र, (च मे धाता च मे इन्द्रः) और मेरे लिये धाता और मेरे लिये इन्द्र, (च मे त्वष्टा च मे इन्द्रः) और मेरे लिये त्वष्टा देवता और मेरे लिये इन्द्र, (च मे मरुतः च मे इन्द्रः) और मेरे लिये मरुत और मेरे लिये इन्द्र, (च मे विश्वेदेवा च मे इन्द्रः) और मेरे लिये विश्वेदेवा देवता और मेरे लिये इन्द्र (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे सहायक हो ॥ १७ ॥

[९६७] (च मे पृथिवी च मे इन्द्रः) और मेरे लिये भूमि और मेरे लिये इन्द्र, (च मे अन्तरिक्षम् च मे इन्द्रः) और मेरे लिये अन्तरिक्षलोक और मेरे लिये इन्द्र, (च मे द्यौः च मे इन्द्रः) और मेरे लिये द्युलोक और मेरे लिये इन्द्र, (च मे समाः च मे इन्द्रः) और मेरे लिये वर्षाके देवता और मेरे लिये इन्द्र, (च मे नक्षत्राणि च मे इन्द्रः) और मेरे लिये अश्विनी आदि नक्षत्र और मेरे लिये इन्द्र, (च मे दिशः च मे इन्द्रः) और मेरे लिये दिशायें और मेरे लिये इन्द्र (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे सहायता करे ॥ १८ ॥

[९६८] (च मे अंशु) और मेरे लिये अंश (च मे रश्मिः) और मेरे लिये किरण (च मे अदाभ्यः) और मेरे निमित्त अदाभ्य ग्रह, (च मे अधिपतिः) और मेरे निमित्त अधिपति (च मे उपांशुः) और मेरे लिये उपांशु ग्रह, (च मे अन्तर्यामः) और मेरे लिये अन्तर्याम (च मे ऐन्द्रवायवः) और मेरे लिये इन्द्र और वायु (च मे मैत्रा वरुणः) और मेरे लिये मैत्रावरुण (च मे आश्विनः) और मेरे लिये आश्विन (च मे प्रति प्रस्थानः) और मेरे लिये प्रति प्रस्थान (च मे शुक्रः) और मेरे लिये शुक्र (च मे मन्थी) और मेरे निमित्त मन्थी ग्रह (यज्ञेनकल्पन्ताम्) यज्ञसे सहायक हो ॥ १९ ॥

[९६९] (च मे आग्रयणः च मे वैश्वदेवः) और मेरे लिये आग्रयण, और मेरे निमित्त वैश्वदेव, (च मे ध्रुवः च मे वैश्वानरः) और मेरे ध्रुवग्रह और मेरे लिये निमित्त वैश्वानर ग्रह, (च मे ऐन्द्राग्न च मे महा वैश्वदेवः) और मेरे निमित्त ऐन्द्राग्न ग्रह और मेरे निमित्त महावैश्वदेव, (च मे मरुत्वतीयाः च मे निष्केवल्यः) और मेरे निमित्त मरुत्वतीय और मेरे लिये निष्केवल्य, (च मे सावित्रः च मे सारस्वतः) और मेरे निमित्त सावित्र और मेरे लिये सारस्वत, (च मे पात्नीवतः च मे हारियोजनः) और मेरे निमित्त पात्नीवत और मेरे लिये हारियोजन (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे सहायक हो ॥ २० ॥

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२१॥

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेऽदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २२ ॥

व्रतं च म ऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।२३।

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविꣳशतिश्च म एकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च म एकत्रिꣳशच्च म एकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २४ ॥

---

[९७०] (च मे स्रुचः च मे चमसाः) और मेरे लिये स्रुच और मेरे लिये चमस, (च मे वायव्यानि च च मे द्रोणकलशः) और मेरे निमित्त वायव्यपात्र और मेरे निमित्त द्रोणकलश, (च मे ग्रावाणः च मे अधिषवणे) और मेरे निमित्त ग्रावा, और मेरे निमित्त काष्टफलक, (च मे पूतभृत् च मे आधवनीयः) और मेरे निमित्त पूतभृत सोमपात्र विशेष और मेरे निमित्त आधवनीय पात्र, (च मे वेदिः च मे बर्हिः) और मेरे लिये वेदि और मेरे लिये कुशा, (च मे अवभृथः च मे स्वगाकारः) और मेरे निमित्त अवभृथस्नान और मेरे निमित्त शम्भुवाक नाम पात्र (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे सहाय्यकारी हों ॥ २१ ॥

[९७१] (च मे अग्निः) और मेरे लिये अग्नि (च मे घर्मः) और मेरे लिये प्रवर्ग्य इष्टि, (च मे अर्कः) और मेरे लिये पुरोडास सम्बन्धी याग, (च मे सूर्यः) और मेरे निमित्त सूर्य, (च मे प्राणः) और मेरे लिये प्राण, (च मे अश्वमेधः) और मेरे निमित्त अश्वमेध यज्ञ, (च मे पृथिवी) और मेरे लिये भूमि, (च मे दितिः) और मेरे निमित्त दिति देवता, (च मे अदितिः) और मेरे लिये अदिति देवमाता, (च मे द्यौः) और मेरे निमित्त द्युलोक, (च मे अङ्गुलयः) और मेरे लिये विराट्पुरुषके अवयव, (च मे शक्वरयः) और मेरे निमित्त शक्तियें (च मे दिशः) और मेरे निमित्त दिशायें (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे सहायकारी हों ॥ २२ ॥

[९७२] (च मे व्रतम्) और मेरे लिये नियम, (च मे ऋतवः) और निमित्त ऋतुयें, (च मे तपः) और मेरे लिये तप, (च मे संवत्सरः) और मेरे लिये संवत्सर, (च मे अहोरात्रे) और मेरे लिये दिनरात, (च मे ऊर्वष्ठीवे) और मेरे निमित्त उरु और जानुनी नाम अङ्ग, (च मे बृहद्रथन्तरे) और मेरे निमित्त बृहद्रथन्तर साम, (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञसे सहायक हो ॥ २३ ॥

[९७३] (च मे एका च मे तिस्रः) और मेरे निमित्त एक संख्या स्तोम और मेरे निमित्त तीन संख्या, (च मे तिस्रः च मे पञ्च) और मेरे निमित्त तीन संख्या और मेरे निमित्त पांच संख्यक, (च मे पञ्च च मे सप्त) और मेरे निमित्त पांच और मेरे निमित्त सात, (च मे सप्त च मे नव) और मेरे निमित्त सात और मेरे निमित्त नौ, (च मे नव च मे एकादश) और मेरे निमित्त नव और मेरे निमित ग्यारह, (च मे एकादश च मे त्रयोदश) और मेरे निमित्त ग्यारह और मेरे निमित्त तेरह, (च मे त्रयोदश च मे पंचदश) और मेरे निमित्त तेरह और मेरे निमित्त पन्द्रह, (च मे पंचदश च मे सप्त दश) और मेरे निमित्त पन्द्रह और मेरे निमित्त सत्रह, (च मे सप्तदश च मे नवदश) और मेरे निमित्त सतरह और उन्नीस, (च मे नवदश च मे एकविंशति) और मेरे लिये उन्नीस

realpatidar.com

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।२५।

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे वशा च म ऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २७ ॥

और मेरे निमित्त इक्कीस, (च मे एकविंशतिः च त्रयोविंशतिः) और मेरे निमित्त इक्कीस और मेरे निमित्त तेइस (च मे त्रयोविंशतिः च मे पञ्चविंशतिः) और मेरे निमित्त तेइस और मेरे निमित्त पच्चीस (च मे पञ्चविंशति च मे सप्तविंशतिः) और मेरे निमित्त पच्चीस और मेरे निमित्त सत्ताईस, (च मे सप्तविंशतिः च मे नवविंशतिः) और मेरे निमित्त सत्ताईस और मेरे निमित्त उन्तीस, (च मे नवविंशतिः च मे एकत्रिंशत्) और मेरे निमित्त उन्तीस और मेरे निमित्त इकतीस, (च मे एकत्रिंशत् च मे त्रयस्त्रिंशत्) और मेरे निमित्त एकतीस और मेरे निमित्त तेंतिस (च मे त्रयस्त्रिंशत् यज्ञेन कल्पन्ताम्) और मेरे निमित्त तेंतिस स्तोम यज्ञके फलसे सहायता करें ॥२४॥

[९७४] (च मे चतस्र च मे अष्टौ) और मेरे निमित्त चार संख्याक स्तोम और मेरे निमित्त आठ, (च मे अष्टौ च मे द्वादश) और मेरे निमित्त आठ और मेरे निमित्त बारह, (च मे द्वादश च मे षोडश) और मेरे निमित्त बारह और मेरे निमित्त सोलह, (च मे षोडश च मे विंशतिः) और मेरे निमित्त सोलह और मेरे निमित्त बीस (च मे विंशतिः च मे चतुर्विंशतिः) और मेरे निमित्त बीस और मेरे निमित्त चौबीस, (च मे चतुर्विंशतिः च मे अष्टाविंशतिः) मेरे निमित्त चौबीस और मेरे निमित्त अट्ठाईस (च मे अष्टाविंशति च मे द्वात्रिंशत्) और मेरे निमित्त अट्ठाइस और मेरे निमित्त बत्तीस (च मे द्वात्रिंशत् च मे षड्त्रिंशत्) और मेरे निमित्त बत्तीस और मेरे निमित्त छत्तीस, (च मे षड्त्रिंशत् च मे च चत्वारिंशत्) और मेरे निमित्त छत्तीस और मेरे निमित्त चालीस, (च मे चत्वारिंशत् च मे चतुश्चत्वारिंशत्) और मेरे निमित्त चालीस और मेरे निमित्त चौवालीस (च मे चतुश्चत्वारिंशत् च मे अष्टचत्वारिंशत्) और मेरे निमित्त चौवालीस और मेरे निमित्त अडतालीस, (च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्) और मेरे लिये ये सहायक हो जांय ॥ २५ ॥

[९७५] (च मे त्र्यविः च मे त्र्यवी) और मेरे निमित्त डेढ वर्षका बछडा और मेरे निमित्त डेढ वर्षकी बछिया, (च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही) और मेरे निमित्त दो वर्षका वृष दो वर्षका बैल और मेरे निमित्त दो वर्षकी गाय, (च मे पञ्चाविः च मे पञ्चावी) और मेरे निमित्त ढाई वर्षका वृष और मेरे निमित्त ढाई वर्षकी गाय, (च मे त्रिवत्सः च मे त्रिवत्सा) मेरे निमित्त तीन वर्षका वृष और मेरे निमित्त निमित्त तीन वर्षकी गाय, (च मे तुर्यवाट्, च मे तुर्यौही) और मेरे निमित्त साढे तीन वर्षका वृष और मेरे निमित्त साढे तीन वर्षकी गाय (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञके फलसे सब प्रकारके पशुओंसे संयुक्त हों और उन्नति प्राप्त करे ॥ २६ ॥

[९७६] (च मे षष्ठवाट्, च मे पृष्ठौही) और मेरे निमित्त चार वर्षका वृष और मेरे निमित्त चार वर्षकी गाय, (च मे उक्षा च मे वशा) और मेरे निमित्त सेचन समर्थ वृष और मेरे निमित्त वन्ध्या गौ, (च मे ऋषभः, च मे वेहत्) और मेरे निमित्त अति युवा वृष और मेरे निमित्त गर्भधातिनी गौ, (च मे अनड्वान् च मे धेनुः) और मेरे निमित्त शकट वहन करनेमें समर्थ बैल और मेरे निमित्त नवप्रसूता गौ, (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञके फलसे सहायता प्रदान करें । सब प्रकारके पशुओंसे हम युक्त हों ॥ २७ ॥

वाजा॑य॒ स्वाहा॑ प्रस॒वाय॒ स्वाहा॑ऽपि॒जाय॒ स्वाहा॒ क्रत॑वे॒ स्वाहा॒ वस॑वे॒ स्वाहा॑ऽह॒र्पत॑ये॒ स्वाहा॒ऽह्ने मु॒ग्धाय॒ स्वाहा॑ मु॒ग्धाय॑ वैनꣳशि॒नाय॒ स्वाहा॑ विन॒ꣳशिन॑ आन्त्याय॒नाय॒ स्वाहाऽऽन्त्या॑य भौव॒नाय॒ स्वाहा॒ भुव॑नस्य॒ पत॑ये॒ स्वाहाऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑ प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑ । इ॒यं ते॒ राण्मि॒त्राय॑ य॒न्ताऽसि॒ यम॑न ऊ॒र्जे त्वा॒ वृष्ट्यै॑ त्वा प्र॒जाना॒ं त्वाऽऽधि॑पत्याय ॥ २८ ॥

आयु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ चक्षु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पताꣳ॒ श्रोत्रं॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ वाग्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ मनो॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पताम॒ात्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पतां ब्र॒ह्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ ज्योति॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पताꣳ॒ स्व॒र्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां पृ॒ष्ठं य॒ज्ञेन॑ कल्पतां य॒ज्ञो य॒ज्ञेन॑ कल्पताम् ।
स्तोम॑श्च॒ यजु॑श्च॒ ऋक् च॒ साम॑ च बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं च॑ ।
स्व॑र्देवा अगन्मा॒मृता॑ अभूम प्र॒जाप॑तेः प्र॒जा अ॑भूम॒ वेट् स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

[९७७] (**वाजाय स्वाहा**) अधिक अन्न उत्पादक चैत्रमासके लिये आहुति दी जाती है, (**प्रसवाय स्वाहा**) जलक्रीडादिकी अनुज्ञारूप वैशाख मासके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**अपिजाय स्वाहा**) जल क्रीडामें रति-कारक जेठ मासके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**क्रतवे स्वाहा**) यागरूप अषाढके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**वसवे स्वाहा**) वसुरूप श्रावणके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**अहर्पतये स्वाहा**) दिनके पालक भाद्र मासके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**मुग्धायाह्ने स्वाहा**) तुषारसे मोहकारक आश्विन मासके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**मुग्ध्याय वैनंशिनाय स्वाहा**) मोह पैदा करनेवाले कार्तिकके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**विनंशिने आन्त्यायनाय स्वाहा**) विनाश रहित अन्तमें स्थित मार्गशीर्षके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**आन्त्याय भौवनाय स्वाहा**) स्वरूपमें मोहनेवाले भुवनोंके पोषक जठराग्निके दीप्त करनेवाले पौष मासके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**भुवनस्य पतये स्वाहा**) भुवनके समस्त प्राणियोंके रक्षक माघ मासके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**अधिपतये स्वाहा**) वर्षान्त होनेसे अधिक पालक फाल्गुन मासके निमित्त यह आहुति दी जाती है, (**प्रजापतये स्वाहा**) द्वादश महीनेके अधिष्ठाता प्रजापतिके निमित्त यह आहुति दी जाती है। हे प्रजापते ! (**इयं ते राट्**) यह तुम्हारा राज्य है, तू (**मित्राय यन्ता असि**) सखारूपके लिये नियामक है, तूही (**यमनः**) यज्ञादि कर्मोंमें सबका नियन्ता है, (**ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा, प्रजानाम् अधिपत्याय त्वा**) परम अन्नादि पोषक पदार्थोंकी रक्षाके लिये, प्रजा पर सुखोंकी वर्षाके लिये और प्रजाओं पर राज्य करनेके लिये तुझे आधार रूप मानता हूं ॥ २८ ॥

[९७८] (**यज्ञेन आयुः कल्पताम्**) यज्ञके प्रसादसे आयुकी वृद्धि हो, (**यज्ञेन प्राणः कल्पताम्**) यज्ञसे प्राण रोग रोगरहित बलिष्ठ हो, (**यज्ञेन चक्षुः कल्पताम्**) यज्ञसे नेत्र इन्द्रिय उत्कृष्टताको प्राप्त हो, (**यज्ञेन श्रोत्रं कल्पताम्**) यज्ञसे श्रोत इन्द्रिय उत्कर्षताको प्राप्त हो, (**यज्ञेन वाक् कल्पताम्**) यज्ञसे वागिन्द्रिय उत्कर्षताको प्राप्त हो, (**यज्ञेन मनः कल्पताम्**) यज्ञसे मन इन्द्रिय स्वस्थताको प्राप्त हो, (**यज्ञेन आत्मा कल्पताम्**) यज्ञसे आत्मा प्रसन्नता लाभ करे, (**यज्ञेन ब्रह्मा कल्पताम्**) यज्ञसे चारों वेदोंका विद्वान ब्रह्मा संतुष्ट हो, (**यज्ञेन ज्योतिः कल्पताम्**) यज्ञसे स्वयंप्रकाश परमात्मा प्राप्त हो, (**यज्ञेन स्वः कल्पताम्**) यज्ञसे स्वर्ग प्राप्त हो, (**यज्ञेन पृष्ठम् कल्पताम्**) यज्ञसे स्वर्गस्थानीय परमसुख प्राप्त हो, (**यज्ञेन यज्ञः कल्पताम्**) यज्ञसे यज्ञ उत्कर्षको प्राप्त हो, (**स्तोमः यजुः ऋक् च साम च बृहत् च रथन्तरम्**) स्तुतिके मन्त्र अथर्ववेद, यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद तथा बृहत् एवं रथन्तर भी यज्ञसे प्राप्त हो, (**च देवाः स्वः स्वः अगन्म**) और समस्त देवगण सुखको प्राप्त हो, वे (**अमृताः अभूम**) अमृत सुखोंको उपलब्ध करें, हम सब भी (**प्रजापतेः प्रजाः अभूम**) प्रजाके पालक परमेश्वरकी प्रजा बनकर रहें और (**वेट् स्वाहा**) उत्तम सत्कर्मानुष्ठानद्वारा हम श्रेष्ठ यश और मान प्राप्त करें; इस कारण यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥ ३० ॥
विश्वे अद्य मरुतो विश्वं ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा अवसाऽऽगमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ॥ ३१ ॥
वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः । वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ॥ ३२ ॥
वाजो नो अद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँ२ ऋतुभिः कल्पयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥ ३३ ॥
वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥ ३४ ॥

[९७९] (वाजस्य प्रसवे नु मातरं अदितिं महीं नाम वचसा करामहे) अन्नकी अनुकूलतामें रहनेवाले हम जिस माता, जगत्की निर्माण करनेवाली, अदीन पूजनीय प्रसिद्ध भूमिको वेदवाक्य द्वारा अनुकूल करते हैं और (यस्यां इदं विश्वं भुवनं आविवेश) जिसमें यह सम्पूर्ण संसार रहा है, (देवः सविता तस्यां नः धर्म साविषत्) प्रकाशात्मक सबके प्रेरक परमात्मा इस भूमिमें हमारी दृढ धारणा करे अर्थात् हमको इस पृथ्वी पर स्वस्थतापूर्वक रखे ॥ ३० ॥

[९८०] (अद्य विश्वे मरुतः आगमन्तु) आज हमारे समीप सम्पूर्ण मरुद्गण आगमन करें, (विश्वे ऊती, विश्वेदेवाः नः अवसा) सम्पूर्ण संरक्षक देवताएं अपनी रक्षा साधनोंके साथ यज्ञमें आवें, तथा (विश्वे अग्नयः समिद्धाः भवन्तु) सम्पूर्ण अग्नि प्रदीप्त होवें, एवं (विश्वं द्रविणं वाजः अस्मे अस्तु) सब ऐश्वर्य व अन्न हमको प्राप्त होवे ॥ ३१ ॥

[९८१] (नः वाजः सप्त प्रदिशः वा) हमारा अन्न, ज्ञान ऐश्वर्य और पराक्रम सातों प्रदेशोंमें और (परावतः चतस्रः) दूर दूर तक फैली चारों दिशाओंमें फैलता रहे, और (इह धनसातौ वाजः) यहां धनके विभाग करनेके समय हमारे अन्न ज्ञान आदिकी तथा (नः विश्वैः देवैः अवतु) हमारी सम्पूर्ण देवोंके साथ रक्षा करें ॥ ३२ ॥

चारों दिशाओंमें हमारे लिये अन्न प्राप्त हो, तथा हमारा पराक्रम चारों दिशाओंमें फैले । सब प्रकारसे चारों दिशाओंमें हमारी सुरक्षा होती रहे ॥ ३२ ॥

[९८२] (वाजः नः अद्य दानं प्रसुवाति) अन्न हमको आज दानके लिये प्रेरणा करता है, (वाजः देवान् ऋतुभिः कल्पयाति) अन्न, देवताओंको ऋतुओंके अनुसार यथा स्थानमें प्राप्त होता रहे, (वाजः हि मा सर्ववीरं जजान) अन्न ही मुझको वीर पुत्र-पौत्रादिसे युक्त करे, मैं (वाजपतिः विश्वा आशाः जयेयं) अन्नका पालक होकर समस्त दिशाओंमें विजय करनेमें समर्थ होऊं ॥ ३३ ॥

वाजः नः अद्य दानं प्रसुवाति— अन्न विपुल हुआ तो दान करनेमें प्रवृत्ति होती है ।

वाजः देवान् ऋतुभिः कल्पयाति— अन्नही दिव्य जनोंको ऋतुओंके अनुकूल व्यवहार करनेमें प्रवृत्त करता है ।

वाजः हि मा सर्ववीरं जजान— अन्नही मुझे पुत्रपौत्रादिसे युक्त करता है । सब प्रकारकी वीरता अन्नही उत्पन्न करता है ।

वाजपतिः विश्वाः आशाः जयेम – अन्नके स्वामी बनकर सब दिशाओंमें हम विजय प्राप्त कर सकते हैं ।

अन्न विपुलतासे मिलना चाहिये । जिससे मनुष्य पूर्ण उन्नत हो सकता है ॥ ३३ ॥

[९८३] (वाजः नः पुरस्तात् उत मध्यतः) अन्न हमारे आगे और गृहके मध्यमें हो, (वाजः हविषा देवान् वर्धयाति) अन्न हविके प्रदानसे देवताओंको बढाता है, (वाजः हि मा सर्ववीरं चकार) अन्न ही मुझको पुत्रादि वीरोंसे युक्त करता है । (वाजपतिः विश्वाः आशाः भवेयं) अन्नका स्वामी बनकर मैं सब दिशाओंमें विजय करनेमें समर्थ होऊं ॥ ३४ ॥

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः । सोऽहं वाजꣳ सनेयमग्ने ॥ ३५ ॥

पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः । पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥ ३६ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥ ३७ ॥

ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३८ ॥

---

[९८४] हे (अग्ने) अग्ने ! मैं (पृथिव्याः पयसा मा संसृजामि) पृथ्वीमें उत्पन्न हुए दूध आदि रससे अपने आत्माको संयुक्त करता हूं, (अद्भिः ओषधीभिः मा सम्) जलों और ओषधियोंके साथ अपनेको मिलाता हूं, (सः अहं वाजं सनेयम्) वह मैं ओषधियों और जलसे अन्नको प्राप्त करता हूं ।। ३५ ॥

पृथिव्याः पयसा मा संसृजामि - पृथिवीके ऊपर प्राप्त होनेवाले दूध आदि रसोंसे मैं अपनेको बढाता हूं ।

अद्भिः ओषधीभिः मा संसृजामि— जलों और ओषधियोंसे मैं अपने उपयोगके लिये अन्नको प्राप्त करता हूं ।

सः अहं वाजं सनेयम्— वह मैं अन्नको प्राप्त करूंगा ॥ ३५ ॥

[९८५] हे अग्ने ! तुम (पृथिव्यां पयः धाः) पृथ्वीमें रसको धारण करो, (ओषधिषु पयः) ओषधियोंमें रसको स्थापन करो, (दिवि पयः) द्युलोकमें रसको स्थिर करो और (अन्तरिक्षे पयः) अन्तरिक्षमें रसको प्रस्थापित करो तथा (मह्यं प्रदिशः पयस्वतीः सन्तु) मेरे लिये दिशाविदिशा रस युक्त होवें ॥ ३६ ॥

पृथिव्यां ओषधिषु दिवि अन्तरिक्षे पयः धाः— पृथिवीमें, औषधियोंमें, द्युलोकमें, अन्तरिक्षमें रस प्राप्त हो । अन्न आदि खाद्य पेय पदार्थ प्राप्त हों ।

मह्यं प्रदिशः पयस्वतीः सन्तु— मेरे लिये ये सब दिशाएं अन्नरस देनेवाली हों ॥ ३६ ॥

[९८६] (सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देवके शासनमें, (अश्विनोः बाहुभ्यां) दोनों अश्विनी कुमारोंके बाहुओंसे, (पूष्णः हस्ताभ्याम्) पूषा देवताके दोनों हाथोंसे, (सरस्वत्यै वाचः) सरस्वतीकी वाणीसे, (यन्तुः यन्त्रेण) नियन्ता प्रजापतिके नियमनसे, और (अग्नेः साम्राज्येन त्वा अभिसिञ्चामि) अग्निके साम्राज्यसे तुझपर अभिषेक करता हूं ॥ ३७ ॥

[९८७] (ऋताषाद् ऋतधामा गन्धर्वः अग्निः) सत्यज्ञानके बलसे विजय प्राप्त करनेवाला, अविनाशी तेजवाला और पृथ्वीको धारण करनेमें समर्थ अग्नि (नः इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु) हमारे इस ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णोंकी रक्षा करनेवाला हो, (तस्मै स्वाहा वाट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति प्रदान करते हैं, भली प्रकार यह आहुति स्वीकृत हो । (मुदः नाम तस्य अप्सरसः ताभ्यः स्वाहा) प्राणियोंको प्रसन्न करनेवाली ओषधियें उस अग्निरूप गन्धर्वकी अप्सरारूपसे हैं वे भी हमारी रक्षा करें, उन ओषधियोंके लिये यह आहुति दी जाती है, भली प्रकार गृहीत है ॥ ३८ ॥

ऋताषाद् ऋतधामा गंधर्वा अग्निः— सत्यमार्गसे शत्रुओंको पराजित करनेवाला, सत्यका आश्रय करनेवाला पृथिवीका धारण करनेवाला अग्रणी है ।

नः इदं ब्रह्म क्षत्र पातु— वह हमारे इस ज्ञानीयों और क्षत्रियोंका संरक्षण करे ।

मुदः नाम अप्सरसः — आनंद बढानेवाली उसकी अप्सराएं हैं । जलके रसमें रहनेवाली आनंद बढानेवाली औषधियां हैं जो मनुष्योंका आनंद बढाती हैं ॥ ३८ ॥

+

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३९ ॥
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४० ॥
इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४१ ॥
भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४२ ॥

---

[९८८] (**संहितः विश्वसामा गन्धर्वः स सूर्यः**) दिनरातकी सन्धि करनेवाला, सम्पूर्ण साम जिसकी स्तुति करते हैं, और पृथ्वीको धारण करनेवाला वह सूर्य (**नः ब्रह्म क्षत्रं पातु**) हमारे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णकी रक्षा करे, (**तस्मै स्वाहा वाट्**) उसके निमित्त यह आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो । (**आयुवः नाम मरीचयः तस्य अप्सरसः**) परस्पर मिलनेके स्वभाववाली आयुर्वर्धक उसकी किरणें उसकी अप्सरायें हैं, वे हमारी रक्षा करें (**ताभ्यः स्वाहा**) उसके लिये आहुति देते हैं, भली प्रकार गृहीत हो ॥ ३९ ॥

[९८९] (**सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमाः गन्धर्वः**) उत्तम मनवाला सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशित होनेवाला चन्द्रमा नामका गन्धर्व है (**सः नः इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**) वह हमारे इस ब्राह्मणवर्ण और क्षत्रियवर्णका पालन करे (**तस्मै स्वाहा वाट्**) उस चन्द्रमारूप गन्धर्वके लिये आहुति दी जाती है, वह भली प्रकार गृहीत हो । (**भेकुरायः नाम नक्षत्राणि तस्य अप्सरसः**) प्रकाश करनेवाले भेकुरि नामक नक्षत्र गण उसकी अप्सरायें हैं वे हमारी रक्षा करें (**ताभ्यः स्वाहा**) उसकी प्रीतिके निमित्त आहुति दी जाती है ॥ ४० ॥

[९९०] (**इषिरः विश्वव्यचाः गन्धर्वः वायुः सः नः ब्रह्म क्षत्रं पातु**) शीघ्रगामी सर्वत्र व्याप्त इस भूमिपर जो वायु है, वह हमारी ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जातिकी रक्षा करे, (**तस्मै स्वाहा वाट्**) उसकी प्रीतिके निमित्त आहुति दी जाती है, (**ऊर्जः नाम आपः तस्य अप्सरसः**) प्राणियोंको जीवित रखनेवाले रसरूप जल उसकी अप्सरा हैं, वे हमारी रक्षा करें, (**ताभ्यः स्वाहा**) उनके लिये यह आहुति प्रदान करते हैं भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

[९९१] (**भुज्युः सुपर्णः यज्ञः गन्धर्वः सः नः ब्रह्म क्षत्रं पातु**) प्राणियोंको अन्न देनेवाला उत्तम प्रगतिशील यज्ञ नाम गन्धर्व है, वह हमारे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी रक्षा करे, (**तस्मै स्वाहा वाट्**) उस यज्ञरूप गन्धर्वके लिये यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं, वह भली प्रकार स्वीकृत हो । (**स्तावा नाम दक्षिणाः तस्य अप्सरसः**) ईश्वरकी स्तुति करनेसे स्तावा नामवाली दक्षिणा उस यज्ञकी अप्सरा हैं, वे हमारी रक्षा करें, (**ताभ्यः स्वाहा**) उनकी प्रीतिके निमित्त आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४२ ॥

भुज्युः— भोजनके लिये अन्न देनेवाला ।
सुपर्णः— उत्तम प्रगमनशील ।
यज्ञः— श्रेष्ठोंका सत्कार, सब श्रेष्ठोंसे मित्रता, और गरीबोंके लिये अन्नदान करनेवाला श्रेष्ठ त्यागमय कर्म ।
सः नः ब्रह्म क्षत्रं पातु— वह कर्म हमारे ज्ञानी और शूरोंकी सुरक्षा करे ।
स्तावा— स्तुति करनेवाली ।
अप्सराः— जीवनरूप जलमें योग्य रीतिसे प्रगति करनेवाली ॥ ४२ ॥

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४३ ॥
स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य त उपरि गृहा यस्य वेह ।
अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा ॥ ४४ ॥
समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा मारुतोऽसि मरुतां गणः
शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहाऽवस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ॥ ४५ ॥
यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ ४६ ॥
या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ ४७ ॥

---

[९९२] (प्रजापतिः विश्वकर्मा मनः गन्धर्वः सः नः इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु) प्रजाका रक्षक, समस्त विश्वका कर्ता विचारशील गन्धर्व है, वह हमारे इस ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णकी रक्षा करे, (तस्मै स्वाहा वाट) उसको प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं, वह भली प्रकार स्वीकार हो । (एष्टयः नाम ऋक् सामानि तस्य अप्सरसः) अभीष्ट देनेसे एष्टि नामवाली ऋक् और सामकी ऋचायें उसकी अप्सरायें हमारी रक्षा करें (ताभ्यः स्वाहा) उसके निमित्त आहुति दी जाती है भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४३ ॥

[९९३] (भुवनस्य पते प्रजापते) विश्वके पालन करनेवाले हे प्रजापते ! (यस्य ते उपरि गृहाः) जिस तेरे आश्रय पर ये ऊपर गृह हैं, (वा यस्य इह) अथवा जिस तुम्हारे इस लोकमें घर हैं, (सः नः अस्मै ब्रह्मणे अस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ) वह तुम हमारे इस ब्राह्मण और इस क्षत्रियके लिये बडे सुखका प्रदान करो, (स्वाहा) यह दी हुई आहुति भली प्रकार स्वीकार हो ॥ ४४ ॥

[९९४] हे वायो ! तुम (समुद्रः नभस्वान् आर्द्रदानुः शम्भू मयोभूः असि) सागरके समान गम्भीर वा अगाध जलोंसे भरे हुए हो, आकाशमण्डलमें रहनेवाले, वर्षाद्वारा पृथ्वीको आर्द्र करनेवाले, सुख प्राप्त करानेवाले और परम आनन्दके जनक हो, तुमही (मारुतः असि) अन्तरिक्षचारी वायुरूप हो, एवं (मरुतनां गणः अवस्यूः दुवस्वान् शम्भूः मयो भूः असि) प्राणोंके गणके समान सबके आश्रयस्थान, सबके रक्षा करनेवाले, अन्नके उत्पादक, कल्याणकारी और मोक्ष सुखके प्रदाता हो इस कारण (मा अभि वाहि) मुझे चारों ओरसे प्राप्त होओ, (स्वाहा) यह दी हुई आहुति भली प्रकार स्वीकार हो ॥ ४५ ॥

[९९५] हे (अग्ने) अग्ने ! (या ते रुचः सूर्ये रश्मिभिः दिवं अतन्वन्ति) जो तेरी दीप्ति, सूर्यमण्डलमें रहनेवाले किरणों द्वारा द्युलोकको प्रकाशित करती हैं, वे (अद्य ताभिः सर्वाभिः नः रुचे नः जनाय कृधि) आज उन सम्पूर्ण कान्तियोंसे हमारे शोभा को बढानेके लिये और हमारे पुत्र पौत्रादिकों की तेजस्विता बढानेके लिये प्रकाशित करें ॥ ४६ ॥

[९९६] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्राग्नी ! हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! हे (देवाः) देवो ! (वः यः रुचः सूर्ये) तुम्हारी जो दीप्ति सूर्यमें है, (या रुचः गोषु अश्वेषु) जो दीप्तियें गौवों और अश्वोंमें हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सम्पूर्ण दीप्तियोंसे देदीप्यमान तुम (नः रुचं धत्त) हमारे लिये उस प्रकाशका धारण करो ॥ ४७ ॥

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नस्कृधि । रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥४८॥
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्र मोषीः ॥ ४९ ॥
स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा
स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ॥ ५० ॥
अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याꣳ रक्षाꣳस्यपहꣳस्यग्ने ।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ ५२ ॥

---

[९९७] हे अग्ने ! (नः ब्राह्मणेषु रुचं धेहि) हमारे ब्राह्मणोंमें तेजको स्थापन करो, (नः राजसु रुचं कृधि) हमारे क्षत्रियोंमें कान्तिको स्थापन करो, (विश्येषु रुचं) वैश्योंमें तेजस्विताको प्रस्थापन करो, और हमारे (शूद्रेषु मयि रुचा रुचं धेहि) शूद्रोंमें तथा मुझमें तेजस्विताको स्थापन करो ॥ ४८ ॥

नः ब्राह्मणेषु राजसु विश्वेषु शूद्रेषु मयि च रुचा रुचं कृधि — हमारे राष्ट्रके ब्राह्मणोंमें, क्षत्रियोंमें, वैश्योंमें तथा शूद्रोंमें और मुझमें तेजसे युक्त तेजस्विताको स्थापन करो । सब जनता तेजस्वी हो ॥ ४८ ॥

[९९८] हे (वरुण) वरुण ! (यजमानः हविर्भिः तत् आशास्ते) यजमान हवियोंके प्रदानसे उस सुखकी आकांक्षा करता है, (तत् ब्रह्मणा वन्दमानः त्वा यामि) वह यजमानका इष्ट, वेद ब्रह्मके द्वारा स्तुति करता हुआ मैं तुझसे प्रार्थना करता हूं । हे (उरुशंस) बहुतोंसे स्तुति किये जानेवाले देव ! (इह अहेडमानः त्वा यामि) इस स्थानमें क्रोध न करते हुये तेरे पास प्रार्थना करनेके लिये आ रहा हूं कि, (नः आयुः मा प्रमोषीः) तू हमारी आयुको मत कम करो अर्थात् हम सब दीर्घ आयुवाले हों ॥ ४९ ॥

[९९९] (स्वः न घर्मः स्वाहा) प्रकाशमान आदित्यके लिये यह आहुति प्रदान करते हैं, भली प्रकारसे स्वीकृत हो, (स्वः न अर्कः स्वाहा) सूर्यके समान अग्नि है, इसकी प्रीति निमित्त यह आहुति प्रदान करते हैं, भली प्रकार गृहीत हो, (स्वः न शुक्रः स्वाहा) दिनके समान शुक्लवर्ण तेजस्वी देवके निमित्त यह आहुति प्रदान करते हैं, भली प्रकार गृहीत हो, और (स्वः न ज्योतिः स्वाहा) स्वर्गके समान ज्योतिके लिये यह आहुति प्रदान करते हैं भली प्रकार गृहीत हो, और (स्वः न सूर्यः स्वाहा) स्वयं प्रकाशी देवताके समान सूर्यके लिये यह आहुति प्रदान करते हैं भली प्रकार स्वीकृत हो ॥ ५० ॥

[१०००] (दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तं अग्निं) दिव्य गुण युक्त, सुन्दर गतिवाले और वृद्धिको प्राप्त होनेवाले अग्निको (शवसा घृतेन युनज्मि) बलदायक घृतसे संयुक्त करता हूं, (तेन ब्रध्नस्य विष्टपं वयं गमेम) इसके द्वारा आदित्यके लोकको हम गमन करेंगे, और (अधि स्वः रुहाणाः उत्तमं नाकं) उसके ऊपर स्वर्गको गमन करते हुये दुःखरहित लोकको प्राप्त होंगे ॥ ५१ ॥

[१००१] हे (अग्ने) अग्ने ! (ते इमौ पक्षौ अजरौ पतत्रिणौ) तुम्हारे ये दोनों पंख कभी नाश न होनेवाले और उडनेके स्वभाववाले हैं, (याभ्यां रक्षांसि अपहंसि) जिसके द्वारा तुम राक्षसोंको विनष्ट करते हो, हम (ताभ्यां उ सुकृतां लोकं पतेम) उनके द्वारा ही पुण्यात्माओंके लोकको गमन करें (यत्र प्रथमजाः पुराणाः ऋषयः जग्मुः) जहां प्रथम उत्पन्न पुरातन ऋषिगण गये हैं ॥ ५२ ॥

इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः ।
महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥ ५३ ॥

दिवो मूर्धाऽसि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम् । विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे ॥ ५४ ॥

विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त ।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव ॥ ५५ ॥

इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः । तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहा गमेः ॥ ५६ ॥

इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तु न इष्टं हविः । स्वगेदं देवेभ्यो नमः ॥ ५७ ॥

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा ।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ ५८ ॥

[१००२] हे अग्ने ! तुम (इन्दुः दक्षः श्येनः) चन्द्रके समान आह्लाद देनेवाले, उत्साहवान, बाजके समान प्रगतिशील (ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनः भुरण्युः) सत्याचरणवाले, सुवर्णपक्षवाले, सत्यपक्षवाले, शक्तिशाली, भरण-पोषण करनेवाले (महान् ध्रुवः सधस्थे आनिषत्तः ते नमः अस्तु) प्रभावशाली, स्थिर, यज्ञमें सदा साथ रहनेवाले तुम्हारे लिये नमस्कार हो, (मा मा हिंसीः) हमको किसी प्रकार पीडा मत दो ॥ ५३ ॥

[१००३] हे अग्ने ! तुम (दिवः मूर्धा, पृथिव्याः नाभिः, अपां ओषधीनां ऊर्क्) स्वर्गलोकके मस्तकस्वरूप, पृथ्वीके नाभि सदृश, जलों व ओषधियोंके सारभूत, (विश्वायुः शर्म, सप्रथाः असि) सब प्राणियोंके जीवन, लोगोंको सुखदाता और समानरूपसे सर्वत्र वर्तमान हो, इस प्रकार (पथे नमः) सबके मार्ग स्वरूप अर्थात् उद्देश्यतक पहुंचानेवाले तुम्हारे लिये नमस्कार है ॥ ५४ ॥

[१००४] हे अग्ने ! (श्रितः, विश्वस्य मूर्धन् अधितिष्ठसि) सर्वत्र व्याप्त तुम सबसे उच्चस्थानमें स्थित हो, (ते हृदयं समुद्रे तुम्हारा हृदय अन्तरिक्षमें है, (आयुः अप्सु) आयु जलोंमें है, तुम (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः ततः वृष्ट्या नः अव) द्युलोकसे मेघसे अन्तरिक्षसे और भूमिके समीपके देशसे जलकी वृष्टिके द्वारा हमारी रक्षा करो, तथा (उदधिं भिन्त) मेघको विदीर्ण करो, एवं (अपः दत्त) जलोंको प्रदान करो ॥ ५५ ॥

[१००५] हे द्रविण ऐश्वर्यवान् ! तुम (नः इष्टस्य प्रीतस्य तस्य इह आगमेः) हमारे इष्टरूप हममें प्रेम करनेवाले उसके यज्ञके घरमें यहां आगम करो, (आशीर्दाः यज्ञः, भृगुभिः वसुभिः इष्टः) अभिलषित पदार्थोंका देनेवाला यज्ञ, शत्रुओंको भुनदेनेवाले विज्ञानवाले वीरों द्वारा और निवास करानेवाले विद्वानोंसे सम्पादित किया गया है ॥ ५६ ॥

भृगुः— शत्रुको भूननेवाले वीर ।

वसुः— सज्जनोंका निवास करनेवाले वीर ॥ ५६ ॥

[१००६] (इष्टः अग्निः) यज्ञरूप परमप्रिय अग्नि (हविः आहुतः नः इष्टं पिपर्तु) हविद्वारा तृप्त किया हुआ हमारे मनोरथको पूर्ण करे, (इदं नमः देवेभ्यः, स्वगा) यह हवि देवताओंके लिये प्राप्त हो, जो हवि स्वयं गमनशील है ॥ ५७ ॥

[१००७] (यत् आकूतात् हृदः मनसः वा चक्षुः संभृतम्) जो ज्ञान मनकी प्रवृत्तिके भी पूर्व आत्माके भीतर विद्यमान, हृदयसे, मनन करनेवाले अन्तःकरणसे और आंख आदि बाह्य इन्द्रियोंसे सम्यक् प्रकार प्राप्त (तत् अनु सुकृतां लोकं उ प्र इत) उसके अनुकूलही पुण्य आचारवान् सत्पुरुषोंके लोकको निश्चयसे प्राप्त करो, (यत्र प्रथमजाः पुराणाः ऋषयः जग्मुः) जहां प्रथम उत्पन्न, पुरातन ऋषिगण पहुंचे हैं ॥ ५८ ॥

एतꣳ सधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तꣳ स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ ५९ ॥

एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य ।
यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्त्ते कृणवाथाविरस्मै ॥ ६० ॥

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳ सृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ ६१ ॥

येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् । तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ६२ ॥

प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा । ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ६३ ॥

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः । तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ६४ ॥

[१००८] हे (सधस्थ स्वर्गमें रहनेवाले ! (जातवेदाः यं शेवधिं आवहात्) अग्निने जिस यज्ञके परम सुखको जिसे सौंपा है ऐसे (एतं ते परिददामि) इस फलको तुम्हारे लिये समर्पण करता हूं । हे देवताओ ! (यज्ञपतिः व अन्वागन्ता) यजमान तुम्हारे पास आगमन करेगा, (अत्र परमे व्योमन् तं जानीत स्म) यहां इस उत्कृष्ट विस्तृत स्वर्गस्थानमें आये हुये उस यजमानको तुम जानो ॥ ५८ ॥

[१००९] हे (परमे व्योमन् सधस्थाः देवाः) उत्कृष्ट स्वर्गमें रहनेवाले देवताओ ! (एतं जानाथ) इस यजमानको जानो और (अस्य रूपं विद) इसके रूपको समझो, (यदा देवयानैः पथिभिः आगच्छात्) जिस समय यह देवताओंके गमन योग्य मार्गोंसे गमन करे तब (इष्टा पूर्ते अस्मै आविः कृण्वाथ) इष्ट और पूर्त कर्मोंके फल इस यजमानके निमित्त प्रकाशित करो ॥ ६० ॥

यज्ञ करनेवाला यजमान देवयान मार्गसे स्वर्गमें जाता है ।
उस समय उसको यज्ञके फल प्राप्त होते हैं ॥ ६० ॥

[१०१०] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं उद्बुध्यस्व प्रतिजागृहि) तुम उत्तम रीतिसे उठो और जाग्रत होओ। और (इष्टापूर्ते संसृजेथाम्) इष्ट और पूर्त कर्मके फल यजमानको प्रदान करो, तुम्हारी कृपासे (अयं च) यह यजमान भी उत्तम सुखको प्राप्त हो । हे (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण देवो ! तुम्हारे निमित्त इष्टापूर्तसे निष्पाप हुआ यह (यजमानः च सधस्थे) यजमान भी देवताओंके साथ रहने योग्य (अस्मिन् उत्तरस्मिन् अधिसीदत) इस सबसे उत्कृष्ट द्युलोकमें चिरकालतक निवास करे ॥ ६१ ॥

[१०११] हे (अग्ने) अग्ने ! (येन सहस्रं वहसि) जिस सामर्थ्यसे सहस्र दक्षिणावाले यज्ञका करते हो और (येन सर्ववेदसं) जिससे सर्व वेदोंसे होनेवाले यज्ञको करते हो (तेन नः इमं यज्ञं देवेषु गन्तवे स्वः नय) उस सामर्थ्यसे हमारे इस यज्ञको देवताओंके प्रति गमन करनेके लिये स्वर्गको ले चलो ॥ ६२ ॥

[१०१२] हे अग्ने ! (नः प्रस्तरेण, परिधिना स्रुचा वेद्या बर्हिषा ऋचा) हमारे प्रस्तर, परिधि, स्रुक, वेदी, कुशा और स्तुति वा वेदके मन्त्रसे सम्पन्न (इयं यज्ञं देवेषु गन्तवे स्वः नय) इस यज्ञको देवताओंमें प्राप्त करानेके निमित्त स्वर्गको ले जाओ ॥ ६३ ॥

[१०१३] (वैश्वकर्मणः अग्निः) विश्वकर्मा सम्बन्धी अग्नि (नः तत् स्वः देवेषु दधत्) हमारे उस दानको स्वर्गलोकमें स्थित देवताओंमें स्थापन करे (यत् दत्तम्) जो दिया है, (यत् परादत्तम्) जो परोपकारके लिये दिया है (यत् पूर्तम्) जो कूप तडाग निर्माण निमित्त दिया है और (याः दक्षिणाः) जो यज्ञ सम्बन्धी दक्षिणायें दी है वह दान देवताओंको प्राप्त हो ॥ ६४ ॥

यत्र धारा अनपेता मधोर्घृतस्य च याः । तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ६५ ॥
अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ६६ ॥
ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि ।
ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि ।
तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव ॥ ६७ ॥
वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च । इन्द्र त्वाऽऽवर्तयामसि ॥ ६८ ॥

[१०१४] (वैश्वकर्मणः अग्निः तत् स्वः देवेषु नः दधत्) विश्वकर्मा सम्बन्धी अग्नि उस स्वर्गमें देवताओंके मध्यमें हमको स्थापन करे, (यत्र मधोः घृतस्य च याः धाराः अनपेताः) जहां शहदकी घीकी और दूध दधि आदिकी धारायें क्षीण न होनेवाली स्थित हैं अर्थात् निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं ॥ ६५ ॥

[१०१५] (जातवेदाः, अर्कः, त्रिधातुः रजसः विमानः, अजस्रः अग्निः) सब उत्पन्न जगतको जाननेवाला, पूजनीय यज्ञरूप, तीन धातु अर्थात् ऋक् यजुः साम लक्षणवाला, मध्य लोकका निर्माता और अविनाशी अग्नि (जन्मना अस्मि) उत्पत्तिसे ही मैं हूं, (मे चक्षुः घृतम्) मेरी आखें घृत हैं, (मे आस्यं अमृतम्) मेरे मुखमें हविरूप अमृत है, (घर्मः नाम, हविः अस्मि) उष्णताके अर्थयुक्त नामवाला, पुराडाशादि हवि रूप पदार्थ भी मैं ही हूं ॥ ६६ ॥

मे चक्षुः घृतं— अग्निका नेत्र घी है । घी सेही वह प्रकाशता है ।

मे अमृतं आस्यं— मेरा मुख अमृत है । अग्नि की उष्णता चारों ओर फैली है और उस उष्णतासे वह सबका भक्षण करता है ॥ ६६ ॥

[१०१६] (ऋचः नाम अस्मि) ऋग्वेद नामवाला मैं हूं, (यजूंषि नाम अस्मि) यजुर्वेद नामवाला मैं हूं, (सामानि नाम अस्मि) सामवेद नामवाला मैं हूं अर्थात् अग्नि अपनेको त्रिवेदरूप बतलाता है । (अस्यां पृथिव्यां अधि ये पाञ्चजन्या अग्नयः) इस पृथ्वीपर जो पांचों प्रजाजनोंके हितकारी अग्नियां हैं, (तेषां) उन अग्नियोंमें, (त्वं उत्तमः असि) तुम श्रेष्ठ हो (नः जीवातवे प्रसुव) हमारे चिरजीवनके लिये आदेश करो ॥ ६७ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे यज्ञ होता है । और यज्ञमें अग्नि ही मुख्य स्थानमें रहता है; अतः ऋग्यजुः साम ये अग्नि हैं ऐसा लक्षणासे कहा है ।

पांचजन्याः अग्नयः— पंचजन यज्ञ करते हैं, अतः अग्नियोंका नाम पांचजन्य हुआ है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पंचजन हैं । ये अग्निकी उपासना अपनी पद्धतिसे करते हैं । इन पंचजनोंके घरोंमें अग्नि प्रदीप्त होता रहता है ।

नः जीवातवे प्रसुव— हम सब पांचों जनोंके दीर्घ जीवनके लिये सहायक हो, यह सब पांचों जनोंकी यहां वी है ॥ ६७ ॥

[१०१७] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (वार्त्रहत्याय, पृतनाषाह्याय शवसे त्वा) वर्तमान शत्रुके हनन करनेमें समर्थ, सेनाओंके विजय करानेवाले बलदर्शनके निमित्त तुमको हम (आवर्तयामसि) बारम्बार बुलाते हैं ॥ ६८ ॥

वार्त्रहत्य— शत्रुका नाश करना
पृतना-षाह्य— शत्रु सेनाके हमले होनेपर उनका पराभव करना ।
शवस्— असह्य सामर्थ्य

ये तीन कार्य करने आवश्यक हैं । ये ही कार्य राष्ट्रके संरक्षणके लिये अत्यावश्यक हैं ॥ ६८ ॥

सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सं पिणक् कुणारुम् ।
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥ ६९ ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ२ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ ७० ॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकꣳ सꣳशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ७१ ॥
वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ ७२ ॥

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीरा विवेश ।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम् ॥ ७३ ॥
अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिꣳ रयिवः सुवीरम् ।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते ॥ ७४ ॥

[१०१८] हे (पुरुहूत इन्द्र) बहुतोंसे सहायार्थ बुलाये जानेवाले इन्द्र ! (क्षियन्तं कुणारुं सहदानुं अहस्तं सम्पिणं) समीप रहनेवाले, और दुर्वचन कहनेवाले शत्रुको हस्तहीन अर्थात् निःशस्त्र करके अच्छी प्रकार कुचल डालो । हे (इन्द्र) इन्द्र ! (वर्धमानं, पियारुं वृत्रं अपादं अभिजघन्थ) अपनी शक्तिको बढानेवाले, और बुरा भाषण करनेवाले वृत्रासुरको पांवरहित अर्थात् गतिहीन करके सब ओरसे विनष्ट कर दो ॥ ६९ ॥

[१०१९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (मृधः वि जहि) संग्राममें शत्रुओंको विशेषरूपसे पराजित करो, (पृतन्यतः नः नीचा यच्छ) सेनायुक्त हमारे शत्रुओंको नीच स्थितिमें पहुंचा दो और (यः अस्मान् अभिदासति अधरं तमः गमय) जो हमको नष्ट करनेकी इच्छा करता है उसको अधोगतिमें पहुंचाओ ॥ ७० ॥

[१०२०] हे इन्द्र ! तू (कुचरः गरिष्ठाः भीमः मृगः न परावतः आजगन्थ) कुटिल चालवाले, गिरि-गह्वरमें रहनेवाले, भयंकर सिंहके समान दूर देशस्थ शत्रुओंको चारों ओरसे घेर ले, और (सृकं तिग्मं पविं संशाय शत्रून् वि ताढि) शत्रुके शरीरमें प्रवेश करनेवाले, अतितीक्ष्ण वज्रको, सम्यक् तीव्र करके, शत्रुओंको विशेषरूपसे ताडित कर, तथा (मृधः वि नुदस्व) शत्रुसेनाको भगा दो ॥ ७१ ॥

[१०२१] (वैश्वानरः अग्निः) सब प्राणियोंका हितकारी अग्नि (नः सुष्टुतीः उप) हमारी सुन्दर स्तुति श्रवण करनेको (नः ऊतये परावतः प्रयातु) हमारी रक्षाके निमित्त दूरदेशसे आगमन करे ॥ ७२ ॥

[१०२२] (वैश्वानरः अग्निः दिवि पृष्टः) सब प्राणियोंका हितकारी अग्नि द्युलोकमें पूछा गया कि आदित्य-रूप यह क्या पदार्थ है ? (पृथिव्यां पृष्टः) पृथ्वीमें लोगोंसे पूछा गया यह प्रकाश करनेवाला कौन है ? (विश्वा ओषधीः आविवेश सः पृष्टः) सम्पूर्ण ओषधियोंमें प्रविष्ट हुआ, वह अग्नि पूछा गया यह कौन है ? (सहसः पृष्टः) बलपूर्वक पूछा गया यह कौन है ? (सः अयं दिवा नक्तं नः रिषः पातु) वह यह अग्नि दिन और रात हिंसक लोगोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ७३ ॥

[१०२३] हे (अग्ने) अग्ने ! (तव उती तं कामं अश्याम्) तुम्हारे रक्षण सामर्थ्यसे हम उस अपनी अभिलाषाको प्राप्त हों । हे (रयिवः) धनवान् ! तुम्हारी कृपासे हम (सुवीरं रयिं अश्याम्) सुन्दर वीर पुत्र और श्रेष्ठ धनको प्राप्त करनेवाले हों, (वाजयन्तः वाजं अभि अश्याम्) संग्राम करनेके पश्चात् विजय प्राप्त करके विजयसे प्राप्त ऐश्वर्यका हम उपभोग करें । हे (अजर) जरारहित ! (ते अजरं द्युम्नं अश्याम्) तुम्हारे अविनाशी यशको हम प्राप्त होवें ॥ ७४ ॥

वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य ।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने ॥ ७५ ॥
धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः । सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे ॥ ७६ ॥
त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः । रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ७७ ॥

[अ० १८, कं० ७७, मं० सं० ८९]

इत्यष्टादशोऽध्यायः ।

[१०२४] हे (अग्ने) अग्ने ! (उत्तानहस्ताः वयं नमसा उपसद्य) ऊंचे हाथोंसे हम नमस्कार करके तेरे समीप पहुंच कर (अद्य यजिष्ठेन अस्रेधता मन्मना मनसा कामं हविः ते ररिम) आज यागमें तत्पर अनन्य गति एकाग्र, मननशील, सावधान मनसे अभिलषित हविको तुम्हारे लिये अर्पण करते हैं । हे अग्ने ! (विप्रः) बुद्धिमान तुम (देवान् यक्षि) देवताओंको तृप्त करो ॥ ७५ ॥

वयं उत्तानहस्ताः नमसा उपसद्य— हम हाथ ऊपर उठाकर नमस्कार करके तुम्हारे पास आते हैं ।
हाथ ऊपर उठाकर नमस्कार करना चाहिये । यह अतिथिका आदर करनेकी वैदिक रीति है ॥ ७५ ॥

[१०२५] (धामच्छत् देवः अग्निः) तेजको धारण करनेवाला दिव्यगुणयुक्त अग्नि (इन्द्रः, ब्रह्मा, बृहस्पतिः सचेतसः, विश्वेदेवाः नः यज्ञं शुभे प्रावन्तु) इन्द्र, ब्रह्मा, बृहस्पति और महाबुद्धि सम्पन्न सम्पूर्ण देवता हमारे यज्ञको शुभकारक स्थानमें स्थापन करें ॥ ७६ ॥

[१०२६] हे (यविष्ठ) अतिशय तरुण अग्ने ! (त्वं गिरः शृणुधी) तुम हमारी स्तुतियोंको श्रवण करो, (उत आत्मना तोकं रक्ष) और अपने उपासकके संतानकी रक्षा करो ॥ ७७ ॥

॥ अठारहवा अध्याय समाप्त ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन । मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳ सोमेन ।
सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ १ ॥

परीतो षिञ्चता सुतꣳ सोमो य उत्तमꣳ हविः ।
दधन्वा यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥ २ ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिद्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ।
वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमो अतिद्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

[१०२७] (स्वाद्वीं तीव्रां अमृतां मधुमतीं त्वा) अतिस्वादिष्ठ, तीव्र, अमृतवत् मधुर, मीठी रसवाली तुमको (स्वादुना तीव्रेण अमृतेन मधुमता सोमेन संसृजामि) स्वादु तीक्ष्ण अमृत और मधुर सोमरसके साथ मिलाता हूं। हे सुरे ! तुम सोमके संसर्गसे (सोमः असि) सोमही हो गयी हो, (अश्विभ्यां पच्यस्व) दोनों अश्विनी कुमारोंके लिये परिपक्व होओ, (सरस्वत्यै पच्यस्व) सरस्वतीके निमित्त अपनेको परिपक्व करो तथा (सुत्राम्णे इन्द्राय पच्यस्व) भली प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्रके लिये अपनेको परिपक्व करो ॥ १ ॥

सुराके गुण ये हैं—

स्वाद्वी— मधुर, स्वादिष्ट, मीठे रसवाली ।

तीव्र— तीखी, तीक्ष्ण ।

अमृता— अमरत्व देनेवाली ।

सोमेन संसृजामि— सुराके साथ सोमरसको मिलाता हूं ।

अश्विनीकुमार, सरस्वती, इन्द्र इन देवोंको यह दी जाती है ॥ १ ॥

[१०२८] (यः सोमः उत्तमं हविः) जो सोम श्रेष्ठ हवि करके प्रसिद्ध है, (वा यः नर्यः दधन्) अथवा जो मनुष्योंका हितकारी है और मनुष्योंमें शक्तिका धारण करता है, और (अप्सु अन्तः सोमं अद्रिभिः आसुषाव) जलोंके मध्यमें रहनेवाले इस सोमको पत्थर द्वारा रसरूपमें सिद्ध किया है, उस (सुतं) सोमको (इतः परिषिञ्चत) इस गौ दूधसे सम्यक् रीतिसे मिलान करो ॥ २ ॥

सोमः उत्तमं हविः— यह सोम उत्तम हवनके लिये योग्य पदार्थ है ।

यः सोमः नर्यः दधन् — वह सोम मनुष्योंमें शक्तिका धारण करता है । सोमरस पीनेसे मनुष्यमें शक्ति बढती है ।

अप्सु अन्तः सोमं अद्रिभिः आसुव— जलोंमें इस सोमका रस पत्थरोंसे कूटकर निकालते हैं । सोमवल्लीको पत्थरोंसे कूटते हैं और उसका रस निकालते हैं । और उस रसका हवन करते और उसका पान करते हैं ।

सुतं इतः परिषिचत-- सोमका रस निकालने पर उसमें दूध गौका मिलाया जाता है । और पश्चात् इसको पीते हैं ॥ २ ॥

[१०२९] (प्रत्यङ् अतिद्रुतः सोमः) पश्चिम दिशामें निकाला शीघ्रगामी सोमरस (वायोः पवित्रेण पूतः, इन्द्रस्य युज्यः सखा) वायुकी पवित्रतासे पवित्र हुआ सोमरस इन्द्रका सदा साथ देनेवाला मित्र है, और (प्राङ् अतिद्रुतः सोमः वायोः पवित्रेण पूतः इन्द्रस्य युज्यः सखा) पूर्वकी ओरसे अति शीघ्र निकाला सोमरस वायुकी पवित्रतासे पवित्र हुआ, इन्द्रका सदा साथ देनेवाला मित्र है ॥ ३ ॥

सोमवल्लीका रस वायुसे पवित्र होता है, अर्थात् वायुके प्रवाहमें रखा जाता है । थोडी देर वायुसे वह पवित्र होता है, पश्चात् पीया जाता है ॥ ३ ॥

पुनाति॑ ते परि॒स्रुत॒ꣳ सोम॒ꣳ सूर्य॑स्य दुहि॒ता । वारे॑ण॒ शश्व॑ता॒ तना॑ ॥ ४ ॥
ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं प॑वते॒ तेज॑ इन्द्रि॒यꣳ सुर॑या॒ सोम॑ः सु॒त आसु॑तो॒ मदा॑य ।
शु॒क्रेण॑ देव दे॒वताः॑ पिपृ॒ग्धि र॒सेना॒न्नं यज॑मानाय धेहि ॥ ५ ॥
कु॒विद॒ङ्ग यव॑मन्तो॒ यवं॑ चि॒द्यथा॒ दान्त्य॑नुपू॒र्वं वि॒यूय॑ ।
इ॒हेहै॑षां कृणुहि॒ भोज॑नानि॒ ये ब॒र्हिषो॒ नम॑ उक्तिं॒ यज॑न्ति ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒श्विभ्यां॑ त्वा॒ सर॑स्वत्यै त्वे॑—
न्द्राय॑ त्वा सु॒त्राम्ण॑ ए॒ष ते॒ योनि॒स्तेज॑से त्वा वी॒र्या॑य त्वा॒ बला॑य त्वा ॥ ६ ॥

[१०३०] (सूर्यस्य दुहिता) सूर्यकी पुत्री (ते परिस्रुतं सोमं) तुम्हारे द्वारा निकाले सोमरसको (शश्वता तना वारेण पुनाति) शाश्वत रीतिसे चले आये प्रकारसे अर्थात् रीतिसे पवित्र करती है ॥ ४ ॥

सूर्यकी पुत्री उषा है । यह उषःकालमें सोमरसको पवित्र करती है । सोमका रस निकालनेपर उषःकालतक वह रस पात्रमें रहता है । और एक उषःकाल हो जानेपर वह पवित्र होता है । अर्थात् उस रसके स्थूल भाग नीचे बैठते हैं और पेयरस ऊपर रहता है । वही पीया जाता है ॥ ४ ॥

[१०३१] हे (देव) दिव्यगुणवाले सोम ! (शुक्रेण देवताः पिपृग्धिः) अपने वीर्यवर्धक तेजसे देवताओंको तुम प्रसन्न करो, (रसेन अन्नं यजमानाय धेहि) रससे युक्त अन्नको यजमानके लिये प्रदान करो, (सोमः सुतः ब्रह्म क्षत्रं पवते) वह सोम ओषधिका रस निकालनेसे ब्राह्मणवर्ग और क्षत्रिय वर्गको पवित्र करता है, तथा (तेजः इन्द्रियं) तेजस्विता और इन्द्रिय सामर्थ्यको प्रकट करता है एवं (सुरया आसुतः मदाय) सुरासे मिलाया यह सोमरस तीव्र होनेसे मद करनेवाला होता है ॥ ५ ॥

शुक्रेण देवताः पिपृग्धि— अपने वीर्यसे देवताओंको प्रसन्न करो । पराक्रमसे ही देवता प्रसन्न होते हैं ।

रसेन अन्नं यजमानाय धेहि— अन्नरससे युक्त अन्न यजमानको दे दो । अन्न रससे युक्त रहने पर ही वह खाने योग्य होता है ।

सोमः सुतः ब्रह्म क्षत्रं पवते— सोमका रस निकालने पर जो यज्ञ होता है वह ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको पवित्र करता है ।

तेजः इन्द्रियं— वह तेज बढाता है और इंद्रियोंकी शक्ति बढाता है ॥ ५ ॥

[१०३२] (यथा इह यवमन्तः कुवित् यवं चित् अनुपूर्वं वियूय दान्ति) जिस प्रकार यहां बहुत यव सम्पन्न किसान बहुतसे यवमय सस्यको विचार कर शीघ्र काटते हैं । उस प्रकार (इह एषां भोजनानि कृणुहि) इस स्थानमें इनके भोज्य पदार्थोंको तैयार करके रखो, (ये बर्हिषः नमः उक्तिं यजन्ति) जो आसनोंपर बैठे हुये हविरूप अन्नको लेकर मंत्र बोलकर यज्ञ करते हैं । तुम (उपयामगृहीतः असि) उपयाम पात्रमें गृहीत हो (अश्विभ्यां त्वा) अश्विनीकुमारोंकी प्रीतिके लिये तुमको ग्रहण करता हूं, (एषः ते योनिः) यह तेरा उत्पत्ति स्थान है, (तेजसे त्वा) तेज प्राप्तिके लिये तुमको इस स्थानमें स्थापित करता हूं, तुम (सरस्वत्यै त्वा) सरस्वती देवताकी प्रीतिके लिये तुमको ग्रहण करता हूं । यह तुम्हारा स्थान है (वीर्याय त्वा) पराक्रमके लिये तुमको इस स्थानमें स्थापित करता हूं, तुम (सुत्राम्णे इन्द्राय त्वा) अच्छे रक्षक इन्द्र देवताकी प्रीतिके लिये तुमको ग्रहण करता हूं और (बलाय त्वा) बलकी प्राप्तिके लिये तुमको यहां स्थापित करता हूं ॥ ६ ॥

नाना हि वां देवहितꣳ सदस्कृतं मा सꣳसृक्षाथां परमे व्योमन् ।
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष मा मा हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्ती[१] ॥ ७ ॥
उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः[१] सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्[२] ।
एष ते योनि[३]र्मोदाय त्वा[४]ऽऽनन्दाय त्वा[५] महसे त्वा[६] ॥ ८ ॥
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि[१] वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि[२] बलमसि बलं मयि धेह्यो[३]-
जोऽस्योजो मयि धेहि[४] मन्युरसि मन्युं मयि धेहि[५] सहोऽसि सहो मयि धेहि[६] ॥ ९ ॥

तेजसे त्वा— तेजस्विताके लिये मैं तुझे प्राप्त करता हूं ।
सरस्वत्यै त्वा— विद्याके लिये मैं तुझे प्राप्त करता हूं ।
वीर्याय त्वा— पराक्रम करनेके सामर्थ्यके लिये मैं तेरा स्वीकार करता हूं ।
सुत्राम्णे त्वा— उत्तम संरक्षण करनेकी शक्ति प्राप्त हो इसलिये मैं तेरा स्वीकार करता हूं ।
बलाय त्वा— बलकी प्राप्तिके लिये मैं तेरा स्वीकार करता हूं ।

तेजस्विता, विद्या, पराक्रम करनेकी शक्ति, उत्तम संरक्षण करनेका सामर्थ्य और बल बढानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ ६ ॥

[१०३३] हे सुरा और सोम ! (हि वां देवहितं नाना सदः कृतम्) जिस कारण तुम सुरा और सोम इन दोनोंका देवताओंके हित करनेके लिये पृथक् पृथक् स्थान किया गया है उस कारणसे (परमे व्योमन् मा संसृक्षाथाम्) अत्यन्त उत्कृष्ट आकाशके विस्तृत स्थानमें मत संयुक्त होवो । हे सुरारस ! (त्वं शुष्मिणी सुरा असि) तुम बलवती सुरा हो (एषः सोमः स्वां योनिं प्रविशन्ती) यह सोम है, अपने स्थानमें प्रवेश करती हुई तुम (सोमं मा हिंसी) इस सोमको मत नष्ट करो ॥ ७ ॥

हे सुरा सोम ! वां देवहितं नाना सदः कृतम्— हे सुरा और हे सोम ! देवोंका हित करनेके लिये तुम दोनोंको पृथक् पृथक् स्थानमें रखा है । अर्थात् सुरा और सोमरस ये दो पृथक् पदार्थ हैं । इनके गुणधर्म पृथक् हैं ।
मा संसृक्षाथाम्— सुरा और सोम कदापि एक पदार्थ माने न जांय । ये पृथक् पृथक् पदार्थ हैं ।
त्वं शुष्मिणी सुरा असि— तू बल बढानेवाली सुरा हो । सुरापानसे बल बढता है ऐसा प्रतीत होता है ।
त्वं सोमं मा हिंसीः— सुरा सोमका नाश न करे ।
सोमरसका गुण एक है, और सुराका गुण दूसरा है । दोनों एक नहीं हैं । दोनोंके गुणधर्म विभिन्न हैं । यह जानकर इनका उपयोग करना उचित है ॥ ७ ॥

[१०३४] हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः असि) धर्मयुक्त यमनियमोंसे संयुक्त हो, (ते एषः योनिः) तुम्हारा यह स्थान है, (अश्विनं तेजः) अश्विनी कुमारोंका तेज, (सारस्वतं वीर्यं) सरस्वतीका बल, (ऐन्द्रं बलं) इन्द्रका शौर्य (त्वा मोदाय, त्वा आनन्दाय त्वा महसे) तुमको हर्षके लिये, तुमको आनन्दके लिये और तुमको बडे ऐश्वर्यके लिये प्रदान करता हूं ॥ ८ ॥

[१०३५] हे परमात्मन् ! तुम (तेजः असि, तेजः मयि धेहि) तेज हो, उस तेजको मेरेमें धारण कराओ, तुम (वीर्यं असि वीर्यं मयि धेहि) पराक्रम करनेवाले हो, अपने पराक्रमको मुझमें भी धारण करो, तुम (बलं असि, बलं मयि धेहि) बलवान् हो, अपने उस बलको मुझमें रखिये, तुम (ओजः असि, ओजः मयि धेहि) ओजरूप हो अतः ओजकी वृद्धि मुझमें करो, तुम (मन्युः असि, मन्युं मयि धेहि) मन्युरूप अर्थात् दुष्टोंपर उनके दमनार्थ क्रोध करते हो, अतः उस अपने मन्युको मुझमें भी धारण करो, तुम (सहः असि सहः मयि धेहि) शत्रुके आक्रमणका प्रतिकार करनेवाले हो, उस शक्तिको मेरे अन्दर भी धारण कराओ ॥ ९ ॥

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति । श्येनं पतत्रिणंᳬ सिᳬहंᳬ सेमं पात्वᳬहंसः ॥ १० ॥

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन् । एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया ।
सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त ॥ ११ ॥

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाऽश्विना । वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः ॥ १२ ॥

दीक्षायै रूपᳬ शष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि ।
क्रयस्य रूपᳬ सोमस्य लाजाः सोमाᳬशवो मधु ॥ १३ ॥

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः । रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुराऽऽसुता ॥ १४ ॥

[१०३६] (या विषूचिका व्याघ्रं च वृकं उभौ रक्षति) जो विषूचिका, बाघ और भेडिया इन दोनोंकी रक्षा करती है तथा (श्येनं पतत्रिणं सिंहं) श्येनपक्षी व सिंहकी रक्षा करती है (सा इमं अंहसः पातु) वह इस यजमानकी पापसे रक्षा करे ॥ १० ॥

[१०३७] हे अग्ने ! (यत् प्रमुदितः पुत्रः धयन्) जो अत्यन्त आनंदित पुत्र दूधको पीता हुआ (मातरं आपिपेष) माताको पीडित करता है, उस पुत्रसे मैं (अनृणः भवामि) ऋण रहित होता हूं, जिससे (मया भद्रेण पितरौ अहतौ) कल्याण करनेवाले मेरे माता पिता सुरक्षित हों और मुझसे उनका कल्याण हो। हे अग्ने! तुम (संपृचः स्थ, मां भद्रेण संपृङ्क्त) संयोग करनेमें समर्थ हो, इस कारण मुझको कल्याणसे संयुक्त करो, तुम (विपृचः स्थः, मा पाप्मना विपृङ्क्त) वियोग करनेमें समर्थ हो, मुझको पापोंसे विमुक्त रखो ॥ ११ ॥

प्रमुदितः पुत्रः धयन्, मातरं आपिपेष, अनृणः भवामि — जो आनंदित पुत्र माताका दूध पीता हुआ, माताको कष्ट देता है, उस पुत्रसे मैं उऋण होता हूं । ऐसे पुत्रको मैं दूर करता हूं । जिसका दूध पिया उस माताको जो कष्ट देता है, वह पुत्र पतित है । माताको कष्ट देना योग्य नहीं है ।

मया भद्रेण पितरौ अहतौ— मुझ कल्याणकारी पुत्रसे मातापिताको कदापि पीडा नहीं होगी ।

मां भद्रेण संपृक्त— मेरा कल्याण करो ।

मा पाप्मना विपृंक्त मुझे पापसे दूर रखो ॥ ११ ॥

[१०३८] (देवाः भेषजं यज्ञं अतन्वत) देवताओंने ओषधियोंके हवनसे यज्ञको विस्तारित किया, (भिषजा अश्विना, सरस्वती) वैद्य अश्विनीकुमारोंने और सरस्वतीने (वाचा इन्द्राय इन्द्रियाणि दधतः) वेदकी वाणीसे इन्द्रके लिये इन्द्रियोंके सामर्थ्योंको धारण किया ॥ १२ ॥

देवाः भेषजं यज्ञं अतन्वत— देवोंने औषधियोंके हवनसे यज्ञ किये । यज्ञमें औषधियोंका हवन किया और नगरोंके रोगोंको दूर किया । अतः कहा है कि– " भेषज्य यज्ञा एते " ये औषधियोंके हवनसे यज्ञ होते हैं । जिस ऋतुमें जो रोग होते हैं, उन रोगोंको दूर करनेवाली औषधियां उन ऋतुओंमें हवन करनेसे वे रोग उस नगरमें नहीं रहते और वह नगर नीरोग होता है ॥ १२ ॥

[१०३९] (शष्पाणि दीक्षायै) नये उत्पन्न व्रीहि यज्ञकी दीक्षाके लिये आवश्यक हैं, (तोक्मानि प्रायणीयस्य रूपम्) नवीन यव प्रायणीय यज्ञका रूप हैं और (मधु सोमां शवः) शहद सोमके अंश हैं ॥ १३ ॥

नया उत्पन्न हुआ यवादि धान्य यज्ञके लिये उपयोगी है । शहद भी सोमका अंश समझा जाता है ॥ १३ ॥

[१०४०] (मासरं आतिथ्य रूपम्) मासर, अर्थात् धान्यका चूर्ण, आतिथ्यके लिये देने योग्य है, (नग्नहुः महावीरस्य) मूल धान्य महावीरको देनेके लिये उपयोगी है, और (तिस्रः रात्रीः सुरा सुता) तीन रात्री पर्यन्त सुरारस निकाला जाता है ॥ १४ ॥

सोम॑स्य रू॒पं क्री॒तस्य॑ परि॒स्रुत्परि॑ षिच्यते । अ॒श्विभ्यां॑ दु॒ग्धं भे॑ष॒जमिन्द्रा॑यै॒न्द्रꣳ॑ सर॑स्वत्या॑ ॥१५॥

आ॒स॒न्दी रू॒पꣳ॑ रा॑जास॒न्द्यै वेद्यै॑ कु॒म्भी सु॑रा॒धानी॑ ।
अन्त॑र उत्तरवे॒द्या रू॒पं का॑रोत॒रो भि॒षक् ॥ १६ ॥

वे॒द्या वेदि॑ः समा॑प्यते ब॒र्हिषा॑ ब॒र्हिरि॑न्द्रि॒यम् । यू॒पे॑न॒ यूप॑ आप्यते॒ प्रणी॑तो अ॒ग्निर॒ग्निना॑ ॥ १७ ॥

ह॒वि॒र्धान॒ं यद॒श्विनाऽऽग्नी॑ध्रं॒ यत्सर॑स्वती । इन्द्रा॑यै॒न्द्रꣳ॑ सद॑स्कृतं पत्नी॒शाल॒ं गार्ह॑पत्यः ॥ १८ ॥

प्रै॒षेभि॑ः प्रै॒षाना॑प्नोत्या॒प्रीभि॑रा॒प्रीर्य॒ज्ञस्य॑ । प्र॒या॒जेभि॑रनु॒या॒जान् व॑षट्का॒रेभि॒राहु॑तीः ॥ १९ ॥

मासरं— धान्य जो अतिथीके लिये दिया जाता है। उत्तम धान्य, परिपक्व धान्य, रुचीकर धान्य।

नग्नहुः— शुद्ध धान्य, न बिगडा धान्य।

महावीरः— श्रेष्ठ वीर पुरुष।

सुरा— रस, औषधिरस ॥ १४ ॥

[१०४१] (ऐन्द्रं इन्द्राय) ऐश्वर्यका प्रभुपद इन्द्रके लिये है (अश्विभ्यां सरस्वत्या दुग्धम्) अश्विनी-कुमारों द्वारा और सरस्वतीसे दुहे दूध और (परिस्रुत् भेषजं परिषिच्यते) उत्तम वनस्पतियोंसे निचोडे रस एकत्र मिलानेसे ओषधि सिद्ध की जाती है, वही (क्रीतस्य सोमस्य रूपं) प्राप्त किया हुआ सोमरसका रूप है ॥ १५ ॥

दूध और औषधियोंका रस मिलानेसे वह उत्तम पेय बनता है।

क्रीतस्य सोमस्य रूपं— यह रस खरीदकर प्राप्त किये सोमरसका स्वरूप है। अर्थात् दूधमें औषधिरस मिलाकर पीना योग्य है ॥ १५ ॥

[१०४२] (आसन्दी राजासन्द्यै रूपम्) सोमकी आसन्दि मुख्य पात्रका रूप है, (सुराधानी कुम्भी वेद्यै) सुरा रखनेका पात्र अर्थात् कुम्भी पात्र वेदीका रूप है, और (अन्तरः उत्तरवेद्याः रूपम्) अन्तर लोक अर्थात् मध्य स्थान उत्तरवेदीका रूप है तथा (करोतर–भिषक्) करोतर 'छननी' के समान है, अर्थात् सार और असार पदार्थोंका विवेक करनेवाला विवेकी पुरुष रोग और पीडाको दूर करनेमें समर्थ भिषक् रूप है ॥ १६ ॥

[१०४३] (वेद्या वेदिः समाप्यते) यज्ञकी वेदीसे भूमि ली जाति है, (बर्हिषा बर्हिः इन्द्रियम्) यज्ञवेदीमें कुशोंसे महान इन्द्रका सामर्थ्य ज्ञात होता है, (यूपेन यूपः आप्यते) 'यूप' नामक स्तम्भसे आश्रयस्थानका ग्रहण किया जाता है, तथा (अग्निना प्रणीतः अग्निः) यज्ञमें प्रदीप्त अग्निसे अग्रणी अग्निके समान तेजस्वीका ग्रहण किया जाता है ॥ १७ ॥

यज्ञमें जो साधन लिये जाते हैं, उनसे व्यवहार कर्ताओंका ज्ञान इस रीतिसे होता है।

(१) वेदी– भूमी। (२) बर्हिः– इन्द्रिय, आत्मशक्ति (३) अग्नि– उष्णता। (४) यूप– आधारस्तंभ ॥ १७ ॥

[१०४४] यज्ञमें (यत् अश्विना हविर्धानम्) जो दोनों अश्विनी कुमार हैं उनके लिये हविर्धान रखा होता है, (यत् सरस्वती आग्नीध्रम्) जो सरस्वती है वह आग्नीध्र है, (इन्द्राय ऐन्द्रं सदः पत्नीशालं गार्हपत्यः) इन्द्रका इन्द्रके योग्य सभास्थान, पत्नीशाला अर्थात् गार्हपत्य है ॥ १८ ॥

[१०४५] (प्रैषेभिः प्रैषान् आप्नोति) प्रैषनाम यज्ञकर्मोंसे मनुष्य प्रैषोंको प्राप्त करता है, वह (आप्रीभिः यज्ञस्य आप्रीः) आप्रीयोंसे आप्रीको प्राप्त करता है, तथा (प्रयाजेभिः) प्रयाजोंसे प्रयाजोंको (अनुयाजान्) अनुयाजोंसे अनुयाजोंको, (वषट्कारेभिः) वषट्कारोंसे वषट्कारोंको व (आहुतीः) आहुतियोंसे आहुतियोंको पाता है॥१९॥

यज्ञमें किये जानेवाले अनेक कर्मोंके ये नाम हैं। १ प्रैषः, २ आप्री, ३ प्रयाज, ४ अनुयाज, ५ वषट्कार ६ आहुती ये यज्ञकर्मके विभाग हैं ॥ १९ ॥

प॒शुभि॑ः प॒शूना॑प्नोति पुरो॒डाशै॑र्ह॒वीᳫँष्या । छन्दो॑भिः सामिधे॒नीर्या॒ज्याभिर्वषट्का॒रान् ॥ २० ॥

धा॒नाः क॑र॒म्भः सक्त॑वः परीवा॒पः पयो॒ दधि॑ । सोम॑स्य रू॒पᳫँ ह॒विष॑ आमि॒क्षा वा॒जिनं॒ मधु॑ ॥२१॥

धा॒नाना॑ᳫँ रू॒पं कुव॑लं परीवा॒पस्य॑ गो॒धूमा॑ः । सक्तू॑नाᳫँ रू॒पं बद॑र॒मुप॒वाका॑ः कर॒म्भस्य॑ ॥ २२ ॥

पय॑सो रू॒पं यद्यवा॑ द॒ध्नो रू॒पं क॒र्कन्धू॑नि । सोम॑स्य रू॒पं वा॒जिनᳫँ॑ सौ॒म्यस्य॑ रू॒पमा॒मिक्षा॑ ॥२३॥

आ श्रा॑व॒येति॑ स्तो॒त्रिया॑ः प्रत्याश्रा॒वो अनु॑रूपः । यजेति॑ धाय्यारू॒पं प्र॑गा॒था ये॑यजाम॒हाः ॥ २४ ॥

अ॒र्ध॒ऋ॒चैरु॒क्थाना॑ᳫँ रू॒पं प॒दैरा॑प्नोति नि॒विद॑ः । प्र॒ण॒वैः श॒स्त्राणा॑ᳫँ रू॒पं पय॑सा सोम॑ आप्यते ॥२५॥

अ॒श्विभ्या॑ प्रातःसव॒नमिन्द्रे॑णै॒न्द्रं माध्य॑न्दिनम् । वै॒श्व॒दे॒वᳫँ सर॑स्वत्या तृ॒तीय॑मा॒प्तᳫँ सव॑नम् ॥२६॥

[१०४६] मनुष्य (पशुभिः पशून् आप्नोति) पशुओंके पालनसे गवादि पशुओंको प्राप्त होता है, (पुरोडाशैः हवींषि) पुरोडाशोंसे हवियोंको प्राप्त होता है तथा (छन्दोभिः सामधेनीः, याज्याभिः वषट्कारान्) छन्दोंसे छन्दोंको, सामधेनियों द्वारा सामधेनियोंको और वषट्कारोंसे वषट्कारोंको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

[१०४७] (धानाः, करम्भः, सक्तवः, परीवापः, पयः, दधिः, सोमस्य रूपम्) भुनेधान्य, भातकी लप्सी, सत्तू, हविषपंक्ति, दूध, दही सोमका रूप है । (आमिक्षा, मधु, वाजिनं हविषः) गरम दूधमें खट्टा डालनेसे फटे दूधके स्थूल भाग आमिक्षा, शहद और अन्न हविका रूप है ॥ २१ ॥

[१०४८] यज्ञमें (कुवलं धानानां रूपम्) मूलधान्य भूने धानाका रूप है, (गोधूमाः परीवापस्य) गेहूं हविष्पंक्तिका रूप है, (बदरं सक्तूनां रूपम्) सम्पूर्ण बेरफल सत्तुओंका रूप है, और (उपवाकाः करम्भस्य) यव करम्भका रूप है ॥ २२ ॥

[१०४९] (यत् यवाः) जो यव है वह (पयसः रूपम्) दूधका रूप है, (कर्कन्धूनि दध्नः रूपम्) स्थूल बदरीफल दहीका रूप है, (वाजिनं सोमस्य रूपम्) अन्न सोमका रूप है, (आमिक्षा सौम्यस्य रूपम्) मिश्रित दुग्ध सोम चरुका रूप है ॥ २३ ॥

[१०५०] (आश्रावय इति स्तोत्रियाः) ' विद्याओंको सुनाओ ' यह शब्द विद्यार्थीगण कहते हैं, (प्रत्याश्रावः अनुरूपः) ' सुनाया जाता है ' यह उत्तर जैसा है वैसे (यज इति) यज्ञ कर यह, (धाय्या रूपम्) मुख्य अध्ययन बोलनेका रूप है तथा (येयजामहाः प्रगाथाः) जो ' जो यज्ञ करता हूं ', ऐसा पाठ है वह ऋचाओंका पाठ है ॥ २४ ॥

[१०५१] (अर्धऋचैः उक्थानां रूपं आप्यते) अर्धऋचाओंसे उक्थनाम मंत्रोंका रूप होता है, (पदैः निविदः आप्नोति) पदोंसे निविद प्राप्त होती है, (प्रणवैः शस्त्राणां रूपम्) ओंकारोंसे शस्त्रोंके रूपको और (पयसा सोमः) दुग्धसे सोम प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

यज्ञके अंगभूत पदार्थोंसे किस यज्ञांगकी सिद्धि होती है यह यहां बताया है ॥ २५ ॥

[१०५२] (अश्विभ्याम् प्रातः सवनम्) अश्विनी कुमारोंके मंत्रोंसे प्रातः सवन होता है, (इन्द्रेण ऐन्द्रं माध्यन्दिनम्) इन्द्रके मंत्रों द्वारा इन्द्र देवता सम्बन्धी माध्यन्दिन सवन होता है और (सरस्वत्या वैश्वदेवं तृतीयं आप्तम्) सरस्वती द्वारा विश्वदेव सम्बन्धी तीसरा सवन प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

अश्विनौ देवोंकी स्तुति प्रातःसवनमें, इन्द्रकी स्तुति माध्यदिनके सवनमें और सरस्वती देवताकी स्तुती तृतीय सवनमें होती है ॥ २६ ॥

वा॒य॒व्यै॑र्वाय॒व्या॒न्याप्नोति॒ सते॑न द्रोणकल॒शम्। कु॒म्भीभ्या॑मम्भृ॒णौ सु॒ते स्था॒लीभिः॒ स्था॒लीराप्नोति ।२७।

यजु॑र्भिराप्यन्ते॒ ग्रहा॒ ग्रहैः॒ स्तोमा॑श्च॒ विष्टु॑तीः । छन्दो॑भिरुक्थाश॒स्त्राणि॒ साम्ना॑वभृ॒थ आ॑प्यते ॥२८॥

इडा॑भिर्भ॒क्षाना॑प्नोति सू॒क्तवा॒केना॒शिषः॑ । शं॒युना॒ पत्नीसं॑या॒जान्त्स॑मिष्टय॒जुषा॑ स॒ꣳस्था॒म् ॥ २९ ॥

व्र॒तेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑ऽऽप्नोति॒ दक्षि॑णाम् । दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते ।३०।

ए॒ताव॑द्रू॒पं य॒ज्ञस्य॒ यद्दे॒वैर्ब्रह्म॑णा कृ॒तम् । तदे॒तत्सर्व॑माप्नोति य॒ज्ञे सौ॑त्राम॒णी सु॒ते ॥ ३१ ॥

[१०५३] यज्ञकर्ता यजमान (वायव्यैः वायव्यानि आप्नोति) वायव्य सोम पात्रोंके द्वारा वायव्य पात्रोंको प्राप्त होता है, (सतेन द्रोणकलशं) वेतसपात्र द्वारा द्रोण कलशको प्राप्त होता है, (कुम्भीभ्यां सुते अम्भृणौ) दो कुम्भियोंसे सोम सवन होने पर पूतभृत और आधवनीयको प्राप्त होता है, और (स्थालीभिः स्थालीः आप्नोति) स्थालियों द्वारा स्थालियोंको प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

[१०५४] (यजुर्भिः ग्रहाः आप्यन्ते) यजुर्मन्त्रोंके द्वारा सब ग्रह प्राप्त होते हैं, (ग्रहैः स्तोमाः) ग्रहों द्वारा सब स्तोम होते हैं, (च विष्टुतीः) और स्तोमोंसे अनेक प्रकारकी स्तुतियां होती हैं, (छन्दोभिः उक्थाः शस्त्राणि) छन्दों द्वारा उक्थ और सारे शस्त्र सम्पन्न होते हैं, तथा (साम्ना अवभृथः आप्यते) सामसे अवभृथस्नान प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

[१०५५] (इडाभिः भक्षान् आप्नोति) अन्नोंद्वारा भक्ष्य पदार्थोंको प्राप्त होता है, (सूक्तवाकेन) उत्तम भाषणद्वारा, (आशिषः) आशिषको प्राप्त होता है; (शंयुना) संयमनसे, (पत्नीसंयाजान्) पत्नी संबंधोंको प्राप्त होता है (समष्टि यजुषा) समष्टि योजनासे (संस्थाम्) समाज संघटनाको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

इडाभिः भक्षान् प्राप्नोति— अन्नोंसे भक्ष्य पदार्थ प्राप्त होते हैं ।

सूक्तवाकेन आशिषः प्राप्नोति— उत्तम भाषणसे आशीर्वाद प्राप्त करता है ।

शंयुना पत्नीसंबंधान् प्राप्नोति— संयमसे पत्नीके साथ उत्तम संबंध रहते हैं ।

समष्टियजुषा संस्थां प्राप्नोति— समष्टिकी आयोजनासे सभा या संस्था उत्तम कार्य करनेमें समर्थ होती है ॥ २९ ॥

[१०५६] मनुष्य (व्रतेन दीक्षाम् आप्नोति) व्रतसे दीक्षाको प्राप्त करता है, (दीक्षया दक्षिणां आप्नोति) दीक्षासे दक्षिणा अर्थात् प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है, (दक्षिणा श्रद्धाम्) दक्षतासे श्रद्धाको प्राप्त होता है और (श्रद्धया सत्यं आप्यते) श्रद्धासे सत्यको प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

व्रतेन दीक्षां आप्नोति— व्रतपालनसे दक्षताको प्राप्त करता है ।

दीक्षया दक्षिणां आप्नोति — दीक्षासे दक्षिणाको प्राप्त करता है ।

दक्षिणा श्रद्धां आप्नोति— दक्षतासे श्रद्धाको प्राप्त करता है ।

श्रद्धया सत्यं आप्यते— श्रद्धासे सत्य प्राप्त होता है ।

१ व्रत, २ दीक्षा, ३ दक्षिणा और ४ श्रद्धा इनका परस्पर संबंध इस तरह है। अतः मनुष्य इन गुणोंके साथ अपना संबंध सुदृढ रखे, और श्रेष्ठ बने ॥ ३० ॥

[१०५७] (देवैः ब्रह्मणा यज्ञस्य एतावद् रूपं यत् कृतम्) देवताओं और ब्रह्माद्वारा यज्ञका उत्तम स्वरूप वर्णन किया है, (तत् सौत्रामणी यज्ञे सुते) वह सब सौत्रामणी नाम यज्ञमें सोमरस निकालनेपर (तत् एतत् सर्वं आप्नोति) वह सब यज्ञका स्वरूप पूर्णतया प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञं हिन्वन्ति महिषा नमोभिः ।
दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः ॥ ३२ ॥

यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य ।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम् ॥ ३३ ॥

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय ।
इमं तं शुक्रं मधुमन्तमिन्दुं सोमं राजानमिह भक्षयामि ॥ ३४ ॥

यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिः ।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमं राजानमिह भक्षयामि ॥ ३५ ॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः
प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरो ऽमीमदन्त पितरो
ऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ ३६ ॥

[१०५८] (नमोभिः दिवि देवतासु सोमं दधानाः) अन्नोंके साथ स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंके लिये सोमको धारण करनेवाले (महिषः) महान ऋत्विज (बर्हिषदं सुरावन्तं सुवीरं यज्ञं हिन्वन्ति) कुशासन पर स्थित देवताओंसे युक्त, उत्तम सोमरस तैयार करनेवाले उत्तम ऋत्विज यज्ञको बढाते हैं, हम भी इस यज्ञमें (स्वर्काः इन्द्रं यजमानः मदेम) उत्तम अन्नवाले इन्द्रको यज्ञ करते हुए हर्षको प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

[१०५९] हे सोमरस ! (ओषधीषु यः ते रसः सम्भृतः) औषधियोंमेंसे जो तुम्हारा रस एकत्र हुआ है वह (सुरया सुतस्य सोमस्य शुष्मः) उत्तम रस है, उसमें सोमका जो बल है (तेन मदेन) उस आनन्द दायक रस से (यजमानं सरस्वतीं अश्विनौ अग्निं जिन्व) यजमानको, सरस्वतीको, दोनों अश्विनी कुमारोंको और अग्निको तृप्त करो ॥ ३३ ॥

[१०६०] (अश्विना आसुरात् नमुचेः अधि यम्) दोनों अश्विनीकुमारोंने आसुरके पुत्र नमुचिके पाससे जिस सोमको प्राप्त किया और (सरस्वती इन्द्रियाय असुनोत्) सरस्वतीने जिसको इन्द्रके बल बढानेके लिये तैयार किया (तं शुक्रं मधुमन्तं इन्दुं राजानं इमं सोमं इह भक्षयामि) उस शुद्ध मधुरता युक्त तेजस्वी इस सोमको इस यज्ञमें मैं भक्षण करता हूं ॥ ३४ ॥

अश्विनौ आसुरात् नमुचेः अधि यं— अश्विनौ देवोंने नमुची असुरसे सोमको प्राप्त किया ।
सरस्वती इन्द्राय असुनोत्— सरस्वतीने इन्द्रके लिये प्रथम सोमका रस निकाला ।
तं शुक्रं मधुमन्तं इन्दुं राजानं इमं सोमं इह भक्षयामि— उस बलवान् मधुर प्रकाशमान सोमका मैं यहां इस यज्ञमें भक्षण करता हूं ॥ ३४ ॥

[१०६१] (रसिनः सुतस्य यत् अत्र रिप्तम्) रसवान् सिद्ध किये सोमका जो भाग यहां प्राप्त है और (यत् शचीभिः इन्द्रः अपिबत्) जिसको अपने पराक्रमोंसे इन्द्रने पान किया है (तत् राजनं सोमं शिवेन मनसा इह अहं भक्षयामि) उस प्रकाशमान सोमको शुद्ध मनसे इस यज्ञमें मैं भक्षण करता हूं ॥ ३५ ॥

[१०६२] (स्वधायिभ्यः पितृभ्यः स्वधा नमः) अन्नके पास रखनेवाले पितरोंके स्वधा संज्ञक अन्न प्राप्त हो, (स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः) अपनी धारणा शक्तिवाले पिताके पिताओंके लिये स्वधा संज्ञक अन्न प्राप्त हो तथा (स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः) अपनी धारणा शक्तिसे युक्त पितामहके पिताओंके स्वधा संज्ञक अन्न प्राप्त हो । हे (पितरः) पितरो ! तुम सब (अक्षन् अमीमदन्त) अन्नभक्षण करके सन्तुष्ट होओ, हे (पितरः) पिताओ ! तुम सब तृप्त होकर हमको (अतीतृपन्त) तृप्त करो, हे (पितरः) पिताओ ! तुम लोग शुद्ध होकर हमको (शुन्धध्वम्) शुद्ध करो ॥ ३६ ॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा ।
पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ ३७ ॥
अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ ३८ ॥
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ ३९ ॥
पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत् । अग्ने क्रत्वा क्रतूँ१रनु ॥ ४० ॥
यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा । ब्रह्म तेन पुनातु मा ॥ ४१॥
पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः । यः पोता स पुनातु मा ॥ ४२ ॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः ॥ ४३ ॥

[१०६३] (सोम्यासः पितरः पवित्रेण शतायुषा मा पुनन्तु) शान्त पितर लोग पवित्र सौ वर्षकी आयुसे मुझको पवित्र करें । (पितामहाः मा पुनन्तु) पिताओंके पिता अपने उस अतिशुद्ध सौ वर्षकी आयुसे मुझको पवित्र करें । (पितामहाः मा पुनन्तु) पितामहोंके पितालोग अत्यन्त शुद्ध अपने सौ वर्षकी आयुसे मुझको पवित्र करें (पितामहाः पवित्रेण शतायुषा पुनन्तु) विद्यादि ऐश्वर्ययुक्त शान्तस्वभाव पिताओंके पिता अतीव शुद्धानन्दयुक्त शत वर्षपर्यंत आयुसे मुझको पवित्राचरण युक्त करें । श्रेष्ठ ऐश्वर्यके दाता शान्तियुक्त (प्रपितामहाः पुनन्तु) पितामहोंके पिता पवित्र धर्माचरण युक्त सौ वर्ष पर्यन्त आयुसे मुझको पवित्र करें जिससे में (विश्वं आयुः व्यश्नवै) सम्पूर्ण आयुको प्राप्त होऊं ॥ ३७ ॥

[१०६४] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम स्वयंही (आयूंषि पवसे, नः इषं ऊर्जं आसुव) आयुको बढानेवाले कर्मोंको करते हो, इस कारण हमको व्रीहि आदि धान्य, दधि आदि रस प्रदान करो, और (आरे दुच्छुनां बाधस्व) दूर स्थित दुष्ट कुत्तोंके समान दुर्जनोंको बाधा कर दो अर्थात् हमारी आयुकी रक्षा करो, और हमें दुष्टोंके आक्रमणसे बचाओ ॥ ३८ ॥

[१०६५] (देवजनाः मा पुनन्तु) विद्वान् जन मुझको पवित्र करें, (मनसा धियः पुनन्तु) मनके साथ बुद्धियां मुझे पवित्र करें, (विश्वाभूतानि पुनन्तु) सम्पूर्ण प्राणी मुझको पवित्र करें, हे (जातवेदः) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले जातवेदस् परमेश्वर ! तुम भी (मा पुनीहि) मुझको पवित्र करो ॥ ३९ ॥

[१०६६] हे (देव अग्ने) दिव्यगुण वाले अग्ने ! (दीद्यत् शुक्रेण पवित्रेण मा पुनीहि) दीप्तमान तुम अपने शुद्ध पवित्र ज्योति द्वारा मुझको पवित्र करो, और हमारे (क्रतून् अनु क्रत्वा) यज्ञको पवित्र करो ॥ ४० ॥

[१०६७] हे (अग्ने) अग्ने ! (ते अर्चिषि अन्तरा पवित्रं ब्रह्म विततम्) तुम्हारी ज्वालाओंके मध्यमें पवित्र वेदज्ञान विस्तृत हुआ है (तेन मा पुनातु) उससे मुझको पवित्र करो ॥ ४१ ॥

[१०६८] (यः विचर्षणिः पवमानः) जो विशेष ज्ञानी सर्वज्ञ स्वयंपवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला है (नः पोता) वह हमको पवित्र करता है (सः अद्य पवित्रेण मा पुनातु) वह देवता आज अपने पवित्रतासे मुझको पवित्र करे ॥ ४२ ॥

[१०६९] हे (देव) देव ! (सवितः उभाभ्यां पवित्रेण च सवेन) सबके प्रेरणा करनेवाले तुम अपने दोनों प्रकारके पवित्र स्वरूपसे और यज्ञ द्वारा (विश्वतः मां पुनीहि) सब औरसे मुझको पवित्र करो ॥ ४३ ॥

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ४४ ॥

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषाँल्लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ ४५ ॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषाꣳ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳ समाः ॥ ४६ ॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ४७ ॥

इदꣳ हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीरꣳ सर्वगणꣳ स्वस्तये ।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि ।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त ॥ ४८ ॥

[१०७०] हे श्रेष्ठ पुरुषो ! (वैश्वदेवी पुनती देवी आ अगात्) सब विदुषी स्त्रियोंमें उत्तम पवित्रता करती हुई, सकल विद्याओंको पढानेवाली ब्रह्मचारिणी कन्यायें हमको प्राप्त होवें, (यस्यां इमाः बह्वाः तन्वः वीतपृष्ठाः) जिसके होनेमें ये बहुतसी विद्याओं और विविध प्रश्नोंको जाननेवाली हों, (तया, वयं सधमादेषु मदन्तः रयीणां पतयः स्याम्) उससे अच्छी शिक्षाको प्राप्त भार्याओंको प्राप्त होकर हमलोग समान स्थानोंमें आनन्द युक्त हुये ऐश्वर्योंके स्वामी होवें ॥ ४४ ॥

[१०७१] (यमराज्ये ये समानाः समनसः पितरः) नियमनकर्ताके राज्यमें जो समान मनवाले और समान चित्तवाले प्रजाके रक्षक अधिकारीजन हैं (तेषां लोकः स्वधा नमः यज्ञः देवेषु कल्पताम्) उनका निवास स्थान, अन्न, सत्कार और यज्ञ देवताओंके तृप्त करनेमें समर्थ होवे ॥ ४५ ॥

[१०७२] (जीवेषु ये मामकाः जीवाः) जीवित मनुष्यों में जो मेरे जीवित पिता आदि हैं तथा (समानाः समनसः) समान गुण कर्म स्वभाव व समान धर्ममें मन रखनेवाले मेरे प्रेमी जन हैं (तेषां श्रीः अस्मिन् लोके शतं समाः मयि कल्पताम्) उनके समान लक्ष्मी वा सम्पति इस लोकमें सौ वर्ष तक अर्थात् पूर्ण आयु पर्यन्त मेरेमें रहे ॥ ४६ ॥

[१०७३] (अहं मर्त्यानां द्वे सृती अशृणवम्) मैंने मरणधर्मा मनुष्योंके दो मार्ग श्रवण किये हैं, एक (पितॄणाम्) पितरोंका पितृयाणमार्ग, (उत देवानाम्) और दूसरा देवताओंका देवयान मार्ग है, (यत् पितरं मातरं अन्तरा इदं विश्वं एजत्) जो पिता और माताके बीच दोनोंके संसर्गसे उत्पन्न यह समस्त चर जीवित संसार है वह (ताभ्यां सं एति) उन दो मार्गोंसेही, सुखपूर्वक मिलकर चलता है ॥ ४७ ॥

[१०७४] (इदं मे हविः) यह मेरा हविर्द्रव्य (प्रजननं, दशवीरं, सर्वगणं, आत्मसनि, प्रजासनि, पशुसनि, लोकसनि अभयसनि स्वस्तये अस्तु) उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला, दश प्राणोंकी शक्तिको बढानेवाला, सम्पूर्ण अङ्गोंको पुष्ट करनेवाला, आत्माको प्रसन्न करनेवाला, प्रजाकी वृद्धि करनेवाला, गो आदि पशुओंकी संख्यामें अधिक करनेवाला, लोकको आश्रय दिलानेवाला, अभय प्रदान करनेवाला और कल्याण करनेवाला हो । (अग्निः मे बहुलां प्रजां करोतु) अग्नि मेरे प्रजाकी वृद्धि करे, और (अस्मासु अन्नं पयः रेतः धत्त) हममें अन्न, दुग्ध और वीर्यको धारण करावे ॥ ४८ ॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४९ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५० ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

त्वꣳ सोम प्र चिकितो मनीषा त्वꣳ रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥ ५२ ॥

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
वन्वन्नवातः परिधीꣳरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥ ५३ ॥

[१०७५] (ये अवृकाः ऋतज्ञाः पितरः हवेषु असुं उदीयुः) जो शत्रु रहित सत्यके जाननेवाले पिता आदि बडे लोग सब व्यवहारोंमें प्राणका उत्तमतासे संरक्षण करते हैं, (ते नः उत् अवन्तु) वे हमारी उत्तम रक्षा करें, और जो (सोम्यासः अपरे परासः मध्यमाः पितरः उदीरताम्) शान्त्यादि गुण सम्पन्न प्रथम अवस्था युक्त, उत्कृष्ट अवस्थावाले तथा बीचके अवस्थावाले विद्वान् पितादि लोग हैं वे सब हमको अच्छे प्रकार प्रेरणा करें ॥ ४९ ॥

[१०७६] (नः पितरः) हमारे जो पिता आदि पूजनीय जन (अङ्गिरसः नवग्वा अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः) अग्निके समान तेजस्वी, नवीन प्रगति करनेवाले, शत्रुसे कभी भी परास्त न होनेवाले, दुष्टोंको भूननेवाले और सोमयाग करनेवाले लोक हैं (तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रे सौमनसे वयं स्याम्) उन यज्ञ करनेवाले पुरुषोंको शुभ मति और कल्याणकारी विचारधारामें हम सदा रहनेवाले हों ॥ ५० ॥

[१०७७] (ये नः सोम्यासः वसिष्ठाः पूर्वे पितरः सोमपीथं अनुहिरे) जो हमारे शान्त्यादि गुणोंसे युक्त, निवास करनेवाले पिता आदि सोमपानके अनुकूल आचरण करते हैं, (तेभिः उशद्भिः हवींषि उशन् संरराणः यमः) उन हमारे हितकी इच्छा करनेवाला और हवनीय पदार्थोंकी इच्छा करनेवाला, नियमन करनेवाला (प्रतिकामं अत्तु) अपनी कामनाके अनुकूल उपभोग करे ॥ ५१ ॥

[१०७८] हे (सोम) सोम ! (त्वं प्रचिकितः) तुम कान्तियुक्त हो, (त्वं मनीषा रजिष्ठं पन्थां अनुनेषि) तुम अपनी बुद्धि द्वारा सीधे देवयान मार्गको प्राप्त कराते हो । हे (इन्दो) सोम ! (नः धीराः पितरः) हमारे धैर्यवान पितादि ज्ञानी लोग (तव प्रणीती देवेषु रत्नं अभजन्त) तुम्हारे आश्रयसे देवताओंमें उत्तम धनको प्राप्त किये हैं ॥ ५२ ॥

[१०७९] हे (सोम) सोम ! हे (पवमान) पवित्र करनेवाले ! (त्वया हि नः पूर्वे धीराः पितरः कर्माणि चक्रुः) तेरे सहायसेही हमारे धैर्यवान पितर सब कर्मोंको करनेमें सफल हुये, और तुम स्वयं (अवातः वन्वन् परिधीन् अप ऊर्णु) किसीसे पीडित न होकर, सेनाओंको उचित स्थानपर संविभक्त करते हुये, चारों ओर स्थित शत्रुओंको दूर हटाओ, तथा (वीरेभिः अश्वेभिः नः मघवा भव) वीर अश्वारोहियों द्वारा हमारे लिये इन्द्र जैसा परम ऐश्वर्यवान् होओ ॥ ५३ ॥

त्वꣳ सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५४ ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ५५ ॥

आऽहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ५६ ॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५७ ॥

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५८ ॥

[१०८०] हे (सोम) सोम ! (पितृभिः संविदानः त्वम्) पालकोंके साथ मिलन करता हुआ तू (अनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ) द्यावापृथिवीके अर्थात् सूर्य और पृथ्वीके मध्यमें सुखका विस्तार करो । हे (इन्दो) सोम ! (तस्मै ते वयं हविषा विधेम) उस तेरे लिये हम हवन करके यज्ञ करें और हम (रयीणां पतयः स्याम) ऐश्वर्योंके स्वामी होवें ॥ ५४ ॥

[१०८१] हे (बर्हिषदः पितरः) उत्तम सभामें उत्तम आसनों और श्रेष्ठपदों पर स्थित पालक जनो ! (वः इमा हव्या चकृम) तुम्हारे लिये इन अन्नादि भोग्य पदार्थोंको हम उत्पन्न करते हैं, तुम लोग अपनी सुरक्षाके लिये उनको प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करो, (ते शंतमेन अवसा आगत) तुम लोग अत्यन्त शान्तिदायक सुखकारी रक्षण सामर्थ्यके साथ आगमन करो और (नः शं, योः अरपः दधान) हमको सुख प्रदान कर व हमारे अन्दर जो रोग और भय है उसको दूर करके हमें पाप और दुःखसे रहित सुख प्रदान करो ॥ ५५ ॥

[१०८२] (अहं सुविदत्रान् पितॄन् अवित्सि) मैं उत्तम सुखादिके देनेवाले पिता आदि पालक पुरुषोंका ज्ञान प्राप्त करूं, (च विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और व्यापक परमेश्वरके नाशरहित विविध सृष्टिक्रमको भी जानू, तथा (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पित्वः भजन्त) जो महान् योग्य आसनोंमें स्थित ब्रह्मनिष्ठ पुरुष आत्म धारणशक्तिसे स्वयं निष्पादित पानयोग्य ब्रह्मरस सोमका सेवन करते हैं (ते इह आ आगमिष्ठाः) वे इस स्थानमें आगमन करें ॥५६॥

[१०८३] जो (सोम्यासः पितरः) सोमयाग करनेवाले पितर अर्थात् रक्षक लोग (बर्हिष्येषु प्रियेषु उपहूताः) अति उत्तम प्रिय यज्ञमें बुलाये हुये हैं (ते इह आ गमन्तु) वे इस यज्ञके स्थानमें आगमन करें, (ते श्रुवन्तु) वे हमारे वचनोंको श्रवण करें, वे (अस्मान् अधि ब्रुवन्तु) हमको अधिक उपदेशसे बोध करें और (ते अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें ॥ ५७ ॥

[१०८४] जो (सोम्यासः अग्निष्वात्ता नः पितरः) सोमके समान शान्त शमदमादि गुणयुक्त, अग्न्यादिसे होनेवाले यज्ञकी विद्यामें निपुण हमारे पालक जन हैं (ते देवयानैः पथिभिः आयन्तु) वे विद्वानोंसे चलनेयोग्य दिव्य मार्गोंसे आवें, वेही (अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तः अस्मान् अधि ब्रुवन्तु) इस यज्ञमें अन्नादि द्वारा सन्तुष्ट होकर हमको दिव्य ज्ञानका उपदेश करें और हमारी सदा (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ५८ ॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ५९ ॥

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ ६० ॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः ।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६१ ॥

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६२ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ६३ ॥

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम् । तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम् ॥ ६४ ॥

[१०८५] हे (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्न्यादिसे होनेवाले यज्ञोंमें निपुण संरक्षक याजक जनो ! तुम लोग (इह आगच्छ) यहां आओ, और (सुप्रणीतयः सदः सदः सदत) श्रेष्ठ नीतिवाले सभास्थानमें बैठ जाओ (प्रयतानि हवींषि आ अत्त) अति प्रयत्नसे सिद्ध किये हुये इन हविष्योंका स्वीकार करो, (अथ बर्हिषि सर्ववीरं रयिं दधातन) इसके पश्चात् आसनोंपर बैठकर हमारे लिये सब वीर पुरुषोंको प्राप्त करनेवाले धनको प्रदान करो ॥५९॥

[१०८६] (ये अग्निष्वात्ताः ये अनग्निष्वात्ताः) जो अग्निविद्याको अच्छी प्रकार जाननेवाले तथा जो अग्नि विद्यासे भिन्न अन्य विद्याओंको जाननेवाले ज्ञानी लोग (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) प्रकाशके बीच अपनी धारणाशक्तिसे आनन्दको प्राप्त करते हैं (तेभ्यः स्वराट् एतां असुनीतिं तन्वम्) उन लोगोंके लिये स्वयं प्रकाशमान परमात्मा इस मनुष्यको प्राप्त होनेवाले शरीरको (यथावशं कल्पयति) योग्यरीतिसे सामर्थ्यवान् करता है ॥ ६० ॥

[१०८७] (ये सोमपीथं आशुः) जो सोमरसको पीवें, (ऋतुमतः) वसन्तादि ऋतुमें उत्तम कर्म करें ऐसे (अग्निष्वात्तान् नाराशंसे हवामहे) यज्ञकी अग्नि विद्याको अच्छी प्रकार जाननेवाले ज्ञानियोंको हमलोग उत्तम पुरुषोंकी प्रशंसा करनेके समय यज्ञमें बुलाते हैं, (ते विप्रासः नः सुहवाः भवन्तु) वे बुद्धिमान् लोग हमारे लिये बुलानेके योग्य हों, और (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम इससे धनोंके स्वामी होवें ॥ ६१ ॥

[१०८८] हे (विश्वे पितरः) समस्त पालक पुरुषो ! तुमलोग (केन चित् नः पुरुषता मा हिंसिष्ट) किसी हेतुसे भी हमारी जो पुरुषार्थ शक्ति है उसको मत नष्ट करो, जिससे हमलोग सुखको (कराम) प्राप्त करें, (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध है, उसको हम छुडावें, तुम लोग (इमं यज्ञं अभिगृणीत) इस यज्ञको उत्तम प्रकारसे प्रशंसा योग्य रीतिसे करो, हम (जानु आच्य दक्षिणतः निषद्य) जानुको संकोचकर तुम्हारे दायें तरफ बैठकर, तुम सबोंका निरन्तर सत्कार करें ॥ ६२ ॥

[१०८९] हे (पितरः) पालक जनो ! तुम (इह अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) इस गृहाश्रममें गौरवर्ण स्त्रियोंके समीपमें बैठे हुये (पुत्रेभ्यः, दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त) पुत्रोंके लिये और दाता मनुष्यके लिये धनका दान करो, (तस्य वस्वः प्रयच्छत) उसे श्रेष्ठ ऐश्वर्यको प्रदान करो, जिससे (ते ऊर्जं दधात) वे सब लोग बलको धारण करें ॥ ६३ ॥

[१०९०] हे (कव्यवाहन अग्ने) बुद्धिमानोंके समीप उत्तम पदार्थ पहुंचानेवाले अग्ने ! (त्वं गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा युजं यं रयिं मन्यसे) तुम वाणीयोंसे वर्णन करने योग्य, विद्वानोंसे संबंध करनेवाले जिस श्रेष्ठ धनको जानते हो, (तं चित् नः पनय) उसको भी हमारे लिये प्रदान करो ॥ ६४ ॥

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः ।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥ ६५ ॥

त्वमग्न ईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवीꣳषि ॥ ६६ ॥

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं जुषस्व ॥ ६७ ॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ॥ ६८ ॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ ६९ ॥

[१०९१] (यः अग्निः कव्यवाहनः ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्) जो अग्रणी पुरुष विद्याओंके प्रकाशसे प्रकाशमान् मेधावी पुरुषोंके योग्य वचनोंको धारण करनेवाला, सत्यज्ञानके बढानेवाले पालक पुरुषोंको सत्कारसे सत्कृत करता है, और (हव्यानि देवेभ्यः पितृभ्यः आ प्रवोचति) ग्रहण करने योग्य हवनीय पदार्थोंको ज्ञानवान पुरुषों और पालक जनोंके लिये प्रवचनद्वारा सर्वत्र उपदेश द्वारा प्रसिद्ध करता है (उ इत् आ) वह ही सर्वत्र विख्यात होता है ॥ ६५ ॥

[१०९२] हे (कव्यवाहन अग्ने) विद्वानोंके वर्णन योग्य कर्मों और सामर्थ्योंको धारण करनेवाले अग्ने ! (त्वं ईडितः हव्यानि सुरभीणि कृत्वा अवाट्) तू स्तुतिको प्राप्त होकर अन्नादि पदार्थोंको उत्तम सुगन्धयुक्त करके ग्रहण करो, और (पितृभ्यः प्रादाः) पितरोंको भी प्रदान करो, (ते स्वधया अक्षन्) वे लोग अपने शरीरके पोषण-कारी अन्न करके उसका भोग करें। हे (देव) दिव्यगुणवाले ! (त्वं प्रयता हवींषि अद्धि) तुम भी उत्तमरीतिसे हवियोंको भक्षण करो ॥ ६६ ॥

[१०९३] (ये इह च पितरः) जो यहां ही पालक जन हैं, (च ये इह न) और जो यहां विद्यमान नहीं हैं, (च यान् उ विद्मः) और हम जिनको निश्चयसे जानते हैं, (च यान् उ न विद्म) और जिनको हम निश्चय रूपसे नहीं जानते हैं, हे (जातवेदः) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले अग्नि ! (ते यति) वे जितने भी हों (त्वं वेत्थ) तू उनको जान, और (स्वधाभिः सुकृतं यज्ञं जुषस्व) अन्न आदि सामग्रियोंसे उत्तम रूपसे सम्पादित यज्ञको सेवन कर ॥ ६७ ॥

[१०९४] (ये पूर्वासः) जो लोग हमसे पूर्वके अर्थात् बडे हैं, (ये उपरासः ईयुः) और जो पश्चात् समयके हैं (ये पार्थिवे रजसि आ निषत्ताः) जो पृथ्वीलोकमें रहते हैं, (वा ये नूनं सुवृजनासु विक्षु पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु) अथवा जो निश्चय करके अच्छी प्रगति करनेवाली प्रजाओंमें हैं, उन पालक पुरुषोंके लिये आज यह सुसंस्कृत अन्न प्राप्त हो ॥ ६८ ॥

[१०९५] हे (अग्ने) अग्ने ! (यथा नः परासः प्रत्नासः उक्थशासः शुचि ऋत आशुषाणाः पितरः) जिस प्रकार हमारे उत्कृष्ट पदको प्राप्त पूर्वके उत्तम ज्ञान प्रसार करनेवाले, पवित्र, सत्यको अच्छे प्रकार प्राप्त हुये पालक गुरुजन (दीधितिं अरुणीः क्षामा अयन्) विद्यासे प्रकाशित, सुशीलतासे दीप्तिवाली स्त्रियों और निवास भूमिको प्राप्त हुये हैं (अध भिन्दन्तः) तदनन्तर अविद्याका नाश करते हुये (इत् अपव्रन्) ही अन्धकार रूप आवरणको नष्ट करते हैं उसी प्रकार तू भी कर ॥ ६९ ॥

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ७० ॥

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ७१ ॥

सोमो राजामृतꣳ सुत ऋजीषेणाजहान्मृत्युम् ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७२ ॥

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७३ ॥

सोममद्भ्यो व्यपिबच्छन्दसा हꣳसः शुचिषत् ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७४ ॥

अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७५ ॥

[१०९६] हे अग्ने ! (उशन्तः त्वा निधीमहि) सुखप्राप्तिकी कामना करते हुए हम तुमको यहां स्थापन करते हैं, (उशन्त समिधीहि) यज्ञकी कामनासे तुमको प्रज्वलित करते हैं, (उशन् उशतः पितॄन् हविषे अत्तवे आवह) इच्छा करते हुये तुम इच्छा करनेवाले पितरोंको हवि भक्षण करनेको बुलाओ ॥ ७० ॥

[१०९७] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यत् विश्वाः स्पृधः अजयः) जब तू समस्त संग्रामोंमें प्रतिस्पर्धा करनेवाली सेनाको पराजित करता है, तब (अपां फेनेन नमुचेः उद्वर्तय) जलोंके फेनसे नमुचीके अर्थात् शत्रुके शिरको काट डालता है ॥ ७१ ॥

[१०९८] (सोमः राजा सुतः अमृतम्) औषधियोंका राजा सोमका रस निकाला है । वह रस अमृत है, और (ऋजीषेण मृत्युं अजहात) सरलरीतिसे यह मृत्युको दूर करता है, (ऋतेन सत्यम्) सरलतासे सत्यको और (विपानं, इन्द्रियं, अन्धसः, शुक्रं, इन्द्रस्य इन्द्रियं, इदं पयः, अमृतं मधु) विविध पान करनेके साधन, ऐश्वर्य, अन्न, वीर्य, इन्द्रका सामर्थ्य, यह दुग्ध, दीर्घजीवन और शहदको अर्थात् मीठेपनको प्राप्त करता है ॥ ७२ ॥

[१०९९] (क्रुङ् आङ्गिरसः धिया) हंस शरीरमें प्राणके समान, अपनी बुद्धिसे (अद्भ्यः क्षीरं वि अपिबत्) जलोंसे ही भोग योग्य दूध रूपी सार पदार्थको विविध रूपोंमें पान करता है, और (ऋतेन सत्यम्) सरलताके ज्ञानसे सत्यको तथा (विपानम्, इन्द्रियम्, अन्धसः, शुक्रं. इन्द्रस्य इन्द्रियम्, इदं पयः, अमृतं, मधु) विविधपान करनेके साधन, इन्द्रियोंकी शक्ति, अन्न, तेज, ऐश्वर्यवान सेनापतिके समान बल, यह दुग्ध और शहद अर्थात् अन्नके द्वारा प्राप्त कर देता है ॥ ७३ ॥

[११००] जिस प्रकार (हंसः अद्भ्यः सोमं वि अपिबत्) हंस जलोमेंसे सोमको पिता है उसी प्रकार विद्वान् (शुचिषत् छन्दसा) शुद्ध उपायोंसे सत्यको प्राप्त करता है, और (ऋतेन सत्यम्) सरलतासे सत्यको तथा (विपानं, इन्द्रियं, अन्धसः, शुक्रं, इन्द्रस्य इन्द्रियं, इदं पयः, अमृतं, मधु) विविध पान करनेके साधन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज, शक्तिशाली बल, यह दुग्ध और शहदसे प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

[११०१] (ब्रह्मणा प्रजापतिः) चारों वेदोंके विद्वान्के साथ प्रजाका रक्षक राजा (परिस्रुतः अन्नात् सोमं रसं पयः व्यपिबत्) परिपक्व अन्नके साथ सोमरसको विविध प्रकारसे पान करता है और (क्षत्रम्) क्षात्रबलको धारण करता है तथा (ऋतेन सत्यम्) वेदज्ञानसे सत्यको एवं (विपानम्, इन्द्रियम्, अन्धसः शुक्रं, इन्द्रस्य इन्द्रियम्, इदम् पयः अमृतम् मधु) विविध पान करनेके साधन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज, सेनापतिका बल, यह दूध और शहदसे प्राप्त करता है ॥ ७५ ॥

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् । गर्भो जरायुणाऽऽवृत उल्बं जहाति जन्मना ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानंꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७६ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानंꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७७ ॥

वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानंꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७८ ॥

दृष्ट्वा परिस्रुतो रसंꣳ शुक्रेण शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः ।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानंꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७९ ॥

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ।
अश्विना यज्ञꣳ सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् ॥ ८० ॥

[११०२] जिस प्रकार (इन्द्रियं मूत्रं जहाति, योनिं प्रविशत् रेतः विजहाति) पुरुषका उपस्थ इन्द्रिय मूत्रोत्सर्ग करता है, परन्तु स्त्रीयोनिमें प्रवेश करता हुआ वहीं वीर्यका उत्सर्ग करता है, उसी प्रकार इंद्र या राजाकी सेना भी शत्रुओंको निकालती और वृद्धि करने योग्य सामर्थ्यको बढाती है। और जिस प्रकार (गर्भः जरायुणावृत जन्मना उल्बं जहाति) गर्भ जरायुसे ढका हुआ होकर भी उस 'उल्ब' अर्थात् जेरको भी छोड देता है उसी प्रकारः राजा भी राष्ट्रको अपने अधीन करनेमें सामर्थ्यवान् होकर शत्रुनाशक बलसे आवृत हुये अधिक सेनाके भागको छोड देता है। तथा (ऋतेन सत्यम्) वेद ज्ञानसे सत्यको एवं (विपानं इन्द्रियं अन्धसः शुक्रं, इन्द्रस्य इन्द्रियं, इदं पयः अमृतं मधु) विविध पान करनेके साधन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज ऐश्वर्यवान् सेनापतिका बल, यह दूध और शहदको प्राप्त करता है ॥ ७६ ॥

[११०३] (प्रजापतिः ऋतेन सत्यानृते दृष्ट्वा वि आ अकरोत्) प्रजाका पालक राजा सत्यज्ञानसे सच और झूठ दोनोंके स्वरूपोंको पृथक् पृथक् देखकर सत्यज्ञानका उपदेश करता है, वह (अनृते अश्रद्धां अदधात्) असत्यमें अश्रद्धाको और (सत्ये श्रद्धाम्) सत्यमें श्रद्धाको रखता है। तथा (ऋतेन सत्यम्) सत्य ज्ञानसे सत्यको एवं (विपानं इन्द्रियं अन्धसः शुक्रं इन्द्रस्य इन्द्रियं इदं पयः अमृतं मधु) विविध पान करनेके साधन, राजोचित ऐश्वर्य, अन्न, तेज, तेजस्वी सेनापतिका बल, दूध और शहदको प्राप्त करता है ॥ ७७ ॥

[११०४] (प्रजापतिः वेदेन सुता सुतौ वि अपिबत्) प्रजाका पालक राजा वेदके ज्ञानके अनुसार यज्ञमें सोमरसका पान करता है। तथा (ऋतेन सत्यम्) ऋतसे सत्यको प्राप्त करता है एवं (विपानं इन्द्रियं अन्धसः शुक्रं इन्द्रस्य इन्द्रियं इदं पयः अमृतं मधु) विविध पान करनेके साधन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज, ऐश्वर्ययुक्त सेनापतिका बल, यह दूध और शहदको प्राप्त करे ॥ ७८ ॥

[११०५] (परिस्रुतः प्रजापतिः शुक्रेण शुक्रं रसं दृष्ट्वा) अभिषिक्त राजाने शुद्धि करनेवाले उपायसे शुद्ध किये गये रसको देख करके (पयः सोमं वि अपिबत्) पान करने योग्य सोमरसका दूधके साथ पान किया और (ऋतेन सत्यं, विपानं, इन्द्रियं अन्धसः शुक्रं इन्द्रस्य इन्द्रियं इदं पयः अमृतं मधु) यज्ञसे सत्यको तथा विविध पान करनेके साधन, राजोचित ऐश्वर्य, अन्न, तेज, धनसम्पन्न सेनापतिका बल, यह दूध एवं शहदको भी प्राप्त किया ॥ ७९ ॥

[११०६] (अश्विना सविता सरस्वती वरुणः मनीषिणः कवयः) दोनों अश्विनीकुमार, सविता, सरस्वती, वरुण और मेधावी, कान्तदर्शी कवि (इन्द्रस्य रूपं भिषज्यन् मनसा यज्ञं वयन्ति) इन्द्रके रूपको योग्य परीक्षा करके देखकर मनसे विचारकर यज्ञको करते हैं, जैसे (सीसेन ऊर्णासूत्रेण तन्त्रम्) सीसके यंत्रके सहाय्यसे और ऊनके सूत्रसे पटको निष्पादन करते हैं ॥ ८० ॥

तदस्य रूपममृतꣳ शचीभिस्तिस्रो दधुर्देवताः सꣳरराणाः ।
लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोक्मभिस्त्वगस्य माꣳसमभवन्न लाजाः ॥ ८१ ॥

तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी सरस्वती वयति पेशो अन्तरम् ।
अस्थि मज्जानं मासरैः कारोतरेण दधतो गवां त्वचि ॥ ८२ ॥

सरस्वती मनसा पेशलं वसु नासत्याभ्यां वयति दर्शतं वपुः ।
रसं परिस्रुता न रोहितं नग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम ॥ ८३ ॥

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः ।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऊवध्यं वातꣳ सव्वं तदारात् ॥ ८४ ॥

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान ।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम् ॥ ८५ ॥

[११०७] इस यज्ञमें (तिस्रः देवताः शचिभिः) तीनों देवता अपनी अपनी शक्तियोंसे (अस्य अमृतं रूपं संरराणः) इस इन्द्रके अमृत रूपको अच्छी प्रकार प्राप्त करते हुये (शष्पैः लोमानि दधुः) लम्बे लम्बे बालोंके सहित लोमोंको धारण करते हैं, अर्थात् लम्बे बालवाले पुरुष इस यज्ञको करते हैं । (न तोक्मभिः) बालकोंसे यह यज्ञ नहीं होता है, और (अस्य, त्वक् मांसं लाजा न अभवन्) इस इन्द्रके यज्ञ हविमें त्वचा मांस खीलें आदि नहीं होती हैं ॥ ८१ ॥

यह इन्द्रकी प्रीतिके लिये किया जाता है; इस यज्ञमें मांस आदि नहीं होते ॥ ८१ ॥

[११०८] (गवां त्वचि दधतः) पृथ्वीके ऊपर सोमरसको स्थापन करते, (रुद्रवर्तिनी भिषजा अश्विना सरस्वती अन्तरं पेशः वयति) रुद्रके समान मार्गवाले वैद्य अश्विनीकुमार और सरस्वती शरीरान्तरवर्ती इन्द्रके रूपको परिपूर्ण करते हैं, (तत् अस्थि मज्जानं मासरैः कारोतरेण) वह स्वरूप हाड मज्जा और परिपक्व ओषधियोंके सारोंसे उत्तम शिल्पीकी तरह निर्माण किया हुआ होता है ॥ ८२ ॥

[११०९] (नासत्याभ्यां सरस्वती मनसा पेशलं वसु दर्शतं वपुः वयति) अश्विनी कुमारोंके साथ मिलकर सरस्वती मनसे विचार करके अत्यन्त सुन्दर, पुष्ट और दर्शनीय शरीरकी रचना करती है । तथा (धीरः रोहितं नग्नहुः नग्नहुः रसम्) धीर जन लोहितको, इन्द्रके शरीरकी शोभाके लिये रसको (तसरं वेम न) दुःख नाशक बनाकर शरीरको उत्पन्न करते हैं ॥ ८३ ॥

[१११०] तीनों देवता इन्द्रराजाके लिये (पयसा शुक्रं अमृतं जनित्रं रेतः जनयन्त) दूधसे वीर्यवर्धक अमृतरूप, प्रजननशील वीर्यको उत्पन्न करते हैं, और (आरात् अपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः) समीपसे अज्ञान और दुर्मतिको दूर करते हैं (तत् ऊवध्यं वातं, सब्बं सुरया मूत्रात्) उस अमाशयमें बैठी अपानवायु और पक्वाशयगत अन्नरसको सुरा रससे संयुक्त करके शेषभागको मूत्र रूपसे बाहर निकाल देते हैं ॥ ८४ ॥

[११११] (सुत्रामा इन्द्रः हृदयेन) उत्तम रक्षा करनेवाले इन्द्रने हृदयसे और (सविता पुरोडाशेन सत्यं जजान) सविता देवताने पुरोडाससे यज्ञको प्रकट किया, (वरुणः भिष्यज्यन यकृत् क्लोमानम्) वरुणने विचार करके यकृत् और गलेकी नाडीको बनाया तथा (वायव्यैः मतस्ने न पित्तं मिनाति) वायु संबंधियोंसे हृदयके उभय पार्श्ववर्ती अस्थि और पित्तको निर्माण किया है ॥ ८५ ॥

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः ।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥

कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भो अन्तः ।
प्लाशिर्व्यक्तः शतधार उत्सो दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः ॥ ८७ ॥

मुखꣳ सदस्य शिर इत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती ।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥ ८८ ॥

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां छागेन तेजो हविषा शृतेन ।
पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि पेशो न शुक्रमसितं वसाते ॥ ८९ ॥

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम् ।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥ ९० ॥

[११११२] (श्येनस्य स्थालीः आन्त्राणि) बाजपक्षीके समान शरीरमें आंतें कार्य करती है, वे (पात्राणि मधु पिन्वमानाः गुदाः) मधुको सर्वत्र पहुंचानेवाले गुदाके पासकी स्थूल नाडियां हैं, और (सुदुघा धेनुः न) पृथ्वी दुधारू गौके समान है, तथा शरीरमें स्थित (प्लीहा न, श्येनस्य पत्रम्) प्लीहाके समान शरीर विकारोंके नाशक व बाजके सदृश शत्रुपर झपटनेवाले वीर पुरुषकी तलवार है, (नाभिः आसन्दी) शरीरमें नाभिके समान 'आसन्दी' अर्थात् राजाके बैठनेकी गद्दी है (न उदरं माता) जिस प्रकार शरीरमें उदर अन्नोंके रस ग्रहण करता और अपरसको निकालता है उसीप्रकार 'माता' अर्थात् राज्यपरिषद सत्य-असत्यका विवेक कराती है, और (सचीभिः) अपनी शक्तियोंसे राज्यका संचालन करती है ॥ ८६ ॥

[११११३] जो (कुम्भः वनिष्ठुः जनिता प्लाशिः शतधारः उत्सः न) कलशके सदृश वीर्य शौर्य आदिसे पूर्ण, भोक्ता, सन्तानोत्पादक, उत्तम पदार्थोंका संग्रहीता, सैकडों शक्तियोंसे युक्त, कूपके समान इस गम्भीर प्रकारका पुरुष और जो (कुम्भी) कुम्भीके सदृश उत्तम गुणोंसे पूर्ण नारी है, इन दोनोंको उचित है कि (पितृभ्यः स्वधाम्) अपने पिता आदि जनोंके लिये अन्न देवें और (यस्मिन् अग्रे योन्यां अन्तः गर्भः) जिसमें प्रथम गर्भाशयके बीच गर्भ धारण किया जाता है उस गर्भकी निरन्तर रक्षा करें ॥ ८७ ॥

[११११४] (अस्य मुखं शिरः इत् सत्) इसका मुख और शिर सत् है अर्थात् मुख और शिरसे इसको सत्य ज्ञान होता है । (आसन् जिह्वा सतेन पवित्रं अश्विना सरस्वती) मुखमें जिह्वा रहती है, उसी तरह सतसे पवित्रता होती है; उसी तरह दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती पवित्रता करते हैं (पायुः न चप्यं वालः अस्य भिषग्) पायु अर्थात् शरीरमें गुदाका भाग मलमूत्रादि दूर करके शरीरको शान्ति प्रदान करता है, उस प्रकार बाल शरीर दोषोंको दूर करते हैं और शरीरमें (वस्तिः शेपः न हरसा तरस्वी) वस्ति अर्थात् मूत्रस्थान और पुरुष शरीरमें 'शेप' अर्थात् प्रजनेन्द्रिय दोनोंमेंसे एक तो मूत्र प्रवाहित करता और दूसरा काम वेगसे उत्तेजित होकर भोगाभिलाषी होता है ॥ ८८ ॥

[११११५] (अश्विभ्यां ग्रहाभ्यां अमृतं चक्षुः) दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा इन्द्र राजाका अविनाशी नेत्र बना हुआ है, (छागेन शृतेन हविषा तेजः) अजाके दुग्ध पक्व हवि द्वारा उसका चक्षु संबंधी तेज होता है, (गोधूमैः पक्ष्माणि, कुवलैः उतानि) गोधूमोंसे नेत्रोंके नीचेके लोम और बेरोंसे चक्षु निविष्ट ऊपरके लोम हुये जो (शुक्रं न असितं पेशः वसाते) श्वेत और कृष्णरूपको दिखाया करते हैं ॥ ८९ ॥

[११११६] (आविः न मेषः नसि वीर्याय) भेडके समान मेढा है उस प्रकार नासिकामें बलके लिये (ग्रहाभ्यां प्राणस्य पन्थाः अमृतः) ग्रहोंने प्राणवायुका मार्ग अविनाशी किया है, (सरस्वती उपवाकैः व्यानं जजान) सरस्वती देवी उपवाकोंसे व्यानवायुको प्रकट करती है तब (बदरैः बर्हिः नस्यानि) बदरोंके समान नासिकाके लोम हुये ॥ ९० ॥

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याᳪं श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम् ।
यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात् ॥ ९१ ॥
आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम ।
केशा न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिᳪंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ॥ ९२ ॥
अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती ।
इन्द्रस्य रूपᳪं शतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः ॥ ९३ ॥
सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति ।
अपाᳪं रसेन वरुणो न साम्नेन्द्रᳪं श्रियै जनयन्नप्सु राजा ॥ ९४ ॥
तेजः पशूनाᳪं हविरिन्द्रियावत् परिस्रुता पयसा सारघं मधु ।
अश्विभ्यां दुग्धं भिषजा सरस्वत्या सुतासुताभ्याममृतः सोम इन्दुः ॥ ९५ ॥

[अ०१९, कं० ९५, मं० सं० ११९०]

इत्येकोनविंशोऽध्यायः ।

[१११७] (बलाय इन्द्रस्य रूपं ऋषभः) सामर्थ्यके लिये इन्द्रका रूप ऋषभके समान हुआ, (कर्णाभ्यां ग्रहाभ्यां श्रोत्रम्) श्रोत्र सम्बन्धी ग्रहों द्वारा श्रोत्र इन्द्रिय हुई, (यवाः न बर्हिः भ्रुवि केसराणि) जो और कुशाने भौवोंके बालोंको बनाया तथा (मुखात् कर्कन्धु सारघं मधु जज्ञे) मुखसे बेरके तुल्य मधुमक्षिकाका आकर्षक मधु सदृश लार श्लेष्मादि प्रकट हुये ॥ ९१ ॥

[१११८] (आत्मन् उपस्थे न लोम वृकस्य) अपने शरीरमें गुह्यस्थान और अधोभागके लोम वृकके लोमके समान हुये हैं, (न मुखे श्मश्रूणि व्याघ्रलोम) और मुखमें जो दाढी मोछके बाल हैं वे व्याघ्रके लोमके समान हुये हैं, (न शीर्षन् यशसे केशाः) और शिरमें यशके लिये बाल हैं, (श्रियै शिखा) शोभाके निमित्त शिखा है और (इन्द्रियाणि सिंहस्य लोम) इन्द्रियां सिंहके रोम हैं ॥ ९२ ॥

[१११९] (इन्द्रस्य रूपं शतमानं आयुः) इन्द्रके रूपको और सौ वर्षपर्यन्त आयुको और (चन्द्रेण ज्योतिः अमृतं दधानाः) चन्द्रकी ज्योतिको अविनाशी करते हुये (भिषजा अश्विना आत्मन् अङ्गानि) चिकित्सक अश्विनी कुमारोंने आत्माके साथ अवयवोंको संयुक्त किये, और (सरस्वती तत् आत्मानं अङ्गैः समधात्) सरस्वतीने उस आत्माके अङ्गोंके साथ शरीरका निर्माण किया ॥ ९३ ॥

[११२०] (सरस्वती अश्विभ्यां पत्नी गर्भम्) सरस्वती देवी अश्विनीकुमारोंकी पत्नीत्व स्वीकार करके गर्भको (सुकृतं योन्यां अन्तः बिभर्ति) सम्यक् प्रकारसे योनिके मध्यमें धारण करती है, (न अप्सु राजा वरुणः अपां रसेन) और जलोंका अधिष्ठाता देवता राजा वरुण जलके सारभूत रसद्वारा (साम्ना श्रियै इन्द्रं जनयन्) सामके प्रभावसे श्रीके लिये इन्द्रको निर्माण करता है ॥ ९४ ॥

[११२१] (भिषजा अश्विभ्याम् सरस्वत्या इन्द्रियावत् पशूनाम्) चिकित्सा करनेवाले दोनों अश्विनी-कुमार और सरस्वतीने वीर्यवान शक्तिसम्पन्न पशुसम्बन्धी दुग्ध घृत और (सारघम् मधु हविः परिस्रुता पयसा तेजः दुग्धम्) मधुमक्षिका जिसका भक्षण करती है उस मधु लेकर मिश्रित किये दुग्धसे इन्द्रके लिये तेज निकाला, और (सुता सुताभ्याम् अमृतः इन्द्रः सोमः) परिस्रुतदुग्धसे अमृतरूप ऐश्वर्यदायक सोमरस तैयार किया, इस तरह अश्विनी कुमार और सरस्वती आदिने इन्द्रके लिये अनेक द्रव्योंके रसको मिलाकर सोमरस तैयार किया ॥ ९५ ॥

॥ उन्नीसवा अध्याय समाप्त ॥

अथ विंशोऽध्यायः ।

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि । मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ १ ॥

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतुः । मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि ॥२॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामी—न्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि ॥ ३ ॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा । सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ४ ॥

[११२२] तू (क्षत्रस्य योनिः असि) क्षात्रबलका अर्थात् राज्य शक्तिका आश्रय स्थान है, (क्षत्रस्य नाभिः असि) क्षात्र बलका नाभि केन्द्रस्थान है, यह प्रजाजन (त्वा मा हिंसीत्) तुझे न मारे, हे राजन् ! तू भी (मा मा हिंसीः) मुझ राष्ट्रवासी प्रजाजनको मत मार ॥ १ ॥

क्षत्रस्य योनिः नाभिः असि— क्षात्रशक्तिका तू मुख्य केन्द्र है ।

त्वा मा हिंसीत्— प्रजाजन तुझ राजशक्तिका नाश न करें ।

मा मा हिंसीः— मेरा भी नाश कोई न करे । राजा, अधिकारी तथा प्रजाजन परस्पर सहाय करके आनन्दसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करें ।

राजशक्ति और प्रजाशक्तिमें कदापि वैमनस्य न बढे ॥ १ ॥

[११२३] (धृतव्रतः, सुक्रतुः, वरुणः पस्त्यासु आ नि ससाद) सत्य पालन आदि व्रतोंको धारण करनेवाला, उत्तम बुद्धि व कर्मयुक्त, सर्वश्रेष्ठ पुरुष प्रजाके मध्यमें विराजमान होवे । हे राजन् ! तू अपनी प्रजाको (मृत्योः पाहि) मृत्यु अर्थात् मरनेके कारणोंसे रक्षा कर और (विद्योत् पाहि) विद्युत्पातादिसे रक्षा कर ॥ २ ॥

धृतव्रतः सुक्रतुः वरुणः पस्त्यासु आ निषसाद— नियमोंका उत्तम पालन कर[illegible]वाला, स्वयं उत्तम कर्म करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष प्रजाजनोंके मुख्य स्थानमें बैठता है और उन प्रजाजनोंके पालन करनेका विचार करता है ।

मृत्योः पाहि— वह राजा मृत्यु आदि दुःखोंसे प्रजाका रक्षण करे ।

विद्योत् पाहि— उत्पातोंसे प्रजाका रक्षण वह करे ॥ २ ॥

[११२४] (सवितुः देवस्य प्रसवे, अश्विनोः बाहुभ्याम्, पूष्णः हस्ताभ्याम्) सविता देवकी प्रसन्नतामें रहकर अश्विनी कुमारोंकी बाहुओं, पूषा देवताके हाथोंसे और (अश्विनोः भैषज्येन तेजसे, ब्रह्मवर्चसाय त्वा अभिषिञ्चामि) अश्विनी कुमारोंके चिकित्सा कर्मसे तेजकी प्राप्तीके लिये एवं ब्रह्मवर्चस अर्थात् वेदज्ञानकी वृद्धिके लिये तुमको मैं इस स्थानमें अभिषेक करता हूं । (सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्याय अन्नाद्याय अभिषिञ्चामि) सरस्वती द्वारा सम्पादित ओषधिके बलके लिये और अन्नकी प्राप्तिके लिये तुमको अभिषेक करता हूं । हे राजन् ! (इन्द्रस्य ऐन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसे अभिषिञ्चामि) इन्द्रकी शक्तिकी वृद्धिके सामर्थ्यके लिये और समृद्धि व यश प्राप्तिके लिये तुमको अभिषेक करता हूं ॥ ३ ॥

[११२५] हे (सुश्लोक) उत्तमकीर्तिवाले ! हे (सुमङ्गल) उत्तम मंगल कार्योंके करनेवाले ! हे (सत्य राजन्) सत्य न्यायके प्रकाशक राजन् ! तू (कः असि) सुख स्वरूप है और (कतमः असि) अति सुखकारी है, (कस्मै त्वा) प्रजापति पदके लिये तुझे अभिषक्त करता हूं, तथा (काय त्वा) ब्रह्म वा वेद ज्ञानकी वृद्धिके लिये तुझे अभिषिक्त करता हूं ॥ ४ ॥

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ५ ॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः ।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ॥ ६ ॥
बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम् । आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥

[११२६] हे प्रजाजनो ! राज्यमें अभिषेकको प्राप्त हुये (मे श्रीः शिरः) मेरी शोभा या धन ऐश्वर्य शिरस्थानी है, (यशः मुखं) यश मुखके समान है, (त्विषिः केशाः च श्मश्रूणि) न्यायके प्रकाशके समान मेरे केश और दाढी मोछ हैं, (मे प्राणः राजा अमृतम्) मेरा प्राण दीप्तिमान राष्ट्रजीवनके लिये अमृत है, (सम्राट् चक्षुः) सम्राट्का पद आंखके समान साक्षीरूप है, तथा (विराट् श्रोत्रम्) विविध विद्वान् सभासदोंसे प्रकाशमान राजसभा श्रोत्रके समान राज्यके समस्त व्यवहारोंको सावधानतापूर्वक श्रवण करनेवाला है ॥ ५ ॥

राज्यपर अभिषिक्त हुए पुरुषके अंग राज्यशासनके कार्य किस तरह करते हैं यह यहां बताया है। राजाके सब अंग राज्यशासनके विभाग हैं ॥ ५ ॥

[११२७] (मे जिह्वा भद्रम्) मेरी जीभ कल्याण रूप भाषण करनेवाली हो, (वाक् महः) वाणी महत्त्वको बतानेवाली हो, (मनः मन्युः) मन दुष्टाचारी मनुष्यों पर क्रोध करनेवाला हो, (भामः स्वराट्) मेरा क्रोध अपना राज्य चलानेमें सामर्थ्य देनेवाला हो, (अङ्गुलयः मोदाः) अङ्गुलियां आनन्द देनेवाली हों, (अङ्गानि प्रमोदाः) सारे अङ्ग परम सुख देनेवाले हों और (मे मित्रं सहः) मेरे मित्र शत्रुनाशक सामर्थ्य हों ॥ ६ ॥

मे जिह्वा भद्रं— मेरी जिव्हा ऐसा भाषण करे कि जिससे सबका कल्याण हो ।
मे वाक् महः— मेरी वाणी महत्वपूर्ण कार्योंको जनताको बतानेमें प्रवीण हो ।
मे मनः मन्युः— मेरा मन दुष्टोंपर क्रोध करे ।
मे भामः स्वराट्— मेरा क्रोध स्वराज्य चलानेका सामर्थ्य मुझमें बढानेवाला हो ।
मे अंगुलयः मोदाः— मेरी अंगुलियां मेरा आनंद बढानेवाली हों ।
मे अंगानि प्रमोदाः— मेरे सब अंग मेरा आनंद बढानेवाले हों ।
मे सहः मित्रम्— मेरा शत्रुका पराजय करनेका सामर्थ्य मित्रके समान सहायक हो ॥ ६ ॥

[११२८] (मे बाहू इन्द्रियम् बलम्) मेरी दोनों भुजायें और प्रत्येक इन्द्रिय बल सम्पन्न हों, (हस्तौ कर्म वीर्यम्) मेरे दोनों हाथ कर्मशील और पराक्रमयुक्त हों, (मम आत्मा उरः क्षत्रम्) मेरा अंतरात्मा हृदय भी क्षत्रधर्मावलम्बनमें समर्थ हों ॥ ७ ॥

मे बाहू इन्द्रियं बलं— मेरे बाहू और प्रत्येक इन्द्रिय बलवान बने ।
हस्तौ कर्म वीर्यम्— मेरे दोनों हाथ उत्तम पराक्रमके कर्म करनेवाले हों ।
मम आत्मा उरः क्षत्रम्— मेरा आत्मा और मेरा हृदय क्षात्रतेजसे युक्त हों ।
अर्थात् मेरा सब शरीर बलवीर्य पराक्रम करनेवाला बने, वह कदापि भयभीत न हो, सदा वीर्यसंपन्न रहे ॥ ७ ॥

[११२९] (मे पृष्ठीः राष्ट्रम्) मेरा पृष्ठ प्रदेश सबको धारण करनेवाले राष्ट्रके सदृश है, (उदरम् अंसौ ग्रीवा ऊरू अरत्नी श्रोणी जानुनी) पेट, दोनों कन्धे, गरदन, दोनों उरू, भुजाओंका मध्यप्रदेश, कटि, दोनों जंघे (च सर्वतः अङ्गानि) और सारे अङ्ग (मे विशः) मेरे प्रजावत् पोषणीय हैं, अर्थात् राष्ट्रके शरीरमें ये सब अङ्ग निरुपद्रव होकर निवास करते हैं ॥ ८ ॥

मेरे शरीरके सब अंग मेरे राष्ट्रकी प्रजाके समान हैं। जैसा राष्ट्र सुरक्षित रखना योग्य है, उस प्रकार राष्ट्रकी सेवा करनेके कार्य करनेवाले मेरे सब अंग राष्ट्रसेवा करनेके लिये सुरक्षित रखने चाहिये ॥ ८ ॥

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् । आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥१०॥

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे । देवा देवैरवन्तु मा ॥ ११ ॥

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूंषि सामभिः
सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्कारा
आहुतिभिराहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा ॥ १२ ॥

[११३०] (मे नाभिः चित्तम्) मेरी नाभि ज्ञान रूप है, (मे पायुः विज्ञानम्) मेरी गुदेन्द्रिय विज्ञानरूप है, (भसत् अपचेतिः) मेरी स्त्रीका जननेंद्रियं जनन कार्यमें समर्थ है, (मे अण्डौ आनन्दनन्दौ) मेरे दोनों अण्डकोश आनन्दसे समृद्ध हैं, (पसः भगः) मेरी जननेन्द्रिय ऐश्वर्य सम्पन्न है, मेरा कुल व शरीर (सौभाग्यम्) सौभाग्य युक्त है, मैं (जंघाभ्यां पद्भ्यां धर्मः अस्मि) अपने जंघाओं और पैरोंसे धारण करनेवाला सामर्थ्य धर्म हूं तथा मैं (विशिप्रतिष्ठितः राजा) प्रजामें प्रतिष्ठित राजा हूं ॥ ९ ॥

[११३१] प्रजाजनोंमें प्रतिष्ठाको प्राप्त मैं राष्ट्रका राष्ट्रपति धर्मयुक्त व्यवहारसे (क्षत्रे प्रति, राष्ट्रे प्रति तिष्ठामि) क्षयसे रक्षा करनेवाले क्षत्रियकुलमें प्रतिष्ठाको प्राप्त होकर, राष्ट्रमें सन्मानको प्राप्त होता हूं, (अश्वेषु प्रति गोषु प्रति तिष्ठामि) घोडे गौवें आदिमें प्रतिष्ठाको प्राप्त होता हूं, (अङ्गेषु प्रति आत्मन् प्रति तिष्ठामि) राज्यके अङ्गोंमें प्रतिष्ठित होता हुआ, आत्मा रूपसे सर्वत्र प्रतिष्ठित होता हूं, (प्राणेषु प्रति, पुष्टे प्रति तिष्ठामि) प्राणोंमें प्रतिष्ठित होता हुआ, पुष्टि करनेके कार्योंमें प्रतिष्ठित होता हूं, (द्यावापृथिव्योः प्रति यज्ञे प्रति तिष्ठामि) स्वर्ग और इस लोक पृथ्वीमें प्रतिष्ठित होकर इस यज्ञमें प्रतिष्ठित होता हूं ॥ १० ॥

[११३२] (त्रया एकादश, त्रयः त्रिंशाः देवाः) विशेष शक्तियोंसे युक्त ग्यारह ग्यारह देवोंके तीन समूह अर्थात् ११, ११ और ११ ये तेंतीस देव (सुराधसः. बृहस्पति पुरोहिताः) श्रेष्ठ ऐश्वर्यसे सम्पन्न बृहस्पतिको अपना नेता बनाकर (देवस्य सवितुः सवे) दिव्यगुण युक्त सबके उत्पादकके शासनमें रहें, और वे (देवाः देवैः मा अवन्तु) समस्त देव अपने दिव्य गुणोंसे मेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥

त्रया एकादश, त्रयः त्रिंशाः देवाः— तीन वार ग्यारह ग्यारह, मिलकर तेंतीस देव हैं । स्वर्गमें ग्यारह, अन्तरिक्षमें ग्यारह और पृथ्वीपर ग्यारह, मिलकर तेंतीस देव होते हैं ।

बृहस्पति-पुरोहिताः सुराधसः देवाः— इन देवोंमें बृहस्पति-महाज्ञानी-देव नेतारूप है । इस बृहस्पतिके नेतृत्वमें सब देव अपने कार्य करते हैं । अतः वे उत्तम कार्य करनेवाले हैं, क्यों कि महाज्ञानी बृहस्पतिका नेतृत्व है । इस तरह महाज्ञानीके नेतृत्वमें कार्य करना योग्य है ॥ ११ ॥

[११३३] जैसे (प्रथमा) प्रथम स्थानमें रहनेवाले पृथ्वी आदि आठ वसु, (द्वितीयैः द्वितीयाः) दूसरे ग्यारह रुद्र, (तृतीयैः तृतीयाः) तीसरे बारह आदित्य (सत्येन सत्यम् यज्ञेन यज्ञः, यजुर्भिः यजूंषि, सामभिः सामानि, ऋग्भिः ऋचः) सत्यसे सत्य, यज्ञसे यज्ञ, यजुसे यजुर्वेद, सामवेदके साथ सामवेद, ऋचाओंके साथ ऋचायें (पुरोनुवाक्याभिः पुरानुवाक्याः, याज्याभिः याज्याः, वषट्कारैः वषट्काराः, आहुतिभिः आहुतयः) पुरोनुवाक्य नाम विशेष मन्त्रोंके साथ पुरोनुवाक्य, यज्ञमन्त्रोंके साथ यज्ञमन्त्र, वषट्कारोंके साथ वषट्कार, होममें आहुतियोंके साथ आहुतियां (स्वाहा भूः मे कामान् समर्धयन्तु) समर्पणके साथ ये सब पृथिवीमें मेरी कामनाओंको अच्छी प्रकार सिद्ध करें ॥ १२ ॥

४५ (यजु. सु. भाष्य)

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ्म॒ आन॑ति॒राग॑तिः । मा॒ᳪसं म॒ उप॑नति॒र्वस्व॒स्थि म॒ज्जा म॒ आन॑तिः॑ ॥१३॥
यद्दे॑वा दे॒वहे॑डनं॒ देवा॑सश्चकृ॒मा व॒यम् । अ॒ग्निर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मु॒ञ्चत्वᳪहᳪसः ॥ १४ ॥
यदि॒ दिवा॒ यदि॒ नक्त॒मेनाᳪसि च॒कृमा व॒यम् । वा॒युर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मु॒ञ्चत्वᳪहᳪसः ॥ १५ ॥
यदि॒ जाग्र॒द्यदि॒ स्वप्न॒ एनाᳪसि च॒कृमा व॒यम् । सूर्यो॑ मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मु॒ञ्चत्वᳪहᳪसः॥१६॥
यद्ग्रामे॒ यदर॑ण्ये॒ यत्स॒भाया॒ꣳ यदि॑न्द्रि॒ये ।
यच्छू॒द्रे यद॒र्ये यदेन॑श्चकृ॒मा व॒यं यदेक॒स्याधि॒ धर्म॑णि॒ तस्या॑व॒यज॑नमसि॑ ॥ १७ ॥

अष्ट वसु— १ पृथिवी, २ आपः ३ तेज, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिशा और ८ आत्मा ये आठ वसू कहलाते हैं। १ आप, २ ध्रुव, ३ सोम, ४ धर, ५ अनिल, ६ अनल, ७ प्रत्युष, ८ प्रभात ये आठ वसू कोशमें लिखे हैं।

ग्यारह रुद्र- ५ प्राण— १ प्राण, २ अपान, ३ व्यान, ४ उदान, ५ समान ये पांच प्राण हैं। ५ उप प्राण— १ नाग २ कूर्म, ३ कृकल, ४ देवदत्त, ५ धनंजय ये उपप्राण हैं और ११ वां आत्मा है। ५ प्राण + ५ उपप्राण और १ आत्मा मिलकर ११ रुद्र हैं।

बारह आदित्य— सौर मास १२ हैं, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन। १ धाता, २ मित्र, ३ अर्यमा ४ रुद्र, ५ वरुण, ६ सूर्य, ७ भग, ८ विवस्वान, ९ पूषा, १० सविता, ११ त्वष्टा, १२ विष्णु ये बारह आदित्य हैं।

८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ प्रजापति और १ ब्रह्म मिलकर ३३ देव होते हैं ॥ १२ ॥

[११३४] (मम लोमानि प्रयतिः) मेरे सारे रोम प्रयत्नशील हैं, (मे त्वक् आनति आगतिः) मेरी त्वचा नम्रता बताती है और आकर्षण करनेवाली है (मे मांसं उपनति) मेरा मांस नम्रता करानेवाला है, मेरी (अस्थि वसु) अस्थि निवास करनेवाली है, और (मे मज्जा आनतिः) मेरी वसा अर्थात् अस्थिके अन्तरका भाग संसारको नम्र करानेवाला है ॥ १३ ॥

[११३५] हे (देवाः देवासः) हे प्रकाशमान देवताओ ! (वयं यत् देवहेडनं आचकृम) हमने जो देवताओंका अपराध किया है (अग्निः तस्मात् एनसः, विश्वात् अंहसः) अग्निदेव उस पापसे और अन्य सब अधर्मसे (मा मुञ्चतु) मुझको पृथक करें ॥ १४ ॥

[११३६] (यदि वयं दिवा) यदि हमने दिनको और (यदि नक्तं) यदि रात्रीको (एनांसि आचकृम) पापोंको किया है, तो (वायुः) वायु देवता (तस्मात् एनसः) उस पापसे तथा (विश्वस्मात् अंहसः) सब प्रकारके पापोंसे भी (मा मुञ्चतु) मुझको दूर करे ॥ १५ ॥

[११३७] (वयं यदि जाग्रत्) हमने जो जाग्रत अवस्थामें (यदि स्वप्ने) जो स्वप्नमें (एनांसि आचकृम) पाप किये हैं (सूर्यः तस्मात् एनसः सर्वस्मात् अंहसः) सूर्य उस पापसे और समस्त प्रकारके प्रमादोंसे मुझको दूर करे ॥ १६ ॥

[११३८] (यत् ग्रामे, यत् अरण्ये, यत् सभायां, यत् इन्द्रिये) जो ग्राममें, जो जंगलमें, जो सभामें, जो इन्द्रियोंसे करनेके कार्योंमें (यत् शूद्रे, यत् अर्ये, यत् एनः वयं चकृम) जो शूद्र वर्गोंमें, जो वैश्योंमें जो पाप हमने किया है और (यत् एकस्य अधिधर्मणि) जो पाप किसी एक पुरुषके संबंधमें किया है (तस्य, अवयजनं असि) उस पापको तुमही दूर करनेवाले हो ॥ १७ ॥

यदापो॑ अघ्न्या इति॒ वरुणेति॒ शपा॑महे ततो॑ वरुण नो मुञ्च ।
अव॑भृथ निचुम्पुण निचेरुर॑सि निचुम्पुणः ।
अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑तमेनो॑ऽयक्ष्यव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पुरुरा॒व्णो॑ देव रिषस्पाहि ॥ १८॥
समु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॒न्तः सं त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒तापः॑ ।
सुमि॒त्रिया न॒ आप॒ ओष॑धयः सन्तु दुर्मि॒त्रियास्तस्मै॑ सन्तु यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १९॥
द्रुप॒दादि॑व मुमुचा॒नः स्वि॒न्नः स्ना॒तो मला॑दिव । पू॒तं प॒वित्रे॑णे॒वाज्य॒मापः॑ शुन्धन्तु॒ मैन॑सः ॥ २० ॥
उद्व॒यं तम॑स॒स्परि॒ स्वः॒ पश्य॑न्त॒ उत्त॑रम् । दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ २१ ॥
अपो॒ अ॒द्यान्व॑चारिष॒ꣳ रसे॑न॒ सम॑सृक्ष्महि ।
पय॑स्वानग्न॒ आऽग॑म॒ं तं मा॒ सꣳसृ॑ज॒ वर्च॑सा प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च ॥ २२ ॥

[११३९] हे (वरुण) वरुण ! (अघ्न्याः इति यत्) गौवें न मारने योग्य हैं इस विषयके विरोधी (शपामहे) जो वार्तालाप हमने किये हैं (ततः) उससे (वरुणेति) हे वरुण ! तुम (नः मुञ्च) हमको छुडाओ ! हे (निचुम्पुण) मन्दगति ! हे (अवभृथ) अवभृथ ! यद्यपि तुम (निचेरुः असि) अत्यन्त गमनशील हो तो भी इस स्थानमें (निचुम्पुणः) मन्दगतिवाले हो जावो (देवैः देवकृतं एनः अवायक्षि) देवों द्वारा ज्ञानपूर्वक जो कुछ पाप हुआ है वह मैंने त्याग दिया है, तथा (मर्त्यैः मर्त्य कृतं अव) हमारे सहायक मानवोंसे जो पाप हुआ है वह भी दूर कर। हे (देव) वरुण देव ! तुम (पुरु राव्णः रिषः पाहि) विरुद्ध आचरण करनेवाले हिंसक शत्रुओंसे हमारी रक्षा करो ॥ १८ ॥

[११४०] हे सोम ! (ते हृदयं समुद्रे अप्सु अन्तः) तेरा हृदय समुद्रके जलोंमें है, वहां स्थित (त्वा ओषधीः उत आपः सं विशन्तु) तुम्हारे अंदर औषधियें और जल प्रवेश करें, (आपः ओषधयः नः सुमित्रियाः सन्तु) जल और ओषधियां तुम्हारे लिये मित्र रूप हों, (यः द्वेष्टि च वयं यं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और हम जिसका द्वेष करते हैं (तस्मै) उसके लिये जल और ओषधियां (दुर्मित्रियाः सन्तु) शत्रुरूप हों ॥ १९ ॥

[११४१] (आपः मा एनसः शुन्धन्तु) जल मुझको पापसे शुद्ध करे, (इव, द्रुपदात् मुमुचानः) जिस प्रकार स्तंभसे सहजहीसे पृथक हो जाता है, अथवा (इव स्विन्नः स्नातः मलात्) जैसे पसीनेसे युक्त पुरुष स्नान करनेसे शीघ्रही मलसे मुक्त होता है, (वा पवित्रेण पूतं आज्यम्) अथवा जैसे छाननेसे घृत मलसे रहित होता है वैसा जल मुझे शुद्ध करे ॥ २० ॥

[११४२] (वयं उत्तरं स्वः उत्तमं ज्योतिः) हम इस लोकसे उत्कृष्ट सुखमय लोकको सर्वोत्तम ज्योति स्वरूप, (देवत्रा देवं सूर्यं पश्यन्तः) प्रकाशमान पदार्थोंमें भी सबसे अधिक प्रकाशमान, सूर्यको देखकर (तमसः परि उत् अगन्म) अन्धकारसे दूर हो जांय ॥ २१ ॥

[११४३] हे (अग्ने) अग्ने ! मैंने (अद्य अपः अनु अचारिषम्) आज जलसे संपर्क किया है और रसेन समसृक्ष्महि) जलके रससे संयुक्त हुआ हूं, (पयस्वान् आगमम्) रससे युक्त होकरही मैं तेरे पास आया हूं, (तं मा) उस मुझको (वर्चसा प्रजया च धनेन संसृज) तेजसे प्रजासे और धनसे संयुक्त करो ॥ २२ ॥

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।
समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः । समु विश्वमिदं जगत् ।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून् कामान् व्यश्नवै भूः स्वाहा ॥ २३ ॥
अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि । व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ २४ ॥
यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह । तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ २५ ॥
यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह । तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ २६ ॥
अंशुना ते अंशुः पृच्यतां परुषा परुः । गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसो अच्युतः ॥ २७ ॥
सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च । सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः ॥ २८ ॥

[११४४] तू (एधः असि) वृद्धि करनेवाला है, तुम्हारी कृपासे हम (एधिषी महि) वृद्धिको प्राप्त हों। तू (समित् असि) भली प्रकार दीप्ति करनेवाला है और तू (तेजः असि) तेजरूप है, अतः (मयि तेजः धेहि) मुझमें तेज प्रदान कर। हमारे लिये यह (पृथिवी सं आववर्ति) भूमि अच्छी प्रकार सुखप्रदान करनेवाली हो। (उषाः सम्) उषा अच्छी प्रकार सुखदायिनी हो। (सूर्यः सम् उ) सूर्य भी हमें सुखदायी हो। (इदं विश्वं जगत् सम् उ) यह समस्त संसार हमें सदा सुखकारी हो और मैं (वैश्वानर ज्योतिः भूयासम्) सब प्राणियोंको तेजस्वी करनेवाली ज्योतिरूप होऊं। मैं (विभून् कामान् व्यश्नवै) बडे बडे विविधकामनाओंको प्राप्त करूं। (भूः स्वाहा) अस्तित्वरूप यह आहुति दी जाती है, भली प्रकार स्वीकार हो ॥ २३ ॥

[११४५] हे (व्रतपते अग्ने) व्रतके पालक अग्ने! इस (समिधं त्वयि अभ्यादधामि) समिधाको तुममें आहुति डालता हूं। यज्ञमें (दीक्षितः अहं व्रतं च श्रद्धां उपैमि) दीक्षित हुआ मैं व्रत और श्रद्धाको प्राप्त होता हूं, (च त्वा इन्धे) और तुमको दीप्त करता हूं ॥ २४ ॥

[११४६] (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) जहां ब्राह्मण वर्ण और क्षत्रिय वर्ण दोनों ही (सम्यञ्चौ सह चरतः) अच्छी प्रकारसे एक साथ विचरण करते हैं (तं लोकं) उस लोक को मैं (पुण्यं प्रज्ञेशं) पुण्य अर्थात् निष्पाप और उत्कृष्ट जानता हूं, (यत्र देवाः अग्निना) जहां विद्वान् लोग अग्निके समान तेजस्वी होकर निवास करते हैं ॥ २५ ॥

यत्र ब्रह्म क्षत्रं च सम्यंचौ सह चरतः तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेशं — जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर अपना कर्तव्य करते हैं वह देश पुण्यकारक और बुद्धिसे अभिलाषा करने योग्य है ॥ २५ ॥

[११४७] (यत्र इन्द्रः च वायुः च सह सम्यञ्चौ चरतः) जहां इन्द्र और वायु भी एक साथ एक मन होकर विचरण करते हैं, और (यत्र सेदिः न विद्यते) जहां पर अन्नादिके न मिलनेके कारण उत्पन्न क्लेश नहीं होता है, (तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेषं) उस लोकको मैं पुण्य अर्थात् निष्पाप और उत्कृष्ट जानता हूं ॥ २६ ॥

[११४८] हे महौषधि रस! (ते अंशु अंशुना, परुः परुषा पृच्यताम्) तुम्हारे भाग सोमके भागसे और तुम्हारे पर्व सोमके पर्वसे मिले हों, (तव गन्धः अच्युतः रसः मदाय सोमं अवतु) तुम्हारी सुगन्धि तथा अविनाशी-रस हर्षप्राप्तिके लिये सोमसे युक्त होवे ॥ २७ ॥

[११४९] जो लोग (बभ्र्वै सुरायै मदे सिञ्चन्ति) बलके धारण करनेवाले सोमके लिये ओषधियोंके रसको सींचते हैं (परिसिञ्चन्ति) सब ओरसे पीते हैं, (उत्सिञ्चन्ति) उत्कृष्टतासे ग्रहण करते हैं, (च पुनन्ति) और पवित्र होते हैं, वे बलको प्राप्त करते हैं, और जो (किन्त्वः किन्त्वः वदाति) क्या वह, क्या वह, इस प्रकारसे केवल कहताही रहता है वह कुछ भी पाता है ॥ २८ ॥

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ २९ ॥

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्। येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ३० ॥

अध्वर्यो अद्रिभिः सुतꣳ सोमं पवित्र आ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३१ ॥

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः।
य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ ३२ ॥

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्ण एष ते योनिरश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३३ ॥

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे। वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥३४॥

अश्विनकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रेण सुत्राम्णा कृतस्य। उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि ॥ ३५ ॥

[११५०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (प्रातः नः धानावन्तं, करम्भिणं, अपूपवन्तं उक्थिनं) प्रातःकाल हमारे धनोंसे युक्त, दही और सत्तू मालपूए आदिके सहित, स्तुतिके साथ पुरोडाशको (जुषस्व) सेवन करो ॥ २९ ॥

[११५१] हे (मरुतः) मरुत वीरो ! (इन्द्राय) इन्द्रके लिये (वृत्रहन्तारं बृहत् गायत) वृत्र असुरका नाश करनेवाले इन्द्रके लिये बृहत् सामका गान करो, (ऋतावृधः येन देवाय देवं जागृवि ज्योतिः अजनयन्) यज्ञकी वृद्धि करनेवाले ऋत्विजोंने जिस सामगानसे इन्द्रके लिये जाग्रत अविनाशी तेजको प्रकट किया ॥ ३० ॥

[११५२] हे (अध्वर्यो) हे अध्वर्यु ! तुम (अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्रे आनय) ग्रावा द्वारा अभिषुत सोमको पवित्र करनेके स्थानमें ले आओ, (इन्द्राय पातवे पुनाहि) इन्द्रके और पान करनेके निमित्त उसको पवित्र करो ॥ ३१ ॥

[११५३] (यः भूतानां अधिपतिः) जो समस्त प्राणियोंका स्वामी है, (यस्मिन् लोकाः अधिश्रिताः) जिसमें सब लोक आश्रित हैं और (यः महान् महतः ईशे) जो सबसे महान होकर बडे बडे पदार्थोंको भी अपने वश कर रहा है (तेन, त्वां अहं गृह्णामि) उस परमेश्वरके सामर्थ्यसे तुमको में स्वीकार करता हूं, तथा (त्वां अहं मयि गृह्णामि) तुमको में अपनेमेंही ग्रहण करता हूं ॥ ३२ ॥

[११५४] तू (अश्विभ्यां उपयामगृहीतः असि) दोनों अश्विनी कुमारोंसे उत्तम नियमोंके अनुकूल ग्रहण किया गया है, (त्वा सरस्वत्यै, त्वा इन्द्राय, त्वा सुत्राम्णे) तुझको सरस्वतीके लिये, तुझको इन्द्रके लिये और तुझको उत्तम रक्षाके लिये ग्रहण करता हूं। (एषः ते योनिः) यह तेरा उत्पत्ति स्थान है, (त्वा अश्विभ्यां, त्वा सरस्वत्यै त्वा इन्द्राय, त्वा सुत्राम्णे) तुझको दोनों अश्विनी कुमारोंके लिये तुझको सरस्वतीके लिये, तुझको इन्द्रके लिये और तुझको उत्तम रक्षणके लिये लेता हूं ॥ ३३ ॥

[११५५] तू (मे प्राणपाः) मेरे प्राणोंका पालक, (अपानपाः, श्रोत्रपाः) अपानोंका पालक और श्रोत्रोंका रक्षक है। (मे वाचः विश्वभेषजः) मेरे वागिन्द्रियके सब दोषोंको दूर करनेवाला तथा (मनसः विलायकः असि) मनको विविध मार्गोंमें प्रगतिके लिये लगानेवाला है ॥ ३४ ॥

[११५६] (उपहूतः) आदरपूर्वक निमन्त्रित हुआ में (ते अश्विन कृतस्य सरस्वति कृतस्य सुत्राम्णा) तेरा अश्विनी कुमारोंसे संस्कार किये और सरस्वतीसे प्रस्तुत किये हुये, रक्षा करनेवाले (इन्द्रेण कृतस्य उपहूतस्य भक्षयामि) ऐश्वर्यसे युक्त इन्द्रसे किये हुये समीपमें लाये अन्नादिका भक्षण करता हूं ॥ ३५ ॥

समिद्ध इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद्वावृधानः ।
त्रिभिर्देवैस्त्रिꣳशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं वि दुरो ववार ॥ ३६ ॥
नराशꣳसः प्रति शूरो मिमानस्तनूनपात्प्रति यज्ञस्य धाम ।
गोभिर्वपावान् मधुना समञ्जन् हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः ॥ ३७ ॥
ईडितो देवैर्हरिवाँ२ अभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्धमानः ।
पुरन्दरो गोत्रभिद्वज्रबाहुरा यातु यज्ञमुप नो जुषाणः ॥ ३८ ॥

जुषाणो बर्हिर्हरिवान् न इन्द्रः प्राचीनꣳ सीदत् प्रदिशा पृथिव्याः ।
उरुप्रथाः प्रथमानꣳ स्योनमादित्यैरक्तं वसुभिः सजोषाः ॥ ३९ ॥

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः ।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्ताꣳ सुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः ॥ ४० ॥

[११५७] (समिद्धः उषसां अनीके पुरोरुचा पूर्वकृत्) अच्छी तरह दीप्त, उषा कालके समय अर्थात् प्रभातकालमें, आगे चलनेवाले प्रकाशसे सूर्यरूपसे पूर्व दिशाको प्रकाश करनेवाले, (त्रिभिः त्रिशता देवैः) तीन और तीस अर्थात् तैंतीस देवताओंके साथ (वावृधानाः वज्रबाहुः इन्द्रः) वृद्धि करनेवाले वज्र हाथमें लिये इन्द्रने (वृत्रं जघान) वृत्रासुरको मारा और (दुरः विवार) पुरके द्वारोंको खोल दिया ॥ ३६ ॥

[११५८] जो (नराशंसः, यज्ञस्य धाम, प्रतिमिमानः) जनोंसे स्तुतिके योग्य, यज्ञका स्थान, अनेक उत्तम पदार्थोंका निर्माण करनेवाला, (शूरः, तनूनपात्, गोभिः वपावान्) शूरवीर, शरीरका पतन न करनेवाला, गव..द के दुग्धसे युक्त, (मधुना समञ्जन्, हिरण्यैः चन्द्री प्रचेताः प्रति यजति) मधुर स्वादिष्ट घृतसे अच्छी प्रकार प्रकाशित हुआ, सुवर्णादि द्रव्योंसे बहुत उत्तम वर्णवाला, उत्तम विद्वान्, प्रतिदिन यजन करता है वही हमारे आश्रयके योग्य है ॥ ३७ ॥

[११५९] (देवैः ईडितः, हरिवान् अभिष्टिः हविषा आजुह्वानः) देवताओंसे जिसकी स्तुति होती है ऐसा, किरणोंसे युक्त, सम्पूर्ण यज्ञोंमें स्तुत्य, हविद्वारा ऋत्विजोंसे जिसके लिये आहुतियां दी जाती हैं ऐसा (शर्धमानः पुरन्दरः गोत्रभित् वज्रबाहुः) अत्यधिक बलशाली, शत्रुओंके नगरोंको विदीर्ण करनेवाला, असुरोंके किलोंका नाशक और जिसके बाहु वज्रके समान बलयुक्त हैं ऐसा अग्नि (नः यज्ञं उपजुषाणः आयातु) हमारे यज्ञको सेवन करता हुआ आजाय ॥३८॥

[११६०] (हरिवान् उरुप्रथाः सजोषा इन्द्रः) तेजस्वी किरणोंसे युक्त, अत्यन्त विस्तृत कीर्तिवाला और प्रीतिमान इन्द्र तुम (पृथिव्याः प्रदिशा आदित्यैः वसुभिः अक्तम्) भूमिके प्रदिशामें निर्मित प्राचीन बर्हिशालाको लक्ष्य करके बारह आदित्यों और आठ वसुओंसे युक्त हो करके, (प्रथमानं स्योनं बर्हिः जुषाणः) विस्तीर्ण सुखरूप आसनको सेवन करते हुये (नः प्राचीनं सीदतु) हमारे यज्ञ स्थानमें विराजमान होओ ॥ ३९ ॥

[११६१] जिस प्रकार (कवष्यः जनयः सुपत्नीः धावमानाः) उत्तम स्तुति करनेवाली, सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ अच्छी गृहपत्नियां रजोधर्मसे शुद्ध हुई हुई (वृषाणं यन्तु) अपने बलवान पतिको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार (सुवीराः देवीः महोभिः) उत्तम वीर पुरुषोंसे सजी, शोभावाली तेजोंसे युक्त सेनायें (वीरं प्रथमानाः द्वारः दुरः इन्द्रं अभितः विश्रयन्ताम्) वीर्यवान् राजाकी शक्ति और यशको विस्तृत करती हुई, शत्रुओंके निवारण करनेवाली द्वारोंके समान सुदृढ सेनायें इन्द्रके सब ओरसे विविध प्रकार खडी हों ॥ ४० ॥

उपासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम् ।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे ॥ ४१ ॥

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा ।
मूर्धन् यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः ॥ ४२ ॥

तिस्रो देवीर्हविषा वर्धमाना इन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः ।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्तिः ॥ ४३ ॥

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि ।
वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्धन् यज्ञस्य समनक्तु देवान् ॥ ४४ ॥

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः ।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन ॥ ४५ ॥

[११६२] (बृहती पयस्वती सुदुघे) बडी, दूधवाली, सुन्दर दोहनवाली, (ततं तन्तुं, पेशसा, संवयन्ती उपासानक्ता) विस्तारवान् सूत्र सदृश, विचित्र प्रकारसे संग्रथित करनेवाली अर्थात् उत्तम सौन्दर्यसे इन्द्रको युक्त करनेवाली उषा और रात्रि (बृहन्तं शूरं देवानां देवं इन्द्रं सुरुक्मे यजतः) महान्, पराक्रमी, देवताओंके देवता इन्द्रको सुन्दर दीप्तिमें युक्त करती है ॥ ४१ ॥

[११६३] (पुरुत्रा मिमानाः मनुषः) बहुत प्रकारसे यज्ञ रचना करनेवाले मानुष होताके (प्रथमा सुवाचा यज्ञस्य मूर्धन् इन्द्रं दधाना) पहले सुन्दर वचनवाले यज्ञके प्रधान अङ्ग शिरोभागमें इन्द्रको स्थापन करते हुये, (दैव्या होतारः प्राचीनं ज्योतिः) दिव्य होता वायु और अग्नि पूर्व दिशामें वर्तमान आहवनीय अग्निको (मधुना हविषा वृधातः) मधुर हविसे बढाते हैं ॥ ४२ ॥

[११६४] (देवीः, विश्वतूर्त्तिः) दीप्यमान सर्वगामिनी (सरस्वती, भारती इडा) सरस्वती भारती और इला (तिस्रः वर्धमानाः पत्नीः जनयः न) तीनों बढती हुई साध्वी स्त्रियोंके समान, (इन्द्रं जुषाणाः देवीः) इन्द्रको सेवन करती देवियां (पयसा हविषा तन्तुं अच्छिन्नम्) दुग्ध और हविसे यज्ञको विघ्नरहित करें ॥ ४३ ॥

[११६५] (त्वष्टा वृष्णे इन्द्राय शुष्मन् दधत) उत्तम कार्योंको करनेमें समर्थ तेजस्वी वीर, शत्रुओंकी शक्तिको तोडनेवाले इन्द्रके लिये बलको धारण करे, और वह (अपाकः यशसे अचिष्टुः पुरूणि) सबसे अधिक प्रशंसनीय कीर्ति और यशके लिये पूजित होनेवाला होकर बहुत पदार्थोंको धारण करे, तथा वही (वृषा भूरि रेताः वृषणं यजन्) मनोरथोंकी वर्षा करनेवाला, अत्यन्त पराक्रमी, बलवान् इन्द्रको प्राप्त करता हुआ (यज्ञस्य मूर्द्धन् देवान् सं अनक्तु) यज्ञके सर्वोच्च पदपर रहकर विजयशील विद्वान् देवोंको एकत्र करे ॥ ४४ ॥

[११६६] (वनस्पतिः पाशैः अवसृष्टः वनस्पति महावृक्ष वट स्वयं सभी बन्धनोंसे मुक्त होकर भी (त्मन्या सं अञ्जन् देवः) अपनेही सामर्थ्यसे प्रकाशमान होता हुआ दिव्य गुण युक्त (शमिता न) शान्ति देनेवालेके समान सबका हितकारी हो जाता है, और वह (इन्द्रस्य जठरं हव्यैः पृणानः यज्ञं मधुना घृतेन स्वदाति) ऐश्वर्यवान इन्द्रके उदरके समान कोशको योग्य अन्नोंसे पूर्ण करता हुआ व्यवस्थित सुसंगत यज्ञको अपने मधुर तेजसे शहद व घृतसे युक्त भोजनके समान स्वयं भोगता है ॥ ४५ ॥

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूर इन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट् ।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ४६ ॥
आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः ।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ ४७ ॥
आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः ।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ ४८ ॥
आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च ।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ ॥ ४९ ॥
त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ हवे-हवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ५० ॥
इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ५१ ॥

[११६७] (शूरः वृषायमाणः वृषभः तुराषाट् इन्द्रः) बलवान्, शत्रुओंके प्रति अपना बल बतानेवाला मेघके समान सुखकी वर्षा करनेवाला और हिंसक दुष्ट शत्रुओंको पराजित करनेवाला इन्द्र और (स्वाहा) स्वाहाकारमें (घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः) घृतके आहुतियोंसे मनमें आनंदित होते हुये ये सब (अमृताः देवाः स्तोकानां इन्दुं मादयन्ताम्) मरणरहित देवगण अल्प घृतबिन्दुयुक्त सोमको प्राप्त कर आनंदित हों ॥ ४६ ॥

[११६८] (शूरः इन्द्रः नः अवसे इह उप आयातु) पराक्रमी इन्द्र हमारी सुरक्षाके लिये यहां प्राप्त हो, वह (स्तुतः सधमाद् अस्तु) प्रशंसित होकर समस्त जनोंके साथ सुप्रसन्न होकर रहे, (यस्य पूर्वीः तविषीः) जिसके पूर्ण सामर्थ्यवाले बलके बडे बडे कार्य व शक्तियां विद्यमान हैं और स्वयं (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होनेवाला है ऐसा वह (अभिभूति क्षत्रम् द्यौः न पुष्यताम्) शत्रुको पराजय करनेमें अपने समर्थ क्षात्र बलको सूर्यके समान तेजस्वी व पुष्ट करे ॥ ४७ ॥

[११६९] (अभिष्टिकृत् उग्रः ओजिष्ठेभिः नृपतिः वज्रबाहुः) मनोरथोंका पूर्ण करनेवाला, उत्कृष्ट अत्यन्त तेजस्वी बलोंसे युक्त, मनुष्योंका पालन करनेवाला, वज्रधारी (सङ्गे, समत्सु, पृतन्यून् तुर्वणिः इन्द्रः) एक संग्राममें, तथा बहुतसे बडे युद्धोंमें शत्रुओंको मारनेवाला इन्द्र (न अवसे दूरात् आयासत्) हमारी रक्षा करनेके लिये दूरसे आवे, और (नः आसात् आ) हमारे निकट स्थानसे भी आगमन करे ॥ ४८ ॥

[११७०] (मघवा विरप्शी वज्री इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, महान् वज्रधारी इन्द्र (नः अवसे च राधसे अर्वाचीनः) हमारी रक्षाके निमित्त और सम्पत्तिकी वृद्धिके लिये हमारे समीप आता हुआ (हरिभिः अच्छ आयातु) घोडोंके द्वारा अच्छे प्रकारसे आगमन करे और आगमन करके (नः इमं यज्ञं अनुवाजसातौ तिष्ठाति) हमारे इस यज्ञमें तथा प्रजापतिके महान कार्यमें उपस्थित रहे ॥ ४९ ॥

[११७१] मैं (त्रातारं इन्द्रं ह्वयामि) रक्षा करनेवाले इन्द्रको बुलाता हूं, (अवितारं इन्द्रं हवे हवे) पालन करनेवाले इन्द्रको प्रत्येक यज्ञमें बुलाता हूं, (सुहवं शूरं इन्द्रं उत्तमरीतिसे बुलाये जाने योग्य, पराक्रमी इन्द्रको बुलाता हूं, (शक्रं पुरुहूतं इन्द्रं) समर्थ, बहुतोंसे सत्कार पाये हुये इन्द्रको बुलाता हूं, वह (मघवा इन्द्रः नः स्वस्ति धातु) धनवान इन्द्र हमको कल्याण प्रदान करे ॥ ५० ॥

[११७२] (सुत्रामा इन्द्रः) सबका उत्तम साधनोंसे पालन करनेवाला इन्द्र (स्ववान् विश्ववेदाः अवोभिः सुमृडीकः भवतु) अपने नाना सहायकोंसे युक्त, सब तरहके ऐश्वर्योंको प्राप्त करके, अन्नों द्वारा अपनी सब प्रजाके लिये सुखकारी हो । वह राजा इन्द्र अपनेसे (द्वेषः बाधताम्) शत्रुता करनेवालोंको पीडित करे, सबको (अभयं कृणोतु) भय रहित करे, और उसके द्वारा हम सब प्रजाजन (सुवीर्यस्य पतयः स्याम) उत्तम सामर्थ्य और पराक्रमके स्वामी होवें ॥ ५१ ॥

तस्यं व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापिं भ॒द्रे सौम॑न॒से स्या॑म ।
स सु॒त्रामा॒ स्ववाँ॒२ इन्द्रो॑ अ॒स्मे आ॒राच्चि॒द् द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑योतु ॥ ५२ ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः ।
मा त्वा॒ के चि॒न्नि य॑मन् विं न पा॒शिनोऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ२ इ॑हि ॥ ५३ ॥

ए॒वेदिन्द्रं॒ वृष॑णं॒ वज्र॑बाहुं॒ वसि॑ष्ठासो अ॒भ्य॒र्च॒न्त्य॒र्कैः ।
स नं स्तु॒तो वी॒रव॑द्धातु॒ गोम॑द्यूयं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ५४ ॥

समि॑द्धो अ॒ग्निर॑श्विना त॒प्तो घ॒र्मो वि॒राट् सु॒तः । दु॒हे धे॒नुः सर॑स्वती॒ सोम॑ꣳ शु॒क्रमि॒हेन्द्रि॒यम् ॥५५॥
त॒नू॒पा भि॒षजा॑ सु॒तेऽश्वि॒नोभा सर॑स्वती । मध्वा॒ रजा॑ꣳसीन्द्रि॒यमिन्द्रा॑य प॒थिभि॑र्वहान् ॥ ५६ ॥
इन्द्रा॒येन्दु॑ꣳ सर॑स्वती॒ नरा॒शꣳसे॑न न॒ग्नहु॑म् । अधा॑ताम॒श्विना॒ मधु॑ भेष॒जं भि॒षजा॑ सु॒ते ॥ ५७ ॥

[११७३] (वयं तस्य यज्ञियस्य सुमतौ स्याम्) हम उस पूजनीय इन्द्रकी सुमतिमें रहें और (भद्रे सौमनसे अपि) कल्याणकारी श्रेष्ठ मनमें भी रहें (सः सुत्रामा स्ववान् इन्द्रः) वह उत्तम रक्षकोंसे युक्त ऐश्वर्यवान इन्द्र (अस्मे आरात् चित् द्वेषः सनुतः युयोतु) हमसे दूर स्थित होता हुआ भी हमसे द्वेष करनेवाले पुरुषोंको सदा पृथक् करे ॥ ५२ ॥

[११७४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (मयूररोमभिः मन्द्रैः हरिभिः आया हि) मोरके पंखोंके समान वर्णके लोमों-वाले और गंभीर शब्दवाले अपने घोडोंद्वारा यहां आगमन करो, (पाशिनः न विं त्वा केचित् मा नियमन्) फांसा फेंकनेवाले शिकारी लोग जिस प्रकारसे पक्षीको फांस लेते हैं, उस प्रकारसे तुमको कोई भी सत्रु अपने बंधनमें न फांस सके, तू (तान् अति धन्वा इव अति आ इहि) उन दुष्ट शत्रुओंको भी बडे धनुर्धरके समान वीरतापूर्वक दूर करके हमें प्राप्त होओ ॥ ५३ ॥

[११७५] (वृषणं वज्रबाहुं इन्द्रं एव इत) कामनाओंकी वर्षा करनेवाले और बाहु वज्रके समान धारण करनेवाले इन्द्रको ही (वसिष्ठासः अर्कैः अभि अर्चन्ति) वसिष्ठ ब्रह्मर्षि मन्त्रोंद्वारा पूजा करते हैं, (सः स्तुतः नः वीरवत् गोमत् धातु) वह कीर्तिमान स्तुतिको प्राप्त हुआ इन्द्र हमारे वीरोंसे युक्त और गौ आदि पशुओंसे समृद्ध राष्ट्रकी रक्षा करे । हे ऋत्विजो ! (यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात) तुम सब भी हमारे लिये सदा अनेक कल्याणोंके साथ रक्षा करनेवाले हों ॥ ५४ ॥

[११७६] हे (अश्विनौ) दोनों अश्विनी कुमारो ! (अग्निः ततः घर्मः विराट् सुतः) अग्नि तेजस्वी अपने तेजसे अत्यन्त प्रदीप्त, तप्यमान, और विविध ऐश्वर्योंसे युक्त होकर सोमसे रस निकाला हुआ है, और (सरस्वती धेनुः इह) सरस्वती गौके सदृश सारपदार्थोंको प्रदान करनेवाली इस यज्ञमें (शुक्रं इन्द्रियं सोमं दुहे) शुद्ध कान्तिमान् इन्द्र राजाके पदके योग्य सोमका दोहन करती है ॥ ५५ ॥

[११७७] (तनूपा भिषजा उभा अश्विना) शरीरके रक्षक सर्व रोगनिवारक वैद्य दोनों अश्विनी कुमार और (सरस्वती मध्वा रजांसि, इन्द्रियं पथिभिः इन्द्राय वहान) सरस्वती मधुसे समस्त लोकोंको अनेक मार्गोंसे परम ऐश्वर्यवान् इन्द्रको ले जाती हैं ॥ ५६ ॥

[११७८] (सरस्वती नराशंसेन इन्द्राय) सरस्वतीने यज्ञके द्वारा इन्द्रके लिये (इन्दुं नग्नहुं) सोम महो-षधियोंके कन्दको लाया और (भिषजा अश्विना) वैद्य अश्विनी कुमारोंने (सुते मधु भेषजं अधाताम्) सोमयागमें इस मधुर ओषधिको स्थापन किया ॥ ५७ ॥

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम् । इडाभिरश्विनाविषंᳪ समूर्जᳪ सᳪ रयिं दधुः ॥५८॥

अश्विना नमुचेः सुतᳪ सोमᳪ शुक्रं परिस्रुता । सरस्वती तमाऽभरद्बर्हिषेन्द्राय पातवे ॥ ५९ ॥

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशः । इन्द्रो न रोदसी उभे दुहे कामान्त्सरस्वती ॥६०॥

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रᳪ सायमिन्द्रियैः । सञ्जानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥ ६१ ॥

पातं नो अश्विना दिवा पाहि नक्तᳪ सरस्वति ।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रᳪ सचा सुते ॥ ६२ ॥

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा । तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥ ६३ ॥

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती । इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियᳪ रूपᳪ-रूपमधुः सुते ॥६४॥

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता । कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती ॥ ६५ ॥

[११७९] इन्द्रको (आजुह्वाना सरस्वती) बुलानेवाली सरस्वतीने और (अश्विनौ) दोनों अश्विनी कुमारोंने (इन्द्राय इन्द्रियाणि वीर्यं सन्दधुः) इन्द्रको इन्द्रियां और सामर्थ्य दिया तथा (इडाभिः इषं ऊर्जं रयिं सं) गौओंसे अन्न दही आदि रस एवं धनको प्रदान किया ॥ ५८ ॥

[११८०] (अश्विना परिस्रुता सुतं शुक्रं सोमं) दोनों अश्विनी कुमारोंने औषधियोंके रसके साथ मिलाये बल बढानेवाले सोमरसको (नमुचेः सरस्वती) नमुची नामक शत्रुसे सरस्वती ने हरण किया, और (तं इन्द्राय पातवे बर्हिषा आभरत्) उसको इन्द्रके पीनेके लिये कुशोंपर स्थापन किया ॥ ५९ ॥

[११८१] (अश्विभ्यां सरस्वती न इन्द्रः) दोनों अश्विनी कुमारोंके सहित सरस्वतीने और इन्द्रने, (उभे रोदसी) दोनों द्यावा पृथ्वी (न कवष्यः व्यचस्वतीः दुरः) और छिद्रयुक्त विस्तृत यज्ञीय द्वारके समान (न दिशः) और सब दिशाओंके समान (कामान् दुहे) अपनी कामनाओंका दोहन किया ॥ ६० ॥

[११८२] (सरस्वत्या अश्विना सञ्जानाने) सरस्वतीके सहित दोनों अश्विनी कुमार एक मत होकर (सुपेशसा, उषासा नक्तं दिवा सायम्) उत्तम रूपसे, प्रभात, रात्री, दिन और सायङ्काल (इन्द्रं इन्द्रियैः समञ्जाते) इन्द्रको सामर्थ्योंसे संयुक्त करते हैं ॥ ६१ ॥

[११८३] हे (अश्विना) दोनों अश्विनी कुमारो ! (दिवा नः पातम्) दिनमें हमारी रक्षा करो । हे (सरस्वती) सरस्वती ! तुम (नक्तं पाहि) रात्रीमें रक्षा करो । हे (दैव्या होतारा) दिव्य होताओ ! हे (भिषजा) वैद्यो ! (सुते सचा इद्रं पातम्) सोमके रस निकालनेमें एक होकर इन्द्रकी रक्षा करो ॥ ६२ ॥

[११८४] (त्रेधा, सरस्वती, भारती इडा) तीन प्रकारसे स्थित सरस्वती, भारती और इडा ये (तिस्रः) तीनोंने (अश्विना परिस्रुता तीव्रं मदं सोमं) दोनों अश्विनी कुमारों द्वारा अधिक हर्षवाले सोमका (इन्द्राय सुषुवुः) रस इन्द्रके लिये निकाला है ॥६३ ॥

[११८५] (सुते, नः इन्द्रे) सोमका रस तैयार होनेपर हमारे इन्द्रके लिये (अश्विना भेषजम्) दोनों अश्विनीकुमारोंने औषधि, (सरस्वती मधु भेषजम्) सरस्वतीने मधुर भेषज, (तुष्टा यशः) तुष्टा देवताने कीर्ति और (श्रियं रूपं रूपं अधुः) कान्ति तथा अनेक प्रकारके रूप धारण किये ॥ ६४ ॥

[११८६] (वनस्पतिः इन्द्रः शशमानः ऋतुथा परिस्रुता कालालम्) वनोंका पति इन्द्र उत्तम रीतिसे वृद्धिको प्राप्त होकर, ऋतुके अनुसार सोमका रस निकाल कर उसके साथ अन्नको भी मिला दिया और (धेनुः सरस्वती अश्विभ्यां मधु दुहे) गो ने तथा सरस्वतीने दोनों अश्विनी कुमारोंके साथ मधु अर्थात् उत्तमरसका दोहन किया ॥ ६५ ॥

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्रुता । समधातꣳ सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु ॥ ६६ ॥
अश्विना हविरिन्द्रियं नमुचेर्धिया सरस्वती । आ शुक्रमासुराद्वसु मघमिन्द्राय जभ्रिरे ॥ ६७ ॥
यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्धयन् । स बिभेद वलं मघं नमुचावासुरे सचा ॥ ६८ ॥
तमिन्द्रं पशवः सचाश्विनोभा सरस्वती । दधाना अभ्यनूषत हविषा यज्ञ इन्द्रियैः ॥ ६९ ॥
य इन्द्र इन्द्रियं दधुः सविता वरुणो भगः । स सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत ॥ ७० ॥
सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे । आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम् ॥ ७१ ॥
वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं भगेन सविता श्रियम् । सुत्रामा यशसा बलं दधाना यज्ञमाशत ॥ ७२ ॥
अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्यं बलम् । हविषेन्द्रꣳ सरस्वती यजमानमवर्धयन् ॥ ७३ ॥

[११८७] हे (अश्विना) दोनों अश्विनी कुमारो ! तुम दोनों (सरस्वत्या गोभिः परिस्रुता) सरस्वतीके द्वारा गौ के दूध घृतादिके साथ तथा महौषधियोंके रसके साथ (सुतं मधु सोमं इन्द्रे समधातम्) मिलाये मधुर सोमको इन्द्रके लिये अच्छी प्रकारसे अर्पण करो; (स्वाहा) उत्तम रीतिसे यह आहुति दी है ॥ ६६ ॥

[११८८] (अश्विना सरस्वती) दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वतीने (धिया नमुचेः आसुरात् इन्द्राय) बुद्धिसे नमुची नामक दैत्यसे इन्द्रके लिये (शुक्रं हविः इन्द्रियं मघं वसु आजभ्रिरे) शुद्ध हवि, ऐश्वर्य और पूजनीय श्रेष्ठ धनको लाकर अर्पण किया ॥ ६७ ॥

[११८९] (अश्विना सरस्वती सचा) दोनों अश्विनी कुमार और सरस्वतीने एकमत होकर (यं इन्द्रं हविषा अवर्द्धयन्) जिस इन्द्रको हविसे बढाया, (सः) उस इन्द्रने (आसुरे नमुचौ मघं बलं बिभेद) असुर नमुचिके महनीय बलको तोड दिया ॥ ६८ ॥

[११९०] (पवशः, उभा अश्विना सरस्वती) दूरदर्शी, दोनों अश्विनी कुमार और सरस्वती (सचा) साथ मिलकर (यज्ञे तं इन्द्रं) यज्ञमें उस इन्द्रको (हविषा इन्द्रियैः दधानाः अभ्यनूषत) अन्नादिके और ऐश्वर्यके प्रदानसे धारण करनेके कारण सब ओरसे प्रशंसित हुए हैं ॥ ६९ ॥

[११९१] (ये सविता, वरुणः भगः) जो सविता, वरुण और भग देवता हैं इन्होंने (इन्द्रे इन्द्रियं दधुः) इन्द्रमें इन्द्रियके बलोंको स्थापन किये । (सः हविष्यति सुत्रामा यजमानाय सश्चत) वह हविका स्वामी उत्तम रक्षक इन्द्र यजमानके लिये सहायक हो ॥ ७० ॥

[११९२] (सुत्रामा, नमुचेः वसु बलं इन्द्रियं आदत्त) उत्तम प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्रने नमुचि असुरसे उसका धन, बल और इन्द्रिय सामर्थ्य ले लिया, और (सविता वरुणः दाशुषे यजमानाय दधत) सविता व वरुण देवने दानशील यजमानके लिये धन एवं बलको दिया ॥ ७१ ॥

[११९३] (क्षत्रं इन्द्रियं भगेन) क्षत्रियको बल और ऐश्वर्यको (श्रियं यशसा बलं दधानाः) लक्ष्मीको तथा यशसहित सामर्थ्यको यजमानमें धारण करते हुये (सविता सुत्रामा यज्ञं आशत) सविता और अच्छी प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्र इस यज्ञकी सुरक्षा करते हैं ॥ ७२ ॥

[११९४] (अश्विना सरस्वती गोभिः अश्वेभिः हविषा) दोनों अश्विनी कुमार और सरस्वती, गौवों, घोडों तथा हविसे (इन्द्रियं, वीर्यं, बलं इन्द्रं यजमानं अवर्द्धयन्) धन, पराक्रम, बल एवं ऐश्वर्यसे यजमानको बढाते हैं ॥ ७३ ॥

+

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्तनी नरा । सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत ॥ ७४ ॥

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती । स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ७५ ॥

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा । विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत ॥ ७६ ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ७७ ॥

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः ।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये ॥ ७८ ॥

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः ।
वाजसनिꣳ रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥ ७९ ॥

[११९५] (हिरण्यवर्तनी सुपेशसा नरा ता नासत्या, हविष्मती, इन्द्र) सुवर्णमार्गमें विचरनेवाले, सुन्दर रूपवाले सबके नेता वे दोनों अश्विनीकुमार, हविवाली सरस्वती तथा हे इन्द्र ! तुम (कर्मसु नः अवत) यज्ञ कर्मोंमें हमारी रक्षा करो ॥ ७४ ॥

[११९६] (ता सुकर्मणा भिषजा) वे सुन्दर कर्म करनेवाले दोनों वैद्य अश्विनीकुमार, (सा सुदुघा सरस्वती) वह कामना पूर्ण करनेवाली सरस्वती और (सः वृत्रहा शतक्रतुः) वह वृत्रनाशक इन्द्र ये (इन्द्राय इन्द्रियं दधुः) इन्द्रके लिये इन्द्रिय सामर्थ्यको धारण करते हैं ॥ ७५ ॥

[११९७] हे (अश्विनौ) दोनों अश्विनी कुमारो ! और हे (सरस्वती) सरस्वती ! (युवं सचा नमुचौ आसुरे) तुम सब एक मत होकर, नमुचि असुरमें रहनेवाले (सुरामं विपिपानाः) सोमके रसको लेकर विविध प्रकारसे पान करते हुये, इन (कर्मसु इन्द्रं अवत) यज्ञकर्मोंमें इन्द्रकी रक्षा करनेवाले होओ ॥ ७६ ॥

[११९८] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (उभा अश्विना काव्यैः दंसनाभिः) दोनों अश्विनीकुमार मंत्रोंसे (त्वा आवथुः इव पितरौ पुत्रं) तुम्हारी रक्षा करते हैं, जिस प्रकार माता और पिता पुत्रकी रक्षा करते हैं । हे (मघवन्) इन्द्र ! (यत् शचिभिः सुरामं व्यपिबः) जो तू अपनी शक्तियोंके साथ सोमके रसका पान करता है, इस कारण (सरस्वती अभिष्णक्) सरस्वती तुम्हारे अनुकूल हुई है ॥ ७७ ॥

[११९९] (कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे अग्नये) अन्न रसके पान करनेवाले, सोमकी आहुति लेनेवाले शुभमति करनेवाले अग्निके लिये (हृदा मतिं चारु जनय) हृदयके मननसे उत्तम रीतिसे प्रकट करो । (यस्मिन् अश्वासः, उक्षणः ऋषभासः, वशाः मेषाः अवसृष्टासः आहुताः) जिसमें घोडे, सेचनमें समर्थ वृषभ, गौ, भेडे सुशिक्षित करके लिये जाते हैं ॥ ७८ ॥

[१२००] हे (अग्ने) अग्ने ! हम (ते आस्ये हविः अहावि) तुम्हारे मुखमें हविका हवन करते हैं, (इव स्रुचि घृतं, इव चम्वि सोमः) जिस प्रकार स्रुवामें घृत और जिस प्रकार पात्रमें सोमरस रहता है । तुम (अस्मे वाजसनिं सुवीरं रयिं प्रशस्तं बृहन्तं यशसं धेहि) हम लोगोंमें अन्न, वीरपुत्र, धन और सब लोकमें प्रशंसित बडे यशको प्रदान करो ॥ ७९ ॥

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम् । वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ८० ॥

गोमदू षु णासत्याश्वावद्यातमश्विना । वर्त्ती रुद्रा नृपाय्यम् ॥ ८१ ॥

न यत्परो नान्तर आदधर्षद्वृषण्वसू । दुःशंसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८२ ॥

ता न आ वोढमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम् । धिष्ण्या वरिवोविदम् ॥ ८३ ॥

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ८४ ॥

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ८५ ॥

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजति ॥ ८६ ॥

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ ८७ ॥

[१२०१] (अश्विना तेजसा चक्षुः) दोनों अश्विनी कुमारोंने तेजके सहित नेत्र, (सरस्वती प्राणेन वीर्यम्) सरस्वतीने प्राणके सहित सामर्थ्य, और (इन्द्रः वाचा बलेन इन्द्रियम्) इन्द्रने वाणीके सामर्थ्यसे इन्द्रियबल (इन्द्राय दधुः) इन्द्रके लिये धारण किया है ॥ ८० ॥

[१२०२] हे (नासत्या अश्विना) सत्य व्यवहार करनेवाले दोनों अश्विनी कुमारो ! और हे (रुद्राः) दुष्टोंको रुलानेवाले वीरो ! (उ सु गोमत् अश्वावत्) अवश्यही तुम सब गौओंसे युक्त और अश्वोंसे युक्त (वर्ती) मार्ग (नृपाय्यं यातं) जो मनुष्योंने पालन करने योग्य मार्ग है उससे गमन करो ॥ ८१ ॥

[१२०३] हे (वृषण्वसू) वृष्टि करनेवाले दोनों अश्विनी कुमारो ! (यत् दुःशंसः रिपुः मर्त्यः परः) जो निन्दा करनेवाला शत्रु मनुष्य है पर वह परकीय जैसा व्यवहार करता है; अथवा वह (अन्तरः न) अपने साथ उत्तम संबंध न रखता है वह हमको (आदधर्षीत न) नष्ट न कर सके ॥ ८२ ॥

[१२०४] हे (धिष्ण्या अश्विना) सबके धारण करनेवाले दोनों अश्विनीकुमारो ! (ता नः) वे तुम दोनों हमारे निमित्त (पिशङ्ग सदृशं वरिवोविदं रयिं आवोढम्) पीतवर्ण सुवर्ण और ऐश्वर्यको प्रदान करानेवाला धन प्राप्त कराओ ॥ ८३ ॥

[१२०५] (पावका, वाजेभिः वाजिनीवती, धिया वसुः सरस्वती) पवित्र करनेवाली, अन्नोंसे युक्त और बुद्धिके साथ धन देनेवाली सरस्वती (नः यज्ञं वष्टु) हमारे यज्ञको तेजस्वी बनावे ॥ ८४ ॥

[१२०६] (सूनृतानां चोदयित्री) उत्तम सत्य वाणियोंको प्रेरणा देनेवाली (सुमतीनां चेतन्ती) उत्तम बुद्धियोंको प्रकट करती हुई (सरस्वती) सरस्वती (यज्ञं दधे) यज्ञको धारण करती है ॥ ८५ ॥

[१२०७] (सरस्वती केतुना महः अर्णः प्रचेतयति) सरस्वती उत्तम ज्ञानसे बडे आकाशमें चेतना उत्पन्न करती है और (विश्वाः धियः वि राजति) सम्पूर्ण बुद्धियोंको नाना प्रकारसे प्रकाशित करती है ॥ ८६ ॥

[१२०८] हे (चित्रभानो इंद्र) अनेक प्रकारकी कान्तिवाले इन्द्र ! तुम इस स्थानमें (आयाहि) आगमन करो, (इमे त्वा यवः) ये तुम्हारी इच्छा करनेवाले, (तना पूतासः अण्वीभिः सुताः) अपनी अङ्गुलियोंसे सिद्ध किये पवित्र हुये सोमरस तुम्हारे लिये रखे हैं ॥ ८७ ॥

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ ८८ ॥

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ८९ ॥

अश्विना पिबतां मधु सरस्वत्या सजोषसा । इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्ताᳬ सोम्यं मधु ॥ ९० ॥

[अ०२०, कं० ९०, मं० सं० १००]

[पू० विं० मं० सं० १५८५]

इति विंशोऽध्यायः ।

इति पूर्वविंशतिः समाप्ता ।

[१२०९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (धिया विप्रजूतः) सुबुद्धि द्वारा प्रेरित, मेधावीजनोंसे प्रार्थित होकर (सुतावतः वाघतः ब्रह्माणि) ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले विद्वान् पुरुषोंको अन्न, धन व अधिकार प्राप्त करानेके लिये (उप आ याहि) समीप आगमन कर ॥ ८८ ॥

[१२१०] हे (हरिवः इन्द्र) श्रेष्ठ घोडोंवाले इन्द्र ! (तूतुजानः ब्रह्माणि उप आयाहि) शीघ्रता करते हुये तुम मंत्रपाठके समीप इस यज्ञमें आगमन करो, और आकर (सुते नः चनः दधिष्व) सोमके रस निकालने पर हमारे हविको अपने उदरमें धारण करो अर्थात् भक्षण करो ॥ ८९ ॥

[१२११] (सरस्वत्या सजोषसा अश्विना मधु पिबताम्) सरस्वतीके साथ परस्पर प्रीतियुक्त होकर दोनों अश्विनी कुमार मधुर सोमरसका पान करें, और (सुत्रामा वृत्रहा इंद्रः) उत्तम रक्षा करनेवाला वृत्रासुरका नाश करनेवाला इन्द्र (मधु सोम्यं जुषन्ताम्) मधुर सोमरसका सेवन करे ॥ ९० ॥

॥ वीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथोत्तरविंशतिः ।

अथैकविंशोऽध्यायः ।

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय । त्वामवस्युरा चके ॥ १ ॥

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्र मोषीः ॥ २ ॥

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अव यासिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाꣳसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥ ३ ॥

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ ।
अव यक्ष्व नो वरुणꣳ रराणो वीहि मृडीकꣳ सुहवो न एधि ॥ ४ ॥

महीमू षु मातरꣳ सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम ।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम् ॥ ५ ॥

[१२१२] हे (वरुण) वरुण ! (अवस्युः इमं त्वां आ चके) अपनी रक्षाकी इच्छा करनेवाला मैं इस श्रेष्ठ गुणसम्पन्न तुमको प्राप्त करना चाहता हूं, वह तुम (मे हवं श्रुधि) मेरी स्तुतिको सुनो (च अद्य मृडय) और आज मुझको सुखी करो ॥ १ ॥

[१२१३] हे (वरुण) वरुण ! (ब्रह्मणा त्वा वन्दमानः यजमानः हविर्भिः आशास्ते) वेदमन्त्रोंसे तुम्हारी स्तुति करता हुआ यजमान हवियोंसे तुम्हारी प्रीतिकी इच्छा करता है, (तत् त्वा यामि) उस तुझको मैं प्राप्त होता हूं । हे (उरुशंस) बहुतोंसे प्रशंसित ! (इह अहेडमानः बोधि) इस संसारमें सत्कारको प्राप्त होता हुआ तू हमको बोध कर और (नः आयुः मा प्रमोषीः) हम सब प्रजाजनोंके आयुको मत अपहरण कर ॥ २ ॥

[१२१४] हे (अग्ने) अग्ने ! (विद्वान् यजिष्ठः वह्नितमः शोशुमानः त्वम्) सब कुछ जाननेवाले, सबसे अधिक पूजा करने योग्य, अतिशय हवि हवन करनेवाले और कान्तिमान तुम (नः वरुणस्य देवस्य हेडः अव यासिसीष्ठाः) हमारे लिये वरुण देवके क्रोधको दूर करो और (विश्वा द्वेषांसि अस्मत् प्रमुमुग्धि) समस्त प्रकारके द्वेषभावोंको हमसे पृथक् करो ॥ ३ ॥

[१२१५] हे (अग्ने) अग्ने ! (सः त्वं अस्याः उषसः व्युष्टौ ऊती) वह प्रसिद्ध तुम इस उषाकालकी समृद्धिमें अपनी रक्षणशक्तिके साथ (नः अवमः नेदिष्ठः भव) हमारी रक्षा करनेके लिये हमारे अति समीप होओ, और (रराणः नः वरुणं अवयक्ष्व) हवि देते हुये हमारे वरुणदेवको तृप्त करो, तथा (मृडीकं वीहि) सुखकारक हविको भक्षण करो, एवं (नः सहवः एधि) हमारे द्वारा उत्तम प्रार्थना करने योग्य होओ ॥ ४ ॥

[१२१६] (ऊषुमहीं, सुव्रतानां मातरं, ऋतस्य पत्नीम्) बडी महिमावाली, श्रेष्ठ कर्मोंकी माता अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करनेवाले सत्यका पालन करनेवाली (तुविक्षत्रां, अजरन्तीं, उरूचीं, सुशर्माणं, सुप्रणीतिं अदितिम्) बहुत आक्रमणोंसे रक्षा करनेवाली, जरारहित, सत्य मार्गसे गमन करनेवाली, सुखरूप और उत्तम नीतिसे चलनेवाली अदितिको, अपनी (अवसे हुवेम) रक्षा करनेके लिये बुलाते हैं ॥ ५ ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसंꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ ६ ॥

सुनावमा रुहेयमस्रवन्तीमनागसम् । शतारित्राꣳ स्वस्तये ॥ ७ ॥

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् । मध्वा रजाꣳसि सुक्रतू ॥ ८ ॥

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन ।
आ मा जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा ॥ ९ ॥

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥ १० ॥

वाजे-वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ ११ ॥

समिद्धो अग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः । गायत्री छन्द इन्द्रियं त्र्यविर्गौर्वयो दधुः ॥ १२ ॥

[१२१७] (सुत्रामाणं, पृथिवीं, द्यां, अनेहसं, सुशर्माणम्) डूबनेसे बचानेवाली, विस्तृत, स्वर्गरूप, निर्दोष उत्तमरीतिसे आश्रय देनेवाली, (सुप्रणीतिं, सु अरित्रां अनागसं, अस्रवन्तीं दैवीं अदितिं नावम्) उत्तम संचालन करनेवाली, अच्छे पतवारोंवाली, मृत्यु आदिके भयसे रहित, बिना छिद्रके जलको भीतर न आने देनेवाली, दिव्य और अखण्डित नौकाको प्राप्त कर उस पर (स्वस्तये आरुहेम) कल्याणके निमित्त हम आरोहण करें ॥ ६ ॥

[१२१८] अस्रवन्तीं अनागसं, शतारित्रां, सुनावम्) न चूनेवाली छिद्ररहित, निर्दोष अर्थात् बनावटके दोषोंसे रहित, अनेकों लंगरवाली, सुन्दर नौकाको हम प्राप्त करके उसपर (स्यस्तये आरुहेयम्) कल्याणके लिये चढें ॥७॥

[१२१९] हे (सुक्रतू मित्रा वरुणा) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले मित्रावरुण देवताओ ! तुम दोनों (नः गव्यूतिं घृतैः आ उक्षतम्) हमारे यज्ञमार्गको घीके द्वारा सिंचित करो, और (मध्वा रजांसि) मधुसे लोकोंको सिंचित करो ॥ ८ ॥

[१२२०] हे (युवाना मित्रावरुणा) तरुण मित्रावरुण देवताओ ! तुम (मे इमा हवं श्रुतम्) मेरे इस प्रार्थनाको सुनकर (नः जीवसे बाहवा प्रसिसृतम्) हमारे दीर्घजीवनके लिये अपने भुजाओंको फैलाओ, (नः गव्यूतिं घृतेन आ उक्षतम्) हमारे मार्गको घृतसे सब प्रकार सिंचन करो और (मा जने आश्रवयतम्) मुझको लोकमें विख्यात करो ॥ ९ ॥

[१२२१] हे (स्वर्काः, मितद्रवः, वाजिनः, हवेषु देवताता) अच्छे अन्न वा वज्रसे युक्त, नियमित गतिसे चलनेवाले, अति उत्तम विज्ञानसे युक्त, यज्ञोंमें देवोंके समान श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषो ! तुम सब (अहिं वृकं रक्षांसि जम्भयन्तः) सर्प, भेडिया और राक्षसोंका विनाश करते हुये (नः सनेमि शं भवन्तु) हमारे लिये सनातन सुख देनेवाले होओ तथा (अस्मत् अमीवाः युयवन्) हमारे रोगोंको दूर करो ॥ १० ॥

[१२२२] हे (अमृताः, ऋतज्ञाः वाजिनः विप्राः) अमर होनेके कारणसे अविनाशी, सत्यके जाननेवाले, बलसे सम्पन्न बुद्धिमान लोगो ! तुम सब (वाजे वाजे धनेषु नः अवत) प्रत्येक युद्धमें और धन प्राप्त करनेके कार्योंमें हमारी रक्षा करो और (अस्य मध्व पिबत) इस मधुररसका पान करो, मधुर रस पान करके (मादयध्वम्) विशेष सुखको प्राप्त होओ तथा (तृप्ताः देवयानैः पथिभिः यात) तृप्त हो करके देवोंके जाने योग्य मार्गोंसे गमन करो ॥ ११ ॥

[१२२३] (समिधा समिद्धः सुसमिद्धः वरेण्यः अग्निः) समिधाओंसे भली प्रकार प्रज्वलित, सुदीप्त और स्वीकार करने योग्य अग्नि (गायत्री छन्दः त्र्यविः गौः इन्द्रियं वयः दधुः) गायत्री छन्द, शरीर आत्मा इन्द्रियकी वृद्धि करनेवाली गौ, ऐश्वर्य और आयुको यजमानके लिये धारण करे ॥ १२ ॥

तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती । उष्णिहा छन्दं इन्द्रियं दित्यवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १३ ॥
इडाभिरग्निरीड्यः सोमो देवो अमर्त्यः । अनुष्टुप्छन्दं इन्द्रियं पञ्चाविर्गौर्वयो दधुः ॥ १४ ॥
सुबर्हिरग्निः पूषण्वान्त्स्तीर्णबर्हिरमर्त्यः । बृहती छन्दं इन्द्रियं त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः ॥ १५ ॥
दुरो देवीर्दिशो महीर्ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः । पङ्क्तिश्छन्दं इहेन्द्रियं तुर्यवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १६ ॥
उषे यह्वी सुपेशसा विश्वे देवा अमर्त्याः । त्रिष्टुप्छन्दं इहेन्द्रियं पष्ठवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १७ ॥
दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा । जगती छन्दं इन्द्रियमनड्वान्गौर्वयो दधुः ॥ १८ ॥
तिस्र इडा सरस्वती भारती मरुतो विशः । विराट् छन्दं इहेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः ॥ १९ ॥
त्वष्टा तुरीपो अद्भुत इन्द्राग्नी पुष्टिवर्धना । द्विपदा छन्दं इन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुः ॥ २० ॥

[१२२४] (शुचिव्रतः, तनूनपात्) पवित्र व्रतधारी, शरीरोंको न गिरने देनेवाले अग्नि, (तनूपाः सरस्वती) शरीरों अर्थात् पुत्रादिके शरीरोंकी रक्षा करनेवाली सरस्वती, (उष्णिहा छन्दः) उष्णिक छन्द, (च दित्यवाद् गौ) और दिव्य हविको देनेवाली गौ पूजित होनेसे यजमानमें (इद्रियं वयः दधुः) बल तथा आयुको धारण करता है ॥१३॥

[१२२५] (इडाभिः ईड्यः अग्निः) स्तुतियोंद्वारा प्रशंसनीय अग्नि (अमर्त्यः देवः सोमः) मरणरहित दिव्य गुणयुक्त सोम, (अनुष्टुप् छन्दः पञ्चाविः गौः) अनुष्टुप् छन्द और पंचजनोंका रक्षण करनेवाली गौ पूजित होनेसे यजमानमें (इन्द्रियं वयः दधुः) पराक्रम तथा दीर्घ आयुको धारण करती है ॥ १४ ॥

[१२२६] (सुबर्हिः पूषण्वान् स्तीर्णबर्हिः अमर्त्यः अग्निः) उत्तम रीतिसे आकाशमें व्याप्त, पुष्टि करनेवाला, न विस्तृत कुशायुक्त और मरणरहित अग्नि, (बृहतीछन्दः, त्रिवत्सः गौः) बृहती छन्द और तीन वत्सोंवाली गौ, यजमानमें (इन्द्रियं वयः दधुः) बल तथा आयुको धारण करें ॥ १५ ॥

[१२२७] (महीः दिशः देवीः दुरः बृहस्पतिः) महान दिशा, दीप्यमान द्वार देवी, बृहस्पति (ब्रह्मा, देवः पंक्तिश्छन्दः तुर्यवाद् गौः) ब्रह्मा देवता, पंक्तिच्छन्द, चार वर्षकी गौ पूजित होकर इस यजमानमें बल और आयुको धारण करती है ॥ १६ ॥

[१२२८] (यह्वी सुपेशसा उषे) बडी पूजनीय, सुन्दर रूपवाली प्रभातवेला और सायंवेला उषा (अमर्त्याः विश्वे देवाः) मरणरहित सब देव, (त्रिष्टुप् छन्दः षष्ठवाट्गौः) त्रिष्टुप् छन्द, पृष्ठपर भार वहन करनेमें समर्थ वृषभ, (इह, इन्द्रियं वयः दधुः) यहां इस यजमानमें बल और दीर्घ आयुको धारण करें ॥ १७ ॥

[१२२९] (दैव्या, होतारा) देवी, आहुती करनेवाले यह अग्नि और माध्यमवायु (इन्द्रेण सयुजा यजौ भिषजा) इन्द्रके द्वारा संयुक्त होनेवाले, संयुक्त वैद्य अन्तरिक्षमें स्थित अग्नि और वायु, (जगती छन्दः अनड्वान् गौः) जगती छन्द, छः वर्षका युवा वृष इस यजमानमें (इन्द्रियं वयः दधुः) बल एवं दीर्घ आयुको धारण करें ॥१८॥

[१२३०] (इडा, सरस्वती, भारती तिस्रः) भूमि, सरस्वती और धारणावती बुद्धि ये तीनों देवियाँ, (मरुतः विशः) मरुत ये प्रजाजन (विराट् छन्दः न धेनुः गौः) विराट् छन्द और दुधारी गौ, इस यजमानमें (इन्द्रियं वयः दधुः) बल और आयुको धारण करें ॥ १९ ॥

[१२३१] (तुरीपः अद्भुतः त्वष्टा) शीघ्रतासे स्थानान्तरमें जानेमें समर्थ, आश्चर्य गुणकर्म स्वभावयुक्त त्वष्टा देवता, (पुष्टिवर्धना इन्द्राग्नि) तुष्टि-पुष्टिके बढानेवाले इन्द्र और अग्नि, (द्विपदा छन्दः, उक्षा गौः) द्विपात् छन्द और सेचनमें समर्थ गौ ये पांच (इन्द्रियं न वयः दधुः) बल एवं आयुको धारण करें ॥ २० ॥

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम् । ककुप्छन्द इहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः ॥ २१ ॥
स्वाहा यज्ञं वरुणः सुक्षत्रो भेषजं करत् । अतिच्छन्दा इन्द्रियं बृहदृषभो गौर्वयो दधुः ॥ २२ ॥
वसन्तेन ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः । रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २३ ॥
ग्रीष्मेण ऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुताः । बृहता यशसा बलꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २४ ॥
वर्षाभिर्ऋतुनाऽऽदित्या स्तोमे सप्तदशे स्तुताः । वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २५ ॥
शारदेन ऋतुना देवा एकविꣳश ऋभवं स्तुताः । वैराजेन श्रिया श्रियꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ।२६।
हेमन्तेन ऋतुना देवास्त्रिणवे मरुत स्तुताः । बलेन शक्वरीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २७ ॥
शैशिरेण ऋतुना देवास्त्रयस्त्रिꣳशेऽमृता स्तुताः । सत्येन रेवतीः क्षत्रꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥२८॥

[१२३२] (नः शमिता वनस्पतिः) हमको सुखी करनेवाली वनस्पति, (धनं प्रसुवन् सविता) धनको प्रेरणा करनेवाला सविता देवता, (ककुप्छन्दः, वशा, वेहत्) ककुप् छन्द, वशमें रहनेवाली गौ ये सब (इह इन्द्रियं वयः दधुः) यहाँ इस यजमानमें बल और आयुको धारण करें ॥ २१ ॥

[१२३३] (सुक्षत्रः वरुणः) उत्तम प्रकार दुःखोंसे रक्षा करनेवाला वरुण देवता (स्वाहा भेषजं यज्ञं करत्) उत्तम हवनीय पदार्थोंसे तथा ओषधियोंके हवनसे होनेवाले यज्ञको इन्द्रके लिये करनेसे (अतिच्छन्दः, बृहत् ऋषभः गौः) अतिछन्द, महान वृषभ गौ इन्द्रमें (इन्द्रियं वयः दधुः) बल और आयुको धारण करें ॥ २२ ॥

[१२३४] (त्रिवृता रथन्तरेण स्तुताः) त्रिवृत्स्तोम रथन्तरसे स्तुतिको प्राप्त हुये (वसन्तेन ऋतुना वसवः देवाः) वसन्त ऋतुके सहित आठों वसु और सब देव (इन्द्रे तेजसा हविः वयः दधुः) इन्द्रमें तेजके साथ हवि और आयुको धारण करते हैं ॥ २३ ॥

[१२३५] (पञ्चदशे बृहता स्तुता) पञ्चदशस्तोम और बृहत् स्तुतिको प्राप्त हुये (ग्रीष्मेण ऋतुना रुद्राः देवाः) ग्रीष्म ऋतुके सहित सब रुद्र देवता (इन्द्रे यशसा बलं दधुः) इन्द्रमें यशके द्वारा बल हवि और आयुको धारण करते हैं ॥ २४ ॥

[१२३६] (सप्तदशे स्तोमे वैरूपेण स्तुताः) सप्तदशस्तोम और विरूप छन्द द्वारा स्तुतिको प्राप्त हुय (वर्षाभिः ऋतुना आदित्याः) वर्षाऋतुके सहित आदित्य देवता (इन्द्रे विशा ओजसा हविः वयः दधुः) इन्द्रमें प्रजा द्वारा ओजके साथ हवि और आयुको धारण करते हैं ॥ २५ ॥

[१२३७] (एकविंशे वैराजेन स्तुताः श्रिया) एकविंशस्तोम विराजछन्द द्वारा स्तुतिको प्राप्त हुये लक्ष्मी और (शारदेन ऋतुना ऋभवः देवाः) शरद् ऋतुद्वारा ऋभुनामक देव, (इन्द्रे श्रियं हविः वयः दधुः) इन्द्रमें कान्ति, हवि और आयुको धारण करते हैं ॥ २६ ॥

[१२३८] (त्रिणवे शक्वरीः स्तुताः) त्रिनवस्तोम शक्वर छन्द द्वारा स्तुतिको प्राप्त हुये, (हेमन्तेन ऋतुना मरुतः देवाः) हेमन्त ऋतुके द्वारा मरुत देवगण (इन्द्रे बलेन सह हविः वयः दधुः) इन्द्रमें, बलके साथ हवि और अवस्थाको धारण करें ॥ २७ ॥

[१२३७] (त्रयस्त्रिंशे रेवतीः स्तुताः) त्रयस्त्रिशस्तोम रेवतीछन्दसे स्तुतिको प्राप्त हुये (शैशिरेण ऋतुना) शिशिर ऋतुके सहित (अमृताः देवाः) अमृत संज्ञक देवता गण (इन्द्रे, सत्येन, क्षत्रं हविः वयः दधुः) इन्द्रमें सत्यके साथ क्षत्रतेज हवि और आयुको धारण करते हैं ॥ २८ ॥

होता यक्षत्समिधाऽग्निमिडस्पदेऽश्विनेन्द्रꣳ सरस्वतीमजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैर्भेषजं मधु शष्पैर्न तेज इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २९ ॥

होता यक्षत्तनूनपात्सरस्वतीमविर्मेषो न भेषजं पथा मधुमता भरन्नश्विनेन्द्राय वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३० ॥

होता यक्षन्नराशꣳसं न नग्नहुं पतिꣳ सुरया भेषजं मेषः सरस्वती भिषग्रथो न चन्द्र्यश्विनोर्वपा इन्द्रस्य वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३१ ॥

होता यक्षदिडेडित आजुह्वानः सरस्वतीमिन्द्रं बलेन वर्धयन्नृषभेण गवेन्द्रियमश्विनेन्द्राय भेषजं यवैः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३२॥

[१२४०] (होता समिधा अग्निम्) आहवनीय वेदीमें स्थित होता समिधाके देनेसे अग्निको और (अश्विना इन्द्रं सरस्वतीं इडः पदे यक्षत्) दोनों अश्विनी कुमारों, इन्द्र एवं सरस्वतीको आहवनीय स्थानमें यजन करे, उस यागमें हम (धूम्रः अजः, गोधूमैः कुवलैः न शष्पैः मधु भेषजम्) धूम्र वर्णवाला बीज, गेहूं, बेर और अंकुरित व्रीहिके साथ मधुर भेषज औषधि (न तेजः इन्द्रियं पयः, परिस्रुता सोमः मधु, घृतं व्यन्तु) और तेज बल प्रदान करनेवाला दूध, परिस्रुता महोषधियोंके साथ सोम, मधु, घृतको प्राप्त करें। हे (होतः) होम निष्पादक ! तुम (आज्यस्य यज) घृतका होम करो जिससे देवतागण प्रसन्न हों ॥ २९ ॥

[१२४१] (होता, तनूनपात् सरस्वती अश्विना यक्षत) दिव्य होताने शरीरको न गिरानेवाली देवता सरस्वती और दोनों अश्विनी कुमारोंके लिये यजन किया, उस यज्ञमें (बदरैः उपवाकाभिः, तोक्मभिः, अविः, मेषः) बेर, इन्द्रजौ, अङ्कुरित व्रीहि, अजवाइन और मेष नामक ओषधिको (इन्द्राय मधुमता पथा वीर्यं भरन् भेषजम्) इन्द्रके लिये रसवाले यज्ञमार्गसे बलको पुष्ट करनेवाली भेषज अर्थात् आरोग्यता प्रदान करनेवाली होती है; अतः (न परिस्रुता पयः सोमः मधु घृतम् व्यन्तु) और परिस्रुत दूध, सोम, मधु और घृतकोही सब पान करें। हे (होतः) होता ! तुम भी इसी प्रकार (आजस्य यज) घृतसे यजन करो ॥ ३० ॥

[१२४२] (होता नराशंसं पतिं नग्नहुं यक्षत्) देवताओंके होताने मनुष्योंसे स्तुतिको प्राप्त होनेवाले पालक पूर्वोक्त ओषधियोंको यजन किया, उस यज्ञमें (सुरया बदरैः उपवाकाभिः तोक्मभिः मेषः) महोषधियोंके रस, बेर, इन्द्रजौ, व्रीहिद्वारा मेष (न भिषक् अश्विनोः चन्द्री रथः वपा, सरस्वती) और वैद्य दोनों अश्विनी कुमारोंका सुवर्णमय रथ, घृतसारको सरस्वतीने (इन्द्रस्य वीर्यं भेषजम्) इन्द्रके लिये बलकारक ओषधिरूप कल्पना किया, और उन देवताओंने (परिस्रुता पयः सोमः मधु भेषजं घृतं व्यन्तु) सब ओरसे प्राप्त रसके साथ दूध, सोम, मधु, ओषधि तथा घृतको पान किया। हे (होतः) हवनकर्ता जन ! तुम भी (आजस्य यज) घृतके द्वारा इसी प्रकार यजन करो ॥ ३१ ॥

[१२४३] देवताओंके (होता) होताने (इडा ईडितः) स्तुति करने योग्य वाणीसे प्रशंसित होकर (ऋषभेण धेन्वा बलेन वर्धयन्) इडादिको आह्वान पूर्वक बलिष्ठ गौके द्वारा बलसे बढाते हुये (सरस्वतीं इन्द्रं अश्विना यक्षत्) सरस्वती, इन्द्र और दोनों अश्विनी कुमारोंको प्रसन्न करनेके निमित्त यज्ञ किया, उस यज्ञमें (यवैः कर्कन्धुभिः न लाजैः, मासरम्) यवों, बेर, खीलें और भातको (इन्द्राय, इन्द्रियं मधु भेषजम्) इन्द्रके लिये बलकारक मधुर ओषधिका भी उपयोग किया। उन सब देवताओंने (परिस्रुता पयः, सोमः घृतं व्यन्तु) सब ओरसे रस युक्त दूध, सोम और मधुर घृतको पान किया। हे (होतः) होता ! तुम भी (आज्यस्य यज) घृतके द्वारा इसी प्रकार यजन करो ॥ ३२ ॥

होता यक्षद्बर्हिरूर्णम्म्रदा भिषङ्नासत्या भिषजाऽश्विनाऽश्वा शिशुमती भिषग्धेनुः सरस्वती भिषग्दुह इन्द्राय भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३३ ॥

होता यक्षद्दुरो दिशः कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिश इन्द्रो न रोदसी दुघे दुहे धेनुः सरस्वत्यश्विनेन्द्राय भेषजꣳ शुक्रं न ज्योतिरिन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३४ ॥

होता यक्षत्सुपेशसोषे नक्तं दिवाऽश्विना समञ्जाते सरस्वत्या त्विषिमिन्द्रे न भेषजꣳ श्येनो न रजसा हृदा श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३५ ॥

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजाऽश्विनेन्द्रं न जागृवि दिवा नक्तं न भेषजैः शूषꣳ सरस्वती भिषक् सीसेन दुह इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३६ ॥

[१२४४] (होता ऊर्णम्म्रदाः बर्हिः भिषजा नासत्या अश्विना सरस्वती यक्षत्) देवताओंके होता ऊर्णके सदृश कोमल प्रयाजदेवताको, वैद्य रूप दोनों अश्विनी कुमारोंने सरस्वतीके निमित्त यजन किया, जिसमें (शिशुमती अश्वाभिषक्, धेनुभिषक्, इन्द्राय भेषजम् दुहे) शिशुसेयुक्त घोडोंके चिकित्सक और सवत्सा गौके चिकित्सकने इन्द्रके निमित्त भेषजको दुहा, उस यज्ञमें सब देवताओंने (परिस्रुता पयः सोमः मधु घृतं व्यन्तु) सब ओरसे रसयुक्त दूध, सोम और मधुर घृतको पान किया। हे (होतः) होता ! तुम भी (आजस्य यज) घृतके द्वारा इसी प्रकारका यजन करो ॥ ३३ ॥

[१२४५] (होता दिशः कवष्यः) देवताओंके होता, दिशाओंके समान अवकाशवाले झरोखोंसे युक्त (न व्यचस्वतीः दुरः इन्द्रः न सरस्वती अश्विना यक्षत्) और गमनागमनके योग्य द्वारदेवी, इन्द्र तथा सरस्वतीने दोनों अश्विनी कुमारोंके निमित्त यजन किया। जिसमें (दिशः दुरः अश्विभ्यां न दुघे रोदसी इन्द्राय भेषजं दुहे) दिशाके समान द्वार दोनों अश्विनी कुमारोंके सहित तथा परिपूर्णता करनेवाले द्यावा पृथ्वी इन्द्रके लिये ओषधिको पूर्ण किये, सरस्वतीने (धेनुः शुक्रं ज्योतिः इन्द्रियम्) धेनु होकर इन्द्रकेही निमित्त शुद्ध ज्योति तेज बलको पूर्ण किया ! और उसी यागमें सब देवताओंने भी (परिस्रुता पयः सोमः मधु घृतं व्यन्तु) सब ओरसे रस युक्त दूध, सोम और मधुर घृतको पान किया। हे (होतः) होता ! तुम भी (आज्यस्य यज) घृतके द्वारा इसी प्रकारका यजन करो ॥ ३४ ॥

[१२४६] (होता सुपेशसा उषे न सरस्वत्या अश्विना यक्षत्) देवताओंके होता, सुन्दर रूपवाले दिनरात और सरस्वती दोनों अश्विनी कुमारोंके लिये यज्ञ किये, और उस यज्ञमें वे (नक्तं दिवा रजसा हृदा न श्रिया भेषजं मासरम्) रात्रि दिनमें ज्योति द्वारा चित्त और लक्ष्मीके साथ ओषधि, भात (न श्येनः त्विषिं इन्द्रे समञ्जाते) और श्येनपत्र व कान्तिको इन्द्रमें संमेलन किये। उसी यागमें सब देवताओंने भी (परिस्रुता पयः सोमः मधु घृतम् व्यन्तु) सब ओरसे रसयुक्त दूध, सोम और मधुर घृतको पान किये। हे (होतः) होता ! तुम भी (आज्यस्य यजः) घृतके द्वारा इसी प्रकारका यजन करो ॥ ३५ ॥

[१२४७] (होता, दैव्या होतारा भिषजा अश्विना न इन्द्रं यक्षत्) देवताओंके होताने, देवसम्बन्धी दोनों होताओं अर्थात् यह अग्नि और मध्यम प्रयाजदेव, वैद्य दोनों अश्विनी कुमार और इन्द्रको यजन किया, (दिवानक्तं जागृवि भिषक् सरस्वती भेषजैः शूषं न इन्द्रियं सीसेन दुहे) दिनरात जागरणशील अपने कार्यको सिद्ध करनेमें अप्रमत्त वैद्यक शास्त्र जाननेवाली सरस्वती ओषधियोंके साथ बल और ऐश्वर्यको सीसे द्वारा दोहन किया। उस यागमें सब देवताओंने (परिस्रुता पयः सोमः मधु घृतं व्यन्तु) सब ओरसे रसयुक्त दूध, सोम और मधुर घृतको पान किये। हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी (आज्यस्य यज) घृतके द्वारा इसी प्रकारका यजन करो ॥ ३६ ॥

होतां यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसो रूपमिन्द्रे हिरण्ययमश्विनेडा न भारती वाचा सरस्वती मह इन्द्राय दुह इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३७ ॥

होतां यक्षत् सुरेतसमृषभं नर्यापसं त्वष्टारमिन्द्रमश्विना भिषजं न सरस्वतीमोजो न जूतिरिन्द्रियं वृको न रभसो भिषग् यशः सुरया भेषजꣳ श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३८ ॥

होतां यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुं भीमं न मन्युꣳ राजानं व्याघ्रं नमसाऽश्विना भामꣳ सरस्वती भिषगिन्द्राय दुह इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३९ ॥

होतां यक्षदग्निꣳ स्वाहाऽऽज्यस्य स्तोकानाꣳ स्वाहा मेदसां पृथक् स्वाहा छागमश्विभ्याꣳ स्वाहा मेषꣳ सरस्वत्यै स्वाहं ऋषभमिन्द्राय सिꣳहाय सहस इन्द्रियꣳ स्वाहाऽग्निं न भेषजꣳ स्वाहा सोममिन्द्रियꣳ स्वाहेन्द्रꣳ सुत्रामाणꣳ सवितारं वरुणं भिषजां पतिꣳ स्वाहा वनस्पतिं प्रियं पाथो न भेषजꣳ स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणो अग्निर्भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ४० ॥

[१२४८] (होता, इडा भारती सरस्वती तिस्रः देवीः इन्द्रे न अश्विना यक्षत्) देवताओंके होताने, इडा भारती सरस्वती तीन देवियोंको इन्द्र और अश्विनौ कुमारोंके निमित्त यजन किया। (न अपसः त्रिधातवः त्रयः वाचा) और कर्मवान् तीन गुणवाले तीन धातुत्रयीलक्षणवाली वाणीसे (भेषजं हिरण्यं रूपं महः इन्द्रियं इन्द्राय दुहे) ओषधि, प्रकाशमानरूप और बडे बलको इन्द्रके लिये सरस्वतीने दोहन किया। उस यागमें सब देवताओंने (परिस्रुता पयः सोम मधु घृतं व्यन्तु) सब ओरसे रसयुक्त दूध सोम मधुर घृतका पान किया। हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी (आज्यस्य यज) घृतके साथ इसी प्रकारका यजन करो ॥ ३७ ॥

[१२४९] (होता, सुरेतसं ऋषभं नर्यापसं त्वष्टारम्) दिव्य होताने अच्छे पराक्रमी वर्षा करनेवाले मनुष्योंके हितकारी त्वष्टारूप प्रयाज देवताको, (इन्द्रं अश्विना न सरस्वतीं भिषजं यक्षत्) इन्द्र, अश्विनौ कुमार और सरस्वतीको चिकित्साके लिये यजन किया, (न रभसा भिषक्वृकः न सुरया श्रिया) और उद्यम युक्त वैद्यने वृक तथा सुरया नामक महोषधियोंके रससे युक्त ऐश्वर्यके सहित यज्ञ किया जिसमें (भेषजं मासरम्) आरोग्यवर्धक ओषधि और मासरपक्व अन्नादिको आहुतिरूपसे प्रदान किया, (न ओजः जूतिः इन्द्रियं यशः) इस प्रकार करनेसे ओज, वेग, बल और यश इन्द्रको प्राप्त हुआ, उस यागमें सब देवताओंने (परिस्रुता पयः सोम मधु घृतम् व्यन्तु) सब ओरसे रस युक्त दूध, सोम और मधुर घृतका पान किया। हे (होतः) होता ! तुम भी (आज्यस्य यज) घृतके साथ इसी प्रकारका यजन करो ॥ ३८ ॥

[१२५०] (होता मन्युं भीमं शतक्रतुं शमितारं वनस्पतिम्) देव सम्बन्धी होताने क्रोधात्मक, भयदायी, विविध यज्ञ सम्पादक संस्कार करनेवाले वनस्पतिरूप प्रयाज देवताको (राजानं, अश्विना, सरस्वती नमसा यक्षत्) राजा इन्द्रके लिये और दोनों अश्विनीकुमार व सरस्वतीके निमित्त अन्न द्वारा यजन किया। (भिषक् इन्द्राय भामं इन्द्रियं दुहे) वैद्यरूप सरस्वतीने इन्द्रके निमित्त क्रोध और बलको दोहन किया। उस यज्ञमें सब देवताओंने (परिस्रुता पयः सोमः मधु घृतम् व्यन्तु) सब ओरसे रसयुक्त दूध, सोम और मधुर घृतका पान किया। हे (होतः) होता ! तुम भी (आज्यस्य यज) घृतके साथ इसी प्रकारका यजन करो ॥ ३९ ॥

[१२५१] (होता अग्निं यक्षत्) दिव्य होताने अग्निका यजन किया (आज्यस्य स्तोकानां स्वाहा) घृतके बिन्दुओंकी आहुति देते हैं (मेदसां पृथक् स्वाहा) स्निग्ध पदार्थके लिये भिन्नरूपसे आहुति देते हैं (अश्विभ्यां छागं स्वाहा) दोनों अश्विनी कुमारोंके लिये छागको दिया गया, (सरस्वत्यै मेषम्) सरस्वतीके लिये मेषको दिया,

होता यक्षदश्विनौ छागस्य वपाया मेदसो जुषेतांᳲ हविर्होतर्यज ।
होता यक्षत्सरस्वतीं मेषस्य वपाया मेदसो जुषताᳲ हविर्होतर्यज ।
होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य वपाया मेदसो जुषताᳲ हविर्होतर्यज ॥ ४१ ॥

होता यक्षदश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रᳲ सुत्रामाणमिमे सोमाः सुरामाणश्छागैर्न मेषैर्ऋषभैः सुताः शष्पैर्न तोक्मभिर्लाजैर्महस्वन्तो मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः प्रस्थिता वो मधुश्चुतस्तानश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्ताᳲ सोम्यं मधु पिबन्तु मदन्तु व्यन्तु होतर्यज ॥ ४२ ॥

होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानाᳲ सुमत्क्षराणाᳲ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करत एवाश्विना जुषेताᳲ हविर्होतर्यज ॥ ४३ ॥

(सिंहाय सहसे इन्द्राय इन्द्रियं ऋषभं स्वाहा) सिंहके तुल्य पराक्रमी बलात्मक इन्द्रके उपयोगी शक्ति सम्पन्न ऋषभको दिया गया (न भेषजं अग्निं स्वाहा) और हितकारी अग्निको यह अर्पण है, (इन्द्रियं सोमं स्वाहा) बलकारी सोमको अर्पण किया, (सुत्रामाणं इन्द्रं सवितारं भिषजां पतिं वरुणं स्वाहा) अच्छी तरहसे रक्षा करनेवाले सविता देवता वैद्योंके पति वरुणके लिये पुरोडास देनेसे यह अर्पण हुआ (प्रियं पाथः भेषजं वनस्पति स्वाहा) प्रिय इष्ट अन्नभूत भेषजको वनस्पतिके लिये यह अर्पण है, (आज्यपाः देवाः भेषजं जुषाणाः) घृतपान करनेवाले देवगण औषधिको सेवन करते हुये (परिस्रुता पयः सोमः मधु घृतं व्यन्तु) सब ओरसे रसयुक्त दूध सोम और मधुर घृतका पान करते हैं। हे (होतः) होता ! तुम भी (आज्यस्य यज) घृतके साथ इसी प्रकारका यजन करो ॥ ४० ॥

[१२५२] (होता अश्विनौ यक्षत्) दिव्य होताने दोनों अश्विनी कुमारोंके उद्देश्यसे यजन किया, (छागस्य वपाया मेदसः हविः जुषेताम्) बकरोंकी वपासे हविको सम्पन्न करो, हे (होता) होता, तुम भी उसी प्रकार (यज) पवित्र यजन करो। (होता सरस्वतीं यक्षत्) दिव्य होताने सरस्वतीका यजन किया, सरस्वतीने (मेषस्य वपायाः मेदसः हविः जुषताम्) मेढाके बोजको बढानेवाली क्रिया तथा चिकने घृतादि पदार्थ व संस्कार किये अन्नादि पदार्थको यजन किया, हे (होतः) होता ! तुम भी उसी प्रकार (यज) यजन करो। (होता इन्द्रं यक्षत्) दिव्य होताने इन्द्रका यजन किया, उस इन्द्रने (ऋषभस्य वपायाः मेदसः हविः जुषताम्) बैलके बढानेवाले भागसे हवि अर्पण किया, हे (होता) होता ! तुम भी उस प्रकारसे (यज) यजन करो ॥ ४१ ॥

[१२५३] (होता अश्विनौ सरस्वतीं सुत्रामाणं इन्द्रं यक्षत्) दिव्य होताने दोनों अश्विनीकुमार, सरस्वती और भली प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्रके निमित्त यजन किया। हे अध्वर्यो ! (इमे छागैः मेषैः ऋषभैः सुरामाणः) ये छाग, मेष और ऋषभोंद्वारा मनोहर (न शष्पैः तोक्मभिः लाजैः महस्वन्तः मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तः) और तृण अन्न यवाङ्कुर खीलोंसे तेजयुक्त, प्रसन्न करनेवाले पक्वतंडुल आदिसे अलंकृत, कान्तिमान दूधसे युक्त (अमृताः प्रस्थिताः मधुश्चुतः) अमृतरूप, हवन सम्मुख चलते हुये मधुके टपकानेवाले (सोमाः सुताः) सोम तुम्हारे लिये रस निकाला है, (न अश्विना सरस्वती सुत्रामा वृत्रहा इन्द्रः तान् जुषन्ताम्) और दोनों अश्विनीकुमार, सरस्वती एवं भली प्रकारे रक्षक वृत्रासुरघाती इन्द्र उन सोमरसोंको सेवन करें तथा (सौम्यं मधु) सोमसम्बन्धी मधुको पान करें, (मदन्तु) तृप्त हो (व्यन्तु) विराजमान हों अथवा हविको भक्षण करें। हे (होतः) होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४२ ॥

[१२५४] (होता अश्विनौ यक्षत्) दिव्य होताने दोनों अश्विनी कुमारोंके लिये यजन किया। वे दोनों (अद्य छागस्य हविषः आत्ताम्) आज बकरेके हविको प्राप्त करें, और (मेदः मध्यतः उद्भृतम्) बल पूर्वक

होता यक्षत् सरस्वतीं मेषस्य हविष आवयदद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानाꣳ सुमत्क्षराणाꣳ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवꣳ सरस्वती जुषताꣳ हविर्होतर्यज ॥ ४४ ॥

होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य हविष आवयदद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानाꣳ सुमत्क्षराणाꣳ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवमिन्द्रो जुषताꣳ हविर्होतर्यज ।४५।

प्राणको अपने शरीरके बीचमेंसे उठावें, (द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभः पुरा नूनम् घस्ताम्) अप्रीति जनक बाधक व्यसनोंके पहले तथा पुरुषदेह पर आनेवाली विपत्तियोंके द्वारा उन अंशोंके नष्ट होनेके पूर्वही निश्चयसे देहके उन अंशोंको ग्रहण करें अर्थात उनको वश करें। (घासे अज्राणाम्, यवसप्रथमानाम्, सुमत्क्षराणाम्, शतरुद्रियाणाम्, अग्निष्वातानाम् पीवोपवसनानाम्) अन्न रस उदरस्थ करनेमें कभी नष्ट न होनेवाले सदा बलवान्, मिश्रण अमिश्रण उचित अंशको ग्रहण और हानिकारक अंशको त्यागनेमें श्रेष्ठ, उत्तम हर्षजनक, सैंकडों प्राणोंके स्वरूपमें प्रकट, जठराग्नि द्वारा उत्तम रीतिसे सुपाचित और पुष्टिकारी आवरणसे सुरक्षित (पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः उत्सादतः अङ्गादंगादवत्तानाम् करतः एव अश्विनौ जुषेताम्) कोरवोंसे, कटिभागसे, गुह्याङ्गसे और हानि प्राप्त करनेवाले प्रत्येक मर्म अङ्गसे, उन प्राणोंके सूक्ष्म भागको वे प्राण और अपान क्रिया शक्तिसे ही दोनों अश्विनी कुमार संचालित करें। हे (होतः) मनुष्य होता ! तू भी (हविः यज) प्राणको अपानमें और अपानको प्राणमें हविको प्रदान कर ॥ ४३ ॥

[१२५५] (होता सरस्वतीं यक्षत्) होताने सरस्वतीकी प्रीतिके लिये यजन किया, सरस्वतीने (मेषस्य हविषः आवयत्) मेषके हविसे अर्थात् मेषके दूधसे यज्ञको समाप्त किया, (मेदः मध्यतः उद्धतम्) प्राणको अपने शरीरमेंसे उठाया (द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभः पुरा नूनं घस्ताम्) द्वेष करनेवाले शत्रुओंके आक्रमणके पूर्व पुरुषार्थ करनेवाले वीरोंने संरक्षणका कार्य उत्तम रीतिसे किया (घासे अज्राणां यवसप्रथमानां, सुमत्क्षराणां शतरुद्रियाणां अग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानाम्) अन्नरस भक्षण करनेसे कभी नष्ट न होनेवाले, सदा बलवान्, मिश्रित अंशको ग्रहण करने और हानिकारक अंशको त्यागनेमें श्रेष्ठ, उत्तम हर्ष जनक, सैंकडों प्राणोंकी शक्तिसे युक्त, जठराग्नि द्वारा अच्छी रीतिसे सुपाचित और पुष्टिकारी आवरणसे सुरक्षित, (पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः उत्सादतः अङ्गादङ्गादवत्तानाम् करतः एव सरस्वती जुषताम्) पीछेसे, कटिभागसे गुह्याङ्गसे हानि प्राप्त करनेवाले प्रत्येक मर्म अङ्गसे, उन प्राणोंके सूक्ष्मभागको वे प्राण और अपान क्रिया शक्तिसे ही सरस्वती संचालित करें। हे (होतः) होता ! तू भी (हविः यज) हवि का यजन कर ॥ ४४ ॥

[१२५६] (होता इन्द्रं यक्षत्) होताने इन्द्रके लिये यजन किया, इन्द्रने (ऋषभस्य हविषः आवयत्) महाबलकारी हव्य पदार्थका सेवन किया, (मेदः मध्यतः उद्धृनम्) प्राणको अपने शरीरके बीचमेंसे बलपूर्वक उठाया, (द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभः पुरा नूनं घस्ताम्) द्वेष करनेवालोंके पूर्व पुरुषार्थी वीरोंके स्थानोंमे शत्रुओंको वशमें किया (घासे अज्राणाम्, वयसप्रथमानाम् सुमत्क्षराणाम् शतरुद्रियाणाम् अग्निष्वात्ताणाम्, पीवोपवसनानाम्) अन्नरस भक्षण करनेमें प्रवीण, सदा बलवान्, अन्नके उचित अंशको ग्रहण करने और हानिकारक अंशको त्यागनेमें श्रेष्ठ, उत्तम हर्षजनक, सैंकडों प्राणोंके स्वरूपमें प्रकट, जठराग्निद्वारा अच्छी रीतिसे सुपाचित और पुष्टिकारी आवरणसे सुरक्षित, (पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः उत्सादतः अङ्गादङ्गादवत्तानाम् करतः एव इन्द्रः जुषताम्) पीछले कटि भागसे, गुह्याङ्गसे और हानि प्राप्त करनेवाले, प्रत्येक मर्म अङ्गसे उन प्राणोंके सूक्ष्म भागको वे प्राण और अपान क्रियाशक्तिसेही इन्द्र संचालित करें। हे (होतः) होता ! तू भी (हविः यज) हविका हवन कर ॥ ४५ ॥

होता यक्षद्वनस्पतिमभि हि पिष्टतमया रभिष्ठया रशनयाधित । यत्राश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि यत्र सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रिया धामानि यत्राग्नेः प्रिया धामानि यत्र सोमस्य प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामानि यत्र सवितुः प्रिया धामानि यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथांꣳसि यत्र देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यत्राग्नेर्होतुः प्रिया धामानि तत्रैतान्प्रस्तुत्येवोपस्तुत्येवोपावस्रक्षद्रभीयस इव कृत्वी करदेवं देवो वनस्पतिर्जुषताꣳ हविर्होतर्यज ॥ ४६ ॥

होता यक्षदग्निꣳ स्विष्टकृतमयाडग्निरश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामान्ययाट् सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडग्नेः प्रिया धामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामान्ययाट् सवितुः प्रिया धामान्ययाड् वरुणस्य प्रिया धामान्ययाड् वनस्पतेः प्रिया पाथाꣳस्ययाड् देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि यक्षत् स्वं महिमानमायजतामेज्या इषः कृणोतु सो अध्वरा जातवेदा जुषताꣳ हविर्होतर्यज ॥ ४७ ॥

[१२५७] (**होता वनस्पतिं अभि यक्षत्**) होताने वनस्पतिका यजन किया, (**हि पिष्टतमया रभिष्ठया रशनया अधित**) जिससे निश्चयसे पशुओंको रोकनेवाली रस्सीद्वारा पशुओंको स्वस्थानमें स्थिर रखता है, (**यत्र अश्विनोः छागस्य हविषः प्रिया धामानि**) जहां दोनों अश्विनीकुमारोंके घासको भक्षण करनेवाले बकरेके हविके प्रिय धाम हैं, (**यत्र सरस्वत्याः मेषस्य हविषः प्रिया धामानि**) जहां सरस्वतीके मेषके प्रिय धाम हैं, (**यत्र इन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रिया धामानि**) जहां इन्द्रके वृषभके हविके मनोहर स्थान हैं, (**यत्र अग्नेः प्रिया धामानि**) जहां अग्निके प्रिय स्थान हैं, (**यत्र सोमस्य प्रिया धामानि**) जहां सोमके प्रिय धाम हैं, (**यत्र सुत्रामणः इन्द्रस्य प्रिया धामानि**) जहां उत्तम रक्षक इन्द्रके प्रिय धाम हैं, (**यत्र सवितुः प्रिया धामानि**) जहां सविताके प्रिय स्थान हैं, (**यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि**) जहां वरुणके प्रिय स्थान हैं, (**यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथांसि**) जहां वनस्पतिके प्रिय स्थान हैं, (**यत्र आज्यपानां देवानां प्रिया धामानि**) जहां घृत पान करनेवाले देवताओंके प्रिय स्थान हैं, (**यत्र होतुः अग्नेः प्रिया धामानि**) जहां होता अग्निके प्रिय स्थान हैं, जहां (**रभीयसः कृत्वी प्रस्तुत्येव उपस्तुत्येव**) अतिवेगवालोंको कार्यमें नियुक्त करके भली प्रकार उनकी प्रशंसा की जाती है और जहां (**वनस्पतिः देव उपावस्रक्षत**) वनस्पति देवता वट आदि वृक्षोंकी रक्षा की जाती है, वहां उस स्थानमें देवगण (**एवं करत हवि जुषताम्**) इस प्रकारका उत्तम व्यवहार करते हुये अपने अपने हविका ही सेवन करते हैं, हे (**होतः**) होता ! तू भी उसी प्रकार करते हुये (**यज**) यजन कर ॥ ४६ ॥

[१२५८] (**होता स्विष्टकृतं अग्निं यक्षत्**) होताने स्विष्टकृत अग्निका यजन किया, स्विष्टकृत् (**अग्निः अश्विनोः छागस्य हविषः प्रिया धामानि अयाट्**) अग्नि दोनों अश्विन कुमार सम्बन्धी छागके हविका जो प्रिय धाम हैं उनका यजन किया, (**सरस्वत्याः मेषस्य हविषः प्रिया धामानि अयाट्**) सरस्वतीके मेषसम्बन्धी हविके प्रिय धामोंको यजन किया, (**सुत्राम्णः इन्द्रस्य प्रिया धामानि अयाट्**) रक्षक इन्द्रके प्रिय धामोंको यजन किया, (**सवितुः प्रिया धामानि अयाट्**) सविता देवताके प्रिय धामोंको यजन किया, (**वरुणस्य प्रिया धामानि अयाट्**) वरुणके प्रिय धामोंको यजन किया, (**वनस्पतेः प्रिया पाथांसि अयाट्**) वनस्पतिके प्रिय स्थानोंका यजन किया, (**आज्यपानां देवानां प्रिया धामानि यक्षत्**) घृतपान करनेवाले देवताओंके प्रिय धामोंका यजन किया, (**होतुः अग्नेः प्रिया धामानि यक्षत्**) होता अग्निके प्रिय धामोंको यजन किया, (**अइज्या इषः आयजताम्**) सब प्रकारसे यजनके योग्य सकाम प्रजाको यजन किया, (**स जातवेदाः अध्वरा कृणोतु**) वह जातवेद अग्नि उस यज्ञको सम्पन्न करे और (**हविः जुषताम्**) हविको सेवन करे । हे (**होतः**) होता ! तुम भी (**यजः**) अपनी शक्तिनुसार घृतसे यजन करो ॥४७॥

देवं बर्हिः सरस्वती सुदेवमिन्द्रे अश्विना ।
तेजो न चक्षुरक्ष्योर्बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४८ ॥
देवीर्द्वारो अश्विना भिषजेन्द्रे सरस्वती ।
प्राणं न वीर्यं नसि द्वारो दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४९ ॥
देवी उषासावश्विना सुत्रामेन्द्रे सरस्वती ।
बलं न वाचमास्य उषाभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५० ॥
देवी जोष्ट्री सरस्वत्यश्विनेन्द्रमवर्धयन् ।
श्रोत्रं न कर्णयोर्यशो जोष्ट्रीभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५१ ॥
देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजाऽवतः ।
शुक्रं न ज्योति स्तनयोराहुती धत्त इन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५२ ॥

[१२५९] (सरस्वती सुदेवं देवं बर्हिषा बर्हिः) सरस्वतीने सुन्दर दिव्य गुण युक्त देव इन्द्रको कुशासे निर्मित आसन प्रदान किया । (अश्विना इन्द्रे तेजः दधुः) दोनों अश्विनी कुमारोंने इन्द्रमें तेज धारण किये तथा (अक्ष्योः चक्षुः इन्द्रियं न वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) दोनों नेत्रोंमें चक्षु इन्द्रियको धारण करते हुये एवं धन लाभके निमित्त इन्द्रको सम्पत्तिमान् करनेके लिये यजन किये, हे मनुष्य होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४८ ॥

[१२६०] (देवीः द्वारः) दिव्य द्वार (द्वारः भिषजा अश्विना न सरस्वती) द्वाररूप हुए वैद्य दोनों अश्विनी कुमार और सरस्वतीने (इन्द्रे वीर्यं नसि प्राणं इन्द्रियं दधुः) इन्द्रमें पराक्रम, नासिकामें प्राण और ऐश्वर्यको धारण करते हुये (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धन लाभके लिये इन्द्रको सम्पत्तिमान् करनेके लिये हवि प्रदान किये। हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४९ ॥

[१२६१] (देवी उषासा) दिव्य गुणसम्पन्न रात्री और उषःकालकी अधिष्ठात्री देवी (उषाभ्याम्) नक्त और उषा कालके साथ और (अश्विना, सुत्रामा सरस्वती न) दोनों अश्विनी कुमार तथा उत्तम प्रकार रक्षा करनेवाली सरस्वती भी (इन्द्रे बलं आस्ये वाचं इन्द्रियं दधुः) इन्द्रमें बल, मुखमें वाक् इन्द्रियको धारण करते हुये (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धन लाभके लिये, इन्द्रको सम्पत्तिवान् करनेको हविद्वारा यजन किये । हे होता ! तुम भी उसी प्रकार (यज) यजन करो ॥ ५० ॥

[१२६२] (जोष्ट्री देवी जोष्ट्रीभ्याम्) सेवने योग्य दिव्यगुणोंवाली देवी द्यावापृथ्वी वा अहोरात्रद्वारा (सरस्वती अश्विना इन्द्रं अवर्द्धयन्) सरस्वती, दोनों अश्विनीकुमार ये सब इन्द्रको बढाते हुये (यशः न कर्णयोः श्रोत्रं इन्द्रियं दधुः) यश सम्पन्न करते हुये तथा उनके कर्णेन्द्रियमें श्रवण इन्द्रियको स्थापन करते हुये (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धनलाभके लिये इन्द्रको सम्पत्तिवान् करनेको हविद्वारा यजन किये । तुम भी उसी प्रकारसे (यज) यजन करो ॥ ५१ ॥

[१२६३] (दुघे, सुदुघे ऊर्जाहुति आहुती देवी सरस्वती) कार्यपूरक, उत्तम प्रकार दोहन करनेवाली, रसवती, दिव्य गुणोंवाली सरस्वती और (भिषजा अश्विना) वैद्य दोनों अश्विनी कुमार (अवतः) रक्षा करते हैं (न इन्द्रे शुक्रं स्तनयोः इन्द्रियं ज्योतिः धत्तः) और इन्द्रमें बल, हृदयमें इन्द्रिय ज्योतिको धारण करते हैं तथा (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धनलाभके लिये इन्द्रको सम्पत्तिवान् करनेको हवि द्वारा यजन करते हैं । हे मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकार (यज) यजन करो ॥ ५२ ॥

देवा देवानां भिषजा होतांराविन्द्रमश्विना ।
वषट्कारैः सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिथं होतृभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५३॥

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरश्विनेडा सरस्वती ।
शूषं न मध्ये नाभ्यामिन्द्राय दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५४ ॥

देव इन्द्रो नराशंसस्त्रिवरूथः सरस्वत्याश्विभ्यामीयते रथः ।
रेतो न रूपममृतं जनित्रमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५५ ॥

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो अश्विभ्याथं सरस्वत्या सुपिप्पल इन्द्राय पच्यते मधु ।
ओजो न जूतिर्ऋषभो न भामं वनस्पतिर्नो दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५६॥

देवं बर्हिर्वारितीनामध्वरे स्तीर्णमश्विभ्यामूर्णम्रदाः सरस्वत्या स्योनमिन्द्र ते सदः ।
ईशायै मन्युथं राजानं बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५७ ॥

[१२६४] (देवानां होतारौ, देवौ, वषट्कारैः, भिषजा अश्विना, सरस्वती) देवताओंके दोनों होता देव, उनके साथ सब वषट्कार, श्रेष्ठ वैद्य दोनों अश्विनी कुमार और सरस्वतीने (इन्द्रं त्विषिं न दधुः) इन्द्रको प्रकाशके समान स्वतेजको प्रदान कर उनके अन्दर तेजको स्थापन किये तथा (हृदये मतिं इन्द्रियं) हृदयमें उत्तम मति व ऐश्वर्यको स्थापन किये, एवं (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धनलाभके निमित्त इन्द्रको सम्पत्तिशाली करनेको हवि द्वारा यजन किये । हे मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकार (यज) यजन करो ॥ ५३ ॥

[१२६५] (इडा सरस्वती न तिस्रः देवीः) इडा, सरस्वती और भारती तीनों देवी, और उन (तिस्रः देवीः अश्विना) तीनों देवियोंके सहित दोनों अश्विनीकुमार (इन्द्राय नाभ्याम् मध्ये शूषं इन्द्रियं दधुः) इन्द्रके लिये नाभिके मध्यमें बल व इन्द्रियको धारण किये, एवं (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धनलाभके लिये इन्द्रको सम्पत्तिशाली करनेको हविद्वारा यजन किये । हे मनुष्य होता ! तुम भी उस प्रकार (यज) यजन करो । जैसे इन्द्रको अन्य देवोंने तेजस्वी बनाया वैसे तुम भी यजमानको तेजस्वी बनाओ ॥ ५४ ॥

[१२६६] (इन्द्रः त्रिवरूथः त्वष्टा नराशंसः रथः) ऐश्वर्यवान्, तीन घरोंवाला, त्वष्टा द्वारा निर्मित्त नराशंस नामक रथ, (रेतः, रूपं अमृतं जनित्रं न इन्द्रियाणि) पराक्रम, सौन्दर्य अमृत, उत्तम जन्म और इन्द्रिय सामर्थ्यको उन देवोंने (इन्द्राय दधत) इन्द्रके लिये दिया, जिस नराशंस रथको (सरस्वत्या अश्विभ्यां ईयते) सरस्वती और दोनों अश्विनी कुमारोंसे ले जाया जाता है, और (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धन लाभके लिये इन्द्रको हवि द्वारा यजन करते हैं ! तुम भी उसी प्रकार (यज) यजन करो । जैसे इन्द्रको अन्य सब देवोंने मिलकर तेजस्वी बनाया वैसे तुम भी यजमानको तेजस्वी बनाओ ॥ ५५ ॥

[१२६७] (देवैः हिरण्यपर्णः अश्विभ्यां सरस्वत्या सुपिप्पलः ऋषभः वनस्पतिः देवः) प्रकाशमान गुणोंके साथ, सुवर्णके पत्तेवाला, अश्विनीकुमार व सरस्वतीद्वारा वर्धित सुन्दर फलोंवाला, श्रेष्ठ वनस्पति देव (इन्द्राय मधु पच्यते) इन्द्रके लिये उत्तम मधुर फल पकाकर प्रदान करता है । वही (वनस्पतिः नः ओजः जूतिः न भामं न इन्द्रियाणि दधत्) वनस्पति देव हमको भी ओज, वेग और परिमित क्रोध तथा इन्द्रियबल प्रदान कर हमारे अंदर स्थापन करे । देवतागण (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धनलाभके लिये इन्द्रको हविद्वारा यजन करहे हैं, हे होता ! तुम भी उसी प्रकार (यज) यजन करो ॥ ५६ ॥

[१२६८] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (वारितीनां देवं ऊर्णम्रदाः स्यूनं ते सदः अध्वरे) जलसे उत्पन्न होनेवाली ओषधियोंके सम्बन्धित दीप्तमान्, उनके समान कोमल सुखरूप तुम्हारे सभामें (अश्विभ्यां सरस्वत्या स्तीर्णम्) दोनों

देवो अग्निः स्विष्टकृद्देवान्यक्षद्यथायथꣳ होताराविन्द्रमश्विना वाचा वाचꣳ सरस्वतीमग्निꣳ सोमꣳ स्विष्टकृत् स्विष्ट इन्द्रः सुत्रामा सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा देवा आज्यपाः स्विष्टो अग्निरग्निना होता होत्रे स्विष्टकृद्यशो न दधदिन्द्रियमूर्जमपचितिꣳ स्वधां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५८ ॥

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशान् बध्नन्नश्विभ्यां छागꣳ सरस्वत्यै मेषमिन्द्राय ऋषभꣳ सुन्वन्नश्विभ्याꣳ सरस्वत्या इन्द्राय सुत्राम्णे सुरासोमान् ॥ ५९ ॥

सूपस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऋषभेणाक्षँस्तान् मेदस्तः प्रति पचताग्रभीषतावीवृधन्त पुरोडाशैरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् ॥ ६० ॥

अश्विनी कुमार व सरस्वती द्वारा फैलाये हुये बैठनेके निमित्त उत्तम आसन, (बर्हिः बहिषा राजानं मन्युं) बर्हि देवता बर्हिद्वारा प्रदीप्तमान मन्युको तथा (इन्द्रियं) इन्द्रियको (ईशायै दधुः) ऐश्वर्यके लिये यथा योग्य स्थान पर स्थापन किये, ऐसे तुमको देवता गण भी (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धन लाभके लिये तुझ इन्द्रको ही हविद्वारा यजन करते हैं। हे मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकार ऐश्वर्य लाभके लिये (यज) यजन करो ॥ ५७ ॥

[१२६९] (स्विष्टकृत् देवः अग्निः) सुन्दर याग करनेवाला दिव्यगुणयुक्त अग्नि (यथायथं होतारौ अश्विना इन्द्रं वाचं सरस्वतीं अग्निं सोमं देवान् वाचा यक्षत्) यथायोग्य रूपसे दोनों होता मित्रावरुण, दोनों अश्विनी कुमार, इन्द्र, वाणीदेवी, सरस्वती, अग्नि और सोम देवताओंको वाणीसे यजन किया, और (स्विष्टकृत् सुत्रामा इन्द्रः स्विष्टः) सुन्दर यज्ञ करनेवाले अच्छे पालक इन्द्रने भली प्रकार यजन किया, (सविता वरुणः भिषक् देवः वनस्पतिः इष्टः) सविता, वरुण, वैद्य अश्विनीकुमार और देवता वनस्पतिने यजन किया, (आज्यपाः देवाः स्विष्टाः) घृतपान करनेवाले देवताओंने सुयजन किया, (अग्निः अग्निना स्विष्टः) अग्नि देवताने अग्निसे आहुति द्वारा यजन किया, (स्विष्टकृत् होत्रे होता यशः इन्द्रियं ऊर्जं अपचितिं न स्वधां दधत) भली प्रकार होताके लिये देवताओंके होताने यश, इन्द्रिय, बल, पूजा और पितरोंके निमित्त अन्नको स्थापन किया। (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धनीकी यज्ञ सिद्धिके निमित्त आहुति की हुई उस आहुतिको सब देवता अपने अपने भागको स्वीकार करें, हे होता ! तुम भी उन्हीं देवोंकी तरह (यज) यजन करो ॥ ५८ ॥

[१२७०] (अयं यजमानः अद्य पक्तीः पचन् पुरोडाशान् पचन्) यह यजमान आज पकाने योग्य हविको पकाते हुये, पुरोडाशोंको पकाकर सिद्ध किया और (अश्विभ्यां छागं, सरस्वत्यै मेषं, इन्द्राय ऋषभं बध्नन्) अश्विनी-कुमारके प्रीतिके उद्देश्यसे छागको, सरस्वतीके प्रीतिके निमित्त मेषको तथा इन्द्रके प्रीतिके लिये ऋषभको यूथमें बांधकर हविसे सन्तुष्ट किया। (अश्विभ्यां सरस्वत्यै सुत्राम्णे इन्द्राय सुरासोमान् होतारं अग्निं अवृणीत) दोनों अश्विनी-कुमार व सरस्वतीने अच्छी प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्रके लिये महोषधियोंके रस सोमको अभिषव करके, होता अग्निको वरण किया ॥ ५९ ॥

[१२७१] (अद्य वनस्पतिः देवः छागेन अश्विभ्यां सूपस्था अभवन्) आज वनस्पति देवता छागको साथ लेकरके दोनों अश्विनीकुमारोंके समीप उपस्थित होकर उनका भली प्रकारसे सत्कार किया। (मेषेण सरस्वत्यै, ऋषभेण इन्द्राय) मेषसे सरस्वतीके लिये और ऋषभ इन्द्रके निमित्त सत्कार करनेवाले हुये। देवताओंने (मेदस्तः तान् अक्षन्) हविके सारभागसे उस यज्ञको ग्रहण किया और (पचत प्रत्यग्रभीषत) पके हुए पुरोडाशको भी ग्रहण किया (पुरोडाशैः वृधन्तः अश्विना सरस्वती सुत्रामा इन्द्रः सुरा सोमान् अपुः) पुरोडाशद्वारा वृद्धिको प्राप्त हुये दोनों अश्विनीकुमार सरस्वती और उत्तमरीतिसे रक्षा करनेवाले इन्द्रसे रस और सोमको पान किया ॥ ६० ॥

+

त्वामद्य ऋंष आर्षेय ऋषीणां नपादवृणीतायं यजमानो बहुभ्य आ सङ्गतेभ्य एष में देवेषु वसु वार्यायक्ष्यत इति ता या देवा देव दानान्यदुस्तान्यस्मा आ च शास्वा चं गुरस्वेषितश्च होतरासि भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहि ॥ ६१ ॥

[अ॰ २१, कं॰ ६१, मं॰ सं॰ ६१

इत्येकविंशोऽध्यायः ।

[१२७२] हे (ऋषे) मन्त्रोंके द्रष्टा ! (अर्षेय, ऋषीणां नपात्) ऋषियोंके निमित्त वरण किये हुये ऋषियोंके पोते ! (अद्य अयं यजमानः बहुभ्यः सङ्गतेभ्यः त्वा इति आ अवृणीत) आज यह यजमान बहुतसे एकत्र हुये देवोंमेंसे तुमकोही वरण करता है । (एषः मे देवेषु वारि वसु आयक्षते) यह प्रसिद्ध तूही यजमानके लिये देवताओंके मध्य वरण करने योग्य श्रेष्ठ धन प्रदान करता है। हे (देव) देव ! (या ता दानानि देवाः अदुः तानि च अस्मै आशास्व) जो वे सब प्रकारके दान देवताओंने तुम्हें दिये हैं वे सब दान भी इस यजमानके निमित्त प्रदान करो, (च आगुरस्व च) और दान देनेके निमित्त पूर्ण उद्योग भी करो । हे (होतः) होता ! तुम (भद्रवाच्याय इषितः असि) कल्याण कथन करनेको प्रेरित किये गये हो । हे (मानुष होतः) मनुष्य होता ! तुम भी उन्हींकी तरह (सूक्तवाकाय प्रेषितः सूक्ता ब्रूहि) सूत्र कथन करनेके निमित्त भेजे हुये सूत्रोंको कहो ॥ ६१ ॥

॥ इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः ।

तेजोऽसि शुक्रममृतमायुष्पा आयुर्मे पाहि[1] ।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामा ददे[2] ॥ १ ॥

इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्वे आयुषि विदथेषु कव्या ।
सा नो अस्मिन्त्सुत आ बभूव ऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती[1] ॥ २ ॥

अभिधा असि भुवनमसि यन्ताऽसि धर्ता । स त्वमग्निं वैश्वानरꣳ सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः ॥३॥

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये[1] ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्[2] ।
तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि[3] ॥ ४ ॥

प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामी[1]न्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[2] वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि[3]
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि[4] सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि[5] ।
यो अर्वन्तं जिघांꣳसति तमभ्यमीति वरुणः[6] । परो मर्तः परः श्वा[7] ॥ ५ ॥

[१२७३] हे सुवर्ण ! तुम (तेजः असि) तेजस्वी हो, (शुक्रः अमृतं आयुष्याः) बलवान, अमर और आयुकी रक्षा करनेवाले हो, इस कारण, (मे आयुः पाहि) मेरी आयुकी रक्षा करो । (सवितुः देवस्य प्रसवे आश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्यां त्वा आददे) सवितादेव की आज्ञामें रहकर मैं अश्विनी कुमारों की भुजाओं और पूषा देवके हाथोंसे तुमको ग्रहण करता हूं ॥ १ ॥

[१२७४] (अस्मिन् सुते) इस सोम यज्ञमें (नः सा आबभूव) हमें वह व्यापक शक्ति प्राप्त होती है, जो (ऋतस्य सरं सामन् आरपन्ती) सत्यतत्त्वके व्यवहारको पूर्णरूपसे स्पष्ट बतलाती है । (इमां रशनां ऋतस्य पूर्वे आयुषि) उस व्यापकशक्तिकी ज्ञानशृंखलाको ही संसारके प्रारंभकालमें (कवयः विदथेषु अगृभ्णन्) क्रान्तिदर्शी ऋषिलोग यज्ञोंमें प्राप्त करते रहे हैं ॥ २ ॥

[१२७५] तू परमेश्वर (अभिधा असि) समस्त पदार्थोंको साक्षात् बतानेवाला है, तू (भुवनं असि) त्रिभुवनरूप स्थान है, तू (यन्ता धर्ता असि) समस्त लोकका नियन्ता और धारण करनेवाला है, (सः सप्रथसं वैश्वानरं अग्निं स्वाहाकृतः गच्छ) वह तू यजमान अति विस्तृत शक्तिसे युक्त वैश्वानर अग्निको हविके स्वाहाकारसे प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

[१२७६] हे अश्व ! (त्वा देवेभ्यः प्रजापतये स्वगा) तुम देवताओंके पास स्वयं गमन करनेवाले हो । हे ब्रह्मन् ! (देवेभ्यः प्रजापतये अश्वं भन्त्स्यामि) देवताओंके लिये प्रजापतिके लिये घोडेको बांधता हूं (तेन राध्यासम्) उससे सिद्धिको प्राप्त करूं । तुम (तं देवेभ्यः प्रजापतये बधान, तेन राध्नुहि) उस अश्वको देवताओंके लिये विशेषकर प्रजापतिके लिये बांधो, उससे सम्यक् प्रकारसे यज्ञकी सिद्धि प्राप्त हो ॥ ४ ॥

[१२७७] हे श्रेष्ठ पुरुष ! (जुष्टं त्वा प्रजापतये प्रोक्षामि) सबके प्रिय तुझको प्रजाके पालककी प्रीतिके लिये अभिषिक्त करता हूं, (इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं त्वा प्रोक्षामि) इन्द्र और अग्निके लिये योग्य ऐसे तुमको अभिषिक्त करता हूं, (वायवे जुष्टं त्वा प्रोक्षामि) वायुके लिये योग्य तुमको अभिषिक्त करता हूं, (विश्वेभ्यः देवेभ्यः जुष्टं

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा ऽपां मोदाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा वायवे स्वाहा
विष्णवे स्वाहेन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा मित्राय स्वाहा वरुणाय स्वाहा ॥६॥

हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहा क्रन्दते स्वाहा ऽवक्रन्दाय स्वाहा प्रोथते स्वाहा
प्रप्रोथाय स्वाहा गन्धाय स्वाहा घ्राताय स्वाहा निविष्टाय स्वाहोपविष्टाय स्वाहा
सन्दिताय स्वाहा वल्गते स्वाहा ऽऽसीनाय स्वाहा शयानाय स्वाहा स्वपते स्वाहा
जाग्रते स्वाहा कूजते स्वाहा प्रबुद्धाय स्वाहा विजृम्भमाणाय स्वाहा विचृत्ताय स्वाहा
सꣳहानाय स्वाहोपस्थिताय स्वाहा ऽऽयनाय स्वाहा प्रायणाय स्वाहा ॥ ७ ॥

त्वा प्रोक्षामि) समस्त देवोंके लिये योग्य ऐसे तुमको अभिषिक्त करता हूं, (सर्वेभ्यः देवेभ्यः जुष्टं त्वा प्रोक्षामि) सम्पूर्ण देवताओंके लिये प्रीतिपात्र तुमको अभिषिक्त करता हूं। (यः अर्वन्तं जिघांसति वरुणः तं अभ्यमीति) जो पुरुष अश्वको मारना चाहता है, वरुण उसको विनष्ट करे, ऐसा (मर्तः परः) पुरुष शत्रु है उसको देशसे निकाल कर दूर कर दिया जाय और (परः श्वा) पर अर्थात् शत्रु पुरुष कुत्तेके समान दूर रखा जाय ॥ ५ ॥

[१२४८] (अग्नये स्वाहा) अग्निके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो, (सोमाय स्वाहा) सोमके लिये आहुति देते हैं, वह स्वीकृत हो, (अपां आमोदाय स्वाहा) जलोंके आनंद देनेवाले देवताके लिये आहुति देते हैं, वह स्वीकृत हो, (सवित्रे स्वाहा) सविता देवताके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो, (वायवे स्वाहा) वायु देवताके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो, (विष्णवे स्वाहा) विष्णु देवताके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो, (इन्द्राय स्वाहा) इन्द्रके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो, (बृहस्पतये स्वाहा) बृहस्पतिके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो, (मित्राय स्वाहा) मित्र देवताके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो और (वरुणाय स्वाहा) वरुण देवताके लिये आहुति देते हैं वह स्वीकृत हो ॥ ६ ॥

[१२७९] (हिङ्कराय स्वाहा) ' हिं ' ऐसा शब्द करनेवाले सामगायक विद्वान्के लिये यह आहुति देते हैं, गृहीत हो, (हिङ्कृताय स्वाहा) ' हिं ' कर चुकनेवाले सामवेदपाठीके लिये यह आहुति देते हैं, गृहीत हो, (क्रन्दते स्वाहा) ऊंचा स्वरसे सामगायन करनेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (अवक्रन्दाय स्वाहा) नीचा शब्द सामगायन करनेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (प्रोथते स्वाहा) सब कर्मोंमें पूर्णताके लिये यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (प्रपोथाय स्वाहा) अत्यन्त पूर्णताके लिये यह आहुति देते हे गृहीत हो, (गन्धाय स्वाहा) गन्धचेष्टाके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (घ्राताय स्वाहा) जो सूंघा गया उसके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (निविष्टाय स्वाहा) निविष्ट चेष्टाके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (उपविष्टाय स्वाहा) बैठनेवालेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (संदिताय स्वाहा) जो भलीभांति दिया जाता है उसके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (वल्गते स्वाहा) जाते हुयेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (आसीनाय स्वाहा) बैठे हुयेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (शयानाय स्वाहा) शयन करनेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (स्वपते स्वाहा) सोतेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (जाग्रते स्वाहा) जाग्रतके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (कूजते स्वाहा) कूजतेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (प्रबुद्धाय स्वाहा) ज्ञानयुक्तके लिये यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (विजृम्भमाणाय स्वाहा) जंभाई लेते हुयेके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (विचृताय स्वाहा) विशेष दीप्तिमान्के लिये यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (संहानाय स्वाहा) सङ्गत शरीरवालेके लिये यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (उपस्थिताय स्वाहा) उपस्थितके निमित्त यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (अयनाय स्वाहा) विशेष गमन करनेवालेके लिये यह आहुति देते हैं गृहीत हो, (प्रायणाय स्वाहा) अति गमनके लिये यह आहुति देते हैं गृहीत हो ॥ ७ ॥

यते स्वाहा[1] धावते स्वाहा[2] उद्द्रावाय स्वाहा[3] उद्द्रुताय स्वाहा[4] शूकाराय स्वाहा[5] शूकृताय स्वाहा[6] निषण्णाय स्वाहा[7] उत्थिताय स्वाहा[8] जवाय स्वाहा[9] बलाय स्वाहा[10] विवर्तमानाय स्वाहा[11] विवृत्ताय स्वाहा[12] विधून्वानाय स्वाहा[13] विधूताय स्वाहा[14] शुश्रूषमाणाय स्वाहा[15] शृण्वते स्वाहा[16] ईक्षमाणाय स्वाहा[17] ईक्षिताय स्वाहा[18] वीक्षिताय स्वाहा[19] निमेषाय स्वाहा[20] यदत्ति तस्मै स्वाहा[21] यत् पिबति तस्मै स्वाहा[22] यन्मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा[23] कुर्वते स्वाहा[24] कृताय स्वाहा[25] ॥ ८ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ९ ॥

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये । स चेत्ता देवता पदम् ॥ १० ॥

देवस्य चेततो महीं प्र सवितुर्हवामहे । सुमतिꣳ सत्यराधसम् ॥ ११ ॥

[१२८०] (यते स्वाहा) जाते हुयेके लिये आहुति देते हैं गृहीत हो, (धावते स्वाहा) दौडते हुयेके निमित्त आहुति देते हैं स्वीकार हो, (उद्द्रावाय स्वाहा) अधिक गतिवालेके निमित्त आहुति देते हैं स्वीकार हो, (उद्द्रुताय स्वाहा) उत्कर्षको प्राप्त हुयेके निमित्त आहुति देते हैं स्वीकार हो, (शूकाराय स्वाहा) शीघ्रता करनेवालेके लिये आहुति देते हैं गृहीत हो (शूकृताय स्वाहा) शीघ्र किये हुये कर्मके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (निषण्णाय स्वाहा) बैठे हुयेके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (उत्थिताय स्वाहा) उठते हुयेके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (जवाय स्वाहा) वेगरूपके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (बलाय स्वाहा) बल युक्तके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (विवर्तमानाय स्वाहा) विशेष रीतीसे वर्तमान होते हुयेके लिये आहुति देते हैं गृहीत हो, (विवृत्ताय स्वाहा) विवृत्त गतिके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (विधून्वानाय स्वाहा) कम्पित होनेवालेके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (विधूताय स्वाहा) विशेष कम्पायमानके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (शुश्रूषमाणाय स्वाहा) शुश्रूषा चाहते हुयेके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (श्रृण्वते स्वाहा) ज्ञान श्रवण करते हुयेके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (ईक्षमाणाय स्वाहा) देखते हुयेके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (ईक्षिताय स्वाहा) विशेष देखनेवालेके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (वीक्षिताय स्वाहा) भलीभांति देखे हुयेके लिये आहुति देते हैं गृहीत हो, (निमेषाय स्वाहा) पलक लगानेकी चेष्टाके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (यत् अत्ति तस्मै स्वाहा) जो कुछ खाता है उसके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (यत् पिबति तस्मै स्वाहा) जो कुछ पीता है उसके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (यत् मूत्रम् करोति तस्मै स्वाहा) जो मूत्र क्रिया करता है उसके निमित्त आहुति देते हैं गृहीत हो, (कुर्वते स्वाहा) करनेवालेके लिये आहुति देते हैं गृहीत हो, (कृताय स्वाहा) कियेके निमित आहुति देते हैं गृहीत हो ॥ ८ ॥

[१२८१] (सवितुः देवस्य) जगदुत्पादक दिव्यगुणयुक्त ईश्वरके (तत् वरेण्यं भर्गः धीमहि) उस ग्रहण करने योग्य शुद्धस्वरूपको हम ध्यान करते हैं, (यः नः धियः प्रचोदयात्) जो हमारी बुद्धियोंको श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रेरित करे ॥ ९ ॥

[१२८२] (हिरण्यपाणिं सवितारं ऊतये उपह्वये) ज्योतिरूप किरणवाले और सर्वोत्पादक परमेश्वरको अपनी रक्षाके निमित्त प्रार्थना करता हूं, (सः चेत्ता देवता पदम्) वह परमात्मा सबका ज्ञाता अथवा सबको चैतन्यता प्रदान करनेवाला तथा समस्त देवताओंका आश्रयस्थान है ॥ १० ॥

१२८३] हम (चेततः सवितुः देवस्य) चित्स्वरूप, सर्वोत्पादक परमेश्वरके (महीं सत्यराधसं सुमतिं) बडी सत्यको सिद्ध करनेवाली सुमतिको प्राप्त करनेके लिये (प्र हवामहे) प्रार्थना करते हैं ॥ ११ ॥

सुष्टुतिꣳ सुमतीवृधो रातिꣳ सवितुरीमहे । प्र देवाय मतीविदे ॥ १२ ॥

रातिꣳ सत्पतिं महे सवितारमुप ह्वये । आसवं देववीतये ॥ १३ ॥

देवस्य सवितुर्मतिमासवं विश्वदेव्यम् । धिया भगं मनामहे ॥ १४ ॥

अग्निꣳ स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम् । हव्या देवेषु नो दधत् ॥ १५ ॥

स हव्यवाडमर्त्य उशिग्दूतश्चनोहितः । अग्निर्धिया समृण्वति ॥ १६ ॥

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे । देवाँ२ आ सादयादिह ॥ १७ ॥

अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः । गोजीरया रꣳहमाणः पुरन्ध्या ॥ १८ ॥

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राऽश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वाऽसि सप्तिरसि वाज्यसि वृषाऽसि नृमणा असि । ययुर्नामाऽसि शिशुर्नामाऽस्यादित्यानां पत्वाऽन्विहि देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳ रक्षतेह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ।१९।

[१२८४] (मतिविदे देवाय सुमतीवृधः) सबकी मतिको जाननेवाले, दिव्यगुणयुक्त, सुबुद्धिकी वृद्धि करनेवाले सबके प्रेरक परमात्माकी (सुष्टुतिं रातिं प्र ईमहे) स्तुति करनेके सामर्थ्यरूप धनको हम बहुत रीतिसे मांगते हैं ॥ १२॥

[१२८५] (रातिं सत्पतिं आसवं सवितारम्) दानशील, सत्पुरुषोंके पालन करनेवाले, सब ओरसे ऐश्वर्ययुक्त सविता देवताको (देववीतये उपह्वये) देवताओंके तृप्त करनेके लिये प्रार्थना करते हैं और (महे) उनका पूजन करते हैं ॥ १३ ॥

[१२८६] (धिया सवितुः देवस्य मतिम्) बुद्धिके द्वारा सबके उत्पादक दिव्यगुणयुक्त परमात्माके श्रेष्ठ बुद्धिको, और (आसवं विश्वदेव्यं भगं मनामहे) समस्त ऐश्वर्योंके उत्पादक सब देवताओंके हितकारी धनको प्राप्त करनेके लिये हम प्रार्थना करते हैं ॥ १४ ॥

[१२८७] हे अध्वर्यु ! तुम (अमर्त्यं अग्निं समिधानः) मरणधर्मरहित अग्निको अच्छी प्रकार प्रज्वलित करके (स्तोमेन बोधय) स्तुतिद्वारा बोध कराओ कि, ' तुम (नः हव्या देवेषु दधत्) हमारी हवियोंको देवताओंमें पहुंचाओ ' ॥ १५ ॥

[१२८८] (सः हव्यावाट् अमर्त्यः उशिक् दूतः) वह हवियोंका वहन करनेवाला, मरण धर्मरहित, बुद्धिमान्, देवताओंका दूत (च नः हितः अग्निः) और हमारा हितकारी अग्नि (धियः समृण्वति) बुद्धिपूर्वक देवताओंको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

[१२८९] (दूतं हव्यवाहं अग्निं पुरः दधे) देवताओंके दौत्यकार्यमें नियुक्त, हविके धारण करनेवाले अग्निको आगे स्थापन करता हूं, और उस अग्निसे ही (उपब्रुवे) प्रार्थना करता हूं कि, हे अग्ने ! तुम (इह देवान् असादयात्) इस यज्ञमें देवताओंको बिठलाया करो ॥ १७ ॥

[१२९०] हे (पवमान) पवित्रकारी ! तुम (पुरन्ध्या रंहमाणः सूर्यं अजीजनः) सीधी रेषाके द्वारा वेगसे गमन करते सूर्यको प्रकट करनेवाले हो, और (गोजीरया शक्मना हि पयः विधारे) गौवोंकी जीवन क्रियासे निश्चय रूपसे उत्तम दूधको धारण करते हो ॥ १८ ॥

[१२९१] तू (मात्रा विभूः पित्रा प्रभूः अश्व असि) माताके प्रभावसे विविध गुणयुक्त, पिताके द्वारा उत्कृष्ट ऐश्वर्य सम्पन्न तूही (हयः असि) अति वेगवान पराक्रमी है, (अत्यः असि) निरन्तर गतिशील है, (मयः असि) प्रजाका सुखकारी है, (अर्वा असि) शत्रुनाशक है, (सप्तिः असि) शत्रुका पीछा करनेवाला है, (वाजी असि)

काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा स्वाहाऽऽधिमाधीताय
स्वाहा मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा ऽदित्यै मह्यै स्वाहा
ऽदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा
सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा
पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा त्वष्ट्रे स्वाहा त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा
विष्णवे स्वाहा विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा ॥ २० ॥
विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥२१॥

ऐश्वर्यवान है, (नृमणाः असि) मनुष्योंके मान योग्य सबके मनोंका आकर्षक है, (ययुः नाम असि) शत्रुओं पर विजय करनेके लिये प्रयाण करनेवाला होनेसे 'ययु' नामवाला है, (शिशुः नाम असि) पृथ्वीका पुत्र या शासक होनेसे 'शिशु' नामवाला है, तू (आदित्यानां पत्वा अनु इहि) आदित्योंके समान विद्वान् पुरुषोंके गमन योग्य मार्गका अनुसरण कर । हे (देवा) दिव्य गुणोवाले ! (आशापालाः) दिशावासिनी प्रजाके पालक माण्डलिक राजाओं ! तुम लोग (देवेभ्यः मेधाय एतं प्रोक्षितं रक्षत) विद्वान पुरुषों और राष्ट्रके बल वृद्धिके निमित्त इस अभिषिक्त राजाकी रक्षा करो, (इह रन्ति) यहां इस राष्ट्रमें चित्तकी प्रसन्नता है, (इह रमताम्) यहां रमण करें, (इह धृतिः) इस स्थानमें धारण करनेकी शक्ति है, (इह स्वधृतिः) यहां इस देशमें अपनी पूर्ण धारण सामर्थ्य हो, (स्वाहा) इससे तेरा उत्तम यश और सन्मान हो ॥ १९ ॥

[१२९२] (काय स्वाहा) प्रजापतिके लिये यह आहुति प्राप्त हो, (कस्मै स्वाहा) श्रेष्ठ प्रजापतिके लिये यह आहुति प्राप्त हो, (कतमस्मै स्वाहा) अतिशय श्रेष्ठ प्रजापतिके निमित्त यह आहुति प्राप्त हो, (आधिमाधीताय स्वाहा) विद्यावृद्धिको धारण करनेवालेके यह आहुति है, (मनः प्रजापतये स्वाहा) मनमें वर्तमान प्रजापतिके लिये यह आहुति है, (चित्तं विज्ञाताय आदित्यै स्वाहा) चित्तके साक्षी आदित्यके लिये यह आहुति है, (मह्यै आदित्यै स्वाहा) पूजनीय अदिति देवताके लिये यह आहुति है, (सुमृडीकायै आदित्यै स्वाहा) सुखदात्री अदिति देवताके लिये यह आहुति है, (सरस्वत्यै स्वाहा) सरस्वतीके लिये यह आहुति है, (पावकायै सरस्वत्यै स्वाहा) पवित्रता करनेवाली सरस्वतीके लिये यह आहुति है, (बृहत्यै सरस्वत्यै स्वाहा) महति सरस्वतीके लिये यह आहुति है, (पूष्णे स्वाहा) पूषाके लिये यह आहुति है, (प्रपथ्याय पूष्णे स्वाहा) उत्तम पदार्थयुक्त पूषाके लिये यह आहुति है, (नरन्धिषाय पूष्णे स्वाहा) मनुष्योंको धारण-पोषण करनेवाले पूषाके लिये यह आहुति है, (त्वष्ट्रे स्वाहा) त्वष्टा देवताके लिये यह आहुति है, (तुरीपाय त्वष्ट्रे स्वाहा) वेगके रक्षक त्वष्टा देवताके लिये यह आहुति है, (पुरुरूपाय त्वष्ट्रे स्वाहा) बहुरूप त्वष्टा देवताके लिये यह आहुति है, (विष्णवे स्वाहा) विष्णुके लिये यह आहुति है, (निभूयपाय विष्णवे स्वाहा) निरन्तर रक्षित हो औरोंकी रक्षा करनेवाले विष्णुके लिये यह आहुति है, और (शिपिविष्टाय विष्णवे स्वाहा) अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट विष्णुके लिये यह आहुति है, स्वीकार हो ॥ २० ॥

[१२९३] (विश्वः मर्तः नेतृदेवस्य सख्यं वुरीत) समस्त मनुष्य नेता सविता देवके मित्रभावको प्राप्त करें, क्योंकि (विश्वः, रायः इषुध्यति) सारे जन धनको चाहते हैं और सभी (पुष्पसे द्युम्नं वृणीत) पुष्टि प्राप्त करनेके लिये ऐश्वर्यको पानेकी इच्छा करते हैं, अतः उसके लिये (स्वाहा) यह आहुति है स्वीकार हो ॥ २१ ॥

आ ब्रह्म॑न् ब्राह्म॒णो ब्र॑ह्मवर्च॒सी जा॑यता॒मा रा॒ष्ट्रे रा॑ज॒न्यः॒ शूर॑ इष॒व्यो॑ऽतिव्या॒धी म॑हार॒थो जा॑यतां॒ दोग्ध्री॑ धे॒नुर्वोढा॑न॒ड्वाना॒शुः सप्तिः॒ पुर॑न्धि॒र्योषा॑ जि॒ष्णू र॑थे॒ष्ठाः स॒भेयो॒ युवा॒स्य यज॑मानस्य वी॒रो जा॑यतां निका॒मे-नि॑कामे नः प॒र्जन्यो॑ वर्षतु॒ फल॑वत्यो न॒ ओष॑धयः पच्यन्तां योगक्षे॒मो नः॑ कल्पताम् ॥ २२ ॥

प्रा॒णाय॒ स्वाहा॑ ऽपा॒नाय॒ स्वाहा॑ व्या॒नाय॒ स्वाहा॒ चक्षु॑षे स्वाहा॒ श्रोत्रा॑य॒ स्वाहा॑ वा॒चे स्वाहा॒ मन॑से॒ स्वाहा॑ ॥ २३ ॥

प्राच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॒ ऽर्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॒ दक्षि॑णायै दि॒शे स्वाहा॒ ऽर्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॑ प्रती॑च्यै दि॒शे स्वाहा॒ ऽर्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहोदी॑च्यै दि॒शे स्वाहा॒ ऽर्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहो॒र्ध्वायै॑ दि॒शे स्वाहा॒ ऽर्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहावा॑च्यै दि॒शे स्वाहा॒ ऽर्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॑ ॥२४॥

अ॒द्भ्यः स्वाहा॑ वा॒र्भ्यः स्वाहो॑द॒काय॒ स्वाहा॒ तिष्ठ॑न्तीभ्यः॒ स्वाहा॒ स्रव॑न्तीभ्यः॒ स्वाहा॒ स्यन्द॑मानाभ्यः॒ स्वाहा॒ कूप्या॑भ्यः॒ स्वाहा॒ सूद्या॑भ्यः॒ स्वाहा॒ धार्या॑भ्यः॒ स्वाहा॑ ऽर्ण॒वाय॒ स्वाहा॑ समु॒द्राय॒ स्वाहा॑ सरि॒राय॒ स्वाहा॑ ॥ २५ ॥

[१२९४] हे (ब्रह्मन्) महान् शक्तिवाले परमेश्वर ! हमारे (राष्ट्रे ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मणः आ जायताम्) राष्ट्रमें ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों; (शूरः इषव्यः अतिव्याधी महारथः राजन्यः आ जायताम्) शूर, बाण वेधन करनेमें कुशल, शत्रुओंको भली प्रकार परास्त करनेवाला महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों; (अस्य यजमानस्य धेनुः दोग्ध्री) इस यजमानकी गाय दूध देनेवाली हो; (अनड्वान् वोढा) बैल वहनशील हों, (सप्तिः आशुः) घोडा शीघ्र गमन करनेवाला हो; (योषा पुरन्धिः) स्त्री सर्वगुण सम्पन्न नगरका नेतृत्व करनेवाली हो, (रथेष्ठाः जिष्णुः) रथमें बैठनेवाला महावीर जयशील (वीरः युवा सभेयः आजायताम्) पराक्रम करनेवाला तरुण सभाके योग्य उत्तमवक्ता पुत्र उत्पन्न हो; (नः, पर्जन्यः निकामे निकामे वर्षतु) हमारे राष्ट्रमें प्रत्येक योग्य अवसर पर जब जब हमें आवश्यकता हो तब तब मेघ बरसे; (नः ओषधयः फलवत्यः पच्यन्ताम्) हमारी ओषधियां फलवती होकर परिपक्वताको प्राप्त हों, और (नः योगक्षेमः कल्पताम्) हमारा योगक्षेम उत्तम रीतिसे होता रहे ॥ २२ ॥

[१२९५] (प्राणाय स्वाहा) प्राणके लिये यह आहुति है (अपानाय स्वाहा) अपानके लिये यह आहुति प्राप्त है, (व्यानाय स्वाहा) व्यानके लिये यह आहुति है, (चक्षुषे स्वाहा) नेत्र इन्द्रियके लिये यह आहुति है, (श्रोत्राय स्वाहा) कर्णेन्द्रियके लिये यह आहुति है, (वाचे स्वाहा) वाणीके लिये यह आहुति है और (मनसे स्वाहा) मनके लिये यह आहुति है ॥ २३ ॥

[१२९६] (प्राच्यै दिशे स्वाहा) पूर्वदिशाके लिये यह आहुति है, (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) आग्नेयदिशाके लिये यह आहुति है, (दक्षिणायै दिशे स्वाहा) दक्षिण दिशाके लिये यह आहुति है, (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) नैर्ऋत्य दिशाके लिये यह आहुति है, (प्रतीच्यै दिशे स्वाहा) पश्चिम दिशाके निमित्त यह आहुति है, (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) वायव्य दिशाके लिये यह आहुति है, (उदीच्यै दिशे स्वाहा) उत्तर दिशाके लिये यह आहुति है, (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) ईशान दिशाके निमित्त यह आहुति है, (ऊर्ध्वायै दिशे स्वाहा) ऊर्ध्वदिशाके लिये यह आहुति है, (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) अधो दिशाके निमित्त यह आहुति है, (अवाच्यै दिशे स्वाहा) सबसे नीचे वर्तमान दिशाके लिये यह आहुति है, (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) अर्वाच्य दिशाके निमित्त यह आहुति प्राप्त हो ॥ २४ ॥

[१२९७] (अद्भ्यः स्वाहा) जलके लिये यह आहुति है, (वार्भ्यः स्वाहा) रोग निवारक उत्तम जलके लिये यह आहुति है, (उदकाय स्वाहा) सूर्यकी किरणोंमें ऊपर जानेवाले जलके लिये यह आहुति है, (तिष्ठन्तीभ्यः

वाताय स्वाहा[१] धूमाय स्वाहा[२] ऽभ्राय स्वाहा[३] मेघाय स्वाहा[४] विद्योतमानाय स्वाहा[५]
स्तनयते स्वाहा[६] ऽवस्फूर्जते स्वाहा[७] वर्षते स्वाहा[८] ऽववर्षते स्वाहो[९]ग्रं वर्षते स्वाहा[१०]
शीघ्रं वर्षते स्वाहो[११]द्गृह्णते स्वाहो[१२]द्गृहीताय स्वाहा[१३] प्रुष्णते स्वाहा[१४] शीकायते स्वाहा
प्रुष्वाभ्यः स्वाहा[१६] ह्रादुनीभ्यः स्वाहा[१७] नीहाराय स्वाहा[१८] ॥ २६ ॥
अग्नये स्वाहा[१] सोमाय स्वाहे[२]न्द्राय स्वाहा[३] पृथिव्यै स्वाहा[४] ऽन्तरिक्षाय स्वाहा[५]
दिवे स्वाहा[६] दिग्भ्यः स्वाहा[७] ऽऽशाभ्यः स्वाहो[८]र्व्यै दिशे स्वाहा[९] ऽर्वाच्यै दिशे स्वाहा[१०] ।२७।
नक्षत्रेभ्यः स्वाहा[१] नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा[२] ऽहोरात्रेभ्यः स्वाहा[३] ऽर्धमासेभ्यः स्वाहा[४]
मासेभ्यः स्वाहा[५] ऋतुभ्यः स्वाहा[६] ऽऽर्तवेभ्यः स्वाहा[७] संवत्सराय स्वाहा[८]
द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा[९] चन्द्राय स्वाहा[१०] सूर्याय स्वाहा[११] रश्मिभ्यः स्वाहा[१२]
वसुभ्यः स्वाहा[१३] रुद्रेभ्यः स्वाहा[१४] ऽऽदित्येभ्यः स्वाहा[१५] मरुद्भ्यः स्वाहा[१६]
विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा[१७] मूलेभ्यः स्वाहा[१८] शाखाभ्यः स्वाहा[१९] वनस्पतिभ्यः स्वाहा[२०]
पुष्पेभ्यः स्वाहा[२१] फलेभ्यः स्वाहौ[२२]षधीभ्यः स्वाहा[२३] ॥ २८ ॥

स्वाहा) स्थित जलोंके लिये यह आहुति है, (स्रवन्तीभ्यः स्वाहा) झरनेवाले जलोंके लिये यह आहुति है, (स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा) प्रवाहसे बहनेवाले जलोंके लिये यह आहुति है, (कूपाभ्यः स्वाहा) कूपके जलोंके लिये यह आहुति है (सूद्याभ्यः स्वाहा) वर्षासे गीला करनेवाले जलोंके लिये यह आहुति है, (धार्याभ्यः स्वाहा) धारण योग्य जलोंके लिये यह आहुति है, (अर्णवाय स्वाहा) समुद्रके जलोंके लिये यह आहुति है, (समुद्राय स्वाहा) समुद्रके लिये यह आहुति है, (सरिराय स्वाहा) वायुस्थ अथवा मध्यस्थ जलोंके लिये यह आहुति है ॥ २५ ॥

[१२९८] (वाताय स्वाहा) वायुके लिये यह आहुति है, (धूमाय स्वाहा) धूमके लिये यह आहुति है, (अभ्राय स्वाहा) तोयदके लिये यह आहुति है, (मेघाय स्वाहा) जल वर्षानेवाले मेघके लिये यह आहुति है, (विद्योतमानाय स्वाहा) बिद्युत् पैदा करनेवाले मेघके लिये यह आहुति है, (स्तनयते स्वाहा) गर्जते हुए मेघके लिये यह आहुति है, (अवस्फूर्जते स्वाहा) नीचे विद्युत फेंकते हुये मेघके लिये यह आहुति है, (वर्षते स्वाहा) बरसते हुये मेघके लिये यह आहुति है, (अववर्षते स्वाहा) थोडी वर्षा करते मेघके लिये यह आहुति है, (उग्रं वर्षते स्वाहा) उग्र वर्षा करनेवाले मेघके लिये यह आहुति है, (शीघ्रं वर्षते स्वाहा) शीघ्र वर्षा करनेवाले मेघके लिये यह आहुति है, (उद्गृह्णते स्वाहा) जलको ऊपर उठाते हुये मेघके लिये यह आहुति है, (उद्गृहीताय स्वाहा) ऊपरसे जल ग्रहण करते हुये मेघके लिये यह आहुति है, (प्रुष्णते स्वाहा) स्थूल बून्दोंसे सींचते मेघके लिये यह आहुति है, (शीकायते स्वाहा) ठहर ठहर करके बरसनेवाले मेघके लिये यह आहुति है, (प्रुष्वाभ्यः स्वाहा) घोर बसनेवाले मेघके लिये यह आहुति है, (ह्रादुनीभ्यः स्वाहा) गडगड शब्द करनेवाले मेघके लिये यह आहुति है, (नीहाराय स्वाहा) कुहरे-वाले मेघके लिये यह आहुति है ॥ २६ ॥

[१२९९] (अग्नये स्वाहा) अग्निके लिये यह आहुति है, (सोमाय स्वाहा) सोमके लिये यह आहुति है, (इन्द्राय स्वाहा) इन्द्रके लिये यह आहुति है, (पृथिव्यै स्वाहा) पृथ्वीके लिये यह आहुति है, (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्षके लिये यह आहुति है, (दिवे स्वाहा) द्युलोकके लिये यह आहुति है, (दिग्भ्यः स्वाहा) दिशा-ओंके लिये यह आहुति है, (आशाभ्यः स्वाहा) उपदिशाओंके लिये यह आहुति है, (उर्व्यै स्वाहा) ऊर्ध्व दिशाके लिये यह आहुति है, (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) अधरदिशाके लिये यह आहुति है ॥ २७ ॥

[१३००] (नक्षत्रेभ्यः स्वाहा) नक्षत्रोंके लिये यह आहुति है, (नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा) नक्षत्रोंके देवताके लिये यह आहुति है (अहोरात्रेभ्यः स्वाहा) दिन और रातके देवताओंके लिये यह आहुति है, (अर्धमासेभ्यः

पृथिव्यै स्वाहा[1] ऽन्तरिक्षाय स्वाहा[2] दिवे स्वाहा[3] सूर्याय स्वाहा[4] चन्द्राय स्वाहा[5]
नक्षत्रेभ्यः स्वाहा[6] ऽद्भ्यः स्वाहा[7]—षधीभ्यः स्वाहा[8] वनस्पतिभ्यः स्वाहा[9]
परिप्लवेभ्यः स्वाहा[10] चराचरेभ्यः स्वाहा[11] सरीसृपेभ्यः स्वाहा[12] ॥ २९ ॥
असवे स्वाहा[1] वसवे स्वाहा[2] विभुवे स्वाहा[3] विवस्वते स्वाहा[4] गणश्रिये स्वाहा[5]
गणपतये स्वाहा[6] ऽभिभुवे स्वाहा[7] ऽधिपतये स्वाहा[8] शूषाय स्वाहा[9] सꣳसर्पाय स्वाहा[10]
चन्द्राय स्वाहा[11] ज्योतिषे स्वाहा[12] मलिम्लुचाय स्वाहा[13] दिवा पतयते स्वाहा[14] ॥ ३० ॥
मधवे स्वाहा[1] माधवाय स्वाहा[2] शुक्राय स्वाहा[3] शुचये स्वाहा[4] नभसे स्वाहा[5]
नभस्याय स्वाहे[6]—षाय स्वाहो[7]—र्जाय स्वाहा[8] सहसे स्वाहा[9] सहस्याय स्वाहा[10]
तपसे स्वाहा[11] तपस्याय स्वाहा[12] ऽꣳहसस्पतये स्वाहा[13] ॥ ३१ ॥

स्वाहा) अर्ध मासके निमित्त यह आहुति है, (मासेभ्यः स्वाहा) महीनोंके लिये यह आहुति है, (ऋतुभ्यः स्वाहा) ऋतुओंके लिये यह आहुति है, (आर्तवेभ्यः स्वाहा) ऋतुओंसे उत्पन्न पदार्थोंके लिये यह आहुति है, (संवत्सराय स्वाहा) संवत्सरके लिये यह आहुति है, (द्यावापृथिवीभ्याम् स्वाहा) द्यावापृथ्वीके निमित्त यह आहुति है, (चन्द्राय स्वाहा) चन्द्रमाके निमित यह आहुति है, (सूर्याय स्वाहा) सूर्यके निमित्त यह आहुति है (रश्मिभ्यः स्वाहा) सूर्य रश्मियोंके निमित्त यह आहुति है (वसुभ्यः स्वाहा) वसुओंके निमित्त यह आहुति है, (रुद्रेभ्यः स्वाहा) रुद्रोंके निमित्त यह आहुति है, (आदित्येभ्यः स्वाहा) आदित्योंके लिये यह आहुति है, (मरुद्भ्यः स्वाहा) मरुत्-देवताओंके लिये यह आहुति है (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) सम्पूर्ण देवताओंके लिये यह आहुति है, (मूलेभ्यः स्वाहा) सबकी मूलोंको यह आहुति है, (शाखाभ्यः स्वाहा) शाखाओंकी वृद्धिके निमित्त यह आहुति है, (वनस्पतिभ्यः स्वाहा) वनस्पतियोंके लिये यह आहुति है, (पुष्पेभ्यः स्वाहा) फूलोंके लिये यह आहुति है, (फलेभ्यः स्वाहा) फलोंके लिये यह आहुति है, (ओषधीभ्यः स्वाहा) ओषधियोंके निमित्त यह आहुति है॥२८॥

[१३०१] (पृथिव्यै स्वाहा) पृथ्वीके निमित्त यह आहुति है, (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्षके निमित्त यह आहुति है, (दिवे स्वाहा) द्युलोकके निमित्त यह आहुति है, (सूर्याय स्वाहा) सूर्यके निमित्त यह आहुति है, (चन्द्राय स्वाहा) चन्द्रमाके निमित्त यह आहुति है, (नक्षत्रेभ्यः स्वाहा) नक्षत्रोंके निमित्त यह आहुति है, (अद्भ्यः स्वाहा) जलोंके निमित्त यह आहुति है, (ओषधीभ्यः स्वाहा) ओषधियोंके निमित्त यह आहुति है, (वनस्पतिभ्यः स्वाहा) वनस्पतियोंके निमित्त यह आहुति है, (परिप्लवेभ्यः स्वाहा) सब ओरसे भ्रमण करनेवाले ग्रहोंके निमित्त यह आहुति है, (चराचरेभ्यः स्वाहा) चराचरके निमित्त यह आहुति है, (सरीसृपेभ्यः स्वाहा) सर्पादि रेंगनेवाले जन्तुओंके निमित्त यह आहुति है ॥ २९ ॥

[१३०२] (असवे स्वाहा) प्राणके लिये यह आहुति है, (वसवे स्वाहा) वसुदेवताके लिये यह आहुति है, (विभुवे स्वाहा) व्याप्तके निमित्त यह आहुति है, (विवस्वते स्वाहा) विवस्वान् सूर्यके लिये यह आहुति है, (गणश्रिये स्वाहा) गणश्री देवताके लिये यह आहुति है, (गणपतये स्वाहा) गणपतिके लिये यह आहुति है, (अभिभुवे स्वाहा) सन्मुख प्राप्तके लिये यह आहुति है, (अधिपतये स्वाहा) सबके स्वामीके लिये यह आहुति है, (शूषाय स्वाहा) बलवानके लिये यह आहुति है, (संसर्पाय स्वाहा) गमनशीलके लिये यह आहुति है, (चन्द्राय ज्योतिषे स्वाहा) चन्द्रके लिये और ज्योति देवताके लिये यह आहुति है, (मलिम्लुचाय स्वाहा) मलिम्लुचके लिये यह आहुति है, (दिवा पतये स्वाहा) दिनके पति सूर्यके लिये यह आहुति है ॥ ३० ॥

[१३०३] (मधवे स्वाहा) मधुरादिगुणयुक्त चैत्रके लिये यह आहुति है, (माधवाय स्वाहा) वैशाखके लिये यह आहुति है, (शुक्राय स्वाहा) शुद्धिकारी जेष्ठके लिये यह आहुति है, (शुचये स्वाहा) भूमिको जलसे शोषक असाढके लिये यह आहुति है, (नभसे स्वाहा) मेघोंके शब्दवाले श्रावणके लिये यह आहुति है, (नभस्याय

वाजाय स्वाहा[1] प्रसवाय स्वाहा[2] ऽपिजाय स्वाहा[3] क्रतवे स्वाहा[4] स्वः स्वाहा[5]
मूर्ध्ने स्वाहा[6] व्यश्नुविने स्वाहा[7] ऽन्त्याय स्वाहा[8] ऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा[9]
भुवनस्य पतये स्वाहा[10] ऽधिपतये स्वाहा[11] प्रजापतये स्वाहा[12] ॥ ३२ ॥
आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[1] प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[2] ऽपानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[3]
व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहो[4]--दानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[5] समानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[6]
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[7] श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[8] वाग्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[9]
मनो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[10] ऽऽत्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[11] ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[12]
ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[13] स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[14] पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[15]
यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा[16] ॥ ३३ ॥

स्वाहा) वर्षासे प्रसिद्ध भाद्रपदके लिये यह आहुति है, (**इषाय स्वाहा**) अन्न सम्पादक क्वारके लिये यह आहुति है, (**ऊर्जाय स्वाहा**) बल अन्न पोषक कार्तिकके लिये यह आहुति है, (**सहसे स्वाहा**) बलदायक अगहनके लिये यह आहुति है, (**सहस्याय स्वाहा**) बल देनेमें श्रेष्ठ पौषके लिये यह आहुति दी जाती है, (**तपसे स्वाहा**) व्रत स्नानसे तपरूप माघके लिये यह आहुति है, (**तपस्याय स्वाहा**) उष्णता प्रवर्तक फाल्गुन मासके लिये यह आहुति है, (**अंहसस्पतये स्वाहा**) महीनोंसे मिले मलमासके लिये यह आहुति है ॥ ३१ ॥

[१३०४] (**वाजाय स्वाहा**) अन्न देवताके लिये यह आहुति है, (**प्रसवाय स्वाहा**) पदार्थोंके उत्पादकके लिये यह आहुति है, (**अपिजाय स्वाहा**) जलोत्पन्न अन्नोंके लिये यह आहुति है, (**क्रतवे स्वाहा**) यज्ञयोग्य अन्नोंको यह आहुति है, (**स्वः स्वाहा**) सुखरूप वा दिव्यलोकके लिये यह आहुति है, (**मूर्ध्ने स्वाहा**) शिर हमारा उत्तम सुख प्राप्त करे इसके लिये यह आहुति है, (**व्यश्नुविने स्वाहा**) व्यापक अन्नके लिये यह आहुति है, (**आन्त्याय स्वाहा**) अन्तमें होनेवाले व्यवहारके लिये यह आहुति है, (**आन्त्याय भौवनाय स्वाहा**) व्यवहारसे महान् संसारमें होनेवाले अन्नके लिये यह आहुति है, (**भुवनस्य पतये स्वाहा**) संसारके पालकके लिये यह आहुति है, (**प्रजापतये स्वाहा**) सब प्रजाओंकी पालना करनेवालेके लिये यह आहुति है ॥ ३२ ॥

[१३०५] (**यज्ञेन आयुः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे आयुकी वृद्धि हो इस लिये यह आहुति देते हैं, (**यज्ञेन प्राणः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे प्राणकी वृद्धि हो इस लिये यह आहुति है. (**यज्ञेन अपानः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे अपान वायुकी स्थिति हो इस लिये यह आहुति देते हैं, (**यज्ञेन व्यानः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे व्यानवायु बलवान हो इस लिये यह आहुति है, (**यज्ञेन उदानः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे उदान वायु युक्त हो इस लिये यह आहुति है, (**यज्ञेन समानः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे समान वायु पुष्ट हो इस लिये यह आहुति है, (**यज्ञेन चक्षुः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे चक्षु इन्द्रिय वृद्धिको प्राप्त हो इस लिये यह आहुति है, (**यज्ञेन श्रोत्रं कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे श्रोत्र इन्द्रिय कल्पित हो इस लिये यह आहुति है, (**यज्ञेन वाक् कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे वागिन्द्रिय बलवान हो इसलिय यह आहुति है, (**यज्ञेन मनः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे मन वृद्धिको प्राप्त हो इस लिये यह आहुति है, (**यज्ञेन आत्मा कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे आत्मा बलवान हो इस लिये यह आहुति है, (**यज्ञेन ब्रह्मा कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे ब्रह्मा बलवान हो इसलिये यह आहुति है, संबंधित (**यज्ञेन ज्योतिः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे आत्म ज्योति बलिष्ठ हो इसलिये यह आहुति है, (**यज्ञेन स्वः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे स्वर्ग हमें प्राप्त हो इसलिये यह आहुति है, (**यज्ञेन पृष्ठं कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे ब्रह्मलोकको हम प्राप्त करे इस लिये यह आहुति है (**यज्ञेन यज्ञः कल्पताम् स्वाहा**) यज्ञसे यज्ञ हो इस लिये यह आहुति है ॥ ३३ ॥

एकस्मै स्वाहा[1] द्वाभ्यां स्वाहा[2] शताय स्वाहा[3] एकशताय स्वाहा[4] व्युष्ट्यै स्वाहा[5]
स्वर्गाय स्वाहा[6] ॥ ३४ ॥

[अ०२२, कं० ३४, मं० सं० १६७]

इति द्वाविंशोऽध्यायः ।

[१३०६] (एकस्मै स्वाहा) अद्वितीय परमात्माके लिये यह आहुति है, (द्वाभ्याम् स्वाहा) प्रकृति पुरुषके निमित्त यह आहुति है, (शताय स्वाहा) शत् पदार्थोंके लिये यह आहुति है, (एक शताय स्वाहा) एक सौ एक पदार्थोंके लिये यह आहुति है, (व्युष्ट्यै स्वाहा) रात्री देवताके लिये यह आहुति है, (स्वर्गाय स्वाहा) सुख प्राप्त होनेके लिये यह आहुति है ॥ ३४ ॥

॥ बाइसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्यस्ते महिमा ।
यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव
यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः ॥ २ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा ।
यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव
यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

[१३०७] (हिरण्यगर्भः) सूर्य चन्द्र आदि तारे ज्योति गर्भरूप जिसके भीतर हैं, जो (भूतस्य अग्रे समवर्तत) उत्पन्न जगतके पहले जो मौजूद था, और (जातः, एक पतिः आसीत्) प्रादुर्भूत होकर वह परमात्माही सबका एक पालक स्वामी था, (सः इमां पृथिवीं उत द्यां दाधार) वह ही परमात्मा इस भूमि और द्युलोकको धारण करता है, ऐसे (कस्मै देवाय हविषा विधेम) सुखस्वरूप देवके लिये हम हवि प्रदान करें ॥ १ ॥

[१३०८] हे सोम ! तू (उपयाम गृहीतः असि) उपयामपात्रमें गृहीत है, (प्रजापतये जुष्टं त्वा गृह्णामि) प्रजापतिके प्रिय तुमको मैं ग्रहण करता हूं, (एषः ते योनिः) यह तुम्हारा निवास स्थान है, (सूर्यः ते महिमा) सूर्य तुम्हारी महिमा है, (यः ते महिमा अहन् संवत्सरे सम्बभूव) जो तुम्हारी महिमा दिनमें प्रति वर्षमें प्रकट होती है और (यः ते महिमा वायौ अन्तरिक्षे सम्बभूव) जो तुम्हारी महिमा वायुमें व अन्तरिक्षमें प्रकट है, तथा (यः ते महिमा दिवि सूर्ये सम्बभूव) जो तुम्हारी महिमा द्युलोक व सूर्यमें है वह महिमा (ते तस्मै महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः) तुम्हारे उस महिमावाले प्रजापति व देवताओंके लिये हो, (स्वाहा) यह आहुति उनके लिये है ॥ २ ॥

[१३०९] (यः महित्वा प्राणतः निमिषतः जगतः एक इत्) जो परमात्मा अपने महान् सामर्थ्यसे प्राण लेनेवाले और नेत्रादिके चेष्टा करनेवाले सजीव चरजगतका एकमात्रही (राजा बभूव) राजा हुआ है, और (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) जो इस दोपाये मनुष्य आदि और चौपाये पशु सम्बन्धित संसारका भी स्वामी है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस प्रजाके पति सर्वसुखदाता परमेश्वर देवके लिये हवि अर्पण करते हैं ॥ ३ ॥

[१३१०] हे महिमान ग्रह ! तुम (उपयाम गृहीतः असि) उपयामपात्रमें गृहीत हो, (प्रजापतये जुष्टं त्वा गृह्णामि) प्रजापतिके प्रीतिकारक तुमको ग्रहण करता हूं (एषः ते योनिः) यह तुम्हारा स्थान है, (चन्द्रमाः ते महिमा) चन्द्रमा तुम्हारी महिमा है, (ते यः महिमा रात्रौ संवत्सरे सम्बभूव) तुम्हारी जो महिमा प्रति रात्री व प्रति संवत्सरमें प्रकट है और (ते यः महिमा पृथिव्यां अग्नौ सम्बभूव) तुम्हारी जो महिमा पृथ्वी व अग्निमें प्रकट है तथा (ते यः महिमा नक्षत्रेषु चन्द्रमसि सम्बभूव) तुम्हारी जो महिमा नक्षत्रों व चन्द्रमामें प्रकट है वह महिमा (ते तस्मै महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः) तुम्हारे उस महिमावाले प्रजापति व देवताओंके लिये हो, (स्वाहा) यह आहुति उनके लिये है ॥ ४ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ५ ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ६ ॥

यद्वातो अपो अगनीगन्प्रियामिन्द्रस्य तन्वम् । एतꣳ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्तयासि नः ॥७॥

वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा ऽऽदित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा । भूर्भुवः स्वर्लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्य एतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापते ॥८॥

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः । किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥९॥

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ १० ॥

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥ ११ ॥

[१३११] (तस्थुषः अरुषं परिचरन्तं ब्रध्नं युञ्जन्ति) अपने स्थानमें स्थित ऋत्विज क्रोधरहित, वैदिक कर्म सिद्धिके निमित्त सर्वत्र विचरण करते हुये आदित्य सदृश प्रभावशाली अश्वको रथमें युक्त करते हैं, और (दिवि रोचनाः रोचन्ते) आकाशमें तेजस्वी दीखनेवाले वे तेजस्वी पुरुष अत्यन्त प्रकाशित होते हैं ॥ ५ ॥

[१३१२] हे विद्वान् पुरुषो ! जिस प्रकार श्रेष्ठ जन, (काम्या हरी विपक्षसा शोणा धृष्णू नृवाहसा) इच्छा करने योग्य, ले जानेवाले, विविध प्रकारसे भली भांति ग्रहण किये हुये, लालरङ्गसे युक्त, अत्यन्त पुष्ट, मनुष्योंको वहन करनेमें समर्थ दो घोडोंको (रथे युञ्जन्ति) रथमें जोडते हैं, वैसेही योगी लोग (अस्य) इस परमेश्वरमें इन्द्रियाँ अन्तः-करण और प्राणोंको युक्त करते हैं, ध्यान करते हैं ॥ ६ ॥

[१३१३] (वातः यतः अपः इन्द्रस्य प्रियां तन्वं अगनीगन्) वायुके समान वेगवान् अश्वने जिस कारणसे जलोंको और इन्द्रके प्रिय शरीरको प्राप्त किया. हे (स्तोतः) स्तुति करनेवाले ! तुम (एतत् नः अश्वं अनेन पथा पुनः आवर्त्तयासि) इस हमारे घोडेको इसी मार्गसे फिर लौटा लाओ ॥ ७ ॥

[१३१४] हे (प्रजापते) प्रजाको पालन करनेवाले ! (वसवः गायत्रेण छन्दसा त्वां अञ्जन्तु) वसुनामवाले देव तुझको गायत्री मन्त्रसे ज्ञानवान करें, और (रुद्राः त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा अञ्जन्तु) रुद्र संज्ञावाले देव तुझको त्रिष्टुभ छन्दसे ज्ञानवान् करें, और (आदित्याः जागतेन छन्दसा त्वा अञ्जन्तु) आदित्य संज्ञक देव तुझको जगती छन्दके मन्त्रोंसे शिक्षित करें, (एतत् अन्नं अद्धि) इस अन्नको तुम भक्षण करो । हे (देवाः) देवो ! तुम भी (यव्ये गव्ये एतं अन्नं अत्त) यवोंके खेतोमें उत्पन्न गौके दूध दही आदि उत्तम पदार्थोंसे युक्त इस अन्नको भक्षण करो, तथा (लाजीन् शाचीन् भूः भुवः स्वः) अपनी अपनी कक्षामें चलते हुये इस भूलोक, अन्तरिक्षस्थलोक और प्रकाशमें स्थित सूर्य्यादि लोकोंको प्राप्त होओ ॥ ८ ॥

[१३१५] (स्वित् कः एकाकी चरति) कहो, कौन अकेला विचरता है ? (स्वित कः उ पुनः जायते) कहो, कौन ही बार बार पैदा होता है ? (स्वित् हिमस्य भेषजं किं) कहो, हिमकी ओषधि क्या है ? और (महत् आवपनं उ किम्) बडा बीजबोनेका क्षेत्र क्या है ? ॥ ९ ॥

[१३१६] (सूर्यः एकाकी चरति) सूर्य अकेला चलता है, (चन्द्रमा पुनः जायते चन्द्रमा पुनः उत्पन्न होता है, (अग्निः हिमस्य भेषजम्) अग्नि हिमकी ओषधि है, और (भूमिः महत् आवपनम्) पृथ्वी बडा बोनेका क्षेत्र है ॥ १० ॥

[१३१७] (पूर्वचित्तिः का स्वित् आसीत्) सबसे पूर्वकी कौनसी ज्ञानकी स्थिति है ? (बृहद्वयः किं स्वित् आसीत्) सबसे बडा बल कौनसा है ? (पिलिप्पिला का स्वित् आसीत्) शोभावाली कौनसी स्थिति है ? और (पिशंगिला का स्वित् आसीत्) रूपका विनाशक कौन हुआ है ? ॥ ११ ॥

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः । अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥ १२ ॥

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या ।
एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये ॥ १३ ॥

सशंशितो रश्मिना रथः सशंशितो रश्मिना हयः । सशंशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः ॥ १४ ॥
स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व । महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥ १५ ॥

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ १६ ॥

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतँल्लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि
पिबैता अपः । वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतँल्लोकमजयद्यस्मिन्वायुः स ते लोको भविष्यति तं
जेष्यसि पिबैता अपः । सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतँल्लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको
भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः ॥ १७ ॥

[१३१८] (द्यौः पूर्वचित्तिः आसीत्) द्युलोक प्रथम स्थिति है, (अश्वः बृहत् वयः आसीत्) अश्व सबसे बडा बल है, (अविः पिलिप्पिला आसीत्) सबकी रक्षिका भूमि सबसे अधिक शोभावाली है और (पिशङ्गिला रात्रिः आसीत्) समस्त पदार्थोंके रूपोंको निगल जानेवाली रात्रि है ॥ १२ ॥

[१३१९] (वायुः त्वा पचतैः अवतु) वायु तुमारी पाकद्वारा सुरक्षा करे, (असितग्रीवः छागैः) धूमसे कृष्णग्रीवा अग्नि छाग द्वारा तुम्हारी रक्षा करे, (न्यग्रोधः चमसैः) वटवृक्ष चमस रूपसे तुमको पालन करे, (शाल्मलिः वृद्ध्या) सेमलका वृक्ष अपनी वृद्धिसे तुम्हारा पोषण करे । (वृषः राथ्यः स्य एषः चतुर्भिः षड्भिः आ इत् अगन्) बलवान् रथके योग्य वह प्रसिद्ध यह अश्व अपने चार चरणोंसे आगमन करे, (च अकृष्णः ब्रह्मा न अवतु) और कलङ्क शून्य ब्रह्मा हमारी रक्षा करे, (अग्नये नमः) अग्निदेवके लिये विघ्ननिवारणार्थ नमस्कार करते हैं ॥ १३ ॥

[१३२०] (रश्मिना रथः संशितः) रश्मिद्वारा रथ प्रशंसित होता है, (रश्मिना हयः संशितः) लगामसे अश्व शोभित होता है, (अप्सुजा अप्सु संशितः) जलोंसे प्रकट होनेवाला जलोंमें शोभित होता है, और (सोम पुरोगवः ब्रह्मा) सोमको आगे रखनेवाला ब्रह्मा सबसे सम्मानित होता है ॥ १४ ॥

[१३२१] हे (वाजिन्) बलवान् ! तू (तन्वं स्वयं कल्पयस्व) अपने शरीरको स्वयं बलवान् बना, (स्वयं यजस्व) अपने आप ही यजन कर और (स्वयं जुषस्व) स्वयंही राष्ट्रकी प्रेमपूर्वक सेवा कर, (ते महिमा अन्येन न संनशे) तेरी महिमा दूसरोंके साथ मिलनेसे न नष्ट हो ॥ १५ ॥

[१३२२] हे ज्ञानी मनुष्य ! (एतत् वै न म्रियसे) यह तू निश्चयसे नहीं मर सकता है (उ न रिष्यसि) और न क्षीण होता है, किन्तु (सुगेभिः पथिभिः देवान् इत् एषि) श्रेष्ठ देवयान मार्गसे देवताओंके पास गमन करता है । (यत्र सुकृतः आसते) जहां पुण्यात्मा जन रहते हैं, और (यत्र ते ययुः) जहां वे पुण्य करनेवाले लोग गये हैं, (तत्र सविता देवः त्वा दधातु) वहां पर, सबका उत्पादक परमात्मा देव तुझको ले जावे ॥ १६ ॥

[१३२३] (अग्निः पशुः आसीत्) अग्नि सब देखनेवाला था (तेन अयजन्त) उससे देवताओंने यजन किया, (सः एतं लोकं अजयत्) वह इस लोकको विजय कर लेता है (यस्मिन् अग्निः) जिसमें अग्नितत्त्व ही मुख्य बल है, जिससे (सः लोकः ते भविष्यति) वह लोक तेरा आश्रयस्थान हो जायेगा, तू (तं जेष्यसि) उस लोकको

प्राणाय स्वाहा॑ऽपानाय स्वाहा॑ व्यानाय स्वाहा॑ ।
अम्बे॒ अम्बि॒केऽम्बा॑लिके॒ न मा॑ नयति॒ कश्च॒न । सस॑स्त्यश्व॒कः सुभ॑द्रिकां काम्पीलवा॒सिनी॑म् ॥१८॥

ग॒णानां॑ त्वा ग॒णप॑तिꣳ हवामहे प्रि॒याणां॑ त्वा प्रि॒यप॑तिꣳ हवामहे
नि॒धी॒नां त्वा॑ निधि॒पतिꣳ॑ हवामहे वसो मम । आहम॑जानि गर्भ॒धमा त्वम॑जासि गर्भ॒धम् ॥ १९ ॥

ता उ॒भौ च॒तुरः॑ प॒दः स॒म्प्रसा॑रयाव स्व॒र्गे लो॒के प्रोर्णु॑वाथां वृषा॑ वा॒जी रे॑तो॒धा रेतो॑ दधातु ॥२०॥

उत्स॑क्थ्या॒ अव॑ गु॒दं धे॑हि॒ सम॒ञ्जिं चा॑रया वृषन् । य स्त्री॒णां जी॑वभो॒जनः ॥ २१ ॥

य॒कास॒कौ श॑कु॒न्तिकाऽऽहल॒गिति॒ वञ्च॑ति । आह॑न्ति ग॒भे पसो॒ निग॑ल्गलीति॒ धार॑का ॥ २२ ॥

विजय कर लेगा, इसके लिये (एताः अपः पिब) इन ज्ञानरसोंका पान कर । (वायुः पशुः आसीत्) वायु सर्व द्रष्टा वा निरीक्षक हुआ था (तेन अयजन्त) उससे देवताओंने यजन किया, (सः एतं लोकं अजयत्) वह इस लोकको विजय कर लेता है, (यस्मिन् वायुः) जिसमें वायु प्रधान बल होता है, (सः लोकः ते भविष्यति) वह लोक तेरा आश्रयस्थान हो जायगा, तू (तं जेष्यसि) उस लोकको विजय कर लेगा, इसके लिये (एताः अपः पिब) इन जनोंके ज्ञान और ऐश्वर्यका जलपान कर । (सूर्यः पशुः आसीत्) सूर्य सर्वद्रष्टा व निरीक्षक हुआ था (तेन अयजन्त) उससे देवताओंने यजन किया, (स एतं लोकं अजयत्) वह इस लोकको विजय कर लेता है, (यस्मिन् सूर्यः) जिसमें सूर्य स्वयं विराजता है, जिससे (सः लोकः ते भविष्यति) वह लोक तेरा अपना आश्रयस्थान हो जायेगा, तू (तं जेष्यसि) उस लोकको विजय कर लेगा इसके लिये (एताः अपः पिब) इनका रसोंका पान कर ॥ १७ ॥

[१३२४] हे (अम्बे) अम्बे ! हे (अम्बिके) अम्बिके ! हे (अम्बालिके) अम्बालिके ! (कश्चन अश्वकः) कोइ घोडेके समान शीघ्रगामी मनुष्य जिस (काम्पीलवासिनीं सुभद्रिकां ससस्ति) सुखग्राही मनुष्यको वसानेवाली और उत्तम कल्याण करनेवाली लक्ष्मीको प्राप्त कर सोता है वह (मा न नयति) मुझको ले नहीं जा सकता है, इसलिये (प्राणाय स्वाहा) प्राणके लिये यह आहुति है, (अपानाय स्वाहा) अपानके लिये यह आहुति है और (व्यानाय स्वाहा) व्यानके निमित्त यह आहुति है ॥ १८ ॥

[१३२५] हम (गणानां गणपतिं त्वा हवामहे) गणोंके पालनेवाले तुम्हारी प्रार्थना करते हैं, (प्रियाणां प्रियपतिं त्वा हवामहे) प्रियोंके मध्यमें प्रियोंके पालक तुमको बुलाते हैं, और (निधीनां निधिपतिं त्वा हवामहे) समस्त ऐश्वर्य धनादि निधियोंके मध्यमें निधियोंके पालक तुमको बुलाते हैं । हे (वसो) सबको वसानेवाले परमेश्वर ! तुम (मम) मेरे हो (अहं गर्भधं आ अजानि) में हिरण्यगर्भके धारक प्रकृतिके धर्ता तुमको अच्छी तरह जानूं, क्योंकि (गर्भधं त्वं अजासि) गर्भके समान संसारको धारण करनेवाले तुम सबको उत्पन्न करनेवाले हो ॥ १९ ॥

[१३२६] (तौ उभौ चतुरः पदः संप्रसारयाव) हम दोनों राजा प्रजा मिलकर चारों पद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थोंको अच्छी प्रकार प्रसार करें और (स्वर्गे लोके प्र ऊर्णुवथाम्) सुखमय लोकमें एक दूसरेको भली प्रकार रक्षा करें । (वृषा रेतोधाः रेतः दधातु) बलवान वीर सामर्थ्ययुक्त होकर बलको धारण करे ॥ २० ॥

[१३२७] हे (वृषन्) दुष्टोंका दमन करनेवाले ! (यः स्त्रीणां जीवभोजनः उत्सक्थ्याः) जो पुरुष स्त्रियोंके बीच प्राणियोंका मांस खानेवाला व्यभिचारी पुरुष हो, उस पुरुषको ताडन करो, और अपनी प्रजाके मध्य (अव गुदं धेहि) उत्तम सुखको स्थापित करो, तथा (अञ्जिं संचारय) अपने योग्य न्यायका संचालन करो ॥ २१ ॥

[१३२८] (यका असकौ शकुन्तिका आहलक् इति वञ्चति) वह जो शक्ति सम्पन्न प्रजा, हलसे जोते हुवे भूमिसे कर वसूल करनेवाले राजाको प्राप्त होती है, ऐसा वह राजा (गभे पसः आ हन्ति) भाग्यवान् प्रजामें सुप्रबन्धकी व्यवस्था करे, इस प्रकारसे करनेपरही (धारका नि गल्गलीति) ऐश्वर्य धारण करनेमें समर्थ प्रजा उस राजाकी आज्ञाको अच्छी प्रकार धारण करती है ॥ २२ ॥

यकोऽसकौ शंकुन्तक आहलगिति वञ्चति । विवंक्षत इव ते मुखमध्वंर्यो मा नस्त्वमभि भांषथाः ।२३।
माता चं ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्यं रोहतः । प्रतिंलामीतिं ते पिता गभे मुष्टिमंतंसयत् ॥ २४ ॥
माता चं ते पिता च तेऽग्रें वृक्षस्यं क्रीडतः । विवंक्षत इव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वंदो बहु ॥२५॥
ऊर्ध्वामेंनामुच्छ्रांपय गिरौ भारंं हरंन्निव । अथांस्यै मध्यंमेधतांं शीते वातें पुनन्निंव ॥ २६ ॥
ऊर्ध्वमेंनमुच्छ्रंयताद्गिरौ भारंं हरंन्निव । अथांस्य मध्यंमेजतु शीते वातें पुनन्निंव ॥ २७ ॥
यदंस्या अंंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातंसत् । मुष्काविदंस्या एजतो गोशफे शंकुलाविंव ॥ २८ ॥
यद्देवासों ललामंगुं प्र विंष्टीमिनमाविंषुः । सक्था देंदिश्यते नारीं सत्यस्यांक्षिभुवों यथां ॥ २९ ॥

[१३२९] हे (अध्वर्यो) अध्वर्यो ! (त्वं नः मा अभिभाषथाः) तुम हम लोगोंके प्रति असत्य भाषण मत बोलो, और (विवक्षत इव ते मुखं) बहुत बकवास करनेवालेके समान तेरा मुख न हो, यदि (यकः असकौ) जो तू निरर्थक बकवास करेगा तो (शकुन्तकः आहलक् इति वञ्चति) निर्बल पक्षीके समान उच्छिन्न होकर तू विनष्ट हो जायेगा । २३ ॥

[१३३०] हे महिषि ! (ते माता च ते पिता च वृक्षस्य अग्रं रोहतः) तेरी माता पृथ्वी और तेरा पिता द्युलोक ऊर्ध्वलोकमें आरोहण करते हैं, उस समय (ते पिता गभे मुष्टिं अतंसयत्) तुम्हारा पिता द्युलोकके पर्जन्यात्मक जलमें तेजको हवन करता है, उस समय (प्रतिलामी इति) बीज प्रदान करनेसे ' मैं प्रसन्न होता हूं ' ऐसा शब्द कहता है ऐसा प्रतीत होता है ॥ २४ ॥

[१३३१] (ते माता च ते पिता) तुम्हारी माता और तुम्हारे पिता द्यावा पृथ्वी जिस समय (वृक्षस्य अग्रे क्रीडतः) विस्तीर्ण पंचभूतके वृक्षके ऊपर क्रीडा करते हैं, उस समय (इव विवक्षतः ते मुखम्) कहनेकी इच्छा करनेवाला तेरा मुख दीखता है, अतः (त्वं मा बहु वद) तुम मत बहुत कथन करो ॥ २५ ॥

[१३३२] (गिरौ हरन्निव एनां ऊर्ध्वां उच्छ्रापय) पर्वतपर भार पहुंचानेवालेके समान इस प्रजाको सर्वदा समुन्नत करते रहो । (अथ अस्मै मध्यं शीते वाते पुनन् इव एधताम्) और इस प्रजाके मध्यभाग लक्ष्मीको प्राप्त करके शीतवायुमें शुद्ध होकर बढते हुयेके समान तुम भी वृद्धिको प्राप्त होओ ॥ २६ ॥

[१३३३] तुम (गिरौ भारं हरन् इव) पर्वत पर भारको पहुंचानेके समान (एनं ऊर्ध्वं उच्छयतात्) इस नृपतिको सब व्यवहारोंमें अग्रगन्ता और समुन्नत करो, (अथ अस्य मध्यं शीते वाते पुनन् इव एजतु) इसके नन्तर इसके राज्यके मध्यभाग लक्ष्मीको प्राप्त कर शीतल पवनमें पवित्र होते हुये श्रेष्ठ कर्मोंको करनेवाले होओ ॥ २७ ॥

[१३३४] (यद् अस्याः अंहुभेद्याः कृधु स्थूलं उपातसत्) जब इस पापको भेदन करनेवाली प्रजाके दुष्टोंका नाश करनेवाला स्थूल स्थिर दृढ राज्य पृथ्वी पर जम जाता है, तब (अस्याः मुष्को गोशफे शकुलौ राजतः) इसके शत्रुओं और अज्ञानके विनाश करनेवाले क्षात्र और ब्राह्मण बल ये दोनों गौके चरणमें लगे खुरके दो खण्डोंके सदश शोभा देते हैं ॥ २८ ॥

[१३३५] (यत् देवासः ललामगुं विष्टीमिनं प्र आविषुः) जब विद्वान् पुरुष, सुन्दर उत्तमवाणीवाले प्रजाके विविध कर्मोंके विवेचक न्यायाधीशको प्राप्त होते हैं, तब (यथा सक्थना नारी देदिष्यते) जिस प्रकार जंघा भागसे नारीका पता लग जाता है उसी प्रकार (अक्षिभुवः सत्यस्य) आंखसे देखे गये प्रत्यक्षसे उत्पन्न सत्यज्ञानका भी उनसे पता लग जाता है ॥ २९ ॥

+

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते । शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥ ३० ॥

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते । शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यते ॥ ३१ ॥

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ३२ ॥

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह । बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३३ ॥

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः ।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३४ ॥

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः । मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३५ ॥

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया । देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥३६॥

[१३३६] (यत् हरिणः यवं अत्ति) जब हरिण जौको खाता है तब क्षेत्रपति पशुको पुष्ट हुआ नहीं मानता, प्रत्युत वह अपने खेतका विनाश हुआही गिना करता है, इसी प्रकार राजकर्मचारी प्रजाके धनका भक्षण करते रहें, तो राष्ट्रपति राजा प्रजाके विनाशको देखकर अधिक दुःखी होता है। और (यत् शूद्रा अर्यजारा पोषाय न धनायति) जब शूद्रवर्णकी स्त्री नौकरानी वैश्य या स्वामीको जाररूपसे प्राप्त करती है, तब वह अपने कुटुम्ब पोषणके लिये धन नहीं चाहती, प्रत्युत अपने स्वामीके लियेही स्वयं निर्बलसी होती रहती है ॥ ३० ॥

[१३३७] (यत् हरिणः यवं अत्ति) जब हरिण यव भक्षण करता है उस समय क्षेत्रपाल (बहु पुष्टं न मन्यते) उस हरिणको बहुत पुष्ट हुआ ऐसा नहीं मानता है, किन्तु दुःखी होता है कि इसने मेरे खेतका भक्षण किया है। उसी प्रकार (यत् शूद्रः अर्यायैः जारः पोषं न अनुमन्यते) जो शूद्रवर्णका पुरुष आर्यस्त्रीका भोग करता है, तो वह भी अपने भरणपोषणकी जीविकापर विचार नहीं करता ॥ ३१ ॥

[१३३८] (दधिक्राव्णः जिष्णोः वाजिनः अश्वस्य अकारिषम्) दहीके समान श्वेत विजयशील शीघ्रगमनशील अश्वके समान पुरुषको मैं आगे करता हूं। वह (नः मुखा सुरभि करत्) हमारे मुखोंको सुगंधित अर्थात् यशस्वी करे और (नः आयूंषि प्रतारिषत्) हमारे जीवनोंको अर्थात् आयुको दीर्घ करे ॥ ३२ ॥

[१३३९] (गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पङ्क्त्यासह बृहती) गानेवालेकी रक्षक गायत्री छन्द, तीनों तापोंका रोधक त्रिष्टुप छन्द, जगत्में विस्तीर्ण जगती छन्द, संसारका दुःख नाशक अनुष्टुप पंक्ति छन्दके साथ और (उष्णिहा, ककुप् सूचीभिः त्वा शम्यन्तु) उष्णिक् छन्द, ककुप् छन्द सूचितयों द्वारा तुमको शान्त करें ॥ ३३ ॥

वेदमंत्रोंका गान इन छंदोंमें किया गया, तो वह शान्ति स्थापन करनेमें समर्थ होता है।

[१३४०] (याः द्विपदाः चतुष्पदाः त्रिपदाः) जो दो पदवाला, चार पदवाला, तीन पदवाला (च याः षट्पदाः विच्छन्दाः) और जो छः पदोंवाला, छन्द लक्षणसे हीन (च याः सच्छन्दाः सूचीभिः त्वा शम्यन्तु) तथा जो छन्द लक्षणसे युक्त हैं वे सब छन्द सूचित करके तुझको शान्त करें ॥ ३४ ॥

[१३४१] (महानाम्न्यः रेवत्यः) बडे नामवाली शक्वरीऋचा रेवत सामवालीऋचा, (विश्वाः आशाः प्रभूवरीः) सम्पूर्ण दिशायें, सब प्राणियोंको धारण करनेमें समर्थ दिशायें (मैघीः विद्युतः वाचः सूचीभिः त्वा शम्यन्तु) मेघसे प्रकट होनेवाली बिजली और सब शब्द सूची द्वारा तुझको शान्त करें ॥ ३५ ॥

[१३४२] (ते पत्न्यः नार्यः) तेरी पत्नीयां (मनीषया ते लोम विचिन्वन्तु) विचारपूर्वक बुद्धिसे तेरी अनुकूलता आज्ञाको विवेकतासे संग्रह करें, और (देवानां पत्न्यः दिशः सूचीभिः त्वा शम्यन्तु) विद्वानोंकी प्रजाएं अपने ज्ञानसूचक नीतियोंसे तुमको शान्ति, सुख प्रदान करें ॥ ३६ ॥

रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः ।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥ ३७ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नम उक्तिं यजन्ति ॥ ३८ ॥

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति । क उ ते शमिता कविः ॥ ३९ ॥

ऋतवस्त ऋतुथा पर्व शमितारो वि शासतु । संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ४० ॥

अर्धमासाः परूंषि ते मासा आ च्छ्यन्तु शम्यन्तः ।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टꣳ सूदयन्तु ते ॥ ४१ ॥

दैव्या अध्वर्यवस्त्वा च्छ्यन्तु वि च शासतु । गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः ॥४२॥

[१३४३] (रजताः हरिणीः सीसाः युजः) प्रेमसे युक्त, मनको हरण करनेवाली, प्रेमको बांधनेवाली गृहकार्यमें संयुक्त रहनेवाली स्त्रियें (कर्मभिः अश्वस्य वाजिनः त्वचि युज्यन्ते) धर्मानुकूल क्रियाओंसे, राष्ट्रके भोक्ता उत्तम बलवान श्रेष्ठ पुरुषकी रक्षामें उस पतिके साथ सदाके लिये जोड दी जाती हैं, वे (सिमाः शम्यन्तीः शम्यन्तु) नियममें बद्ध होकर स्वयं शान्ति सुख प्राप्त करती हुई स्वपतिको भी सुख प्रदान करें ॥ ३७ ॥

[१३४४] हे सोम ! (यथा इह यवमन्तः कुवित् यवं चित्) जिस तरह इस संसारमें बहुत अन्नसे सम्पन्न एकमात्र किसान अधिक यवसे पूर्ण शस्यको विचार करके (अनुपूर्वं वियूय अङ्ग दान्ति) क्रमसे अलग करके शीघ्र काटते हैं, इसी प्रकार अति अल्पमात्र तुम देवताओंके प्रिय हो, (एषां भोजनानि इह कृणुहि) इन यजमानोंके सम्बन्धी विविध प्रकारके भोजनोंको स्थानमें सम्पादन करो (ये बर्हिषि नमः उक्तिं यजन्ति) जो कि कुशासन पर बैठ हविलक्षणवाले अन्नको लेकर सत्कार वचनको कहकर यजन करते हैं ॥ ३८ ॥

[१३४५] हे ! (त्वा कः आछ्यति) तुमको कौन विद्वान् पुरुष सब ओरसे काटता वा दण्डित करता है ? (त्वा कः विशास्ति) तुमको कौन अनेक प्रकारोंसे विविध शास्त्रोंसे उपदेश करता है ? (ते गात्राणि कः शम्यति) तेरे अङ्गोंको कौन सुख पहुंचाता है ? और (क उ कविः ते शमिता) कौन विद्वान् पुरुष तुमको शान्ति प्रदान करता है ? इस सबका उत्तर प्रजापति ही है ॥ ३९ ॥

[१३४६] (ऋतवः, ऋतुथा, शमितारः) वसंत आदि ऋतु ऋतुके अनुसार शान्तिवर्धक होकर (पर्व वि शासतु) पर्वकालका विशेष प्रकार सम्पादन करें, और (संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः त्वा शम्यन्तु) संवत्सरके तेज शान्तिदायक उपायोंसे तुझको शान्ति प्रदान करें ॥ ४० ॥

सब ऋतु तुझे शान्ति प्रदान करें । और सब पर्वोंके काल तुझे तेज प्रदान करे । संवत्सरका समय तुझे शान्ति प्रदान करे । अर्थात् तू सर्वदा शान्तिपूर्वक सुखसे रहो और उत्तम ज्ञान प्राप्त करो ।

[१३४७] हे मनुष्य ! जैसे (अहोरात्राणि, अर्धमासाः मासाः ते परूंषि शम्यन्तः मरुतः आच्छयन्तु) दिन रात, शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष, चैत्रादि महीने तेरी उमरको काटते हैं, वैसे ही मरुत तेरे कठोर वचनोंका शान्ति स्थापन करनेके लिये नाश करें, और (ते विलिष्टं सूदयन्तु) तेरे दुष्ट भावोंको दूर करें ॥ ४१ ॥

[१३४८] (देवाः अध्वर्यवः त्वा विशासतु) दिव्य गुणोंवाले अध्वर्युगण तुम सबोंको विशेष उत्तम मार्गसे चलनेका उपदेश देवें, (च ते आच्छयन्तु) और वे तुम्हारे दोषोंका नाश करें, (पर्वशः गात्राणि) सन्धिस्थानसे अङ्गोंको परखें, तथा (सिमाः शम्यन्तीः कृण्वन्तु) दुष्ट स्वभावको दूर करती हुई स्त्रियां भी तुम्हें उत्तम शिक्षा प्रदान करें ॥ ४२ ॥

द्यौस्ते॑ पृथि॒व्य॒न्तरि॑क्षं वा॒युश्छि॒द्रं पृ॑णातु ते । सूर्य॑स्ते॒ नक्ष॑त्रैः स॒ह लो॒कं कृ॑णोतु सा॒धुया॑ ॥ ४३ ॥
शं ते॒ परे॑भ्यो॒ गात्रे॑भ्यः शम॒स्त्ववरे॑भ्यः । शम॒स्थभ्यो॑ म॒ज्जभ्यः॒ शम्व॑स्तु त॒न्वै॒ तव॑ ॥ ४४ ॥
कः स्वि॑देका॒की च॑रति॒ क उ॑ स्वि॒ज्जाय॑ते॒ पुनः॑ । किंꣳ स्वि॑द्धि॒मस्य॑ भेष॒जं किम्वा॒वप॑नं म॒हत् ॥४५॥
सूर्य॑ एका॒की च॑रति च॒न्द्रमा॑ जायते॒ पुनः॑ । अ॒ग्निर्हि॒मस्य॑ भेष॒जं भूमि॑रा॒वप॑नं म॒हत् ॥ ४६ ॥
किंꣳ स्वि॒त्सूर्य॑सम॒ं ज्योतिः॒ किंꣳ स॑मु॒द्रस॑मꣳ सरः॑ ।
किंꣳ स्वि॑त्पृथि॒व्यै वर्षी॑यः॒ कस्य॒ मात्रा॒ न वि॑द्यते ॥ ४७ ॥
ब्रह्म॒ सूर्य॑सम॒ं ज्योति॒र्द्यौः स॑मु॒द्रस॑मꣳ सरः॑ ।
इन्द्रः॑ पृथि॒व्यै वर्षी॑या॒न् गोस्तु॒ मात्रा॒ न वि॑द्यते ॥ ४८ ॥
पृ॒च्छामि॑ त्वा चि॒तये॑ देवसख॒ यदि॒ त्वमत्र॒ मन॑सा ज॒गन्थ॑ ।
येषु॒ विष्णु॑स्त्रि॒षु प॒देष्वेष्ट॒स्तेषु॒ विश्वं॒ भुव॑न॒मा वि॑वेशा३ ॥ ४९ ॥

[१३४९] (ते छिद्रं द्यौः पृथिवी वायुः पृणातु) तेरे छिद्रको द्यौः, पृथ्वी और वायु पूर्ण करे, दोषको दूर करे, (सूर्यः नक्षत्रैः सह ते लोकं साधुया कृणोतु) सूर्य नक्षत्रोंके साथ तेरे साथ रहनेवाले जन समूहको सच्चरित्र बनावे ॥४३॥
तू शुद्ध आचरणवाला बन कर यहां जीवित रहो । संपूर्ण विश्व तेरी सहायता करें ॥ ४३ ॥

[१३५०] (ते परेभ्यः शं अस्तु) तेरे लिये पर अर्थात् शत्रुओंसे भी शान्ति प्राप्त हो, (गात्रेभ्यः शं, अवरेभ्यः शं, अस्थभ्यः मज्जभ्यः शम्) शरीरके अङ्गोंको सुख, गौण अङ्गोंको शान्ति तथा हड्डी और शरीरमें रहनेवाली चरबीको भी कल्याण प्राप्त हो, एवं (तव तन्वै शं अस्तु) तुम्हारे शरीरके लिये सुख प्राप्त हो ॥ ४४ ॥
मनुष्यका शरीर नीरोग रहकर सुख देनेवाला हो । शरीरके सब अंग और अवयव सुख देनेवाले हों ॥ ४४ ॥

[१३५१] इस संसारमें (कः स्वित् एकाकी चरति) कौन अकेला विचरण करता है ? (उ कः स्वित् पुनः जायते) और कौन फिर फिर उत्पन्न होता है ? (किं स्वित् हिमस्य भेषजम्) कौनसी हिमकी औषधि है ? (उ किं महत् आवपनम्) और बडा अच्छे प्रकार बीज बोनेका आधार कौनसा है ? ॥ ४५ ॥

[१३५२] (सूर्यः एकाकी चरति) सूर्य अकेला अपनी परिधिमें घूमता है, (चन्द्रमाः पुनः जायते) चन्द्रमा फिर फिर उत्पन्न होता है, (अग्निः हिमस्य भेषजम्) अग्नि शीतकी ओषधि है, और (महत् आवपनं भूमिः) बडा अच्छे प्रकार बोनेका आधार जिसमें सब वस्तु बोते हैं, वह पृथ्वी है ॥ ४६ ॥

[१३५३] (स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः किम्) कहिये सूर्यके समान ज्योती कौनसी है ? (समुद्रसमं सरः किम्) समुद्रके समान सरोवर कौनसा है ? (स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः किम्) बताओ पृथ्वीसे भी अधिक वर्षोंका पुराना कौनसा पदार्थ है ? और (कस्य मात्रा न विद्यते) किसका परिमाण नहीं है ? ॥ ४७ ॥

[१३५४] (सूर्यसमं ज्योतिः ब्रह्म) सूर्यके समान तेजस्वी प्रकाश ब्रह्म है, (समुद्रसमं सरः द्यौः) समुद्रके समान सरोवर द्युलोक है; (पृथिव्यै वर्षीयान् इन्द्रः) पृथ्वीसे भी अधिक पुराना परमैश्वर्यवान् इन्द्र है; और (गोः तु मात्रा न विद्यते) गौकी तो तुलना करने योग्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ४८ ॥

[१३५५] हे (देवसख) देवताओंके मित्र ! (चितये त्वा पृच्छामि) ज्ञानलाभके लिये तुमसे पूछता हूं, (अत्र यदि त्वं मनसा जगन्थ) यहां यदि तुम मनसे जानते हो, तो कहो, (विष्णुः येषु त्रिषुः पदेषु इष्टः) व्यापक परमात्मा जिन तीन स्थानोंमें पूज्य हुआ (तेषु विश्वं भुवनं आविवेशां) उनमें सम्पूर्ण संसार प्रविष्ट हुआ है क्या ? ॥ ४९ ॥

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमा विवेश ।
सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम् ॥ ५० ॥

केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतद्ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किंस्वित्नः प्रति वोचास्यत्र ॥ ५१ ॥

पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥ ५२ ॥

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किंस्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥ ५३ ॥

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः ।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥ ५४ ॥

का ईमरे पिशङ्गिला का ईं कुरुपिशङ्गिला ।
क ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां वि सर्पति ॥ ५५ ॥

[१३५६] [उत्तर] (तेषु त्रिषु पदेषु अपि अस्मि) उन तीनों स्थानों अर्थात् द्यौ अन्तरिक्ष और पृथ्वीमें मैं 'परमेश्वर' ही व्यापता हूं (येषु विश्वं भुवनं आविवेश) जिनमें समस्त जगत् रहा है। मैं (पृथिवीं सद्यः परि एमि) पृथ्वीको बहुत शीघ्र व्यापता हूं, (उत द्याम) और द्युलोकको भी व्यापता हूं, तथा (एकेन अंगेन अस्य दिवः पृष्ठम्) एक अङ्ग वा एक एक अंशसे इस तेजोमय सूर्यके भी ऊपरके भागको व्याप कर रहा हूं ॥ ५० ॥

[१३५७] हे (ब्रह्मन्) ब्रह्मन् ! (पुरुषः केषु अन्तः आविवेश) सबमें निवास करनेवाला परमेश्वर किन पदार्थोंके अन्तरमें प्रविष्ट हुआ है ? (पुरुषे अन्तः कानि अर्पितानि) इस पुरुषके मध्यमें कौन कौनसी वस्तुयें अर्पण की हैं ? (एतत् त्वा उपवल्हामसि) यह तुमसे पूछता हूं, (स्वित्, अत्र त्वं किं प्रति वोचासि) कहो, यहां इस प्रश्नके उत्तरमें तुम क्या कहते हो ॥ ५१ ॥

[१३५८] (पञ्चसु अन्तः पुरुषः आविवेश) पांचों भूत और उन पांचों सूक्ष्मरूप पञ्चतन्मात्राओंके भीतर पूर्ण परमेश्वर प्रविष्ट हुआ है, और (तानि पुरुषे अर्पितानि) वे पांचों भूत और तन्मात्रायें पूर्ण परमेश्वरमें ओतप्रोत हैं। (एतत् त्वा प्रतिमन्वानः अस्मि) यह तुझे मैं बतला रहा हूं। हे प्रश्न करनेवाले ! (मायया मत् उत्तरः न भवसि) ज्ञानसे तू मुझसे उत्कृष्ट समाधान करनेवाला नहीं हो सकता है ॥ ५२ ॥

[१३५९] (पूर्वचित्तिः का स्वित् आसीत्) सबसे पूर्वकी स्मरण करने योग्य कौनसी स्थिति है ? (बृहद्वयः किं स्वित् आसीत्) सबसे बडा बल कौन हुआ है ? (पिलिप्पिला का स्वित् आसीत्) सुन्दर अर्थात् शोभावाली कौनसी वस्तु हुई है ? और (पिशंगिला का स्वित् आसीत्) रूपका निगलनेवाला पदार्थ कौनसा है ? ॥ ५३ ॥

[१३६०] (द्यौः पूर्वचित्तिः आसीत्) द्यौ ही प्रथमकी स्थिति है, (अश्वः बृहत् वयः आसीत्) अश्व अर्थात् सर्वव्यापक अग्नि सबसे बडा बल है, (अविः पिलिप्पिला आसीत्) सबकी रक्षिका भूमि सबसे अधिक शोभावाली है, और (पिशङ्गिला रात्रिः आसीत्) समस्त पदार्थोंके रूपोंको निगल जानेवाली रात्रि है ॥ ५४ ॥

[१३६१] (अरे) हे विद्वन् ! (पिशाङ्गिला का ईम्) रूपोंको निगलनेवाली कौन है ? (कुरुपिशङ्गिला का ईम्) रूपोंको कौन निगलती है ? (क ईम् आस्कन्दं अर्षति) कौन उछल उछल कर चलता है ? और (क ईं पन्थां विसर्पति) कौन मार्गको, सरकते हुये विशेषरूपसे गमन करता है ? ॥ ५५ ॥

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला ।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति ॥ ५६ ॥

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः ।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५७ ॥

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५८ ॥

को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् ।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ५९ ॥

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् ।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ६० ॥

[१३६२] (अरे) हे सज्जन ! (पिशङ्गिला अजा) समस्त रूपोंको अपने भीतर निगल जानेवाली प्रकृति है, (श्वावित् कुरुपिशङ्गिला) तथा धान्य व मूलादि अवयवोंको शब्द करती हुई खा जानेवाली 'कुरुपिशङ्गिला' है, (शशः आस्कन्दं अर्षति) बनका खरगोश कूद कूद कर चलता है और (अहिः पन्थां वि सर्पति) सर्प मार्गको, सरकते हुये विशेषरूपसे चलता है ॥ ५६ ॥

[१३६३] हे विद्वन् ! (अस्य विष्ठाः कति) इस यज्ञके अन्न कितने प्रकारके हैं ? (अक्षराणि कति) अक्षर कितने हैं ? (होमासः कति) हवन कितने प्रकारके हैं ? (कतिधा समिद्धः) कितने प्रकारकी समिधायें हैं ? (ऋतुशः कति होतारः यजन्ति) प्रति ऋतुमें कितने होता यजन करते हैं ? (यज्ञस्य विदथा अत्र त्वा अपृच्छम्) यज्ञके ज्ञानके लिये यहां मैं तुमसे यह पूछता हूं ॥ ५७ ॥

[१३६४] (अस्य षड् विष्ठाः) इस यज्ञके छः अन्न हैं अर्थात् सम्पूर्ण अन्न षड्रसात्मक होते हैं । (शतं अक्षराणि) जीवनके सौ वर्ष सौ अक्षर हैं । (अशीतिः होमाः) अस्सी होम होते हैं । (ह तिस्रः समिधा) निश्चयसे तीन समिधायें हैं और (सप्त होतारः ऋतुशः यजन्ति) सात होता गण प्रत्येक ऋतुमें यजन करते हैं, मैं (यज्ञस्य विदथा ते प्र ब्रवीमि) यज्ञके ज्ञानोंको तुम्हारे लिये बतलाता हूं ॥ ५८ ॥

[१३६५] (अस्य भुवनस्य नाभिः कः वेद) इस जगत्के नाभिको कौन जानता है ? (कः द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) कौन द्युलोक, पृथ्वीलोक व अन्तरिक्षलोकको जानता है ? (बृहतः सूर्यस्य जनित्रम् कः वेद) महान् सूर्यके जन्मको कौन जानता है ? और (चन्द्रमसं कः वेद यतः जाः) चन्द्रमाको कौन जानता है कि वह कहांसे उत्पन्न हुआ है ? ॥ ५९ ॥

[१३६६] (अहम् अस्य भुवनस्य नाभिं वेद) मैं इस समस्त जगतके नाभिको जानता हूं, (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्) द्युलोक, भूलोक व अन्तरिक्षलोकको जानता हूं, तथा (बृहतः सूर्यस्य जनित्रं वेद) महान सूर्यके उत्पत्ति स्थानको भी जानता हूं (अथो चन्द्रमसं वेद यतोजाः) और चन्द्रमाको जानता हूं कि वह जहांसे उत्पन्न हुआ है ॥ ६० ॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ ६१ ॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयꣳ सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ६२ ॥

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे । दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥ ६३ ॥

होता यक्षत्प्रजापतिꣳ सोमस्य महिम्नः । जुषतां पिबतु सोमꣳ होतर्यज ॥ ६४ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६५ ॥

[अ० २३, कं० ६५, मं० सं० ८३]

इति त्रयोविंशोऽध्यायः ।

[१३६७] हे विद्वान् ! मैं (त्वा पृथिव्याः परं अन्तं पृच्छामि) तुमसे पृथ्वीके परम अन्तको पूछता हूं, और (यत्र भुवनस्य नाभिः पृच्छामि) जिस स्थान पर इस जगतका नाभी केन्द्र है उसको भी पूछता हूं, तथा (त्वा पृच्छामि वृष्णः अवश्य रेतः) तुमसे पूछता हूं कि उस महान् सब सुखोंके वर्षक सर्व व्यापक परमेश्वरका उत्पादक सामर्थ्य क्या है ? और (पृच्छामि वाचः परमं व्योम) पूछता हूं कि वाणीका परम सर्वोत्कृष्ट विशेष रक्षा स्थान कौनसा है ॥ ६१ ॥

[१३६८] (इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः) यह वेदि पृथ्वीका परम अन्त है, (अयं यज्ञः भुवनस्य नाभिः) यह यज्ञ समस्त संसारका नाभि अर्थात् परम आश्रय है, (अयं सोमः विष्णः अश्वस्य रेतः) यह सोमही महान् व्यापक परमेश्वरका सर्वोत्पादक सामर्थ्य है, और (अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम) यह ब्रह्मज्ञानी, वेदज्ञ विद्वान्ही वाणीका परम वा उत्कृष्ट स्थान है ॥ ६२ ॥

[१३६९] (यतः प्रजापतिः जातः) जिस परमेश्वरसे संसारका रक्षक सूर्य उत्पन्न हुआ, और जिस (सुभूः स्वयम्भूः प्रथमः) सुन्दर विद्यमान, स्वयं सत्तावान् उत्पत्ति नाशरहित, सबसे प्रथम वा पूर्व विद्यमान् जगदीश्वरने (महति अर्णवे अन्तः ऋत्वियं गर्भं दधे) बडे विस्तृत जलोंसे युक्त संसारके बीच समयानुकूल प्राप्त गर्भ अर्थात् बीचको धारण किया, (ह) निश्चयसे उसी परमात्माकी ही तुम सब लोग उपासना करो ॥ ६३ ॥

[१३७०] (होता महिम्नः सोमस्य प्रजापतिं यक्षत्) होताने महिमावाले सोमके प्रजापतिका यजन द्वारा सत्कार किया, पूजित हुये प्रजापति (सोमं जुषतां, पिबतु) सोमरसको प्रीतिपूर्वक सेवन करें और पान करें, हे (होतः) होता ! तुम भी उसी प्रकारसे (यज) यजन करो ॥ ६४ ॥

[१३७१] हे (प्रजापते) सब प्रजाओंके स्वामिन् ! (त्वत् अन्यः एतानि ता विश्वा रूपाणि परि न बभूव) तुम्हारेसे भिन्न दूसरा कोई इस पृथिव्यादि भूतों तथा सब पदार्थोंसे तथा रूपोंसे अधिक बलवान नहीं हुआ है, अर्थात् तुमही सर्वोपरि बलवान हो । (नः यत् कामाः ते जुहुमः) हम जिन इच्छाओंको करते हुये तेरा यजन करते हैं (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त हो । जिससे (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके स्वामी होवें ॥ ६५ ॥

॥ तेवीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ।

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्सारस्वती
मेष्यधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्यांꣳ सौर्ययामौ
श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छ इन्द्राय
स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः ॥ १ ॥

रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः
शितिरन्ध्रोऽन्यतःशितिरन्ध्रः समन्तशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः शितिबाहुरन्यतःशितिबाहुः
समन्तशितिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रावरुण्यः ॥ २ ॥

[१३७२] (अश्वः तूपरः गोमृगः ते प्रजापत्याः) घोडा, सींगोंवाला भेडा और नील गाय ये तीनों प्रजापतिके हैं, (कृष्णग्रीवः आग्नेयः रराटे पुरस्तात्) कृष्ण ग्रीवावाला, अग्निके समान सबका अग्रणी नेता, मस्तकके समान विचारशील, सबके आगे मुख्य पदपर प्रतिष्ठित है, (सारस्वती मेषीः अधस्तात् हन्वोः) जिस प्रकार सरस्वती वाणी स्वयं दोनों जबडोंके बीचमें होती है, उसी प्रकार उनके निर्णयके बीचमें वह वाणी होती है। (बाह्वोः अश्विनौ अधोरामौ) शरीरमें जिस प्रकार बाहु हैं उस प्रकार दोनों बाहुओंके स्थान पर दोनों अश्विनीकुमारोंके सदृश वीर पुरुषोंको राष्ट्ररक्षामें नियुक्त करे। (श्यामः नाभ्यां सौमा पौष्णः) श्यामवर्णका नाभीमें लगा हुआ सोम ओषधिरसका ज्ञानी वैद्य और पोषक अन्नका उत्पादक कृषिविभागाध्यक्ष योग्य स्थानोंपर नियुक्त करे (सौर्ययमौ श्वेतः च कृष्णः च पार्श्वयोः) सूर्य और यमके गुणोंको दिखानेवाले सफेद और काली वर्दी पहननेवाले दो मुख्य अधिकारी राष्ट्रशरीरके पार्श्वभागमें रहें। (लोम शसक्थौ त्वाष्ट्रौ सक्थ्योः) जिनकी एकता शत्रुओंका नाश करनेवाली हो, वे शत्रुसेनाको शस्त्रोंसे विनाश करनेवाले हों उनको राष्ट्रशरीरके जंघा स्थानीभागमें नियुक्त करे। (पुच्छे वायव्यः श्वेतः) पुच्छभागमें वायुके समान तीव्र प्रचण्ड बलवान् तेजस्वी अधिकारी पुरुषको राजा लगाये। और (स्वपस्याय इन्द्राय वेहत्) उत्तम कार्य करनेवाले इन्द्र सेनापतिके कार्यके लिये अर्थात् शत्रुओंके नाश करनेके लिये राजा, योग्य वीर पुरुषोंको स्थापन करे, तथा (वैष्णवो वामनः) सर्वव्यापक सामर्थ्यवान् पदके लिये अति उत्तम वीर पुरुषको नियुक्त करे ॥ १ ॥

उत्तम वीरोंको योग्य स्थानमें राष्ट्ररक्षाके लिये रखना योग्य है ॥ १ ॥

[१३७३] (रोहितः धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितः ते सौम्याः) लाल रङ्ग, धुंवा मिला लाल रङ्ग, और पके हुये बेरके फलके समानसा लाल रङ्ग, इन तीनों रङ्गोंकी वर्दी- पोशाक पहने हुये राज अधिकारी वर्ग राजाके पदके साथ सम्बद्ध हैं; (बभ्रुः अरुणबभ्रुः शुकबभ्रुः वारुणाः) भूरा, लालभूरा और हराभूरा इन तीन रङ्गोंकी वर्दी पहननेवाले अधिकारी वर्ग वरुणके पदके साथ सम्बद्ध हैं; (शितिः रन्ध्रः, अन्यतः शितिरन्ध्रः, समन्तः शितिरन्ध्रः सावित्राः) श्वेत चिटकनेवाला, एक ओर श्वेत चिटकनेवाला और सारे शरीर पर श्वेत चिटकनेवाला यह तीन प्रकारके वस्त्रोंके वर्दी पहननेवाले अधिकारी सविताके पदके साथ सम्बद्ध हैं; (शितिबाहुः, अन्यतः, शिशिबाहुः, समन्तः शितिबाहुः ते बार्हस्पत्याः) बाहुभागोंपर श्वेत, किसी एक ओरकी बाहुपर श्वेत, समस्त बाहुओंपर श्वेत वे ऐसे वर्दीवाले अधिकारी बृहस्पति अर्थात् महामात्य पदके साथ सम्बद्ध हैं; (पृषती, क्षुद्रपृषती, स्थूलपृषती मैत्रावरुण्यः) विचित्रवर्णके बिन्दुओं वा छीटोंवाली, छोटी छोटी छीटोंवाली और बडी बडी छीटोंवाली वर्दियोंके साथ मित्र अर्थात् न्यायाधीश और दुष्टोंके निवारक वरुण अर्थात् पोलिस विभागके पदाधिकारी गण हैं ॥ २ ॥

यहां रक्षकोंके गणोंके अनेक प्रकारके पोषाख वर्णन किये हैं ॥ २ ॥

शुद्धवा॑लः स॒र्वशु॑द्धवालो म॒णिवा॑ल॒स्त आ॑श्वि॒नाः श्येतः॑ श्येता॒क्षो॒ऽरु॒णस्ते रु॒द्राय॑ पशु॒पत॑ये कु॒र्णा या॒मा अ॑वलि॒प्ता रौ॒द्रा नभो॑रूपाः पार्ज॒न्याः॑ ॥ ३ ॥

पृश्नि॑स्तिर॒श्चीन॑पृश्निरू॒र्ध्वपृ॑श्नि॒स्ते मा॑रु॒ताः फ॒ल्गूर्लो॑हितो॒र्णी प॑ल॒क्षी ताः सा॑रस्व॒त्यः प्लीहा॒कर्णः॑ शुण्ठा॒कर्णो॑ऽध्यालोह॒क॒र्ण॒स्ते त्वा॒ष्ट्राः कृ॒ष्णग्री॑वः शिति॒क॒क्षो॑ऽञ्जिस॒क्थस्त ऐ॑न्द्रा॒ग्नाः कृ॒ष्णा॒ञ्जि॒रल्पा॑ञ्जि॒र्म॒हा॒ञ्जि॒स्त उ॑ष॒स्याः॑ ॥ ४ ॥

शि॒ल्पा वै॑श्वदे॒व्यो॒ रोहि॑ण्य॒स्त्र्यव॑यो वा॒चेऽवि॑ज्ञा॒ता अदि॑त्यै॒ स॒रू॑पा धा॒त्रे व॑त्सत॒र्यो॒ दे॒वानां॒ पत्नी॑भ्यः ॥ ५ ॥

कृ॒ष्णग्री॑वा आग्ने॒याः शि॑ति॒भ्रवो॒ वसू॑ना॒ꣳ रोहि॑ता रु॒द्राणा॒ꣳ श्वे॒ता अ॑व॒रो॒कि॒ण॑ आदि॒त्या॑नां॒ नभो॑रूपाः पार्ज॒न्याः॑ ॥ ६ ॥

[१३७४] (शुद्धवालः सर्वशुद्धवालः मणिशुद्धवालः ते आश्विना) शुद्ध श्वेत बालोंवाले, समस्त श्वेतबालों वाले और मणिके समान नीले बालोंवाले वे सब आश्विनौके आधीन हों; (श्येतः श्येताक्षः अरुणः ते पशुपतते रुद्राय) श्वेत वर्णवाले, आंख पर श्वेत बालवाले और और लाल रङ्ग बाल वाले ये सब, पशुओंके स्वामी और दुष्टोंके रुलानेवाले रुद्रसंज्ञक हैं; (कर्णाः यामाः) कानों वाले अर्थात् बहुश्रुत लोग 'यम' नामके हैं; (अवलिप्ताः रौद्राः) शरीर पर चन्दन आदिके विशेष रङ्गका लेप करनेवाले रुद्रसंज्ञक हैं; और (नभोरूपाः पार्जन्यः) आकाशके समान वर्षावाले पुरुष जलधाराओंके विभागके हों ॥ ३ ॥

[१३७५] (पृश्निः तिरश्चीनपृश्निः ऊर्ध्वपृश्निः मारुताः) चित्रविचित्र, तिरछे शरीरपर चिटकनेवाले और ऊपरकी ओर चित्रित बिन्दुवाले मरुत विभागके हैं। (फल्गूः लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः) स्वल्प बलवाली लाल ऊन पहननेवालीं और श्वेत ऊन पहननेवालीं अथवा अति चंचल आंखोंवाली स्त्रियां वे सब सरस्वती विभागमें कार्य करनेवाली हैं। (प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णः अध्यालोहकर्णः ते त्वाष्ट्राः) लम्बे कानवाले, छोटे कानवाले और रक्तवर्ण कानवाले वे सब त्वष्टा वर्गके अधिकारीके अन्तर्गत हैं। (कृष्णग्रीवः शितिकक्षः अञ्जिसक्थः ते ऐन्द्राग्नाः) ग्रीवापर काले चिह्नवाले, कक्ष अर्थात् बगलमें श्वेत चिह्नवाले और जंघेपर श्वेत चिह्नवाले वे सब भी इन्द्र और अग्निके वर्गके हों, (कृष्णाञ्जिः अल्पाञ्जिः महाञ्जिः ते उषस्याः) काले लंगोटके, छोटे लंगोटके और बडे लंगोटके वे पुरुष उषाके समान प्रकाशकारी विभागके पुरुष हों ॥ ४ ॥

[१३७६] (विश्वदेव्यः शिल्पाः रोहिण्यः त्र्यवयः वाचे) विश्व देवता सम्बन्धी शिल्पकार्योंकी सिद्धि करनेवाली, लताओंकी तरह बढती हुई कुमारी कन्यायें, माता, पिता और गुरु इन तीनोंकी रक्षामें रहनेवाली होकर ज्ञान वाणीकी शिक्षाके लिये जावें; (अविज्ञाताः अदित्यै) अज्ञात कुलकी कन्यायें अच्छे स्थायी गृहस्थोंको देदी जांय; (सरूपाः धात्रे) समान रूपवाली वा समान गुणोंवाली स्त्रियां पालन पोषण करनेमें समर्थ पतियोंको प्राप्त होवें और (वत्सतर्यः देवानां पत्नीभ्यः) बहुत छोटी उमरकी कन्यायें विद्वान् पुरुषोंकी विदुषी स्त्रियोंके अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त करें ॥ ५ ॥

[१३७७] (कृष्णग्रीवाः आग्नेयः) गर्दन पर काले चिह्नवाले पुरुष आग्नेय अर्थात् समाजमें अग्रणी हों, (शितिभ्रवः वसूनाम्) भ्रुवों पर श्वेत चिह्नके पुरुष प्रजा बसानेवाले हों; (रोहिता रुद्राणाम्) लालवर्णके वस्त्र धारण करनेवाले शत्रुओंको रुलानेवाले 'रुद्र' नामके अधिकारी हों; (श्वेताः अवरोकिणः आदित्यानाम्) श्वेत पोषाक धारण करनेवाले और दूसरोंको कुमार्ग पर जानेसे रोकनेवाले पुरुष 'आदित्य' नामके अधिकारी हों; और (नभोरूपाः पार्जन्याः) नील मेघके समान रङ्गके पोषाकवाले पुरुष 'पर्जन्य' बादल सदृश जलदाता विभागके अधिकारी हों ॥ ६ ॥

उन्नत ऋषभो वामनस्त ऐन्द्रावैष्णवा उन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्त ऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषा आग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः ॥ ७ ॥

एता ऐन्द्राग्ना द्विरूपा अग्नीषोमीया वामना अनड्वाह आग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यत एन्यो मैत्र्यः ॥ ८ ॥

कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सौम्याः श्वेता वायव्या अविज्ञाता अदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः ॥ ९ ॥

कृष्णा भौमा धूम्रा आन्तरिक्षा बृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः ॥ १० ॥

धूम्रान्वसन्तायालभते श्वेतान्ग्रीष्माय कृष्णान्वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय ॥ ११ ॥

[१३७८] (उन्नतः ऋषभः वामनः ते ऐन्द्रावैष्णवाः) ऊंचे बलवान् और अति सुन्दर रूपवाले वे तीनों प्रकारके पुरुष इन्द्र और विष्णुके गणोंमें रहें। (उन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठः ते ऐन्द्रावार्हस्पत्याः) ऊंचे, बाहुपर श्वेत-वस्त्रवाले और पीठपर भी श्वेत वस्त्रवाले वे तीनों 'इन्द्र बृहस्पति' के हों; (शुकरूपाः वाजिनाः) तोतेके समान हरे पोषाक पहने हुये पुरुष अधिकारी वर्ग वेगवान् घोडोंके ऊपर हों; (कल्माषाः अग्निमारुताः) श्वेत काले और खाकी रङ्गके वर्दीवाले अग्नि और मरुत विभागके हों; तथा (श्यामाः पौष्णाः) नीले रङ्गके पूषा विभागके अधिकारी हों ॥७॥

[१३७९] (एताः ऐन्द्राग्नाः) कर्बुर रङ्गके गणवेष इन्द्र और अग्नि विभागके हैं; (द्विरूपाः अग्निषोमीयाः) दो दो रङ्गके पोशाक अग्नि और सोम विभागके हैं; (वामनाः अनड्वाहः आग्नावैष्णवाः) छोटे अङ्गके पुरुष, और गाडी खींचकर ले जानेवाले बैल अग्नि व विष्णु विभागके हैं; (वशाः मैत्रावरुण्यः) वशा विभागकी संस्थायें और पुरुष मित्र और वरुण विभागके हैं और (अन्यतः एन्यः मैत्र्यः) एक ओरसे चित्रित वर्णके वस्त्र पहननेवाली स्त्रियां 'मित्र' विभागकी हैं ॥ ८ ॥

[१३८०] (कृष्णग्रीवाः आग्नेयः) गर्दन पर काले चिह्नवाले 'अग्नि' विभागके हैं; (बभ्रवः सौम्याः) बभ्रु रंगके 'सोम' विभागके हैं; (श्वेताः वायव्याः) श्वेतवर्णके वायु विभागके हैं। (अविज्ञाताः आदित्यै) अविज्ञात कुलवाली अदितिके लिये दी जांय; (सरूपाः धात्रे) समान रूप व गुणोंवाली स्त्रियां पालन पोषण व उत्तम सन्तान पैदा करनेमें समर्थ पतियोंको प्राप्त हों; और (वत्सतर्यः देवानां पतिभ्यः) बहुत छोटी उमरकी कन्यायें विद्वान् पुरुषोंकी विदुषी स्त्रियोंके अधीन रह कर शिक्षा प्राप्त करें ॥ ९ ॥

[१३८१] (कृष्णाः भौमाः) खेतीके उपयोगी किसान और पशु भूमिके लिये हों, (धूम्रा आन्तरिक्षाः) धूमके समान गमनशील पुरुष अन्तरिक्षमें गमन करनेवाले हों। (बृहन्तः दिव्याः) बडे महान शक्तिशाली मनुष्य दिव्यताको प्राप्त करते हैं, (शबलाः वैद्युताः) बलको प्राप्त करनेवाले तीव्र गतिमान् विद्युत्के समान हैं, और (सिध्माः तारकाः) तीव्रवेगसे जानेवाले तारक हैं ॥ १० ॥

[१३८२] (वसन्ताय धूम्रान् आलभते) वसन्त ऋतुके लिये धुमेले रङ्गके वस्त्रोंको प्राप्त करते हैं। (ग्रीष्मान् श्वेतान्) ग्रीष्मकालके लिये श्वेत वस्त्रोंको, (वर्षाभ्यः कृष्णान्) वर्षाकालके लिये कृष्ण रङ्गके वस्त्रोंको, (अरुणान् शरदे) लाल रङ्गके वस्त्रोंको शरदकालके लिये पहननेके काममें लाये; (पृषतः हेमन्ताय) मोटे नाना वर्णके वस्त्रोंको हेमन्त ऋतुके लिये उपयोग करे; और (पिशङ्गान् शिशिराय) पीले, वसन्ती रङ्गके वस्त्रोंको शिशिर-ऋतुके लिये उपयोग करे ॥ ११ ॥

त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे दित्यवाहो जगत्यै त्रिवत्सा अनुष्टुभे तुर्यवाह उष्णिहे ॥ १२ ॥
पष्ठवाहो विराज उक्षाणो बृहत्या ऋषभाः ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिच्छन्दसे ॥ १३ ॥
कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सौम्या उपध्वस्ताः सावित्रा वत्सतर्यः सारस्वत्यः श्यामाः पौष्णाः
पृश्नयो मारुता बहुरूपा वैश्वदेवा वशा द्यावापृथिवीयाः ॥ १४ ॥
उक्ताः सञ्चरा एता ऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुताः कायास्तूपराः ॥ १५ ॥
अग्नयेऽनीकवते प्रथमजानालभते मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः सवात्यान्मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो
बष्किहान्मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः संसृष्टान्मरुद्भ्यः स्वतवद्भ्योऽनुसृष्टान् ॥ १६ ॥
उक्ताः सञ्चरा एता ऐन्द्राग्नाः प्राशृङ्गा माहेन्द्रा बहुरूपा वैश्वकर्मणाः ॥ १७ ॥

[१३८३] (त्र्यवयः गायत्र्यै) डेढ वर्षकी गायें गायत्रीके लिये हैं, (पञ्चवयः त्रिष्टुभे) ढाई वर्षकी गायें त्रिष्टुप्के लिये हैं, (दित्यवाहः जगत्यै) कटे धानोंको पीठपर लेकर चलनेवाले बैल जगतिके लिये हैं, (त्रिवत्सा अनुष्टुभे) तीन वर्षकी गौ अनुष्टुप्के लिये है, और (तुर्यवाहः उष्णिहे) साडे तीन वर्षके बैल उष्णिक्के लिये हैं ॥१२॥

इन छन्दोंमें इनका वर्णन होता है। ये मंत्र इन छन्दोंमें देखने चाहिये कि यह वर्णन कैसा है ॥ १२ ॥

[१३८४] (षष्ठवाहः विराजे) पृष्ठसे बोझ उठानेवाले बैल विराट् छन्दके मंत्रमें वर्णित हैं। (उक्षाणः बृहत्याः) वीर्य सेंचनमें समर्थ बैल बृहतीके छंदमें वर्णित हैं, (ऋषभाः ककुभे) अति बलवान् ऋषभ ककुप् छन्दमें वर्णित हैं, (अनड्वाहः पङ्क्त्यै) शकटके बोझ उठानेवाले बैल पंक्ति छन्दमें वर्णित हैं, और (धेनवः अतिच्छन्दसे) दुधारु गौवें अतिछन्दसे वर्णित हैं ॥ १३ ॥

[१३८५] जो (कृष्णग्रीवाः आग्नेयाः) काले गर्दनवाले हैं वे अग्नि देवताके हैं। जो (बभ्रवः सौम्याः) भूरे रंगके हैं वे सोम देवतावाले हैं। जो (उपध्वस्ताः सावित्राः) समीप रहते हैं वे सविता देवतावाले हैं। जो (वत्सतर्यः सारस्वत्यः) छोटी उम्रवाली बछियें हैं वे सरस्वती देवताकी हैं। जो (श्यामाः पौष्णाः) श्याम वर्णके हैं वे पुष्टि करनेवाले मेघ देवताके हैं। जो (पृश्नयः मारुताः) छोटे बच्चे हैं वे मरुत् देवताके हैं, जो (बहुरूपाः वैश्वदेवाः) बहुरूपी अर्थात् अनेक रूपोंवाले हैं वे विश्वदेव देवताके हैं। और जो (वशा द्यावापृथिवीयाः) वशमें रहनेवाली गौवें हैं वे आकाश-पृथ्वी देवताकी हैं ॥ १४ ॥

[१३८६] (एताः उक्ताः संचराः ऐन्द्राग्नाः) ये कहे हुये जो अच्छे प्रकारसे चलनेवाले पशु आदि हैं वे इन्द्र और अग्नि देवताके हैं। (कृष्णाः वारुणीः) जोतनेवाले वरुण देवताके हैं। (पृश्नयः मारुताः) चित्र विचित्र चिह्न युक्त गौवें मरुतोंके हैं। और (तूपराः कायाः) हिंसक स्वभाववाले प्रजापति देवताके हैं ॥ १५ ॥

[१३८७] (अनीकवते अग्ने प्रथमजान् आलभते) प्रशंसित सेना रखनेवाले अग्निके समान तेजस्वी अग्रणी प्रथम श्रेणीके श्रेष्ठ गुणोंवाले पुरुषोंको प्राप्त करे; (सांतपनेभ्यः मरुद्भ्यः सवात्यान्) अच्छी प्रकार शत्रुओंको तपानेवाले वायुके समान तीव्रवेगसे शत्रुपर आक्रमण करनेवाले सैनिकोंको राजा प्राप्त करे, (गृहमेधिभ्यः मरुद्भ्यः बष्किहान्) गृहस्थ विद्वान्की रक्षाके लिये हिंसकोंका हनन करनेवाले रक्षकोंको राजा प्राप्त करे, (क्रीडिभ्यः मरुद्भ्यः संसृष्टान्) युद्धक्रीडा करनेवाले वीरपुरुषोंके लिये उनके साथ मिलकर काम करनेमें समर्थ साथियोंको राजा प्राप्त करे, और (स्वतवद्भ्यः मरुद्भ्यः अनुसृष्टान्) अपनेही शक्तिके आधारपर कार्य करनेवाले वीरोंके लिये, उनके अनुकूल चलनेवाले पुरुषोंको राजा प्राप्त करे ॥ १६ ॥

[१३८८] (सञ्चराः उक्ताः) राजकर्मचारियोंके साथ संचार करनेवाले अनुचरगण इसके पूर्व कहे हैं। अब विशेष कहते हैं- (ऐन्द्राग्नाः एताः माहेन्द्राः प्राशृङ्गाः) इन्द्र और अग्नि अर्थात् राजा और प्रधान सेनापतिके अनुचर शत्रुकी हिंसा करनेके हथियारोंको आगे थामे हुये हों। और (वैश्वकर्मणाः बहुरूपाः) विश्वकर्मा अर्थात् अनेक कर्म करनेवाले अधिकारियोंके अधीन नाना प्रकारके कर्मचारी हों ॥ १७ ॥

धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणाᳬ सोमवतां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः ॥ १८ ॥

उक्ताः सञ्चरा एताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्याः ॥ १९ ॥

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककरांछिशिराय विककरान् ॥ २० ॥

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो मत्स्यान्मित्राय कुलीपयान्वरुणाय नाक्रान् ॥ २१ ॥

सोमाय हᳬसानालभते वायवे बलाका इन्द्राग्निभ्यां क्रुञ्चान्मित्राय मद्गून्वरुणाय चक्रवाकान् ॥२२॥

[१३८९] (सोमवतां पितॄणां धूम्राः बभ्रुनीकाशाः) संरक्षक तथा पालक अधिकारीयोंके अधीन कार्य करनेवाले पुरुष धूमेले और भूरे रङ्गके पोशाकवाले हों। (बर्हिषदां पितॄणां बभ्रवः धूम्रनीकाशाः) प्रजापर अधिष्ठित पालक पुरुषोंके अधीन कर्मचारी भूरे रंग और धूमेले छापवाले वर्दी धारण करनेवाले हों। (अग्निष्वात्तानां पितॄणां कृष्णाः बभ्रुनीकाशाः) अग्रणी नेता पुरुषोंके अधीन कार्य करनेवाले पुरुषोंके काले वस्त्रोंपर भूरे रंगके निशान हों, और (त्रैयम्बकाः कृष्णाः पृषन्तः) 'त्रियम्बक' अर्थात् तीनतीन रक्षणोंके अधिकारोंमें लगे पुरुष काले रंग पर चितकबरे नाना वर्णोंके चिह्नके वस्त्र धारण करनेवाले हों ॥ १८ ॥

[१३९०] उन उपरोक्त अधिकारियोंके (सञ्चराः उक्ताः) अनुचर भी कहे हैं उनको यथायोग्य स्थान पर उनके वर्दीके साथ नियुक्त करें। (शुनासीरीयाः एताः) खेती करनेवाले कृषिविभागके लोग कर्बुररङ्गके वस्त्र धारण करनेवाले हों। और (वायव्याः सौर्याः श्वेताः) वायुविभागके तथा विद्युत् विभागके लोग श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले हों ॥ १९ ॥

किन कर्मचारियोंके पोशाख कैसे हों यह यहां कहा है ॥ १९ ॥

[१३९१] हे मनुष्यों ! पक्षियोंको जाननेवाला वह जन (वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते) वसन्त ऋतुके लिये कपिञ्जल नामके पक्षियोंको अच्छे प्रकारसे प्राप्त करे। और (ग्रीष्माय कलविङ्कान्, वर्षाभ्यः तित्तिरान्, शरदे वर्त्तिकाः, हेमन्ताय ककरान्, शिशिराय विककरान्) ग्रीष्म ऋतुके लिये चिरौटा नामके पक्षियों, वर्षाऋतुके लिये तीतरों, शरद् ऋतुके लिये बत्तरवों, हेमन्त ऋतुके लिये ककर नामके पक्षियों, एवं शिशिर ऋतुके लिये विककर नामके पक्षियोंको प्राप्त करे ॥ २० ॥

[१३९२] पुरुष (समुद्राय शिशुमारान् आलभते) समुद्रदेवताके लिये शिशुमारों अर्थात् घडियालोंको प्राप्त करता है। (पर्जन्याय मण्डूकान्) पर्जन्य देवताके निमित्त मण्डूकोंको प्राप्त करता है। (अद्भ्यः मत्स्यान्) जल देवताके निमित्त मत्स्योंको प्राप्त करता है। (मित्राय कुलीपयान्) मित्र देवताके लिये केंकडोंको प्राप्त है, और (वरुणाय नाक्रान्) वरुण देवताके लिये नाकोंको प्राप्त करता है। मनुष्य उपरोक्त देवताओं और उनके निमित्त प्राणियोंको प्राप्त कर उनका विशेष अध्ययन करे ॥ २१ ॥

[१३९३] मनुष्य (सोमाय हंसान् आलभते) सोमके लिये हंसोंको अच्छी प्रकार प्राप्त करता है। (वायवे बलाकान्) पवनके लिये बगुलोंको, (इन्द्राग्निभ्यां क्रुञ्चान्) इन्द्र और अग्निके लिये सारसोंको, (मित्राय मद्गून्) मित्रके लिये मुतुमुर्गोंको, और (वरुणाय चक्रवाकान्) वरुणके लिये चक्रवाकोंको अच्छी प्रकार प्राप्त होता है। मनुष्य इन सबोंके विषयमें विशेष ज्ञान उपार्जन करे ॥ २२ ॥

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्य उलूकानग्नीषोमाभ्यां चाषानश्विभ्यां मयूरान्मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् ॥ २३ ॥

सोमाय लबानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान्गोषादीर्देवानां पत्नीभ्यः कुलीका देवजामिभ्योऽग्नये गृहपतये पारुष्णान् ॥ २४ ॥

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूरहोरात्रयोः सन्धिभ्यो जतूर्मासेभ्यो दात्यौहान्त्संवत्सराय महतः सुपर्णान् ॥ २५ ॥

भूम्या आखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्त्रान्दिवे कशान्दिग्भ्यो नकुलान्बभ्रुकानवान्तरदिशाभ्यः ॥२६॥

वसुभ्य ऋश्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो न्यङ्कून्विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान्त्साध्येभ्यः कुलुङ्गान् ॥ २७ ॥

[१३९४] मनुष्य (अग्नये कुटरून् आलभते) अग्निके लिये कुटरू नामक मुर्गोंको अच्छी प्रकार प्राप्त होता है। (वनस्पतिभ्यः उलूकान्) वनस्पतियोंके लिये उल्लुओंको, (अग्नीषोमाभ्याम् चाषान्) अग्नि और सोमके लिये चाषनामक पक्षियोंको, (अश्विभ्यां मयूरान्) अश्विनी कुमारोंके निमित्त मयूरोंको और (मित्रावरुणाभ्याम् कपोतान्) मित्रावरुण देवताके लिये कबूतरोंको अच्छी प्रकार प्राप्त होता है। मनुष्य इन सबोंके विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त करे ॥ २३ ॥

[१३९५] मनुष्य (सोमाय लबान् आलभते) सोमके लिये ऐश्वर्य 'लवा' नामक पक्षीको प्राप्त होता है, (त्वष्ट्रे कौलीकात्) 'त्वष्ट्र' अर्थात् कारीगरीके कामके लिये 'बया' नामक पक्षीको प्राप्त होता है, (देवानां पत्नीभ्यः गोसादीः) विद्वानोंके पत्नियोंके लिये 'गुरसल' पक्षीको प्राप्त होता है, (देवजामिभ्यः कुलीकाः) विद्वान् दिव्यगुणोंवालोंके बहिनोंके लिये 'कुलीक' नामक पक्षीको प्राप्त होता है, और (अग्नये गृहपतये पारुष्णान्) अग्निके समान वर्तमान गृहपालन करनेवाले सदगृहस्थके लिये 'पारुष्ण' नामक पक्षीको प्राप्त होता है। मननशील मनुष्य इन सबोंके जीवनके सूक्ष्म अध्ययन द्वारा विशेष ज्ञान उपार्जन करे ॥ २४ ॥

[१३९६] मनुष्य (अह्ने परावतान् आलभते) दिनके लिये कबूतरोंको प्राप्त करता है, क्योंकि वे प्रातःकाल उठते हैं और घूत्कार करते हैं, वैसे मनुष्य भी प्रातःकाल शीघ्र उठें और मन्त्रपाठ करें। (रात्र्यै सीचापूः) रात्रीके कार्यके लिये 'सीचापू' नामके पक्षीको प्राप्त करता है। (अहोरात्रयोः सन्धिभ्यः जतूः) दिनरातकी सन्धिकाल वा सन्ध्या समयमें 'जतू' अर्थात् चमगीदडोंको प्राप्त करता है, वे उस समय अच्छी प्रकार देखते और आहार पाते हैं। (मासेभ्यः दात्यौहान्) मासोंके उत्तमताके ज्ञानके लिये काले कौओंको प्राप्त करता है। और (संवत्सराय महतः सुपर्णान्) संवत्सरकी उत्तमताको जाननेके लिये बडे बडे 'सुपर्ण' नामके पक्षियोंको प्राप्त होता है। मनुष्य इन सबोंके बारेमें विशेष ज्ञान प्राप्त करे ॥ २५ ॥

ये पक्षी दिनमें क्या करते हैं और उनके कर्मोंका परिणाम क्या होता है, यह ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानसे अपने जीवनमें लाभ प्राप्त करना चाहिये ॥ २५ ॥

[१३९७] मनुष्य (भूम्यै आखून् आलभते) पृथ्वीकी श्रेष्ठताके लिये मूषकोंका अध्ययन करे। (अन्तरिक्षाय पांक्त्रान्) अन्तरिक्ष विज्ञानके लिये पंक्तिरूपसे चलनेवाले पक्षियोंको अवलोकन करे। (दिवे कशान्) प्रकाशके लिये 'कश' नामके पक्षियोंको प्राप्त करे। (दिग्भ्यः नकुलान्) दिशाओंके ज्ञानके लिये नेवलोंको अध्ययनद्वारा विशेषरूपसे जाने। और (अवान्तरदिशाभ्यः बभ्रुकान्) उपदिशाओंके ज्ञानके लिये 'बभ्रुक' नामक जन्तुओंको देखे ॥ २६ ॥

[१३९८] मनुष्य (वसुभ्यः ऋश्यान् आलभते) वसु अर्थात् पच्चीस वर्षके ब्रह्मचारीके लिये ऋष्यनामक मृगोंको प्राप्त कर विशेष अध्ययन करे। (रुद्रेभ्यः रुरून्) रुद्रोंके लिये रुरु नामक मृगोंको, (आदित्येभ्यः न्यङ्कून्)

ईशानाय परस्वत आलभते मित्राय गौरान्वरुणाय महिषान्बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्र उष्ट्रान् ॥ २८॥
प्रजापतये पुरुषान्हस्तिन आलभते वाचे प्लुषींश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः ॥ २९ ॥

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदृषभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्तिका नीलङ्गोः कृमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती ।३०।

मयुः प्राजापत्य उलो हलिक्ष्णो वृषदंशस्ते धात्रे दिशां कङ्को धुङ्क्षाग्नेयी कलविङ्को लोहिताहिः पुष्करसादस्ते त्वाष्ट्रा वाचे क्रुञ्चः ॥ ३१ ॥

आदित्य ब्रह्मचारियोंके लिये न्यङ्कुजातिके मृगोंको, (विश्वेभ्यः देवेभ्यः पृषतान्) समस्त दिव्यगुणोंसेयुक्त देवोंके लिये पृषत जातिके मृगोंको, और (साध्येभ्यः कुलुङ्गान्) साध्य अर्थात् योगसाधनाशील पुरुषोंके लिये कुलुङ्गजातिके मृगोंको ग्रहण करे । इन सबोंको ग्रहण करके, मनुष्य उन सबोंके विशेष गुणोंको सूक्ष्मतासे जाननेका प्रयत्न करे ॥ २७ ॥

[१३९९] मनुष्य (ईशानाय परस्वतः आलभते) ऐश्वर्य सम्पन्न सामर्थ्यवान् जनके लिये ' परस्वत् ' नामक मृगोंको प्राप्त करे । (मित्राय गौरान्) मित्रके लिये गौर मृगोंको देखे, (वरुणाय महिषान्) वरुणके लिये भैंसो को देखना चाहिये । (बृहस्पतये गवयान्) बृहस्पतिके लिये नीलगायोंको देखना चाहिये । और (त्वष्ट्रे उष्ट्रान्) त्वष्ट्रा अर्थात् शिल्पियोंके लिये बोझ उठानेवाले उष्ट्रोंका निरीक्षण करना चाहिये ॥ २८ ॥

[१४००] मनुष्य (प्रजापतये पुरुषान् हस्तिनः आलभते) प्रजाके लिये वीर पुरुषों और हाथियोंको प्राप्त करे, (वाचे प्लुषीन्) वाणीके लिये प्लुषी नामक जन्तुओंको प्राप्त करे, (चक्षुषे मशकान्) आंखके लिये मच्छरोंको देखे और (श्रोत्राय भृङ्गाः) श्रवणेन्द्रियके लिये भृङ्गोंको प्राप्त करे, इन सबोंका सूक्ष्मताके साथ विशेष अध्ययन करे ॥२९॥

[१४०१] (प्रजापतये वायवे च गोमृगः) प्रजाके पालक और वायुके समान वेगसे जानेके लिये ' गवय ' को अनुकरण करने योग्य है । (वरुणाय आरण्यः मेषः) शत्रुका निवारण करनेके लिये जंगली मेढा अनुकरण करने योग्य है । (यमाय कृष्णः) यमके लिये कृष्णमेष अनुकरणीय है । (मनुष्यराजाय मर्कटः) मनुष्य राजाके लिये बन्दरको देखना चाहिये । (शार्दूलाय रोहित्) जंगलके राजा शेरके लिये भक्षणार्थ एक मृग होता है । (ऋषभाय गवयी) बैलके लिये गाय (क्षिप्रश्येनाय वर्तिका) वेगसे झपटनेवाले बाजके लिये बटेरी प्राप्त होती है (नीलङ्गो कृमिः) जिस प्रकार नीडमें बैठनेवाले विशेष जातिके पक्षीको कृमि-कीट भोजन करनेके निमित्त प्राप्त हो जाता है । (समुद्राय शिशु-मारः) जिस प्रकार सागरमें ' शिशुमार ' नामके घडियाल आश्रय किये होते हैं और (हिमवते हस्ती) जिस प्रकार विशाल शरीरवाले हाथी हिमवान् पर्वतका आश्रय लेते हैं, उसीप्रकार श्रेष्ठ जन भी उन्नत महान श्रेष्ठ राजाका आश्रय ग्रहण करते हैं ॥ ३० ॥

[१४०२] (मयुः प्राजापत्यः) संगीतज्ञ उत्तम गान करनेवाला पुरुष प्रजापति राजाके सुखके लिये हो । (उलः हलिक्ष्णः वृषदंशः ते धात्रे) ऊनके वस्त्र देनेवाला, शेरके सदृश निर्भय चक्षुवाला, बिलारके समान हृष्टपुष्ट दिखाई देनेवाला ये तीनों प्रकारके पुरुष प्रजाके पोषणकारी पदके योग्य हैं । (धुङ्क्षा, अग्नेयी) शत्रुओंको धुन डालनेवाली सेना अग्रणी सेनानामकके अधीन रहे, (कलविङ्कः लोहिताहिः पुष्करसादः ते त्वाष्ट्राः) मधुरध्वनियोंको प्रकट करनेवाला, लोहादिके बने पदार्थोंको आघात करनेवाला लोहकार और तालाबको बतानेवाला अथवा दृढ दुर्गोंका निर्माण करनेवाला ये सब शिल्पकारके अधीन हों । और (वाचे क्रुञ्चः) उत्तम श्रेष्ठ वाणीके ज्ञानके लिये चतुर पुरुषको प्राप्त करे ॥ ३१ ॥

सोमाय कुलुङ्ग आरण्योऽजो नकुलः शका ते पौष्णाः क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः पिद्वो न्यङ्कुः कक्कटस्तेऽनुमत्यै प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः ॥ ३२ ॥

सौरी बलाका शार्गः सृजयः शयाण्डकस्ते मैत्राः सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद्भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरस्वते शुकः पुरुषवाक् ॥ ३३ ॥

सुपर्णः पार्जन्य आतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे बृहस्पतये वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलज आन्तरिक्षः प्लवो मद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये द्यावापृथिवीयः कूर्मः ॥ ३४ ॥

पुरुषमृगश्चन्द्रमसो गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनां कृकवाकुः सावित्रो हंसो वातस्य नाक्रो मकरः कुलीपयस्तेऽकूपारस्य ह्रियै शल्यकः ॥ ३५ ॥

एण्यह्नो मण्डूको मूषिका तित्तिरिस्ते सर्पाणां लोपाश आश्विनः कृष्णो रात्र्या ऋक्षो जतूः सुषिलीका त इतरजनानां जहका वैष्णवी ॥ ३६ ॥

[१४०३] (सोमाय कुलङ्गः आरण्यः अजः नकुलः शका ते पौष्णाः) सोमके निमित्त हिरण, बनका मेष, न्योला और मधुमक्खियां ये सब पूषा देवतासे सम्बन्धित हैं, इन्हें उपलब्ध किया जाय। (क्रोष्टा मायो, गौरमृगः इन्द्रस्य) श्रृगाल मायु देवता सम्बन्धी और गौरमृग इन्द्रके सम्बन्धवाला है। (न्यङ्कुः पिद्वः कक्कटः ते अनुमत्यै) न्यङ्कु मृगविशेष, पिद्व नामका हरिण और कक्कट नाम मृग ये सब अनुमति देवताके लिये हैं। और (प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः) प्रतिश्रुत्क देवताके लिये चक्रवाक पक्षी है ॥ ३२ ॥

[१४०४] (बलाका सौरी) बगली सूर्यदेवताके लिये है, (शार्गः सृजयः शयाण्डकः ते मैत्राः) चातक, सृजय और शयाण्डक ये पक्षी मित्र देवताके लिये हैं, (पुरुषवाक् शारिः सरस्वत्यै) पुरुषके समान बोलनेवाली मैना सरस्वतीके लिये है, (श्वावित् भौमः) सेही भूमि देवताके लिये है, (शार्दूलः वृकः पृदाकुः ते मन्यवे) शेर, भेडिया और सर्प वे सब मन्यु देवताके लिये हैं, और (पुरुषवाक् शुकः सरस्वते) पढाया हुआ, पुरुष वाणीवाला तोता समुद्रके लिये है ॥ ३३ ॥

[१४०५] (सुपर्णः पार्जन्यः) सुपर्णपक्षी पर्जन्यके लिये है, (आतिः वाहसः दर्विदा ते वायवे) आडी, वाहस और काष्ठकुट्ट पक्षी वे तीनों वायुदेवताके लिये हैं। (वाचस्पतये बृहस्पतये पैङ्गराजः) वाणीके स्वामी बृहस्पतिके लिये पैङ्गराजपक्षी है, (अलजः अन्तरिक्षः) अलज नामवाला पक्षी अन्तरिक्ष देवताके लिये है। (प्लवः मद्गुः मत्स्यः ते नदीपतये) पानीमें तैरनेवाला जलकुक्कुट, कारंडव और मत्स्य वे तीनों नदीपति देवताके लिये हैं। और (कूर्मः द्यावापृथिवीयः) कछुआ द्यावापृथ्वी देवताके लिये है ॥ ३४ ॥

[१४०६] (पुरुषमृगः चन्द्रमसः) पुरुषमृग अर्थात् वन मानुष चन्द्रमाके लिये है (गोधा, कालका, दार्वाघाटः ते वनस्पतीनाम्) गोह और कालका व कटफोड नामके पक्षी वे सब वनस्पति देवताके लिये हैं। (कृकवाकुः सावित्रः) ताम्रचूर्ण सविता देवताके लिये हैं ((हंसः वातस्य) हंस वायु देवताके लिये है (नाक्रः मकरः कुलीपयः ते अकूपारस्य) नाकेका शिशु, मगरमच्छ और कुलीपय नामक जल जन्तु वे सब सागरके लिये हैं। और (शल्यकः ह्रियै) सेही ह्री देवताके लिये है ॥ ३५ ॥

[१४०७] (एणी अह्नः) हरिणी अह्न देवताके लिये है। (मण्डूका मूषिका तित्तिरिः ते सर्पाणाम्) मेढुका मूषकी और तीतरी वे सब सर्पोंके लिये है। (लोपाशः अश्विनः) लोपाश नामक वनचर प्राणी अश्विनी कुमारोंके

अन्यवापोऽर्धमासानामृश्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणामपामुद्रो मासां कश्यपो रोहित्कुण्डृणाची गोलत्तिका तेऽप्सरसां मृत्यवेऽसितः ॥ ३७ ॥

वर्षाहूर्ऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितॄणां बलायाजगरो वसूनां कपिञ्जलः कपोत उलूकः शशस्ते निर्ऋत्यै वरुणायारण्यो मेषः ॥ ३८ ॥

श्वित्र आदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान्वार्ध्रीनसस्ते मत्या अरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः ॥ ३९ ॥

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिंहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः ॥ ४० ॥

[अ०२४, कं० ४०, मं० सं० ४०]

इति चतुर्विंशोऽध्यायः ।

लिये हैं। (कृष्णः रात्र्यै) कृष्ण मृग रात्री देवताके लिये है। (ऋक्षः जतूः सुषिलीका ते इतरजनानाम्) रीछ, जतू और सुषिलीका नामकी पक्षिणी तीनों इतर देवताओंके लिये हैं। और (जहका वैष्णवी) 'जहका' नामवाली पक्षिणी विष्णु देवताके लिये है ॥ ३६ ॥

[१४०८] (अन्यवापः अर्धमासानां) कोकिल नामपक्षी अर्धमासके लिये है। (ऋष्यः मयूरः सुपर्णः ते गन्धर्वाणाम्) ऋष्यजातिका मृग, मोर और सुपर्ण नामवाला पक्षी वे तीनों गन्धर्व देवताके लिये हैं। (उद्रः अपाम्) कर्कट अर्थात् केकडा जलोंके निमित्त है। (कश्यपः मासाम्) कछुआ मासके देवताके लिये है। (रोहित् कुण्डृणाची गोलत्तिका ते अपसरसाम्) रोहितमृग, कुण्डृणाची नामकी वनचरी और गोलत्तिका नामवाली पक्षिणी वे तीनों अप्सराओंके लिये हैं। और (मृत्युवे असितः) मृत्युदेवताके निमित्त कृष्णमृग है ॥ ३७ ॥

[१४०९] (वर्षाहूः ऋतूनाम्) वर्षाको बुलानेवाली भेकी ऋतुओंके लिये है। (आखुः कशः मान्थालः ते पितॄणाम्) मूषा, छुछुन्दर और मान्थाल छपकली वे तीनों पितरोंके लिये हैं, (अजगरः बलाय) अजगर बलदेवताके लिये है। (कपिञ्जलः वसूनाम्) कपिञ्जल वसुओंके लिये है। (कपोतः उलूकः शशः ते निर्ऋत्यै) कबूतर, उलू और खरगोश वे तीनों निर्ऋति देवताके लिये हैं और (मेषः वरुणाय) मेढा वरुण देवताके लिये है ॥ ३८ ॥

[१४१०] (श्वित्रः आदित्यानाम्) चित्रविचित्र मृग आदित्योंके लिये है, (उष्ट्रः घृणिवान् वार्ध्रीनसः ते मत्यै) ऊंट, चील, कण्ठमें जिसके यन ऐसा बडा बकरा वे तीनों मतिदेवीके निमित्त हैं। (सृमरः अरण्याय) नील गाय अरण्य देवताके लिये है। (रुरुः रौद्रः) रुरुमृग रुद्रदेवताके लिये है। (क्वयिः कुरुतः दात्यौहः ते वाजिनाम्) क्वयिनाम पक्षी, मुर्गा और कौआ वे तीनों वाजिदेवताओंके लिये हैं। और (पिकः कामाय) कोकिल कामदेवके लिये है ॥ ३९ ॥

[१४११] (खड्गः वैश्वदेवः) ऊंचे और पैनेसींगोवाला गेंडा विश्वदेवोंके लिये है (कृष्णः श्वा, कर्णः गर्दभः, तरक्षुः ते रक्षसाम्) काले रङ्गका कुत्ता, लम्बे कानवाला गधा और व्याघ्र वे तीनों राक्षसोंके लिये हैं। (सूकरः इन्द्राय) सुअर इन्द्रके लिये है। (सिंहः मारुतः) सिंह मरुत देवताके लिये है। (कृकलासः पिप्पका शकुनिः ते शरव्यायै) गिरगिट, पपीहा और शकुनि नामवाली पक्षिणी वे सब शरव्य देवीके लिये है। (पृषतः विश्वेषां देवानाम्) पृषत जातिका मृग विश्वे देवताओंके लिये है ॥ ४० ॥

॥ चोवीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ।

शादं दुद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं बर्स्वैस्तेगान्दꣳष्ट्राभ्याꣳ सरस्वत्या अग्रजिह्वं जिह्वाया
उत्सादमवक्रन्देन तालु वाजꣳ हनुभ्यामप आस्येन वृषणमाण्डाभ्यामादित्याँ श्मश्रुभिः
पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्याꣳ शुक्लाय स्वाहा
कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्यवार्या इक्षवोऽवार्याणि पक्ष्माणि पार्या इक्षवः ॥ १ ॥

वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं
मूर्ध्ना स्तनयित्नुं निर्बाधेनाशनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्याꣳ श्रोत्रꣳ श्रोत्राभ्यां
कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिरदितिꣳ शीर्ष्णा निर्ऋतिं निर्जर्जल्येन
शीर्ष्णा संक्रोशैः प्राणान् रेष्माणꣳ स्तुपेन ॥ २ ॥

[१४१२] (दद्भिः शादम्) दांतोंसे अत्यंत कोमल घासको (दन्तमूलैः अवकाम्) दांतोंके मूलोंसे कोमल घासके विस्तृत स्थानको (बर्स्वैः मृदम्) दांतोंके पृष्ठभागोंसे मृत्तिकाको (दंष्ट्राभ्याम् तेगाम्) डाढोंसे तेगदेवताको (अग्रजिह्वम् सरस्वत्यै) जिह्वाके अग्रभागसे सरस्वतीको (जिह्वायाः उत्सादम्) जीभसे उत्साद देवताको (तालु अवक्रन्देन) तालूसे अवक्रन्द देवताको (हनुभ्याम् वाजम्) दोनों ठोढीसे अन्नको (आस्येन आपः) मुखसे आप देवताको (आण्डाभ्याम् वृषणम्) दोनों अण्डकोशोंसे वृषणको, (श्मश्रुभिः आदित्यान्) दाढी मोंछके बालोंसे आदित्योंको, (भ्रूभ्याम् पन्थानम्) दोनों भ्रुवोंसे पन्थदेवको, (वर्तोभ्याम् द्यावापृथिवी) पलकोंके बालोंसे द्यावा-पृथ्वीको, (कनीनकाभ्याम् विद्युतम्) नेत्र मध्यवर्ती दोनों पुतलियोंसे विद्युत् देवताको प्रसन्न करता हूं । ((शुक्लाय स्वाहा) शुक्लदेवके लिये यह आहुति देता हूं । (कृष्णाय स्वाहा) कृष्णदेवके लिये यह आहुति देता हूं । (पक्ष्माणि पार्याणि) नेत्रके ऊपरके लोम पारदेवता सम्बन्धी हैं उनसे पारदेवताको, (इक्षवः अवार्याणि) नेत्रके अधोभागके रोम अवार देवताके है उनसे अवार देवताको प्रसन्न करता हूं ॥ १ ॥

[१४१३] (प्राणेन वातम्) प्राणसे वातदेवताको, (अपानेन नासिके) अपानसे दो नासिका देवताको, (अधरेण ओष्ठेन उपयामम्) नीचेके ओष्ठसे उपयाम देवताको (उत्तरेण सत्) ऊपरके ओष्ठसे सत्‌देवको, (प्रकाशेन अन्तरम्) ऊपरकी शारीरिक कान्तिसे अन्तरदेवको, (अनूकाशेन बाह्यम्) नीचेकी देहकान्तिसे बाह्यदेवको, (मूर्ध्ना निवेष्यम्) मस्तकसे, प्रवेश होने योग्य देवको, (निर्बाधेन स्तनयित्नुम्) शिरकी अस्थिके सारभागसे स्तनयित्नु देवको, (मस्तिष्केन अशनिम्) शिरके मध्यस्थित जर्जर मांसभागसे अशनीदेवको, (कनीनकाभ्यां विद्युतम्) नेत्रतारका अर्थात् चक्षुओंमें स्थित पुतलियोंसे विद्युत देवताको, (कर्णाभ्याम् श्रोत्रम्) दोनों कर्णोंसे श्रोत्रस्थानीय देवको, (श्रोत्राभ्याम् कर्णौ) दोनों कानोंके सुननेके साधनोंसे दोनों कानोंमें स्थित देवोंको, (अधरकण्ठेन तेदनीम्) कण्ठके नीचेके भागसे तेदनीयदेवको, (शुष्ककण्ठेन अपः) शुष्ककण्ठसे जलदेवताको, (मन्याभिः चित्तम्) ग्रीवाकी पिछली नाडियोंसे चित्त देवताको, (शीर्ष्णा अदितिम्) शिरसे अदितिदेवीको, (निर्जर्जल्येन शीर्ष्णा निर्ऋतिम्) अति-जर्जरित शिरोभागसे निर्ऋतिदेवको, (सङ्क्रोशैः प्राणान्) शब्दयुक्त अङ्गोंसे प्राणोंको और (स्तुपेन रेष्माणम्) शिखाभूत अङ्गोंसे रेष्मदेवोंको प्रसन्न करता हूं ॥ २ ॥

मशकान् केशैरिन्द्रꣳ स्वपसा वहेन बृहस्पतिꣳ शकुनिसादेन कूर्माञ्छफैराक्रमणꣳ स्थूराभ्यामृक्षलाभिः कपिञ्जलाञ्जवं जङ्घाभ्यामध्वानं बाहुभ्यां जाम्बीलेनारण्यमग्निमतिरुग्भ्यां पूषणं दोर्भ्यामश्विनावꣳसाभ्याꣳ रुद्रꣳ रोराभ्याम् ॥ ३ ॥

अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पञ्चमीन्द्राण्यै षष्ठी मरुताꣳ सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी ॥ ४ ॥

इन्द्राग्न्योः पक्षतिः सरस्वत्यै निपक्षतिर्मित्रस्य तृतीयापां चतुर्थी निर्ऋत्यै पञ्चम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणाꣳ सप्तमी विष्णोरष्टमी पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यम्यै त्रयोदशी द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम् ॥ ५ ॥

मरुताꣳ स्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयाऽऽदित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्यां मित्रावरुणावल्गाभ्यामाक्रमणꣳ स्थूराभ्यां बलं कुष्ठाभ्याम् ॥ ६ ॥

[१४१४] (केशैः मशकान्) बालोंसे मशकोंसे सम्बन्धित देवोंको, (स्वपसा वहेन इन्द्रम्) उत्तम कर्म करने व भार धारण करनेवाले स्कंधसे इन्द्रको (शकुनिसादेन बृहस्पतिम्) शकुनि समान गमनसे बृहस्पतिको, (शफैः कूर्मान्) खुरों अर्थात् वेगवान् साधनोंसे कूर्मको, (स्थूराभ्याम् आक्रमणम्) स्थुल गुल्फोंसे आक्रमण देवताको, (ऋक्षलाभिः कपिञ्जलान्) गुल्फकी नीचेकी नाडियोंसे कपिञ्जल नामक देवताओंको (जङ्घाभ्याम् जवम्) जंघाओंसे वेग अधिष्ठात्री देवीको, (बाहुभ्यां अध्वानम्) दोनों बाहुओंसे मार्ग देवताको, (जाम्बीलेन आरण्यम्) जम्बीर वृक्षाकार जानुसे आरण्य देवताको, (अतिरुग्भ्याम् अग्निम्) अतिशोभित जानुदेशसे अग्निदेवको, (दोर्भ्यां पूषणम्) दोनों बाहुओंसे पूषा देवताको, (अंसाभ्यां अश्विनौ) दोनों कन्धोंसे अश्विनीकुमारोंको और (रोराभ्यां रुद्रम्) अंसग्रन्थीसे रुद्रदेवको प्रसन्न करता हूं ॥ ३ ॥

[१४१५] (अग्नेः पक्षतिः) अग्निके लिये दक्षिणपार्श्वकी पहली अस्थि, (निपक्षतिः वायोः) दक्षिणपार्श्वकी दूसरी अस्थि वायुके लिये, (तृतीयः इन्द्रस्य) तीसरी अस्थि इन्द्रके लिये (चतुर्थी सोमस्य) चौथी सोमके लिये, (पंचमी अदित्यै) पांचवी अदितिके लिये (षष्टी इन्द्राण्याः) छठी इन्द्राणिके लिये, (सप्तमी मरुताम्) सातवीं मरुतोंके लिये (अष्टमी बृहस्पतेः) आठवीं बृहस्पतिके लिये (नवमी अर्यम्णः) नौमी अर्यमाके निमित्त, (दशमी धातुः) दशवीं धाताके लिये (एकादशी इन्द्रस्य) ग्यारहवीं इन्द्रके लिये (द्वादशी वरुणस्य) बारहवीं वरुणके लिये और (त्रयोदशी यमस्य) तेरहवीं यमकी प्रसन्नता करनेवाली है ॥ ४ ॥

[१४१६] (पक्षतिः इन्द्राग्न्योः) वामपर्श्वकी अस्थि इन्द्र–अग्निके निमित्त, (निपक्षतिः सरस्वत्यै) दूसरी पसुलीकी अस्थि सरस्वतीके लिये, (तृतीया मित्रस्य) तीसरी मित्रके प्रीतिके लिये, (चतुर्थी अपाम्) चौथी जल देवताके लिये, (पञ्चमी निर्ऋत्यै) पांचवीं निर्ऋति देवताके लिये, (षष्ठी अग्नीषोमयोः) छठीं अग्नि–सोमके लिये, (सप्तमी सर्पाणाम्) सातवीं सर्पोंके लिये, (अष्टमी विष्णोः) आठवीं विष्णुके लिये, (नवमी पूष्णः) नौमीं पूषाके लिये, (दशमी त्वष्टुः) दशवीं त्वष्टाके लिये, (एकादशी इन्द्रस्य) ग्यारहवीं इन्द्रके लिये, (द्वादशी वरुणस्य) बारहवीं वरुणके लिये, (त्रयोदशी यम्यै) तेरहवीं यमके लिये (दक्षिणम् पार्श्वम् द्यावापृथिव्योः) दायां पार्श्व भाग द्यावा पृथ्वीके लिये और (उत्तरम् विश्वेषाम् देवानाम्) उत्तर पार्श्व सम्पूर्ण देवताओंका है ॥ ५ ॥

[१४१७] (मरुतां स्कन्धाः) सैनिकोंकी छावनियां ही राष्ट्रके कन्धे हैं। (विश्वेषां देवानाम् प्रथमा कीकसा) समस्त देवोंका सर्वोत्तम उपदेश ही राष्ट्रका परम आधार है। (रुद्राणाम् द्वितीया) रुद्र अर्थात् दुष्टोंको

पूषणं वनिष्ठुनाऽन्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान्गुदाभिर्विह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां
वाजिनꣳ शेपेन प्रजाꣳ रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः ॥ ७ ॥
इन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भसज्जीमूतान् हृदयौपशेनान्तरिक्षं पुरीतता
नभ उदर्येण चक्रवाकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन् प्लाशिभिरुपलान् प्लीह्ना वल्मीकान्
क्लोमभिर्ग्लौभिर्गुल्मान् हिराभिः स्रवन्तीर्ह्रदान् कुक्षिभ्याꣳ समुद्रमुदरेण वैश्वानरं भस्मना ॥ ८ ॥

चलानेवाले दमनकारी पुरुषोंकी शासन व्यवस्था दूसरे स्थानमें है। (तृतीया आदित्यानाम्) सूर्य सदृश तेजस्वी अधीशोंका शासन तीसरे स्थानमें है। (वायोः पुच्छम्) 'वायु' का पद दुष्ट पुरुषोंका नाशक पुच्छके समान है। (अग्निसोमयोः भासदौ) अग्नि-सोम अर्थात् सेनापति और राजा ये तेजस्वी पदाधिकारी राष्ट्रके दो नितम्ब भागोंके समान हैं। (कुञ्चौ श्रोणिभ्याम्) हंसोंके समान विशेष विवेकी दो विद्वान् राष्ट्रशरीरके कटि प्रदेशोंके सदृश हैं। (इन्द्राबृहस्पति ऊरुभ्याम्) इन्द्र और बृहस्पति सम्राट और महामन्त्री राष्ट्ररूपी शरीरके जंघाके तुल्य हैं। (अल्गाभ्याम् मित्रावरुणौ) अति वेगसे गमन करनेवाले उरुओंके दोनों सन्धिभाग मित्र और वरुण राष्ट्र शरीरके दो प्रधान अधिकारी हैं। (आक्रमणं स्थूलाभ्याम्) राष्ट्रकी विजयके लिये आक्रमण करना स्थूल जंघोंके तुल्य है और (कुष्ठाभ्यां बलम्) दोनों नितम्बोंके बीच गहरे स्थानके समान राष्ट्ररूपी शरीरमें सैन्यबल है ॥ ६ ॥

[१४१८] (वनिष्ठुना पूषणम्) स्थूल आंतोंसे पूषा नामक देवताको (स्थूलगुदया अन्धाहीन्) स्थूल गुदासे अन्धे सांपोंकी (गुदाभिः सर्पान्) सामान्य गुदाओंसे सर्पोंकी (विह्रुतः आन्त्रैः) कुटिलगामी सर्पोंकी आंतोंसे (अपः वस्तिना) जलाशयों नदियोंकी तुलना वस्तिभागसे करो। (वृषणमाण्डाभ्याम्) वर्षणकारी मेघको वीर्यसेंचन समर्थ अण्डकोशोंसे (शेपेन वाजिनम्) शेपभागसे बलवानको (रेतसा प्रजाम्) वीर्यसे प्रजाको (पित्तेय चाषान्) पित्तके बलसे खाये हुये पदार्थोंको (पायुना प्रदरान्) शरीरस्थ वायुमार्गसे दरार भागोंकी तुलना करो। और (कूश्मान् शकपिण्डैः) शक्तिके संघोंसे शासनबलोंकी तुलना करो ॥ ७ ॥

[१४१९] (क्रोडः इन्द्रस्य) शरीरके गोदका भाग इन्द्रका है। (अदित्यैः पाजस्यं) अदितिका स्थान शरीरमें पाद या खडे होनेका स्थान है। (दिशां जत्रवः) दिशाओंका स्वरूप शरीरमें जत्रु अर्थात् कन्धे और कोखके बीचकी पसुलियां हैं। (अदित्यै भसत्) अदिति, द्यौ, आकाश ही शरीरमें तेजोमय अङ्गके समान है। (जीमूतान् हृदयौपशेन) मेघोंका स्थान शरीरके हृदयभाग रुधिर सञ्चारक उपकरणोंके समान है। (पुरीतता अन्तरिक्षम्) शरीरमें स्थित पुरीतत् नामक हृदयनाडी अन्तरिक्षके स्थानमें है। (उदर्येण नभः) पेटमें स्थित यन्त्रोंसे आकाशकी तुलना करो। (मतस्नाभ्याम् चक्रवाकौ) हृदयके दोनों पासोंपर स्थित फुस्फुसोंको चकवा चकवीके समान समझो। (दिवं वृक्काभ्याम्) आकाशको शरीरमें गुर्दोंसे तुलना करो। (गिरीन् प्लाशिभिः) पर्वतोंको शरीरमें स्थित गुर्दोंसे तुलना करो। (उपलान् प्लीहा) मेघोंको प्लीहासे तुलना करो। (क्लोमभिः वल्मीकान्) कलेजेके खण्डोंसे बल्मीकके ढेरोंकी तुलना करो। (ग्लौभिः गुल्मान्) 'ग्लौ' नामक हृदयकी विशेष नाडियोंसे गुल्मोंकी तुलना करो। (हिराभिः स्रवन्तीः) शरीरमें स्थित अन्नरस और रुधिरको बहन करनेवाली नाडियोंसे राष्ट्रमें स्थित नादियोंकी तुलना करो। (ह्रदान् कुक्षिभ्याम्) राष्ट्रमें विद्यमान जलाशयोंको शरीरमें स्थित कोखोंके बीच रुधिरसे भरे स्थानोंसे तुलना करो। (समुद्रं उदरेण) समुद्रको उदर भागसे तुलना करो। और (वैश्वानरं भस्मना) वैश्वानर नामक अग्निको भस्मके समान निस्सार अथवा मुक्त अन्नको जीर्ण करनेवाली कान्तिजनक जठराग्निसे तुलना करो ॥ ८ ॥

विधृतिं नाभ्या घृतꣳ रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वा अश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाꣳसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा ॥ ९ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १० ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ११ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १२ ॥

[१४२०] (विधृतिं नाभ्या) विशेषरूपसे लोकोंको धारण करनेवाली शक्तिको नाभीसे तुलना करो । (घृतं रसेन) घृतको शरीरस्थ बलकारी रससे तुलना करो । (यूष्णा आपः) शरीरमें स्थित पक्वरससे राष्ट्रमें स्थित परिपक्व ज्ञानवाले विद्वान् आप्त पुरुषोंकी तुलना करो । (मरीचीः विप्रुड्भिः) सूर्यकी किरणोंकी तुलना विशेष पूर्ण करनेवाले वसा आदि धातुओंसे करो । (उष्मणा नीहारम्) शरीरमें स्थित उष्णतासे नीहार अर्थात् प्रभातकालमें पडे जलके ओसके फुहारसे तुलना करो । (शीनं वसया) वनस्पतियों और प्राणियोंकी वृद्धि करनेवाली शीतलताको शरीरमें स्थित वसासे तुलना करो । (अश्रुभिः प्रुष्वा) शरीरके आंसुओंसे वृक्षोंको सींचनेवाले फुहारोंकी तुलना करो । (दूषिकाभिः ह्रादुनीः) नेत्रमें उत्पन्न गीदोंसे आकाशमें उत्पन्न विद्युतोंकी तुलना करो । (अस्ना रक्षांसि) शरीरके रुधिरसे रक्षा करने योग्य पदार्थोंकी तुलना करो । (अङ्गैः चित्राणि) शरीरके भिन्न भिन्न अङ्गोंसे राष्ट्रके चित्रविचित्र अद्भुत स्थानों दृश्योंकी तुलना करो । (नक्षत्राणि रूपेण) नक्षत्रोंकी तुलना शरीरके रूपसे करो । और (पृथिवीं त्वचा) भूमि अथवा राष्ट्रके पृष्ठकी तुलना शरीरकी त्वचासे करो । (जुम्बकाय स्वाहा) वरुणदेवताके निमित्त यह आहुति दी जाति है ॥ ९ ॥

[१४२१] (हिरण्यगर्भः भूतस्य अग्रे समवर्तत) सूर्यादि तेजवाले पदार्थ जिसके भीतर हैं वह परमात्मा प्राणिजातकी उत्पत्तिके प्रथम वर्तमान था, और वही परमात्मा (जातः एकः पतिः आसीत्) उत्पन्न हुये जगतका एक ही स्वामी था । (सः इमां पृथिवीं उत द्यां दाधार) वह परमात्मा ही इस भूमि और द्युलोकको धारण कर रहा है । (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस आनन्दस्वरूप परमात्म देवके लिये हविका समर्पण करते हैं ॥ १० ॥

[१४२२] (यः महित्वा) जो परमात्मा अपने महान सामर्थ्यसे (प्राणतः निमिषतः जगतः एक इत् राजा बभूव) प्राणवाले और नेत्रादिसे चेष्टा करनेवाले सजीव चर जगतका एकमात्र राजा हुआ । और (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) जो इस दो पैरवाले मनुष्य पक्षी आदि और चौपाये गो हस्ती आदिका भी स्वामी है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस आनंदस्वरूप प्रजापति परमेश्वरके लिये हम भक्तिसे हवि अर्पण करते हैं ॥ ११ ॥

[१४२३] (यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः) जिस परमात्माके महान सामर्थ्यसे ये बर्फोंसे ढके हुये पर्वत बने हैं, (यस्य रसया सह समुद्रं आहुः) जिसके ही महान् सामर्थ्यसे रसके साथ महान् समुद्रको बतलाते हैं, और (यस्य इमाः प्रदिशाः यस्य बाहू) जिसके महान सामर्थ्यसे बनी ये दिशायें उपदिशायें जिसके बाहुओंके समान फैली हैं, उस (कस्मै देवाय हविषा विधेम) सुखस्वरूप प्रजापालक दिव्यगुणवाले परमात्माके लिये हवि द्वारा हम समर्पण करते हैं ॥ १२ ॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः ।
यस्य॑ च्छा॒यामृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १३ ॥

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो॒ अप॑रीतास उ॒द्भिदः॑ ।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद् वृ॒धे अस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वे-दि॑वे ॥ १४ ॥

दे॒वानां॑ भ॒द्रा सु॑म॒तिर्ऋ॑जूय॒तां दे॒वानां॑ रा॒तिर॒भि नो॒ निव॑र्तताम् ।
दे॒वानां॑ स॒ख्यमुप॑सेदिमा व॒यं दे॒वा न॒ आयुः॒ प्रति॑रन्तु जी॒वसे॑ ॥ १५ ॥

तान्पूर्व॑या नि॒विदा॑ हूमहे व॒यं भगं॑ मि॒त्रमदि॑तिं॒ दक्ष॑म॒स्रिध॑म् ।
अ॒र्य॒मणं॒ वरु॑ण॒ꣳ सोम॑म॒श्विना॒ सर॑स्वती नः सु॒भगा॒ मय॑स्करत् ॥ १६ ॥

तन्नो॒ वातो॑ मयो॒भु वा॑तु भेष॒जं तन्मा॒ता पृ॑थि॒वी तत्पि॒ता द्यौः ।
तद् ग्रावा॑णः सोम॒सुतो॑ मयो॒भुव॒स्तद॑श्विना शृणुतं धिष्ण्या यु॒वम् ॥ १७ ॥

[१४२४] (यः आत्मदा बलदाः) जो परमात्मा आत्मशक्तिका देनेवाला और शारीरिक बलका प्रदाता है। (यस्य प्रशिषं विश्वेदेवाः उपासते) जिसकी उत्तम शिक्षाका सब देवगण पालन करते हैं। (यस्य छाया अमृतम्) जिसका आश्रय अमृत अर्थात् मोक्षसुख है, और (यस्य मृत्युः) जिसका आश्रय न करना, भक्ति न करनाही मरण है, उस (कस्मै देवाय हविषा विधेम) सुखरूप देवकी हम लोग होमके पदार्थोंसे सेवा करें ॥ १३ ॥

[१४२५] (नः विश्वतः अदब्धासः अपरीतासः उद्भिदः भद्राः क्रतवः विश्वतः आ यन्तु) हमें सब प्रकारसे अविनाशी अर्थात् नित्य जिसको अभीतक किसीने नहीं पाया है ऐसा नाना फलोंको प्रदान करनेवाले सुखकारी विज्ञानरूपी अनेक प्रकारके यज्ञ सब ओरसे हसे प्राप्त हों। और (यथा अप्रायुवः दिवे दिवे रक्षितारः देवाः सदमित् नः वृधे असन्) जिस प्रकार आलस्यरहित होकर प्रतिदिन रक्षा करनेवाले देवगण निरन्तर हमारी वृद्धिके लिये प्रवृत्त हैं, उस प्रकार हम भी होवें ॥ १४ ॥

[१४२६] (ऋजूयताम् देवानाम् भद्राः सुमतिः, देवानाम् रातिः) सीधे चलनेवाले वा सबकी वृद्धिकी कामना करनेवाले देवताओंकी कल्याणी श्रेष्ठ बुद्धि और देवोंका श्रेष्ठ दान (नः अभिनिवर्तताम्) हमको सब ओरसे प्राप्त हो। (वयं देवानां सख्यं उपसेदिम) हम देवताओंके मित्रभावको प्राप्त हों और (देवाः नः आयुः जीवसे आ प्रतिरन्तु) दिव्य गुणोंवाले देवगण हमारी आयुको हमारे दीर्घजीवनके लिये सब ओरसे वृद्धि करें ॥ १५ ॥

[१४२७] (वयं पूर्वया निविदा अस्रिधं तान्) हम पूर्वसे विद्यमान् सनातन स्वयं प्रादुर्भूत वेदरूप वाणीसे, विनाशको न प्राप्त होनेवाले उन (भगं, मित्रं, अदितिं, दक्षं, अर्यमणं, वरुणं, सोमं, अश्विना हूमहे) भग, मित्र, अदिति, दक्ष, अर्यमा, वरुण, सोम और दोनों अश्विनीकुमारोंको प्रार्थना करते हैं। (सुभगा सरस्वती नः मयः करत्) सुन्दर भाग्यवाली सरस्वती देवी हम सबोंका कल्याण करे ॥ १६ ॥

[१४२८] (वातः नः तत् मयोभु भेषजम् वातु) वायु हमारे लिये वह सुखकारी रोगनाशक ओषधि लेकर हमारे पास बहता रहे। (माता पृथिवी तत्) माता भूमि वह शस्यशालिनी हो। (पिता द्यौः तत्) पालक स्वर्ग वह सुखकारी तेज वा जलका विस्तार करे। (सोमसुतः मयोभुवः ग्रावाणः तत्) सोमके अभिषव करनेवाले सुखकारी ग्रावा वह भेषजरूप औषधि हमें देवें। हे (अश्विना) दोनों अश्विनीकुमारो ! (धिष्ण्या युवं तत् शृणुतम्) धारण करनेवाले तुम दोनों हमारे उस कथनरूप प्रार्थनाको सुनकर उसके अनुरूपही सुख प्रदान करो ॥ १७ ॥

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १८ ॥

स्व॒स्ति न॒ इन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः ।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ अरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु ॥ १९ ॥

पृष॑दश्वा म॒रुतः॒ पृश्नि॑मातरः शुभं॒यावा॑नो वि॒दथे॑षु॒ जग्म॑यः ।
अ॒ग्नि॒जि॒ह्वा मन॑वः॒ सूर॑चक्षसो॒ विश्वे॑ नो दे॒वा अव॒साग॑मन्नि॒ह ॥ २० ॥

भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यज॑त्राः ।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाᳪ स॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॑ ॥ २१ ॥

श॒तमिन्नु श॒रदो॒ अन्ति॑ देवा॒ यत्रा॑ नश्च॒क्रा ज॒रसं॑ त॒नूना॑म् ।
पु॒त्रासो॒ यत्र॑ पि॒तरो॒ भव॑न्ति॒ मा नो॑ म॒ध्या री॑रिष॒तायु॒र्गन्तोः॑ ॥ २२ ॥

[१४२९] हे मनुष्यो ! (तम् जगतः तस्थुषः पतिं धियं जिन्वं ईशानं वयं अवसे हूमहे) उस चर और अचर जगत्‌के रक्षक, बुद्धिको शुद्ध करनेवाले, और सबकों वशमें करनेवाले परमेश्वरको हम लोग अपनी रक्षाके लिये बुलाते हैं अर्थात् उसकी प्रार्थना व स्तुति करते हैं । वह (यथा) जिस प्रकार (नः वेदसां वृधे) हमारे ज्ञानधनोंकी वृद्धिके लिये (पूषा, रक्षिता स्वस्तये पायुः अदब्धः असत्) पुष्टिकर्ता, रक्षा करनेवाला, सुखके लिये सबका सहायक और हनन न करनेवाला होवे ॥ १८ ॥

[१४३०] (वृद्धश्रवाः इन्द्रः नः स्वस्ति दधातु) महत् कीर्तिमान् ऐश्वर्य युक्त परमेश्वर हमें सुख प्रदान करे । (विश्ववेदाः पूषा नः स्वस्ति) समस्त ज्ञान रूपी वेदोंका स्वामी जगदीश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो । (तार्क्ष्यः अरिष्टनेमिः नः स्वस्ति) व्यापक शक्तिमान् खण्डित न होनेवाला नित्य प्रभू हमारे लिये स्वस्तिदायक हो । और (बृहस्पतिः नः स्वस्ति) महत्तत्वादिका पालक बृहस्पति परमात्मदेव हमारे लिये आनन्दविधायक हो ॥ १९ ॥

[१४३१] (पृषदश्वाः, पृश्निमातरः, शुभंयावानः विदथेषु) पुष्ट घोडोंके समान तीव्रगामी वा महान् आकाशको व्यापनेवाले, अन्तरिक्षमें उत्पन्न वा मेघोंके उत्पादक, प्रजाके कल्याणके लिये गमन करनेवाले, आकाशमार्गमें चलनेवाले (अग्निजिह्वाः, सूरचक्षसः, मनवः, देवाः, अवसा इह आगमन्) अग्निकी ज्वालासे युक्त, सूर्यरूप नेत्रवाले जलस्तम्भक, दिव्यगुणोंवाले मरुत अपने रक्षण सामर्थ्यके साथ यहां आगमन करें ॥ २० ॥

[१४३२] हे (देवाः) दिव्यगुणोंवाले देवताओ ! हम (कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम) कानोंसे कल्याणकारी वचनोंको श्रवण करें । हे (यजत्राः) यजन करनेवालो ! हम सदा (भद्रं अक्षभिः पश्येम) सुख कल्याणकारक पदार्थोंको ही आखोंसे देखें । हम (स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः देवहितम् यत् आयुः) दृढ अङ्गोंसे ईश्वरकी स्तुति करते हुये शरीरोंसे विद्वानों द्वारा निश्चित की हुई जो आयु है, उस आयुको (वि अशेमहि) विशेष प्रकारसे विविध उपायोंसे प्राप्त करनेवाले हों ॥ २१ ॥

[१४३३] हे (देवाः) दिव्यगुणोंवाले देवताओ ! तुम लोगोंके (अन्ति, यत्र शतं शरदः इत् नु नः तनूनां जरसं चक्र) समीप जहां सौ शरदऋतु पर्यन्त, अर्थात् सौ वर्षतककाही, जीवन कमसे कम हमारे शरीरके वृद्धावस्थातकका बने और (यत्र पुत्रासः पितरः भवन्ति) जहां पुत्र भी पितर हो जाते हैं उस अवस्थातक (गन्तोः नः आयुः मध्या मा रीरिषत) व्यतीत होते हुये हमारी आयुको बीचमें मत विनष्ट करो ॥ २२ ॥

पुत्रासः पितरः भवन्ति— पुत्र विवाह करते हैं और संतान उत्पन्न करते हैं और संतानोंके पिता वे बनते हैं ।

नः आयुः मध्या मा रीरिषत— हमारी आयु मध्यमें अर्थात् पूर्ण १२० वर्षोंके पूर्व न समाप्त हो जाय । अर्थात हमारी पूर्ण आयुके पश्चात् ही मृत्यु हो । उसके पूर्व कदापि मरण न आ जाय ॥ २२ ॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ २३ ॥

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अर्य॒मायुरिन्द्र॑ ऋभु॒क्षा म॒रुतः॒ परि॑ ख्यन् ।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॒णि॑ ॥ २४ ॥

यन्नि॒र्णिजा॒ रेक्ण॑सा॒ प्रावृ॑तस्य रा॒तिं गृ॑भी॒तां मु॑ख॒तो नय॑न्ति ;
सुप्रा॒ङजो मेम्य॑द्वि॒श्वरू॑प इन्द्रापू॒ष्णोः प्रि॒यमप्ये॑ति॒ पाथः॑ ॥ २५ ॥

ए॒ष च्छागः॑ पु॒रो अश्वे॑न वा॒जिना॑ पू॒ष्णो भा॒गो नी॑यते वि॒श्वदे॑व्यः ।
अ॒भि॒प्रियं॑ यत्पु॑रो॒डाश॒मर्व॑ता॒ त्वष्टेदे॑नꣳ सौश्रव॒साय॑ जिन्वति ॥ २६ ॥

यद्ध॒विष्य॑मृतु॒शो दे॑व॒यानं॒ त्रिर्मानु॑षाः॒ पर्यश्वं॒ नय॑न्ति ।
अत्रा॑ पू॒ष्णः प्र॑थ॒मो भा॒ग ए॑ति य॒ज्ञं दे॒वेभ्यः॑ प्रतिवे॒दय॑न्न॒जः ॥ २७ ॥

[१४३४] (द्यौः अदितिः) द्यौ अर्थात् स्वर्ग अखण्ड शक्ति है। (अन्तरिक्षम् अदितिः) अन्तरिक्ष अविनाशी शक्ति है। (माता अदितिः) सम्पूर्ण जगतको निर्माण करनेवाली प्रकृति या पृथ्वीमाता अविनाशी है। (स पिताः स पुत्रः) वह सबका पालक परमात्मा और वह पुत्र अर्थात् पुरुष देहका पालन करनेवाला जीव भी कभी नाशशील नहीं हैं (विश्वेदेवाः आदितिः) सब देवता अविनाशी तत्वों वाले हैं। (पञ्चजनाः अदितिः) पांच मनुष्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा निषाद ये पंचजन हैं ये अविनाशी हैं। (जातं अदितिः) पांचों भूतोंके सूक्ष्म परमाणुओंसे उत्पन्न यह जगत भी कारण रूपसे नाशवान् नहीं है तथा (जनित्वम्) जो आगे पैदा होता है वह भी सत् कारण रूपसे विनष्ट नहीं होता है ॥ २३ ॥

भूमी, अन्तरिक्ष और द्युलोक, विश्वदेव, पंचजन आदि सब नाश न होनेवाला है अर्थात् यह सब स्थायी रहनेवाला है। इसमेंसे कुछ नष्ट हुआ तो उसके स्थानमें दूसरा आता है और संपूर्ण विश्व स्थायी रहता है ॥ २३ ॥

[१४३५] (मित्रः वरुणः अयमर्ा आयुः इन्द्रः ऋभुक्षाः मरुतः नः मा परिख्यन्) मित्र, वरुण, अर्यमा, वायु, इन्द्र, ऋभुक्षा और मरुत देवता हमारा त्याग न करें अर्थात् हमारी उपेक्षा न करें। (यत् देवजातस्य वाजिनः सप्तेः वीर्याणि प्रवक्ष्यामः) क्योंकि दिव्यगुणोंसे प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान् सर्पणशील अश्वके समान बलवान् देवोंके बल पराक्रम व ऐश्वर्यकाही हम विशेष रूपसे वर्णन करते हैं ॥ २४ ॥

[१४३६] (यत् निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं) जो मनुष्य शुद्ध ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वरके दिये हुये धनको (गृभीतां मुखतः नयन्ति) प्राप्त करके उसकोही मुख्य मानते हैं वह (सुप्राङ्, विश्वरूपः अजः मेम्यत्) सुखसे पूर्वदिशामें प्राप्त सूर्यके सदृश तेजस्वी समस्त विश्वका प्रकाशक अविनाशी जीव सबको चलाता है। और वह (इन्द्रपूष्णोः प्रियं पाथः अप्येति) इन्द्र और पूषाके प्रिय मार्गको प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

[१४३७] (यत् विश्वदेव्यः एषः छागः वाजिना अश्वेन पुरः पूष्णः भागः नीयते) जब समस्त दिव्यगुण युक्त पुरुषोंमें यह नेता वीर बलवान् वीरगणोंके साथ आगे रखा जाता है, तब वह (त्वष्टा इत् अर्वता अभि प्रियं पुरोडाशं सौश्रवसाम जिन्वति) शत्रुनाशक वीर ही संरक्षक राष्ट्रके साथ सबको प्रिय लगनेवाले सबसे प्रथम देने योग्य अधिकारको उत्तम यशके लिये प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

[१४३८] (यत् हविष्यं देवयानं अश्वं मानुषाः ऋतुशः त्रिः परिनयन्ति) जब श्रेष्ठ हविरूप पवित्र और देवोंको प्राप्त करने योग्य अश्व सदृश बलवान् राष्ट्रके प्रगतिशील राष्ट्रपतिको मनुष्य ऋतुके अनुसार सर्वत्र राष्ट्रमें तीन-

५३ (यजु. सु. भाष्य)

होताऽध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः ।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम् ॥ २८ ॥

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति ।
ये चार्वते पचनंसम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्न इन्वतु ॥ २९ ॥

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उप वीतपृष्ठः ।
अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम् ॥ ३० ॥

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य ।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणंसर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३१ ॥

बार घुमाते हैं, तब वे (अत्र पूष्णः प्रथमः भागः अजः देवेभ्यः यज्ञं प्रतिवेदयन् एति) यहां पोषक सबसे प्रथम भागरूप सबको प्रेरणा देनेवाला विद्वान् समस्त विद्वानोंके हितके लिये यज्ञके योग्य प्रजा पालक राजाको विज्ञापित करनेके लिये कार्य करता है ॥ २७ ॥

हविष्यं देवयानं अश्वं मनुष्याः ऋतुशः त्रिः परिनयन्ति— हरिके समान् पूजनीय, देवोंको प्राप्त करने योग्य, प्रगतिशील बलवान् वीर पुरुषको प्रजाके नेता पुरुष ऋतुके अनुसार राष्ट्रमें तीन बार एक वर्षमें भ्रमण कराते हैं। इससे उस नेताको संपूर्ण राष्ट्रका ज्ञान उत्तम रीतिसे होता है।

अत्र पूष्णः प्रथमः भागः अजः देवेभ्यः यज्ञं निवेदयन् एति— इस समय पोषण करनेवालोंमें प्रथम स्थानमें रहनेवाला प्रगतिशील कार्यकर्ता देवों अर्थात् श्रेष्ठोंके लिये राष्ट्रकी वस्तुस्थितिका निवेदन करता हुआ आगे बढता है ॥ २७ ॥

[१४३९] (होता, अध्वर्युः, आवयाः, अग्निमिन्धः, ग्रावग्राभः, शंस्ता उत सुविप्रः) हवन करनेवाला होता, अध्वर्यु, प्रति प्रस्थाता, आग्नीध्र, ग्रावस्तोता, प्रशास्ता, उत्तम मेधावी ब्रह्मा आदि ऋत्विजो ! तुम (तेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन यज्ञेन वक्षणाः आपृणध्वम्) उन प्रसिद्ध ब्राह्मणोंके हवि दक्षिणादिसे अलंकृत करके उत्तम प्रकार अन्न पानीवाली नदियोंको पूर्ण करो, अर्थात् सब विद्वानोंको संतुष्ट करो ॥ २८ ॥

[१४४०] (ये यूपव्रस्काः उत ये यूपवाहाः अश्वयूपाय चषालं तक्षति) जो यज्ञके यूपको गढते और यूपको ले चलनेवाले व अश्व बांधनेवाले चषालको बनाते, (च ये अर्वते पचनं सम्भरन्ति) और जो लोग घोडेके बांधनेके लिये काष्ठको सिद्ध करते हैं, (उतो तेषां अभिगूर्त्तिः, नः इन्वतु) उनका किया हुआ उद्यम हम लोगोंका हित करे ॥ २९ ॥

[१४४१] जो (मे वीतपृष्ठः सुमत् उप प्र अगात्) प्रजाजनोंके हितके लिये सबको आश्रय देनेमें समर्थ, स्वयं मुझे अनायास ही प्राप्त हुआ है, (येन देवानां आशाः उपप्र अधायि) जो विद्वानोंके नाना स्थानोंमें निवास करनेवाली प्रजाका भी धारण पोषण करता है। (एनं अनु विप्राः ऋषयः मदन्ति) इसके पास रहकर विद्वान् ऋषि प्रसन्न होते हैं। (पुष्टे देवानां सुबन्धुं चकृमा) हृष्टपुष्ट धनसे दिव्य प्रजाजनोंके बीच और विजयशील सैनिकोंके उत्तम बन्धु राजाको ही हम नियत करें ॥ ३० ॥

[१४४२] (अस्य वाजिनः अर्वतः यत् दाम सन्दानम्) इस वेगवान घोडेकी जो ग्रीवाबन्धन रज्जु, पाद बंधन रज्जु (या शीर्षण्या, रशना रज्जुः) जो शिरोबन्धनकी रज्जु और कटिबन्धनकी रज्जु है, (वा अस्य आस्ये अपि यत् तृणं प्रभृतम्) अथवा इसके मुखमें भी जो तृणघासादि है (ते ताः देवेषु अस्तु) तुम्हारी वे सब वस्तुएं देवताओंमें प्रिय हों ॥ ३१ ॥

यदश्र्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति ।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३२ ॥

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति ।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु ॥ ३३ ॥

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति ।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु ॥ ३४ ॥

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ ३५ ॥

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि ।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम् ॥ ३६ ॥

[१४४३] (क्रविषः अश्वस्य यत् मक्षिका आश) विजय करनेवाले अश्वके मुखमें जो अंश रहता है, (वा यत् स्वरौ स्वधितौ रिप्तं अस्ति) अथवा जो शस्त्रोंमें लगा रहता है, और (यत् शमितुः हस्तयोः) जो भाग शान्ति करानेवाले पुरुषोंके हाथोंमें है, और (यत् नखेषु) जो भाग इंद्रियरहित स्थितिमें होनेवाला है उसके प्रबन्धके कार्योंमें राष्ट्रका जो भाग है (ता सर्वा अपि देवेषु) वे सब भी कार्य विद्वज्जनोंके अधीन हों ॥ ३२ ॥

[१४४४] (उदरस्य यत् ऊवध्यं अपवाति) पेटके कोष्टसे जो मल निकलता है, और (यः अमस्य क्रविषः गन्धः अस्ति) जो न पचे अन्नका गन्ध है तत् शमितारः सुकृता कृण्वन्तु) उसको शान्ति करनेवाले अच्छी प्रकारसे सिद्ध करें, (उत मेधं शृतपाकं पचन्तु) और जिसका पवित्र सुन्दर पाक बने उस अन्नको पकावें ॥ ३३ ॥

[१४४५] हे मनुष्य ! (शूलं अभिनिहतस्य अग्निना पच्यमानात् गात्रात्) शूल हल आदिसे खोदे गये और अग्निके समान संतापक सूर्य द्वारा परिपक्क किये हुये खेतसे (यत् अवधावति) जो भाग अलग रहा है (तत् भूम्यां मा आशिश्रियन्) वह भाग अन्य भूमिके साथ निकम्मा न पडा रहे, और वह भाग (तृणेषु मा) घासको उपजमें न मिल जाय, प्रत्युत (तत् उशद्भ्यः देवेभ्यः रातं अस्तु) वह भाग बल चाहनेवाले विद्वान् पुरुषोंके लिये समर्पित वे पुरुष इसमें उत्तम पाक उत्पन्न करें और धान्य प्राप्त करें ॥ ३४ ॥

[१४४६] (ये वाजिनं परिपश्यन्ति) जो लोग राष्ट्रको अत्यन्त परिपक्व खेतोंवाला चारों ओर देखते हैं, और (ये ई आहुः सुरभिः निः हर) जो इसके विषयमें कहते हैं कि, यह भूमि बडे उत्तम पक्व धान्यके गन्धसे युक्त हैं, इसे अच्छी प्रकार काटो, (च ये अर्वतः मांसभिक्षां उपासते) और जो इस भोगयोग्य राष्ट्रके मनके लुभानेवाले शरीरमें मांसवर्धक अन्नको मांगते हैं (तेषाम् अभिगूर्तिः नः इन्वतुः) उनका उद्यम हमें सफलतापूर्वक प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

[१४४७] (यत् मांसपचन्याः उखायाः नीक्षणम्) जो शरीरवर्धक नाना फलोंको देनेवाली पृथ्वीका निरन्तर देखभाल करना है, और (या पात्राणि यूष्णः आसेचनानि) जो पालन करनेवाले जलके सेवन करनेके साधन कूएं तलाव आदि हैं, तथा जो (चरूणां ऊष्मण्या अपिधाना) विचरनेवाले यात्रियोंके ग्रीष्मकालमें सुखकारी विश्राम गृह हैं, तथा जो (अङ्काः सूनाः अश्वं परिभूषन्ति) स्थान स्थानपर स्थान हैं वे स्थान प्रगमनशील विशाल राष्ट्रको सर्वत्र अलंकृत करते हैं ॥ ३६ ॥

+

मा त्वाऽग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः ।
इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम् ॥ ३७ ॥

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः ।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३८ ॥

यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै ।
सन्दानमर्वन्तं पड्वीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति ॥ ३९ ॥

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद ।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि ॥ ४० ॥

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति ।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त ॥ ४१ ॥

[१४४८] (धूमगन्धिः अग्निः त्वा मा ध्वनयीत्) धूएंके गन्धवाला अग्नि तुमको पीडित कर न कष्ट दे। (भ्राजन्ती उखा जघ्रि मा अभिविक्त) तेजसे प्रकाशित हुई उखा व्याघ्रिके समान तुझे उद्विग्न न करे, और (इष्टं वीतं अभिगूर्तं वषट् कृतं तं अश्वं देवासः प्रति गृभ्णन्ति) सबके प्रिय, कान्तिमान्, तेजस्वी, परिश्रमी उस प्रगतिशील नरश्रेष्ठ ऐसे तुझेही विद्वान् लोग अपना नेता स्वीकार करते हैं ॥ ३७ ॥

[१४४९] (ते अर्वतः निक्रमणं निषदनं विवर्तनं) तेरे घोडेका निकलना, बैठना, इधर उधर लेटना, (च यत् पड्वीशम्) और जो पछाडी, (च यत् पपौ) और जो पीना, (च यत् घासिम्) और जो घासका भक्षण करना (ता सर्वाः) वे सब उसकी क्रियायें (देवेषु अपि अस्तु) उत्तम दिव्य गुणोंवाले विद्वानोंमें भी प्रीति देनेवाले हों ॥ ३८ ॥

[१४५०] (अस्मै अश्वाय यत् अधिवासं वासः) इस अश्वके लिये जो ऊपर पहननेका लम्बा वस्त्र है, (या हिरण्यानि) जो सुवर्णादि हैं, और जो उसके (सन्दानं पड्वीशं उपस्तृणन्ति) शिरोबन्धन और पादबन्धनको धारण कराते हैं, वे सब (प्रिया अर्वन्तः देवेषु आयामयन्ति) प्रिय मनोहर वस्तुयें श्रेष्ठ पुरुषोंमें सुरक्षित रहें ॥ ३९ ॥

[१४५१] (महसा शूकृतस्य ते सादे) अपने तेजसे शीघ्रता द्वारा कार्य करनेवाले तेरे शत्रु (पार्ष्ण्या कशया तुतोद) तेरे पीछेसे आक्रमण करके तुझे पीडा पहुंचावे तो, (ते ता सर्वा) तेरी उन सब त्रुटियोंको में पुरोहित (स्रुवा इव हविषा) स्रुवोंसे जैसे हवि दिया जाता है उसी प्रकार उसको अपने (ब्रह्मणा सूदयामि) वेद ज्ञान द्वारा ठीक करता हूं ॥ ४० ॥

[१४५२] (स्वधितिः वाजिनः देवबन्धोः अश्वस्य चतुस्त्रिंशत् वङ्क्रीः समेति) स्वयं समस्त राष्ट्रको धारण करनेमें समर्थ, सामर्थ्यवान्, विद्वानोंके बन्धु पुरुषही अश्वके इन चौंतीस अङ्गोंको भली प्रकार अपने आधीन कर लेता है। हे श्रेष्ठ पुरुष ! तुम राष्ट्रके (गात्रा वयुना अच्छिद्रा कृणोतु) अङ्गोंको अपने प्रयत्नद्वारा त्रुटिरहित करो और उसके (परुः परुः अनुघुष्य वि शस्त) प्रत्येक अङ्ग अर्थात् हरएक विभागको विविध प्रकारसे ठीक करके बताओ ॥ ४१ ॥

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः ।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता-ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ ॥ ४२ ॥

मा त्वा तपत्प्रिय आत्माऽपियन्तं मा स्वधितिस्तन्व आ तिष्ठिपत्ते ।
मा ते गृध्नुरविशस्ताऽतिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः ॥ ४३ ॥

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य ॥ ४४ ॥

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ२ उत विश्वापुषं रयिम् ।
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान् ॥ ४५ ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ ४६ ॥

[१४५३] (त्वष्टुः अश्वस्य विशस्ता एकः ऋतुः) दीप्तमान् सूर्यके आशुगामी कालका विभाजन करनेवाला एक ऋतु अर्थात् पूर्ण वत्सर है, (तथा द्वौ यन्तारौ भवतः) और दो अयन उसके नियन्ता होते हैं। हे दीप्तमान् सूर्यके आशुगामी काल ! (ते गात्राणां पिण्डानां या कृणोमि) तेरे गात्र सम्बन्धी पिण्डोंके जो मैं खण्ड करता हूं (ता ता ऋतुथा अग्नौ प्रजुहोमि) वे वे सब वसन्तादिके यज्ञ समयमें ऋतुसम्बन्धी पदार्थोंको अग्निमें होमता हूं ॥ ४२ ॥

[१४५४] (प्रियः आत्मा अपियन्तं त्वा मा तपत्) अपना प्रिय आत्मा प्रयाण करते समय तुझको पीडित न करे; (स्वधितिः ते तन्वः मा आतिष्ठत्) शस्त्र तेरे शरीरके भागों पर अपना अधिकार न करे; (अविशस्ता गृध्नुः ते छिद्राणि अतिहाय मिथू ते गात्राणि असिना मा कः) उत्तम शासन न कर सकनेवाला कोई भी तेरे भीतर विद्यमान त्रुटियोंको छोडकर व्यर्थमें ही निष्प्रयोजन तेरे अङ्गोंको तलवारसे मत छेदन करे ॥ ४३ ॥

[१४५५] (एतत् न वा उ म्रियसे) इस प्रकार तुम मृत्युको न प्राप्त होते हो और (न रिष्यसि) न कभी व्यर्थ पीडितही होते हो। (सुगेभिः पथिभिः देवान् इत् एषि) सुन्दर मार्गोंसे देवोंके पास प्रतिगमन करते हो, (ते पृषती हरी युञ्जा अभूताम्) तेरे दोनों संचालक राष्ट्ररूपी रथमें दो हृष्टपुष्ट घोडोंके समान अत्यन्त दृढ राज्य-व्यवस्थामें कुशल होकर नियुक्त होवें। और (रासभस्य धुरि वाजी उप अस्थात्) महामन्त्रीके पद पर ज्ञानैश्वर्यवान् पुरुषकोही स्थापित वा नियुक्त किया जाय ॥ ४४ ॥

[१४५६] (वाजी नः सुगव्यम्) बलवान् राष्ट्रपति हमें श्रेष्ठा गोधन, (सु-अश्वं पुंसः पुत्रान् उत विश्वापुषं रयिं) उत्तम अश्व, वीर पुरुष, पुत्र, और समस्त संसारके पोषण करनेमें समर्थ सम्पति प्रदान करे। हे राजन् ! तुम (अदितिः) अदीन होकर (नः अनागा कृणोतु) हमें अपराधों अथवा पापोंमे रहित करो। तथा (नः अश्वः हविष्वान् क्षत्रं वनताम्) हमारा राष्ट्रका भोक्ता श्रेष्ठ पुरुष अश्वके समान बलवान् हो; अन्नादि समृद्धिसे युक्त होकर क्षात्र बलको प्राप्त करे ॥ ४५ ॥

[१४५७] (इमा भुवना नु कं सीषधाम्) यह सम्पूर्ण भुवन निश्चयसे सुखको प्राप्त करते हैं। (सगणः इन्द्रः च विश्वेदेवाः आदित्यैः मरुद्भिः अस्मभ्यं भेषजा करन्) गणके सहित इन्द्र और सम्पूर्ण देवता, बारह आदित्य उन्चास मरुतोंके साथ हमारे निमित्त ओषधिको हितकारी करें। और (इन्द्रः आदित्यैः नः यज्ञं तन्वं च प्रजां सीषधाति) ऐश्वर्यवान् इन्द्र, आदित्योंके साथ हमारे यज्ञ, शरीर और पुत्रादिको श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न करे ॥ ४६ ॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ४७ ॥

[अ० २५, कं० ४७, मं० सं० ५०]

इति पञ्चविंशोऽध्यायः ।

[१४५८] हे (अच्छ) निर्मलस्वभाव ! हे (अग्ने) अग्ने ! (वसुः अग्निः वसुश्रवाः त्वम्) वसु स्वरूप-जनोंके निवासरूप, आहवनीयादिरूपसे गमनशील और धनदान करनेसे कीर्तिमान् तुम (नः अन्तमः उत त्राता शिवः वरूथ्यः आभवः) हमारे अत्यन्त समीपवर्ति, संरक्षक, मंगलरूप, पुत्रादि समूह वा घरके लिये हितकारी सब प्रकारसे हो तुम (नक्षि, द्युमत्तमं रयिं दाः) हमारे होम स्थानमें व्याप्त हो, तुम अति दीप्तिसे युक्त धनको प्रदान करो । (शोचिष्ठ दीदिवः तं त्वा) अत्यन्त कान्तिमान्, सबके प्रदीप्त करनेवाले उस पूर्वोक्त गुण सम्पन्न तुमको (सखीभ्यः सुम्नाय नूनं ईमहे) मित्रोंके लिये सुन्दर धन ऐश्वर्य युक्त सुखके लिये निश्चय पूर्वक प्रार्थना करते हैं ॥ ४७ ॥

॥ पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः ।

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सं नमतामदो वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सं नमतामद
आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे सं नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सं नमतामदः ।
सप्त सꣳसदो अष्टमी भूतसाधनी । सकामाँ२ अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥ १ ॥

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥ २ ॥

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु ।
यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ।
उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतये त्वैष ते योनिर्बृहस्पतये त्वा ॥ ३ ॥

[१४५९] (अग्निः च पृथिवी च संनते ते अदः मे संनमताम्) अग्नि और पृथ्वी भी परस्पर अनुकूलतासे रहते हैं, वे दोनों मेरे प्रेम और अभिलाषाके पात्रको मेरे अनुकूल करें। (वायुः च अन्तरिक्षं च संनमते ते अदः मे संनमताम्) वायु और अन्तरिक्ष भी परस्पर अनुकूलतासे रहते हैं, वे दोनों अपने दृष्टान्तसे मेरे प्रेम और अभिलाषाके पात्रको मेरे अनुकूल करें। (आदित्यः च द्यौः च संनते ते अदः मे संनमताम्) सूर्य और आकाश दोनों एक दूसरेके साथ उपकार्य उपकारक भावसे संयुक्त हैं, वे दोनों भी अपने दृष्टान्तसे मेरे प्रेम और अभिलाषाके पात्रको मेरे अनुकुल करें। (आपः च वरुणः च संनते ते अदः मे संनमताम्) जल और वरुण भी एक दूसरेके साथ अनुकूल होकर रहते हैं, वे दोनों भी अपने दृष्टान्तसे मेरे प्रेम और अभिलाषाके पात्रको मेरे अनुकूल करें। (सप्त संसदः, अष्टमी भूतसाधनी) सात संसत् अर्थात् अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, आपः और वरुण ये सात संसत् हैं, इनके आश्रयसे लोक विराजते हैं और आठवी पृथ्वी सब प्राणियोंको अपने आश्रयमें रखती है। हे राजन् ! तू (अध्वनः सकामान् अमुना मे संज्ञानं अस्तु) समस्त मार्गोंको अपने कामनानुकूल करो, अमुक अमुक शक्ति और पदार्थसे मुझे यथार्थ सत्यज्ञान प्राप्त हो ॥ १ ॥

[१४६०] (यथा इमां कल्याणीं वाचं) जिस प्रकार इस कल्याणकारी वाणीको हमने (ब्रह्मराजन्याभ्यां च शूद्राय च अर्याय स्वाय अरणाय च जनेभ्यः आवदानि) ब्राह्मण व क्षत्रियोंके लिये और शूद्रके लिये तथा वैश्यके लिये, अपने प्रिय लगने व प्रिय न लगनेवाले पराये एवं सम्पूर्ण जनोंके लिये उपदेश किया है, वैसे हे मनुष्यो ! तुम लोग भी करो। (इह देवानां दक्षिणायै दातुः प्रियः भूयासम्) इससे इस यज्ञ वा संसारमें देवताओंका और दक्षिणाके देनेवालोंका मैं प्यारा होऊं अर्थात् दक्षिणा देनेवाले मुझसे सब प्रीति करें। (मे अयं कामः समृध्यताम्) मेरा यह इष्ट मनोरथ सफल हो। और (अदः मा उपनमतु) यह यश मुझे प्राप्त हो ॥ २ ॥

[१४६१] हे (बृहस्पते) हे बृहस्पते ! (यत्, अर्यः अर्हात्) जिस कारणसे तू सबका स्वामी होकर पूजने योग्य है, और (जनेषु द्युमत् क्रतुमत् अतिविभाति) समस्त जनोंमें सूर्य सदृश तेजस्वी और क्रियावान् होकर सब ओरसे चमकता है, तथा (यत् ऋतप्रजात् शवसा दीदयत्) जिस कारणसे हे सत्यसे प्रकट देव ! तू अपने बलसे ही सबकी रक्षा करता है, उससे ही तू (अस्मासु चित्रं द्रविणं धेहि) हम सब प्रजाजनोंमें उत्तम ऐश्वर्यको प्रदान करो। हे विद्वान् पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राष्ट्रके सुव्यवस्थित नियमों द्वारा स्वीकार किया गया है, (त्वा बृहस्पतये, एषः ते योनिः) तुझको हम सब बृहस्पतिपदके लिये चुनते हैं, यह तेरे योग्य ही स्थान है (बृहस्पतये त्वा) बृहस्पति पदके लिये तुझको हम सब नियुक्त करते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्र गोमन्निहा याहि पिबा सोमंꣳ शतक्रतो । विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतम् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमते एष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ४ ॥

इन्द्रा याहि वृत्रहन्पिबा सोमंꣳ शतक्रतो । गोमद्भिर्ग्रावभिः सुतम् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमते एष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ५ ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ७ ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निरुक्थेन वाहसा ॥
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ८ ॥

[१४६२] हे (**शतक्रतो**) अनन्त कर्म वा सौ यज्ञोंको करनेवाले (**गोमत् इन्द्र**) धेनुओंको पालनेवाले इन्द्र ! (**इह आयाहि**) इस यज्ञमें तुम आगमन करो, और (**विद्यद्भिः ग्रावभिः सुतं सोमं पिब**) विशेष रीतिसे इस निकालनेवाले पाषाणोंसे रस निकाले सोमको पान करो । तुम (**अपयामगृहीतः असि**) उपयाम पात्रमें गृहीत हो (**गोमते इन्द्राय त्वा**) गौओंवाले इन्द्रकी प्रीतिके लिये तुमको ग्रहण करता हूं । (**एषः ते योनिः**) यह तुम्हारा स्थान है, (**गोमते इन्द्राय त्वा**) गोमान् इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त तुमको स्थापन करता हूं ॥ ४ ॥

[१४६३] हे (**वृत्रहन्**) वृत्रको मारनेवाले ! हे (**शतक्रतो**) सौ यज्ञोंको करनेवाले ! हे (**इन्द्र**) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! यहां इस यज्ञमें (**आयाहि**) आगमन करो, और यहां आकरके (**गोमद्भिः ग्रावभिः सुतं सोमं पिब**) गौओंके संयोगसे युक्त इन पत्थरोंसे निकाले हुए सोमरसको पान करो । तुम (**उपयामगृहीतः असि**) उपयाम पात्रमें गृहीत हो, (**गोमते इन्द्राय त्वा**) गौओंवाले इन्द्रकी प्रीतिके लिये तुमको ग्रहण करता हूं (**एषः ते योनिः**) यह तुम्हारा स्थान है (**गोमतये इन्द्राय त्वा**) गौओंवाले इन्द्रकी प्रीतिके निमित तुमको स्थापन करता हूं ॥ ५ ॥

[१४६४] (**ऋतावानं, ऋतस्य ज्योतिषः पतिं अजस्रं घर्मं वैश्वानरं ईमहे**) सत्य स्वरूप, अविनाशी तेजके पालक, दीप्तिमान सब प्राणियोंके हितकारी विश्वके नेता अग्निकी हम प्रार्थना करते हैं । तुम (**उपयामगृहीतः असि**) उपयाम पात्रमें गृहीत हो, (**वैश्वानराय त्वा**) वैश्वानरकी प्रीति प्राप्त करनेके लिये तुमको ग्रहण करता हूं, (**एषः ते योनिः**) यह तुम्हारा स्थान है, (**वैश्वानराय त्वा**) वैश्वानरकी तुष्टिके लिये तुझको स्थापन करता हूं ॥६॥

[१४६५] (**वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम**) सम्पूर्ण विश्वके हितकारी वैश्वानरदेवकी शोभन बुद्धिमें हम स्थिर रहे । (**हि भुवनानां अभिश्रीः वैश्वानरः इतः जातः**) निश्चयसे सम्पूर्ण भुवनोंके आश्रय दाता वैश्वानर इस भूलोकसे प्रकट हुआ । (**इदं विश्वं विचष्टे**) इस सब चराचर जगतको वह देखता है, और (**सूर्येण यतते**) सूर्यके सहित विश्वके हितके लिये यत्न करता है, तथा वह (**कं राजा**) सब प्रकारसे युक्त, और दीप्तिमान है । तुम (**उपयाम गृहीतः असि**) उपयाम पात्रमें गृहीत हो, (**वैश्वानराय त्वा**) वैश्वानरकी प्रीति प्राप्त करनेके लिये तुमको ग्रहण करता हूं, (**एषः ते योनिः**) यह तुम्हारा स्थान है, (**वैश्वनाराय त्वा**) वैश्वानरकी तुष्टिके लिये तुझको स्थापन करता हूं ॥७॥

[१४६६] (**वैश्वानरः अग्निः नः ऊतये**) सब संसारका हित करनेवाला वैश्वानर अग्नि हमारी रक्षाके लिये (**उक्थेन वाहसा परावतः आप्रयातु**) स्तोत्ररूप वाहनसे दूरदेशसे यहां आवे और आकर हमारी रक्षा करे ! तुम (**उपयामगृहीतः असि**) उपयाम पात्रमें गृहीत हो, (**वैश्वानराय त्वा**) वैश्वानरकी प्रीति प्राप्त करनेके लिये तुमको ग्रहण करता हूं (**एषः ते योनिः**) यह तुम्हारा स्थान है (**वैश्वानराय त्वा**) वैश्वानरकी तुष्टिके लिये तुझको स्थापन करता हूं ॥ ८ ॥

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयम् ॥
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसे एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे ॥ ९ ॥
महाँ२ इन्द्रो वज्रहस्तः षोडशी शर्म यच्छतु । हन्तु पाप्मानं योऽस्मान्द्वेष्टि ॥
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ १० ॥
तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः । अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ११ ॥
यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो । महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ १२ ॥
एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः । एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १३ ॥
ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः ।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः ॥ १४ ॥

[१४६७] जो (अग्निः ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः) अग्नि प्रकाशक, मन्त्रद्रष्टा, ब्राह्मणादि चार वर्ण और पांचवे निषाद इन पांचोंको पवित्र करनेवाला, पुरोहित अर्थात् यज्ञमें सबके आगे प्रस्थापित, (तं महागयं ईमहे) उस महान स्तुतिके योग्य अग्निको हम स्तोत्रोंद्वारा प्रार्थना करते हैं। तुम (उपयामगृहीतः असि) उपयाम पात्रमें गृहीत हो, (वर्चसे अग्नये) तेजोरूप अग्निके तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करता हूं (एषः ते योनिः) यह तेरा स्थान है, (वर्चसे अग्नये त्वा) तेजयुक्त अग्निके निमित्त तुझको ग्रहण करता हूं ॥ ९ ॥

[१४६८] (महान् वज्रहस्तः षोडशी इन्द्रः शर्म यच्छतु) श्रेष्ठ, वज्रधारी; सोलह कला युक्त इन्द्र हमको सुख प्रदान करे, और (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है, उस (पाप्मानं हन्तु) पापीका नाश करे। तू (उपयामगृहीतः असि) उपयाम पात्रमें गृहीत है, (महेन्द्राय त्वा) महेन्द्रकी तुष्टिके निमित्त तुमको ग्रहण करता हूं, (एषः ते योनिः) यह तुम्हारा स्थान है, (महेन्द्राय त्वा) महेन्द्रकी पुष्टिके निमित्त तुमको स्थापन करता हूं ॥ १० ॥

[१४६९] हे यजमान लोगो ! हम (तं ऋतीषहं, वः दस्मं वसोः, अन्धसः मन्दानं इन्द्रम्) उस, ऐश्वर्यसे युक्त, तुम्हारे दर्शनीय, सबको बसानेवाले, अन्नादि नाना भोग्य पदार्थोंसे सबको तृप्त करनेवाले परम ऐश्वर्ययुक्त इन्द्रको (गीर्भिः अभिनवामहे) स्तुतिकी वाणियों द्वारा प्रार्थना करते हैं, (नः धेनवः स्वसरेषु वत्सम्) जिस प्रकार गौवें अपने शब्दोंसे बछडोंको बुलाती हैं ॥ ११ ॥

[१४७०] हे (विभावसो) तेजस्विन् ! (अग्नये यत् बृहत् वाहिष्ठं अर्च) अग्निके पास जो बडा और शीघ्र पहुंचानेवाला है उसका सत्कार करो, और (तत्) उसका हम भी सत्कार करें, (महिषीव त्वत् रयिः) महारानीके समान तुमसे संपत्ति और (त्वत् वाजाः उत् ईरते) तुमसे अन्नादि पदार्थ भी प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

[१४७१] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम यहां इस यज्ञमें (उ एहि) उत्तम रीतिसे आगमन करो, (इत्था इतराः गिरः ते सु ब्रवाणि) इस प्रकारसे दूसरी स्तुति रूप वाणियों अर्थात् स्तोत्रोंको तुम्हारे लिये मैं उत्तम रीतिसे कहता हूं, तुम (एभिः इन्दुभिः वर्धासे) इन सोमादि उत्तम पदार्थोंसे वृद्धिको प्राप्त होते हो ॥ १३ ॥

[१४७२] हे देव ! (ते ऋतवः यज्ञं वितन्वन्तु) वे सम्पूर्ण ऋतुयें हमारे इस यज्ञका विस्तार करें, (मासाः ते हविः रक्षन्तु) महीने तुम्हारी हविकी रक्षा करें, (संवत्सरः ते नः यज्ञं दधातु) संवत्सर तुम्हारे लिये हमारे यज्ञका धारण करें, (च नः प्रजां परिपातु) और हमारी प्रजाकी रक्षा करें ॥ १४ ॥

उपह्वरे गिरीणाᳬ संङ्गमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥ १५ ॥

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे । उग्रᳬ शर्म महि श्रवः ॥ १६ ॥

स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः । वरिवोवित्परि स्रव ॥ १७ ॥

एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् । सिषासन्तो वनामहे ॥ १८ ॥

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः ।
अनु द्विपदाऽनु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु ॥ १९ ॥

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप । त्वष्टारᳬ सोमपीतये ॥ २० ॥

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना । त्वᳬ हि रत्नधा असि ॥ २१ ॥

[१४७३] जो मनुष्य (गिरीणां उपह्वरे नदीनां संगमे) पर्वतोंके समीपमें और नदियोंके पास रहकर योगाभ्याससे ईश्वरकी उपासना करता है, वह (धिया विप्रः अजायत) उत्तम बुद्धिसे युक्त होकर विचारशील बुद्धिमान होता है ॥ १५ ॥

[१४७४] हे सोम ! (ते उच्चा अन्धसः जातं दिवि) तुम्हारे उच्च अन्नके लिये उत्पन्न हुये प्रकाशमें (सत् उग्रं महि श्रवः शर्म आ ददे) रहनेवाला उत्तम बडे प्रशंसाके योग्य घरका स्वीकार करता हूं, वह (भूमि) पृथ्वीके तुल्य दृढ हो ॥ १६ ॥

[१४७५] हे सोम ! (सः वारिवोवित् यज्यवे इन्द्राय) वह प्रसिद्ध तुम, कीर्तिरूप धनके ज्ञाता, यजन करने योग्य इन्द्रके लिये, (वरुणाय, मरुद्भ्यः नः परिस्रवः) वरुणके लिये और मरुतोंकी तृप्तिके लिये, हमको रसरूप होकर प्राप्त होवो ॥ १७ ॥

[१४७६] जो (अर्यः, मानुषाणां एना विश्वानि द्युम्नानि) सबका स्वामी ईश्वर मनुष्योंकी इन सब तेजस्विताओंको देखता है, उसको (सिषासन्तः) सेवा करनेकी इच्छा करते हुये हम लोग (आ वनामहे) सुखोंको प्राप्त करते हैं ॥ १८ ॥

[१४७७] (देवाः नः यज्ञं ऋतुथा नयन्तु) सब देव हमारे यज्ञको ऋतुओंके अनुसार चलावें और हमें मार्ग दिखावें कि (वयं वीरैः अनुपुष्यास्म) हम वीरोंसे अर्थात् पुत्रोंसे युक्त हों, (गोभिः अनु) गौवोंसे समृद्ध हों, (पुष्टैः अश्वैः अनु) हृष्ट पुष्ट अश्वोंसे युक्त हों, और (सर्वेण द्विपदा चतुष्पदा अनु) सब प्रकारके दोपाये, भृत्यादि सेवको एवं चौपाये पशुओंसे युक्त हों ॥ १९ ॥

[१४७८] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (देवानां उशतीः पत्नीः) देवताओंकी हविकी इच्छा करनेवाली पत्नियोंको और (त्वष्टारं) त्वष्टा देवताको (सोमपीतये इह उपावह) सोमपान करनेके लिये इस यज्ञमें ले आवो ॥ २० ॥

[१४७९] हे (ग्नावः) पत्नी युक्त ! हे (नेष्टः) नेष्टा अग्निदेव ! (नः यज्ञं अभिगृणीहि) हमारे यज्ञकी प्रशंसा करो, (ऋतुना पिब) ऋतुके अनुसार सोमपान करो, (हि रत्नधा असि) क्यों कि तुम रमणीय धनों अथवा श्रेष्ठ रत्नोंको धारण करनेवाले हो ॥ २१ ॥

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत । नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ॥ २२ ॥

तवायꣳ सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमꣳ सुमना अस्य पाहि ।
अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र ॥ २३ ॥

अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन ।
अथा मदस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः ॥ २४ ॥

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ॥ २५ ॥

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते । द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २६ ॥

[अ० २६, कं० २६, मं० सं० ६१]

इति षड्विंशोऽध्यायः ।

[१४८०] हे श्रेष्ठ जनो ! जिस प्रकार (द्रविणोदाः ऋतुभिः नेष्ट्रात् पिपीषति) धनका देनेवाला यजमान वसन्तादि ऋतुओंके साथ विनयसे रसको पीनेकी इच्छा करता है, वैसे तुम लोग भी रसको (इष्यत) पीनेकी इच्छा करते हुये उसे प्राप्त होओ और (जुहोत) हवन करो, (च प्रतिष्ठत) एवं प्रतिष्ठाको प्राप्त करो ॥ २२ ॥

[१४८१] हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र ! (अयं सोमः तव) यह सोम तुम्हारा है, इस कारण (त्वं अर्वाङ् एहि) तुम हमारे पास आगमन करो, (सुमनाः शश्वत्तमं अस्य पाहि) प्रसन्न चित्त तुम बहुत समय पर्यंत इस सोमकी रक्षा करो । और (अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि निषद्य) इस यज्ञमें कुशासन पर बैठकर, (इमं इन्दुं जठरे दधिष्व) इस सोमरसको उदरमें धारण करो ॥ २३ ॥

[१४८२] हे (सुहवः) आह्वान सुननेवाली देवपत्नियों ! (अमा इव नः आगन्तन) अपने घरके समान हमारे यज्ञगृहमें आगमन करो । (हि बर्हिषि निषदतन रणिष्टन) और आसन पर बैठो और प्रसन्न होओ । हे (त्वष्टा) त्वष्टा देव ! (अथ, अन्धसः जुजुषाणः देवेभिः जनिभिः समुद्गणः मदस्व) देव पत्नियोंके आनेके पश्चात् हविरूप अन्नको सेवन करते हुये, तुम देवों और देवियोंके साथ प्रसन्नचित्त व सन्तुष्ट होओ ॥ २४ ॥

[१४८३] हे (सोम) सोम ! तुम (इन्द्राय सुतः स्वादिष्ठया मदिष्ठया धारया) इन्द्रके लिये रस निकालने पर अति स्वादवाली और सबको आनन्द देनेवाली धारासे (इन्द्राय पातवे पवस्व) इन्द्रके लिये पवित्र होकर रहो ॥ २५ ॥

[१४८४] हे सोम ! (रक्षोहा, विश्वचर्षणिः) राक्षसोंका नाश करनेवाला, सब शुभाशुभको देखनेवाले तुम, (अयोहते द्रोणे सधस्थं योनिं अभिआसदत) लोह द्वारा निर्मित पात्र, वा तक्षाके शस्त्रसे संस्कार लिये इस द्रोण कलशमें सुरक्षित इस यज्ञ स्थानके मध्यमें सबके सम्मुख विराजते हो ॥ २६ ॥

॥ छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः ।

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा च रिषदुपसत्ता ते अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहा नो अभिमातिजिच्च स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचितो निकारिणः ।
क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ४ ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳ रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व ।
सजातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ५ ॥

[१४८५] हे (अग्ने) अग्ने ! (समाः, ऋतवः, संवत्सराः, ऋषयः यानि सत्या त्वा वर्धयन्तु) महीने महीने, ऋतु ऋतु, और प्रत्येक संवत्सरमें ऋषिलोक जिन सत्य मन्त्रोंसे तुमको बढाते हैं, ऐसे तुम अपने (दिव्येन रोचनेन सन्दीदिहि) दिव्य कान्तिसे प्रदीप्त होओ, और (विश्वाः प्रदिशः चतस्रः आभाहि) सम्पूर्ण दिशाओं और चारों प्रदिशाओंको प्रकाशित करो ॥ १ ॥

[१४८६] (अग्ने) अग्ने ! तुम (समिध्यस्व) अच्छी तरह प्रदीप्त होओ, (च एनं प्रबोधय) और इस यजमानको ज्ञानसे बोध करो । (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) और बडे ऐश्वर्यके लिये खडे हो जाओ । (च) और हे (अग्ने) प्रकाशमान देव ! (ते उपसत्ता मा रिषत्) तुम्हारी उपासना करनेवाला भक्त मत नष्ट हो, तथा (ते ब्रह्माणः यशसः सन्तु) तुम्हारे ऋत्विग् यज्ञकर्ता लोग यशस्वी हों, (अन्ये मा) अन्य अभक्त यशभागी न हों ॥२॥

[१४८७] हे (अग्ने) अग्ने ! (इमे ब्राह्मणाः त्वां वृणते) ये ब्राह्मणलोग तुमको स्वीकारते हैं, इस कारण (संवरणे नः शिवः भव) संवरण होनेपर हमारे लिये कल्याणकारी होओ । हे (अग्ने) दीप्तिमान् ! (नः सपत्नहा च अभिमातिजित्) हमारे शत्रुओंके नाशक और शत्रुके पुरुषोंको पराजित करनेवाले तुम (स्वे गये अप्रयुच्छन् जागृहि) अपने घरमें प्रमाद न करते हुये सावधान होकर जागृत रहो ॥ ३ ॥

[१४८८] हे (अग्ने) अग्ने ! (इह एव रयिं अधिधारय) यहां यजमानके घरमेंही धनको अधिक कर दीजिये, (निकारिणः पूर्वचितः त्वा मा निक्रन्) अग्नि चयन करनेवाले ऋत्विज तुम्हारी मत अवज्ञा करें । हे (अग्ने) अग्ने ! (क्षत्रं तुभ्यं सुयमं अस्तु) क्षत्रिय वर्ग तुम्हारे लिये सुखसे वश करनेवाला हो । (ते उपसत्ता अनिष्टृतः संवर्धताम्) तुम्हारा भक्त अविनष्ट होकर धन पुत्रादिसे वृद्धिको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

[१४८९] हे (अग्ने) अग्ने ! (स्वायुः क्षेत्रणं सरभस्व) श्रेष्ठ अवस्थावाले तुम क्षत्रियके साथ यज्ञका आरम्भ करो । हे (अग्ने) अग्ने ! (मित्रेण मित्रधेये यतस्व) मित्रके साथ रहते हुए तुम यज्ञ करनेका यत्न करो । तुम (सजातानां मध्यस्थाः एधि) समान जन्मवालोंके मध्यमें रहनेवाले हो, अतः हे (अग्ने) अग्ने ! (राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि) राजाओं द्वारा आह्वान होनेपर तुम इस यज्ञ स्थानमें प्रकाशित होओ ॥ ५ ॥

अति निहो अति स्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यंꣳ सहवीराꣳ रयिं दाः ॥ ६ ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह ।
विश्वा आशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे ॥ ७ ॥

बृहस्पते सवितर्बोधयैनꣳ संशितं चित्सन्तराꣳ सꣳ शिशाधि ।
वर्धयैनं महते सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ ८ ॥

अमुत्रभूयादध यद्यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ ९ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १० ॥

[१४९०] हे (अग्ने) अग्ने ! (हि निहः अति, स्रिधः अति) अवश्यही जीवघातियोंको दूर करके तथा कुत्सिताचारियोंको दूर करके (अचित्तिं अति, अरातिं अति) चंचल चित्तवालोंको दूर करके, एवं शत्रुरूपी कृपण जनोंको दूर करके (विश्वा दुरिता सहस्व) सम्पूर्ण दुष्टताओंको दूर करो, (अथ) तदनन्तर हे (अग्ने) अग्ने ! (अस्मभ्यं सहवीरां रयिं दाः) हमारे लिये वीर पुत्रोंके सहित धनको प्रदान करो ॥ ६ ॥

[१४९१] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (अनाधृष्यः, जातवेदाः अनिष्टृतः विराट्, क्षत्रभृत्) दूसरेसे कभी भी पराजित न होने वाला, सब ज्ञानयुक्त सर्वज्ञ, अविनाशी, अनेक प्रकारसे तेजस्वी, सर्वबल सम्पन्न क्षात्र तेजको बढानेवाले हो, ऐसे गुणोंसे युक्त तुम (इह विश्वाः आशाः दीदिहि) यहां सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करो । और (मानुषीः भियः प्रमुञ्चन्) मनुष्य सम्बन्धी भयोंको दूर करते हुये (अद्य वृधे शिवेभिः नः परि पाहि) आज वृद्धिके लिये शान्त वृत्तिसे हमारी रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

[१४९२] हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! हे (सवितः) सबके उत्पादक अथवा सबके प्रकाशक ! (एनं संशितं बोधय) इस यजमानको तीक्ष्ण बुद्धिवाला करके चेतनायुक्त करो, और (सं शिशाधि) सम्यकरूपसे उपदेश दो, (एनं महते सौभगाय वर्धय) इसको महान ऐश्वर्यके लिये बढाओ, तथा (विश्वेदेवाः एनं अनु मदन्तु) सब दिव्य-गुणोंवाले इसके अनुकूल होकर आनंदित हों ॥ ८ ॥

[१४९३] हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! (अमुत्रभूयात् अव, यत् यमस्य अभिशस्तेः अमुञ्चः) परलोकमें होनेवाले भयसे हमारा रक्षण करो, और जो यमराजका भय है उससे हमको छुडाओ। हे (अग्ने) अग्ने ! (देवानां भिषजा अश्विना अस्मात् मृत्युं शचीभिः प्रत्यौहताम्) देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार इस यजमानसे मृत्युको शुभकर्मों द्वारा दूर करें, अर्थात् हमारे सब भय दूर हों ॥ ९ ॥

[१४९४] (वयं तमसः परि) हम, अन्धकारसे परे (स्वः उत्तरं देवं देवत्रा) सुखस्वरूप, प्रलयके पश्चात् भी रहनेवाले, दिव्य गुणयुक्त (उत्तमं ज्योतिः सूर्यं पश्यन्तः) सर्वोत्तम ज्योति स्वरूप चराचर जगतके आत्माको देखते हुये, (उत्तमं अगनम्) उच्च स्थानको प्राप्त हों ॥ १० ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः । द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः ॥ ११ ॥
तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः । पथो अनक्तु मध्वा घृतेन ॥ १२ ॥
मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशंसो अग्ने । सुकृद्देवः सविता विश्ववारः ॥ १३ ॥
अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वह्निर्नमसा । अग्निं स्रुचो अध्वरेषु प्रयत्सु ॥ १४ ॥
स यक्षदस्य महिमानमग्नेः स ईं मन्द्रा सुप्रयसः । वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च ॥ १५ ॥
द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रता ददन्ते अग्नेः । उरुव्यचसो धाम्ना पत्यमानाः ॥ १६ ॥
ते अस्य योषणे दिव्ये न योना उषासानक्ता । इमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ १७ ॥
दैव्या होतारा ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभि गृणीतम् । कृणुतं नः स्विष्टिम् ॥ १८ ॥

[१४९५] (अस्य सुप्रतीकस्य सूनोः अग्नेः) इस उत्तम दीखनेवालेके पुत्र रूपी अग्निकी किरणें (समिधः उर्ध्वाः भवन्ति) समिधासे ऊर्ध्वगामिनी होती हैं, और (शुक्रा द्युमत्तमा शोचींषि उर्ध्वाः) शुद्ध प्रकाशमान किरणें ऊपर गमन करनेवाली होती हैं ॥ ११ ॥

[१४९६] (तनूनपात् असुरः विश्ववेदा देवः देवेषु देवः) शरीरको न गिरा देनेवाला, प्राणवान्, दिव्यगुणोंसे युक्त, देवताओंमें श्रेष्ठ अग्नि (मध्वा घृतेन पथः अनक्तु) मधुर घृत द्वारा यज्ञमार्गोंको व्याप्त करे ॥ १२ ॥

[१४९७] हे (अग्ने) अग्ने ! (प्रीणानः, नराशंसः, सुकृत्, देवः, सविता, विश्ववारः) देवताओंको तृप्त करनेवाले, ऋत्विजोंसे स्तुति करने योग्य, शुभ कर्मोंके कर्ता, दिव्यगुणोंसे युक्त, सबके उत्पादक और अखिल विश्वके लोगोंसे स्वीकार करनेयोग्य ऐसे तुम (मध्वा यज्ञं नक्षसे) स्वादु घृतसे यज्ञको करते हो ॥ १३ ॥

[१४९८] (शवसा ईडानः वह्निः अयम्) ज्ञानबलसे स्तुति करता हुआ, यज्ञ करनेवाला यह अध्वर्यु (अध्वरेषु प्रयत्सु घृतेन नमसा) यज्ञोंके प्रारंभ होनेमें घृत और हविरूप अन्न द्वारा (स्रुचः अग्निं अच्छ एति) जुहूको ग्रहण कर अग्निके समीप जाता है ॥ १४ ॥

[१४९९] (सः) वह अध्वर्यु (वसुः चेतिष्ठः च वसुधातमः अस्य सुप्रयसः अग्नेः) सब यज्ञ कर्मोंमें स्थित, अत्यन्त प्रज्वलित और अनेक ऐश्वर्योंके देनेवाले इस शुभ अन्न सम्पन्न अग्निकी (महिमानं यक्षत्) महिमाको सम्यक् रीतिसे प्राप्त हो । और (सः ईं मन्द्रा) वह अध्वर्यु ही इसमें प्रसन्नता करनेवाली हवियोंको हवन करे ॥ १५ ॥

[१५००] (अरुव्यचसः धाम्ना) सुन्दर अवकाशवाले स्थानसे (प्रत्यमानाः देवीः द्वारः) स्वामित्व करती हुई दिव्य गुणोंवाली द्वार देवीयां (अस्य अग्नेः व्रताः ददन्ते) इस अग्निके व्रतोंको धारण करती हैं, (अनु विश्वे) पश्चात् अन्य सब देवता अग्निके व्रतोंको धारण कर तद् अनुरूप आचरण करते हैं ॥ १६ ॥

[१५०१] (ते उषासा नक्ता न दिव्ये योषणे) वे दोनों, उषा और रात्री दिव्य उत्तम गुणोंवाली और दान करनेवाली दो स्त्रियें हैं । वे दोनों (नः इमं यज्ञं अध्वरं अवताम्) हमारे इस अहिंसक यज्ञको कुटिलतारहित रीतिसे सुरक्षित करें ॥ १७ ॥

[१५०२] (दैव्या होतारा नः स्विष्टिं कृणुतम्) दिव्य गुणोंवाले दोनों होता अग्नि और वायु हमारे शुभ यज्ञको उत्तम रीतिसे सम्पादन करें । और (नः अध्वरं अग्नेः जिह्वां ऊर्ध्वम्) हमारे यज्ञको तथा अग्निकी ज्वालाको ऊर्ध्व मार्गसे जानेवाला करें और (अभिगृणीतम्) सब प्रकारसे हमें उपदेश दे ॥ १८ ॥

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ सदन्त्विडा सरस्वती भारती । मही गृणाना ॥ १९ ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु त्वष्टा सुवीर्यम् । रायस्पोषं वि ष्यतु नाभिमस्मे ॥ २० ॥

वनस्पतेऽव सृजा रराणस्त्मना देवेषु । अग्निर्हव्यꣳ शमिता सूदयाति ॥ २१ ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेद इन्द्राय हव्यम् । विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ २२ ॥

पीवो अन्ना रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः ।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥ २३ ॥

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम् ।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके ॥ २४ ॥

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानाꣳ समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २५ ॥

[१५०३] (मही गृणाना इडा सरस्वती भारती तिस्रः देवीः) बडी महिमावाली स्तुतिको प्राप्त इडा, मध्य स्थानवाली सरस्वती और द्युः स्थानवाली भारती ये तीनों देवियां (इदं बर्हिः आसदन्तु) इस कुशासनपर बैठें ॥ १९ ॥

[१५०४] (त्वष्टा नः तुरीपं अद्भुतं पुरुक्षु) शिल्पज्ञ त्वष्टा हमें वेगसे पहुंचा देनेवाले, आश्चर्यकारक, बहुत पदार्थोंमें बसनेवाले (सुवीर्यं रायस्पोषं अस्मे नाभिं विष्यतु) उत्तम बलयुक्त और ऐश्वर्यके पोषण करनेवाले धनको हमारे मध्यभागमें प्रदान करे अर्थात् हमें प्रदान करें ॥ २० ॥

[१५०५] (शमिता अग्निः हव्यं सूदयाति) शान्तिकारक अग्नि हविको संस्कारयुक्त करता है। हे (वनस्पते) वनस्पते ! तुम (त्मना देवेषु रराणः अवसृज) अपने आत्मा द्वारा देवताओंमें हवि देते हुये उस हविको छोडो ॥ २१ ॥

[१५०६] हे (जातवेद) उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले ! हे (अग्ने) अग्ने ! हमारे इस (हव्यं इन्द्राय स्वाहा कृणुहि) हविको इन्द्रके लिये स्वाहाकारपूर्वक प्रदान करो; (विश्वे देवाः इदं हविः जुषन्ताम्) सब देवता इस हविको सेवन करें ॥ २२ ॥

[१५०७] जो (समनसः, रयिवृधः सुमेधाः नरः) समान विचारवाले, धनको बढानेवाले, उत्तम बुद्धिवाले नायक पुरुष (पीवो अन्ना विश्वा स्वपत्यानि चक्रुः) पुष्टिकारक अन्नवाले सुन्दर सन्तानोंको उत्पन्न करते हैं (ते इत् वायवे वि तस्थुः) वे ही वायुका सेवन करनेके लिये विशेष प्रकारसे रहें, तब (नियुतां अभिश्रीः श्वेतः सिसक्ति) निश्चित चलनेवाले लोगोंको सब ओरसे शोभायुक्त गमनशील वायु सबको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

[१५०८] (इमे रोदसी यं राये नु जज्ञतुः) यह द्यावापृथ्वी जिस वायुको धन्यताके लिये ही प्रकट करते हैं, (धिषणा देवी राये देवं धाति) दिव्यवाक् देवी, उत्तम ऐश्वर्यके लिये दिव्य गुणयुक्त वायुको धारण करती है। (अध उत स्वा नियुक्तः श्वेतं वसुधितिं वायुं निरेके सश्चतः) उस वायुके प्रकट होनेके उपरान्त निश्चय ही शुद्ध सत्व प्रधान वसुको धारण करनेवाले वायुको, ब्रह्माण्डमें सब सेवन करते हैं ॥ २४ ॥

[१५०९] (ह यत् गर्भं दधानः अग्निं जनयन्तीः) निश्चयसे जब गर्भको धारण करके अग्निको प्रकट करते हुये (बृहतीः आपः विश्वं आयन्) महान् जल समूह सब संसारमें प्रकट हुआ (ततः देवानां एकः असुः समवर्तत) तब उस गर्भसे देवताओंका एक प्राणरूप आत्मा प्रकट हुआ। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस जलसे उत्पन्न देवके लिये हम हविद्वारा अर्पण करते हैं ॥ २५ ॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २६ ॥

प्र याभिर्यासि दाश्वाꣳसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे ।
नि नो रयिꣳ सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः ॥ २७ ॥

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरꣳ सहस्रिणीभिरुप याहि यज्ञम् ।
वायो अस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २८ ॥

नियुत्वान्वायवा गह्ययꣳ शुक्रो अयामि ते । गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ २९ ॥

वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु ।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥ ३० ॥

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम् । शिवो नियुद्भिः शिवाभिः ॥ ३१ ॥

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरा गहि । नियुत्वान्त्सोमपीतये ॥ ३२ ॥

[१५१०] (यः महिना दक्षं दधानाः यज्ञं जनयन्तीः) जो अपने महिमासे सबमें बल धारण करता है और यज्ञ करनेवाली प्रजाको प्रकट करता है । (यः देवेषु अधि एकः देवः आसीत्) जो देवताओंके मध्यमें मुख्य रूपसे एकही देव था, हम (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस देवके लिये हवि समर्पण करते हैं ॥ २६ ॥

[१५११] हे (वायो) वायो ! तुम (याभिः नियुद्भिः इष्टये दुरोणे दाश्वांसं अच्छ प्रयासि) जिस अपने अश्वोंपर आरूढ होकर यज्ञके लिये यज्ञशालामें वर्तमान हवि देते यजमानके सन्मुख जाते हो, उसी वाहनसे यहां आकर (नः सुभोजसं रयिं नि युवस्व) हमारे लिये सुखभोग्यरूप धनको प्रदान कीजिये; (च वीरं गव्यं अश्व्यं राधः नियुवस्व) और वीर पुत्र, गोसम्बन्धी सम्पत्ति, अश्वरूप धन और श्रेष्ठ ऐश्वर्यको हमें देओ ॥ २७ ॥

[१५१२] हे (वायो) वायो ! तुम (शतिनीभिः सहस्रिणीभिः नियुद्भिः नः यज्ञं उप आयाहि) सैकडो, हजारों वाहनों द्वारा हमारे यज्ञमें आओ (अस्मिन् सवने मादयस्व) इस सवनमें तृप्त हो, और हम सबको तृप्त करो । हे ऋत्विजो ! (यूयं स्वस्तिभिः नः सदा पात) तुम कल्याणों द्वारा हमारी सदा रक्षा करो ॥ २८ ॥

[१५१३] (वायो) वायो ! तुम (सुन्वतः गृहं गन्ता असि) सोमयाग करनेवालेके घरमें गमन करता है, इस कारण (नियुत्वान् आगहि) अश्वारूढ होके इस स्थानमें आओ, (अयं शुक्रः ते अयामि) यह शुक्र तेरे समीप आ रहा है ॥ २९ ॥

[१५१४] हे (वायो) वायो ! (दिविष्टिषु मध्वः अग्रं शुक्रः ते अयामि) यज्ञोंमें मधुर रस यहां बल देनेवाला है उसके समीप आओ । हे (देव) दिव्य गुण युक्त वायो ! (स्पार्हः सोम पीतये नियुत्वता आयाहि) स्पृहाके योग्य तुम सोमपानके लिये अपने वाहनों द्वारा यहां आओ ॥ ३० ॥

[१५१५] (अग्रेगाः, यज्ञप्रीः, शिवः वायुः) आगे चलनेवाला, यज्ञसे तृप्त होनेवाला और कल्याणकारी वायु अपने (शिवाभिः नियुद्भिः मनसा साकम्) मंगल करनेवाले वाहनोंसे चित्तके सहित (यज्ञं गन्) यज्ञको गमन करे ॥ ३१ ॥

[१५१६] हे (वायो) वायो ! (ये ते सहस्रिणः रथासः, तेभिः नियुत्वान्) जो तुम्हारे हजारों रथ हैं, उन रथोंसहित अश्वयुक्त तुम, हमारे इस यज्ञमें (सोमपीतये आगहि) सोमपान करनेके निमित्त आगमन करो ॥ ३२ ॥

एकंया च दुशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यांमिष्टयें विंश्शती चं ।
तिसृभिश्च वहंसे त्रिंश्शतां नियुद्भिर्वायविह ता वि मुंञ्च ॥ ३३ ॥

तवं वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत । अवाꣳस्या वृंणीमहे ॥ ३४ ॥

अभि त्वां शूर नोनुमोऽदुंग्धा इव धेनवंः । ईशांनमुस्य जगंतः स्वर्दृशमीशांनमिन्द्र तस्थुषंः ॥ ३५ ॥

न त्वावाँ२ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जंनिष्यते ।
अश्वायन्तों मघवन्निन्द्र वाजिनों गव्यन्तंस्त्वा हवामहे ॥ ३६ ॥

त्वामिद्धि हवांमहे सातौ वाजंस्य कारवंः । त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पंतिं नरस्त्वां काष्ठास्ववंतः ॥ ३७ ॥

स त्वं नंश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अंद्रिवः ।
गामश्वꣳ रथ्यमिन्द्र सं किंर सत्रा वाजं न जिग्युषें ॥ ३८ ॥

[१५१७] हे (स्वभूते वायो) अपने ऐश्वर्यसे शोभायमान वायो ! (एकया च द्वाभ्यां च तिसृभिः च दशभिः च विंशतिः च त्रिंशता नियुद्भिः) एक और दो, और तीन तथा दश, और बीस तथा तीस वाहनों द्वारा (इष्टये वहसे विमुञ्च) यज्ञके निमित्त उनको इस यज्ञमें त्यागो ॥ ३३ ॥

[१५१८] (ऋतस्पते) सत्य पालक ! हे (त्वष्टुः जायातः अद्भुत वायु) त्वष्टाके जामाता आश्चर्यरूप वायो ! (तव अवांसि आवृणीमहे) तेरे रक्षा साधनोंको हम सब प्रकारसे स्वीकार करते हैं ॥ ३४ ॥

[१५१९] हे (शूर) बलशालिन ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! (अदुग्धाः धेनवः इव अभिनोनुमः) बिना दुही गायें जैसे अपने बछडेको दूध पिलानेके लिये सदा उसके सामने नमती हैं, उसी प्रकार (अस्य जगतः ईशानं, तस्थुषः ईशानं स्वर्दृशम्) इस जंगम जगतके अधिपति, स्थावर संसारके स्वामी और सर्वदर्शी तुमको हम सन्मुख होकर नमन करते हैं ॥ ३५ ॥

[१५२०] हे (मघवन्) धनवान् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर ! (त्वावान् अन्यः दिव्यः न) तुम्हारे समान कोई दिव्य देव नहीं है, (पार्थिवः न) पृथ्वीमें होनेवाला नहीं है, तुम्हारे समान कोई (न जातः) न उत्पन्न हुआ है और (न जनिष्यते) न उत्पन्न होगा, इस कारण (अश्वायन्तः गव्यान्तः वाजिनः त्वा हवामहे) अश्वोंकी इच्छावाले, गौवोंकी कामनावाले, बलकी इच्छासे हम तुम्हारे लिये हवन करते हैं ॥ ३६ ॥

[१५२१] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (कारवः नरः सत्पतिं त्वां इत् वाजस्य सातौ हवामहे) यज्ञके करनेवाले मनुष्य हम ऋत्विज गण, सत्पुरुषोंके पालक तुमकोही अन्नके लाभके लिये बुलाते हैं, (त्वां ही वृत्रेषु) तुमकोही, शत्रुओंके उपस्थित हो जानेपर उनके नाशके लिये आह्वान करते हैं; तथा (त्वां अर्वतः काष्ठासु) तुमकोही अश्वप्राप्तिके निमित्त एवं सम्पूर्ण दिशाओंमें विजय प्राप्तिके लिये आमन्त्रित करते हैं ॥ ३७ ॥

[१५२२] हे (चित्र वज्रहस्त इन्द्र) आश्चर्यकारी, हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्र ! (सः धृष्णुया महः स्तवानः त्वम्) वह प्रसिद्ध तुम, प्रगल्भतासे, अपने बडे तेजद्वारा ही सबसे स्तुति किये गये होकर तुम (नः गां रथ्यं सङ्किरः) हमारे लिये गौ और रथवहन समर्थ घोडोंको प्रदान करो, (न जिग्येषु सत्रा वाजम्) जिस प्रकार जयकारी पुरुषोंमें रक्षायुक्त साधन अन्नादि दिया जाता है उसी प्रकार तुम मेरे लिये भी करो ॥ ३८ ॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ ३९ ॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः । दृढा चिदारुजे वसु ॥ ४० ॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतये ॥ ४१ ॥

यज्ञा-यज्ञा वो अग्नये गिरा-गिरा च दक्षसे ।
प्र-प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥ ४२ ॥

पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥ ४३ ॥

ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
भुवद्वाजेष्ववविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥ ४४ ॥

[१५२३] (सदावृधः, चित्रः) सर्वदा वृद्धि करनेवाले और विचित्र शक्ति सम्पन्न हे इन्द्र ! तुम (कया ऊती, कया वृता शचिष्ठया) किस रक्षणादि सामर्थ्यसे और किस वर्तमान कर्मोंसे (नः सखा आभुवत्) हमारे सहायकारी मित्र होते हो ॥ ३९ ॥

[१५२४] हे एश्वर्य सम्पन्न इन्द्र ! (अन्धसः कः मदानाम् मंहिष्ठः त्वा मत्सत्) सोमरूप अन्नका कौनसा प्रसन्नताका महत्वपूर्ण अंश तुमको प्रसन्न करता है । जिस अंशसे प्रसन्न होकर तुम (दृढा वसु आरुजे) दृढतासे सुवर्णादि धनको देते हो ॥ ४० ॥

[१५२५] हे इन्द्र ! तुम (सखीनां जरितॄणां नः अविता) मित्रोंके और स्तुति करनेवाले हम ऋत्विजोंके पालन करनेवाले हो, तथा भक्तोंकी (ऊतये सु अभी शतं भवासि) रक्षाके निमित्त अच्छी प्रकार अभिमुख होते हुये तुम सैंकडों उपायोंका अवलम्बन करनेवाले होते हो ॥ ४१ ॥

[१५२६] हे मनुष्यो ! (यज्ञे यज्ञे च गिरा गिरा) हरएक यज्ञमें प्रत्येक वाणीसे (दक्षसे अग्नये वयम्) अत्यंत बलसम्पन्न अग्निके लिये हम (अमृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न प्र प्र शंसिषम्) मनोहर,सर्वज्ञ, प्रीतिजनक और मित्रके समान इन्द्रकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४२ ॥

[१५२७] हे (अग्ने) अग्ने ! हे (ऊर्जां पते) अन्नोंके पालन करनेवाले ! हे (वसो) सुन्दर निवास देनेवाले ! ऐसे गुणोंवाले तुम (एकया नः पाहि) एक ऋचा वाणी द्वारा हमारी रक्षा करो; (उत द्वितीयया पाहि) और दूसरी यजु लक्षण वाणी द्वारा हमारी रक्षा करो; (तिसृभिः गीर्भिः पाहि) ऋक् यजु साम लक्षणवाली तीन वाणियोंसे हमारी रक्षा करो और (चतसृभिः पाहि) ऋक् यजु साम अथर्व लक्षणवाली चारों वाणियोंसे हमारी रक्षा करो ॥ ४३ ॥

[१५२८] हे अध्वर्यो ! (सः ऊर्जः नपातं हिनु) वह तुम जलोंके पोते अग्निको तृप्त करो, (अयं अस्मयुः) यह हमको चाहता है, इस कारण (हव्यदातये दाशेम) हवि देनेके लिये हम संकल्प करते हैं, कारण कि, यह (वाजेषु अविता भुवत्) अन्नोंमें रक्षक होता है, (उत वृधे तनूनां त्राता भुवत्) और वृद्धिके निमित्त एवं शरीरों व भार्यापुत्रादिकोंका रक्षक होता है ॥ ४४ ॥

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि । उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्तांꣳ संवत्सरस्ते कल्पताम् । प्रेत्या एत्यै सं चाञ्च प्र च सारय । सुपर्णचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद ॥ ४५ ॥

[अ० १७, कं० ४५, मं० सं० ४५]

इति सप्तविंशोऽध्यायः ।

[१५२९] हे अग्ने ! तुम (संवत्सरः असि) संवत्सर हो, (परिवत्सरः असि) परिवत्सर हो, (इदावत्सरः असि) इदा वत्सर हो, (इद्वत्सरः असि) इद्वत्सर हो, (ते उषसः कल्पन्ताम्) तेरे लिये कल्याणकारिणी उषा प्रभातवेला समर्थ हों, (ते अहोरात्राः कल्पन्ताम्) तेरे लिये दिन और रातें मंगलदायक समर्थ हों, (ते अर्धमासाः कल्पन्ताम्) तेरे लिये शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष समर्थ हों, (ते मासाः कल्पन्ताम्) तेरे लिये चैत्र आदि महीने समर्थ हों, (ते ऋतवः कल्पन्ताम्) तेरे लिये वसन्तादि ऋतु समर्थ हों, (ते संवत्सरः कल्पताम्) तेरे लिये वर्ष समर्थ हों । तुम (प्रेत्यै च एत्यै) गमन निमित्त और आगमन निमित्त, (च समञ्च प्रसारय) तथा संकोच व प्रसारके लिये सृष्टिका आविर्भाव करते हो, तुम (सुवर्णचित् असि) सुन्दर रक्षाके साधनोंके संचयकर्ता हो, ऐसे तुम (तया देवतया अङ्गिरस्वत् ध्रुवः सीद) उस उत्तम गुणयुक्त समयरूप देवताके साथ अङ्गिरा अर्थात् प्राणवायुके समान दृढ निश्चल स्थिर होओ ॥ ४५ ॥

॥ सत्ताइसवां अध्याय समाप्त ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः ।

होता यक्षत्समिधेन्द्रमिडस्पदे नाभा पृथिव्या अधि ।
दिवो वर्ष्मन्त्समिध्यत ओजिष्ठश्चर्षणीसहा वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ १ ॥
होता यक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम् ।
इन्द्रं देवꣳ स्वर्विदं पथिभिर्मधुमत्तमैर्नराशꣳसेन तेजसा वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २ ॥
होता यक्षदिडाभिरिन्द्रमीडितमाजुह्वानममर्त्यम् ।
देवो देवैः सवीर्यो वज्रहस्तः पुरन्दरो वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३ ॥
होता यक्षद्बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम् ।
वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ४ ॥
होता यक्षदोजो न वीर्यꣳ सहो द्वार इन्द्रमवर्धयन् ।
सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे वि श्रयन्तामृतावृधो द्वार इन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ५ ॥

[१५३०] (होता समिधा इन्द्रं यक्षत्) होता समिधा द्वारा इन्द्रके लिये यज्ञ करता है, जो इन्द्र (इडः पदे, पृथिव्याः नाभौ, अधि दिवः वर्ष्मणि समिध्यते) पृथ्वीके यज्ञके प्रदेशमें, पृथ्वीके नाभि स्थानमें और ऊपर स्वर्गमें स्वतेजसे प्रकाशित होता है, वह इन्द्र (चर्षणिसहा ओजिष्ठः आज्यस्य वेतु) समस्त मनुष्योंको अपने पराक्रमसे वश करनेवालोंमें सबसे अधिक पराक्रमी वीर घृतको पान करे, हे (होतः) होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ १ ॥

[१५३१] (होता, तेजसा नराशंसेन) दिव्य होता तेजसे युक्त मनुष्योंसे प्रशंसनीय देवके सहित, (तनूनपातं, जेतारं, अपराजितं, स्वर्विदं देवं इन्द्रं) शरीरको न गिरने देनेवाले, शत्रुओंको जीतनेवाले, किसीसे न हारनेवाले, अपने वा स्वर्गको जाननेवाले, दिव्य गुणयुक्त इन्द्रको, (ऊतिभिः मधुमत्तमैः पथिभिः यक्षत्) तृप्त करनेवाले रक्षा साधनों और अत्यन्त मधुर हवियों द्वारा यजन करो । इस प्रकार देवताओंसे युक्त इन्द्र (आज्यस्य वेतु) घृतको पान करें । हे (होतः) होता ! तुम भी उसी प्रकार (यज) यजन करो ॥ २ ॥

[१५३२] (होता इडाभिः) दिव्य होता अच्छी वाणियोंके साथ (ईडितं, आजुहानं, अमर्त्यं इन्द्रं यक्षत्) वेदमन्त्रोंसे स्तुत, देवताओंके आह्वाता और मरणधर्मरहित इन्द्रके लिये यज्ञ करो, (देवैः सवीर्यः, वज्रहस्तः, पुरन्दरः देवः आज्यस्य वेतु) देवताओंसे बलयुक्त,वज्र हाथमें धारण किये हुये, शत्रुओंके नगरोंको विदीर्ण करनेवाले दिव्यगुण-युक्त इन्द्र घृतको पान करे । हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ३ ॥

[१५३३] (होता, निषद्वरं वृषभं नर्यापसं इन्द्रं बर्हिषि यक्षत्) दिव्य होताने, बैठनेवालोंमें श्रेष्ठ, वर्षणकारी, यजमानोंके हितकारी इन्द्रको कुशासन पर बैठनेपर यजन किया; वे (सयुग्भिः, वसुभिः, रुद्रैः आदित्यैः बर्हिः आसदत् आज्यस्य वेतु) समान योजना करनेवाले आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्योंके सहित कुशासन पर स्थित होकर घृतको पान करते रहें । उसी प्रकारसे हे (होतः) होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४ ॥

[१५३४] (होता इन्द्रं यक्षत्) होताने इन्द्रका यज्ञ किया, (न द्वारः, ओजः वीर्यं सहवर्धयत्) और द्वारदेवी प्रयाज देवताने, इन्द्रिय बल ओज, शरीरका बल वीर्य और मनके बलको इन्द्रमें बढाया । (सुप्रयाणाः ऋतावृधः द्वारः) सुखसे गमन योग्य और यज्ञके बढानेवाले द्वार, (मीढुषे इन्द्राय विश्रयन्ताम्) सिंचन करनेवाले इन्द्रके लिये खुल जांय, इन्द्र (अस्मिन् यज्ञे आज्यं वेतु) इस यज्ञमें घृतको पान करें । हे (होतः) होता ! तुम भी उसी प्रकारसे (यज) यज्ञ करो ॥ ५ ॥

होतां यक्षदुषे इन्द्रस्य धेनू सुदुघे मातरां मही ।
सवातरौ न तेजसा वत्समिन्द्रमवर्धतां वीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ ६ ॥

होतां यक्षद्दैव्या होतारा भिषजा सखाया हविषेन्द्रं भिषज्यतः ।
कवी देवौ प्रचेतसाविन्द्राय धत्त इन्द्रियं वीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ ७ ॥

होतां यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती भारती महीः ।
इन्द्रपत्नीर्हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ८ ॥

होतां यक्षत्त्वष्टारमिन्द्रं देवं भिषजं सुयजं घृतश्रियम् ।
पुरुरूपं सुरेतसं मघोनमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ९ ॥

होतां यक्षद्वनस्पतिं शमितारं शतक्रतुं धियो जोष्टारमिन्द्रियम् ।
मध्वा समञ्जन्पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ १० ॥

[१५३५] (होता इन्द्रस्य मातरा सुदुघे धेनू मही उषे यक्षत्) होताने इन्द्रकी मातृरूप सुन्दर दूधवाली धेनू और मही और उषाका यजन किया । उन्होंने (तेजसा इन्द्रं अवर्धताम्) तेजसे इन्द्रको बढाया, (न सवातरौ वत्सम्) जैसे समान बछडेवाली गौ अर्थात् जिन दो का एकही बछडा है वे गौवें बछडेको पुष्ट करती हैं, हे इन्द्र ! तुम (आज्यं वीताम्) घृतको पान करो। और हे (होतः) होता ! तुम भी इसी अभिप्रायसे (यज) यजन करो ॥ ६ ॥

[१५३६] (होता, भिषजा सखाया देवौ कवी प्रचेतसौ, दैव्या होतारौ, यक्षत्) दिव्य होताने, वैद्य मित्र-रूप दिव्यगुणोंसे दीप्यमान, क्रान्तदर्शी, प्रकृष्ट ज्ञानयुक्त देवताओंके होता दोनों अश्विनीकुमारोंका यजन किया । वे दोनों हविद्वारा (इन्द्रं भिषज्यतः इन्द्राय इन्द्रियं धत्तः, आज्यं वीताम्) इन्द्रकी चिकित्सा करते हुये, उस इन्द्रके लिये ऐश्वर्यका धारण करते रहे, और घृतका पान करते रहे । हे (होतः) होता ! इसी अभिप्रायसे तुम भी (यज) यज्ञ करो ॥ ७॥

[१५३७] (होता) होता ने (भेषजं त्रयः, त्रिधातवः अपसः महीः इन्द्रपत्नीः) भेषज युक्त तीनों लोक, अग्नि वायु सूर्य इन तीनोंके धारण करनेवाले, शीत उष्ण वात वर्षादि कर्म करनेवाले और महान् इन्द्रकी पत्नी अर्थात् पालन करनेवाली (न हविष्मतीः इडा सरस्वती भारती तिस्रः देवीः यक्षत्) और हविसे युक्त इडा सरस्वती तथा भारती इन तीनों देवियोंका यजन किया, उन्होंने (आज्यं व्यन्तु) घृतको पान किया । हे (होतः) होता ! तुम भी इसी अभिप्रायसे (यज) यज्ञ करो ॥ ८ ॥

[१५३८] (होता) होताने (इन्द्रं, देवं, भिषजं, सुयजं, घृतश्रियं, पुरुरूपं, सुरेतसं, मघोनं त्वष्टारं यक्षत्) परम ऐश्वर्य सम्पन्न, देनेवाले, रोगनिवारक, अच्छे यज्ञ करनेवाले, घृतकी शोभासे युक्त, बहुतरूपवाले, सुन्दर पराक्रम सम्पन्न और धनवान त्वष्टा देवका यज्ञ किया । (त्वष्टा इन्द्राय इन्द्रियाणि दधत्) त्वष्टा देवने इन्द्रके लिये नाना शक्तियोंका धारण किया, और (आज्यं वेतु) घृतका पान किया । हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी उसी अभिप्रायसे (यज) यज्ञ करो ॥ ९ ॥

[१५३९] (होता) होताने (शमितारं, शतक्रतुं, धियः जोष्टारं इन्द्रियं वनस्पतिं यक्षत्) शान्तिके संस्थापक, बहुत कर्मोंके संपादक, बुद्धिसे कार्य करनेवाले, इन्द्रके कार्य करनेवालेने वनस्पति देवका यज्ञ किया और वही (मध्वा समञ्जन् सुगेभिः पथिभिः मधुना घृतेन यज्ञं स्वदाति) स्वादु घृतसे यज्ञको भली प्रकार करते हुये सुन्दर मार्गोंसे, मधुर घृतद्वारा यज्ञको कराया, तथा (आज्यस्य वेतु) घृतका पान किया । हे (होतः) होता ! इसी अभिप्रायसे तुम भी (यज) यज्ञ करो ॥ १० ॥

होता यक्षदिन्द्रꣳ स्वाहाऽऽज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳ स्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳ
स्वाहा हव्यसूक्तीनाम् । स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा इन्द्र आज्यस्य व्यन्तु होतर्यज ॥ ११ ॥
देवं बर्हिरिन्द्रꣳ सुदेवं देवैर्वीरवत्स्तीर्णं वेद्यामवर्धयत् ।
वस्तोर्वृतं प्राक्तोर्भृतꣳ राया बर्हिष्मतोऽत्यगाद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ १२ ॥
देवीर्द्वार इन्द्रꣳ सङ्घाते वीड्वीर्यामन्नवर्धयन् । आ वत्सेन तरुणेन कुमारेण च
मीवतापार्वाणꣳ रेणुककाटं नुदन्तां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ १३ ॥
देवी उषासानक्तेन्द्रं यज्ञे प्रयत्यह्वेताम् ।
दैवीर्विशः प्रायासिष्टाꣳ सुप्रीते सुधिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १४ ॥
देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्रमवर्धताम् । अयाव्यन्याघा द्वेषाꣳस्यान्या
वक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १५ ॥

[१५४०] (होता इन्द्रम् स्वाहा यक्षत्) होताने इन्द्रके लिये स्वाहाकार पूर्वक यज्ञ किया, (आज्यस्य स्वाहा) घृतकी आहुति इन्द्रके निमित्त दी, (मेदसः स्वाहा) स्नेहयुक्त पदार्थोंसे देवोंको आहुति दी, (स्तोकानां स्वाहा) सोमरससे उनको आहुति दी, (स्वाहा स्वाहा कृतीनाम्) स्वाहाकारसे यजन किया, (स्वाहा हव्यसूक्तीनाम्) स्वाहाकारसे, हव्यसम्बन्धी सुवचनोंसे देवताओंका यजन किया, (जुषाणाः आज्यपाः देवाः इन्द्रः आज्यं व्यन्तु) स्वाहाकारसे प्रसन्न हुये घृतके पान करनेवाले देवता व इन्द्र घृतका पान करते रहें । हे (होतः) होता ! इसी अभिप्रायसे तुमभी (यज) यजन करो ॥ ११ ॥

[१५४१] होताके यज्ञसे जिस प्रकार (बर्हिष्यतः अति अगात्) अन्तरिक्षका वायु जलोंको उल्लंघन कर जाता है, जिसमें (वसुधेयस्य वसुवने, वेद्यां स्तीर्णं, वस्तोः वृत्तम्) धनोंका धारण होता है, जो धनोंके सेवने तथा हवनके कुण्डमें समिधा घृतादिसे रक्षा करने योग्य दिनमें स्वीकार किया गया है, और (अक्तोः भृतं प्र अवर्धयत्, वेतु) रात्रीमें हवन किया हुआ द्रव्यने निरोगिताको अच्छे प्रकारसे बढाया तथा सुखको प्राप्त कराया है, उसी प्रकार हे होता ! तुम भी (बर्हिः राया देवं देवैः वीरवत् सुदेवं इन्द्रं यज) अन्तरिक्षके निवासी धनके सहित, दिव्य गुणोंवाले देवोंसे युक्त, वीरजनोंसे युक्त श्रेष्ठ देव इन्द्रका यजन करो ॥ १२ ॥

[१५४२] (संघाते वीड्वी द्वारः देव्यः यामन् इन्द्रं अवर्धयन्) संघातमें बडी द्वारोंकी देवियां गमनकार्यमें इन्द्रको बढाती हैं, तथा (मीवता तरुणेन च कुमारेण वत्सेन आ अर्वाणम्) हिंसाशील तरुणकुमार वत्सका आगे गमन ये सब कार्य (रेणुककाटं अपनुदन्ताम्) धूलयुक्त बादलको दूर करते हैं । वे (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) धन देनेके लिये तथा यजमानके घरमें धन स्थिर करनेके लिये घृतपान करें । हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ १३ ॥

[१५४३] (सुप्रीते सुधिते उषासानक्ता यज्ञे प्रयति इन्द्रं अह्वेताम्) उत्तम प्रीतिमान, अच्छे प्रकारसे हितकारी उषा और रात्रीकी देवता यज्ञके प्रारंभमें इन्द्रको आह्वान करें । (दैवीः विशः प्रायासिष्टाम्) दैवी प्रजायें लगातार तैयारी करें । (वसुवने वसुधेयस्य वीतां, यज) यजमानकी धन प्राप्ति और स्थितिके लिये आज्यका पान करें । तुम उषासानक्त देवीविषयक यज्ञ करो ॥ १४ ॥

[१५४४] (जोष्ट्री शिक्षिते वसुधिती देवी देवं इन्द्रं अवर्धताम्) प्रीतियुक्त, सुशिक्षित, धनको धारण करनेवालीं और अहोरात्रकी देवी देव इन्द्रको बढाती हैं, उनमेंसे (अन्या अघा द्वेषांसि अयावि) एक पाप और दुर्भाग्यको दूर करती है, (अन्या वार्याणि वसु यजमानाय आवक्षत्) दूसरी स्वीकार करने योग्य धन यजमानके लिये प्रदान करती हैं । ये (वसुवने वसुधेयस्य वीताम् यज) यजमानकी वसु प्राप्ति और स्थितिके लिये आज्यका पान करें, और हे होता ! तुम भी उषासानक्ता देवी विषयक यजन करो ॥ १५ ॥

दे॒वी ऊ॒र्जाहु॑ती दु॒घे सु॒दु॒घे पय॒सेन्द्र॑मवर्धताम् ।
इष॒मूर्ज॑म॒न्या व॑क्ष॒त्सग्धि॒ꣳ सपी॑तिम॒न्या नवे॑न॒ पूर्व॒ं दय॑माने पु॒राणे॑न॒ नव॒मधा॑ता॒मूर्ज॑मू॒र्जाहु॑ती
ऊ॒र्जय॑माने॒ वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒ते व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ १६ ॥

दे॒वा दैव्या॒ होता॑रा दे॒वमिन्द्र॑मवर्धताम् ।
ह॒ताघ॑शꣳसावा॒भा॑र्ष्टां॒ वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒तौ व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ १७ ॥

दे॒वीस्ति॒स्रस्ति॒स्रो दे॒वीः पति॒मिन्द्र॑मवर्धयन् ।
अस्पृ॑क्ष॒द्भार॑ती॒ दिव॑ꣳ रु॒द्रैर्य॒ज्ञꣳ सर॑स्वती॒डा वसु॑मती गृ॒हान् व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु यज॑ ॥१८॥

दे॒व इन्द्रो॒ नरा॒शꣳस॑स्त्रिवरू॒थस्त्रि॑बन्धु॒रो दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत् ।
श॒तेन॑ शितिपृ॒ष्ठाना॒माहि॑तः स॒हस्रे॑ण॒ प्र व॑र्तते मि॒त्रावरु॒णेद॑स्य हो॒त्रमर्ह॑तो बृ॒हस्पति॑ स्तो॒त्रम॒श्विनाध्व॑र्यवं
वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥ १९ ॥

[१५४५] (ऊर्जाहुती दुघे, सुदुघे देवी पयसा इन्द्रं अवर्धताम्) अन्न जलके साथ बुलानेवाली, कामना-रूप दुग्धसे परिपूर्ण दोनों देवीयां दुग्धसे इन्द्रको बढाती हैं। उनमें (अन्या इषं ऊर्जं वक्षत्) एक अन्न और रसरूपी जलको ले आती है, और (अन्या सग्धिं सपीतिम्) दूसरी भोजनके साथ पानीकोभी साथ लाया करती है। (दयमान ऊर्जाहुती, ऊर्जं ऊर्जयमाने शिक्षिते, नवेन पूर्वं पुराणेन नवं अधाताम्) कृपायुक्त बलसे आह्वान करनेवाली, रसको बढानेवाली ज्ञानको जाननेवाली नवीन अन्नके परिवर्तनमें पुरातन और पुरातनके परिवर्तनमें नूतन अन्नको धारण करती हैं, और जो (वार्याणि वसु यजमानाय) वरणीय धन यजमानके लिये प्रदान करती हैं, ऐसे तुम दोनों (वसुधेयस्य वसुवने वीताम्) यजमानके धन प्राप्ति और उसके स्थितिके लिये घृतपान करो। हे (होता) होता ! तुम भी उषा-सानक्त देवी विषयक (यज) यजन करो ॥ १६ ॥

[१५४६] (हताघशंसौ शिक्षितौ दैव्या देवा होतारा देवं इन्द्रं अवर्धताम्) पापका दंड देनेवाली, दुष्ट पुरुषोंको नाश करके देवसम्बन्धी दिव्य गुणोंको देनेवालीं दोनों होतारूप शिक्षित देवियां इन्द्रको बढाती हैं। और वे (वार्याणि वसु यजमानाय अभार्ष्टाम्) वरणीय धन यजमानके लिये देती हैं, ऐसे वे दोनों देवियां (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) यजमानके धन प्राप्ति और उसके स्थितिके निमित्त घृतपान करें। हे होता ! तुम भी उषासानक्त देवीविषयक (यज) यजन करो ॥ १७ ॥

[१५४७] (तिस्रः देवीः पतिं इन्द्रं अवर्धयन्) तीनों देवियां पालक इन्द्रको बढाती हैं, (भारती दिवं रुद्रैः सरस्वती यज्ञं वसुमती इडा गृहान् अस्पृक्षत्) भारती द्युलोकको, रुद्रगणकी सहचारिणी सरस्वती यज्ञको और इडा भूलोकको स्पर्श करती हुई स्थित हुईं, इस प्रकारकी (तिस्रः देवीः वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) तीनों देवियां धनप्राप्ति और उसकी स्थितिके निमित्त घृत पान करें, हे होता ! तुम भी इसी अभिप्रायसे (यज) यजन करो ॥ १८ ॥

[१५४८] (नराशंसः, त्रिवरूथः, त्रिबन्धुरः, देवः देवं इन्द्रं अवर्धयत्) नराशंस यज्ञ, तीनों सभारूप गृहोंका स्वामी, ऋक् यजुः सामरूप तीन बन्धनोंसे युक्त यज्ञदेव, दिव्य इन्द्रको बढाता है। (शितिपिष्ठानां शतेन सहस्रेण आहितः प्रवर्तते) श्याम पृष्ठवाली गौवोंके सौ सहस्रोंसे युक्त हुआ कार्य करता है। (अस्य होत्रं मित्रा-वरुणा) इसके होताके कर्मको मित्रा वरुण सम्पादन कर रहे हैं, (स्तोत्रं बृहस्पतिः इत् आध्वर्यवं अश्विना अर्हतः) स्तोताके कर्मको बृहस्पति और अध्वर्यु कर्ममें दोनों अश्विनी कुमार योग्य संचालक हैं, ये सब (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानके धनप्राप्ति और स्थितिके निमित्त घृत भाग पान करें। हे होता ! तुम भी इसी प्रकार (यज) यजन करो ॥ १९ ॥

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो मधुशाखः सुपिप्पलो देवमिन्द्रमवर्धयत् ।
दिवमग्रेणास्पृक्षदान्तरिक्षं पृथिवीमदृंहीद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ २० ॥
देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रमवर्धयत् ।
स्वासस्थमिन्द्रेणासन्नमन्या बर्हीष्यभ्यभूद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ २१ ॥
देवो अग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रमवर्धयत् ।
स्विष्टं कुर्वन्त्स्विष्टकृत्स्विष्टमद्य करोतु नो वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ २२ ॥
अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन्पक्तीः पचन्पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय छागम् ।
सूपस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय छागेन ।
अघत्तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन । त्वामद्य ऋषे ॥ २३ ॥

[१५४९] (हिरण्यपर्णः मधुशाखः सुपिप्पलः वनस्पतिः देवः) सुवर्णमय पत्तोंसे युक्त, मधुमय शाखाओंके सहित और अति स्वादिष्ट फलोंसे भरे हुये वनस्पति देवने (देवैः, देवं इन्द्रं अवर्धयत्) देवताओंके सङ्ग कान्तिमान् इन्द्रको बढाया । जो वनस्पति (अग्रेण दिवं अस्पृक्षत) अग्रभागसे स्वर्गको स्पर्श करता है, मध्यभागसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको और मूलभागद्वारा (पृथिवीं आ अदृंहीत्) पृथ्वीको स्पर्श कर दृढ करता है, इन गुणोंसे युक्त वनस्पति देव (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानको धन देने और उसके दृढताके निमित्त घृतपान करें । हे होता ! तुम भी इसी प्रकारसे (यज) वनस्पति देवका यजन करो ॥ २० ॥

[१५५०] (वारितीनां देवं स्वासस्थं इन्द्रेण आसनं बर्हिः) जलोंके मध्यमें प्रकाशमान सुखासनमें बैठने योग्य इन्द्रके साथ आश्रित देवता, (देवं इन्द्रं अवर्धयत् अन्या बर्हींषि अभ्यभूत्) इन्द्र देवको बढाता हुआ अन्तरिक्षके अवयवोंको सब ओरसे व्याप्त करके (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानको धन देने और उसके दृढताके निमित्त घृतपान करें । हे मनुष्य होता ! तुम भी इसी प्रकारसे अनुयाज देवताका (यज) यजन करो ॥ २१ ॥

[१५५१] (स्विष्टकृत् देवः अग्निः) श्रेष्ठ अभिलाषा जिसके द्वारा पूर्ण होती है ऐसे प्रकाशमान् अग्नि, (देवं इन्द्रं अवर्धयत्) देव इन्द्रको बढाता है । (अद्य स्विष्टकृत् स्विष्टं कुर्वन् नः स्विष्टं करोतु) आज यह स्विष्टकृत् नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठकर्म करता हुआ हमारे निमित्त तुम उत्तम इष्टको सम्पादन करे । तथा (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानके लिये धन प्राप्ति और उसको स्थितिके निमित्त घृतभाग पान करो । हे होता ! तुम भी स्विष्टकृत अग्निदेवका (यज) यजन करो ॥ २२ ॥

[१५५२] (अद्य अयं यजमानः पक्तीः पचन्) आज यह यजमान पकाने योग्य चरुको पकाता हुआ, (इन्द्राय छागं बध्नन्) इन्द्रके लिये रोगोंको नष्ट करनेवाली बकरीके दूधके लिये बकरीको बांधता हुआ (होतारं अग्निं अवृणीत्) होता कर्ममें अग्निको वरण किया, और (अद्य देवः वनस्पतिः छागेन इन्द्राय सूपस्थः अभवत्) आज द्युतिमान् वनस्पति देव रोगनाशक बकरीके दूधके साथ इन्द्रके समीपवर्ती हुआ, और (मेदस्तः पचता अघस्तम्) दूधके सारभाग अर्थात् घृतसे सम्यक् पक्व हुई हवियोंको धारण किया तथा उन सबोंको (प्रत्यग्रभीत् पुरोडाशेन अवीवृधत्) ग्रहण करता हुआ पुरोडाशद्वारा इन्द्रको बढाया । हे (ऋषे) ऋषे ! (त्वा अद्य) तुमको भी आज इसी प्रकारसे करना चाहिये ॥ २३ ॥

होता यक्षत्समिधानं महद्यशः सुसमिद्धं वरेण्यमग्निमिन्द्रं वयोधसम्।
गायत्रीं छन्द इन्द्रियं त्र्यविं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २४ ॥
होता यक्षत्तनूनपातमुद्भिदं यं गर्भमदितिर्दधे शुचिमिन्द्रं वयोधसम्।
उष्णिहं छन्द इन्द्रियं दित्यवाहं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २५ ॥
होता यक्षदीडेन्यमीडितं वृत्रहन्तममिडाभिरीड्यꣳ सहः सोममिन्द्रं वयोधसम्।
अनुष्टुभं छन्द इन्द्रियं पञ्चाविं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २६ ॥
होता यक्षत्सुबर्हिषं पूषण्वन्तममर्त्यꣳ सीदन्तं बर्हिषि प्रियेऽमृतेन्द्रं वयोधसम्।
बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २७ ॥
होता यक्षद्व्यचस्वतीः सुप्रायणा ऋतावृधो द्वारो देवीर्हिरण्ययीर्ब्रह्माणमिन्द्रं वयोधसम्।
पङ्क्तिं छन्द इहेन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २८ ॥

[१५५३] (होता, गायत्री छन्दः, वीर्यं, त्र्यविं गां, वयः दधत्) दिव्य होता ने गायत्री छन्द, बल, डेढवर्ष की गाय और आयुको इन्द्रके यज्ञमें स्थापन किये, तथा (समिधानं महद्यशः समिद्धं वरेण्यं अग्निं वयोधसं इन्द्रं यक्षत्) दीप्तमान बडे यशसे प्रदीप्त वरणीय अग्निके लिये और आयुके देनेवाले इन्द्रके लिये यजन किये। वह यजमान इन्द्रके साथ (वेतु) घृत पान करे। हे (होतः) होता ! तुम भी उसी प्रकारसे (यज) यजन करो ॥ २४ ॥

[१५५४] (होता शुचिं उद्भिदं तनूनपातं अदितिः यं गर्भं दधे) होता, यज्ञफलोंके प्रकट करनेवाले अग्नि और अदितिने जिसको गर्भमें धारण किया, उस (वयोधसं इन्द्रं यक्षत्) आयु देनेवाले इन्द्रका यजन करे, और शुचि-देवताने (उष्णिहं छन्दः, इन्द्रियं दिव्यवाहं गां वयः दधत्) उष्णिक् छन्दके सहित इन्द्रिय दो वर्षकी गौ और आयुको इन्द्रमें धारण किया ऐसे तुम (वेतु) घृतपान करो। हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकारसे (आज्यस्य यज) घृतभागके द्वारा यजन करो ॥ २५ ॥

[१५५५] (होता) होता ! (ईडेन्यं ईडितं वृत्रहन्तमं इडाभिः ईड्यं वयोधसं सहः सोमं इन्द्रं यक्षत्) स्तुतिके योग्य, ऋषियोंसे प्रशंसित, वृत्रनाशक, उत्तम स्तुतियोंसे स्तुति करने योग्य, आयुके प्रदाता, बलसे सोमके समान प्रसन्न करनेवाले इन्द्रको यजन करे। (अनुष्टुभं छन्दः इन्द्रियं पञ्चाविं गां वयः दधत्) अनुष्टुप् छन्द, बल, ढाई वर्षकी गौ, पूर्ण आयु इन सबोंको इन्द्रकी प्रीतिके लिये करते हुये (वेतु) घृतपान करे। हे (होतः) होता ! तुम भी उसी प्रकारसे (आज्यस्य यज) घृतभागके द्वारा यजन करो ॥ २६ ॥

[१५५६] (होता) होता, (सुबर्हिषं, पूषण्वन्तं, अमर्त्यं, प्रिये, अमृते, बर्हिषि सीदन्तं वयोधसं इन्द्रं यक्षत्) श्रेष्ठ आसन पर बैठनेवाले, पोषणमें समर्थ, मरण धर्म रहित, रुचिर, अविनाशी, सुन्दर आसनों पर स्थित होनेवाले, आयुके प्रदाता इन्द्रके लिये यजन करो; (बृहती छन्दः इन्द्रियं त्रिवत्सां गां वयः दधत् वेतु) बृहती छन्द, बल, तीन वर्षवाली गाय और आयुको धारण करके घृत पान करे। हे (होता) मनुष्य होता ! तुम भी इसी प्रकारसे (आज्यस्य यज) घृत भागके द्वारा यजन करो ॥ २७ ॥

[१५५७] (होता) होता ! (व्यचस्वतीः सुप्रायणाः ऋतावृधः हिरण्मयीः द्वारः देवीः ब्रह्माणं यक्षत्) बडे अवकाशयुक्त, श्रेष्ठ गमन करनेवाली, सत्यकी वृद्धि करनेवाली द्वारदेवी महान् इन्द्रके लिये यजन करे। (पंक्ति छन्दः इन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयः इह दधत् व्यन्तु) पंक्ति छन्द, इन्द्रियबल, साढेतीन वर्षकी गौ और पूर्ण आयु यहां इस यज्ञमें अर्पण करके घृत पान करे। हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी इसी प्रकारसे (आज्यस्य यज) घृतभागके द्वारा यजन करो ॥ २८ ॥

होता यक्षत्सुपेशसा सुशिल्पे बृहती उभे नक्तोषासा न दर्शते विश्वमिन्द्रं वयोधसम् ।
त्रिष्टुभं छन्द इहेन्द्रियं पष्ठवाहं गां वयो दधद्वीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ २९ ॥
होता यक्षत्प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या कवी सयुजेन्द्रं वयोधसम् ।
जगतीं छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां वयो दधद्वीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ ३० ॥
होता यक्षत्पेशस्वतीस्तिस्रो देवीर्हिरण्ययीर्भारतीर्बृहतीर्महीः पतिमिन्द्रं वयोधसम् ।
विराजं छन्द इहेन्द्रियं धेनुं गां न वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३१ ॥
होता यक्षत्सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्धनꣳ रूपाणि बिभ्रतं पृथक् पुष्टिमिन्द्रं वयोधसम् ।
द्विपदं छन्द इन्द्रियमुक्षाणं गां न वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३२ ॥
होता यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुꣳ हिरण्यपर्णमुक्थिनꣳ रशनां बिभ्रतं वशिं
भगमिन्द्रं वयोधसम् । ककुभं छन्द इहेन्द्रियं वशां वेहतं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥३३॥

[१५५८] (होता) होता! (सुपेशसा सुशिल्पे बृहती दर्शने न उभे नक्तोषासा न विश्वं वयोधसं इन्द्रं यक्षत्) सुरूपवाली, सुन्दर शिल्पवाली, महान दर्शनीय नक्त और उषा आयु देनेवाले इन्द्रके लिये यजन करे। वे (त्रिष्टुभं छन्दः इन्द्रियं पष्ठवाहं गां वयः इह दधत् वीताम्) त्रिष्टुप् छन्द, बल, भारवहन करनेमें समर्थ वृष और पूर्ण आयुको इसमें स्थापन करके घृतपान करे । हे (होता) मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकार (आज्यस्य यज) घृतका यजन करो ॥ २९ ॥

[१५५९] (होता) होता! (प्रचेतसा देवानां उत्तमं यशः कवी सयुजा दैव्या होतारा) उत्तम चिंतन करनेवाला, देवताओंमें श्रेष्ठ यश सम्पन्न क्रान्तदर्शी, परस्पर सख्यभावसे युक्त दोनों होताओंके सहित (वयोधसं इन्द्रं यक्षत्) आयुधारक इन्द्रका यजन करे, और वे (जगती छन्दः, इन्द्रियं अनड्वाहं गां वयः दधत्, वीताम्) जगती छन्द, इन्द्रियबल, शकट वहन करनेमें समर्थ वृष और पूर्ण आयुको इन्द्रमें धारण कर घृतपान करे । हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकार (आज्यस्य यज) घृतका यजन करो ॥ ३० ॥

[१५६०] (होता) होता! (पेशस्वतीः हिरण्ययीः बृहती महीः भारतीः तिस्रः देवीः न वयोधसं पतिं इन्द्रं यक्षत्) सुंदररूपसे युक्त, सुवर्णमयी, बडे प्रभाववाली, तेजसे बडी इडा सरस्वती और भारती ये तीनों देवियां आयुके देनेवाले संरक्षक इन्द्रका यजन करे। वह (विराजं छन्दः इन्द्रियं धेनुं गां वयः इह दधत् व्यन्तु) विराट् छन्द, इन्द्रिय बल, दुधारी गौ तथा पूर्ण आयुको इस यजमानके साथ रखकर घृतपान करे । हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकार (आज्यस्य यज) घृतका यजन करो ॥ ३१ ॥

[१५६१] (होता) होता, (सुरेतसं, पुष्टिवर्धनं पृथक् रूपाणि पुष्टिं बिभ्रतं त्वष्टारं वयोधसं इन्द्रं यक्षत्) जगत् उत्पादक होनेसे सुन्दर वीर्यवाले, पुष्टिके बढानेवाले, विविध प्रकारके रूप और पुष्टिको धारण करनेवाले त्वष्टा देव और आयुके बढानेवाले इन्द्रको यजन करे । त्वष्टा देवता (द्विपदं छन्दः इन्द्रियं उक्षाणं गां नवयः दधत् वेतु) द्विपदा छन्द, बल पराक्रम, रेत सेचन समर्थ वृषभ और पूर्ण आयुको यजमानमें रखकर घृतपान करे । हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकार (आज्यस्य यज) घृतका यजन करो ॥ ३२ ॥

[१५६२] (होता) होताने (शमितारं, शतक्रतुं, हिरण्यपर्णं उक्थिनं रशनां बिभ्रतम्) हवियोंके संस्कारकर्ता, बहुत कर्म करनेवाले, सुवर्णमय पात्रसे युक्त, उक्थ शास्त्रसे सम्बन्धित, रज्जु धारण करनेवाले, (वशिं, भगं, वनस्पतिं वयोधसं, इन्द्रं यक्षत्) मनोहर भजन योग्य, वनस्पति और आयुके बढानेवाले इन्द्रका यजन करे, (ककुभं छन्दः इन्द्रियं वशां, वेहतं, गां वयः इह दधत् वेतु) ककुभ छन्दके सहित बल, वन्ध्या गौ, गर्भघातिनी गौ और पूर्ण आयुको इस यजमानमें धारण करते हुये घृतपान करे । हे (होतः) मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकारसे (आज्यस्य यज) घृतका यजन करो ॥ ३३ ॥

होता॑ यक्षत्स्वाहा॑कृतीरग्निं गृहप॑तिं पृथ॒ग्वरु॑णं भेषजं क॒विं क्षत्रमिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म् ।
अति॑च्छन्दसं॒ छन्द॑ इन्द्रि॒यं बृहदृ॑षभं गां वयो॑ दध॒द्व्यन्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥ ३४ ॥

दे॒वं ब॒र्हिर्व॑यो॒धसं॑ दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत् ।
गा॒य॒त्र्या छन्द॑सेन्द्रि॒यं चक्षु॒रिन्द्रे॒ वयो॑ दध॑द्वसु॒ने व॑सु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥ ३५ ॥

दे॒वीर्द्वारो॒ वयो॒धस॑ᳪ शुचि॒मिन्द्र॑मवर्धयन् ।
उ॒ष्णिहा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं प्रा॒णमिन्द्रे॒ वयो॑ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ३६ ॥

दे॒वी उ॒षासा॒नक्ता॑ दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम् ।
अ॒नु॒ष्टुभा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं ब॒लमिन्द्रे॒ वयो॑ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ३७ ॥

दे॒वी जोष्ट्री॒ वसु॑धिती दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम् ।
बृ॒ह॒त्या छन्द॑सेन्द्रि॒यᳪ श्रोत्र॒मिन्द्रे॒ वयो॑ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ३८ ॥

[१५६३] (होता) होता (पृथक् गृहपतिं वरुणं भेषजं कविं क्षत्रं, वयोधसं अग्निं इन्द्रं स्वाहा कृति यक्षत्) पृथक यज्ञमें गृहोंके स्वामी ऋत्विजोंमें वरणीय, रोगनाशक, क्रान्तदर्शी, रक्षा करनेवाले, आयुके दाता आगे चलनेवाले इन्द्र और स्वाहा कृती यजन करे, और (अतिच्छन्दसं छन्दः इन्द्रियं बृहत् ऋषभं गां वयः दधत् व्यन्तु) अतिच्छन्दसके सहित बल, महान पुष्ट वृषभ और पूर्ण आयुको यजमानमें स्थापन करके घृतपान करें। हे (होता) मनुष्य होता ! तुम भी उसी प्रकारसे (आज्यस्य यज) घृतका यजन करो ॥ ३४ ॥

[१५६४] (बर्हिः, देवं वयोधसं देवं इन्द्रं अवर्धयत्) बर्हि देवता तुम, दिव्य आयुके बढानेवाले देव इन्द्रको बढाते हुये (गायत्र्या छन्दसा चक्षुः इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत्) गायत्री छन्दके द्वारा नेत्र, बल, आयु इन्द्रमें स्थापन करके (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) धन प्राप्ति और स्थितिके निमित्त घृतपान करो, हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ३५ ॥

[१५६५] (द्वारः देवीः) यज्ञ द्वारकी देवियां, (उष्णिहा छन्दसा, प्राणं, इन्द्रियं, वयः इन्द्रे दधत्) उष्णिहाछन्दके द्वारा प्राण, इन्द्रिय बल और आयु इन्द्रमें धारण करती और (वयोधसं शुचिं इन्द्रं अवर्धयन्) आयु धारण करनेवाले, पवित्र इन्द्रको बढाती हुई (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) यजमानके धन प्राप्ति और स्थितिके निमित्त तुम घृत पान करो, हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ३६ ॥

[१५६६] (देवी उषासानक्ता देवी) देदीप्यमान उषा और नक्ता दोनों देवियां (अनुष्टुभा छन्दसा बलं इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत्) अनुष्टुभ छन्दके द्वारा बल, इन्द्रिय और आयु इन्द्रमें धारण करके, (वयोधसं देवं इन्द्रं अवर्धताम्) आयुके दाता देवता इन्द्रको बढाती हुई (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) धन प्राप्ति और दृढताके लिये घृतपान करें। हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ३७ ॥

[१५६७] (देवी जोष्ट्री वसुधिती देवी) दीप्यमान, परस्पर प्रीति करनेवाली, धनको धारण करनेवाली उषा और नक्ता दोनों देवियां (बृहत्या छन्दसा श्रोत्रं इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत्) बृहती छन्दद्वारा कर्ण, इन्द्रिय और आयुको इन्द्रमें धारण करके (देवं वयोधसं देवं इन्द्रं अवर्धताम्) प्रकाशमान् आयुके प्रदाता देव इन्द्रको बढाती हुई (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) धनप्राप्ति और उसकी दृढताके निमित्त घृतपान करें। हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ३८ ॥

+

देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्धताम् ।
पङ्क्त्या छन्दसेन्द्रियꣳ शुक्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ३९ ॥
देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रं वयोधसं देवौ देवमवर्धताम् ।
त्रिष्टुभा छन्दसेन्द्रियं त्विषिमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ४० ॥
देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्धयन् ।
जगत्या छन्दसेन्द्रियꣳ शूषमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४१ ॥
देवो नराशꣳसो देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्धयत् ।
विराजा छन्दसेन्द्रियꣳ रूपमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४२ ॥
देवो वनस्पतिर्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्धयत् ।
द्विपदा छन्दसेन्द्रियं भगमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४३ ॥

[१५६८] (दुघे सदुघे देवी ऊर्जाहुती देवी) कामना दोहनमें समर्थ, सुन्दर प्रकार कामनाओंको पूर्ण करनेवालीं, प्रकाशमान् अन्नजलको देनेवाली दोनों देवियाँ (पंक्त्या छन्दसा शुक्रं इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत्) पंक्ति छन्द द्वारा वीर्य, इन्द्रिय, आयु इन्द्रमें धारण करके अपने (पयसा वयोधसं देवं इन्द्रं अवर्धताम्) दुग्धसे आयुदाता देव इन्द्रको बढाती हुई (वसुवने, वसुधेयस्य वीताम्) धन प्राप्ति और उसकी दृढताके निमित्त घृतपान करें। हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ३९ ॥

[१५६९] (दैव्या, देवा होतारा देवा) दिव्य गुणोंसे युक्त दीप्तमान् दोनों होता देवता (त्रिष्टुभा छन्दसा त्विषिं इन्द्रियं आयु इन्द्रे दधत्) त्रिष्टुभ् छन्दद्वारा, कान्ति, इन्द्रिय और आयुको इन्द्रमें धारण करके (वयोधसं देवं इन्द्रं देवं अवर्धताम्) आयुके प्रदाता, प्रकाशमान् इन्द्रदेवको बढाते हुये (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) यजमानकी धन प्राप्ति और उसकी दृढताके लिये घृतपान करें। हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४० ॥

[१५७०] (तिस्रः देवीः जगत्या छन्दसा शूषं इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत्) तीनों देवियां इडा, सरस्वती और भारती जगती छन्द द्वारा बल इन्द्रिय और आयु इन्द्रमें धारण करके (वयोधसं पतिं इन्द्रं अवर्धयन्) उन्नके देनेवाले, पालक इन्द्रको बढाती हुई, (तिस्रः देवीः वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) तीनों देवियां यजमानके धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त घृतपान करें। हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४१ ॥

[१५७१] (देवः नराशंसः देवः) दिव्यगुण युक्त, मनुष्योंसे स्तुतिको प्राप्त यज्ञदेवता (विराजा छन्दसा रूपं, इन्द्रियं, वयः इन्द्रे दधत्) विराट् छन्दद्वारा, रूप इन्द्रिय, आयु इन्द्रमें धारण करके (देवं वयोधसं देवं इन्द्रं अवर्धयत्) प्रकाशमान् आयुके देनेवाले देव इन्द्रको बढाते हुए (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानके धन प्राप्ति और दृढताके लिये घृतपान करे। हे होता ! (यज) यजन करो ॥ ४२ ॥

[१५७२] (देवः वनस्पतिः देवः) दीप्तमान वनस्पति देवता (द्विपदा छन्दसा भगं इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत्) द्विपाद छन्द द्वारा सौभाग्यरूप इन्द्रिय और आयु इन्द्रमें धारण करके (देवं वयोधसं देवं इन्द्रं अवर्धयत्) दीप्तिमान् आयु प्रदान करनेवाले देवता इन्द्रको बढाते हुये (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) धनकी प्राप्ति और दृढताके लिये घृतपान करे। हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४३ ॥

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रं वयोधसं देवं देवमवर्धयत् ।
ककुभा छन्दसेन्द्रियं यश इन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४४ ॥
देवो अग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रं वयोधसं देवमवर्धयत् ।
अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४५ ॥
अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन्पक्तीः पचन्पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय वयोधसे छागम् ।
सूपस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे छागेन ।
अघत्तं मेदस्तः प्रतिपचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन । त्वामद्य ऋषे ॥ ४६ ॥

[अ० १८, कं० ४६, मं० सं० ५०]

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः ।

[१५७३] (वारितीनां देवं बर्हिः देवं) जलसे उत्पन्न होनेवाली औषधि उसके मध्यमें प्रकाशमान् कुशाका अधिष्ठाता देव (ककुभाछन्दसा यशः इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत्) ककुभ छन्द द्वारा कीर्ति, इन्द्रिय और आयु इन्द्रमें धारण करके (देवं वयोधसं इन्द्रं देवं अवर्धयत्) दीप्तिमान् आयुके देनेवाले इन्द्र देवको बढाता हुआ (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानके धन प्राप्ति और बृढताके निमित्त घृतपान करे । हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४४ ॥

[१५७४] (देवः स्विष्टकृत् देवः अग्निः) दिव्यगुण युक्त, शोभनकर्ता देव अग्नि (अतिछन्दसा छन्दसा क्षत्रं इन्द्रियं वयः इन्द्रे दधत) अतिछन्द छन्दद्वारा छत्रसे त्राणरूप शक्ति, आयु इन्द्रमें धारण करके (देवं वयोधसं देवं इन्द्रं अवर्धयत्) प्रकाशमान् आयुके प्रदाता देव इन्द्रको बढाता हुआ (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानको धन-प्राप्ति व दृढ स्थितिके निमित्त घृतपान करे । हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४५ ॥

[१५७५] (अद्य अयं यजमानः पक्तीः पचन्) आज यह यजमान पकाने योग्य चरुको पकाता हुआ, (वयोधसे इन्द्राय छागं बध्नन्) आयुके बढानेवाले इन्द्रके लिये रोग नाशक बकरीके दूधके लिये बकरीको बांधता हुआ (होतारं अग्निं अवृणीत्) होता कर्ममें अग्निको वरण किया, और (अद्य देवः वनस्पतिः छागेन इन्द्राय सूपस्थः अभवत्) आज तेजस्वी वनस्पति देव रोगनाशक बकरीके दूधके साथ इन्द्रके समीपवर्ती हुआ । और (मेदस्तः पचता अघत्तम्) दूधके सारभाग अर्थात् घृतसे सम्यक पक्व हुई हवियोंको धारण किया, तथा उन सबोंको (प्रत्यग्रभीत् पुरोडाशेन अवीवृधत्) ग्रहण करता हुआ पुरोडाशके दान द्वारा इन्द्रको बढाया । हे (ऋषे) ऋषे ! (त्वा अद्य) तुमको भी आज इसी प्रकारसे करना चाहिये ॥ ४६ ॥

॥ अट्ठाइसवां अध्याय समाप्त ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत्पिन्वमानः ।
वाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम् ॥ १ ॥

घृतेनाञ्जन्त्सं पथो देवयानान् प्रजानन् वाज्यप्येतु देवान् ।
अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताᳬ स्वधामस्मै यजमानाय धेहि ॥ २ ॥

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते ।
अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वह्निं वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम् ।
देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु ॥ ४ ॥

एता उ वः सुभगा विश्वरूपा वि पक्षोभिः श्रयमाणा उदातैः ।
ऋष्वाः सतीः कवषः शुम्भमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु ॥ ५ ॥

[१५७६] हे (जातवेदः अग्ने) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले अग्ने ! (समिद्धः मतीनां कृदरं अञ्जन्) अच्छी प्रकार प्रदीप्त हुये तुम बुद्धिमान ऋत्विगादिके मानसभावको प्रकट करते हुये (वाजी मधुमत् घृतं पिन्वमानः) बलवान् स्वादिष्ठ घृतको सेवन कर और (वाजिनं वहन्) अन्नरूप हविको देवताओंके देनेके उद्देश्यसे वहन करते हुये (देवानां सधस्थं प्रियं आवक्षि) देवोंके सहस्थायी गणके प्रियको प्राप्त कराओ ॥ १ ॥

[१५७७] (वाजी, घृतेन देवयानान् पथः समञ्जन्) अश्व, घृतद्वारा देवताओंके गमनयोग्य मार्गका सिंचन करता हुआ, (प्रजनन्) देवोंके हविको जानता हुआ, (देवान् अप्येतु) देवताओंको प्राप्त हो । हे (सप्ते) अश्व ! (प्रदिशः त्वा अनुसचन्ताम्) दिशाओंमें रहे प्राणी तुमको प्राप्त करें अर्थात् देखें, तुम (अस्मै यजमानाय स्वधां देहि) इस यजमानके लिये अन्नका प्रदान करो ॥ २ ॥

[१५७८] हे (वाजिन् सप्ते ईड्यः च वन्द्यः असि) हे वेगवान् अश्व ! तुम स्तुतियोग्य और नमन करने योग्य हो । (च आशु च मेध्यः असि) और शीघ्र ही यज्ञके लिये योग्य पवित्र हो । (वसुभिः देवैः सजोषाः जातवेदाः अग्निः) वसु देवताओंके सहित प्रीति करनेवाला ज्ञानी अग्नि, (प्रीतं वह्निं) तुष्ट हुये हविके वहनकर्ता (त्वा वहतु) तुमको देवताओंमें पहुंचा देवे ॥ ३ ॥

[१५७९] (स्तीर्णं पृथु प्रथमानं बर्हिः) फैलाये हुए, विस्तृत विख्यात व्यापक आसनपर बैठी (देवेभिः युक्तं जुषाणा स्योनं कृण्वाना) दैवी शक्तियोंसे युक्त, सबको प्राप्त और सुख देनेवाली (अदितिः) अखण्ड शक्ति अदिति (सुविते दधातु) उत्तम प्रगतिशीलमें बल धारण करे ॥ ४ ॥

[१५८०] हे यजमानो ! (वः एताः द्वारः देवीः) तुम्हारे यह यज्ञ स्थानके द्वारकी देवियें (सुभगः विश्वारूपाः उत् आतैः पक्षोभिः विश्रयमाणाः) उत्तम ऐश्वर्ययुक्त, नाना रूपोंसे युक्त, ऊँचे विस्तारवाले, पक्षरूप विभागोंसे युक्त और (ऋष्वाः, सतीः कवषः शुम्भमानाः सुप्रयाणाः वि उ भवन्तु) गमनागमनके उपयोगी, श्रेष्ठ समीचीन, खोलने व बन्द करनेमें शब्द करनेवाली, शोभायमान, सुखसे ले जाने योग्य और विशेष अन्यगुणोंसे युक्त कपाटोंवाली हों ॥५॥

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने ।
उषासा वांꣳ सुहिरण्ये सुशिल्पे ऋतस्य योनाविह सादयामि ॥ ६ ॥

प्रथमा वांꣳ सरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा ।
अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारा ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳ सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत् ।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त ॥ ८ ॥

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः ।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्तारमिह यक्षि होतः ॥ ९ ॥

अश्वो घृतेन त्मन्या समक्त उप देवाँ२ ऋतुशः पाथ एतु ।
वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निना हव्या स्वदितानि वक्षत् ॥ १० ॥

[१५८१] (मित्रावरुणा अन्तरा सञ्चरन्ती) मित्र और वरुणके मध्यमें विचरण करनेवालीं (यज्ञानां मुखं अभि संविदाने) यज्ञोंके मुख अर्थात् अग्निहोत्रके विषयको स्पष्ट शब्दोंसे कहनेवाली, (सुहिरण्ये सुशिल्पे उषासा वाम्) अच्छी ज्योतिसे युक्त, निपुण शिल्पियोंसे रचित उषा और नक्ता दोनों देवियां तुमको, मैं (ऋतस्य योनौ सादयामि) सत्यके स्थानरूप इस यज्ञमें स्थापन करता हूं ॥ ६ ॥

[१५८२] (वां) तुम दोनों (प्रथमा सरथिना सुवर्णा देवौ विश्वा भुवनानि पश्यन्तौ) मुख्य रथारूढ, अच्छे वर्णोंवाली उषा और नक्तायें दोनो देवियां सम्पूर्ण विश्वको देखती हुई और (वां चोदना मिमाना) तुम दोनोंसे निजकर्ममें प्रेरणा लेनेवाली तथा (प्रदिशा ज्योतिः दिशन्तौ होतारा) सब दिशाओंमें प्रकाश फैलाते हुये इन दोनों देवी होताओंका (अपि प्रियम्) मैंने प्रिय किया ॥ ७ ॥

[१५८३] (आदित्यैः भारती नः यज्ञं वष्टु) द्वादश आदित्योंके साथ भारती हमारे यज्ञको चाहे, (उपहूता वसुभिः रुद्रैः सह सजोषा सरस्वती इडा नः आवीत्) प्रेमसे बुलाई हुई वसुओं व रुद्रोंके साथ प्रीतिसे रहनेवाली सरस्वती और इडादेवी हमारे यज्ञकी रक्षा करें । हे (देवीः) दिव्यगुणोंवाली देवियो ! (नः यज्ञं अमृतेषु धत्त) हमारे यज्ञको देवताओंमें स्थापन करो ॥ ८ ॥

[१५८४] (त्वष्टा देवकामं वीरं जजान) त्वष्टा देवता दिव्य कामनावाले वीर पुत्रको उत्पन्न करता है, (त्वष्टुः अर्वा आशुः अश्वः जायते) त्वष्टादेवसे शीघ्रगामी त्वरासे कर्म करनेवाला अश्व अर्थात् सूर्य उत्पन्न होता है, और (त्वष्टा इदं विश्वं भुवनं जजान) त्वष्टा परमात्माही यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न करता है । हे (होतः) होता ! इस प्रकार (बहोः कर्तारं इह यक्षि) बडे जगत्‌के निर्माण करनेवाले परमात्माका इस यज्ञमें पूजन करो ॥ ९ ॥

[१५८५] (घृतेन त्मन्या समक्तः अश्वः) घृतद्वारा आत्मासे सम्यकरूपसे सींचा हुआ सूर्य (पाथः ऋतुशः देवं उपैतु) अन्नरूप हविसे युक्त ऋतुओंसे देवोंको प्राप्त हो । और (देवलोकं प्रजानन् वनस्पतिः) देवलोकको जानता हुआ वनस्पति देवता (अग्निना स्वदितानि हव्या वक्षत्) अग्निके द्वारा स्वादिष्ट हवियोंको अन्य देवताओंको प्राप्त करावें ॥ १० ॥

प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने ।
स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात् ।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन् ॥ १२ ॥

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ १३ ॥

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन ।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥ १४ ॥

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे ।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥ १५ ॥

[१५८६] हे (अग्ने) अग्ने ! (प्रजापतेः तपसा वावृधानः) प्रजापतिके तेजरूपतपसे वृद्धिको प्राप्त और (सद्यः जातः यज्ञं दधिषे) तत्कालही अरणिसे प्रकट होनेवाले तुम यज्ञको धारण करते हो, ऐसे तुम (स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगाः याहि) स्वाहा कहकर हवन किये हविद्वारा अग्रगामी होकर आगे गमन करो। और (साध्याः देवाः हविः अदन्तु) साध्य देवता हविको भक्षण करें ॥ ११ ॥

[१५८७] हे (अर्वन्) वेगवान् अश्व ! (यत् प्रथमं समुद्रात् जायमानः) जिस कारण तुम प्रथम समुद्रसे उत्पन्न हुये, (उत वा पुरीषात् उद्यन् अक्रन्दः) अथवा उत्पत्तिस्थानसे उत्पन्न होकर शब्द करने लगे, तब (ते महि उपस्तुत्यं जातम्) तुम्हारी महिमा स्तुतिके योग्य हुई, जैसे (श्येनस्य पक्षौ, हरिणस्य बाहू) बाजपक्षीके पक्ष पक्ष शूरतासे और हरिणके अर्थात् हरणशील वीरके बाहू स्तुति योग्य होते हैं ॥ १२ ॥

[१५८८] (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुगणोंने सूर्यमण्डलसे अश्वको निकाला, फिर (त्रितः यमेन दत्तं एणं आयुनक्) तीनों लोकोंमें विचरण करनेवाले वायुने यम द्वारा दिये हुये अश्वको रथमें लगाया (प्रथमः इन्द्रः एनं अध्यतिष्ठत्) सबसे पहले इन्द्र इस अश्व पर आरूढ हुआ, (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात्) गन्धर्वने इसकी रशना ' लगाम ' ग्रहण की ॥ १३ ॥

[१५८९] हे (अर्वन्) वेगवान् अश्व ! तुम (गुह्येन व्रतेन यमः असि) गुप्त व्रतके कारण यम हो, (आदित्यः असि) आदित्य हो, (त्रितः असि) तीन स्थानमें स्थित वायु वा इन्द्र हो, (सोमेन समया विपृक्तः असि) सोमके साथ एकत्वको प्राप्त हुये हो, और (दिवि ते त्रीणि बन्धनानि आहुः) द्युलोकमें तुम्हारे तीन प्रकारके बन्धनों हैं ऐसा कहते हैं ॥ १४ ॥

[१५९०] हे (अर्वन्) अश्व ! (यत्रा ते परमं जनित्रं आहुः) जहां तुम्हारा परम उत्कृष्ट उत्पादक सूर्य है ऐसा कहा है, (दिवि ते त्रीणि बन्धनानि आहुः) द्युलोकमें तुम्हारे तीन बन्धन कहे हैं, (अप्सु त्रीणि, अन्तः समुद्रे त्रीणि) जलोंमें तीन और अन्तरिक्षके मध्यमें तीन बन्धन कहे हैं, (उतेव वरुणः मे आच्छन्त्सि) और वरुण रूपमें तुम मेरी प्रशंसा करते हो ॥ १५ ॥

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानांᳩ सनितुर्निधाना ।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः ॥ १६ ॥

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।
शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ॥ १७ ॥

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः ।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानडादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ॥ १८ ॥

अनु त्वा रथो अनु मर्यो अर्वन्ननु गावोऽनु भगः कनीनाम् ।
अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते ॥ १९ ॥

हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इन्द्र आसीत् ।
देवा इदस्य हविरद्यमायन् यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ॥ २० ॥

[१५९१] हे (वाजिन्) अश्व ! (ते इमा अवमार्जनानि अपश्यम्) तुम्हारे यह मार्जनके साधनोंको मैं देखता हूं, (शफानां सनितुः इमा निधाना) खुरोंके खोदे हुये यह स्थान देखता हूं, और (अत्र ते भद्राः रशना गोपाः) यहां तुम्हारे कल्याण करनेवाले रज्जू हैं, वे तुम्हारी रक्षा करनेवाले हैं, उसको देखता हूं, (याः ऋतस्य अभिरक्षन्ति) जो इस यज्ञकार्यके करनेवालेकी रक्षा करते हैं ॥ १६ ॥

[१५९२] हे अश्व ! (अवः दिवापतङ्गं पतयन्तं ते आत्मानं) नीचेके देशसे आकाशमार्ग द्वारा सूर्यके प्रति प्राप्त होते तुम्हारे आत्माको (मनसा आरात् अजानाम्) मनसे दूर गया जानता हूं । और (सुगेभिः अरेणुभिः पथिभिः जेहमानम्) सुखसे जाने योग्य उपद्रव वा रज रहित मार्गों द्वारा जाते हुये (पतत्रि शिरः अपश्यम्) गमन वा तुम्हारा पतनशील शिर देखता हूं ॥ १७ ॥

[१५९३] हे अश्व ! (अत्रागोः पदे ते उत्तमं इषः) यहां इस सूर्यके मण्डलमें तेरे श्रेष्ठ अन्न हवियोंको और (जिगीषमाणं रूपं आ अपश्यम्) जीतनेकी इच्छा करनेवाले रूपको देखता हूं। और (मर्तः यदा ते भोगं अन्वानट्) मनुष्यने जिस समय तेरे हविरूप भोगको समर्पण किया (आत् इत्) उसके अनन्तर ही (ग्रसिष्ठः ओषधीः अजीगः) अतिशय भोजन करनेवाले तुमने हविरूप ओषधीको भक्षण किया ॥ १८ ॥

[१५९४] हे (अर्वन्) अश्व ! (रथः त्वा अनु) रथ तुम्हारे पीछे चलता है, (मर्यः अनु) सारथ्यमें मनुष्य तुम्हारा अनुसरण करता है, (कनीनां भगः अनु) कन्याओंका सौभाग्य तुम्हारा अनुसरण करता है, (व्रातासः तव सख्यं अन्वीयुः) मनुष्य समूहने तुम्हारे सख्यताको प्राप्त किया है और (देवाः ते वीर्यं अनु ममिरे) देवताओंने तुम्हारे सामर्थ्यको वर्णन किया है ॥ १९ ॥

[१५९५] (यः प्रथमः हिरण्यशृङ्गः अर्वन्तं अध्यतिष्ठत्) जो मुख्य सुवर्णवत् दीप्तिमान् अथवा सुवर्णका मुकुट धारण किये अश्वपर स्थित हुआ, वह (अवरः इन्द्रः आसीत्) नवीन इन्द्र था। (अस्य पादाः अयः मनोजवाः) जिसके टांगें लोहेके सदृश और मनके समान वेगवाले हैं। (देवा इत् अस्य अद्यं हविः आयन्) देवगणोंनेही इसके भोजनरूप हविको प्राप्त किया है ॥ २० ॥

ईर्मान्तासः शिलिकमध्यमासः सꣳ शूरणासो दिव्यासो अत्याः ।
हꣳसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥ २१ ॥

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वात इव ध्रजीमान् ।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥ २२ ॥

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः ।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः ॥ २३ ॥

उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वाँ२ अच्छा पितरं मातरं च ।
अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्या अथा शास्ते दाशुषे वार्याणि ॥ २४ ॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ २५ ॥

[१५९६] (इत् ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः शूरणासः दिव्यासः अत्या अश्वाः) जिस समय, जघन और वक्षस्थलमें पुष्टि, मध्यभागमें कृश, अति पराक्रमी रविके रथके दिव्य और निरन्तर गमनशील घोडे (श्रेणिशः हंसा इव संयतन्ते) पंक्तिमें रहकर हंसोंके सदृश गमनमें उत्तम रीतिसे यत्न करते हैं, उस समय वे (दिव्यं अज्मं आक्षिषुः) स्वर्गीय गमनमार्गको प्राप्त करते हैं अर्थात् स्वर्गमार्गसे गमन करते हैं ॥ २१ ॥

[१५९७] हे (अर्वन्) अश्व ! (तव शरीरं पतयिष्णु) तुम्हारा शरीर उत्पतनशील है, (तव चित्तं वातः इव ध्रजीमान्) तुम्हारा चित्त पवन सदृश गतिमान है, और (पुरुत्रा विष्ठिता जर्भुराणा तव शृंगाणि) विशेष प्रकारसे स्थित विकसित तुम्हारी दीप्तियें (अरण्येषु चरन्ति) वनोंमें दावाग्नि रूपसे विचरण करती हैं अर्थात् फैलती हैं ॥ २२ ॥

[१५९८] जो (दीध्यमानः अजः वाजी अर्वा) सुन्दर प्रकाशमान, शत्रुओंको दूर हटानेवाला, वेगवान् और चपल घोडा (देवद्रीचा मनसा शमनं उप प्र अगात्) देवताओंको प्राप्त होता हुआ मनसे, जिसमें हिंसा होती है उस युद्धको अच्छे प्रकार समीपसे प्राप्त होता है। (अस्य नाभिः पुरः नीयते) इसके मध्य भागके ऊपर बैठकर इसको आगे ले जाया जाता है, और (पश्चात् रेभाः कवयः अनुयन्ति) इसके पीछेसे स्तुति करनेवाले बुद्धिमान् कवि गमन करते हैं ॥ २३ ॥

[१५९९] (अर्वान् यत् परमं सधस्थं उप अगात्) ज्ञानी बलवान् पुरुष जब सबसे उत्तम सभाभवनको प्राप्त होता है, और (पितरं च मातरम्) पालक पिता और सम्मान योग्य माताको भी साक्षात् करता है, तब वह (अद्य जुष्टतमः देवान् गम्याः) आज इसी समय अत्यन्त प्रेमयुक्त होकर विद्वन् पुरुषोंको प्राप्त होता है। (अथ दाशुषे वार्याणि आशास्ते) और दानशील पुरुषोंके लिये उत्तम उत्तम वस्तुओंको प्रदान करता है ॥ २४ ॥

[१६००] हे (मित्रमहः) मित्रपूजक ! हे (जातवेदः) प्रज्ञानयुक्त अग्नि ! (अद्य समिद्धः देवः) आज प्रदीप्त और दिव्य गुणयुक्त तुम (मनुषः दुरोणे देवान् आवह) मनुष्य यज्ञगृहमें देवताओंको बुलाओ (च यजसि) और यज्ञ कार्य करो। (त्वं चिकित्वान्, कविः प्रचेतः दूतः असि) तुम उत्तम चेतनावान्, क्रान्तदर्शी, उत्कृष्ट ज्ञानी और देवताओंके दूत हो ॥ २५ ॥

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २६ ॥
नराशꣳसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः ।
ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २७ ॥
आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ २८ ॥
प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ २९ ॥
व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ३० ॥
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियꣳ शुक्रपिशं दधाने ॥ ३१ ॥

[१६०१] हे (तनूनपात्) शरीरका पतन न होने देनेवाले अग्ने ! हे (सुजिह्वः) सुन्दर जिह्वावाले ! तुम (ऋतस्य यानान् पथः मध्वा समञ्जन्) सत्य यज्ञके योग्य मार्गोंको मधुर रससे सींचते हुये (स्वदय) हवि भक्षण करो । (च धीभिः मन्मानि उत यज्ञं ऋन्धन्) और बुद्धियोंके सहित ज्ञान और यज्ञको समृद्ध करते हुये (नः अध्वरं देवत्रा कृणुहि) हमारे यज्ञको देवताओंके पास पहुंचने योग्य करो ॥ २६ ॥

[१६०२] (यज्ञैः यजतस्य) यज्ञ द्वारा पूजित (नराशंसस्य महिमानं एषां उपस्तोषाम्) प्रजापति वा अग्निकी महिमा की इन देवताओंके मध्यमें हम स्तुति करते हैं। (ये सुक्रतवः शुचयः धियन्धाः देवाः उभयानि हव्या स्वदन्ति) जो अच्छे कर्मवाले, पवित्र दीप्तिमान्, बुद्धिका धारण करनेवाले देवता दोनों प्रकारकी हवियोंसे भोजन करते हैं ॥ २७ ॥

[१६०३] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम (आजुह्वानः ईड्यः वन्द्यः च वसुभिः सजोषाः आयाहि) देवताओंको बुलानेवाले, स्तुति योग्य वन्दनीय और वसुगणोंसे समान प्रीति करनेवाले हो, ऐसे गुणोंवाले तुम वहां आगमन करो । (यह्व त्वं देवानां होता असि) महत्वसे युक्त तुम देवताओंके होता हो, (सः इषितः यजीयान् एनान् यक्षि) वह प्रसिद्ध याजकोंमें श्रेष्ठ तुम इन देवताओंके लिये यज्ञ करो ॥ २८ ॥

[१६०४] हे मनुष्यो ! जो (अस्याः पृथिव्याः प्राचीनं बर्हिः) इस भूमिके मध्यमें प्राचीन और बडा ब्रह्म है वह (वस्तोः वृज्यते) दिनके प्रकाशसे अलग रहता है (अह्नां अग्रे देवेभ्यः उ अदितये वितरम्) दिनोंके आरंभके प्रातःकालमें विद्वानों और अविनाशी अदितिके लिये विशेष दुःखोंको पार करके (वरीयः स्योनं वि प्रथते) अति श्रेष्ठ सुखको प्रकट करता है, उसको तुम लोक (प्रदिशः) श्रुति वाक्योंसे जानो और प्राप्त होओ ॥ २९ ॥

[१६०५] (न पतिभ्यः जनयः व्यचस्वतीः शुम्भमानाः उर्विया) जिस प्रकार अपने पतिके लिये स्त्रियां विविध प्रकारसे प्रगति करनेवाली, उत्तम शोभासे युक्त होकर सब प्रकारसे आराम देती हैं, उसी प्रकारसे (देवीः द्वारः बृहतीः विश्वमिन्वाः देवेभ्यः सुप्रायणाः भवत) दिव्य गुणोंसे युक्त यज्ञद्वारकी देवियां विशाल हृदयवाली अर्थात् अवकाश युक्त, सबके लिये गमनागमन स्थानको देनेवालीं और देवताओंके लिये सुखपूर्वक प्राप्त होनेवाली हों ॥ ३० ॥

[१६०६] (सुष्वयन्ती यजते उपाके दिव्ये बृहती) उत्तम प्रकारसे अपना कार्य करनेवाली, यजनयोग्य, परस्पर समीपस्थ दिव्य स्थानमें रहनेवाली, महान् (सुरुक्मे शुक्रपिशं श्रियं अधिदधाने उषासानक्ता योनौ आनिसदताम्) सुन्दर आभरणसे युक्त, शुक्ल और पिशङ्ग शोभाको धारण करनेवाली उषा और रात्री देवी यज्ञस्थानमें आकर अच्छी प्रकारसे विराजमान होवें ॥ ३१ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ३२ ॥
आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदᳪ स्योनᳪ सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥ ३३ ॥
य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिᳪशद्भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ३४ ॥
उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवीᳪषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ ३५ ॥
सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतᳪ हविरदन्तु देवाः ॥ ३६ ॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ३७ ॥

[१६०७] (दैव्याः होतारा) दोनों दिव्य होता (प्रथमा सुवाचा कारू, प्राचीनं ज्योतिः) पहिली सुन्दर वचनवाली स्वयं करनेवाली, पूर्वदिशामें होनेवाली आहवनीय ज्योतिको (प्रदिशा दिशन्तः मनुष्यः यजध्यै मिमाना) श्रुतिवाक्यसे आज्ञा देते हुये, अर्थात् यजन करो इस प्रकार कहते हुये, मनुष्योंके यज्ञको निर्माण करते, और (विदथेषु प्रचोदयन्ता) यज्ञोंमें ऋत्विगादिकोंको प्रेरणा करते हैं ॥ ३२ ॥

[१६०८] (इह मनुस्वत् चेतयन्ती) यहां इस कर्ममें मनुष्यके समान ज्ञानका बोध कराती हुई (भारती इडा सरस्वती नः यज्ञं तूयं आ एतु) भारती इडा सरस्वती हमारे यज्ञको शीघ्र प्राप्त हों, और (स्वपसः तिस्रः देवीः इदं स्योनं बर्हिः आसदन्तु) शोभन कर्म करनेवाली तीनों देवियां इस सुख आसनपर स्थित हों ॥ ३३ ॥

[१६०९] हे (होतः) होता ! (यजीयान् विद्वान् इषितः) यजन करनेवाले विद्वान् और ज्ञानी तुम (अद्य तं त्वष्टारं देवं इह यक्षि) आज उस त्वष्टा देवके लिये यहां इस यज्ञमें यजन करो । (यः इमे द्यावापृथिवी, विश्वा भुवनानि रूपैः अपिंशत्) जो ये द्यु और पृथ्वीलोक तथा सम्पूर्ण भुवनोंको नाना रूपोंद्वारा रंजित करता है॥३४॥

[१६१०] हे होता ! (देवानां पाथः मधुना समञ्जन्) देवताओंके हविको मधुर रस और घृतसे सींचते हुये (ऋतुथा त्मन्या हवींषि उपावसृज) यज्ञ समयमें स्वयं हवियोंको प्रदान करो और (वनस्पतिः शमिता देवः अग्निः हव्यं स्वदन्तु) वनस्पति, शमितादेव और अग्नि हविके योग्य पदार्थको प्राप्त हो अर्थात् हवन किया पदाथ उनको पहुँचे ॥ ३५ ॥

[१६११] (सद्यः जातः अग्निः) तत्काल प्रकट हुआ अग्नि (देवानां पुरोगाः अभवत्) देवताओंके अग्रगामी हुआ, तदनन्तर (अस्य होतुः ऋतस्य प्रदिशि वाचि स्वाहाकृतं हविः देवाः अदन्तु) इन देवताओंके बुलानेवाले, यज्ञके पूर्व दिशामें आहवनीय रूपसे स्थित अग्निके द्वारा वाणीमें अर्थात् वागिन्द्रिय स्वरूप मुखमें स्वाहाकार द्वारा हुत हुये हविको देवतागण भक्षण करें ॥ ३६ ॥

[१६१२] हे अग्ने ! (अकेतवे मर्याः केतुम्) अज्ञानी पुरुषोंके लिये ज्ञान और (अपेशसे पेशः कृण्वन्) जिसके पास उत्तम वर्ण वा रूप नहीं है उनको उत्तम वर्ण वा रूप प्रदान करते हुये (उषद्भिः समजायथाः) उषाओंके साथ सम्यक् रूपसे प्रकट होते हो ॥ ३७ ॥

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे ।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳ स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु ॥ ३८ ॥

धन्वना गा धन्वनाऽऽजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम ।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥ ३९ ॥

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳ समने पारयन्ती ॥ ४० ॥

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे ।
अप शत्रून् विध्यताꣳ संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् ॥ ४१ ॥

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य ।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥ ४२ ॥

रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरो यत्र-यत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ॥ ४३ ॥

[१६१३] (यत् वर्मी समदाम् उपस्थे याति) जब कवच पहने हुये वीर योधा पुरुष संग्रामोंमें जाता है तब (प्रतीकं जीमूतस्य इव) उस कवचधारी वीरका स्वरूप मेघके समान होता है। हे वीर पुरुष ! (त्वं अनाविद्धया तन्वा जय) तू ऐसे युद्धमें भी विना चोट खाये सुरक्षित शरीरसे अपना विजय प्राप्त कर, (वर्मणः सः महिमा त्वा पिपर्तु) कवचका वह महान् सामर्थ्य तेरी रक्षा करे ॥ ३८ ॥

[१६१४] (धन्वना गाः जयेम) धनुषसे गौओंको जीतेंगे (धन्वना आजिम्) धनुषसे युद्धमें जय करें, (धन्वना तीव्राः समदः जयेम) धनुषसे उग्र मदमत्त हाथी, घोडे और पदातीसे युक्त तीव्र संग्रामोंको जय करें, (धनुः शत्रोः अपकामं कृणोति) मेरा धनुष शत्रुका पराजय करता है, ऐसे (धन्वना सर्वाः प्रदिशः जयेम) धनुषके प्रतापसे सम्पूर्ण दिशाओंको जय करें ॥ ३९ ॥

[१६१५] (इयं समने पारयन्ती) यह संग्राममें विजय करनेवाली (ज्या धन्वन् आधि वितता योषा इव शिंक्ते) प्रत्यञ्चा धनुपपर चढाई हुई, स्त्रीके समान अव्यक्त शब्द करती है, वह (प्रियं सखायं परिषस्वजाना) प्रिय बाणरूप मित्रको आलिङ्गन करती हुई (इत् वक्ष्यन्ती इव कर्णं आ गनीगन्ति) और कहनेकी इच्छा करती हुई सी योधाके कानपर्यन्त आती है ॥ ४० ॥

[१६१६] (समना योषा इव आचरन्ती) समान मनवाली अर्थात् पतिके साथ एक मनवाली स्त्रीके समान आचरण करती हुई (संविदाने अमित्रान् विस्फुरन्ती) परस्पर संकेत करती, दुश्मनोंके प्रति द्वेष करनेवाली (ते इमे आर्त्नी उपस्थे बिभृताम्) वे यह दोनों धनुकोटी मध्यमें शर धारण करनेवाली हैं, (इव माता पुत्रम्) जैसे माता पुत्रको गोदमें धारण करती है, इस प्रकारकी यह धनुष्यकी डोरी (शत्रून् अपविध्यताम्) शत्रुओंको ताडन करे ॥ ४१ ॥

[१६१७] (इषुधिः बह्वीनां पिता) तूण वा तरकस बहुतसे बाणोंका पिता है, (अस्य पुत्रः बहु) इसके पुत्र बाण बहुत हैं, (समना अवगत्य चि आकृणोति) संग्राममें जा कर वह पुत्र रूप बाण 'चि' शब्द करता है, (च पृष्ठे निरुद्धः प्रसूतः सर्वाः सङ्काः पृतना जयति) और पृष्ठ स्थान पर बंधा हुआ, आज्ञा दिया हुआ, सम्पूर्ण योधाओंको सेनाओंमें जीतता है ॥ ४२ ॥

[१६१८] (रथे तिष्ठन् सुसारथिः यत्र यत्र कामयते) रथमें रहा अच्छा सुशिक्षित सारथी जहां जहां जानेकी इच्छा करता है, (पुरः वाजिनः नयति) आगे रहे घोडोंसे वहीं वहीं पहुंचाता है, अर्थात् स्वइच्छानुसार रथको ले जाता है। (अभीशूनां महिमानं पनायत्) बागडोरकी महिमाको भी जानो जो (रश्मयः पश्चात् मनः अनुगच्छन्ति) रश्मियां पीछे होती हुई घोडेके मनको वश करती हैं ॥ ४३ ॥

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः ।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँरनपव्ययन्तः ॥ ४४ ॥
रथवाहनꣳ हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म ।
तत्रा रथमुप शग्मꣳ सदेम विश्वाहा वयꣳ सुमनस्यमानाः ॥ ४५ ॥
स्वादुषꣳसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥ ४६ ॥
ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।
पूषा नः पातु दुरिताद्दृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत ॥ ४७ ॥
सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यꣳसन् ॥ ४८ ॥

[१६१९] (वृषपाणयः तीव्रान् घोषान् कृण्वते) घोडे जिनके हाथमें हैं वे अश्ववाले पुरुष तीव्र जयघोष करते हैं, और (रथेभिः सह वाजयन्तः) रथोंके साथ चलते हुये घोडे, (प्रपदैः अमित्रान् अवक्रामन्तः) खुरोंसे शत्रुओंको ताडन करते हुये, (अनपव्ययन्तः अश्वाः शत्रून् क्षिणन्ति) नाश न होनेवाले वे समर्थ घोडे वैरियोंका नाश करते हैं ॥ ४४ ॥

[१६२०] (अस्य रथवाहनं नाम हविः) इस रथके, रथका धारण करनेवाला इससे रथवाहन नाम शकट है, (यत्र अस्य वर्म आयुधं निहितम्) जहां जिसमें इस योधाका कवच और आयुध स्थापित है, (तत्रा विश्ववाहा सुमनस्यमानाः वयम्) वहां सदा अच्छे मनवाले हम (शग्मं रथं उपसदेम) सुखकारी रथको रखते हैं ॥ ४५ ॥

[१६२१] (स्वादुषंसदः पितरः) सुखसे बैठनेवाले पितर (वयोधाः कृच्छ्रेश्रियः शक्तीवन्तः गभीरा, चित्रसेनाः इषुबलाः, अमृध्राः उरवः व्रातसाहाः) अन्न वा आयुको धारण करनेवाले, कष्टसे सेवा करनेवाले, सामर्थ्य सम्पन्न बुद्धिवाले, उत्तम सेनासे सज्ज, शस्त्रअस्त्रोंके साथ, कठीन अर्थात् दृढ शरीरवाले, विशाल जंघा और चौडी छातीवाले और शूर शत्रु समूहोंके जीतनेको हरण करनेवाले वीर सेनामें रहें ॥ ४६ ॥

[१६२२] (ब्राह्मणसः सोम्यासः पितरः ऋतावृधः नः) विद्वान् ब्राह्मण, सोमके रसका सेवन करनेवाले पितर हमारी रक्षा करें । (शिवेन अनेहसा द्यावापृथिवी पूषा नः पातु) कल्याण कारिणी, अपराध रहित होनेसे अपराधोंको दूर करनेवाली द्यावा पृथ्वी और पूषा हमारी रक्षा करें । यही पूषा (दुरितात् रक्ष) पापोंसे हमारी रक्षा करें; और (किः अघशंसः नः मा ईषत) कोई भी दुष्ट हमारे ऊपर शासन करनेमें समर्थ न हो अर्थात् हम पर कोई भी दुष्ट शासन न करे ॥ ४७ ॥

[१६२३] यह बाण (सुपर्णं वस्ते) पक्षीके पिच्छोंको धारण करता है, (अस्याः दन्तः मृगः) इसके फल शत्रुओंके शोध करनेवाला हैं, यह (गोभिः सन्नद्धः प्रसूता पतन्ति) स्नायु द्वारा बंधा हुआ धनुष धारियोंसे प्रेषित हुआ शत्रुपर गिरता है, (च यत्र नरः सन्द्रवन्ति) और जहां मनुष्य योधा अच्छे प्रकारसे जाते हैं, (च विद्रवन्ति) तथा अनेक तरहकी गति करते हैं, (तत्र इषवः अस्मभ्यं शर्म अयंसन्) वहां यह बाण हमारे लिये कल्याणको प्राप्त करानेवाले हों ॥ ४८ ॥

ऋजीते परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः । सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥४९॥

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ२ उप जिघ्नते । अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय ॥ ५० ॥

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः ।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः ॥ ५१ ॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ ५२ ॥

दिवः पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ ५३ ॥

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ५४ ॥

[१६२४] हे (ऋजीते) ऋजुगामी बाण ! (नः परिवृङ्धि) हमको त्यागो अर्थात् हमपर मत गिरो । (नः तनूः अश्मा भवतु) हमारा शरीर पाषाणतुल्य दृढ हो, (सोमः नः अधि ब्रवीतु) सोम हमारे लिये अधिक कहें अर्थात् हमारे वाक्यका अनुमोदन करें और (अदितिः शर्म यच्छतु) अदिति हमारे लिये सुख प्रदान करे ॥ ४९ ॥

[१६२५] हे (अश्वाजनि) अश्वोंके प्रेरक कशा ! तुम (समत्सु प्रचेतसः अश्वान् चोदय) संग्राममें शूरतायुक्त चित्तवाले घोडोंको प्रेरणा करो, जिस तेरे द्वारा घोडेपरके वीर (एषां सानु आजङ्घन्ति) इन घोडोंके सानुतुल्य मांसलअङ्गोंमें ताडन करते हैं, और (जघनान् उपजिघ्नते) कटिभागमें आघात करते हैं ॥ ५० ॥

[१६२६] (हस्तघ्नः बाहुं अहिः इव भोगैः परि एति) हाथमें बंधी डोरीके आघातोंसे बार बार ताडित होनेवाला हाथबन्द नामक हाथका कवच जिस प्रकार बाहुको सांपके समान अपने अङ्गोंसे बाहु पर चारों ओरसे लिपट लेता है और (ज्यायाः हेतिं परिबाधमानः) धनुष्यकी डोरीके आघातको बचाता हुआ हाथकी रक्षा करता है, इसी प्रकार अपने हाथोंसे शस्त्रास्त्र चलानेसें कुशल पुरुष अपने रक्षक साधनोंसे, (विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् विश्वतः परिपातु) सब प्रकारके ज्ञानों और युद्धकलाको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने नगरवासी जनोंको सब ओरसे भलीप्रकार रक्षा करे ॥ ५१ ॥

[१६२७] हे (वनस्पते) मुख्य सेनापुरुषोंके पालक सेनापते ! तू (अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः वीड्वङ्गः भूयः) हमारा मित्र, संकटोंसे पार करनेवाला, श्रेष्ठ वीरोंसे युक्त स्वयं वीर दृढ अङ्गोंवाला होकर रह । तू (गोभिः संनद्धः असि) अपने मुख्य नायकके आज्ञा किये वाणियोंसे अच्छी प्रकार बंधा हुआ है, (वीडयस्व) अत्यधिक वीरतापूर्ण कार्य कर, और (ते अस्थाता जेत्वानि जयतु) तेरे आश्रयपर रहनेवाला तेरा अधिष्ठाता भी रथीके समान विजय करने योग्य सभी पदार्थोंको जीते ॥ ५२ ॥

[१६२८] हे विद्वन् ! तुम (दिवः पृथिव्याः उद्भृतं ओजः परियज) सूर्य और पृथ्वीसे उत्कृष्टतापूर्वक धारण किये ओजको सब ओरसे प्रदान करो, (वनस्पतिभ्यः आभृतं सहः परि) वनस्पतियोंसे भली प्रकार पुष्ट किये बलको सब ओरसे प्रदान करो, (अपां ओज्मानं परि) जलोंके सम्बन्धसे पराक्रमवाले रसको चारों ओरसे दो, तथा (इन्द्रस्य गोभिः आवृतं वज्रं रथं हविषा यज) सूर्यकी किरणोंसे युक्त चमकते हुये वज्रको और रथको उसके ग्रहण करनेवाले उपाय द्वारा प्राप्त करो ॥ ५३ ॥

[१६२९] हे (देव रथ) दिव्यगुण युक्त रमणीय स्वरूप रथ ! (हव्यदातिम् जुषाणः) देने योग्य पदार्थोंके दानको सेवन करते हुये, (सः) वह प्रसिद्ध तुम (इन्द्रस्य वज्रः, मरुतां अनीकं, मित्रस्य गर्भः, वरुणस्य नाभिः) इन्द्रका वज्र, मरुतोंकी सेना, मित्रके अन्तःकरणका आशय और उत्तम जनके आत्माका मध्यवर्ती जो विचार है उसको, (नः हव्या प्रति गृभाय) हमको और ग्रहण करने योग्य वस्तुओंको स्वीकार करो ॥ ५४ ॥

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ ५५ ॥
आ क्रन्दय बलमोजो न आधा निष्टनिहि दुरिता बाधमानः ।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ ५६ ॥
आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ५७ ॥
आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः
शिल्पो वैश्वदेव ऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माष ऐन्द्राग्नः संहितोऽधोरामः सावित्रो
वारुणः कृष्ण एकशितिपात्पेत्वः ॥ ५८ ॥
अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ सावित्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ
पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कल्माष आग्नेयः कृष्णोऽजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः ॥ ५९ ॥

[१६३०] हे (दुन्दुभे) दुन्दुभे ! (पृथिवीं उत द्यां उपश्वासय) पृथ्वी और द्युलोकको ध्वनियुक्त करो, (विष्ठितं जगत् पुरुत्रा ते मनुताम्) विविध प्रकारसे स्थित स्थावर जंगमात्मक जगत् बहुत प्रकारसे तुमको जाने, (सः) वह प्रसिद्ध तुम (इन्द्रेण देवैः सजूः दूराद्दवीयः शत्रून् अपसेधय) इन्द्र और देवताओंसे प्रेम करनेवाले अति दूर शत्रुओंको हटा दो ॥ ५५ ॥

[१६३१] हे (दुन्दुभे) दुन्दुभी रूपी देवी ! तुम (बलं आक्रन्दय) शत्रुओंकी सेनाको रुलाओ, (नः ओजः आधाः) हमको तेज धारण कराओ, हमारी (दुरिता बाधमानः निष्टनिहि) पापों अथवा दुःखोंको निराकरण करते उपदेश करो, (इतः दुच्छुना अपप्रोथ) इधर हमारी सेनाके समीपसे दुष्ट शत्रुओंको नाश करो ! तुम (इन्द्रस्य मुष्टि असि वीडयस्व) इन्द्रके मुष्ठि सदृश हो हमको दृढ करो ॥ ५६ ॥

[१६३२] हे इन्द्र ! तुम (अमूः आ अज) इन शत्रुसेनाओंको सब ओरसे हटाओ, (दुन्दुभिः केतुमत् वावदीति) दुन्दुभि पताकापूर्वक शब्द करती है । तुम (इमाः प्रत्यावर्तय) इन हमारी सेनाओंको जयके साथ लौटाओ, (नः अश्वपर्णाः नरः सञ्चरन्ति) हमारे घोडोंके समान शीघ्रगामी मनुष्य योधा फिरते हैं, (अस्माकं रथिनः जयन्तु) हमारे रथारोही वीरगण जय प्राप्त करें ॥ ५७ ॥

[१६३३] (कृष्णग्रीवः आग्नेयः) कृष्णग्रीवावाला पशु अग्निदेवता सम्बन्धी है, (मेषी सारस्वती) मेषी सरस्वती देवतावाली है, (बभ्रुः सौम्यः) पिङ्गलवर्ण पशु सोमदेवतावाला है, (श्यामः पौष्णः) श्यामवर्ण पशु पूषा देवता सम्बन्धी है, (शितिपृष्ठः बार्हस्पत्यः) कृष्णपृष्ठ पशुका बृहस्पति देवतासे सम्बन्ध है, (शिल्पः वैश्वदेवः) विचित्र वर्णके पशु विश्वदेवा देवतासे सम्बन्धित हैं, (अरुणः ऐन्द्रः) अरुण रङ्गका पशु इन्द्र देवतासे सम्बन्धित है, (कल्माषः मरुतः) कबरे रङ्गवाला पशु मरुत देवतासे सम्बन्धित है, (संहितः ऐन्द्राग्नयः) दृढ अङ्गवाला पशु इन्द्र और अग्नि देवतासे सम्बन्धित है, (अधोरामः सावित्रः) नीचे स्थानमें श्वेत रङ्गवाले पशु सूर्यसे सम्बन्धित हैं और (एकशितिपात् कृष्णः पेत्वः वारुणः) एक पैर श्वेत और सब अङ्ग कृष्ण ऐसे वेगवान् पशुका देवता वरुण है ॥ ५८ ॥

[१६३४] (रोहिताञ्जिः अनड्वान् अनीकवते अग्नये) लाल तिलकवाला वृष सेनामुखवाले अग्निके प्रीतिके लिये है, (अधोरामौ सावित्रौ) नीचे देशमें श्वेत वर्णवाले दो पशु सविता देवतावाले हैं, (रजतनाभी पौष्णौ) नाभी स्थानमें रजतवत् शुक्लवर्णवाले दो पशु पूषा देवतावाले हैं, (पिशङ्गौ तूपरौ वैश्वदेवौ) पीतवर्ण शृङ्ग रहित दो पशु विश्वदेवा देवतावाले हैं, (कल्माषः मारुतः) कबरा पशु मरुत् देवतावाला है, (कृष्णः अजः आग्नेयः) श्याम वर्ण अज अग्नि देवतावाला है, (मेषी सरस्वती) मेषी सरस्वती देवतावाली है, और (पेत्वः वारुणः) पतनशील वेगवान पशु वरुण देवता सम्बन्धी है ॥ ५९ ॥

अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपाल इन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालो मित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभाभ्यामेकविंशाभ्यां वैराजाभ्यां पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय चरुः सवित्र औष्णिहाय त्रयस्त्रिंशाय रैवताय द्वादशकपालः प्राजापत्यश्चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्या अष्टाकपालः ॥ ६० ॥

[अ० २९, कं० ६०, मं० सं० ६०]

इत्येकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

[१६३५] (गायत्र्या त्रिवृत्ते रथन्तराय अग्नये अष्टाकपालः) गायत्री छन्द त्रिवृत् स्तोम रथन्तर सामसे स्तुत अग्निके निमित्त अष्टाकपालमें संस्कार किया पुरोडाश हवि है, (त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हताय इन्द्राय एकादश कपालः) त्रिष्टुप् छन्द पञ्चदशस्तोम बृहत्सामसे स्तुति किये इन्द्रके निमित्त ग्यारह कपालमें संस्कार की हुई हवि है, (जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यः वैरूपेभ्यः विश्वेभ्यः देवेभ्यः द्वादश कपालः) जगती छन्द सप्तदश स्तोम वैरूपसामसे स्तुत विश्वे देवताओंके निमित्त द्वादश कपालमें संस्कार की हुई है, (अनुष्टुभाभ्यां एकविंशाभ्यां वैराजाभ्यां मित्रावरुणाभ्यां पयस्या) अनुष्टुप् छन्द एकविंश स्तोम वैराजसामसे स्तुति किये मित्रावरुण देवताओंके निमित्त दूधकी चरु है, (पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय बृहस्पतये चरुः) पंक्तिच्छन्द त्रिनवस्तोम शाक्वरसामसे स्तुत्य बृहस्पति देवताके निमित्त भी चरु है, (औष्णिहाय त्रयस्त्रिंशाय रैवताय सवित्रे द्वादश कपालः) उष्णिक छन्द त्रयस्त्रिंशस्तोम रैवतसामसे स्तुति किये सविता देवताके निमित्त द्वादशकपालमें संस्कार किया पुरोडाश है, (प्राजापत्यः चरुः) प्रजापतिके निमित्त चरु, (विष्णुपत्न्यै अदित्यै चरुः) विष्णु पत्नी और अदितिके लिये हवनीय पदार्थ, (वैश्वानराय अग्नये द्वादशकपालः) वैश्वानर गुणयुक्त अग्निके लिये द्वादशकपाल पुरोडाश और (अनुमत्यै अष्टाकपालः) अनुमति देवताके निमित्त अष्टाकपाल पुरोडाश करना चाहिये ॥ ६० ॥

॥ उनतीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः ।

देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ १ ॥
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २ ॥
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ ३ ॥
विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः । सवितारं नृचक्षसम् ॥ ४ ॥

[१६३६] (१) [(१) सत्कर्मकी प्रेरणा, सत्कर्मकी रक्षा, ज्ञानसे पवित्रता और वाणीका माधुर्य]।
हे (सवितः देव) उत्पादक ईश्वर ! (भगाय) ऐश्वर्यके लिये (यज्ञं) सत्कर्मकी (प्रसुव) प्रेरणा कर तथा (यज्ञ-पतिं) यज्ञके पालकको (प्रसुव) प्रेरणा कर । (दिव्यः) दैवी गुणोंसे युक्त (गं-धर्वः) वाणीका पोषक और (केत-पूः) ज्ञानसे पवित्र करनेवाला (नः) हम सबके (केत) ज्ञानको (पुनातु) पवित्र करे तथा (वाच-स्पतिः) वाणीका स्वामी (नः वाचं) हम सबकी वाणीको (स्वदतु-स्वादयतु) स्वादसे युक्त अर्थात् मीठी बनावे ॥१॥

परमेश्वर सबको सत्कर्म करनेकी तथा सत्कर्मका संरक्षण करनेकी वृद्धि देवे । अपने उत्तम ज्ञानसे पवित्रता करनेवाला ज्ञानी हम सबके ज्ञानको पवित्रता करे । तथा उत्तम वक्ता हम सबकी वाणीको मधुर बनावे । जिससे हम सबकी उन्नति हो सके ॥ १ ॥

[१६३७] (२) [(२) ईश्वरके तेजका ध्यान]
(सवितुः देवस्य) उत्पादक ईश्वरके (तत्) उस (वरेण्यं) श्रेष्ठ (भर्गः) तेजका (धीमहि) हम सब ध्यान करते हैं । (यः) जो (नः) हम सबकी (धियः) बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे ॥ २ ॥

परमेश्वरके उत्तम तेजका हम सब ध्यान करते हैं; जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा अथवा चेतना देता है ॥ २ ॥

[१६३८] (३) [(३)] बुराइयोंको दूर करके भलाइयोंको पास करना]
हे (सवितः देव) उत्पादक ईश्वर ! (विश्वानि दुरितानि) सब बुराईयोंको (परा-सुव) दूर करो, और (यत् भद्रं) जो भलाई है (तत्) उसको (नः) हम सबके पास (आ-सुव) ले आओ ॥ ३ ॥

सब बुराइयोंको दूर करने तथा सब भलाइयोंको पास करनेके लिये सबका प्रयत्न होना चाहिए, और ऐसा करनेके लिये ही ईश्वरकी सहायताकी प्रार्थना करनी चाहिए ॥ ३ ॥

[१६३९] [(४) धन-विभागकी प्रशंसा ।]
(वसोः) निवासके कारक और (चित्रस्य) विलक्षण (राधसः) सिद्धिके साधनको (वि-भक्तारं) विभक्त करनेवाले, (नृ-चक्षसं) मनुष्योंके मार्गदर्शक और (सवितारं) उत्पादक अथवा प्रेरकको (हवामहे) हम सब प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

उत्तम स्वास्थ्यके सब उत्कृष्ट साधनोंका उत्तम विभाग जिसने किया है, जो सब मनुष्योंको सच्चा उपदेश करता है और जो सबको सत्कर्ममें प्रेरणा करता है, उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्मणे ब्राह्मणं[1] क्षत्राय राजन्यं[2] मरुद्भ्यो वैश्यं[3] तपसे शूद्रं[4] तमसे तस्करं[5]
नारकाय वीरहणं[6] पाप्मने क्लीबं[7] माक्रयायां अयोगूं[8] कामाय पुँश्चलूं[9] मतिक्रुष्टाय मागधम्ं[10]॥५॥

नृत्ताय सूतं[1] गीताय शैलूषं[2] धर्माय सभाचरं[3] नरिष्ठायै भीमलं[4] नर्माय रेभंं[5]
हसाय कारिं[6] मानन्दाय स्त्रीषखं[7] प्रमदे कुमारीपुत्रं[8] मेधायै रथकारं[9] धैर्याय तक्षाणम्ं[10] ॥६॥

तपसे कौलालं[1] मायायै कर्मारंं[2] रूपाय मणिकारंं[3] शुभे वपंं[4] शरव्याया इषुकारंं[5]
हेत्यै धनुष्कारं[6] कर्मणे ज्याकारं[7] दिष्टाय रज्जुसर्जं[8] मृत्यवे मृगयुं[9] मन्तकाय श्वनिनम्ं[10] ॥७॥

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठं[1] मृक्षीकाभ्यो नैषादं[2] पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं[3] गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं[4]
प्रयुग्भ्य उन्मत्तंं[5] सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदं[6] मयेभ्यः कितवं[7] मीर्यताया अकितवं[8]
पिशाचेभ्यो बिदलकारीं[9] यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्ं[10] ॥ ८ ॥

[१६४०] (५) [(५) धनका विभाग ।]*

*इनका अर्थ अध्याय समाप्तिके पश्चात् जो स्पष्टीकरण दिया है, उसमें देखिये तथा यहां [ ] इस प्रकारके कोष्टकमें जो अंक दिये हैं वे क्रम अंक समझने चाहिये; तथा ( ) प्रकारके कोष्टकमें जो अंक दिये हैं, वे स्पष्टीकरणके विभागके अंक समझने चाहिये । जैसा— [५] का अर्थ मंत्रोंके क्रमानुसार यह मंत्र पांचवां है तथा (४।२) का अर्थ यह है कि शूद्र विभागमें यह दूसरा मंत्र है । स्पष्टीकरणमें (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य, (४) शूद्र, (५) सामान्य, (६) प्राजापत्य, (७) दण्ड, ऐसे सात विभाग करके उन सात विभागोंमें १८४ मंत्रोंको विभक्त किया है । ( ) इस प्रकारके कोष्टकमें पहिला अंक इस मुख्य विभागका दर्शक तथा दूसरा अंक वहांके मंत्रके अनुक्रमका होता है । तथा ( ) इस प्रकारके कोष्टकमें जो अंक रखे हैं, वे मंत्रोंके अंक समझने चाहिए । यहां ये तीन प्रकारके कोष्टक इन तीन उद्देशोंसे रखे हैं ।

[१] ब्रह्मणे ब्राह्मणम् १।१, [२] क्षत्राय राजन्यम् २।१, [३] मरुद्भ्यो वैश्यम् ३।१, [४] तपसे शूद्रम् ४ १, [५] तमसे तस्करम् ४।२, [६] नारकाय वीरहणम् २।५, [७] पाप्मने क्लीबम् ५।६, [८] आक्रयायै अयोगुम् ३।२, [९] कामाय पूंश्चलूम् ५।१२ [१०] अतिक्रुष्टाय मागधम् १।१४ ॥ ५ ॥

[१६४१] (६) [११] नृत्ताय सूतम् ५।१४

[१२] गीताय शैलूषम् ५।१३, [१३] धर्मायसभाचरम् १।११, [१४] नरिष्टायै भीमलम् २।४, [१] नर्माय रेभम् १।४४, [१६] हसाय कारिम् ४।७, [१७] आनंदाय स्त्रीषखम् ५।९, [१८] प्रमदे कुमारीपुत्रम् २।६, [१९] मेधायै रथकारम् २।२० [२०] धैर्याय तक्षाणम् ४।११ ॥ ६ ॥

[१६४२] (७) [२१] तपसे कौलालम् १।२

[२२] मायायै कर्मारम् ४।३, [२३] रूपाय मणिकारम् ४।४, [२४] शुभे वपम् ४।१२, [२५] शरव्यायै इषुकारम् २।२१, [२६] हेत्यै धनुष्कारम् २।२२, [२७] कर्मणे ज्याकारम् २।२३, [२८] दिष्टाय रज्जुसर्जम् २।११, [२९] मृत्यवे मृगयुम् ७।१, [३०] अन्तकाय स्वनिनम् (७।४) ॥ ७ ॥

[१६४३] (८) [३१] नदीभ्यः पौञ्जिष्ठम् २।३३

[३२] ऋक्षिकाभ्यो नैषादम् २।४४ [३३] पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम् २।७ [३४] गंधर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यम् १।६ [३५] प्रयुग्भ्यः उन्मत्तम् १।५ [३६] ३६] सर्पदेवजनेभ्यः अप्रतिपदम् १।७ [३७] अयेभ्यः कितवम् १।३ [३८] ईर्यतायै अकितवम् २।१० [३९] पिशाचेभ्यो विदलकारीम् २।८ [४०] यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम् २।९ ॥८॥

+

सन्धये जारं गेहायोपपति मार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदान मराध्या एदिधिषुःपतिं
निष्कृत्यै पेशस्कारीꣳ संज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानुरुधं
बलायोपदाम् ॥ ९ ॥

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामꣳ स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं
पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षाया अभिप्रश्निनं
मर्यादायै प्रश्नविवाकम् ॥ १० ॥

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालम्
इरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपꣳ श्रेयसे वित्तधम्
आध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम् ॥ ११ ॥

भायै दार्वाहारं प्रभाया अग्न्येधं ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं
देवलोकाय पेशितारं मनुष्यलोकाय प्रकरितारꣳ सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारम्
अव ऋत्यै वधायोपमन्थितारं मेधाय वासःपल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम् ॥ १२ ॥

ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्त्यै क्षत्तारमौपद्रष्ट्र्यायानुक्षत्तारं
बलायानुचरं भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिनमरिष्ट्या अश्वसादꣳ
स्वर्गाय लोकाय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ॥ १३ ॥

[१६४४] (९) [४१] सन्धये जारम् २।५६
[४२] गेहाय उपपतिम् २।४७ [४३] आर्त्यै परिवित्तिम् २।४९ [४४] निर्ऋत्यै परिविविदानम् २।५० [४५] अराध्यै एदिधिषुः पतिम् २।५१ [४६] निष्कृत्यै पेशस्कारीम् ४।५ [४७] संज्ञानाय स्मरकारीम् १।४ [४८] प्रकामोद्याय उपसदम् २।५५ [४९] अर्णाय अनुरुधम् २।५२ [५०] बलाय उपदाम् २।३ ॥ ९ ॥

[१६४५] (१०) [५१] उत्सादेभ्यः कुब्जम् २।१२
[५२] प्रमुदे वामनम् ५।८ [५३] द्वार्भ्यः स्रामम् २।४६ [५४] स्वप्नाय अन्धम् ५।४ [५५] अधर्माय बधिरम् ५।५ [५६] पवित्राय भिषजम् १।२६ [५७] प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम् १।३८ [५८] आशिक्षायैप्रश्निनम् १।८ [५९] उपशिक्षायै अभिप्रश्निनम् १।९ [६०] मर्यादायै प्रश्नविवाकम् १।१० ॥ १० ॥

[१६४६] (११) [६१] अर्मेभ्यः हस्तिपम् २।२५
[६२] जवाय अश्वपम् २।२६ [६३] पुष्टयै गोपालम् ३।६ [६४] वीर्याय अविपालम् ३।७ [६५] तेजसे अजपालम् ३।८ [६६] इरायै कीनाशम् ३।५ [६७] कीलालाय सुराकारम् १।२५ [६८] भद्राय गृहपम् २।४८ [६९] श्रेयसे वित्तधम् ३।४ [७०] आध्यक्ष्याय अनुक्षत्तारम् २।१९ ॥ ११ ॥

[१६४७] (१२) [७१] भायै दार्वाहारम् ४।१३
[७२] प्रभायै अग्न्येधम् ४।१४, [७३] ब्रध्नस्य विष्टपाय अभिषेक्तारम् १।२४, [७४] वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ४।१८, [७५] देवलोकाय पेशितारम् ४।६, [७६] मनुष्यलोकाय प्रकरितारम् २।५३, [७७] सर्वेभ्यः लोकेभ्यः उपसेक्तारम् २।५४, [७८] अवऋत्यै वधाय उपमन्थितारम् २।१४, [७९] मेधायै वासः पल्पूलीम् १।२३, [८०] प्रकामाय रजयित्रीम् ४।१० ॥ १२ ॥

[१६४८] (१३) [८१] ऋतये स्तेन हृदयम् २।१५
[८२] वैरहत्याय पिशुनम् २।१६, [८३] विविक्त्यै क्षत्तारम् २।१७, [८४] औपद्रष्ट्याय अनुक्षत्तारम् २।१८, [८५] बलाय अनुचरम् २।२, [८६ भूम्ने परिष्कन्दम् १।३२, [८७] प्रियाय प्रियवादिनम् ५।७, [८८] अरिष्टयै अश्वसादम् २।२४, [८९] स्वर्गाय लोकाय भागदुघम् १।२९, [९०] वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ४।१९ ॥ १३ ॥

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसरं योगाय योक्तारꣳ शोकायाभिसर्तारं
क्षेमाय विमोक्तार᳘मुत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं वपुषे मानस्कृतꣳ शीलायाञ्जनीकारीं
निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम् ॥ १४ ॥
यमाय यमसू᳘मथर्वभ्योऽवतोकाꣳ संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजाता᳘
मिदावत्सरायातीत्वरी᳘मिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जराꣳ संवत्सराय पलिक्नी᳘
मृभुभ्योऽजिनसन्धꣳ साध्येभ्यश्चर्मम्नम् ॥ १५ ॥
सरोभ्यो धैवर᳘मुपस्थावराभ्यो दाशं वैशन्ताभ्यो बैन्दं नड्वलाभ्यः शौष्कलं
पाराय मार्गार᳘मवाराय कैवर्तं तीर्थेभ्य आन्दं विषमेभ्यो मैनालꣳ स्वनेभ्यः पर्णकं
गुहाभ्यः किरातꣳ सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम् ॥ १६ ॥
बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वाणिजं पश्चादोषाय ग्लाविनं
विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरण᳘मभूत्यै स्वपनं᳘मार्त्यै जनवादिनं
व्यृद्ध्या अपगल्भꣳ सꣳशराय प्रच्छिदम् ॥ १७ ॥
अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिन᳘
मास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छ᳘मन्तकाय गोघातं
क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम् ॥ १८ ॥

[१६४९] (१४) [९१] मन्यवे अयस्तापम् ४।१५
[९२] क्रोधाय निसरम् १।३४, [९३] योगाय योक्तारम् १।१९, [९४] शोकाय अभिसर्तारम् १।३५, [९५] क्षेमाय विमोक्तारम् १।२८, [९६] उत्कूलनिकूलेभ्यः त्रिष्ठिनम् २।३७, [९७] वपुषे मानस्कृतम् १।२१, [९८] शीलाय अंजनी-कारीम् १।२२, [९९] निर्ऋत्यै कोशकारीम् १।३६, [१००] यमाय असूम् १।१२ ॥ १४ ॥

[१६५०] (१५) [१०१] यमाय यमसूम् १।१३
[१०२] अथर्वभ्यः अवतोकाम् १।२०, [१०३] संवत्सराय पर्यायिणीम् १।४६, [१०४] परिवत्सराय अविजाताम् १।४७, [१०५] इदावत्सराय अतीत्वरीम् १।४८, [१०६] इद्वत्सराय अतिष्कद्वरीम् १।५०, [१०७] वत्सराय विजर्जराम् (१।४५), [१०८] संवत्सराय पलिक्नीम् १।४९, [१०९] ऋभुभ्यः अजिनसंधम्, ४।१६ [११०] साध्येभ्यः चर्मम्नम् ४।१७ ॥ १५॥

[१६५१] (१६) [१११] सरोभ्यः धैवरम् २।३४
[११२] उपस्थावरेभ्यः दाशम् २।४३ [११३] वैशन्ताभ्यः बैन्दम् २।३९ [११४] नड्वलाभ्यः शौष्कलम् २।४० [११५] पाराय मार्गारम् २।४१ [११६] अवाराय कैवर्तम् २।४२ [११७] तीर्थेभ्यः आन्दम् २।३५ [११८] विषमेभ्यः मैनालम् २।३८ [११९] स्वनेभ्यः पर्णकम् ४।२१ [१२०] गुहाभ्यः किरातम् २।३२ [१२१] सानुभ्यः जम्भकम् २।३१ [१२२] पर्वतेभ्यः किंपुरुषम् २।३० ॥ १६ ॥

[१६५२] (१७) [१२३] बीभत्सायै पौल्कसम् २।४५
[१२४] वर्णाय हिरण्यकारम् ४।९ [१२५] तुलायै वणिजम् ३।३ [१२६] पश्चादोषाय ग्लाविनम् ५।१० [१२७] विश्वेभ्यः भूतेभ्यः सिध्मलम् ५।११ [१२८] भूत्यै जागरणम् ५।१ [१२९] अभूत्यै स्वपनम् ५।२ [१३०] आर्त्यै जनवादिनम् १।१८ [१३१] व्यृद्ध्यै अपगल्भम् ५।३ [१३२] संशराय प्रच्छिदम् ७।६ ॥ १७ ॥

[१६५३] [१८] (१३३) अक्षराजाय कितवम् २।५७
[१३४] कृताय आदिनवदर्शम् २।५८ [१३५] त्रेतायै कल्पिनम् २।५९ [१३६] द्वापराय अधिकल्पिनम् २।६० [१३७] आस्कंदाय सभास्थाणुम् २।२७ [१३८] मृत्यवे गोव्यच्छम् ७।२ [१३९] अंतकाय गो-घातम् ७।३ [१४०]

प्रतिश्रुत्कांया अर्तनं[१] घोषाय भषं[२] मन्ताय बहुवादिनं[३] मनन्ताय मूकं[४]
शब्दायाडम्बराघातं[५] महसे वीणावादं[६] क्रोशाय तूणवध्मं मवरस्पराय शङ्खध्मं[८]
वनाय वनपं मन्यतोरण्याय दावपम् ॥ १९ ॥
नर्माय पुँश्चलूं[१] हसाय कारिं[२] यादसे शाबल्यां[३] ग्रामण्यं[४] गणकं मभिक्रोशकं[६]
तान्महसे वीणावादं[७] पाणिघ्नं[८] तूणवध्मं तान्नृत्ताय[९] नन्दाय तलवम् ॥ २० ॥
अग्नये पीवानं[१] पृथिव्यै पीठसर्पिणं[२] वायवे चाण्डालं[३] मन्तरिक्षाय वंशनर्तिनं[४]
दिवे खलतिं[५] सूर्याय हर्यक्षं[६] नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं[७] चन्द्रमसे किलासं
मह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षं[१] रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम् ॥ २१ ॥
अथैतानष्टौ विरूपाना लभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं
चातिकुल्वं चातिलोमशं च । अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ।
मागधः पुँश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥ २२ ॥

[अ०, ३०, कं० २२, मं० सं० १७७]

इति त्रिंशोऽध्यायः ।

क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति ७।५ [१४१] दुष्कृताय चरकाचार्यम् १।२७ [१४२] पाप्मने सैलगम् २।१३ ॥ १८ ॥

[१६५४] [१९] (१४३) प्रतिश्रुत्कायै अर्तनम् १।३०

[१४४] घोषाय भषम् १।१५ [१४५] अन्ताय बहुवादिनम् १।१६ [१४६] अनन्ताय मूकम् १।१७ [१४७] शब्दाय आडम्बराघातम् ४।२० [१४८] महसे वीणावादम् ५।१५ [१४९] क्रोशाय तूणवध्मम् ४।२२ [१५०] अवर-स्पराय शंखध्मम् ४।२३ [१५१] वनाय वनपम् २।२८ [१५२] अन्यतः अरण्याय दावपम् २।२९ ॥ १९ ॥

[१६५५] (२०) [१५३] नर्माय पूंश्चलूम् १।४३

[१५४] हसाय कारिम् ४।८, [१५५] यादसे शाबल्याम् २।२६, [१५६] महसे ग्रामण्यम् १।३१, [१५७] महसे गणकम् १।३७, [१५८] महसे अभिक्रोशकम् १।३३, [१५९] नृत्ताय वीणावादम् ५।१६, [१६०] नृत्ताय पाणिघ्नम् ५।१७ [१६१] नृत्ताय तूणवध्मम् ५।१८, [१६२] आनंदाय तलवम् ॥ २० ॥

[१६५६] (२१) [१६३] अग्नये पीवानम् २।६१

[१६४] पृथिव्यै पीठसर्पिणम् २।६२, [१६५] वायवे चांडालम् २।६३, [१६६] अंतरिक्षाय वंशवर्तिनम् २।६४, [१६७] दिवे खलतिम् १।३९, [१६८] सूर्याय हर्यक्षम् १।४०, [१६९] नक्षत्रेभ्यः किर्मीरम् १।४१, [१७०] चन्द्रमसे किलासम् १।४२, [१७१] अह्ने शुक्लं पिंगाक्षम् २।६५ [१७२] रात्र्यै कृष्णं पिंगाक्षम् २।६६ ॥ २१ ॥

[१६५७] (२२) अथ एतान् अष्टौ विरूपान् आलभते । ते अष्टौ अशूद्राः अब्राह्मणाः प्राजापत्याः ।

[१७३] अतिदीर्घम् ६।१, [१७४] अतिह्रस्वम् ६।२, [१७५] अतिस्थूलम् ६।३, [१७६] अतिकृशम् ६।४, [१७७] अतिशुक्लम् ६।५, [१७८] अतिकृष्णम् ६।६, [१७९] अतिकुल्वम् ६।७, [३८०] अतिलोमशम् ६।८ ॥२२॥

अथ पुनः अशूद्राः अब्राह्मणाः प्राजापत्याः चत्वारः ॥

[१८१] मागधः ६।९, [१८२] पूंश्चली ६।१०, [१८३] कितवः ६।११, [१८४] क्लीबः ६।१२ ॥ २२ ॥

यजुर्वेदका स्वाध्याय-स्पष्टीकरण

मंत्र १

(१) सत्कर्मकी प्रेरणा, सत्कर्मकी रक्षा, ज्ञानसे पवित्रता और वाणीका माधुर्य।

' मेध ' शब्दका अर्थ ' मिलना, परस्पर संगति करना, मिलाप करना, जोडना, परस्परको जानना, परस्परका भाव समझना, परस्पर प्रेम करना, परस्परकी उन्नति करना ' है। ' पुरुष ' शब्दका अर्थ ' मनुष्य, मानवजाति नागरिक, पौर ' है। अर्थात् पुरुषमेधका अर्थ मनुष्योंका परस्पर मेलमिलाप करना, परस्पर संगति करना, परस्पर जानना, परस्परका प्रेम बढाना, ऐक्य भाव बढाकर परस्परकी उन्नति करनेके लिये एक दूसरेको सहाय्य करना ' है। यह पुरुषमेधका मूल आशय है। इस आशयकी पूर्ति करनेके लिये जिन जिन अनेक साधनोंकी आवश्यकता है, उनका वर्णन इस अ० ३० तथा अगले अ० ३१ में हुआ है। उक्त उद्देशकी सफलता और सुफलता होनेके लिये निम्न गुणोंका धारण करना चाहिए। (१) मनुष्योंमें सत्कर्म करनेकी प्रेरणा होनी चाहिए, (२) कोई अन्य पुरुष सत्कर्म करता हो, तो उसको सहायता करके, उसके सत्कर्मका संरक्षण और संवर्धन करनेकी प्रबल इच्छा चाहिए, (३) ज्ञानसे अपने आपको शुद्ध करके सब अन्योंको शुद्ध करनेका प्रयत्न होना चाहिए, तथा (४) वाणीके अंदर मीठा परंतु हितकारक भाषण करनेकी शक्ति बढानी चाहिए। यही उद्देश प्रथम मंत्रका है।

' परमेश्वर सबको सत्कर्म करनेकी तथा सत्कर्मका संरक्षण करनेकी बुद्धि देवे। अपने ज्ञानसे पवित्रता करनेवाला ज्ञानी हम सबके ज्ञानको पवित्र करे। तथा उत्तम वक्ता हम सबकी वाणीको मधुर बनावे। जिससे हम सबकी उन्नति हो सके ॥ '

यह आशय प्रथम मंत्रका है। उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंके अंदर जिन जिन गुणोंका विकास होनेकी आवश्यकता है, उन गुणोंका उल्लेख उक्त मंत्रमें है। (१) सत्कर्मकी प्रेरणा, (२) सत्कर्मका संरक्षण, (३) ज्ञानसे पवित्रता और (४) वाणीका माधुर्य; ये चार सद्गुण हैं जिनसे कि, मनुष्योंमें संघशक्तिका तेज प्रकाशने लगता है। इस आशयको ध्यानमें रखकर अब इस मंत्रका विचार करेंगे:—

' देव सवितः '

' सविता देव ' परमेश्वरका नाम है। देखिए—

' सविता वै देवानां प्रसविता '
(शत. ब्रा. १।१।२।१७)

सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि सब देवोंका उत्पन्न कर्ता परमेश्वर है। उसकी प्रार्थना इन दो शब्दोंसे की है। सब देवोंकी उत्पत्ति सविता करता है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है-

युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥
(यजु. ११।३)

' सविता देव (तान्) उन देवोंको (प्रसुवाति) उत्पन्न करता है, कि जो (बृहत् ज्योतिः) बडा तेज फैलाते हैं, और (धिया) अपने कर्तव्य कर्मसे (दिवं स्वः यतः) द्युलोकमें प्रकाशको फैलाते हैं। उन देवोंको (सविता) सबका उत्पादक ईश्वर (युक्त्वाय) अपने अपने कर्मोंमें नियुक्त करता है। '

' सविता देव ' सूर्यादि सब तेजस्वी पदार्थोंको उत्पन्न करके उनको अपने अपने मार्गसे भ्रमण आदि कर्ममें लगा देता है। पृथ्वीका कर्म अन्न उत्पन्न करना, सूर्यका कर्म प्रकाश देना, वायुका कर्म जीवनशक्ति देना है। इन कर्मोंमें परमेश्वरकी शक्तिसे ये सब देव नियुक्त हुए हैं। इस मंत्रका देखनेसे ' सविता ' शब्दका अर्थ ' परमेश्वर ' ही है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। परमेश्वरका वर्णन यजु. अ. ३२ का स्वाध्याय ' सर्व पूज्यकी पूजा ' नामसे छप चुका है, उसमें देखने योग्य है। सविताका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मणमें है—

सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः ।
(तैत्ति० ब्रा० ३।१०।१।२)

' सविता सबका उत्पादक है । वह स्वयं तेजस्वी है, और सबको प्रकाशित करता है । ' इत्यादि प्रकारका वर्णन देखनेसे निश्चय होता है, कि सविताका मूल अर्थ ' परमेश्वर ' है, पश्चात् इस शब्दका ' सूर्य ' ऐसा अर्थ हुआ ।

' सु ' धातुसे ' सविता ' शब्द बनता है । ' प्रसव, ऐश्वर्य, प्रेरणा ' ये तीन अर्थ इस धातुके हैं । (१) उत्पन्न करना, (२) प्रभुत्व करना और (३) प्रेरणा करना, ये तीन भाव ' सविता ' शब्दमें हैं । सबको धर्मकी प्रेरणा करनेवाला परमेश्वर ही सविता है ।

' प्रसुव यज्ञम् । '

' यज्ञकी प्रेरणा करो ' यह इस मंत्रकी पहली प्रार्थना है । प्रशस्ततम कर्म अर्थात् अत्यंत उच्च कर्मका नाम यज्ञ है । यजु. १ अ. १ में कहा है कि, ' देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम् । ' हे लोको ! आप सबको परमेश्वर अत्यंत उच्च कर्मोंके लिये प्रेरणा करे । आप सब उच्च कर्मोंको करते हुए उन्नत होइए । ' यह उपदेश यजुर्वेदके प्रारंभमें ही है । सब यजुर्वेदमें ' श्रेष्ठतम कर्म ' का ही अधिकार चलता है । यजुर्वेदका अर्थ ' श्रेष्ठतम-कर्मका ' शास्त्र (Science of holy action) ऐसा है । इसलिये संपूर्ण यजुर्वेदमें ' यज्ञ अथवा कर्म ' का अर्थ ' श्रेष्ठतम कर्म ' ऐसा ही है । ' श्रेष्ठतम कर्मकी प्रेरणा करो ' यह उपदेश उक्त वाक्यसे मिलता है । प्रत्येक मनुष्यमें अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेकी महत्त्वाकांक्षा चाहिए और प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये अन्योंको प्रेरणा देता रहे । सर्वत्र उत्साहकी प्रेरणा होनी चाहिए । वैदिक धर्म ही ' उत्साहका धर्म ' है । इसलिये प्रारंभसे अंततक अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेका उत्साह वैदिक धर्ममें दिया गया है ।

उद्यम, साहस धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम ये आठ गुण वैदिक धर्मके आधार हैं, उत्साह, स्फूर्ति और प्रेरणा ये तीन गुण इस वैदिक धर्मका जीवन है; (१) सत्कर्म करनेमें किसी प्रतिबंधकी पर्वाह न करना, (२) सत्कर्म करनेके कार्यमें आनेवाली सब आपत्तियोंको आनंदसे सहन करना, (३) सत्कर्म करनेके लिये अपने आपको योग्य बनानेके कारण आंतर और बाह्य इंद्रियोंको अपने आधीन रखना, (४) किसी समय और किसी कारण भी चोरीका भाव न धरना, (५) सब कालमें, सब अवस्थामें सब प्रकारकी पवित्रता रखना, (६) सदा सर्वदा आत्मिक बलको धारण करना, (७) सदा सर्वदा अपनी बुद्धिका तेज ज्ञानसे बढाना, (८) सदा सर्वदा सत्यके ऊपर दृढ रहना, (९) कभी क्रोध न करना क्योंकि क्रोधसे अपना ही नुकसान हुआ करता है, इसलिये सब प्रकारकी अवस्थामें मन, बुद्धि और आत्मको शांत रखना, (१०) सदा परमेश्वरकी महत्ता पर विश्वास रखना, ये दस गुण हैं कि जिससे मनुष्य वैदिक धर्मका पालन कर सकता है ।

दुर्बल, उत्साह-हीन, धैर्यहीन, निर्बुद्ध, निस्तेज, पराक्रम-हीन, वीर्यहीन, दैव-वादी जो लोग होते हैं वेही लोग पापी होते हैं । वैदिक धर्ममें दैववादके लिये स्थान नहीं ! यह पुरुषार्थका धर्म है । उत्तम पुरुषार्थ करनेके लिये कभी डरना नहीं चाहिए । अपने बलपर निर्भर रहनेका भाव सदा सर्वदा धारण करना चाहिए । ' पुरुषार्थ करनेकी प्रबल प्रेरणा ' इस मंत्रने दी है । इसी भावको प्रकाशित करनेके लिये जैमिनी मुनी कहते हैं—

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥ (पूर्वमीमांसा ॥१)

' अब धर्मका विचार करते हैं । जिससे श्रेष्ट पुरुषार्थ करनेकी प्रेरणा होती है, वही धर्म है । ' यह सब भाव मनमें धर कर उक्त वाक्य ' प्रसुव यज्ञं ' देखना चाहिए । सत्कर्मकी प्रेरणा करनेके विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन् ॥ गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ (ऋ. १०।२९।५)

' (जनिमा इव) जन्म देनेवाली स्त्रियां जिस प्रकार अपने पुत्रोंको प्रेरणा देती हैं, तथा (सूरः न) विद्वान् जिस प्रकार अपने शिष्योंको प्रेरणा देते हैं, उस प्रकार (पारं) आपत्तिके पार होनेके लिये और (अर्थं) पुरुषार्थ करनेके लिये उन लोगोंको (प्रेरय) प्रेरणा करो, कि (ये) जो लोग (अस्य कामं) इस ईश्वरकी इच्छाके अनुसार (ग्मन्) चलते हैं अर्थात् आचरण करते हैं । हे (तुविजात नर इन्द्र) बलवान, अग्रणी प्रभू ! (ये) जो लोग (अन्नैः) अन्नोंके द्वारा लोगोंको सहाय्य करते हैं, तथा जो (ते पूर्वीः गिरः) तेरा पूर्व अथवा प्राचीन उपदेश हरएकको (प्रति शिक्षन्ति) सिखाते हैं । ' उनको प्रेरणा करो ।

(१) परमेश्वरका संदेश दूसरोंतक पहुँचानेवाले, (२) अन्नके द्वारा दूसरोंकी सहायता करनेवाले, और (३) परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार अपना आचरण करने करनेवाले जो होते हैं; उनको कष्टोंसे पार होनेके लिये तथा अधिकाधिक पुरुषार्थ करनेके लिये परमेश्वरसे प्रेरणा होती है। यह आशय उक्त मंत्रका है। परमेश्वरकी प्रेरणा अपने अंतःकरणमें धारण करनेके लिये कौन पुरुष योग्य है इसका उपदेश इस मंत्रसे मिलता है। मनुष्योंको भी उचित है कि, वे स्वयं सत्कर्ममें प्रेरित होकर दूसरोंको भी उच्च कर्मोंके लिये सदा उत्साहित करते रहें।

'प्रसुव यज्ञ-पतिं भगाय !'

'(भगाय) ऐश्वर्यके लिये यज्ञके पालन-कर्ताको प्रेरणा करो।' यह इच्छा इस मंत्रभागमें व्यक्त हुई है। यहां 'भग' शब्दका अर्थ देखना है। भग— उन्नति, अभ्युदय; महत्ता, महत्व; विशेषता; यश, प्रताप, सुंदरता; उत्तमता, उत्कृष्टता; प्रीति; सद्‌गुण; नीतिधर्म; प्रयत्न, पुरुषार्थ; वैराग्य, निस्पृहता; स्वातंत्र्य, मुक्ति; बल; इच्छाशक्ति। 'भग' शब्दके इतने अर्थ हैं, इन गुणोंकी प्राप्तिके लिये सत्कर्मके पालन कर्ताको प्रेरणा करो; अर्थात् सत्कर्मोंका संरक्षण करके, इन गुणोंका धारण, पालन और पोषण करना चाहिए। 'पति' का अर्थ 'पालक' है; पश्चात् उसका 'स्वामी' अर्थ हुआ है।

सत्कर्मकी प्रेरणा और सत्कर्मका संरक्षण ये उन्नतिके दो साधन हैं। स्वयं सत्कर्म करना, स्वयं अच्छा पुरुषार्थ, अच्छा उद्योग करना और दूसरोंको वैसा करनेके लिये प्रेरणा करना, तथा दूसरे लोग जो जो उत्तम कार्य कर रहे होंगे, उसका पालन और संवर्धन करना चाहिए। जिससे सत्कर्मका प्रवाह सतत चलता रहेगा और अप्रतिबद्ध उन्नति हो सकेगी। और देखिए—

मह उग्राय तवसे सुवृक्तिं प्रेरय शिवतमाय० ॥
(ऋ. ८।९६।१०)

'(शिवतमाय) उत्तम कल्याणके लिये, (तवसे) बलके लिये, (उग्राय) क्षात्रतेजके लिये तथा (महे) महत्वके लिये (सु-वृक्ति) शुद्ध कर्मकी (प्रेरय) प्रेरणा करो।' शुद्ध कर्म किस कार्यके लिये करने चाहिए, इसका उपदेश इस मंत्रमें हुआ है। सत्कर्मसे उन्नति होती है, ऐसा निम्न मंत्रमें कहा है—

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥ ऋ. ८।१४।५ अथर्व. २०।२७।५

'यज्ञने इन्द्रको बढाया, जिसने भूमीको वारंवार घुमाया और जिससे द्युलोकमें यह भूषणरूप बनाया गया है।' अर्थात् जो इन्द्रका प्रभुत्व है, वह यज्ञ अर्थात् 'सत्कार-संगति-दानात्मक' सत्कर्मके कारण ही है। जो पूजनीयोंका सत्कार, श्रेष्ठोंसे संगति और दीनोंको दान करेगा अर्थात् इस प्रकारके सत्कर्म करेगा, वह इन्द्रत्व अर्थात् प्रभुत्व प्राप्त करेगा। श्रेष्ठत्व प्राप्तिके लिये सत्कार-संगति-दानात्मक सत्कर्म करने चाहियें।

तथा—

स्वर्यन्तो नाऽपेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतो धारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥
(अथर्व. ४।१४।४)

'(ये) जो (सु-विद्वांसः) उत्तम विद्वान् (विश्वतो-धारं यज्ञं) सब प्रकारसे धारण-पोषण करनेवाले सत्कर्मोंको (वि-तेनिरे) विशेष प्रकारसे फैलाते हैं, वे (रोदसी द्यां रोहन्ति) दोनों लोकोंमेंसे ऊपर होते हुए स्वर्ग पर चढते हैं, और (स्वः यन्तः) अपने तेजको फैलाते हुए (न अपेक्षन्ते) किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करते।'

'यज्ञ' का यौगिक अर्थ

'यज्ञ' का अर्थ— सत्कार, संगति दान इस प्रकार है। 'न अपेक्षन्ते' का अर्थ वे किसीकी अपेक्षा नहीं करते; यह सत्कर्मका फल है। तथा—

यज्ञं तपः। (तैत्ति आ. १०।८।१)

'यज्ञ एक प्रकारका तप ही है।' अथवा तपसे ही यज्ञ होता है। सत्कर्म करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहना ही तप है। जो लोग इन्द्रियोंके सुखोंके लिये ही कार्य करते हैं, उनसे सत्कर्म नहीं हो सकता। सत्कर्म करनेके लिये स्वार्थी इन्द्रिय-सुखोंकी लालसा कम करनी पडती है। इस प्रकार अपना सुख कम करके दूसरोंका सुख बढानेके लिये जो प्रयत्न होते हैं, वे यज्ञरूप होते हैं।

इस प्रकारके यज्ञ जो करते हैं, और जो सत्कर्मोंका संवर्धन करते हैं, वे 'यज्ञपति' कहलाते हैं। संघशक्ति बढानेमें इस प्रकारके पवित्र कर्म करनेवालोंकी बहुत आवश्यकता होती है। इसलिये ऐसे सज्जनोंको उचित है, कि वे स्वयं सत्कर्म करते हुए वैसे सत्कर्म करनेके लिये दूसरोंको भी प्रेरित करते रहें।

' दिव्यो गन्धर्वः केत-पूः केतं नः पुनातु । '

' गां वाचं धारयतीति गं-धर्वः । ' महीधर भाष्य यजु. ११।७ ॥ उत्तम वाणीका धारण करनेवाला जो उत्तम वक्ता होता है, उसका नाम ' गं-धर्व ' होता है । उत्तम गायकोंको भाषामें गंधर्व कहते हैं । इस प्रकारका जो दिव्यगुणयुक्त वक्ता होता है, वह अपने ज्ञानसे हम सबके ज्ञानको पवित्र करे । यह इच्छा इस मंत्रमें है । ज्ञानीके ज्ञानद्वारा साधारण मनुष्योंके ज्ञान पवित्र होते हैं । श्रेष्ठोंद्वारा निकृष्टोंका उद्धार होना है । गुरु अथवा अध्यापकों द्वारा शिष्योंकी बुद्धि पवित्र होनी है । वृद्धों द्वारा जवानोंकी उन्नति होनी है । यही उपदेश आगे इसी अध्यायमें आनेवाला है, जैसा —

ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यम् ।
यजु. अ. ३०।५ ॥

' ज्ञानके लिये ज्ञानीको, शौर्यके लिये क्षत्रियको प्राप्त करो । ' जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वे ज्ञानीके पास चले जावें, तथा जो शौर्य प्राप्त करना चाहते हैं वे शूरोंके पास जावें । श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर श्रेष्ठ गुणोंकी प्राप्ति करनी चाहिये । यही उन्नतिका मार्ग है ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ॥
कठ उप० ३।१४

' उठो, जागो, और श्रेष्ठोंको प्राप्त करके बोध प्राप्त करो ।' श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषोंके पास जाकर श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त करके उन गुणोंका अपने अन्दर धारण पोषण और संवर्धन करना चाहिए । और जब वे श्रेष्ठगुण अपने अन्दर बढ जायेंगे; तब दूसरोंको श्रेष्ठ बनानेके लिये, अपने सुख दुःखकी पर्वाह न करते हुए, अहर्निश प्रयत्न करना चाहिए ।

' केत ' शब्दमें ' कित् ' धातु है, जिसका अर्थ– जानना; सोचना, विचार करना; दुःख दूर करना, दुरुस्त करना; अच्छा करना; आराम पहुंचाना; जीना; इच्छा करना है । इस कारण ' केत ' शब्दका यौगिक अर्थ ' ज्ञान, विचार, चिकित्सा, दुरुस्ती, भलाई, जीवनशक्ति, इच्छाशक्ति ' इतना है । स्वयं अपने अंदर इन गुणोंकी स्थापना करके, दूसरोंको इनकी धारणा करनेके लिये उत्साहित करना चाहिए । देखिए, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी बनाना, स्वयं सुविचार करके दूसरोंको सुविचारशील बनाना, स्वयं दूसरोंके दुःख दूर करके वैसे कार्योंमें दूसरोंको लगाना, स्वयं दूसरोंका भला करके दूसरोंको अन्योंकी भलाई करनेके लिये उत्साहित करना, स्वयं अपना जीवन पवित्र करके दूसरोंका जीवन पवित्र कराना, स्वयं अपनी इच्छाशक्तिका बल बढाकर दूसरोंकी इच्छाशक्ति बढानेका प्रयत्न करना । यह भाव उक्त मंत्रमें हैं ।

' वाचस्पतिः वाचं नः स्वदतु । '

' वाणीका स्वामी हम सबकी वाचाको मीठी बनावे । ' जो वाचाका उपयोग अच्छी प्रकार कर सकता है उसको वाचाका स्वामी कहते हैं । सरस्वती अर्थात् विद्या विद्वानकी दासी बनकर उसकी सेवा करती है, ऐसा कवी लोक वर्णन करते हैं । जिनकी वाणी मीठी होती है, परंतु जिनका उपदेश परिणाममें हितकारक होता है, वे विद्वान् उपदेश करके हम सबकी वाणी मीठी बनावें । धर्मके उपदेशक ऐसे ही मधुर-भाषी होने चाहिए ।

वाणीमें मिठास न होनेसे लडाई झगडे, फिसाद, तथा द्वेष होते हैं । इसलिये वाणीमें मिठास रखनेका उपदेश किया है । ' स्वदतु ' का अर्थ ' स्वादयतु ' अर्थात् ' स्वाद उत्पन्न करे , मधुर बनावे, मीठी बनावें ' ऐसा है । वाचस्पतिका कार्य अथर्ववेदके प्रथम सूक्तमें दिया है—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ॥
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ॥
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥
उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम् ॥
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥
अथर्व १।१ ॥

' (१) जो त्रि-गुणित सात तत्व जगतके सब रूपोंको बनाते हैं, (२) मेरे शरीर आज, वाचाके स्वामीकी कृपासे उन तत्वोंके बलोंको धारण करें ॥ (३) हे वाणीके स्वामी ! दिव्य गुणयुक्त मनके साथ तू फिर हमारे पास आ । (४) मैंने जो कुछ ज्ञान सुना है, वह मेरे अंदर सदा रहे ॥ (५) जिस प्रकार धनुष्यकी डोरीसे धनुष्यके दोनों नोक तने रहते हैं, उस प्रकार यहां मेरे दोनों शरीर ज्ञानकी डोरीसे बंधे हुए रहें । वाचाके पतिकी कृपासे सुना हुआ ज्ञान मेरे अंदर दृढ रहे ॥ (६) वाणीके पतिका हम सब वर्णन करते हैं, वह भी हम सबकी सहायता करे । (७) उसकी सहायताद्वारा (श्रुतेन) श्रेष्ठ ज्ञानसे (सं गमेमहि) हम सब युक्त हों । (८) कोई मनुष्य ज्ञानके साथ विरोध न करे ॥ '

उत्तम वक्ताके कर्तव्य इन मंत्रोंमें अच्छी प्रकार कहे हैं। (१) जगत्के तत्वोंका ज्ञान प्राप्त करना, (२) शरीरका बल वृद्धिंगत करना, (३) मन दिव्य गुणोंसे युक्त करना, (४) ज्ञानकी जागृति सदा रखना, (५) शरीर और मनका संबंध दृढ रखना, (६) विद्वान और अविद्वान दोनोंने एक दूसरेकी सहायता करना, (७) सदा सर्वदा ज्ञान प्राप्त करते रहना, (८) ज्ञानका कभी विरोध न करना। ये उपदेश हैं कि जो ज्ञानीको तथा साधारण मनुष्योंको भी सदा ध्यानमें रखने चाहिए। और देखिये—

वाचस्पतिस्त्वा पुनातु (मैत्रायणी सं० १।२।१)

'वाणीका स्वामी तुझे पवित्र करे।' जनताको पवित्र करना, लोकोंके अंत:करणोंको शुद्ध, निर्मल, सतेज, और उत्साही बनाना उत्तम वक्ताकाही कार्य है।

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय ॥
(अथर्व० १३।१।१९)

'हे वाणीके स्वामी! हमारे अंदर उत्तम मननशक्तिके साथ मन, तथा (गा:) उत्तम इंद्रिय, हम सबके इंन्द्रिय-स्थानमें स्थिर करो।' लोगोंका मन सुसंस्कृत करना उत्तम वक्ताका कार्य है। उत्तम लेखकका भी यही कार्य समझा जा सकता है। वाणीकी शक्ति बडी भारी है, इसलिये उसका अच्छाही उपयोग करना चाहिए; देखिए—

वाचा देवता: (काठक सं. ३५।१५)

वाचा ब्रह्म (तै. सं. ७।३।१४।१)

'वाचा बडी देवता है।' 'वाक्शक्ति साक्षात् ब्रह्म है।' इतनी बडी शक्ति मनुष्योंके पास ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुई है। परंतु शोक है कि उस वाक्शक्तिका कितना दुरुपयोग लोग कर रहे हैं, और झगडे खडे करके अपनाही नाश कर रहे हैं!! इसलिये सब लोगोंको उचित है कि बोलने तथा लिखनेके समय सोचकर मधुरताके साथही शब्दोंका प्रयोग किया करें, जिससे आपसमें मित्रता बढेगी और आपसका शत्रुत्व हट जायगा। वाणीकी मधुरताके विषयमें अथर्व वेद कहता है—

जिह्वया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ॥
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥
मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ॥
वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥
(अथर्व० १।३४)

'(१) मेरी जिह्वाके अग्र भागमें माधुर्य है। (२) मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता है। (३) इसलिये यहां (मम क्रतौ) मेरे सत्कार्यमें आओ और मेरे चित्तके साथ मिलो॥ (४) मेरा चालचलन मीठा है (५) मेरा व्यवहार मीठा है। (६) में वाणीसे मीठा भाषण करता हूं जिससे में मधुरताकी मूर्ति बनूंगा॥'

अपनी वाणी, अपना कर्म, अपना चालचलन, अपना सब व्यवहार माधुर्यके साथ करने चाहिए। माधुर्यकी मूर्ति बनकर समाजके अन्दर ऐक्यकी शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपने शब्द, अपने कर्म, और अपने व्यवहारकी जांच इन मंत्रोंमें कहे हुए उपदेशके अनुसार प्रतिसमय करे और मंत्रमें कहा हुआ आदर्श मधुर-पुरुष बननेका प्रयत्न दृढ इच्छापूर्वक करे।

अस्तु। इस प्रकार प्रथम मंत्रका विचार करनेके पश्चात् अब दूसरे मंत्रका विचार करें—

मंत्र २

(२) ईश्वरके तेजका ध्यान।

उपासना।

'परमेश्वरके उस श्रेष्ठ तेजका हम सब ध्यान करते हैं कि जो हम सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है।'

परमेश्वरमें सब श्रेष्ठ सद्गुणोंकी परकाष्ठा है। शक्ति, बल, तेज, आनंद, पवित्रता आदि सब श्रेष्ठ सद्गुण उसमें अपरिमित हैं। प्रत्येक सद्गुणकी परमावधिकी कल्पना ही परमेश्वरकी कल्पना है। इसलिये उसका ध्यान अथवा उसकी उपासना करनेके समय, उसके एक एक सद्गुणके अपरिमित महत्त्वका चिंतन करना चाहिए। अपरिमित सामर्थ्य, अपरिमित तेज, अपरिमित पवित्रता, अपरिमित ज्ञान, अपरिमित आनंदका चिंतन करनेसे परमेश्वरका ध्यान होता है। इस प्रकार सद्गुणोंका चिंतन करना 'सगुण उपासना' है।

मनुष्य जिसका चिंतन करता है, वैसा ही वह बनता है। यदि वह उत्कृष्ट सद्गुणोंका चिंतन करेगा तो वह उत्कृष्ट सद्गुणोंसे सुशोभित होगा। परंतु किसी कारण दूसरोंकी बुराइयोंका चिंतन करता रहेगा तो वह स्वयं कालांतरके पश्चात् उन बुराइयोंसे युक्त होगा। इसलिये प्रत्येक

मनुष्यको अपना ध्यान उत्कृष्ट सद्गुणोंमें ही स्थिर करनेका अभ्यास करना उचित है।

मनुष्योंके इतिहासका विचार करनेके समय भी, किन किन सद्गुणोंसे ऐतिहासिक पुरुषोंकी उन्नति हुई थी, इसीका विशेष चिंतन करना चाहिए, न कि उनके दुर्गुणोंका। प्रत्येक मनुष्यमें सद्गुण और दुर्गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे रहते ही हैं। हमको उचित है कि उनके सद्गुणोंकी ओर हम देखें और उनके दुर्गुणोंका चिंतन न करें। दस मनुष्योंके चरित्रोंसे दस सद्गुण ग्रहण किये जांय तो अपने पास दस सद्गुण बढ सकते हैं, परंतु यदि उन दस पुरुषोंके चरित्रोंसे हम दस दुर्गुणही लेवें, तो हम दस दुर्गुणोंसे दुष्ट बन सकते हैं। इसलिये 'सदा सर्वदा अपने मनको सद्गुणोंके मननमें ही लगाना' चाहिए।

यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति।
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।
यत्कर्मणा करोति तदभि संपद्यते॥

'जिस प्रकार मनसे विचार होता है उस प्रकार वाणीसे उच्चार होता है; जिस प्रकार वाणीसे उच्चार होता है उस प्रकार आचार बनता है; जिस प्रकार आचार बनता है, वैसा मनुष्य बन जाता है।' यह सबको ध्यानमें धरना चाहिए और विचार, उच्चार, आचारकी पवित्रता करनी चाहिए। इसी हेतुसे कहा है कि संघशक्ति बनानेवालोंको परमेश्वरके 'श्रेष्ठ तेजका ही ध्यान' करना चाहिए। श्रेष्ठ गुणोंका चिंतन करनेसे उच्च मार्ग पर चलनेकी प्रेरणा होती है। अस्तु। इसी गुरुमंत्रके समान एक मंत्र है, उसका यहां विचार करना उचित है—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥ १॥
अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्।
न मिनन्ति स्वराज्यम्॥ २॥
(ऋ. ५।८२)

'(१) (सवितुः देवस्य) उत्पादक ईश्वर (तत् भोजनं) उस पोषणका (वृणीमहे) हम सब स्वीकार करते हैं, (२) तथा (भगस्य) भगवानके श्रेष्ठ तथा (सर्व-धा-तमं) सबका धारण करनेवाले (तुरं) विजयी शक्तिका हम सब (धीमहि) धारण करते हैं॥ (हि) क्योंकि (अस्य सवितुः) इस उत्पादक ईश्वरके (३) (स्व-यशः-तरं) अपने यशसे फैले हुए (४) (प्रियं) प्रीति करने योग्य (स्व-राज्यं) स्वराज्यका (कच्चन न) कोई भी नहीं (मिनन्ति = विनाशयन्ति) नाश कर सकते हैं॥'

यहां 'स्व-राज्य' का अर्थ 'ईश्वर (आत्मा) का शासन' है। परमेश्वरके जो नियम इस सृष्टिमें कार्य कर रहे हैं, उनको कोई भी तोड नहीं सकता, क्योंकि वह परमेश्वरका स्वराज्य अपने यशसे फैला हुआ और सबको प्रीति करने योग्य है। इसलिये 'जिस स्वराज्य पर सबकी प्रीति होती है, और जो अपने यशसे फैला हुआ होता है, उस स्वराज्यका नाश कोई भी नहीं कर सकता।' स्वराज्यकी स्थिरताके लिये चार बातोंकी आवश्यकता होती है, जो उक्त मंत्रमें कही हैं— (१) परमेश्वरके दिये हुए भोग्य पदार्थों पर सबका अधिकार, (२) विजयी उत्साहकी शक्तिसे सबका धारण, पोषण और वर्धन, (३) अपने यशसे अपना विस्तार तथा (४) सबका प्रेम, ये चार बातें जिस स्वराज्यमें होगी वह स्वराज्य स्थिर और दृढ होगा। परंतु जिस राज्यमें (१) उपभोगोंके पदार्थों पर सबका समान अधिकार नहीं, (२) सबमें निरुत्साह होगा, (३) अपने यशकी जहां संभावना न होगी, (४) और जहां सबका परस्पर प्रेम न होगा, वहां राज्यकी स्थिरता नहीं हो सकती।

तात्पर्य (१) समान उपभोग, (२) उत्साह शक्ति, (३) स्वकीय यशकी आशा और (४) परस्पर प्रेम, ये चार गुण राज्य स्थिरता करनेवाले हैं। तथा (१) उपभोगोंकी विषमता, (२) निरुत्साह, (३) अपयश, (४) परस्पर द्वेष; ये दुर्गुण राज्यका नाश करनेवाले हैं। अस्तु। उक्त मंत्रमें 'सविता देवके भर्ग' नामक उग्र तेजका धारणा करना ध्वनित किया है। 'भर्ग' नामक तेज परमेश्वरका है, परंतु उस तेजका धारण मनुष्यको करना चाहिए। इस 'भर्ग' के सहचारी गुणोंका भी यहां विचार करना उचित है। देखिए—

३३ वीर्य।

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह
ओजो वयो बलम्॥ त्रयस्त्रिंशद् यानि वीर्याणि
तान्यग्निः प्रददातु मे॥ १॥ वर्च आ धेहि मे
तन्वां सह ओजो वयो बलम्॥ इन्द्रियाय त्वा
कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय॥ २॥
ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा॥ अभि-
भूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय॥३॥
(अथर्व० १९।३७)

(अग्निना) तेजस्वी ईश्वरने (इदं वर्चः) यह सामर्थ्य मुझे दिया है। उसके साथ निम्न गुण (आगन्) आगये हैं। (भर्गः) तेजस्वी पवित्रता, (यशः) सन्मानयुक्त कीर्ति, (सहः) स्थिरतापूर्वक सहन करनेकी शक्ति, (ओजः) जीवन शक्ति, शारीरिक बल, (वयः) आरोग्य युक्त दीर्घ आयुष्य, (बलं) बल, ये गुण उक्त ' वर्च ' के साथ प्राप्त हुए हैं। जो (त्रयस्त्रिंशद् वीर्याणि) तेंतीस वीर्य हैं, परमेश्वर उनका मुझे प्रदान करे। मेरे शरीरमें सामर्थ्य, सहनशक्ति, बल, वीर्य, दीर्घ आयु स्थिर होवे। इन्द्रियका कार्य, सत्कर्म, वीर्य अर्थात् पराक्रम और (शत-शारदाय) सौ वर्षोंकी दीर्घ आयुके लिये में तेरा स्वीकार करता हूं। (ऊर्जे) तेजस्वी शक्तिके लिये, (बलाय) आत्मिक बलके लिये, (ओजसे) शारीरिक बलके लिये, (सहसे) सहनशक्तिके लिये, (अभि-भूयाय) शत्रुका पराजय करनेके लिये, (शत-शारदाय) सौ वर्षोंकी दीर्घ आयुके लिये तथा (राष्ट्र-भृत्याय) राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये में तेरा-अर्थात् उपभोगका-स्वीकार करता हूं॥ '

इन मंत्रोंमें ' वर्च, भर्ग, यश, सह, ओज, दीर्घ-आयु, बल, ऊर्ज, अभिभव अर्थात् शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, राष्ट्र-सेवा का भाव ये दस गुण कहे हैं। ' भर्ग ' के साथ ये रहते हैं, जिस भर्गकी उपासना गुरुमंत्रने कही है।

इस मंत्रमें ३३ वीर्योंका उल्लेख हुआ है। ३३ देवताओंकी ये ३३ शक्तियां हैं। अथर्व वेदने इन ३३ वीर्योंकी गणना की हैं—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च
श्रीश्च धर्मश्च ॥ ७ ॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च
विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ ८॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च
चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं
चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १०॥
(अथर्व० १२।५)

(१ ओजः) शारीरिक बल, (२ तेजः) तेजस्विता, (३ सहः) सहनशक्ति, (४ बलं) आत्मिक बल, (५ वाक्) वाचाकी शक्ति, (६ इन्द्रियं) इंद्रियोंकी शक्तियां, (७ श्रीः) शोभा, (८ धर्मः) कर्तव्यपालन करनेका स्वभाव, (९ ब्रह्म) ज्ञान, (१० क्षत्रं) शौर्य, (११ राष्ट्रं) राष्ट्रशक्ति, (१२ विशः) वैश्योंकी व्यापारकी शक्ति, (१३ त्विषिः) अधिकार शक्ति, (१४ यशः) सन्मान, (१५ वर्चः) सामर्थ्य, (१६ द्रविणं) पैसा, धन, (१७ आयुः) दीर्घ आयु, (१८ रूपं) सौन्दर्य; सुन्दरता, (१९ नाम) नामका अभिमान, (२० कीर्ति) नेकनामी, प्रसिद्धि; (२१ प्राणः) जीवनशक्ति, (२२ अपानः) रोगनिवारक शक्ति, (२३ चक्षुः) सूक्ष्मदृष्टि, (२४ श्रोत्रं) ज्ञानमें प्रवीणता, (२५ पयः) वीर्यका बल, (२६ रसः) रुचि, प्रेम, सहृदयता–हमदर्दी, सौंदर्य, सत्व; (२७ अन्नं अन्नाद्यं च) खान पान, (२८ ऋतं) न्यायानुकूल यथा-योग्य नियमपूर्वक बर्ताव, (२९ सत्यं) सत्यता, (३० इष्टं) अपना हित, (३१ पूर्तं) जनहित, दूसरोंका भला करना, (३२ प्रजाः) संतति, (३३ पशवः) गाय, बैल, घोडा आदि पशु, अथवा अशिक्षित मनुष्य ॥

ये ३३ वीर्य हैं कि जो ' भर्ग ' नामक तेजके साथ रहते हैं। ' भर्ग ' की उपासना करनेके समय इनका भी चिंतन करना चाहिए। क्योंकि उनको छोडकर मनुष्यके पास ' भर्ग ' नहीं आ सकता, तथा ' भर्ग ' को छोडनेसे ये ३३ वीर्य नहीं प्राप्त हो सकते।

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि, वह इन वीर्योंको अपने पास करनेका प्रयत्न अहर्निश करे। इनमें कई शक्तियां अपने अंदर ही बढानेवाली हैं तथा कई बाहरसे प्राप्त होनेवाली हैं। पाठक इनका अधिक विचार करके अपना लाभ कर सकते हैं।

अस्तु। इस प्रकार ' भर्ग ' का विचार करके इस मंत्रका विचार यहीं समाप्त करके अगला मंत्र देखेंगे–

मंत्र ३

(३) बुराइयोंको दूर करके, भलाइयोंको पास करना।

' हे उत्पादक ईश्वर ! सब बुराइयोंको हम सबसे दूर कराओ, तथा सब भलाइयोंकों हम सबके पास कराओ। '

बुरे विचार, बुरी आदतें, बुरे कर्म, बुरी संगति आदि सबको दूर हटाना चाहिए, तथा अच्छे विचार, अच्छे कर्म, अच्छी संगति पास करनी चाहिए। अपनी शुद्धिका यही मार्ग है और अपनी पवित्रता करनेसे ही उन्नति होती है।

' विश्वानि दुरितानि परा सुव '

' दुरित ' शब्दका अर्थ विचार करने योग्य है। ' दुः+इत ' ये दो शब्द हैं। ' इतः ' का अर्थ (१) गत, (२) आगत, (३) प्राप्त, (४) चिंतन किया हुआ, (५) साथ रहा हुआ, (६) चालचलन, आचार (७) मार्ग (८) ज्ञान।

' दुः+इत=दुरित ' का अर्थ — बुरी गति, बुरी अवस्था प्राप्त होना, कठिनता, दुर्गति, बुरा विचार मनमें लाना, दुष्टोंकी संगति करना, बुरा चालचलन और आचार करना, बुरे मार्गसे चलना, दुःखकारक तर्कवितर्क चलाना, बुरा उपदेश सुनना। कठिनता, पापी आचार, बुरा मार्ग, बुरा विचार, पाप। इत्यादि भाव इस शब्दके हैं।

इस प्रकारके अवनतिकारक बुरे भावोंको दूर करना और अच्छे भावोंको पास करना। प्रत्येकका पुरुषार्थ प्रयत्न इसी दृष्टिसे होना चाहिए। अब वेदमें बुराइयोंके विषयमें जिन जिन शब्दोंद्वारा उल्लेख किया है उनका थोडासा विचार करेंगे — ऋग्वेद।

१ दुराध्यः = (दुः + आध्यः) = निर्धनता, गरीबी, हीनता, दारिद्र्य।
२ दुरापना = (दुः+आपन) = जीतनेके लिये कठिन।
३ दुराव्य = (दुः+आव्य) = पार होनेकी कठिनता।
४ दुरित = (इसका अर्थ ऊपर दिया है।)
५ दुरुक्तं = (दुः + उक्त) = कठोर भाषण, अपमानकारक भाषण, निन्दा, दुःखदायक शब्द।
६ दुरेवः = (दुः + एवः) बुरा चालचलन, कुटिल मनुष्य, कुटिलता, टेढी चाल, अपराधी।
७ दुरोकं = (दुः+ओकं) = नापसंद, अ-सभा-घातकारक, जिसके आश्रयसे परिणाममें अहित होता है।
८ दुष्कृतं = बुरा कर्म, पापी आचरण।
९ दुर्गं = कठिनता, विपरीत अवस्था।
१० दुर्गृभिः = काबू करनेके लिये कठिन।
११ दुरुच्यवनः = हलचल करनेकी कठिनता।
१२ दुर्दृशीकं = जिसका दर्शन बुरा है।
१३ दुर्धर्तवः = धारण करनेकी, स्वाधीन रखनेकी कठिनता।
१४ दुर्धा = बुरा हुकुम, बुरा शासन, अव्यवस्था।
१५ दुर्ध्या = दुष्ट विचार, दुष्टताका ध्यान करना।
१६ दुर्नामन् = बुरा नाम, अपयश, दुष्कीर्ति।
१७ दुर्नियन्तु = नियमन करनेके लिये कठिन, संयम करनेकी कठिनता।
१८ दुष्पदा = बुरा स्थान।
१९ दुर्भृतिः = खानपानकी न्यूनता, अकालकी अवस्था, भरण-पोषण न होनेकी हालत।
२० दुर्मतिः = दुष्ट बुद्धि, बुरा विचार, मूर्खता कुटिलता,
२१ दुर्मदः = मूर्ख, क्रोधी, अविचारी।
२२ दुर्मन्मन् = बुरा मनवाला, बुरा विचार करनेवाला।
२३ दुर्मर्षः = बुरा, शत्रु, असह्य, दुराग्रही।
२४ दुर्मायुः = जिसका पित्त बिगडा है, पचन शक्तिका बिगाड, क्रोधी स्वभाव, दूसरेकी हानि करनेवाले कार्य करनेमें कुशल।
२५ दुर्मित्रः = शत्रु।
२६ दुर्युजः = मिलने जोडने, संगति करनेके लिये बुरा।
२७ दुवर्तुः = जिसका बर्ताव बुरा है। टेढी चाल चलनेवाला।
२८ दुर्वासः = जिसके कपडे मलीन हैं।
२९ दुर्विदत्रः = जिसका स्वभाव तथा विचार बुरा है।
३० दुर्विद्वांसः = जो अपने ज्ञानका बुरा उपयोग करता है।
३१ दुःशंसः = बुरे कार्य करनेसे जो बदनाम हुआ है।
३२ दुःशासुः = जिसका शासन बुरा है।
३३ दुःशेवः = जो सेवन करनेके लिये अयोग्य है।
३४ दुःस्वप्न्यं = जिससे बुरा स्वप्न आता है। अजीर्ण आदि बुरे स्वप्नके कारण होते हैं। तथा कुविचार भी हैं।

यजुर्वेद।

३५ दुरिष्टिः = यज्ञमें न्यूनता, अपूर्णता। अथवा विघ्न उत्पन्न करनेवाले होम हवन आदि।
३६ दुरन्नन् = बुरा भोजन करना। अधिक अर्थात् पचन होनेसे अधिक भोजन करना।
३७ दुश्चरितः = जिसका जीवन बुरा है।
३८ दुष्तरः = तैरने, पार होनेके लिये कठिन।

सामवेद।

३९ दुरोणस् = बुरा वर्तन।
४० दुरोषस् = सुस्त, आलसी, निरुद्योगी।
४१ दुर्हणायुः = क्रोधी।

अथर्व वेद।

४२ दुर्गन्धीन् = दुर्गन्धयुक्त पदार्थ।
४३ दुर्गहं = आपत्ति-भीतिका स्थान।

४४ दुश्चित्तं = जिसका चित्त बुरा है। जो बुराईका चिंतन करता है।

४५ दुर्दाशं = विनाश अवनतिकारक बुरी अवस्था।

४६ दुष्प्रतिग्रहः = बुरे पदार्थका स्वीकार। बुरी रीतिसे किसी पदार्थका स्वीकार।

४७ दुर्भगः = बुरा धन। (भग शब्दका अर्थ पहले दिया है। उस प्रत्येक अर्थके विरोधी भावका आशय यहां समझना।)

४८ दुर्भूतं = जिसकी उत्पत्ति बुरी है।

४९ दुर्वाचः = बुरा भाषण करना।

५० दुर्हार्दः = जिसका हृदय बुरा है।

५१ दुर्हितः = जिसके हित करनेके प्रयत्नसे कार्य बिगडता है।

इत्यादि अनेक दुरित हैं, इनमें कई व्यक्तिके दुर्गुण हैं तथा अन्य समाजके दुर्गुणी मनुष्य हैं। चारों वेदोंमें इतने नाम दुरितोंके आये हैं। इससे अधिक १०।१५ नाम हैं परंतु उनका भाव प्रायः ऊपर दिये हुए नामोंमें आ चुका है। इसलिये उनके नाम यहां दिये नहीं। यहां कोई यह न समझे कि इतने ही दुरित हैं। दुरितोंकी गिनती नहीं हो सकती। किसी समय विपरीत विचार, विपरीत भाषण, अथवा विपरीत आचरण करना दुरित होता है। इस प्रकारके सब दुरितोंको दूर करनेसे उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना सुगम होता है। अस्तु। अब अथर्ववेदके अन्दर बुरे भावोंसे बचनेके विषयमें एक सूक्त है वह यहां देखने योग्य है—

पाप संकल्पको दूर करना।

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि॥ परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः॥ १॥ अवशसा निःशसा यत् परा शसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु॥ २॥ यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि। प्रचेता न आंगिरसो दुरितात्पात्वंहसः॥ ३॥ (अथर्व. ६।४५)

'(१) हे (मनस्पाप) मनके पाप-संकल्प! (परोपेहि) दूर हो जाओ। (२) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त-अयोग्य बात कहते हो। (३) (परेहि) दूर हो, (त्वा न कामये) तुमको में नहीं चाहता। (४) जाओ वनमें जहां केवल वृक्ष रहते हैं। (५) मेरा मन अपने घरमें लगा है, तथा (गोषु) अपनी इन्द्रियोंके विषयमें में सोच रहा हूं। (६) जागते हुए अथवा स्वप्नमें जो पाप हमने (अव-शसा) बुरी इच्छासे, (निःशसा) बुरी कल्पनासे अथवा (परा-शसा) बुरी अवस्थाके कारण किये हों; (अ-जुष्टानि) जो निन्दनीय दुराचार हुए हों; उन सबके कारणोंको परमेश्वर हम सबसे दूर करे॥ हे प्रभो! ज्ञानके स्वामिन्! (७) जो (मृषा चरामसि) झूठे व्यवहार हमसे हुए हों, उन सब पापोंसे (प्र-चेताः) विशेष बुद्धिमान् ज्ञानी, हम सबको बचावे।

इन मंत्रोंमें मनको दुरितोंसे बचानेकी रीति बताई है। जब किसी समय मनमें बुरे विचार आने लगेंगे तब मनको सावधान करके कहना चाहिए कि, 'खबरदार! हे मन! मेरे पास इस प्रकारके बुरे विचार फिर न ले आओ। क्या मुझे तू दुराचरणमें प्रवृत्त करता है। मैंने तुम्हारी टेढी बात सुननी नहीं है। ध्यान रखो। में अपनी उन्नतिके लिये अपने विचारोंको एकत्रित करना चाहता हूं। और तुम मुझे बुराईमें ले जाना चाहते हो। स्मरण रखो। में अपने धार्मिक विचारों पर ही दृढ रहूंगा। जागते हुए अथवा सोते हुए जो कुछ पाप मेरेसे हुआ हो उस प्रकारका दुष्कृत दुबारा न करनेके लिये मैंने अब दृढ निश्चय किया है। और जहांतक मेरा प्रयत्न चलेगा, वहांतक में दुबारा पापका आचरण कभी नहीं करूंगा। हे मन! तू कितना भी प्रलोभन बता। में बुरे विचारोंको दूर ही रखूंगा।' इस प्रकारकी दृढता धारण करके मनके बुरे भावोंको रोकना चाहिए। इस प्रकार वारंवार रोकनेसे मनमें फिर कुसंस्कार नहीं उत्पन्न होते। इसी प्रकार और एक मंत्र देखिये—

उलूक-यातुं शुशुलूक-यातुं जहि श्व-यातुमुत कोक-यातुम्। सुपर्ण-यातुमुत गृध्र-यातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋ. ७।१०४।२२ अथर्व. ८।४।२२)

'(१ सुपर्ण-यातुं) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमंड, गर्व, अहंकार, (२ गृध्र-यातुं) गीधके समान बर्ताव अर्थात् लोभ, दूसरेके मांस पर स्वयं पुष्ट होनेकी इच्छा, (३ कोक-यातुं) चिडियोंके समान व्यवहार अर्थात् अत्यन्त कामविकार, (४ श्व-यातुं) कुत्तेके समान रहना अर्थात् आपसमें लडना और दूसरोंके सामने पूंछ हिलाना, (५ उलूक-यातुं) उल्लूके समान आचार अर्थात् मूर्खताका व्यवहार करना, उल्लू जिस प्रकार प्रकाशसे भागता है उस प्रकार ज्ञानकी रोशनीसे भाग जाना, (६ शुशुलूक-यातुं) भेडियेके समान क्रूरता, ये छे राक्षस हैं। गर्व, लोभ, काम, मत्सर, मोह और क्रोध ये छे विकार हैं जिनको (दृषदा इव) जैसे

पत्थरसे पक्षियोंको मारते हैं उस प्रकार इनको पत्थरके समान मन दृढ करके दूर करो और इनसे सबको बचाओ। '

इस प्रकार वेदका मंगल उपदेश है, जो प्रत्येकको ध्यानमें धरना उचित है। यदि इस अपूर्व ज्ञानका संदेश प्रत्येक आत्मातक पहुंचाया जायगा तो यही पृथ्वी स्वर्गधाम बनेगी और यही मृत्युलोक सच्चा देवलोक बन जायगा !

इस प्रकार बुराइयोंको दूर करनेका उपदेश है। बुराइयोंका चिंतन सदा नहीं करना चाहिये और न किसीसे बुराई की बात सुननी चाहिए; परंतु अपनी परीक्षा करके अपनी बुराइयोंको हटा कर, अपने अंदर उत्तम श्रेष्ठ सद्गुणोंको लानेका यत्न प्रतिसमय करना चाहिए। व्यक्तिमें बुरे दुर्गुण होते हैं और समाजमें दुर्जन होते हैं। जैसा व्यक्तिमें क्रोध और समाजमें क्रोधी मनुष्य है। दोनोंको दूर रखना चाहिये। इसी प्रकार अन्य दुर्गणों तथा दुर्गुणियोंके विषयमें समझना।

' यद्भद्रं तन्न आसुव । '

' जो कल्याणकारक है उसको अपने पास करो। ' बुराइयोंकी गिनती ऊपर की है, उनके विरुद्ध भावोंकी कल्पना करनेसे भलाइयोंकी कल्पना हो सकती है। परन्तु वेदके शब्दोंसे ही थोडे सद्गुणोंकी गिनती यहां करता हूं---

ऋग्वेद ।

१ सु+अंगः (स्वंगः) = अपना शरीर सुदृढ तथा सुन्दर बनाना, अपनी इंद्रियोंको बलवान, सुंदर और सुशिक्षित करना।

२ सु+अंचः (स्वंचः) = एक होकर, समुदाय अथवा संघ बना कर उच्च बननेके लिये अच्छे मार्गसे चलना।

३ सु+अध्वरः (स्वध्वरः) = हिंसारहित उच्च कर्म करना

४ सु+अनीकं (स्वनीकं) = उत्तम संघ बना कर दुष्टोंके संहार के लिये युद्ध करना।

५ सु+अपत्यं (स्वपत्यं) = उत्तम संतान उत्पन्न करना।

६ सु+अपसः (स्वपसः) = उत्तम व्यापक कर्म करना।

७ सु+अप्नस् (स्वप्नस्) = उत्तम प्रशस्ततम कर्म करना।

८ सु+अभिष्टिः (स्वभिष्टिः) = उत्तम श्रेष्ठ इच्छा धरना।

९ सु+अभीशुः (स्वभीशुः) = उत्तम तेजस्वी होना।

१० सु+अरंकृतः (स्वलंकृतः) = उत्तम अलंकार, उत्तम वस्त्र आदि से सुशोभित होना।

११ सु+अरिः (स्वरिः) = उत्तम सत्यमय प्रबल इच्छा।

१२ सु+अर्थः (स्वर्थ) = उत्तम अर्थकी इच्छा। उत्तम पुरुषार्थ।

१३ सु+अवः (स्ववः) = रक्षण, पालन, और संवर्धनकी उत्तम शक्ति धारण करना।

१४ सु+अश्वः (स्वश्वः) = घोडे आदि गतिमान उत्तम प्राणी अपने पास रखना।

१५ सु+अग्रः (स्वग्रः) = उत्तम खानपान करना।

१६ सु+अरि+त्र (स्वरित्र) = चारों ओरके शत्रुओंसे सब प्रकारकी रक्षा करना।

१७ सु+आध्यः (स्वाध्यः) = धनधान्यसे युक्त होना।

१८ सु+आ-भुवः (स्वाभुवः) = सबसे अधिक उत्तम शक्तिमान होना।

१९ सु+आयसः (स्वायसः) } उत्तम शस्त्रास्त्र
२० सु+आयुधः (स्वायुधः) } तैयार रखना।

२१ सु+आवेशः (स्वावेशः) = उत्तम उत्साह

२२ सु+आशिषः (स्वाशिषः) = उत्तम आशीर्वाद

२३ सु+इष्टं (स्विष्टं) = उत्तम इच्छा करना।

२४ सु+उक्तं (सूक्तं) = उत्तम भाषण करना।

२५ सु+उप+स्थानं (सूपस्थानं) = ईश्वरकी उत्तम उपासना करना।

२६ सु+उप+आयनं (सूपायनं) = उत्तम शिष्य होकर उत्तम विद्याध्ययन करना। सब कार्य अच्छी प्रकार करना।

२७ सु+ऊतिः (सूतिः) = उत्तम संरक्षण करना।

२८ सु+ओजः (स्वोजः) = उत्तम बल धारण करना।

२९ सु+कर्म = उत्तम कर्म करना।

३० सु+कीर्तिः = उत्तम यश संपादन करना।

३१ सु+कृतं = उत्तम उद्योग, पुण्यकारक कर्म करना।

३२ सु+केतुः = उत्तम ज्ञान प्राप्त करना।

३३ सु+क्षत्रः = उत्तम शौर्य धारण करना।

३४ सु+क्षयः = उत्तम घरमें निवास करना।

३५ सु+क्षितिः]
३६ सु+क्षेत्रं] = उत्तम भूमि पर वास्तव्य करना।

३७ सु+खं = इंद्रियोंको उत्तम बलवान बनाना।

३८ सु+गो+पः = इंद्रियोंका उत्तम रक्षण करना।

३९ सु+चेतस् = उत्तम चित्त धारण करना।
४० सु+जिह्वः = उत्तम जिह्वा धारण करना।
४१ सु+दंसस् = दांतोंको उत्तम रखना।
४२ सु+दक्षः = प्रत्येक कर्ममें उत्तम दक्षता रखना।
४३ सु+दक्षिणः
४४ सु+दाः } = उत्तम दान देना।
४५ सु+दातुं
४६ सु+दृशीक+रूपः = अपना स्वरूप दर्शनीय अर्थात् सुन्दर बनाना।
४७ सु+द्रविणः = उत्तम धन प्राप्त करना।
४८ सु+धन्वा = उत्तम धनुष्य आदि शस्त्रास्त्र रखना।
४९ सु+धुरः = लोकोंका उत्तम नेतृत्व करना।
५० सु+नीतिः = उत्तम न्यायानुकूल कर्तव्य करना।
५१ सु+पत्नीः = उत्तम पत्नी।
५२ सु+पथः = उत्तम मार्गसे चलना।
५३ सु+पुत्रः = उत्तम पुत्र उत्पन्न करना।
५४ सु+बाहुः = बाहुओंको उत्तम बलवान बनाना।
५५ सु+मनः = उत्तम मन बनाना।
५६ सु+मेधः = उत्तम बुद्धिको धारण करना।
५७ सु+यमः = उत्तम यमनियमोंका पालन करना।
५८ सु+वाचः = उत्तम भाषण करना।
५९ सु+वासाः = उत्तम कपडे लत्ते धारण करना।
६० सु+विप्रः = उत्तम ज्ञानी होना।
६१ सु+वीरः = उत्तम शूर होना।
६२ सु+वीर्य = उत्तम वीर्यको धारण करना।
६३ सु+वृत्
६४ सु+वतं } = उत्तम बर्ताव करना।
६५ सु+शरणः = दूसरोंको उत्तम आश्रय देना।
६६ सु+शेवः = सेवा करने योग्य बनना।
६७ सु+श्रुतः = उत्तम ज्ञानसे संपन्न होना।
६८ सु+सखा = उत्तम मित्र बनना।
६९ सु+सूदः = अन्न पकानेकी विद्या उत्तम जानना।
७० सु+हस्तः = उत्तम हाथ धारण करना।
७१ सु+शर्मा = उत्तम नाम धारण करना।
७२ सु+शिल्पः = उत्तम कारीगरीका काम करना।

इस प्रकार सहस्त्रों सद्गुणोंकी गिनती वेदमंत्रोंमें की है। सबका केवल नाम भी लिखना हो तो निःसंदेह हजारसे ऊपर गिनती पहुंच जायगी। यहां नमूनेके लिये बहुत ही थोडे नाम दिये हैं। जिससे पाठक कल्पना कर सकते हैं अथवा वे स्वयं वेदमें देख सकते हैं। ये 'भद्र' गुण हैं जो सदा पास करने चाहिए। भद्रके विषयमें यहां एक मंत्र देखने योग्य है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
(ऋ. १।८९।८; यजु. २५।२१)

'हे विद्वानो! हम सब अपने कानोंद्वारा कल्याणकारक उपदेश ही सुनें। हे सत्कर्म कर्ता! हम सब आंखोंद्वारा कल्याणकारक पदार्थ ही देखें। जबतक हमारी आयु है, तबतक सब अवयवोंको स्थिर और दृढ बनाते हुए, तथा सद्गुणोंकी स्तुति करते हुए अपने शरीर द्वारा श्रेष्ठोंका हित करते रहेंगे।'

इस प्रकार अनेक मंत्र हैं। आशा है कि, दुर्गुणोंको परे और सद्गुणोंको पास करके, सब लोग मिलकर अपनी उन्नति और अभ्युदय करनेका बडा पुरुषार्थ करेंगे। अब इस उत्तम मंत्रका इतना ही विचार करनेके पश्चात्, इसको यहीं छोडकर, अगला मंत्र देखेंगे—

मंत्र ४

(४) धनके विभागकी प्रशंसा

'उत्तम स्वास्थ्यके सब उत्कृष्ट साधनोंका उत्तम विभाग जिसने किया है, जो सब मनुष्योंको सच्चा उपदेश करता है और जो सबको सत्कर्मकी प्रेरणा करता है, वह प्रशंसाके लिये योग्य है।'

पूर्वोक्त तीन मंत्रोंद्वारा मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिके सामान्य नियमोंका वर्णन करनेके पश्चात्, इस चतुर्थ मंत्रसे 'धनका वि-भाग' नामक विशेष पद्धतिका वर्णन किया जाता है।

'वसु' शब्दका अर्थ 'निवास हेतु' अर्थात् 'जिससे मनुष्योंका उत्तम निवास' होता है। जिस साधनसे मनुष्योंका इस जगत्में रहना सहना ठीक प्रकारसे हो सकता है उसका नाम 'वसु' है। 'वस्-निवासे' इस धातुसे 'वसु' शब्द बनता है। यह यौगिक अर्थ है। परंतु इसका साधारण अर्थ धन है। ये धन निम्न प्रकारके होते हैं।

'वि-भक्तारं हवामहे'

[१] ब्राह्मणोंका धन विद्या अथवा ज्ञान है।
[२] क्षत्रियोंका धन शौर्य और राज्याधिकार है।

[३] वैश्योंका धन व्यापार और पैसा है।

[४] शूद्रोंका धन कारीगरी और शारीरिक मेहनत है।

ये चारोंके चार धन हैं। इनको इसलिये 'वसु' कहते हैं कि, इनके कारण इन चार वर्णोंकी स्थिति है, तथा इनके विभागसे सब मनुष्योंका पृथ्वीपरका निवास उत्तमतासे होता है। श्रम-विभागका पहिला तत्त्व जो इस चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थामें दिखाई देता है, वह समाजशासनकी दृष्टिसे बडा प्रशंसाके लिये योग्य है।

यह 'वसु' संज्ञक राष्ट्रीय धन आठ प्रकारका बनकर राष्ट्रमें संचार करता है। (१) अध्ययन, (२) अध्यापन द्वारा ब्राह्मणोंका ज्ञान सब लोगोंमें प्रसारको प्राप्त होता है। (३) स्वयं वीर्यवान् बनना और (४) दूसरोंकी रक्षा करना। इससे क्षत्रियोंका शौर्य सब लोगोंको सुरक्षित रखता है। (५) स्वयं धन प्राप्त करके (६) दानद्वारा अच्छे कार्योंमें उसका अर्पण करनेसे धनका यज्ञ होता है, जिसको भगवद्गीतामें 'द्रव्य-यज्ञ' कहा है। (७) स्वयं कुशल कारीगर बनकर (८) कारीगरीका प्रचार करनेसे सब देश संपन्न होता है। वसु प्राप्त करनेके चार मार्ग और वसुको फैलानेके चार मार्ग मिलकर आठ विभागों द्वारा यह वसु राष्ट्रमें कार्य करता है। इन चार वर्णोंके चार यज्ञ होते हैं जिनसे सब जनताका धारण, रक्षण, पोषण, संवर्धन और विकास होता है। इन यज्ञोंका उल्लेख श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें किया है—

ब्राह्मण......	ज्ञान	ज्ञानयज्ञ ...	ज्ञानदान ...	उपदेशद्वारा कार्य
क्षत्रिय	शौर्य	शरीरयज्ञ...	बलिदान...	रक्षणद्वारा कार्य
वैश्य	धन	द्रव्ययज्ञ ...	द्रव्यदान...	द्रव्यद्वारा कार्य
शूद्र	कौशल्य ...	श्रमयज्ञ ...	सेवादान...	सेवाद्वारा कार्य

इस प्रकार यह श्रमका विभाग है। जिसने यह उत्तम विभाग किया है वह सचमुच प्रशंसाके लिये योग्य है।

'वसोः चित्रस्य राधसः।'

'राधस्' के अर्थ— परिपूर्णता, पराक्रम, पूर्ण साधन, सिद्धि, विजय, अभ्युदय, उन्नति।

'चित्र' के अर्थ— तेजस्वी, शुद्ध, निश्चित, आश्चर्यकारक, विलक्षण, सर्वोत्कृष्ट।

उक्त अर्थ ध्यानमें धरकर उक्त वाक्यका अर्थ 'तेजस्वी, शुद्ध, विलक्षण और सर्वोत्कृष्ट पराक्रमयुक्त अभ्युदयकारक परिपूर्ण सिद्धिका यह पूर्वोक्त वसु संज्ञक धन है।' जिसका विभाग पूर्व स्थलमें बताया जा चुका है।

चार वर्णोंमें चार शक्तियां स्थापित होने पर भी किसी स्थानपर 'शक्तिका केंद्रीकरण' नहीं होना चाहिये, यह उपदेश इस मंत्रने किया है। 'शक्तिका योग्य विभाग' वेदको अभीष्ट है। यह अधिकारका विभाग किस प्रकार करना चाहिए, इसका वर्णन ५ वें मंत्रसे अध्यायसमाप्तितक किया गया है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार विभागोंमें सब नागरिक जनता विभक्त हुई है। राष्ट्रमें ज्ञानविभागका कार्य ब्राह्मणों अर्थात् ज्ञानियोंके पास रखा गया, शौर्यविभागका कार्य क्षत्रियों अर्थात् वीरोंके पास आ गया; व्यापार-विभागका कार्य वैश्यों अर्थात् बनियोंके पास हो गया और कलाविभागका सब कार्य शूद्रों अर्थात् कारीगरोंके पास आ गया। इस चतुर्थ विभागमें मजदूर पेशाके लोग भी संमिलित हैं।

उक्त चार विभागोंके अंदर भी असंख्य छोटे छोटे विभाग अपने अपने कार्य करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र, परंतु राष्ट्रीय कार्यके लिये सब एकत्र बंधे हुए बनाये गये हैं। जिनका वर्णन इस अध्यायकी समाप्तितक होनेवाला है। जिस 'वसु-विभाग' अथवा 'अधिकार-विभाग' किंवा

'शक्ति-विभाग' की प्रशंसा इस मंत्रमें की है, और 'शक्तिके केंद्रीकरण' की कण्ठरवसे निन्दा की है, उसका विचार अगले मंत्रसे करेंगे।

मंत्रके दो शब्द शेष रहे हैं। 'सविता' शब्द 'प्रेरणा अथवा उत्साह देनेका भाव' बताता है। 'सु-प्रसवैश्वर्ययोः' इस धातुसे यह शब्द बना है। ऐश्वर्यकी ओर जानेकी प्रेरणा अथवा ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये उत्साह देना चाहिये। राष्ट्रमें नेता लोगोंका हमेशा ऐसा उपदेशका कार्य होना चाहिए कि जिससे राष्ट्रकी जनताका उत्साह नष्ट न हो सके। लोगोंका उत्साह कायम रखना ही राष्ट्रके धुरीणोंका कार्य है।

'नृ-चक्षसं' शब्दका अर्थ भी बडा उच्च है। 'चक्षस्' का अर्थ- शिक्षक, उपदेशकर्ता, आध्यात्मिक ज्ञानका प्रवचन करनेवाला। अर्थात् 'नृ-चक्षस्' का अर्थ 'लोगोंको उपदेश करनेवाला' है। 'नृ' शब्दसे सब जनताका बोध है। सबको शिक्षण देना चाहिये, किसीको भी शिक्षासे विमुख नहीं रखना। 'नृ-चक्षण' का अर्थ 'मनुष्यमात्रकी शिक्षा' ऐसा है। परमात्मा सबको एक जैसा उपदेश देता है, इसलिये पूर्णतया उसको 'नृ-चक्षस्' कहते हैं, तथा जो शासनकर्ता सबको 'आवश्यक शिक्षा' देगा, उसकी भी पदवी 'नृ-चक्षस्' ही होगी। क्योंकि जो कार्य परमेश्वर अपने स्वभावसे कर रहा है, वही हम सबको ज्ञानपूर्वक बडे प्रयत्नके साथ करना चाहिये। तभी मनुष्य मुक्ति अर्थात् स्वातंत्र्यके भागी होंगे।

अब चारों वर्णोंकी समानताके विषयमें वेदका उपदेश देखिए, जिससे पता लग जायगा, कि उक्त वर्णोंमें साधारणतया न्यूनाधिकता नहीं रखी है—

चारों वर्णोंका तेज।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳराजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
(यजु० १८।४८)

'हमारे ब्राह्मणोंमें तेज रखो, हमारे क्षत्रियोंमें तेज रखो, हमारे वैश्यों और शूद्रोंमें तेज रखो तथा मेरे अंदर तेजसे तेजस्विता रखो।' तथा—

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्॥ आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥ दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्॥ निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु॥ फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्॥ योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (यजु० २२।२२)

'हे (ब्रह्मन्) परमेश्वर! (राष्ट्रे) हमारे राष्ट्रमें ब्राह्मण ज्ञानतेजसे युक्त हों, क्षत्रिय लोग शूर महारथी और अच्छे शस्त्रास्त्रोंसे युक्त हों, तथा हमारे राष्ट्रमें दूध देनेवाली गौवें, अच्छे बैल, चपल घोडे, विद्वान् स्त्रियां हों, तथा इस यज्ञकर्ताका पुत्र शूर विजयी, सभामें चमकनेवाला होवे। योग्य समयपर पर्जन्य पडता रहे। वृक्षवनस्पतियां फलोंसे भरपूर होवें। तथा हम सबका योगक्षेम अच्छा चलता रहे।'

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टेः शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहन्॥
(अथर्व० ३।२४।३)

'जो इन पांच दिशाओंमें पांच प्रकारके (कृष्टयः) उद्यमशील (मानवीः) मनुष्य हैं, वे सब, जिस प्रकार वृष्टिसे नदी बढती है उसी प्रकार, उन्नतिको प्राप्त हों।' विद्वान्, शूर, व्यापारी, कारीगर और अज्ञानी ऐसे पांच प्रकारके लोग होते हैं वे सब उन्नत हों। कोई भी अवतत न रहे।

अस्तु। इस प्रकार सबकी उन्नति होनेकी कल्पना वेदमें है। राष्ट्रमें जितने लोग होंगे, उनमें एकमत चाहिये इस विषयके लिये निम्न मंत्र देखिये—

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु॥ नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ (तथर्व० १२।१।२)

'(यस्याः) जिस हमारी भूमिके (मानवानां मध्यतः) मनुष्योंके बीचमें (अ-संबाधं) अ-द्वेष अर्थात् झगडा, आपसकी लडाई नहीं है। और जिस हमारे देशके (उद्वतः) आध्यात्मिक उन्नति करनेवाले तथा (प्रवतः) ऐहिक उन्नति करनेवाले सब लोगोंमें (बहु समं) बहुत समता अर्थात् समानता है, और जो हमारी भूमि नाना प्रकारके गुणधर्मवाली औषधियोंका धारण करती है वह हमारी भूमि (न प्रथतां) हम सबकी प्रसिद्धि (राध्यतां) सिद्ध करे।'

राष्ट्रके सब लोगोंमें 'अ-संबाध' अर्थात् अद्वेष चाहिये। किसी प्रकारका झगडा नहीं होना चाहिये। जातियोंमें परस्पर विषमता होनेके कारण झगडे उत्पन्न होते हैं। जन्मसे एक उच्च और दूसरा नीच है, इस प्रकारका विषमताका क्षुद्र भाव जहां होगा वहां अवश्य झगडा रहेगा। सब लोगोंके अधिकार समान चाहिए तथा उन्नत

होनेके लिये सबको एक जैसा सुभीता होना चाहिए। अर्थात् सबके अन्दर 'बहु समं' अर्थात् 'बहुत समता' चाहिए। समतासे सब झगडे मिट जाते हैं। विषमतासे सब झगडोंकी उत्पत्ति है।

अस्तु। इस प्रकार अधिकार-विभागका महत्त्व तथा समभावकी योग्यता इस मंत्रसे जाननेके, पश्चात् 'वसु-विभाग' का विचार अगले मंत्रसे करेंगे—

मंत्र ५ से २२ तक
'वसु-वि-भाग।'

(१) ब्राह्मण-वर्ण-विभाग।

ज्ञानका प्रचार

मंत्र ५ से मंत्र २२ तक अर्थात् अध्याय समाप्तितक 'वसु-विभाग' का वर्णन किया जाता है। मंत्रमें जो इसका क्रम रखा है, वह किसी अन्य तत्वपर होगा, उसके विषयमें सबको ही विचार करना चाहिए। यहां वे ही विभाग चार वर्णोंमें बांट कर बताये जाते हैं, जिससे उन विभागोंकी परस्पर संगति निश्चित रीतिसे समझी जायगी। सबसे प्रथम 'ब्राह्मणवर्ग' का विचार करेंगे, क्योंकि 'ब्राह्मणो अस्य मुखं' ब्राह्मण इसका मुख है' ऐसा अ. ३१।११ में कहा है। इस वसु विभागको प्रारंभ करनेसे पूर्व 'आलभते' इस क्रियाके अर्थका विचार करना चाहिए। क्योंकि यद्यपि यह क्रिया मंत्र २२ में आती है, तथापि इसका संबंध पांचवें मंत्रसे अंततक प्रत्येक वाक्यके साथ होता है।

आ-लभ् = स्पर्श करना, प्राप्त करना; पाना, पहुंचाना, पूरा करना, सिद्ध करना; आश्रय करना, उपयोग करना, सलूक करना, लाभ उठाना, पास करना; आरंभ करना; अपने ऊपर लेना; स्वीकार करना; पहुंचना; प्रसन्न करना; सुलह करना; अर्पण करना; हनन करना; पास होना।

आ-लम्ब् = आश्रय करना, विश्राम करना, सहायता करना, पालन करना; अपना करना, उपयोग करना, पास होना, प्राप्त करना, अपने आपको समर्पित करना; अवलंबन करना।

लभ् = (डु-लभ-ष्) प्राप्तौ। (पाणिनीये धातुपाठे भ्वादिः)

लम्ब् = (लबि) = शब्देऽवस्रंसने च। (पाणिनीये धातुपाठे भ्वादिः)

धातुके उक्त अर्थ देखनेमें उनमें केवल चार भाव प्रतीत होते हैं। (१) प्राप्ति, (२) आश्रय, (३) सहाय्य, और (४) हनन। ये चार अर्थ 'आलभते' क्रियामें मुख्य हैं। इन अर्थोंको मनमें धारण करके मंत्र ५ के प्रथम अंशका विचार करेंगे—

(१) 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभते' [१]

'(ब्रह्मणे) ज्ञानके लिये (ब्राह्मणं) ज्ञानीको (आलभते) प्राप्त करता है।' ज्ञानके लिये ब्राह्मणके पास पहुंचता है, ब्राह्मणका आश्रय करता है, ब्राह्मणसे उपयोग लेता है, ब्राह्मणसे व्यवहार करता है, ब्राह्मणसे लाभ उठाता है, ब्राह्मणका स्वीकार करता है, अथवा ब्राह्मणको अपने ऊपर मानता है अर्थात् ब्राह्मणको गुरु मानकर उसका शिष्य बनता है, ब्राह्मणके पास पहुंचता है, ब्राह्मणको प्रसन्न करता है, ब्राह्मणके साथ सुलह अर्थात् मित्रता करता है, ज्ञानप्रसावके लिये ब्राह्मणको अर्पण करता है, ब्राह्मणको सहायता देता है।

'हनन' का अर्थ यहां नहीं लगता, क्योंकि 'ज्ञानप्रसारके लिये ब्राह्मणका अर्थात् ज्ञानीका-हनन करता है।' यह अर्थ स्वयं अपने मंतव्यका ही खंडन करनेवाला होता है। ज्ञानी जीता रहेगा तबतक ही ज्ञानका प्रसार होना संभवनीय है, ज्ञानी पुरुषका हनन करनेसे ज्ञानके प्रसारका कार्य बंद होगा। इसलिये ऐसे स्थानोंपर 'आलभ्' का 'हनन' अर्थ नहीं लिया जा सकता। किन किन स्थानोंपर लेना उचित होगा, उसका जहां वैसा प्रसंग आवेगा वहीं विचार किया जायगा।

अब 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ देखना चाहिए। 'ब्रह्म' शब्द 'बृह् बृंह्' इन दो धातुओंसे बनता है। जिनके अर्थ निम्न प्रकार हैं—

बृह् = बढना, अभ्युदयको प्राप्त होना; वृद्धि करना; फैलना, व्यापना, बडा होना, बलवान् होना, उच्च करना, पुष्टि करना।

बृंह् = बढना, पुष्ट करना, बोलना, उपदेश करना, तेजस्वी होना, प्रकाशना।

बृह् = वृद्धौ। (पाणिनीये धातुपाठे भ्वादिः) = बढना।

बृह् = वृद्धौ शब्दे च (पाणिनीये धातुपाठे भ्वादिः) = बढना, बोलना।

बृह् = उद्यमने। (पाणिनीये धातुपाठे तुदादिः) = उद्योग करना।

उक्त अर्थोंको मनमें धारण करके, 'ब्रह्मन्' का अर्थ देखना चाहिए। 'ब्रह्मन्' शब्दका यौगिक अर्थ— 'बडा, महान्, अभ्युदयसंपन्न, व्यापक, फैला हुआ, बलवान्, उच्च,

पुष्ट, उपदेशकर्ता, तेजस्वी, उद्यमशील, इतना है। अर्थात् 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत।' का अर्थ— 'बडा होनेके लिये महत्त्व प्राप्त करनेके लिये, अभ्युदय प्राप्तिके लिये, बलवान् बननेके लिये, उच्च होनेके लिये, यश फैलानेके लिये, पुष्ट होनेके लिये, उपदेश करने और सुननेके लिये, तेजस्वी होनेके लिये, प्रयत्नशील-पुरुषार्थी बननेके लिये ज्ञानी मनुष्यको प्राप्त करो, ज्ञानी मनुष्यका शिष्य बनो। अथवा उक्त कार्य करनेके लिये ज्ञानीको नियुक्त करो, ज्ञानीको सहायता दो इ०।' हो सकता है। इस विषयमें पाठकोंको अधिक विचार करके बोध लेना चाहिए।

राष्ट्रमें अज्ञानी लोग ज्ञानी मनुष्यके पास चले जांय और ज्ञान प्राप्त करें; तथा धनिक और राजा, राजपुरुष आदि लोग ज्ञानीको सहायता करके उनसे ज्ञान प्रचार करनेका यत्न करावें। इस प्रकार दोनों प्रकारके लोगोंद्वारा ज्ञान प्रचारके लिये सहायता होनी चाहिए—

तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
(तैत्ति. आर. ८।१।१)

'(नौ) हम दोनों द्वारा (अधीतं) पढा हुआ ज्ञान (तेजस्वि) तेजस्वी रहे। और हम सब आपसमें विद्वेष अर्थात् विरोधी झगडा न करें।' उच्च, नीच, श्रीमान्, गरीब, धनिक, निर्धन, अधिकारी अधिकृत, राजपुरुष प्रजापुरुष आदि द्विविध जनोंको अर्थात् सब लोगोंको ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए। मंत्र ४ के 'नृ-चक्षस्' शब्दसे 'मनुष्यमात्रोंको ज्ञान देना' यह उपदेश ध्वनित हुआ था। वही भाव यहां अब बिलकुल स्पष्ट हुआ है।

'मनुष्यः ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत।' प्रत्येक मनुष्य ज्ञानप्राप्तिके लिये ब्राह्मणके पास पहुंच जावे। अर्थात् (१) ज्ञान लेनेका हरएक मननशील मनुष्यको जन्मसिद्ध अधिकार है, (२) तथा जो मनुष्य ज्ञानीके पास शिष्य बनकर आ जायगा, उसको निष्कपट भावसे ब्राह्मणने पढाना ही चाहिए। कोई जातिनिर्देश यहां नहीं। तथा राजाको उचित है कि ब्राह्मणको अर्थात् ज्ञानीको नियुक्ति करके, किसी प्रकारकी रुकावट न रखता हुआ, सबको ज्ञानसे युक्त करे। जिनके पास मन और बुद्धि है उनको ज्ञान ग्रहण करनेका अधिकार है। वेदमें किसी स्थानपर देखनेमें नहीं आता कि किसी मनुष्यको भी जाति, रंग, स्थान आदि क्षुद्र कारणोंके कारण, ज्ञानसे वंचित रखनेकी अंशमात्र भी ध्वनि निकलती हो। अस्तु। इस प्रकार इस मंत्रका भाव स्पष्ट हुआ। अब ब्राह्मणोंके गुणधर्म देखेंगे—

ब्राह्मणके कर्तव्य

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ (अथर्व. ५।१८।९)

'(तीक्ष्ण-इषवः) जिनके बाण तीखे हैं, और जो (हेति-मंतः) हथियार धारण करते हैं, ऐसे (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (यां शरव्यां) जिन शस्त्रोंको (अस्यन्ति) फेंकते हैं, (सा न मृषा) वे शस्त्र व्यर्थ नहीं जाते। वे (मन्युना) तेजस्वि बलके साथ (तपसा) तपके अर्थात् कष्ट सहन करके (अनु-हाय) शत्रुका पीछा करके (उत) निश्चयसे (एनं) इस शत्रुको (दूरात् अव भिन्दन्ति) दूरसे ही भेदन करते हैं।' इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणोंको भी शस्त्रास्त्रोंमें प्रवीण होना चाहिए। ज्ञानमें प्रवीण रहना उनका कर्तव्य ही है।

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ॥
वि-जानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥
(अथर्व. ५।१७।१८)

'इस राष्ट्रमें (धेनुः) गाय (न कल्याणी) हितकारक दूध नहीं देती तथा (अनड्वान्) बैल गाडीकी धुराको ओढनेके लिये समर्थ नहीं होता, कि जिस राष्ट्रमें (वि-जानिः) अपनी पत्नीको छोडकर (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (पापया) पापी स्त्रीके साथ (रात्रिं वसति) रात्रीमें रहता है।' इस मंत्रमें कहा है, कि ब्राह्मणके दुष्कृत्योंका परिणाम पशुपक्षियोंपर भी होता है, फिर मनुष्योंपर होगा ही। अर्थात् ब्राह्मणोंके नीतिभ्रष्ट और अधार्मिक होनेसे सब राष्ट्रकी अवनति होती है। इसलिये ब्राह्मणोंको उचित है कि वे अपने धर्मनियमोंपर स्थिर रहें। तथा—

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघित्सति।
परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥
(अथर्व. ५।१९।६)

'जो राजा अपने आपको (उग्रः) शक्तिमान समझकर ब्राह्मणको कष्ट देता है, (तत् राष्ट्रं) उसका वह राज्य (परा सिच्यते) दूरतक गिर जाता है, जहां (ब्राह्मणः जीयते) ब्राह्मणको कष्ट पहुंचते हैं।' जिस राष्ट्रमें ज्ञानीको कष्ट पहुंचते हैं, ज्ञानीका कोई उपदेश नहीं सुनता, ज्ञानीके उपदेशोंको दबानेका यत्न किया जाता है, वह राष्ट्र अवनत होता है, क्योंकि ज्ञानसेही सबकी उन्नति होनी है। तथा—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्य-जिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ १॥
(ऋ. ७।१०३।१, अथर्व. ४।१५।१३)

' (सं-वत्सरं शशयानाः) वर्षकी अवधीतक समाधिकी शांत वृत्ति (Tranquility) में रहते हुए (व्रत-चारिणः) नियमोंके अनुसार आचरण करनेवाले तथा (मण्डूकाः=मण्डति भूषयति विभाजयति वा । भूषयिता विभाजयिता वा मंडूकः) मंडन और खंडन करनेवाले (ब्राह्मणाः) विद्वान् लोग (पर्-जन्य-जिन्वितां वाचं) पूर्तिकारक प्रेरणासे वाणीको (प्र अवादिषुः) विशेष प्रकार बोलते हैं।'

'मंडूक, मंडन, मंडप, मंडल' इत्यादि शब्द 'मंड्' धातुसे बने हैं जिसका अर्थ 'भूषित करना, शोभायुक्त बनाना, मंडन करना' ऐसा होता है। 'मंड्' धातुका दूसरा अर्थ 'विभाजन' अर्थात् 'भेदन, छेदन, खंडन' करना है। अर्थात् 'सत्यका मंडन और असत्यका खंडन' करनेका भाव 'मंडूक' में है। जो 'धर्मका मंडन और अधर्मका खंडन करता है' उसकी पदवी मंडूक होती है। लौकिक संस्कृतमें 'मेंडक' ऐसा इसका अर्थ है, उसीको मनमें धरकर और उक्त यौगिक मूल धात्वर्थको छोडकर डा. मूर साहब आदि यूरोपीयनोंने अपनी पुस्तकोंमें यह मंत्र 'ब्राह्मणोंकी निंदा करनेके लिये बनाया गया है', ऐसा लिखा है। वह उनके अज्ञानका द्योतक है।

'पर्जन्य' शब्दका अर्थ 'पूर्तिजन्य, पूर्ति-जनक, पूर्णत्वका उत्पादक' है। पूर्णता करनेका गुण विद्वानोंकी प्रभावयुक्त वाणीमेंही हुआ करता है। 'पर्-जन्य-जिन्वितां वाचं' का अर्थ पूर्णता उत्पन्न करनेकी इच्छासे कही हुई वाणी अथवा वक्तृता' ऐसा है। यही ब्राह्मणोंका काम है कि वे अपनी वक्तृतासे राष्ट्रमें ज्ञानके विषयमें पूर्णता उत्पन्न करें और किसी स्थानपर न्यूनता न रखें। उक्त सूक्तका और एक मंत्र देखिए—

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परि-वत्सरीणम्। अध्वर्यवो धर्मिणः सिष्विदाना आवि-र्भवन्ति गुह्या न केचित्॥ (ऋ. ७।१०३।८)

' (सोमिनः) सौम्य, शांत, (अ-ध्वर्यवः) अहिंसा-युक्त कर्म करनेवाले, (सिष्विदाना धर्मिणः) तपनेवाले, तपस्वी (ब्राह्मणासः) विद्वान् लोक (परि-वत्सरीणं ब्रह्म कृण्वन्तः) एक वर्षकी अवधितक ज्ञानका उपदेश करनेवाले, (गुह्या न केचित्) किसी प्रकार गुप्तता न रखते हुए (आविर्भवन्ति) बाहर आते हैं और (वाचं अक्रत) वक्तृता करते हैं।' अर्थात् एक वर्षपर्यंत सतत पढाईका कार्य करनेवाले विद्वान् शांत अहिंसाशील तपस्वी ब्राह्मण बाहर आकर उपदेश करते हैं, पक्षपातको छोडकर; अंदर एक और बाहर एक इस प्रकार न करते हुए, ठीक सत्यका मंडन और असत्यका खंडन करते हैं। तथा—

ब्राह्मणमद्य विन्देयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सु-धातु-दक्षिणम्। अस्मद् द्राता देवता गच्छत प्रदातारमाविशत॥ (यजु. ७।४६)

' (अद्य ब्राह्मणं विन्देयं) हम सब आज विद्वानको प्राप्त करें, जो विद्वान् (१) (पितृमंतं) पितृमान् अर्थात् उत्तम पितासे उत्पन्न हुआ हो, (२) (पैतृमत्यं) जिसका पितामह अच्छा हो, (३) (आर्षेयं) ऋषि-योंका सब ज्ञान जिसने पढा हो, तथा (४) (ऋषिं) जो स्वयं दिव्य दृष्टिसे युक्त हो और (५) (सु-धातु-दक्षिणं) उत्तम वीर्य धारण करनेमें दक्ष हो अर्थात् इंद्रिय-निग्रही ऊर्ध्वरेता हो। (अस्मत्-द्राता) हमारेसे प्रगतिको प्राप्त होकर (देव-त्रा) विद्वानोंमें जो (प्र-दातारं) विशेष दानशील हों उनके पास (गच्छत) जाओ और उनमें (आ-विशत) प्रविष्ट होकर रहो।' इस मंत्रमें किस प्रकारका ब्राह्मण गुरु करना चाहिए, इसका उत्तम वर्णन है; इस प्रकार गुरु होंगे तो सबका सुधार हो सकता है। तथा—

ब्राह्मणानभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्म-णवर्चसम्॥ (अथर्व. १०।५।४१)

' ब्राह्मणोंको मैं प्राप्त करता हूं। वे ब्राह्मण मुझे ज्ञान-तेजरूपी धन देवें ' इस प्रकार ब्राह्मणोंके गुणवर्णन करनेवाले बहुत मंत्र हैं, परंतु यहां नमूनेके लिये थोडेसे रखे हैं। इन मंत्रोंसे ज्ञात हो सकता है, कि ब्राह्मणका ज्ञान-प्रचारका कार्य राष्ट्रमें कितना है, और जनताकी उन्नतिके साथ सच्चे उच्च ब्राह्मणका कितना संबंध है। अब हम अगला उपदेश देखेंगे-

(२) ' तपसे कौलालम्। ' [२१]

इस वाक्यका अर्थ ठीक ध्यानमें आनेके लिये 'तपस्' और 'कौलाल' इन दोनों शब्दोंके अर्थ विस्तारपूर्वक देखने चाहिए—

तपस्का अर्थ = उष्णता, गर्मी; स्वकीय इच्छासे कष्ट सहना, अच्छा कार्य करनेके समय होनेवाले कष्ट आनंदसे

सहना; ध्यान, चित्तकी एकाग्रता; धर्म-नीति-विषयक सद्गुण; सद्गुण; विशेष कर्तव्य; जैसा ब्राह्मणोंका तत्त्वज्ञानका विचार, क्षत्रियोंका राज्य-संरक्षण, वैश्योंका कृषि व्यापार और पशुसंरक्षण, तथा शूद्रोंका कारीगरी और इमानी नौकरी; ये चार वर्णोंके चार विशेष कर्तव्य तप कहलाते हैं। तथा–

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ (तै. आ. १०।८)

' (ऋतं) अटल नियमोंका पालन (सत्यं) सत्यका पालन (श्रुतं) विद्याध्ययन, (शान्तं) चित्तकी शांति, (दमः) मनका दमन, (शमः) इंद्रियोंका शमन, (दानं) परोपकार, (यज्ञ) सत्कार, संमति दानात्मक कर्म, (भूः) अस्तित्व रखना, (भुवः) मनन करना, (सुवः) आनंद प्राप्त करना, उच्च गति प्राप्त करना, (ब्रह्म) परमेश्वरकी उपासना करना ये सब तप हैं। तथा—

तपश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। (तै. आ. ७।९)

' (स्वाध्यायः) अध्ययन और (प्र-वचनं) उपदेश ये तप हैं। ' तथा—

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ (अथर्व. ११।५।५)

' (ब्रह्मणः ब्रह्मचारी) ज्ञानका ब्रह्मचारी अर्थात् ज्ञानार्जनमें अपना समय व्यतीत करनेवाला विद्यार्थी, (घर्मं वसानः) श्रम करता हुआ जब (पूर्वः जातः) पूर्ण बन जाता है, तब वह (तपसा उदतिष्ठत्) तपके कारण उन्नत होता है। उसीसे श्रेष्ठ ब्रह्मका तत्त्वज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा (अमृतेन साकं) अमरपनके साथ (सर्वे देवाः) सब दिव्यगुण तथा दिव्य पदार्थ उसीके साथ रहते हैं। '

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ (अथर्व. ११।५।१७)

' (राजा) राष्ट्रका अधिकारी, (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्याध्ययन और वीर्य संरक्षणरूप तपके द्वारा राष्ट्रका संरक्षण करता है। तथा (आचार्यः) अध्यापक ब्रह्मचर्यके साथ ही रहनेवाले विद्यार्थीकी इच्छा करता है। ' अर्थात् राष्ट्रके सब अधिकारी क्षत्रिय तथा सब अध्यापक ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका पालन करनेवाले हों, तथा वे दोनों राष्ट्रके सब लडकोंसे ब्रह्मचर्य पालन और वीर्य रक्षण करावें। यह सब तप है। इतने विवरणसे 'तप' का निम्न अर्थ प्रतीत होता है :– ' (१) जनतामें गर्मी अर्थात् उत्साह रखना, (२) अच्छे कर्म करनेके समय होनेवाले सब कष्ट आनंदसे सहना, (३) सब कर्म विशेष ध्यानपूर्वक करना, (४) धर्म नियमोंका उत्तम पालन करना, (५) सद्गुणोंका धारण करना, (६) अपने विशेष कर्तव्य पालन करना, (७) उन्नतिके नियमोंका पालन, (८) सत्यका पालन, (९) विद्याका अध्ययन, (१०) चित्तकी शांति, (११) मनका दमन, (१२) इंद्रियोंका संयम, (१३) परोपकार, (१४) योग्य सज्जनोंका सन्मान करना, (१५) उत्तम सज्जनोंके साथ मित्रता करना, (१६) दोनोंकी सहायता करना, (१७) अपना अस्तित्व उत्तम प्रकारसे रखनेके लिये पुरुषार्थ करना (१८) उन्नति प्राप्त करना, (१९) ईश्वरकी भक्ति करना, (२०) सत्यधर्मका उपदेश करना, (२१) वीर्यका संरक्षण करके बलवान् बनना, ये सब तप हैं।

अब 'कौलाल' का अर्थ देखिए– 'कुले भवः कौलः।' जो उत्तम कुलमें उत्पन्न होता है। उसको 'कौल' कहते हैं। कुलीन; शक्तिका उपासक।

'कौलं अलति भूषयति पर्याप्नोति वा स कौलालः।' जो कुलीनताको भूषित करता है अथवा उसकी परिपूर्णता करता है वह कौलाल होता है। अर्थात् 'स्वयं कुलीन होकर कुलीनताके योग्य सब कार्य करता है' वह कौलाल है। कई पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर अधम कर्म करते हैं उनका यहां इस शब्दसे ग्रहण नहीं होता, परंतु जो स्वयं श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होते हुए, उस श्रेष्ठ कुलका यश वृद्धिगत करनेके लिये सर्वदा योग्य पुरुषार्थ करते हैं, उन पुरुषोंको तप शब्दसे ज्ञात होनेवाले उक्त कार्य करनेमें लगाना चाहिए। उत्तम धर्मनीतिके प्रचारके लिये कुलीन और कुलभूषण पुरुषको संयुक्त करो।

'(३) अयेभ्यः कित-वम्। ' [३७]

'अयः' का अर्थ = योग्य दिशासे प्रगति करना; उन्नतिकी ओर जाना, अभ्युदयके लिये पुरुषार्थ करना। प्र-गति। (अय-गतौ)।

'कित-वः' का अर्थ– 'कित संज्ञाने। चिकेत्ति जानाति। कितं ज्ञानं वनति संभजति इति कित-वः ज्ञानैकपरायणः।' कितका अर्थ ज्ञान; तथा ज्ञानका सेवन करनेवाला होता है, वह 'कित-व' अर्थात् जो ज्ञानके लिये ही अपने आपको अर्पण करता है।

'अभ्युदयके कार्योंके लिये ज्ञानके उपासकको प्राप्त अथवा प्रयुक्त करो।'

'(४) सं-ज्ञानाय स्मर-कारीम्।' [४७]

'(स्मर-कारीं) प्रीतिसे, प्रेमके साथ, कर्म करनेवालेको (सं-ज्ञानाय) उत्तम ज्ञानके लिये प्रयुक्त करो।'

'(५) प्रयुग्भ्य उन्मत्तम्।' [३५]

'प्र-युज् प्रयोग' का अर्थ- अनुभवके लिये कार्य करके जांचना, तजवीज, मन्सूवा, कल्पना, पद्धति, व्यवस्था, ध्यानसे काम करना, प्रदर्शन, कर्मका अनुष्ठान।

'उन्मत्त' 'उत्+मत्त' का अर्थ- 'उद्गतः मदः यस्मात्।' जिससे घमंड चली गई है अर्थात् जो घमंड नहीं करता।

'विशेष महत्वकी व्यवस्थाके कार्यके कार्यके लिये ऐसे मनुष्यको प्रयुक्त करो कि जो घमंडी न हों।'

'(६) गंधर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यम्। [३४]

'व्रात्यः' = व्रजति इति व्रात्यः॥ जो उपदेश करनेके लिये सदा भ्रमण करता रहता है उसको व्रात्य कहते हैं।

'गंधर्वः' = गां पृथिवीं धारयति इति गं-धर्वः। जो भूमीको धारण करके अर्थात् अपनी जमीनके आश्रय पर ही रहता है वह गंधर्व अर्थात् किसान है। 'अप्-सरसः' = अप् अर्थात् कर्मोंके लिये जो संचार करते हैं उन कर्म-चारियोंका यह नाम है।'

'किसानों और कर्मचारियोंके लिये भ्रमण करनेवाले उपदेशक रखो।'

गंधर्व तथा अप्सरस्के अन्य अर्थ यहां अभीष्ट नहीं ऐसे प्रतीत होता है। गंधर्व-नायक, गानेवाला, वक्ता। अप्सरः- नर्तकी, नाचनेवाली॥ इस विषयमें पाठकोंको विशेष सोचना चाहिए।

व्रात्यके विषयमें अथर्ववेदमें बड़ा वर्णन देखने योग्य है।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वाऽवात्सी-र्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथाऽस्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथाऽस्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथाऽस्त्विति ॥२॥ (अथर्व. १५।११)

इस प्रकारका भ्रमण करनेवाला (व्रात्यः) उपदेशक जब अपने घर आ जायगा, तब स्वयं उसके सन्मुख जाकर पूछना चाहिए, कि हे (व्रात्य) उपदेशक! आप इतने दिन कहां थे? आपके लिये यह उदक है। आपको हम आनंदमें रखेंगे। जो आपके लिये प्रिय होगा वही किया जायगा। जो आपको अनुकूल होगा वही होगा। जो आपकी इच्छा होगी वैसा ही हम आचरण करेंगे।'

इस प्रकार उपदेशक आने पर उसका स्वागत करना चाहिए। इस विषयमें अथर्ववेद कां. १५ देखने योग्य है। उपदेशकोंका योग्य सन्मान करना लोकोंका धर्म है।

(७) 'सर्प-देव-जनेभ्यो अ-प्रतिपदम्।' [३६]

(सर्पाः) जंगली, अज्ञानी मनुष्य, (देवाः) विजयकी इच्छा करनेवाले मनुष्य, तथा (जनाः) इतर साधारण लोक इन तीन प्रकारके लोकोंके लिये (अ-प्रतिपदं। न विद्यते प्रतिपद् अधिकं ज्ञानं यस्मात्) जिससे अधिक ज्ञानी कोई नहीं, अर्थात् जिसका यथायोग्य ज्ञान होता है ऐसे पुरुषको प्रयुक्त करो।

सर्पः- (सर्पति इति सर्पः) जो केवल चलते फिरते हैं, परंतु जिनको मनुष्यत्वके विषयका ज्ञान प्राप्त नहीं।

जनः- (जनयति इति जनः) जो केवल प्रजा उत्पन्न कर सकता है, परंतु मनुष्यताका उच्च ज्ञान जिसके पास नहीं।

देवः- इस शब्दके अनेक अर्थ हैं-

(१) दीव्यति क्रीडति इति देवः।- जो मर्दानी खेल खेलते हैं।

(२) दीव्यति विजिगीषति इति देवः।- विजयकी इच्छा और विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले देव होते हैं।

(३) दीव्यति व्यवहरति इति देवः।- जो व्यापार-व्यवहार करता है वह देव कहलाता है।

(४) दीव्यति द्योतते इति देवः।- जो चमकता है वह देव होता है।

(५) दीव्यति स्तौति इति देवः। जो ईश्वरकी स्तुति करता है। ईश्वरका उपासक देव कहलाता है।

(६) दीव्यति मोदते इति देवः।- जो सदा आनंद वृत्तिसे रहता है।

(७) दीव्यति माद्यति इति देवः।- जो सदा खुश रहता है।

(८) दीव्यति स्वपिति इति देवः।- जिसको गाढ निद्रा आती है।

(९) दीव्यति कामयते इति देवः।- जो प्रीति करता है।

(१०) दीव्यति गच्छति इति देवः।- जो हलचल करता है।

(११) देवो दानात् ।– जो दान देता है।

इतने देवोंके लक्षण होते हैं। इस प्रकारके सब लोगोंको शिक्षण देनेके लिए ऐसे योग्य पुरुषोंको रखना चाहिए कि जो जहां उत्तम प्रकारसे योग्य हो।

न्याय-विभाग।

'(८) आ-शिक्षायै प्रश्निनम् ।' [५८]

(आशिक्षायै) शिक्षणकी इच्छा–करनेवालेके लिये (प्रश्निनं) प्रश्न पूछनेवालेको प्रयुक्त करो।'

'(९) उप-शिक्षाये अभि-प्रश्निनम् ।' [५९]

'(उप–शिक्षायै) अभ्यासके लिये (अभि–प्रश्निनं) जिज्ञासुको नियुक्त करो।'

'(१०) मर्यादायै प्रश्न-विवाकम् ।' [६०]

'मर्यादा—मर्यैः मनुष्यैः आदीयते या सा मर्याऽऽदा।' जो सब मननशील मनुष्योंने अपनी स्वसंमतिसे निश्चित की होती है, उस नियमव्यवस्थाको मर्यादा कहते हैं।

(मर्यादायै) न्याय व्यवस्थाके लिये (प्रश्न–विवाकं) पंचको नियुक्त करो।'

'प्रश्निन्' का अर्थ– वादी, मुद्दई, फिरयादी।

'अभिप्रश्निन्' का अर्थ– प्रतिवादी मुद्दाअलह।

'प्रश्नविवाक' का अर्थ–पंच, न्यायाधीश।

ये भी इनके अर्थ हैं। इन अर्थोंके अनुकूल 'आशिक्षा, उपशिक्षा' के अर्थ भी बदलने उचित होंगे। परंतु इन अर्थोंका आजकालके कोशोंसे कोई पता नहीं चलता। इसलिये इस बातको विद्वान् स्वाध्यायशील पुरुषोंको सोचना चाहिए।

'(११) धर्मा सभा–चरम् ।' [१३]

(धर्माय) धर्मशास्त्रके लिये (सभा–चरं) धर्मसभाके सभासदको प्राप्त करो।'

'धर्म' शब्दका अर्थ 'स्मृति शास्त्र' अर्थात् राष्ट्रका कानून है। राष्ट्रीय महासभाके सभासदोंसे राष्ट्रके कानूनके विषयमें अर्थात् राजनियमोंके विषयमें पूछना चाहिए।

नि–यम विभाग।

'(१२) यमाय अ–सूम् ।' [१०१]

'(यमाय) नियमोंके लिये (अ–सूं) निःपक्षपातीको प्राप्त करो।'

'(१३) यमाय यम–सूम् ।' [१०३]

'(यमाय) उपनियमोंके लिये (यम–सूं) नियम उपनियम बनानेवालेके पास जाओ।'

'यम–सू' उन सभासदोंका नाम होता है, कि जो नियम उपनियम बनानेवाली सभाके सभासद होते हैं। तथा 'अ-सू' उन सभासदोंका नाम होता है कि, जो स्वयं नियम उपनियम नहीं बनाते, परंतु निःपक्षपातसे सब नियम उपनियमोंका लोकहितकी दृष्टिसे परीक्षण करते हैं।

विवाद।

'(१४) अतिक्रुष्टाय मा–गधम् ।' [१०]

'मां-प्र-माणं गध्यति गृह्णाति गध्यं गृह्णातेः। निरु. ४.२।५१॥' जो योग्य प्रमाणोंका ग्रहण करता है, उसको मा-गध कहते हैं।

(अति–क्रुष्टाय) महान वक्तृत्वके लिये (मा–गधं) योग्य प्रमाण देनेवालेको प्रयुक्त करो।

'(१५) घोषाय भषम् ।' [१४४]

(घोषाय) बडे आवाजकी वक्तृताके लिये (भषं) बडी आवाजसे बोलनेवालेको रखो।

'(१६) अन्ताय बहुवादिनम् ।' [१४५]

'(अन्ताय) समाप्तिके लिये (बहु–वादिनं) बहुत वक्तृत्व करनेवाले को नियुक्त करो।' वाद विवाद समाप्त करना हो, तो उत्तम प्रभावशाली वक्ताको रखिए, जो बहुत और अच्छा बोल कर स्वपक्षका अच्छी प्रकार मंडन कर सकता हो।

'(१७) अनन्ताय मूकम् । [१४६]

'जो वादविवाद (अनन्ताय) अन्त न होनेवाला हो, वहां (मूकं) कम बोलनेवालेको रखो।' कई वादविवाद, शास्त्रार्थ, बहस मुबाहिसे ऐसे हुआ करते हैं कि, जो समाप्त नहीं हो सकते, विपक्षी लोग वितंडवाद करते हुए बोलते ही जाते हैं, और किसी प्रकार भी नियमानुकूल नहीं चलते। ऐसी अवस्थामें बहुत ही थोडा बोलनेवाला जो हो उसको ही रखना उचित है, क्योंकि बोलने और न बोलनेका परिणाम विपक्षी पर कुछ भी नहीं होता है। जो वादविवाद सत्यका ग्रहण और असत्यको छोडनेके लिये नहीं होता, उसमें ज्ञानी मनुष्यको अधिक बोलना नहीं चाहिये।

‘(१८) आर्त्यै जन-वादिनम् । ’ [१३०]

‘(आर्त्यै) कठिन प्रसंगके लिये, विनाशकी अवस्थाके समय (जनवादिनं) लोकोंके हितकी बात जो ठीक प्रकार कह सकता है उसको रखो । ’

योग-विभाग ।

‘(१९) योगाय योक्तारम् । ’ [९३]

‘(योगाय) योगाभ्यासके लिये (योक्तारं) योग करनेवालेको रखो । ’

योगके आठ अंग हैं । (१) यम, (२) नियम, (३) आसन और (४) प्राणायम, ये चार अंग शारीरिक स्वास्थ्यके लिये हैं । अहिंसा, सत्य, अ-स्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पांच यम हैं । शुद्धि, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति ये पांच नियम हैं, व्यायामके अनंत आसन हैं जिनके करनेसे शरीर निरोगी और सुडौल बनता है । प्राणायामके करनेसे रक्तशुद्धि, हृदय और फेंफडोंकी शुद्धि होकर सब प्रकारका आरोग्य प्राप्त हो सकता है । शरीर-स्वास्थ्यके लिये इन चार अंगोंके पालनकी अत्यन्त आवश्यकता है । शरीरमें रोग इसलिये होते हैं, कि लोग इन चार अंगोंकी ओर ध्यान नहीं देते । जन्मसे दुर्बल मनुष्य इन चार अंगोंका अभ्यास करके जिस किसी आयुमें निरोगी बन सकते हैं ।

(५) प्रत्याहार, (६) ध्यान, (७) धारणा और (८) समाधि ये चार योगके उत्तर अंग हैं । इनसे आत्मिक बल प्राप्त होता है । प्रत्याहारसे इन्द्रियोंके साथ मनका संयम करना अर्थात् उनको बुरे विचारोंसे हटाकर अच्छे विचारोंमें ही प्रवृत्त करना । सद्‍गुणोंका मनन ध्यान होता है । मनकी एकाग्रता धारणाका तात्पर्य है तथा अपने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होना, तथा विरुद्ध समयमें भी शांतवृत्ति रखना समाधिका साध्य है । यह चार अंग आत्मिक बल बढानेवाले हैं ।

इस प्रकार योग-साधनसे शारीरिक और आत्मिक बल बढता है । और योगी पूर्ण आरोग्यको प्राप्त होकर, पूर्ण आयु तक उत्तम प्रकारके पुरुषार्थ करनेके लिये योग्य होता है ।

‘(२०) अ-थर्वभ्यो अव-तोकाम् । ’ [१०२]

‘अ थर्वन् ’ का अर्थ- ‘थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । अ-थर्वाणो अ-चनवन्तः ॥ ’ निरु ११।१९।१५ ॥ ‘ थर्व ’ का अर्थ ‘ चंचलता ’ है और ‘ अथर्वन् ’ का अर्थ ‘ अचंचल, स्थिर ’ है । जिस समय योगीका चित्त स्थिर होता है उस समय उसको ‘ अ थर्वा ’ कहते हैं । समाधिस्थित योगीका नाम अ-थर्वा होता है ।

‘अव-तोका ’- ‘ अवतुञ्जति रक्षति इति अवतोका । ’ संरक्षक मंडलीका नाम अवतोका है ।

समाधिमें रहनेवाले योगियोंके लिये संरक्षक मंडली रखो ।

समाधिमें रहनेवालोंका संरक्षण करना अन्य लोगोंका कर्तव्य है । उस अवस्थामें वे अपने आपका संरक्षण नहीं कर सकते । इसलिये दूसरों पर उनके संरक्षणकी जिम्मेवारी है ।

‘(२१) वपुषे मानस्कृतम् । ’ [९७]

‘(वपुषे) शरीरके लिये (मानस्कृतं) प्रमाणके अनुसार कर्म करनेवालेको प्राप्त करो । ’ शरीरको आरोग्य संपन्न और सुडौल बनानेके लिये ऐसे मनुष्यको प्रयुक्त करो कि जो सब व्यवहार योग्य प्रमाणके अनुकूल करता है ।

‘(२२) शीलाय आञ्जनी-कारीम् । ’ [९८]

‘(शीलाय) सुस्वभावके लिये (आञ्जनी-कारीं) दृष्टिका शोधन करनेवालेको रखो । ’ अंजनसे दृष्टिकी शुद्धि होती है । शुद्ध दृष्टि होनेसे उत्तम स्वभाव अर्थात् शील हो सकता है । शुद्ध दृष्टिसे प्रतिदिन अपने मन और इंद्रियोंके व्यवहारोंकी जांच करनेसे शील सुधरता है ।

‘(२३) मेधायै वासः-पल्पूलीम् । ’ [७९]

‘(मेधायै) बुद्धि और शक्तिके लिये (वासः-पल्पूलीं) कपडे स्वच्छ धोनेकी व्यवस्थाको रखो । ’ स्वच्छ धोये हुए कपडोंको पहननेसे ही शारीरिक शक्ति और बौद्धिक शक्ति ठीक रहती है । मलीन कपडे पहननेसे शरीर भी रोगी हो सकता है और बुद्धि भी बिगड जाती है । जो धारणावाली बुद्धि होती है उसको मेधा कहते हैं ।

स्नान ।

‘(२४) ब्रध्नस्य विष्टपाय अभिषेक्तारम् । ’ [७३]

‘(ब्रध्नस्य) सूर्य, सूर्यके किरण, सूर्यकी उष्णताके, (विष्टपाय) स्थानके लिये, (अभिषेक्तारं) स्नान करने करानेवालेको रखो । ’ जो उष्णदेश हों, वहां स्नानकी बहुत आवश्यकता होती है । गर्मीके दिनोंमें गर्मदेशके लोक कई बार स्नान करते हैं, जिससे उनका आरोग्य अच्छा रहता

है। जहां सूर्यके किरणोंकी उष्णता अधिक हो, उन स्थानोंमें स्नान करने करानेवालोंका हित होता है। उष्णताके लिये स्नान ही उपाय है।

सूर्याघात, लू, सरसाम, लपट आदिके लिये शीतोदकका स्नान ही दवा हो सकती है।

शुद्धोदक पान।

(२७) "कीलालाय सुरा-कारम्।" [६७]

'कीलाल' का अर्थ— स्वर्गीय पान, अमृत; मध; पीने योग्य पानी; देवोंका अथवा श्रेष्ठोंका अन्नपान। जिस शुद्ध पानीमें सौ भागोंमें १ भाग नमक मिला हो, उसको 'अमृतजल' कहते हैं, इसके पीनेसे अनेक व्याधियां दूर होती हैं। अमृत-पान अथवा कीलालपान इसी प्रकारका शुद्ध जलपान प्रतीत होता है। इस विषयमें अधिक विचारकी आवश्यकता है। नारीयलके अंदरके पानीको भी कीलाल कहते हैं।

'सुरा' का अर्थ- निघण्टु नामक वैदिक कोशमें 'सुरा, सूरा, सिरा' ये शब्द उदक नामोंमें दिये हैं। जिससे उनका अर्थ जल ही है। आधुनिक कोशोंमें भी इसका अर्थ— पानी, पानी पीनेके पात्र; भापसे शुद्ध किया हुआ पानी।

'सुरा कार' का अर्थ— भापद्वारा पानीको शुद्ध करने-वाला। पानीकी भाप करके उस भापका फिर पानी बनानेसे शुद्ध पानी प्राप्त होता है। 'सुराकार' शब्दका अर्थ 'नारि-यलका वृक्ष' भी है, क्योंकि नारियलके अंदरके पानीका नाम 'सुरा' है।

'सुरा' शब्दका 'मद्य, शराब' अर्थ है, तथा 'सुरा-कार' शब्दका 'शराब बनानेवाला' ऐसा भी दूसरा अर्थ है। ये अर्थ यहां अभीष्ट नहीं। क्योंकि वेदने मद्यपानकी निन्दा करके निषेध किया है—

हृत्सु पोतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ (ऋ० ८।२।१२)

'(न) जैसे (सुरायां) शराब (हृत्सु पीतासः) दिल खोलकर पीनेवाले (युध्यन्ते) आपसमें लडते हैं, तथा (न) जैसे (नग्नाः) नंगे होकर (उधः) रातभर (जरन्ते) बडबडते हैं, वे (दुर्मदासः) दुष्ट बुद्धि लोक होते हैं।' दुर्मदका अर्थ जिनका मद दुष्ट होता है, आनंद करनेकी रीति जिनकी बहुत बुरी होती है, जो शराब आदि पीकर नाचना ही खुशीका चिह्न समझते हैं वे 'दुर्मद' होते हैं। 'सु-मद' ऐसे नहीं हुआ करते वे सभ्यतासे रहते हैं। 'सुमद' लोक नारियलका पानी तथा केवल शुद्ध जल पीते हैं। तथा—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्॥
अयोर्ह स्कंभ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ (ऋ. १०।५।६)

'(कवयः) ज्ञानी लोगोंने (सप्त मर्या-दाः) सभ्यताकी सात मर्यादाएं (ततक्षुः) बनाई हैं। (तासां एकां) उनमेंसे एक मर्यादाका भी जो (अभि-गात्) उल्लंघन करता है, वह (अंहुरः) बडा पतित होता है। परंतु जो (धरुणेषु) धारण शक्तियोंमें रहनेवाले (उप-मस्य) उपमा देनेयोग्य (नीळे-नीले-नी+इले) उच्च शांतिमें, तथा (पथां वि-सर्गे) अनेक मार्गोंका जहां उपसर्ग नहीं, ऐसे स्थानमें (तस्थौ) स्थिर रहता है वह मानो (ह) निश्चयसे (अयोः) प्रगतिके (स्कंभे) स्तंभ पर आरूढ हुआ है।'

सात मर्यादा— (१) स्तेयं- चोरी। (२) तल्पा-रोहणं- परस्त्री गमन, व्यभिचार। (३) ब्रह्म हत्या- ज्ञानीका वध करना; ज्ञानके प्रचारमें प्रतिबंध करना। (४) भ्रूण-हत्या- बालकका वध, गर्भका वध करना; 'भ्रूण' धातुका अर्थ- 'आशा' ऐसा पाणिनी मुनीका दिया हुआ धातुपाठमें है। आशा करना, विश्वास करना ये अर्थ सब कोशोंमें हैं। इससे 'भ्रूण' के अर्थ आशा, विश्वास, भरोसा इस प्रकार होते हैं। अर्थात् 'भ्रूण-हत्या' का अर्थ- विश्वास-घात; धोखेबाजी; बेइमानी; निराशा ऐसा भी हो सकता है। विश्वासघात करना भी बडा पाप है। (५) सुरा-पानं- शराब पीना। (६) दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा- दुराचारको वारंवार करते जाना। किसी समय मनुष्यसे दुराचार होता है, परंतु ज्ञानीके कहनेके पश्चात् भी वारंवार दुराचार करते जाना, यह बहुत बुरा है। (७) पातके अनृतोद्यं- पातक करनेके पश्चात्, उसको छिपानेके लिये, असत्य बोलकर अपने आपको बचानेका यत्न करना। विद्वानोंकी मानी हुई ये सात वैदिक मर्यादाएं हैं। इनमेंसे किसीका उल्लंघन करनेसे भी मनुष्य पतित होता है। इसका वर्णन निरुक्त नं. ६।२८ में देखने योग्य है।

जो धार्मिक मनुष्य अपने इंद्रियोंको शांत रखता है वह प्रगतिके दृढ भूमीपर स्थिर रहता है। 'धरुण' शब्दसे धारण और पोषणकारक धार्मिक शक्तियां समझी जाती हैं। 'उप-म' का अर्थ उपमा देने योग्य, आदर्श जीवन। 'नीड' शब्द मूलतः 'नील' शब्द है। 'इल्' धातुका अर्थ 'शांति प्राप्त करना' है। निःशेष, संपूर्ण शांति प्राप्त करना 'नी+इल' का तात्पर्य है। 'नी+ईड' का अर्थ

पूर्णतासे स्तुति करने योग्य, स्तुत्य ऐसा हो सकता है। ' सर्ग ' का अर्थ उत्पत्ति; ' वि-सर्ग ' का ' न-उत्पत्ति, अनुत्पत्ति, उत्पत्तिकी विरोधी स्थिति । ' ' पयां वि-सर्ग ' का अर्थ ' जहां अनेक मार्गोका झगडा नहीं होता है ' धर्मका सीधा एक राजमार्ग होता है । मतमतांतरोंके भ्रमजाल मचानेके कारण अनेक मार्ग होते हैं जिनमें मनुष्य भ्रांत होकर फंस जाता है । जहां भिन्न मतोंके भिन्न मार्गोंका झंझट नहीं हुआ उस मूल निश्चित धार्मिक अवस्था का नाम ' पयां वि-सर्ग ' है । अस्तु ।

इन मंत्रोंसे पता लग जायगा कि ' मद्य पान ' वेदको संमत नहीं । मद्यपानसे अवनति होती है ऐसा स्पष्ट आदेश उक्त मंत्रोंमें है । वेदमें परस्पर विरोधी उपदेश नहीं है । इसलिये मद्यपानका निषेध होनेके पश्चात् परिशेषसे ' शुद्ध-जल-पान; अथवा नारिकेल-जल-पान ' ही ' सुरा ' शब्दसे यहां अभीष्ट है, यह निश्चय समझना चाहिए । भ्रमजालके वाक्योंसे कोई न फंस जाय, इसलिये यहां ' सुरा ' शब्दके विषयमें इतना लिखना पडा है। ' सु ' धातुसे ' सुरा ' शब्द बनता है जिसका अर्थ रसकी शुद्धि करना है।

' (कीलालाय) उत्तम पेयके लिये (सुरा-कारं) शुद्ध जल बनानेवालेको प्राप्त करो । '

स्वास्थ्य-विभाग
शारीरिक स्वास्थ्य

' (२६) पवित्राय भिजषम् । ' [५६]

' (पवित्राय) शुद्धताके लिये (भिषजं) वैद्यको प्राप्त करो । ' शुद्धता रखनेसे शरीरमें तथा नगरोंमें रोग नहीं होते । शुद्धता ही रोगोंको दूर करानेवाली है । जो रोगोंसे बचना चाहते हैं वे शरीरके अंदर, शरीरके बाहर तथा नगरोंके अंदर और बाहर अत्यंत स्वच्छता रखें । ऋतुओंके अनुकूल स्वच्छता करनेके नियम वैद्य जानते हैं । इसलिये शुद्धताके कार्योंके लिए वैद्योंको प्रयुक्त करना चाहिए । भिषक् उसको कहते हैं कि (' बिभेत्यस्माद् रोगः इति भिषक् ।) जिससे रोग डरते हैं, जिसके भयसे बीमारियां डरके मारे दूर भागती है, वह भिषक् होता है ।

आचार-स्वास्थ्य ।

' (२७) दुष्कृताय चरकाऽऽचार्यम् ।[१४१]

' (दुष्कृताय) दुराचार, पाप हटानेके लिये (चरक-आचार्यं) चालचलनके आचारोंकी शिक्षा देनेवालेको प्राप्त करो । '

भाषामें चतुर्थी विभक्तिका दो प्रकारसे उपयोग होता है । जैसा— ' ज्वरके लिये औषध ' अर्थात् ' ज्वरको हटानेवाला औषध ' । तथा ' पुष्टिके लिये औषध ' अर्थात् ' पुष्टिकारक औषध ' । इसी प्रकार यहां ' दुष्कृताय ' अर्थात् ' दुराचारोंको दूर करनेके लिये ' ऐसा समझना चाहिए, तथा ' पवित्राय ' का अर्थ ' पवित्रता बढानेके लिये ' ऐसा मानना उचित है । इसी प्रकार विशेष स्थानोंपर आगे भी समझना ।

आरोग्यके लिये शरीर तथा नगरमें अंदर बाहरकी शुद्धता चाहिए उसी प्रकार स्वभावकी भी शुद्धता चाहिए । बुरे स्वभावके कारण भी नाना प्रकारके रोग होते हैं । बुरे स्व-भावको ठीक करनेवाले आचार्यको ' चरकाचार्य ' कहते हैं । ' चर, चल ' का अर्थ चालचलन होता है । ' आचार्य ' का अर्थ— (आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थात्, आचिनोति बुद्धिम् । निरु. १।४) – जो लोकोंद्वारा सदाचारोंका ग्रहण कराता है, जो सत्य पुरुषार्थोको प्रकाशित करता है, जो बुद्धिका विकास करता है, वह आचार्य कहलाता है । जनताके बुरे स्वभावको दूर करके, उनमें उत्तम शीलकी स्थापना करनेका इस आचार्यका कर्तव्य होता है ।

नागरिक-शासन-विभाग ।

' (२८) क्षेमाय विमोक्तारम् । ' [१५]

' क्षेम ' का अर्थ- शांति, सुख, संरक्षण, सुरक्षितता, संरक्षण, पालन ।

' विमोक्ता ' का अर्थ— स्वतंत्रता करनेवाला, स्वातंत्र्यका दाता, स्वाधीनताकी स्थापना करनेवाला ।

' (क्षेमाय) शांति, सुरक्षितता तथा पालनके लिये (विमोक्तारं) स्वतंत्रताकी स्थापना करनेवालेको प्राप्त करो । '

नागरिक शासनके लिये व्यक्तिकी स्वतंत्रता, व्यक्तिकी सुरक्षितता तथा व्यक्तिका पालन होनेकी आवश्यकता है । जहां इनकी स्थापना नहीं होगी वहांका शासन अभ्युदय-कारक नहीं हो सकता । स्वतंत्रताके अभिमानी पुरुषोंको इस कार्यके लिये चुनना चाहिए ।

' (२९) स्वर्गाय लोकाय भाग-दुघम् । ' [८९]

' (स्वर्गाय लोकाय) उत्तम वर्गके लोकोंको लिये (भाग-दुघं) विभागके अनुसार बांटनेवालेको प्राप्त करो ।' ' स्वर्ग ' का अर्थ ' सु-वर्ग ' उत्तम वर्ग, उत्तम श्रेणी । ' स्वर्ग लोक ' का अर्थ ' उत्तम श्रेणीके लोक, उत्तम श्रेणीके लोकोंका प्रदेश । ' ' भाग-दुघ् ' अपने भागका ही दोहन

करनेवाला। 'दुह्' धातुका अर्थ दोहन करना, दूध निकालना। इससे 'दुघ्' बना है। गायके चार स्तन होते हैं उनमें दो बछडेके लिये तथा दो मालिकके होते हैं। दूध निकालनेवालेको उचित होता हैं कि बछडेका भाग बछडेके लिये रखकर अपने ही भागका दूध निकाले। यही 'भागका दोहन' है। राजाकी प्रजा गौ है। राजा प्रजाका दोहन करता है। जितना भाग प्रजासे दोहना उचित है उतना ही दोहना चाहिए। जो अपने भागके अनुकूल ही दोहता है वह 'भाग-दुघ्' कहलाता है। राजपुरुषोंके विषयमें भी यही बात जाननी उचित है, वह देश स्वर्गधाम बनता है कि, जहां प्रजासे योग्य विभागका ही दोहन किया जाता है। अर्थात् वह देश नरक बन सकता है, कि जहां योग्य विभागसे अधिक प्रजाका दोहन होता हो।

'(३०) प्रतिश्रुत्कायै अर्तनम्।' [१४३]

'(प्रति-श्रुत्कायै) प्रतिज्ञा, वादा, यकरार आदिके लिये (अर्तनं) सरल स्वभाववालेको रखो।'

'ऋत्' धातुसे 'अर्तन' शब्द बनता है। 'ऋत्— जुगुप्सायां कृपायां च।' बुराईकी निंदा और भलाई पर कृपा करनेवाला 'अर्तन' कहलाता है। जो ठीक है वही कहनेवाला, छोटे बडेका पक्षपात न करता हुआ, ठीक न्यायानुकूल चलनेवाला 'अर्तन' होता है।

'(३१) महसे ग्राम-ण्यम्।' [१५६]

'(महसे) शक्तिके लिये (ग्राम-ण्यं) ग्रामके नेताको रखो।'

ग्राम, नगर, पत्तन, पुरी आदिकी उत्तम व्यवस्था रखनेके लिये तथा ग्रामकी सामाजिक संघशक्ति बनानेके लिये प्रत्येक ग्रामके लिये एक एक मुखिया रखो।

'(३२) भूम्ने परिष्कन्दम्।' [८६]

'प्रत्येक (भू-म्ने) भूमिके विभाग, प्रांत, जिला, ताल्लुका आदिके लिये (परि-ष्कंदं) एक एक भ्रमण करनेवाला रक्षक रखो।'

'भू-मन्' का अर्थ— देश, प्रांत। 'परि' अर्थात् चारों ओर 'स्कंदं' अर्थात् भ्रमण करके निरीक्षण करनेवाला। प्रत्येक प्रांतपर सबके कार्यका निरीक्षण करनेके लिये एक भ्रमण करनेवाला निरीक्षक रखना चाहिए।

'(३३) महसे अभि-क्रोशकम्।' [१५८]

(महसे) शक्तिके लिये (अभिक्रोशकं) घोषणा करनेवालेको रखो।

'अभि-क्रोशक' का यह कार्य होता है कि जनताको सबसे पहिले अपने कर्तव्यके लिये जगाना, सच्ची बातकी सार्वजनिक घोषणा करना, शांतिकी स्थापना, युद्धकी तैयारी अथवा सुलह करना इ०।

'(३४) क्रोधाय निसरम्।' [९२]

(क्रोधाय) क्रोधको हटानेके लिये (नि-सरं) दान कर्ताको रखो। क्रोधको शांत करनेके लिये दान, नजर, नजराणा दीजिये।

'(३५) शोकाय अभिसर्तारम्।' [९४]

(शोकाय) तेजके लिये (अभि-सर्तारं) अग्रगामीको रखो। यहाँ 'शोक' का अर्थ जनताके अंदरका तेज वीर्य उत्साह है। शोकका अर्थ रोना दुःख करना होता है परंतु यहाँ 'तेज' ऐसा ही अर्थ है। 'शोक' शब्दका यह अर्थ वेदमें कई स्थानोंमें है, देखिये—

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयो नु स्वाः॥
(अथर्व. ५।१।३)

'(शोकाय) तेजके लिये जो तेरे शरीरको प्राप्त होता है वह शरीर प्रवाही सुवर्णके समान अपने शुद्ध प्रकाशसे युक्त है।' इस प्रकार 'शोक' का अर्थ तेज, उष्णता, गर्मी है।

कोशविभाग।

'(३६) निर्ऋत्यै कोश-कारीम्।' [९९]

(निर्ऋत्यै) आपत्तिके लिये (कोश-कारीं) धनकोशके व्यवस्थापकको रखो। राजाके पास स्थिर धनकोश सदा रहना चाहिये। जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आजावे, विनाशका समय प्राप्त होवे, उस समय उस स्थिर द्रव्यका व्यय किया जावे। राजालोग अपने ऐष आरामके लिये राष्ट्रके धनकोशसे जो खर्च करते हैं, वह ठीक नहीं, ऐसा इस आज्ञासे पता लगता है। राष्ट्रकी कठिनता दूर करके लोगोंको सुख पहुंचानेके लिये ही राष्ट्रकोशका व्यय होना चाहिये।

'(७) महसे गणकम्' [१५७]

(महसे) शक्तिके लिये (गणकं) गिननेवालेको रखो राष्ट्रनिधिकी गिनती करनेसे धनकी शक्तिका ज्ञान होता है। इसलिये अपनी शक्तिकी गिनती सदा रखनी चाहिये और इस कार्यके लिये एक गिनती करनेवाला निश्चित होना चाहिये। हर एक शक्तिके विषयमें यह आज्ञा लाभदायक

हो सकती है। गिनती होनेसे प्रत्येक शक्तिका प्रमाण ध्यानमें आ सकता है। और जो न्यून हो उसको बढानेका प्रयत्न किया जा सकता है।

ख-गोल-ज्योतिष-विभाग।

'(३८) प्रज्ञानाय नक्षत्र-दर्शम्।' [५७]

(प्रज्ञानाय) विशेष ज्ञानके लिये (नक्षत्र-दर्शं) नक्षत्रोंको देखनेवाले अर्थात् खगोल-ज्योतिष-विद्या जाननेवालेको रखो।

'(३९) दिवे ख-लतिम्। [१६७]
(४०) सूर्याय हर्यक्षम्। [१६८]
(४१) नक्षत्रेभ्यः किर्मीरम्। [१६९]
(४२) चन्द्रमसे कीलासम्।' [१७०]

(दिवे) खगोलके लिये (ख-लतिं) आकाश-गति जाननेवालेको रखो। अर्थात् आकाशस्थ गोलोंकी गतिको अच्छीप्रकार जाननेवालेको द्युलोकके निरीक्षणके लिये रखो। (सूर्याय) सूर्यके लिये (हरि-अक्षं) हरे रंगके आंखवालेको रखो। सूर्यका वेध करनेके लिये हरे रंगके आंखवालेको रखो। हरे रंगके शीशेके साथ सूर्यका वेध लेनेसे आंखको हानि नहीं होती। नक्षत्रोंके लिये (किर्मीरं) नारंगी रंगका धारण करनेवालेको रखो। नारंगी रंगके शीशेके साथ नक्षत्रोंका वेध करना उचित होगा। चंद्रके लिये (कीलास) श्वेत वर्णको प्रयुक्त करो।

ज्योतिष विद्या जाननेवालोंको उचित है कि वे इन मंत्रोंका विचार करें और इन संकेतोंका स्पष्टीकरण करें। साधारण वाचककी मति इस विषयमें नहीं चल सकती।

'(४३) नर्माय पुंश्चलूम्। [१५३]
(४४) नर्माय रेभम्।' [१५]

(नर्माय) मर्दानी खेलोंके लिये (पूं-चलूं) लोगोंमें हलचल करनेवाले को रखो। तथा (रेभं) वक्ताको रखो।

'नर्म' शब्द 'नृ-मन्' से बनता है। जिसका अर्थ मर्दानी खेल है। 'पुंसः मनुष्यानि चालयति।' जो मनुष्योंको संचालित करता है। लोगोंमें व्याख्यानद्वारा जो विशेष प्रभाव और उत्साह उत्पन्न करता है।

स्त्री-विभाग

'(४५) वत्सराय विजर्जराम्। [१०७]
(४६) संवत्सराय पर्यायिणीम्। [१०३]
(४७) परिवत्सराय अ-विजाताम् [१०४]
(४८) इदावत्सराय अतीत्वरीम् [१०५]
(४९) संवत्सराय पलिक्नीम्। [१०८]
(५०) इद्वत्सराय अतिष्कद्वरीम् [१०६]

(वत्सराय) पांच वर्षोंके एक युगके लिये (वि-जर्जरां) वृद्ध स्त्रीको रखो। (संवत्सराय) प्रथम वर्षके लिये (पर्यायिणीं) कालक्रम जाननेवाली स्त्रीको रखो। (परिवत्सराय) द्वितीय वर्षके लिये (अ-विजातां) ब्रह्मचारिणी कुमारी विदुषीको रखो। (इदावत्सराय) तीसरे वर्षके लिये (अतीत्वरीं) शीघ्र उन्नति करनेवाली विदुषीको रखो। (संवत्सराय=अनुवत्सराय) चतुर्थ वर्षके लिये (पलिक्नीं) सफेद बालोंवाली वृद्ध स्त्रीको रखो। (इद्वत्सराय) पंचम वर्षके लिये (अति-ष्कद्वरीं) अत्यंत ज्ञानी स्त्रीको रखो।

पांच पांच वर्षोंका एक एक युग होता है। स्त्रियोंकी उन्नति स्त्रियोंको ही सोचनी चाहिये। इसलिये पांच वर्षोंके एक युगके लिये एक ज्ञानी कर्तव्याकर्तव्य जाननेवाली स्त्रीको अध्यक्ष निश्चित करके, उसके आधीन कार्य करनेके लिये प्रतिवर्ष अलग अलग स्त्रीको रखना चाहिये। पहले वर्ष पूर्व क्रमको जाननेवाली, दूसरे वर्ष विदुषी कुमारिका, तीसरे वर्ष शीघ्र उन्नति करनेवाली, चौथे वर्ष वृद्धा, पांचवे वर्ष अत्यंत ज्ञानी स्त्रीको रखना।

ये सब क्रमपूर्वक आकर अपने अपने वर्षका कार्य उस वृद्धा अध्यक्ष स्त्रीके नीचे करें। किसीसे मर्यादाका उल्लंघन न कराना अध्यक्षका कर्तव्य है तथा अपने अनुभवसे स्त्री-जातिकी उन्नति सोचना और अपने सहायक मंत्रियोंद्वारा उद्दिष्ट कार्य सिद्ध करना। सब प्रकारके स्त्रियोंको सब अधिकार पांच वर्षोंमें क्रमपूर्वक प्राप्त होनेके कारण किसी स्त्रीको यह दुःख न रहेगा कि, हमारे दुःख अपनी सभामें बतानेका अवसर न मिला। वृद्धा, तरुणी, मध्यम आयुवाली, शीघ्र प्रगति करनेवाली गरम स्वभाववाली, आहिस्ते आहिस्ते उन्नति चाहनेवाली नरम स्वभाववाली, ऐसे सब स्त्रियोंको क्रमशः प्रतिवर्ष अधिकार प्राप्त होते हैं। जिससे सबके प्रयत्नसे स्त्रीजातिकी उन्नति हो सकती है।

पुरुषजातिके लिये भी इस तत्वपर एक संस्था स्थापन होनी उचित है। जहां पांच वर्षोंके लिये एक अध्यक्ष हो, तथा गरम, नरम, वृद्ध, तरुण, मध्यम वयवाले प्रतिवर्ष कार्य-भार चलानेके लिये उसको सहायता देते रहें। कल्पना

अच्छी है। विचारी स्वाध्यायशील विद्वान् इसको विशेष सोचें।

ये स्त्री-विभागके मंत्र सामान्य प्रकरणमें भी रखे जा सकते हैं। क्योंकि सब वर्णोंके स्त्रियोंकी उन्नति करनेके ये साधन हैं।

इस विषयमें विचारी पाठक अधिक सोच सकते हैं।

(२) क्षत्रिय-वर्ण-विभाग

'(१) क्षत्राय राजन्यम्।' [२]

'क्षत्र' शब्दका अर्थ = राज्य; शक्ति; प्रधानता; राज्यशासन; राज्यशासक मंडल; लडवय्या क्षत्रिय; शौर्य-प्रताप; शौर्ययुक्त धैर्य। क्षतत्राणात् क्षत्रं। क्षत्रेण युक्तः क्षत्रियः' क्षत अर्थात् व्रणसे बचानेवाला शौर्य क्षत्र कहलाता है; यह शौर्य जिसके पास होता है, वह क्षत्रिय होता है।' 'क्षण्-हिंसायां' इस धातुसे 'क्षत' शब्द बनता है। हिंसा, दुःख,कष्ट, हानि, अवनति' आदि उसका आशय है। अवनतिसे जो बचाता है, शत्रुओंसे जो अपने राष्ट्रको बचाता है वह 'क्षत्+त्र-इय' (क्षत्रिय) होता है। जिन गुणोंसे राष्ट्रका स्वत्व रहता है, और देशका संरक्षण होता है उन गुणोंका नाम 'क्षत्र' (क्षत्+त्र)।

(क्षत्राय) शौर्यवीर्यके लिये (राजन्यं) क्षत्रियको प्राप्त करो।

सुवीरका लक्षण।

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः।
नृभिः सु-वीर उच्यसे (ऋ० ६।४५।६)

(द्विषः) द्वेष करनेवाले शत्रुओंसे (अतिनयति) बचाकर पार ले जाते हो (इत उ) और निश्चयसे लोगोंको (उक्थ-शंसिनः) स्तुति करने योग्य (कृणोषि) करते हो, इसलिए (नृभिः) सब मनुष्य अथवा सब नेता लोग तुमको (सु-वीरः) उत्तम शूर (उच्यसे) कहते हैं।'

अर्थात् शूर पुरुषका यही कार्य है कि, वह लोगोंका शत्रुओंसे संरक्षण करे और उनको एक ईश्वरके उपासक बनावे, तथा—

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता पवस्व
सनिता धनानि।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्हः साह्वान्
पृतनासु शत्रून्॥
(ऋ. ९।९०।३)

'(शूर-ग्रामः) शौर्य वीर्यादि क्षात्रगुणोंसे युक्त, (सहावान्) सहन शक्तिसे युक्त, (जेता) विजयशाली, (धनानि सनिता) धनोंका उत्तम विभाग करनेवाला, (तिग्मायुधः) जिसके भयंकर शस्त्रास्त्र हैं, (क्षिप्रधन्वा) धनुष्ययुद्धमें प्रवीण, (समत्सु अषाळ्हः) युद्धोंमें शत्रुओंके लिये असह्य परंतु (पृतनासु शत्रून् साह्वान्) युद्धोंमें शत्रुओंके साथ मुकाबला करनेवाला जो होता है वह (सर्व-वीरः) सब प्रकारसे वीर कहा जाता है। हे ईश्वर! इन गुणोंसे हमको (पवस्व) पवित्र करो।' तथा—

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये॥
(१०।६६।८)

'(धृत-व्रताः) व्रत धारण करनेवाले, नियमोंके अनुसार चलनेवाले, (यज्ञ-निष्कृतः) सत्कार-संगति-दानात्मक सत्कर्म करनेवाले, (बृहद्दिवाः) अत्यंत तेजस्वी, (अध्वराणां अभिश्रियः) अहिंसामय कर्मोंसे शोभनेवाले, (अग्नि-होतारः) हवन करनेवाले, (ऋत-सापः) सत्य-निष्ठ, (अ-द्रुहः) धोखा न करनेवाले जो क्षत्रिय होते हैं, वे (वृत्र-तूर्ये) शत्रुके साथ होनेवाले युद्धमें (अपः अनु असृजन्) अपने सब कर्म ठीक करते हैं।' तथा—

असमं क्षत्रं असमा मनीषा। (ऋ. १।५४।८)

'अतुल क्षात्र तेज और अतुल बुद्धि हो।' शौर्य भी बहुत होवे और बुद्धि भी उत्तम होनी चाहिए। बुद्धिके बिना केवल शौर्य कोई कामका नहीं।' तथा—

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः। (तै. सं. १।७।१०)
(यजु. ३।२३॥ शत. ब्रा. ५।२।२।५)

'(वयं) हम सब (राष्ट्रे) अपने राष्ट्रमें (पुरः-हिता) अग्रभागमें होकर (जागृयाम) जागते रहें।' अपने अपने राष्ट्रकी उन्नतिके लिये सब देशके लोग सदा जागते रहें, अर्थात् अपनी राष्ट्रीय उन्नतिके विषयमें कोई भी बेफिकिर न रहे। तथा—

महते क्षत्राय महत आधिपत्याय महते जानराज्याय।
(यजु. ९।४०॥ तै. सं. १।८।१०)

'बडे (क्षत्राय) शौर्यके लिये, बडे (आधिपत्याय) अधिकारके लिये तथा बडे (जान-राज्याय) जनताके शासनके लिये' प्रयत्न होना चाहिए। यहांका 'जान-राज्य' शब्द लोकशासन अर्थात् सब लोगोंकी अपनी स्वसंमतिसे अपने उद्धारके लिये चलाया हुआ शासनका भाव बताता है।

अस्तु। इस प्रकार शूरके शौर्य वीर्य आदि गुणोंका वर्णन वेदमंत्र कर रहे हैं, वह सब यहां देखना उचित है।

‘(२) बलाय अनु-चरम्।’ [८५]

(बलाय) सैन्यके लिये (अनु-चरं) आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको रखो।

‘(३) बलाय उप-दाम्।’ [५०]

(बलाय) शक्तिके लिये (उप-दां) सहारा देनेवालेको रखो।

‘(४) नरिष्ठायै भीमलम्।’ [१४]

‘नरिष्ठा’ का अर्थ— (१) नरि-ष्ठा अर्थात् मनुष्योंमें स्थिरता। ‘स्थ, स्था, स्थान’ का अर्थ— अवस्था, स्थिति; लोगोंके अंदरका स्थान; देश, प्रांत, ओहदा, वर्ग, महत्व; इष्ट उद्देश; राष्ट्रीय बल, राष्ट्रीय तेज, देशका सत्व। ‘नरि-’ का अर्थ- मनुष्योंके अंदरका सत्व।

(नरि-ष्ठायै) जनताके राष्ट्रीय सत्वके लिये (भीमलं) महाप्रतापीको रखो।

‘(५) नारकाय वीर-हणम्।’ [२]

‘नार-क’ का अर्थ- ‘नराणां समूहो नारः।’ मनुष्योंके समुदायका नाम नार होता है। मनुष्योंका संघ। ‘नारं जनसंघं करोति इति नार-कः’ जो मनुष्योंका संघ बनाता है वह नारक कहलाता है। नर=नेता।

‘वीर-हन’ का अर्थ-शत्रुके शूर पुरुषोंको चुन चुन कर मारनेवाला।

(नारकाय) सैन्य संघके लिये (वीर-हणं) शत्रुवीरोंको मारनेवालेको रखो।

‘(६) प्र-मदे कुमारी-पुत्रम्।’ [१८]

‘प्रमद’ का अर्थ- जबरदस्त, प्रबल, प्रचंड; बलवान्; सुख, खुशी।

‘कुमार’ का अर्थ- राजपुत्र; युद्धका देव; ‘कु-मारः’ (कुत्सितः मारः यस्य) जिसका हमला बहुत बुरा है।

‘कुमारी’ का अर्थ- राजपुत्री, युद्धकी देवी, दुर्गा अर्थात् पास जानेके लिये कठिन, ऐसी स्त्री की जिसका तेज सहन करना बहुत कठीन है।

‘कुमारी-पुत्र’ का अर्थ- बडी शूर प्रभावशाली स्त्रीका पुत्र। पुत्+त्र अर्थात् कष्टोंसे बचानेवाला वास्तवमें ‘पु-त्र’ कहलाता है। ‘कुमारी’ शब्दका अर्थ अविवाहिता लडकी ऐसा प्रचलित है वह यहां अभीष्ट नहीं है।

(प्रमदे) बलवान शत्रुके लिये (कु-मारी-पु-त्रं) शूर स्त्रीके वीर पुत्रको रखो।

‘(७) पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम्।’ [३३]

(पुरुष-व्याघ्राय) मनुष्योंके शेरके लिये (दुर्-मदं) प्रचंड आवेशवालेको रखो। पुरुष-व्याघ्र उनको कहते हैं कि जो अपनी शूरवीरताके कारण तथा धीरताके कारण मुखियापनको प्राप्त हुआ है। इस प्रकारके शत्रुके साथ अपने प्रचंड वीरको सामनेके लिये रखना चाहिये।

‘(८) पिशाचेभ्यो वि-दल-कारीम्।’ [३९]

(पिशाचेभ्यः) पिशाचोंके लिये (वि-दल-कारीं) विशेष प्रकारकी सैन्यकी रचना करनेवालेको रखो।

‘पिशितं आचामतीति पिशाचः।’ रक्तमांसभक्षक, नर-मांसभोजी मनुष्य, कच्चा मांस खानेवाला तथा रक्त पीने-वाला मनुष्य पिशाच कहलाता है।

‘विदल-कारी’ का अर्थ ‘विभेदन करनेवाला’। रक्त-मांसभोजी अथवा खून-खूस आदमीयोंके लिये अर्थात् उनको स्वाधीन, काबू करनेके लिये ऐसे आदमीको रखो कि जो उनमें विभेद उत्पन्न कर सके।

‘(९) यातु-धानेभ्यो कण्टकी-कारीम्।’ [४०]

‘यातु-धान’ का अर्थ- चोर, डाकू, लुटेरे, धानकी चोरी करनेवाले। जो मार्गोंमें रहकर प्रवासियोंको लूटते रहते हैं।

‘कण्टकी’ का अर्थ- कष्ट देनेवाला मनुष्य; सुराज्यका विरोधी; सुव्यवस्थाका विरोधी। ‘कंटकः’- कांटा, चुभने-वाला पदार्थ, चुभनेवाला नोकदार शस्त्र। ‘कंटकिन्’ = नोकदार शस्त्रोंको धारण करनेवाला सैनिक। ‘कंटकी-कारी’ = नोकदार शस्त्रधारी सैनिकोंका सैन्य तैयार करनेवाला।

(यातुधानेभ्यः) डाकुओंके लिये (कण्टकी-कारीं) चालेवाले सैन्यको रखो।

अथवा इस मंत्रका यह भी अर्थ हो सकता है कि, (यातु-धानेभ्यः) डाकुओंका बंदोबस्त करनेके लिये (कंटकी-कारीं) राज्यव्यवस्थाका विरोध अथवा दंगा फिसाद, करनेवाले जो लोग होते हैं, उनको ही रखो। अर्थात् उनसे यह काम लो, ताकि उनका सब बल डाकुओंको हटानेमें लगेगा और नागरिकोंके कष्ट भी दूर होंगे।

'(१०) ईर्यताया अकितवम् ।' [३८]

' ईर्यता ' का अर्थ— हलचल, जागृतिकी हलचल; उन्नतिके लिये लोगोंकी हलचल; घोषणा; शत्रुओंको दूर हटानेका प्रयत्न; अपनी अवस्थाको उच्च बनानेकी हलचल ।

' ईर्यता ' का अर्थ— पुरुषार्थ करनेकी विलक्षण फूर्ती शक्ति; प्रभावशाली बल; प्रेरणा; शत्रु-विनाश ।

' कितवः ' का अर्थ— धोकेबाज, कपटी, मक्कार, फरेबी छली; निर्बल, पागल, संशयी; अनिश्चित ज्ञानवाला । ' अ कितव ' का अर्थ- जो धोकेबाजी, कपट, छल, मक्कारी, फरेबी न करता हो तथा जो बलवान, बुद्धिमान निश्चित ज्ञानवाला होता है उसको ' अ कितव ' कहते हैं । जुवेबाज-को कितव कहते हैं और जो जुवा आदि हानिकारक खेल नहीं खेलता, उसको ' अ-कितव ' कहते हैं ।

' कितव ' शब्दका ' ज्ञानी ' ऐसा अर्थ पहले आ चुका है । ' कित्-ज्ञाने ' इस धातुसे यह शब्द बनता है, ' न विद्यते अधिकः कितवः यस्मात् स अ कितवः ' अर्थात् ' जिससे अधिक ज्ञानी कोई नहीं, जहां जिस प्रकारका ज्ञान चाहिए वहां उस ज्ञानका उपयोग करके कार्यकी सिद्धि करनेमें प्रवीण ' ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है । दोनों प्रकारके अर्थ देखकर पाठक विचारपूर्वक अर्थका निश्चय करें ।

(ईर्यतायै) अपनी अवस्था उच्च बनानेके लिये (अ कितवं) निश्चित ज्ञानवाले और धोकेबाजी न करनेवाले मनुष्यको प्रयुक्त करो ।

'(११) दिष्टाय रज्जु-सर्पम् ।' [२८]

' दिष्ट ' का अर्थ – आज्ञा हुकुम, सैन्य संचालकका आदेश, हिदायत, आज्ञा; इरादा, निशाना, अंतिम साध्य, अखीरी मतलब ।

' रज्जु ' का अर्थ— रस्सा, रस्सी, धागा, डोरी, लकीर, रेषा, पंक्ति । ' रज्जु-सर्प ' का अर्थ- रस्से परसे चढने उत्तरनेमें प्रवीण, निश्चित लकीर पर चलनेवाला ।

(दिष्टाय) आज्ञाके लिये (रज्जु-सर्पं) निश्चित मार्ग पर चलनेवालेको रखो ।

'(१२) उत्सादेभ्यः कुब्जम् ।' [५८]

' उत्साद ' का अर्थ— उन्नति करना, ऊपर उठाना; निश्चित प्रबंधकी स्थिरता; उन्नति; पूर्णता, सिद्धि; गिरना, पल्टाना; नाश, शत्रुविनाश ॥

' कुब्ज ' का अर्थ – तलवार जो सीधी नहीं होती परंतु जरासी आगे जाकर गोल होती है । उक्त प्रकारकी तलवार चलानेवाला ।

(उत्सादेभ्यः) शत्रुविनाशके लिये (कुब्जं) तलवार बहादूरको रखो ।

'(१३) पाप्मने सैलगम् ।' [१४२]

' सैल ' का अर्थ— ' सेल अथवा सैल ' — एक प्रकारका शस्त्र । ' सैलेन सह गच्छति इति सैलगः ' अर्थात् जो सदा अपने साथ शस्त्र धारण करता है वह ' सैल-ग ' होता है ।

' पाप्मन् ' = पाप+मन् = का अर्थ- दुःख देनेवाला, सतानेवाला; तेढेपन, पाप; गुन्हा; गुन्हेगार ।

(पाप्मने) गुन्हेगारके लिये (सैल-गं) शस्त्रधारीको रखो ।

'(१४) अवऋत्यै वधाय उपमन्थितारम् ।' [७८]

' अव-ऋति ' का अर्थ— हमला, धावा; शत्रुता, वैर, अदावत; गाली देना, दुरुपयोग । ' अवऋति-वध, का अर्थ- शत्रुताके कारण हमला करके किया हुआ वध,

(अव-ऋत्यै वधाय) हमला करके वध करनेवालेके लिये (उप-मंथितारं) खिलबिली मचानेवालेको नियुक्त करो ।

' उपमन्थिता ' का आशय यह है कि, हमला करके वध करनेवाले दुष्टोंमें इस प्रकार खिलबिलाके साथ डर उत्पन्न करता कि वे फिर वैसा कर्म न करें, और शासनके भयसे कोई दुष्ट फिर ऐसे गुन्हे करनेके लिये प्रवृत्त न हो सके ।

राजनीति-विभाग ।

'(१५) ऋतये स्तेन-हृदयम् ।' [८१]

' ऋति ' का अर्थ— शत्रु, शत्रुका सैन्य, शत्रुका हमला ।

(ऋतये) शत्रु सैन्यके लिये (स्तेन-हृदयं) ऐसे मनुष्यको रखो कि, जिसका हृदय चोरके समान विचार गुप्त रखता है ।

शत्रुके साथ व्यवहार करनेके समय, अथवा युद्धके समय खुलंखुला सब बातें तथा सब कृत्य नहीं करने चाहिये । उस समय सब विचार तथा सब व्यवहार बडे गुप्त रखने होते हैं; इसलिये ऐसे समय इन कार्योंके लिये ऐसे मनुष्य रखने चाहिये कि, जिनके हृदय चोरके समान होते हैं । चोर अपना

सब व्यवहार जैसे छिपकर करता है वैसे जिनके व्यवहार गुप्त होते हैं। जो हृदयके गुप्त बातोंको छिपाकर रख सकता है, और किसी प्रकार भी अपने चेहरे आदिके भावोंसे उन गुप्त बातोंका प्रकाश नहीं करता वह मनुष्य 'स्तेन-हृदय' कहलाता है।

'(१६) वैरहत्याय पिशुनम् ।' [८२]

'पिशुन' का अर्थ- बतानेवाला, सूचना देनेवाला; सिद्ध करके बतानेवाला।

(वैर-हत्याय) शत्रुत्वके नाशके लिये (पिशुनं) अपनी बातको सिद्ध करके बतानेवालेको नियुक्त करो।

सच्चाईको बतानेसे और दोनों तरफसे सच्चाईका स्वीकार करनेसे शत्रुत्वका नाश हो सकता है। यह मंत्र न्याय-विभागमें भी रखा जा सकता है। परंतु मैंने इसको यहां इसलिये रखा है कि, इसका दूसरा भी एक अर्थ संभवनीय है—

(वैर-हत्याय) शत्रुवीरोंका नाश करनेके लिये (पिशुनं) चुगली करनेवालेको रखो।

प्रबल शत्रुका नाश करनेका 'भेद' उपाय है। शत्रुके वीरोंमें आपसमें द्वेष उत्पन्न करनेके लिये चुगली करनेवाले लोगोंको रखना। जिससे वह चुगलखोर चुगलियां कर करके, शत्रुके वीरोंमें झगडे खडे करके, शत्रुका बल घटायेगा। साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार उपाय राजनीतिमें कहे हैं, उनमें 'भेद' उसको कहते हैं कि, जिन उपायोंसे शत्रुदलमें मतभेद उत्पन्न किये जाते हैं। विचारकी एकताके कारण बल बढता है, और विचारकी भिन्नता होनेके कारण बल घटता है। शत्रुके मनुष्योंमें आपसमें मतभेद, भिन्न विचार अथवा आपसके झगडे बढानेका काम करनेवालेको 'पिशुन' कहते हैं।

इस मंत्रके अर्थके विषयमें विचारी स्वाध्यायशील विद्वान अधिक सोच कर सच्चे अर्थकी खोज करें।

'(१७) विविक्त्यै क्षत्तारम् ।' [८३]

'विविक्ति' का अर्थ- विभिन्नता, भेदभाव; पक्षभेद।

(विविक्त्यै) भेदभाव उत्पन्न करनेके लिये (क्षत्तारं) विभाग करनेवालेको रखो।

'(१८) औपद्रष्ट्याय अनुक्षत्तारम् ।' [८४]

(औपद्रष्ट्याय) निरीक्षणके लिये (अनु-क्षत्तारं) निग्राणी करनेवाले परिचारकको रखो।

अपने अपने कार्य करनेके लिये नियुक्त किये हुए लोग ठीक प्रकार कार्य कर रहे हैं या नहीं इसका निरीक्षण करनेके लिये उस कामके लिये योग्य निरीक्षक रखने चाहिए। जो उन कार्य कर्ताओंके पीछे पीछे रहकर उनके कार्यका अच्छी प्रकार निरीक्षण करते रहें।

'(१९) आध्यक्ष्याय अनुक्षत्तारम् ।' [७०]

(आध्यक्ष्याय) सबकी अध्यक्षता अर्थात् सबका निरीक्षण करनेके लिये (अनु-क्षत्तारम्) निरीक्षकको रखो। पूर्ववत् ही इसका भाव प्रतीत होता है; परंतु यहां 'आध्यक्ष्य' शब्दसे निरीक्षकोंका परीक्षण करनेवालेका भाव दिखाई देता है।

क्षत्ता, अनुक्षत्ता ये शब्द तर्खाणोंके वाचक भी हो सकते हैं, परंतु इन अर्थोंका यह कोई संबंध नहीं दिखाई देता। इसका अधिक विचार विचारी पाठक कर सकते हैं। यदि 'तर्खाण' ऐसा अर्थ कोई करेंगे तो ये मंत्र शूद्रवर्गमें चले जायंगे।

शस्त्र-विभाग।

'(२०) मेधायै रथकारम् । [१९]
(२१) शरव्यायै इषुकारम् । [२५]
(२२) हेत्यै धनुष्कारम् । [२६]
(२३) कर्मणे ज्याकारम् ।' [२७]

(मेधायै) शक्तिके लिये (रथ-कारं) रथियों और रथ कर्ताओंको नियुक्त करो। (शरव्यायै) बाणोंकी वृष्टि करनेके लिये (इषु-कारं) बाण बनानेवालोंको प्राप्त करो। (हेत्यै) हथियारोंके लिये (धनुष्कारं) धनुष्य आदि बनानेवालोंको प्राप्त करो। (कर्मणे) युद्धके कार्योंके लिये (ज्या-कारं) धनुष्यकी डोरी आदि पदार्थ बनानेवालेको प्राप्त करो।

अर्थात् युद्धके सब साहित्यके लिये उस साहित्यके बनानेवालोंको रखो अथवा प्राप्त करो।

अश्वादि-बल-विभाग।

'(२४) अ-रिष्ट्यै अश्व-सादम् । [८८]
(२५) अर्मेभ्यो हस्ति-पम् । [६१]
(२६) जवाय अश्व-पम् ।' [६२]

(अ-रिष्ट्यै) सुरक्षितताके लिये (अश्व-सादं) घोडे सवारको रखो (अर्मेभ्यः) गतिके लिये (हस्ति-पं)

हाथी-सवारको रखो। (जवाय) वेगके लिये (अश्व-पं) घोडे सवार, साइस, अथवा घोडोंका पालन करनेवालेको रखो। इसी प्रकार 'हस्ति-प' शब्दसे हाथियोंका माहुत, हाथियोंका अच्छी प्रकार पालन करनेवाला आदि भाव समझने चाहिये। यहां योग्य अर्थकी खोज विचारी पाठक करें।

सभा-संमति।

'(२७) आस्कंदाय सभा-स्थाणुम्।' [१३७]

'आस्कंद' का अर्थ- चढाई, हमला; धावा; युद्ध।

'सभा-स्थाणुं' का अर्थ- जो स्तंभके समान सभाका आधार होकर सभाको स्थिर रखता है।

(आस्कंदाय) युद्धके लिये (सभा-स्थाणुं) सभाके आधारभूत पुरुषको प्राप्त करो।

युद्धके लिये लोकसभाकी अनुमति अथवा संमति लेनी होती है। इसलिये सभाके उन सभासदोंको प्राप्त करना, कि जो सभाके आधाररूप होते हैं। जिनके अनुकूल होनेसे सभाका मत अनुकूल होगा, तथा जिनके विरोधसे सभाका मत प्रतिकूल होनेकी संभावना होती है।

अरण्य-विभाग।

'(२८) वनाय वन-पम्।' [१५१]

(वनाय) वनके लिये (वन-पं) वनका संरक्षण करनेवालेको रखो।

'(२९) अन्यतो अरण्याय दाव-पम्।' [१५२]

(अन्यतो अरण्याय) दूसरे प्रकारके बडे अरण्यके लिये (दाव-पं) अग्निसे बचानेवालेको रखो।

शहरोंके पास जो जंगल रखते हैं, जहां थोडे कष्टसे मनुष्य जाकर वनका विहार कर सकते हैं उन प्रदेशोंको वन कहते हैं। परंतु जो घनघोर जंगल होते हैं जहां साधारण मनुष्य विशेष कष्टके विना नहीं पहुंच सकते, उन बिकट वनोंको अरण्य कहते हैं।

'(३०) पर्वतेभ्यः किंपुरुषम् [१२२]
(३१) सानुभ्यः जम्भकम्। [१२१]
(३२) गुहाभ्यः किरातम्। [१२०]

(पर्वतेभ्यः) पहाडोंके लिये (किंपुरुषं) साधारण पुरुषको रखो। (सानुभ्यः) पर्वतोंके ऊपरके स्थानोंके लिये (जम्भकं) धडाकेदार आदमीको रखो। (गुहाभ्यः) गुफाओंके लिये (किरातं) जंगली मनुष्यको रखो॥

'(३३) नदीभ्यः पुंजिष्ठम्। [३१]
(३४) सरोभ्यो धैवरम्। [१११]
(३५) तीर्थेभ्यो आन्दम्। [११७]
(३६) यादसे शाबल्याम्। [१५५]
(३७) उत्कूलनिकूलेभ्यः त्रिष्ठिनम्।' [९६]

(नदीभ्यः) नदीयोंके लिये (पुंजि-ष्ठम्) संघोंमें रहनेवाले साधारण मनुष्यको रखो। (सरोभ्यः) सरोवरोंके लिये (धैवरं) धीवरको रखो। (तीर्थेभ्यः) तैरकर पार होनेवाले जलके स्थानोंके लिये (आन्दं) बंध बनानेवालेको रखो (यादसे) जलके स्थानोंके लिए (शाबल्यां) जंगली मनुष्यको रखो। (उत्कूल-निकूलेभ्यः) पानीके चढाव और उतारके स्थानोंके लिये (त्रि-स्थिनं) तीनों स्थानोंमें रहनेवालोंको रखो।

पानीके चढावका एक स्थान, पानीके उतारका दूसरा स्थान तथा जहां चढाव और उतार नहीं होते ऐसा तीसरा स्थान। इन तीनों स्थानोंपर जाने आनेवालोंकी सहायताके लिये व्यवहारदक्ष मनुष्य रखने चाहिए शेष जलके स्थानोंके लिये उस उस स्थानके लिये योग्य मनुष्यको रखना चाहिए।

'(३८) विषमेभ्यो मैनालम्।' [११८]

(वि-समेभ्यः) विषम अर्थात् ऊंचे नीचे स्थानोंके लिये (मैनालं) स्थानोंको गिननेवालेको रखो। जिसको सब स्थानोंका ज्ञान है, ऐसे मनुष्यको रखो ताकि उससे सबको लाभ पहुंचे।

'(३९) वैशन्ताभ्यो वैन्दम्। [११३]
(४०) नड्वलाभ्यः शौष्कलम्। [११४]
(४१) पाराय मार्गारम्। [११५]
(४२) आवाराय कैवर्तम्।' [११६]

(वैशन्ताभ्यः) छोटे तालावोंके लिये (वैन्दं) खबरदारी करनेवालेको रखो, जो उन तालावोंके पानीको ठीक प्रकार शुद्ध रखें तथा चारों ओरकी सफाईके विषयमें खबरदारी रखें।

(नड्वलाभ्यः) नरसलवाले स्थानोंके लिये (शौष्कलं) शुष्क करनेवालेको रखो। जो नरसलोंको सुखाकर उन शुष्क नरसलोंसे बाण अथवा तीर बनाता है। (पाराय) नदी आदिके पार होनेके लिये (मार्गारं) मार्ग जाननेवालेको रखो। जो ठीक मार्गसे पार ले जा सकता तथा आगेका

मार्ग भी बता सकता है। (आवाराय) पानीके स्थानोंमें आश्रयके लिये (कैवर्तं) जो पानीमें रहनेवाला होता है, उसको रखो। 'के उदके वर्तते इति कैवर्तः' जो उदकमें रहता है; अर्थात् पानीमें सहायता करनेमें प्रवीण। तैरना आदि अच्छी प्रकार जाननेके कारण जो दूसरोंको जलके डरसे बचा सकता है।

'(४३) उप-स्थावरेभ्यो दाशम् ।' [११२]

(उप-स्थावरेभ्यः) उप-वन आदिके लिये (दाशं) निकृष्ट मनुष्यको रखो। अथवा (उप-स्थ-अ-वरेभ्यः) पास रहनेवाले कनिष्ठोंके लिये (दाशं-दासं) जाननेवालेको रखो। अर्थात् जो उनकी व्यवस्था करनेकी पद्धति जानता है उसको रखो ताकि उनका प्रबंध ठीक प्रकार हो सके।

'(४४) ऋक्षिकाभ्यो नैषादम् ।' [३२]

(ऋक्षिकाभ्यः) जंगली क्रूर पशुओंके लिये (नै-षदं) जंगली मनुष्यको रखो। वह उनका इंतजाम अच्छी प्रकार करे।

'(४५) बीभत्सायै पौल्कसम् ।' [१२३]

(बीभत्सायै) क्रूर कर्मोंके लिये (पौल्कसं) अनाडी वन्य मनुष्यको रखो। इस मंत्रके अर्थके विषयमें अधिक विचारकी आवश्यकता है।

नगर पालना विभाग।

'(४६) द्वार्म्यः स्रामम् । [५३]
(४७) गेहाय उप-पतिम् । [४२]
(४८) भद्राय गृह-पम् ।' [६८]

(द्वार्म्यः) दरवाजोंके लिये (स्रामं-श्रामं) परिश्रमी पुरुषको रखो। ताकि वह दरवाजोंका अच्छी प्रकार संरक्षण कर सके। (गेहाय) घरके लिये (उपपतिं-उपपालकं) सहायक संरक्षक रखो। बडे महलोंमें द्वारके संरक्षणके लिये अलग तथा सब मंदिरके संरक्षणके लिये अलग मनुष्य हुआ करते हैं। (भद्राय) कल्याणके लिये (गृह-पं) घरोंका रक्षण करनेके लिये संरक्षक रखो। 'गृहान् पाति रक्षति इति गृह-पः' जो अनेक घरोंका संरक्षण करता है, अर्थात् महल्लेका संरक्षण करता है उसको 'गृह-प' कहते हैं।

सब महल्लेका एक संरक्षक हो, उसके आधीन घरोंके रक्षक काम करें तथा उनके नीचे द्वारोंके रक्षक अपना रखवालीका काम करें।

चार-विभाग

'(४९) आर्त्यै परि-वित्तिम् । ... [४३]
(५०) निर्ऋत्यै परि-विविदानम् । [४४]
(५१) अराध्यै एदिधिषुः पतिम् [४५]

(आर्त्यै) कष्टके समयके लिये (परि-वित्तिम्) सब प्रकारसे ज्ञान प्राप्त करनेवालेको रखो। 'परितः सर्वतः विन्दति वेत्ति वा स परिवित्तिः।' जो अनेक प्रकारसे सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है उसको 'परिवित्ति' कहते हैं। सब प्रकारका सच्चा ज्ञान प्राप्त करके कष्टके समयपर उसका उपयोग करके लोगोंको कष्टोंसे संरक्षण करना इसका काम होगा। (निर्ऋत्यै) अवनतिके लिये (परि-विविदानं) सब प्रकारके विशेष ज्ञानको पास रखनेवालेको रखो। 'परितः सर्वतः विशेषेण विन्दति' जो सबसे पहले सब प्रकारका विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अवनतिको हटानेके लिये इस प्रकार विशेष ज्ञानीकी योजना करनी चाहिये। (अ-राध्यै) असिद्धिके लिये (एदिधिषुः पतिम्) सबसे पहले धारक और पालकको रखो। 'अग्रे पूर्वमेव दिधिषति धारयितु पायितुं वा इच्छति एदिधिषुः' जो सबसे पूर्व धारण पालनकी इच्छा करता है वह एदिधिषु कहलाता है। इस प्रकारके पालकको जल्दी सिद्ध न होनेवाले कर्मोंके लिये रखो, ताकि सबसे पहले ही वह धारण पोषणके कार्य उत्तमतासे करके सब कार्य सिद्ध कर सके।

ये तीन ही मंत्र विशेष विचार करने योग्य हैं। (१) 'परिवित्ति (२) परिविविदान तथा (३) एदिधिषुः पति' ये तीनों शब्द सबसे पहिले ही भोग प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छाका भाव बताते हैं। इसलिये इन शब्दोंका लौकिक संस्कृतमें निम्न प्रकार उपयोग होता है। पहिले दो शब्दोंका लौकिक अर्थ— बडा भाई विवाहित होनेसे पूर्व ही अपना विवाह करनेवाला छोटा भाई। तीसरे शब्दका लौकिक अर्थ— बडे बहिनका विवाह होनेसे पूर्व ही छोटी बहिनका विवाह जिस पतिके साथ होता है उस पतिका नाम 'एदिधिषुः पतिः' है।

'परि-विद' धातुका अर्थ— ढूंढकर निकालना; निश्चय करना, जांचना; लपेटना, डोरीसे बांधना। इन मूल अर्थोंके पश्चात् इस धातुका लाक्षणिक अर्थ निम्न प्रकार हुआ है— बडे भाईसे पूर्व ही अपनी शादी करना।

इस 'परि-विद्' धातुसे 'परिवित्ति और परि-विविदान' शब्द हुए हैं। इसलिये यहां मूल अर्थ लेना उचित है।

'एदिधिषुः- अग्रे दिधिषुः' में 'दिधिषु' का अर्थ- प्राप्त करनेकी इच्छा, उन्नतिका परिश्रम करना; खोज करना ये मूल अर्थ पहिले थे परंतु इसका लौकिकमें अर्थ- पति, द्वितीय पति, पुनर्विवाहित पति आदि अर्थ हुए हैं। 'एदिधिषु' का अर्थ 'अग्रे- दिधिषु' अर्थात् 'पहले दिधिषु' होगा। यद्यपि इसका लौकिकमें अर्थ बडी बहिनके पूर्व पति प्राप्त करना ऐसा हुआ है तथापि यहां मूल अर्थ ही अभीष्ट है ऐसा प्रतीत होता है।

तात्पर्य मूलतः इन तीनोंके अर्थोंका मूल भाव इतनाही है कि 'अन्योंकी उन्नति होनेसे पूर्वही अपनी उन्नति करना'। इसी अर्थका शादीमें विपरिणाम होकर विवाहवाचक अर्थ बन गये हैं। वेदोंका अर्थ देखनेके लिये मूल अर्थोंको लेना, यौगिक अर्थोंका स्वीकार करनाही सर्वथा उचित है। आशा है कि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे।

उपसेचन-विभाग।

'(५२) वर्णाय अनुरुधम्।' [४९]

(वर्णाय) वर्णके लिये (अनु-रुधं) अनुकूल काम करनेवालेको रखो। जिस वर्णका जो कार्य होगा वैसा कार्य उससे कराना चाहिए। इसलिये लोगोंसे वर्णोंके अनुसार काम लेनेवाले योग्य मनुष्यको रखो। लोकोंको अपने वर्णके अनुकूल शिक्षण देनेकी व्यवस्था करो। अर्थात् जिसकी जो योग्यता हो उसीके अनुसार उससे कार्य लिया जावे अथवा उनको कार्य सोंपा जावे।

'(५३) मनुष्य-लोकाय प्रकरितारम्।' [७६]

'(५४) सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारम्।' [७७]

(मनुष्य लोकाय) मनुष्यमात्रके (प्र-करितारं) फैलानेवालेको रखो। सब मनुष्योंका हित करनेके लिये ऐसे मनुष्यको प्रयुक्त करो कि जिसका काम ज्ञान-शौर्य-धन-हुन्नर आदिका विस्तार करनेका हो। वह उक्त गुणोंका विस्तार करके सबकी उन्नति करे। (सर्वेभ्यः लोकेभ्यः) सब लोगोंके लिये (उप-सेक्तारं) सिंचन करनेवालेको रखो। उप-सिंचनका तात्पर्य वृक्षोंको पानी डालकर उनको हरेभरे करना, मनुष्योंमें जीवनका उत्साह उत्पन्न करके उनको प्रफुल्लित करना, ज्ञानादि गुणोंका अंदरतक परिणाम पहुंचा कर मनुष्यजातिको उत्साहयुक्त करना।

'उपसेचन' का तात्पर्य सब मनुष्योंमें विशेष तत्वों और गुणोंका संचार करना। 'प्रकरितृ' का तात्पर्य जो मनुष्योंमें उत्साही विचारोंका फैलाव करता है।

'(५५) प्रकामोद्याय उप-सदम्।' [४८]

(प्र-काम-उद्याय) विशेष कार्य उपस्थित होनेपर (उप-सदं) जो पास हो उसीको रखो। अर्थात् विशेष अवस्थामें विशेष प्रकारका कार्य अचानक उपस्थित होनेपर, जो उस समय पास रहनेवाले मनुष्योंमें योग्य होगा, उसीको प्रयुक्त करो। योग्यको ढूंढनेमें देरी होगी और देरीसे ही कार्य बिगड जायगा, ऐसी अवस्थामें इस आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिए।

संधि-विभाग।

'(५६) संधये जारम्।' [४१]

(संधये) सुलह करनेके लिये (जारं) वृद्धको रखो। 'जॄ-वयोहानौ। जीर्यति इति जारः।' जिसकी बहुत आयु व्यतीत हो चुकी हो उसको 'जार' कहते हैं। 'जार' का अर्थ— वृद्ध होना। इसीका 'व्यभिचारी' ऐसा अर्थ लौकिकमें प्रचलित है। वह यहां अभीष्ट नहीं। व्यभिचारसे वीर्य नाश होनेके कारण आयुका भी नाश होता है इसलिये व्यभिचारीका नाम 'जार' हुआ है। परंतु पहिला मूल अर्थ 'वृद्ध' ऐसा ही है।

सुलहके समय वृद्धोंको इसलिये रखना चाहिये कि वे अपने दीर्घ आयुष्यके अनुभवका लाभ दोनों पक्षोंको दे सकेंगे। यदि सुलहकी मंडलीमें पक्षाभिमानी तरुण ही रहेंगे तो सुलह करते करते फिर युद्धही भडक उठेगा। इसलिये निःपक्षपाती वृद्धोंकी मंडलीद्वारा सुलह करनी उचित है।

राष्ट्र-भृत्य-विभाग।

'(५७) अक्ष-राजाय कितवम्।' [१३३]

(एक्ष-राजाय) राष्ट्रभृत्योंके प्रधानपदके लिये (कित-वं) विशेष ज्ञानीको रखो। 'कित-व' शब्दका अर्थ पहिले आ चुका है, 'कित्-संज्ञाने' इस धातुसे यह बनता है। 'अक्ष' शब्दके अर्थके लिये निम्न मंत्र देखने योग्य है—

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ (अथर्व. ७।१०९।६)

'(वः नामधेयं) आपका नाम (सं-वसवः इति) उत्तम वसु ऐसा है। (जो मनुष्योंके निवासका उत्तम साधन होता है वही 'सं-वसु' कहलाता है।) आपका (उग्र-पश्याः) स्वरूप क्षात्रतेजसे युक्त हैं तथा आप (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले अतएव

राष्ट्रके (अक्षाः) आंख हैं। (तेभ्यः वः) उन आप राष्ट्र-भृत्योंके लिये (हविषा) अर्पणद्वारा (इन्दवः) शांतिसुख (विधेम) हम सब करेंगे। देगें। जिससे (वयं) हम सब (रयीणां पतयः) धनोंके स्वामी (स्याम) होवेंगे।'

इस मंत्रसे राष्ट्रभृत्यही अक्ष हैं यह बात सिद्ध होती है, क्योंकि इन्हीके कारण लोगोंका धन सुरक्षित रहता है। इन राष्ट्रभृत्योंके प्रधानपदके लिये विशेष ज्ञानीकोही रखना चाहिये। क्योंकि इसके ज्ञानपर सब राष्ट्रभृत्योंका व्यवहार होना है। इनमें 'कृत, त्रेत, द्वापर और कलि' ऐसे चार भेद होते हैं। उनका लक्षण—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
(एत० ब्रा० ७।१५)

(१) सोनेवाला आलसी 'कली' होता है। (२) आलस छोडकर प्रयत्न करनेके लिये जो उद्यत होता है उसको 'द्वापर' कहते हैं। (३) जो पुरुषार्थ करनेके लिये लगता है वह 'त्रेता' कहलाता है तथा (४) जो पुरुषार्थमें सदा मग्न रहता है उसको 'कृत' कहते हैं। ये चार प्रकारके राष्ट्रभृत्य होते हैं।

'(५८) कृताय आदिनव-दर्शम्।...[१३४]
(५९) त्रेतायै कल्पिनम्।......[१३५]
(६०) द्वापाराय अधिकल्पिनम्।' [१३६]

(कृताय) कृत अर्थात् कर्तव्य पुरुषार्थके लिये (आदि-नव-दर्शं) अपने दोष देखनेवालेको रखो। अपने दोषोंका पता लग जानेसे वह पुरुषार्थी अपने उन दोषोंको दूर करके, अपनी उन्नतिका साधन करके, श्रेष्ठ पुरुषार्थ कर सकेगा। (त्रेतायै) जो पुरुषार्थ करनेके विचारमें होता है उसके लिये (कल्पिनं) विशेष कल्पना करनेवालेको रखो। अर्थात् उन कल्पनाओंका ग्रहण करके वह पुरुषार्थ करनेमें अच्छी प्रकार योग्य होगा। जिसके पास कोई कल्पना नहीं वह अच्छा पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। इसलिये पुरुषार्थ करनेका विचार मनमें आते ही विशेष उच्च कल्पनाओंद्वारा उनको उत्साहित करना चाहिए। (द्वापाराय) आलस छोडने-वालेके लिये (अधि-कल्पिनं) विशेष ख्याल करनेवालेको रखो। ताकि उनके विचारोंसे स्फुरित होकर वह आलस छोडनेवाला मनुष्य पुरुषार्थको प्रारंभ करके अपना कार्य अच्छी प्रकार निभा सकेगा।

तात्पर्य मानसिक सुविचारोंका पुरुषार्थके सब विशेष संबंध है। इन राष्ट्रभृत्योंमें श्रेष्ठ पुरुषार्थका जीवन स्थिर रहनेके लिये सुविचारी लोगोंके साथ उनका मेलमिलाफ होना चाहिये तथा उनका अध्यक्ष बडा विचारी विद्वान् रखना चाहिये।

'(६१) अग्नये पीवानम्।......[१६३]
(६२) पृथिव्यै पीठ-सर्पिणम् [१६४]
(६३) वायवे चांडालम्।......[१६५]
(६४) अंतरिक्षाय वंशवर्तिनम्।'[१६६]

अग्निके साथ काम करनेके लिये (पीवानं) बलवान मनुष्यको रखो। पृथिवीके साथ साथ चलनेके लिये (पीठ-सर्पिणं) पीठसे चलनेवालेको रखो। वायुके जोरमें कर्म करनेके लिये (चंड-अलं) प्रचंड शक्तिवालेको रखो। अंतरिक्षमें कार्य करनेके लिये (वंश-वर्तिनं) बांसके साथ चलनेवालेको रखो।

'(६५) अह्ने शुक्लं पिंगाक्षम्। [१७१]
(६६) रात्र्यै कृष्णं पिंगाक्षम्।' [१७२]

दिनके कार्यके लिये गोरे रंगके आदमीको रखो जिसके भूरे आंख हों। तथा रात्रीके कार्यके लिये काले रंगके मनुष्यको रखो जिसके भूरे आंख हों।

दिनके समय गोरा मनुष्य अधिकारमें रहे तथा रात्रीके समय काला रखा जाय। इस आज्ञाका हेतु विचार करने योग्य है।

(३) वैश्य-वर्ण-विभाग।

'(१) मरुद्भ्यो वैश्यम्।' [३]

(मरुद्भ्यः) मनुष्योंके लिये (वैश्यं) वैश्यको नियुक्त करो।

'मरुत्' शब्द मरणधर्मा मनुष्यका बोधक है। मरुत् शब्द यहां बहुवचनमें होनेसे सब मनुष्य जातिका बोधक होता है। सब मनुष्योंके लिये सबसे पहिले दुकानदारोंकी आवश्यकता होती है। जहां मनुष्य एकत्रित होते हैं, और जहां बहुत दिनतक स्थिरतासे रहने होते हैं, वहां दुकानोंका प्रबंध अवश्य करना पडता है। जहां ग्राम हो वहां दुकानका प्रबंध होना चाहिये। (मरुत्, मर्त, मर्त्य, मर्य)

वैश्योंका धर्म यही है, कि चारों देशोंमें जो पदार्थ मिल सकते हों, उनको लाकर बेचें। वैश्योंके कारण ही नाना

देशोंके नाना प्रकारके पदार्थ सब मनुष्योंको घर बैठे बैठे मिल सकते हैं। जिस ग्राममें दुकान रखनेसे लाभ नहीं होता, वहां वैश्य लोग अपनी दुकान नहीं खोल सकते। इसलिये राजकीय प्रबंधसे वहां दुकान खोली जाती है, अथवा किसी वैश्यको वहां दुकान खोलनेके लिये उत्साह देकर यथोचित सहायता देकर प्रबंध किया जाता है। जिससे वैश्यका भी नुकसान न हो और वहांकी जनताको भी लाभ हो सके। तात्पर्य सब जनताके लाभके लिये वैश्योंको नियुक्त करना चाहिये।

'(२) आक्रयायै अ-योगुम्' [८]

(आ-क्रयायै) क्रय विक्रयके लिये (अ-योगुं) जो विशेष प्रयत्न करनेवाला हो।

व्यापारके लिये विशेष जोरके साथ प्रबल प्रयत्न करनेवालेको रखो। 'अयोगु, अयोग' का अर्थ— जो प्रबल प्रयत्न करता है; प्रबल यत्न; दूसरेके साथ गुप्त संबंध न रखनेवाला; प्रयत्न, पुरुषार्थ, मेहनत।

'(३) तुलायै वणिजम्।' [१२५]

(तुलायै) तोलके लिये (वणिजं) बनियाको रखो। व्यापारीके लिये अपने तोल, माप आदि सब ठीक रखने चाहिये। ठीक तोलके लिये व्यापारीके पास जाना चाहिये। व्यापारीके पास तोलका ठीक साधन प्राप्त हो सकता है।

श्रेष्ठि-विभाग।

'(४) श्रेयसे वित्त-धम्।' [६९]

(श्रेयसे) कल्याणके लिये (वित्त-धं) धनका धारण करनेवालेको प्राप्त कीजिए।

'श्रेयः' शब्दका अर्थ— उच्च स्थिति; उत्तमता; बहुत अच्छी तथा इच्छा करनेयोग्य (अवस्था) सद्गुण; सच्चा, सीधा; आनंद, सुस्थिति; पवित्र परिणाम; अंतिम स्वातंत्र्य।

'वित्त-ध' का अर्थ— धनका धारण करनेवाला, जो बहुत धन अपने पास रखता और बढाता है। सेठ, साहूकार, महाजन, पेढीवाला बैंक।

कृषि-विभाग।

'(५) इरायै की-नाशम्।' [६६]

'की-नाश' का अर्थ— 'कुत्सितं नाशयति इति कीनाशः।' जो बुरी अवस्थाका नाश करता है उसको की-नाश कहते हैं। 'कु' का अर्थ— बुराई; अवनति, बिघाड, खराबी; गिरावट, घटाव; पाप; अपमान; न्यूनता, हानी, कमताई। इन अवनतिकारक अवस्थाओंका नाश करनेवाला 'कीनाश' अर्थात् किसान होता है। 'कीनाश' का शब्दशः यौगिक अर्थ न्यूनताका नाश करनेवाला अर्थात् समृद्धि करनेवाला है। इसका लौकिक अर्थ किसान, कृषीवल, खेती करनेवाला है। किसानही राष्ट्रके अंदर धान्यकी तथा अन्नकी समृद्धि करके लोगोंका हानिसे रक्षण करता है।

समासमें 'कु' का 'की' होता है और 'कु-नाश' का 'की-नाश' बनता है। किसानोंके उद्योगपरही राष्ट्रके अन्नका निर्भर है, और यदि अन्नकी उत्पत्ति न हुई तो 'अकाल' होता है। अकालसे सब लोगोंको बचानेवाला किसान है। 'नाश' शब्दका अक्षर-व्यत्यय होकर 'शान, सान' बना और 'की-नाश' का 'कि-सान' बना। 'कृषाण' शब्दसे भी 'किसान' शीघ्र बन सकता है, कीनाश शब्दके इस अर्थको देखनेसे 'किसान' का राष्ट्रीय महत्व ध्यानमें आ सकता है।

(इरायै) अन्नके लिये (की-नाशं) किसानको प्राप्त करो। कीनाश अर्थात् किसानका महत्त्व वेद निम्न प्रकार वर्णन करता है—

पाद्भ्यः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभिगच्छतः॥
(अथर्व. ४।११।१०)

(पद्भिः) अपने पावोंद्वारा (सेदिं) विनाशको (अव-क्रामन्) पराजित करता हुआ और (जंघाभिः) जांघोंद्वारा (इरां) अन्नको (उत्-खिदन्) ऊपर करता हुआ अर्थात् उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान्) बैल, तथा (श्रमेण कीनाशः) कष्टके साथ खेती करनेवाला किसान, ये दोनों (कीलालं) उत्तम अन्नपानको (अभि-गच्छतः) सब प्रकारसे प्राप्त करते हैं।

खेतीके लिये बैलकी आवश्यकता है, क्योंकि वह बैल खेती करनेके लिए जब खेतोंमें चलता है; तब मानो, वह अपने पाओंसे अकालरूपी शत्रुपर धावा करता है, और जांघोंसे भूमीमेंसे अन्नको ऊपर खेंचता है। इसके साथ किसान खेतोंमें परिश्रम करता है, और ये दोनों उत्तम अन्न-पानको अपनी मेहनतसे प्राप्त करते हैं। तथा—

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः। इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥
(अथर्व० ६।३०।१)

' (सरस्-वत्यां) पानीके प्रवाहसे युक्त (मणौ अधि) उत्तम भूमीमें (इमं) इस (मधुना संयुतं यवं) मीठे जौ अथवा चावलोंको (देवाः) देवोंने (अचर्कृषुः) खेती की। उस समय (शत-क्रतुः) सैंकडों कर्म करनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र, देवोंका राजा (सीरपतिः आसीत्) हलका रक्षक था और (सु-दानवः मरुतः) उत्तम दाता मरुद्गणदेव (कीनाशाः आसन्) किसान थे। '

' देव ' का अर्थ- विजयकी इच्छा करनेवाले लोग, ज्ञानी, समझदार लोग। ' इन्द्र ' का अर्थ- राजा, स्वामी, मालिक। ' मरुत् (मर्-उत्) ' का अर्थ- मरणधर्मवाले मनुष्य हैं। ' मणि ' का अर्थ- अपनी जातिमें जो उत्तम होता है, उसको मणि कहते हैं, यहां उत्तम भूमीका तात्पर्य है।

पानीके समीपकी उत्तम भूमीमें जब विजयेच्छु लोग मीठे यवोंकी खेती करने लगते हैं, तब राजा हलका पालन करे अर्थात् हल आदि खेतीके साधनोंका संरक्षण राजासे होवे, और दानशूर सब मनुष्य किसान बनकर खेतीका पवित्र कार्य करें। जहां शतक्रतु इन्द्र भी हल चलाता है, और सब मरुद्-गण तथा सब देव खेतीका कार्य करते हैं, वहां साधारण मनुष्य खेतीके कामको नीच कर्म क्यों समझे ? जिस कर्मको सब देवोंने पवित्र बनाया और जो काम करके सब देवोंने अपना आदर्श बताया, उस उत्तम कर्मको नीचा समझनेवाला आदमी अच्छा नहीं हो सकता। अस्तु इस प्रकार किसानके कर्मका महत्व है जो अकालसे सबको बचाता है वह किसान ही सबका रक्षक है।

गो-रक्षा-विभाग।

' (६) पुष्ट्यै गो-पालम्। [६३]
(७) वीर्याय अवि-पालम्। [६४]
(८) तेजसे अज-पालम्।' [६५]

(पुष्ट्यै) पुष्टिके लिये (गो-पालं) गौका पालन करनेवालेको रखो। गायके दूध, दहीं, मक्खन, घी आदिसे शरीरकी पुष्टि होती है। जो पुष्टि चाहते हैं वे गायका दूध पीवें। (वीर्याय) धातुकी वृद्धिके लिये (अवि-पालं) भेडोंके पालकको रखो। भेडीके दूधसे वीर्यकी वृद्धि होती है। जो अपने शरीरमें वीर्यकी वृद्धि करना चाहते हैं वे भेडीका दूध पीवें। (तेजसे) तेजस्विताके लिये (अज-पालं) बकरियोंके पालकको रखो। बकरीके शरीरका तेज बढता है; जो तेजकी वृद्धि चाहते हैं वे बकरीका दूध पीवें।

घोडे पालनेवाले इस अनुभवकी साक्षी देते हैं। वे कहते हैं कि, भैंसके दूधसे घोडा सुस्त होता है, गायके दूधसे पुष्ट होता है परन्तु डरपोक होता है, भेडीके दूधसे वीर्यवान होता है, और बकरीके दूधसे तेज, फुर्तिला, होता है। पाठकोंको चाहिए कि वे इस बातका विशेष अनुभव लेकर अपना अपना अनुभव प्रसिद्ध करें। अनुभव थोडेसे दिनोंका नहीं चाहिए, परंतु कमसे कम २०।२५ सालोंका चाहिए, तभी किसी परिणाम तक पहुंचना संभव है। यहां गौ, बकरी, भेड आदि पशुओंके दूधसे तात्पर्य है न कि मांसके भक्षणका भाव है। देखिए—

पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥ (अथर्व० १९।३१।५)

' द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंसे, तथा जो धान्य है, उससे (पुष्टिं) पुष्टिका (अहं परि जग्रभ) मैं स्वीकार करता हूं। (पशूनां पयः) पशुओंका दूध तथा (ओषधीनां रसं) औषधियोंका रस (मे) मुझे (सविता बृहस्पतिः) सबके उत्पादक ज्ञानपति ईश्वरने (नि यच्छात्) दिया है। '

इस मंत्रमें ' पशूनां ' पयः, ओषधीनां रसः। ' इन शब्दों-द्वारा स्पष्ट कहा है, कि पशुओंसे दूध लेना है, न कि उनका मांस। जहां जहां पशु शब्दका उल्लेख आवेगा, वहां वहां उस पशुका दूध लेना है। यह बात न समझनेके कारण पशु-यज्ञका तात्पर्य पशु-मांस यज्ञ किया गया, और भ्रांत लोगोंने पशुमांसका हवन किया, और पशुमांसका भक्षण करना भी प्रारंभ किया। परन्तु इस मंत्रने बिलकुल स्पष्टतासे कहा है, कि पशुका तात्पर्य उसके दूधसे है। अर्थात् यज्ञमें दूध, घी आदिका ही हवन होना चाहिए, तथा खानेमें दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि पदार्थ ही आने चाहिए।

उक्त ३ मंत्रोंका तात्पर्य इतना ही है कि पुष्टीके लिये गायका दूध, वीर्यके लिये भेडीका दूध और तेजीके लिये बकरीका दूध सेवन करना चाहिए। न कि केवल गडरियेके पास पहुंचनेसे पुष्टि होगी। गडरिया अथवा दूध बेचनेवाला एक साधन है कि, जिसके पास उक्त पशु रहनेसे उक्त पशु-ओंका दूध प्राप्त हो सकता है। दूध, दही, घी, आदि दूधके सब पदार्थोंमें उक्त गुण होंगे। इसका विचार स्वाध्यायशील वैद्योंको करना उचित है।

(४) शूद्र-वर्ण-विभाग।

'(१) तपसे शूद्रम्।' [४]

(तपसे) कष्टके कर्मोंके लिये (शूद्रं) शूद्रको प्राप्त करो।

'तपः' का अर्थ— कष्ट सहन करना, मेहनतका काम करना, तपना। इस शब्दके दूसरे अर्थ पहिले दिये हैं।

'शूद्र' का अर्थ— 'शु क्षिप्रं उन्दति।' शु अर्थात् शीघ्र जो (उन्दति) पसीनेसे गीला होता है, वह शूद्र है। अर्थात् जो ऐसे काम करता है, कि जिनमें शरीर पसीनेसे गीला बन जाता। 'शु' शब्द निघण्टुमें २।१५ क्षिप्रनामोंमें लिखा है।

'शूद्र' शब्दके सब अन्य अर्थ लाक्षणिक हैं। यही उक्त अर्थ मूल और शब्दका वास्तविक अर्थ है। 'शुचा द्रवति' दुःखसे गमन करता है यह अर्थ इसका वास्तविक नहीं। वेदमें शूद्रका महत्व बडा भारी लिखा है। इसलिये शोक-दुःखके साथ उसका संबंध बताना ठीक नहीं। शु+उत्+द्रा' शीघ्रताके साथ उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है यह भी शूद्र शब्दका अर्थ विचार करने योग्य है। राष्ट्रके पांव शूद्र है, अर्थात् राष्ट्र शूद्रों पर खडा रहता है, राष्ट्रका आधार शूद्र है, राष्ट्रकी बुनियाद शूद्र है। इसीलिये शूद्रोंके अंदर तेजकी वृद्धि करनेके लिये मंत्रमें प्रार्थना की है।

रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
(यजु० अ० १८।४८)

'वैश्य तथा शूद्रोंमें (रुचं) तेज स्थापन करो' शूद्रोंमें भी तेजस्विता रहनी चाहिये। राष्ट्रमें जैसे तेजस्वी ब्राह्मण और क्षत्रिय होने चाहियें, उसी प्रकार वैश्यशूद्रोंमें भी तेज होना चाहिये। यह वैदिक शिक्षा है। इसलिये शूद्रको हीन मानना अथवा उसकी दीन अवस्था बनाना किसीको भी उचित नहीं।

कौशल्यविभाग।

'(२) तमसे तस्करम्।' [५]

(तमसे) अज्ञान दूर करनेके लिये (तस्+करं= तत्+करं) उस उस कर्ममें प्रवीणको प्राप्त करो।

'तस्कर' का अर्थ- 'तत् करोति इति तत्करः। तत्कर एव तस्करः।' उस उस कर्मका कर्ता अर्थात् एकएक कर्म करनेमें अत्यंत प्रवीण जो होता है, उसको 'तत्कर' कहते हैं, इसी शब्दका रूप 'तस्कर' है। इस वर्गमें अनेक कर्म कर्ताओंके नाम आगये हैं; जिनका वर्णन अब किया जाता है–

६३ (यजु. सु. भाष्य)

'(३) मायायै कर्मारम्।' [२२]

(मायायै) कुशलताके लिये (कर्मारं) कारीगरको प्राप्त करो।

'कर्मार' शब्दका अर्थ- कारीगर, शिल्पकार, यंत्र-शास्त्रज्ञ, कलकी बनावट करनेवाला, दस्तकारी करनेवाला, हस्तकौशल्यका काम करनेवाला, लुहार।

'माया' शब्दका अर्थ- हिकमत, बनावट; हस्तकौशल्य; राजनैतिक युक्तिप्रयोग; विलक्षण शक्ति अथवा बुद्धि; कला, हुनर; बुद्धि, अलौकिक शक्ति।

इन अर्थोंका विचार करके उक्त मंत्रसे अन्य विशेष भाव विचारी पाठक जान सकते हैं।

'(४) रूपाय मणिकारम्।' [२३]

(रूपाय) सुन्दरताके लिये (मणि-कारं) जौहरीको प्राप्त करो जौहरीके पास जवाहिरात अर्थात् मणि, मोती, हीरे, रत्न आदि पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, जिससे मनुष्य अपने स्वरूपकी शोभा बढा सकते हैं।

'(५) निष्कृत्यै पेशस्कारीम्।' [४६]

(निष्कृत्यै) सुधारनेके लिये (पेशस्-कारीं) सजावट करनेवालेको प्राप्त करो।

'पेशस्' का अर्थ- आकार, सुरूपता; चमक व दमक, सतेजता, सजावट, शृङ्गार; गहना, जेवर, सौंदर्य बढानेका साधन। इनके कर्ताका नाम 'पेशस्कारी' है अर्थात् सजावट करनेवाला।

'(६) देव-लोकाय देशितारम्।' [७५]

(देव-लोकाय) दिव्यस्थानके लिये (पेशितारं) सौंदर्य बढानेवालेको प्राप्त करो।

'देव-लोक' का अर्थ- देवोंका लोक, देवोंका स्थान, उत्तम पुरुषोंका स्थान, श्रेष्ठोंका स्थान, उत्तम घर, उत्तम महल बनानेके लिये सुरूपता बढानेवालेको रखो।

'पेशिता' का अर्थ- आकारका विचार करनेवाला, सुन्दर आकार बनानेवाला, किसी पदार्थकी सुंदरता बढानेवाला।

किसी पदार्थका सौंदर्य बढानेके लिए ऐसे कारीगरको रखो कि, जो उसको अधिक सुंदर बना सके।

'(७) हसाय कारीम्। [७६]
(८) हसाय कारीम्।' [१५४]

'हस्' धातुका अर्थ- बढ जाना, श्रेष्ठ बनना; सदृश

करना, एकरूप होना; खिलना, फूलना, विकसना, चमकदार, होना, आनंदसे हंसना।

'हस' शब्दका अर्थ- बढना, श्रेष्ठत्व, सादृश्य, एकरूपता, विकास, चमक, आनंदका हास्य।

(हसाय) चमक दमकके लिये (कारीं) कारीगरको प्राप्त करो।

किसी पदार्थकी शोभा बढाना, उसको बहुमूल्य बनाना, उसकी एक जैसी प्रतिकृति बनाना, शोभाका विकास करना, चमक बढाना आदि कर्मोंके लिये कारीगरको नियुक्त करना चाहिए। किसीके सदृश तसबीर, चित्र अथवा मूर्ति बनानेका भाव यहां प्रतीत होता है। इस विषयमें विचारी पाठकोंको सोचना चाहिए। यह मंत्र दो बार आया है, जिससे स्पष्ट होता है, कि प्रतिकृति बनानेवाले कारीगरोंकी राष्ट्रमें अधिक आवश्यकता है। मंत्रका द्विवार, प्रारंभमें तथा अंतमें, उच्चारण होनेसे 'कारी' अर्थात् कारीगरोंकी राष्ट्रीय उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यकता सिद्ध हुई है। 'पुनरुक्तिका महत्व' यहां देखा जा सकता है।

'(९) वर्णाय हिरण्यकारम्।' [१२४]

(वर्णाय) रंगके लिये (हिरण्य-कारं) सुवर्णकारको प्राप्त करो। सुवर्णका अर्थ ही सु-वर्ण अर्थात् उत्तम वर्ण है। सुवर्ण अर्थात् सोनेका शरीरके कांतिके साथ कुछ न कुछ संबंध है। सोनेके आभूषण धारण करनेके साथ आयुष्य वृद्धिका संबंध वेदने बताया है—

> यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं
> स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः।
> स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥
> (यजु० ३४।५१ ॥ अथर्व० १।३५।२)

'जो दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है वह विद्वानोंमें दीर्घायु होता है तथा साधारण मनुष्योंमें भी दीर्घायु होता है।'

'दाक्षायण हिरण्य' का भाव अत्यंत शुद्ध सोना ऐसा प्रतीत होता है। वैद्योंको इस विषयमें सोचना चाहिये। शरीरका सौंदर्य, शरीरका तेज, शरीरकी उत्तम कांति, सुवर्णके धारण करनेसे बढती है। शुद्ध अन्न, शुद्ध उदक, शुद्ध वायु, उत्तम व्यायाम आदिके साथ सुवर्णका धारण करना लाभदायक होगा। केवल सुवर्णके धारण करनेसे ही आयुष्य नहीं बढ सकेगा। यह बात यहां स्मरणमें रखनी चाहिये।

'(१०) प्रकामाय रजयित्रीम्।' [८०]

(प्रकामाय) शोभाके लिये (रजयित्रीं) रंग देनेवालेको प्राप्त करो। कपडोंको रंगवाना, तथा अन्य पदार्थोंको रंग देनेका काम करनेवाले जो होते हैं, उनको प्राप्त करके, प्रकाम अर्थात् उत्तम शोभाको प्राप्त करना। जिससे मनका अत्यंत समाधान होता है, उसको 'प्र-काम' कहते हैं।

'(११) धैर्याय तक्षाणम्।' [२०]

(धैर्याय) धैर्यके लिये (तक्षाणं) शिल्पीको प्राप्त करो। गृह आदि बनानेवाले शिल्पियोंको 'तक्षाण' कहते हैं। घर बनानेके समय अच्छे शिल्पीको नियुक्त करनेसे मनमें एक प्रकारका धैर्य उत्पन्न होता है, और विश्वास होता है कि, घरका काम नहीं बिगडेगा। परंतु अच्छे शिल्पीको न लगाकर साधारण राजोंको लगानेसे मनमें बडा डर रहता है, और सदा मनमें बात चुभती रहती है, और मनमें शंका होती है, कि शायद वह काम बिगडेगा, क्योंकि उस कामके लिये अच्छे कारीगरोंको नहीं रखा है। इसलिये सदा अच्छे कारीगरोंको ही काम पर लगाना धैर्य देनेवाला होता है। सब कामोंके लिये यही एक नियम ध्यानमें धरना चाहिए, कि अच्छेसे अच्छे कारीगरोंके ही सुपुर्द अपना कार्य करना चाहिए।

'(१२) शुभे वपम्।' [२४]

(शुभे) सुंदरताके लिये (वपं) हजामको प्राप्त करो। इस मंत्रका दूसरा भी अर्थ है। (शुभे) उत्तमताके (वपं) बीज बोनेवाले किसानको नियुक्त करो।

दूसरे अर्थके साथ यह मंत्र वैश्यवर्गीय कृषिविभागमें जायगा और पहिले अर्थके साथ कारीगर-विभागमें यहां ही रहेगा। इसके दोनों अर्थ ठीक प्रतीत होते हैं, और वेदमें अन्यत्र ये शब्द दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं। इस विषयमें पाठकोंको अधिक विचार करना चाहिए।

'(१३) भायै दार्वाहारम्। [७१]
(१४) प्र-भायै अग्न्येधम्।' [७२]

(भायै) उजालेके लिये (दारु+आ+हारं) लकडियां लानेवालेको प्राप्त करो। (प्र भायै) विशेष प्रकाशके लिये (अग्नि+एधं) अग्नि प्रदीप्त करनेवालेको प्राप्त करो।

‘ (१५) मन्यवेऽयस्तापम् । ’ [९१]

(मन्यवे) तेजकी धारणाके लिये (अयः-तापं) लोहा तपानेवाले लुहारको प्राप्त करो।

‘ मन्यु ’ शब्दका अर्थ- स्वभाव, हिम्मत, हौसला, जोश, जान, मन, जिन्दादिली, सत्व, सूरत, तबियत, मिजाज, वीरता, शौर्य, सत्व, मूल पदार्थ, धैर्य, स्वभाव; अग्नि, जोश, क्रोध, तेजी, तेजस्वी स्वभाव, उत्साहयुक्त प्रेम, सरगर्मी, शोक, उत्ताम, जोश, हरारत; यज्ञ, पूजा-संगति-दान, स्वार्थत्याग।

‘ अयः ’ का अर्थ- हलचल, लोहा सोना, फौलाद, स्पात, धात, लोहेका शस्त्र, अग्नि, आग, परशु, कुऱ्हाड, हथौडी।

यद्यपि यह मंत्र समझनेके लिये बहुत कठिन है, तथापि में इसका आशय निम्न प्रकार समझता हूं। ‘ मन्यु ’ शब्दके अर्थोंमें अर्थ मुख्य है। यह शब्द जैसा मनुष्य-स्वभावका वाचक है। वैसा लोहेके शस्त्रोंको ठीक तेज करनेके लुहारके व्यवसायका भी वाचक है। शस्त्रोंको तेज करनेके पहिले उनको तेजकी धारणा करनेके लिये योग्य बनाया जाता है। लुहार लोहेको तपाकर, लाल होनेके पश्चात् उसको एकदम पानीमें डालता है, जिससे वह लोहा ठीक बनता है। शस्त्रोंको तेज करनेके लिये लुहारके पास जाना चाहिए।

मनको तेज करनेके लिये गुरुके पास जाना चाहिए। वह गुरु शिष्यका मन शास्त्रोंकी अग्निमें तपाकर, अपनी सुशीलताके शांत जीवनसें डालकर ठीक बनता है। यह आलंकारिक अर्थ है। मेरे विचारमें पहिला अर्थ यहां प्रकरणानुकूल है।

‘ (१६) ऋभुभ्यः अजिनसंधम् । [१०९]
(१७) साध्येभ्यः चर्मम्नम् । ’ [११०]

(ऋभुभ्यः) रथ अथवा सवारी गाडी बनानेवालोंके साथ (अजिनसंधं) चमडेका काम करनेवालेको नियुक्त करो। (साध्येभ्यः) पूर्णता करनेवालोंके साथ (चर्म-म्नं) चमडेको ठीक करनेवालेको नियुक्त करो।

‘ ऋभु ’ का अर्थ— कला हुनर जाननेवाला, कुशल कारीगर, चतुर; स्याना, कारीगर; धातुका काम करनेवाला कारीगर; सवारी गाडी बनानेवाला कारीगर, रथकार; नई बात निकालनेवाला, नवीन शोध करनेवाला, नवीन यंत्रकलाका आविष्कार करनेवाला; शोधक, कल्पक।

‘ अजिन ’ का अर्थ- चर्म, चमडा; चमडेकी थैली, बोरा, थैला; फुकनी, धवकनी, ऊन।

‘ अजिन-संघ ’ का अर्थ— चमडा जोडनेवाला, चमडेके थैले बनानेवाला उनका व्यवहार करनेवाला इ०।

सवारीकी गाडियां बनानेवाले कारीगरोंके साथ चमडेका काम करनेवाले कारीगरोंका मेलमिलाप होना चाहिए। गाडियोंमें चमडेके गद्दे और तकिये होते हैं। दोनों कारीगरोंके मेलसे इनकी बनावट अच्छी हो सकती है। लकडीका काम करनेवाले कारीगरोंका चमडेके काम करनेवाले कारीगरोंके साथ व्यापार व्यवहारका मेल मिलाप होना उचित है, क्योंकि दोनोंका व्यवहार अनेक कार्योंमें समिलित होनेवाला है। खुर्सी और कोचों पर चमडेकी गद्दियां रखी जातीं है, इसलिये एक खुर्सी बनानेमें दोनों कारीगरोंका संबंध आता है, अतः इनको आपसमें मेलमिलाप करना चाहिए।

‘ साध्य ’ का अर्थ- जो अंतिम पूर्णता करता है, ठीक ठीक करनेवाला, परिपूर्णता करनेवाला। इस शब्दका भाव समझनेके लिये, पाठकोंको दो कारीगरोंकी कल्पना करनी चाहिए। (१) एक लकडीकी खुर्सी बनानेवाला, और (२) दूसरा बनी हुई खुर्सीपर पालिश वारनीश आदि करके उत्तम पूर्ण बनानेवाला; इस दूसरे कारीगरका नाम ‘ साध्य ’ है। हर एक कारीगरीमें इसका होना संभव है। अपूर्ण पदार्थको पूर्ण बनानेवाला कारीगर ‘ साध्य ’ होता है।

‘ चर्म-म्न ’ का अर्थ- चमडा कमानेवाला। पाठकोंको उचित है कि वे इन अर्थोंके साथ उक्त मंत्रोंका विचार करें और उनका आशय सोचें।

परिवेषण-विभाग।
(परोसनेका काम)

‘(१८) वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ।’ [७४]
‘(१९) वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ।’ [९०]

(वर्षिष्ठाय नाकाय) श्रेष्ठ सुखके लिये (परिवेष्टारं) उत्तम परोसनेवालेको नियुक्त करो।

क-सुख, आनंद, स्वास्थ्य। अ+क=दुःख, अस्वस्थता, रोग। न+अ+क=(नाक)=सुख, आनंद, स्वास्थ्य, निरोगता। ‘ नाक ’ शब्दसे प्रयत्नके साथ स्थापित की हुई स्वास्थ्यकी अवस्था ध्वनित होती है। क्योंकि ‘ अक ’ शब्दसे अस्वास्थ्यकी कल्पना ध्वनित होती है, उसका निषेध ‘ नाक (न-अक)’ शब्दने किया है। स्वास्थ्यकी रक्षा प्रयत्नके साथ करनी चाहिये। और उसके लिये उत्तम परोसनेवाला

चाहिये। भोजनके समय परोसनेवाला उत्तम न हो तो स्वास्थ्य बिगडता है।

यह मंत्र दोवार आया है, इसलिये इससे ध्वनित होता है कि पकाने और परोसनेवालोंके साथ स्वास्थ्यका विशेष संबंध है, इस बातकी ओर सबको अधिक ध्यान देना चाहिये। अच्छे नौकरके कारण घरही स्वर्ग बन सकता है, विशेषतः अन्न पकानेवाला तथा परोसनेवाला उत्तम हो, तो घरही साक्षात् 'वर्षिष्ठ नाक' अर्थात् 'श्रेष्ठ स्वर्ग' बन सकता है। जिनके मकानोंमें पकाने परोसनेवाले नौकर दुःख देनेवाले होते हैं, उनको इस मंत्रकी सच्चाई अनुभव-सिद्ध प्रतीत हो सकती है। क्योंकि दुष्ट नौकरोंके कारण उनका मकान नरकरूप उनके लिये बनता है।

वादित्र-विभाग।

'(२०) शब्दाय आडंबराघातम्। [१४७]
(२१) स्वनेभ्यः पर्णकम्। [११९]
(२२) क्रोशाय तूणवध्मम्। [१४९]
(२३) अवरस्पराय शंखध्मम्।' [१५०]

(शब्दाय) आवाजके लिये (आडंबर-आघातं) नौबत बजानेवालेको प्राप्त करो। नौबत, ढोल, डफ आदि चर्मवाद्य बजानेवालोंको प्राप्त करनेसे बाजा बजानेका काम हो सकता है। (स्वनेभ्यः) स्वरोंके लिये (पर्ण-कं) तुरही बजानेवालेको प्राप्त करो।

(क्रोशाय) बडे शब्दके लिये ढोल बजानेवालेको रखो। (अवरस्पराय) मध्यम शब्दके लिये शंख बजानेवालेको रखो।

बाजेमें जैसे नौबत बजानेवाले चाहिये, वैसेही तुरही, सींग, शंख, बांसुरी, मुरली, घडचाळ, शीटी आदि बजानेवाले भी चाहिये। इस प्रकारके बाजे मंगल कार्योंमें बजाये जाते हैं, तथा युद्ध आदिके समयमें भी बजाये जाते हैं। दोनों समयके बाजोंमें भिन्न भिन्न वाद्य हुआ करते हैं। वेदमें मंगलवाद्य और रणवाद्य ऐसे दोनों प्रकारके बाजोंका वर्णन है।

(५) चारों वर्णोंके लिये सामान्य उपदेश

'(१) भूत्यै जागरणम्। [१२८]
(२) अभूत्यै स्वप्नम्।' [१२९]

(भूत्यै) उन्नतिके लिये (जागरणं) दक्षताका अवलंबन करो। (अ-भूत्यै) अवनतिके लिये (स्वप्नं) सुस्ती है।

'भूति' का अर्थ— अस्तित्व; उत्पत्ति; उत्पादक कर्म, उन्नति; विजय; धन; महत्व; प्रताप; महानता।

'जागरण' का अर्थ— खबरदारी, जागृति, चौकसी पहरा, रखवाली, सावधानता, ध्यान, दक्षता !

'स्वप्न' का अर्थ— सुस्ती, आलस, आराम-तलबी, बेखबरी, बेपरवाही, बेकारी, निरुद्योगिता।

प्रत्येक कार्यमें दक्षता रखनेसे उन्नति होती है, तथा सुस्ती करनेसे अवनति होती है।

'(३) वृद्धचै अपगल्भम्।' [१३१]

(वृद्धचै) अभ्युदयके लिये (अप-गल्भं) गर्वहीनताका अवलंबन करो।

'गल्भ' का अर्थ— घमंडी, गर्विष्ठ, दुरभिमानी, अभिमान, गर्व, घमंड।

'अप-गल्भ' का अर्थ— निरभिमानता, गर्वहीनता, घमंड न करनेवाला मनुष्य।

'वृद्धि' का अर्थ— बढना; खुलझाव, फैलाव, धनकी परिपूर्णता, उन्नति, धनधान्यसंपन्नता, विजय, प्रगति, अभ्युदय, बढती, तरक्की, शक्तिका विस्तार।

घमंड करनेसे प्रमाद अर्थात् दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिये घमंड छोडना अभ्युदयके लिये अच्छा है।

'(४) स्वप्नाय अन्धम्।' [५४]
'(५) अधर्माय बधिरम्' [५५]

(स्वप्नाय) सुस्तीके लिये (अन्धं) संयमका अवलंबन करो। (अ-धर्माय) बुराचारके लिये (बधिरं) बहरा बनो।

निम्न श्लोकमें 'अंध' शब्दका अर्थ दिया है— तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्॥ चतुष्पदां भुवं मुक्त्वा परिव्राडन्ध उच्यते॥' (आपटेकृत संस्कृतकोश पृ. ९६) जिसने अपने सब इंद्रिय स्वाधीन रखे हैं उसको अन्ध कहते हैं। अपने इंद्रिय स्वाधीन रखनेसे सुस्ती नहीं आती।

अधर्मकी बातें जहां चलती हों, वहां बहिरा बनकर रहो, अर्थात् उन बातोंको न सुनो। सब इंद्रियोंके पापके विषयमें यही बात है, जिसका उपदेश अगले मंत्रमें है—

'(६) पाप्मने क्लीबम्।' [७]

(पाप्मने) पतित विचारके लिये (क्लीबं) शक्तिहीन बनो।

'पाप्मन्' का अर्थ— पाप, गुन्हा, कुटिलता, अपराध, बुरा विचार। जिससे अवनति होती है, उस प्रकारका विचार, उच्चार और आचार। पाप्मन्, पाप-मन्, पाप-मनन, पापी विचार।

'क्लीब' उसको कहते हैं कि, जो अपने इंद्रियसे, कमजोरीके कारण पाप नहीं कर सकता, नपुंसक शक्तिहीन।

पतित विचार, पतित उच्चार और पतित आचारके लिये असमर्थ बनो, अर्थात् जिससे अवनति होनी है, उस कर्मके लिये असमर्थ बन जाओ; उस कर्म करनेकी शक्ति तुम्हारे अंदर होने पर भी तुम उस बुरे कर्मको न करो। बुरा विचार करनेके लिये मनको असमर्थ बनाओ, बुरा उच्चार करनेके लिये वाणीको असमर्थ बनाओ, तथा बुरा कर्म करनेके लिये अन्य अवयवोंको असमर्थ बनाओ। आंख देख सकता है, परंतु ऐसा अभ्यास करना, कि बुरी दृष्टिसे आंख किसीकी ओर न देख सके, अच्छी दृष्टिसे ही सबकी ओर देखे। इसी प्रकार सब इंद्रियोंकी परिपूर्ण शक्ति रखते हुए भी, पाप करनेके लिये शक्तिहीन जैसा बनना चाहिए।

जहां जिस इंद्रियसे पाप होनेकी संभावना हो, वहां उस इंद्रियकी शक्तिसे रहित मनुष्यको नियुक्त करो, ताकि अन्य कार्य करता हुआ वह उस इंद्रियसे पाप न कर सके।

'(७) प्रियाय प्रियवादिनम्।' [८७]

(प्रियाय) प्रेमके लिये (प्रिय-वादिनम्) प्रिय वक्ताको रखो।

'(८) प्रमुदे वा मनम्।' [५२]

(प्र-मुदे) अत्यंत हर्षके लिये (वा-मनं) उत्तम मनन करनेवालेको रखो। 'वननीयं मनः यस्य। वननीयं मनुते।' जिसका मन उत्तम है अथवा जो उत्तम विचार करता है, वह 'वा-मन' कहलाता है।

'(९) आनंदाय स्त्रीषखम्।' [१७]

(आनंदाय) आनंदके लिये (स्त्री-सखं, स्त्री-सख्यं) स्त्रीके साथ मित्रता करो। यहां 'आनंद' शब्दसे गृहसुख, कुटुंबसुख आदि भाव लेना है। 'स-ख' स-ख्य, सह-ख्यान, समान विचार। अपनी स्त्रीके साथ समान विचार अर्थात् एक विचार रखना आनंद देनेवाला है। विवाहका बीज इस मंत्रमें है।

'(१०) पश्चादोषाय ग्लाविनम्'। [१२६]

(पश्चा-दोषाय) पीछे रहनेके दोषके लिये (ग्लाविनं) अत्यंत परिश्रम करनेवालेको रखो। 'पश्चा-दोष' उसको कहते हैं, कि जो सबसे पीछे रहनेकी आदत होती है। प्रत्येक काममें सबसे पीछे रहना, यह बडा भारी दोष है। इसको हटानेके लिये अत्यंत परिश्रमी पुरुषके पास रहना चाहिए। 'ग्लाविन्' उसको कहते हैं, कि जो अत्यंत महान परिश्रमके साथ दीर्घ उद्योग कर करके थक जाता हो। सदा उद्योग करता रहता है, और अत्यंत पुरुषार्थ करनेके कारण थक जाता है। ऐसे दीर्घोद्योगी पुरुषके साथ रहनेसे पीछे रहनेका दोष दूर होगा, और शीघ्र पुरुषार्थ करनेका अभ्यास हो जायगा।

'(११) विश्वेभ्यो देवेभ्यः सिध्मलम्।' [१२७]

(विश्वेभ्यः देवेभ्यः) सब विद्वानोंके लिये (सिध्-मलं) सिद्धता करनेवालेको रखो। 'सिद्धं मलति धारयति इति सिध्मलः सिद्धि-धारकः।' जो सिद्धताका धारण और पोषण करता है। अर्थात् जो सब शुभ अवस्थाकी सिद्धता करता है, उसको सब विद्वानोंके लिये रखो, ताकि वह उन विद्वानोंके सब काम ठीक प्रकार सिद्ध कर सके, और उनको सुख पहुंचा सके। यहां 'देव' शब्दके पूर्वोक्त ग्यारह अर्थ देखकर इस मंत्रका अधिक विचार पाठकोंको करना चाहिए।

'(१२) कामाय पुंश्चलूम्।' [९]

(कामाय) इच्छाके लिये (पूं-चलूं) पुरुषोंको संचालन करनेवालेको प्राप्त करो। इच्छाशक्तिको बलवान करनेके लिये ऐसे मनुष्यके पास जाओ, कि जो अपने प्रभावसे अनेक मनुष्योंके अंदर हलचल उत्पन्न करता है।

गायन-विभाग।

'(१३) गीताय शैलूषम्। [१२]
(१४) नृत्ताय सूतम्। [१२]
(१५) महसे वीणा-वादम्। [१४८]
(१६) नृत्ताय वीणा-वादम्। [१५९]
(१७) नृत्ताय पाणि-घ्नम्। [१६०]
(१८) नृत्ताय तूणव-ध्मम्। [१६१]
(१९) आनंदाय तल-वम्।' [१६२]

(१३) गायनके लिये (शैलूषं) करताल बजानेवालेको रखो। (१४) नाचके लिये (सूतं) नाचके प्रेरकको रखो। (१५) (महसे) महत्त्वके लिये वीणा बजानेवालेको रखो। (१६-१८) नृत्यके लिये वीणा, करताल और चर्मवाद्य बजानेवालोंको रखो। (१९) आनंदके लिये ताल धरनेवालेको रखो।

गायन, वादन, नृत्य आदिमें वीणा, तंबोरा, सतार, आदि तंतुवाद्य; मृदंग, तबला आदि चर्मवाद्य; करताल, झांझ आदि धातुवाद्य प्रयुक्त होते हैं। इनके विना गायन, वादन, नर्तनमें रस नहीं आता, इसलिये इनको साथ रखनेके लिये उक्त मंत्रोंमें कहा है।

गायनसे फेफडे बलवान होते हैं, नृत्यसे शरीरकी चपलता रहती है; तथा गायन वादन नर्तनसे भक्तिरसका विकास होता है। सब सामवेद गायनरूप है, उपासनावेद उसको कहते हैं। गायन वादन नर्तनका ईश्वरभक्तिके साथ शिक्षण देना चाहिए, तथा उसको भक्तिका पोषकही बनाना चाहिए।

(६) प्रजापत्य-विभाग।

अथ एतान् अष्टौ वि-रूपान् आलभते ॥

(१) अति-दीर्घं च। [१७३]

(२) अति-ह्रस्वं च। [१७४]

(३) अति-स्थूलं च। [१७५]

(४) अति-कृशं च। [१७६]

(५) अति-शुक्लं च। [१७७]

(६) अति-कृष्णं च। [१७८]

(७) अति-कुल्वं च। [१७९]

(८) अति-लोमशं च। [१८०]

अ-शूद्राः अ-ब्राह्मणाः ते प्रजापत्याः ॥

(९) मागधः। (१८१)

(१०) पुंश्चली। (१८२)

(११) कितवः। (१८३)

(१२) क्लीबः। (१८४)

अ-शूद्राः अ-ब्राह्मणाः ते प्राजापत्याः ॥

अर्थ— अब इन आठ (वि-रूपान्) विरुद्ध रूपवाले मनुष्योंको (आ-लभते) प्राप्त करता है। (१) बहुत ऊंचा, (२) बहुत ठिंगणा, (३) बहुत स्थूल, (४) बहुत कृश, (५) बहुत गोरा, (६) बहुत काला, (७) जिसपर बिलकुल बाल नहीं ऐसा, तथा (८) जिसपर बहुत बाल हैं, ऐसा॥ (९) 'मा-गध'=अर्थात् प्रमाणपूर्वक भाषण करनेवाला, (१०) 'पुं-चलिन्'= अर्थात् मनुष्योंमें हलचल मचानेवाला, (११) 'कित-व' अर्थात् बडा ज्ञानी, और (१२) 'क्लीब' = अर्थात् शक्तिहीन, पुरुषत्वहीन, असमर्थ ॥ ये बारह प्रकारके लोक 'प्रजापति' अर्थात् प्रजापालक राजाके लिये अपने पास रखने योग्य हैं, परंतु ये शूद्र न हों तथा न ब्राह्मण हों।

शूद्र अर्थात् कारीगर अथवा नौकर पेशाके लोग, तथा ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी, इन दोनोंको छोडकर; अन्य क्षत्रिय वैश्योंमेंसे उक्त बारह प्रकारके लोग प्रजापालक राजाको केवल अपने पास रखने योग्य हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि अन्य क्षत्रिय वैश्य अधिकारी इस प्रकारके न हों। अर्थात् कोई क्षत्रिय वैश्य वर्णका मनुष्य, जो बहुत ऊंचा, बहुत ठिंगणा, बहुत मोटा, बहुत दुबला, बहुत गोरा, बहुत काला, बहुत कम बालवाला अथवा बहुत बालवाला है, उसको शासक संस्थाका अधिकारी न किया जावे। यह बात स्पष्ट है, कि इस प्रकारके कुरूप लोगोंका अन्य लोग उपहास करते हैं, इसलिये इनको अधिकारपर रखना उचित नहीं। इसलिये यह बात निश्चित हो गई कि जो मनुष्य, उक्त आठ प्रकारकी कुरूपतासे रहित अर्थात् जो, सुरूप होता है, उसीको अधिकार-पर रखना चाहिए।

तथा प्रमाणपूर्वक भाषण करनेवाला, हलचल करनेवाला, महाज्ञानी तथा शक्तिहीन, इन चार प्रकारके मनुष्योंको भी राजाने केवल अपने पास ही रखना चाहिये। शूद्र तथा ब्राह्मणोंको छोडकर अन्य क्षत्रिय वैश्योंमेंसे कोई व्यवसायी इन चार गुणोंसे युक्त न हो। क्योंकि बहुत प्रभावशाली वक्ता हुआ तो अपना ही नया मत स्वतंत्रतासे चलायेगा, संचालक हुआ तो मनुष्योंमें खलबली मचायेगा, ज्ञानमें मस्त रहनेवाला हुआ तो काम करनेमें असमर्थ होगा, तथा शक्ति-हीन हुआ तो अधिकारीपनका कार्य करनेमें असमर्थ होगा। इसलिये इन चार विशेष गुणोंसे युक्त जो नहीं होते हैं, उनको ही अधिकार पर रखना चाहिये। जिनसे राज्य-शासनका बिगाड होना संभव नहीं, ऐसे पुरुष चुनने चाहिये। अच्छा वक्ता हो परंतु अपना ही मत चलानेवाला न हो, लोकोंमें हलचल मचानेवाला न हो, ज्ञानमें ही मस्त न हो, तथा शक्तिहीन न हो। अर्थात् शासनप्रणालीका विरोध न करता हुआ शासनका कार्य अच्छी प्रकार करनेवाला जो होगा; उसको ही शासनके लिये अधिकारी करना उचित है।

शूद्र जैसे मिलेंगे वैसे रखना। क्योंकि वे स्वतंत्र धंदेवाले होनेके कारण, उनका शासनविभागमें कोई अधिकार नहीं है, इसलिये उनकी कुरूपतासे जनतापर बुरा परिणाम

होना संभव नहीं। तथा ब्राह्मण भी जैसा मिले वैसा नियुक्त किया जाय। क्योंकि उनका केवल ज्ञानप्रचारका कार्य है, और ज्ञान जहां होगा वहांसे लेना चाहिये। इसलिये उक्त आठ कुरुपताओंके कारण शूद्र और ब्राह्मणोंको दूर नहीं करना चाहिये।

उदाहरणके लिये सैन्यविभाग लीजिये। सैन्यमें जो लोग रखने होंगे उनमेंसे कई बडे ऊंचे, कई बडे ठिंगणे, कई बडे मोटे, कई बिलकुल पतले, कई बहुत बलवाले तथा कई बिना बालोंके लोग होंगे, तो उस सैन्यविभागका किस प्रकार विचित्र और बेढंगा स्वरूप हो सकता है, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। सैन्यविभागमें एक जैसे आकारवाले ही लोग रखने चाहियें। जिससे सैन्यके स्वरूपसे विशेष प्रभाव उत्पन्न हो सके। ओहदेदार भी बहुत ही बडे पेटवाला अथवा बहुत ही दुर्बल होनेसे, उसका वैसा प्रभाव नहीं हो सकता, कि जैसा उसका स्वरूप सुडौल होनेसे हो सकता है। यही बात सब स्थानमें जाननी चाहिये।

तर्खाण, लुहार, चमार आदि स्वतंत्र उद्यम करनेवाले जिस किसी प्रकारके हों; उनसे जनतापर कोई बुरा असर नहीं होता। तथा बडा विद्वान् ब्राह्मण अष्टावक्र जैसा बिलकुल तेढा मेढा होनेपर भी उसकी सर्वत्र प्रशंसा हो सकती है; क्योंकि वहां विद्याका तेज अप्रतिम होता है। इसलिये इन दोनोंको छोड दिया है, और कहा है कि 'अ-शूद्राः अ-ब्राह्मणाः।' शूद्र और ब्राह्मणोंको छोडकर पूर्वोक्त अन्य अधिकारियोंमें इस प्रकारकी अष्टविध कुरूपता न हो।

प्रजापति अथवा प्रजापालक राष्ट्राधिकारी इन अष्टविध विरूपोंको अपने पास विशेष कामके लिये रखे, परन्तु 'क्षत्राय राजन्यं' आदि मंत्रोंसे जिन अधिकारियोंका वर्णन हुआ है, उनके स्थानपर इस प्रकारके कुरूप न रखे जांय। इसीलिये इन आठ कुरूपोंको अलग गिनकर प्रजापालकके साथ इनको नियुक्त करनेके लिये कहा है। इसका तात्पर्य किसी अन्य अधिकारके स्थानपर ये आठ कुरूप नियुक्त न हों, ऐसा स्पष्ट है। यह विचार अष्टविध कुरूपताओंका हुआ। अब चतुर्विध दोषोंका विचार करेंगे —

चतुर्विध दोष।

[वैदिक संकेत]	[गुणाधिक्यसे दोष]	[दुराचारसे दोष]
(१) मागधः	(मा-गधः) अत्यंत प्रभावशाली, तथा प्रमाणपूर्वक विलक्षण वक्तृत्व करनेवाला।	(मागधः) स्तुतिपाठक, खुशामत करनेवाला।
(२) पुंश्चलिन्	(पूं-चलिन्) लोकोंमें हलचल मचानेवाला।	(पुंश्चलिन्) व्यभिचारी। दोनों प्रकारका व्यभिचार करनेवाला।
(३) कितवः	(कित-वः) ज्ञानमेंही तल्लीन होनेवाला।	(कितवः) जुआ खेलनेवाला। बदमाश।
(४) क्लीबः	अपनी शक्तिका उपयोग न करनेवाला।	नपुंसक, शक्तिहीन, पौरुषत्व-हीन।

ये चार शब्द दो दो अर्थ बताते हैं। गुणके अधिक होनेके कारण पहिला दोष है। वास्तवमें यह गुणकी अधिकता प्रत्येक व्यक्तिमें सन्मान बढानेवाली है। परंतु इस प्रकारके गुणाधिक्यवाले लोग, ओहदेपर रहकर, राज्ययंत्रका जिम्मेवारीका काम अच्छी प्रकार नहीं निभा सकते। व्यक्तिशः ये गुण हैं, इसलिये राष्ट्रशासकको ऐसे मनुष्य अपने पास रखने चाहिये। परंतु शासनके कार्यमें इनके गुणाधिक्यके कारण बिगाड होनेकी संभावना है, इसलिये इनको उस काममें नहीं नियुक्त करना।

यही चार वैदिक संकेत चार दुष्ट दोषोंके दर्शक हैं। खुशामदी, व्यभिचारी, जुवारिया, और शक्तिहीन। इन चार प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको भी शासनकार्यमें लगाना नहीं चाहिये। धर्म और नीतिका बिगाड इनसे होता है। बलवान न होना अथवा दुर्बल, शक्तिहीन, पौरुषहीन रहनाही वेदकी संमतिसे दोष है। प्रयत्न करके प्रत्येकको निर्दोष, बलिष्ठ और पुरुषार्थी होना चाहिये। इन चार दोषोंके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

(७) मृत्युका दंड।

'(१) मृत्यवे मृगयुम्। [२९]

(२) मृत्यवे गोव्यच्छम्॥ [१३८]

(३) ,, गोघातम् [१३९]

(४) अंतकाय स्वनिनम्। [३०]

(५) क्षुधे यो गां विकृन्तंतं भिक्षमाण उपतिष्ठतितम्। [१४०]

(६) संशराय प्रच्छिदम्।' [१३२]

(मृग-युं) हिरनकी शिकार करनेवालेको, (गो-व्यच्छं) गायको छेडनेवालेको, (गो-घातं) गायका वध करनेवालेको, (स्वनिनं) बुरे शब्दोंसे गर्जना करनेवालेको मृत्युके लिये रखो। जो गायकी आकृति बिगाडता है और भीक मांगता है उसको (क्षुधे) भूखा रखो। (संशराय) छेदनके लिये (प्रच्छिदं) उत्तम छेदनकर्ताको रखो। अर्थात् वधदण्ड देनेके लिये शिरश्छेद करना हो, तो ऐसे मनुष्यको रखो, कि जो उस कामको उत्तमतासे कर सके।'

' गां मा हिंसीः।' यजु. १३।४३॥ गायकी हिंसा न कर। यह वेदकी आज्ञा है। इसका उल्लंघन करनेवाला दण्डके लिये पात्र होता है। गायका वध करना, गायको सताना, गायकी शकल बिगाडकर भीक मांगना आदि सब अपराध वधके योग्य हैं। हिरनकी भी शिकार नहीं करना।

इन मंत्रोंमें ' स्वनिन ' शब्दके विषयमें पाठकोंको बहुत सोचना चाहिये। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें ' गाली देने ' के अर्थमें यह शब्द आया है। किसी अन्य स्थानपर इसका कोई अन्य अर्थ हो, तो उसकी खोज करनी चाहिये। तबतक इसके अर्थके विषयमें संदेह ही रहेगा। अस्तु।

इस प्रकार यह ' वस्तुविभाग ' प्रकरण है। इस प्रकरणमें जो अर्थ दिये हैं, उनपर अधिक संशोधनकी आवश्यकता है। आशा है कि विद्वान् स्वाध्यायशील पाठक इन मंत्रोंके अर्थोंपर विशेष विचार करके सच्चे अर्थकी खोज करेंगे।

(१) व्यक्तिमें शांति।

(२) जनतामें शांति॥

(३) जगतमें शांति॥

वैदिक सुभाषित

१ तदेव मन्येहं ज्येष्ठम् ।
उसी एक (ईश्वर) को मैं सबसे श्रेष्ठ मानता हूं ।

२ तदु नात्येति कश्चन ।
उस (ईश्वर) का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ।

३ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।
उस श्रेष्ठ ब्रह्मको नमस्कार ।

४ आप्यायध्वम् ।
उन्नतिको प्राप्त कीजिये ।

५ इषे त्वोर्जे त्वा ।
तुमको अन्न और बल प्राप्त करना चाहिये ।

६ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ।
आप सबको प्रेरक-देव श्रेष्ठ कर्मके लिये प्रेरणा करें ।

७ गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ।
गाय तेजस्वी और हिंसा करने अयोग्य है, इसलिये उसकी हिंसा मत करो ।

८ मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ।
अपने शरीरसे किसी प्राणीको कष्ट न दे ।

९ आरे गोहा नृहा ।
गाय और मनुष्यका वध करनेवालेको दूर करो ।

१० व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।
चावल, जौ, माष और तिल खाइये ।

११ एष वां भागो निहितः ।
यह ही भोजन (शाकाहार) आप सबके लिये निश्चित किया है ।

१२ प्रसुव यज्ञम् ।
सत्कर्म करो ।

१३ प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
सत्कर्म कर्ताको उन्नतिके लिये प्रेरित करो ।

१४ केत-पूः केतं नः पुनातु ।
ज्ञानसे पवित्र बना हुआ ज्ञानी हम सबके ज्ञानको पवित्र करे ।

१५ वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ।
उत्तम वक्ता हम सबके वाणीको मधुर बनावे ।

१६ भर्गो देवस्य धीमहि ।
हम सब एक ईश्वरके श्रेष्ठ तेजका ध्यान करें ।

१७ धियो यो नः प्रचोदयात् ।
जो ईश्वर हम सबके बुद्धियोंको उत्तम प्रेरणा करता है ।

६४ (यजु. सु. भाष्य)

१८ दुरितानि परा सुव ।
पापोंको दूर फेंको ।

१९ यद्भद्रं तन्न आ सुव ।
जो भला है उसको हम सबके पास करो ।

२० विभक्तकारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः ।
विलक्षण सिद्धिके साधनरूप धनका सबके लिये योग्य विभाग करनेवालेको हम सब प्रशंसा करते हैं ।

२१ स्वर्यंतो धिया दिवम् ।
बुद्धिसे सत्वरूप तेजस्वी स्वर्गको प्राप्त होते हैं ।

२२ बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।
जो बडे तेजको फैलाते हैं उनको ईश्वर विशेष ऐश्वर्य-युक्त करता ।

२३ प्रेरय सूरो अर्थं न पारम् ।
विद्वान जिस प्रकार पार होता है, उस प्रकार अपने उच्च ध्येयके लिये प्रेरित हो जाओ ।

२४ उग्राय तवसे सुवृक्तिं प्रेरय ।
श्रेष्ठ बलके लिये उत्तम भाषण और उत्तम कर्म करो ।

२५ यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् ।
सत्कर्मसे श्रेष्ठकी वृद्धि होती है ।

२६ स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते ।
तेजस्वितासे व्यवहार करनेवाले अन्यकी अपेक्षा नहीं करते ।

२७ यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ।
जो विश्वके आधाररूपी सत्कर्मको फैलाते हैं वे ही उत्तम विद्वान हैं ।

२८ यज्ञं तपः ।
सत्कर्मही तप है ।

२९ बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।
उनके सब बल आजही मेरे शरीरमें स्थिर होवे ।

३० देवेन मनसा सह ।
दिव्य मनके साथ रहो ।

३१ सं श्रुतेन गमेमहि ।
हम सब ज्ञानके साथ इकठ्ठे रहें ।

३२ मा श्रुतेन वि राधिषि ।
ज्ञानके साथ कभी विरोध न करो ।

३३ मय्येवाऽस्तु मयि श्रुतम् ।
मेरे अंदर निश्चयसे ज्ञान स्थिर रहे ।

३४ वाचस्पते ! सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय।
हे वाक्‌पते ! उत्तम मननशक्तिके साथ मन और उत्तम इंद्रिय हम सबके इंद्रियके स्थानमें स्थिर करो।

३५ जिह्वया अग्रे मधु।
जिह्वा (जबान) के अग्रभागमें मधुरता रहे।

३६ जिह्वा-मूले मधूलकम्।
जिह्वाके मूलमें मीठास रहे।

३७ मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणं।
मेरा चालचलन और मेरा बर्ताव मीठा रहे।

३८ वाचा वदामि मधुमद्।
मैं मीठा भाषण बोलूंगा।

३९ भूयासं मधुसंदृशः।
मैं मधुरताको मूर्ति बनूंगा।

४० तुरं भगस्य धीमहि।
भाग्यके विजयका ध्यान करते हैं।

४१ अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कश्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्॥
इस उत्साहवर्धकके अपने यशसे फैले हुए प्रेममय स्वराज्यका कोई भी नाश नहीं कर सकते।

४२ भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्।
तेज, यश, सहनशक्ति, शारीरिकशक्ति, वीर्घ आयु, तथा आत्मिक बल प्राप्त करने चाहिये।

४३ राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शत शारदाय।
राष्ट्रसेवा और सौ वर्षकी आयुके लिये मैं इसका स्वीकार करता हूं।

४४ परोपेहि मनस्पाप।
हे मनके पाप ! दूर हो जाओ।

४५ परेहि न त्वा कामये।
हे पाप ! दूर हो जाओ, मैं तेरी इच्छा नहीं करता।

४६ अप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे।
दुराचार और दुर्विचार दूर रखो।

४७ प्रचेता दुरितात्पात्वंहसः।
ज्ञानी दुर्गति और पापसे बचावे।

४८ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम।
कानोंसे अच्छे विचार सुनें।

४९ भद्रं पश्येमाक्षभिः।
आंखोंसे अच्छा रूप देखें।

५० स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसः।
बलवान अवयवों द्वारा ईश्वरकी उपासना करेंगे।

५१ तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।
अपनी आयुकी समाप्तितक अपने शरीरसे विद्वानोंका हित करेंगे।

५२ रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु।
हमारे ज्ञानियोंमें तेजस्विता रखो।

५३ रुचं राजसु नस्कृधि।
हमारे शूरोंमें तेजस्विता रखो।

५४ रुचं विश्येषु शूद्रेषु।
वैश्य और शूद्रोंमें तेजस्विता रखो।

५५ ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
ब्राह्मण ज्ञानसे तेजस्वी होवे।

५६ आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो अतिव्याधी महारथो जायताम्।
हमारे राष्ट्रमें शूर लोग उत्तम प्रभावशाली वीर बने !

५७ योगक्षेमो नः कल्पताम्।
हम सबको ऐहिक अभ्युदय और आत्मिक शांति प्राप्त होवे।

५८ इह स्फातिं समावहन्।
यहां उन्नतिको प्राप्त करें।

५९ असंबाधं मध्यतो मानवानाम्।
मनुष्योंमें लडाई झगडा न होवे।

६० पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।
हमारी मातृभूमि हम सबका यश विस्तृत करे।

६१ परातत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते।
जहां ज्ञानियोंको कष्ट पहुंचते हैं। वह राष्ट्र अधोगतिको प्राप्त होता है।

६२ देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्।
सब ज्ञानी ईश्वरके साथ रहते हैं।

६३ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
ब्रह्मचर्य और तपद्वारा राजा राष्ट्रका विशेष प्रकारसे रक्षण करता है।

६४ असमं क्षत्रं असमा मनीषा।
अतुल शौर्य और असीम बुद्धि धारण करो।

६५ वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।
हम सब अपने राष्ट्रमें अग्रभागमें होकर जागते रहें।

६६ राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः।
राष्ट्रसेवकही राष्ट्रकी आंखें हैं।

६७ वयं स्याम पतयो रयीणाम्।
हम सब धनोंके अधिपति बनें।

॥ तीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः । ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

[१६५८] (सहस्र-शीर्षा) हजारों मस्तक जिसके हैं, (सहस्र-अक्षः) हजारों आंखें जिसकी हैं, (सहस्र-बाहुः) हजारों बाहू जिसके हैं, (सहस्र-पात्) हजारों पांव जिसके हैं ऐसा एक पुरुष हैं, (सः भूमिं सर्वतः स्पृत्वा) वह भूमिके चारों ओर घेरकर रह रहा है और (दश अंगुलं अत्यतिष्ठत्) दस अंगुल रूप इस अल्प सृष्टिको व्यापकर बाहर भी है ॥ १ ॥

[१६५९] (यत् भूतं) जो भूतकालमें हुआ था और जो वर्तमान कालमें है, तथा (यत् च भव्यं, भाव्यं) जो भविष्यकालमें होनेवाला है (इदं सर्वं पुरुष एव) वह सब यह पुरुष ही है । (उत अमृतत्वस्य ईशानः, ईश्वरः) और वह पुरुष अमरपनका स्वामी है, (यत् अन्नेन अति रोहति) जो अन्नसे बढता है, (यत् अन्येन सह अभवत्) जो अन्य कर्तृत्ववानोंके साथ रहता है ॥ २ ॥

[१६६०] (अस्य एतावान् महिमा) इस पुरुषका इतना विशाल महिमा है, (तावन्तः अस्य महिमानः) उतने इसके महिमा हैं । (अतः ज्यायान् पूरुषः) इससे एक बडा और एक श्रेष्ठ पुरुष है । (सर्वा विश्वा भूतानि अस्य पादः) सब भूतमात्र जो इस विश्वमें है वह सब (अस्य पादः) इस श्रेष्ठ पुरुषका चवथा भाग ही है । (अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतं) इसके तीन भाग दिव्य लोकमें अमृतरूप हैं ॥ ३ ॥

' विराट् पुरुष, राष्ट्र पुरुष और व्यक्ति पुरुष ' इनका वर्णन यहां तक किया । उनके ये महान् सामर्थ्य हैं, जिनका वर्णन यहां तक किया गया है । इससे एक बडा सामर्थ्यशाली पुरुष है, इसका वर्णन यह है ॥ ३ ॥

[१६६१] (त्रिपाद् पुरुषः) त्रिपाद पुरुष (ऊर्ध्वं उदैत्) ऊपर द्युलोकमें रहा है, (त्रिभिः पद्भिः द्यां अरोहत्) तीन भागोंसे वह स्वर्गमें चढकर रहा है । (अस्य पादः इह पुनः अभवत्) इस पुरुषका एक भाग यहां इस विश्वके रूपमें पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है । (ततः) पश्चात् उसने (स-अशन-अनशने) अन्न खानेवाले और अन्न न खानेवाले विश्वको (विष्वङ् अभि व्यक्रामत्) चारों ओरसे व्याप लिया । (तथा) उस रीतिसे (अशन-अनशने) अन्न खानेवाले और अन्न न खानेवाले विश्वको उन्होंने (विष्वङ् अनु व्यक्रामत्) चारों ओरसे व्याप लिया ॥ ४ ॥

[१६६२] (ततो विराड् अजायत) उस परमात्मासे विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ । (अग्रे विराट् समभवत्) प्रारम्भमें विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ । (विराजः अधि पुरुषः) विराट्के एक अधिष्ठाता पुरुष हुआ । (सः जातः अत्यरिच्यत) वह उत्पन्न होनेपर विभक्त होने लगा । (पश्चात् भूमिं अथो पुरः) प्रथम भूमि आदि गोल हुए नंतर उस परके शरीर हुए ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् । पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांश्शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

[१६६३] (तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वहुत यज्ञसे (पृषद् आज्यं संभृतं) दहीके साथ मिला घी प्राप्त हुआ । (तान् वायव्यान् आरण्यान् पशून्) उन वायु देवताके आरण्य पशुओंको (ये ग्राम्याः चक्रे) ग्राम्य पशु बनाये ॥ ६ ॥

[१६६४] (तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वहुत यज्ञसे (ऋचः सामानि जज्ञिरे) ऋग्वेदके मंत्र तथा सामगान बने । (तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे) छन्द अर्थात् अथर्ववेदके मंत्र भी उसीसे उत्पन्न हुए और (तस्मात् यजुः अजायत) उसीसे यजुर्वेदके मंत्र भी उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

[१६६५] (तस्मात् अश्वाः अजायन्त) उस-सर्व हुत यज्ञसे घोडे हुए, (ये के च उभयादतः) जो दोनों ओर दांतवाले हैं । (गावः इ तस्मात् जज्ञिरे) गौवें उसीसे हुई और (तस्मात् जाता अजावयः) उसीसे बकरियां और भेडियां हो गयीं ॥ ८ ॥

[१६६६] (तं अग्रतः जातं) उस प्रथम उत्पन्न हुए (यज्ञं पुरुषं) यजनीय विराट् पुरुषको (बर्हिषि प्रौक्षन्) यज्ञमें प्रोक्षण करके (ये देवाः साध्याः ऋषयः च) जो देव साध्य और ऋषि थे, उन्होंने (तेन अयजन्त) उस विराट् पुरुषसे ही यज्ञ चलाया था ॥ ९ ॥

[१६६७] (यत् पुरुषं व्यदधुः) जिस पुरुषका यहां वर्णन किया है, उसकी (कति-धा व्यकल्पयन्) कितने प्रकारसे कल्पना की गई है, (अस्य मुखं किं आसीत्) इसका मुख क्या है ? इसके (कौ बाहु, किं बाहु) बाहु कौन हैं, इसकी (कौ ऊरू, किं ऊरू) जांघें कौनसी हैं और (कौ पादौ उच्येते, किं पादौ उच्येते) उसके पांव कौनसे हैं ऐसा कहा जाता है ? ॥ १० ॥

[१६६८] (अस्य मुखं ब्राह्मणः आसीत्) इस पुरुषका मुख ब्राह्मण-ज्ञानी-हुआ है, (बाहू राजन्यः कृतः, बाहू राजन्यः अभवत्) इस पुरुषके बाहु क्षत्रिय अर्थात् शूर पुरुष हुए हैं । (ऊरू मध्यं अस्य तत् यद् वैश्यः) इसका मध्यभाग या ऊरू वे हैं जो वैश्य हैं और (पद्भ्यां शूद्र अजायत) पांवोंके स्थानमें शूद्र हुआ है ॥ ११ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस मानवसमाजरूपी पुरुषके सिर, बाहू, पेट और पांव हैं । अर्थात् ज्ञानी, शूर, कृषक-व्यापारी और कर्मचारी इस मानवसमाजरूपी पुरुषके चार अवयव हैं ॥ ११ ॥

[१६६९] (मनसः चन्द्रमाः जातः) परमात्माके मनसे चन्द्रमा हुआ है, (चक्षोः सूर्यः अजायत) परमात्माकी आंखोंसे सूर्य हुआ है, (श्रोत्रात् वायुः च प्राणः च) कानसे वायु और प्राण तथा (मुखात् अग्निः अजायत) मुखसे अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

[१६७०] (नाभ्या अन्तरिक्षं आसीत्) नाभीसे अन्तरिक्ष हुआ है, (शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत) सिरसे द्युलोक हुआ है, (पद्भ्यां भूमिः) पांवोंसे भूमि हुई, (श्रोत्रात् दिशः) कानोंसे दिशाएं हुईं, (तथा लोकान् अकल्पयन्) इस तरह अन्य लोकोंकी कल्पना करनी योग्य है ॥ १३ ॥

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत । व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥ १४ ॥

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः । दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥ १६ ॥

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त॒ताग्रे॑ ।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒व॒त्वमा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

[१६७१] (यत्) जब (देवाः) देवोंने (पुरुषेण हविषा) विराट् पुरुषरूपी हविसे (यज्ञं अतन्वत) यज्ञ करना शुरू किया, तब वसंत ऋतु (अस्य आज्यं आसीत्) इस यज्ञमें घीका कार्य करता था, ग्रीष्म ऋतु इन्धन और शरद् ऋतु हवि हुआ था ॥ १४ ॥

जब मानव प्राणी उत्पन्न हुए थे, परंतु मानवी प्रयत्नोंसे उत्पन्न होनेवाले हवनसामग्रीके पदार्थ उत्पन्न नहीं हुवे थे, उस समय विभिन्न ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे ही काम लिया जाता था। यज्ञमें मुख्य किया- ' (१) पूजनीयोंका सत्कार, (२) आपसका संगठन और (३) निर्बलोंको दान देकर सहायता करके उनको ऊपर लाना ' यही थी। ये कार्य उस समयके धुरीण लोग ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे ही करते थे। ऋतुओंके अन्दर जो पदार्थ स्वभावसे उत्पन्न होते थे, उनसे ही ऊपर कही यज्ञकी प्रक्रियाएं वे करते थे। आज जो यज्ञ होते हैं, उनमें जो हवनसामग्री प्रयुक्त की जाती है, वह उस समय मिलना असंभव था। परंतु वे प्राप्त पदार्थोंसे ही यज्ञ करते थे ॥ १४ ॥

[१६७२] (अस्या सप्त परिधयः आसन्) इस यज्ञकी सात परिधियें थीं और (त्रिः सप्त समिधः कृताः) तीन गुणा सात समिधायें थीं। (देवा यत् यज्ञं तन्वानाः) देव जिस यज्ञको फैला रहे थे, (पुरुषं पशुं अवध्नन्) उसमें इस पुरुषरूपी पशुको बांधते थे ॥ १५ ॥

देव यज्ञको करते थे, उस यज्ञमें (पुरुषं पशुं) परमात्मा रूपी सर्व द्रष्टाको ध्यानयोगसे बांधते हैं। ' पशु ' का अर्थ ' पश्यति इति पशुः ' जो देखता है वह पशु है। परमेश्वर सबको देखता है, सबका निरीक्षण करता है, इसलिये वह पशु है। ध्यानयज्ञमें उसको ध्यानयोगी लोग अपने आत्माके साथ बंधा हुआ अनुभव करते हैं।

स्थूल शरीर, वासना शरीर, बहिर्मानस शरीर, अन्तर्मानस शरीर, बुद्धि, पराबुद्धि, जीव ये सात उसकी परिधियां अर्थात् कार्य मर्यादाएं हैं। यज्ञका कार्य इन सात मर्यादाओंमें होता है। मनुष्यका कार्य इन क्षेत्रोंमें होता है, मनुष्यके कार्यकी येही मर्यादाएं हैं ॥ १५ ॥

[१६७३] (देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) देवोंने इस यज्ञपुरुषके साधनसे जो यज्ञका कार्य करना प्रारंभ किया, (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) वे प्रारंभके धर्म श्रेष्ठ थे। ऐसा यज्ञधर्मका आचरण करनेवाले धार्मिक लोग (यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति) जहां पूर्व समयके साधनसंपन्न यज्ञ करनेवाले लोग रहते थे (ते महिमानः नाकं सचन्त) वे महात्मा लोग उसी सुखपूर्ण स्थानमें जाकर रहने लगे ॥ १६ ॥

[१६७४] (अग्रे) प्रारंभमें (विश्वकर्मणः) सब कर्म करनेवाला जो परमात्मा है, उसके प्रयत्नसे (पृथिव्यै अद्भ्यः रसात् च) पृथिवीके ऊपरके जलरूप रससे (संभृतः) परिपुष्ट हुआ यह सब है। (त्वष्टा) विश्व निर्माण करनेवाला कारीगर (तस्य रूपं विदधत् एति) उस विश्वका रूप बनाता हुआ आगे बढता है। (अग्रे) पहिलेसे (मर्त्यस्य तत् देवत्वं आजानं) मर्त्यको वही देवत्व देता है ऐसा मैं जानता हूं ॥ १७ ॥

विश्वकर्माने पृथिवी, जल आदि पहिले बनाये और उस रससे आगेकी सृष्टि बनायी। त्वष्टा रूप बनाता है। विश्व-कर्मा और त्वष्टा परमात्माके ही नाम उसके अनेक कर्म करनेके कारण बने हैं। उपासकको देवत्व प्राप्त करनेके लिये विश्वकर्मा और त्वष्टाके गुणोंका ध्यान करना चाहिये। उसके गुण अपने अन्दर धारण करनेसे उपासकको देवत्व प्राप्त हो सकता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥
प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥
यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२०॥
रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे ॥२१॥
श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् ।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥

[अ०३१, कं० २२, मं० सं० २२]

इत्येकत्रिंशोऽध्यायः ।

[१६७५] (तमसः परस्तात्) अन्धकारसे परे (आदित्यवर्णं) आदित्यके समान प्रकाशमान, (एतं महान्तं पुरुषं अहं वेद) इस बडे पुरुषको मैं जानता हूं। (तं एव विदित्वा) इस पुरुषको जाननेसे ही उपासक (मृत्युं अति एति) मृत्युके परे जाता है (अयनाय) मृत्युके परे जानेके लिये (अन्यः पन्थाः न विद्यते) दूसरा मार्ग नहीं है ॥१८॥

[१६७६] (प्रजापतिः गर्भे अन्तः चरति) प्रजापालक परमात्मा सब पदार्थोंके अन्दर विचरता है, रहता है, (अजायमानः बहुधा विजायते) वह कभी जन्म न लेनेवाला होकर भी अनेक प्रकारसे प्रकट होता है। (तस्य योनिं धीराः पश्यन्ति) उसके मूल स्वरूपको ज्ञानीजन देखते हैं, (तस्मिन् ह विश्वा भुवनानि तस्थुः) उसीमें सब भुवन रहे हैं ॥ १९ ॥

[१६७७] (यः देवेभ्यः आतपति) जो देवोंको प्रकाशित करता है, (यः देवानां पुरोहितः) जो सब देवोंका अग्रेसर है, (यः देवेभ्यः पूर्वः जातः) जो सब देवोंके पूर्वकालसे ही प्रकट हुआ है, उस (ब्राह्मये रुचाय नमः) ब्राह्म तेजको मेरा नमस्कार हो ॥ २० ॥

सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देव जिसके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं, जो सब देवोंके आगे अपनी शक्तिके कारण रहता है, जो सब देवोंके उत्पन्न होनेके पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है वह ब्रह्म प्रकाश है, उसके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ २० ॥

[१६७८] (ब्राह्मं रुचं जनयन्तः देवाः) ब्रह्मज्ञान प्रकट करनेवाले देवोंने (अग्रे तत् अब्रुवन्) प्रारंभमें ही ऐसा कहा था, कि (यः ब्राह्मणः तु एवं विद्यात्) जो ज्ञानी इस तरह इसको जानता है, (तस्य वशे देवाः असन्) उसके वशमें सब देव– सब इन्द्रियगण– रहते हैं ॥ २१ ॥

ब्रह्मज्ञान प्रकट करनेवाले ज्ञानियोंने पहिलेसे ही ऐसा कहकर रखा है कि, जो ज्ञानी इस ब्रह्मपुरुषको यथावत् जानता है, उसके वशमें सब इन्द्रिगण– सब देव–सब देवतांश रहते हैं। ब्रह्मज्ञान जिसके समझमें यथावत् आ गया है, उसके आधीन उसके सब इन्द्रिय रहते हैं। इन्द्रियस्थानोंमें देवताएं रहती हैं, वे सब देव उसके आधीन रहते हैं। उसकी इंद्रियां उसकी इच्छाके बाहर मनमाना दुराचार नहीं करतीं। सदा उसके आधीन रहती हैं ॥ २१ ॥

[१६७९] हे ईश्वर ! (श्रीः च लक्ष्मी च ते पत्न्यौ) संपत्ति और शोभा तेरी पत्नियां हैं, (पार्श्वे अहोरात्रे) तेरी दोनों बाजुएं दिन और रात्री हैं, (नक्षत्राणि रूपं) नक्षत्र तेरा रूप है, (अश्विनौ व्यात्तं) द्यु और पृथिवी तेरा खुला मुख है। (इष्णन् इषाण) इच्छा हुई तो मुझे किसकी इच्छा हो ? (अमुं मे इषाण) इसकी मैं इच्छा करता हूं कि (सर्वलोकं मे इषाण) सब लोगोंकी मुझे प्राप्ति हो ॥ २२ ॥

संपत्ति और शोभा ये ईश्वरकी सहचारिणियां हैं। उसके साथ ये रहती हैं। दिन और रात्री उनकी दो बाजुएं हैं, ईश्वरका कालस्वरूप इनसे दिखाया है। नक्षत्र उसका प्रकाशस्वरूप है। पृथिवी और द्युलोक यह उसका खुला मुख है। ऐसे इस ईश्वरमें मैं रहा हूं। वह मेरे अन्दर, बाहर, चारों ओर है। उससे मैं मांगता हूं कि मुझे सर्व श्रेष्ठ लोक प्राप्त हो। मेरे ऐसे शुभ कर्म हों कि जिनके बलसे मुझे उत्तम लोक प्राप्त हो ॥ २२ ॥

पुरुषसूक्तका स्पष्टीकरण

‘पुरुष सूक्त’ चारों वेदोंकी संहिताओंमें है। तथा पुराणोंमें भी इसका अनुवाद दिया है। इतना इसका महत्व समझा गया है।

पुरुषका स्वरूप

इस पुरुषके सिर, आंख, बाहू और पांव यहां हैं। यह उपलक्षण है। अर्थात् इस पुरुषके सिर, आंख, नाक, कान, मुख, बाहू, छाती, पेट, मूत्रद्वार, जांघें गुदद्वार, पिंडरियां, पांव अर्थात् सब अवयव, हजारों, लाखों, करोडों, अर्बों हैं। ऐसा यह पुरुष पृथिवीके ऊपर चारों ओर पृथिवीको घेरकर रहा है और पृथिवी जैसे अन्य लोकोंपर भी है।

एक मनुष्यका एक सिर, दो आंख, दो हाथ, दो पांव होते हैं। परन्तु यहां (सहस्रशीर्षा) हजारों सिर कहे हैं, पर दो हजार आंख कहनेके स्थानपर (सहस्राक्षः, सहस्रबाहुः, सहस्रपात्) हजार आंख, हजार बाहु और हजार पांव कहे हैं। वास्तवमें जिसके हजार सिर होते हैं उसके दो हजार आंख, दो हजार बाहू और दो हजार पांव कहने चाहिये थे, पर वैसा कहा नहीं। इसका कारण यही है कि, यहांका वर्णन आलंकारिक है और यहांके ‘सहस्र’ पदका अर्थ ‘अनेक, अनंत, करोडों’ ऐसा है। अर्थात् अनंत सिर, आंख, कान, नाक, मुख, बाहु, छाती, पेट, गुदद्वार, मूत्रद्वार, जांघे और पांव जिसको हैं, ऐसा एक मानवसमाजरूपी पुरुष इस पृथिवीके चारों ओर रहता है। मानवसमाजरूपी पुरुषके अनंत सिर, बाहु, पेट और पांव हैं और यह मानवसमाज पृथिवीके चारों ओर है। जैसा यह पृथिवीपर है, वैसा पृथिवी सदृश जो अन्यत्र गोल हैं, उनमें भी किसीपर मानवोंकी या मानव सदृश प्राणियोंकी बसती होगी, ऐसा यहां सूचित हो रहा है।

सिर, बाहु, आंख पेट और पांव जैसे मानवोंके होते हैं वैसे पशुपक्षियोंके भी होते हैं और वे पृथिवीके चारों ओर रहते भी हैं। इस कारण इस वर्णनमें मानवों, पशुपक्षियों और अन्य जीवजन्तुओंका वर्णन माना जा सकता है, पर वेदका उपदेश मानवोंके लिये ही है, अन्य जीव वेदोपदेशसे लाभ नहीं उठा सकते, इसलिये यह वर्णन मानवसमाजका वर्णन मानना योग्य है। अर्थात् अनन्त सिर, बाहु, पेट और पांव जिसके हैं ऐसा ‘मानवसमाजरूपी एक पुरुष’ इस पृथिवीपर चारों ओर है।

पृथिवीपर चारों भूविभागोंमें जो सब मानव रहते हैं, वे सब मानव मिलकर यह एक पुरुष है। अर्थात् सबका मिलकर एकही शरीर है। अर्थात् सब मानवोंको ‘हम सब एक शरीरके भाग हैं’ ऐसा मानना चाहिये और वैसा व्यवहार करना चाहिये। वेदका यह उपदेश है।

‘सहस्रशीर्षा पुरुषः भूमिं सर्वतः वृत्वा अत्यतिष्ठत्’ सहस्रों सिरोंवाला पुरुष इस भूमिपर चारों ओर घेरकर रह रहा है। सहस्रों अवयवोंवाला एक पुरुष ‘एक शरीर है,’ अतः एक शरीरके अन्दर जैसा अवयवोंका सहकार्य होता है, उतना उत्तम सहकार्य पृथिवीपरके सब मानवोंमें होना चाहिये। यह वेदका उपदेश है। पर आज पृथिवीपर जो देश हैं, वे आपसमें झगड रहे हैं। इसलिये उनके झगडे नष्ट होकर वे आपसमें उत्तम सहकार्य कर सकेंगे, इसकी शक्यता आज दीखती नहीं है। आज एक राष्ट्रके अन्दर रहनेवाले लोगोंमें सहकार्य हो सकता है। आज इतनी प्रगति होनेतक हम मानव आ गये हैं। जगत्के नेता लोग ‘अहिंसा-पूर्ण सह अस्तित्व’ की भाषा बोल रहे हैं। यह भविष्य-कालकी प्रगतिका सुचिन्ह है।

वेदमें पृथिवीपर चारों दिशाओंमें रहनेवाले सब देशके लोगोंमें पूर्ण एक शरीरके समान सहकार्य हो ऐसा उपदेश है, उसको हम ध्यानमें रखें, भूलें नहीं। परंतु अपने व्यवहारके लिये अपने समझमें आनेके लिये, ‘मानवसमाजरूपी पुरुष’ के स्थानपर ‘राष्ट्रपुरुष’ का व्यवहार हम करेंगे। इससे कोई यह न समझे कि वेदमें केवल ‘राष्ट्रपुरुष’ का ही वर्णन है। वेद तो ‘अखिल मानवसमाज’ के अन्दरके उत्तम सहकार्यका उपदेश करता है, पर अभीतक हम वैसा नहीं कर सकते, इस कारण ‘राष्ट्रपुरुष’ तक सहकार्य हो ऐसा हम कह रहे हैं। यह हमारी कमजोरी है। वेदका उपदेश तो संपूर्ण मानवजातिकी सहकारिताका ध्येय बता रहा है।

इस मानवसमाजरूपी पुरुषके अवयव

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस मानवसमाजरूपी पुरुषके सिर, बाहु, पेट और पांव हैं। अर्थात् ज्ञानी, शूर, कृषक–व्यापारी और कर्मचारी इस मानवसमाजरूपी पुरुषके चार अवयव हैं।

यहां ‘पद्भ्यां शूद्रो अजायत’ इस वाक्यका अर्थ ‘उसके पांवोंसे शूद्र हुआ’ ऐसा कई मानते हैं और वैसा

करते भी हैं। 'पद्भ्यां' पद तृतीया, चतुर्थी और पंचमीका समान ही होता है। पंचमी विभक्ति मानी गयी तो 'उसके पांवोंसे' ऐसा अर्थ होगा और चतुर्थी विभक्ति मानी गयी तो 'उसके पावोंके लिये' ऐसा अर्थ होगा। हमने चतुर्थी विभक्ति मानकर अर्थ ऐसा किया है कि 'इस मानवसमाजरूपी पुरुषके पांवोंके स्थानमें कर्मचारी माने गये हैं।' पांवके स्थानमें शूद्र हैं।

प्रश्न ऐसा है कि 'इस पुरुषके मुख, बाहू, मध्यभाग और पांव कौन कहे जाते हैं।' (मुखं किं, बाहू किं, मध्यं किं, पादा किं उच्यते)। इस प्रश्नके अनुसार उत्तर ऐसा ही होता है कि इस पुरुषका ज्ञानी मुख है, शूर बाहू हैं, कृषक तथा व्यापारी पेट है और कर्मचारी शूद्र पांव हैं। परंतु वेदमंत्रमें (पद्भ्यां शूद्रो अजायत) पांवोंसे कर्मचारी हुआ, या पावोंके स्थानके लिये कर्मचारी हुआ है। इस वेदवाक्यके दोनों प्रकारके अर्थ हो सकते हैं। हमने प्रश्नके अनुसार उत्तर मिले ऐसा अर्थ किया है। जो 'उसके पांवसे कर्मचारी हुए' ऐसा अर्थ करते हैं, वैसा वे करें, क्योंकि आगेके मंत्रमें पंचमी विभक्तिका ही प्रयोग है। परंतु वह आलंकारिक अर्थ मानें और 'कर्मचारी उस पुरुषके पांव हैं' ऐसा उसका भाव समझें तो वह अर्थ प्रश्नके अनुरूप होगा।

ज्ञानी, शूर, कृषक और कर्मचारी उस मानवसमाजरूपी पुरुषके सिर, बाहू, पेट और पांव हैं। अतः इनमें वैसा सहकार्य होना चाहिये जैसा शरीरके इन चार अवयवोंमें होता है।

शरीरमें सहकार्य

शरीरके सिर, बाहू, पेट और पांव इन अवयवोंमें पूर्ण सहकार्य होता है, इसीलिये शरीर स्वस्थ और आनंदयुक्त रहता है। देखिये- सिरमें आंखें हैं, वे एक पके फलको देखती हैं और मनको कहती हैं, वह फल शरीरके लिये लाभकारी है, इसलिये वह फल प्राप्त कर। मन पावोंको आज्ञा देता है कि इस शरीरको उस फलके पास ले जाओ। पांव शरीरको उस फलके वृक्षके पास ले जाते हैं, शरीरको वृक्षपर चढाते हैं, और फलको तोडकर लेनेके लिये हाथोंको आज्ञा होती है। हाथ आगे होकर फलको तोडकर अपने पास लेते हैं। फिर पांव शरीरको वृक्षके ऊपरसे नीचे लाते हैं, छुरी लेकर हाथ उस फलको काटकर हाथ उसको मुखमें डालते हैं। मुख चबाता और बारीक करके पेटमें भेजता है। पेट उसको पचाता है, उसका रक्त बनाता है, वह हृदयके पास भेजता है और हृदय उस रक्तको सब शरीरमें घुमाता है। इससे सब शरीर पुष्ट बनता है। पूर्ण सहकार्यसे इस तरह सब शरीरका लाभ होता है।

यदि एक भी अवयव अपना सहकार्य न करेगा, तो उस असहकार्यसे शरीरकी हानि है। हाथ कह सकता है कि मैं फल खा नहीं सकता, इसलिये मैं फलको तोडूंगा नहीं, पांव कहेंगे कि हम फल खाते नहीं, इसलिये शरीरका बोझ उठाकर शरीरको हम उस फलवाले वृक्षके समीप नहीं ले जायंगे, मुख कहेगा कि मैं चबाकर फलको पेटके पास नहीं भेजूंगा, पेट कहेगा कि मैं फलको पेटमें ही रखूंगा, तो इस असहकारसे शरीरकी पुष्टि नहीं होगी और शरीर दुर्बल रहेगा।

शरीरके अवयवोंमें जहां उत्तम सहकार्य होता है वहां उस शरीरमें ही पोषण उत्तम होता है और शरीरका स्वास्थ्य उत्तम होता जाता है। शरीरका यही नियम मानवोंके समाजमें लागू है, जिस मानवसमाजमें उसके सिर, बाहू, पेट और पांव आदि अवयवोंमें अर्थात् ज्ञानी, शूर, कृषक और कर्मचारियोंमें उत्तम सहकार्य होगा, वहांका समाज ही उत्तम रीतिसे आनन्द प्रसन्न होता जायगा। तथा जहां सहकार्य नहीं होगा वहां उस समाजकी दुर्बलता बढेगी और दुर्बलतासे उसका दुःख बढता रहेगा।

राष्ट्रकी उन्नतिका कार्यकर्ताओंके आन्तरिक सहकार्यसे अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। वेदने यह संपूर्ण मानवसमाजरूपी एक ही शरीर इस पृथिवीपर है, ऐसा कहकर पृथिवीपरके संपूर्ण मानव समाजमें परस्पर उत्तम सहकार्य होना चाहिये, ऐसा जो उत्तम उपदेश किया है, वह सब राष्ट्रोंके नेताओंको शीघ्रातिशीघ्र आचारव्यवहारमें लाना चाहिये और इस वेदोपदेशके अनुसार मानवसमाजको चलाकर सबका उत्तम कल्याण करना चाहिये।

राष्ट्रका कल्याण भी ज्ञानी-शूर-व्यापारी-कर्मचारियोंके उत्तम सहकार्यसे ही होगा। राष्ट्रके नेता भी इसकी ओर अपना विशेष ध्यान दें। यहांतकके स्पष्टीकरणसे राष्ट्रके और मानवसंघके आपसके सहकार्यसे उनका उत्तम कल्याण होनेका निश्चय है, यह बात स्पष्ट हुई। पाठक इसका विचार करें और इस ज्ञानको वे जहांतक फैला सकते हैं फैला दें।

वेदमें जैसा इस मानवसंघरूपी पुरुषका वर्णन है, उसी प्रकार विश्वपुरुष अथवा विराट् पुरुषका भी वर्णन है।

विराट् पुरुष

यजुर्वेदमें कहा है कि (श्रोत्रात् वायुः च प्राणः च) कानसे वायु और प्राण तथा (मुखात् अग्निः अजायत) मुखसे अग्नि उत्पन्न हुआ है।

ऋग्वेदके मंत्रमें कहा है कि (मुखात् इन्द्रः च अग्निः च) मुखसे इन्द्र और अग्नि हुए और यजुर्वेदमें कहा है कि (मुखात् अग्निः अजायत) मुखसे केवल अग्नि हुआ है।

ऋग्वेदमें कहा है कि (श्रोत्रात् दिशः) कानसे दिशाएं हुई और यजुर्वेदमें कहा है कि (श्रोत्रात् वायुः च प्राणः च) कानसे वायु और प्राण हुए। दोनों स्थानोंके मंत्रोंका ऋषि 'नारायण' ही है और दोनों स्थानोंमें पुरुष देवताका ही वर्णन है। फिर इतना अन्तर क्यों है। इसका उत्तर इतना ही है कि यह वर्णन आलंकारिक है। यहां परमात्माके अवयवोंसे सूर्यादि देवताएं बनी ऐसा यहां वर्णन है, पर प्रश्न पूछा है कि विराट् पुरुषके सिर, आंख, कान, बाहू, पेट, पांव कौन हैं, इस प्रश्नका उत्तर उसके इस अवयवसे यह निर्माण हुआ यह ठीक नहीं है। देखिये—

प्रश्न	उत्तर
ऋ. मंत्र ११- १ अस्य मुखं किम्? — इसका मुख कौन है?	ऋ. मंत्र १३- मुखात् इन्द्रः च अग्निः च — मुखसे इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए।
ऋ. मंत्र ११- २ कौ बाहू? — कौनसे बाहू हैं?	(उत्तर नहीं है)
ऋ. मंत्र ११- ३ कौ ऊरू? — ऊरू कौनसे हैं?	(उत्तर नहीं है)
ऋ. मंत्र ११- ४ पादौ उच्येते — किनको पांव कहते हैं।	ऋ. मंत्र १४- पद्भ्यां भूमिः - उसके पांवसे भूमि हुई है।

प्रश्न न पूछनेपर जो उत्तर दिये हैं वे ये हैं—

ऋ. मंत्र १३-१४ में—

१ मनसः चन्द्रमा जातः— मनसे चन्द्रमा हुआ है।
२ चक्षोः सूर्यः अजायत — आंखसे सूर्य हुआ है।
३ मुखात् इन्द्रः च अग्निः च— मुखसे इन्द्र और अग्नि हुए।
४ प्राणात् वायुः अजायत— प्राणसे वायु हुआ है।
५ नाभ्या अन्तरिक्षं आसीत्— नाभीसे अन्तरिक्ष हुआ है।
६ शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत— सिरसे द्युलोक हुआ है।
७ पद्भ्यां भूमिः— पावोंसे भूमि हुई।
८ श्रोत्रात् दिशः— कानसे दिशाएं हुई।
९ तथा लोकान् अकल्पयन्— इस तरह अन्य लोक अन्य अवयवोंसे हुए ऐसी कल्पना करनी योग्य है।

यजुर्वेदमें—

१० श्रोत्रात् वायुः च प्राणः च— कानसे वायु और प्राण हुए।
११ मुखात् अग्निः अजायत— मुखसे अग्नि हुआ है।

यहां प्रश्न चार पूछे गये और उनके ११ उत्तर दिये गये हैं। जो प्रश्न पूछे ही नहीं थे, उनके भी उत्तर दिये गये हैं; इससे स्पष्ट होता है कि, यह प्रश्न और उत्तर आलंकारिक हैं। इसका भाव ही समझना चाहिये। इस प्रश्नोत्तरका भाव यह है कि—

इस विराट् पुरुषका मन चन्द्रमा है, आंख सूर्य है, मुख अग्नि है, प्राण वायु है, कान दिशाएं हैं, सिर द्युलोक है, नाभी या पेट अन्तरिक्ष है और पांव पृथिवी है। इसीके स्वरूपका निश्चय करनेके लिये अथर्ववेदके कुछ अन्य मंत्र भी यहां देखने योग्य हैं। वे मंत्र यहां देखते हैं—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १२ ॥

अथर्व. १०।७

जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ रह रहे हैं, जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु अर्पित हुए हैं, वह सबका आधारस्तंभ है, वह अत्यंत आनन्दमय है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥

जिसके अंगमें सब (त्रयः त्रिंशत् देवाः) तंतीस देव रह रहे हैं वह सबका आधारस्तंभ अत्यंत आनंदमय है। पुरुषसूक्तमें ७।८ देवोंका ही नाम है। पर यहां ३३ देवताएं उसके शरीरके अंगों और अवयवोंमें हैं ऐसा स्पष्ट कहा है, तथा और देखिये—

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

अथर्व. १०।७

जहां बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र और आठ वसु रहे हैं, भूत और भविष्य तथा सब लोक जहां आधारित हुए हैं वही सबका आधारस्तंभ है और वही आनंदपूर्ण है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

तेंतीस देव जिसके शरीरके गात्र बनकर विभक्त रीतिसे रह रहे हैं, उन तेंतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। यहां तेंतीस देव परमात्माके शरीरके अवयव बनकर रह रहे हैं, ऐसा कहा है, परमेश्वरके अवयवोंसे ये देव उत्पन्न हुए हैं ऐसा नहीं कहा है।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥

जिसके पांव भूमि, अन्तरिक्ष पेट और द्युलोक जिसका सिर है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार हो।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥

जिसकी एक आंख सूर्य है और बारंबार नया नया बननेवाला चन्द्रमा जिसकी दूसरी आंख है, अग्निको जिसने अपना मुख बनाया है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है।

यहां चन्द्र और सूर्य परमात्माको दो आंख हैं ऐसा कहा है परंतु अथर्व. १९।६ में जो पुरुषसूक्त है उसमें कहा है 'चन्द्रमा मनसो जातः' चन्द्रमा मनसे उत्पन्न हुआ है। ऐसे वचन सिद्ध करते हैं कि ये वर्णन आलंकारिक हैं। आलंकारिक समझकर ही इनका भाव देखना चाहिये और देखिये—

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥

वायु जिसके प्राण और अपान हैं, चक्षु जिसके आंगिरस हुए हैं, दिशाएं जिसके कान हैं उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है।

अर्थात् विश्वमें दीखनेवाले पृथिवी, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र ये देव परमात्माके विशाल शरीरके अंगों और गात्रोंमें रह रहे हैं। ये ही उसके अवयव हैं ऐसा भी वर्णन है, और उसके अंगों और अवयवोंसे ये देव सबके सब उत्पन्न हुए हैं, ऐसा भी वर्णन है। अर्थात् यह सब आलंकारिक वर्णन है। पाठक इस अथर्ववेदके वर्णनके साथ पुरुषसूक्तके विराट् पुरुषके वर्णन करनेवाले मंत्रोंकी तुलना करें और जानें की विराट् पुरुष यही है जो पृथिवीसे द्युलोकपर्यंत दीख रहा है। यह प्रत्यक्ष है। पृथवी उसके पांवके स्थानमें हैं, अन्तरिक्ष उसका पेट है और द्युलोक उसका सिर है और इन तीन लोकोंमें जो कुछ है, वह सब उस विराट् पुरुषके शरीरमें रहा है।

यहांतक दो पुरुष कहे है (१) अखिल मानवसमाज-रूपी एक पुरुष है, जिसके सिर ज्ञानीजन हैं, शूर पुरुष उसके बाहु हैं, खेतीसे अन्न उत्पन्न करनेवाले और अन्नका व्यापार करनेवाले उसके पेट हैं और कर्मचारी उसके पांव हैं। यह एक मानवसमाज पुरुष है, हमने व्यवहारके लिये इसीको 'राष्ट्रपुरुष' कहा है। यह एक पुरुष है। (२) दूसरा पुरुष यह 'विराट् पुरुष' है अथवा इसीको 'विश्व-पुरुष' भी कह सकते हैं। इस विराट् पुरुषका देह द्युलोकसे पृथिवी तक फैला है और इस विश्वका संचालन सहकार्यसे सब देव कर रहे हैं, सूर्य प्रकाश दे रहा है, चन्द्रमा मनः स्वास्थ्य रखता है, पर्जन्य धान्य आदि उत्पन्न करता है, वायु जीवन दे रहा है, पृथिवी सबको आधार दे रही है। अर्थात् उत्तम रीतिसे सहकृत होकर विश्वका महाराज्य ये देव चला रहे हैं। ऐसा समझो कि ये देव विश्वराज्यके राज्य चलाने-वाले मंत्री हैं।

विश्वका एक आदर्श राज्य है

विराट् पुरुषका वर्णन एक शरीर मानकर ऊपर किया है और उस वर्णनमें यह बताया है कि, उसके किस अंगमें कौनसी देवता है। विराट् पुरुषका एक शरीर है और उसमें संपूर्ण देवताओंका उत्तम सहकार्य चल रहा है, इस कारण यह विश्व एक शरीर जैसा उत्तम स्वास्थ्य युक्त है। अब इसीका वर्णन राजकारणकी दृष्टिसे करते हैं।

यह विश्व एक उत्तम महाराज्य है। इसके कार्यकर्तागण ये हैं—

१ परब्रह्म— यह विश्वराज्यके अध्यक्ष स्थानमें विराजता है।
२ परमात्मा— यह विश्वराज्यके उपाध्यक्ष हैं।
३ अदिति— देवोंकी माता है, सूर्यचन्द्र आदि देवोंको निर्माण करती है और विश्वराज्यको चलानेके कार्योंमें उनको नियुक्त करती है। इसीके और नाम प्रकृति अथवा शक्ति भी है।

\+ + +

पुरुषः— व्यक्ति पुरुष, राष्ट्र पुरुष और विराट् पुरुष। विश्वमें, राष्ट्रमें तथा व्यक्तिके अंगोंमें उत्तम सहकार्य होनेसे उन्नति और असहकार्यसे अधोगति होती है, इस ध्येयका दर्शन सब कार्यकर्ताओंके सामने जो ध्येय सतत रहना चाहिये वह यह है।

\+ + +

१ सदसस्पति— विधानसभाके सभापति ।
२ क्षेत्रपति— विधानसभाके उप सभापति ।

विश्वराज्यका मंत्रीमण्डल

१ शिक्षा विभाग

१ जातवेदा अग्निः– शिक्षामंत्री, विद्यामंत्री, ज्ञानमंत्री (१),
२ ब्रह्मणस्पतिः– सहायक उपविद्यामंत्री,
३ बृहस्पतिः– सहायक उपविद्यामंत्री ।

२ संरक्षण विभाग

४ इन्द्रः– प्रधान युद्धमंत्री, अन्तर्बाह्य संरक्षणमंत्री (२)
५ विष्णु उपेन्द्रः– उपयुद्धमंत्री (३)
६ रुद्रः– सेनासंचालन मंत्री (४)
७ मरुतः– सैनिक, गणविभागमें रहनेवाले सेनाके गण,

३ आरोग्य विभाग

८ अश्विनौ– आरोग्य मंत्री [१ शस्त्रकर्ममें प्रवीण और २ औषधि चिकित्सामें निपुण] (५)
९ औषधिः– औषधियोंकी व्यवस्था करनेवाला,
१० सोमः– औषधियोंका राजा,
११ अन्नम्– वैद्यों द्वारा सुपरीक्षित खानपान,
१२ गौः– राष्ट्रमें हरएकको गोदुग्धादि मिले इसकी व्यवस्था करनेवाला,

४ पोषण विभाग

१३ पूषा– पोषणमंत्री, अन्नमंत्री (६)
१४ सूर्यः– शोधनमंत्री (७)
१५ सविता
१६ आदित्यः

५ धन विभाग

१७ भगः– अर्थमंत्री (८)

६ उद्योग विभाग

१८ विश्वकर्मा– उद्योगमंत्री (९)
१९ वास्तोष्पतिः– गृहमंत्री (१०)
२० त्वष्टा– शस्त्रास्त्र-निर्माण-मंत्री (११)
२१ ऋभुः– लघु उद्योगमंत्री (१२)

७ सागर विभाग

२२ वरुणः– सागरमंत्री, नौका-युद्धमंत्री(१३)
२३ चन्द्रमाः– मानस समाधान मंत्री (१४)
२४ पर्जन्यः– कृषि मंत्री (१५)
२५ आपः
२६ नद्यः, सरस्वती

+

८ जीवन विभाग

२७ वायुः– जीवन मंत्री (१६)

९ प्रकाश विभाग

२८ विद्युत्

१० स्त्री विभाग

२९ उषा– बालिका संरक्षण मंत्री,

११ बाल विभाग

३० वेनः– बालसंरक्षण मंत्री (१७)

१२ गुप्त संरक्षण विभाग

३१ कः– गुप्त संरक्षण मंत्री (१८)

१३ वाहन विभाग

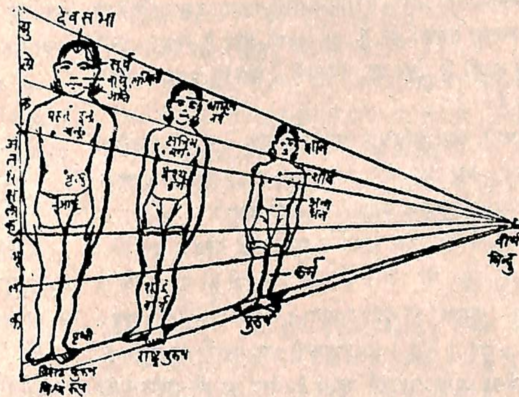
३२ अश्वः

१४ मातृभूमि गीत

३३ पृथिवी

इस प्रकार ये विश्वराज्यके मंत्री हैं। वेदमें ये देवताएं हैं और ये विश्वका राज्य चला रही हैं। इस विश्वराज्यमें सब मंत्री गण अपना अपना कार्य उत्तम रीतिसे आलस्य छोडकर सतत कर रहे हैं, कोई मंत्री कभी सुस्ती नहीं करता, रिश्वतखोरी नहीं करता, दूसरेके कार्यमें हस्ताक्षेप नहीं करता, यह विश्वराज्य जिस दिन शुरू हुआ उस दिनसे विश्वराज्यके अन्ततक ये मंत्री आलस्य छोडकर अपना कार्य करते रहेंगे। अतः इनका वर्णन जो वेदमें किया गया है वह आदर्श मंत्रियोंका वर्णन है और वह वर्णन हमारे मानवी राष्ट्रके मंत्रियोंके लिये आदर्श वर्णन है।

विराट् पुरुषका वर्णन इस रीतिसे 'राष्ट्र पुरुष' के लिये नमूना करके सामने रखनेके लिये है। पुरुषसूक्तमें ये



विराट् पुरुष, राष्ट्र पुरुष और पुरुष

दोनों विराट् पुरुष और राष्ट्र पुरुषके वर्णन आये हैं और इनका संबंध राष्ट्रके कार्यकर्ताओंके सामने आदर्श कार्यकर्ता करके रखना है। विराट् पुरुष आदर्श पुरुष है और उस आदर्शके अनुसार चलना राष्ट्र पुरुषका कर्तव्य है। अखिल मानव-समाजरूपी पुरुषको एक होकर, अपनेमें उत्तम सहकार्य करके, सब मानवोंको अभ्युदय तथा निश्रेयस प्राप्त हो, ऐसे शुभ कर्तव्यके मार्गसे ले जाना, यह विराट् पुरुषके वर्णनसे मानवोंको बोध प्राप्त करना है।

अब एक तीसरा पुरुष रहा है। वह प्रत्येक व्यक्तिके रूपमें अर्थात् जो मानवसमाजके प्रत्येक व्यक्तिके रूपमें पृथिवीपर कार्य कर रहा है, वह स्त्रीपुरुषके रूपमें संचार करनेवाला 'व्यक्तिरूप पुरुष' है। इसका विचार अब करना है। इस प्रत्येक व्यक्तिको अपना स्वरूप प्रथम समझना चाहिये वह ऐसा है—

व्यक्तिरूप पुरुष

(१) ब्रह्माण्ड व्यापी, पृथिवीसे द्युलोक-तक जिसका फैलाव है, ऐसे 'विराट् पुरुष' का वर्णन हुआ। (२) दूसरा 'राष्ट्र पुरुष' 'सर्वजन समाजरूप पुरुष' जो पृथिवीके चारों ओर व्याप रहा है, उसका भी वर्णन हमने देखा। पहिला विराट् पुरुष ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्याप्त है, दूसरा पृथिवीपर चारों भूभागोंमें रहता है।

विश्वमें हजारों सूर्य हैं, हजारों पृथिवियां हैं, चन्द्रमा भी वैसे ही हजारों हैं, उस तरह अन्यान्य देवता भी अनेक हैं, पर्वत अनेक हैं, नदियां अनेक हैं और वृक्ष भी अनंत हैं। वृक्षवनस्पतियां विराट् पुरुषके बाल हैं, नदियां रक्तवाहिनियां हैं, चन्द्रमा उसका मन है, सूर्य उसकी आंख हैं, विद्युत् उसमें कार्य करती है ऐसा यह विशाल 'विराट् पुरुष' हमने देखा है।

ज्ञानी, शूर, कृषिकार और कर्मचारी ये जिसके करोडों मस्तक, बाहु, पेट और पांव हैं, ऐसा यह दूसरा 'मानव-समाजरूपी राष्ट्र पुरुष' भी हमने देखा।

अब तीसरा पुरुष 'व्यक्ति पुरुष' है जिसका एक सिर, दो बाहु, एक पेट और दो पांव हैं। स्त्री हो या पुरुष हो इसको 'पुरुष' ही कहा जायगा। 'पुरि वसति' (पुर्+ वस् = पुर् + उष्) = शरीररूपी इस पुरीमें यह रहता है, यह जैसा स्त्रीके शरीरमें रहता है, वैसा पुरुषके शरीरमें भी रहता है। शरीर निवासी यह पुरुष है। इस तीसरे पुरुषके

शरीरमें देवताएं

विषयमें अब विचार करना है। यह विचार हरएक मनुष्यको करना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि हरएक मानव इस शरीररूपी देवनगरीमें रहता है।

मैं कौन हूं, इस शरीरमें कौनसी शक्तियां हैं, इन शक्ति-योंका मुझसे क्या संबंध है, इन शक्तियोंका उपयोग करके मैं अपना अभ्युदय और निश्रेयस प्राप्त कर रहा हूं या नहीं, इत्यादि विचार इस पुरुषका मनन करनेके समय मनमें आ सकते हैं। इसलिये इस तीसरे पुरुषका विचार बडा महत्त्व रखता है। अतः अब इस व्यक्ति पुरुषका विचार करते हैं।

ऐतेरेय उपनिषद्में व्यक्ति पुरुषके शरीरमें देवताएं किस रीतिसे रहीं हैं इसका वर्णन है वह यहां देखने योग्य है—

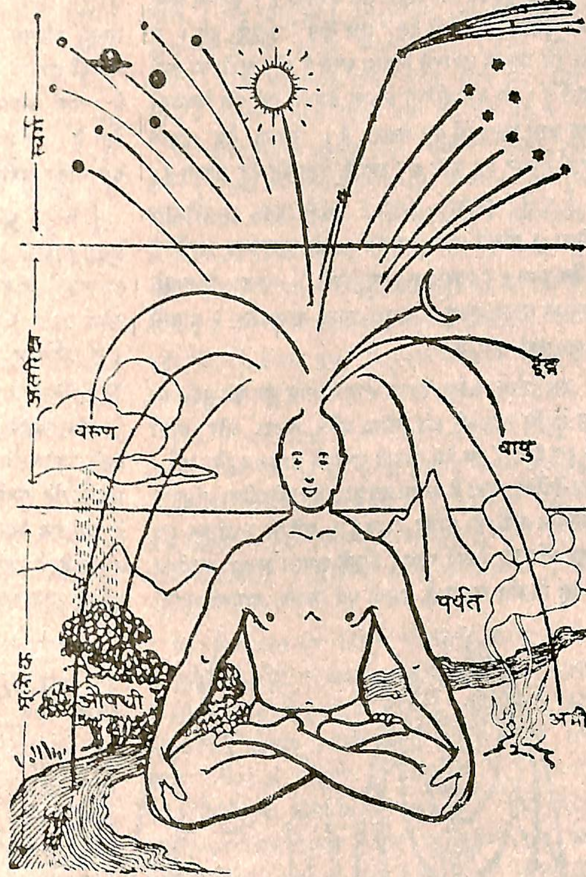
देवताओंका शरीरमें प्रवेश

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
६ चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,

७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
८ आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥
(ऐ. उ.)

१ अग्नि वाणीका रूप धारण करके मुखमें प्रविष्ट हुआ, २ वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा, ३ सूर्य आंख बनकर नेत्र स्थानमें रहने लगा, ४ दिशाएं कान बनकर श्रवण इन्द्रियमें आकर रहने लगीं, ५ औषधि–वनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें रहने लगीं, ६ चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें रहने लगा, ७ मृत्यु अपान बनकर नाभिमें रहने लगा, ८ जल रेत बनकर शिश्नमें रहने लगा। इस तरह अन्यान्य देवताएं अन्यान्य स्थानोंमें आकर रहने लगीं।

इस विश्वमें जितनी देवताएं हैं, वे सबकी सब देवताएं इस प्रकार अपने मानवी शरीरमें आकर रहने लगीं हैं। इससे यह हुआ कि, जो विशाल देवताएं विश्वमें हैं, वे ही देवताएं अंश रूपसे आकर इस मानव शरीरमें रहने लगीं हैं। इसको देखकर हम यह कह सकते हैं कि, विश्वमें विशाल देवताएं निवास करतीं हैं, और मानव शरीरमें उन देवताओंके सूक्ष्म अंश निवास करते हैं। देवताओंकी संख्याके विषयमें विश्वमें और शरीरमें देवताएं समानरूपसे रहती हैं। जो ब्रह्माण्डमें है, वही पिण्डमें हैं; और जो पिण्डमें है, वही विशालरूपसे ब्रह्माण्डमें है। यही ज्ञान वेद–मंत्रोंमें कहा है, वह अब देखिये—



शरीरमें देवताओंका प्रवेश

१ दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥ ३ ॥
२ इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत ॥ ९ ॥
३ ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
४ संसिचो नाम ते देवा, ये संभारान् समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
५ यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
६ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
७ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥
८ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥
९ तस्माद् वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

अथर्व. ११।८

[१] (पुरा) पहिले (देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त) देवोंसे दस देव एक साथ उत्पन्न हुए, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो उनको प्रत्यक्ष जानता है (सः वै अद्य महत् वदेत्) वह आज बडा नाम कहेगा ॥ ३ ॥

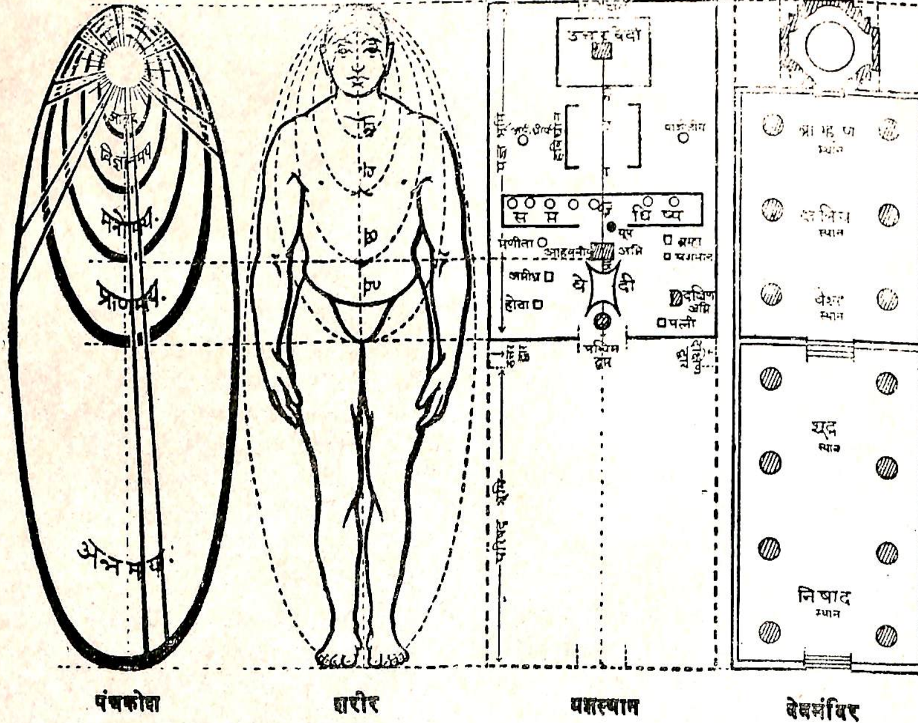
विराट् पुरुषके विश्वदेहमें सब देवताएं हैं। उनमेंसे मुख्य दस 'पिता देवों' से दस 'पुत्र देव' उत्पन्न हुए। ये पुत्र देव मानवी शरीरमें निवास करते हैं और शरीरका कार्य करते हैं। जो इस बातको प्रत्यक्ष देखेगा, वही इस विषयका बडा ज्ञान प्रवचनमें कह सकता है। फलाना देव फलाने अंगमें रहकर यह कार्य कर रहा है, ऐसा वह कह सकता है।

[२] (इन्द्रात् इन्द्रः) इन्द्रसे इन्द्र, (सोमात् सोमः) सोमसे सोम, (अग्नेः अग्निः अजायत) अग्निसे अग्नि हुआ। (त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टा निश्चयसे त्वष्टासे उत्पन्न हुआ, (धातुः धाता अजायत) धातासे धाता हुआ ॥ ९ ॥

इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धातासे पुत्र देव हुए, उन पुत्र देवोंके नाम भी इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता ही हुए हैं। ये पुत्र देव मानवी शरीरमें आकर रहने लगे। इन्द्र देवोंका राजा है, उससे मन हुआ, यह इन्द्रियोंका अधिपति मानवीय शरीरमें होकर रहा है। अग्निसे वाणीरूप पुत्र हुआ और वह मुखमें रहकर बोलने लगा। त्वष्टा कारीगर है वह निर्माण करता है, इसका पुत्र निर्माण सामर्थ्य मानवी शरीरमें रहकर निर्माण करता है, कर्तृत्व दिखाता है। धाता धारण शक्तिसे युक्त है, धारण सामर्थ्य उससे बना और मानवी शरीरमें आकर रहा, जिससे मनुष्य धारण कर सकता है। सोम चन्द्रमा है, इसका पुत्र मानवी हृदय है, यह आनंद देता है। इस तरह अनेक देवोंके पुत्र उत्पन्न हुए और वे इस मानव शरीरमें रहकर शरीरसे कार्य करने लगे हैं।

[३] (पुरा) प्राचीन समयमें (देवेभ्यः ये दश देवाः जाताः) देवोंसे जो दस देव पुत्र उत्पन्न हुए, (ते आसन्) वे इस मानवी शरीरमें रहने लगे, वे (पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा) अपने पुत्रोंको इस मानव देहमें स्थान देकर (ते कस्मिन् लोकं आसते) वे पिता देव किस लोकमें रहने लगे ? ॥ १० ॥

पिता देवोंसे पुत्र देव उत्पन्न हुए। पुत्र देवोंको इस मानव देहमें रहनेके लिये स्थान देकर पिता देव विराट् पुरुषके विश्वदेहमें रहने लगे। विराट् पुरुषके देहमें अनेक देवताएं हैं, उन सब देवताओंको अंशरूप पुत्र हुए, वे अंशरूप पुत्र मानव देहमें रहने लगे और पितृदेव विराट् पुरुषके देहमें पूर्ववत् रहने लगे। जितने मानव इस पृथिवीपर हैं, उतने



पंचकोश शरीर यज्ञस्थान देवमंदिर

पुत्र विराट् पुरुषके देहमें रहनेवाले देवोंको उत्पन्न हुए। वे सब पुत्र देव संपूर्ण मानवोंके देहोंमें रहने लगे और वहांका कार्य करने लगे और पितृदेव विराट् पुरुषके देहमें पूर्ववत् रहते हैं। मानवोंके शरीर नये उत्पन्न होते हैं, उस समय उन मानव शरीरोंमें कार्य करनेके लिये इसी तरह उन विराट् पुरुषके देहमें रहनेवाले देवोंके पुत्र पृथिवीपर आते हैं और आते रहेंगे। प्राचीन समयमें ऐसे ही देवोंके पुत्र, या देवोंके अंश आये थे, इस समय वैसे ही आ रहे हैं और भविष्यमें इसी तरह आते रहेंगे। विराट् पुरुषके देहमें भी सूर्य, चन्द्र आदि अनेक देव हैं, उनके अंश अनेक होते हैं, और वे मानव शरीरमें आकर रहते हैं।

[४] (ते संसिचः नाम देवाः) वे सिंचन करनेवाले देव हैं, (ये संभारान् समभरन्) जो संभारको तैयार करते हैं। (सर्वं मर्त्यं संसिच्य) सब मरण धर्मवाले संभारको जीवनके जलसे सिंचन करके (देवाः पुरुषं आविशन्) सब देव मानवी शरीरमें आकर रहे हैं ॥१३॥

देवोंमें संजीवनके जलसे मर्त्य पदार्थको सिंचन करके उनमें जीवन लानेकी शक्ति है। ऐसे जीवन जलसे मर्त्य शरीरको सिंचन करके उसमें सजीवता ये देव लाते हैं। मानव शरीर मर्त्य है, मरनेवाला है, इन देवोंने संजीवनके जलसे इस देहको सींचा और इसको संजीवनमय किया है और इसमें उस संजीवनकी शक्तिसे वे देव रहने लगे हैं। सब अंगोंमें वे देव हैं, इससे यह देह जीवित हुआ है और जीवित रहता है। जबतक ये देव इस शरीरमें रहेंगे, तब तक यह शरीर जीवित रहेगा। जिस समय कोई देव यहांसे चला जाता है, उस समय उस अवयवकी जीवनशक्ति नष्ट होती है।

[५] (यः त्वष्टुः उत्तरः पिता) जो त्वष्टाका श्रेष्ठ पिता है, उसके पुत्र (त्वष्टा यदा व्यतृणत्) त्वष्टाने जब इस शरीरमें छिद्र किये [उन छिद्रोंमें इन्द्रियोंके रूपसे रहनेके लिये] (मर्त्यं गृहं कृत्वा) इस शरीररूपी मर्त्य घर बनाकर इसमें (देवाः पुरुषं आविशन्) देव पुरुष शरीरमें आकर रहने लगे ॥ १८ ॥

विराट् पुरुषके देहमें जो त्वष्टा कारीगर रहता है, उसको पुत्र हुआ। वह पुत्र त्वष्टा इस शरीरमें रहने लगा और यहां वह अंग और अवयव बनाने लगा। मानव शरीर यह मरण धर्मवाला शरीर है, इसको इन देवोंने जीवन जलसे सिंचन किया, इससे इस शरीरमें जीवन आ गया है। इस मानवके मर्त्य शरीरमें सब देव अंशरूपमें आकर रहने लगे हैं। इससे जीवनकी कला इस शरीरमें आ गई है और यह मर्त्य धर्मवाला शरीर जीवित होकर कार्य कर रहा है।

[६] (अस्थि कृत्वा समिधं) हड्डीयोंकी समिधाएं बनाई, (तद् अष्ट आपः असादयन्) तब आठ प्रकारका जीवनजल उन्होंने लाकर सिंचन किया, (रेतः आज्यं कृत्वा) रेतका घी बनाया और (देवाः पुरुषं आविशन्) देव इस मानवी शरीरमें घुसकर रहने लगे हैं ॥ २९ ॥

यह गृहस्थाश्रमका यज्ञ है, जहां 'वीर्य रूप घीका हवन होता है' आठ प्रकारके जीवन जलसे मरनेवाले शरीरको सिंचन करके उसको सजीव रखा जाता है। अस्थियोंकी समिधायें इस यज्ञमें हवन की जातीं हैं और इस यज्ञसे पुत्र उत्पन्न होता है। इस पुत्र देहमें विराट् पुरुषके देहमें जितनी देवताएं हैं उन सबके अंश आकर रहते हैं। कौनसी देवता कहां रहती है, इसका वर्णन पूर्व स्थानमें ऐतरेय उपनिषद्के वचनसे बताया है।

[७] (याः आपः) जो जीवनके जल हैं, (याः च देवताः) जो देवताएं हैं, (या विराट्) जो विराट् है, (सह ब्रह्मणा) और साथ ब्रह्म भी है, वह संपूर्ण (शरीरं ब्रह्म प्राविशत्) शरीरमें ब्रह्म प्रविष्ट हुआ है और (शरीरे अधि प्रजापतिः) शरीरके ऊपर प्रजापति भी आकर रहा है ॥ ३० ॥

सब जीवन जल कि जिससे मरणधर्मी शरीर सजीव अवस्थामें रहता है, जो सब देवताएं विराट् पुरुषके शरीरमें हैं, जो संपूर्ण विराट् पुरुषका शरीर है, जो ब्रह्म है और प्रजापति है, यह सब शरीरमें प्रविष्ट होकर रहा है और इसका अधिष्ठाता प्रजापति भी यहां ही रहा है। अर्थात् यह मानवी शरीर छोटा विराट् पुरुष ही है। वह विराट् पुरुष विश्वव्यापक विशाल है और यह उसका एक अंश रूपी शरीर है। आकारमें फरक है, पर तत्त्वमें भेद नहीं है। विराट् पुरुष बडा विशाल है और यह मानव शरीर उसकी अपेक्षा एक अंश मात्र है, अत्यंत छोटा है। जैसा दावानल और चिनगारी। परंतु तत्त्वमें भिन्नता नहीं। जो विराट् पुरुषमें है, वही मानवी शरीरमें है।

[८] (सूर्यः चक्षुः) सूर्य आंख बना है और (वातः प्राणं) वायु प्राणरूपमें (पुरुषस्य वि भेजिरे) मानवी देहका भाग बनकर रहा है। (अथ अस्य इतरं आत्मानं) अब इतर अपने भागोंको (देवाः अग्नये प्रायच्छन्) देवोंने अग्निके पास दिया है ॥ ३१ ॥

सूर्यका अंश आकर यहां आंख बना, वायुका अंश आकर प्राण बना। इसी तरह अन्य सब देवताओंके अंश आकर अग्निके साथ इस शरीरमें रहने लगे हैं। इसीलिये शरीरमें जबतक उष्णता रहती है तब तक शरीरके इन्द्रिय और

अवयव कार्य करते हैं : यह ऐसा इसलिये होता है कि सब देवोंने अपने अंश अग्निके पास दिये। अग्नि इस जिम्मेवारीको समझता है और सब देवताओंके अंशोंको अपने साथ धारण करता है। इसलिये शरीरमें उष्णता रहने तक सब देवोंके अंश इस शरीरमें रहकर कार्य करते हैं।

[९] (तस्मात् वै) इसलिये निःसंदेह (पुरुषं विद्वान्) इस मानव देहरूपी पुरुषको जाननेवाला (इदं ब्रह्म इति मन्यते) वह ब्रह्म है ऐसा मानता है, (हि सर्वाः देवताः) क्योंकि सब देवताएं (गावः गोष्ठे इव) गौवें गोशालामें बैठती हैं उस तरह (आसते) इस शरीरमें रहती हैं ॥ ३२ ॥

जो यह तत्त्वज्ञान जानता है, वह इस मानवदेहरूपी पुरुषको 'यह ब्रह्म' है, अर्थात् इसमें ब्रह्मके साथ सब देवताएं निवास करती हैं ऐसा जानकर वैसा प्रवचन करता है। गौवें जैसी गोशालामें रहती हैं, वैसी इस शरीरमें सब देवताएं रहती हैं। हरएक मनुष्य यह समझे कि 'मैं इस देवनगरीका अधिष्ठाता हूं।' यहां इस शरीरमें सब देवताएं आकर रहीं हैं और मुझे सहायता कर रहीं हैं। इनके सामने मुझे अच्छी तरह रहना चाहिये, उत्तम सद्व्यवहार करना चाहिये। देवताओंके सामने मैं असद्व्यवहार कर नहीं सकता। क्योंकि मेरे व्यवहारको देखनेवाली ये देवताएं यहां हैं।

तीन पुरुष

यहां तक जो वर्णन किया उससे यह स्पष्ट हुआ कि यहां तीन पुरुष हैं। (१) विश्वव्यापी 'विराट् पुरुष,' (२) पृथ्वीपर चारों ओर रहनेवाला 'मानवसमाजरूपी पुरुष' अथवा 'राष्ट्रपुरुष' और तीसरा 'मानव व्यक्तिरूप पुरुष।' पुरुषसूक्तमें पहिले दो पुरुषोंका वर्णन किया है और तीसरे पुरुषका संकेत किया है।

विराट् पुरुषका ब्रह्माण्ड देह है और उसमें सब देवताएं हैं और अपना-अपना कार्य योग्य रीतिसे करती हैं, कभी अपने कर्तव्यमें शिथिलता नहीं करतीं। यह इनका उत्तम कार्य चला हुआ मनुष्य देख सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी सब लोग इस विराट् पुरुषको देख सकते हैं और उसका कार्य अच्छी तरह चल रहा है यह अनुभव कर सकते हैं।

मानव देहमें उन सब देवताओंके अंश आकर रहे हैं, यह मानवी शरीर देवताओंका मन्दिर ही है। इसमें सब अवयवों, सब अंगों और उनमें रहनेवाली सब देवताओंमें उत्तम सहकार्य हुआ तो ही यहांका उत्तम स्वास्थ्य रह सकता है। यह जानकर मनुष्य अपने शरीरके अवयवोंमें उत्तम सहकार्य करके, अपना जीवन उत्तम यज्ञरूप बनावे। मेरा जीवन एक यज्ञ है और उसको मैं यज्ञ करके चलाऊंगा, इसमें यज्ञका विध्वंस करनेवाले षड्रिपु हैं उनको दूर करके मैं इस यज्ञको सफल और सुफल बनाऊंगा। ऐसा विचार मनुष्य करे और यत्न करके अपने जीवनयज्ञको सफल बनावे। यह मानवदेहरूपी पुरुषका कार्य है।

इस पृथ्वीपर 'राष्ट्र पुरुष' है, वास्तवमें वह पृथिवीपर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मानवसमाज रूपमें यह पुरुष है। इसके मुख, बाहू, पेट और पांव ज्ञानी, शूर, कृषिकर्ता तथा कर्मचारी हैं। जैसा मानवदेहमें उत्तम सहकार्य होनेसे स्वास्थ्य टिकता है, उसी तरह इस मानव समाजमें उक्त चारों प्रकारके मानवोंमें उत्तम सहकार्य होता रहा तो ही यह मानवसमाज स्वस्थ, अभ्युदय करनेवाला तथा निःश्रेयसके मार्गपर प्रगति करनेवाला हो सकता है। नेता लोग 'विराट् पुरुष' तथा 'मानव व्यक्तिरूप पुरुष' को देखकर उत्तम सहकार्यसे तथा सद्व्यवहार करनेसे निःसंदेह उन्नति होती है, यह जानकर अपने 'राष्ट्र पुरुष' को उसी सद्व्यवहारके मार्गसे चलावें और अभ्युदयका साधन करें। तथा अखिल मानवसमाजको उसी तरह सद्व्यवहारसे चलाकर उसको प्रगतिपथपरसे ले जावें।

पुरुषसूक्तका उद्देश्य व्यक्तिकी पूर्णता करना तथा राष्ट्र पुरुष तथा मानवसमाजकी आध्यात्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि करना है। वह ध्येय इसी तरह साध्य हो सकता है।

'विराट् पुरुष' का वर्णन 'आधिदैविक' है, राष्ट्र पुरुषका वर्णन अथवा मानवसमाजका वर्णन 'आधिभौतिक' है और व्यक्ति पुरुषका वर्णन 'आध्यात्मिक' है। तीनों स्थानोंपर सब देवताएं हैं। आधिदैविकमें देवताके रूपमें, आधिभौतिकमें गुणी मानवोंके रूपमें और व्यक्तिमें गुणोंके रूपोंमें वेदमंत्रोंका अर्थ देखनेसे यह तीनों स्थानोंका भाव समझमें आ सकता है।

आधिदैविक	आधिभौतिक	आध्यात्मिक
विश्वमें	राष्ट्रमें	व्यक्तिमें
अग्नि	वक्ता	वाणी
इन्द्र	शूरवीर	शौर्य, वीर्य
धन[illegible]	धनी	धन्यता, भाग्य
त्वष्टा	कारीगर	कर्मचारी
वायु	प्राणी	प्राण
अश्विनौ	वैद्य	श्वासोच्छ्वास

इस तरह तीनों स्थानोंमें इन तीन पुरुषोंका दर्शन हो सकता है। पाठक यह करें और बोध प्राप्त करके लाभ उठावें।

अमृतका स्वामी

भूतकालमें जो हुआ, वर्तमानकालमें जो है और भविष्य-कालमें जो होगा वह सब यह पुरुष ही है। तीन पुरुष हैं ऐसा इसके पूर्वमें कहा है, 'विराट् पुरुष' ब्रह्माण्डदेही है। भूत, वर्तमान और भविष्यकालमें जो होता है, वह सब उस विराट् पुरुषमें ही अन्तर्भूत है। यह तो सब जान सकते हैं। दूसरा 'राष्ट्र पुरुष' है। इस राष्ट्र पुरुषके विषयमें देखिये कि इस राष्ट्रमें जो भूतकालमें कार्य किये, उसका परिणाम वह राष्ट्र वर्तमानकालमें भोग रहा है, और जो वह वर्तमान-कालमें कर रहा है उसका परिणाम उसको भविष्यकालमें भोगना पडेगा। यह अपरिहार्य ही है। इसी तरह 'व्यक्ति-रूप पुरुष' का है। व्यक्तिने जो भूतकालमें किया, उसका परिणाम उसकी वर्तमानकालीन स्थिति है और वह व्यक्ति जो कार्य आज कर रही है, उसका फल उसको भविष्यकालमें मिलेगा। इस तरह वेदमंत्रने सामान्य सर्वसाधारण अटल नियम बताया है कि भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्य-कालमें जो होगा वह सब पुरुष ही है।

इसलिये व्यक्तिको तथा राष्ट्रको वर्तमानकालमें ऐसे पुरुषार्थ प्रयत्न करने चाहिये कि, जिनका अत्यंत उत्तम फल आगामी कालमें भोगनेके लिये मिलेगा। भूतकालमें जो किया उसका फल आज हम भोग रहे हैं और जो इस समय कर रहे हैं उसका फल भविष्यमें भोगेंगे, यह नियम है। अटल नियम यह है।

अमृतत्वका स्वामी

यह पुरुष 'अ-मृतत्वस्य ईशानः' यह अमरपनका स्वामी है। अमरपन प्राप्त करना इसके हाथमें है, अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे वह अमरपन प्राप्त कर सकता है। जो अमरपन (अन्नेन अति रोहति) अन्नसे प्राप्त होता है। अन्न खानेसे शरीर पुष्ट होता है और दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। मरण दूर करनेके लिये योगसाधन है। इससे अमृतकी प्राप्ति होती है।

मनुष्य इस अमरपनका अधिकारी है। प्रयत्न करनेसे ही यह अमरपन उसको प्राप्त हो सकता है। मनुष्य यहां इस भूमण्डलपर इसीलिये आया है कि वह स्वप्रयत्नसे इस अमर-पनको प्राप्त करे।

'यत् अन्येन सह अभवत्' जो अमरपन अन्य कर्तृ-स्थानोंके साथ रहनेसे प्राप्त होता है। प्राकृतिक भोगोंको प्राप्त करना और उनके योग्य उपभोगसे दीर्घजीवन प्राप्त करके मृत्युको दूर करना ही अमृतत्वकी सिद्धि है।

श्रेष्ठ पुरुष

'विराट् पुरुष, राष्ट्र पुरुष और व्यक्ति पुरुष' ऐसे तीन पुरुषोंका यहांतक वर्णन हुआ। इनसे भी एक श्रेष्ठ पुरुष है।

जो (ज्यायान् पुरुषः) जो सबसे--विराट् पुरुष, राष्ट्र पुरुष और व्यक्ति पुरुषोंसे--जो महान् श्रेष्ठ पुरुष है, उसका एक भाग ही यह सब विश्व हुआ है; बाकी तीन भाग मूल अमृत स्वरूपमें द्युलोकमें रहते हैं।

संपूर्ण विश्व जिसका एक भाग है, जिसका एक भाग संपूर्ण विश्वरूप बना है ऐसा महान् आत्मा, महान् परमात्मा एक है, वही श्रेष्ठ पुरुष है। इसके एक भागमें परिवर्तन होता है और उससे यह विश्व बनता और बिगडता रहता है। यह विश्व महान् है यह सत्य है, पर यह महान् विश्व भी उसके एक अंशका ही परिणाम है। उसका अपरिवर्तित मूल रूप वैसाका वैसा द्युलोकके ऊपर है।

अविकृत	
स्वरूप	विकृत विश्व

इस परमात्माका इतना श्रेष्ठत्व और महत्त्व है कि उसके एक अंशकाही यह विश्व बनता और बिगडता रहता है। बाकी उसका स्वरूप उसके निजरूपमें वैसाका वैसा ही रहता है। इतना महान् वह 'परम पुरुष, परमात्मा' है।

विश्वके बननेका क्रम

उस महान् पुरुष-परमात्माके कल्पित चार भाग हैं ऐसी कल्पना कीजिये। इनमेंसे तीन भाग ऊपर स्वर्गधाममें, स्वकीय स्थानमें अविकृत स्थितिमें सदा रहते हैं और उसके एक भागमें ही यह विश्वरूप विराट् पुरुष, यह मानवसमाज-रूपी पुरुष, यह राष्ट्र पुरुष तथा यह व्यक्ति पुरुष (पुनः पुनः अभवत्) वारंवार बनता है और बिगडता है। यह विश्व बनता है और पुनः उसका प्रलय होता रहता है। बनना और बिगडना, उत्पन्न होना और उसका विनाश होना, यह वारंवार होता रहता है। विश्व बना अथवा विश्वका प्रलय हुआ, तो उसका कुछ भी इष्ट या अनिष्ट परिणाम

उस अवशिष्ट त्रिपाद् पुरुषपर होता नहीं, इतना वह श्रेष्ठ परात्पर पुरुष है।

एक अंशमें यह विश्व है और बाकी वैसाका वैसा रहा है, इतना महान् और इतना श्रेष्ठ वह परमात्मा-महापुरुष है। यह वेदका कहना अत्यंत महत्त्वका है।

परम पुरुषका एक अंश इस विश्वको बनाता और बिगाडता है। ये दोनों प्रक्रियाएं यह सतत करता रहता है। विश्व उत्पन्न करनेके पश्चात् इस विश्वमें अन्न खानेवाले सजीव प्राणी और अन्न न खाकर रहनेवाले निर्जीव पदार्थ ऐसे दो प्रकारके पदार्थ उत्पन्न हुए। इनमें वह परमात्मा सर्वत्र व्याप कर रहा है। उपनिषद्में कहा है—

तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। उप.

'इस विश्वको उत्पन्न करके उसी विश्वमें वह प्रविष्ट होकर रहा है।' यही बात इस मंत्रने पुरुषसूक्तमें कही है। परमात्माके एक अंशने यह विराट् विश्व उत्पन्न किया और वही उस विश्वमें प्रविष्ट होकर, सर्वत्र व्याप कर रहा है।

सृष्टिकी निर्मिती

सृष्टिकी निर्मितिके विषयमें पुरुष सूक्तमें ऐसा कहा है— प्रथम परम श्रेष्ठ परमात्मासे विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। इस विराट् पुरुषमें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोकलोकान्तर हुए। इस विराट् पुरुषपर सबका अधिष्ठाता एक पुरुष हुआ। जैसा व्यक्तिके शरीरका अधिष्ठाता जीवात्मा है, उसी तरह विराट् पुरुषके विश्वशरीरका अधिष्ठाता एक है जो इस संपूर्ण विश्वशरीरका अभिमानी अधिष्ठाता है। संपूर्ण विश्वका वह निरीक्षण करता है और उसके कारण ही विराट् पुरुष एक है, ऐसा कहा जाता है। नहीं तो पृथिवी और सूर्यचन्द्रमें कितना अन्तर है, पर संपूर्ण विराट् पुरुषका (विराजः अधि पूरुषः) वह अधिष्ठाता है। जितना हमारा व्यक्तिका शरीर एक है उतना यह विश्व एक है। शरीरमें आंख, नाक, कान, मुख, हाथ, पांव आदि अवयव पृथक् हैं, जीवात्मा इस शरीरमें होनेसे सब शरीर एक है, ऐसा कहा जाता है। उसी तरह सूर्य, चन्द्र, विद्युत् वायु, पृथिवी पृथक् हैं, तो भी उस सब विराट् पुरुषका, इस सब विश्वका वह एक आत्मा, वह एक पुरुष अधिष्ठाता होनेके कारण संपूर्ण विराट् पुरुषका एक शरीर है, ऐसा समझना चाहिये।

विभक्तिकरण

इस विश्वमें विभक्तिकरण हो रहा है, प्रथम सब प्रकृति एक थी। उस प्रकृतिसे सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि गोल विभक्त हुए। पृथिवी उत्पन्न होनेपर उस पृथिवीपर पर्वत, नदियां, वृक्ष, पशु, पक्षी तथा मनुष्य हुए। यह विभक्त होनेकी प्रक्रिया है, परन्तु इस सबका अधिष्ठाता एक है। इस कारण यहां विभिन्नता दीखनेपर भी अधिष्ठाताके कारण अभिन्नता है।

शरीरके अवयव विभिन्न हैं, तो भी जीवात्मा इस शरीरका अधिष्ठाता है, इसलिये शरीर एक है। अवयवोंकी दृष्टिसे शरीरमें भेद है, पर जीवात्मा इस शरीरका अधिष्ठाता है, इसलिये यह शरीर एक ही है।

विराट् पुरुषमें सूर्य, चंद्र आदि विभिन्न देवताएं हैं, इन देवताओंपर दृष्टि रखी तो विभिन्नता है, पर इस सब विश्वका अधिष्ठाता एक होनेके कारण यह विराट् पुरुषका शरीर एक ही है।

इसी तरह राष्ट्र पुरुषके शरीरमें ज्ञानी-शूर-कृषक-कर्मचारी विभिन्न हैं, तो भी राष्ट्र पुरुषका राष्ट्र शरीर एक है, इसी तरह मानवसमाजमें विभिन्न कार्य करनेवाले होनेपर भी वह सब मानवसमाज एक है। इस मानव-समाजको एक मानकर इसके अभ्युदय करनेके लिये सबने पराकाष्ठाके यत्न करने चाहिये यह बोध यहां मिलता है।

यज्ञीय जीवन

जब मानव प्राणी उत्पन्न हुए थे, परंतु मानवी प्रयत्नोंसे उत्पन्न होनेवाले हवनसामग्रीके पदार्थ उत्पन्न नहीं हुवे थे, उस समय विभिन्न ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे ही काम लिया जाता था। यज्ञमें मुख्य क्रिया– '(१) पूजनीयोंका सत्कार, (२) आपसका संगठन और (३) निर्बलोंको दान देकर सहायता करके उनको ऊपर लाना' यही थी। ये कार्य उस समयके धुरीण लोग ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे ही करते थे। ऋतुओंके अन्दर जो पदार्थ स्वभावसे उत्पन्न होते थे, उनसे ही ऊपर कही यज्ञकी प्रक्रियाएं वे करते थे। आज जो यज्ञ होते हैं, उनमें जो हवनसामग्री प्रयुक्त की जाती है, वह उस समय मिलना असंभव था। परंतु वे प्राप्त पदार्थोंसे ही यज्ञ करते थे।

जो स्वाभाविक रीतिसे पदार्थ मिल रहे थे, उनसे ही उस प्राथमिक समयके ज्ञानी लोग यज्ञ करते थे और यज्ञसे सत्पु-

वृद्धोंका सत्कार करते थे, आपसकी संघटना करते थे और निर्बलोंकी सहायता वे करते थे। इस तरह उनकी उन्नती इस यज्ञ भावसे हो रही थी।

यज्ञसे लाभ

जो यज्ञ उस समय किया जाता था, उसको (सर्वहुतः यज्ञः) जिसमें सबका उपयोग किया जाता है, ऐसा यज्ञ कहा जाता था। उस समय लोग गौवें पालने लगे, जिससे दही और घी प्राप्त होने लगा। गौपालन शुरू हुआ। जो आरण्य पशु थे उनसे ग्राम्य पशु बने। गौवें, घोडे, बकरियां ये ग्राम्य पशु हैं। वे उस समयके मनुष्य इन उपयोगी पशुओंको अपने घरमें पालना करने लगे, इसके कई आरण्यक पशु ग्राम्य बने। प्रथम गौवें, घोडे और बकरियां आरण्यक ही थी, पश्चात् वे ग्राम्य तथा घरेलु पशु बन गये। इस कार्यको कितना समय लगा होगा, इसकी कल्पना ही पाठक करें।

लोग पशुओंको पालने लगे। इससे घोडे, गौवें, बकरियां और भेडियां हुई अर्थात् ये पशु मानवोंके ग्रामोंमें रहने लगे। इस समय ग्राम हुए, लोग ग्रामोंमें रहने लगे और लोगोंके साथ पशु भी ग्राममें रहने लगे। घोडोंपर लोग बैठने लगे, गाइयोंका, दूध, दही, घी खाने लगे, बैलोंसे खेती होने लगी। इस तरह मानवोंका नागरिक जीवन सुखमय होने लगा। पशुओंसे घर समृद्ध दीखने लगा। यज्ञमें घी मिलने लगा और ज्ञानकी प्रगति भी होने लगी।

वेदोंका प्रकटीकरण

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद अथवा छन्द उस सर्वहुत यज्ञसे (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। परमात्माका नाम ही 'सर्वहुत यज्ञ' है। उस परमात्मासे संपूर्ण वेदोंका प्रकटन हुआ। यहां जो उत्पत्तिका क्रम बताया है वह यह है—

१ परमात्माके तीन अंश अपनी निज स्वाभाविक स्थितिमें ऊपर हैं। उसका एक भाग है, जिससे विराट् पुरुष हुआ। इस विराट्पर एक अधिष्ठाता पुरुष हुआ। वह विराट् पुरुषकी देखभाल करता है। उसने भूमि उत्पन्न की और पश्चात् उस परसे शरीर निर्माण किये। (ऋ. ५)

२ जब पृथिवीपर मानव उत्पन्न हुए, उनमें जो ज्ञानी थे उन्होंने ऋतुओंमें उत्पन्न पदार्थोंसे ही यज्ञ करना प्रारंभ किया, इस यज्ञके ऋतुसे उत्पन्न पदार्थ ही यज्ञके पदार्थ थे। (ऋ. ६)

+

३ साध्य और ऋषि जो थे, वे प्रारंभमें ऋतुओंमें उत्पन्न हुए पदार्थोंसे ही सत्कार-संगठन-दान रूप यज्ञ किया करते थे। (ऋ. ७)

४ इस यज्ञसे दूध, घी प्राप्त होने लगा और आरण्य और ग्राम्य ऐसे पशु बने। अर्थात् लोग घरमें गौ, घोडे, बकरे, मेंढे आदि पशु पालने लगे। ग्राम और नगर बसे और यज्ञविधि भी उन्नत हुई। (ऋ. ८)

५ उस यज्ञ देवसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकट हुए। (ऋ. ९)

इस तरह ज्ञानका प्रकटन हुआ और मानवजातीका अच्छा उद्धार होनेका पूर्ण कार्यक्रम चारों वेदों द्वारा प्रकट हुआ। ऋग्वेद ज्ञानवेद है, यजुर्वेद कर्मवेद है, सामवेद उपासनावेद है, इन मंत्रोंके गान गाये जाते हैं और उनसे उपासना होती है और अथर्ववेद ब्रह्मज्ञानका वेद है। इस तरह चारों वेदोंसे ज्ञान, कर्म, उपासना और ब्रह्मसाक्षात्कार होता है और मानवकी पूर्ण उन्नति होनेका उत्तम कार्यक्रम प्रकट होता है। उस यज्ञपुरुषसे इस प्रकार यह मानवकी उन्नतिका पूर्ण कार्यक्रम प्रकाशित हुआ।

यज्ञचक्र परिवर्तन

देव यज्ञको करते थे, उस यज्ञमें (पुरुषं पशुं) परमात्मा रूपी सर्व द्रष्टाको ध्यानयोगसे बांधते हैं। 'पशु' का अर्थ 'पश्यति' इति पशुः' जो देखता है वह पशु है। परमेश्वर सबको देखता है, सबका निरीक्षण करता है, इसलिये वह पशु है। ध्यानयज्ञमें उसको ध्यानयोगी लोग अपने आत्माके साथ बंधा हुआ अनुभव करते हैं।

स्थूल शरीर, वासना शरीर, बहिर्मनस शरीर, अन्तर्मानसशरीर, बुद्धि, पराबुद्धि, जीव ये सात उसकी परिधियां अर्थात् कार्य मर्यादाएं हैं। यज्ञका कार्य इन सात मर्यादाओंमें होता है। मनुष्यका कार्य इन क्षेत्रोंमें होता है, मनुष्यके कार्यकी येही मर्यादाएं हैं।

(त्रिः सप्त समिधः कृतः) इक्कीस समिधाओंसे यह यज्ञ होता है। ये इक्कीस समिधाएं ये हैं– दो आंख, दो नाकके छिद्र, दो कान और एक वागिन्द्रिय मिलकर सात ज्ञानेंद्रिय; दो हाथ, दो पांव, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार मिलकर सात कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण और चैतन्य तथा अहंकार मिलकर २१ समिधाएं इस यज्ञकी हैं। इस यज्ञमें इनका ही कार्य होता है। मनुष्यका यह यज्ञ जितना

उत्तम रीतिसे होगा, उतनी उत्तम सिद्धि मनुष्यको प्राप्त होगी।

यह यज्ञचक्र चलता रहना चाहिये, क्योंकि मानवकी उन्नतिका यही सच्चा मार्ग है।

परमात्मा यज्ञ पुरुष है। वही सबका उपास्य देव है। उसकी उपासना यज्ञद्वारा लोग करते थे। वह श्रेष्ठ कर्म थे, क्योंकि उस यज्ञमें श्रेष्ठोंका सत्कार, आपसका संगठन और दीनोंकी सहायता ये तीन कर्म होते थे और इन श्रेष्ठ कर्मोंसे सबका कल्याण होता था। इसलिये ऐसे कर्म करनेवाले सुखपूर्ण स्थानमें रहते थे। अपने श्रेष्ठ कर्मोंसे उन्होंने अपना स्थान सुखमय बनाया और उसमें वे रहने लगे थे। जो ऐसे यज्ञकर्म करेंगे वे भी सुखमय स्थानमें रह सकते हैं। यज्ञ ही मनुष्यका सुख बढा सकता है। अतः यज्ञ करना मनुष्यका श्रेष्ठ कर्तव्य है।

यज्ञका शुद्ध स्वरूप

'देवपूजा-संगतिकरण-दान' यह यज्ञका त्रिविध स्वरूप है। राष्ट्रमें जो ज्ञानी, पुरुषार्थी, व्यवहारदक्ष तथा कार्यकुशल होते हैं, उनका सत्कार, आदर या पूज्यभाव होना चाहिये। यज्ञका यह महत्त्वका भाग है। संगतिकरणका अर्थ राष्ट्रके निवासियोंका संघटन करना है, परस्पर सहायता करके एकता प्रस्थापित करना है। राष्ट्रकी शक्ति बढानेके लिये इसकी बडी आवश्यकता है और जो निर्बल हैं, ज्ञानसे, बलसे, धनसे अथवा कर्मशक्तिसे कमजोर हैं, उनको सहायता देकर उनकी कमजोरी दूर करना। ये तीन कार्य करनेका नाम राष्ट्रीय महायज्ञ है। ऐसे कर्म जहां होते हैं, ऐसे यज्ञ करने चाहिये। इससे राष्ट्र सुखपूर्ण होता है। ऐसे लोग जहां रहते हैं, वह देश आनन्द प्रसन्न होता है। वही स्थान 'सुवर्ग' अथवा 'स्वर्ग' कहलाता है। अपने स्थानको सुवर्गलोक बनाना मनुष्योंके आधीन है। मनुष्य ऐसे कार्य करें और इस भूमिको स्वर्गधाम बनाकर वहां आनंदसे रहें।

पुरुष जो परम पुरुष परमात्मा है, वही 'सोम राजा' है। सोम (स-उमा) उमा ब्रह्मविद्या है, जिसके सम्यक् ज्ञानसे मनुष्य दुःखोंसे मुक्त होता है, उस ब्रह्मविद्याको उमा कहते हैं, वह पूर्णतया जिसके पास है वह 'सोम राजा' है। (जातस्य पुरुषात् अधि) उत्पन्न हुए विराट् पुरुषके ऊपर जो अधिष्ठाता करके प्रकट हुआ है उस (बृहतः देवस्य मूर्ध्नः) बडे देवके सिरसे सात गुणा सत्तर (अंशवः अजायन्त) किरण फैले हैं, जिससे यह विश्व चमक रहा है। यह वैभव उस मुख्य आदि पुरुषका है। वही सबका उपास्य, सबका प्राप्तव्य, सबको आनन्दपूर्ण करनेवाला है। उसकी भक्ति करके सब लोग आनंद प्राप्त करें।

विश्वकर्माने पृथिवी, जल आदि पहिले बनाये और उस रससे आगेकी सृष्टि बनायी। त्वष्टा रूप बनाता है। विश्वकर्मा और त्वष्टा परमात्माके ही नाम उसके अनेक कर्म करनेके कारण बने हैं। उपासकको देवत्व प्राप्त करनेके लिये विश्वकर्मा और त्वष्टाके गुणोंका ध्यान करना चाहिये। उसके गुण अपने अन्दर धारण करनेसे उपासकको देवत्व प्राप्त हो सकता है।

जिस महान् पुरुषने यह सब विश्व बनाया, विराट्, राष्ट्रपुरुष और पुरुष ये जिसके बनाये हैं, वह मूल पुरुष सूर्यके समान महातेजस्वी है। उसको यथावत् जाननेसे ही उपासक मृत्युसे परे जा सकता है। उसको जाननेके विना मृत्युसे परे जानेका कोई दूसरा साधन नहीं है। इसलिये सब लोग इस आदि पुरुषको जाननेका प्रयत्न करें और मृत्युसे परे चले जांय अर्थात् मृत्युके भयको दूर करें।

सब लोग मृत्युसे डर रहे हैं। पर आत्मा अविनाशी है और देह नश्वर है। देह निर्बल हुआ, तो दूसरा देह प्राप्त करना होता है। इसलिये पुराना क्षीण देह त्यागना ही चाहिये। एक शरीर चला जाय, तो दूसरा अच्छा शरीर मिलता है, जीवात्मा एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर प्राप्त करता है। मृत्यु शरीरका होता है, आत्माका नहीं। फटे कपडे फेंककर दूसरे नये लिये, तो उसमें कुछ भी बुरा नहीं है। इसी तरह जीर्ण शरीरका त्याग किया और नया शरीर लिया, तो उसमें कोई बुरा नहीं। मृत्युसे परे होनेका अर्थ शरीरका अनन्त कालतक टिका रहना नहीं है। शरीर तो मरेगा ही। 'मैं अमर हूं' यह ज्ञान होना ही मृत्युभय दूर करनेवाला है।

परमात्माके गुणोंका अपने अन्दर धारण करनेसे अपना लाभ किस तरह होता है देखिये—

१ पुरुषः (पुरि-वस्)— यह विश्वरूप पुरिमें बसता है, व्यापता है, सर्वत्र है, वह मुझमें है और मेरे चारों ओर है।

२ महान्— बडा है, विशाल है, हीन नहीं है।

३ आदित्यवर्णः— सूर्यके समान प्रकाशमान है।

४ तमसः परस्तात्— अन्धकारसे परे है।

५ तमेव विदित्वा मृत्युं अत्येति— उस परमात्माको जाननेसे मृत्युका भय दूर होता है।

६ अयनाय अन्यः पन्था न विद्यते— उच्च अवस्थामें जानेके लिये दूसरा मार्ग नहीं है।

इन गुणोंको अपने अन्दर धारण करना चाहिये। मनको इन गुणोंसे परिपूर्ण भरकर रखना चाहिये। जितना अधिक मनको इन गुणोंसे भरकर रखा जाय, उतना अच्छा है। साधक इस गुणधारणाका अभ्यास करे। यही अभ्युत्थानके लिये करने योग्य अनुष्ठान है।

जिसमें सब भुवन रहे हैं, वह कभी न जन्मनेवाला परमात्मा, सब प्रजाका स्वामी है, वह सब पदार्थोंमें व्याप रहा है, वह कभी न जन्मनेवाला है तथापि अनेक उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें वह रहा है, इसलिये उन उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंके जन्मके साथ वह भी उत्पन्न हो रहा है, ऐसा साधारण मानवोंको प्रतीत होता है। परन्तु बुद्धिवान ज्ञानियोंको उसके मूल स्वरूपका ठीक तरह पता रहता है। वे उसको जन्म तथा विनाश रहित महान् आत्मा मानते हैं और उसीके शुद्ध स्वरूपका अपने मनसे मनन करते रहते हैं और इससे वे आनन्द प्राप्त करते हैं।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देव जिसके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं, जो सब देवोंके आगे अपनी शक्तिके कारण रहता है, जो सब देवोंके उत्पन्न होनेके पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है वह ब्रह्म प्रकाश है, उसके लिये मेरा नमस्कार हो।

ब्रह्मज्ञान प्रकट करनेवाले ज्ञानियोंने पहिलेसे ही ऐसा कहकर रखा है कि, जो ज्ञानी इस ब्रह्मपुरुषको यथावत् जानता है, उसके वशमें सब इन्द्रियगण–सब देव–सब देवतांश रहते हैं। ब्रह्मज्ञान जिसके समझमें यथावत् आ गया है, उसके आधीन उसके सब इन्द्रिय रहते हैं। इन्द्रियस्थानोंमें देवताएं रहती हैं, वे सब देव उसके आधीन रहते हैं। उसकी इंद्रियां उसकी इच्छाके बाहर मनमाना दुराचार नहीं करती। सदा उसके आधीन रहती हैं।

संपत्ति और शोभा ये ईश्वरकी सहचारिणियां हैं। उसके साथ ये रहती हैं। दिन और रात्री उनकी दो बाजुएं हैं, ईश्वरका कालस्वरूप इनसे दिखाया है। नक्षत्र उसका प्रकाशस्वरूप है। पृथिवी और द्युलोक यह उसका खुला मुख है। ऐसे इस ईश्वरमें मैं रहा हूं। वह मेरे अन्दर, बाहर, चारों ओर है। उससे मैं मांगता हूं कि मुझे सर्व श्रेष्ठ लोक प्राप्त हो। मेरे ऐसे शुभ कर्म हों कि जिनके बलसे मुझे उत्तम लोक प्राप्त हो।

॥ इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ १ ॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ २ ॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः❀ ॥ ३ ॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ ४ ॥

[१६८०] (तत् एव अग्निः) वह ही अग्नि, (तत् आदित्यः) वह ही आदित्य, (तत् वायुः) वह ही वायु, (तत् उ चन्द्रमाः) वह निश्चयसे चंद्रमा है । (तत् एव शुक्रं) वह ही शुक्र अर्थात् शुद्ध और पवित्र है; (तत् ब्रह्म) वह ही ब्रह्म है, (ताः आपः) वह ही आप् अर्थात् जल है और (सः प्रजापतिः) वह ही प्रजापति है ॥ १ ॥

अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति इन शब्दोंद्वारा निश्चयसे उसी परमात्माका बोध होता है ॥ १ ॥

[१६८१] (वि-द्युतः) विशेषतेजस्वी और (पुरुषात्=पुर्-उषात्) सृष्टिमें पूर्ण व्यापक परमात्मासे (सर्वे) सब (नि-मेषाः) निमेष आदि कालके अवयव (जज्ञिरे) हो गये हैं। कोई भी (एनं) इस परमात्माका (न ऊर्ध्वं) न उपर, (न तिर्यञ्चं) न तिरछा (न मध्ये) न मध्यभागमें (परि-जग्रभत्) पूर्णतासे ग्रहण कर सकता है ॥ २ ॥

कालके सब अवयव और सब गति उसी तेजस्वी सर्वव्यापक परमात्मासे प्रकट हो रही है । परंतु उस परमात्माको कोई भी ठीक प्रकार अर्थात् अच्छी प्रकारसे–नहीं जानता ॥ २ ॥

[१६८२] (यस्य) जिसका (महत्) महान् (नाम) प्रसिद्ध (यशः) यश है, (तस्य) उस परमात्माकी कोई (प्रति-मा) प्रतिमा अथवा उपमा (न अस्ति) नहीं है। (हिरण्य-गर्भ इति एषः) 'हिरण्यगर्भ' आदि मंत्रोंद्वारा तथा, (मा मा हिंसीत् इति एषा) 'मा मा हिंसीत्' इस मंत्रसे, और (यस्मात् न जातः इति एषः) 'यस्मान्न जात' इन मंत्रोंसे उसका वर्णन होता है ॥ ३ ॥

इन उक्त मंत्रोंद्वारा जिसके महान् प्रसिद्ध यशका गायन हुआ है उस आत्माकी कोई प्रतिमा अथवा उपमा नहीं है ॥ ३ ॥

[१६८३] (ह) निश्चयसे (एषः देवः) यह देव अर्थात् दिव्य परमात्मा (सर्वाः प्रदिशः) सब दिशा उपदिशाओंमें (अनु) साथ साथ रहता है। (सः ह) वही निश्चयसे (पूर्वः) सबसे प्राचीन (जातः) बना था। (सः उ) वह निश्चयसे (गर्भे अन्तः) गर्भके बीचमें है। (स एव जातः) वह बना हुआ है, और निश्चयसे (स) ह वही सदा (जनिष्यमाणः) बननेवाला है। हे (जनाः) लोगो, वह परमात्मा (सर्वतः-मुखः) सर्वत्र मुख आदि अवयवोंकी शक्तियोंको धारण करनेवाला (प्रत्यङ्-प्रति अंचति) प्रत्येक पदार्थमें (तिष्ठति) रहता है ॥४॥

❀ 'हिरण्यगर्भः' इत्येषोऽनुवाकः। (वा. य. २५।१०-१३); 'मा मा हिंसीत्' इत्येषा ऋक् (वा. य. १२।१०२); 'यस्मान्न जातः' इत्येषोऽनुवाकः। (वा. य. ८।३६-३७)

यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ ५ ॥
येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
आपो ह यद्बृहती—र्यश्चिदापः+ ॥ ७ ॥

वह दिव्य परमात्मा सब दिशा उपदिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह सबसे प्राचीन है। जो बना है और जो बननेवाला है वह वही है। वह सबके बीचमें व्यापक है। वह जैसा इस समय सर्वत्र उपस्थित है, वैसाही आगे भी रहेगा। वह मुख आदि अवयवोंकी शक्तियोंको प्रत्येक पदार्थमें व्यापक रहता हुआ, धारण करता है ॥ ४ ॥

[१६८४] (यस्मात् पुरा) जिसके पूर्व (किं च न एव) कुछ भी (न जातं) नहीं बना था। परंतु (यः) जो (विश्वानि भुवनानि) सब भुवन (आ-बभूव) बना है। (प्रजा-पतिः) सब प्रजाओंका एक स्वामी (प्रजया) प्रजाके साथ (सं-रराणः) रहनेवाला और (षोडशी) सोलह कलाओंसे युक्त होता हुआ (सः) वह परमात्मा (त्रीणि ज्योतीषि) तीनों तेजोंको (सचते) धारण करता है ॥ ५ ॥

जिसके पूर्व कुछ भी नहीं बना था, परंतु जो सब कुछ बना है, वह सोलह कलाओंसे युक्त परमात्मा, सबका सच्चा स्वामी है। वह सबके साथ साथ रहता हुआ तीन तेजोंको धारण करता है ॥ ५ ॥

[१६८५] (येन) जिसने (द्यौः) द्युलोक (उग्रा) तेजस्वी बनाया, और (च पृथिवी) भूमि (दृढा) सख्त बनाई है। (येन) जिसने (स्वः) प्रकाश (स्तभितं) स्थिर किया और (येन नाकः) जिसने सुख और आनंद प्रदान किया है। (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाशमें (रजसः) लोकोंको (वि-मानः) निर्माण करता है, उस (क-स्मै) आनंदस्वरूप (देवाय) देव अर्थात् परमात्माके लिये ही (हविषा) अर्पणद्वारा पूजा (विधेम) हम सब करते हैं ॥ ६ ॥

जिसने द्युलोक प्रकाशमय बनाया और पृथिवी ऐसी सख्त बनाई, जिसने तेज और आनन्द प्रदान किया, और जिसने आकाशमें नाना लोकोंको निर्माण किया, उस आनंद स्वरूप आत्माकी ही हम सबको पूजा करनी चाहिए। उसके स्थानपर किसी अन्यकी पूजा करनी योग्य नहीं ॥ ६ ॥

[१६८६] (अवसा) बलसे (तस्तभाने) स्थिर रखे हुए परंतु वास्तवमें (रेजमाने) चलायमान, गतिमान, कांपनेवाले अथवा तेजस्वी (क्रंदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक (मनसा) मननशक्तिसे (यं) जिसको (अभि-ऐक्षेतां) देखते हैं, और (यत्र) जिसमें (उदितः सूरः) उदयको प्राप्त हुआ सूर्य (अधि वि भाति) विशेष प्रकाशित होता है, उस (कस्मै) आनंदमय (देवाय) परमात्माके लिये (हविषा) अर्पणद्वारा हम सब पूजा (विधेम) करें अथवा करते हैं। 'आपा ह यद्बृहतीः' और 'यश्चिदापः' इन दो मंत्रोंसे उस परमात्माका वर्णन होता है ॥ ७ ॥

जिसकी शक्तिसे स्थिर रहे हुए, परंतु जिसके डरसे कांपनेवाले अथवा चलनेवाले द्युलोक और पृथिवीलोक-और इनमें रहनेवाले ज्ञानी मनुष्य-मननशक्तिद्वारा जिसको सर्वत्र देखते हैं; और जिसमें सूर्यके समान तेजस्वी गोलोंका उदय होकर प्रकाश होता है, उस मंगलस्वरूप परमात्माकी पूजा हम सबको करनी चाहिए। उसके स्थानपर किसी अन्यकी उपासना करनी उचित नहीं ॥ ७ ॥

+ 'आपो ह यद्बृहतीः'; 'यश्चिदापः'। (वा. य. २७।२५-२६)

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदंꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ ८ ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ ९ ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १० ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥

[१६८७] (वेनः) ज्ञानी मनुष्य (तत्) वह ब्रह्म (गुहा निहितं) गुप्तस्थानमें अथवा बुद्धिमें रहा हुआ, तथा (सत्) त्रिकालाबाधित-नित्य है ऐसा (पश्यत्) देखता है। (यत्र) जिस ब्रह्ममें (विश्वं) सब जगत् (एकनीडं) एक आश्रयको (भवति) प्राप्त होता है। (तस्मिन्) उस ब्रह्ममें (इदं सर्वं) यह सब जगत् (सं-एति च) एकत्रित होता है और (च वि-एति) पृथक् भी होता है। (सः) वह परमात्मा (प्रजासु) सब प्रजाओंमें (वि-भूः) व्यापक है, और (ओतः प्रोतः च) ओत प्रोत हुआ है ॥ ८ ॥

ज्ञानी मनुष्य उस परमात्माको, प्रत्येक पदार्थमें छिपा हुआ, नित्य, सबका एक आश्रय, उत्पत्तिके समय सबका संयोग करनेवाला और प्रलयमें सबका वियोग करनेवाला सब बने हुए जगत्में व्यापक और कपडेमें ताने और बानेके समान सर्वत्र भरा हुआ जानता और अनुभव करता है ॥ ८ ॥

[१६८८] (विद्वान्) ज्ञानी (गं-धर्वः) वाणीका प्रेरक (नु) निश्चयसे (तत् अ-मृतं) उस अमर ब्रह्मका (प्र-वोचेत्) प्रवचन, वर्णन कर सकता है। उस ब्रह्मका (सत् धाम) सत्य स्थान (गुहा) बुद्धिमें (वि-भृतं) शोभता है। (अस्य) इसके (त्रीणि पदानि) तीन पद (गुहा निहितानि) बुद्धिमें रखे हैं। (यः) जो (तानि वेद) उनको जानता है (स) वह ज्ञानी (पितुः पिता) पालकका भी पालक (असत्) होता है ॥ ९ ॥

आत्मज्ञानी वक्ता उस ब्रह्मका स्वरूप वर्णन कर सकता है। उसका उत्तम स्थान हृदयमें सुशोभित हुआ है। जो बुद्धिमें रखे हुए इसके तीनों पदोंको जानता है, वह पालकोंका भी पालक बनता है ॥ ९ ॥

[१६८९] (नः) हम सबका (सः) वह परमात्मा (बन्धुः) भाई, और (जनिता) उत्पादक है। (सः) वह (वि-धाता) विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है। वह (विश्वानि भुवनानि) सब सृष्टिके सब (धामानि) स्थान (वेद) जानता है। (यत्र तृतीये धामन्) जिस तीसरे स्थानमें (अ-मृतं आनशानाः) अमरपनका अनुभव करनेवाले (देवाः) ज्ञानी (अध्यैरयन्त) स्वेच्छासे विचरते हैं ॥ १० ॥

हम सबका वह परमात्मा भाई, जनक और पोषक है। वह सब जगत्‌का सब स्थानोंको जानता है। अमरपनका अनुभव करनेवाले ज्ञानी लोग प्रकाशमय आनंदके स्थानमें, अर्थात् उस आनंदस्वरूप परमात्मामें, स्वेच्छासे विचरते हैं ॥ १० ॥

[१६९०] (भूतानि परीत्य) सब भूतोंको जानकर (लोकान् परीत्य) सब लोकोंको जानकर (सर्वा दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंको जानकर (ऋतस्य) सत्य नियमके (प्रथम-जां) पहिले प्रकाशकको (उप-स्थाय) उपासना करके (आत्मना) केवल आत्मस्वरूपसे ही (आत्मानं) परमात्मामें ज्ञानी (अभि-सं-विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता है ॥ ११ ॥

सब प्राणिमात्रोंमें, सब पंचभूतों, सब लोकलोकान्तरों और सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले पदार्थोंको यथावत् जानकर, तथा सत्य नियमके पहिले प्रकाशक परमात्माकी उपासना करके ज्ञानी भक्त केवल आत्म-स्वरूपसे परमात्मामें प्रविष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ १२ ॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥ १३ ॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १४ ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ १५ ॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ १६ ॥

[अ० ३२, कं० १६, मं० सं० १६]

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः ।

[१६९१] (सद्यः) तत्काल (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीके बीचके सब पदार्थोंको (परि इत्वा) जानकर, (लोकान् परि इत्वा) सब लोकोंको जानकर, (दिशः परि इत्वा) दिशाओंको जानकर, (स्वः परि इत्वा) आत्मप्रकाशको जानकर, (ऋतस्य) अटल सत्यके, (विततं तन्तुं) फैले हुए सूत्रको (वि-चृत्य) अलग करके, जब (तत् अपश्यत्) उसको देखता है, तब (तत् अभवत्) वैसा बनता है, जैसा कि (तत् आसीत्) वह था ॥ १२ ॥

जब ज्ञानी आकाशसे पृथिवीतकके सब पदार्थोंको, सब सूर्यादि गोलोंको, और सब दिशाओंमें रहनेवाले सब पदार्थोंको तथा आत्मशक्तिको जानता है, और सब सत्यके विस्तृत सूत्रको अर्थात् सूत्रात्माका अनुभव करने लगता है, तब उस ब्रह्मको साक्षात् करता है, और वैसा बनता है, जैसा कि पहिले था ॥ १२ ॥

[१६९२] (इन्द्रस्य प्रियं) जीवात्माके प्रियमित्र, (काम्यं) प्राप्तव्य, और (अद्भुतं) विलक्षण (सदसः पतिं) विश्वके स्वामीके पास (सनिं) योग्य उपभोगको और (मेधां) उत्तम बुद्धिकी (अयासिषम्) याचना करता हूं । (स्वाऽऽहा) आत्मार्पण ॥ १३ ॥

सबको प्राप्त करने योग्य, अद्भुत और जीवात्माके प्रिय मित्र जगदीश्वरके पास हम सबकी प्रार्थना है कि, वह हम सबको योग्य उपभोगके पदार्थ और उत्तम बुद्धि दे । मैं आत्मार्पण करता हूं ॥ १३ ॥

[१६९३] (देव-गणाः) विद्वानोंके समूह और (पितरः) रक्षकोंके समूह (यां मेधां) जिस उत्तम बुद्धिकी (उपासते) पूजा करते हैं । हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर ! (तया मेधया) उस बुद्धिसे (अद्य मां) आज मुझे (मेधाविनं) बुद्धिमान् (कुरु) करो । (स्वाऽऽहा) आत्मार्पण ॥ १४ ॥

हे ईश्वर ! ज्ञानी और रक्षक जिस प्रकारकी बुद्धि चाहते हैं, उस प्रकारकी बुद्धिसे मुझे युक्त करो । मैं आत्मार्पण करता हूं ॥ १४

[१६९४] (वरुणः) श्रेष्ठ ईश्वर ! (मे मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि (ददातु) दे । (प्रजापतिः अग्निः) प्रजापालक तेजस्वी ईश्वर (मेधां ददातु) मुझे उत्तम बुद्धि दे । (च च) और (इन्द्रः वायुः) परम ऐश्वर्यवान् और गति करनेवाला ईश्वर (मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि प्रदान करे । (धाता) धारक ईश्वर (मे मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि (ददातु) प्रदान करे । (स्वाऽऽहा) आत्मार्पण ॥ १५ ॥

सबसे श्रेष्ठ, प्रजापालक, तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, प्रेरक और सबका आधार ईश्वर मुझे उत्तम बुद्धि प्रदान करे । मैं आत्मार्पण हूं १५

[१६९५] (मे इदं ब्रह्म) मेरा यह ज्ञानतेज (च मे इदं क्षत्रं) और मेरा यह क्षात्रतेज (च उभे) ये दोनों (श्रियं) शोभाको (अश्नुतां) प्राप्त हों । (देवाः) विद्वान् अथवा दिव्यगुण (मयि) मुझमें (उत्तमां श्रियं) उत्तम शोभाको (दधतु) धारण करें । (तस्यै ते) उस तेरे लिये (स्वाऽऽहा) आत्मार्पण ॥ १६ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय, ज्ञान और शौर्य, मिलकर उत्तम तेजस्विताकी प्राप्ति करें । सब उत्तम विद्वान् और सब उत्तम सद्गुण मुझमें तेजकी स्थापना करें । उस तेजकी प्राप्तिके लिये तुम आत्मार्पण करो ॥ १६ ॥

यजुर्वेदका स्वाध्याय-स्पष्टीकरण

मंत्र १

(१) अनेक नामोंद्वारा एक ईश्वरका बोध

' अग्नि, आदित्य, वायु, चंद्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति आदि नामोंसे वही एक परमात्मा ज्ञात होता है। ' यह आशय पहिले मंत्रका है। वेदमें आनेवाले ' अग्नि वायु ' आदि अनेक नामोंसे भिन्न भिन्न देवोंका बोध लेना है, अथवा अनेक नामोंसे एक ही देवताका बोध लेना है, इस शंकाका उत्तर इस प्रथम मंत्रने दिया है जिस प्रकार एकही पुरुषको पिता, भाई आदि गुणबोधक अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, तथापि इन अनेक शब्दोंसे उस एकही व्यक्तिका बोध होता है; उसी प्रकार ' अग्नि, वायु ' आदि अनेक गुण-बोधक शब्दोंसे एकही परमात्माका बोध होता है। इसलिये भिन्न नामोंके भ्रमसे अनेक-देवता-वादमें फंसना किसीको भी उचित नहीं। यही बात ऋग्वेदमें भी कही है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ, १।१६४।४६)

(अथर्व ९।१०।२८); (निरुक्त. ७।१८, १४।१); (ऋग्विधा. १।२५।७) (बृहद्देवता ४।४२)

' एक ही सत् स्वरूप परमात्माको (विप्राः) ज्ञानीलोग (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकारसे बोलते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् , सत्, यम, मातरिश्वा आदि नामोंसे एक ही परमात्माका वर्णन करते हैं। ' इस ऋग्वेदमंत्रका भाव और उक्त यजुर्वेद मंत्रका आशय एक ही है। भिन्न-देवता-वादकी कल्पना वेदके अर्थ करनेके समय मनमें नहीं रखनी चाहिए। इसी हेतुसे अथर्ववेदने कहा है—

ईश्वरके एकत्वका निश्चय।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ १८ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥२०॥
सर्वे अस्मिन् देवता एकवृतो भवंति ॥ २१ ॥
(अथर्व. १३।४।१६-२१)

' वह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम, आदि अनंत संख्यासे (न उच्यते) कहा नहीं जाता। (इदं) यह संपूर्ण जगत् (तं निगतं) उसमें निःशेष गया है। अर्थात् उसीमें है। वह (सहः) सहन शक्तिसे युक्त अर्थात् अत्यंत बलवान है। (स एषः एकः) वह एक ही है। (एक-वृत्) केवल एक ही है। (एकः एव) निश्चयसे एक है। सब (देवाः) तेजस्वी पदार्थ इसमें (एक-वृतः) केवल एक बनकर रहते हैं। '

लिंगभेद और वचन भेद

इस प्रकार एक ईश्वरकी कल्पना सब वेदके भागोंमें है। इस यजुर्वेदके मंत्रमें (१) अग्नि, आदित्य, वायु, चंद्र, प्रजापति शब्द पुल्लिंग हैं। (२) आपः शब्द स्त्रीलिंग है और (३) शुक्र और ब्रह्म शब्द नपुंसकलिंग हैं। ये तीनों लिंगोंके शब्द एक ही परमात्माके लिये आये हैं, यह बात विशेष मनन करने योग्य है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि, शब्दोंके लिंगभेदसे उद्दिष्टका भेद नहीं होता। देखिये —

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
ब्रह्मा	——	ब्रह्म
देवः	देवी	दैवतम्
कालः	काली	——
यमः	यमी	——
इन्द्रः	इन्द्राणी	——
सः	सा	तत्
एकः	एका	एकं

आदि शब्द तीनों लिंगोंमें रहते हुए एक ही परमात्माके वाचक बने रहते हैं। जिस प्रकार लिंगभेदके कारण कोई उद्दिष्ट भेद नहीं होता, उसी प्रकार वचनभेदके कारण भी कोई उद्दिष्ट भेद नहीं होता।

प्रजापतिः - शब्द एकवचनी है ।
अश्विनौ — शब्द द्विवचनी है ।
आपः शब्द बहुवचनी है ।

परंतु उक्त मंत्रोंके आधारसे ये तीनों वचनोंके शब्द उसी एक अद्वितीय परमेश्वरके बोधक होते हैं। अर्थात् मंत्रोंमें लिंगभेद और वचनभेद होनेपर भी उद्दिष्ट एक ही परमात्माका बोध सब शब्द करते हैं। अब देखना है कि, इन भिन्न नामोंसे क्या क्या भाव लेना है—

ईश्वरके गुणबोधक नाम ।

(१) अग्निः — अग्रणी, नेता, चलानेवाला, तेजस्वी, ज्ञानी, परमेश्वर ।

(२) आदित्यः — (आ-ददाति) जो सबका आदान-स्वीकार-करता है अर्थात् जिसने सबको पकड रखा है। अथवा 'अदिति' अर्थात् अ-बद्ध, मुक्त, स्वतंत्र अवस्थाका भाव आदित्यसे जाना जाता है, जो नित्यमुक्त है।

(३) वायुः — (वा-गतिगंधनयोः) गति देनेवाला, संचालक ।

(४) चंद्रमाः — (चदि-आल्हादे) आनंद देनेवाला।

(५) शुक्रं — स्वच्छ, निर्दोष, वीर्य और बलयुक्त

(६) आपः — (आप्नोति व्याप्नोति वा) सर्वत्र प्राप्त और सब स्थानोंमें व्यापक होनेवाला ।

(७) ब्रह्म — (बृहत्वात्, बृंहणत्वाद् वा) सबसे बडा अथवा सबको घेरनेवाला ।

(८) प्रजा-पतिः — प्रजापालक, जगत्पालक सबका पालनकर्ता ।

(९) इन्द्रः — परम ऐश्वर्यवान्, स्वामी, सबका अधिपति ।

(१०) मित्रः — सबका मित्र, सबका हितकर्ता ।

(११) वरुणः — श्रेष्ठ, वरिष्ठ ।

(१२) दिव्यः — अद्भुत, तेजस्वी, श्रेष्ठ ।

(१३) सु-पर्णः — (सु-पूर्णः) सब स्थानोंमें उत्तमतासे परिपूर्ण ।

(१४) गुरुत्मान् — (गुरु-मान्, गरिमन्) गुरुत्वयुक्त, श्रेष्ठ ।

(१५) एकः — जो अ-द्वितीय अर्थात् अकेला एकही है ।

(१६) सत् — जो सदा एक समान रहता है ।

(१७) यमः — (नियमकर्ता) सब जगतका नियंता, नियामक ।

(१८) मातरिश्वा — (मातरि आकाशे श्वसिति निवसति) सब आकाशमें रहनेवाला अर्थात् सर्वव्यापक ।

(१९) सहः — बलवान् ।

(२०) एक-वृत् — सदा अकेला ही रहनेवाला ।

(२१) तत् — (तन्) विस्तृत अथवा व्यापक । वह ईश्वर । प्रसिद्ध ।

इस प्रकार अन्य नामोंके विषयमें भी जानना चाहिए । अर्थात् ये सब नाम उसी एक ईश्वरके अनेक गुणोंका प्रकाश करते हैं। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब द्वितीय मंत्र देखेंगे—

मंत्र २

(२) उसीसे सब गति होती है ।

'उसी विशेष तेजस्वी पुरुषसे (कालके अवयव और) सब गति होती है। परंतु इसको ऊपर, नीचे अथवा बीचमें सब प्रकारसे कोई भी यथावत् जान नहीं सकता' ॥ २ ॥

इस द्वितीय मंत्रमें 'निमेष' शब्द आता है, जिसका अर्थ समयका हिस्सा है। हलचल, गति भी उसका एक अर्थ है, स्वभावसे जो आंखोंके पडदे उघडते ढकते हैं, उस प्रकारकी गतिके लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है। इस आंखोंके पडदोंकी गतिसे काल गिना जाता है। इसलिये काल और गति ये दोनों साथ साथ रहते हैं। आंखोंके पडदोंका हिलना प्राण-जीवन-रहनेतक ही रहता है, इसलिये 'नि-मेष' शब्द 'प्राण, जीवन' का बोधक होता है। सब जीवनकी कलाएं उसीसे प्रकट होती हैं। क्योंकि वह प्राणका भी प्राण है। इसी प्रकार विश्वकी सब गति उसीसे प्रेरित होती है।

तदेजति तन्नैजति ॥ (यजु. ४०।५; ईशोपनिषद् । ५)

'वह (एजति-एजयति) सबको हिलाता है, परंतु वह स्वयं नहीं हिलता।' यह ईशोपनिषद्का वचन यहां देखने योग्य है। यह परमात्मा सर्वत्र है, अग्नि आदि पदार्थोंमें उसीकी शक्ति कार्य कर रही है। सूर्यादि गोल उसीकी प्रेरणासे घूम रहे हैं। वायु उसीके जोरसे बहता है। इस प्रकार सर्वत्र उसकी शक्ति कार्य कर रही है, परंतु उसको पूर्णतासे कोई नहीं जानता। इसलिये कहा है—

अनेजदेकं मनसा जवीयः नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ (यजु. ४०।४; ईशो. ४)

'वह (अन्-एजत्) न हिलनेवाला (एकं) एक ईश्वर मनसे भी वेगवान् है। (एनत्) इस ईश्वरको (देवाः) इंद्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं, अर्थात् इंद्रियोंसे यह जाना नहीं जाता। यह (पूर्वं) प्राचीन, सनातन और (अर्षत्) प्रेरक है। वह दूसरे (धावतः) दौडनेवालोंसे भी (अति एति) अतिदूर जाता है और उसीमें रहनेवाला (मातरिश्वा) माताके गर्भमें रहनेवाला जीव अपने (अपः) कर्मोंको धारण करता है।'

देव शब्दके अन्य अर्थ 'विजयकी इच्छा करनेवाले, व्यवहारचतुर, तेजस्वी, सुंदर, संचालक, विद्यावान् लोग' हैं। इनसे भी ईश्वर जाना नहीं जाता। उसको जाननेके लिये विशेष प्रकारका जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस मंत्रमें आये हुए शब्दोंके अर्थ--

(१) वि-द्युत्— विशेष तेजस्वी।

(२) पुरुषः— (पुर्-उष्। पुर्-वस) शरीररूपी पुरीमें रहनेवाला जीवात्मा। तथा सब विश्वरूपी पुरीमें रहनेवाला परमात्मा।

अस्तु। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका विचार करनेके पश्चात् तृतीय मन्त्र देखिए—

मंत्र ३

(३) उसकी कोई प्रतिमा नहीं।

'जिसका यश महान् है, उस एक ईश्वरके लिये कोई उपमा अथवा प्रतिमा नहीं। उसका वर्णन (१) हिरण्यगर्भ० (२) मामा हिंसीत्०, (३) यस्मान्न जात०, इन मंत्रोंमें हुआ है ॥ ३ ॥'

उस परमेश्वरके लिये कोई उपमा नहीं, न उसकी कोई प्रतिमा है। उसका वर्णन जिन मंत्रोंसे होता है उन मंत्रोंका अर्थ नीचे दिया है—

(१) हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥ स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥
(ऋ. १०।१२१।१; यजु. १३।४; २३।१)

'(हिरण्य-गर्भः) तेजस्वी पदार्थोंको अपने गर्भ-उदरमें धारण करनेवाला परमात्मा (अग्रे) सृष्टिके पहले भी (सं अवर्तत) था। वह (भूतस्य) उत्पन्न हुई सृष्टिका (एकः जातः पतिः) एकही प्रसिद्ध स्वामी है। इसीने पृथिवी और यह द्युलोक धारण किया है। उस (कस्मै देवाय) आनंदस्वरूप देवताके लिये (हविषा) आत्मार्पण द्वारा हम सब पूजा (विधेम) करते हैं।' हविका अर्थ अर्पण अर्थात् जो दान अथवा त्याग किया जाता है। दानसे उसकी पूजा करनी है। अपने आपको उसके लिये पूर्णतया अर्पण करना ही उसकी पूजा है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ॥ य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥
(ऋ. १०।१२१।३; यजु. २३।३)

'जो (प्राणतः) प्राण धारण करनेवाले (निमिषतः) हलचल करनेवाले (जगतः) जगत्का (एकः राजा) एकही सम्राट् (महित्वा) अपनी महान् शक्तिके कारण (बभूव) है, और जो द्विपाद और चतुष्पादोंका (ईशे) एक स्वामी है, उस आनंद स्वरूप देवताको अर्पणद्वारा हम सब पूजा करते हैं।'

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः ॥ यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहूः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
(ऋ. १०।१२१।४ यजु. २५।१२; तै. सं. ४।१।८।४)

'ये हिमवान पर्वत और (रसया) नदीके साथ समुद्र जिसकी (महित्वा) महान शक्ति बता रहे हैं, और इन दिशा उपदिशाओंमें जिसके बाहू रक्षणका कार्य कर रहे हैं, उस आनंदमय परमात्माकी पूजा आत्मार्पण द्वारा हम सब करें।'

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ॥ यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋ. १०।१२१।२; अथ. ४।२।१; १३।३।२४. यजु. २५। १३; तै. सं ४।१।८।४; ७.५।१७।१)

'जो (आत्म-दा) आत्मिक शक्ति देनेवाला, (बल-दा) बल देनेवाला है, और जिसके (प्रशिषं) शासनका (विश्वे देवाः) सब विद्वान् (उपासते) पालन करते हैं। जिसकी छायामें रहना अमरपन है और जिससे अलग होना मृत्यु है,

उस आनंदमय परमात्माकी हम सब आत्मार्पण द्वारा पूजा करें ॥' ज्ञानसे उसके आश्रयमें रहना ही मुक्ति है और उसकी पर्वाह न करके व्यवहार करना मृत्यु है।

(२) मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा
दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट् ॥ यश्चापश्चंद्राः
प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥
(ऋ. १०।१२१।९; यजु. १२।१०२; ३२।३;
तै. सं. ४।२।७।१)

' (यः सत्य-धर्मा) जो अटल नियमोंको धारण करता है, और जो (दिवं व्यानट्) द्युलोकको बनानेवाला है तथा जो पृथिवीका जनक है, वह (मा) मुझे (मा हिंसीत्) कष्ट न दे। (यः च प्रथमः) और जो सबसे पहिला देव (चंद्राः) आनंददायक पदार्थोंको तथा (आपः) जल आदि पदार्थोंको (जजान) बनाता है, उस आनंददायक देवकी आत्मार्पणसे पूजा हम सब करें।'

' व्यानट् ' शब्दका मूल अर्थ ' व्यापता है ' ऐसा है। परंतु शतपथ ब्राह्मणमें इसी मंत्रका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार किया है—

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या इति। प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा हिंसीत् प्रजापतिरित्येतत्। यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानड् इति। यो वा दिवं सत्यधर्माऽसृजतेत्येतत्। यश्चापश्चंद्राः प्रथमो जजानेति। मनुष्या वा आपश्चन्द्रा यो मनुष्यान् प्रथमो असृजतेत्येतत्। कस्मै देवाय हविषा विधेमेति। प्रजापतिर्वै कः। तस्मै हविषा विधेमेत्येतत् ॥ ६ ॥
(शत. ७।३।१।२०)

इसमें ' व्यानट् ' का अर्थ ' असृजत ' अर्थात् ' उत्पन्न किया ' ऐसा दिया है, और ' आपः चंद्राः ' का अर्थ ' मनुष्य ' ऐसा दिया है, क्योंकि मनुष्य ही आनंद लेनेवाले हैं। ' कस्मै ' का अर्थ ' प्रजापति परमेश्वरके लिये ' ऐसा यहां स्पष्ट कहा है। यही मंत्र ऋग्वेदमें थोडे पाठभेदसे आता है—

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं
सत्यधर्मा जजान ॥ यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (ऋ. १०।१२१।९)

उक्त यजुर्वेदके मंत्रके स्थानमें ऋग्वेदमें यह मंत्रपाठ है। ' मा मा हिंसीत् ' के स्थानपर ' मा नो हिंसीत् (हम सबकी हिंसा न करें) ' ऐसा पाठ तथा ' सत्यधर्मा व्यानट् ' के स्थानपर ' सत्यधर्मा जजान ' ऐसा पाठ है। प्रतीत होता है कि ' व्यानड् ' का ' असृजत ' ऐसा जो अर्थ शतपथके उक्त वचनमें है, उसका संबंध ऋग्वेदके पाठसे है। तीसरे चरणमें ' बृहतीः (बडी) ' शब्द ' चन्द्रः ' का विशेषण है परंतु इसके स्थानपर यजुर्वेदमें ' प्रथमः (पहिला) ' शब्द ' सत्यधर्मा ' ईश्वरका विशेषण है। इस प्रकार पाठ-भेदोंका विचार है। अब तीसरे प्रतीकका अर्थ देखिए—

(३) यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश
भुवनानि विश्वा ॥ प्रजापतिः प्रजया सꣳरराण-
स्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥
(यजु. ८।३६)

' (यस्मात्) जिससे (परः अन्यः) दूसरा कोई भी बडा (न जातः) बना नहीं है, और जो सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है, वह प्रजाओंका पालक (प्रजया संरराणः) प्रजाओंके साथ रमता और रहता हुआ, वह (षोडशी) सोलह कलाओंसे युक्त ईश्वर (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों तेजोंको (सचते) धारण करता है।' इस मंत्रका उत्तरार्ध पूर और पूर्वार्ध थोडे फरकसे यजुर्वेदके इसी ३२ अध्यायमें मंत्र ५ में आया है। इसलिये उनका विशेष विचार मंत्र ५ के विचारके समय करेंगे। अब इस प्रतीतका अगला मंत्र देखना है—

इन्द्रश्च सम्राड्वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतु-
रग्र एतम् ॥ तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी
जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥
(यजु. ८।३७: तै. ब्रा. ३।७।९।७)

' इन्द्र सम्राट् है और वरुण मांडलिक राजा है। ये दोनों (ते एतं भक्षं) तेरा यह अन्न (अग्रे चक्रतुः) सबसे पहिले बनाते रहे। (अहं) मैं (तयोः भक्षं) उनका अन्न (अनु-भक्षयामि) उनके पश्चात् खाता हूं। (जुषाणा) सेवा की हुई (वाग्देवी) भगवती वाणी प्राणके साथ (सोमस्य) शांत पुरुषको तृप्त करे। (स्वा-हा) अपना अर्पण करें।'

इन्द्र बलका और वरुण वरिष्ठता अर्थात् श्रेष्ठताका प्रतिनिधि है। इस विश्वमें ' बल ' सम्राट् है और ' श्रेष्ठत्व ' उसका मांडलिक राजा है। प्रत्येक सद्गुणमें विशेष उन्नति साधन करना श्रेष्ठत्वका तात्पर्य है। बल और श्रेष्ठत्व ये दो राजा इस दुनियामें अन्न अर्थात् भोग प्राप्त कराते हैं। जो यह जानता है, वह भोग प्राप्त होनेपर, उस भोग्यको प्रथम अपनी बलवृद्धिके लिये और श्रेष्ठत्व रक्षणके लिये

अर्पण करके, बादमें स्वयं भोगता है। अर्थात् बल और श्रेष्ठत्वको बढाता हुआ भोगोंको भोगता है। तथा वह पुरुष वाणीदेवीकी अर्थात् विद्यादेवीकी उपासना करके, अपने शांत स्वभावको सदा तृप्त रखता है। यह सब साध्य होनेके लिये बडे आत्मार्पण (अर्थात् खुदगर्जीको छोडने) की बडी आवश्यकता है।

इस प्रकार इन तीन प्रतीकोंके सात मंत्रोंका अर्थ है। **(१) 'हिरण्यगर्भः, (२) मा मा हिंसीत्, (३) यस्मान्न जातः' ये तीन प्रतीक क्रमसे ४, १, २ मंत्रोंके सूचक हैं। अस्तु।**

इस मंत्रमें कहा है कि 'उसकी कोई प्रतिमा नहीं है।' इसके साथ निम्न अथर्ववेदके मंत्र देखने योग्य हैं—

प्रतिमा, उपमा, और प्रतिमान।

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः। (अथर्व. ८।९।६)

'(वैश्वा-नरस्य) विश्वके नेता ईश्वरकी (प्रतिमा) प्रतिमा इतनी है, कि (यावत् द्यौः) जितना द्युलोक ऊपर है, और जितना (रोदसी) ऊपर ले और निचले आकाशमें (अग्निः) अग्निने (वि-बबाधे) अंतर बनाया है।' तथा—

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युद्ध्यमाना अवसे हवन्ते ॥ यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥
(ऋ. २।१२।९; अथर्व २०।३४।९)

'हे (जनासः) लोगो ! (यस्मात् ऋते) जिसको छोडकर (जनासः) लोग (न विजयन्ते) विजयको नहीं प्राप्त होते, और (युद्धमानाः) लडनेवाले (अवसे) रक्षणके लिये (यं हवंते) जिसकी प्रार्थना करते हैं। और जो विश्वकी प्रतिमा (बभूव) हो गया है और जो (अच्युत-च्युत्) स्वयं न हिलता हुआ दूसरोंको हिलाता है (स इन्द्रः) वह इन्द्र अर्थात् सब जगतका एक राजा है!'

इन दो मंत्रोंमें जगतके बराबर उस परमात्माका प्रतिमान है, ऐसा कहा है। विचार करनेसे पूर्व वह दोनों विधान परस्पर विसंगत प्रतीत होंगे, परंतु वास्तवमें इनमें कोई विरोध नहीं। 'उसकी कोई प्रति-मा नहीं,' ऐसा कहनेका तात्पर्य इतना है कि, उसके बराबर शक्तिशाली कोई नहीं। और इन मंत्रोंमें जो कहा है कि 'उसकी प्रतिमा आकाशके अवकाशके बराबर है' इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि वह जगतमें सर्वव्यापक होनेसे जितनी आकाशकी व्याप्ति है, उतनी इसकी व्याप्ति है। ऊपरले मंत्रका 'रोदसी' शब्द आकाशके दो अर्धोंका वाचक है। आकाशका एक अर्ध ऊपर है और दूसरा नीचे है। यह आकाश अनंत है। जिस प्रकार आकाशकी कोई हद्द नहीं उसी प्रकार परमेश्वरकी भी कोई हद्द अर्थात् मर्यादा नहीं; यह बात उक्त दो मंत्रोंमें बताई है। यही आशय यजुर्वेदके निम्न मंत्रका है—

ओ३म् खं ब्रह्म ॥ (यजु० ४०।१७)

'(ओं) सबका रक्षण करनेवाला ब्रह्म (खं) आकाशके समान सर्वत्र व्याप्त है।' इस मंत्रका भाव उक्त अथर्वके दो मंत्रोंके समान ही है। इस दृष्टिसे दोनोंका विरोध स्वयं हट जायगा।

इस विषयमें दूसरा भी एक विचार है। प्रति-मान शब्द 'उलटा तोल' इस अर्थमें भी आता है। 'वादी-प्रतिवाद, अनुरोध, प्रतिरोध, आदि स्थानोंपर 'प्रति' का अर्थ 'उलटा' ऐसा है। वही भाव 'मान-प्रति-मान' में लिया जा सकता है। (यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) इस मंत्रका अर्थ 'जो इस विश्वका विरुद्ध-प्रमाण होता है' ऐसा होगा। इसका तात्पर्य निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा—

विश्वका मान	ईश्वरका प्रतिमान
१ विश्वमें विविधता है।	१ परमात्मामें एकता और एकरसता है।
२ विश्वमें अल्पत्व है।	२ परमात्मामें महत्ता है।
३ विश्व जड है।	३ परमात्मा चेतन है।
४ विश्व कार्य है।	४ परमात्मा कारण है।
५ विश्व बनाया जाता है।	५ परमात्मा स्वयं सिद्ध है।
६ विश्व अज्ञानसे दर्शाया जाता है।	६ परमात्मा ज्ञानसे दर्शाया जाता है।
७ विश्वपर आसक्ति रखनेसे बंधन।	७ परमात्मापर भक्ति रखनेसे मुक्ति।

इस प्रकार कई गुणोंमें विश्वके बिलकुल विरुद्ध गुण परमात्मामें दिखाई देते हैं। इस हेतुसे कहा है कि 'तु विश्वके विरुद्ध अपना मान रखता है।' और देखिए—

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ (ऋ. १।५२।१३)

'तू पृथिवीसे उलटा अपना प्रमाण रखता है।' अर्थात् पृथ्वी छोटी है परंतु तू बडा है तथा—

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
(ऋ. १०।९०।१; आरण्य सं. ४।२; अथर्व. १९।६।१, यजु. वा. सं ३१।१; तै. आ. ३।१२।१)

'वह परमात्मा पृथिवीको (विश्वतः) चारों ओरसे (वृत्वा) घेरकर (दशांगुलं) दश अंगुलके समान छोटे विश्वके (अति अतिष्ठत्) बाहर भी रहा है अथवा विश्वपर शासन करता है।' इस मंत्रमें उक्त आशय बहुत स्पष्ट हो गया है। तथा और भी मंत्र देखिए—

न ह्रीन्वमस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः। (ऋ. ४।१८।४)

'(अस्य नु) निश्चयसे इसको (जातेषु अन्तः) बने हुए पदार्थोंके अंदर (उत) और (ये जनित्वाः) जो बननेवाले हैं उनमें कोई (प्रतिमानं) तुलना, प्रतिमा या (न अस्ति) नहीं है।' तथा—

प्र तुविद्युम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः। नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः॥ (ऋ. ६।१८।१२)

'(तुवि-द्यु-म्नस्य) अत्यंत तेजस्वी (स्थविरस्या) स्थिर और (घृष्वेः) दुष्टताको पीसनेवाले ईश्वरकी (महिमा) महत्ता द्युलोक और पृथिवीकी मर्यादाओंसे भी बाहर (ररप्शे) फैली है। (न अस्य शत्रुः) इस ईश्वरका कोई शत्रु नहीं (न अस्य प्रतिमानं) न इसकी कोई प्रतिमा है। (पुरु-मायस्य) अनंत ज्ञानावाले (सह्योः) और सहनशक्तिवाले बलवान ईश्वरको छोडकर और (प्रतिष्ठिः) आश्रय (न) नहीं है। अर्थात् वही एक सबका आश्रय है।'

इस प्रकार प्रतिमा और प्रतिमान शब्दोंका प्रयोग वेद मंत्रोंमें आता है इनके निम्न लिखित अर्थ होते हैं- 'प्रति मा' के अर्थ— बनानेवाला प्रतिमा; सादृश्य, उपमा, प्रतिबिंब; माप, तोल; फैलाव, बराबर; 'प्रति-मान'-के अर्थ— नमूना, सादृश्य, तोल, वजन, माप, प्रतिबिंब, उलटा, शत्रु इन विविध अर्थोंको देखकर तथा मंत्रोंके संबंधको देखकर, उक्त मंत्रोंके अर्थोंका विचार करना चाहिए। एक ही शब्द दोनों प्रकारके अर्थोंमें कैसा प्रयुक्त किया जाता है, इसका उदाहरण इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। अस्तु। अब इस व्याख्यानमें आये हुए मंत्रोंके विशिष्ट शब्दोंके विशेष अर्थ देखने योग्य हैं—

(१) हिरण्य-गर्भः— जिसके बीचमें तेजस्वी पदार्थ हैं। (हिरण्य) तेजस्वी पदार्थ, सूर्य आदि गोल (गर्भः) गर्भ अर्थात् बीचमें हैं जिसके।

(२) सत्य-धर्म— (सत्य) त्रिकालाबाधित, अटल (धर्मा) नियम रखनेवाला। जिसके नियम तीनों कालोंमें एकसे रहते हैं।

(३) सम्राट्— सबका एक राजाधिराज।

(४) वैश्वा-नरः— (विश्व) संपूर्ण सृष्टिका (नर) नेता, चलानेवाला।

(५) अ-च्युत्-च्युत्— जो स्वयं नहीं हिलता उसको अच्युत कहते हैं। च्युत् का अर्थ चलानेवाला। स्वयं स्थिर रहकर सब विश्वको घुमानेवाला।

(६) ओम्— रक्षक।

शब्दोंके ये अर्थ मनन करने योग्य हैं। इस प्रकार तीसरे मंत्रका विचार हुआ, अब चौथा मंत्र देखना है—

मन्त्र ४

परमात्मा सर्व व्यापक है !

'परमात्मा सब दिशा उपदिशाओंमें व्यापक है। संपूर्ण जगत् बनानेसे पूर्व वह विद्यमान था। वह सब पदार्थोंके बीचमें व्यापक है। वह जैसा इस समय सर्वत्र उपस्थित है, वैसा आगे भी रहेगा। वह सब प्रकारसे मुख आदि शक्तियोंको धारण करता हुआ, प्रत्येक पदार्थमें व्यापक होकर रहता है॥ ४॥'

यह आशय चतुर्थ मंत्रका है। 'सर्वतो मुखः' शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं (१) सब स्थानमें जिसका मुख है; मुख आदि अवयवोंकी शक्तियां जिसकी सर्वत्र विद्यमान हैं। (२) सब प्रकारसे जो मुख्य है; जिसकी मुख्यता सब प्रकारसे देखने पर भी सिद्ध होती है।

अथर्वशिरस् उपनिषदमें इसी मंत्रका 'एको ह देवः प्रविशोऽनु सर्वाः।' ऐसा पाठ है। 'एक ही देव सब दिशाओंमें भरा है' आदि उसका अर्थ है। यहां परमात्माका वर्णन है; परंतु इन्हीं शब्दोंसे अथर्व वेदके एक मंत्रमें जीवात्माका वर्णन आया है—

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः॥ एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥ (अथर्व. १०।८।२८)

'कईयोंका पिता, कईयोंका पुत्र, कईयोंका बडाभाई और कईयोंका छोटाभाई, ऐसा एक देव मनमें प्रविष्ट होकर, जो (प्रथमः जातः) पहिले जन्मा था (स उ) वह ही फिर (गर्भे अंतः) गर्भके अंदर आता है।' इस मंत्रकी द्वितीय पंक्ति अपने चतुर्थ मंत्रके प्रथम पंक्तिके बराबर है। परंतु एकमें परमात्माका वर्णन और दूसरेमें जीवात्माका वर्णन होनेसे, जो अर्थकी भिन्नता हो गई है, उसकी ओर पाठकोंको

विशेष ध्यान देना चाहिए। सदृश शब्द रचना रहनेपर भी पूर्वापर संबंधसे अर्थ किस प्रकार बदलते हैं, इसका यह उत्तम उदाहरण है। अस्तु। अब ईश्वरका वर्णन करनेवाला अथर्ववेदका मंत्र देखिए—

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्॥ स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु॥ (अथर्व. ७।२१।१)

'(विश्वे) सब लोग (वचसा) शुद्ध वाणीसे (दिवः पतिं) द्युलोकके स्वामी ईश्वरके पास (सं एत) एक होकर जावें। क्योंकि (विभूः) सर्वत्र व्यापक होनेसे वह (एकः) एक ईश्वर (जनानां अतिथिः) सब लोगोंको सत्कार करने योग्य है। वह (पूर्व्यः) प्राचीन होता हुआ (नूतनं) इस नवीन जगतको (आ-वि-वासत्) बसाता है। (तं एकं) उसी एककी ओर (वर्तनिः) सब मार्ग (अनु वावृत) जा रहा है, कि जो मार्ग (पुरु) सबको (इत्) निश्चयसे चलना है।' तथा—

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च्य आभिः॥ यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्॥

(ऋ. ६।२२।१; अथर्व २०।३६।१)

'(चर्षणीनां हव्यः) सब मनुष्योंको पूजा करने योग्य जो (एकः) एक ईश्वर है (तं इंद्रं) उस परमैश्वर्ययुक्त देवताकी (आभिः गीर्भिः) इन सूक्तों द्वारा (अभि अर्च्य) पूजा करो। यह (वृषभः) बलवान् (वृष्ण्यावान्) सिद्धियोंसे युक्त (सत्यः) अटल, (पुरु-मायः) अनंत ज्ञानवान (सहस्-वान्) सहन शक्तिसे युक्त ईश्वर (सत्वा पत्यते) विविध शक्तियोंको प्राप्त कराता है।'

इस प्रकार वेदके अन्य स्थानोंमें उसी एक ईश्वरका वर्णन है। इन मंत्रोंका इस चतुर्थ मंत्रके साथ विचार करना उचित है। यहां चतुर्थ मंत्रका विचार समाप्त हुआ, अब पंचम मंत्र देखना है—

मन्त्र ५

(५) परमेश्वरके तीन तेज और सोलह कलाएं।

'जिसके पूर्व कुछ भी नहीं बना था, परंतु जिसने सबकुछ बनाया है, ऐसा जो सोलह कलाओं और तीन तेजोंका धारण करनेवाला परमात्मा है, वह प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजाओंका सच्चा पालक है॥ ५॥'

यह आशय पंचम मंत्रका है। इसी मंत्रके अन्य पाठभेदोंका यहां प्रथम विचार करना चाहिए—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा॥ प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥ (यजु. ८।३६)

'जिससे बडा अन्य कोई भी नहीं है, और जो सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है, वह प्रजापालक परमात्मा अपनी प्रजाओंके साथ रमता हुआ सोलह कलाएं और तीन तेजोंका धारण करता है।' इसका अर्थ मंत्र ३ के स्पष्टीकरणमें पहिले दिया है। तैत्तिरीयारण्यकमें—

यस्मान्नान्यो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।

(तै. आ. १०।१०।३; महा. ना. उ. १०।४)

'जिससे दूसरा और जिससे बडा कोई भी नहीं।' तथा—

यस्माज्जाता न परा नैव किंचनास।

(तै. आ. १०।१०।२)

यस्माज्जातो न परो अन्यो अस्ति।

(जैमिनी. ब्रा. १।२०५)

यस्मादन्यन्नपरं किंचनास्ति। (वैतान. सू. २५।१२)

यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातः।

(पंचविंश ब्रा. १२।१३।३२)

यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्। (अथर्व. १०।७।३१)

इस प्रकार एक ही अर्थ बतानेवाले पाठभेद अनेक हैं। दूसरे चरणके पाठभेद निम्न प्रकार हैं—

य आबभूव भुवनानि विश्वा।

(पंचविं. ब्रा. १२।१३।३२)

य आविवेश भुवनानि विश्वा।

(यजु. ८।३६ काठक सं. ४०।३; तै. ब्रा. ३।७।९।५; तै. आ. १०।१०।२ आप श्रौ. १४।२।१३; १६।३५।१; महा. ना. उ. ९।४; नृसिं. पू. उ. २।४)

तीसरे चरणके सदृश अथर्ववेदमें एक पाठ है—

विश्वकर्मा प्रजया संरराणः। (अथर्व. २।३४।३)

यहां 'विश्व-कर्मा' शब्दका 'प्रजा-पति' शब्दके साथ संबंध देखनेसे दोनों शब्दोंके अर्थोंका निश्चय हो सकता है। तथा—

त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।

(यजु. ३२।५; ८।३६)

त्रीणि ज्योतींषि दधते स षोडशी ।
(वैतान सू. २५।१२)

त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ।
(काण्व यजु. ८।११।१, ३२।५)

इस प्रकार इस मंत्रके पाठभेद हैं । प्रायः सब पाठभेद एक ही मूल मंत्रके अर्थको विशेष खोलकर स्पष्ट कर रहे हैं, यह बात यहां स्पष्ट होती है । पाठभेदोंको देखनेसे मूल मंत्रके अर्थका विशेष प्रकारसे निश्चय होता है इसलिये अनेक शाखाओंके भिन्न भिन्न पाठभेद अवश्य देखकर अर्थकी संगति लगानेका प्रयत्न करना चाहिये । वेदके अर्थज्ञानके लिये आधुनिक कोशोंकी अपेक्षा प्राचीन शाखाओंके पाठभेद अधिक सहायक हैं ।

तीन ज्योति और सोलह कलाएं

इस मंत्रमें तीन ज्योति और सोलह कलाओंका वर्णन है । इसलिये यहां परमात्माके धारण किये हुए तीन तेजोंका विचार करना चाहिये। निरुक्तमें कहा है कि, (१) पृथिवीपर अग्नि, (२) अंतरिक्षमें विद्युत् और (३) द्युलोकमें सूर्य ये तीन तेज हैं । इन तीन तेजोंके विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥
(अथ. १०।७।४०)

'(तस्य तमः) इसका अज्ञान (अप हतं) नष्ट हुआ । (सः) वह (पाप्मना) पापसे (व्यावृत्तः) छूट गया । (यानि प्रजापतौ) जो परमात्मामें रहते हैं वे (त्रीणि ज्योतींषि) तीन तेज (तस्मिन्) उसमें चमकने लगे हैं ।' इस मंत्रमें कहा है कि, जब अज्ञान नष्ट होता है, और पापकी भावना दूर होती है, तब परमेश्वरके तीनों तेज उस पुरुषमें चमकने लगते हैं । इस मंत्रसे तीन तेजोंकी कल्पना हो सकती है जो मनुष्यके अंदर भी चमक सकते हैं, वैसे तीन तेज होने चाहिए । अब एक मंत्र देखिए—

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि । ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ (अथर्व, ९।५।८)

'पंचौदन पांच प्रकारसे (वि-क्रमतां) पराक्रम करे । (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों तेजोंपर (आ-क्रंस्यमानः) आक्रमण करता हुआ (ईजानानां सुकृतां) यज्ञ करनेवाले सत्कर्मी लोगोंके (मध्यं प्रेहि) बीचमें जाओ और (तृतीये

नाके) तीसरे स्वर्गमें (अधि विश्रयस्व) आश्रय करो ।' इस मंत्रमें कहा है कि, पंचौदन अज पांच प्रकारका पराक्रम करता हुआ, तीनों तेजोंको अपने स्वाधीन करके, सत्कर्मी लोगोंके बीचमें प्राप्त होकर, तीसरे स्वर्गमें पहुंचता है ।

यहां पंचौदन शब्दसे पंचज्ञानेंद्रियोंकी पांच शक्तियां साथ रखनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा विवक्षित है । पंच ज्ञानेंद्रियोंके साथ रहता हुआ उनसे पांच प्रकारका प्रयत्न करनेवाला जीवात्मा तीन तेजोंको अपने आधीन करता है । पश्चात् सत्कार-संगति दानात्मक शुभ कर्म करनेवाले लोगोंकी श्रेणीमें सुशोभित होता हुआ सुखतम अवस्थाको प्राप्त होता है ।

सुखमय लोक ..	१ ला स्वर्ग ...	शारीरिक सुख ...	सत्
सुखतर लोक ...	२ रा स्वर्ग ..	मानसिक विवेक ..	चित्
सुखतम लोक ..	३ रा स्वर्ग ..	आत्मिक तेज	...आनंद

उक्त कोष्टकसे तीसरे स्वर्गकी कल्पना हो सकती है । इस मंत्रसे भी यह स्पष्ट हुआ कि, परमेश्वरके तीनों तेज मनुष्य प्राप्त कर सकता है । इन मंत्रोंका विचार करनेसे प्रतीत होता है कि, अग्नि-विद्युत्-सूर्यकी अपेक्षा कोई विलक्षण तीन तेज हैं, कि जिनको परमात्मा धारण करता है । इसलिये उनका अब निश्चय करना चाहिये ।

परमात्माके तीन तेज जीवात्मा धारण करके अपने आपको कृतकृत्य समझता है । इन तेजोंकी विशेषता देखनेके लिये प्रथम मनुष्यमें अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा जो अधिकता है, उसका विचार करना चाहिए । वाचा-शक्ति, मननशक्ति, और ज्ञानशक्ति ये तीन शक्तियां मनुष्यमें विशेष हैं, कि जो अन्य प्राणियोंमें नहीं । अथवा किसी अवस्थामें अन्य प्राणियोंमें होगीं तो भी उनका उपयोग आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, उन्नतियोंमें करनेकी शक्ति उनमें न होनेसे, वे शक्तियां न होनेके बराबर ही वहां रहती हैं । उदाहरणके लिये वाणीकी शक्ति देखिए । मनुष्येतर प्राणियोंमें शब्द करनेकी शक्ति है, परंतु जिस प्रकार मनुष्य अपनी वाणीका उपयोग अपनी सार्वजनिक उन्नतिके लिये कर सकते हैं, वैसा पशुपक्षी नहीं कर सकते । इसी प्रकार अन्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए । तात्पर्य मनुष्यों और मनुष्येतर प्राणियोंमें इन तीन शक्तियोंका ही भेद है, जो मनुष्योंको मुक्तिके अर्थात् स्वतंत्रताके योग्य बनाता है । इसलिये मनुष्यके पास यही तीन तेज हैं, जो इसको परमेश्वरसे प्राप्त हुए हैं । अब देखिए—

जीवात्मा	वचन	मनन	ज्ञान	आध्यात्मिक
	वाक्शक्ति	विचारशक्ति	ज्ञानशक्ति	
	सुभाषण	सुविचार	संज्ञान	
परमात्मा	अग्नि	विद्युत्	सूर्य	आधिदैविक
	नित्यशब्द	महत्तत्व	सत्यज्ञान	
	सच्छक्ति	चितिशक्ति	नित्यतृप्ति-आनंद	

इस कोष्टकसे पता लगेगा कि, परमात्माके तीन तेज किस स्वरूपमें जीवात्मामें आते हैं। इस प्रकार तीन तेजोंका विचार होनेके पश्चात् सोलह कलाओंका विचार करेंगे—

प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ६।४ में सोलह कलाओंका वर्णन आया है—

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः
पृथिवीन्द्रियम्॥ मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः
कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥
(प्रश्नोपनिषद् प्र. ६)

'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम ये सोलह कलाएं हैं।' परंतु ये सोलह कलाएं परमात्माकी हैं या नहीं इसमें थोडासा संदेह हो सकता है। श्रद्धा, इन्द्रिय, अन्न आदि कई कलाएं जीवात्माके साथ अधिक संबंध रखनेवालीं हैं। इसलिये इनका और भी विचार करना चाहिए। ग्रंथांतरमें कहा है—

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टि रतिर्धृतिः।
शशिनी चंद्रिका कांतिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरंगदा।
पूर्णा पूर्णाऽमृता कांतिदायिनी स्वरजाः कलाः।

'१ अ–मृता–अमरपन, २ मान-दा–परिमाणदातृत्व, ३ पूषा–पोषकत्व, ४ तुष्टिः-संतोष, ५ पुष्टिः-पुष्टता, ६ रतिः-रममाण होना, ७ धृतिः–धैर्य, ८ शशिनी–गतिदातृत्व, ९ चंद्रिका-आल्हाद, १० कांतिः-सौंदर्य, ११ ज्योत्स्ना–शांतियुक्त तेज, १२ श्रीः–शोभा, १३ प्रीतिः– प्रेम, १४ अंग–दा–शरीरदातृत्व, १५ पूर्णा-पूर्णत्व, १६ पूर्णाऽमृता–आनंदमयता ' ये सोलह कलाएं हैं।

मान–दा का अर्थ इतना ही है, कि दूसरोंको परिमाण देनेकी शक्ति, अर्थात् स्वयं अपरिमित रहनेपर दूसरोंको परिमित बनानेकी शक्ति। 'शशूद्रुतगतौ ' से शशिनी शब्द बना है, इसलिये इसका अर्थ त्वरायुक्त गति उत्पन्न करनेका सामर्थ्य है। प्रेमके नेत्रोंसे सबको देखना, सबका मित्र बनकर रहना प्रीतिका तात्पर्य है। स्वयं निराकार होनेपर भी दूसरोंको साकार बनानेका सामर्थ्य अंग–दा से व्यक्त होता है। सर्वत्र परिपूर्ण रहना पूर्णासे व्यक्त होता है। इस प्रकार सोलह कलाओंका स्वरूप अन्य ग्रंथोंमें वर्णन किया है। चंद्रकी कलाओंके यही नाम हैं। परंतु चंद्रकी कलाओंमें पूर्ण अर्थके साथ ये शब्द नहीं घट सकते। परमेश्वरमें ही इनका अर्थ पूर्णताके साथ लग सकता है। अब सोलह मातृकाओंका वर्णन देखिए—

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः।
शांतिः पुष्टिधृतिस्तुष्टिः कुलदेवात्मदेवताः।

'१ गौरी–शुद्धता, पवित्रता, २ पद्मा–सौंदर्य, ३ शची–शक्ति, बल, ४ मेधा–बुद्धि, ज्ञानशक्ति, ५ सावित्री–तेज, ६ विजया–विजय, ७ जया–जय, ८ देवसेना–दिव्य गुणसमूह, शत्रुनिरोधक शक्ति, ९ स्वधा-अपनी धारणाशक्ति, १० स्वाहा-त्यागशक्ति, ११ शांतिः–शांतता, १२ पुष्टिः-पोषकता, १३ धृतिः–धैर्य, १४ स्तुतिः–स्तुत्यता, १५ कुलदेवता–संपूर्ण विश्वका एक प्रभुत्व, १६ आत्मदेवता–आत्माकी दिव्यशक्ति।' ये सोलह माताएं हैं।

विजय और जयमें इतना ही भेद है कि, एक अपने आपका जय अर्थात् निग्रह है और दूसरा सब बाह्य जगतको जीतना है। देवसेनाका कार्य इतना ही है कि, सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका शासन करना; उत्तमताका संरक्षण और दुष्टताका नाश करना। स्व-धा उसको कहते हैं कि, जिस शक्तिसे अपने आपका धारण होता है; विना दूसरेके सहारेके अपनी शक्तिसे ही स्वयं परिपूर्ण रहना। स्वा-हा उसको कहते हैं कि, जो निरपेक्ष त्याग होता है; दूसरोंकी भलाईके लिये अपने सर्वस्वका त्याग करके उन्नतिके लिये यत्न करना। अपने खानदानके लिये कुल शब्द छोटे अर्थमें लगता है, विस्तृत अर्थमें सब जगतके लिये हो सकता है, जैसा कुटुंब शब्द अपने परिवारके छोटे अर्थमें लगता है, परंतु संन्यासीका कुटुंब सब पृथ्वी है, जिसको 'वसुधैव–कुटुंबक–वृत्ति' कहते हैं। इस प्रकार व्यापक अर्थसे कुल शब्द यहां लेना है। सब संसारका एक देवता कुलदेवता शब्दसे यहां लेना उचित है। आत्मदेवतासे आत्माकी शक्ति लेनी है। इस प्रकार इन सोलह माताओंका विचार है। परमात्माको जगत्की माता कहा जाता है, इसलिये वे सोलह मातृवाचक शब्द उस जगन्माताके गुण दर्शाते हैं, ऐसा मानना अनुचित नहीं होगा।

यहां तक जो तीन गुण आये हैं, उनकी परस्पर संगति हो सकती है या नहीं, इसका विचार करनेके लिये निम्न कोष्टक तैयार किया है—

(१६ षोडश मातृका)	(१६ कला)	(१६ कला-उपत्ति)
१ गौरी	शशिनी	आ-काश
२ पद्मा	अंग-दा	जल
३ शची	पूषा	अन्न
४ मेधा	अ-मृता	मन
५ सावित्री	ज्योत्स्ना	अग्निः
६ विजया	मान-दा	तपः
७ जय	तुष्टि	इंद्रिय
८ देव-सेना	कांति	वायु
९ स्व-धा	रति	प्राण
१० स्वा-हा	प्रीति	कर्म
११ शांति	चंद्रिका	नाम
१२ पुष्टि	पुष्टि	पृथिवी
१३ धृति	धृति	वीर्य
१४ स्तुति	श्री	मंत्र
१५ कुलदेवता	पूर्णा	लोक
१६ आत्मदेवता	पूर्णाऽमृता	श्रद्धा

उक्त शब्दोंका परस्पर संबंध– परमात्म देव पूर्ण अमृतका दाता होनेसे श्रद्धाके लिये योग्य है। सब लोकलोकांतरोंमें जो पूर्ण अर्थात् व्यापक है, वह ही सबका कुलदेव हो सकता है। मंत्रोंसे उस ईश्वरकी श्री अर्थात् शोभाकी स्तुति करनी है। वीर्यसे धैर्यकी धारणा होती है। पृथ्वीसे सबकी पुष्टि होती है। शांतिसे नाम अर्थात् कीर्ति और आल्हाद होता है। आत्मसमर्पण (स्वा-हा) युक्त कर्म सबपर मित्रकी प्रेम वृष्टि रखकर किये जाते हैं। प्राणसेही रति अर्थात् रममाण होना और स्व-धा अर्थात् अपनी धारणा होती है। वायुका नाम मरुत् और मरुतोंके गणही देवोंकी सेना है, देवसेना तेजस्वी होती है। इंद्रियोंके निग्रहसे तुष्टि और जय होता है। तप अर्थात् सहनशक्तिसे विजय और सन्मान प्राप्त होता है। सविता सूर्यके तेजसेही चंद्रप्रभा और अग्निका तेज उत्पन्न होता है। मेधा अर्थात् धारणा-युक्त बुद्धिसे मनका और अमृत-ज्ञानका संबंध सनातन है। अन्नसे पोषण और शक्ति होती है। जलसे पद्म अर्थात् कमलोंकी उत्पत्ति और सब प्राणियोंके अंगोंकी उत्पत्ति होती है। आकाशमें गति और शुद्धता अथवा गौर तेज होना संभव है।

✕

इस प्रकार इनका परस्पर संबंध दिखाई देता है। कईयोंका संबध स्पष्ट है, परंतु कईयोंमें बडी छानबीनसे देखना पडता है। पाठकोंको सोचना चाहिए और निश्चित करना चाहिए, कि किस शब्दका किस शब्दके साथ संबंध है। कई शब्दोंके विषयमें अबतक मुझे भी संदेह है। अस्तु। इन शब्दोंका परस्पर संबंध देखनेसे ईश्वरकी १६ कलाओंकी कल्पना हो सकती है।

सोलह कलाओंमें विषयके वेदोंमें किसी स्थानपर वर्णन देखनेमें नहीं आया, परंतु षोडशी शब्दका प्रयोग निम्न प्रकार बहुत थोडे स्थानपर आया है—

(१) उपयाम गृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन इन्द्राय त्वा षोडशिने॥ (यजु. ८।३३–३५)

(२) महान् इन्द्रो वज्र-हस्त षोडशी शर्म यच्छतु॥ हन्तु पाप्मानं योऽस्मान् द्वेष्टि॥ (यजु. २६।१०)

'(१) नियम उपनियमोंके अनुसार चलनेवाले सोलह कलाओंसे युक्त इन्द्र अर्थात् परमेश्वरके लिये स्तुति है। (२) वज्रधारण करनेवाला सोलह कलाओंसे युक्त इन्द्र सुख प्रदान करे। जो अकेला हम सबका द्वेष करता है उस पापीका नाश करे।'

इस प्रकारके वर्णन आते हैं, परंतु ये सोलह कलाएं हैं, ऐसा वर्णन किसी स्थानपर नहीं है। कदाचित् निम्न लिखित अथर्व वेदके मंत्र ईश्वरकी सोलह कलाओंके निदर्शक होंगे—

शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति, त्वोपास्महे वयम्॥ अंभो अमो महः सह इति, त्वोपास्महे वयम्॥ अंभा अरुणं रजतं रजः सह इति, त्वोपा०॥ उरुः पृथु सुभू-र्भुव इति, त्वोपास्महे वयम्॥ प्रथो वरा व्यचो लोक इति, त्वोपास्महे वयम् भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति, त्वोपा०॥ (अथर्व. १३।४।४७–५४)

'(१) शच्याः पतिः, (२) विभूः, (३) प्रभूः, (४) अंभः (५) अमः, (६) महः सह, (७) अरुणं रजतं रजः, (८) उरुः पृथुः, (९) सुभूः (१०) भुवः, (११) प्रथो वरः, (१२) व्यचो लोकः, (१३) भवद्वसुः, (१४) इदद्वसुः, (१५) संयद्वसुः, (१६) आयद्वसुः इन सोलह गुणोंसे युक्त रहनेवाले (त्वा) तेरा, हे इन्द्र, (वयं) हम सब (उपास्महे) उपासना करते हैं।' इन शब्दोंके अर्थः—

(१) शच्याः पतिः- शक्तिका पालक, सर्वशक्तिमान् ।
(२) विभूः— व्यापक ।
(३) प्रभूः— स्वामी ।
(४) अंभः— जलके समान शांत और एक रस । शब्दप्रवर्तक ।
(५) अमः— गतिउत्पादक और शब्दप्रेरक ।
(६) महः सहः— महान् सहनशक्तिसे युक्त ।
(७) अरुणं रजतं रजः— तेजस्वी, प्रेम करने योग्य, ऐश्वर्ययुक्त ।
(८) उरुः पृथु— अत्यंत विस्तृत । अत्यंत फैला हुआ ।
(९) सुभूः— जो अत्यंत उत्तम है ।
(१०) भुवः— जो ज्ञान स्वरूप है । (भुवो अवकल्पने चिंतने च)
(११) प्रथो वरः— प्रसिद्ध श्रेष्ठ ।
(१२) व्यचो लोकः— व्यापक तेजस्वी ।
(१३) भवद्वसुः— जिसके पास ऐश्वर्य है ।
(१४) इदद्वसुः— अपूर्व धनसे युक्त ।
(१५) संयत्-वसुः— जिसने अपनी शक्तियोंका संयम किया है ।
(१६) आयद्वसुः— जो सदा अभ्युदयके साथ रहता है।

इस प्रकार वेदके कहे हुए गुण हैं । परंतु इनमें प्रत्येक शब्दको अलग अलग मान कर बाईस गुणोंकी कल्पना भी की जा सकती है । इसलिये इस विषयमें संशोधनकी आवश्यकता है । स्वाध्यायशील पाठकोंको उचित है कि वे इस विषयमें अधिक विचार करके निश्चय करें ।

अस्तु, इस प्रकार पंचम मंत्रका विचार करनेके पश्चात् अगला मंत्र देखेंगे--

मंत्र ६-७

(६) सबका निर्माण और धारण कर्ता ईश्वर।

' जिसने द्युलोक, अंतरिक्ष लोक और भूलोक तथा इस त्रिलोकीमें सब पदार्थ निर्माण किये हैं; उस आनंदस्वरूप परमात्माकी उपासना हम सबको करनी चाहिए ॥ ६ ॥ '

' जिस परमात्माके बनाये और स्थिर किये हुए ये सब लोकलोकांतर हैं, और जिसमें सूर्यादि तेजस्वी गोले चमक रहे हैं, उस आनंदमय परमात्माकीही हम सबको उपासना करनी चाहिए ॥ ७ ॥ ' यह इन दो मंत्रोंका सारांश है । इन दो मंत्रोंको थोडे पाठभेदसे हम अथर्ववेदमें देखते हैं —

यं क्रंदसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ॥ यस्याऽसौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥ यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्माद् उर्वन्तरिक्षम् ॥ यस्याऽसौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

(अथर्व. ४।२।३-४)

' जिस आत्माके बलसे द्युलोक और पृथिवी (चस्कभाने) स्थिर रही हुई, परंतु जिससे (भिय-साने) डरनेवाली (आह्वयेथां) प्रार्थना कर रही है; और जिसका यह (पन्था) मार्ग (रजसः) अंतरिक्षस्थ सब लोकोंको माप रहा है, उस आनंद स्वरूपकी हम सबको उपासना करनी चाहिये । जिसका द्युलोक बडा और पृथ्वी महान् है तथा अंतरिक्ष बडा विस्तृत है जिसकी (महित्वा) महिमासे यह सूर्य अपनी प्रभा (वि-ततः) फैलाता है, उस आनंदरूप परमात्माकी ही हम सबको उपासना करनी चाहिए । '

इन अथर्ववेदके मंत्रोंमें पाठक देखेंगे कि, पहिला अर्ध और दूसरा अर्ध यजुर्वेदके क्रमसे नहीं हैं । एक मंत्रका पूर्वार्ध और दूसरे मंत्रका उत्तरार्ध मिलकर अथर्ववेदके ये मंत्र बने हैं । और साथ साथ पाठभेद भी हैं ।

यजुर्वेदके पाठ	अथर्ववेदके पाठ
येन द्यौरुग्रा । ...	... ... यस्य द्यौरुर्वी ।
पृथिवी च दृढा । ...	... ... पृथिवी च मही ।
येन नाकः । ...	... यस्माद् उर्वन्तरिक्षम् ।
यो अंतरिक्षे रजसो विमानः । ...	यस्याऽसौ पन्था रजसो विमानः ।
अवसा तस्तभाने । ...	... ... अवतश्चस्कभाने ।
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने । ...	भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति ।	यस्यासौ सूरो विततो महित्वा ।

ऋग्वेदके और यजुर्वेदके पाठ प्रायः एकसे ही हैं । अथर्ववेदके कई पाठ उसी अर्थको विस्तृत करनेवाले और कई स्वतंत्र रीतिसे अर्थगौरव करनेवाले हैं । इस प्रकार सब पाठभेदोंको एकत्रित करके अर्थका विचार करना चाहिए ।

इन मंत्रोंके भाव स्पष्ट हैं, इसलिये विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं । अब इस मंत्रमें आये हुए ' आपो ह यद्बृहतीः ' और ' यश्चिदापः ' इन दो प्रतीकोंसे सूचित दो मंत्रोंका अर्थ देखना चाहिए—

(१) आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् । ततो देवानाᳬ समवर्तताऽसुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ. १०।१२१।७, यजु. अ. १७।२५, काण्व. २९।३४)

(अग्निं गर्भं दधानाः) अग्नि सूर्यादि तेजोंको गर्भवत् धारण करनेवाली और (विश्व जनयन्तीः) संपूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेवाली (ह) निश्चयसे (यत्) जो (बृहतीः आपः) महान मूल प्रकृति है। वह (आयन्) चल रही है अर्थात् गतियुक्त है, (ततः) उससे भिन्न (देवानां एकः असुः) सब देवताओंका एक प्राणरूप परमात्मा (सं-अवतत) उत्तमतासे है। उसीकी हम सब आत्मार्पणद्वारा पूजा करें।

(२) यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना
जनयन्तीर्यज्ञम्। यो देवेष्वधिदेव एक
आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु. २७।२६)

(यज्ञं जनयन्तीः) जगद्रूपी यज्ञको उत्पन्न करनेवाली और (दक्षं दधाना) बल धारण करनेवाली (आपः) मूल प्रकृतिका (चित् यः महिना पर्यपश्यत्) निश्चयसे जो अपनी महत्ताके साथ निरीक्षण करता है। (यः देवेषु एकः अधिदेवः आसीत्) जो सब देवताओंमें एक ही अधिदेव अर्थात् सबका अधिराज है, उसीकी हम सब आत्मार्पणद्वारा पूजा करें।

इन दो मंत्रोंमें ' आपः ' शब्दसे प्रकृतिका बोध लेना है। जैसा कि उपनिषदोंमें भी लिया है—

आपो ह वा इदमग्र आसुः। (बृह. उप. ५।५।१)
आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।
(शत. ब्रा. ११।१।६।१)

' सृष्टि उत्पत्तिके पूर्व यह सब ' आप् ' था। ' सृष्टि उत्पन्न होनेके पश्चात् जल-उदक-उत्पन्न हुआ है। इसलिये उक्त वचनोंमें ' आप् ' का अर्थ जल नहीं। विकृत सृष्टिके पूर्व अ-विकृत प्रकृति सर्वत्र फैली हुई परमाणु अवस्थामें थी। जैसा पानी समुद्रमें फैला हुआ रहता है, उस प्रकार आकाशमें प्रकृति-परमाणुरूपी जल फैला हुआ था। इस अर्थमें ' आप् ' शब्दका प्रयोग उक्त मंत्रोंमें आया है। ' आप् ' शब्दका अर्थ ' व्यापक ' है। मनुस्मृतिमें भी ' आप् ' शब्द इसी प्रकृतिक अर्थमें आता है।

आपा नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनवः॥ (मनु.)

' नर परमात्मा है। उससे प्रेरित हुए हुए नार अर्थात् ईशप्रेरित (आपः) कृति परमाणु होते हैं। ' इसीसे आगे जाकर सृष्टि बनती है। अस्तु। आप् शब्दका यह अर्थ विशेष स्मरण रखना चाहिए।

(१) सूर्यादि तेजोगोलोंको उत्पन्न करना अथवा गर्भमें धारण करना, (२) सब जगत्को उत्पन्न करना, (३) विस्तृत होकर रहना, (४) गतियुक्त रहना, (५) एक प्रकारका बल धारण करना, इत्यादि प्रकृतिक गुण उक्त मंत्रमें वर्णन किये हैं। यहां शंका उत्पन्न होती है कि, क्या यह सब स्वयं प्रकृति ही कर सकती है ? इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये कहा है कि, (१) महान् परमेश्वर इस प्रकृतिका निरीक्षक और अधिष्ठाता है, (२) वह सबका राजाधिराज है, (३) वह निश्चयसे एक ही है। अर्थात् इसीकी इच्छासे और प्रेरणासे प्रकृतिमें सब कार्य हो रहे हैं।

इस प्रकार प्रतीक-सूचित मंत्रोंके अर्थका विचार हुआ। अब अगले मंत्र देखेंगे—

मन्त्र ८-९

(७) ज्ञानी उस आत्माको देखता और वर्णन करता है।

' ज्ञानी उस परमात्माको प्रत्येक पदार्थोंमें गुप्त रीतिसे छिपा हुआ, सबका आश्रय, सबका संयोग और वियोग करनेवाला, और कपडेके ताने और बानेके समान सर्वत्र फैला हुआ देखता है॥ ८॥ '

' जिसका उत्तम स्थान हृदयमें है, उसका वर्णन आत्मज्ञानी वक्ता कर सकता है। बुद्धिमें रखे हुए इसके तीनों पाँवोंको जो जानता है, वह पालकोंका पालक बनता है॥९॥ '

इन दोनों मंत्रोंको थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें हम देखते हैं—

वेनस्तत्पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्॥ इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥ १॥ प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा यत्॥ त्रीणि पदानि निहिता गुहाऽस्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥ २॥
(अथर्व. २।१।-१।२)

' (वेनः) ज्ञानी उसको देखता है, कि जो (गुहा परमं) गुप्त स्थानमें परम तत्व है और जिसमें सब विश्व एकरूप होता है। (पृश्निः) आकाशस्थ जगत्ने (इदं) इसीका (अदुहत्) दोहन किया है अर्थात् इसीसे जीवनपोषणकी

शक्तियां ली हैं। (जायमानाः) बढनेवाले (व्राः) मनुष्य-समूह अर्थात् उन्नतिशील मनुष्यसमाज (स्वर्विदः) आत्म-तत्त्वको जानते हुए अथवा तेजको प्राप्त करते हुए (अभि अनूषत अनुवसन्ति) सब प्रकारसे एक होकर रहते हैं। '

दूसरा मंत्र प्रायः एकता है, इसलिये यहां अर्थ देनेकी आवश्यकता नहीं। अब पाठभेद देखिए—

यजुर्वेद पाठ	अथर्ववेद पाठ
निहितं गुहा सत्।	परमं गुहा यत्।
विश्वं भवत्येकनीडम्।	विश्वं भवत्येकरूपम्।
अमृतं नु विद्वान्।	अमृतस्य विद्वान्।
विभृतं गुहा सत्।	परमं गुहा यत्।

' वेनस्तत्पश्यत् ' इस मंत्रका उत्तरार्ध अथर्ववेदमें नहीं है। यजुर्वेदके ' एक नीडं ' शब्दका अथर्ववेदमें रूपान्तर ' एक-रूपं ' है, वह पहिले शब्दका अर्थ विशेष प्रकारसे स्पष्ट करता है। ' नीड ' का अर्थ ' पक्षीका घोंसला ' है। परमात्मारूपी सुपर्ण पक्षीके घोंसलेमें वह सब विश्व समाया है, यह भाव ' एक–नीडं ' शब्दसे लेना है। तथा परमात्मामें यह सब एक रूप बनता है, यह आशय ' एक–रूपं ' शब्दसे व्यक्त होता है।

मंत्रमें ' वेनः तत् पश्यत् ' कहा है। ' वेन ' उसको कहते हैं कि जो ज्ञानी और विचारी होता है। ' वेन ' धातुका अर्थ– ' हलचल करना, प्रयत्न करना, जानना, विचार-मनन-करना, वाद्य बजाना, और स्वीकार करना ' है। इसलिये वेनका अर्थ ज्ञानी है। निघण्टु अ. ३।१५में ' मेधावि–नामानि ' में ' वेन ' शब्दका पाठ आया है। ज्ञानी और विचारशील उस ईश्वरको जानता है। अज्ञानी और अविचारी नहीं जान सकता।

' निहितं गुहा सत्। ' यह दूसरा वाक्य है। वह सत् अर्थात् सत्स्वरूप परमेश्वर गुहामें है। यहां गुहा शब्दका अर्थ विचारने योग्य है। ' हृदय ' बुद्धि, पहाडोंकी गुफा, गुप्त स्थान ' इतने गुहा शब्दके अर्थ हैं। ' गुह ' धातुका अर्थ ' गुप्त रखना ' है।

गुहाऽऽहितं— बुद्धिमें रखा हुआ।

गुहाशरं— ब्रह्म।

गुहाशयः— परमात्मा। जीवात्मा।

गुहा— बुद्धि, हृदय, प्रत्येक पदार्थका आंतरिक भाग।

इन अर्थोंको देखनेसे उक्त वाक्यका पता लग सकता है। परमेश्वरको अपने अंतःकरणमें देखना चाहिए।

' यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम्। ' जहां सब विश्व एक एक घोंसलेमें समाया होता है, अर्थात् परमेश्वरके घोंसलेमें यह सब विश्व समाया है। नीड शब्दके अर्थ— ' घोंसला, घर, स्थान, आश्रय, बिछौना, गुहा, अंदरूनी हिस्सा, विश्रामका स्थान ' हैं। परमेश्वर इस विश्वका सच्चा आश्रय है। इतनाही यहां तात्पर्य है।

' तस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम्। ' उसमें यह सब विश्व बनता है और बिगडता है। (समेति) ' सं–एति ' का अर्थ ' एक होकर चलना ' है, और (व्येति) ' वि–एति ' का अर्थ ' अलग होना ' है। उत्पत्ति–विनाश, संयोग–वियोग, बनाना–बिगडना आदिभाव इन शब्दोंमें हैं। परमेश्वर इस सृष्टिको बनाता है और बिगाडता है। दोनों क्रियाएं उससे चल रहीं हैं।

' स ओतः प्रोतः च विभूः प्रजासु। ' सब प्रजाओंमें वह ओतप्रोत व्यापक है। जिस प्रकार कपडेमें ताना और बानेके धागे होते हैं, जहांतक कपडा है वहां तक धागे रहते हैं उसी प्रकार सब विश्वमें ईश्वर है ही है।

' विद्वान् गंधर्वं गुहा विभृतं तत् अमृतं सत् धाम नु प्रवोचत्। ' विद्वान् वक्ता गुहामें रखे हुए उस अमर सत्यधामके विषयमें कह सकता है। उसका वर्णन साधारण मनुष्यसे नहीं हो सकता। ज्ञानी ही उसका वर्णन कर सकता है।

' अस्य त्रीणि पदानि गुहा निहितानि। ' इसके तीन पद गुहामें रखे हैं। इन तीन पदोंके विषयमें विशेष विचार करना चाहिए। उससे पूर्व गुहा शब्दका अर्थ देखना चाहिए। गुहा=गुप्त, ढंका हुआ, छिपा हुआ, आच्छादित, गुहास्थान, श्रुति, बुद्धि, हृदय, गुफा। इन अर्थोंमेंसे ' बुद्धि-हृदय ' येही अर्थ यहां विवक्षित हैं। हृदयमें अथवा बुद्धिमें तीन पद रखे हैं। गुप्त स्थान यह भी अर्थ यहां लिया जा सकता है। गुप्त स्थानमें ईश्वरके तीन पद रखे हैं अब ढूंढने चाहिए कि ये तीन पद कौनसे हैं। ऋग्वेदमें कहा है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्॥ समूढ-
मस्य पांसुरे॥ १७॥ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णु-
र्गोपा अदाभ्यः॥ अतो धर्माणि धारयन्॥ १८॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ॥ इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १९ ॥ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः ॥ दिवीव चक्षुराततम् ॥ २० ॥ तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ॥ विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ २१ ॥
(ऋ. १।२२)

'(विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्माने यह (वि-चक्रमे) विशेष क्रमपूर्वक रखा है। (त्रेधा) तीन प्रकारसे उसने पद रखा। (पांसुरे) धूलिमय स्थानमें अर्थात् प्राकृतिक परमाणुओंमें (अस्य) इस व्यापक परमात्माका सब कार्य (सं-ऊढं) नियमोंसे सुव्यवस्थित हुआ है।

'(गो-पा) इंद्रियोंके अथवा पृथिवी आदि सृष्टिके पालक और (अ-दाभ्यः) न दबनेवाले सर्वव्यापक परमात्माने तीन पदोंको विशेष क्रमसे रखा है। (अतः) इसलिये वह सब धर्मोको अर्थात् धारक और पोषक गुणोंको धारण और पोषण करता है।'

'सर्वव्यापक ईश्वरके ये सब कर्म देखिए। जिससे व्रतोंको अर्थात् धर्मनियमोंको (पस्पशे) जाना जाता है। वह (इन्द्रस्य) जीवात्माका (युज्यः) योग्य (सखा) मित्र है।

'सर्वव्यापक परमात्माका वह परम पद है, कि जो सदा (सूरयः) ज्ञानी लोग देखते हैं। जिस प्रकार (दिवि इव) द्युलोकमें (चक्षुः) जगत्की सूर्यरूपी आंख (आ-ततं) खोलकर रखी है। [उस प्रकार ज्ञानी लोगोंको परमात्माका साक्षात्कार होता है, जैसा साधारण लोगोंको सूर्य दिखाई देता है।']

'जो विष्णुका परमपद है उसको ज्ञानी, (वि-पन्यवः) यशस्वी, (जागृवांसः) जागनेवाले, उद्यमी पुरुष (सं इंधते) उत्तम रीतिसे प्रकाशित करते हैं।'

इन मंत्रोंमें परमात्माके तीन पदोंका वर्णन है। परमात्माके तीन पद प्रकृतिसे परमाणुओंमें विशेष क्रमपूर्वक रखे जाते हैं। प्रकृति परमाणु अदृश्य होनेके कारण इस अदृश्य अर्थात् गुप्त स्थानमें परमेश्वरके तीन पद रखे जाते हैं। कहां किस प्रकार रखे हैं, इसका पता लगना बडा मुश्किल होता है। परमात्माकी शक्ति वृक्षोंको बढा रही है, परंतु किस प्रकार बढाती है, इसका परिज्ञान होना कठिन है। उसका सब कार्य गुप्त रीतिसे चलता है। इसके तीन पदोंके विषयमें और देखिए—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥ ३ ॥ त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः ॥ ४ ॥
(ऋ. १०।९० यजु. अ. ३१)

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाऽभवत्पुनः ।
(अथर्व. १९।६)

'इसका एक (पादः) पाद सब भूत हैं, और इसके तीन पाद द्युलोकमें अमृतरूप हैं॥ यह त्रि-पाद पुरुष ऊपर उदयको प्राप्त हुआ है, और उसका एक पाद यहां इस विश्वमें होता है ॥ तीन पादोंसे उसने द्युलोक पर आरोहण किया है और एक पादसे विश्वको बारंवार बनाया है।'

इन मंत्रोंमें पाद शब्द अंशका वाचक है। इस विश्वमें परमेश्वरका एक अल्पसा अंश कार्य करता है परंतु बाकीका अवशिष्ट द्युलोकमें चमकता है। अर्थात् उसकी अपेक्षा यह विश्व अत्यंत अल्प है। यहां पाद शब्दसे पांच अथवा चतुर्थभाग लेना नहीं है। विश्व छोटा है और वह बहुत बडा है, यह भाव यहां बताया है ॥ त्रिपाद् ब्रह्मकी कल्पना निम्न मंत्रमें स्पष्टतासे देखनी योग्य है—

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वितष्ठे तेन जीवंति प्रदिशश्चतस्रः॥
(अथर्व. ९।१०।१९)

(पुरु-रूपं) बहुतोंका रूप देनेवाला त्रिपाद् ब्रह्म विशेष प्रकारसे रहता है, जिससे चारों दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाला सब विश्व जीवित रहता है।' इस प्रकार त्रिपाद् ब्रह्मका वर्णन अथर्ववेद कर रहा है।

यहांतकका सब वर्णन देखनेसे विदित होता है कि 'तीन पदों' का वर्णन आलंकारिक है, वास्तविक नहीं। जैसा 'त्रि-पाद्' शब्द परमेश्वरवाचक है वैसा 'सहस्र-पाद्' शब्द भी परमेश्वरवाचक वेदमें आया है। एकही ईश्वरका त्रि-पाद् और सहस्र-पाद् इन दोनों शब्दोंसे एकही सूक्तमें (ऋ. १०।९०) वर्णन किया है। जिससे सिद्ध है कि 'तीन पांव और हजार पांव' की कल्पना रूपक अलंकारसे लेनी चाहिए, न कि वास्तवमें वैसे पांववाला कोई है। जब वास्तवमें कोई पांव नहीं तब तीन पादोंका रखना आदि भी आलंकारिक भाषा है। इस पाद व्यवस्थाके साथ ओंकारके चार पादोंकी कल्पना देखने योग्य है। निम्न कोष्टकसे इसकी व्यवस्था जानी जा सकती है—

		(व्यक्त) एकपाद्		(गुप्त) त्रिपाद्	
आध्यात्मिक–व्यक्तिविषयक।	१ ओंकार	अ	उ	म्	अर्धमात्रा
	२ अवस्था	जागृति	स्वप्न	सुषुप्ति	तुर्या
	३ शरीर	स्थूलशरीर	सूक्ष्मशरीर	कारणशरीर	महाकारणशरीर
	४ देह	स्थूलदेह	लिंगदेह	कारणदेह	महाकारणदेह
	५ कोश	अन्नमय कोश	प्राणमयकोश मनोमयकोश	विज्ञानमयकोश	आनंदमयकोश
	६ तत्व	शरीर	प्राण, इंद्रिय मन	बुद्धि	आत्मा
	६ व्याहृति लोक	भू	भुवः	स्व	महः जनः, तपः सत्यं
	७ व्यापार	कर्म, आचार	विचार	संकल्प	कैवल्य
आधिदैविक-विश्वविषयक-पारमार्थिक।	१ ओंकार	अ	उ	म्	अर्धमात्रा
	२ रूप	वैश्वानर	तैजसः	प्राज्ञः	शिवः
	३ सृष्टि	बाह्यजगत् स्थूलजगत्	सूक्ष्मतत्व	कारणतत्व	आदितत्व
	४ भूत	महाभूत	सूक्ष्मभूत	महत्तत्व	अविकारी तत्व
	५ लोक	भूः	भुवः	स्वः	महः, जनः, तपः, सत्यं
	६ व्यापार	कर्म	चैतन्य	ज्ञान	आनंद
	७ अवस्था	स्थूल	सूक्ष्म	कारण	अ-कारण

उक्त कोष्टकसे गुहामें गुप्त रखे हुए तीन पर्वोंकी थोडीसी कल्पना हो सकती है। वेदमें 'त्रि' अथवा 'तीन' शब्द विशेष महत्त्वका है, देखिए—

(१) त्र्यनीकः– (त्रि-अनीकः) = तीन रूप, तीन तेज, तीन शक्तियां, इनसे युक्त। (ऋ.३।५६।३)

त्रिपाजस्यः— (त्रि-पाजस्यः) = स्थिरता, बल और तेजसे युक्त।

त्र्युधा— (त्रि-उधन्) = तीन प्रकारके पोषणोंसे युक्त।

(२) त्र्यरुणः— (त्रि-अरुणः = तीन तेजोंसे युक्त। (ऋ. ५।२७।१)

(३) त्रि-धातुः— तीन धारण शक्तियोंसे युक्त (ऋ. १।३४।६)

(४) त्रि-नाकः- तीन सुखोंसे युक्त। (ऋ. ९।११३।९)

त्रिदिवः — तीन दिव्यगुणोंसे युक्त। („)

(५) त्रि-षधस्थः— तीन स्थानोंमें रहनेवाला (ऋ. ८।३९।८)

त्रिसधस्थः— तीन गृहोंमें रहनेवाला (ऋ. ५।४।८)

(६) त्रि-पाद्—तीन पांववाला अथवा तीन प्रकार की गतियोंसे युक्त। (ऋ. १०।९०।३)

(७) त्रि-वरूथः—तीन श्रेष्ठताओंसे युक्त। (ऋ. ६।१५।९)

(८) त्रि-शोकः— तीन पवित्रताओंसे अथवा तीन तेजोंसे युक्त। (ऋ. ८।४५।३०)

(९) त्रि-नामन्— तीन यशोंसे युक्त। (अथर्व. ६।७४।३)

(१०) त्रि-प्रतिष्ठित— तीन प्रकारसे स्थिर (अथर्व. १०।२।३२)

(११) त्रि-वृत्— तीन प्रकारसे वेष्टन करनेवाला (अथर्व. ५।२८।४)

इस प्रकार अनेकविध वर्णन वेदोंमें आया है। 'त्रि' शब्दके समस्त प्रयोग देखनेके पश्चात् इसकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है। परंतु ये प्रयोग इतने हैं कि, सब प्रयोगोंका विचार करना एक बडी विस्तृत पुस्तक लिखे बिना हो सकता नहीं। यहां थोडीसी कल्पना आनेके लिये बहुतही थोडा संग्रह किया है।

आशा है कि पाठक इसका विचार करके और अन्य मंत्रोंको देखकर इस तीन संख्याके महत्वकी खोज करेंगे। इन तीन संख्याओंका महत्व जानना कोई आसान कार्य नहीं—

यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत्।

'जो उन तीन पदोंको जानता है, वह पालकोंका पालक होता है।' इतनी योग्यता इस गहन विचारको जाननेसे होती है। वह विषय बडा गहन है, बडे परिश्रमसे साध्य होनेवाला है। बहुतोंके परिश्रमसे सुसाध्य होना संभव है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना की है।

अस्तु। अब अगला मंत्र देखते हैं—

मंत्र १०

(८) वह हमारा भाई है।

'वह परमात्मा हम सबका भाई, जनक और धारण पोषण कर्ता है। वह जगतके सब स्थानोंको जानता है। जिस तीसरे परम श्रेष्ठ धाममें ज्ञानी पुरुष अमृतानंदका अनुभव लेते हुए विचरते हैं, वहां वह परमात्मा है ॥ १० ॥'

शरीर, मन और हृदय ये तीन धाम हैं। इनमें हृदय तीसरा धाम है। जिसमें परमात्माका साक्षात् अनुभव किया जाता है। हृदय भक्तिका स्थान है। मन विचारका स्थान है। और शरीर कर्मका स्थान है। ज्ञानियोंको अपने अमरपनका अनुभव भक्तिसे होता है। इसलिये तृतीय धामका वर्णन वेदोंमें बहुत है। देखिए—

तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसं ॥ ऋ. १०।४५।३; यजु० १२।२०

'तीसरे लोकमें रहनेवाले तेरी भक्ति करते हैं।'

तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ (यजु. ३२।१०)

तृतीये धामन्यभ्यैरयन्त ॥ (तै. आ. १०।१।४; महा. ना. उ. २।५)

'तीसरे स्थानमें ऊपर चढकर रहते हैं।'

तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ॥ (अथर्व. १८।४।३।९।५।८)

तृतीये नाके अधि विश्रयैनम् ॥ (अथर्व. ९।५।४)

'तीसरे स्वर्गमें इसका आश्रय करो।'

असश्चतः शतधारा अभिश्रियो हरिं नवन्तेऽव ता उदन्युवः ॥ क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ॥ (ऋ. ९।८६।२७)

'जहां (अ-सश्चतः) लगातार चलनेवाले संकडों धाराओंसे युक्त उदकके फंवारे (हरिं) आपत्तिका हरण करनेवाले ईश्वरका वर्णन करते हैं, वहां द्युकोकके चमकीले तीसरे पृष्ठपर (गोभिः) इद्रियोंके साथ रहते हुए (क्षिपः) पुरुषार्थी लोग अपने आपको (परि मृजंति) शुद्ध करते हैं।'

नदीके तटपर अथवा स्रोतके पास बैठ कर ज्ञानी पुरुषार्थी लोग हृदयमें परमात्माकी भक्ति करके शुद्ध होते हैं। यह आशय इस मंत्रमें है, तथा—

येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निं स्वराभरन्तः ॥ तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निं यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषम् ॥ ४९ ॥ तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधिरोचने दिवः ॥ ५० ॥ (यजु. वा. सं. १५)

'जिस तपको करनेवाले, आत्माग्निको प्रज्वलित करनेवाले और (स्वः) आत्मिक तेजका पोषण करनेवाले ऋषिगण जिस यज्ञको अर्थात् प्रशस्त (सत्रं) कर्मको करते हैं, उस (नाके) स्वर्गमें अर्थात् उस कर्ममें मैं उस अग्निको (निदधे) रखता हूं कि, जिसको (मनवः) विचारी विद्वान् (तीर्ण-बर्हिषं) मनसे परे रहनेवाला कहते हैं।'

'हे (देवाः) विद्वानो! उस यज्ञके पीछे हम सब पत्नी, पुत्र, भाई और धनोंके साथ (अनुगच्छेम) चलेंगे। जिससे (सु-कृतस्य दिवः) उत्तम कर्मरूपी स्वर्ग लोकके (तृतीये पृष्ठे) तीसरे पीठ पर (रोचने लोके) तेजस्वी लोकमें (नाकं गृभ्णानाः) आनंदका अनुभव करते हुए रह सकते हैं।'

इन मंत्रोंसे स्वर्गके तीसरे मंजिलकी कल्पना ठीक ठीक आ सकती है। 'सु-कृत' अर्थात् सत्कर्मही स्वर्ग है, उसमें

१ श्रेष्ठ सु-कृत-श्रेष्ठ कर्म-पहिला स्वर्ग-सत्।

२ श्रेष्ठतर सु-कृत-श्रेष्ठतर कर्म-दूसरा स्वर्ग-चित्।
३ श्रेष्ठतम सु-कृत-श्रेष्ठतम कर्म-तीसरा स्वर्ग-आनंद।

ये तीन मंजिलें हैं। श्रेष्ठतम कर्मकी तीसरी मंजिलपर आनंदका अनुभव आता है। भाई, पत्नी, पुत्र और अपना धन इन सबके साथ इसी मंजिलकी प्राप्तिके लिये चढना है, इसीलिये कहा है कि—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ॥
(यजु. अ. १।१)

'परमात्म देव आप सबको श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रेरित करे।' क्यों कि श्रेष्ठतम कर्म ही तीसरा स्वर्ग है। अस्तु। उक्त मंत्र पर विचार करनेसे वैदिक स्वर्गकी सच्ची कल्पना हो सकती है।

और देखिए—

अनृणा अस्मिन्ननृणा परस्मिन् तृतीये लोके अनृणा स्याम ॥
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ॥
(अथर्व. ६।११७।३)

'इस लोकमें, परलोकमें और तीसरे लोकमें हम सब अनृण होवें। जो विद्वानोंके और रक्षकोंके आनेजानेके मार्ग और स्थान हैं उन सब स्थानोंमें हम सब अनृण होकर रहें।'

इसमें तीसरे लोकोंमें अनृण अर्थात् कर्ज (ऋण) मुक्त होकर रहनेकी कल्पना है। यह तीसरा लोक कौनसा है? इसका विचार करनेके लिए निम्न बातको विचारना चाहिए—

'मैं'	अहं (आत्मा)	अस्मत्	एष लोकः	अहंभाव
'दूसरा'	अन्-अहं (अनात्मा)	युष्मत्	परलोकः	परभाव
मेरा और दूसरेका परस्पर संबंध	परस्पर संबंध जोडनेवाला सुकृत	युष्मदस्मत्संबंधः आचारः	तृतीयलोकः। सुकृतस्य लोकः। श्रेष्ठतम कर्मः।	दोनोंका संयोग। सत्कर्मयोग

इस विश्वमें (१) 'मैं' और (२) 'मैं-नहीं,' ऐसे दो पदार्थ हैं। 'मैं' से आत्मा जाना जाता है और 'मैं-नहीं' से आत्माके अतिरिक्त सब विश्व 'अनात्मा' जाना जाता है। मेरे सिवाय भिन्न जितना विश्व है, उसके साथ मेरा क्या कर्तव्य है? इसका विचार करनेसे अपने संपूर्ण व्यवहारका परिज्ञान होता है। यही सुकृतका लोक है। धर्म और धर्मका ज्ञान इसी विचारसे होता है। मानो सुकृतसे मेरा और दूसरोंका संबंध जोडा जाता है और दुष्कृतसे मेरा और दूसरोंका संबंध तोडा जाता है। मेरा कुटुंबके साथ, जातिके साथ, राष्ट्रके साथ, संपूर्ण जनताके साथ तथा संपूर्ण विश्वके साथ क्या संबंध है? मेरा उनके साथ क्या कर्तव्य है? इसका सब विचार 'सु-कृत-लोक' शब्दमें आचुका है। यही 'सुकृत-लोक' दूसरोंके साथ मेरा संबंध अच्छी प्रकार जोडता है।

मुझे अपने विषयमें अनृण होना चाहिए; दूसरोंके विषयमें अनृण होना चाहिए और दोनोंका संबंध होनेपर जो कर्तव्य करने होंगे, उन कर्तव्योंको करनेके समय भी अनृण होना चाहिए। ऋण शब्दसे न्यूनता बताई जाती है और अनृण शब्दसे पूर्णता बताई जाती है। मुझे (१) अपने कर्तव्य, (२) दूसरोंके विषयमें कर्तव्य और (३) दोनोंको संयुक्त रखनेके लिये कर्तव्य, इस प्रकार करने चाहिए कि, जिनमें न्यूनता न रहे। अस्तु। इस प्रकार तृतीय-सुकृत-लोककी एक नवीन कल्पना यहां विदित हुई।

तृतीय धाम, तृतीय लोक, तृतीय नाक आदि कल्पनाओंके विषयमें बहुत खोजकी आवश्यकता है। चारों वेदोंमेंसे सब वचन एकत्रित करके विचारपूर्वक खोज करनेके पश्चात् मंत्रोंके आशय निश्चित किये जा सकते हैं। यहां थोडासा

दिग्दर्शन कराया है। पाठकोंको उचित है कि वे खोज करें और गूढ आशयको प्रकाशित करें।

अब कुछ पाठभेदोंका विचार करना है। अथर्ववेदमें निम्न प्रकार पाठभेद हैं—

स नः पिता जनिता स उत बंधुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३॥ परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ॥ यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥ (अथर्व. २।१)

'वह हमारा (पिता) रक्षक, (जनिता) उत्पादक, प्रेरक और बंधु है। वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है। वह अन्य देवोंके नाम धारण करनेवाला एकही ईश्वर है। उसीके पास प्रश्न पूछनेके लिए सब लोग जाते हैं।'

'(कं) आनंदकारक (ऋतस्य विततं तंतुं) सत्यके व्यापक धागेको (दृशे) देखनेके लिये, सब भुवनोंमें (परि आयम्) मैंने भ्रमण किया। अमरपनका अनुभव लेनेवाले ज्ञानी (यत्र समाने योनौ) जिस एक समान आदिकारणमें उन्नत होते हुए चढते हैं।' वह वहां सूत्रात्मा है।

पाठक इन मंत्रोंके पाठभेदोंकी तुलना अपने दशम मंत्रके साथ कर सकते हैं। इसमें कई बातें अधिक हैं। और कई अंशोंमें अर्थका गौरव भी है। अब ऋग्वेदका पाठ देखिए-

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

(ऋ. १०।८२।३)

'जो हम सबका रक्षक, उत्पादक, धारक और पोषक है, जो सब भुवनों और धामोंको जानता है, जो सब देवताओंसे नामोंका धारण करता है। वह एक ईश्वर है। उसको प्रश्न पूछनेके लिये दूसरे सब लोग (संयंति) एकत्रित होते हैं।'

इन मंत्रोंमें पिता और जनिता ये दो शब्द क्रमशः रक्षक और जनकके बोधक हैं। इनपर बहुत विचार करना चाहिए। वेदोंमें 'पितरः' देवतावाले जो मंत्र आते हैं, उनका अर्थ करनेके समय इस अर्थको ध्यानमें रखना उचित है। अस्तु। इस प्रकार दशम मंत्रका विचार हुआ। अब अगला मंत्र देखेंगे-

मंत्र ११-१२

(९) सत्यके अटल धागेका दर्शन

'सब भूतों, सब लोकों और सब दिशा विदिशाओंको जानकर, सत्य नियमके पहिले प्रकाशकको उपासना करके ज्ञानी केवल आत्म-स्वरूपसे परमात्मामें प्रविष्ट होते हैं ॥ ११ ॥'

'द्युलोकसे पृथ्वीलोक तक सब पदार्थों, सब लोकों और दिशा विदिशाओंको तथा आत्मप्रकाशकको जानकर, सत्यके व्यापक तंतुको अलग करके उसको जब जानता है, तब जीवात्मा जैसा पहिले था वैसा होता है ॥ १२ ॥'

यह आशय इन दो मंत्रोंका है। इन दो मंत्रोंमें निम्न बातें कहीं हैं। (१) तृणसे लेकर सूर्यतक सब सृष्टिके पदार्थोंको जानना। (२) सूत्रात्माको व्यापार और सृष्टिसे अलग मानना और अनुभव करना। (३) आत्माका परमात्माके साथ योग करना। (४) और पूर्व अवस्थाके सदृश अवस्थाको प्राप्त करना। ये चार उपदेश इन दोनों मंत्रोंमें हैं। इनका क्रमशः विचार करना है।

(१) सब सृष्टिके पदार्थोंको जानना

परीत्य भूतानि, परीत्य लोकान्, परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ॥ ११ ॥ परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा, परिलोकान्, परिदिशः, परिस्वः ॥ १२ ॥

दो मंत्रोंके ये दो प्रथम अर्ध हैं। प्रायः इनका आशय एकसा ही है। दूसरे मंत्रार्धमें 'परि स्वः' नह शब्द अधिक है 'स्वः, स्वर्, सु-वर' इनका अर्थ 'स्व-प्रकाश, आत्म-तेज, आत्म-बल' है। विश्वको जानना और आत्म शक्तिको जानना है। केवल विश्वको जाननेसे कार्य नहीं होगा, तथा केवल आत्म शक्तिका विचार करनेसे भी कार्य नहीं होगा। दोनोंको जानना चाहिए।

पदार्थ-विद्यासे सब जगत् जाना जाता है, और आत्म-विद्यासे आत्मा जाना जाता है। पदार्थविद्याको अविद्या और आत्मविद्याको विद्या कहते हैं। इन दोनोंको जानना चाहिए। चाहिए। पदार्थविद्यासे सृष्टिके अटल नियमोंका परिज्ञान होता है, और ये अटल नियम जहांसे प्रेरित होते हैं, उस परमात्माका ज्ञान आत्मविद्यासे होता है।

इतनी विस्तृत सृष्टिको किस प्रकार जानना ? ऐसी शंका यहां कोई कर सकता है। सृष्टिके तत्वोंको जाननेसे सब

सृष्टि जानी जा सकती है। जिस प्रकार थोडे अग्नितत्वको जाननेसे संपूर्ण अग्नितत्व जाना जा सकता है, इसी प्रकार वायु, विद्युत्, आदि अन्य पदार्थोंके गुणधर्म जाननेसे संपूर्ण सृष्टिका बोध होता है, क्योंकि तत्वोंके नियम, गुणधर्म और विकास सर्वत्र एक समानही हैं।

इस प्रकार सृष्टिका परिज्ञान होतेही सूत्र आत्माका अलग अस्तित्व प्रतीत होने लगता है :

(२) व्यापक सूत्रात्माको सृष्टिसे अलग मानना।

यह आत्मविद्याके ज्ञानसे साध्य होता है। प्रकृति और आत्मा परस्पर भिन्न हैं, ऐसा निश्चित ज्ञान होना चाहिए।

उपस्थाय प्रथम-जां ऋतस्य ॥ ११ ॥
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य ॥ १२ ॥

उक्त दो मंत्रोंके ये तृतीय चरण प्रायः एकही भाव प्रदर्शित करते हैं। 'ऋत अर्थात् अटल नियमोंके प्रथम प्रवर्तकके सन्मुख होना' पहिलेका आशय है, और 'ऋत अर्थात् सत्यके व्यापक सूत्र-आत्मा-को अलग करके' देखना दूसरेका आशय है। इसी तंतुके विषयमें ऋग्वेदमें कहा है—

विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य
कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः ॥ (ऋ. १०।५।३)

'(चरतः ध्रुवस्य) जंगम और स्थावर (विश्वस्य नाभिं) विश्वके मध्यमें रहनेवाले (तन्तुं) सूत्रको (कवेः चित् मनसा) कविके मनसेही (वि-यन्तः) अलग करते हैं।'

स्थावर जंगम जगत्के बीचमें व्यापक सूत्रात्माको कविकी दिव्य दृष्टिसे अलग देखना और अनुभव करना चाहिए। साधारण दृष्टिसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता। जो ज्ञान साधारण मनुष्य नहीं जान सकते उसको कवि अच्छी प्रकार जान सकते हैं। कविकी दृष्टि उच्च और दिव्य होनेसे दूरतक पहुंचती है। तंतुके विषयमें अथर्ववेद कहता है—

रोहितो द्यावा पृथिवी जजान तत्र तन्तुं
परमेष्ठी ततान ॥ तत्र शिश्रियेऽज एक-
पादोऽदृंहद् द्यावा पृथिवी बलेन ॥
(अथर्व. १३।१।६)

'(रोहितः) तेजस्वी परमात्माने द्युलोक और पृथिवी लोक बनाये और (तत्र) उनके बीचमें (परमेष्ठी) परमात्माने (तंतु) एक धागेको (ततान) फैलाया है। और (बलेन) शक्तिसे द्युलोक और पृथिवीको (अ दृंहत) बलवान् किया है (तत्र) वहां (एक-पात् अ-जः) एक अंशरूप अज अर्थात् जीवात्मा (शिश्रिये) आश्रय लेता है।' तथा—

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ॥
तमाहुतमशीमहि ॥ (अथर्व. १३।१।६०)

'जो यज्ञ अर्थात् सत्कर्मका साधन तंतु देवोंमें फैला है, (तं) उसके लिये (आहुतं) ज्ञान करनेके पश्चात् (अशीमहि) हम सब मिलकर अन्न ग्रहण करते हैं।'

इस प्रकार 'विश्वव्यापक तंतु' के विषयमें वेदोंमें लिखा है, पूर्व मंत्रके स्पष्टीकरणमें तन्तुके विषयमें आया हुआ मंत्र भी यहां देखने योग्य है। इस सूत्रात्माको जानना चाहिए। जैसा मोतियोंके बीचमें सब मालाके आधारके लिये एक धागा होता है, उसीप्रकार सूर्यचंद्रादि मोतियोंके बीचमें परमात्मा सूत्ररूप है। इस प्रकार व्यापक और आधारभूत परमात्माकी कल्पना यहां स्पष्ट की गई है। इस कल्पनाको देखनेके पश्चात् 'ऋतस्य प्रथम-जां' शब्दोंसे युक्त होनेवाली कल्पनाको विशेष रीतिसे देखना चाहिए—

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदिते-
रुपस्थे ॥ अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व
आयुनि वृषभश्च धेनुः ॥ (ऋ. १०।५।७)

'(दक्षस्य) बलकी (जन्मन्) उत्पत्तिके समय (अ-दितेः) अविनाशी मूल प्रकृतिके (उप-स्थे) पास (परमे व्योमन्) परम विस्तृत आकाशमें (सत् च) तीनों कालोंमें एक समान रहनेवाला अविकारी आत्म-तत्व और (अ-सत् च) उस आत्मासे भिन्न पदार्थ थे। इस (पूर्वे आयुनि) प्रथम अवस्थामें (ह) निश्चयसे (नः) हम सबके अंदर (ऋतस्य) सत्यकी (प्रथम-जाः) पहिला प्रवर्तक (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर प्रकाशित हुआ और उसके साथ (वृषभः) बल और (धेनुः) पोषणशक्ति थी।'

'दक्षस्य जन्मन्' से तात्पर्य सृष्टिकी उत्पत्तिसे है। प्रलयकालमें प्रकृति, जीव, परमात्मा एक विशेष अवस्थामें रहते हैं। सृष्टिके प्रारंभमें परमात्माके बलका संचार प्रथम प्रकृतिमें होता है। वही 'दक्षका जन्म' यही सृष्टिकर्ता ईश्वर है। इसके साथ वृषभ और धेनु होती है। वृष-भ वृष-ण आदि शब्द बल, वीर्य आदि भाव प्रदर्शित करते हैं, और धेनु शब्द पोषणशक्ति द्योतक है। देखिये—

वृष-भ	धेनुः
वीर्य-दाता	दुग्ध-दात्री
जनक-त्व	मातृ-त्व
पुरुष-शक्ति	स्त्री-शक्ति
चैतन्य	प्रकृति

अर्थात् ये दो शब्द दो भावोंको व्यक्त कर रहे हैं। इस विश्वमें स्त्री भाव और पुरुष भाव पशुपक्षियों और वृक्ष-वनस्पतियोंमें भी विद्यमान है। परमेश्वरने जो अपनी शक्ति प्रथम प्रकृतिमें प्रकाशित की, उसी समयसे स्त्री पुरुष शक्तियां जगतमें कार्य करने लगीं हैं, यह तात्पर्य उक्त मंत्रमें है। अस्तु। इस मंत्रमें 'ऋतस्य प्रथमजा' का वास्तव स्वरूप देखा जा सकता है। इसी विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्। यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्॥ (अथर्व. ४।३५।१)

'(ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) सत्यके प्रथम प्रवर्तक प्रजापतिने (तपसा) अपने तेजसे (यं ओदनं) जिस सृष्टिरूपी चावलोंको (ब्रह्मणे) ज्ञानके लिये (अ-पचत्) पकाया और (यः) जो (लोकानां विधृतिः) लोकोंका विशेष धारण कर्ता और जो सबका मध्य है, उसके (तेन ओदनेन) पकाये हुए सृष्टिरूपी चावलोंसे (मृत्युं अतितराणि) मृत्युके पार होते हैं।'

इस मंत्रमें सृष्टिको मुक्तिका साधन बताते हुए कहा है, कि प्रजापति परमेश्वर 'ऋतका प्रथम प्रवर्तक' है। इस मंत्रको देखनेसे 'ऋतस्य प्रथम-जा' का सच्चा स्वरूप व्यक्त होता है। देखिए—

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य। अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेण॥ (अथर्व. ६।१२२।१)

(ऋतस्य प्रथमजा विश्व-कर्मन्) सत्यके पहिले प्रवर्तक विश्वके कारीगरको (विद्वान्) जानकर मैं यह अपना भाग अर्पण करता हूं। जिससे हम सब (अछिन्नं तंतुं) अटूट धागेको पकड कर, (जरसः परस्तात्) बुढापेसे भी परेकी आयुका अनुभव करते हुए (अनु) ज्ञानियोंके पीछे पीछे रहते हुए (सं) एक होकर (तरेम) तरेंगे। पार होंगे।

यहां विश्वका कर्ता ही ऋतका पहिला प्रवर्तक है ऐसा कहा है और देखिए—

त्वमस्याऽऽवपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना। यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य॥ (अथर्व. १२।१।६१)

'हे मातृभूमि! तू (आ-वपनी) बीज बोने योग्य (अ-दितिः) अखंडित (जनानां काम-दुघा) लोगोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली और विस्तृत है। जो कुछ तेरे अंदर (ऊनं) न्यून होता है उसको सत्यका पहिला प्रवर्तक प्रजापति परमेश्वर (आ पूरयाति) पूर्ण करता है।'

इन मंत्रोंको देखनेसे 'ऋतस्य प्रथमजा' का अर्थ स्पष्ट होता है। देखिए—

अग्निर्ह नः प्रथम-जा ऋतस्य (ऋ. १०।५।७)
प्रथम-जा ऋतस्य प्रजा-पतिः। (अथर्व ४।३५।१)
विश्व-कर्मन् प्रथम-जा ऋतस्य। (अथर्व. ६।१२२।१)
प्रजापतिः प्रथम-जा ऋतस्य। (अथर्व. १२।१।६१)
उपस्थाय प्रथम-जामृतस्य। (यजु. ३२।११)

इन मंत्रोंको अन्वयरूपसे निम्न प्रकार रखते हैं—

ऋतस्य प्रथम-जा अग्निः।
ऋतस्य प्रथम-जा प्रजा-पतिः।
ऋतस्य प्रथम-जा विश्व कर्मा।

अर्थात् 'अग्नि, प्रजापति, विश्वकर्मा' शब्दोंसे जो परमेश्वर बोधित होता है, वही 'ऋतस्य प्रथमजा' शब्दोंसे होता है। यहां जाते जाते यह भी एक बात सिद्ध हुई, कि अग्नि-प्रजापति-विश्वकर्मा ये तीन देवता भिन्न नहीं, परंतु एक ही अद्वितीय परमात्माके ये तीन नाम हैं। 'ऋतस्य प्रथमजा' का अर्थ भी यहां निश्चित हो गया। इस प्रकार संपूर्ण वेदोंका भाव देखकर अर्थका निश्चत करनेसे वैदिक शब्दोंके अर्थोंका निश्चित ज्ञान हो सकता है।

अस्तु। अब बारहवें मंत्रका अंतिम भाग रहता है। वह यह है—

(१) तदपश्यत्। (२) तदभवत्।
(३) तदासीत्॥

इसका शब्दार्थ और भावार्थ पहिला दिया हुआ यहां फिर देखना चाहिए। 'जब उस (तत्) परमेश्वरको (अपश्यत्) देखता है, तब वह (तत् अभवत्) वैसा बनता है, जैसा कि (तत् आसीत्) वह था।'

मुक्त अवस्थामें जैसा पहिले था, वैसा फिर होता है। परमेश्वरका साक्षात्कार करनेका यह परिणाम है। 'जैसा था वैसा होता है।' (तत् आसीत् तद् अभवत्) इससे ध्वनित होता है, कि जीवात्मा यहां आनेसे पूर्व जैसा था अब फिर वैसा बना है। अर्थात् यदि फिर लौट जायगा, तो फिर भी वैसा ही बनेगा। इसमें कोई डरनेकी बात नहीं; यह एक पौरुष-सातत्यकी उच्च कल्पना है।

अस्तु। यहां इन मंत्रोंका विचार छोडकर अब अगले मंत्रोंका विचार करेंगे।

मंत्र १३ से १५

(१०) सद्बुद्धि के लिये प्रार्थना ।

' सबको प्राप्त करने योग्य, अद्भुत और प्रियमित्र ईश्वरसे हम सबोंकी प्रार्थना है, कि वह हम सबोंको योग्य उपभोग और उत्तम सद्बुद्धि प्रदान करे ॥ १३ ॥ '

यह १३ वे मंत्रका आशय है । ' सदसः पतिं ' शब्दका अर्थ जगत्का स्वामी है, क्योंकि ' सदस् ' शब्दसे संपूर्ण जगत् ही लेना चाहिए । सदस् शब्दका मूल अर्थ ' घर ' है, परमेश्वरका घर यह सब विश्व है, क्योंकि उसके अंदर वह रहता है ।

' इन्द्रस्य प्रियं ' का अर्थ ' जीवात्माका हितकर्ता ' है । जीवात्माका सच्चा मित्र परमात्मा ही है । इन्द्र शब्दका अर्थ यहां ' जीवात्मा ' है ।

' स्वा-हा ' (स्व-आ-हा) का अर्थ ' आत्मसमर्पण ' है । दूसरा अर्थ (सु-आह) ' उत्तम भाषण ' करना है । परस्परका बर्ताव कैसा होना चाहिए, इसका उत्तर इस शब्दने दिया है । परस्परका बर्ताव स्वार्थत्याग युक्त होना चाहिए । प्रत्येकको उचित है कि, वह दूसरेके लिये अपना स्वार्थ त्याग करे । इसी प्रकार सबका परस्पर बर्ताव हो । परस्पर वार्तालाप भी उत्तम भाषणद्वारा हो । कोई मनुष्य झगडेकी बात न करे । इस प्रकारके व्यवहार और वार्तालापसे समाजमें शांति और एकताका बल रहता है । जिससे मनुष्य उन्नति करके उपभोगके पदार्थ तथा उत्तम बुद्धिको प्राप्त कर सकते हैं ।

' हे ईश्वर ! ज्ञानी और रक्षक मनुष्य जिस प्रकारकी बुद्धि चाहते हैं, उस प्रकारकी बुद्धिसे मुझे युक्त करो । ' ॥१४॥

राष्ट्रमें ज्ञानी, रक्षक, व्यापारी, कारीगर और जंगली ऐसे पांच प्रकारके लोग होते हैं, जिनको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद कहा जाता है । इनमें ज्ञान देनेवाला ब्राह्मण और सबका संरक्षण करनेवाला क्षत्रिय ये दोनों श्रेष्ठ हैं । इसलिये इन दोनोंका ग्रहण इस मंत्रमें किया है । इनमें जिस प्रकारकी बुद्धि हुआ करती है, उस प्रकारकी बुद्धि प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त करनी चाहिए । अर्थात् ज्ञान और शौर्य ये दो गुण प्रत्येक मनुष्यको धारण करने चाहिए ।

मंत्र १५ में ' विशिष्ट गुणोंसे युक्त परमात्मा हम सबको धारणाशक्तिसे युक्त मेधा बुद्धि प्रदान करे, ' ऐसी प्रार्थना है । इसका भाव पूर्वोक्त प्रकार ही समझना चाहिए ।

इन तीनों मंत्रोंके अंतमें ' स्वाहा ' शब्द आया है, जिसका अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) स्व-आ-हा= अपने सर्वस्वका विश्वरूपीकी सेवाके लिये पूर्णतासे त्याग । दान, परोपकार ।

(२) सु-आह= उत्तम भाषण करना ।

(३) स्व-आह= अपने मनमें जैसी बात होती है, वैसी ही प्रकट करनी, अर्थात् छल कपट छोडकर, सत्यनिष्ठापूर्वक भाषण आदि व्यवहार करना ।

इन अर्थोंको पूर्वोक्त तीनों प्रार्थनाओंके साथ जोडकर विचार करनी चाहिए । जिससे विशेष अर्थका भाव पाठकोंके मनमें प्रगट होगा ।

मंत्र १६

(११) ब्राह्मण और क्षत्रियकी समान उन्नति ।

' ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर उत्तम तेजस्विता प्राप्त करें । सब उत्तम गुण मेरेमें तेजकी स्थापना करें । उस कार्यके लिये तेरा समर्पण होवे । '

राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय, ज्ञानी और शूर, विद्वान् और बलवान्, मिलजुल कर रहें तथा उनमें तेज रहे । जब इनमें परस्पर द्वेष होगा, तब राष्ट्रमें शिथिलता अर्थात् कमजोरी आ सकती है; इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियोंको उचित है कि, वे कभी आपसमें द्वेष न बढने दें । ब्राह्मण और क्षत्रिय राष्ट्रमें ऐसी शिक्षाका प्रचार करें, कि जिससे प्रत्येक व्यक्तिका तेज, उत्साह, ज्ञान और बल उन्नतिको प्राप्त हो । इस शिक्षा प्रचारके लिये हरएकको स्वार्थत्याग करना चाहिए ।

राष्ट्रमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी अवस्था अच्छी उन्नत न होगी, तो वैसे अवनत राष्ट्रमें परमेश्वरकी उपासना यथोचित नहीं हो सकती । इसलिये इस अंतिम मंत्रमें कहा है कि, राष्ट्रमें इनकी उन्नति विशेष प्रकारको होनी चाहिए । समाज और राष्ट्रकी उन्नति होनेपर प्रत्येक व्यक्ति भी धार्मिक हो सकती है । व्यक्तिकी उन्नतिके लिये समाजकी उन्नति सहायक और राष्ट्रीय अवनति विघातक होती है । इस दृष्टिसे इस मंत्रका विचार करना चाहिए ।

ॐ (व्यक्तिकी) शांति ! (जनताकी) शांति !! (जगत्की) शांति !!!

सुभाषित

१ इन्द्रश्च सम्राट् ।
परमेश्वर सम्राट् है ।

२ इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा ।
परमेश्वर स्थावर जंगमका राजा है ।

३ इन्द्रः सत्ययोनिः ।
परमेश्वर सत्यका प्रवर्तक है ।

४ इन्द्रः सत्यः सम्राट् ।
परमेश्वर सच्चा महाराजा है ।

५ न तस्य प्रतिमा अस्ति ।
उसकी कोई प्रतिमा–उपमा–नहीं । (मं. ३)

६ एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः ।
वह परमेश्वर सब दिशाओंमें भरा है । (मं. ४)

७ प्रजापतिः प्रजया संरराणः ।
प्रजापालक प्रजाके साथ मिलकर रहता है । (मं. ५)

८ वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासत् ।
बुद्धिमें रहनेवाले उस सत्य ब्रह्मको ज्ञानी देखता है । (मं. ८)

९ यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
सब विश्व वहां एक आश्रयसे रहा है ।

१० तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् ।
उसीमें यह सब बनता और बिगडता है ।

११ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ।
वह सब विश्व ओतप्रोत है ।

१२ यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ।
जो उसको जानता है वह पालकोंका पालक होता हैं । (मं. ९)

१३ स नो बन्धुः ।
वह हमारा भाई है । (मं. १०)

१४ स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
वह जगदुत्पादक ईश्वर सब जगत् और सब स्थानोंको जानता है ।

१५ आत्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश ।
आत्मस्वरूपसे परमात्मामें घुसता है । (मं. ११)

१६ ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदापश्यत् ।
सत्यके फैले हुए अटल सूत्रका अलग अनुभव करनेके पश्चात् उसको देखता है । (मं. १२)

१७ तया ममाद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ।
हे तेजस्वी ईश्वर ! उस मेधा बुद्धिसे मुझे आज बुद्धिमान् करो । (मं. १४)

१८ ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
ज्ञान और शौर्य इन दोनोंकी शोभा बढे । (मं. १६)

१९ मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमाम् ।
सब विद्वान् मेरे अंदर उत्तम तेज बढावें ।

२० एकं सद् विप्रा बहु-धा वदन्ति ।
एक ही ब्रह्मको ज्ञानी अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं । (स्प. मं. १)

२१ स एष एक, एक वृदेक एव ।
वह एक है । केवल एक है । निश्चयसे एक है ।

२२ सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति ।
सब अन्य देव इस एकमें एकरूप होते हैं ।

२३ यस्य छायाऽमृतम् ।
जिसका आश्रय अमरपन है । (मं. ३)

२४ यस्मान्न ऋते विजयन्तो जनासः ।
जिसके विना मनुष्य विजय नहीं पा सकते ।

२५ नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति ।
न इसका कोई शत्रु है, और न इसकी कोई प्रतिमा है ।

२६ एको ह देवो मनसि प्रविष्टः ।
एक ही देव मनमें प्रविष्ट हुआ है । (मं. ४)

२७ य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम् ।
वह एक ही सब मनुष्योंको पूजने योग्य है ।

२८ यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ।
जिससे अधिक श्रेष्ठ कोई बना नहीं है । (मं. ५)

२९ अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना।
उसका अज्ञान नष्ट हुआ और वह पापसे छूट गया, (जिसने ईश्वरकी उपासना की)।

३० ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यम्।
सत्कर्म करनेवाले सदाचारी लोगोंके बीचमें जाओ।

३१ प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्।
तू प्रभु है, इसलिये तेरी हम सब पूजा करते हैं।

३२ देवानां समवर्तताऽसुरेकः।
सब देवोंका प्राणरूप ईश्वर एक ही है। (मं. ६)

३३ यो देवेष्वधि देव एक आसीत्।
जो सब देवोंमें एक अधिराज है।

३४ अतो धर्माणि धारयन्।
वह शाश्वत सत्य नियमोंका धारण करता है। (मं.८।९)

३५ इन्द्रस्य युज्यः सखा।
जीवात्माका योग्य मित्र वह ही है।

३६ सदा पश्यंति सूरयः।
ज्ञानी ही सदा सत्य देखते हैं।

३७ जागृवांसः समिन्धते।
जागनेवाले ही एक होकर प्रकाश करते हैं।

३८ तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
उसीसे सब चारों दिशाओं-में रहनेवाले सब-जीते रहते हैं।

३९ असश्चतः शतधारा अभिश्रियः।
सतत प्रयत्न करनेवालेको सैंकडों प्रवाहोंसे यश प्राप्त होता है। (मं. १०)

४० क्षिपो मृजन्ति।
पुरुषार्थी लोग पवित्र होते हैं। और पवित्र करते हैं।

४१ तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
हे विद्वानो ! पत्नी, पुत्र, भाई और धन आदिसे उसी ईश्वरकी हम सब सेवा करेंगे।

४२ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।
परमात्मदेव आप सबको उच्चतम कर्ममें लगावे।

४३ अनृणाः स्याम।
हम सब ऋण मुक्त हों।

४४ सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम।
ऋणसे मुक्त होकर उन्नति मार्गोंसे हम सब चलेंगे।

४५ यो देवानां नाम-धा एक एव।
वह अन्य देवोंका नाम धारण करनेवाला एक ही देव है।

४६ कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः।
कविकी विचारशक्तिसे सूत्रात्माको अलग देखते है। (मं. ११।१२)

४७ तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
जगतमें परमात्माके एक सूत्रको फैलाया है।

४८ तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्।
उस परमात्माके पकाये भातके सेवन करनेसे मृत्युसे पार होते हैं।

४९ यत्त ऊनं तत्त आपूरयाति।
जो तेरेमें न्यून है, उसको वह पूर्ण करता है।

५० तदपश्यत्। तदभवत्। तदासीत्।
उसको देखनेके पश्चात् वैसा बनता है, जैसा कि था।

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः ।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः ॥ १ ॥

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि । यतन्ते वृथगग्नयः ॥ २ ॥

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ२ ऋतं बृहत् । अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥ ३ ॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२ अश्वाँ२ अग्ने रथीरिव । नि होता पूर्व्यः सदः ॥ ४ ॥

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्याऽन्या वत्समुप धापयेते ।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥ ५ ॥

[१६९६] (अस्य अग्नयः) इस यजमानकी अग्नियाँ (अजरासः, दमां, अरित्राः, अचर्द्धूमासः, पावकाः श्वितीचयः, श्वात्रासः, भुरण्यवः, वनर्षदः, वायवः न सोमाः) जरारहित, गृह संरक्षक, शत्रुको दूर करनेवाली, अर्चन योग्य धूमसे युक्त, पवित्रता करनेवाली, ऐश्वर्य बढानेवाली शीघ्र फलदायक, जीवन पोषक, वन काष्ठोंमें रहनेवाली, वायुके समान जीवन दायक और यजमानको ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली हैं ॥ १ ॥

[१६९७] (हरयः धूमकेतवः वातजूताः अग्नयः) हरितवर्ण, धूमरूप केतुसे युक्त और वायुसे प्रसार होनेवाले अग्नियें (उपद्यवि पृथक् यतन्ते) स्वर्गमें गमन करनेको नाना प्रकारसे यत्न करते हैं ॥ २ ॥

[१६९८] हे (अग्ने) अग्ने ! (नः मित्रा वरुणा यज) हमारे मित्रावरुण देवताओंके लिये यज्ञ करो, (देवान् यज) देवताओंके लिये यज्ञ करो, और (स्वं दमं यक्षि) अपने गृहके लिये यज्ञ करो अर्थात् यज्ञादि शुभ कर्मोंसे घरको संयुक्त करो ॥ ३ ॥

[१६९९] हे (अग्ने) अग्ने ! (देवहूतमान् अश्वान् हि रथी इव आयुक्ष्व) देवताओंके द्वारा वारंवार बुलानेवाले घोडोंको अवश्यही तुम सारथीके समान रथमें जोडो, क्योंकि (पूर्व्यः होता निषदः) पहिलेसे आमंत्रण करनेवाले तुम आज इस यज्ञकार्यमें स्थान ग्रहण कर बैठे रहो ॥ ४ ॥

[१७००] जैसे (द्वे विरूपे सु-अर्थे चरतः) दो भिन्न भिन्न रूप रंगवाली स्त्रियें शुभ कार्यमें लगी हुई भिन्न भिन्न प्रकारसे विचरण करती हैं, और (अन्या अन्या वत्सं उपधापयेते) पृथक् पृथक् वे दोनों एक दूसरेके बालकको दूध पिलाती है, (अन्यस्यां हरिः स्वधावान् भवति) एकमेंसे तो श्यामवर्णका स्वधावान् पुत्र होता है और (अन्यस्यां शुक्रः सुवर्चा ददृशे) दूसरीमेंसे शुद्ध उत्तम तेजस्वी पुत्र प्रकट हुआ दिखलाई देता है, वैसे ही रात्री और दिन दोनों प्रकाश और अन्धकारके कारण भिन्न भिन्न रूप होकर विचरते हैं, और दोनों पृथक् पृथक् एक दूसरेके बालकके समान चंद्र और सूर्यको पालनपोषण करते हैं, एकमें ताप आदि हरनेसे हरि ओषधिका पोषक चन्द्र उत्पन्न होता है और दूसरी दिन वेलामें कान्तिमान् उत्तम तेजस्वी सूर्य दिखलाई देता है ॥ ५ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे-विशे ॥ ६ ॥
त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ७ ॥
मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविंᳬ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ ८ ॥
अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया । समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ९ ॥
विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना । पिबा मित्रस्य धामभिः ॥ १० ॥
आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके ।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानंᳬ स्वाध्यं जनयत् सूदयच्च ॥ ११ ॥

[१७०१] (अयं होता यजिष्ठः अध्वरेषु ईड्यः) यह अग्नि देवताओंको बुलानेवाला, यज्ञमें रहनेवाला, सोम यागादिमें स्तुतिको प्राप्त हुआ (इह प्रथमः धातृभिः आधायि) यहां यज्ञके स्थानमें मुख्य, स्थापन करनेवालोंसे स्थापित किया गया है। (अप्नवानः भृगवः) ज्ञानवाले मुनिगणोंने (विशेविशे चित्रं विभुं यं वनेषु विरुरुचे) प्रत्येक मनुष्यमें आश्चर्यकारक रीतिसे रहनेवाला व्यापक जिस अग्निको वनोंमें यज्ञस्थानोंमें प्रदीप्त किया है ॥ ६ ॥

[१७०२] (त्रीणि शता, त्री सहस्राणि, त्रिंशत् च नव च देवाः) तीन सहस्र, तीन सौ, तीस और नौ अर्थात् तीन हजार तीनसौ उन्तालीस देवता गण (अग्निं असपर्यन्) अग्निकी परिचर्या करते हैं। (घृतैः औक्षान्) घीकी आहुतियोंसे अग्निको प्रदीप्त करते हैं, और (अस्मै बर्हिः अस्तृणन्) इस अग्निके लिये कुशाओंके आसनको बिछाते हैं, (आत् इत् होतारं न्यसादयन्त) अनन्तर होताका संवरण करके उसको नियुक्त करते हैं ॥ ७ ॥

[१७०३] (देवाः दिवः मूर्द्धानं पृथिव्याः अरतिम्) देवगण द्युलोकके उच्च भागमें आदित्यसे पृथ्वीके सीमा सीमापर्यंत प्रकाशित, तेजसे यथासमय वर्षा कराकर प्राणियोंका पोषण करते हैं, और वे (वैश्वानरं ऋते आजातं कविं सम्राजं जनानां अतिथिं आसन् अग्निं) समस्त नरलोकके हितकारी, यज्ञमें उत्पन्न, क्रान्तदर्शी, सम्यक्‌रूपसे दीप्तिमान्, समस्त जनोंके लिये अतिथिवत् आदरणीय, मुखरूप हविभक्षक सामर्थ्यसे उत्पन्न हुये अग्निको (आपात्रम् अजनयन्त) सबकी रक्षा करनेवालेके रूपमें उत्पन्न किया ॥ ८ ॥

[१७०४] (समिद्धः शुक्रः आहुतः अग्निः) प्रदीप्त, शुद्ध और प्रार्थित अग्नि (द्रविणस्युः विपन्यया वृत्राणि जङ्घनत्) हविरूपी धनकी इच्छा करता हुआ, विविध प्रकारकी आहुतियों द्वारा पापोंको नाश करता है ॥ ९ ॥

[१७०५] हे (अग्ने) अग्ने ! (मित्रस्य विश्वेभिः धामभिः) मित्रके तेजसहित सम्पूर्ण देवता तथा (इन्द्रेण वायुना सोम्यं मधु आ पिब) इन्द्र और वायुके साथ सोमरसके मधुको पान करो ॥ १० ॥

[१७०६] (यत् इषे निषिक्तं शुचि तेजः नृपतिं आनट्) जिस समय अन्न जलके लिये देवताके उद्देश्यसे यज्ञमें हुत और मनसे संस्कार किया तेजयुक्त घृत पालक अग्निमें हवन होता है, उस समय (अग्निः, शर्धं अनवद्यं युवानं स्वाध्यं रेतः) अग्नि, बलका कारणभूत दोषरहित दृढ सम्यक् विचारयोग्य जगतके बीजरूप जलको (द्यौरभीके जनयत्) स्वर्गके समीप अन्तरिक्षमें मेघरूपसे प्रकट करता है (च आसूदयत्) और वृष्टिरूपसे गिरता है ॥ ११ ॥

अग्ने शर्धं महते सौभगाय तवं द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
सं जास्पत्यꣳ सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महाꣳसि ॥ १२ ॥

त्वाꣳ हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने ।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥ १३ ॥

त्वे अंग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान् दयन्त गोनाम् ॥ १४ ॥

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम् ॥ १५ ॥

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम् ।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः ॥ १६ ॥

महो अग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये ।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ १७ ॥

[१७०७] हे (अग्ने) अग्ने ! (महते सौभगाय शर्ध) बडे ऐश्वर्यके लिये बल प्रकाशित करो, (तव द्युम्नानि उत्तमानि सन्तु) तुम्हारे तेजस्वी यश श्रेष्ठ हों, (जास्पत्यं सुयवं समा कृणुष्व) स्त्रीपुरुष अर्थात् पति और पत्नीके भावको सुन्दर नियमबद्ध करो, और (शत्रूयतां महांसि अभितिष्ठ) शत्रुता करनेवालेके तेजोंको विनष्ट करो ॥ १२ ॥

[१७०८] हे (अग्ने) अग्ने ! (मन्द्रतमं त्वा हि अर्कशोकैः ववृमहे) अत्यन्त आनंद युक्त ऐसे तुमको ही सूर्यके समान तेजोंसे प्रकाशमान् वेदके मन्त्रों द्वारा हम स्वीकार करते हैं, तुम (नः महि श्रोषि) हमारे महान स्तोत्रोंको सुनते हो, हम (नृतमाः देवताः, शवसा इन्द्रं न च, वायुना त्वा राधसा पृणन्ति) मनुष्योंमें श्रेष्ठ देवता, बलमें इन्द्रके समान और वायुके सदृश प्रबल तुमको हवि रूप अन्नसे पूर्ण करते हैं ॥ १३ ॥

[१७०९] हे (स्वाहुत अग्ने) अच्छे प्रकारसे हवन किये गये अग्ने ! (जनानां ये यन्तारः मघवानः गोनां ऊर्वान् दयन्त) जनोंके मध्यमें जो जितेन्द्रिय धनवान्, गोसम्बन्धी दूध दही घृतोंको तुम्हारे लिये अर्पण करते हैं, वे (सूरयः त्वे प्रियासः सन्तु) विद्वान् तुम्हारे प्रिय हों ॥ १४ ॥

[१७१०] हे (श्रुत्कर्ण अग्ने) प्रार्थना श्रवण करनेमें समर्थ अग्ने ! (सयावभिः वह्निभिः देवैः अध्वरं श्रुधि) साथ चलनेवाले हवियोंके वहन करनेवाले देवताओंके साथ हमारे यज्ञमें मंत्रपाठका श्रवण करो, और (मित्रः अर्यमा प्रातर्यावाणः बर्हिषि आसीदन्तु) मित्र, अर्यमा और प्रातः सवनमें हवि प्राप्त करनेवाले देवता कुशासनोंपर बैठ जांय ॥ १५ ॥

[१७११] (जातवेदाः विश्वेषां यज्ञियानां अदितिः) सर्वज्ञ, सब यज्ञ योग्य देवताओंके बीचमें दीनता रहित, होकर रहनेवाला (विश्वेषां मानुषाणां अतिथिः अग्निः) सम्पूर्ण मनुष्योंके मध्यमें अतिथिवत्पूजनीय अग्नि (देवानां अवः) देवताओंके कल्याण करनेवाले अन्नका (आवृणानः सुमृडीकः भवतु) आवरण करता हुआ हमको सुखकारी हो ॥ १६ ॥

[१७१२] (सवितुः श्रेष्ठे सवीमनि देवानां तत् अवः अद्य वृणीमहे) सबके प्रेरक सविता देवकी श्रेष्ठ आज्ञा होने पर, देवताओंके उस हवि लक्षण युक्त अन्नको हम स्वीकार करते हैं, ऐसे हम (महः समिधानस्य अग्नेः शर्मणि) पूजनीय दीप्तिमान् अग्निके आश्रय को प्राप्त होते हुये (मित्रे वरुणे अनागाः स्वस्तये स्याम) मित्र और वरुण देवके मध्यमें पापसे रहित हम कल्याणको प्राप्त होवें ॥ १७ ॥

+

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वꣳ हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ १८ ॥

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा । उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १९ ॥

यद्द्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा । सुवाति सविता भगः ॥ २० ॥

आ सुते सिञ्चत श्रियꣳ रोदस्योरभिश्रियम् । रसा दधीत वृषभम् ॥ तं प्रत्नथा ऽयं वेनः॥ ॥ २१ ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ २२ ॥

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखꣳ सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ॥ २३ ॥

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २४ ॥

[१७१३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (तर्यः जरितारः ते ऋतं नक्षन्) तेरी स्तुति करनेवाले तुम्हारे यज्ञको करते हैं, (न आपः चित् पिप्युः) और जल भी पीनेके लिये रखते हैं, (त्वं नः अच्छ आयाहि) तुम हमारे समीप आओ, (वायुः न नियुतः) वायुके समान वेगयुक्त शक्तियोंसे युक्त होओ, (हि धीभिः वाजान् विदयसे) निश्चयसे तुम बुद्धियों द्वारा अन्नोंको प्रदान करते हो ॥ १८ ॥

[१७१४] जैसे (गावः उभा रप्सुदा मही) गौवें वा किरणें दोनों रूपोंको बडे आकाश और पृथ्वीकी रक्षा करती हैं, वैसे हे मनुष्यो ! तुम लोग भी (हिरण्यया कर्णा यज्ञस्य अवतं उप आवत) सुवर्णके आभूषणसे युक्त कर्णोंवाले तुम यज्ञकी पाससे रक्षा करो ॥ १९ ॥

[१७१५] हे मनुष्यो ! (यत् अद्य सूरे उदिते) जो आज सूर्य उदय होनेपर (अनागाः मित्रः सविता भगः अर्यमा सुवाति) निष्पाप मित्र, सविता, भग और अर्यमादेव अच्छे प्रकारसे जिनकी प्रेरणा करेंगे, उन कार्योंको तुम सब करो ॥ २० ॥

[१७१६] (रसा रोदस्याः अभि श्रियं वृषभं दधीत) नदी द्यावापृथिवीके आश्रयमें रहे बलवान् सोमको धारण करती है; (सुते आसिञ्चत) सोमके रस निकालने पर ऋत्विग्गण उसको सींचते हैं, (तं प्रत्नथा अयं वेनः) उस यज्ञके प्राचीन नियमके अनुसार यह कान्तिवाला सोम प्रेरणा करता है ॥ २१ ॥

[१७१७] (तिष्ठन्तं विश्वे परि अभूषन्) बैठे हुयेके चारों ओरसे घेर कर सब लोक खडे होते हैं । और वह (स्वरोचिः श्रियः वसानः चरति) स्वयं प्रकाश तेजस्वी शोभाजनक होकर विचरण करता है । (वृष्णः असुरस्य महत् नाम) बलवान वीर श्रेष्ठका बडाभारी यश है वह (विश्वरूपः अमृतानि तस्थौ) विश्वरूप होकर अविनाशी ऐश्वर्यों पर शासक होकर विराजता है ॥ २२ ॥

[१७१८] (यस्य इन्द्रस्य) जिस ऐश्वर्यवान इन्द्रके (सुमख सहः महि श्रवः च नृम्णं रोदसी सपर्यतः) उत्तम यज्ञ, शत्रु पराजयकारी बल, बडा यश और धन इन पदार्थोंको, द्यौ और पृथ्वी ये दोनों प्रदान करते हैं । उस (विश्वानराय विश्वाभुवे अन्धसः महे मन्दमानाय अर्च वः) समस्त नरोंके उत्पादक, अन्नके दान करनेवाले, महान्, सबको आनन्द देनेवाले वा स्वयं आनंदस्वरूप उस परमेश्वरकी उपासना तुम लोगोंको करनी चाहिये ॥ २३ ॥

[१७१९] (येषां इध्मः पृथुः स्वरुः युवा बृहन् इन्द्रः सखा) जिनका तेजस्वी, विस्तीर्ण, शत्रुओंको तपानेवाला प्रतापी, सामर्थ्यवान् और महान् उत्तम ऐश्वर्यवाला इन्द्र मित्र है, (एषां इत् भूरि शस्तम्) इन ही की बहुत स्तुति होती है ॥ २४ ॥

* तं प्रत्नथा० । अयं वेनः० । (वा. य. ७।१२, १३);

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ२ अभिष्टिरोजसा ॥ २५ ॥

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः ।
अहन् व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥ २६ ॥

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त इत्था ।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे ।
महाँ२ इन्द्रो य ओजसा कदा चन स्तरीरसि कदा चन प्र युच्छसि+ ॥ २७ ॥

आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान् ।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन् ॥ २८ ॥

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे ।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु ॥ २९ ॥

[१७२०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (आ इहि) यहां आगमन करो । और (ओजसा महान् अभिष्टिः) तेजसे अतिशय श्रेष्ठ पूजनीय तुम (विश्वेभिः सोमपर्वभिः अन्धसः मत्सि) सम्पूर्ण सोमके पर्वोंसे प्राप्त हुये रस और अन्नसे तृप्त होओ ॥ २५ ॥

[१७२१] (शर्धनीतिः वर्पणीतिः उशधक् इन्द्र) बलवान् चतुरङ्ग बलमें रहकर नीतिसे कार्य करनेवाला, पराये धनकी इच्छा करनेवाले चोरोंको दहन करनेवाला इन्द्र (मायिनं प्रामिणात्) कपट करनेवाले असुरोंको नष्ट करता है । और (वृत्रं अवृणोत्) वृत्र असुरको युद्धके निमित्त बुलाता है तथा (व्यंसं वनेषु अहन्) अपने पराक्रमसे कष्ट देनेवाले दुष्टोंको जो वनोंमें रहते हैं उनको मारता है, एवं (राम्याणाम् धेनाः आविः अकृणोत्) देवताओंके रमानेवाले यज्ञकारियोंकी स्तुतिरूप वाणियोंको प्रकट करता है ॥ २६ ॥

[१७२२] हे (सत्पते इन्द्र) सत्पुरुषोंके पालक इन्द्र ! (त्वं एकः कुतः यासि) तू अकेले कहां जाता है, (माहिनः ते इत्था किम्) महिमा युक्त तुम्हारे गमनका हेतु क्या है, (समराणः शुभानैः सं पृच्छसे) सम्यक् प्रकारसे जाते हुये तुम श्रेष्ठ वचनोंसे पूछे जाते हो । हे (हरिवः) हरितवर्ण अश्ववाले इन्द्र ! (नः तत् वचिः) हमें उस गमनके कारण कहो, (यत् अस्मे ते) क्योंकि हम तेरे ही हैं । (यः महान् इन्द्रः) जो तुम महान् ऐश्वर्यवान् इन्द्र (ओजसा कदाचन स्तरीः असि) अपने तेजसे कभी भी न हिंसा करनेवाले हो, और (कदा च न प्रयच्छसि) कभी भी न प्रमाद करते हो ॥ २७ ॥

[१७२३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ये ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्) जो लोग, दुष्ट हिंसक भूमिके मालिकको मारना चाहते हैं और जो (पुरुपुत्रां सकृत्स्वं महीं सहस्रधारां बृहती दुदुक्षन्) बहुतसे पुत्रोंवाली, एकहीवार बहुत अन्नादि उत्पन्न करनेमें समर्थ पृथ्वीको और सहस्रों धाराओंसे वर्षण करनेवाले विशाल द्युलोकको दोहन करना चाहते हैं, वे (आयवः ते तत् पनन्त) मनुष्य तेरे उस विजय और प्रजापालनके कर्मकी निरन्तर स्तुति करते हैं ॥ २८ ॥

[१७२४] हे इन्द्र ! मैं (महः ते इमां धियं प्रभरे) महान् सामर्थ्यवाले तेरे इस बुद्धिको धारण करता हूं । (अस्य स्तोत्रे यत् धिषणा ते आनजे) इस तेरे स्तुति करनेमें जो बुद्धि है, वह तेरेही महान् सामर्थ्यको प्रकट करती है । और (तं सासहिं इन्द्रं देवासः शवसा उत्सवे प्रसवे अनु अमदन्) उस हानि पहुंचानेवाले शत्रुओंको पराजित करनेमें सामर्थ्यवान् ऐश्वर्यशाली दिव्य गुणवाले इन्द्रको देव बलसे प्राप्त उत्सवमें और पुत्र उत्पत्तिके सुखमें भी हर्षित होते हैं ॥ २९ ॥

+महाँ२ इन्द्रो य ओजसा० । (वा. य. ७।४०) । कदा चन स्तरी० ॥ कदा चन प्र युच्छसि० । (वा. य. ८।२-३)

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति ॥ ३० ॥
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ३१ ॥
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ ३२ ॥
दैव्यावध्वर्यू आ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा । मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे ॥
तं प्रत्नथाऽयं वेनश्चित्रं देवानाम्× ॥ ३३ ॥
आ न इडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु ।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा ॥ ३४ ॥

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य । सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ ३५ ॥

[१७२५] (यः वातजूतः विभ्राट् अभिह्रुतं, आयुः यज्ञपतौ दधत् पुपोष) जो वायुसे वेगको प्राप्त, विशेषरूपसे दीप्तिमान्, पूर्ण ऐश्वर्य युक्त, पूर्ण आयुवाला, यज्ञपतिको धारण करके पुष्ट करता है, और (त्मना प्रजाः अभिरक्षति) अपनी शक्तिसे प्रजाओंकी सब ओरसे रक्षा करता है, तथा (पुरुधा विराजति) बहुत प्रकारसे प्रकाशित होता है, वैसे तुम भी (बृहत् सोम्यं मधु पिबतु) बडे सोमादि ओषधियोंके मिष्ठ रसको पान करो ॥ ३० ॥

[१७२६] (उ त्यं जातवेदसं सूर्यं देवं) निश्चयसे उस वेदोंके ज्ञानी, सबके प्रकाशक, दिव्यगुण युक्त ईश्वरको, (विश्वाय दृशे) सबको दिखानेके लिये (केतवः उत् वहन्ति) किरणें भली भांति ऊपर उठाती हैं ३१ ॥

सब विश्वका योग्य दर्शन करानेके लिये वेदके उत्पन्न कर्ताको उसकी प्रकाश किरणें प्रकट करती हैं। उनसे उस प्रभुका दर्शन हो सकता है ॥ ३१ ॥

[१७२७] हे (वरुण) सब पापोंके निवारक वरुण परमेश्वर ! हे (पावक) पवित्र करनेवाले जगदीश्वर ! (येन चक्षसा भुरण्यन्तं पश्यसि) जिस प्रकाशसे सबके पालकको तू देखता है, उसी प्रकाशसे (त्वं जनान् अनु) तू सब मनुष्योंको भी देख ! अर्थात् समान दृष्टिसे सब पर न्यायपूर्वक शासन कर ॥ ३२ ॥

[१४२८] हे (देव्यौ अध्वर्यू) दिव्य अध्वर्यू अश्विनी कुमार ! तुम (सूर्यत्वचा) सूर्यके सदृश कान्तिमान् (रथेन आगतम्) रथके द्वारा यहां आओ, और (मध्वा यज्ञं समञ्जाथे) मधुर हविके द्वारा यज्ञको सम्यक् रीतिसे करो, (तं प्रत्नथा अयं वेनः देवानां चित्रम्) उस प्राचीन यज्ञरीतिके समान यह यज्ञ भी कान्तिमान् और देवताओं का अद्‌भुत तेज है ॥ ३३ ॥

[१७२९] (विश्वानरः सविता देवः) सब प्राणियोंका हितकारी सबका प्रेरक देव, (नः इडाभिः सुशस्ति विदथे आ एतु) हमारे सुन्दर अन्नों द्वारा इस प्रशंसा युक्त यज्ञ गृहमें आगमन करे । और हे (युवानः) सर्वदा तरुण रहनेवाले देवताओ ! तुम सब भी (अभिपित्वे यथा मत्सथ नः विश्वं जगत् मनीषा आ) आगमनकालमें जिस प्रकारसे हो वैसे तृप्त होकर हमारे सम्पूर्ण जगत्‌को बुद्धिपूर्वक सब प्रकारसे तृप्त करो ॥ ३४ ॥

[१७३०] हे (वृत्रहन्) अन्धकारके नाशक ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्ययुक्त ! हे (सूर्य) सूर्य ! तुम (अद्य यत् कच्च अभ्युदगाः) आज कहीं किसी भी प्रदेशमें उदय होते हो (तत् सर्वं ते वशे) वह सब तुम्हारे वशमें है ॥ ३५ ॥

× तं प्रत्नथा···देवानाम् । (वा. य. ७।१२, १६, ४२)

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचनम् ॥ ३६ ॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततꣳ सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ३७ ॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥ ३८ ॥

बण्महाँ२ असि सूर्य बडादित्य महाँ२ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२ असि ॥ ३९ ॥

बट् सूर्य श्रवसा महाँ२ असि सत्रा देव महाँ२ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४० ॥

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ ४१ ॥

[१७३१] हे (सूर्य) सूर्य ! तुम (तरणिः विश्वदर्शतः ज्योतिष्कृत् असि) विश्वको तारनेवाले, संसारके दर्शनीय तेजके कर्ता हो, और (रोचनं विश्वं आभासि) दीप्तिमान् संसारको प्रकाशित करते हो ॥ ३६ ॥

[१७३२] (सूर्यस्य तत् देवत्वम्) सूर्यका वह देवपन है, और (तत् महित्वम्) वह महान् सामर्थ्य है कि जो (विततं कर्त्तोः) फैले हुये इस विस्तृत संसारको बनानेका सामर्थ्य कहा जाता है, और वही सामर्थ्य (मध्या) बीचमें है, तथा वही (सं जभार) सबका संहार कर सबको अपनेमें लीन कर लेता है । (यदा इत् सधस्थात् हरितः अ-युक्तः) जब भी वह केन्द्रस्थानसे अपनी तीव्र शक्तिके समस्त किरणोंको एकत्र कर लेता है, (आत् रात्री सिमस्मै वासः तनुते) तभी रात्रीके समान ही प्रलयकालकी रात्री इस समस्त ब्रह्माण्डके ऊपर आवरण डालती है ॥ ३७ ॥

[१७३३] (सूर्यः द्यौः उपस्थे मित्रस्य वरुणस्य च तत् रूपं कृणुते) सूर्य द्युलोकमें मित्रका और वरुणका भी वह रूप प्रदर्शित करता करता है, जिससे मनुष्योंको (अभिचक्षे) सब ओरसे देखता है । (अस्य अन्यत् पाजः अनन्तं रुशत्) इस सूर्यका एक रूप अपरिमित देदीप्यमान है और (अन्यत् कृष्णं हरितः सम्भरन्ति) दूसरा रूप कृष्णं अर्थात् सब पदार्थोंका आकर्षण करनेवाला होता हुआ सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यापता है ॥ ३८ ॥

[१७३४] हे (सूर्य) चराचरके अन्तर्यामी प्रकाशक ईश्वर ; (वट्, महान् असि) सत्य ही तुम महान हो । हे (आदित्य) अविनाशी स्वरूप परमात्मन् ! तुम (वट् महान् असि) सच ही सबसे बडे हो । (महः सतः ते महिमा पनस्यते) बडे होनेसे तुम्हारी महिमाकी लोगोंसे स्तुति की जाती है । हे (देव) दिव्य गुणोंवाले परमात्मन् ! (अद्धा महान् असि) सत्य ही तुम सबसे अधिक श्रेष्ठ हो ॥ ३९ ॥

[१९३५] हे (सूर्य) सूर्य ! तुम (वट् श्रवसा महान् असि) सचही यशके कारण महान् हो । हे (देव) प्रकाशमान ! (असुर्यः देवानां पुरोहितः विभु अदाभ्यं ज्योतिः) प्राणकी शक्तिके देनेवाले देवताओंके मध्यमें अग्र भागमें स्थापित, सर्व व्यापक, उपमा रहित और तेज युक्त तुम (सत्रा मह्ना महान् असि) यज्ञके करनेके कारण महत्वसे अधिक श्रेष्ठ हो ॥ ४० ॥

[१७३६] हे मनुष्यो ! तुम लोग (सूर्यं श्रायन्तः इव विश्वा वसूनि भक्षत) सबके प्रेरक सूर्यप्रकाशको आश्रय करकेही समस्त धान्य आदि पदार्थोंका भक्षण करो । जैसे हमलोग (जाते जनमाने भागं न) उत्पन्न हुये और आगे उत्पन्न होनेवाले संसारमें अपने कमाये धनको भोगते हैं उसी प्रकार (ओजसा भागं जाते जनमाने दीधिम) बलपराक्रमसे कमाये हुये फलको प्राप्त करो ॥ ४१ ॥

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ४२ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥४३ ॥

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते ।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥ ४४ ॥

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम् । आदित्यान् मारुतं गणम् ॥ ४५ ॥

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः । करतां नः सुराधसः ॥४६ ॥

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् । इता मरुतो अश्विना ॥
तं प्रत्नथा ऽयं वेनो ये देवास आ न इडाभि—
र्विश्वेभिः सोम्यं मध्वो—मासश्चर्षणीधृतः+ ॥ ४७ ॥

[१७३७] (देवाः) देवताओ ! (अद्या सूर्यस्य उदिता नः अंहसः अवद्यात्) आज अब सूर्यका उदय हमको पापसे रक्षा करे, तथा अपकीर्तिसे (निः पिपृत) पृथक् करे, तथा (मित्रः वरुणः अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः तत् महन्ताम्) मित्र, वरुण, देवमाता, सिन्धु, पृथ्वी और द्यौ उस हमारे वचनका अनुमोदन करें ॥ ४२ ॥

[१७३८] (सविता देवः हिरण्ययेन रथेन) सबका प्रेरक सविता देव सुवर्णमय रथसे, (कृष्णेन रजसा आवर्तमानः अमृतं च मर्त्यं निवेशयन्) कृष्ण वर्ण रात्रिके अन्तरिक्ष पथमें भ्रमण करते हुये देवों और मनुष्योंको अपने अपने व्यापारमें लगाते हुये, (भुवनानि पश्यन् आयाति) सम्पूर्ण भुवनोंको देखते हुये आगमन करता है ॥ ४३ ॥

[१७३९] (एषां स्वस्तये) इन सम्पूर्ण मनुष्योंके कल्याणके लिये (नियुत्वान् वायुः पूषा अक्तोः उषसः पूर्वहूतौ) नियुत संज्ञक वायु और पूषा देवता रात्री एवं उषःकालके समय पर (वीरिटे विश्पती इव आइयाते) मनुष्य गणोंके अन्दर, दो राजाओंके सदृश, आगमन करते हैं, अर्थात् उषाकालके पूर्व उषाके समय सूर्य और रात्रीके प्रारंभ में वायु सखा अग्निका आगमन यज्ञस्थानमें होता है, इन दोनोंके लिये (सुप्रयाः बर्हिः प्रवावृजे) अच्छी विधिसे विस्तीर्ण कुशासन बिछाया जाता है ॥ ४४ ॥

[१७४०] मैं (इन्द्रवायू बृहस्पतिं, मित्रं, अग्निं, पूषणं, भगं, आदित्यान्, मारुतं गणं) इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषा, भग, आदित्यों और मरुतोंके गणोंको बुलाता हूं ॥ ४५ ॥

[१७४१] (वरुणः मित्रः विश्वाभिः ऊतिभिः प्राविता भुवत्) वरुण और मित्र अपने संपूर्ण रक्षण शक्तियोंसे हमारी उत्तम रीतिसे रक्षा करनेवाले हों, और वे (नः सुराधसः करताम्) हमको उत्तम धनवाले करें ॥ ४६ ॥

[१७४२] हे (इन्द्र) इन्द्र ! हे (विष्णो) विष्णो ! हे (मरुतः) मरुतो ! हे (अश्विना) अश्विनौ ! (नः एषां सजात्यानां अधि आइत) हमारे इन सजातियोंके मध्यमें आगमन करो, क्योंकि तुम सब (तं प्रत्नथायं वेनः) उस प्राचीनोंके समान विशेष कान्तिमान हो । और (ये देवासः आन विश्वेभि इडाभिः सोम्यं मधुः) जो दिव्यगुणोंसे युक्त हैं उन सबोंके समान हमारे इस यज्ञमें सोम रसरूपी मधुको पान करो । और (ओमासः चर्षणी धृतः) हमारे सब प्रकारसे रक्षक होओ, तथा मनुष्योंको धारण करनेवाले बनो ॥ ४७ ॥

+ तं प्रत्नथा०, ऽयं वेनः०, ये देवासः०, ओमास० । (वा. य. ७।१२, १६, १९, ३३); विश्वेभिः सोम्यं मधु० । आ न इडाभिः० । (वा. य. ३३।१०, ३४)

अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो ।
उभा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त ॥ ४८ ॥

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२ अपः ।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳ सवितारमूतये ॥ ४९ ॥

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः ।
यः शꣳसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ२ अवन्तु देवाः ॥ ५० ॥

अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम् ।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः ॥ ५१ ॥

विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा अवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ॥ ५२ ॥

[१७४३] हे (अग्ने) अग्ने ! हे (इन्द्र) इन्द्र ! हे (वरुण) वरुण ! हे (मित्र) मित्र ! हे (देवाः) देवताओ ! हे (मारुतः) मरुतो ! (उत) और हे (विष्णो) विष्णो ! हमें (शर्धः प्रयन्त) बल प्रदान करो। और (उभा नासत्या रुद्रः अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त) दोनों अश्विनीकुमार, रुद्र, देव पत्नियें, पूषा, भगदेवता, सरस्वती ये सब हमारे हवियोंका सेवन करें ॥ ४८ ॥

[१७४४] (इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ अदितिं स्वः आदित्यं पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वतान् अपः विष्णुं, पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं शंसं सवितारं) इन्द्र, अग्नि, मित्रावरुण, आदित्य, पृथ्वी, द्युलोक, मरुत, पर्वतसमूह, जल, विष्णु, पूषादेव, ब्रह्मणस्पति, भगदेव और सबके प्रेरक सविता देवता इन सबोंको (नु ऊतये हुवे) शीघ्र ही अपनी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४९ ॥

[१७४५] (यः शंसते) जो स्तुति करता है और (स्तुवते) स्तोत्रोंको पढता है एवं (पज्रः अधायि) हवियोंको समर्पण करता है, ऐसे यजमानके लिये और (अस्मे मेहना रुद्राः पर्वतासः वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः इन्द्रज्येष्ठाः देवाः अस्मान् अवन्तु) हमारे लिये धनादिका दान करनेवाले, शत्रुओंके रुलानेवाले रुद्र, पर्वत, वृत्रके मारनेमें समर्थ संग्राममें आह्वाहन करनेपर समान भावसे सहायक होनेवाले एक संमतिवाले जिनमें इन्द्र जेष्ठ है, ऐसे देवता हमारी रक्षा करें ॥ ५० ॥

[१७४६] हे (यजत्राः देवाः) यज्ञ करनेवालोंके रक्षक देवताओ ! (अद्य अर्वाञ्चः अभवत्) आज हमारे समीप आओ, जिससे (भयमानः वः हार्दि आव्ययेयं) भयको प्राप्त होनेवाला मैं हृदयमें स्थित प्रेमभावको प्राप्त करूं। हे (यजत्राः) पूजनीय देवताओ ! (नः निजुरः वृकस्य त्राध्वम्) हमारा नाश करनेवाले पापसे हमे सुरक्षित करो, और (अवपदः कर्तात् त्राध्वम्) पापरूप बुरे कृत्योंसे हमारी रक्षा करो ॥ ५१ ॥

[१७४७] (अद्य विश्वे मरुतः आगमन्तु) आज हमारे इस यज्ञमें सब मरुद्गण आगमन करें, (विश्वे ऊर्ती) सम्पूर्ण गणदेवता रुद्र आदित्य आदि इस यज्ञमें आवें, (विश्वे देवाः नः अवसा) अखिल देवगण हमारे यज्ञमें हमारा रक्षण करनेके लिये पधारें, (विश्वे अग्नयः समिद्धाः भवन्तु) सम्पूर्ण गार्हपत्यादिक अग्नि प्रदीप्त हों, और (विश्वं द्रविणं वाजः अस्मे अस्तु) सम्पूर्ण प्रकारका धन व अन्न हमको प्राप्त हों ॥ ५२ ॥

विश्वे॑ देवाः शृणुतेमꣳ हवं॑ मे ये अ॒न्तरि॑क्षे॒ य उप॒ द्यवि॒ ष्ठ ।
ये अ॑ग्निजि॒ह्वा उ॒त वा॒ यज॑त्रा आ॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञिये॑भ्योऽमृत॒त्वꣳ सु॒वसि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम् ।
आदिद्दा॒मानꣳ॑ सवितु॒र्व्यूर्णुषेऽनू॒ची॒ना जी॑वि॒ता मानु॑षेभ्यः ॥ ५४ ॥

प्र वा॒युमच्छा॑ बृह॒ती म॑नी॒षा बृ॒हद्र॑यिं वि॒श्ववा॑रꣳ रथ॒प्राम् ।
द्यु॒तद्या॑मा नि॒युतः॒ पत्य॑मानः क॒विः क॒विमि॑यक्षसि प्रयज्यो ॥ ५५ ॥

इन्द्र॑वायू इ॒मे सु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम् । इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि ॥ ५६ ॥

मि॒त्रꣳ हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम् । धियं॑ घृ॒ताचीꣳ॒ साध॑न्ता ॥ ५७ ॥

[१७४८] हे (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवो ! तुम (ये अन्तरिक्षे स्थ) जो अन्तरिक्षमें हो, तुम (ये द्यवि उप) जो द्युलोकमें हो, (उत ये अग्निजिह्वाः यजत्राः) और जो तुम अग्निमुखवाले यजन करने योग्य हो, ऐसे तुम (इमं मे हवं शृणुत) इस मेरी प्रार्थनाको सुनो, (अस्मिन् बर्हिषि आसद्य मादयध्वम्) इस कुशासनमें बैठकर हवियोंसे आनंदित होओ ॥ ५३ ॥

[१७४९] हे (सवितः) जगतके प्रेरक सविता देव ! (हि प्रथमं यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः उत्तमं भागं अमृतत्वं सुवसि) अवश्यही उदय समयमें तुम यज्ञके योग्य देवताओंके लिये उत्तम भाग अग्निहोत्र करनेकी अमृतमय प्रेरणा करते हो, (आत् इत् दामानम्) इसके अनन्तर उदय होकर प्रकाशरूप रश्मिसमूहका विस्तार करते हो, और फिर मनुष्योंके लिये (अनूचीनानि जीवितानि व्यूर्णुषे) रश्मिसमूहके अनुकूल जीवनका विस्तार करते हो, अर्थात् सब प्रकारकी सुव्यवहारकी प्रवृत्ति तुमसेही है ॥ ५४ ॥

[१७५०] हे (प्रयज्यो) उत्तम रीतिसे यज्ञ करनेवाले अध्वर्यु ! तू (नियुतः) नियुक्त पुरुषोंको तथा हव्य पदार्थोंको प्राप्त करके (बृहती मनीषा कविः) महती बुद्धिसे स्वयं क्रान्तदर्शी होकर (बृहद्रायि विश्ववारं रथप्रां द्युतयामा) महान् ऐश्वर्यके स्वामी, सबके रक्षक, रथोंसे रणोंमें युद्ध करनेवाले तेजस्वी अग्निको प्राप्त कर, उसको और भी अधिक तेजस्वी बनानेवाले (वायुं, कविं इयक्षसि) वायुके समान तीव्र वेगवान् मेधावी पुरुषका तू अच्छी प्रकारसे सत्कार कर ॥ ५५ ॥

[१७५१]हे (इन्द्रवायू) इन्द्र और वायु ! तुम्हारे लिये (इमे सुताः) यह सोमरस निकाला है, इस (प्रयोभिः उप आगतम्) सोमरसके पानके लिये तुम हमारे समीप आओ (हि इन्दवः वां उशन्ति) ये सोमरस तुम्हारी इच्छा करते हैं। हे सोमरस ! तुम (वायवे उपयामगृहीतः असि) वायु देवताके लिये उपयामपात्रद्वारा ग्रहण किये गये हो, मैं (इन्द्रवायुभ्यां त्वा) इन्द्र और वायु देवताके सन्तोषके निमित्त तुमको ग्रहण करता हूं, (एषः ते योनिः) यह तुम्हारा स्थान है, (सजोषोभ्यां त्वा) इन्द्रवायु देवताओंको प्रीतिके लिये तुमको इस यज्ञ स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ ५६ ॥

[१७५२] मैं (पूतदक्षं मित्रं च रिशादसं वरुणं हुवे) पवित्र और दक्ष मित्र देवताको और शत्रुके नाशक वरुण देवताको बुलाया करता हूं, जो कि (घृताचीं धियं साधन्ता) घृतसे हवन करनेकी बुद्धिकी साधना करते हैं। हवन करनेकी इच्छाको बढाते हैं ॥ ५७ ॥

दस्रा॑ युवाक॑वः सुता नास॑त्या वृक्तब॑र्हिषः । आ या॑तꣳ रुद्रवर्त्तनी ॥
तं प्र॒त्नथा ऽयं वे॒नः॑ × ॥ ५८ ॥

विदद्यदी॑ स॒रमा॑ रु॒ग्णमद्रे॒र्महि पाथः॑ पू॒र्व्यꣳ स॒ध्र्य॒क्कः ।
अग्रं॑ नयत्सु॒पद्यक्ष॑राणा॒मच्छा॒ रवं॑ प्रथ॒मा जा॑न॒ती गा॑त् ॥ ५९ ॥

न॒हि स्पश॒मवि॑दन्न॒न्यम॒स्माद्वै॑श्वान॒रात्पु॒र ए॒तार॑म॒ग्नेः ।
एमे॑नमवृधन्न॒मृता॒ अम॑र्त्यं वैश्वान॒रं क्षैत्र॑जित्याय दे॒वाः ॥ ६० ॥

उ॒ग्रा वि॑घ॒निना॒ मृध॑ इन्द्रा॒ग्नी ह॑वामहे । ता नो॑ मृडात ई॒दृशे॑ ॥ ६१ ॥

उपा॑स्मै गायता नरः पव॑माना॒येन्द॑वे । अ॒भि दे॒वाँ२ इय॑क्षते ॥ ६२ ॥

ये त्वा॑ऽहिहत्ये॑ मघवन्नव॑र्धन्ये शा॑म्बरे ह॑रिवो॒ ये गवि॑ष्टौ ।
ये त्वा॑ नू॒नम॑नु॒मद॑न्ति॒ विप्राः॒ पिबे॑न्द्र॒ सोम॒ꣳ सग॑णो म॒रुद्भिः॑ ६३ ॥

[१७५३] हे (दस्रौ) दर्शनीय ! (रुद्रवर्तनी) रुद्रके समान प्रगमनशील, हे (नासत्यौ) सत्यवादी अश्विनी कुमारो (आयातम्) यहां आगमन करो, (युवाकवः वृक्त बर्हिषः) यहां युवाओंके लिये हितकारी कुशासन बिछाये हैं, वे सोम (सुताः) के रस निकाले हुये हैं, उसका पान करो। इस समय तुम दोनों (तं प्रत्नथायं वेनः) उस प्राचीन पुरुषोंके समान अनुपम कान्तिमान हो ॥ ५८ ॥

[१७५४] (यदि सरमा अद्रेः रुग्णं विदत्) जब समान रीतिसे सब विद्वानोंको आनन्दित करनेवाली वेद-वाणी अज्ञानके विनाशक उपायका ज्ञान कराती है, तब (सध्र्यक् पूर्व्यं महिपाथः कः) उसके योगसे पुरुष पूर्वसे चले आये बृहद् ज्ञानको प्राप्त करता है, और वह (सुपदी प्रथमा अक्षराणां रवं जानती गात्) उत्तम ज्ञान करानेवाली सबसे प्रथम विद्यमान वेदवाणी अविनाशी सत्य तत्वोंका उपदेश करती है, वही हमें (अग्रं नयत्) आगे ले जाती है ॥५९॥

[१७५५] (देवाः अस्मात् वैश्वानरात् अग्नेः) देवताओंने इस विश्वके हितकारी अग्निसे (अन्यं पुरः एतारं स्पशं नहि अविदन्) भिन्न दूसरे सब कार्योंमें प्रथम जानेवाले दूतको नहीं जाना, (आईं अमृताः एनं अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय अवृधन्) फिर देवताओं ने इस मरणधर्मरहित विश्वके हितकारी वैश्वानर अग्निको यजमानके क्षेत्रके विजयके लिये बढाया ॥ ६० ॥

[१७५६] हम (उग्रा विघनिना इन्द्राग्नी हवामहे) बडे बलवाले विशेषकर शत्रुनाशक इन्द्र और अग्निको बुलाते हैं। (ता नः ईदृशे मृधे मृडातः) वे हमको इस प्रकारके भयानक संग्राममें सुख देनेवाले हों ॥ ६१ ॥

[१७५७] हे (नरः) विद्वान् पुरुषो ! तुम लोग (पवमानाय इन्दवे देवान् अभि इयक्षते उप गायत) अपनेको पवित्र करनेवाले सौम्यस्वभावके दिव्यजनोंके लिये उपदेश करो ॥ ६२ ॥

[१७५८] हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (अहिहत्ये शाम्बरे गविष्टौ ये त्वा अवर्धन्) अहि नामके शत्रुओंका हनन करने और शंबरको छिन्नभिन्न करनेके कार्यमें जो तुमको बढाते हैं, और (ये विप्राः नूनं त्वा अनु-मदन्ति) जो मेधावी जन निश्चयसे तेरे साथ अनुमोदन करते हैं ऐसे लोगोंके मुख्य (हरिवः) तेजस्वी (इन्द्र) इन्द्र ! (मरुद्भिः सगणः सोमं पिब) मरुतोंके गणोंके सहित तुम सोमरसको पान करो ॥ ६३ ॥

× (वा. य. ७।१२, १६)

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः ।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥ ६४ ॥

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि । महान्महीभिरूतिभिः ॥ ६५ ॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ ६६ ॥

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ ६७ ॥

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः ।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादँहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥ ६८ ॥

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वंँ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम् ।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशंँस ईशत ॥ ६९ ॥

[१७५९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुम (उग्रः मन्द्रः ओजिष्ठः बहुलाभिमानः तुरायसहसे जनिष्ठाः) उग्रवीर, स्तुतियोग्य, अत्यंत ओजस्वी, अपनी वीरताका बहुत अभिमान धारण करनेवाले, वेगवान् बलके लिये प्रकट हुये हो, (अत्र मरुतः चित् इन्द्रं अवर्धन्) यहां इस वृत्र वध कार्यमें मरुतोने भी तुझ ऐश्वर्यशालीको स्तुतियोंद्वारा बढाया, (यत् घनिष्ठा माता वीरं दधनत्) जिस हेतुके लिये धनवती माता अवितिने तुझ जैसे वीरको गर्भमें धारण किया, वह कार्य महान् है ॥ ६४ ॥

[१७६०] हे (वृत्रहन् इन्द्र) वृत्रवधकारी इन्द्र ! तुम अपने (महीभिः अतिभिः महान्) बडे बडे रक्षण साधनों द्वारा महान् हो, ऐसे तुम (नः आ) हमारे पास शीघ्र आगमन करो । और (अस्माकं अर्धं आगहि) हमारे निवास स्थानको प्राप्त होओ ॥ ६५ ॥

[१७६१] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (प्रतूर्तिषु त्वं विश्वाः स्पृधः अभि असि) रणक्षेत्रोंमें तू अपने सब स्पर्धा करनेवाले ईर्षालु शत्रु सेनाओंको पराजित करता है, तू (जनिता, अशस्तिहा विश्वतूः असि) सब सुखोंका उत्पादक और दुष्टोंका विनाशक होकर, समस्त शत्रुओंका नाश करनेवाला है । हें इन्द्र ! (त्वं तरुष्यतः तूर्यः) तू हमारे हिंसक शत्रुओंका विनाश कर ॥ ६६ ॥

[१७६२] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (क्षोणी ते तुरयन्तं शुष्यं अन्वीयतु, न मातरौ शिशुम्) द्यावा पृथ्वी शत्रुओंपर शीघ्रतासे आघात करनेवाले तुम्हारे बलकी बहुत प्रशंसा करते हैं, जिस प्रकार माता पिता शिशुको मान देते हैं (विश्वाः स्पृधः ते मन्यवे श्रथयन्तः) सम्पूर्ण शत्रुसेना तुम्हारे क्रोधके कारण शिथिल होती है, (यत् वृत्रं तूर्वसि) जिस समय तू वृत्रको मारकर गिराता है ॥ ६७ ॥

[१७६३] (यज्ञः देवानां सुम्नं प्रत्येति) यज्ञ देवताओंकी मनकी स्थिति उत्तम करनेके लिये आता है, इस कारण (आदित्यासः) हे आदित्यो ! तुम हमको (आ मृडयन्तः भवत्) अवश्य ही सुख देनेवाले होओ । (वः सुमतिः अर्वाचीः आववृत्यात्) तुम्हारी उत्तम बुद्धि हमारे पास आ जांय और (अंहः चित् या वरिवोवित्तरा असत्) पापकारीको भी जो सुमति धनके उपार्जन करनेवाली है वह हमारे सन्मुख हो । हे सोम ! (आदित्येभ्यः त्वा) आदित्योंके प्रीतिके लिये तुमको ग्रहण करता हूं ॥ ६८ ॥

[१७६४] हे (सवितः) सविता ! (हिरण्यजिह्वः त्वं अद्य) सुवर्णके समान जिह्वावाले सत्यवाक् तुम आज (शिवेभिः अदब्धेभिः पायुभिः नः गयं परिपाहि) कल्याणकारी अहिंसा साधक रक्षा साधनोंसे हमारे गृहकी रक्षा करो, और (नव्यसे सुविताय आरक्ष) नवीन सुखके लिये भी हमको सब ओर से सुरक्षित करो, (अघशंसः नः माकिः ईशत) पापी शत्रु हम पर शासन न कर सकें ॥ ६९ ॥

प्र वी॒रया॒ शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तासः॑ ।
वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥ ७० ॥

गाव॑ उपावतावतं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑ । उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑ ॥ ७१ ॥

काव्य॑योरा॒जाने॑षु॒ क्रत्वा॒ दक्ष॑स्य दुरो॒णे । रि॒शाद॑सा स॒धस्थ॒ आ ॥ ७२ ॥

दैव्या॑वध्वर्यू आ ग॑तꣳ॒ रथे॑न॒ सूर्य॑त्वचा । मध्वा॑ य॒ज्ञꣳ सम॑ञ्जाथे ॥
तं प्र॒त्नथा॑ ऽयं वे॒नः + ॥ ७३ ॥

ति॒र॒श्चीनो॒ वित॑तो र॒श्मिरे॑षाम॒धः स्वि॑दा॒सी३दु॒परि॑ स्विदासी३त् ।
रे॒तो॒धा आ॑सन्महि॒मान॑ आसन्त्स्व॒धा अ॒वस्ता॒त्प्रय॑तिः प॒रस्ता॑त् ॥ ७४ ॥

आ रोद॑सी अपृ॒णदा स्व॒र्म॒हज्जा॒तं यदे॑नम॒पसो॒ अधा॑रयन् ।
सो अ॑ध्व॒राय॒ परि॑ णीयते क॒विरत्यो॒ न वाज॑सातये॒ चनो॑हितः ॥ ७५ ॥

[१७६५] हे पत्नी यजमानो ! (वां प्रवीरया शुचयः अध्वर्युभिः सुतासः मधुमन्तः दद्रिरे) तुम दोनो उत्तम वीर सदृश पवित्र अध्वर्युद्वारा अभिषव किये सोमको कूटो । हे (वायो) वायो ! तुम (नियुतः वह) अश्वोंको यज्ञके स्थानमें लाओ, (अच्छ याहि) सोमके समीप प्राप्त होओ, और (मदाय सुतस्य अन्धसः पिब) आनंदको प्राप्त करनेके लिये सोमके रसको पीओ ॥ ७० ॥

[१७६६] हे (दैव्यौ अध्वर्यू) दिव्य अध्वर्यू दोनों अश्विनी कुमारो ! तुम (सूर्यत्वचा रथेन आगतम्) सूर्यसदृश तेजस्वी रथसे यहां आओ, और (मध्वा यज्ञं समञ्जाथे) मधुर सोमरससे यज्ञको सुंदर हविसे युक्त करो, (तं प्रत्नथा अयं वेनः देवानां चित्रम्) उस प्राचीन ऋषियोंके सदृश यह यज्ञ कान्तिमान और देवताओंको आनंद देनेवाला है ॥ ७१ ॥

[१७६७] (रिशादसा) हे शत्रुके विनाशक मित्रावरुणो ! (दक्षस्य सधस्थे दुरोणे काव्ययोः) उत्साही यजमानके इस यज्ञस्थानमें कवियोंके हितकारी (आजानेषु) इस भूमिमें (क्रत्वा आ) यज्ञकर्म सम्पादन करके आओ ॥ ७२ ॥

[१७६८] हे (दैव्यौ अध्वर्यू) दिव्य अध्वर्यू अश्विनी कुमारो ! तुम (सूर्यत्वचा रथेन आगतम्) सूर्यके सदृश कान्तिमान रथके द्वारा यहां आओ, और (मध्वा यज्ञं समञ्जाथे) मधुर हवि सोमके द्वारा यज्ञको संयुक्त करो, (तं प्रत्नथा अयं वेनः) उस प्राचीन पद्धतीके समान यह कान्तिमान तेजयुक्त है ॥ ७३ ॥

[१७६९] (एषां रश्मिः तिरश्चीनः विततः) इन सूर्य आदि लोकोंका प्रकाश तिरछा होकर दूरतक गया है, यह (अधः स्विद् आसीत्) नीचेकी ओर भी है और (उपरि स्विद् आसीत्) उपरकी और भी है । ये सभी ज्योतिर्मय सूर्य आदि ग्रह (रेतोधाः आसन्) वीर्यको धारण करनेवाले हैं और ये (महिमानः आसन्) बडे सामर्थ्य-वाले हैं । (स्वधा अवस्तात्) स्वयं संसारको धारण करनेवाली प्रकृति नीची है, और (प्रयतिः परस्तात्) उनको प्रेरणा देनेवाला आत्मा बहुत ऊंचा अर्थात् महान है ॥ ७४ ॥

[१७७०] (यत् जातं एनं अपसः अधारयन्) जिस समय यह उत्पन्न होता है उस समय इस वैश्वानरको यजमान यज्ञस्थानमें स्थापन करते हैं, उस समय वह (रोदसी महत् स्वः आ अपृणत्) द्यावा भूमिको और बडे अन्तरिक्षको सब ओरसे अपने प्रकाशसे व्यापता है । (सः कविः च नः हितः अध्वराय परिणीयते) वह कान्तदर्शी वैश्वानर अग्नि हमारा हितकारी यज्ञके लिये सब ओरसे स्वीकारा जाता है, (न अत्यः वाजसातये) जिस प्रकार अश्व अन्न प्राप्तिके लिये सब ओर जाता है ॥ ७५ ॥

+ (वा. य. ७।१२, १६)

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा । आङ्गूषैराविवासतः ॥ ७६ ॥

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये । सुमृडीका भवन्तु नः ॥ ७७ ॥

ब्रह्माणि मे मतयः शꣳ सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः ।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो अच्छ ॥ ७८ ॥

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ२ अस्ति देवता विदानः ।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥ ७९ ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ ८० ॥

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ ८१ ॥

[१७७१] (या वृत्रहन्तमा मन्दाना आंगूषैः उक्थेभिः) जो दोनों इन्द्राग्नी देवता वृत्ररूपी शत्रुके नाशक स्वभावसेही आनन्द देनेवाले, अच्छे स्तोत्रों और उत्तम वचनोंसे तथा (चित् गिरा आ आविवासितः) स्तुतियोंकी वाणियोंसे परिचर्या किये जाते हैं ॥ ७६ ॥

[१७७२] (ये नः सूनवः अमृतस्य गिरः शृण्वन्तु) जो हमारे पुत्र हैं, वे अविनाशी परमेश्वरके दिये वेदके ज्ञानका श्रवण करें, और (नः सुमृडीकाः भवन्तु) हमारे लिये उत्तम सुखकारी हों ॥ ७७ ॥

[१७७३] (सुतासः मतयः मे ब्रह्माणि आ शासते) पुत्र वा मननशील जन मुझसे वेदमन्त्रोंके ज्ञानकी अभिलाषा करते हैं, और वे (इमा उक्था प्रति हर्यन्ति) इन वेदवचनोंको ही चाहते हैं । (मे प्रभृतः शुष्मः इयर्ति) मेरे द्वारा उत्तम रीतिसे ज्ञान देनेवाला आचार्य ही उनको सुख प्रदान करता है । (हरी नः ता वहतः) ज्ञानको धारण करनेवाले और अज्ञानको नाश करनेवाले हम दोनोंको नाना प्रकारके वेदज्ञान प्राप्त हो ॥ ७८ ॥

[१७७४] हे (मघवन्) इन्द्र ! (नकिः ते अनुत्तम्) कोई पदार्थ भी ऐसा नहीं जो तेरे द्वारा नहीं चलाया गया (त्वावान् देवता विदानः न अस्ति) तेरे सदृश द्रष्टा और दानशील एवं ज्ञानवान् भी दूसरा नहीं है। हे (प्रवृद्ध) सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! तुम्हारे समान (न जायमानः) न भविष्यमें कोई पैदा होनेवाला है, और (न जातः) न पैदा हुआ है, जो (यानि करिष्ये) जिन कामोंको तू भविष्यमें करेगा एवं (कृणुहि) अब, इस समय करता है उसको भी (नशते) कर सके ऐसा भी कोई नहीं है ॥ ७९ ॥

[१७७५] (भुवनेषु तत् इत् जेष्ठं आस) सम्पूर्ण लोकोंमें वह परब्रह्म ही सबसे अधिक श्रेष्ठ है, (यतः त्वेषनृम्णः उग्रः जज्ञे) जिससे प्रकाशरूप और उत्कृष्ट सूर्य उत्पन्न हुआ है, जो (जज्ञानः सद्यः शत्रून् निरिणाति) उत्पन्न होकर शीघ्रही अन्धकाररूप शत्रुओंको नष्ट करता है । (विश्वे ऊमाः यं अनुमदन्ति) सम्पूर्ण रक्षक देवता जिसके अनुकूल आचरण करते हैं ॥८० ॥

[१७७६] हे (पुरूवसो) बहुत धनवाले आदित्य ! (उ याः मम गिरः) अवश्य निश्चयसे जो मेरी स्तुतियां हैं (इमाः त्वा वर्धन्तु) ये सब तुमको स्तुतिसे बढावें । (पावकवर्णाः शुचयः विपश्चितः स्तोमैः अभ्यनूषतः) अग्नि सदृश तेजवाले ब्रह्मवर्चसयुक्त पवित्र विद्वान् स्तोत्रोंसे तुम्हारी सब प्रकारसे स्तुति करते हैं ॥ ८१ ॥

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः ।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः ॥ ८२ ॥

अयꣳ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ ८३ ॥

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम् ।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत ॥ ८४ ॥

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः ।
अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयꣳ शुक्रो अयामि ते ॥ ८५ ॥

इन्द्रवायू सुसन्दृशा सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमना असत् ॥ ८६ ॥

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये ।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय आचक्रे हव्यदातये ॥ ८७ ॥

[१७७७] (अयं विश्वः आर्यः यस्य दासः) यह सम्पूर्ण आर्यजन जिस परमात्माके सेवक हैं। और (शेवधिपाः अरिः) कृपण जन जिसके शत्रु हैं। (पवीरवि रुशमे अर्ये तिरः) धन रक्षा निमित्त आयुध धारण करनेवाले तथा उस धनके निमित्त दूसरेकी हिंसा करनेवाले धनके स्वामीके पास जो धन है (सः रयिः चित् तुभ्य इत् अज्यते) वह धन भी तुम्हारे निमित्तही प्रकट होता है अर्थात् दूसरा पुरुष उससे धनको लेकर तुम्हारे निमित्त देता है ॥ ८२ ॥

[१७७८] (अयं ऋषिभिः सहस्कृतः) यह इन्द्र ऋषियोंके द्वारा बलसम्पन्न किया हुआ है, (अस्य शवः सः सत्यः) इस तेजस्वीकी बलकी महिमा सत्य है, वह (समुद्र इव पप्रथे) समुद्रके समान विस्तीर्ण है, मैं (यज्ञेषु विप्रराज्ये सहस्रं गृणे) यज्ञोंमें अर्थात् मेधावी ब्राह्मणोंके राज्यमें सहस्रों प्रकार उसकी महिमाकी स्तुति करता हूं ॥ ८३ ॥

[१७७९] हे (सवितः) सविता ! (हिरण्यजिह्वः त्वं अद्य) हिरण्यके समान जिह्वावाले सत्य बोलनेवाले तुम आज (शिवेभिः अदब्धेभिः पायुभिः नः गयं परिपाहि) कल्याणकारी अहिंसित रक्षा साधनोंसे हमारे गृहकी रक्षा करो, और (नव्यसे सुविताय आरक्ष) नवीन सुखके लिये भी हमारा सब ओरसे पालन करो, (अघशंसः नः माकिः ईशतः) पापी शत्रु हमपर शासन न कर सकें ॥ ८४ ॥

[१७८०] हे (वायो) वायो ! तुम (नः दिविस्पृशं यज्ञं आ याहि) हमारे द्युलोकको स्पर्श करनेवाले इस यज्ञमें आओ । (अन्तः पवित्रे उपरि श्रीणानः अयं शुक्रः) पात्रके मध्यमें स्थित तथा ऊपर सींचा हुआ यह शुद्ध रसात्मक सोम (सुमन्मभिः ते अयामि) श्रेष्ठ स्तोत्रों द्वारा मैं तुम्हारे लिये अर्पण करता हूं ॥ ८५ ॥

[१७८१] (इह सुसंदृशा सुहवा इन्द्रवायू हवामहे) यहां इस यज्ञमें भली प्रकार देखनेवाले, उत्तम रीतिसे बुलाये हुए इन्द्रवायुको हम बुलाते हैं। (यथा नः सर्वः इत् जन् अनमीवः सङ्गमे सुमनाः असत्) जिस प्रकार हमारे सब पुत्र पौत्रादि जन नीरोगी तथा अच्छे मनवाले उदार हों ॥ ८६ ॥

[१७८२] (नूनं यः मर्त्यः) निश्चयसे जो मनुष्य (अभिष्टये हव्यदातये मित्रावरुणौ आचक्रे) इष्ट पदार्थके लाभके लिये तथा हविदानके लिये मित्रावरुण देवताको बुलाता है, (सः देवतातये ऋधक् इत्था शशमे) वह मनुष्य देवयज्ञके लिये समृद्ध होकर इस प्रकार शान्त होता है ॥ ८७ ॥

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना ।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम् ॥ ८८ ॥
प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ ८९ ॥
चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहंꣳ हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ९० ॥
देवं-देवं वोऽवसे देवं-देवमभिष्टये । देवं-देवꣳ हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया ॥ ९१ ॥
दिवि पृष्टो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहन् ।
क्ष्मया वृधान ओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमः ॥ ९२ ॥
इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः ।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्त्रिꣳशत्पदा न्यक्रमीत् ॥ ९३ ॥

[१७८३] हे (अश्विना) दोनों अश्विनी कुमारो ! तुम दोनों इस यज्ञमें (आयातम्) आगमन करो और इस यज्ञको (उपभूषतम्) अलंकृत करो, तथा (मध्वः पिबतम्) मधुर सोमरसका पान करो । हे (वृषणा) बलवानो ! (जेन्यावसु पयः दुग्धं आगतम्) धनको वशीभूत करनेवाले तुम जल और दूधके साथ, हमारे निकट आगमन करो, आगमन करके (नः मा मार्धिष्टम्) हमको मत मारो ॥ ८८ ॥

[१७८४] (ब्रह्मणस्पतिः नः अ अच्छ प्रैतु) ब्रह्मणस्पति हमारे यज्ञके पास आगमन करे । हमें (सूनृता देवी प्रैतु) दिव्य सत्य वाणी प्राप्त हो । और (देवाः नर्यं पक्तिराधसं नः यज्ञं नयन्तु) दिव्य गुणोंवाले विद्वान् जन, तथा मनुष्योंमें उत्तम जन और समाजोंकी उन्नति करनेवाले लोग हमारे इस यज्ञको पूर्ण करें ॥ ८९ ॥

[१७८५] (सुपर्णः चन्द्रमाः) सुन्दर कांतियुक्त चन्द्रमा, (कनिक्रदत् हरिः) हिनहिनाते शब्द करनेवाले घोडेकी तरह (दिवि अप्सु अन्तः आ धावते) आकाशमें अन्तरिक्षके बीच अच्छे प्रकारसे शीघ्रतासे चलता है, और (पुरुस्पृहं बहुलं पिशङ्गं रयिं एति) बहुतोंसे चाहने योग्य, सुवर्ण सदृश दीप्तमान तेजस्विताको प्राप्त होता है, वैसे ही हे मनुष्यो ! तुम लोग भी पुरुषार्थसे वेगयुक्त गमन करते हुये ऐश्वर्यको प्राप्त करो ॥ ९० ॥

[१७८६] (देव्याः धिया गृणन्तः) दिव्य बुद्धिसे स्तुति करते हुये हमलोग (अवसे देवं देवम्) संरक्षण प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक दिव्य गुणवाले विद्वानको तथा देवको बुलावें, और (अभिष्टये देवं देवं हुवेम) अभिष्ट सुख प्राप्त करनेके लिये हम प्रत्येक व्यवहार कुशल पुरुषको आदरपूर्वक बुलावे तथा (वाजसातये देवम्) संग्राम विजयके लिये प्रत्येक विजय प्राप्त करनेवाले वीर पुरुषको हम अपनावें ॥ ९१ ॥

[१७८७] (वैश्वानरः बृहन् अग्निः) सब नरोंका हितकारी महान् अग्नि (पृष्टः दिवि अरोचत) आकाशमें दीप्तमान होता है । और (क्ष्मया वृधानः ओजसा चनः हितः ज्योतिषा तमः बाधते) भूलोकमें निवास करनेवाले मनुष्योंसे दिये गये हवि द्वारा वर्धमान, तथा अपने तेजसे वा बलसे हितकारी अग्नि स्व प्रकाशसे अन्धकारको दूर करता है ॥ ५२ ॥

[१७८८] (इन्द्राग्नी) इन्द्राग्नी ! (इयं अपात् पद्वतीभ्यः पूर्वा अगात्) यह उषा पादरहित होकर भी पादयुक्त होती हुई प्रजाओंसे पहले होनेवाली आगमन करती है, और उन प्रजाओंके (शिरः हित्वी जिह्वया वावदत् अचरत्) शिरको निद्रात्याग द्वारा प्रेरणा करती हुई, प्राणियोंके वागिन्द्रियद्वारा शब्द करती हुई फैलती है । इस प्रकार चलती हुई उषा एक दिनमें (त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत्) तीस मुहूर्तोंको आक्रमण करती है ॥ ९३ ॥

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः ।
ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः ॥ ९४ ॥
अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याभवत् ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण ॥ ९५ ॥
प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत । वृत्रꣳ हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ९६ ॥
अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यꣳ शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
इमा उ त्वा यस्यायमयꣳ सहस्रमूर्ध्व ऊ षु णः ॥ ॥९७ ॥

[अ०३३, कं० ९७, मं० सं० ९७]

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।

[१७८९] (विश्वेदेवासः मनवे साकं समन्यवः सरातयः हि स्म) समस्त विद्वान्, मननशील पुरुषके हितके लिये एकसाथ पराक्रमयुक्त समानरूपके दानशील होकर रहा करें। और वे (अद्य अपरं नः, नः तुचे वरिवोविदः भवन्तु) आज और भविष्यकालमें भी हमारे तथा हमारे पुत्र पौत्रादि सन्तानोंके हितके लिये धन ऐश्वर्यके दान करने करानेवाले हों ॥ ९४ ॥

[१७९०] (इन्द्रः अशस्तिहा अभिशस्तीः अप अधमत्) इन्द्र, खल पुरुषोंको दण्ड देनेमें समर्थ, सब ओरसे आनेवाली हिंसाकारिणी सेनाओंको दूर भगाता है और (द्युम्नी अभवत्) अन्नादिसे समृद्ध ऐश्वर्यवान् होता है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! हे (बृहद्भानो) अत्यन्त तेजस्वी सूर्य ! हे (मरुद्गण) मरुद्गण ! (देवाः ते सख्याय येमिरे) देवगण तुम्हारे मित्रभावके लिये यत्न करते हैं ॥ ९५ ॥

[१७९१] हे (मरुतः) मरुतो ! (वः बृहते इन्द्राय ब्रह्म प्रार्चत्) तुम लोग महान इन्द्रके लिये वेदके स्तोत्रोंका उच्चारण करो, वह (वृत्रहा शतक्रतुः) वृत्र असुरका नाशक और सौ यज्ञोंका कर्ता इन्द्र (शतपर्वणा वज्रेण वृत्रं हनति) सौ ग्रन्थीवाले वज्रसे वृत्र असुरका नाश करता है ॥ ९६ ॥

[१७९२] (इन्द्रः विष्णवि सुतस्य मदे) इन्द्र यज्ञमें सोमरसके आनन्दमें (अस्य इत् वृष्ण्यं शवः वावृधे) इसके वीर्यबलको बढाता है, (अद्या आयवः पूर्वथा अस्यतं महिमानं अनुष्टुवन्ति) अब इस समयमें भी मनुष्य पूर्वकालीन ऋषियोंके समान इस इन्द्रके महिमाकी स्तुति करते हैं, (इमा उ त्वा) ये स्तुतियां निश्चयसे तुमको बढाती हैं, (अस्य अयं) इस इन्द्रका यह अपूर्व बल व तेज है, (अयं सहस्रं) यह सहस्रों यज्ञोंका सम्पादन करता है, और यह (ऊर्ध्व उ षु णः) उच्च स्थानपर स्थित हुआ विराजता है ॥ ९७ ॥

॥ तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥

इमा उ त्वा० । यस्यायं० । अयꣳ सहस्रम्० । (वा. य. ३३।८१-८३); ऊर्ध्व ऊ षु ण० । (वा. य. ११।४२) ।

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

[१७९३] (यत् मनः जाग्रतः दूरं उद् आ एति) जो मन जागृत अवस्थामें दूर जाता है, और (सुप्तस्य तथा एव एति) सोये हुये पुरुषका मन भी उसी प्रकार दूर जाता है, (तत् उ ज्योतिषा दूरंगमं ज्योतिः) वह ही निश्चयसे तेजस्वी इन्द्रिय गणके बीचमें दूरतक पहुंचानेवाली ज्योति है, और (दैवं एकम्) देव अर्थात् जीवत्माका एकमात्र वह दिव्य साधन है, इस प्रकारका (तत् मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु) वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो ॥ १ ॥

[१७९४] (अपसः धीराः मनीषिणः यज्ञे येन कर्माणि कृण्वन्ति) कर्मानुष्ठानमें तत्पर बुद्धिमान मेधावी जन यज्ञमें जिस मनसे उत्तम कर्मोंको करते हैं, जो (प्रजानाम् अन्तः) प्राणीमात्रके शरीरके मध्यमें रहता है, और (विदथेषु यत् अपूर्वं यक्षम्) यज्ञोंमें जो अद्भुत व पूजनीय बल करके विराजता है (तन्मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु) वह मेरा मन शुभ संकल्प करनेवाला हो ॥ २ ॥

[१७९५] (यत् प्रज्ञानं उत चेतः च धृतिः) जो मन विशेष ज्ञानसे युक्त, चिंतन करनेवाला तथा धैर्यरूप है, (यत् अमृतं प्रजासु अन्तः ज्योतिः) जो प्राणियोंके मध्यमें अमर प्रकाश ज्योतिरूप है, (यस्मात् ऋते किञ्चन कर्म न क्रियते) जिसके विना कुछ भी कार्य नहीं किया जाता है, (तन्मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु) वह मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो ॥ ३ ॥

[१७९६] (येन अमृतेन इदं सर्वं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम्) जिस अविनाशी मनने इन सम्पूर्ण भूतकालके, वर्तमानकालके तथा भविष्यकालके पदार्थोंको ग्रहण किया है, एवं (येन सप्त होता यज्ञ तायते) जिससे सात होता गणोंसे युक्त यज्ञ विस्तार किया जाता है (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु) वह मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो ॥ ४ ॥

येन सप्त होता यज्ञः तायते— जो मन सात होताओंसे होनेवाले यज्ञको करता है।

सप्त होता— पंच ज्ञानेंद्रिय और मन तथा बुद्धि मिलकर सात होता इस जीवनरूप यज्ञमें होते हैं। और ये सात होता इस जीवनरूपी यज्ञको चलाते हैं।

१ शरीर, २ कर्मेन्द्रिय, ३ ज्ञानेंद्रिय, ४ मन, ५ बुद्धि, ६ आत्मा और ७ परमात्मा ये सात सब विश्वको चला रहे हैं। विश्वका यज्ञ इनसेही चलाया जाता है।

सबको ठीक रीतिसे चलानेवाला इनमें मन है। मन शुद्ध रहा तो उसकी प्रेरणासे सब इतर साधन योग्य कार्य करते रहते हैं। और यदि मन अशुद्ध हुआ तो सब कार्य बिगडते है। यह मनका महत्व है। इस कारण मनको पवित्र रखना चाहिये ॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् । यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ७ ॥

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि । क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः ॥ ८ ॥
अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः ॥ ९ ॥
सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १० ॥

[१७९७] (यस्मिन् ऋचः प्रतिष्ठिताः) जिस मनमें वेदके मंत्र रहते हैं और (यस्मिन् सामयजूंषि रथनाभौ आराः इव) जिसमें साम व यजुर्वेदके मन्त्र स्थिर हैं जिस प्रकार रथचक्रके नाभीमें आरे स्थिर होते हैं, तथा (प्रजानां सर्वं चित्तं यस्मिन् ओतम्) प्रजाओंका सब चित्त जिसमें ओत-प्रोत हुआ है (तन्मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु) वह मेरा मन शिव संकल्प करनेवाला हो ॥ ५ ॥

[१७९८] (यत् मनुष्यान् नेनीयते) जो मन मनुष्योंको इधर उधर ले जाता है, (सुषारथिः अभीशुभिः वाजिनः अश्वान् इव) जिस प्रकार अच्छा सारथी लगामद्वारा वेगवान् घोडोंको इधर उधर ले जाता है । (यत् अजिरं जविष्ठं हृत्प्रतिष्ठम्) जो मन जरारहित, अतिशय वेगवान् और हृदयस्थानमें स्थित है, (तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु) वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो ॥ ६ ॥

[१७९९] हम (धर्माणं पितुं स्तोषम्) धारण करनेवाले अन्नकी स्तुति करते हैं, (नु यस्य ओजसा त्रितः वृत्रं विपर्वं अर्दयत्) जिसके बलसे तीनों स्थानोंके अधिपति इन्द्रने वृत्रको खण्ड खण्ड करके अनेक प्रकारसे मारा था ॥ ७ ॥

धर्माणं पितुं स्तोषम्— धारण करनेकी शक्ति बढानेवाले अन्नकी मैं प्रशंसा करता हूं । अन्न वैसा चाहिये कि जिसके खानेसे शरीरकी धारक शक्ति बढ जाय ।

अन्न ऐसा भी होता है कि जिसके खानेसे शरीरकी शक्ति कम हो जाती है । ऐसा कमजोर करनेवाला अन्न नहीं खाना चाहिये ।

यस्य ओजसा त्रितः वृत्रं विपर्वं अर्दयत्— जिस अन्नसे बल बढनेसे शरीर मन और बुद्धि इन तीनोंका बल बढता है । वही अन्न खाने योग्य है । इन्द्रने ऐसा उत्तम अन्न खाया जिससे वह बलवान बना और वह वृत्र जैसे दुष्टोंको मार सका ॥ ७ ॥

[१८००] हे (अनुमते) अनुकूल बुद्धिवाले विद्वन् ! (त्वं शं अनुमन्यासै नः कृधि) तुम जिसको सुखकारी और अनुकूल मानते हो उससे हमको संयुक्त करो, (क्रत्वे दक्षाय नः हि नु) बुद्धि बल वा चतुराईके लिये हमारी वृद्धि करो, (च नः आयूंषि इत् प्रतारिषः) तथा हमारी आयुको निश्चय करके अच्छी प्रकार तारण करो अर्थात् बढाओ ॥ ८ ॥

[१८०१] (अनुमतिः अद्य अस्माकं यज्ञं देवेषु अनुमन्यताम्) अनुमती देवी आज हमारे यज्ञको देवताओंके लिये अनुकूल करे, (च हव्यवाहनः अग्निः दाशुषे मयः भवतम्) और हवि वहन करनेवाला अग्नि हवि प्रदान करनेवाले यजमानके लिये सुखकर हो ॥ ९ ॥

[१८०२] हे (पृथुष्टुके) बहुत केशोंवाली ! हे (सिनीवाली) समस्त प्रजाओंको पालन व रक्षण सामर्थ्यसे बांधनेवाली सिनीवाली देवी ! (या देवानां स्वसा असि) जो तुम देवताओंकी भगिनी हो, वह तुम (आहुतं हव्यं जुषस्व) सम्यक् आहुति की हुई हविको प्रीतिसे सेवन करो । हे (देवि) दिव्यगुणोंवाली देवि ! (नः प्रजां दिदिड्ढि) हमारे लिये सुन्दर सन्तानरूप प्रजाको प्रदान करो ॥ १० ॥

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः । सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥ ११ ॥
त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १२ ॥
त्वं नो अग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य ।
त्राता तोकस्य तनये गवामस्यनिमेषꣳ रक्षमाणस्तव व्रते ॥ १३ ॥
उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥ १४ ॥
इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि । जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोढवे ॥ १५ ॥
प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे अङ्गिरस्वत् ।
सुवृक्तिभिः स्तुवत ऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय ॥ १६ ॥

[१८०३] (सस्रोतसः पञ्च नद्यः सरस्वतीं अपियन्ति) प्रवाहवाली पांच नदियां जिस प्रकार बडी नदी सरस्वती नदीमें मिलकर, उसीमें लीन हो जाती हैं। (सा तु सरस्वती पञ्चधा देशे सरित् अभवत्) उस प्रकार वही सरस्वती अर्थात् विद्या पांच प्रकारके जनोंको एकरूप करके बढाती है ॥ ११ ॥

[१८०४] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं आङ्गिरा, ऋषिः, देवः शिवः, देवानां प्रथमः सखा अभवः) तुम शरीरके अङ्गोंके रसरूप, सबके द्रष्टा, प्रकाशमान्, कल्याणरूप और देवताओंके प्रथम मित्र हो। (मरुतः तव व्रते कवयः विद्मनापसः भ्राजदृष्टयः अजायन्त) मरुद्गण तुम्हारे व्रतमें रहनेसे क्रान्तदर्शी, कर्मोंके ज्ञाता और उत्तम तीक्ष्ण आयुधवाले हुये हैं ॥ १२ ॥

[१८०५] हे (अग्ने) अग्ने ! हे (देव) देव ! हे (वन्द्य) वन्दनीय ! (तव व्रते मघोनः रक्ष) तुम्हारे नियममें रहनेवाले इस धनी यजमानका तुम रक्षण करो, (च नः तन्वः तव पायुभिः) और हमारे शरीरोंकी अपने रक्षण शक्तियोंसे रक्षा करो, क्योंकि (अनिमेषं रक्षमाणः तोकस्य तनये गवां त्राता असि) सावधानीसे रक्षा करनेवाले तुम यजमानके पुत्रों, पौत्रों और गौवोंके रक्षक हो ॥ १३ ॥

[१८०६] हे (स्वाहुत अग्ने) अच्छी प्रकारसे हवन किये हुए अग्ने ! (जनानां ये यन्तारः मघवानः गोनां ऊर्वान् दयन्त) जनोंके मध्यमें जो जितेन्द्रिय धनवान् गौके दुग्ध, आदिके साथ पुरोडाशादिको देते हैं, वे (सूरयः त्वे प्रियासः सन्तु) विद्वान् तुम्हारे प्रिय हों ॥ १४ ॥

[१८०७] हे (जातवेदः) वेदको जाननेवाले ! हे (अग्ने) अग्ने ! (इडायाः पदे पृथिव्याः नाभा अधि) पृथ्वी परके देवयज्ञके स्थानमें उस पृथ्वीके उत्तर वेदीके मध्यमें (वयं त्वा हव्याय वोढवे निधीमहि) हम तुझको हविके वहन करनेके लिये स्थापन करते हैं ॥ १५ ॥

[१८०८] हम इन्द्रके (शूषं आङ्गूषं प्रमन्महे) बलको बढानेवाले स्तोत्रको जानते हैं। (शवसानाय गिर्वणसे सुवृक्तिभिः स्तुवते ऋग्मियाय विश्रुताय नरे) बलकी अभिलाषावाले, सुशिक्षित वाणियोंसे युक्त, स्तुति मन्त्रोंसे स्तुति करनेवाले, ऋचाओंके सुप्रसिद्ध विद्वान् शौर्य बलादिसे विख्यात नररूप इन्द्रके लिये (अङ्गिरस्वत् अर्कं अर्चाम्) अङ्गिराके समान मन्त्रका उच्चारण करते हैं ॥ १६ ॥

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॑ꣳ शवसा॒नाय॒ साम॑ ।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञा अर्च॑न्तो॒ अङ्गि॑रसो॒ गा अवि॑न्दन् ॥ १७ ॥

इ॒च्छन्ति॑ त्वा सो॒म्यासः॑ सखा॑यः सु॒न्वन्ति॒ सोमं॒ दध॑ति॒ प्रया॑ꣳसि ।
तिति॑क्षन्ते अ॒भिश॑स्तिं॒ जना॑ना॒मिन्द्र॒ त्वदा कश्च॒न हि प्र॑के॒तः ॥ १८ ॥

न ते॑ दू॒रे प॑र॒मा चि॒द्रजा॑ꣳस्या तु प्र या॑हि हरिवो॒ हरि॑भ्याम् ।
स्थि॒राय॒ वृष्णे॒ सव॑ना कृ॒तेमा यु॒क्ता ग्रावा॑णः समि॒धा॒ने अ॒ग्नौ ॥ १९ ॥

अषा॑ढं यु॒त्सु पृत॑नासु॒ पप्रि॑ꣳ स्व॒र्षाम॒प्सां वृ॒जन॑स्य गो॒पाम् ।
भ॒रे॒षु॒जाꣳ सु॑क्षि॒तिꣳ सु॒श्रव॑सं॒ जय॑न्तं॒ त्वामनु॑ मदेम सोम ॥ २० ॥

सोमो॑ धे॒नुꣳ सोमो॒ अर्व॑न्तमा॒शुꣳ सोमो॑ वी॒रं क॑र्म॒ण्यं॑ ददाति ।
सा॒द॒न्यं॑ विद॒थ्य॑ꣳ स॒भेयं॑ पितृ॒श्रव॑णं॒ यो ददा॑शदस्मै ॥ २१ ॥

त्वमि॒मा ओष॑धीः सोम॒ विश्वा॒स्त्वम॒पो अ॑जनय॒स्त्वं गाः ।
त्वमा त॑तन्थो॒र्व॑न्तरि॑क्षं॒ त्वं ज्योति॑षा॒ वि तमो॑ ववर्थ ॥ २२ ॥

[१८०९] हे ऋत्विग्गणो ! (वः महे शवसानाय महि नमः प्रभरध्वम्) तुम महाबलवान इन्द्रके लिये बडे अन्नका प्रदान करो, तुम (आङ्गूष्यं साम) बलके लिये उपयोगी सामको उच्चारण करो, (येन नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः अर्चन्तः गाः अविन्दन्) जिससे हमारे पूर्व पितर वैदिक मंत्रोंको जानकर अर्चना करनेसे भूमियों तथा गौ आदिको प्राप्त करते रहे ॥ १७ ॥

[१८१०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (कश्चन प्रकेतः त्वत् हि आ) कोई भी विशेष ज्ञान हो वह तुमसेही प्राप्त होता है; (सोम्यासः सखायः त्वां इच्छन्ति) सोमरसको तैयार करनेवाले तुमको चाहते हैं; (सोमं सुन्वन्ति) वे सोमका रस निकालते हैं; (प्रयांसि दधति) अन्नोंको धारण करते हैं और (जनानां अभिशस्तिं तितिक्षन्ति) मनुष्योंके दुर्वचनोंको सहन करते हैं ॥ १८ ॥

[१८११] हे (हरिवः) अश्ववाले इन्द्र ! (अग्नौ समिधाने, स्थिराय वृष्णे, इमा सवना कृता) अग्निके प्रज्वलित होने पर, सुदृढ बलके प्राप्तिके लिये ये प्रातःसवन आदि किये हैं, और (ग्रावाणः युक्ताः) प्रस्तर रस निकालनेके कर्ममें नियुक्त किये हैं, (तु हरिभ्यां प्रयाहि) इस कारण तुम अश्वोंद्वारा आगमन करो, (परमा रजांसि ते दूरे न चित्) परम दूर देशके स्थान भी तुम्हारे लिये दूर नहीं हैं ॥ १९ ॥

[१८१२] हे (सोम) सोम ! (युत्सु असाढं, जयन्तं पृतनासु पप्रिं स्वर्षां अप्साम्) युद्धमें असह्य पराक्रम करनेवाले, विजय प्राप्त करनेवाले, सेनाओंका पालन करनेवाले, द्युलोकके निवास करनेवाले, जलोंके दानकर्ता, (वृजनस्य गोपां भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं त्वां अनुमदेम) बलोंके रक्षक, संग्राममें शत्रुओंके जीतनेवाले, अच्छे निवासवाले और सुन्दर कीर्तिवाले तुम्हारा हम अनुसरण करते हैं ॥ २० ॥

[१८१३] (यः अस्मै ददाशत्) जो यजमान इस इन्द्रके लिये हवि देता है, उसके लिये (सोमः धेनुम्) सोम धेनुको प्रदान करता है, (सोमः आशुं अर्वन्तम्) सोम शीघ्र वेगवान् अश्वको देता है, तथा (सोमः कर्मण्यं सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं वीरं ददाति) सोम, कर्म करनेमें दक्ष, गृहकार्यमें कुशल, यज्ञमें प्रवीण, सभाके योग्य और पिताके आज्ञाको माननेवाले वीर पुत्रको देता है ॥ २१ ॥

[१८१४] हे (सोम) सोम ! (त्वं इमाः विश्वाः ओषधीः अजनयः) तुम इन सम्पूर्ण ओषधियोंको उत्पन्न करते हो, (त्वं अपः) तुम जलको उत्पन्न करते हो, (त्वं गाः) तुम धेनुओंको प्रकट करते हो, (त्वं उरु अन्तरिक्षं आततन्थ) तुम ही विस्तीर्ण अन्तरिक्षका विस्तार करते हो, और (त्वं ज्योतिषा तमः ववर्थ) तुम अपने तेजसे अन्धकारको दूर करते हो ॥ २२ ॥

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागꣳ सहसावन्नभि युध्य ।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्रचिकित्सा गविष्टौ ॥ २३ ॥

अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् ।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥ २४ ॥

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ २५ ॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।
अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ २६ ॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ २७ ॥

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम् । अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ २८ ॥

[१८१५] हे (देव) देव (सहसावन्) बलवान् (सोम) सोम ! (देवेन मनसा नः रायः भागं अभि-युध्य) दिव्य मनके द्वारा हमको धनका भाग प्रदान करो, दानमें प्रवृत्त हुये (त्वा मा आतनत्) तुमको कोई प्रतिबन्ध न करेगा क्योंकि तुम (वीर्यस्य ईशिषे) वीर्यके कार्य करनेमें समर्थ हो, और (गविष्टौ उभयेभ्यः प्रचिकित्स) स्वर्गकी इच्छासे उभय लोक प्राप्तिके लिये उपाय योजना कर सकते हैं ॥ २३ ॥

[१८१६] (हिरण्याक्षः सविता देवः, दाशुषे रत्ना दधत् आगात्) तेजस्वी नेत्रवाला सविता देव, दान देनेवाले यजमानके लिये रत्नोंको प्रदान करनेके लिये आगमन करता है, वही (पृथिव्याः अष्टौ ककुभः त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् व्यख्यत्) पृथ्वीके आठों दिशाओं और तीनों लोकोंको तथा अनेक योजनाओंको एवं सात सागरोंको प्रकाशित करता हैं ॥ २४ ॥

[१८१७] (हिरण्यपाणिः विचर्षणिः सविता उभे द्यावापृथिवी अन्तः सूर्यं ईयते) तेजस्वरूप हाथवाला, विशेषकर सबको दिखानेवाला सबका उत्पादक देव दोनों द्यावाभूमिके बीचमें सूर्यको घुमाता है, तभी (अमीवान् अप-बाधते) व्याधि वा रोगोंको दूर करता है। और जब वह (वेति) अन्त समयमें गमन करता है तब (कृष्णेन रजसा द्यां अभि ऋणोति) अन्धकाररूपी रजसे द्युलोकको व्याप्त कर देता है ॥ २५ ॥

[१८१८] (हिरण्यहस्तः असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववान् देवः) सुवर्ण सदृश तेजस्वी किरणोंवाला, प्राणोंका दाता, कल्याण करनेवाला, सुन्दर सुख देनेवाला, दिव्यगुण युक्त सूर्यदेव (प्रतिदोषं गृणानः रक्षसः यातुधानान् अपसे-धन् अस्थात्) प्रत्येक मनुष्यके सब दोषोंको देखनेवाला राक्षसों और दुष्टोंको दूर करता हुआ उदयको प्राप्त होता है, इस प्रकारका वह सूर्य हमारे (अर्वाङ् यातु) सम्मुख आवे ॥ २६ ॥

[१८१९] हे (सवितः) सविता ! हे (देव) हे देव ! (अन्तरिक्षे ये पूर्व्यासः अरेणवः पन्थाः) अन्त-रिक्षमें जो पूर्वकालमें हुये रजरहित मार्ग हैं (ते सुकृताः) वे परमात्मा द्वारा उत्तम रीतिसे किये हैं, (तेभिः सुगेभिः पथिभिः न अद्य) उन सुन्दर गमन योग्य मार्गोंसे हमको आज प्राप्त करो, (च नः रक्ष) और हमारी रक्षा करो, तथा हमें (अधि ब्रूहि) अधिक उपदेश करो ॥ २७ ॥

[१८२०] हे (अश्विना) अश्विनी कुमारो ! (उभा पिबतं) तुम दोनों सोमपान करो, और (उभा अवि-द्रियाभिः ऊतिभिः नः शर्म यच्छतं) तुम दोनों ही अपनी अखण्डित रक्षण शक्तियों द्वारा हमारे लिये कल्याणका प्रदान करो ॥ २८ ॥

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम् ।
अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ ॥ २९ ॥

द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ३० ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ३१ ॥

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः ।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ ३२ ॥

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति । येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ ३३ ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रꣳ हुवेम ॥ ३४ ॥

[१८२१] हे (दस्रा) दर्शनीय (वृषणा) समर्थ (अश्विना) दोनों अश्विनी कुमारो ! (अस्मे वाचम्) हमारी वाणीको तथा (नः मनीषाम्) हमारी बुद्धिको (अप्नस्वतीं कृतम्) प्रशस्त कर्मोंवाली करो, (अद्यूते अवसे वां निह्वये) सन्मार्गसे प्राप्त होनेवाले बलके लिये तुम दोनोंको मैं बुलाता हूं, (च वाजसातौ नः वृधे भवतम्) और यज्ञमें तुम दोनों भी हमारी वृद्धिके कारण होओ ॥ २९ ॥

[१८२२] हे (अश्विनौ) दोनों अश्विनीकुमारो ! (द्युभिः अक्तुभिः अरिष्टेभिः सौभगेभिः अस्मान् परिपातम्) दिनोंसे, रात्रियोंसे और अहिंसित श्रेष्ठ धनोंसे, हमारी सब ओरसे रक्षा करो । (मित्रः वरुणः अदितिः सिन्धुः उत द्यौः) मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु और द्युलोक (नः, तत् मामहन्ताम्) हमारी उस रक्षाकी वृद्धि करो अर्थात् उत्तम रीतिसे हमारी सुरक्षा करो ॥ ३० ॥

[१८२३] (सविता देवः हिरण्ययेन रथेन) सवितादेव सुवर्णमय रथसे (कृष्णेन रजसा आवर्तमानः) कृष्णवर्ण रात्रिसे युक्त अन्तरिक्ष पथमें पुनः पुनः आवर्तन करके भ्रमण करता हुआ (अमृतं च मर्त्यं निवेशयन्) अमर और मरण धर्मवालोंको अपने अपने स्थानमें रखनेवाला, तथा (भुवनानि पश्यन्) सम्पूर्ण भुवनोंको देखता हुआ (आयाति) आगमन करता है ॥ ३१ ॥

[१८२४] हे (रात्रि) रात्रि ! तुमसे (पार्थिवं रजः, पितुः धामभिः आ अप्रायि) पृथ्वीलोकको मध्यमलोकके स्थानोंसे पूर्ण किया जाता है, और (बृहती दिवः सदांसि वितिष्ठसे) महान् तुम द्युलोकके स्थानोंको व्याप्त करती हो, तब तुम्हारा (त्वेषं तमः) शत्रुओंको दूर करनेवाला सामर्थ्यरूप अंधकार सर्वत्र व्याप्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

[१८२५] हे (वाजिनीवति) अन्नवति ! हे (उषः) उषादेवी ! (अस्मभ्यं तत् चित्रं आभर) हमारे लिये उस आश्चर्यकारी श्रेष्ठ धनका प्रदान करो, (येन तोकं च तनयं च धामहे) जिसके द्वारा पुत्र और पौत्रको भी हम पोषण कर सकें ॥ ३३ ॥

[१८२६] हम (प्रातः अग्निं हवामहे) प्रभात समयमें अग्निको बुलाते हैं, (प्रातः इन्द्रं) प्रभातमें इन्द्रको, (प्रातः मित्रावरुणा) प्रभातमें मित्रावरुण देवताको, (प्रातः अश्विना) प्रभातमें दोनों अश्विनीकुमारोंको (प्रातः भगम्) प्रातः समय ऐश्वर्यके देवताको, (पूषणं ब्रह्मणस्पतिं, प्रातः सोमं उत रुद्रं हुवेम) पूषा देवताको, ब्रह्मणस्पतिको. प्रातः समय सोम देवताको और रुद्रदेवताको बुलाते हैं ॥ ३४ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ३५ ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३६ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाꣳ सुमतौ स्याम ॥ ३७ ॥

भग एव भगवाँ२ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥ ३८ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ३९ ॥

[१८२७] (वयं तं प्रातर्जितं उग्रं अदितेः पुत्रं भगं हुवेम) हम उस प्रसिद्ध प्रभातवेलामें जयशील प्रचण्ड, अदितिके पुत्र सूर्यको बुलाते हैं (यः विधर्ता) जो जगत्का धारण करनेवाला है, जिसको (आध्रः चित् मन्यमानः) दरिद्र भी स्वार्थ सिद्धिके लिये मान्य करता हुआ और (तुरः चित्) रोगी भी तथा (राजा चित्) राजा भी (यं भगं भक्षि) जिस ऐश्वर्ययुक्त भगकी प्रार्थना करता हुआ, 'मुझे ऐश्वर्य प्रदान करो' (इति आह) इस प्रकारसे प्रार्थना करता है ॥ ३५ ॥

[१८२८] हे (भग) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! हे (प्रणेतः) उत्कृष्ट मार्गसे ले जानेवाले ! हे (सत्यराधः) सत्य धनवाले ! तुम (नः धियं ददत् उत अव) हमे सद्बुद्धिको प्रदान करके हमारी रक्षा करो। (भग) ऐश्वर्यवन् ! (नः गोभिः अश्वैः प्रजनय) हमको गौवोंसे और अश्वोंसे विशेष रूपसे उन्नत करो और हे (भग) सम्पत्तिके स्वामी देव ! हम (नृभिः नृवन्तः प्रस्याम) उत्तम नेता पुरुषोंसे श्रेष्ठ नेतावाले वा पुत्र भृत्य सहायकोंसे युक्त भली प्रकार हों ॥ ३६ ॥

[१८२९] हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हम (इदानीं उत सूर्यस्य उदिता, उत प्रपित्वे, उत अह्नां मध्ये, उत भगवन्तः स्याम) इस समय भी सूर्योदयकालमें, और सूर्यास्त समयमें तथा दिनके मध्य समयमें भी धनवान् हों, एवं (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवताओंकी सुमतिमें हों ॥ ३७ ॥

[१८३०] हे (देवाः) देवताओ ! (भगः एव भगवान् अस्तु) सबके सेवा करने योग्य परमेश्वर समस्त ऐश्वर्योंका स्वामी है, (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उसके द्वारा हम भी समस्त ऐश्वर्योंके स्वामी हों। हे (भग) ऐश्वर्यवन् ! (सर्वः इत् तं त्वा जोहवीति) सब मनुष्य तुमको बुलाते हैं। हे (भग) ऐश्वर्यके स्वामी ! (सः नः पुरएत भव) वह विख्यात तुम हमारे सबसे आगे चलनेवाले नायक होओ ॥ ३८ ॥

[१८३१] (उषसः अध्वराय समनमन्तं इव दधिक्रावा अश्वः शुचये पदाय) उषःकालके हिंसारहित यज्ञ देवताकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, जिस प्रकार सामुद्रिक अश्व शुचिपदक्षेपके लिये अनुकूल होता है। वैसे ये देव (वसुविदं भगं नः अर्वाचीनं आवहन्तु) धनके ज्ञाता, ऐश्वर्यको हमारे अभिमुख ले आवें (इव वाजिनः अश्वाः रथम्) जैसे वेगवान् घोडे रथको लाया करते हैं ॥ ३९ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ४० ॥

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन । स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४१ ॥

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडर्कम् ।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियं-धियंᳫं सीषधाति प्र पूषा ॥ ४२ ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ॥ ४३ ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाᳫंसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ४४ ॥

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा ।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥ ४५ ॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् ।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ॥ ४६ ॥

[१८३२] (अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्रा घृतं दुहानाः) अश्वोंवाली गौवोंवाली वीरसन्ततिवाली कल्याणरूपवाली दूधको दुहती है, उस प्रकार (विश्वतः प्रपीताः उषसः सदं नः उच्छन्तु) सब ओरसे पूर्ण करनेवाली उषायें सर्वदा हमारे पाशको दूर करें । हे देवताओ ! (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम सब कल्याणोंके साधनोंसे निरन्तर हमारी रक्षा करो ॥ ४० ॥

[१८३३] हे (पूषन्) पूषादेव ! (तव व्रते कदाचन न रिष्येम) तुम्हारे व्रतमें रहनेवाले हम कभी भी न नष्ट हों । (इह ते स्तोतारः स्मसि) यहां हम तुम्हारे स्तुति करनेवाले हों ॥ ४१ ॥

[१८३४] (कामेन वचस्या कृतः पूषा पथस्पथः परिपतिं अर्कं अभ्यानट्) इच्छापूर्वक वचनसे प्रार्थना किया पूषादेवता सत्य मार्गके पालक सूर्यदेवको प्राप्त होता है, (सः नः चन्द्राग्राः शुरुधः रासत्) वही पूषा देवता हमको, शोकनाशक साधनोंको प्रदान करे, हमारे (धियं धियं प्रसीषधाति) सम्पूर्ण बुद्धिपूर्वक किये कर्मोंको विशेष रूपसे सिद्ध करे ॥ ४२ ॥

[१८३५] (विष्णुः गोपाः अदाभ्यः) व्यापक, सबका रक्षक और कभी भी नष्ट न होनेवाला नित्य परमेश्वर (त्रीणि पदा विचक्रमे) तीनों लोकोंको विविध प्रकारसे बनाता व चलाता है । और (अतः धर्माणि धारयन्) इसी कारणसे समस्त संसारके धारण करनेवाले नियमोंको भी धारण करता है ॥ ४३ ॥

[१८३६] (विप्रासः विपन्यवः जागृवांसः) विद्वान मेधावी विविध प्रकारसे ईश्वरकी स्तुति करनेवाले पुरुष सदा जागृत अर्थात् प्रमादरहित रहकर (विष्णोः यत् परमं पदं) व्यापक अन्तर्यामी परमेश्वरका जो सर्वोत्कृष्ट परमपद है (तत् सम् इन्धते) उसको भली प्रकार प्रकाशित करते हैं ॥ ४४ ॥

[१८३७] (घृतवती भुवनानां अभिश्रिया उर्वी पृथ्वी) जलयुक्त, प्राणियोंको आश्रय देनेवाली, विस्तीर्ण, पृथिवी (मधुदुघे सुपेशसा अजरे भूरिरेतसा द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते) मधुर रसका दोहन करनेवाली सुरूपवाली जरारहित सबको बहुत सामर्थ्य देनेवाली द्यु और भूमि वरुणकी शक्तिसे सुदृढ हो गई हैं ॥ ४५ ॥

[१८३८] (ये नः सपत्ना ते अवभवन्तु) जो हमारे शत्रु हैं वे पराभवको प्राप्त हो, (तान् इन्द्राग्निभ्यां अवबाधामहे) उन शत्रुओंका इन्द्राग्नीकी सहायतासे नाश करते हैं, (वसवः रुद्राः आदित्याः मा उपरिस्पृशं उग्रं चेतारं अधिराजं अक्रन्) आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य मुझको उच्चस्थानमें स्थित, उग्र वीर तथा ज्ञानी बनाकर सबका अधिराजा करें ॥ ४६ ॥

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांꣳसि मृक्षतꣳ सेधतं द्वेषो भवतꣳ सचाभुवा ॥ ४७ ॥

एष व स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः ।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ४८ ॥

सहस्तोमाः सहच्छन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः ।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥ ४९ ॥

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम् । इदꣳ हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम् ॥ ५० ॥

न तद्रक्षांꣳसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥५१॥

[१८३९] हे (नासत्या) विनाशको प्राप्त न होनेवालो ! (अश्विना) दानों अश्विनी कुमारो ! तुम दोनों (त्रिभिः एकादशभिः देवेभिः इह मधुपेयं आयातम्) तेंतीस देवताओंके सहित इस यज्ञमें मधुपानके लिये आगमन करो । हमारी (आयुः प्रतारिष्टं रपांसि निर्मृक्षतम्) आयुको बढाओ और पापोंको पूर्णतासे नष्ट करो तथा (द्वेषः सेधतम्) द्वेषभावको नाश करो एवं (सचाभुवा भवतम्) कार्योंमें सहायक होओ ॥ ४७ ॥

[१८४०] हे (मरुतः) मरुतो ! (मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः एषः स्तोमः) सब फल योग्य रीतिसे प्राप्त करनेवाले माननीय यजमानका किया हुआ यह यज्ञ है और (इमं गीः वः) यह स्तुति तुम्हारी है; तुम (वयां तन्वे इषा आयासीष्ट) बाल्य यौवन वार्द्धक्य अवस्थावाले इस शरीरको दीर्घायु देनेके लिये व अन्नको देनेके लिये यहां आगमन करो और (जीवदानुं वृजनं इषं विद्याम्) जीवनके देनेवाले बलके साधक अन्नको हम प्राप्त हों ॥ ४८ ॥

[१८४१] (सहस्तोमाः सहच्छन्दसः आवृतः सहप्रमाः धीराः) स्तोमोंके साथ, छन्दोंसहित बुद्धिमान धीर (दैव्याः सप्तऋषयः पूर्वेषां पन्थां अनुदृश्य अन्वालेभिरे) दिव्य सात ऋषियोंने, पूर्व ऋषियोंके मार्गको देखकर इस यज्ञकी रचना की, और (न रथ्यः रश्मीन्) जिस प्रकार रथी इष्ट देशमें गमन करनेके लिये लगामको लेकर अपने इष्ट स्थानमें रथका गमन करता है उसी प्रकार ये भी इष्ट स्वर्ग स्थानमें गमन करनेवाले हुये ॥ ४९ ॥

[१८४२] (इदं आयुष्यं वर्चस्यं रायः) यह आयुको बढानेवाला, कान्तिका देनेवाला धन, (पोषं औद्भिदं वर्चस्वत्) पोषण करनेवाला, भूमिसे उत्पन्न होनेवाला विजयका कारण (हिरण्यं जैत्राय मां उ आ विशतात्) सुवर्ण, विजयके लिये मुझको निश्चयसे प्राप्त हो ॥ ५० ॥

[१८४३] (तत् रक्षांसि न तरन्ति) उस सुवर्ण पर राक्षस नहीं आक्रमण करते हैं, (पिशाचाः न) पिशाच भी इस सुवर्ण पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं, (हि एतत् देवानां प्रथमजं ओजः) निश्चयसे यह देवताओंका प्रथम उत्पन्न हुआ तेज है । (यः दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति) जो कोई अलङ्कार करके सुवर्णको धारण करता है (सः देवेषु दीर्घ आयुः कृणुते) वह देवोंमें बडी आयुको प्राप्त करता है, और (सः मानुष्येषु आयुः दीर्घ कृणुते) वह मनुष्योंमें भी आयुको बडी करता है ॥ ५१ ॥

शरीरपर सुवर्णके अलंकार धारण करनेसे शरीरपर सुवर्णका जो असर होता है उसका परिणाम दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति है । अतः सुवर्णके अलंकार मनुष्योंको अपने शरीरपर धारण करने चाहिये ॥ ५१ ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तन्म आ बध्नामि शतशारदायायुष्मांञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥ ५२ ॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः ।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवाना स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु ॥ ५३ ॥

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि ।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अꣳशः ॥ ५४ ॥

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ ५५ ॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे । उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥ ५६ ॥

[१८४४] (सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः यत् हिरण्यं शतानीकाय अबध्नन्) सुन्दर मनवाले, चतुराई व विज्ञानसे युक्त, जो पुरुष जिस सुवर्णको बहुत सेनावाले राजाके लिये बांधते हैं, (तत् शतशारदाय मयि आबध्नामि) उस सुवर्णको सौ वर्षके जीवनके लिये मैं अपने शरीरमें बांधता हूं (यथा आयुष्मान् जरदष्टिः स्थित आसम) जिससे मैं दीर्घआयुसे युक्त होकर वृद्धावस्थातक जीवित रहूं ॥ ५२ ॥

[१८४५] हे मनुष्यो ! (बुध्न्यः अहिः) अन्तरिक्षमें होनेवाले बादलके सदृश और (पृथिवी समुद्रः) पृथ्वी तथा समुद्रके तुल्य (एकपात् अजः नः शृणोतु) एक प्रकारसे निश्चल बोधवाला व कभी न उत्पन्न होनेवाला परमेश्वर हमारे वचनोंको श्रवण करे । तथा (ऋतावृधः हुवानाः विश्वेदेवाः उत कविशस्ताः मन्त्रा अवन्तु) सत्यकी वृद्धि करनेवाले, स्पर्द्धा करते हुये सब विद्वान लोग और बुद्धिमानोंसे प्रशंसित स्तुतिके प्रकाशक विचारोंके साधक मन्त्र समूह हमारी रक्षा करें ॥ ५३ ॥

[१८४६] मैं (इमाः घृतस्नूः गिरः जुह्वा सनात् राजभ्यः आदित्येभ्यः जुहोमि) ये घृतका हवन करनेवाली स्तुतियोंको बुद्धिरूप जुहूद्वारा चिरकाल पर्यन्त दीप्तिमान् आदित्यके लिये मैं समर्पण करता हूं (मित्रः अर्यमा भगः तुविजातः वरुणः दक्षः अंशः नः शृणोतु) मित्र, अर्यमा, ऐश्वर्यके देव, बहुत प्रसिद्ध त्वष्टा, वरुण, दक्ष और अंशनामक आदित्य हमारी स्रुचासे हवन करनेके समय उच्चारित वेदकी वाणियोंको सुनें ॥ ५४ ॥

[१८४७] (सप्त ऋषयः शरीरे प्रतिहिताः) त्वक् चक्षु, श्रवण, रसन, घ्राण, मन, बुद्धि ये सात ऋषि शरीरमें व्यवस्थित हैं, यह (सप्तसदं अप्रमादं रक्षन्ति) सातों निरन्तर सब समयमें प्रमाद रहित होकर इस शरीरकी रक्षा करते हैं, ये (सप्त आपः स्वपतः लोकं ईयुः) सातों देहमें व्यापक सोते हुये मनुष्यके हृदयाकाशमें स्थित-विज्ञानात्माको प्राप्त होते हैं, (च तत्र अस्वप्नजौ सत्रसदौ देवौ जागृतः) और वहां स्वप्नको न प्राप्त होनेवाले निरन्तर जीवोंकी रक्षारूप यज्ञमें स्थित प्राण और अपान दो देवता जागते रहते हैं ॥ ५५ ॥

[१८४८] हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्मरूप वेदके पालक ! (उतिष्ठ) उठो । (देवयन्तः त्वा ईमहे) देव बनने की कामना करते हुये हम तुम्हारी प्रार्थना करते हैं, (सुदानवः मरुतः उप प्रयन्तु) सुन्दर दान देनेवाले मरुत तुम्हारे समीप प्राप्त हों । हे (इन्द्र) इन्द्र ! (सचा प्राशूः भव) साथ रहनेके कारण तुम सब प्रकारसे सुयोग्य कार्य करनेवाले होओ ॥ ५६ ॥

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥ ५७ ॥
ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥
य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिता ऽन्नपतेऽन्नस्य नो देहि + ॥ ५८ ॥
[अ० ३४, कं० ५८, मं० सं० ५८]

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।

[१८४९] (ब्रह्मणस्पतिः नूनं उक्थ्यं मन्त्रं प्रवदति) ब्रह्मणस्पति अवश्य ही योग्य मंत्रका हमसे विशेषरीतिसे उच्चारण कराता हैं, (यस्मिन् इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा देवाः ओकांसि चक्रिरे) जिस मन्त्रमें इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवगण अपने रहनेके स्थानोंको करते हैं ॥ ५७ ॥

[१८५०] हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्माण्डके रक्षक ईश्वर ! (त्वं अस्य यन्ता बोधि) तुम इस जगतके नियन्ता हो हमारी स्तुतिको जानो, (च तनयं जिन्व) और हमारे सन्तानों पर प्रीति करो, (देवाः यत् भद्रं अवन्ति) देवगण जिस कल्याणका पालन करते है (तत् विश्वम्) वह सम्पूर्ण कल्याण हमको प्राप्त हो, और (सुवीराः विदथे बृहत् वदेम) कल्याणरूप पुत्रोंवाले हम यज्ञमें बहुत प्रवचन करनेवाले हों । (यः इमा विश्वा विश्वाकर्मा) जो इस सम्पूर्ण विश्वका निर्माण करनेवाला है, (यः नः पिता) जो परमात्मा हमारा पालक है, वह हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें । हे (अन्नपते) अन्नके स्वामी ! तुम (नः अन्नस्य देहि) हमारे लिये अन्नके प्रदान करनेवाले होओ अर्थात् हमें उत्तम अन्न प्रदान करो ॥ ५८ ॥

॥ चौतीसवां अध्याय समाप्त ॥

+य इमा विश्वा०, विश्वकर्मा०, यो नः पिता० । (वा. य. १७।१७, २६-२७); अन्नपते...... देहि० (वा. य. ११।८३)

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः । अस्य लोकः सुतावतः ।
द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ १ ॥
सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्याँल्लोकमिच्छतु । तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः ॥ २ ॥
वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा । वि मुच्यन्तामुस्रियाः ॥ ३ ॥
अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ४ ॥
सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आ वपतु । तस्मै पृथिवि शं भव ॥ ५ ॥
प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके नि दधाम्यसौ । अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥

[१८५१] (असुम्नाः, देवपीयवः, पणयः इतः अपयन्तु) दूसरोंको दुःख देनेवाले, देवताओंके द्वेषी, परद्रव्यापहारी असुर इस स्थानसे दूर चले जायें, (सुतावतः अस्य लोकः) सोमाभिषव करनेवाले इस यजमानका यह लोक है । (यमः द्युभिः अहोभिः अक्तुभिः व्यक्तं अवस्थानम्) यमराज ऋतुओं द्वारा दिनों द्वारा और रात्रियों द्वारा स्पष्ट किये उत्तम स्थानको (अस्मै ददातु) इस यजमानके लिये प्रदान करे ॥ १ ॥

[१८५२] हे जीव ! (सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकं इच्छतु) सबका प्रेरक परमात्मा तेरे शरीरके लिये इस भूमिमें सुयोग्य स्थानको देनेकी इच्छा करे । (तस्मै उस्रियाः युज्यन्ताम्) उस तेरे लिये प्रकाश लाभप्रद हों ॥ २ ॥

[१८५३] हल चलानेपर क्षेत्रको (वायुः पुनातु) वायु पवित्र करे, (सविता पुनातु) सविता देवता पवित्र करे, (अग्नेः भ्राजसा) अग्निके तेजसे यह स्थान पवित्र हो, तथा (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्यके प्रकाशसे यह क्षेत्र स्वच्छ हो और (उस्रिया विमुच्यन्ताम्) धेनु पुत्र बैलोंको हलसे पृथक कर दिये जांय ॥ ३ ॥

[१८५४] जिस परमेश्वरने (अश्वत्थे वः निषदनम्) अनित्य संसारमें तुम लोगोंकी स्थिति की है, और (वः वसतिः पर्णे कृता) तुम्हारा निवास भी पत्तेके समान अस्थिरसा बना दिया है (यत्) तुम्हारी ऐसी स्थिति है अतः (पुरुषं सनवथ) सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माकी उपासना करो, और (गोभाजः इत् किल असथ) गौओंकी सेवा करनेवाले होओ ॥ ४ ॥

अ-श्व-त्थ— जो कल जीवित रहेगा, इसका निश्चय नहीं है वह अश्वत्थ है । संसार ऐसा है ॥ ४ ॥

[१८५५] हे जीव ! (सविता ते शरीराणि मातुः उपस्थे आवपतु) सविता देवता तेरे शरीरोंको पृथिवी माताके गोदमें स्थापन करे । हे (पृथिवि) भूमि ! तुमभी (तस्मै शं भव) उस जीवके लिये शान्ति प्रदान करनेवाली होओ ॥ ५ ॥

[१८५६] हे जीव ! जो (असौ नः अघं अप शोशुचत्) यह हमारे पापभावको शीघ्र दूर करे ऐसे, अतः (प्र-जापतौ देवतायाम्) प्रजाके रक्षक दिव्यगुणयुक्त पूजनीय परमात्मामें तथा (उपोदके लोके) उदकयुक्त लोकमें (त्वा निदधामि) तुमको धारण करता हूं ॥ ६ ॥

मनुष्य ऐसे प्रदेशमें रहे कि जहां जल विपुल हो और वह परमात्मा की उपासना वहां रहकर कर सके ॥ ६ ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान् ॥ ७ ॥

शं वातः शꣳ हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः ।
शं ते भवन्त्वग्नयो पार्थिवासो मा त्वाऽभि शूशुचन् ॥ ८ ॥
कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः ।
अन्तरिक्षꣳ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः ॥ ९ ॥
अश्मन्वती रीयते सꣳ रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ १० ॥
अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः । अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव ॥ ११ ॥
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥१२॥

[१८५७] हे (मृत्यो) मृत्यु ! (यः ते देवयानात् इतरः अन्यः) जो तेरा देवयान मार्गसे भिन्न दूसरा मार्ग है उस (परं पन्थां अनु परा इहि) दूसरे मार्गको अनुकूल रहकर तू इस दूसरे मार्गसे ही चला जा। (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) चक्षुसम्पन्न अर्थात् उत्तम ज्ञानवाले और सुनते हुये तेरे लिये कहता हूं कि तू (नः प्रजां उत वीरान् मा रीरिषः) हमारी प्रजा और वीर पुरुषोंको मत मारो ॥ ७ ॥

[१८५८] हे यजमान ! (वातः ते शम्) वायु तुझे कल्याणकारी हो; (घृणिः ते शम्) सूर्य तुझे सुखकर हो, (इष्टकाः ते शं भवन्तु) ईंटें अर्थात् ईंटोंसे बने गृह, यज्ञ कुण्ड आदि तुझे शान्तिदायक हों, (पार्थिवासः अग्नयः ते शं भवन्तु) पृथ्वीके ऊपरकी अग्नियें तेरे लिये सुखकारिणी हों, वे (त्वा मा अभि शूशुचन्) तुझे कष्ट न दें ॥८॥

[१८५९] (दिशः ते कल्पन्ताम्) दिशायें तेरे लिये हितकारी हों, (आपः तुभ्यं शिवतमाः) जल तेरे लिये अत्यंत कल्याणदायक हों, (सिन्धवः तुभ्यं शिवतमाः भवन्तु) समुद्र तुम्हारे लिये अत्यंत सुख देनेवाले हों, (अन्तरिक्षं तुभ्यं शिवम्) अन्तरिक्ष तुम्हारे लिये सुखदायक हो और (सर्वाः दिशः ते कल्पन्ताम्) समस्त दिशायें तुम्हारे लिये आनंद देनेमें समर्थ हों ॥ ९ ॥

[१८६०] हे (सखायः) मित्रजनो ! (अश्मन्वती रीयते) पत्थरोंसे भरी हुई नदी प्रवाहित हो रही है, इसको पार करनेके लिये तुम (संरभध्वम्) अच्छी प्रकारसे प्रयत्न करो, (उत्तिष्ठत) खडे हो जाओ, इसे (प्रतरत) तर जाओ, (अत्र ये अशिवाः असन्) यहां इसमें जो दुःखदाई पदार्थ हैं उसको हम (जहीम) त्याग देवें। और (शिवान् वाजान् वयं अभ्युत्तरेम) सुखकारी अन्नोंको हम प्राप्त करें ॥ १० ॥

यह संसाररूपी नदी चल रही है, इस नदीमेंसे तुमको– मनुष्योंको पार होना है; अतः मनुष्य संघटित हो जांय और उत्तम रीतिसे इस नदीसे पार हो और सुखी जीवन व्यतीत करें ॥ १० ॥

[१८६१] हे (अपामार्ग) दुष्टोंको दूर करनेवाले ! (त्वं अस्मत् अघं अपसुव) तुम हमारे पापको दूर करो, (किल्बिषं अपसुव) अपकार करनेवाले दुष्कर्मको दूर करो, (कृत्यां अपसुव) शत्रुसे प्रयुक्त गुप्त हत्याके घातक प्रयोगको दूर करो, (रपः अप) बाह्य इन्द्रियोंके चंचलतारूप अपराधको दूर करो और (दुःस्वप्न्यं अपसुव) दुःस्वप्नके दुःखरूप फलको दूर करो ॥ ११ ॥

[१८६२] (आपः ओषधयः नः सुमित्रियाः सन्तु) जल तथा ओषधियां हमारे लिये अच्छे मित्रोंके सदृश हितकारिणी होवें। (यः अस्मान् द्वेष्टि च यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता और जिस दुष्टाचारीका हम द्वेष करते हैं (तस्मै) उसके लिये वे पदार्थ (दुर्मित्रियाः सन्तु) शत्रुओंके तुल्य दुःखदायी होवें ॥ १२ ॥

अनुड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳ स्वस्तये। स न इन्द्र इव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव ॥१३॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १४ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ १५ ॥

अग्न आयूꣳषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १६ ॥

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा ॥ १७ ॥

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत । देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ२ आ दधर्षति ॥ १८ ॥

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ १९ ॥

[१८६३] हम (सौरभेयं अनड्वाहं स्वस्तये अन्वारभामहे) गोके पुत्र वृषभको कल्याणके लिये स्पर्श करते हैं (सः नः संतारणः भव) वह हमारे लिये तारक हो, तथा (देवानां वह्निः) देवताओंका धारण कर्ता हो, (इव इन्द्रः देवेभ्यः) जैसे इन्द्र देवताओंके लिये है ॥ १३ ॥

[१८६४] (वयं तमसः परि स्वः उत्तरं देवम्) हम अंधकारसे परे, सुखस्वरूप, प्रलयके पश्चात् भी रहनेवाले देवको, जो (देवत्रा उत्तमं, ज्योतिः) दिव्यगुण युक्त, सर्वोत्तम ज्योतिस्वरूप है, ऐसे गुणोंसे संपन्न (सूर्यं पश्यन्तः) चराचर जगत्के सूर्यरूपमें परमेश्वरको देखते हुए (उत्तमं अगन्म) उच्चभावको प्राप्त हों ॥ १४ ॥

[१८६५] हे मनुष्यो ! (एषां एतं अर्थं अपरः नु मा गात्) इन मनुष्योंके प्राप्त किये इस धनको अन्य कोई दुष्ट न अपहरण करे, इस कारणसे (इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि) इस मर्यादाको जीवोंके हितके लिये धारण करता हूं, इस प्रकारसे आचरण करते हुये तुम लोग (पुरूचीः शतं शरदः जीवन्तु) बहुतसे ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले होकर सौ शरद ऋतु पर्यन्त अर्थात सौ वर्षोंतक जीवन धारण करते रहो और (पर्वतेन मृत्युं अन्तः दधताम्) ज्ञान अथवा ब्रह्मचर्यादिसे मृत्युको दूर करो ॥ १५ ॥

[१८६६] हे (अग्ने) अग्ने ! तुम स्वयं ही (आयूंषि पवसे) आयु प्राप्त करानेवाले यज्ञ कर्मोंको पूर्ण करते हो, इस कारण (नः इषं ऊर्जं आसुव) हमको धान्य और बलवर्धक दूध दधि आदि रस प्रदान करो, तथा (आरे दुच्छुनां बाधस्व) दूर स्थित दुष्ट दुर्जनोंको बाधा करो अर्थात् हमारी आयुकी रक्षा करो और दुर्जनोंके आक्रमणसे बचाओ ॥ १६ ॥

[१८६७] हे (अग्ने) अग्ने ! (आयुष्मान् हविषा वृधानः घृतप्रतीकः घृतयोनिः एधि) चिरजीवी, त हवि द्वारा वृद्धिको प्राप्त, घृत भक्षक मुखवाले तथा घृतके स्थानवाले तुम वृद्धिको प्राप्त होओ; और (गव्यं मधु चारु घृतं पीत्वा) गो सम्बन्धी मधुर सुन्दर घृतको पान करके (इमान् अभिरक्षतात् पिता पुत्रं इव) इन जीवोंकी सब प्रकारसे पुत्रकी पिताके समान रक्षा करो (स्वाहा) समर्पण करता हूं ॥ १७ ॥

[१८६८] (इमे गां पर्यनेषत) ये सब याजक गोको स्वीकार करते हैं, (देवेषु श्रवः अक्रत) देवताओंमें इन्होंने हविरूपसे अन्न दिया है, इस प्रकारके (इमान् कः आदधर्षति) इन यजमानोंका कौन पराभव कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं कर सकता है ॥ १८ ॥

[१८६९] मैं (क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभोजी अग्निको दूर करता हूं, (रिप्रवाहः यमराज्यं गच्छतु) पापकर्मकर्ता यमलोकको प्राप्त हो, (अयं इतरः जातवेदाः) यह दूसरा जातवेद नामवाला अग्नि (प्रजानन् इहैव देवेभ्यः हव्यं वहतु) अपने सामर्थ्यको जानता हुआ इसी हमारे घरमें देवताओंके लिये हविको पहुंचाया करे ॥ १९ ॥

वहं वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके ।
मेदसः कुल्या उप तान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तांᳬ स्वाहा ॥२०॥
स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ २१ ॥
अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ २२ ॥

[अ० ३५, कं० २१, मं० सं० १८]

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः।

[१८७०] हे (जातवेदः) जातवेद ! तू (पितृभ्यः वपां वह) पितरोंके लिये हवनीय सारभागको वहन कर, और (यत्र पराके एना निहितान् वेत्थ) जहां दूर देशमें भी तू इनको स्थित हुआ जान, वहां पर भी उनकी रक्षाके लिये तुम्हारे द्वारा (मेदसः कुल्याः तान् उप स्रवन्तु) जलकी धारायें अर्थात् नहरें उनको प्राप्त हों, (एषां आशिषः स्वाहा, सत्याः सं नमन्ताम्) इनके आशीर्वाद उत्तम त्याग द्वारा सत्य होकर अच्छी प्रकारसे पूर्ण हों ॥२०॥

[१८७१] हे (पृथिवि) पृथिवि ! तू (नः स्योना अनृक्षरा निवेशनी भव) हमारे लिये सुखकारिणी, कंटक आदिसे रहित और बसने योग्य होओ । तू (सप्रथाः नः शर्म यच्छ) सब प्रकारसे विस्तृत होकर हमें स्थान और सुख प्रदान करो, तथा (नः अघं अप शोशुचत्) हमारे पापको भी शीघ्र दग्ध करके दूर कर दो ॥ २१ ॥

[१८७२] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं अस्मात् अधि जातः असि) तू इस लोकमें प्रजाजनोंमेंसे ही ऊपर उठकर उसके नायकरूपसे अधिकारवान बनाया गया है, इसलिये (अयं त्वत् पुनः जायताम्) यह लोक भी तेरेसे ही फिर ऐश्वर्यवान् हो, (असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा) यह प्रसिद्ध तू विशेष सुख भोगके लिये लोक हितके निमित्त उत्तम कर्म और सत्य न्याय कर ॥ २२ ॥

॥ पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः ।

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये ।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥ १ ॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ २ ॥

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३ ॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ ४ ॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः । दृढा चिदारुजे वसु ॥ ५ ॥

[१८७३] (वाचं) वाणीद्वारा (ऋचं) ऋग्वेदकी (प्र पद्ये) शरण लेता हूं । (मनः) मनद्वारा (यजुः) यजुर्वेदकी (प्र पद्ये) शरण लेता हूं। (प्राणं) प्राण द्वारा (साम) सामवेदकी (प्र पद्ये) शरण लेता हूं। (श्रोत्रं) श्रोत्र-इन्द्रियद्वारा (चक्षुः) अथर्ववेदकी शरण लेता हूं । (मयि) मेरे अंदर (वाक् ओजः) वाणी और बल (सह, ओजः) ऐश्वय और बल तथा (प्राण अपानौ) प्राणशक्तिका बल स्थिर होवे ॥ १ ॥

में अपनी वाक्शक्ति, मननशक्ति प्राणशक्ति और श्रवण-शक्तिको क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदमें पूर्णतया लगाता हूं । जिससे मुझमें वाणीका बल, ऐश्वयका सामर्थ्य और प्राणका प्रभाव स्थिर होकर बढे ॥ १ ॥

[१८७४] (यत्) जो (मे) मेरे (चक्षुषः) आंखका (हृदयस्य) हृदयका (वा मनसः) और मनका (अति-तृण्णं) अत्यंत फटा हुआ (छिद्रं) छेद है, (तत्) उस (मे) मेरे दोषको (बृहस्पतिः) ज्ञानका अधिपति (दधातु) ठीक करे । (यः) (जो भुवनस्य पतिः) सृष्टिका स्वामी है, वह (नः) हम सबका (शं) कल्याण-कर्ता (भवतु) होवे ॥ २ ॥

हमारी चक्षु आदि बाह्य इंद्रियोंमें, हृदयमें और मनमें जो न्यूनता अथवा हीनता छिपी हुई हो, वह परमेश्वरकी दयासे दूर होवे । तथा जगदीश हमारा कल्याण करे ॥ २ ॥

[१८७५] (भू) सत् (भुवः) चित् (स्वः) आनंदस्वरूप (सवितुः) जगदुत्पादक (देवस्य) ईश्वरके (तत्) उस (वरेण्यं) श्रेष्ठ (भर्गः) तेजका हम सब (धीमहि) ध्यान करते हैं (यः) जो (नः + धियः) हमारी बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) विशेष प्रेरणा करे अथवा करता है ॥ ३ ॥

तीनों कालोंमें एकरूप रहनेवाले, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशानंदमय, जगदुत्पादक और प्रेरक ईश्वरके श्रेष्ट तेजका हम सब ध्यान करते हैं, क्योंकि वही ईश्वर हम सबकी बुद्धियोंको विशेष प्रकारसे प्रेरणा करनेवाला है ॥ ३ ॥

[१८७६] (सदा-वृधः) सदासे महान् और (चित्रः) आश्चर्यकारक ईश्वर (कया ऊती) कल्याणमय रक्षणके द्वारा, (कया शचिष्ठया) कल्याणमय महाशक्तिद्वारा, और (वृता) आवर्तन अर्थात् वारंवार कर्म करनेद्वारा (नः) हम सबका (सखा) मित्र (आ भुवत्) होता है ॥ ४ ॥

सब कालमें सबसे श्रेष्ठ, सबसे विलक्षण ईश्वर, कल्याणकारक रक्षणके द्वारा और अपनी आल्हाददायक महाशक्तिके तथा बार बार कर्म करनेके सामर्थ्यके साथ हम सबका मित्र होता है। अर्थात् मित्रके समान हम सबका भला करता है ॥४॥

[१८७७] हे ईश्वर तू (अन्धसः) अन्नादि भोगोंके (मदानां) आनंदोंसे भी (मंहिष्ठः) अधिक आनंद-कारक और (सत्यः) तीनों कालोंमें एक समान है, इसलिये (कः) कौन (त्वा) तुझे (मत्सद्) आनंदित कर

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥
कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य आ भर ॥ ७ ॥
इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥
शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ९ ॥
शं नो वातः पवताᳪ शं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १० ॥

सकता है ? तू (दृढा-दृढानि) बलवान् (वसु) पृथिवी आदि पदार्थोंको भी (आ रुजे) छिन्न भिन्न करता है । हे मनुष्य ! वह (कः) आनंदस्वरूप (सत्यः) तीनों कालोंमें एक समान रहनेवाला (मदानां मंहिष्ठः) आनंदोंके कारण महान् श्रेष्ठ ईश्वर (त्वा) तुझे (अन्धसः) अन्नादिके भोगोंसे (मत्सत्) आनंदित करता है । और (दृढा वसु) बलवान् धनोंको (आ रुजे) दुःख विनाशके लिये देता है ।। ५ ॥

अन्न आदि भोगोंसे जो आनंद होता है, उससे अधिक आनंद तेरी प्राप्तिसे होता है । और तू सदा एक समान रहता है । तुझमें कभी न्यूनता, कभी अधिकता नहीं होती । तुझसे आनंद देनेवाला कोई नहीं, परंतु तू ही सबोंको आनंदित करता है । तू इतना बलवान् है कि, पृथिवी आदि सब दृढ पदार्थोंको प्रलयकालमें छिन्नभिन्न करता है । वह आनंदमय, सत्य और महान् ईश्वर अन्न आदि भोग और बलयुक्त धन, कापत्तियोंका विनाश करनेके लिये, मनुष्योंको देकर उनको आनंदित करता है ॥ ५ ॥

[१८७८] हे ईश्वर ! (नः) हम सबोंका (सखीनां) मित्रोंका और (जरितॄणां) उपासकोंका (शतं ऊतिभिः) सैकडों रक्षणोंके द्वारा (अभि सु अविता) सब प्रकारसे उत्तम रक्षक (भवसि) होता तू है ॥ ६ ॥

हम सबोंका, मित्रों और उपासकोंका तू सैकडों प्रकारोंसे अत्यंत उत्तम रक्षण करता है ॥ ६ ॥

[१८७९] हे (वृषन्) आनंदकी वृष्टि करनेवाले ईश्वर ! तू (कया) आनंदकारक (ऊत्या) रक्षणके साथ (नः) हम सबको (अभि प्र मन्दसे) सब ओरसे आनंदित करता है । और (कया) उसी निज आनंदसे (स्तोतृभ्यः) तेरे गुणकीर्तन करनेवालोंकी (आ भर) पुष्टि करता है ॥ ७ ॥

आनंदकी वृष्टि करनेवाला ईश्वर, हम सबोंका सब प्रकारसे रक्षण करता हुआ सबको आनंदयुक्त करता है । और उसीके गुणोंका वर्णन करनेवालोंका भरण-पोषण करता है ॥ ७ ॥

[१८८०] (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (विश्वस्य) सबका (राजति) राजा है । वह (नः) हम सबोंके (द्विपदे) दो पांववालोंके लिये (शं) कल्याणकर्ता तथा (चतुष्पदे) चार पांववालोंके लिये भी (शं) कल्याणकर्ता (अस्तु) होवे ॥ ८ ॥

परम ऐश्वर्यसंपन्न परमेश्वर सब जगत्का राजा है । वही मनुष्यों और पशुपक्षियोंके लिये कल्याण करनेवाला है ॥८॥

[१८८१] (मित्रः) सबोंका मित्र, ईश्वर (नः शं) हम सबोंको कल्याणकारी होवे । (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ, ईश्वर (शं) कल्याणकारी होवे । (अर्यमा) न्यायकारी ईश्वर (नः शं) हम सबोंको कल्याणकारी (भवतु) होवे । (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (नः शं) हम सबोंको कल्याणकारी होवे । (बृहस्पतिः) वाणीका स्वामी, (विष्णुः) व्यापक और (उरु क्रमः) जिसका महान् क्रम है वह ईश्वर (नः शं) हम सबोंको कल्याणकारी होवे ॥ ९ ॥

सबके साथ प्रेम करनेवाला, सबसे श्रेष्ठ, न्यायकारी परम ऐश्वर्यवान्, विश्वका अधिपति, सर्वव्यापक और विशेष-क्रमसे कार्य करनेवाला ईश्वर हम सबोंका कल्याण करे ॥ ९ ॥

[१८८२] (वातः) वायु (नः) हम सबोंके लिये (शं) कल्याणमय होकर (पवतां) बहता रहे । (सूर्यः) सूर्य (नः) हम सबके लिये (शं तपतु) कल्याणकारक होकर तपता रहे । (कनिक्रदद्) गर्जना करनेवाला (पर्जन्यः देवः) पर्जन्य देव (नः) हम सबोंके लिये (शं) कल्याणकारक होकर (अभिवर्षतु) वृष्टि करे ॥१०॥

वायु, सूर्यका प्रकाश और मेघकी वृष्टि इन सबसे हम सबका कल्याण होता रहे ॥ १० ॥

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु न॒: शꣳ रात्री॒: प्रति॑ धीयताम् ।
शं न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒: शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शं न॑ इन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑साता॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सु॒वि॒ताय॒ शं योः ॥ ११ ॥
शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ । शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १२ ॥
स्यो॒ना पृ॑थिवि नो भवानृक्ष॒रा नि॒वेश॑नी । यच्छा॑ न॒: शर्म॑ स॒प्रथा॑: ॥ १३ ॥
आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ ऊ॒र्जे द॑धातन । म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥ १४ ॥
यो व॑: शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह न॑: । उ॒श॒तीरि॑व मा॒तर॑: ॥ १५ ॥

[१८८३] (नः) हम सबोंके लिये (अहानि) दिन (शं) कल्याणकारक (भवन्तु) हों। (रात्रीः) रात्रिका समय हम सबोंके लिये (शं) कल्याणको (प्रतिधीयतां) धारण करे (अवोभिः) सब प्रकारके रक्षणोंके साथ (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् और तेजस्वी (नः शं) हम सबोंके लिये कल्याणकारक (भवतां) हों। (रात-हव्यौ) अन्न देनेवाले (इन्द्रावरुणौ) ऐश्वर्यवान् और श्रेष्ठ (नः शं) हम सबका कल्याण करें। (इन्द्रापूषणौ) ऐश्वर्यवान् और पोषणकर्ता (वाजसातौ) अन्नके दानके समय (नः शं) हम सबका कल्याणकारी हों। (इन्द्रा-सोमौ) ऐश्वर्यवान् और विद्वान् (सुविताय) सुभीतेके लिये और (शं योः) रोगनिवारण और भयोंको हटानेके लिये (शं) कल्याणकारी हों॥ ११ ॥

हरएक समय ये सब शक्तियां हमको लाभदायक हों ॥ ११ ॥

[१८८४] (देवीः) दिव्य (आपः) उदक (अभिष्टये) हमारा अभीष्ट सिद्ध करनेवाला, (नः शं) हम सबका कल्याण और (पीतये) तृषा शांत करनेवाला (भवन्तु) होवे। वह (नः शं योः) हमारा रोग-निवारण और अनिष्ट दूर करनेके लिये (अभि स्रवन्तु) बहता रहे॥ १२ ॥

दिव्य उदकसे हमारी तृषा शांत हो। हमारे रोग दूर हों और अनिष्टका नाश हो। तथा हमारा अभीष्ट अन्नादिक भोग हमें प्राप्त हो ॥ १२ ॥

[१८८५] हे (पृथिवी) भूमि ! (नः) हम सबके लिये (स्योना) सुखदायक (अनृक्षरा) कण्टकरहित और (निवेशनी) रहनेके लिये उत्तम स्थान देनेवाली (भव) हो। (नः) हम सबके लिये (स-प्रथाः) अत्यंत विस्तीर्ण होकर (शर्म) सुख (यच्छ) दे ॥ १३ ॥

रहनेका स्थान कंटकरहित, आराम देनेवाला, विस्तीर्ण तथा सुखकारक होना चाहिये ॥ १३ ॥

[१८८६] (हि) निश्चयसे (आपः) उदक (मयो-भुवः) सुख उत्पन्न करनेवाला (स्थ) है। इसलिये (ताः) वह उदक (नः) हम सबके (ऊर्जे) बल अन्न आदिकी वृद्धिका (दधातन) धारण करे। और (महे) महान (रणाय) शब्दके लिये और (चक्षसे) दिव्य दृष्टिके लिये वह उदक कारण बने ॥ १४ ॥

जलसे सबसे सब सुख प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये उससे हम सबको अन्न प्राप्त होकर, सबका बल बढे; और यह जल महान् शब्द-ज्ञानकी प्राप्ति कराके दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेमें सहायता देनेवाला बने ॥ १४ ॥

[१८८७] (इह) इस संसारमें (यः) जो (वः) आपका अर्थात् जलका (शिव-तमः) अत्यंत कल्याण-कारक (रसः) रस है (नः) हम सबको (तस्य) उस रसका (भाजयत) सेवन कराइये। (इव) जिस प्रकार (उशतीः) इच्छा करनेवाली (मातरः) माताएं अपने पुत्रोंको दुग्धरस पिलाती हैं ॥ १५ ॥

जलके अन्दर जो आरोग्यवर्धक रस है, उसका सेवन सबको करना चाहिये। जिस प्रकार अपने प्रियपुत्रको दूध पिलानेकी इच्छा करनेवाली माता स्वयं अपने पुत्रके पास पहुंचकर, उसको दूध पिलाती है, ठीक उसी प्रकार उत्तम आरोग्य-वर्धक जल हमारे पास आ जाय अर्थात् हमें नित्य प्राप्त हो ॥ १५ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥ १६ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ
शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १८ ॥

दृते दृꣳह मा । ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ २० ॥

[१८८८] (यस्य) जिस रसकी (क्षयायं) प्राप्तिके लिये (जिन्वथ) आपकी गति है, (तस्मै) उस रसके लिये (वः) आपके पास (अरं-अलं) पूर्णतासे हम सब (गमाम) प्राप्त होते हैं। हे (आपः) उदक ! (च) और (नः) हम सबको (जनयथ) उन्नतिको प्राप्त कराओ ॥ १६ ॥

जिस आरोग्यकारक रसके लिये जलकी प्रसिद्धि है, उस रसकी पूर्ण प्राप्ति हम सबको हो, और उससे हमारी उन्नति होनेमें सहायता हो ॥ १६ ॥

[१८८९] (द्यौः शांतिः) द्युलोक शांतिप्रदान करे, (अन्तरिक्षं शांतिः) अंततिक्षलोक शांति प्रदान करे, (पृथिवी शांतिः) भूमि शांतिप्रदान करे, (आपः शांतिः) जलसे शांति-प्राप्त हो (ओषधयः शांतिः) ओषधियां शांति देनेवालीं हों, (वनस्पतयः शांतिः) वनस्पतियां शांति देनेवालीं हों, (विश्वे देवाः शांतिः) सब विद्वान् शांति उत्पन्न करें, (ब्रह्म शांतिः) ज्ञान शांति देनेवाला हो, (सर्वं शांतिः) सब जगत् शांति स्थापित करे, (शांति एव शांतिः) शांति भी सच्ची शांति देनेवाली हो, (सा शांतिः) इस प्रकारकी सच्ची शांति (मा एधि) मुझे प्राप्त हो ॥ १७ ॥

सब पदार्थ सच्ची शांति स्थापित करनेके लिये सहायक हों ॥ १७ ॥

[१८९०] हे (दृते) समर्थ ! (मा दृंह) मुझे बलवान करो (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणिमात्र (मा) मुझे (मित्रस्य चक्षुषा) मित्रकी दृष्टिसे (समीक्षन्तां) देखें । (अहं) मैं (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियोंको (मित्रस्य चक्षुषा) मित्रकी दृष्टिसे (समीक्षे) देखता हूं । हम सब (मित्रस्य चक्षुषा) मित्रकी दृष्टिसे (समीक्षामहे) देखें ॥ १८ ॥

हे समर्थ ईश्वर ! मुझे बलवान् बनाओ । सब प्राणिमात्र मुझे मित्रकी प्रेमदृष्टिसे देखें । मैं सबको मित्रकी प्रेमदृष्टिसे देखता हूं । हम सब परस्पर मित्रकी प्रेमदृष्टिसे देखें ॥ १८ ॥

[१८९१] हे (दृते) शक्तिमान् ! (मा दृंह) मुझे शक्तिमान करो । (ते सं-दृशि) तेरे उत्तम दर्शनमें (ज्योक्) बहुत समयतक (जीव्यासं) मैं जीता रहूं । (ते संदृशि ज्योक् जीव्यासम्) तेरे साक्षात्कारमें दीर्घ-आयुतक जीता रहूं ॥ १९ ॥

हे शक्तिमान ईश्वर ! मुझे शक्तिमान करो । तेरी स्मृति जागृत रखता हुआ मैं बहुत दीर्घ आयुष्य व्यतीत करूं ॥ १९ ॥

[१८९२] (हरसे) दुष्टताका हरण करनेवाले (शोचिषे) पवित्रता बढानेवाले और (अर्चिषे) तेज फैलानेवाले (नमः ते नमः ते) तेरे लिये हमारा नमस्कार (अस्तु) हो । (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (अस्मत् अन्यान्) हमको छोडकर दूसरोंको (तपन्तु) ताप देते रहें । (पावकः) पवित्रता करनेवाला ईश्वर (अस्मभ्यं) हम सबके लिये (शिवः भव) कल्याणकारी होवे ॥ २० ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥२१ ॥
यतो-यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ २२ ॥
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ २३॥
तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम
शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ २४ ॥

[अ०, ३६, कं० २४, मं० सं० २४]

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः।

दुष्टता दूर करनेवाले, पवित्रता करनेवाले और तेजस्विता बढानेवाले ईश्वरको हमारा नमस्कार है। ऐसा कभी प्रसंग न आवे कि ईश्वरका दण्ड हमारे ऊपर चले, अर्थात् हमारा आचरणही सदा ऐसा होवे कि दण्ड भोगनेका समय कभी न आवे। पवित्र ईश्वरकी दया हमारे ऊपर सदा बरसती रहे ॥ २० ॥

[१८९३] (वि-द्युते ते) विशेष तेजःस्वरूप तेरे लिये (नमः अस्तु) नमस्कार हो। (स्तनयित्नवे ते) महान् शब्द करनेवाले तेरे लिये (नमः) नमस्कार हो। हे (भगवन्) ऐश्वर्यसंपन्न ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो। (यतः) क्योंकि तू (स्वः) अपने निज आनन्दमें (सं-ईहसे) सम्यक् चेष्टा करता है ॥ २१ ॥

तेजोमय, शब्दमय और ऐश्वर्यमय ईश्वरके लिये हमारा नमस्कार है। जो ईश्वर अपने निज आनंदसेही सदा आनंदित रहता है और उस आनंदका दान करता है ॥ २१ ॥

[१८९४] (यतः यतः) जिस जिस स्थानसे तू (सं ईहसे) कर्म करता है (ततः) उस उस स्थानसे (नः) हमारे लिये (अ-भयं) अभयदान (कुरु) करो। (नः प्रजाभ्यः) हमारी प्रजाके लिये (शं अभयं) कल्याणकारक अभय (कुरु) करो और (नः पशुभ्यः) हमारे पशुओंके लिये भी अभयदान करो ॥ २२ ॥

हे ईश्वर ! जिस जिस स्थानसे तुम्हारा कर्म चलता है, उस सस स्थानसे हमारे लिये, हमारी प्रजाओं और पशुओंके लिये, कल्याणमय अभयदान करो ॥ २२ ॥

[१८९५] (आपः ओषधयः) जल और औषधियां (नः) हम सबके लिये (सुमित्रियाः) हितकारक (सन्तु) होवें। तथा (तस्मै) उस एकके लिये (दुर्मित्रियाः) दुःखकारक (सन्तु) होवें कि, (यः) जो अकेला दुष्ट (अस्मान् द्वेष्टि) हम सबका द्वेष करता है। (यं च) और जिस एकका (वयं) हम सब (द्विष्मः) द्वेष करते हैं ॥ २३ ॥

हम सबको जल, औषधि आदि पदार्थ हितकारक होवें। परंतु जो थोडे आदमी सबका द्वेष करते हैं, और जिन थोडे आदमियोंका अन्य सब द्वेष करते हैं, ऐसे अल्प दुष्ट मनुष्योंको जल और औषधि आदि पदार्थ अहितकारक होवें ॥२३॥

[१८९६] (तत्) वह (देवहितं) ज्ञानियोंका हित करनेवाला (शुक्रं) शुद्ध पवित्र (चक्षुः) ज्ञाननेत्र (पुरस्तात्) पहिलेसेही (उत् चरत्) उदित हुआ है। उसकी सहायतासे (शरदः शतं पश्येम) सौ वर्षपर्यंत देखें, (शरदः शतं जीवेम) सौ वर्ष जीते रहें, (शरदः शतं शृणुयाम) सौ वर्ष सुनें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सौ वर्ष प्रवचन करें, (शरदः शतं अ-दीनाः स्याम) सौ वर्ष दीन न होते हुए रहें, (शरदः शतात् भूयः च) और सौ वर्षोंसे भी अधिक आनन्दसे रहें ॥ २४ ॥

जिससे सबका हित होता है, उस ज्ञानकी प्राप्ति पहिले करनी चाहिये, उसी ज्ञानसे हमारी आयु बढेगी, हमारी इन्द्रियोंकी शक्तियां सबकी सब मृत्युके समयतक अच्छी अवस्थामें रहेंगी। और सौ वर्षसे भी अधिक आयु होगी ॥ २४ ॥

यजुर्वेदका स्वाध्याय-स्पष्टीकरण

(मंत्र १)

(१) वाणी, मन, प्राण और ज्ञानकी शक्तियाँ।

(१) ऋचं वाचं प्र पद्ये ॥

(अहं वाचं वाक्शक्तिं अवलम्ब्य ऋचं सूक्तमयं ऋग्वेदं प्र पद्ये शरणं गच्छामि ।)

में (वाचं) अपनी वाणीकी शक्तिका अवलम्बन करके (ऋचं) सूक्तमय ऋग्वेदकी (प्र पद्ये) शरण लेता हूं।

' प्र-पद ' धातुके अर्थ ' शरण लेना, प्राप्त होना, पास जाकर तल्लीन होना, आश्रय लेना, आगे बढना, उन्नति करना, कामयाब होना, ' इत्यादि हैं। ये अर्थ ध्यानमें धरकर ' ऋचं प्रपद्ये ' का अर्थ निम्न प्रकार हो सकता है- ' में ऋचाकी शरण लेता हूं, ऋचाको प्राप्त करता हूं, ऋचाको प्राप्त करके उसमें लीन होता हूं, ऋचाका आश्रय लेकर, आगे बढकर, उन्नति प्राप्त करनेमें कामयाब होता हूं।

ऋचाको प्राप्त करना वाणीका अवलम्बन करनेके पश्चात्‌ही होता है, क्योंकि ऋचा अथवा ऋग्वेद शब्द-राशि होनेके कारण वाणीकी शक्तिद्वाराही उसके पास मनुष्य पहुंच सकता है। ऋग्वेदका स्वरूप सूक्त रूप है। ' सूक्त ' उसको कहते हैं कि जो (सु-उक्त) उत्तम भाषण सु-भाषण, सुभाषित हो। उत्तम भाषणसे वाणीकी शुद्धि होती है। ऋग्वेदमें सूक्त अर्थात् उत्तम भाषण, और उत्तम विचारयुक्त वाक्य हैं; उनकी शरण लेनेसे वाणीकी और आत्माकी शुद्धि होती है, इसलिये कहा है—

भद्रं वद गृहेषु च। भद्रं वद पुत्रैः ॥
(ऋ. खि. २।४३।२)

' अपने अपने घरोंमें कल्याणकारक भाषण किया करो। लडकोंके साथ उत्तम भाषण करो ' अर्थात् कभी बुरा शब्द, गालियां-अथवा अपशब्द मुंहसे न निकले। तथा—

वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व० ३।३०।३ ॥

' कल्याण करनेवाला भाषणही आपसमें करो ' बुरा भाषण करनेसे अनर्थ होते हैं। सब झगडोंके बीचके तयके अन्दर देखा जाय, तो वहां अपशब्द ही दिखाई देंगे। इसलिये कहा है कि ' अपनी वाचा-शक्तिको लेकर ऋग्वेदके सूक्तोंकी शरण लेनी चाहिए। ' ऋग्वेदके सूक्त ऐसे हैं कि, वे वाणीको शुद्ध करके आत्माका उद्धार कर सकते हैं। देखिये—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ (ऋ. १।१६४।३९)

(यस्मिन्) जिसमें (विश्वे देवाः) सब देवताएं, सब दिव्य गुण, (अधि निषेदुः) रहते हैं, उसी (ऋचः) ऋचाके (परमे अक्षरे) अत्यंत अविनाशी अक्षरोंमें (व्योमन् = वि-ओम्-अन्) प्रकृति-परमेश्वर-जीवात्मा रहते हैं। (यः) जो मनुष्य (तत्) उस बातको (न वेद) नहीं जानता, वह न जाननेवाला पुरुष (ऋचा) वेदमंत्रोंसे (किं करिष्यति) क्या करेगा? अर्थात् उसको कोई लाभ नहीं होगा, परंतु (ये) जो मनुष्य (इत् तत्) निश्चयसे उस बातको (विदुः) समझेंगे (ते इमे) वे पुरुषही (सं आसते) एक होकर उत्तमतासे स्थिर बैठ सकते हैं।

वेदोंके मंत्रोंमें देवताओंके मिषसे प्रकृति-परमेश्वर जीवात्माका ज्ञान भर रखा है, इस बातको जो जानता है, वही वेदमंत्रोंसे लाभ प्राप्त कर सकता है। और वही निडर होकर स्थिरताको प्राप्त हो सकता है। परंतु जो इस बातको नहीं जानते, उनको वेद पढनेसे कोई लाभ नहीं होता। ऋचाओंका उपयोग अथर्ववेदमें कहा है—

ऋग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ (अथर्व० १०।५।३०)

' (यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सबका (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (वयं) हम सब (यं) जिस अकेलेका (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस बहुजनविरोधी मनुष्यके साथ हम सब (ऋग्भ्यः) ऋचाओं अर्थात् सूक्तोंके अनुकूल (निः भजामः) बर्ताव करते हैं। '

एक मनुष्यको अथवा अल्पसंख्यामें रहनेवाले मनुष्योंको उचित नहीं कि, वे सब अन्य बहुजनसमाजका व्यर्थ द्वेष करें, या उनको नुकसान पहुंचाएं। जिस एकके विरुद्ध सब बोलते हैं, और जो एक सबकी हानि करनेके लिये कटिबद्ध होता है वह समाज-घाती होता है। उसको सूक्तों अर्थात् उत्तम उपदेशोंद्वारा समझाना चाहिये, और उसका मन उच्च बनाना चाहिये। यही वेदके सूक्तोंका काम है। यही वैदिक उपदेशका महत्त्व है। और देखिये—

ऋग्वेदस्य पृथिवी-स्थानम्।
ऋचो विद्वान् पृथिवीं वेद ॥ (गोपथ १।५।२५॥)

ऋग्वेदका पृथिवी स्थान है, इसलिये जो ऋग्वेदको यथावत् जानता है वह संपूर्ण पृथिवीको अर्थात् पार्थिव पदार्थोंको जानता है, ऐसा गोपथ ब्राह्मणमें कहा है तथा—

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते ॥
(तै० ब्रा० ३।१२।९।१॥)

'ऋचाओंकी बडी पूर्व दिशा कही जाती है' अर्थात् जिस प्रकार पूर्व दिशासे संपूर्ण विश्वको प्रकाश देनेवाला सूर्य उदय होता है, उसी प्रकार ऋचाओंसे संपूर्ण विश्वके ज्ञानका उदय होता है। ज्ञानरूपी सूर्यका उदय करानेवाली पूर्वदिशा ऋग्वेदही है।

इस प्रकार ऋग्वेदका महत्त्व वैदिक वाङ्मयमें वर्णन किया है। वाणीकी पवित्रताके विषयमें ऋग्वेदमें लिखा है-

सहस्रधारे वितते पवित्र आ
वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः
स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः ॥ (ऋ. ९।७३।७)

(वितते) विस्तृत (सहस्र-धारे) हजारों धाराओं अर्थात् जल-प्रवाहोंसे युक्त (पवित्रे) शुद्ध करनेवाले स्रोतमें (मनीषिणः कवयः) बुद्धिमान ज्ञानी अपनी (वाचं) वाणीको (आ पुनन्ति) पवित्र करते हैं। (एषां) इन विद्वानोंके शब्द (रुद्रासः) भय उत्पन्न करनेवाले परंतु (इषिरासः) बडे प्रभावशाली, (अ-द्रुहः) किसीका द्रोह अथवा घात न करनेवाले (स्पशः) सावधानतासे युक्त (स्वञ्जः = सु-अञ्जः) उत्तम शुद्धतायुक्त (सु-दृशः) उत्तम दिव्यदृष्टिसे युक्त, और (नृ-चक्षसः) मनुष्योंको सज्ञान करनेवाले होते हैं।

जिसमें बुद्धिमान कवि अपनी वाणीके मल धोते हैं वह पवित्र स्रोत परमात्माका सत्य स्वरूप और सत्य ज्ञान है। उसमें शुद्ध हुई वाणी उक्त गुणोंसे युक्त होती है। इस प्रकार वाणीकी शुद्धि करनेके विषयमें और वाणीको ऋग्वेदमें लीन करनेके विषयमें वेदकी संमति प्रतीत होती है। अब मंत्रका अगला उपदेश देखना है—

(२) मनो यजुः प्र पद्ये

[अहं मनः स्वकीयां मननशक्तिं अवलम्ब्य: यजुः अध्यायमयं सत्कारसंगति दानमयकर्मप्रेरकं वा यजुर्वेदं प्रपद्ये शरणं उपैमि।]

मैं (मनः) अपनी मननशक्तिको लेकर (यजुः) यजुर्वेदकी शरण लेता हूं।

यजुर्वेदमें अध्याय होते हैं। अध्याय, अध्ययन ये शब्द 'पठन' अर्थ बताते हैं। अध्ययन न करनेके दिनका नाम 'अनध्याय' है। अन्+अध्याय=छुट्टीका दिन। अध्यायिन् शब्द विद्यार्थी अर्थात् जिसने अपना मन पढाईमें लगाया है' ऐसा अर्थ व्यक्त करता है। 'यजु' शब्दका अर्थ 'सत्कार, संगति और उपकारमय कर्मकी प्रेरणा करनेवाला' ऐसा है। सत्कार-संगतिदानात्मक कर्म यज्ञनामसे प्रसिद्ध है। यज्ञ उस कर्मको कहते हैं कि जिससे पूज्योंका सत्कार होवे। संगति अर्थात् संगठन होवे और दान अर्थात् परोपकार, लोकोपकार होवे। इस प्रकारके कर्मयज्ञ होते हैं, ऐसे यज्ञोंका उपदेश यजुर्वेद करता है। इस प्रकारके श्रेष्ठ कर्मोंमें अपना मन लगाना इस मंत्रका अभीष्ट है।

मन ऐसे अध्ययनमें लगाना चाहिये कि, जिसके पूज्योंका सत्कार करनेमें, संगठन बढानेवाले कार्य करनेमें और लोकोपकार कार्य करनेमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति हो सके। मनके विषयमें वेद कहता है—

यत्ते दित्सु प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत् ॥
(ऋ. ५।३९।३; साम० १७१)

(ते) तेरा (दित्सु) दानशील, उदार (प्र-राध्य) सिद्ध और शांत (मनः) मन (बृहत् श्रुतं) बहुत ज्ञानयुक्त, बहुश्रुत (अस्ति) है।

अर्थात् मन परोपकारशील, शांत और ज्ञानसे भरा हुआ होना चाहिए। मनका स्वरूप और उसका हेतु निम्नलिखित मंत्रमें वर्णन किया है—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति
साधु ॥ (ऋ० ६।९।५)

(कं) आनंददायक (ध्रुवं ज्योतिः) स्थिर तेज (दृशये) ज्ञान लेनेके लिये (अन्तः निहितं) अंदर अर्थात् अंतःकरणके स्थानमें रखा है। यही (मनः) मन (पतयत्सु) दौडनेवालोंके अंदर (जविष्ठं) अत्यंत वेगवान् है। (सकेताः) एक उद्देशसे प्रेरित हुए हुए (समनसः) एक मतवाले (विश्वे देवाः) सब ज्ञानी (एकं क्रतुं) एक ही कार्यको (साधु) उत्तम रीतिसे (अभि-वि-यन्ति) करते हैं।

इस मंत्रमें कहा है कि, मन तेजोरूप, आनंददायक और वेगवान् है, उसीसे सब जाना जाता है। इस प्रकारके सुसंस्कृत मनसे युक्त हुए ज्ञानी पुरुष जिस उद्देशसे जिस कार्यको करना चाहते हैं, उसको उत्तमतासे सिद्ध करते हैं। और देखिये—

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन्
गावो न यवसे विवक्षसे ॥ (ऋ० १०।२५।१)

हे ईश्वर! (नः) हम सबको (भद्रं मनः) कल्याणकारक मन (भद्रं दक्षं) कल्याणकारक बल (उत) और (भद्रं क्रतुं) कल्याणकारक कर्म (अपि वातय) प्राप्त कराओ। (अधा-अथ) पश्चात् (ते सख्ये) तेरी मित्रतामें और (अन्धसः=अन्+धसः) प्राणशक्तिके (मदे) हर्षमें हम सब (वि रणन्) विशेष प्रकार गायन करते रहें। (न गावः) जिस प्रकार गौवें (वः विवक्षसे यवसे) आपके बडे जौ-अर्थात् धान-के खेतमें आनंद करती हैं।

इस मंत्रमें 'भद्रं मनः' ये दो शब्द और 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।' (वह मेरा मन शिवसंकल्पमय होवे) यह यजुर्वेद अ. ३४।१...६ का वचन एकही भाव रखता है।

भद्रं मनः। (ऋ० १०।२५।१)
शिवसंकल्पं मनः। (वा. य. ३४।१ - ६)

ये दोनों वेदोंके भाव एकसेही हैं। इसी दृष्टिसे ये सब सूक्त देखने चाहिएं। तथा—

मनो ज्योतिर्जुषताम्॥ (तैत्ति० सं. १।५।३।२)
मनो जूतिर्जुषताम्॥ (वा. य. २।१३)

'ज्योतिरूपी मनका (जुषताम्) प्रेमके साथ उत्तम उपयोग कीजिये।' तथा—

उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते
मनो दानाय सूरयः॥ (ऋ० १।४८।४)

'(उषः यामेषु) उषःकालके समय (ये ते सूरयः) जो कोई ज्ञानी (दानाय मनः) दानके लिये मन (प्र युञ्जते) लगाते हैं।' ज्ञानी लोग सबेरेसेही अपना मन परोपकारके कार्योंमें डालते हैं। तथा—

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥
(ऋ० ८।९९।४; अथर्व० २०।५८।२)

(अन्-अर्श-रातिं) जिसका दान हानिकारक नहीं है और जो (वसु-दां) धन देता है उसकी (उप-स्तुहि) स्तुति करो। (इन्द्रस्य) इन्द्र-परमात्माके (रातयः) दान (भद्राः) कल्याणकारक हैं। जो (अस्य कामं) इस ईश्वरकी इच्छाके अनुसार (विधतः) कार्य करता है, उस पर (सः) वह (न रोषति) क्रोध नहीं करता। और (मनः) मन (दानाय) दानके लिये (चोदयन्) प्रेरित करता है।

मनको दानके कर्मोंमें लगाना चाहिये, दान अच्छी प्रकार देना चाहिए, जिसका परिणाम हितकारक हो सके। कभी अनर्थ उत्पन्न करनेवाला दान नहीं देना चाहिए। इस प्रकार मनको किस कार्यमें प्रवृत्त करना चाहिये उसका वर्णन इस मंत्रमें है। मन बहुत चंचल है, उसको वशमें रखना बहुत कठीन है, यह सबका अनुभव है। चंचल मनका निरोध अभ्याससे हो सकता है। मन एकाग्र करनेके समय, जब वह भटकने लगता है, तब उसको वापस लाकर उसी स्थानपर स्थिर करना चाहिए; इस प्रकार बार बार करनेसे मन एकाग्र हो सकता है। इस विषयमें 'मन-आवर्तन-सूक्त' संपूर्ण देखनेयोग्य है। परंतु यहां केवल दोही मंत्र देता हूं—

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ १०॥
यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ १२॥
(ऋ० १०।५८)

'जो तेरा मन इस (विश्वं) सब विश्वमें दूर दूर (जगाम) भटकता है, उसको (इह) यहां (आ-वर्तयामसि) वापिस लाता हूं, ताकि स्थिति और जीवन उत्तम होवे॥ जो तेरा मन भूत, भविष्य और वर्तमानकी दूर दूरकी बातोंमें भटकता है, उसको मैं स्थिति और जीवनके लिये यहां वापिस लाता हूं।'

यह सब सूक्त ऋ० १०।५८ में देखने योग्य है। इस सूक्तका ऋषि 'गोपायनः' (गो-प-अयन) अर्थात् इंद्रिय-पालक है। (गो) इंद्रियोंके (प) पालनमें (अयन)

गति अर्थात् 'मनको वापिस लानेका अभ्यास' ही देवता है। इसके साथ शिवसंकल्प सूक्त (यजु० वा० सं० ३४ अ०) देखनेयोग्य है। उनमेंसे एक मंत्र नीचे देता हूं—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते-
ऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यद-
जिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
(वा. य. ३४।६)

'जिस प्रकार उत्तम सारथी घोडोंको चलाता है, उसी प्रकार मनुष्योंके इंद्रियरूपी अश्वोंको जो चलाता है, और जो हृदयमें रहता हुआ, अजर और वेगवान् है, वह मेरा मन उत्तम विचारयुक्त होवे।' और—

मनो-वाकायकर्माणि मे शुध्यन्ताम्॥
[तैत्ति० आ० १०।६६ (आंध्र०)]

'मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब पवित्रही कर्म होते रहें।' इस प्रकारकी इच्छा हरएकको रखनी चाहिये। तथा—

मनो हविः॥ (तै० आ० ३।६।१)
मनो यज्ञेन कल्पताम्॥
(वा० य० १८।२९; २२।३३; तै० सं० १।७।९।२)

'मनको हवि समझो' 'उस मनको यज्ञके साथ-यज्ञमें-अर्पण करो।' मनका अहंकार नष्ट करनेकी यही युक्ति है।

इस प्रकार मनका स्वरूप, उसके धर्म, उसका कार्य और उसको स्वाधीन करनेके उपाय वेदमंत्रोंमें कहे हैं। इस प्रकारके प्रभावशाली मनको लेकर यजुर्वेद अर्थात् 'कर्मवेद' की शरण लेनी है। यही भाव 'मनो यज्ञेन कल्पतां' इस यजुर्वेद मंत्रमें कहा है। इस प्रकार इस मंत्रका आशय प्रतीत होता है। अब इस मंत्रके तीसरे उपदेशका विचार करना है—

(३) साम प्राणं प्र पद्ये

[अहं प्राणं स्वकीयां जीवनशक्ति अवलम्ब्य साम गीतिमयं सामवेदं प्रपद्ये प्राप्नोमि।]

मैं (प्राणं) अपनी जीवनशक्तिको लेकर (साम) शांति उत्पन्न करनेवाले गीतिमय सामवेदको (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं।

इसमें प्राणका सामके साथ संबंध बताया है। 'प्र+अन्' शब्दका 'विशेष प्रकारका जीवन' ऐसा मूल अर्थ है, और 'सामन्' शब्दके 'सामगायन' शान्ति करनेका उपाय, चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास, आत्मिक शांति प्राप्त करनेका यत्न, इतने अर्थ हैं। अर्थात् 'विशेष जीवनसे शांति प्राप्त करनेका प्रयत्न' इस मंत्रको बताना है।

प्राणायामके अभ्याससे चित्तकी चञ्चलता नष्ट होती है, और मन स्थिर होता है। मनकी स्थिरतासे शांति प्राप्त होती है। प्राणोंकी उपासना उपनिषदोंमें अनेक स्थानपर वर्णन की है। वेद भी उसीका वर्णन कर रहा है—

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥११॥
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५॥
(अ. ११।४)

प्राण ही मृत्यु है और प्राण ही उष्णता अथवा सहनशक्ति है। इसलिये (देवाः) विद्वान् (प्राणं उपासते) प्राणकी उपासना करते हैं। प्राण सत्यवादी मनुष्यको उत्तम लोकोंमें पहुंचाता है। (मातरि-श्वानं) आकाशमें व्यापक जो सूक्ष्म वायु है उसको (प्राणं आहुः) प्राण कहते हैं। (वातः) वायुको ही प्राण कहते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन सब पदार्थ प्राणमें ही रहते हैं। (प्राणे) प्राणमें ही सब कुछ रहा है।'

'तक्मा' शब्दके दो अर्थ हैं। एक बीमारी जिसमें ज्वरके साथ फोडे फुन्सियां आदि होतीं हैं और दूसरा अर्थ सहनशक्ति, हंसना आनंद करना इत्यादि हैं। 'तंक-कृच्छ्रजीवने (कष्टका जीवन)' इस धातुसे बननेवाले 'तक्मा' शब्दका पहिला अर्थ होता है और 'तक्-हसने-सहने च (हंसना और सहना)' इस धातुसे बननेवाले 'तक्मा' शब्दसे दूसरा अर्थ सिद्ध होता है। इस मंत्रमें दूसरा अर्थ अभीष्ट है; क्योंकि मृत्यु शब्दके साथ विरोध रखनेवाली अवस्था तक्मा शब्दमें बतानी है। मृत्यु शब्द कष्टका जीवन बताता है और तक्मा शब्द आरोग्यका जीवन बताता है। दोनों अवस्थाएं प्राणके आश्रयसे रहनेवाली हैं।

प्राणकी उपासनासे सत्यनिष्ठ सत्यवादी पुरुषकी योग्यता बढती है। योगशास्त्रमें प्राणायामका महत्त्व इसी कारण वर्णन किया है। प्राण स्थिर रहनेसे मनकी एकाग्रता होती है, और प्राण चंचल होनेसे मन अशांत होता है। प्राणका अन्नके साथ संबंध है—

प्राणमन्नेनाप्यायस्व। (तै. आ. १०।३६।१)
(महा. उ. १६।१)

'अन्नसे प्राणकी वृद्धि करो।' अन्नसे प्राणकी शक्ति बढती है। अन्न शब्दसे यहां सात्त्विक अन्न विवक्षित है।

योग्य पदार्थ खानेसे आयु बढती है और अयोग्य पदार्थ खानेसे बीमारियां बढकर मृत्युके पास जलदी जाना होता है। इसलिये प्राणकी उपासना करनेवालोंको उचित है कि वे उत्तम निरोगी सात्त्विक अन्न भक्षण करें। इस प्रकार रक्षण किया हुआ प्राण—

प्राणो रक्षति विश्वमेजत् ॥ (तै० ब्रा० ३।५।१।१)

'(विश्वं एजत्) सब हलचल करनेवालेका रक्षण प्राण करता है।' प्राणकी शक्ति सब शक्तियोंसे बडी है, इसलिये उसको यज्ञमें अर्पण करनेका उपदेश निम्न मंत्रमें आया है—

प्राणो यज्ञेन कल्पताम् ॥

(वा० य० ९।२१; १८।२९; २२।३३)

प्राणो हविः ॥ (मैत्रा० सं० १।९।१; तै आ० ३।१।१)

'प्राणको यज्ञमें समर्पण करो' क्योंकि 'प्राण ही हवि' है। प्राणोंकी रक्षा अपने उपभोगोंके लिये नहीं करनी चाहिये, परंतु प्राणोंको हवनसामग्री समझकर, जिस प्रकार हवन-सामग्रीका यज्ञमेंही उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार सत्कार-संगतिदानरूप कर्मोंमें अपने प्राणोंका अर्पण करनेके लिये तैयार रहना चाहिये। प्राण और आयु बहुत अंशमें समानही अर्थ बताते हैं, देखिए—

प्राणोहि भूतानामायुः ॥ (तै० आ० ८।३।१)
(तै० उ० २।३।१)

'प्राणियोंकी आयुही प्राण है।' इस प्रकारकी प्राण-शक्तिको सामवेदके साथ लगाना है। सामवेद उपासना (ईश्वरकी भक्तिके साथ मानसपूजा) की सहायता करने-वाले मंत्रोंकी गायन-पद्धतिका वर्णन करता है। उपासना, भक्ति आदिका गानेके साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। चित्त एकाग्र होनेके लिए गायनसे बडी सहायता होती है। इन सब बातोंका इस मंत्रोपदेशके साथ विचार करके बोध लेना चाहिये। अब इस मंत्रके चतुर्थ उपदेशका विचार करना है—

(४) चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये ॥

(अहं श्रोत्रं मदीयां श्रवणशक्ति अवलंब्य चक्षुः दिव्य-चक्षुर्मूर्तं अंगिरसो वेदं अथर्ववेदं प्रपद्ये)

मैं (श्रोत्रं) अपनी श्रवणशक्तिको लेकर (चक्षुः) दिव्यज्ञाननेत्रके समान आंगिरस अथर्ववेदको (प्रपद्ये) शरण लेता हूं।

इस मंत्रभागमें 'चक्षु' शब्दसे अथर्ववेदका अर्थ लेना उचित है। ऐसा अर्थ करनेके लिये निम्न आधार हैं—

(१) पहिला प्रमाण क्रमप्राप्ति है—

१ वाचं— ऋचं...... (ऋग्वेदं) ......प्रपद्ये।
२ मनः— यजुः...... (यजुर्वेदं) ......प्रपद्ये।
३ प्राणः—साम...... (सामवेदं) ......प्रपद्ये।
४ श्रोत्रं—चक्षुः...... (अथर्ववेदं) ......प्रपद्ये।

इस कोष्टकको देखनेसे ऋग्यजुःसामके क्रमसे, चतुर्थ 'चक्षुः' शब्द चतुर्थ अथर्ववेदका वाचक प्रतीत होता है। २ प्रमाण अथर्ववेदको ब्रह्मवेद कहते हैं। ब्रह्म शब्द ज्ञानवाची है। ज्ञाननेत्र, ज्ञानदृष्टि आदि शब्दोंमें चक्षुइंद्रियका ज्ञानके साथ संबंध प्रतीत होता है। इसलिये चक्षुशब्दसे ज्ञानवेद, ब्रह्मवेद अथवा अथर्ववेदका ग्रहण हो सकता है। सबही वेद ज्ञानरूप हैं। परंतु यहां इसी वेदको ज्ञानवेद क्यों कहा? ऐसी कोई शंका कर सकते हैं। सद्विचार, सत्कर्म और सदुपासना ये तीन क्रमशः ऋग्यजुःसामके कार्य होनेके पश्चात् ही दिव्यदृष्टि खुल सकती है, और सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है—

त्रयी	ऋग्वेद	स्तुति	वाणी	सुभाषण	सद्विचार	प्रशंसावेद
त्रयी	यजुर्वेद	यज्ञ	मन	अनुष्ठान	सत्कर्म	कर्मवेद
त्रयी	सामवेद	उपासना	प्राण	जीवन	सदुपासना	उपासनावेद
	अथर्ववेद	ज्ञान	श्रवण	स्थिरता	दिव्यदृष्टि	ब्रह्मवेद

इस प्रकार अथर्ववेदका ज्ञान और दिव्यदृष्टिके साथ संबंध आता है 'अ-थर्व' शब्दका अर्थ 'अ-गति, चंचलता-हीन, स्थितप्रज्ञ, स्थिरसुखासन-स्थित-योगी' ऐसा है। इस योगीको ही दिव्यदृष्टिकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार चक्षु शब्द अथर्ववेदका संकेत माना जा सकता है।

३ रा प्रमाण— अथर्ववेदको अंगिरो वेद अथवा अंगिरसां वेद ऐसा भी कहते हैं और चक्षुशब्दका अंगिरसोंके साथ संबंध अथर्ववेदमें बताया है।

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरंगिरसोऽभवन्। अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१८॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥
(अथर्व० १०।७)

जिसका सिर अग्नि और चक्षु अंगिरस हो गये, जिसके अंग (यातवः) गमनशील प्राणी हो गये हैं, उसका नाम स्कंभ है और (सः) वह (कतमः) अत्यंत आनंदमय

है ॥ वायु जिसके प्राण और अपान हैं, और चक्षु अंगिरस हो गये हैं, दिशा जिसके ज्ञानके साधन हैं उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है । '

इन मंत्रोंमें चक्षुका अंगिरसोंके साथ संबंध बताया है। इन दो मंत्रोंमें परमात्माका वर्णन है और उसके चक्षु अंगिरस हैं। अंगिरसोंका वेद अथर्ववेद प्रसिद्ध है। अर्थात् अथर्ववेद परमात्माकी आंख है। अस्तु। इस प्रकार चक्षु शब्दसे अथर्ववेदका बोध होता है।

४ था प्रमाण— श्रवणशक्तिके साथ अथर्ववेदकी शरण जाना है। श्रवणशक्तिका ज्ञानके साथ संबंध सनातन है। श्रुति शब्दका 'वेद अर्थात् ज्ञान' ऐसा अर्थ प्रसिद्ध है। विद्वान्‌का नाम बहुश्रुत और अविद्वान्‌के लिये अल्पश्रुत शब्द प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् श्रवणशक्तिके साथ ज्ञानका संबंध निश्चित है। इसलिये कहा है कि 'अपनी श्रवणशक्तिके साथ ब्रह्मवेदकी शरण जाता हूं।'

'अंगि-रस्' शब्दका 'अंगोंमें रहनेवाला रस' ऐसा अर्थ है। शरीरमें अंगप्रत्यंगोंमें एक प्रकारकी जीवन शक्ति रहती है, उसका नाम अंगिरस है। अंगिरसः, अंग-रसः, अंगीय-रसः, अंगानां रसः (अंगोंके अंदर रहनेवाली जीवनशक्ति) Vitality, vital power, इसी शक्तिद्वारा शरीरकी व्याधि दूर होती है।। इच्छाशक्तिसे इस जीवनशक्तिको संचलित करनेसे अनेक व्याधियां दूर की जा सकती हैं। यह इच्छाशक्तिकी चिकित्सा अथर्ववेदमें सैंकडों स्थानोंमें कही है। इसलिये इस वेदको 'आंगिरस वेद' कहते हैं। मनको स्थिर करनेकी विद्या इसमें है, इसलिये इसको अथर्ववेद कहते हैं। 'अथर्वा' शब्दका ही अर्थ 'स्थिर' ऐसा है। इस प्रकार इस वेदका महत्व है।

अथर्ववेदका गुरुपरंपरासे श्रवण करनेके लिये कानोंको समर्पित करना है। गुरुपरंपरासे वेदके गुह्य आशयको सुनकर, योगादि साधन जानकर उसका अनुष्ठान करना, और मन एकाग्र करनेका अभ्यास करके, इच्छाशक्तिको बढाकर, केवल इच्छामात्रसेही दूसरोंकी व्याधियोंको दूर करके परोपकार करना, श्रवण शक्तिको अथर्ववेदमें अर्पण करनेका तात्पर्य है। (१) वाणी (२) मन और (३) प्राणकी पवित्रताके पश्चात् यह (४) दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति होती है, यह बात मंत्रोपदेशके क्रमसेही जानी जा सकती है, इसलिये अब इस क्रमके विषयमें यहां विशेष विचार करनेकी आवश्यकता नहीं।

+

इच्छाशक्तिसे व्याधियां दूर होतीं हैं और इच्छाशक्तिके प्रयोग आंखोंको वेधक-दृष्टिसे ही हो सकते हैं। चित्तकी स्थिरता और आंखोंमें वेधक शक्तिके साथ एकही स्थानपर बहुत देरतक दृष्टिकी टकटकी लगानेकी शक्ति जिसको साध्य हुई है, वही अपनी प्रबल इच्छाशक्तिसे दूसरोंको आराम पहुंचा सकता है। इस बातको देखनेसे पता लगेगा कि 'चक्षु' शब्दसे ही यहां अथर्वाका उल्लेख क्यों किया है। अथर्ववेदमें कही हुई दिव्य इच्छाशक्तिके प्रयोग चक्षुकी वेधक-दृष्टिसे ही साध्य हैं; इसलिये चक्षुशब्दही उस वेदका उपलक्षण माना है। अस्तु। इस प्रकार इस मंत्रभागका विचार हो गया। अब मंत्रके पंचम भागपर विचार करना है—

(५) वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ।

(वाक्-ओजः) वाणीका बल, (सह-ओजः) ऐक्यका बल और (प्राण+अपानौ) प्राणोंका बल (मयि) मेरे आत्मामें रहे। मेरे आत्मिक बलके साथ वाक्शक्ति, ऐक्यकी शक्ति और प्राणशक्ति ये तीन शक्तियां रहें।

'ओजस्' शब्दके 'बल, शक्ति, योग्यता, वीर्य, तेजस्विता' आदि अर्थ हैं। 'ओज्' धातुका अर्थ 'बलवान् होना, तेजस्वी बनना, वीर्यवान् रहना' आदि है। शस्त्रास्त्रोंका उपयोग करनेकी कुशलता ऐसा भी एक अर्थ ओजका है। 'उब्ज-आर्जव' इस धातुसे कई लोग ओजः शब्द बनाते हैं। इस अवस्थामें ओजका अर्थ 'सरलता' भी हो सकता है।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये वाणीकी शक्ति, वक्तृत्वका तेज और सरल भाषण करनेकी योग्यता चाहिये। वाक्तृत्वकी शक्तिसे सुज्ञ मनुष्य शत्रुओंको भी अपने मित्र बना सकता है। उत्तम वक्तृतासे मनुष्यकी योग्यता, तेजस्विता और सरलता प्रकट होती है। मनुष्यके पास जो वाचाशक्ति है वह ही एक विशेषता मनुष्यके पास है, जो किसी अन्य प्राणीके पास नहीं। मनुष्योंकी सब उन्नति उसकी वक्तृत्वशक्तिपर ही निर्भर है। यदि मनुष्योंमें वक्तृत्वशक्ति न होती तो मनुष्य इतनी उन्नति न कर सकते। मनुष्यकी वाचाशक्तिकी इतनी योग्यता है।

मनुष्य प्राणी मेलमिलापसे रहनेवाला है। यदि मनुष्य मिलजुलकर नहीं रहेंगे तो उनका नाश निःसंदेह होगा। संगति, संमेलन, ऐक्य, एकता ये मनुष्यकी उन्नतिके साधन हैं और विरोध, झगडा, भिन्नता, लडाई ये मनुष्यके घातके साधन हैं। उन्नति करनेके लिये मनुष्योंको संघ बनाना चाहिये। इसलिये ऋग्वेदमें कहा है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। (ऋ. १०।१९१।२)

' संगठन करो, संवाद करो और मन सुसंस्कारोंसे युक्त करो ' यही उपदेश ' वागोजः सहोजः ' शब्दोंके द्वारा किया है। साथ रहनेसे, मिलजुलकर रहनेसे जो बल पैदा होता है वही संगठनकी शक्ति है। मनुष्यकी शक्ति और उन्नतिका प्रमाण उनकी संगठन-शक्तिके प्रमाणपर निर्भर है। देखिए—

प्रयत्न (ज्ञान+संस्कार+आनुवंशिक संस्कृति)
———————————————— × आशावाद = अभ्युदय।
संख्या+संगठन+निर्वैरभाव

इससे पता लगेगा कि, संगठनका अभ्युदयके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है। इस प्रकार संघशक्तिका महत्त्व जानकर अपनी उन्नतिके लिये मनुष्योंको अपनी संघशक्ति बढानी चाहिए।

' प्राणपानौ ' शब्दसे प्राण-शक्तिका वर्णन है। प्राण शब्द जीवन-शक्तिका वाचक है और अपान शब्द दुःखहारक शक्तिका बोधक है। शरीरके अंदर दो व्यापार चलते रहते हैं, एक जीवनकी कला बढानी और दूसरा रोगबीजोंका नाश करना। ये दो शक्तियां शरीरमें बढानी चाहिएं। परमात्माने शरीरके अंदर ये दोनों शक्तियां रक्खीं हैं। और शरीरकी आरोग्यता इन्हींके कारण रहती है। इन शक्तियोंका विकास करना मनुष्योंका कार्य है। पूर्वस्थानमें कही हुई इच्छाशक्तिसे दूसरोंको आराम पहुंचानेके लिए अपनी प्राणशक्तिकी सामर्थ्य बढाना चाहिए। प्राणशक्तिकी सामर्थ्य बढानेसे अपनी नीरोगता भी स्थिर होती है। आरोग्यसंपन्न होनेसे सब पुरुषार्थ करनेकी सुगमता होती है, इसलिये प्राणापानकी शक्ति बढानी चाहिये।

' वाचाशक्ति, संघशक्ति और जीवनशक्ति मेरे आश्रयसे रहें ' ऐसी प्रार्थना इस मंत्रमें है। ' मयि ' सप्तमी विभक्तिका एकवचन है। ' अस्मत् ' शब्द मूल है उसकी सप्तमी ' मयि ' होती है। ' अस्-मत् ' (अस्मत्) अर्थात् अस्ति-मत् (अथवा अस्तित्ववाला, हस्तिवाला) शब्दही बताता है कि जिसका नाम नहीं होता, अथवा जो सद्रूप है, वह अस्मत् है। अस्मत् शब्दका प्रथमा विभक्तिका एकवचन ' अहम् ' होता है। ' अहम् ' (अ-हं) का अर्थ ' अ-हन्यमान ' अर्थात् जिसका हनन अथवा नाश नहीं होता है, जो अविनाशी है। ' अहं अस्मत् ' ये शब्द ' मैं ' ऐसा अर्थ बतानेवाले हैं, और इन शब्दोंके अर्थ देखनेसे विदित होता हैं कि, मेरा नाश नहीं होता है, अर्थात् मैं अ-विनाशी हूं। आत्माका अ-विनाशित्व ' अहं; अस्-मत् ' इन शब्दोंसेही सिद्ध हुआ। मैं अविनाशी हूं यह विश्वास इन शब्दोंके अर्थ देखनेसे ही होता है। (In-dividual soul) अ-विभाज्य अविनाशी आत्मा यही अर्थ ' अ-हं ' शब्द बता रहा है।

मैं जो अविनाशी आत्मा हूं, उस मेरे आधारसे वाक्शक्ति, संघशक्ति और प्राणशक्ति स्थिर रहे यह भाव इस मंत्रका है। प्राण और संगठनके विषयमें बहुत कहा गया है; अब वाणीके विषयमें वेदोंका आशय बताना है—

वाक् त आप्यायताम्। (वा. य. ६।१५)

' तेरी वाणीकी उन्नति हो। ' वाचा-शक्तिकी उन्नति करनी चाहिए, वक्तृता ओजस्विनी होनी चाहिए, वाणीमें बल लाना चाहिए इत्यादि भाव यहां हैं। तथा—

वाग्यज्ञेन कल्पताम्॥ (वा. य. १८।२९; २२।३३)

' अपनी वाणीको यज्ञमें समर्पित करो। ' सत्कार-संगति-दानात्मक जो कर्म होता है, उसको यज्ञ कहते हैं; ऐसे यज्ञमें अपनी वाणी अर्पण करनी चाहिए। तथा—

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥
(अथर्व. १९।९।३)

(या इयं) जो यह (परमे-स्थिनी) परम उच्च स्थानमें रहनेवाली (ब्रह्म-संशिता) ज्ञानसे तीक्ष्ण बनी हुई (वाग् देवी) दिव्य वाणी है। (येन एव) जिससे (घोरं) सम्मान्यता और उच्चता, (ससृजे) उत्पन्न होती है (तेन एव) उसीसे (नः) हम सबोंमें (शांतिः अस्तु) शांति रहे।

यह वाणीका महत्त्व है। ' घोर शब्दके परस्पर विरोधी दो अर्थ हैं (१) परम उच्च (Sublime), सम्मान्य (Venerable) और (२) भयानक (Frightful) भयंकर (Terrific)। ये दोनों यहां लिये जा सकते हैं। दोनों अर्थ लेनेसे निम्न प्रकार दो भिन्न अर्थ प्रतीत होंगे। (१) जिससे सम्मान बढता है उसीसे हम सबोंमें शांति बनी रहे, तथा (२) जिससे भयानक अवस्था उत्पन्न

होती है, उससे भी हम सबोंमें शांति स्थिर रहे। वाणीसे झगडे भी उत्पन्न होते हैं, और सुलह भी होती है; वाणीसे शत्रु भी बनते हैं और मित्र भी बनते हैं। ये दोनों भाव उक्त दो अर्थ देखनेसे व्यक्त होते हैं। वाणीका महत्त्व निम्न मंत्रमें वर्णन किया है—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ (ऋ. १।१४।९; ५।५।८)
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती।
मही भारती गृणाना॥ (अथर्व. ५।२७।९)
तिस्रो देवीर्बर्हिरदꣳ सदन्त्विडा सरस्वती
भारती। मही गृणाना॥ (वा. य. २७।१९)

(इडा) वाणी, (सरस्वती) विद्या और (मही भारती) भरणकर्त्री भूमि ये (तिस्रः देवीः) तीन देवियां (मयोभुवः) उत्साह उत्पन्न करनेवाली हैं। ये तीनों (अ-स्रिधः) न भूलती हुई (बर्हिः) मनमें (सीदन्तु) बैठें।

भारती मही (Mother-country) मातृभूमी, सरस्वती (Mother-culture) मातृविद्या अर्थात् मातृसंस्कृति और इडा (Mother-tongue) मातृभाषा ये तीन उपास्य देवता हैं। मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमिके विषयमें सबके मनमें प्रेम और भक्ति सदा रहनी चाहिये। इडाका संबंध 'वागोजः' अर्थात् वाणीके बलके साथ है। सरस्वतीका संबंध '-ओजः' से है, क्योंकि जातिके (संघ-शक्तिके) साथ मातृ-संस्कृति परंपरासे (वंशपरंपरा और गुरुपरंपरासे) आती है। 'सरस्-वती' शब्दका मूल अर्थ 'प्रवाह-वाली' ऐसा है। मातृसंस्कृति जनताके प्रवाहके साथ साथ आती है। 'सह-ओजः' शब्दका अर्थ भी 'साथ साथ आया हुआ ओज' ऐसा है। मही भारतीका संबंध 'प्राण' के साथ है, क्योंकि प्राणोंसे ही मातृभूमिकी पूजा और मातृभूमिकी उन्नति करनी होती है। मातृभूमिके चरणोंपर अपने प्राणोंका अर्पण करना ही मातृभूमिकी पूजा और भक्ति है। ये तीनों संबंध देखने योग्य हैं।

पूर्वोक्त अस्मत् (अहं-में) के अन्य रूपोंका अर्थ यहां देखने योग्य है—

१ अस्मत्- (अस्-मत्) = अस्तित्वसे युक्त, सत्तावाला, सत्।
२ अहम्- (अ-हं, अहननीय, अहातव्य) =त्यागनेके लिये अयोग्य, जिसका त्याग नहीं हो सकता, जो दूर नहीं हो सकता। में।
३ आवाम्- (आ-अव) = सब प्रकारसे रक्षण करने योग्य।
४ वयम्- (वय्-गतौ) = गतिमान्, हलचल करनेवाले, प्रयत्नशील।
५ मां, मा- (मा-माने, मान्-पूजायां) = सबको मापने गिननेवाला, पूजा करने योग्य।
६ नौ- (नु-स्तुतौ) = स्तुति करने योग्य।
७ नः- (नसते-उपगच्छति) = पास जानेयोग्य, प्राप्तव्य, उपास्य, ज्ञेय।
८ महान्- (मह-पूजायां) = सत्कार करनेयोग्य, पूज्य।
९ मे- (मे-प्रणिदाने) = व्यवहारके लिये योग्य, सब व्यवहारका साधन, (प्र) विशेष प्रकारसे (निदान) शुद्ध, ढूंढने योग्य, अंतिम प्राप्तव्य।
१० मत्- (मद्-हर्षे) = आनंदका केन्द्र। हर्षका हेतु स्थान।
११ मम- (ममत्तु-हर्षयतु) = आनंदका केन्द्र। हर्षका हेतुस्थान।
१२ मयि- (मय्-गतौ) = गतिमान् हलचल करनेवाला, प्रयत्नशील।

अस्मत् शब्दके अन्यरूप 'अस्मत्, आवां, नः' के समान ही हैं। जैसा- आवाभ्यां, अस्मभ्यं आदि।

इन अर्थोंको देखनेसे अस्मत् शब्दसे व्यक्त होनेवाला 'मैं' अर्थात् आत्मा 'अविनाशी, गतिमान, प्रयत्नशील, पूजनीय, उपास्य, ज्ञेय, प्राप्तव्य, शुद्ध, हर्षका स्थान' है ऐसा बोध होता है। मैं कैसा हूं, इसका विचार 'मैं' वाचक अस्मत् शब्दके सातों विभक्तियोंके रूपोंका विचार करनेसे हो सकता है।

यहां पाठकोंको इतनी बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए कि, अस्मद् आदि शब्दोंको निपात समझकर उनका अर्थ देखनेकी पद्धति संस्कृत व्याकरणके अनुसार ग्राह्य नहीं। संस्कृतके व्याकरण इन शब्दोंको यौगिक नहीं मानते और न इनके अर्थ करनेकी आज्ञा देते हैं। परंतु मेरे विचारमें प्रत्येक शब्द सहेतुक और अर्थवाला होना चाहिए। विशेष हेतुसे शब्दकी उत्पत्ति हुई है। शब्दोंका प्रयोग अर्थके अनुसार ही प्रारंभ हुआ होगा।

शब्दोंको निपात मानकर उनका कोई मूल अर्थ नहीं,' परंतु उनका रूढिका अर्थ कुछ है, ऐसा माननेसे, 'मैं' के लिये ही 'अस्मत् (अस्-मत्)' शब्द क्यों प्रयुक्त हुआ? इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। 'अस्-मत्' शब्द साथ

है, ऐसा मानकर उसका अर्थ जाननेसे उक्त प्रश्नका उत्तर दिया जा सकता है। 'चूंकि मेरा अस्तित्व हमेशा रहनेवाला है, अन्य पदार्थ रहें या न रहें मेरा अस्तित्व सदासे है और सदा रहेगा, इसलिये मैं अस्तित्ववाला- (अस्तिमत्) हूं, इसलिये मेरा नाम अस्तिमत् अथवा परोक्ष-प्रियताके कारण अस्-मत् है।' इस प्रकार मूल अर्थकी खोज करनेसे प्रत्येक पदार्थका नाम क्यों हुआ इसका परिज्ञान हो सकता है।

कई शताब्दियोंसे पहिले श्री० माधवाचार्यने ईशोपनिषद्भाष्य लिखनेके समय, ईशोपनिषद्के १६ वें मंत्रके भाष्यमें 'अहं' शब्दका 'अ-हं' अर्थात् 'अ-हेय' ऐसा अर्थ करके सूचित किया है, कि ये शब्द भी यौगिक हैं। इस सूचनाकी प्रेरणासे जब मैंने अस्मत् शब्दके सातों विभक्तियोंके रूप देखे, तो उनके उक्त अर्थ प्रतीत हुए। इनके अर्थ येही हैं इसके लिये मेरे पास कोई प्रमाण नहीं; जो कल्पना श्री माधवाचार्यके अर्थको देखनेसे मनमें उत्पन्न हुई वह यहां लिखी है, इसका अधिक विचार मेरेसे अधिक विद्वानोंको करना चाहिये। तबतक साधारण पाठक इसको परिपूर्ण न समझें।

पूर्वोक्त संबंध बतानेके लिये उन सब शब्दोंको निम्न कोष्टकमें रखता हूं—

ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
सूक्त	अध्याय	साम	ब्रह्म
सुभाषण	अनुष्ठान	जीवन	आत्मबल
स्तुति-(प्रशंसा)	यज्ञ-(कर्म)	उपासना-(भक्ति)	ब्रह्म-(ज्ञान)
वाक्	मनः	प्राणः	श्रोत्रं
वाक्शुद्धि	मनःशुद्धि	प्राणशुद्धि	आत्मशुद्धि
उत्तम विचार	उत्तम कर्म	उत्तम उपासना	दिव्यदृष्टि
अग्नि	वायु	सूर्य	अंगिरस
उष्णता	गति	तेज	वीर्य
(Heat)	(Motion)	(Life-light)	(Vitality, force)
संवाद	संगति	संस्कार	संज्ञान
वाग्-ओजः	सह-ओजः	प्राण-ओजः	आत्म-ओजः
Power of speech	Power of unity	Power of life-breath	Power of soul
इडा	सरस्वती	भारती मही	आत्मशक्ति
मातृभाषा	मातृसंस्कृति	मातृभूमि	विभ्यशक्ति
Mother-tongue	Mother-culture	Motherland	Divinity
वक्तृत्वशक्ति	संघशक्ति	जीवनशक्ति	ज्ञानशक्ति
	वेद—त्रयी		वेदान्त
	साधक—अवस्था		सिद्ध—अवस्था
	साधनोंका बल		सिद्धियोंका बल

इस प्रकार परस्पर संबंध प्रतीत होता है। यह देखकर और इसका विचार करके पाठक और भी बोध प्राप्त कर सकते हैं। यहां पहिले मंत्रका विवरण समाप्त हुआ। अब द्वितीय मंत्रका विचार करना है।

मंत्र २

(२) आत्म-परीक्षण और आत्म-सुधार

' जो मेरे चक्षु हृदय और मनमें छिद्र अर्थात् दोष हों वे बृहस्पतिकी कृपासे दूर होकर मेरी सब इद्रियां निर्दोष हों। और जगत्का पालक ईश्वर हम सबका कल्याण करे।' यह दूसरे मंत्रका आशय है।

इस मंत्रमें तीन अवस्थाएं वर्णन की हैं (१) अपने दोषोंको जानना, (२) ज्ञानियोंकी सहायतासे अपने दोषोंको दूर करना और शुद्ध होना (३) और जगदीशकी कृपासे कल्याणको प्राप्त करना।

कई लोग ऐसे होते हैं कि, जिनको अपने दोषोंका और अपनी त्रुटियोंका ख्यालही नहीं होता, और वे समझते हैं कि, हम बडे अच्छे हैं। ऐसे लोगोंका सुधार और उन्नति नहीं हो सकती। जो लोग अपनी परीक्षा प्रतिदिन स्वयं करते रहते हैं, और जिनको अपने दोषोंकी जागृति रहती है उनका सुधार हो सकता है। अपनी न्यूनताओंको जाननाही उन्नतिकी पहिली सीढीपर चढना है।

जब अपने दोषोंका ज्ञान होता है, और निर्दोष स्थितिकी उच्च अवस्थाकी कल्पना मनमें होती है, तब ज्ञानीके पास जाना आवश्यक होता है। बृहस्पति देवगुरुको कहते हैं। विद्वानोंको देव कहते हैं, इनका भी जो गुरु अर्थात् महोपदेशक वह देवगुरु अथवा बृहस्पति होता है। परमेश्वर गुरुओंका गुरु, ज्ञानियोंका ज्ञानी, और उपदेशकोंका भी उपदेशक है। इसलिये मुख्यतया उसीको बृहस्पति कहते हैं और गौणवृत्तिसे सब उपदेशकोंको बृहस्पति कहा जाता है। परमेश्वरकी अंतःप्रेरणा और ज्ञानियोंका बाहिरसे उपदेश होनेसे दोष दूर होने लगते हैं। और दोष दूर होनेके पश्चात् परमेश्वरसे आनंद प्राप्त होने लगता है।

इस मंत्रमें चक्षु शब्द बाह्य इंद्रियोंका दर्शक है। पांच ज्ञानइंद्रियां और पांच कर्म-इंद्रियां मिलकर दस बाह्य इद्रियां हैं। बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार ये चार तर्कविषयक और हृदय भक्तिविषयक मिलकर पांच इंद्रियां अंदर हैं। इनके दोषोंके अतिरिक्त शारीरिक दोष, कुटुंबसंबंधी दोष, समाज—जाति—राष्ट्रसंबंधि दोष होते हैं। इन सब दोषोंको दूर करना चाहिए। पितृपैतामहिक क्षेत्रज दोष भी प्रबल होते हैं। इन सब दोषोंको दूर करना परम पुरुषार्थसे साध्य है। बाहिरके दोष शीघ्र दूर हो सकते हैं, परंतु हृदयके और मनके दोष दूर होना अत्यंत कठिन है। बडे परिश्रमी और अभ्यासी साधकोंके मनमें भी कुविचार उत्पन्न हुवा करते हैं। इसलिये इस मंत्रमें हृदय और मनका उल्लेख करके इनकी ओर विशेष ध्यान देनेकी सूचना की है। बाह्य दशइंद्रियोंमेंसे एकही चक्षु इंद्रियका उल्लेख मंत्रमें आया है। अंदरके पांच केंद्रोंमेंसे दो इंद्रियोंका उल्लेख है।

१ हृदय

१ हृदय......भक्ति... $\frac{१}{१}=\frac{२०}{२०}$ पूर्ण दृष्टि

१ मन

४ { बुद्धि, चित्त / मन, अहंकार } चिंतन... $\frac{१}{४}=\frac{५}{२०}$ चतुर्थांश दृष्टि

१ चक्षु

१० { पंच ज्ञानेंद्रिय / पंच कर्मेंद्रिय } ... ज्ञान / कर्म ... $\frac{१}{१०}=\frac{२}{२०}$ दशांश दृष्टि

बाह्य इंद्रियां सर्वथा मनके आधीन होनेसे और मनकी शुद्धि अशुद्धिपर उनकी भली-बुरी अवस्था निर्भर होनेसे, बाह्य इंद्रियोंपर निरीक्षणका दसवां हिस्सा उनकी परीक्षा करनेके लिये पर्याप्त है। मनबुद्धि आदिपर सब बाह्य इंद्रियां निर्भर हैं, इस कारण उनकी परीक्षा करनेके लिये बाह्य इंद्रियोंकी अपेक्षा ढाई गुणा अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता है। परंतु जब हृदयके अंदर पूर्ण भक्ति होती है, तब न मन चंचल होता है और न बाह्य इंद्रियां भटकने लगती हैं। इसलिये अपनी सब सामर्थ्य हृदयशुद्धिके लिये लगाना चाहिये। हृदयशुद्धिके लिये बाह्य इंद्रियशुद्धिकी अपेक्षा दसगुणा और मनकी शुद्धिकी अपेक्षा चार गुणा अधिक प्रयत्न होनेकी आवश्यकता है।

शिक्षाप्रणाली कैसी होनी चाहिए इसका विचार इस मंत्रसे निश्चित हो सकता है। शिक्षाप्रणालीमें बाह्य इंद्रियोंको ठीक करनेकी ओर जितना ध्यान देना चाहिए, उससे तीनगुणा ध्यान मनको ठीक करनेकी ओर और दसगुणा ध्यान हृदयको ठीक करनेकी ओर देना चाहिए। इसका यह आशय नहीं कि, इंद्रियोंको कमजोर रखना चाहिए, परंतु यहांका आशय इतना ही है कि, (१) शरीर और इंद्रियोंको अवश्य अत्यंत बलवान करना चाहिए। (२) उनसे भी मन बलवान होना चाहिए क्योंकि शरीर और इंद्रियोंका उसे संयम करना है। (३) और इन सबसे हृदय बलवान, शुद्ध और भक्तिसे परिपूर्ण होना चाहिए; क्योंकि हृदयकी

उच्चतापर अन्य सब मन आदि साधनोंकी उत्तमता निर्भर है। अस्तु। इस मंत्रके सदृश एक मंत्र अथर्ववेदमें है—

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः
सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः
सं दधातु बृहस्पतिः॥ (अथर्व. १९।४०।१)

(सरस्वती) विद्या संस्कृति (मन्युमन्तं) तेजस्वी दृढ अभ्यासी मनुष्यके पास ही (जगाम) जाती है। इसलिये (यत्) जो (मे मनसः) मेरे मनका और (यत् च मे वाचः) जो मेरे वाणीका (छिद्रं) दोष अथवा न्यूनता हो, (तत्) उस दोषको अथवा उस छिद्रको (विश्वैः देवैः) सब दिव्यगुणोंके (सह संविदानः) साथ रहनेवाला (बृहस्पतिः) ज्ञानका स्वामी (संदधातु) ठीक करे।'

विद्या और उन्नति तेजस्वी, हिम्मतवाले, धैर्यशाली, बलवान, उग्र, प्रतापी, प्रबल, तन-मन-धनसे निश्चयपूर्वक कार्य करनेवाले, दृढ अभ्यासी वीर्यवान पुरुषोंके पास जाकर निवास करती है। आलसी, डरपोक, निस्तेज, निर्बल, चंचल, निर्वीर्य और पुरुषार्थहीन पुरुषोंके पास कभी विद्या और उन्नति नहीं रहती। यही वाणीके और मन आदि इंद्रियोंके दोष हैं। इन दोषोंको दूर करना और मन आदि इंद्रियोंको शुद्ध बनाकर उनमें तेजस्विता आदि दिव्य गुणोंकी स्थापना करनी चाहिये, जिससे विद्या और उन्नति पास आकर रहेगी। मन आदि इंद्रियोंके दोषोंको दूर करनेके लिये सब देवताओंके साथ रहनेवाले बृहस्पतिके (अर्थात् सब दिव्य गुणोंके साथ रहनेवाले ज्ञानीके) पास जाना चाहिए। इसीलिये उपनिषद्में कहा है—

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।
(कठोप. ३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठोंके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो।' तथा—

उत्तिष्ठतावपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन॥
(अथर्व. ७।७२।१)

(उत्तिष्ठत) उठिए, (अव-पश्यत) चारों ओर देखिए, और (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवानका (ऋत्वियं) समयके अनुकूल (भागं) भाग, हिस्सा जानिए। (यदि श्रातं) यदि परिपक्व हो गया हो तो ही (जुहोतन) अर्पण करो, परंतु (यदि अ-श्रातं) यदि परिपक्व, तैयार न हुआ हो तो (ममत्तन) आनंदसे ठहरो।

उठो, चारों ओर देखो और जानो कि ऐश्वर्यवानोंके कर्तव्यका भाग कितना है। जो विचार या पदार्थ तुम्हारे पास तैयार हों, वे ही अर्पण करो, यदि ठीक न पका हो तो उदास न हो, शांतिके साथ रहो, और थोडी देर इंतजार करो। परोपकारके कार्यमें अपने आपको अर्पण करनेसे पूर्व देखना चाहिए कि मेरा शरीर, मेरा मन और मेरी इंद्रियां परिपक्व हो गयीं है या नहीं। योग्य पुरुषोंकी सेवा ही जनताको लाभ पहुंचानेवाली होती है। और देखो—

अश्मन्वतीरीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः। अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥ (ऋ. १०।५३।८)

'हे (सखायः) भाईयो! यह (अश्मन्वती) पत्थरोंसे भरी हुई नदी (ईयते) जोरसे चल रही है। (सं रभध्वं) एक दूसरेको सख्त पकडो और (उत्तिष्ठत) उठो, सिद्ध होकर चलो और (प्र-तरत) जोरसे तैरो। (ये) जो (अ-सेवाः) सेवन करने अयोग्य पदार्थ (असन्) हैं उनको (अत्र जहाम) यहां ही फेंकते हैं और (वयं) हम सब जब (उत्तरेम) परले तीरपर उतरेंगे तब (शिवान् वाजान्) कल्याणकारक अन्नों और बलोंको (अभि) सब प्रकारसे प्राप्त करेंगे।

यह संसाररूपी नदी दुःखों और आपत्तियोंके पत्थरोंसे भरी है और इसका वेग भी बहुत है। इसमेंसे अकेला पार नहीं हो सकता। इससे पार होनेके लिये सबको मिलजुलकर एक दूसरोंको अच्छी प्रकार पकडना चाहिए ताकि कोई भी न फिसले। और सबको एक ही समय तैयार होकर जोरसे पार जानेका महान् प्रयत्न करना चाहिए। जिनकी सचमुच आवश्यकता नहीं ऐसे बेजरूरी पदार्थोंका मोह छोडना चाहिए, क्योंकि उनके बोझसे ही आदमी डूब सकते हैं। यदि हम पार होंगे तो निश्चयसे परलेतीरकी उत्तम भूमिके रस-भरे फल हमें मिलेंगे। उस समय इन शुष्क और रूखी चीजोंकी हमें कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

अपने मानस सरोवरसे चलनेवाली इंद्रियव्यापाररूपी नदीमें विषयोंके पत्थर भरे पडे हैं। पार होना बडा मुश्किल है। जब बडे जोशके साथ बडा प्रयत्न किया जाय तभी पार होना संभव है। विश्वामित्रके समान धैर्यधर पुरुषार्थीकी किश्ती भी कामके पत्थरपर टकराकर जहां छिन्नभिन्न होती है, वहां इस नदीसे पार होना कितना कठिन है इसकी कल्पना हो सकती है। उक्त मंत्रके साथ निम्न अथर्ववेदके मंत्र देखने चाहिए—

अश्मन्वतीरीयते संरभध्वं वीरयध्वं प्रतरता सखायः। अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥ २६॥
उत्तिष्ठता प्रतरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयत्। अत्रा जहीत ये असन्न-शिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्॥२७॥
(अथर्व. १२।२)

इस मंत्रमें 'वीरयध्वं' (अर्थात् बडा पुरुषार्थ करो, शौर्यवीर्यके साथ बडा प्रयत्न करो) ऐसा अधिक उपदेश है। ऋग्वेदके मंत्रमें जहां 'अ-शेवाः' (असेवनीय) शब्द है वहां अथर्ववेदमें 'दुरेवाः' (दुःखदायी, दुःखपरिणामी) और 'अ-शिवाः' (अ-शुभ) ये दो शब्द हैं। तथा ऋग्वेद के 'शिवान्' (शुभ) शब्दके स्थानपर अथर्ववेदमें 'अन्-अमीवान्' (रोगरहित) और 'स्योनान्' (अनुकूल, हितपरिणामी) ऐसे शब्द हैं।

ऋग्वेद	अथर्ववेद
१ अ-शेवाः	[दुरेवाः
	[अ-शिवाः
	[अन्-अमीवान्
२ शिवान्	[स्योनान्

इस प्रकार वेदके पाठभेदोंकी तुलना करनेसे अर्थकी स्पष्टता होती है। अस्तु। और देखिए—

उत्तिष्ठत मा स्वपत॥ (तै. आ. १।२७।२)

'उठो मत सोओ।' अपनी उन्नति करनेमें सदैव उठना चाहिए, सोते रहनेसे कार्य नहीं चलेगा। सोते रहनेमे चंचल मन किस बुरी अवस्थामें ले जायगा, इस बातका पता लगेगा। तथा—

उत्तिष्ठन् विन्दते श्रियम्॥
(—शांखायन श्रौ. सू. १५।१९)

'जो उठता है वही शोभाको प्राप्त होता है।' जो उठकर अपनी उन्नति करता है वही श्रेष्ठ पदवी प्राप्त कर सकता है। अपनी उन्नतिके कार्य उठकर जागते हुए करने चाहिए ऐसा सब वेदशास्त्रोंका सिद्धांत है। आत्मपरीक्षा और आत्मसुधारके लिये और विशेषकर अपने दोषोंको दूर करनेके लिये जागृतिके साथ सतत बडा प्रयत्न करना चाहिए।

इस मंत्रमें दोषोंको दूर करनेके उपदेशके समय 'मे' (अर्थात् मेरे एकका) ऐसा एकवचनी प्रयोग किया है। परंतु शांतिकी अथवा सुखकी प्राप्ति होनेके समयके उपदेशमें 'नः' (अर्थात् हम सबोंका) ऐसा अनेकवचनी प्रयोग किया है। इससे यह बोध लेना है कि हरएक व्यक्तिको अपने दोष दूर करने चाहिए, अपने दोषोंके लिये समाजको जिम्मेदार नहीं समझना चाहिये। परंतु जब शांतिकी स्थापना होगी उस समय जैसा शांतिका सुख पुरुषार्थ करनेवालोंको मिलता है, वैसाही पुरुषार्थहीनको प्राप्त होता है।

जैसा क्षत्रिय शूर पुरुष शांति स्थापन करनेके लिये अथवा धर्मकी रक्षाके लिये घोर युद्ध करते हैं। परंतु जब शांति प्रस्थापित होती है, उस समय केवल उन शूरोंको ही लाभ नहीं पहुंचता, परंतु सब मनुष्योंको लाभ होता है। हरएक व्यक्तिको अपने दोष दूर करके अपनी उन्नति करनी चाहिए और पश्चात् सब मनुष्योंके हितके लिये अपने आपको अर्पण करना चाहिए। व्यक्ति और समाजका यह संबंध देखने योग्य है। अस्तु। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका विवरण समाप्त हुआ। अब तीसरा मंत्र देखना है—

(मंत्र ३)

(३) उपासना।

(१) भूः। भुवः। स्वः॥

'भू सत्तायाम्।' भूः का अर्थ 'सत्ता, अस्तित्व, अस्ति, अस्ति, सत्' ऐसा है। सत्-चित्-आनंदमेंसे पहिले 'सत्' शब्दका अर्थ यहांका भूः शब्द बता रहा है।

'भुवः-अवकल्पने, मिश्रीकरणे चिन्तन इत्यन्ये।' भुव धातुका अर्थ 'कल्पना करना, मिश्रण करना और चिन्तन करना' है। सत्-चित्-आनंदमें चित् शब्दका अर्थ यहां का भुवः शब्द बता रहा है। क्योंकि चिंतन करना ही इसका धात्वर्थ है।

'स्वः' शब्द 'स्वर्, सु-वर् सु-वर्ग, स्वर्ग' इन शब्दोंका निकट संबंधी है। 'सुष्ठु अर्ज्यते इति स्वर्गः।' उत्तमता जिसमें प्राप्त की जाती है वह स्वर्ग है। इसीलिये उसको सु-वर्ग अर्थात् उत्तमताकी श्रेणी उत्तम वर्जा, उत्तम श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। 'स्वर' शब्दका 'आत्म-प्रकाश' ऐसा अर्थ होता है। यह शब्द अपनी प्रकाशमय अवस्था बता रहा है। इस कारण सत्-चित्-आनंदमेंसे आनंद शब्दके साथ इसका संबंध जोडा जा सकता है। 'स्वर्' धातुका अर्थ 'प्रकाशित होना' है। इससे इसका अर्थ प्रकाश अथवा प्रकाशमय अवस्था होता है। तात्पर्य आनंद शब्दका भाव इस शब्दसे टपक रहा है।

भूः	भुवः	स्वः
सत्ता	चिंतनम्	प्रकाशः
सत्	चित्	आनंदः
प्राणः	अपानः	व्यानः
जीवन	दुष्टता–नाश	शांति
प्रयत्न	संगति	समता

ये तीनों शब्द जीवनके आधारभूत और उन्नतिके सारभूत तीन तत्त्वोंको प्रकाशित कर रहे हैं। (१) अपना अस्तित्व रखनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए। आत्मिक दृष्टिसे अस्तित्व सदासेही है। परंतु जातीय, समाजीय, राजकीय आदि अस्तित्व पुरुषार्थसे रखना होता है। (२) अपना अस्तित्व रखनेके लिये ज्ञान और ऐक्यकी आवश्यकता है। ज्ञान और ऐक्यके अभावमें जातीय अस्तित्व रखना असंभव है। (३) समता और शांतिके विना ज्ञान और ऐक्य प्राप्त नहीं हो सकता। समता और शांतिके विना आनंद भी नहीं मिलता। आनंदही साध्य है जो अपनी सत्ता और अपने ज्ञानसे अनुभव करना होता है।

उक्त तीन भाव क्रमसे सत्–चित्त–आनंद अथवा भूः-भुवः...स्वः से जानते हैं। ये तीन भाव मनुष्योंके संस्कारों पर बडे प्रभाव डालनेवाले हैं, इसलिये इनको कभी भूलना नहीं। जिन सात व्याहृतियोंमेंसे ये तीन व्याहृतियां यहां लीं है उनका अर्थ नीचे दिया है—

सप्तव्याहृति अर्थ	गायत्रीके पदोंका व्याहृतिके साथ संबंध	गायत्रीके पदोंका अर्थ
१ भूः सत्ता (अस्तित्वं)	तत्	(तत्) प्रत्यक्ष जो है।
२ भुवः चिंतनं (ज्ञानं)	धियः	बुद्धि और कर्म।
३ स्वः प्रकाशः (आनंद)	देवस्य	(देवः) प्रकाशक, ज्ञानी
४ महः महत्त्वं	वरेण्यं	(वरेण्यं) श्रेष्ठ, उत्कृष्ट
५ जनः उत्पादकशक्तिः	सवितुः	(सवितृ) प्रसविता, उत्पादक
६ तपः तेजः (अंधकारनाशः)	भर्गः	(भर्गः) अज्ञाननाशक तेज।
७ सत्यं सत्यं	तत्	(तत्) जिसका अनुभव होता है।

ओंकार व्याहृति आदियोंके ऋषि - देवता निम्न प्रकार हैं–

मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
ॐ ओ३म्	ब्रह्मा	अग्निः	गायत्री
भूः	गौतमः	अग्निः	गायत्री
भुवः	भारद्वाजः	वायुः	उष्णिक्
स्वः	विश्वामित्रः	आदित्यः	अनुष्टुप्
महः	जमदग्निः	बृहस्पतिः	बृहती
जनः	वसिष्ठः	वरुणः	पंक्तिः
तपः	कश्यपः	इन्द्रः	त्रिष्टुप्
सत्यं	अत्रिः	विश्वे देवाः	जगती
तत्सवितु० गायत्री मंत्र	विश्वामित्रः	सविता	गायत्री

इस प्रकार इनका परस्पर संबंध है। 'तत्' शब्द 'तन्-विस्तारे, श्रद्धोपकरणयोः।' (फैलना, विस्तृत होना, विश्वास करना, सहाय करना) इस धातुसे बनता है, इसलिये इसका अर्थ 'व्यापक, श्रद्धा रखनेयोग्य, सहायक' ऐसा है। जिसका अंगुलीनिर्देशसे बोध किया जाता है उस प्रत्यक्ष पदार्थको 'तत्' (वह) शब्दसे बताते हैं। योगियोंको, भक्तों को और ज्ञानियोंको परमेश्वर उतना प्रत्यक्ष (साक्षात्) होता है, कि जितना साधारण मनुष्योंको सृष्टिका घनपदार्थ होता है। इसलिये परमेश्वरके लिये 'तत्' शब्दका प्रयोग अनेक स्थानोंपर आया है। इन शब्दोंके अर्थ अगले मंत्रमें देखनेयोग्य हैं—

(५) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(सवितुः) जगदुत्पादक (देवस्य) ईश्वरके (तत् वरेण्यं भर्गः) उस श्रेष्ठ तेजका (धीमही) हम सब ध्यान करते हैं कि (यः) जो (नः) हम सबके (धियः) बुद्धियोंको (प्र-चोदयात्) प्रेरणा करता है। शब्दोंके विषेश अर्थ—

(१) सवितुः = (सविता प्रसविता) = 'सु=प्रसवैश्वर्ययोः' (प्रसव और ऐश्वर्य) इस धातुसे सविता शब्द बना है। इसलिये उसका अर्थ उत्पन्न करनेवाला और स्वामी होनेवाला है। किसी चीजको उत्पन्न करना और उसका स्वामी बनना ये दोनों भाव परमेश्वरके विषयमें ही घट सकते हैं।

(२) देवस्य = प्रकाशक, दाता, ज्ञानी, विज्ञान्, आनंदरूप, सहायक, इत्यादि इसके अर्थ प्रसिद्ध हैं।

(३) भर्गः– ' भृज्, भ्रस्ज् ' इन धातुओंसे यह शब्द बनता है। तपाना और पकाना ऐसा इनका क्रमशः अर्थ है। तपाकर दोषोंको दूर करना और परिपक्व बनाना ये कार्य इससे प्रतीत होते हैं।

(४) धियः– बुद्धि और कर्म, ज्ञान और यज्ञ, विचार और आचार। जिससे धारण होती है वह धीः है।

इन अर्थोंका विचार करके स्वाध्यायशील पाठक इस गायत्री मंत्रसे बहुत बोध ले सकते हैं क्योंकि यह मंत्र ' गाय-त्री अर्थात् गानेवालेका रक्षण करनेवाला ' है। अस्तु। इस मंत्रके साथ तुलना करनेके लिये निम्न मंत्र देखने योग्य हैं।

त्वे इन्द्राप्यभूम विप्रा धियं वनेम ऋतया सपन्तः।
अवस्यवो धीमहि प्रशस्तिं सद्यस्ते रायो दावने स्याम।
(ऋ. २।११।१२)

[१] हे [इन्द्र] परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर ! हम सब [वि-प्राः] ज्ञानी लोग [अपि ते अभूम] तेरे ही होकर रहें [२] [ऋतया समन्तः] सदा चरणके साथ परस्पर प्रेम करते हुए [धियं वनेम] बुद्धिको प्राप्त करें। [३] [अवस्यवः] परस्पर सहायता करनेवाले हम सब [ते प्रशस्तिं] तेरी प्रशंसाका [धीमहि] चिंतन करते हैं। [४] [सद्यः] इसी समय [दावने] दानके लिये [रायः] धन देनेवाले [स्याम] हम सब होवें।

इस मंत्रमें चार उपदेश दिये हैं (१) ईश्वरके भक्त बनकर रहें; (२) सदाचरण और प्रेम करते हुए उत्तम बुद्धि प्राप्त करें; (३) परस्पर सहाय करते हुए ईश्वरके गुणोंका ध्यान करें और (४) धनोंका दानमें अर्पण करें। इन चार उददेशोंको उक्त गायत्री मंत्रके साथ देखना चाहिए। गायत्री मंत्रमें कही हुई बुद्धिका महत्त्व गोपथमें कहा है:—

धिया धीरो रक्षतु धर्ममेतम् ॥
(–गोपथ. ब्रा. १।५।२४)

' धैर्यशाली पुरुषको उचित है कि वह बुद्धि द्वारा इस धर्मकी रक्षा करे। ' बुद्धिके विषयमें अथर्ववेद कहता है–

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ती पावमानि द्विजानाम् ॥ आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ (अथर्व. १९।७१।१)

(मया वर-दा वेदमाता स्तुता) मैंने वर देनेवाली वेद-रूपी माताकी स्तुति की। वह (द्विजानां पावमानी) द्विजोंको पवित्र करनेवाली और (प्रचोदयन्ती) धर्मकी प्रेरणा कर-नेवाली है। वह हम सबको आयु, प्राण, संतान, पशु, कीर्ति, धन और ज्ञानका तेज देकर (ब्रह्म-लोकं) ब्राह्मी स्थितिको (व्रजत) प्राप्त होवे। '

' वेद-माता ' शब्दका अर्थ ज्ञानरूपी माता अर्थात् बुद्धि, विद्वानोंकी माता अर्थात् ज्ञानशक्ति है। यहां बुद्धि विवक्षित है, क्योंकि उसे ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होना है। अस्तु। इन मंत्रोंके उपदेशोंको गायत्री मंत्रके साथ तुलना करके विचार करना चाहिये। पूर्वमंत्रसे ' धियः ' और ' धीमही ' का अर्थ स्पष्ट होगा और इस मंत्रसे ' धियः प्रचोदयात् ' का अर्थ खुलेगा। इस प्रकार तृतीय मंत्रका अर्थ देखा। अब चतुर्थ मंत्रपर विचार करना है—

(मंत्र ४ से ७ तक)

कयोति साम (कया और ऊतिवाला सामगायन)

(४) परमेश्वरके आनंदकारक रक्षण–स्वभावका चिंतन।

इन मंत्रोंका अर्थ पूर्वस्थलमें दियाही है। यहां इनके कई शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

(१) कः, कया = (कः-का) = ' कः ' शब्द पुल्लिंगमें हैऔर उसीका स्त्रीलिंगी रूप ' का ' है। इसके अर्थ– ' प्रजा -पति (पालनकर्ता ईश्वर), ब्रह्म, विष्णु (व्यापक ईश्वर), यम (नियामक ईश्वर), आत्मा, जीव, मूलतत्त्व, काल, धन, शब्द, शब्दज्ञान, सुख, आनंद, आरोग्य, हित, जल, कमनीय, सुंदरता, मन, शरीर, प्रकाश, तेज, मस्तक, ' इतने हैं। इन-मेंसे आनंद सौंदर्य यहां विवक्षित है। इन मंत्रोंमें ' कया ' शब्द ' ऊति ' शब्दका विशेषण है। ' कया ऊत्या ' का अर्थ ' आनंद और सौंदर्ययुक्त रक्षणद्वारा ' ऐसा है। परमेश्वर जो हम सबोंका रक्षण करता है, उसमें आनंद और सौंदर्य विरा-जमान होता है। हमारी रक्षाके लिये उस ईश्वरने यह विस्तीर्ण विश्व बनाया है। इस विश्वकी ओर देखनेसे सबसे पहिले सृष्टिकी सुंदरता दृष्टिगोचर होती है। सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें एक प्रकारका विशेष सौंदर्य है। सब तत्त्वज्ञानी इसका प्रथम विचार करते हैं। (Beauty)

सुंदरताके पश्चात् सृष्टिमें आनंद, सुख, खुशी देखनेमें आती है। भोगी लोग भोग लेकर सुख लेते हैं, इन भोगियोंको प्रारंभमें सुख होता है। दूसरे लोग संयमी होते हैं, वे मनो-वृत्तियोंका संयम करते हैं, और सृष्टिकी सहायतासे अपनी उन्नतिका साधन करते हैं। इन संयमी पुरुषोंको परिणाममें

+

आनंद होता है। सकामतासे प्रारंभमें आनंद और निष्कामतासे परिणाममें आनंद होता है। मुक्ति-धामको पहुंचानेके लिये, सृष्टि एक मुख्य साधन होनेके कारण, सृष्टिको आनंदका साधन कहना कोई अत्युक्ति नहीं। जो इस साधनका प्रयोग नहीं जानते, उनको आपत्ति होती है, परंतु जो इसको अच्छी प्रकार प्रयोग कर सकते हैं उनको संपत्ति मिलती है। अर्थात् इस दृष्टिसे सृष्टिमें सुख और आनंद दृग्गोचर होगा।

(Happiness, Bliss)

सृष्टिके अंदर तीसरा गुण तेजस्विता है। इसके अतिरिक्त अन्य भावनाएं होती हैं उनका विचार 'कः' शब्दके जो ऊपर अर्थ दिये हैं उससे हो सकता है।

(२) ऊती, ऊत्या, ऊतिभिः = 'अव्' धातुसे 'अवन, अविता, ओम्, ऊती' ये शब्द बनते हैं। 'अव्'— धातुके अर्थ 'रक्षण, गति, सौंदर्य, सुख, आनंद, शांति, ज्ञान, तेज, तृप्ति, प्रवेश, श्रवण, स्वमित्व, प्रार्थना, कर्म, इच्छा, प्रकाश, प्राप्ति, संयोग, शत्रुविनाश, स्वीकार, अस्तित्व, वृद्धि, शक्ति, अनुग्रह' इतने हैं। इसलिये ऊती, ओम् और अवनके यौगिक अर्थ ही उतने हैं।

परमेश्वरका रक्षकत्व सृष्टिके द्वारा दिखाई देता है। बालक जनमतेही उसकी सहायताके लिये माताके स्तनोंमें दूध तैयार होता है। इसी प्रकार सब स्थानोंपर रक्षा हो रही है। सौंदर्य और आनंदके पश्चात् सृष्टिके निरीक्षणसे पता लगता है कि, सब विश्वमें परमेश्वरकी रक्षणशक्ति कार्य कर रही है। (Protection, Motion)

(३) चित्रः = 'चित्' धातुसे चित्र शब्द बनता है। 'चित्' धातुके अर्थ- 'निरीक्षण करना, चित्तैकाग्र्य करना, दक्ष रहना, जानना, आकलन करना, भासमान होना।' चित्र शब्दके अर्थ- उत्कृष्ट, विलक्षण, तेजस्वी, शुद्ध, स्वच्छ, विचित्र, नाना रूपवाला, चित्रविचित्र, विविध प्रकारका, आश्चर्यकारक।

सृष्टिके अंदर परमेश्वरकी विचित्रता प्रतिपदार्थमें दिखाई देती है। वृक्ष वनस्पति, प्राणी और अन्य पदार्थोंकी नानाजातियोंमें नानाभेद विद्यमान हैं। अनेकता, विविधता और विचित्रता सृष्टिका स्वभावधर्म ही है। एक ईश्वरकी बनाई हुई यह विविधता है ऐसा जानकर मनमें विशेष आश्चर्य होने ही लगता है। (Diversity, Variety, Wonderfulness.)

(४) सदा-वृधः = (सदा-वृद्धः) सदासे महान् परमेश्वर है। ईश्वर किसी समय छोटा था और पश्चात् बडा हो गया ऐसी बात नहीं; वह शाश्वत समयसे महान् है। उसकी महानता सृष्टिमें भी दिखाई देती है। सूर्यादिक महानसे महान् तेजोगोल उसीकी महानता सिद्ध कर रहे हैं। (Greatness, Growth)।

(५) सखा = (मित्र) = परमेश्वर सबका परममित्र है। इसमें विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं। हमारा सच्चा मित्र ईश्वर ही है। (Love and friendship)

(६) शचि-ष्ठया = (शचि-स्था) = 'शची' शब्दके अर्थ- 'वाणी, कर्म, प्रज्ञा, शक्ति, सहायता, प्रेम, कौशल्य, वक्तृत्वशक्ति, दयालुता' हैं। 'शचिष्ठ' शब्दका अर्थ शचिके साथ रहनेवाला, उत्तम वक्ता, उत्तम कर्मशील, उत्तम बुद्धिमान्, शक्तिमान्, सबका सहायक अथवा परोपकारशील प्रेमी, कुशल-चतुर, दयालु हैं। शचिष्ठ और शचिष्ठा शब्द' एक ही अर्थ बतानेवाला है। पहिला पुल्लिंग है और दूसरा स्त्रीलिंगमें है। (Power, Strength)।

(७) वृता = (वृत्, वृत्त, वर्तन, आवर्त, आवर्तन) = भ्रमण, गति, वारंवार वर्तुल गति, ऐसे इसके अर्थ हैं। वारंवार एक समान बनना, इसका अर्थ है। जगत्में सब गोलगोलांतरोंका और सूर्यादि महान् लोकोंका अपने अपने वृत्तमें नियमित और बारबार भ्रमण चला है। ऋतुओंका क्रमपूर्वक वारवार आना, शीतोष्णकालोंका यथापूर्व प्रतिवर्ष होना, यह सब इस शब्दसे जाना जाता है। (Rotundity चक्राकार अथवा बेजवी-दीर्घवर्तुलाकार-भ्रमण; Cycle विश्वचक्र; Turning वर्तुलगति; Revolving चक्राकार भ्रमण)।

(८) सत्यः-सत्स्वरूप, त्रिकालाबाधित, तीनों कालोंमें एक समान सनातन, अटल, शुद्ध, सत्कर्मशील, विजयी, अटल नियमयुक्त इत्यादि भाव सत्य शब्द बताता है। (Eternal law सनातन सत्य धर्म)। सनातन अबाधित नियमोंका प्रवर्तक परमेश्वर है। यह बात सृष्टिके अबाधित अटल नियमोंका निरीक्षण करनेसे मालूम होती है।

(९) मदानां मंहिष्ठः— हर्ष उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंमें ईश्वर सबसे अधिक हर्षदायक है। सब आनंदोंमें उसीसे प्राप्त होनेवाला आनंद श्रेष्ठ है। 'मद' शब्दका अर्थ हर्ष, आनंद, स्फुरण है और 'मंहिष्ठ' का अर्थ है उदार, दाता, बढानेवाला। इसलिये 'मदानां मंहिष्ठः' का अर्थ 'आनंदोंका उदारतापूर्वक दान करनेवाला, आनंदको बढानेवाला' होता है।

(१०) अन्धसः = (अन्धस्–अनिति प्राणिति अनेन इति अन्धः) = जिससे प्राण धारण किया जाता है उसको अन्धस् कहते हैं। प्राण धारण करनेका साधन होनेसे वनस्पति भोजनको अन्धस् कहते हैं। अन्न, जीवन, जीवनकला, जीवनशक्ति (life energy), ये इसके अर्थ हैं। जीवनशक्ति देनेवाले पदार्थोंमें सबसे अधिक जीवनका साधन परमेश्वरही है। (Life of life)

(११) दृढा = (दृढं–दृढानि) = मजबूत, शक्तिमान्। सृष्टिमें निरीक्षण करनेसे दृढता प्रतीत होती है। पृथ्वी दृढ है, सूर्यचंद्रादि सब दृढ हैं। किसी पदार्थमें देखा जाय तो अपने अपने स्थानमें वे पदार्थ दृढ हैं ऐसा दिखाई देता है। पृथ्वी गतिमान होनेपर भी सब पदार्थोंको स्थिर रखनेके लिये जितनी स्थिरता चाहिये उतनी पृथ्वीमें है। इस प्रकार सब विश्वमें देखने योग्य है। (Firmness दृढता, Stability स्थिरता)

(१२) चित् = इसका मूल अर्थ ' निश्चित ज्ञान ' है। यह। शब्द अव्यय होनेपर ' निश्चयसे भी ' ऐसे अर्थ बताता है। (Intelligence निश्चित ज्ञान.)

(१३) वसु = (वासयिता) = जिससे प्राणियोंका निवास अच्छी प्रकार हो सकता है। उत्तम रीतिसे रहने सहनेके लिये जो साधन आवश्यक हैं वे सब वसु शब्दसे ज्ञात होते हैं। चूंकि प्राणियोंकी अवस्थाको सृष्टिके पदार्थ सुखमय करते हैं। इसलिये वे वसु हैं। परमेश्वर परमार्थतः सबका निवासकर्ता होनेसे पूर्णतासे वही वसु है। (One who helps to inhabit निवासयिता; Space स्थान। आश्रयदाता)

(१४) आ–रुजे = (रुजो–भंगे) = छिन्न-भिन्न करता है। इस क्रियासे परमात्माकी छेदक, भेदक और विनाशक शक्तिका बोध होता है। (Destroyer प्रलयकर्ता)

(१५) वृषन् = (वर्षणकर्ता) = वृष्टि करनेवाला। जैसा मेघ वृष्टि करके मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्षवनस्पति आदिको प्रसन्नतायुक्त करता है, वैसाही परमेश्वर सब आनंदोंकी वृष्टि करके मनुष्यको तथा प्राणियोंको आनन्द पहुंचाता है। इस शब्दके ' उत्साही, शक्तिमान्, प्रभावशाली ' आदि अर्थ भी हैं।

(१६) आ– भर = शब्दका अर्थ देखनेसे परमेश्वर पोषणकर्ता, पालनकर्ता है ऐसा स्पष्ट होता है।

इन मंत्रोंके ये सोलह पद देखने और सोचने योग्य हैं, इन शब्दोंसे किन किन विशेष गुणोंकी ध्वनि निकलती है यह निम्न कोष्टकमें दिया है–

वैदिक शब्द	अंग्रेजी भाव	गुणोंका बोध
१ कः, का, कया	Beauty, happiness...	सौंदर्य और आनंद.
२ ऊती ऊत्या, ऊतिभाः अविता, ओम् ॐ	Protective motion [wonderfulness]	संरक्षक गति. [आश्चर्यमयता,]
३ चित्र...	[variety]...	[विविधभावयुक्तता.]
४ सदावृधः...	Greatness...	महता.
५ सखा...	Love and friendship	प्रेम और मित्रत्व.
६ शचिष्ठा...	Power, strength...	बल, शक्तिमत्ता.
७ वृत्...	Rotundity...	नियमयुक्त भ्रमण, गति देनेका धर्म
८ सत्य...	Eternal law...	सनातन नियम, धर्म
९ मदानां मंहिष्ठः	Blissful...	शांतियुक्त परम आनंद.
१० अन्धस्...	Life, energy...	जीवनकाल,प्राण.
११ दृढं...	Stability...	स्थिरता.
१२ चित्...	Intelligence...	निश्चित ज्ञान.
१३ वसु...	Space, abode...	स्थान, निवास करनेकी शक्ति
१४ आ–रुज्...	Destroyer...	प्रलयशक्ति.
१५ वृषन्...	Flowing, bestower...	प्रवाह, दान करना.
१६ आ–भर...	Nourisher...	पोषण करना.

सृष्टिका विचार करनेसे ईश्वरके ये गुण सृष्टिमें कार्य कर रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है। परमेश्वरकी एकता सृष्टिकी विविधताके लिये कारण हो गयी है, यह देखकर महान् आश्चर्य होता है और साथ साथ ईश्वरके अतुल सामर्थ्यकी भी कल्पना होती है।

इन गुणोंका चिंतन करनेसे परमेश्वरके महान् प्रभावकी कल्पना हो सकती है। इसलिये इन शब्दोंको अच्छे प्रतिभायुक्त काव्यमें यहां ग्रथित किया है। ताकि उपासक लोग इस

काव्यका गायन करते हुए ईश्वरके गुणोंका स्मरण करें, और यथासंभव उन गुणोंको अपनेमें धारण करके अपनी आत्मिक उन्नतिका साधन करें।

इस प्रकार 'कयोति साम' का विचार हो गया। अगला मंत्र देखना है—

(मंत्र ८)

(५) जगत्का एक अधिपति।

'इस संपूर्ण जगत्का एकही इन्द्र राजा है। हम सबका कल्याण होवे और सब द्विपाद और चतुष्पादोंका कल्याण होवे।'

इस जगतका एकही अधिपति है। यहां ओहदेवारोंका बीचमें झगडा नहीं, उस एक राजाको मिलनेके लिये किसी दूसरेकी सिफारिशकी जरूरत नहीं। पवित्र होकर उसके पास जानेसे उसका दर्शन होता है। पास जानेके लिये चलनेकी भी जरूरत नहीं, क्योंकि वह जगत्पति सर्वव्यापक होनेसे प्रत्येक मनुष्यके अंदर व्याप्त है। इसलिये केवल अंतःकरण शुद्धिकी आवश्यकता है। जब अंतःकरण पवित्र होगा उसी समय उसका साक्षात्कार होगा। वह सर्वदा सिद्ध है। उसके ठाकुरद्वारेके दरवाजे कभी बंद नहीं होते, सदा खुले रहते हैं। पवित्र बनकर अंदर देखनेका यत्न करना चाहिए।

वह आनंद और कल्याणका स्रोत है, उसके पाससे आनंदके स्रोत और कल्याणकी नदियां बह रहीं हैं। जो उसमें गोता लगावेगा उसको उस अमृतपानका रसास्वाद मिलेगा।

उन्नतिके मार्ग सदा सबको खुले रखने चाहिए। मनुष्य अपने स्वार्थके कारण प्रतिबंध खडे करता है और फंसता है। यदि प्रतिबंध खडे न करेगा तो सबकी अर्थात् द्विपाद चतुष्पादोंकी अविच्छिन्न उन्नति होगी। हम सबको अपने अंतःकरण ऐसे पवित्र बनाने चाहिए, कि ईश्वरका कल्याणमय स्रोत उनमेंसे बिना प्रतिबंध चलता रहे। जिस प्रकार मलिनता बढनेसे नालियोंमेंसे पानी चलना बंद होता है उसी प्रकार स्वार्थका कीचड मानवी अंतःकरणमें जमा होनेसे भक्तिका प्रवाह रुक जाता है। अस्तु। इस मंत्रके साथ निम्न मंत्र विचारने योग्य है—

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृंगिणो
वज्रबाहुः। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न
नेमिः परि ता बभूव॥ (ऋ. १।३२।१५)

'(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् ईश्वर (यातः) जंगम और (अवसितस्य) स्थावरका राजा है तथा (शमस्य) शांत और (शृंगिणः) सींगवालोंका भी वह (वज्रबाहुः) दण्डधारी अधिपति है। (स इत् उ) वह ही (चर्षणीनां राजा) सब प्रजामात्रका राजा होकर (क्षयति) रहा है (न) जिस प्रकार (अरान् नेमिः) चक्रनाभिके चारों ओर ओर होते हैं उसी प्रकार (ताः) वह सब प्रजाएं उसके (परि बभूव) चारों ओर हैं।'

अर्थात् परमेश्वर स्थावर और जंगम, शांत और क्रूर, प्राणी और अप्राणी अर्थात् सबका राजा है। चक्रनाभिके समान इस संसारचक्रकी वह नाभि है अर्थात् जगत्के लिये वही आधार है। तथा—

एवा न इन्द्रो मघवा विरप्शी करत्सत्या चर्षणीधृदनर्वा। त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे अधिश्रवो माहिनं यज्जरित्रे॥ (ऋ. ४।१७।२०)

'(एव) इस प्रकार (मघ-वा) धनवान् भगवान् (वि-रप्शी) स्पष्ट उपदेश करनेवाला (अन्-अर्वा) अजातशत्रु और (चर्षणीधृत्) उद्यमी मनुष्योंका धारण पोषण करनेवाला (इन्द्रः) ईश्वर (सत्या करत्) सत्या, शांतता करे। क्योंकि तू (जनुषां राजा) सब प्रजाओंका राजा है, इसलिये (अस्मे) हम सबके लिये (माहिनं श्रवः) महत्वका यश (धेहि) धारण करो, दो। (यत् जरित्रे) जो तेरे भक्तोंके लिये योग्य होता है वही हम सबको दो।' तथा—

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि
विषुरूपं यदस्ति॥ ततो ददाति दाशुषे
वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक्॥
(ऋ० ७।२७।३)

'(अधि क्षमि) इस पृथ्वी आदि गोलोंपर (यत् विषु-रूपं) विविध रूपवाला जो कुछ भी (अस्ति) है उस सब (जगतः) जगत्का और (चर्षणीनां) प्राणियोंका वही (इन्द्रः राजा) ईश्वर राजा है। (ततः) इसलिये वह (दाशुषे) दानकर्ता अर्थात् परोपकारशील मनुष्यको (वसूनि ददाति) धन देता है। (उपस्तुतः चित्) उसके गुणोंका चिंतन करनेपर (अर्वाक् राधः चोदत्) वह हमारे पास विविध सिद्धयोंको भेजता है।'

इस प्रकार सब जगत्का एक अधिपति होनेके विषयमें वेदमें कहा है। ये सब भाव यहां देखनेयोग्य हैं। अब अगले मंत्र देखिए—

(मंत्र ९ से ११ तक)

(६) कल्याण प्राप्तिके लिये प्रार्थना।

इन तीन मंत्रोंमें मित्र वरुणादि शब्द एकएक विशेष गुणके प्रतिनिधि बनकर रहे हैं। उनके विषयमें निम्न अर्थ देखने- योग्य हैं—

(१) मित्रः— मान्यकर्ता, प्रेमी, सहायक, यह प्रेमका प्रतिनिधि है। Friend, love प्रेम, भक्ति, प्रकाश, ज्ञान।

(२) वरुणः— 'वृ वरणे' धातुसे यह शब्द बना है। चुनना, पसंद करना, हंसक्षीरन्यायसे अच्छेका स्वीकार और बुरेका परित्याग करना, पूर्णको अपनेमें मिलाना और हीनको दूर करना, ये भाव इसमें हैं। (Selection) पसंदी, श्रेष्ठता, (Honour) सन्मान, (Unity) स्वीकार करना, मिलाना आदि गुणोंका यह प्रतिनिधि है।

(३) अर्यमा = (अर्य-मा; मन्; आर्य-मन) = आर्य अथवा अर्य शब्दका श्रेष्ठ अर्थ है। श्रेष्ठता, सरलता, प्रगति, उन्नति आदि भाव अर्य शब्द बताता है। श्रेष्ठ मन, सरल-मन, प्रागतिक-मन इन शब्दोंके साथ मिलनेवाला अर्य-मन् शब्द है। श्रेष्ठ कनिष्ठका विचार, सरलता और टेढेपनका निश्चय, प्रगति (उन्नति) और परागति (अवनति) का संकल्प जिससे जाना जाता है वह अर्यमापन है। सतसद्विवेक-बुद्धि अथवा न्यायबुद्धिका यह प्रतिनिधि है। (Justice न्याय)

(४) इन्द्रः = शक्ति, सामर्थ्य, प्रभुत्व, स्वामित्व आदि शौर्यवीर्यादि गुणोंका इंद्र शब्द यहां प्रतिनिधि है। (Active power, strength).

(५) बृहस्पतिः = (बृहः-पतिः) = ज्ञानपति, वाक्पति। यह शब्द ज्ञान, गुरु-त्व, पठनपाठन आदिका प्रतिनिधि है। (Knowledge)

(६) विष्णुः = व्यापकशक्ति। जो व्यापकशक्ति सब जगत्‌की रक्षा कर रही है। दुष्टोंका नाश और सुष्टोंका रक्षण जो करती है उस शक्तिको यह शब्द बताता है। (Preservative force)

(७) उरु क्रमः = (उरु) महान् (क्रम) क्रम, अनु-क्रम, व्यवस्था इस जगत्‌में क्रम अर्थात् पूर्वापर व्यवस्था उरु अर्थात् महान् है। वसंत ग्रीष्मादि ऋतुओंका क्रम, शीतोष्ण कालोंका क्रम, बालतरुणवृद्धावस्थाका क्रम, जन्ममरणका क्रम, सूर्यादि गोलोंके भ्रमणकी व्यवस्था ये सब क्रम महान् शक्तिसे व्यवस्थित हुए हैं। उस नियामक शक्तिका यह प्रतिनिधि है। (उरु Excellent, क्रमः Order)

(८) वातः = 'वा-गतिगन्धनयोः' धातुसे वात शब्द बनता है। गति, हलचल और प्रतिबंधक शक्तिका गंधन अर्थात् नाश ये अर्थ वात शब्दके यौगिक हैं। वात अथवा वायुके साथ जीवनशक्ति, अथवा प्राणशक्तिका नित्य संबंध है। इसलिए जीवनशक्ति हलचल और प्रतिबंध निवारण इन शक्तियोंका यह प्रतिनिधि है। (Movement, life energy)

(९) सूर्यः— प्रकाश और दिनका देवता है। काल, समयका भी इसको प्रतिनिधि कहा है। प्रकाशशब्द प्रबुद्धता (En-lighten-ment) का द्योतक है।

(१०) पर्जन्यः— (पर-जन्य, पुर-जन्य) पूर्ति अथवा तृप्ति जिससे प्राप्त होती है। मेघोंको पर्जन्य इसलिये कहते है कि उनकी वृष्टिसे सब जगत्‌की तृप्ति होती है। तृप्ति (Contentment) का प्रतिनिधि यह है।

(११) अहः = (अ-हर्, अ-हन्) = अहननीय, अवि-नाशी कालका यह प्रतिनिधि है। दिनका कोई समय व्यर्थ खोनेके लिये योग्य नहीं। अ-हर्। अ-हरणीय (Imperisha-bility)

(१२) रात्रीः— (रमयित्रीः, राति सुखं इति) दूसरोंको सुख देनेकी शक्तिका यह प्रतिनिधि है। रात्रिशब्दका मूल अर्थ सुख देना, रममाण करना, उपकार करना है। Bene-volence) कृपा, दयालुता, परोपकार।

(१३) इन्द्राग्नी=(इंद्र-अग्निः)=इन्द्र शब्द प्रभुत्वका द्योतक है और अग्नि शब्द तेजका द्योतक है। (Power and spirit) शक्ति और तेजस्विता।

(१४) इन्द्रावरुणौ- (इंद्र-वरुण) शक्ति और ऐक्य। (Power and unity or honour)

(१५) इन्द्रापूषणौ- (इन्द्र-पूषण) =पुष्टि करनेवालेको पूषण अर्थात् पोषक कहते हैं। शक्ति और अभ्युदय (Power and prosperity)

(१६) इन्द्रासोमौ- (इन्द्र-सोम) =शांतिका प्रतिनिधि है। शक्ति और शांति। (Power and tranquility)

इतने गुणोंके द्वारा हमारा कल्याण हो, यह प्रार्थना और इच्छा इन मंत्रोंमें है। ये विविध गुण हमारे अंदर प्राप्त होकर, ये परमात्मशक्तियाँ हमारे अंदर स्थिर होकर हमारा अभ्युदय होवे, यह भक्तकी इच्छा इसमें व्यक्त होती है। मानवी

उन्नतिके साधक ये गुण हैं। इनपर अवश्य विचार होना चाहिये, और इनको अपने अंदर स्थापना करनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए।

उक्त विस्तृत अर्थ मनन करनेके लिये सुगम हो, इस हेतुसे उक्त आशयको निम्न कोष्टकमें रख देता हूं और साथ साथ कयोति साम (मंत्र ४–७) के शब्द भी रखे हैं, पाठक दोनोंके अर्थोंको साथसाथ सोचें—

परमात्मा-शक्ति [कयोतिसामके] [शब्दोंकी तुलना] मनुष्य–व्यक्तिमें गुण

(१) मित्रः– मित्रता... (सखा)... भक्ति, प्रेम, प्रकाश (Devotion and love)
[वरुण,]... (सदा वृधः) ......

(२) वरुणः— [वर-त्व] श्रेष्ठत्व, उत्तमत्व, सत्व, ऐक्य (Honour and unity)

(३) अर्यमा— आर्यमन... (सत्यः)...सरलता, न्यायीपन, निःपक्षपातीपन (Justice)

(४) इन्द्रः— ऐश्वर्य...(शचिष्ठा)... प्रभुत्व, स्वामित्व (Sovereignty, power)

(५) बृहस्पतिः— ज्ञानपति (मदानां मंहिष्ठः) ... ज्ञान, तृप्ति (Knowledge, satisfaction)

(६) विष्णुः— व्यापक... (अन्धस्) ... रक्षकशक्ति (Preservative power, vitality)

(७) उरुक्रमः— [महान्]...(वृत्)...महान् व्यवस्था [अनुक्रम] (Excellent order)

(८) वातः— गति... (आ-रुज्)... हलचल, भंजन (Movement, decomposition)

(९) सूर्यः— प्रकाश ... ... (चित्) ... प्रबुद्धता (Enlightenment)

(१०) पर्जन्यः— पूर्तिजनक ... (वृषन्) ... तृप्ति (Contentment)

(११) अहः— अविनाशित्व... (ऊती)...विजयशालित्व (Unbeatenness)

(१२) रात्रीः— रमयिता ... (का, कः)... परोपकार, रमणीयता... (Benevolence, happiness)

(१३) इन्द्राग्नी— ऐश्वर्य–तेज... (वसुः)...शक्तियुक्त तेजस्विता... (Power and spirit)

(१४) इन्द्रावरुणौ— ऐक्य... (वृढः)... शक्तियुक्त ऐक्य (Power and unity)

(१५) इन्द्रापूषणौ— पोषण (आ-भरण)... शक्तियुक्त पुष्टि (Power and growth)

(१६) इन्द्रासोमौ— ऐश्वर्य–शांति... (चित्रः)... शक्ति युक्त शांति (Power and tranquility)

इस प्रकार ईश्वरके गुणोंको अपने अंदर धारण करने चाहिएँ। इस प्रकार ग्यारह मंत्रोंतक विचार हुआ, अब अगला मंत्र देखना है—

(मंत्र १२)

(७) – जलसे तृप्ति

' दिव्य उदकसे हमारे अभीष्टकी प्राप्ति, हमारा कल्याण, हमारी तृषाशांति और हमारा रोग–निवारण हो। '

जलसे तृषाशांतिका अनुभव सब प्राणिमात्रको है। जलसे रोग निवारण होते हैं, और रोगनिवारण होनाही अभीष्ट प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करने और कल्याणप्राप्तिके मार्गपर चलनेका मुख्य साधन है। जबतक शरीरमें बीमारियां सताती रहेंगी तबतक कोई पुरुषार्थ होना असंभव है। सब पुरुषार्थके लिये आरोग्य और शक्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। वह आरोग्य जलके योग्य उपयोगसे प्राप्त होता है।

उदकके वैदिक सौ नाम निघण्टु अ० १।१२ में दिये हैं उनमेंसे कई नामोंका विचार यहां करनेसे जलके विषयक वैदिक कल्पनाका पता लगेगा। (१ पुरीषं–पुरि–शं) = शरीररूपी पुरी अथवा नगरीमें शं अर्थात् शांति सुख उत्पन्न करनेवाला उदक है। (२ पुरि–इषं) शरीररूपी नगरीका यह इषं अर्थात् अन्न, भोग, उत्साहशक्ति, स्वास्थ्य है। (रेतः) = शरीरका वीर्य जलही है। वीर्यके साथ जलका संबंध है। (३ जन्म) = शरीरमें जननशक्ति उदकके कारण स्थिर रहती है। (४ सु–क्षेम) = उत्तम क्षेम अर्थात् आराम, उन्नति, सुरक्षिता, बुनियाद, शांति, सुख देनेवाला जानो है। (५ धरुणं) = शरीरको धारण करनेवाला जलही है। (६ अ–हिः) = त्यागनेयोग्य नहीं। शरीरमें जलकी आवश्यकता बहुत है इसलिये जलपानका निःशेष त्याग नहीं किया जा सकता। (७ अ–क्षरं) = अविनाशक अर्थात् शरीरका नाश न करनेवाला उदक है। (८ तृप्तिः) = जलसे प्यास बुझती है और तृप्ति होती

है। (९ रसः) = रुचि आस्वादके लिये यही कारण है। (१० भेषजं) उदक औषध है। (११ जलाषं) आराम देने (Healing) वाला यही जल है। सुखशांति यहां देता है। (१२ ओजः) = शरीरका ओज अर्थात् सतेज बल इसी जलके कारण रहता है। (१३ सुखं) = सु अर्थात् उत्तम ख अर्थात् इन्द्रियां अथवा इन्द्रियोंका आरोग्य जलसेही रहता है। (१४ क्ष-त्रं) = 'क्षत्' अर्थात् व्रण, फोडा, फुनसी, तकलीफ आदिसे 'त्र' अर्थात् बचानेवाला उदकही है। (१५ शुभं) = सब शुभ गुण इसके आश्रयसे रहते है। (१६ यशः) = यश भी इसीसे प्राप्त होता है क्योंकि यशके लिये आरोग्य और आरोग्यके लिये जलकी आवश्यकता होती है। (१७ अन्नं) = उदकही अन्न है। (१८ हविः) शरीरके यज्ञमें उदकरूपी हविका हवन होता है। (१९ पवित्रं) = पवित्रता करनेवाला उदक है। (२० अ-मृतं) = अमरपन अर्थात् अपमृत्यु आदिको हटाकर आरोग्यके साथ पूर्ण आयु देनेवाला जल है। (२१ शुक्रं) = वीर्य और बल जलसे प्राप्त होते हैं। (२१ वारि) = सब दोषोंका निवारण करनेवाला उदक है। इस प्रकार जलके नामोंका विचार करनेसे उदकके गुण विदित होते हैं। पाठकोंको चाहिए कि वे सौ नामोंका विचार करके जलके सब गुणोंको जानें। विशेष कर वैद्योंका इसका ज्ञान भली प्रकार हो सकता है। अब देखना है, कि वेदमें जलचिकित्साके विषयमें क्या कहा है–

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥
(ऋ० १।२।१२)

'मुझे सोमने कहा कि, (अप्सु अन्तः) उदकोंमें (विश्वानि भेषजानि) सब दवाइयां हैं। अग्नि सब सुख देनेवाला और पानी सब औषधियोंसे युक्त है।'

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥
(ऋ० १०।१३७।६; अथर्व० ३।७।५; ६।९१।३)

'जल निश्चयसे ही (भेषजीः) औषधी है। जल (अमीवचातनीः) रोगोंको हटानेवाला है। जल सब रोगोंकी दवा है। (ताः ते) वह जल तेरे लिये (भेषजं कृण्वन्तु) दवाई बने॥'

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥
(ऋ० १०।१७।१०; वा य० ४।२; अथर्व० ६।५१।२)

'जलरूपी माताएं (अस्मान्) हम सबको शुद्ध करें; (घृतेन) उदकसे पवित्रता करनेवाले हम सबको पवित्र करें; (देवीः) दिव्य उदक (विश्वं रिप्रं) सब मल निश्चयसे (प्रवहन्ति) बहा देते हैं। (उत् इत्) निश्चयपूर्वक (आभ्यः) इस जलसे (शुचिः पूतः) शुद्ध और पवित्र होकर मैं (एमि) आगे बढता हूं।

इस प्रकार जलके विषयमें वेदमंत्रोंका उपदेश है। इन मंत्रोंको साथ साथ देखनेसे इस बारहवें मंत्रका अर्थ अधिक स्पष्ट हो सकता है। अब अगले मंत्रका विचार करना है—

(मंत्र १४)

(८) निष्कंटक भूमि।

'हे भूमि ! तू हम सबके लिये सुखदायक, निरोगी और विस्तृत आश्रय देनेवाली होकर सुखदायक हो।'

इस मंत्रमें 'अनृक्षरा' शब्द विशेष विचार की दृष्टिसे देखने योग्य है। इसके दो अर्थ होते हैं। (१) अन्-ऋक्षरा अर्थात् कंटकरहित। रहने का स्थान कांटोंसे भरा हुआ न हो। बालबच्चे घूमते रहते हैं, मनुष्य संसार करते हैं, उनको कांटोंका उपद्रव न हो, ऐसी भूमि साफ और शुद्ध रखनी चाहिये। (२) अ-नृ-क्षरा अर्थात् अ-मनुष्य-नाशिनी, मनुष्योंका विनाश न करनेवाली भूमि हो। कई भूमियां ऐसी होती हैं, कि जिसमें बुखार ज्वर आदि रोगोंकी पीडा बहुत होती है, और कई स्थान ऐसे होते हैं कि, जहां आरोग्य और बलकी वृद्धि होती है। रहने-सहनेके लिए स्थान ऐसा होना चाहिए कि, जो बीमारियां उत्पन्न करनेवाला न हो।

'निवेशनी' शब्दका अर्थ बस्ति करके घर बनाकर रहने योग्य भूमि ऐसी हो कि, जहां व्याधियां न हों और घर बनाकर रहने योग्य हो। इसी प्रकारकी भूमिपर रहनेसे सुख शांति और आराम मिल सकता है। देखिए—

पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं
दिव्यात् पात्वस्मान्॥
(ऋ. ७।१०४।२३।१०।५३।५; अथ. ८।४।२३)

'हम सबको पृथिवी पार्थिव पापसे (पातु) रक्षण करे। और अंतरिक्ष आकाशस्थ पापसे बचावे।'

पार्थिवी और आकाशस्थ पापोंका यहां उल्लेख है। पृथ्वीसंबंधी पाप भूमिके कारण होनेवाले रोग हैं और आकाशस्थ पाप हवाके कारण होनेवाले रोग हैं। मंत्रमें 'अंहसः पातु।' ऐसे शब्द हैं। बचाना, दुःख उत्पन्न करना ऐसा

'अंह्' धातुका अर्थ है, जिससे 'अंहस्' शब्द बनता है। अर्थात् अंहस् शब्दका मूल अर्थ 'दुःखदायक विकार' है। पृथिवीके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखदायक विकार और आकाशस्थ वायुके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखदायक विकार ऐसे दो भाग व्याधियोंके होते हैं, जिनका उल्लेख उक्त मंत्रमें है। पृथिवी जल और वायु जहां अच्छा हो वहां ही रहना चाहिए।

यहां मंत्र १३ का विचार हुआ। अब अगले मंत्र देखते हैं—

(मंत्र १४ से १६ तक)

(९) जलसे बल और सुखकी प्राप्ति।

इन तीन मंत्रोंमें जलोंसे निम्न बातें होती हैं, ऐसा कहा है—

(१) मयः– उत्साह, भोग, सुख और आनंद।
(२) ऊर्जः– हिम्मत, शक्ति, बल, तेजस्विता।
(३) रणः– शब्द वक्तृत्व, आराम, स्वास्थ्य, कुशलता।
(रण् शब्दे गतौ च)
(४) चक्षः– तेज, चमकाहट, वृष्टि, दर्शन, दिव्यदृष्टि।
(५) शिव-तमः– अत्यंत कल्याण।
(६) रसः– रुचि, आस्वाद।
(७) क्षयः– निवास, रहना, आरोग्य, गति, गति, हलचल।
(क्षि निवासे)

इतने विशेष महत्वके शब्द इन मंत्रोंमें आये हैं। जलके कारण इतने गुण प्राप्त होते हैं। इन शब्दोंको जलनामोंके साथ तुलना करके देखना चाहिए। जलनामोंका विवेचन मंत्र १२ के स्पष्टीकरणमें किया है। इस प्रकार विचार करनेके पश्चात् अगला शांतिमंत्र देखिए:—

(मंत्र १७)

(१०) सच्ची शांतिकी प्राप्ति।

इस मंत्रमें कहे हुए बाह्य पदार्थोंके साथ किन किन आंतरिक पदार्थोंका संबंध है, इसका विचार निम्न कोष्टकसे होगा:—

बाह्य पदार्थ — आंतरिक भाव

(१) द्यौः— द्युलोक (Light), (स्वः)...मस्तिष्क, मगज (Brain)
(२) अंतरिक्षं (Middle place) (भुवः)..अंतःकरण (Heart)
(३) पृथिवी— (Earth) (भूः) . स्थूल शरीर (Physical body)
(४) आपः— (Water) (आपः) { रुधिर (Blood) रुचि,स्वाद (Taste) प्राण (Life breath)
(५) ओषधयः] (६) वनस्पतयः] (Herbs) (रसः) [अन्न .. (Food) [दवाईयां (Medicines)
(७) विश्वेदेवाः–सर्वे विद्वांसः (ज्योतिः) .. सर्व दिव्यगुण (All the learned) (All good qualities)
(८) ब्रह्म–परमात्मा (ब्रह्म) ... आत्मा और ज्ञान (Supreme spirit) (Soul and knowledge)
(९) सर्वं–सृष्टं जगत् (Creation) (अमृतं)...सब शरीर (पंचकोश) (The whole body)
(१०) शांतिः– (Peace) (ॐ)...समाधान (Tranquility)

इस कोष्टकसे पता लगेगा कि बाह्य जगतमें शांति किन पदार्थोंसे होती है और अपने शरीरमें किन पदार्थोंसे होती है। बाह्य सृष्टिके अंदर जो पदार्थ हैं, उनके अल्प अंश लेकर ही हमारा शरीर बना है। इसलिये जिससे बाहरकी सृष्टिमें शांति होती है, उनके प्रतिनिधिभूत शरीरमें रहनेवाले पदार्थोंसेही शरीरमें शांति होती है। इस प्रकार इस मंत्रपर विचार करना चाहिए।

ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्॥
(—तै. आ. १०।१५।१)

इस तैत्तिरीय आरण्यकमें दिये हुए गायत्रीशिरस्के शब्दोंके साथ उक्त शांतिमंत्रके पदोंकी तुलना करनी चाहिए। तुलना करनेके लिये ऊपरके कोष्टकमें गायत्रीशिरस्के शब्द दिये हैं। अब और प्रकारसे तुलना करनी है:—

[शांतिमंत्र] [गायत्रीशि-] [व्याहृति]
[के शब्द] [रसके शब्द] [के शब्द]
[गायत्रीमंत्र] [देवता]
[के शब्द] [वाचक शब्द]

१ द्यौः...स्वः (आनंद)...स्वः (व्यानः)... देव .. आदित्यः, मित्रः,

२ अंतरिक्षं...भुवः (चित्)...भुवः (अपानः) धियः .. वायुः, वातः

३ पृथिवी ... भूः (सत्) ... भूः (प्राणः) तत्...अग्निः, पूषा,

४ आपः...आप ..
५ ओषधयः] रसः ...जनः......सविता वरुणः,
६ वनस्पतयः] पर्जन्यः (प्र–सविता) सोमः,
७ विश्वेदेवताः ज्योतिः सत्यं .. सत्यं ... विश्वेदेवताः, अर्यमा,
८ ब्रह्म ... ब्रह्म ... महः .. वरेण्यं ... बृहस्पतिः
९ सर्वं .. अमृतं ... तपः ... भर्गः ... इन्द्रः, विष्णुः, सूर्यः, अहः, रात्रीः, उरुक्रमः
१० शांतिः ... ओम् ... ॐ .. अ-उ-म् . अग्निः

पाठकोंको उचित है कि, सब मंत्रोंका पूर्वापर संबंध देखकर तथा शब्दोंका यौगिक अर्थ देखकर इन कोष्टकोंका विचार करें। इन कोष्टकोंके पूर्ण होनेसेही वेद मंत्रोंके अर्थ खुलनेवाले हैं। पाठकोंको चाहिए कि इनपर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करें और इनको शुद्ध और ठीक बनानेका यत्न करें।

इस प्रकार विचार करनेके पश्चात् अगला मंत्र देखिए–

(मंत्र १८)

(११) मित्रकी दृष्टिसे सबको देखना।

'हे सर्व शक्तिमान्, मेरा बल बढाओ। (१) मुझे सब मनुष्य मित्रकी दृष्टिसे देखें। (२) मैं सबको मित्रकी दृष्टिसे देखता हूं। (३) हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें ॥'

इस मंत्रमें तीन अवस्थाओंका वर्णन है (१) पहिली अवस्थामें प्राणि मात्र चाहते हैं, कि अपने साथ सब जगत्का व्यवहार मित्रत्वके साथ हो। सब दूसरे लोग मेरा हित करें, मेरे फायदेके लिये मरें, स्वयं कष्ट उठाकर मुझे सुख दें. मेरे साथ मीठा भाषण करें आदि। सब यही चाहते हैं।

(२) परंतु जिस समय मनुष्य थोडासा प्रबुद्ध होता है, उस समय उसको ज्ञान होता है कि, दूसरे तबतक मेरे साथ वैसा अच्छा बर्ताव नहीं करेंगे जबतक कि मैं उनके साथ वैसा अच्छा बर्ताव न करूं। इसलिये वह इस द्वितीय अवस्थामें अपना सुधार करनेके लिये सिद्ध होता है कि मैं दूसरोंके साथ वैसा बर्ताव करूंगा कि जैसा मेरे साथ दूसरोंको करना चाहिए। मैं मित्रकी दृष्टिसे सबकी ओर प्रथम देखता हूं। क्योंकि जबतक मैं सबका मित्र नहीं बनूंगा, तबतक सब मेरी मित्रता करनेके लिये नहीं आयेंगे। सबको मित्र बनानेके लिये पहिला प्रारंभ मेरेसे होना है। दूसरोंको बुरा भला कहनेसे कोई लाभ नहीं, जबतक मैं वैसा नहीं बनूंगा। मेरे सुधारपर सबका सुधार है। मुझे प्रथमतः उचित है कि, मैं सबसे पहिले दूसरोंकी सहायता करूं, मैं अपने ऊपर कष्टोंको लेकर दूसरोंको सुख पहुंचाऊं, मैं सबके साथ मीठा भाषण करूं और सबको मित्रकी दृष्टिसे देखूं। इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य अपनी त्रुटियोंको दूर करनेकी तैयारीमें लगता है। वह दूसरोंको दोष नहीं देता, परंतु स्वयं दिनरात अपनी शुद्धिमें लगता है। और जो अच्छा नियम ज्ञात हुआ होगा उसको अमलमें लाने लगता है।

जो पहिली अवस्थामें दूसरोंको अपना सेवक बनाना चाहता था। वही दूसरी अवस्थामें जनताकी सेवा करनेके लिये खडा होता है। पहिली अवस्थामें यह अपने आपको सब जगतका प्रभु समझता था, इसलिये सब इसका द्वेष करते थे। परंतु दूसरी अवस्थामें यह जनताका सेवक बनतेही सब इसका आदर करने लगते हैं।

(३) इन दोनों अवस्थाओंके अनुभव लेनेके पश्चात् उसको तीसरी अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्थामें जानेके समय उसको ज्ञान होता है, कि, केवल दूसरोंने मेरी ओर मित्रकी दृष्टिसे देखा, अथवा केवल मैंने अन्योंकी ओर मित्रकी दृष्टिसे देखा, तो कार्य नहीं होगा। दोनोंकी परस्पर मित्रताकी दृष्टि चाहिये। यदि अन्य सब मेरा हित करने लगेंगे और मैं उनकी बिलकुल पर्वाह न करूंगा, तो द्वेष बढेगा। तथा मैं दूसरोंके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने लगूं, परंतु दूसरे मेरी कोई पर्वाह न करेंगे, विपत्ति बनी रहेगी। इसलिये समाजके सार्वजनिक हितके लिये अत्यंत उत्तम अवस्था यही है कि, मैं और अन्य सब मिलजुलकर परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें, परस्पर हित करें, और परस्परकी सहायता एक दूसरा करता रहे।

ये तीन अवस्थाएं मंत्रोंके तीन विभागोंमें कहीं हैं। पाठकोंको उचित है कि, वे इनको अच्छी प्रकार विचारकी दृष्टिसे देखें। मित्रताके विषयमें वेदोंमें कहे हुए उपदेश देखने योग्य हैं–

परमेण धाम्ना दृंहस्व। (वाज. सं. यजु. १।२)

'श्रेष्ठ तेजस्विताके साथ मेरा बल बढाओ' तथा–

उत्तिष्ठत संनह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ॥
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥
(अथर्व० ११।९।२)

+

'उठो और (संनह्यध्वं) अपनी तैयारी करो। परस्पर मित्र होनेके कारण आप (देव-जनाः) देवोंके समान मनुष्य हैं। हे (अर्बु-दे) गति देनेवाले! हलचल करनेवाले! (वः नः) आपके और हम सबके (यानि मित्राणि) जो सब मित्र हैं, वे (गुप्ताः) अच्छी प्रकारसे सुरक्षित हुए (सं-दृष्टाः सन्तु) दीखते रहें।'

इस मंत्रमें जो परस्पर मित्र बनकर एक संघशक्तिसे रहते हैं, वे देवजन (देव मनुष्य)- दिव्य लोग होते हैं, ऐसा जो कहा है, वह बहुत मनन करने योग्य है। और देखिए—

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसमानस्य सश्चिरे॥
(ऋ. ५।६४।३)

निश्चयसे उत्तम गतिको (अश्यां) प्राप्त हों, इसलिये मित्रके (पथा) मार्गसे मैं (यायां) चलता रहता हूं। इस (अहिंसमानस्य मित्रस्य) कष्ट न पहुंचानेवाले मित्रके (शर्मणि) रक्षण और सुखमें (सश्चिरे) चलते हैं।' इस मंत्रमें मित्रके मार्गसे चलनेके लिये कहा है। तथा—

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि।
द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम्॥ ऋ० ३।५९।६॥ यजु०-
११।६२॥ तै० सं० ३।४।११।५॥ मै० सं० १।५।४॥

(चर्षणी-धृतः) उद्यमशील मनुष्योंको धारण करनेवाले (देवस्य) दिव्य (मित्रस्य) मित्रका (अवः) रक्षण (चित्र श्रवः तमं) विलक्षण यशवाला (द्युम्नं) तेजस्वी (सानसि) विजयरूप होता है।' इस मंत्रमें 'चर्षणीधृतः मित्रस्य' इन पदोंद्वारा मित्रता लोगोंको एक संघमें लानेवाली है ऐसा ध्वनित किया है। और इस प्रकारकी मित्रता यशका दान करनेवाली है ऐसा भी कहा है। तथा—

तवाऽहमग्न ऊतिभिर्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः॥
द्वेषो युतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्॥
(ऋ० ५।९।६)

'हे तेजस्विन्! तेरे (ऊतिभिः) रक्षणोंके और मित्रकी (प्रशस्तिभिः) सहायताओंके साथ युक्त होते हुए (मर्त्यानां) मरणशील मनुष्योंके (द्वेषः न दुरितानि) परस्परके द्वेषको, पापोंके समान [तुर्याम] त्वरासे दूर करेंगे।' इस मंत्रमें हलचल और मित्रभावके फैलाने से आपसके झगडे दूर हो सकते हैं यह भाव है। इस मंत्रके साथ मैत्रायणी संहिताके मंत्र देखिये—

१ मित्रस्य वश्चक्षुषा प्रेक्षे॥ मै० सं० १।१।५॥,
२।३।२॥, ४।१।५॥
२ मित्रस्य वश्चक्षुषाऽवेक्ष्ये॥ मै० सं० १।१।७॥
१।४।६॥ ४।१।७॥, ४।९।१६॥
३ मित्रस्य वश्चक्षुषा समीक्षामहे॥
मै० सं० ४।९।२७॥ ४।१४।०७॥

'[१] मित्रके समान दृष्टिसे [प्रेक्षे] मैं देखता हूं। [२] मित्रके समान दृष्टिसे (अवेक्ष्ये) मैं देखता हूं [३] मित्रके समान दृष्टिसे [समीक्षामहे] सब देखें।' तथा गृह्यसूत्रोंमें—

मित्रस्य चक्षुर्धरुणं बलीयः।
शां. गृ. २।१।३०॥ पारा० गृ० २।२।१०॥

'मित्रकी दृष्टि सबका धारण करनेवाली और बल देनेवाली है।' इस प्रकार मित्रदृष्टिका वर्णन इस मंत्रके साथ देखने योग्य है। अब अगला मंत्र देखिए—

मंत्र १९

(१२) परमेश्वरकी जागृतिके साथ जीवन व्यतीत करना।

'हे शक्तिमन् ईश्वर! मुझे आत्मिक बल दे, ताकि मैं तुझे सर्वत्र साक्षात् देखता हुआ, बहुत समयतक उत्तम जीवन व्यतीत करूं।'

परमेश्वर सर्वव्यापक है। उसको सर्वत्र देखने और अनुभव करनेवाला मनुष्य बुरा कार्य नहीं कर सकता। बुरा कार्य न होनेसे पापमें डूबता नहीं। अर्थात् परमेश्वरका सर्वत्र अनुभव करनेवाला मनुष्य प्रतिदिन उन्नत होता है। और ऐसे मनुष्योंका समाज कभी अवनत नहीं होता।

परमेश्वर सर्वसाक्षी सर्वद्रष्टा है, मेरे मनके व्यापार भी वह जानता है। उसको विदित न करता हुआ, कोई कार्य किसी स्थानपर मैं नहीं कर सकता, इसलिये मुझे उचित है कि, मैं सदा सर्वदा उत्तम कर्महो करता रहूं।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
(य. वा. सं. ४०।१।बृहत्पराशरसं. ९।२१४)

'(जगत्यां जगत्) इस परिवर्तनशील जगतमें जो कुछ पदार्थमात्र है। उसमें (ईशा) परमेश्वर बसता है। दान किये हुए उस जगत्का भोग करो। लालच न करो। भला धन

किसका है ! ' इस मंत्रको इस मंत्रके साथ पढनेसे बहुत अच्छा उपदेश मिल सकता है। इस प्रकार १९ वे मंत्रका विचार हुआ; अब अगले मंत्र विचारने हैं:-

(मंत्र २० और २१)

इन दो मंत्रोंमें जो परमेश्वरके नाम और विशेषण आये हैं उनका विवेचन —

(१) हरसे= (हरः, हरस्) = हरणकर्ता, आपत्तियोंका नाश करनेवाला, तेजस्वी, बलवान् ।

(२) शोचिषे= (शोचिः, शोचिष्) =तेजस्वी, शुद्धकर्ता।

(३) अर्चिषे= (अर्चिः, अर्चिष्) = प्रकाशरूप, पूजनीय।

(४) पावकः= पवित्रता करनेवाला ।

(५) शिवः= कल्याणरूप ।

(६) विद्युते= (वि–द्युते)= विशेष तेजस्वी ।

(७) स्तनयित्नवे= शब्द करनेवाला, शब्दोंका दाता, वाणीका दाता।

(८) भगवन्= (भग-वन्)= ऐश्वर्यवान् ।

(९) स्वः= (स्वर्, सुवर्, सुवर्ग) = प्रकाश, तेजस्वी, आनंदमय ।

इन शब्दोंके द्वारा परमेश्वरका स्वरूप वर्णन किया है। पहिले मंत्रमें कहा है कि, जो दुष्टताका नाश करनेवाला, शुद्ध और पूज्य है उसको नमस्कार है। ईश्वरका दण्ड हम सबको छोडकर दूसरोंपर चले। परमेश्वर हमारा कल्याण करे। ' इस मंत्रमें ईश्वरका दण्ड हमारे ऊपर न चले परंतु दूसरोंपर चले ऐसा कहा है। मंत्रमें ' अस्मत्, अन्य ' ऐसे दो शब्द हैं। ' अस्–मत् ' (अस्ति–मत्) शब्द आस्तिक अर्थात् परमेश्वर भक्तोंका बोध करनेके लिये है। धार्मिक सदाचारी ईश्वरवादी सज्जनोंका बोध यह शब्द करता है। इन्हींको ' आर्य ' कहते हैं। इनको छोडकर जो ' अन्य ' अर्थात् अनार्य होते हैं अर्थात् जो अधार्मिक, दुराचारी और नास्तिक होते हैं, उनका बोध यहांका ' अन्य ' शब्द कर रहा है। इन्हींको ' दस्यु ' वेदोंमें कहा है।

आर्य और दस्यु कोई नियत जातियां नहीं हैं। सदाचारी सज्जनोंको आर्य और दुराचारी दुष्टोंको दस्यु कहते हैं। प्रत्येक समाजमें ये दो प्रकारके मनुष्य रहते ही हैं। इन्हींका दूसरा नाम देव और राक्षस आदि है जिनका बोध निम्न कोष्टकसे होगा —

(अस्मत्, अस्मदीय, अस्तिमत्, आस्तिक)	(अन्य, पर, भ्रातृव्य, सपत्न)
आर्य	दस्यु
Honourable, Noble	Impious
देव	रक्षस
Brilliant, learned	Evil–minded
सुर	अ–सुर
Divine, sage	Evil-genius
अमर	मर
Immortal	Decaying
विबुध, बुध	अप्रबुद्ध, अ-बुध
Awakened, clever	In–attentive
सुमनस	दुर्मनस्क
Benevolent	Melancholy
आदित्य	दैत्य
Belonging to (अदिति) Freedom	Coming from (दिति) Bondage
अस्वप्न	स्वप्नशील
Watchful	Sleepy

इन शब्दोंको देखनेसे आर्य और दस्युओंका ठीक विचार हो सकता है। दस्युके और निम्न लिखित लक्षण हैं—

दस्यु— (अ–श्रद्ध) श्रद्धा न रखनेवाला, (अ–यज्ञ) यज्ञ न करनेवाला, (अ–यज्यु) भक्तहीन, (अ–पृणत्) असंतुष्ट, (अ–व्रत) नियमोंके विरुद्ध चलनेवाला, (अन्य-व्रत) हीन कर्म करनेवाला, (अ–कर्मन्) आलसी, (वि-कर्मन्) विरोधके कर्म करनेवाला, (अधर) नीच वृत्ति-वाला, (अ-मनुष) मनुष्यताहीन (inhuman) कर्म करनेवाला । इस प्रकारका दस्यु होता है।

आर्य— श्रद्धासे कर्म करनेवाला, यज्ञ करनेवाला, भक्तिमान्, संतुष्ट, नियमानुकूल चलनेवाला, उच्च कर्म करनेवाला, उद्यमशील, मिलापके कर्म करनेवाला, उच्च मनोवृत्तिवाला, मनुष्यत्वके लिये अत्यंत योग्य कर्म करने-वाला जो होता है, उसको आर्य कहते है।

इन लक्षणोंको देखनेसे पता लगेगा कि, आर्य और दस्यु कोई जातियां नहीं हैं, परंतु मनके संस्कारोंसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके मनुष्य ही हैं। अस्तु। इस मंत्रमें ' अस्मत् और अन्य ' शब्दोंसे जो अर्थ विवक्षित है उसका निश्चय इस विवरणको देखनेसे होगा।

अगले २१ वे मंत्रका भाव यह है कि, 'तेजस्वी, शब्द-कर्ता, ऐश्वर्यवान् और स्वकीय आनंदसे आनंदित रहनेवाले ईश्वरको हमारा नमस्कार है।' उस एक अद्वितीय परमात्माकी पूजा यहां विवक्षित है। किसी दूसरेकी पूजा नहीं करनी, परंतु केवल उसी जगन्नियन्ता प्रभूकी पूजा करनी है।

अब २२ वां मंत्र देखिए—

(मंत्र २२)

(१४) अभय-प्रदान।

'हे ईश्वर ! जहां तू है वहांसे हम सबको अभय प्रदान कर। हमारी प्रजाका, हमारे पशुओंका और हम सबका कल्याण कर।'

परमेश्वर सर्वत्र है इसलिये सब स्थानोंसे हम सबको अभय प्राप्त हो। किसी स्थानसे हमें भय न हो। हम सब निर्भय होकर धर्मका कार्य करते रहें। धर्मका अनुष्ठान यथास्थित होनेके लिये निर्भयताकी अत्यंत आवश्यकता है। बिना निर्भयताके कोई भी धर्मका मार्ग आक्रमण नहीं कर सकता। भयभीत मनुष्य धार्मिक कार्य नहीं कर सकता।

स्वस्ति, शांति और निर्भयता इन तीन गुणोंसे धर्मका क्षेत्र पालन किया जाता है। स्वस्तिसे आरोग्य, शांतिसे समाधान और निर्भयतासे सतत उद्योग सिद्ध होता है। जबतक व्याधियां, चंचल मनोवृत्ति और भय रहेगा तबतक धर्ममार्गपर चलना असंभव है। इसलिये स्वस्थ शरीर, शांत चित्त और निर्भय मन होनेकी आवश्यकता है। अधर्मसे चलनेके कारण जो सुखका बडा आभास प्राप्त होनेकी संभावना उत्पन्न होती है, उससे मनको रोकना बडा कठिन है। धैर्यशाली निडर मनुष्यही इसको रोक सकता है। इसलिये निर्भयताकी बडी आवश्यकता है। निर्भयता भी धर्म-विश्वासका एक फल है। अभयके विषयमें निम्न वाक्य देखने योग्य है—

अभयं वो अभंय नोऽस्तु ॥ (ऐ० ७।१२।८ ॥
आ० श्रौ०२।५।१९ ॥ शां० श्रौ० २।१४।१)

'आपके लिये अभय और हम सबके लिये अभय हो।' अर्थात् आप और हम सब निर्भय होकर धर्माचरण करें। और—

अभयं द्यावा-पृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः
सविता नः कृणोतु ॥ अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं
सप्त ऋषीणां च हविषाऽभयं नो अस्तु ॥
(अथर्व० ६।४०।१)

'द्यावापृथिविसे यहां हम सबको अभय हो, सोम और सविता हम सबके लिये अभय करे। महान् अंतरिक्ष हम सबको अभय देवे और सप्त ऋषियोंके हविसे हम सबको अभय प्राप्त हो।' द्यावापृथिव्यादि पदार्थोंसे सृष्टिमें तथा शरीरमें जो भाव विवक्षित हैं उनका ज्ञान निम्न कोष्टकसे होगा—

वैदिक	बाह्यपदार्थ	आंतरिक्ष पदार्थ
[१] द्यौः (द्युलोक)……	प्रकाश………	मस्तिष्क और विचारशक्ति
[२] पृथिवी (भूलोक)…	स्थूलभूत……	स्थूल शरीर और इन्द्रियां
[३] सोम (चंद्रलोक)…	चंद्र और वनस्पति…	मन और अन्न
[४] सविता (सूर्यलोक)…	सूर्य (प्रसविता)…	तेजस्विता और जननशक्ति
[५] अंतरिक्षं (भुवर्लोक)…	मध्यलोक ……	अंतःकरण-चतुष्टय
[६] सप्त ऋषयः……	सप्ततत्व…	२ आंख २ कान, २ नाक १ जिव्हा-युक्त मुख अथवा सप्त धातु, सप्त प्राण

इनसे अंदरका और बाहरका अभय हो अर्थात् किसीको भी भय उत्पन्न न हो। तथा—

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे
इमे ॥ अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधराद-
भयं नो अस्तु ॥ ५ ॥ अभयं मित्रादभयममित्राद-
भयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ॥ अभयं नक्तमभयं
दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ ६ ॥
(अथर्व० १९।१५)

'हम सबके लिये अंतरिक्ष और द्यावा-पृथिवी अभय प्रदान करें। पीछेसे, आगेसे, ऊपरसे और नीचेसे हम सबके लिये अभय होवे ॥ ५ ॥ मित्रसे, [अमित्रात्] शत्रुसे, ज्ञात पदार्थसे और अज्ञात पदार्थसे हम सबके लिये अभय होवे। रात्रीके समय हम सब निर्भय होकर रहें और सब दिशामें रहनेवाले हमारे मित्र बनकर रहें।' तथा—

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः ॥
—बौधाय० ध० शा० २।१०।१७।२९॥

'मेरेसे सब भूतोंके लिये अभय है—' अर्थात् मैं किसीको आजसे कष्ट नहीं दूंगा। यह सबका अभय करनेका प्रारंभ

है। सब अच्छे कार्योंका प्रारंभ अपनेसे ही होना चाहिए। दूसरेको प्रेरणा करनेकी अपेक्षा स्वयं उत्तम कर्म करना आसान और अच्छा है। अस्तु। इस प्रकार २२ वे मंत्रका विचार हुआ, अब २३ वां मंत्र देखेंगे—

(मंत्र २३)

(१५) जनताका द्वेष करनेवालेका नाश।

'जल और वनस्पतियां हम सबको लाभदायक हों। परंतु जो अकेला दुष्ट हम सबसे द्वेष करता है और हम सब जिस एकसे द्वेष करते हैं, उनको जल और वनस्पतियां हानिकारक हों।'

इस मंत्रमें एक बडे समाज नियमका उपदेश किया है। अल्पपक्ष और बहुपक्षका परस्पर बर्ताव कैसा होना चाहिए, इस विषयका विचार इस मंत्रने किया है। एकको उचित नहीं कि वह सबका द्वेष करे। जो एक सब दूसरोंका द्वेष करता है, और जिस एकको सब दूसरे बुरा कहते हैं वह दण्डनीय होता है।

इस मंत्रमें 'हम' [अस्-मत्] शब्द आस्तिक, धर्मात्मा, सदाचारियोंके लिये आया है, और 'यः' [जो] शब्द अधार्मिक, दुष्ट, फिसादी दस्युके लिये आया है, अर्थात् उक्त मंत्रका भाव यह हुवा कि 'एक दुष्ट मनुष्य हम सब धार्मिकोंसे द्वेष करता है इसलिये हम सब धार्मिक पुरुष उक्त एक दुष्टसे द्वेष करते हैं। इसलिये उसका अहित होवे।

मंत्रमें '(१) यो अस्मान् द्वेष्टि' [जो हम सबोंका द्वेष करता है] यह वाक्य दूसरे '(२) यं वयं द्विष्मः।' [जिसका हम सब द्वेष करते हैं] इस वाक्यका कारण है। अर्थात् हम सब उस दुष्टसे इसलिये द्वेष करते हैं कि वह प्रथम हम सबसे द्वेष करता है। यदि वह सबसे द्वेष न करता तो हममेंसे कोई भी उससे द्वेष न करता। वह एक आदमी झगडा डालता है, इसलिये हम सबको आवश्यकता होती है कि उसको अलग करें।

एकको अपनी उन्नति सबकी उन्नतिमें समझनी चाहिए। सबकी अवनतिके साथ एकको अपनी अवनति समझनी चाहिए। समाजको बिगाडकर समाजका अहित करके, सब जातिको कष्ट देकर किसी एकका अपनाही लाभ करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

अल्प संख्यावाले पक्षको उचित नहीं कि, वह सब राष्ट्रका अहित करके अपने लाभका साधन करें। और बहुसंख्यावाले पक्षको भी उचित नहीं कि अपनी संख्याके जोरसे अल्पसंख्यावालोंको दबालें।

'जल और औषधियां हम सबको लाभदायक हों।' इस पहिले कथनमें सबको लाभ होनेकी ही प्रार्थना है। परंतु यदि कोई ऐसा दुष्ट मनुष्य समाजमें उत्पन्न हुआ कि, जिसके कारण सब समाजको कष्ट होनेकी संभावना हो, तो उसका निवारण सबको मिलकर करना चाहिए। अस्तु। इस प्रकार इस मंत्रपर विचार करना चाहिए। इस मंत्रके साथ निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य याच्छ्रेष्ठाभि-
र्मघवञ्छूर जिन्व॥ यो नो द्वेष्ट्यधरः।
सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु॥
—ऋ० ३।५३।२१॥

'हे इन्द्र! आज बहुत (ऊतिभिः) रक्षणोंके साथ (नः) हम सबके पास आओ। और श्रेष्ठताओंके साथ, हे शूर (मघ-वन्) ऐश्वर्यवान्, हम सबको (जिन्व) आगे बढाओ। जो हमारा (द्वेष्टि) द्वेष करता है उसको (अधरः) नीचे (सस्पदीष्ट) दबाओ और (यं उ) जिसका हम सब द्वेष करते हैं वह प्राण छोड दे अर्थात् वह मर जावे।' तथा—

अजैष्माद्यासनाम चाऽभूमानागसो
वयम्॥ जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो
यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु। यो नो द्वेष्टि
तमृच्छतु॥ (ऋ० १०।१६४।५)

'आज हम सब (अजैष्म) विजय करे और प्रबल होवें। तथा (अन् आगसः) निष्पाप और निष्कलंक होवें। (पापः संकल्पः) पापमय विचार जो जागृत अवस्थामें और (स्वप्नः) निद्राकी अवस्थामें उत्पन्न होता है वह (तं ऋच्छतु) उसके पास जावे कि (यं द्विष्मः) जिससे हम सब द्वेष करते हैं। जो हम सबसे द्वेष करता है उसके पास वह पापका विचार चला जावे।' हमारे पास कोई पापी विचार न रहे।

इन मंत्रोंको इस २३ वे मंत्रके साथ विचारना चाहिए। अब अगला मंत्र देखिए—

(मंत्र २४)

(१६) ज्ञानदृष्टिका उदय और दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति।

(१) 'ज्ञानियोंका हित करनेवाली वह शुद्ध दिव्य-दृष्टि पहिलेसेही उदयको प्राप्त हुई है।'

ज्ञानदृष्टिके उदयसेही सब कुछ उन्नति होती है। दिव्य-दृष्टि, ज्ञानदृष्टि, ज्ञान नेत्र ये सब एक अर्थवाले शब्द हैं। ज्ञानियोंका श्रेष्ठत्व इसी ज्ञान नेत्रके खुलनेसे होता है। इस दिव्यदृष्टिका परमेश्वर-शक्ति और परमेश्वर-कृपाके साथ घनिष्ठ संबंध है। सब दिव्य तेजका उदय उसीसे होता है। इसलिये कहा है कि दिव्यज्ञान पहिलेसेही उदय हुआ है।

सूर्यका उदय होनेपर भी लोगोंको जलदी उठकर अपने कार्य करने चाहिए। इसी प्रकार ज्ञानचक्षुका उदय होनेपर भी उससे सहायता लेनी मनुष्योंके पुरुषार्थपर निर्भर है। यदि मनुष्य पुरुषार्थहीन होंगे, तो ज्ञानचक्षुके उदय होनेसे कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये कहा है कि यह दिव्यचक्षु ज्ञानियोंका अर्थात् देवोंका हित करनेवाला है। अन्योंका हित उस दिव्यचक्षुसे भी नहीं होता।

देव उसको कहते हैं कि जो विजयशील, विजिगीषु, व्यवहारदक्ष, तेजस्वी, आनंदित, पुरुषार्थी, परोपकारी और विद्वान् होते हैं। ऐसे पुरुषोंका हित दिव्यचक्षु द्वारा होता है। यह भाव 'देव-हितं चक्षु' का है। यह आशय ध्यानमें रखकर, उक्त दिव्यगुणोंका धारण करके, ईश्वरीय दिव्य-ज्ञानदृष्टिसे अपनी उन्नतिका साधन करना हरएकको उचित है।

'सौ वर्षपर्यंत देखें; जीते रहें, सुनते रहें, प्रवचन करते रहें, अदीन होकर रहें, इतनाही नहीं, परंतु सौ वर्षोंसे भी अधिक जीते रहें,' और अदीन रहकर पुरुषार्थ करते रहें। यह भाव इस मंत्रके उत्तरार्धका है।

'सौ वर्ष देखते रहें' इसका अर्थ-आंखकी दर्शनशक्ति सौ वर्षतक बराबर ठीक कार्य करनेके लिये योग्य रहे। ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जिससे अल्प आयुमें नेत्रोंका शक्ति क्षीण न हो सके।

'सौ वर्ष जीते रहें' इसका तात्पर्य इतना है कि हम अपमृत्युसे न मरें। सौ वर्ष होनेके पश्चात् स्वाभाविक मृत्युसे मरण हो। ब्रह्मचर्यादि धार्मिक नियमोंका यथायोग्य पालन तथा आहार, विहार व्यायाम आदिका यथायोग्य सेवन करनेसे दीर्घ आयु हो सकती है।

'सौ वर्ष सुनते रहें' -- कानकी श्रवणशक्ति सौ वर्षतक उत्तम अवस्थामें रहे। देखना और सुनना इन दो शक्तियोंका मंत्रमें उल्लेख है। अन्य इंद्रियोंकी अन्य शक्तियां भी सौ वर्ष पर्यंत अच्छी अवस्थामें रहें, यह आशय यहां है। पांवमें चलनेकी शक्ति, हाथोंमें कार्य करनेकी शक्ति, पेटकी पाचन-शक्ति, मनकी मनन शक्ति, हृदयकी भक्ति आदि सब सौ वर्षपर्यंत उत्तम अवस्थामें रहे। किसी शक्तिका नाश थोडी आयुमें न हो, यह तात्पर्य यहां समझना चाहिए।

'सौ वर्षतक प्रवचन अर्थात् भाषण करते रहें। अर्थात् हमारी वक्तृत्वशक्ति हमारे पास सौ वर्षपर्यंत उत्तम अवस्थामें रहे।

'सौ वर्षतक अदीन होकर रहें' इंद्रियोंकी शक्ति क्षीण होनेसे शारीरिक हीनता उत्पन्न होती है। और सामाजिक राजकीय और जातीय अवस्था बिगडनेसे सामाजिक बंधनके कारण पारतंत्र्य होता है, जिससे मनुष्य दीन और हीन होता है। इसमेंसे किसी प्रकार भी हीनता हमारे पास न आवे। हम सदा बलवान्, उत्साही, पुरुषार्थी, स्वतंत्र और आनंद-वृत्तियुक्त रहते हुए अपना कर्तव्यपालन सदा करते रहें।

'सौ वर्षसे भी अधिक' जीते रहकर आमरणान्त पुरुषार्थ करते रहें। यहां कोई यह न समझे की मनुष्यकी आयु केवल सौ वर्षकी ही है। सौसे अधिक वर्षतक मनुष्य जिवा रह सकता है। मनुष्योंका व्यक्तिशः और संघशः प्रयत्न आयुष्यवृद्धिके लिये होना चाहिए।

इस मंत्रमें कही हुई बातें पुरुषार्थसे होनेवाली हैं। यदि मनुष्य धर्म नियमोंके अनुकूल पुरुषार्थ करेंगे तो इनकी प्राप्ति हो सकेगी। धर्मके नियम इसीलिये हैं। ये बातें सबको प्राप्त हो सकती हैं, ऐसा समझकर सब लोगोंको इनकी प्राप्तिके लिये अहर्निश पुरुषार्थ करना चाहिए। क्योंकि पुरुषार्थसेही सब उन्नतिकी प्राप्ति हो सकती है।

इसलिये सबको उचित है कि, बचपनसेही अपने इंद्रियोंको बलवान् बनाकर, उनसे अत्याचार न करते हुए, धार्मिक जीवन व्यतीत करके, वृद्ध अवस्थातक अपनी सब शक्तियां ठीक रखनेका यत्न करें। यत्न करनेसे सब कुछ साध्य होता है। केवल बातें करनेसे सिद्धि नहीं होती। अब अंतमें वैदिक प्रार्थना करके इस अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय
आयुः प्रतरं दधानाः। आप्यायमानाः
प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत
यज्ञियासः॥ (१०।१८।२)
(तै० आ० ६।१०।२; मा० गृ० २।१।१७)

‘ (मृत्योः पदं) मृत्युके पांवको (योपयन्तः) परे ढकेलते हुए (यदा) जब आप (द्राघीय आयुः) दीर्घ आयुष्यको (प्र-तरं) अधिक लंबा बनाकर (दधानाः) धारण करते हुए (एत) चलेंगे अर्थात् अपना पुरुषार्थ करेंगे तब (आप्यायमानाः) अभ्युदयको प्राप्त होते हुए (प्रजया धनेन) प्रजा और धनसे युक्त होकर, और (यज्ञियासः) पूजनीय बनकर (शुद्धाः पूताः) शुद्ध और पवित्र (भवत) बनेंगे।’ इसी मंत्रके सदृश अथर्ववेदका मंत्र भी देखने योग्य है—

> कश्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः । आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ (अथर्व० १८।३।१७)

‘ [क-श्ये] आत्माकी छाननीमें [मृजानाः] शुद्ध बनकर [रिप्रं] अशुद्धि, मल अथवा अपमृत्युको [अति यंति] धोकर परे जाते हैं। और [नवीयः प्रतरं आयुः] नई दीर्घ आयुको [दधानाः] धारण करते हैं। [अध-अथ] पश्चात् हम सब [प्रजया धनेन] प्रजा और धनके साथ [आप्यायमानाः] अभ्युदयको प्राप्त होते हुए, [गृहेषु] अपने घरोंमें [सुरभयः] सुगंधिरूप बनकर [स्याम] रहें।’

आत्माकी चलनीमें अपने आपको छानकर पवित्र बनाना है। क्योंकि अपने दोषोंका अपने आपको ही पता होता है, इसलिये अपना सुधार अपने आपको ही करना चाहिये। यदि मनुष्य अपनी शुद्धि स्वयं न करेगा तो कोई दूसरा नहीं कर सकता।

मलोंको अर्थात् दुष्टताको दूर करनाही व्यक्तिका और समाजका सुधार है। मकानोंमें अथवा जातिमें सुगंध रूप बनकर रहना चाहिये। सुगंधके पास सब आते हैं, दुर्गंधके पास कोई नहीं जाता। अपने घरमें, जातिमें अपने राष्ट्रमें सुगंध रूप होकर रहना चाहिए, अर्थात् सबको आकर्षित करके सबको उन्नत करना चाहिए। और इस पवित्र कार्य करनेके लिये अपना आयुष्य बहुत बढाना चाहिए।

अस्तु। इस अध्यायका प्रत्येक मंत्र अद्भुत अर्थोंका प्रकाश कर रहा है। पाठक एक एक मंत्रका अच्छा विचार करके, देवके, गुह्य आशयको समझकर उस ज्ञानसे अपना आचरण सुधारकर, अपनी और समाजकी उन्नतिका साधन करनेमें तत्पर हों।

ॐ (व्यक्तिकी) शांतिः ॥ (जनताकी) शांतिः ॥
(जगत्की) शांतिः ॥

॥ छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आ द॑दे॒ नारि॑रसि ॥ १ ॥

यु॒ञ्जते॒ मन॑ उ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑ ।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः ॥ २ ॥

देवी॑ द्यावापृथिवी म॒खस्य॑ वाम॒द्य शिरो॑ राध्यासं दे॒वयज॑ने पृथि॒व्याः ।
म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ ३ ॥

दे॒व्यो॑ वम्र्यो भू॒तस्य॑ प्रथम॒जा म॒खस्य॑ वो॒ऽद्य शिरो॑ राध्यासं दे॒वयज॑ने पृथि॒व्याः ।
म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ ४ ॥

[१८९७] हे अग्नि ! (सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देवकी आज्ञामें रहकर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्विनौ देवताकी भुजाओं और (पूष्णः हस्ताभ्यां त्वा आददे) पूषा देवताके दोनों हाथोंसे तुमको ग्रहण करता हूं । तुम (नारिः असि) नाश न करनेवाले हो ॥ १ ॥

नारिः— न+अरिः — जो शत्रु नहीं है ।

अश्विनोः बाहुभ्यां त्वा आददे— अश्विनोंके बाहुओंसे तुम्हारा ग्रहण करता हूं । अश्विनौ नामक वैद्योंके हाथ आरोग्य देनेवाले हैं ।

पूष्णोः हस्ताभ्यां त्वा आददे— पूषा देवताके हाथ पुष्टिकारक है । पुष्टि करनेवाले हाथोंसे मैं तेरा ग्रहण करता हूं ॥१॥

[१८९८] हे मननशील लोगो ! जो (वयुनावित् एकः विदधे) उत्कृष्ट ज्ञानी अद्वितीय जगदीश्वर सब विश्वको विशेष रीतिसे धारण करता है, जिस (सवितुः देवस्य मही परिष्टुतिः) प्रेरक अन्तर्यामी देवकी बडी विस्तृत प्रशंसा होती है, और (होत्राः विप्राः, बृहतः विपश्चितः विप्रस्य मनः युञ्जते) यज्ञ करनेवाले विद्वान जिस सबसे बडे अनन्त ज्ञानवाले सर्वज्ञ व्याप्त परमेश्वरमें अपने मनको स्थिर करते हैं (उत धियः युञ्जते) और अपनी बुद्धियोंको उसी परमात्माके ध्यानमें लगाते हैं, (इत्) ऐसे परमात्माकोही तुम लोग भी उपासना किया करो ॥ २ ॥

[१८९९] हे (देवी) तेजस्वीनी (द्यावा पृथिवी) द्यावा भूमि ! (अद्य पृथिव्याः देवयजने वां मखस्य शिरः राध्यासम्) आज पृथ्वीके देवयज्ञके इस स्थानमें तुम दोनोंको यज्ञके मुख्य स्थानमें सम्यक् रीतिसे स्थापन करता हूं तथा (मखाय त्वा) यज्ञके लिये तुमको ग्रहण करता हूं, और (मखस्य शीर्ष्णे त्वा) यज्ञके उत्तम स्थानमें तुमको स्थापन करता हूं ॥ ३ ॥

[१९००] हे (प्रथमजाः वम्र्यः देव्यः) पहले से हुई थोडी अवस्थावाली श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त देवियो ! (भूतस्य मखस्य पृथिव्याः देवयजने अद्यः वः शिरः राध्यासम्) प्राणियोंके कल्याणार्थ यज्ञ से सम्बन्धित इस यज्ञ स्थानमें जहां विद्वान् लोग एकत्रित हुए हैं, आज तुम्हारा शिरके समान सम्पक रूपसे सत्कार करता हूं । और हे वीर पुरुष ! (मखाय त्वा) प्रजा पालनरूप यज्ञके लिये तुमको भी लगाता हूं, तथा (त्वा मखस्य शीर्ष्णे) तुमको संमानके योग्य शीर्षस्थानीय मुख्यपदके लिये सुरक्षित करता हूं ॥ ४ ॥

इयत्यग्रं आसीन्मखस्यं तेऽद्य शिरों राध्यासं देवयजंने पृथिव्याः ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ५ ॥

इन्द्रस्यौजं स्थ मखस्यं वोऽद्य शिरों राध्यासं देवयजंने पृथिव्याः ।
मखायं त्वा मखस्यं शीर्ष्णे । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृतां । अच्छां वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ७ ॥

मखस्य शिरोंऽसि । मखायं त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखस्य शिरोंऽसि । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ।
मखस्य शिरोंऽसि । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ८ ॥

[१९०१] हे विद्वान् लोगो ! मैं (अग्रे मखाय त्वा) विद्वानोंके सत्कार रूप यज्ञके लिये प्रथम तुमको लगाता हूं तथा (मखस्य शीर्ष्णे त्वा राध्यासम्) संगतिकरणरूपी इस यज्ञकी श्रेष्ठताके लिये तुम सबोंको सिद्ध करता हूं । (ते मखस्य शिरः आसीत्) तुम्हारे यज्ञका यह उत्तम मुख्यस्थान है, उन तुम सबको (अद्य पृथिव्याः इयति देव-यजने) आज भूमिके मध्यमें इतने विद्वानोंके यजनमें अच्छी प्रकारसे लगाता हूं ॥ ५ ॥

[१९०२] हे पुरुषो ! जैसे मैं (इन्द्रस्य ओजः राध्यासम्) इन्द्रके ओजको प्राप्त होऊं वैसे (अद्य पृथिव्याः देवयजने शिरः वः) आज पृथ्वीके ऊपरके इस देवयज्ञके स्थानमें उत्तम अवयव सिरके समान तुम लोगोंको भी प्राप्त करूं मैं (शीर्ष्णे मखाय त्वा) शिरस्वरूप इस मुख्य यज्ञके लिये तुमको प्राप्त करता हूं, (मखस्य त्वा) उत्तम यज्ञके संपादन करनेके लिये तुमको प्राप्त करता हूं, (शीर्ष्णे मखाय त्वा) उत्तम गुणोंके प्रचारक इस यज्ञके लिये तुमको प्राप्त करता हूं, (मखस्य त्वा) यज्ञरूप उत्तम व्यवहारके लिये तुमको प्राप्त करता हूं, (शीर्ष्णे मखाय त्वा) उत्तम विज्ञानके प्रचारके लिये तुमको प्राप्त करता हूं । (मखस्य त्वा) विद्याको बढानेवाले व्यवहारके लिये तुमको प्राप्त करता हूं, तुम लोग भी सब श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त पराक्रमी (स्थ) होओ ॥ ६ ॥

[१९०३] (ब्रह्मणस्पतिः प्र एतु) वेदज्ञानका पालक विद्वान् उत्तम पदको प्राप्त हो, (सुनृता देवी प्र एतु) सत्यज्ञानसे युक्त विदुषी उत्तम पदको प्राप्त हो, (वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवाः नः यज्ञं नयन्तु) बलवान, सब जनोंके हितकारी, समुदायोंको वश करनेमें समर्थ वीर पुरुषको दिव्यगुण युक्त देवजनभी हमारे यज्ञको सिद्ध करें । मैं (शीर्ष्णे मखाय त्वा) उत्तम गुणोंके प्रचारक यज्ञके लिये तुमको नियुक्त करता हूं, (मखस्य त्वा) यज्ञके लिये तुमको लगाता हूं । (शीर्ष्णे मखाय त्वा) उत्तम गुणोंके प्रचारक श्रेष्ठ यज्ञके लिये तुमको नियुक्त करता हूं, (मखस्य त्वा) सत्या-चरण रूप व्यवहारके लिये तुमको लगाता हूं । (शीर्षे मखाय त्वा) श्रेष्ठ विज्ञानके प्रकाशनके लिये तुमको नियुक्त करता हूं तथा (मखस्य त्वा) विद्या यज्ञके बढानेवाले व्यवहार सिद्धिके लिये तुमको युक्त करता हूं ॥ ७ ॥

[१९०४] हे श्रेष्ठ पुरुष ! तुम (मखस्य शिरः असि) यज्ञके शिर स्वरूप हो, (मखाय त्वा) यज्ञको करनेके लिये तुमको मैं स्वीकारता हूं, (मखस्य शीर्ष्णे त्वा) यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त तुमको नियुक्त

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[१] ।
अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[२] ।
अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[३] ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[४] । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[५] ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[६] ॥ ९ ॥

ऋजवे त्वा[१] साधवे त्वा[२] सुक्षित्यै त्वा[३] । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[४] ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[५] । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे[६] ॥ १० ॥

यमाय त्वा[१] मखाय त्वा[२] सूर्यस्य त्वा तपसे[३] । देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु[४]
पृथिव्याः सꣳस्पृशस्पाहि[५] । अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि[६] ॥ ११ ॥

करता हूं। हे महान पराक्रमी पुरुष ! तुम (मखस्य शिरोऽसि) यज्ञके शिरस्वरूप हो (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके लिये, यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त तुमको में नियुक्त करता हूं, तुम (मखस्य शिरोऽसि) यज्ञके शिरस्वरूप हो, (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके लिये यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त तुमको नियुक्त करता हूं। हे मेधावी विद्वान जन ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके लिये तुमको नियुक्त करता हूं। हे महान तेजस्वी ! (मखाय ा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके लिये यज्ञके शिरस्वरूप तुमको में नियुक्त करता हूं, (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) विज्ञानरूप यज्ञके लिये यज्ञके प्रधान कार्यके निमित्त तुमको नियुक्त करता हूं ॥ ८ ॥

[१९०५] जिस प्रकार मिट्टीके कच्चे बर्तनको (अश्वस्य शक्ना) घोडेके लीदको जलाके उसमें तपाते हैं उसी प्रकार में (त्वा वृष्णः पृथिव्याः देवयजने धूपयामि) तुझ शक्तिमान् पुरुषको भूमिके देवयजन स्थान यज्ञमें सम्यक् रूपसे तपाता हूं। (मखाय त्वा) यज्ञके लिये तुमको निर्माण करता हूं, (मखस्य शीर्ष्णे त्वा) यज्ञके शिररूप प्रधान-कार्यके लिये तुमको नियुक्त करता हूं, (अश्वस्य शक्ना त्वा वृष्णः पृथिव्याः देवयजने धूपयामि) घोडेके लीदको जलाकर उसमें मिट्टीके कच्चे बर्तनको जिस प्रकार तपाते हैं उसी प्रकार शक्तिमान तुमको भी पृथ्वीके देवयजन स्थान यज्ञमें सम्यक् रूपसे तपाता हूं। (मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा) ज्ञान यज्ञके लिये तुमको निर्माण कर ज्ञान यज्ञके शिर स्वरूप प्रधान कार्यके लिये तुमको नियुक्त करता हूं। (मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा) विज्ञानरूप यज्ञके लिये और उस विज्ञानके प्रधान कार्यके निमित्त तुमको लगाता हूं। (मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा) वेद-विद्या प्रचार रूपी यज्ञके लिये शिर स्वरूप प्रधान कार्यके लिये तुमको नियुक्त करता हूं। और (मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा) अध्यात्म यज्ञके लिये तुमको और उस यज्ञके शिररूप प्रधान कार्यके लिये तुमको नियुक्त करता हूं ॥ ९ ॥

[१९०६] हे वीर पुरुष ! (त्वा ऋजवे) तुमको सत्यके दर्शानेवाले न्यायकारी पद पर नियुक्त करता हूं, (साधवे त्वा) उत्तम श्रेष्ठ पद पर तुमको नियुक्त करता हूं, (मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा) ज्ञान यज्ञके लिये तुमको ज्ञान यज्ञके शिररूप प्रधान कार्यके लिये तुमको नियुक्त करता हूं, और (मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा) विज्ञान यज्ञके लिये एवं उस विज्ञान यज्ञके प्रधान कार्यके लिये तुमको नियुक्त करता हूं ॥ १० ॥

[१९०७] हे वीर पुरुष ! (यमाय त्वा मखाय) नियमके अर्थ तुमको यज्ञके लिये नियुक्त करता हूं, (सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्यके सदृश शत्रुओंको सन्ताप करनेमें समर्थ 'तपस' पदके लिये तुमको नियुक्त करता हूं, (सविता त्वा मध्वा आनक्तु) सर्वोत्पादक परमेश्वर तुमको मधुरतासे संयुक्त करे, तुम (पृथिव्याः संस्पृशः पाहि) भूमि सम्बन्धी राक्षसोंसे हम सबकी रक्षा करो। हे वीर पुरुष ! तुम (अर्चिः असि) अग्निके ज्वालाके समान दाहकारी हो, तुम (शोचिः असि) विद्युतकी दीप्तिके समान संतापकारी हो और (तपः असि) सूर्यके तपरूप हो ॥ ११ ॥

अनाधृष्टा पुरस्ताद्ग्नेराधिपत्य आयुर्मे दाः पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः[2] ।
सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः[3] आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः[4] ।
विधृतिरुपरिष्टाद्बृहस्पतेराधिपत्य ओजो मे दाः[5] विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि[6]
मनोरश्वासि[7] ॥ १२ ॥
स्वाहा मरुद्भिः परि श्रीयस्व[1] दिवः सꣳस्पृशस्पाहि[2] । मधु मधु मधु[3] ॥ १३ ॥
गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानाम् । सं देवो देवेन सवित्रा गत सꣳ सूर्येण रोचते ॥ १४ ॥
समग्निरग्निना गत सं दैवेन सवित्रा सꣳ सूर्येणारोचिष्ट ।
स्वाहा समग्निस्तपसा गत सं दैव्येन सवित्रा सꣳ सूर्येणारूरुचत[1] ॥ १५ ॥
धर्ता दिवो वि भाति तपसस्पृथिव्यां धर्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजाः ।
वाचमस्मे नि यच्छ देवायुवम् ॥ १६ ॥

[१९०८] हे भूमि ! तू (अनाधृष्टा पुरस्तात् अग्नेः अधिपत्ये आयुः मे दाः) शत्रुसे आक्रमण न किये जानेपर पूर्वकी दिशासे अग्निके आधिपत्यमें रहकर मेरे लिये आयु प्रदान कर। हे भूमि ! तू (पुत्रवती दक्षिणतः इन्द्रस्य आधिपत्ये मे प्रजां दाः) वीरपुत्रोंसे युक्त होकर दक्षिण दिशासे इन्द्रके आधिपत्यमें रहकर मेरे लिये उत्तम सन्तानको प्रदान कर। हे भूमि! तू (सुषदा पश्चात् देवस्य सवितुः अधिपत्ये मे चक्षुः दाः) सुखसे निवास करने योग्य होकर पश्चिमसे प्रकाशमान् सूर्यके अधीन रहकर मेरे लिये चक्षु अर्थात् देखनेकी शक्ति प्रदान कर। हे भूमि ! तू (आश्रुतिः उत्तरतः धातुः आधिपत्ये रायः पोषम् मे दाः) सब ओरसे उत्तम रीतिसे श्रवण करनेवाली होकर उत्तम दिशासे धारण करनेवाले वायुके आधीन रहकर श्रेष्ठ धन और पुष्टिकारक ऐश्वर्यको मेरे लिये प्रदान कर। हे भूमि ! तू (विधृतिः बृहस्पतेः आधिपत्ये मे ओजः दाः) विविध पदार्थोंके धारण करनेमें समर्थ होकर बृहस्पतिके अधीन रह कर मेरे लिये ओज प्रदान कर। हे भूमि ! तू (मा विश्वाभ्यः नाष्ट्राभ्यः पाहि) मुझको समस्त नाश करनेवाली दुष्ट स्वभाव वाली शत्रु सेनाओंसे रक्षा कर, तू (मनोः अश्वा असि) मननशील पुरुषके भोग करने योग्य है ॥ १२ ॥

[१९०९] हे राजन् ! तू (मरुद्भिः परिश्रीयस्व) शत्रुओंको हनन करनेवाले वीर सैनिकोंसे सब ओरसे आश्रय स्थान बन। तू इस राष्ट्रको (दिवः संस्पृशः पाहि) सूर्यके सदृश तेजस्वी होकर कष्ट देनेवालोंसे हमारी रक्षा कर (स्वाहा) यह उत्तम सत्य कथन है, और (मधु मधु मधु) शरीरमें स्थित प्राण, अपान और व्यानके समान ब्राह्मबल, क्षात्रबल और धनबल इन तीनों मधुको प्राप्त कर ॥ १३ ॥

[१९१०] हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर (देवानां गर्भः, मतीनां पिता, प्रजानां पतिः देवः) देवोंको धारण करनेवाला, बुद्धिमानोंका पालक, प्रजाओंका स्वामी और दिव्यगुणवाला है, वह परमात्मा (सवित्रा देवेन सूर्येण समरोचते) सबकी उत्पत्तिके हेतु होकर देव सूर्यके साथ सम्यक् प्रकाशित होता है, उसको सब लोग (सं गत) सम्यक् रीतिसे प्राप्त करें ॥ १४ ॥

[१९११] (अग्निः अग्निना सङ्गत सवित्रा देवेन सं सूर्येण समरोचिष्ट) तेजरूप अग्निसे एकरूप हुआ सविता देवके साथ भी एकीभाव होकर सूर्यके साथ प्रदीप्त होता है, और (स्वाहा अग्निः तपसा सङ्गत) स्वाहा सहित अग्नि सूर्यके तेजसे सङ्गत होता है, तथा (दैव्येन सवित्रा सम् सूर्येण समरूरुचत) दिव्यगुणयुक्त सवितासे एकीभावको प्राप्त सूर्यके सङ्ग सबको भली प्रकार प्रकाशित करता है ॥ १५ ॥

[१९१२] (दिवः तपसः धर्ता पृथिव्यां विभाति) द्युलोक तथा रश्मिसमूहका धारण करनेवाला सूर्यरूप राजा इस पृथ्वी पर शोभता है, वह (देवानां धर्ता देवः, अमर्त्यः तपोजाः) विद्वानोंका धारण करनेवाला दिव्य गुण युक्त राजा साधारण मनुष्यसे भिन्न होकर अपने तपोबलसे सामर्थ्यवान होता है, वह राजा (अस्मे देवायुतं वाचं नियच्छ) हमारे लिये समस्त विद्वान पुरुषोंको एकत्र करनेमें सामर्थ्य युक्त वाणी प्रदान करे ॥ १६ ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ १७ ॥
विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते।
देवश्रुत्त्वं देव घर्म देवो देवान् पाह्यत्र प्रावीरनु वां देववीतये।
मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्याम् ॥ १८ ॥
हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा। ऊर्ध्वो अध्वरं दिवि देवेषु धेहि ॥ १९ ॥
पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः।
त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून्मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाऽहꣳ सह पत्या भूयासम् ॥ २० ॥
अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।
रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ २१ ॥

[अ० ३७, कं० २१; मं० सं० ५५]

इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः।

[१९१३] मैं (गोपां अनिपद्यमानं पथिभिः आचरन्तं च परा अपश्यम्) सबके रक्षक, अन्तरिक्षमें स्थित कभी भी पतनको न प्राप्त होनेवाले, देवमार्गमें आते हुये अर्थात् गमनागमन करते हुये सूर्यको देखता हूं, वही सूर्य (सध्रीचीः विषूचीः वसानः भुवनेषु अन्तः आवरीवर्ति) अपने साथमें रहनेवाली किरणोंको धारण करता हुआ समस्त लोकोंके मध्यमें सब प्रकारसे सर्वोपरि होकर रहता है ॥ १७ ॥

[१९१४] हे (विश्वासां भुवां पते) सम्पूर्ण भूमियोंके स्वामिन् ! हे (विश्वस्य मनसः पते) सबके मनोंके रक्षक ! हे (विश्वस्य वचसः पते) समस्त वेदवाणीयोंके पालक ! हे (सर्वस्य वचसः पते) अखिल प्राणीमात्रके वाणियोंके स्वामिन् ! हे (धर्म) प्रकाशक ! हे (देव) सब सुखोंके प्रदाता ईश्वर ! हे (देवश्रुत्) देवताओंमें प्रसिद्ध ! (देवः त्वं अत्र देवान् पाहि) दिव्यगुण युक्त तुम यहां इस जगतमें धार्मिक विद्वानोंकी रक्षा करो। (माध्वीभ्यां मधु प्र अविः) मधुरादि-गुणयुक्त विद्या और मधुर विज्ञानको उत्तमता पूर्वक प्रदान करो और (माधूचीभ्यां देववीतये अनु) मधुर ब्रह्मविज्ञानको प्राप्त होनेवाले अध्यापक उपदेशकोंके साथ दिव्यगुणोंकी प्राप्तिके लिये विद्वानोंकी सुरक्षा करो ! हे अध्यापको ! और हे उपदेशको ! (वां) तुम दोनोंके लिये परमात्मा सब प्रकारसे सहायक होवे ॥ १८ ॥

[१९१५] हे ईश्वर ! मैं (हृदे त्वा) हृदयकी स्वस्थताके लिये तुम्हारी स्तुति करता हूं, (मनसे त्वा) मनके शुद्धिके अर्थ तुम्हारी स्तुति करता हूं, (सूर्याय त्वा) सूर्यकी तेजस्विताके निमित्त तुम्हारी स्तुति करता हूं, तू सबसे (ऊर्ध्वः) ऊंचा है, हमारे (अध्वरं देवेषु धेहि) यज्ञको देवताओंमें पहुंचाओ ॥ १९ ॥

[१९१६] हे परमेश्वर ! तू (नः पिता असि) हमारे पिता हो, (पिता नः बोधि) पिताके समान हमको ज्ञान प्रदान करो, (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो, (मा मा हिंसीः) मुझे मत विनष्ट करो, हम समस्त प्रजाजन (त्वष्टृमन्तः त्वा सपेम) तेजस्वी प्रजापतिरूप स्वामीवाले होकर तुमसे मिलें, तुम (पुत्रान् पशून् मयि धेहि) पुत्रों और पशुओंको मेरे स्थानमें रखो (प्रजां अस्मासु धेहि) उत्तम सन्तानको हमारे कुलमें धारण करो, हम सब (पत्या सह अरिष्टा भूयासम्) स्वामीके साथ अविनष्ट होकर चिरकाल पर्यन्त सुख पूर्वक जीवन धारण करते रहें ॥ २० ॥

[१९१७] (अहः केतुना जुषताम्) दिन ज्ञानसे युक्त हो (ज्योतिषा सुज्योतिः स्वाहा) अपने तेजसे अच्छी ज्योतियुक्त यह हवि यज्ञमें समर्पित हो, (रात्रिः केतुना जुषताम्) रात्री, ज्ञानके साथ ईश्वरकी प्रीतिको प्राप्त हो, (ज्योतिषा सुज्योतिः स्वाहा) अपने तेजसे अच्छी ज्योतियुक्त तेजको यह हवि समर्पित हो ॥ २१ ॥

॥ सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आ ददेऽदित्यै रास्नाऽसि ॥ १ ॥
इड एह्यदित एहि सरस्वत्येहि । असावेह्यसावेह्यसावेहि ॥ २ ॥
अदित्यै रास्नाऽसीन्द्राण्या उष्णीषः । पूषाऽसि घर्माय दीष्व ॥ ३ ॥
अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व ।
स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् ॥ ४ ॥
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ५ ॥

[१९१८] (देवस्य सवितुः प्रसवे) कान्तियुक्त सकलजगतके उत्पादक ईश्वरके उत्पन्न किये इस संसारमें (अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्यां त्वा आददे) अश्विनीकुमारोंके बाहुओंसे और पूषाके हाथोंसे मैं तुमको ग्रहण करता हूं । तू (अदित्यै रास्ना असि) अदिति गौ की मेखलाके समान है ॥ १ ॥

अश्विनी कुमारोंके हाथ नीरोगता करनेवाले और पूषा देवताके हाथ पोषण करनेवाले हैं । नीरोगता करनेवाले, तथा पोषण करनेवाले हाथोंसे योग्य पदार्थका ग्रहण करना योग्य है ॥ १ ॥

[१९१९] हे (इडे एहि) पृथ्वी वा गौ ! यहां आओ । हे (अदिते एहि) अखण्डित आनन्द देनेवाली देव माता ! यहां आओ ! हे (सरस्वती एहि) सरस्वती वा वाणी देवी ! यहां आओ ! (असौ एहि) यह अमुक नाम वाली गौ वा पृथ्वी तुम यहां आओ, हे (असौ एहि) यह अमुक नाम वाली अदिते ! तुम यहां आओ ! और हे (असौ एहि) यह अमुक नाम वाली सरस्वती ! तुम यहां आओ ॥ २ ॥

ये सब हमारे पास आकर रहें और हमें आनंद दें ॥ २ ॥

[१९२०] तू (अदित्यै रास्ना, इन्द्राण्याः उष्णीषः, पूषा असि) गौकी बांधनेकी रसी, राष्ट्रकी राजसभाकी शिरोधारिणी और सबका पोषण करनेवाली है, तुमही (घर्माय दीष्व) अपने धर्मके लिये अपनी जीवनशक्ति समर्पित करो ॥ ३ ॥

[१९२१] हे पृथ्वी ! (अश्विभ्यां पिन्वस्व) दोनों अश्विनीकुमारोंके कार्यके लिये अर्थात् प्रजाकी आरोग्य रक्षाके लिये सहायता कर, (सरस्वत्यै पिन्वस्व) सरस्वतीके उत्तम ज्ञान विद्याके प्रचारके लिये सहायता कर, और (इन्द्राय पिन्वस्व) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् राष्ट्रपतिके लिये राष्ट्रशासनके लिये सहायता प्रदान कर । हे श्रेष्ठ पुरुषो ! तुम (इन्द्रवत् स्वाहा) ऐश्वर्यवान् राजाके समान उत्तम सत्य भाषणसे राष्ट्रके हितके लिये आत्मसमर्पण करो । (इन्द्रवत् स्वाहा) वीर पुरुषके समान उत्तम वीरता बढानेवाला भाषण करो, और (इन्द्रवत् स्वाहा) इन्द्रकी तरह (सु-आह) उत्तम भाषण करो ॥ ४ ॥

[१९२२] हे (सरस्वति) सरस्वति ! (स्तनः शशयः मयोभूः रत्नधा वसुवित् वार्याणि) माताका स्तन जिसप्रकार बालकको सुखकी नींदसे सुलानेवाला, आनन्द उत्पन्न करनेवाला, उत्तम एश्वर्य देनेवाला और समस्त उत्तम योग्य गुणोंको पोषण करनेवाला होता है, उसी प्रकार तेरा दूधके समान मधुर ज्ञानोपदेश प्रजाको सुख शान्तिसे रखनेवाला, कल्याण युक्त ऐश्वर्य देने वाला है, (सुदत्रः) जो उत्तम दानशील है, और (येन विश्वा पुष्पसि) जिससे तुम संपूर्ण कार्योंको पोषण करती हो, (तं इह धातवे अकः) उस ज्ञानको यहां प्रजाका धारण पोषण करनेके लिये प्रदान करो, जिससे मैं भी (उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि) विशाल अन्तरिक्षको अनुसरण करनेवाला होऊं, अर्थात ज्ञान और ऐश्वर्यकी वर्षाकर प्रजाको पोषण करूं ॥ ५ ॥

गायत्रं छन्दोऽसि[1] त्रैष्टुभं छन्दोऽसि[2] द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णाम्य[3]न्तरिक्षेणोप यच्छामि।
इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट् ।
स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये[5] ॥ ६ ॥

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा[1] सरिराय त्वा वाताय स्वाहा[2] ।
अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा[3] ऽप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा[4] ।
अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहा[5] ऽशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा[6] ॥ ७ ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहे[1]न्द्राय त्वाऽऽदित्यवते स्वाहे[2]न्द्राय त्वाऽभिमातिघ्ने स्वाहा[3]।
सवित्रे त्वं ऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा[4] बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा[5] ॥ ८ ॥
यमाय त्वाऽङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा[1]। स्वाहा घर्माय[2] स्वाहा घर्मः पित्रे[3] ॥ ९ ॥

[१९२३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (गायत्रं छन्दः असि) गायत्री छन्दके समान गानेवालेका रक्षण करनेवाले हो अर्थात् तरुणके समान अक्षत बल वीर्यसे युक्त हो, और तू (त्रैष्टुभं छन्दः असि) चौवालीस अक्षरोंसे युक्त त्रिष्टुप् छन्दके समान चौवालीस वर्षोंके तरुणके समान अक्षत बलवीर्यसे युक्त है, हे (अश्विना) दोनों अश्विनी कुमारो ! (द्यावा पृथिवीभ्यां त्वा परिगृह्णामि) द्यौ और पृथ्वी इन दोनोंके समान प्रजावर्गके नीरोगिताके लिये तुम दोनोंको मैं ग्रहण करता हूं, तथा (अन्तरिक्षेण उपयच्छामि) अन्तरिक्ष वर्षण और वायु द्वारा सबका प्राण धारण करता है, उसी प्रकार मैं तुम दोनोंको प्रजा पर ज्ञानैश्वर्यकी वृष्टिके लिये स्वीकार करता हूं। हे (वसवः) वसुगण ! (स्वाहा सारघस्य मधु नः घर्मं पात) उत्तम दान और सत्य वाणी द्वारा मधु मक्खीके द्वारा बने विशुद्ध शहदके समान मधुर व्यवहारके तेज युक्त पराक्रमसे राज्यका लाभ करो एवं (वाट् यजत) अच्छे प्रकारसे यज्ञ सम्पादन करो, और (सूर्यस्य वृष्टि वनये रश्मये यजत) सूर्यके वृष्टि देनेवाली किरणकी सहायताकी प्राप्तिके लिये यज्ञ करो ॥ ६ ॥

[१९२४] हम सब प्रजाजन (त्वा वाताय समुद्राय स्वाहा) तुम श्रेष्ठ राजाको प्राणवायुके समान उपयोगी समुद्रके समान बडा कहते हैं, (त्वा सरिराय वाताय स्वाहा) तुम राजाको जल और वायुके समान शासक पदके लिये सत्य रीतिसे स्वीकार करते हैं, (अनाधृष्याय वाताय त्वा स्वाहा) प्रचण्ड वायुको जैसे कोई वशमें नहीं कर सकता है, वैसे शत्रुओंसे कभी भी न दबनेवाले तुम राजाको प्रचण्ड पराक्रमी राजाके पदके लिये स्वीकार करते हैं, (अवस्यवे वाताय त्वा स्वाहा) रक्षा करनेवाले प्राणवायुके समान रक्षक पदके लिये तुम राजाको हम स्वीकार करते हैं और (अशिमिदाय वाताय त्वा स्वाहा) अखण्डशक्तिवाले वायुके समान अक्षत सामर्थ्यके राज्य पदके लिये हम तुम राजाको स्वीकार करते हैं ॥ ७ ॥

[१९२५] (वसुमते, रुद्रवते, इन्द्राय त्वा स्वाहा) श्रेष्ठ धनसे युक्त, शत्रुओंको रुलानेवाले वीर पुरुषोंसे युक्त, ऐश्वर्यवान राज्य पदके लिये योग्य तुम इन्द्रके लिये मैं अर्पण करता हूं, (आदित्यवते इन्द्राय त्वा स्वाहा) सूर्यके समान महान तेजस्वी आदित्यके समान उग्र राजपदके लिये योग्य तुम इन्द्रके लिये मैं अर्पण करता हूं (अभिमा-तिघ्ने इन्द्राय त्वा स्वाहा) अभिमानी शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रधान सेनापति पदके लिये तुम इन्द्रके लिये मैं अर्पण करता हूं, (सवित्रे, ऋभुवते, विभुवते, वाजवते त्वा स्वाहा) सूर्यके समान तेजस्वी, ऋत व सत्य ज्ञानसे प्रकाशित होनेवाला, व्यापक सामर्थ्यवान्, बहुत अन्न वा सेनाबलसे बलशाली पदके लिये तुम इन्द्रके लिये मैं अर्पण करता हूं, (बृहस्पते विश्वदेव्यावते त्वा स्वाहा) महान राष्ट्रके पालक पदके लिये और समस्त देवोंके हितकारी कार्यके लिये तुम इन्द्रके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ ८ ॥

[१९२६] (आङ्गिरस्वते पितृमते यमाय स्वाहा) अङ्गारेके समान चमकनेवाले तेजस्वी पुरुषोंसे युक्त और पालक पुरुषोंसे युक्त सर्वनियन्ता राजाके पदके लिये उत्तम सत्यवाणीसे मैं तुमको स्वीकार करता हूं, (घर्माय स्वाहा) अति तेजस्वी प्रजापति पदके लिये मैं तुम राजाको स्वीका करता हूं, यह (घर्मः पित्रे स्वाहा) तेजस्वी राजपद उत्तम पालक पुरुषके लिये उत्तम रीतिसे प्रदान किया जाय ॥ ९ ॥

विश्वा आशा दक्षिणसद्विश्वान् देवानयाडिह । स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना ॥ १० ॥
दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः । स्वाहाऽग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः ॥ ११ ॥
अश्विना घर्मं पातं हार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः । तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥
अपातामश्विना घर्ममनु द्यावापृथिवी अमंसाताम् । इहैव रातयः सन्तु ॥ १३ ॥
इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ।
धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ १४ ॥
स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः ।
स्वाहा पितृभ्य ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्
स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः ॥ १५ ॥

[१९२७] हे (अश्विना) दोनों अश्विनी कुमारो ! (इह स्वाहा कृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतम्) यहां इस यज्ञमें समर्पित किये मधुर रसका पान करो ! और इस यज्ञवेदीसे (दक्षिणसत्) दक्षिण दिशामें बैठनेवाले आचार्यों तथा (विश्वाः आशाः विश्वान् देवान् अयाट्) सब दिशाओंमें रहनेवाले समस्त देवों या विद्वानोंका पूजनसे सत्कार करें ॥ १० ॥

[१९२८] हे मनुष्यो ! तुम (यजुर्भ्यः स्वाहा) यजुर्वेदके मन्त्रोंसे यज्ञ करो । (यज्ञियाय अग्नये दिवि इमं यज्ञं शं धाः) यज्ञकर्मके योग्य अग्निके लिये यज्ञको सुख पूर्वक करो, और (दिवि इमं यज्ञं धाः) द्युलोकके प्रकाशमें इस यज्ञको धारण करो ॥ ११ ॥

[१९२९] हे (अश्विनौ) दोनों अश्विनी कुमारो ! तुम दोनों (अहर्दिवाभिः हार्द्वानं घर्मम्) दिन और रात सदा हृदयको प्रिय लगनेवाले यज्ञको, अपनी (ऊतिभिः पातम्) रक्षण शक्तियोंसे रक्षा करो, (तन्त्रायिणे द्यावापृथिवीभ्यां नमः) आकाशमें कालचक्रके प्रवर्तक सूर्य और द्यावापृथिवीके देवताओंके लिये हमारा नमस्कार हो ॥ १२ ॥

[१९३०] हे (अश्विना) दोनों अश्विनी कुमारो ! हमारे (घर्मं अपाताम्) यज्ञको हरप्रकारसे रक्षा करो, (द्यावापृथिवी अनु अमंसाताम्) द्यावापृथिवीके अधिष्ठाता देवता तुम्हारे कार्यका अनुमोदन करें ! और (इह एव रातयः सन्तु) यहां ही अपने स्थानमें स्थित हुये हमको श्रेष्ठ धनोंकी प्राप्ति हो ॥ १३ ॥

[१९३१] हे तेजस्वी पुरुष ! तू (इषे पिन्वस्व) अन्नकी वृद्धिके लिये प्रजाका पोषण करो, (ऊर्जे पिन्वस्व) बलपराक्रमके लिये पुष्ट हो, (ब्रह्मणे पिन्वस्व) वेदविज्ञान वा वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी वृद्धिके लिये पोषणको प्राप्त हो, (क्षत्राय पिन्वस्व) क्षात्रबल वा क्षत्रियोंकी वृद्धिके लिये पुष्ट हो, (द्यावापृथिवीभ्याम् पिन्वस्व) द्यावा पृथ्वीके शक्ति विस्तारके लिये पुष्ट हो । हे दिव्य पुरुष राजन् ! तू (धर्मा असि) समस्त राष्ट्रको धारण करनेमें शक्तिमान है, तू (सुधर्मा असि) उत्तमरीतिसे समस्त प्रजाको धारण करनेमें समर्थ है, तू (अमेनि असि) हिंसा रहित है, तू (अस्मे नृम्णानि धारय) हममें मनुष्योंके हितकारी ऐश्वर्योंको धारण कर । तू (ब्रह्म धारय) वेद व वेदज्ञ ब्राह्मणोंको धारण कर, तू (क्षत्रं धारय) क्षत्रियोंको धारण कर, और (विशं धारय) वैश्योंको धारण कर ॥ १४ ॥

तू सब प्रजाकी उन्नति करके उनका धारण कर ॥ १४ ॥

[१९३२] (शरसे पूष्णे स्वाहा) स्नेहकारी पूषा अर्थात् पुष्टिकारक प्राणरूप वातके उद्देश्यसे यह आहुति दी जाती है । (ग्रावभ्यः स्वाहा) गर्जनेवाले मेघोंके लिये यह आहुति दी जाती है, (प्रतिरवेभ्यः स्वाहा) शब्दके प्रति शब्द करनेवालेके लिये यह आहुति दी जाती है, (ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः घर्मपावभ्यः पितृभ्यः स्वाहा) उत्तम कक्षातक बढे हुये, यज्ञसे संसारको पवित्र करनेवाले पितरोंके लिये यह आहुति दी जाती है, (द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा) द्यावा-पृथ्वीके लिये यह आहुति दी जाती है और (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) सम्पूर्ण देवोंके लिये यह आहुति दी जाती है ॥ १५ ॥

स्वाहा॑ रु॒द्राय॑ रु॒द्रहू॑तये॒ स्वाहा॒ सं ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ः ।
अह॒ः के॒तुना॑ जुषता॒ᳬ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑ ।
रात्रि॒ः के॒तुना॑ जुषता॒ᳬ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑ ।
मधु॑ हु॒तमिन्द्र॑तमे अ॒ग्नाव॒श्याम॑ ते देव घर्म॒ नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिᳬसीः ॥ १६ ॥
अ॒भी॒मं म॑हि॒मा दि॒वं विप्रो॑ बभूव स॒प्रथा॑ः ।
उ॒त श्रव॑सा पृ॒थि॒वीᳬ सᳬ सी॑दस्व म॒हाँ२ अ॑सि॒ रोच॑स्व दे॒व॒वीत॑मः ।
वि धू॒मम॑ग्ने अरु॒षं मि॑येध्य सृ॒ज प्र॑शस्त द॒र्शत॑म् × ॥ १७ ॥
या ते॑ घर्म दि॒व्या शुग्या गा॑य॒त्र्याᳬ ह॑वि॒र्धाने॑ ।
सा त॒ आ प्या॑यतां॒ निष्ट्या॑यतां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ ।
या ते॑ घर्मा॒न्तरि॑क्षे॒ शुग्या त्रि॒ष्टुभ्या॒ग्नीध्रे॑ ।
सा त॒ प्या॑यतां॒ निष्ट्या॑यतां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ ।
या ते॑ घर्म पृ॒थि॒व्याᳬ शुग्या जग॑त्याᳬ सद॒स्या॑ ।
सा त॒ आ प्या॑यतां॒ निष्ट्या॑यतां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ ॥ १८ ॥

[१९३३] (रुद्र हूतये रुद्राय स्वाहा) दुष्टोंको रुलानेवाले वा वीर पुरुषोंको पास बुलानेवाले शूरसेनापतिके लिये यह आहुति है, (ज्योतिः ज्योतिषा सं स्वाहा) ज्योति ज्योतिसे मिलकर अच्छी प्रकार प्रज्वलित हो, उसके लिये यह आहुति है, (अहः केतुना सुज्योतिः ज्योतिषा जुषतां स्वाहा) दिनमें प्रज्ञा द्वारा ज्योतियुक्त तेज अपने तेजसे मिले इसके लिये यह आहुति है, (केतुना रात्रिः सुज्योतिः ज्योतिषा जुषतां स्वाहा) प्रज्ञा वा कर्म द्वारा रात्री व्याप्त होकर ज्योतिका तेज अपने तेजसे मिल कर रहे इसके लिये यह आहुति है। हे (घर्म) प्रकाशमान्! हे (देव) दिव्य गुण युक्त! (इन्द्रतमे अग्नौ हुतं ते मधु अश्याम्) अत्यन्त शक्तिमान् अग्निमें हवन किया हुआ तुम्हारे अन्नका मधुर अंश हम भक्षण करते हैं, (ते नमः अस्तु) तुम्हारे लिये नमस्कार हो, तुम (मा मा हिंसी) मेरी हिंसा मत करो ॥ १६ ॥

[१९३४] हे अग्ने! तुम्हारी (विप्रः सप्रथाः महिमा श्रवसा इमं दिवं उत पृथिवीं अभि बभूव) विशेष कर सबको पूर्ण करनेवाली विस्तारयुक्त कीर्ति अपने यशसे इस द्युलोक और पृथ्वीको व्याप्त करती है, तुम (देववीतमः महान् असि) सब देवताओंको तृप्त करनेवाले बडे सामर्थ्यवाले हो, हमारे यज्ञमें (संसीदस्व) अच्छे प्रकारसे बैठो, और (रोचस्व) प्रकाशित होओ। और हे (मियेध्य) यज्ञके योग्य! हे (प्रशस्त) उत्कृष्ट! हे (अग्ने) अग्ने! तुम अपने (दर्शतं अरुषं धूमं विसृज) दर्शनीय, लाल रङ्गसे युक्त धूमको फैलाओ ॥ १७ ॥

[१९३५] हे (घर्म) अग्नि! (या ते शुक् दिव्या) जो तुम्हारी दीप्ति द्युलोकमें है, (या गायत्र्यां हविर्धाने) जो दीप्ति गायत्री छन्दमें यज्ञगृहके अन्दर है, (सा ते आप्यायताम्) वह तुम्हारी दीप्ति वृद्धिको प्राप्त हो और (निष्ट्यायताम्) दृढ हो, (तस्मै ते स्वाहा) उस दीप्तिके उद्देश्यसे तुम्हारे लिये यह आहुति देते हैं। हे (घर्म) अग्ने! (या ते शुक् अन्तरिक्षे, या त्रिष्टुभिः आग्नीध्रे सा ते आप्यायताम्) जो तुम्हारी दीप्ति अन्तरिक्षमें और जो त्रिष्टुप् छन्दमें व आग्नीध्र स्थानमें है वह तुम्हारी दीप्ति वृद्धिको प्राप्त हो, एवम् (निष्ट्यायताम्) दृढ हो, (तस्मै ते स्वाहा) उस तुम्हारी दीप्तिके लिये यह आहुति है। हे (घर्म) अग्ने! (या ते सदस्या शुक् पृथिव्यां या जगत्यां सा ते आप्यायताम्) जो तुम्हारी सभाके स्थानमें स्थित दीप्ति पृथ्वीमें है और जो जगति छन्दमें है, वह तुम्हारी दीप्ति वृद्धिको प्राप्त हो तथा (निष्ट्यायताम्) दृढ हो, (तस्मै ते स्वाहा) उस तुम्हारी दीप्तिके लिये यह आहुति है ॥ १८ ॥

× सं॰ सीदस्व… दर्शतम्। (वा॰ य॰ ११। ३७)

क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि ।
विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नव्यसे ॥ १९ ॥

चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः ।
अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ २० ॥

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्धस्व चा च प्यायस्व । वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ २१ ॥

अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । सꣳ सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः ॥ २२ ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २४ ॥

एधोऽस्येधिषीमहि　समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ २५ ॥

[१९३६] हे तेजस्वी राजन् ! (परस्पाय त्वा अनुक्रामाम) दूसरोंके पालन करनेके लिये अर्थात् प्रजाकी शत्रुओंसे रक्षा करनेके लिये हम तुम्हारा अनुसरण करते हैं, (क्षत्रस्य ब्रह्मणः तन्वं पाहि) क्षत्रियोंके और विद्वान् ब्राह्मणोंके शरीरोंकी तुम रक्षा करो । और (विशः धर्मणा नव्यसे सुविताय वयं त्वा) प्रजाओंको धर्मसे नयेसे नये अत्यन्त उत्तम शुभ पदार्थोंके प्राप्त कराने, उत्तम मार्गपर चलाने वा राज्य शासन कार्यके लिये भी हम तुम्हारा अनुसरण करते हैं ॥ १९ ॥

[१९३७] हे राजन् ! तुम (चतुःस्रक्तिः) चारों दिशाओंमें प्रबल हथियारोंसे युक्त हो, तुम (ऋतस्य नाभिः सप्रथाः) सत्य न्याय व्यवस्थाके केन्द्र और विस्तृत शक्तिवाले हो, (सः सप्रथाः विश्वायुः नः) वह प्रसिद्ध तुम अतिविस्तृत कीर्तिवाले होकर पूर्ण आयु तक हमारी रक्षा करो, और (सः न सर्वायुः सप्रथा) वह प्रसिद्ध तुम हमारे कल्याणके लिये पूर्ण जीवनको प्राप्त होकर विस्तृत यशवाले होओ, हम लोग (द्वेषः ह्वः अन्य व्रतस्य अप सश्चिम) द्वेष करनेवाले और कुटिल चाल चलनेवाले तथा अन्य शत्रुके समान कर्मोंवाले पुरुषोंको दूर करें ॥ २० ॥

[१९३८] हे (घर्म) सूर्यके सदश तेजस्वी राजन् ! (ते एतत् पुरीषम्) तेरा यह इतना बडा ऐश्वर्य अथवा सामर्थ्य है (तेन वर्धस्व) उस अपने सामर्थ्यसे वृद्धिको प्राप्त होओ, (च आप्यायस्व) और पूर्णरूपसे समृद्ध होओ, (च वयं वर्धिषीमहि) तथा हम लोगभी पूर्ण वृद्धिको प्राप्त होवें, (च आप्यासिषीमहि) एवं धनादि श्रेष्ठ पदार्थोंसे तृप्त होवें ॥ २१ ॥

[१९३९] तेजस्वी राष्ट्रपति राजा (वृषा अचिक्रदत्) शत्रुओंको रोकनेमें समर्थ और मेघके सदृश गर्जन करता है, वह (हरिः मित्रः न दर्शतः) प्रजाओंके कष्टोंको निवारण करनेवाला व मित्रके समान सबके लिये स्नेह भावसे देखनेवाला है, वह ही (सूर्येण सं दिद्युतत्) रविके समान स्वतेजसे अच्छी प्रकार चमकता है, तथा (उदधिः निधिः) सागरके तरह गम्भीर एवं कोशके समान सब ऐश्वर्योंका रक्षक है ॥ २२ ॥

[१९४०] (आपः ओषधयः नः सुमित्रिया सन्तु) जल और औषधियां हमारे लिये परममित्र जैसी हितकारी हों, (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है, (च वयं यं द्विष्मः) और हम जिससे द्वेष करते हैं (तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु) उसके लिये यह जल और औषधियां शत्रुरूप हों ॥ २३ ॥

[१९४१] (वयं) हम (तमसः परि, स्वः उत्तरं, देवं देवत्रा उत्तमं ज्योतिः सूर्यं पश्यन्तः) अन्धकारसे रहित, सुखस्वरूप, प्रलयके पश्चात् भी रहनेवाले, दिव्यगुण युक्त, देवों श्रेष्ठ पदार्थोंमें सर्वोत्तम, प्रकाश स्वरूप सूर्य अर्थात् चराचर जगतके आत्मा जगदीश्वरको ध्यान योगसे देखते हुये (उत्तमं अगन्म) उच्चभावको प्राप्त हों ॥ २४ ॥

[१९४२] हे जगदीश्वर ! तुम (एधः असि) प्रकाश करनेवाले इन्धनके तुल्य प्रकाशक हो, तुम्हारे उस प्रकाश-हम (एधिषीमहि) सदा वृद्धिको प्राप्त हों ! तुम (समित् असि) सम्यक् प्रदीप्त समिधाके सदृश हो और (तेजः असि) तेजस्वरूप हो, अतः (मयि तेजः धेहि) मुझमें तेजको स्थापन करो ! ॥ २५ ॥

+

यावंती द्यावांपृथिवी यावंच्च सप्त सिन्धंवो वितस्थिरे ।
तावंन्तामिन्द्र ते ग्रहंमूर्जा गृंह्णाम्यक्षिंतं मयिं गृह्णाम्यक्षिंतम् ॥ २६ ॥

मयि त्यादिंन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुंः ।
घर्मस्त्रिशुग्वि रांजति विराजा ज्योतिंषा सह ब्रह्मंणा तेजंसा सह ॥ २७ ॥

पर्यसो रेत आभृंतं तस्य दोहंमशीमह्युत्तरामुत्तरां समाम् ।
त्विषः संवृक् क्रत्वे दक्षंस्य ते सुषुम्णस्यं ते सुषुम्णाग्निहुतंः ।
इन्द्रंपीतस्य प्रजापंतिभक्षितस्य मधुंमत उपंहूत उपंहूतस्य भक्षयामि ॥ २८ ॥

[अ० ३८, कं० २८, मं० सं० ७५]

इत्यष्टात्रिंशोऽध्यायः ।

[१९४३] हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् इन्द्र परमेश्वर ! (यावती द्यावापृथिवी यावत् सिन्धवः वि तस्थिरे) जितना द्युलोक व भूलोक विस्तीर्ण है और जितने परिमाणमें सागर विविध दिशाओंमें फैले हैं, (तावन्तं ग्रहं ते ऊर्जा गृह्णामि) वहांतकका शासनाधिकार में तेरे बलपराक्रमसे ग्रहण करता हूं, और तुम्हारे कृपासेही में (मयि अक्षितं ग्रहं गृह्णामि) अपनेमें अक्षय ग्रहण सामर्थ्यको भी प्राप्त करता हूं ॥ २६ ॥

[१९४४] (मयि त्यत् बृहत् इन्द्रियम्) मुझमें वह महान् बल प्राप्त हो, (मयि दक्षः) मुझमें दक्षता प्राप्त हो, और (मयि क्रतुः) मुझमें कर्तृत्वशक्ति हो (घर्मः) तेजस्वी राजा, (त्रिशुक् विराजा ज्योतिषा ब्रह्म-तेजसा सह विराजति) अग्नि, विद्युत, सूर्य तीनोंके समान तेजस्वी होकर विराट् प्रकाश, राजोचित तेज और ब्रह्मज्योतिके साथ संयुक्त होकर विशेष शोभित होता है ॥ २७ ॥

(१९४५) जिस प्रकार (पयसः रेतः आभृतम्) दूधसे वीर्यका भरण पोषण होता है उसी प्रकार (तस्य दोहं उत्तरां उत्तरां समां अशीमहि) उसके ऐश्वर्यको हम लोग उत्तरोत्तर आनेवाले वर्षोंमें प्राप्त करें। हे (सुषुम्ण) उत्तम सुख युक्त प्रजाजन ! (ते क्रत्वे) तेरे कर्मकी वृद्धिके लिये (सुषुम्णस्य ते दक्षस्य त्विषः संवृक्) उत्तम सुखसे युक्त तेरे बल और कान्तिको स्वीकार करनेवाले होकर (अग्निहुतः उपहूतः) अग्रणी नायक द्वारा स्वीकृत हुआ और उनसे सन्मान पूर्वक बुलाया जाकर में (इन्द्रपीतस्य प्रजापति भक्षितस्य मधुमतः भक्षयामि) ऐश्वर्यवान् इन्द्रसे और प्रजापतिसे रक्षित उपयुक्त मधुर अन्नादि ऐश्वर्योंसे सम्पन्न होकर में उपभोग करूं ॥ २८ ॥

॥ अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।

स्वाहा॑ प्रा॒णेभ्यः॒ साधि॑पतिकेभ्यः॑ । पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॒[२] ऽग्नये॒ स्वाहा॒[३] ऽन्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑[४]
वा॒यवे॒ स्वाहा॑[५] । दि॒वे स्वाहा॒[६] सूर्या॑य॒ स्वाहा॑[७] ॥ १ ॥
दि॒ग्भ्यः स्वाहा॑[१] च॒न्द्राय॒ स्वाहा॒[२] नक्ष॑त्रेभ्यः॒ स्वाहा॒[३] ऽद्भ्यः स्वाहा॒[४] वरु॑णाय॒ स्वाहा॑[५] ।
ना॒भ्यै॒ स्वाहा॑[६] पू॒ताय॒ स्वाहा॑[७] ॥ २ ॥
वा॒चे स्वाहा॑[११] प्रा॒णाय॒ स्वाहा॑[१२] प्रा॒णाय॒ स्वाहा॑[१३] । चक्षु॑षे॒ स्वाहा॒[४] चक्षु॑षे॒ स्वाहा॒[५]
श्रोत्रा॑य॒ स्वाहा॒[६] श्रोत्रा॑य॒ स्वाहा॑[७] ॥ ३ ॥
मन॑सः॒ काम॒माकू॑तिं वा॒चः स॒त्यम॑शीय । प॒शू॒नाꣳ रू॒पमन्न॑स्य॒ रसो॒ यशः॒ श्रीः श्र॑यतां॒ मयि॒ स्वाहा॑[१] । ४
प्र॒जाप॑तिः॒ सम्भ्रि॒यमा॑णः॒ स॒म्राट् सम्भृ॑तो[२] वै॑श्वदे॒वः सꣳस॒न्नो[३] घ॒र्मः प्रवृ॑क्त॒[४]—
स्तेज॒ उद्य॑त॒ आ॒श्वि॒नः पय॑स्यानी॒यमा॑ने[६] पौ॒ष्णो वि॑ष्य॒न्दमा॑ने[७] मा॒रु॒तः क्लथ॑न्[८] ।
मै॒त्रः शर॑सि स॒न्ता॒य्यमा॑ने[९] वा॒य॒व्यो॒ ह्रि॒यमा॑णो[१०] आ॒ग्ने॒यो हू॒यमा॑नो[११] वाग्घु॒तः[१२] ॥ ५ ॥

[१९४६] (साधिपतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा) इन्द्रियादिके अधिपति जीवके साथ वर्तमान प्राणोंके लिये यह आहुति दी जाति है, (पृथिव्यै स्वाहा) पृथ्वीके लिये यह आहुति दी जाती है, (अग्नये स्वाहा) अग्निके लिये यह आहुति दी जाती है, (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्षके लिये यह आहुति दी जाती है, (वायवे स्वाहा) वायुके लिये यह आहुति दी जाती है, (दिवे स्वाहा) द्युलोकके लिये यह आहुति दी जाती है, और (सूर्याय स्वाहा) सूर्यके लिये यह आहुति दी जाती है ॥ १ ॥

[१९४७] (दिग्भ्यः स्वाहा) दिशाओंके लिये यह आहुति है, (चन्द्राय स्वाहा) चन्द्रमाके लिये यह आहुति है, (नक्षत्रेभ्यः स्वाहा) नक्षत्रोंके लिये यह आहुति है, (अद्भ्यः स्वाहा) जलोंके लिये यह आहुति है, (वरुणाय स्वाहा) वरुणके लिये यह आहुति है, (नाभ्यै स्वाहा) नाभिके लिये यह आहुति है और (पूताय स्वाहा) पवित्र करनेके लिये यह आहुति है ॥ २ ॥

[१९४८] (वाचे स्वाहा) वाणीके सुधार चौर उसके उत्तम शिक्षाके लिये यह आहुति है, (प्राणाय स्वाहा) दक्षिण नासिकाके प्राणवायुको पवित्र रखनेके लिये यह आहुति है, (प्राणाय स्वाहा) वाम नासिकाके प्राणवायुको पवित्र रखनेके लिये यह आहुति है, (चक्षुषे स्वाहा) दायें नेत्रके लिये यह आहुति है, (चक्षुषे स्वाहा) बायें नेत्रके लिये यह आहुति है, (श्रोत्राय स्वाहा) दायें कानके लिये यह आहुति है, और (श्रोत्राय स्वाहा) बायें कानकी उत्तम शक्तिके लिये यह आहुति है ॥ ॥ ३ ॥

[१९४९] (मनसः कामं आकूतिं वाचः सत्यं अशीय) मननशील अन्तःकरणकी इच्छा और अभिप्राय जाननेकी शक्ति तथा वाणीके सत्य भाषणको मैं प्राप्त करूं, एवं (पशूनां रूपं अन्नस्य रसः यशः श्रीः मयि श्रयताम्) पशुओंका रूप, अन्नके रस व यश, लक्ष्मी, ये सब मुझमें आश्रय करें, (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ॥ ४ ॥

[१९५०] (संभ्रियमाणः प्रजापतिः) प्रजायें जब राष्ट्रपति राजाको नाना ऐश्वर्योंसे पुष्ट करती हैं, तब वह 'प्रजापति' कहलाता है, (संभृतः सम्राट्) वह जब अच्छी प्रकारसे परिपुष्ट होकर प्रजामें उत्तम रीतिसे सर्वत्र ऐश्वर्यसे प्रकाशित होता है तब 'सम्राट्' कहलाता है, जब वह (संसन्तः वैश्वदेवः) अच्छी प्रकार सभामें बिराजकर

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे
चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे ।
मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वे देवा द्वादशे ॥ ६ ॥
उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च । सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥ ७ ॥
अग्निं हृदयेनाशनिं हृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना ।
शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तःपर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना
वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम् ॥ ८ ॥

समस्त विद्वानोंसे आदर प्राप्त करता है तब वह 'वैश्वदेव' कहलाता है, वह जब (प्रवृक्तः घर्मः) ऊंचे आसनको प्राप्त होकर तेजस्वी बनता है तब 'घर्म' कहलाता है, जब वह (उद्यतः तेजः) उन्नत पदपर स्थित होकर प्रकाशित होता है तब 'तेज' कहलाता है, जब वह (पयसि आश्विनः) जलमें स्नानपूर्वक अभिषिक्त होता है तब वह 'अश्विन' कहलाता है, जब वह (विष्यन्दमाने पौष्णः) विशेष रूपसे वेगपूर्वक गमन करता हुआ पृथ्वीके हितके लिये प्रवृत्त होता है तब वह 'पौष्ण' कहलाता है, जब वह (क्लथन् मारुतः) शत्रुओंका नाश कर रहा होता है तब वह 'मारुत' कहलाता है, जब वह (शरसि सन्ताय्यमाने मैत्रः) जलाशय तालाब आदि कृषिके साधनोंको विस्तृत करता है तब 'मित्र' कहलाता है, जब वह (ह्रियमाणः वायव्यः) युद्धक्षेत्रमें रथादि साधनोंसे वायुके समान वेगपूर्वक जाता है तब 'वायव्य' कहलाता है, जब वह (हूयमानः आग्नेयः) बराबर शत्रुके ऐश्वर्योंसे मानो आहुति पाता अग्निके समान प्रचण्ड होता है तब 'आग्नेय' कहलाता है और जब वह (हुतः वाक्) सब प्रजाओं द्वारा अपना राजा स्वीकार कर लिया जाता है तब 'वाक्' होता है ॥ ५ ॥

[१९५१] राष्ट्रपति राजा (प्रथमे अहनि सविता) पहले दिन सबका उत्पादक होनेसे 'सविता' है, (द्वितीये अग्निः) दूसरे दिन अग्रणी होनेसे 'अग्नि' है, (तृतीये वायुः) तीसरे दिन वायुके समान पराक्रमशाली होनेसे 'वायु' है, (चतुर्थे आदित्यः) चौथे दिन जलको ग्रहण करनेवाले आदित्यके समान, प्रजासे करों का ग्रहण करनेवाला होनेसे 'आदित्य' है, (पञ्चमः चन्द्रमाः) पांचवें दिन चन्द्र सदृश आह्लाद प्रदायक होनेसे 'चन्द्रमा' है, (षष्ठे ऋतुः) छठे दिन ऋतुके समान अनेक प्रकारके पदार्थोंको देनेवाला होनेसे 'ऋतु' है, (सप्तमे मरुतः) सातवें दिन सैनिकोंके रूपमें होनेसे 'मरुत्गण' है, (अष्टमे बृहस्पतिः) आठवें दिन राष्ट्रका पालन पोषण करनेवाला होनेसे 'बृहस्पति' है, (नवमे मित्रः) नवें दिन सब पर सर्वत्र स्नेहवान् होनेसे 'मित्र' है, (दशमे वरुणः) दसवें दिन सबसे वरण-करनेवाला होनेसे 'वरुण' है, (एकादशे इन्द्रः) ग्यारहवें दिन विद्युतके सदृश तेजस्वी होनेसे 'इन्द्र' है और (द्वादशे विश्वेदेवाः) बारहवें दिन समस्त विद्वानोंके बीचमें निष्पक्षपात होकर रहनेसे विश्वदेवों अर्थात् समस्त विद्वानोंसे सम्मति में भिन्न न होनेसे 'विश्वे देवा' है ॥ ६ ॥

[१९५२] (च) और वह राजा (उग्रः) अपने शत्रुओंपर वायुके समान प्रचण्ड वेगसे आक्रमण करनेसे 'उग्र' है, (च भीमः) और शत्रुओंके लिये भयप्रद होनेसे 'भीम' है, (च ध्वान्तः) और अपने शत्रुओंको अन्धकारके समान मूढ कर देनेवाला होनेसे 'ध्वान्त' है (च धुनिः) और शत्रुओंको कंपा देनेवाला होनेसे 'धुनि' है, (च सासह्वान्) और शत्रुओंको बराबर पराजित करनेमें सामर्थ्यवान् होनेसे 'सासह्वान' है, (च अभियुग्वा) और शत्रुओं पर पराक्रम के साथ चढाई करनेसे 'अभियुग्वा' है, और उन अपने शत्रुओंको (विक्षिप) विशेषरूपसे छिन्नभिन्न या तितर बितर कर देनेसे 'विक्षिप' है, (स्वाहा) यह उत्तम कथन है ॥ ७ ॥

[१९५३] राष्ट्रपति राजा (हृदयेन अग्निम्) हृदयसे अग्निको धारण करता है, (हृदयाग्रेण अशनिम्) हृदय के अग्रभागसे विद्युतको धारण करता है, (कृत्स्नहृदयेन पशुपतिम्) समस्तहृदयके भागसे वह पशुओंके पालक प्राण-वायुको धारण करता है, (यक्ना भवम्) यकृत् कलेजेसे वह सर्वत्र विद्यमान् आकाशको धारण करता है, (मतस्नाभ्यां

उग्रँल्लोहितेन मित्रꣳ सौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन
साध्यान् प्रमुदा । भवस्य कण्ठ्यꣳ रुद्रस्यान्तःपार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्
छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् ॥ ९ ॥

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा
लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा ।
माꣳसेभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा
ऽस्थभ्यः स्वाहा ऽस्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा ।
रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा ॥ १० ॥

शार्वम्) गुर्दोंसे वह जलको धारण करता है, (मन्युना ईशानम्) मन्युसे सब पर शासन करनेवाले ऐश्वर्यवान् ईशानको धारण करता है, (अन्तः पर्शव्येन महादेवम्) भीतरके पसुलियोंसे सबसे बडे देव परमेश्वरको धारण करता है, (वनिष्ठुना अग्नं देवम्) आंतोंसे तीव्र देव अग्निको जाठर रूपसे धारण करता है, (वसिष्ठहनुः कोश्याभ्यां शिङ्गीनि) शत्रुको हनन करनेवाले विशेष साधनोंसे सम्पन्न होकर कोशमें रखने योग्य ऐश्वर्यसे कीर्ति जनकगुणोंको हृदयकोशमें धारण करता है ॥ ८ ॥

[१९५४] हे राष्ट्रपति ! तू (लोहितेन उग्रम्) तप्तमान लोहेके समान तीक्ष्ण स्वभावसे अति उग्र पुरुषको अपने अधीन कर, (सौव्रत्येन मित्रम्) उत्तम व्रतोंके पालनसे मित्रको अपने वशमें कर, (दौर्वत्येन रुद्रम्) कष्टप्रद कार्योंसे प्रजाको रुलानेवाले पुरुषको वश कर, (प्रक्रीडेन इन्द्रम्) क्रीडा विनोदसे ऐश्वर्यवान् धनाढ्य पुरुषोंको वश कर, (बलेन मरुतः) बलसे अथवा सैन्य शक्तिके निपुणतापूर्ण कार्यसे युद्धमें शत्रुओंको मारनेवाले वीर सैनिकोंको वशमें कर, और (प्रमुदा साध्यम्) सुखप्रद उपायोंसे वश करने योग्य लोगोंको अपने अधीन कर। (कण्ठ्यं भवस्य) कंठमें विद्यमान उत्तम स्वर गायन आदि, प्रशंसा योग्य सामर्थ्यवान् प्राणका कार्य है, (रुद्रस्य अन्तः पार्श्व्यम्) शत्रुओंको रुलानेवाला प्राणका स्थान पसुलियोंके भीतरका स्थान है, (यकृत् महादेवस्य) यकृत् अथवा कलेजा महादेवका स्थान है, (शर्वस्य वनिष्ठुः) भक्षण किये अन्नको सूक्ष्म कर शरीरमें सर्वत्र पहुंचानेवाले जाठर बलका स्थान आते हैं, और (पशुपतेः पुरीतत्) पशुओंके स्वामी आत्माका स्थान 'पुरीतत्' नामक हृदयकी नाडी है, इनको भली प्रकारसे जाननेवाला हो ॥ ९ ॥

[१९५५] (लोमभ्यः स्वाहा) लोमोंके निमित्त यह आहुति है, (लोमभ्यः स्वाहा) व्यष्टि लोमोंके लिये यह आहुति है, (त्वचे स्वाहा) त्वचाके लिये यह आहुति है, (त्वचे स्वाहा) व्यष्टि त्वचाके लिये यह आहुति है, (लोहिताय स्वाहा) लोहितके लिये यह आहुति है, (लोहिताय स्वाहा) हृदयस्थ लोहितके लिये यह आहुति है, (मेदोभ्यः स्वाहा) मेदोंके लिये यह आहुति है, (मेदोभ्यः स्वाहा) व्यष्टि मेदोंके लिये यह आहुति है, (मांसेभ्यः स्वाहा) मांसोंके लिये यह आहुति है, (मांसेभ्यः स्वाहा) व्यष्टि मांसोंके लिये यह आहुति है, (स्नावभ्यः स्वाहा) स्नायुओंके लिये यह आहुति है, (स्नावभ्यः स्वाहा) व्यष्टि स्नायुओंके लिये यह आहुति है, (अस्थभ्यः स्वाहा) अस्थियोंके लिये यह आहुति है, (अस्थभ्यः स्वाहा) व्यष्टि अस्थियोंके लिये यह आहुति है, (मज्जभ्यः स्वाहा) समष्टिगत मज्जाओंके लिये यह आहुति है, (मज्जभ्यः स्वाहा) व्यष्टिगत मज्जाओंके लिये यह आहुति है, (रेतसे स्वाहा) वीर्यके लिये यह आहुति है और (पायवे स्वाहा) गुदारूप अवयवके लिये यह आहुति है ॥ १० ॥

आयासाय स्वाहा[१] प्रायासाय स्वाहा[२] संयासाय स्वाहा[३] वियासाय स्वाहा[४] उद्यासाय स्वाहा[५] ॥
शुचे स्वाहा[६] शोचते स्वाहा[७] शोचमानाय स्वाहा[८] शोकाय स्वाहा[९] ॥ ११ ॥
तपसे स्वाहा[१] तप्यते स्वाहा[२] तप्यमानाय स्वाहा[३] तप्ताय स्वाहा[४] घर्माय स्वाहा[५] ।
निष्कृत्यै स्वाहा[६] प्रायश्चित्यै स्वाहा[७] भेषजाय स्वाहा[८] ॥ १२ ॥
यमाय स्वाहा[१] ऽन्तकाय स्वाहा[२] मृत्यवे स्वाहा[३] ।
ब्रह्मणे स्वाहा[४] ब्रह्महत्यायै स्वाहा[५] विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा[६]
द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा[७] ॥ १३ ॥

[अ० ३९, कं० १३, मं० सं० ११६]

इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।

[१९५६] (आयासाय स्वाहा) आयास देवताके निमित्त यह आहुति हो, (प्रयासय स्वाहा) प्रयास देवताके निमित्त यह आहुति हो, (संयासाह स्वाहा) संयास देवताके निमित्त यह आहुति हो, (वियासाय स्वाहा) वियास देवताके निमित्त यह आहुति हो, (उद्यासाय स्वाहा) उद्यास देवताके निमित्त यह आहुति हो, (शुचे स्वाहा) शुच देवताके लिये यह आहुति हो, (शोचते स्वाहा) शोचत् देवताके निमित्त यह आहुति हो, (शोचमानाय स्वाहा) शोचमान देवताके निमित्त यह आहुति हो और (शोकाय स्वाहा) शोकके निमित्त यह आहुति हो ॥ ११ ॥

[१९५७] (तपसे स्वाहा) तपके निमित्त यह आहुति हो (तप्यते स्वाहा) संतापको प्राप्त होनेवालेके लिये यह आहुति हो, (तप्यमानाय स्वाहा) तप्यमानके निमित्त यह आहुति हो, (तप्यताय स्वाहा) तप्तके लिये यह आहुति हो, (घर्माय स्वाहा) दिनके होमके लिये यह आहुति हो, (निष्कृत्यै स्वाहा) निष्कृतिके लिये यह आहुति हो, (प्रायश्चित्यै स्वाहा) प्रायश्चित्तिके लिये यह आहुति हो, और (भेषजाय स्वाहा) भेषजके लिये यह आहुति हो ॥ १२ ॥

[१९५८] (यमाय स्वाहा) यमके निमित्त यह आहुति हो, (अन्तकाय स्वाहा) अन्तके लिये यह आहुति हो, (मृत्यवे स्वाहा) मृत्युके निमित्त यह आहुति हो, (ब्रह्मणे स्वाहा) ब्रह्मके लिये यह आहुति हो, (ब्रह्महत्यायै स्वाहा) ब्रह्म हत्याके निमित्त यह आहुति हो, (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) सम्पूर्ण देवताओंके लिये यह आहुति हो, (द्यावापृथिवीभ्याम् स्वाहा) द्युलोक और भूमिके लिये यह आहुति दी जाती है ॥ १३ ॥

॥ उनतालीसवां अध्याय समाप्त ॥

realpatidar.com

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

[१९५९] (ईशा वास्यं इदं सर्वं) ईशसे बसनेयोग्य यह सब है। (यत् किं च जगत्यां जगत्) जो कुछ जगतीमें जगत् है। (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः) उसका दानसे उपभोग कर। (मा गृधः) लोभ मत कर। (कस्य स्वित् धनम्) किस एक व्यक्तिका भला धन है ? ॥ १ ॥

ईश = स्वामी, प्रभु, ईश्वर, नियामक, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म। 'वास्यं '=(वस्)=रहना, होना, प्रतीत होना, परिधान करना, ओढना, आच्छादन करना, स्थिर करना, प्रीति करना, लेना, स्वीकारना, अर्पण करना। 'ईशा वास्यं '= स्वामीसे वसने योग्य; स्वामी होकर वसने लायक। ईश्वरसे ओढा हुआ अथवा आच्छादित हुआ हुआ; देवके द्वारा प्रीतिसे दिया हुआ। ईशा वास्यं इदं जगत्। स्वतंत्र नियामकके द्वाराही रहनेयोग्य यह जगत् है। परतंत्र गुलाम बने हुएके रहनेयोग्य यह जगत् नहीं है।

जगत्= हिलनेवाला, बदलनेवाला, चंचल, अस्थिर, जगत्, मनुष्य। जगती= बदलनेवाली, सृष्टि, विश्व, मानव-जाति। जगत्यां जगत्= नित्य परिवर्तनशील जगत्, समुदायमें बदलनेवाला एक पदार्थ। अनेकोंमें एक; सङ्घमें व्यक्ति; समष्टिमें व्यष्टि; मानवजातिमें एक मनुष्य, जातिमें एक।

त्यक्त= त्यागा हुआ, दान किया हुआ, धर्मके लिए समर्पित किया हुआ। भुञ्जीथाः= (भुज्)= भोगना, खाना, उपभोग करना, स्वयं अपने लिए उपयोग करना, अपने अधिकारमें रखना, शासन करना, अपनासा कर लेना। त्यक्तेन भुञ्जीथाः= दान करके भोग कर; दान देकर अवशिष्ट रहे हुएका उपभोग कर; जगद् उपकारके लिए समर्पण करनाही अपना वास्तविक उपभोग है ऐसा समझ।

मा गृधः= अपने अधिकारमें जो जगत्का भाग आया हुआ हो, उसका भी लोभ मत कर, उसका उपभोग करना हो तो दान करके कर। दूसरेके पदार्थका लोभ तो कभी भी मत कर।

स्वित्= शंका, आश्चर्य, ठीक है क्या ? भला ? कस्य स्वित् धनम् ?= भला धन किस एक व्यक्तिका है ? धन मेरे अकेलेका है ऐसा माननेवाले लोग मृत्युके समय धन छोडकर चले जाते हैं; अतः धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है यह बिलकुल सत्य है। तो यह किसका है ? इसका उत्तर कस्य धनं= (कः) प्रजापतिका धन है। प्रजापालन करनेवालेका धन है, अथवा सर्व जनताका धन है, क्योंकि व्यक्तिके मरनेपर भी समाज अमर रहता है, अतः सब धन जनताका है और जनताका है इसी लिए व्यक्ति उसे जनताके अभ्युदयके लिए अर्पण कर अवशिष्ट रहे हुएमेंही संतुष्ट होकर उसका भोग करे। सब धन सम्पूर्ण जनताका है। वह किसी भी एक व्यक्तिका नहीं है, अतएव व्यक्तिको धनका लोभ छोड देना चाहिए और सबके उपकारार्थ उसका व्यय करके जो कुछ शेष बचे, उससे अपनी जीवनयात्रा चलानेके लिए उपभोग करना चाहिये ॥ १ ॥

[१९६०] (इह कर्माणि कुर्वन् एव) यहां प्रशस्त कर्म करता हुआ ही (शतं समाः जिजीविषेत्) सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे। (एवं त्वयि) यह (ज्ञान) तेरे में (हो), (इतः अन्यथा न अस्ति) इससे दूसरा (मार्ग) नहीं। (कर्म नरे न लिप्यते) कर्म नरको दूषित नहीं करते ॥ २ ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

कर्म = प्रशस्ततम कर्म, श्रेष्ठ पुरुषार्थ, सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म, जनताकी उन्नतिके कर्म, लोकसंग्रहकारक उपकार कर्म। **अकर्म** = अकर्म दो प्रकारके हैं- (१) जो किये हुये भी न किए हुएके बराबर हैं; और वैयक्तिक अस्तित्वके लिये ही केवल जो कारणभूत हैं वे। (२) निष्काम कर्म। **विकर्म** = विरुद्ध कर्म, अयोग्यकर्म, व्यक्ति और समाजको हानि करनेवाले कर्म। ये कर्मके तीन भेद हैं। इस मंत्रमें पहिला अर्थ विवक्षित है । इह = यहां, इस जगत्में।

शतं समाः = सौ वर्ष, इच्छाशक्ति उत्पन्न होनेके बादके सौ साल, अर्थात् यदि २० वर्षकी आयुमें इच्छाशक्ति प्रकट होती है, ऐसा मान लें तो तबसे सौ साल जीनेकी इच्छा प्रयत्नपूर्वक करे, इन प्रकार १२० सालकी मानवी आयु होती है। अत एव ज्योतिष् गणितकारोंने यही मान स्वीकारा है। इतना पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेकी प्रयत्नपूर्वक इच्छा रखनी चाहिए, ऐसा उपदेश यहां पर है। ' श्रेष्ठोंका सत्कार, साथियोंके साथ संगति और नीचेकी स्थितिमें रहनेवालोंको दान ' ये तीन कर्म यज्ञमें मुख्य हैं; इस कारण यज्ञद्वारा जनताका मेल तथा उन्नति होती है। सब यज्ञकर्मोंका यही ध्येय है। सब यज्ञ ऐसे लोकसंग्रहकारक होनेसे ऐसे लोकसंग्रहकारक प्रशस्त कर्मके लिए अपने पासके धनका व्यय करना सबके लिए उचित है। (१) अज्ञानियोंको ज्ञानदान, (२) बडोंका आदर, (३) अतिथियोंका सत्कार, (४) भूतमात्रपर दया, और (५) भूमि जल आदि दैवी शक्तियोंका आदरपूर्वक प्रयोग; ये पांच श्रेष्ठ (यज्ञ) कर्म प्रत्येक मनुष्यके लिये करने आवश्यक हैं।

एवं त्वयि = यहांतक जो सात उपदेश कहे, वे तुझ जैसे साधकमें स्थिर हों।

इतः अन्यथा नास्ति = उन्नतिके लिये इसके सिवाय भिन्न मार्ग नहीं है।

नरः = (न रमते) जो भोगोंमें रमता नहीं वह। **कर्म नरे न लिप्यते** = जो भोगोंमें फंस कर अपने कर्मोंसे च्युत नहीं होता, ऐसे मनुष्यको कर्मोंसे होनेवाला दोष नहीं लगता।

[सूचना- यहांतक जो आत्मोन्नतिका मार्ग कहा है वह यह है—

' (१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व मानते हुए, वह हमारे कर्मोंको देखता है ऐसा मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके सुखमें व्यक्तिका सुख है ऐसा मानना, (३) दान करके बचे हुएका स्वतः भोग करना। (४) लोभ न करना, (५) सब धन मुझ अकेलेका नहीं है पर वह सब प्रजाका है ऐसा मानना, (८) इसी एक आत्मोन्नतिके मार्गपर दृढ विश्वास रखना (९) उद्धारका इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना, (१०) सत्कर्म कभी बन्धन नहीं करते ऐसा मानना '। इस मार्गपर चलकर अपने जीवनको सार्थक करनेवाले लोग ' समर्थ ' बनकर जगत्में आदर्शभूत बनते हैं और बंधनसे मुक्त होकर अंतमें उस स्थानको जाते हैं, जहां कि आत्मोन्नति करनेवाले लोग जाते हैं। परन्तु इस मार्गको न स्वीकारते हुए जो लोग आत्मघातके मार्गसे जाते हैं, उनकी क्या दशा होती है, इसको तीसरे मंत्रमें देखिए॥ २ ॥

[१९६१] **(असुर्याः नाम ते लोकाः)** बलके लिऐ प्रसिद्ध ऐसे वे लोग, **(अन्धेन तमसा आवृताः)** गाढ अंधकारसे व्याप्त हैं। **(ते प्रेत्य तान् अपिगच्छन्ति)** वे मृत्युके बाद उनमें जाते हैं **(ये के च आत्महनः जनाः)** जो कोई आत्मघाती जन हैं ॥ ३ ॥

असुर्य- ' असु+र ' = ' असु ' अर्थात् प्राण। उस प्राणकी शक्तिको जो (रा-देना) देता है वह ' असु+र ' है। यह ' असुर ' शब्द वेदमें ' आत्मा, परमात्मा, ईश्वर ', का वाचक है। अतः उनकी जो प्राणशक्ति है उसका नाम ' असुर्य ' है। ' प्राणियोंको प्राणशक्ति देनेवाले देवकी प्राणशक्ति ' यह इसका अर्थ है। यह शक्ति जैसी देवोंमें वैसीही राक्षसोंमें, और जैसी सज्जनोंमें वैसीही दुर्जनोंमें रहती है। प्रत्येक शरीरमें जो बल है, वह इसी शक्तिके कारण है। शरीरमें प्राणशक्तिके नीचे जो इन्द्रियशक्ति और शरीरशक्ति कार्य कर रही है वह इसी असुर्य शक्तिके कारण है। इससे स्पष्ट हुआ कि ' असुर्य ' अर्थात् ' इन्द्रियोंमें और शरीरमें कार्य करनेवाले बल '। इनसे जो भिन्न हैं वे आत्माके दूसरे बल हैं, और वे प्राणसे भी उत्कृष्ट हैं; ये मानसिक बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा प्रकट होते हैं। बुद्धि और मनमें जो चैतन्य सामर्थ्य प्रकट हुआ है वह इस ' असुर्य ' नामक बलसे भिन्न है। **' असुर्या नाम ते लोकाः '**= केवल

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

जो शारीरिक बलके लिए प्रसिद्ध हैं ऐसे जो लोग हैं, वे शारीरिक बल दिखाना, दंगा फिसाद करना, मारपीट करना, आदि व्यवहारके लिए प्रसिद्ध हैं। सत्य, न्याय, धर्म, मानवीय उच्च आदर्श आदि बातोंके समझनेकी योग्यता इनमें नहीं है। यद्यपि इनके शारीरिक बल आत्मासेही आए हुए बल हैं, तथापि वे अपने अज्ञानके कारण असन्मार्गमें लगे होते हैं, अतएव 'अन्धेन तमसा आवृताः' =ये लोग 'अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हुए हैं'=ऐसा समझा जाता है। 'ये के च आत्महनः जनाः ते तान् प्रेत्य (अपि) गच्छन्ति। =जो कोई आत्मघाती जन हैं, वे वैसे मूर्ख लोकोंमें मरनेके बाद भी जाते हैं; अर्थात् उनकी जीतेजी भी इन लोगोंमें गणना होती है। 'घन' = जन अर्थात् केवल प्रजनन करके कैमी भी संतति उत्पन्न करनेमें ही जो समर्थ हैं, जिनसे इसकी अपेक्षा अन्य कोई प्रशंनीय मानवीय कर्तव्य होना संभव नहीं है। ये जन आत्मोन्नतिका पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ हैं और इनके कष्ट होनेसे इनसे यदि कोई कार्य हो भी गया, तो वह आत्माकी अवनतिका ही होता है, इसलिये इन्हें यहां आत्मघातकी कहा गया है। पूर्वके दो मंत्रोंमें जो मार्ग बताया है, उस आत्मोन्नतिके मार्गका अवलम्बन न करते हुए, उसके विरुद्ध आत्मघाती मार्गोंकाही ये अवलंम्बन करते हैं। आत्मघातका मार्ग यह है—

'(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व न मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके आधारसे व्यक्ति स्थित है ऐसा न मानकर, व्यक्तिका यथा संभव स्वार्थ बढाते हुए, उससे संघके नाशके लिये कुकर्मोंको करते रहना, (३) स्वार्थपूर्वक भोग करना; (४) लोभ करना, (५) सब धन केवल मेराही है ऐसा मानना, (६) सदा कुकर्म करना (७) जिनसे आयु क्षीण हो ऐसे हीन कर्म करते जाना, (८) एक सन्मार्गपर मनको स्थिर न रखना, (९) विपरीत मार्गोंपर विश्वास रखना, (१०) सत्कर्म भी बंधन हैं ऐसा मानना।'

ये दस प्रकारके मार्ग आत्मघातके हैं। इन मार्गोंसे जो जाता है वह किस प्रकारसे अधोगतिको प्राप्त करता है यह बात इस मंत्रने दिखलाई है ॥ ३ ॥

[१९६२] (एकं, अन्-एजत्) वह एक, चञ्चलतारहित, (पूर्वं, अर्शत्) सबसे पुरातन, स्फूर्ति देनेवाला, (मनसः जवीयः) मनकी अपेक्षा वेगवान् है। (देवाः एनत् न आप्नुवन्) इन्द्रियां इसे प्राप्त नहीं करतीं। (तत् तिष्ठत् धावतः) वह स्थिर होता हुआ दौडते हुए (अन्यान् अत्येति) दूसरोंके आगे जाता है। (तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति) उसके आधारसे माताके [गर्भमें] रहनेवाला [जीव] कर्मोंका धारण करता है ॥ ४ ॥

[प्रथम मंत्रमें 'ईश सर्वत्र वसता है,' ऐसा कहा है, परन्तु वह एक है अथवा अनेक ? और उसका क्या सामर्थ्य है ? इस विषयमें कुछ नहीं कहा है। यद्यपि वहां 'ईशा' ऐसा एकवचनका प्रयोग है, तथापि यह संदेह हो सकता है कि कदाचित् वह जातिवाचक एकवचन हो; अतः उपरोक्त शंकाको दूर करनेके लिए इस मंत्रमें वह 'एक' ही है, ऐसा कहकर उसके गुणोंका वर्णन किया है। वे गुण इस प्रकार हैं-] 'एकं'= वह पूर्ण ब्रह्म एक है। 'अनेजत्'= वह हिलता नहीं अर्थात् वह स्थिर है। वह सर्वत्र व्याप्त होनेसे इधर उधर नहीं जाता, वह चंचल नहीं है। 'पूर्वं'= वह सबसे पूर्वका है। जगत् निर्माणके भी पूर्व वह था। 'अर्शत्'= (ऋष्=गति) सबको गति देनेवाला है, स्फूर्ति देनेवाला है, वह चालक, प्रेरक और निरीक्षक है। 'मनसः जवीयः'= वह मनकी अपेक्षा वेगवान् है। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियां और शरीर इस क्रमसे देखे तो, प्रथमकी अपेक्षा दूसरेमें गति कम और तीसरेमें उससे भी कम इस प्रकारसे गति कम होती जाती है। इसलिए वह मनसे ऊपर दो तीन सीढीयां आगे होनेसे मनसे भी अधिक वेगवान् है। मन चंचल है, पर मन जिसका चिंतन करता है वहां वह ब्रह्म पूर्वसेही व्याप्त होनेसे, मनसे पूर्व वह सर्वत्र फैला हुआ है। [मनसे वह अत्यन्त वेगवान् होनेसे प्राप्त नहीं कर सकता यह बात स्पष्टही है, परन्तु इतर 'देव' (इन्द्रियां) उसे प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—]

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

देवाः एनत् न आप्नुवन्= देवोंके तीन क्षेत्र हैं। 'व्यक्तिगत देव' व्यक्तिमें आंख, कान आदि इन्द्रियां देव हैं। ये इन्द्रियां बहिर्मुख होनेसे इन्हें अन्तरात्माका दर्शन होता नहीं। 'मानव-समाजस्थ देव'= ज्ञानी (शब्द शास्त्री), शूर, व्यापारी, कारीगर, ये मनुष्य-समाजमें देव हैं। ये व्यवहारमें जुटे रहते हैं अतः इन्हें भी परमात्म-साक्षात्कार नहीं होता। 'जगत्में स्थित देव'= अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य आदि देव जगत्में हैं। वे भी ब्रह्म साक्षात्कारके अधिकारी नहीं हैं। इस प्रकार ये तीनों क्षेत्रोंके देव अन्तरात्माको पा नहीं सकते। व्यवहारमें न फंसते हुए जो बंधनसे छूटता है, व निःसंग वृत्तिसे रहता हुआ उस परमात्माके लिए आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है वही सन्त उसे प्राप्त कर सकता है।

'तिष्ठत्'= वह ब्रह्म स्थिर है। ऐसा होते हुए भी वह 'धावतः अन्यान् अत्येति'= दौडते हुए दूसरे पदार्थोंके भी पहिले गया हुआ होता है। व्यक्तिमें इन्द्रियां दौड रही हैं, समाजमें मनुष्य भगदौड मचा रहे हैं, जगत्में सूर्य, चंद्रादि नक्षत्र भी दौड रहे हैं। परन्तु ये सब जहां दौड कर जाते हैं, वहां पहिलेसेही ब्रह्म पहुंचा हुआ होता है। चाहे कोई कितना भी तेज दौडता हो पर वह इस आत्मासे पूर्व पहुंचनेके स्थानपर पहुंच नहीं सकता। [दूसरे मंत्रमें 'प्रशस्त कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीनेकी प्रयत्नपूर्वक इच्छा करनी चाहिए' ऐसा कहा है। परन्तु इसपर ऐसी शंका उठती है कि अन्तके जो कर्म होंगे, उनका फल मृत्यु हो जानेसे उस व्यक्तिको नहीं मिलेगा और ऐसी दशामें क्या वे उत्तम कर्म व्यर्थ जाएंगें ? इसका उत्तर 'किए गए कर्म व्यर्थ नहीं जाते' ऐसा अग्रिम मंत्रभागमें दिया हुआ है, उसे अब यहीं देखिए–]

'मातरि-श्वा' = माताके उदरमें रहनेवाली जीव, जिसका पूर्वका शरीर छूट गया है और जिसका दूसरा देह बन रहा है, वह माताके गर्भमें आया हुआ जीव, 'तस्मिन् अपः दधाति' = उस ब्रह्मके आधारसे अपने कर्म धारण करता है। जिस प्रथम शरीरसे कर्म किये थे वह यद्यपि नष्ट हो गया और आगेका शरीर नहीं भीं मिला, तो भी इससे पूर्व कृत अच्छे बुरे कर्म नष्ट नहीं होते। परमेश्वरके त्रिकालमें स्थिर नियमोंसे वे कर्म संस्कार रूपसे आत्माके पास रहते हुए जीवको अच्छे बुरे भोग देते ही हैं। ['ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन०।' (भ. गी. ५। १०) ब्रह्मको समर्पण करते हुए आसक्तिरहित कर्म जो करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है।' इस गीताके वचनानुसार भी इस मंत्रभागका अर्थ हो सकता है। 'तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति'= उस ब्रह्मको कर्म समर्पण करते हुए जो जीव कर्म करता है, (वह पापसे बद्ध नहीं होता)। दूसरे मंत्रमें 'नर कर्मसे लिप्त होता नहीं'= ऐसा कहा है, वह किस प्रकारसे ? यह इस मंत्रभागने दिखाया है, ऐसा यहां सम्बन्ध जानना चाहिए।] इस मंत्रमें कहे अनुसार आत्माका ध्यान करना चाहिए। [इस मंत्रभागसे पुनर्जन्मकी कल्पना उत्तमतया दिखाई गई है।] ॥ ४ ॥

[१९६३] (तत् एजति [एजयति]) वह हिलाता है, [परन्तु] (तत् न एजति) वह (स्वयं) हिलता नहीं। (तत् दूरे) वह दूर है, [और] (तत् उ अन्तिके) वह निश्चयसे समीप [भी है] (तत् अस्य सर्वस्य अन्तः) वह इस सबके अन्दर है। [और] (तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः) वह निश्चयसे इस सबके बाहर [भी है] ॥ ५ ॥

तत्= वह, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, पूर्ण ईश्वर।

'तत् एज (य) ति'= वह सबको प्रेरित करता है, चलाता है, फिराता है परन्तु—

'तत् न एजति'= वह स्वयं हिलता नहीं, चंचल नहीं होता। वह सदा स्थिर व अचल रहता है।

'तत् दूरे, तत् उ अन्तिके'= वह दूर है और निश्चयसे पास भी है; अर्थात् वह सर्वत्र समान रूपसे व्याप्त है; अथवा वह अज्ञानी मनुष्यको अत्यन्त दूर और अप्राप्य प्रतीत होता है, इसके विरुद्ध ज्ञानी भक्तके वह अत्यन्त समीप है।

'तत् अस्य सर्वस्य अन्तः बाह्यतः च'= वह इस सबके अन्दर और बाहर है, वह कहीं नहीं, ऐसा नहीं। सबके अन्दर है इसका अर्थ वह मनुष्यके अन्दर भी है ही। अतः वह वस्तुतः अत्यन्त समीप है, पर भक्तिहीन मनुष्यको उसके समीप होते हुए भी उसके समीप होनेका अनुभव नहीं होता ! [प्रथम मंत्रमें 'ईश सर्वत्र वसता है' ऐसा कहा है। वही उपदेश ४ और ५ वें मंत्रोंमें अधिक स्पष्ट किया है।]

[पूर्वके दो मंत्रोंमें जो ईशके गुणोंका वर्णन किया है वह केवल शाब्दिक बोधके लिये नहीं है, वह मनुष्यके स्वभाव और आचरणमें आना चाहिए, मनमें रहना चाहिये और कार्यमें परिणत होना चाहिए। वह आचरणमें आने लगा तो मनुष्यमें कैसी समबुद्धि होती है वह इसमें दिखायी है ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

[१९६४] (यः तु सर्वाणि भूतानि) जो वास्तवमें सब भूतोंको (आत्मनि एव अनुपश्यति) आत्मामें अनुभवसे देखता है, (सर्वभूतेषु च आत्मानं) [और] सब भूतोंमें आत्माको (अनुपश्यति) अनुभवसे देखता है, [वह] (ततः न विचिकित्सति) किसीका संशय नहीं करता ॥ ६ ॥

' यः भूतानि आत्मनि अनुपश्यति '= जो मनुष्य उत्पन्न हुए हुए सब पदार्थ, विशेषतः सर्व प्राणिमात्र, आत्माके अन्दर हैं, ऐसा अनुभवसे विश्वासपूर्वक जानता है; और इसी प्रकार—

' सर्वभूतेषु आत्मानं '= सर्व भूतोंमें उस एक अद्वितीय आत्माको अनुभवपूर्वक देखता है, वह सब भूतोंके अन्दर बाहर आत्माका विश्वासपूर्वक अनुभव लेनेके कारण,

' ततः न विजुगुप्सते '= किसी भूतमात्रका तिरस्कार नहीं करता, उनसे दूर रहनेका भार उसके मनमें नहीं आता, उसके विषयमें कोई भी संदेह मनमें नहीं होता । (वाजस० पाठः) ' ततो न विचिकित्सति '=उनके विषयमें संशय नहीं करता । सर्व भूतोंके विषयमें वह समान आत्मभाव मनमें रखता है । उसकी सर्वत्र समदृष्टि होती है । पूर्वके मंत्रोंमें कहा अनुभव अधिक दृढ होनेके पश्चात् ' सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है ' इतनेही अनुभवपर स्थिर न रहता हुआ, ज्ञानोभक्त उसके ऊपरकी भूमिका पर जाकर ' आत्मैकत्वकी महिमा ' का प्रत्यक्ष करता है । यह अनुभव इस मंत्रने बताया है— ॥ ६ ॥

[१९६५] (यस्मिन् विजानतः) जहां विज्ञानीकी (आत्मा एव) आत्मा ही (सर्वाणि भूतानि अभूत) सर्व भूत बन गयी; (तत्र एकत्वं अनुपश्यतः) वहां एकत्व अनुभव करनेवालेको (कः मोहः) मोह कैसा ? और (कः शोकः) शोक भी कैसा ? ॥ ७ ॥

वि+जानत् = विशेष रीतिसे जाननेवाला, देखनेवाला, अनुभव लेनेवाला, विशेष ज्ञानी । ' विजानतः ' ऐसे ज्ञानीके लिए ' यस्मिन् '= जब, जिस समय, जिस अवस्थामें, जिस भूमिकापर पहुंच जानेके बाद, जो अनुभव मिला, वह है; ' आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत् ' = आत्माही सर्व भूत बने, आत्मस्वरूपही सब विश्व भासने लगा, ऐसा जानकर अन्तमें यह जानना कि सामर्थ्य समर्थका निज ऐश्वर्य है और वह उससे भिन्न नहीं है । ऐसा जिसको ठीक अनुभव हुआ; उसमें सर्वात्मभाव स्थिर हुआ ऐसा समझना योग्य है ।

तत्र= वहां, उस अनुभवकी अवस्थामें; ' एकत्वं अनुपश्यतः '= सर्वत्र एक आत्मतत्त्वका अनुभव लेनेवाले उस ज्ञानी मनुष्यको, ' कः मोहः, कः शोकः '=कौनसा मोह भ्रममें डालेगा और कौनसा शोक भला दुःख उत्पन्न करनेमें समर्थ होगा ? ऐसे ज्ञानीको मोह और शोक जरा भी कष्ट नहीं पहुंचा सकते, वे उसे छू भी नहीं सकते । [' ईश सर्वत्र है ' ऐसा जो प्रथम मंत्रने कहा है, उसका पुनः अधिक स्पष्टीकरण इस आठवें मंत्रने किया है, और वह ' शुद्ध, समर्थ, सर्वत्र, स्वयंभू, व्यवस्थापक है, ऐसा यह मंत्र बतला रहा है— ॥ ७ ॥

[१९६६] (स पर्यगात्) वह सर्वत्र व्यापक है । (अकायं) वह देह-रहित, (अस्नाविरं, अव्रणं) स्नायु-रहित, व्रणरहित, (शुद्धं, अपापविद्धं, शुक्रं,) शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी [समर्थ], (कविः, मनीषी,) द्रष्टा, ज्ञाता [मनका स्वामी], (परिभूः, स्वयंभूः) विजयी और स्वयंभू है । (याथातथ्यतः) [उसने] योग्य रीतिसे (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनादि कालसे सब (अर्थान् व्यदधात्) अर्थोंकी व्यवस्था की है ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

'स पर्यगात्'=वह आत्मा सब स्थानमें पहुंचा हुआ है, सर्व व्यापक है, वह सब जानता है, सर्वत्र है, 'अ-कायं, अस्नाविरं, अव्रणं' = वह शरीररहित है अत एव वह स्नायु और व्रणसे रहित है। 'अ-पापविद्धं' = वह पापोंसे ग्रस्त नहीं है। वह निष्पाप है। 'शुद्धं,-शुक्रं' = वह पवित्र होनेसे निष्पाप, तेजस्वी और समर्थ है।

'कविः' = (क्रान्तदर्शी) उसे अतीन्द्रिय ज्ञान है। आंखोंसे जो दीखता है उसे देखता हुआ उससे परेका भी देखनेवाला वह कवि है। 'मनीषी' = मनको स्वाधीन रखनेवाला है। 'परि-भूः' = सबसे श्रेष्ठ सब पर प्रभाव डालनेवाला। 'स्वयं-भू' = अपनी शक्तियोंसेही स्थित होनेवाला, जिसको दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है ऐसा वह आत्मा है।

'अर्थः' = विषय, प्राप्त करवानेके साधन। 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्' = अनादिकालसे इन्द्रियां और उनके विषयोंको योग्य रीतिसे तथा व्यवस्थासे उसने निश्चित कर रखा है। [पूर्वके सात मन्त्रोंमें दिखाया ज्ञान अनुभवसे आत्मसात् कर लेनेपर उस ज्ञानी भक्तकी योग्यता इस मंत्रमें वर्णन किए अनुसार हो जाती है। जीवात्मा परमेश्वरका अमृतपुत्र होनेसे, पूर्वोक्त प्रकारोंसे आत्मशक्तिका विकास करके अपने पिताके समान होता है। परम पिताके सर्व गुण पुत्रमें विकसित हुए हुए दिखते हैं। इन गुणोंका मनुष्यमें विकसित होनाही उपासककी अन्तिम सिद्धि है] ॥ ८ ॥

[१९६७] (ये असंभूतिं उपासते) जो असंघभावकी [ही केवल] उपासना करते हैं [वे] (अन्धं तमः प्रविशन्ति) गाढ अंधकारमें जाते हैं। (ते ततः भूयः इव तमः ये उ संभूत्यां रताः) वे उनसे मानो अधिक अंधकारमें जाते हैं, जो [केवल] संघभावमें ही रमते हैं ॥ ९ ॥

'संभूति और असंभूति' = (सं) एक होकर (भूति) होना, रहना, उत्कर्षके लिये प्रयत्न करना, ऐश्वर्य प्राप्त करना; (सं-भूति) संघ बनाकर रहना, सहकार्य करके ऐश्वर्य वृद्धिके लिये प्रयत्न करना; 'संभूय समुत्थान' = सहकारितासे व्यवहार करना, मिलकर हमला करना, संघ बनाकर संघशक्तिसे चलना, सहकारी संस्था स्थापन करके उन्नतिके लिए प्रयत्न करना। 'सं+भू' इस धातुका अर्थ एक होकर रहना, संघ बनाना, ऐक्य करके आगे बढाना, ऐसा है। 'संभूतिः' = संघ, जमाव, समाज, संगठित समाज। विभक्तोंकी विभिन्नता दूर करके उनका संगठन करना, भिन्न भिन्न प्राकृतिक परमाणुओंको एकत्रित करके उनसे सृष्टिरूप संगठित कार्य करना, भिन्न भिन्न व्यक्तिओंका संगठन करके उनका प्रबल संघ बनाना; जाति, राष्ट्र और राष्ट्रसंघ बनाना; 'अ+संभूतिः' = असंघटित अवस्था। उपरोक्त प्रकारका संगठन न होनेपर जो स्थिति होती है वह। व्यक्तिकी स्थिति, वैयक्तिक सत्ता, ये इस शब्दके मौलिक अर्थ हैं।

'असंभूतिके उपासक' = जो असंघभावनाके-व्यक्ति सत्ताके उपासक, वैयक्तिक स्वातंत्र्यकाही केवल आदर करनेवाले हैं, वे अंधकारमें जाते हैं। जो अपना संगठन थोडा भी न करते हुए केवल व्यक्तिकीही उन्नति करते हैं, उनमें संघ शक्तिके न बढनेसे संघबलसे होनेवाले कार्य करनेके लिए वे सर्वथा अयोग्य होते हैं और इस कारण वे अवनत होते जाते हैं, क्योंकि मनुष्य संघमेंही उन्नत होनेवाला प्राणी है।

'संभूतिमें रमण करनेवाले' = केवल संघभावकेही पूजक या केवल संघशक्ति बढानेके लिये व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट करनेवाले जो हैं, वे 'केवल संघसत्तावादी' भी अवनत होते हैं; क्योंकि इनके कार्यक्रममें व्यक्तिस्वातंत्र्यको स्थान नहीं रहता और प्रत्येक व्यक्ति संघके नियमोंसे जकडा जानेसे धीरे धीरे धीरे उन्हें परतंत्र होनेका अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें परतंत्रता स्थिर होती गई तो व्यक्तिस्वातंत्र्यसे होनेवाली सब उन्नतियां बन्द हो जाती हैं। और अन्ततो गत्वा उस राष्ट्रकाही लय हो जाता है। अत्यधिक संघसत्तावादियोंके बहुमतके कारण राष्ट्रमें सब लोगोंकी ऐसी अवनति होती है ॥ ९ ॥

[१९६८] (संभवात् अन्यत् एव आहुः) संघका [फल] भिन्नही [है ऐसा] कहते है, [और] (असंभवात् अन्यत् आहुः) असंघभावनाका [फल] भिन्नही [ऐसा] कहते हैं। (इति धीराणां शुश्रुम ये नः तत् विचचक्षिरे) ऐसा धीरोदात्त वीरोंसे सुनते आये हैं, जिन्होंने हमें उस विषयमें उपदेश किया ॥ १० ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयंꣳ सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

'संभवः = (संभूतिः) ' = एक होकर रहना, संघभावसे समाज बनाकर संघशक्तिको बढाना। 'संभवात् अन्यत्' = संघमें रहनेसे एक विलक्षण फल मिलता है। 'संघ-सत्ता-वाद' का फल भिन्न है। अपना संगठन करके रहनेवालोंमें संघशक्तिका अद्भुत बल बढता है। संघशक्तिसे जो समाज सुसंगठित होता है वह जगत्में विजयी होता है। थोडेसे भी लोक संघशक्तिसे विलक्षण कर्म करनेमें समर्थ होते हैं। यह इस संघसत्तावादमें बडाभारी प्रलोभ है।

'अ+संभवः= (असंभूतिः) '= असंघभाव अर्थात् व्यक्ति सत्तावाद; प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न सत्तावाला है, प्रत्येक व्यक्तिको अपनी यथा संभव उन्नति करनी चाहिए और सुधार करना चाहिए, और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हो तो सब जनता स्वयंही उन्नत हो जाएगी। अतः व्यक्तिको समाजके नियमोंसे बांधकर संघ बनानेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा जो मानते हैं वे ' व्यक्ति सत्तावादी लोक ' हैं। इनके मतानुसार चलनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको उसकी इच्छानुसार पराकाष्ठातक उन्नति करनेके लिए पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं, जिससे कईयोंके वैयक्तिक गुण बढ जाते हैं। कारण इस मतमें आदर्श व्यक्ति तैयार हो सकता है। इस व्यक्ति-सत्तावादमें यह प्रलोभन है। [समाजसत्तावादसे संघशक्ति निर्माण होनेका लाभ यद्यपि है तथापि व्यक्ति भी समाजरूपी यंत्रका एक अंश होनेसे वह क्रमशः परतंत्र होता जाता है जिससे वैयक्तिक उन्नति बंद हो जाती है यह इसमें हानि है। इसके विरुद्ध व्यक्तिसत्तावादमें वैयक्तिक गुण विकसित होते हैं, पर संघशक्ति न बढनेसे हानि होती है। अतः दोनों मतोंका सम दृष्टिसे विचार करके दोनोंही मतोंमेसे उत्तम बातको अपनाकर अपना मार्ग जो सुधारता है वह सच्चा 'धीर' है]।

ऐसे 'धीर' पुरुषोंको इन दोनों मार्गोंमें कुछ विलक्षण गुण दीखते हैं, जिससे ये लोग दोनों ही मार्गोंमेंसे गुण लेते तथा दोष छोडते हुए अपने पुरुषार्थसे अपने परम कल्याणको प्राप्त कर लेते हैं। ये किस प्रकार अपना कल्याण साधते हैं यह अगले मंत्रमें दर्शाया है उस मंत्रका उत्तम विचार अब एकाग्रतापूर्वक देखिए— ॥ १० ॥

[१९६९] (यः संभूतिं च विनाशं च तत् उभयं सह वेद) जो संघभाव और असंघभाव इन दोनोंको एकत्र [उपयोगी] जानता है, [वह] (विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा) असंघभावसे मृत्युको दूर करके, (संभूत्या अमृतं अश्नुते) संघभावसे अमरत्व प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

'संभूति' = संघशक्ति; संघनिष्ठा, समाजनिष्ठा, राष्ट्रनिष्ठा, समाजसत्तावाद-निष्ठा, ये इसके भाव हैं। संघ-शक्तिसे क्या लाभ हैं और उसके बिना क्या क्या हानियां होती हैं यह भी पिछली टिप्पणीमें दिखाया है। इस मंत्रमें दोनोंमेंसे हानिको दूर करके दोनोंसे लाभ कैसे लेना यह दिखाया है। 'विनाश' यह शब्द इस मंत्रमें 'असंभूति' के लिए आया है। 'असंभूति' का अर्थ 'संघसत्ता' की विरोधी 'व्यक्तिसत्ता' है। इस वैयक्तिक सत्ताके लिए इस मंत्रमें 'विनाश' शब्द प्रयुक्त किया गया है। 'विनाश' शब्दके दो अर्थ हैं- [१] 'विगत नाशः यस्मात्' = जिसका नाश नहीं होता ऐसा; अथवा (२) विशेषेण नाशः ' = विशेषनाश। ये दोनों परस्पर विरोधी अर्थ इस शब्दमें हैं। 'व्यक्तिके मरते रहनेपर भी संघ अमर रहता है' यह नियम हम संसारमें देखते हैं। प्रत्येक मनुष्य मरता है, पर संघ दृष्टिसे समाज सदा जीवित रहता है; इसलिए—

संघभावसे 'संभूत्या अमृतं अश्नुते' अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है और यदि संघ टूट कर उसका प्रत्येक घटक भिन्न भिन्न हो गया और उनकी संघशक्ति नष्ट हो गई, तो एक व्यक्ति थोडेही समयमें नष्ट हो जायगी। संघका विभाग करते करते अंतमें 'एक व्यक्ति' पर आकर ठहर जाना पडता है। इससे आगे विभाग नहीं हो सकता। इसका इससे आगे और विभाग नहीं हो सकता इसलिए व्यक्तिको 'अविभाज्य' अर्थात् 'उससे आगे विभाग करना असंभव' ऐसा कहा जाता है। इस व्यक्तिके लिए 'अहं' (अ+हं=अ+हन्+अ+हा=जिसका आगे हनन नहीं होता, जिसका इससे आगे नाश नहीं होता, ऐसा) यह शब्द प्रयुक्त होता है। 'अविभाज्यता' विभागकी दृष्टिसे व्यक्तिका इससे आगे होना संभव नहीं। व्यक्तिकी स्वकीय सत्ता स्थिर रखनेके लिए, वह अपमृत्युसे न मरे और अन्य कष्ट भी वह न भोगे, इसलिए

अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥ १२ ॥

वैयक्तिक स्वास्थ्य संरक्षणके कर्म व्यक्तिको करने पडते हैं। उन्हें करता हुआ व्यक्ति 'मृत्युं तीर्त्वा' = अपमृत्युसे अपना बचाव कर सकता है; और 'संभूत्या अमृतं अश्नुते' = संघशक्तिसे अमर हो सकता है। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठा और संघनिष्ठा इन दोनोंसे होनेवाली हानियोंको दूर करके दोनोंसे मनुष्य लाभ उठा सकता है यह इस मंत्रका आशय है। संघ पंचमुखी परमेश्वरही है। इसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच अंग हैं। संगठित संघके विषयमें ऐसी एकात्मता रखते हुए उसकी आत्मशक्ति अभेद्य ऐक्यसे सुदृढ करनेपर प्रत्येक राष्ट्रमें संघ, उसमें व्यक्तिके मरते रहनेपर भी, अमर होगा और प्रत्येक व्यक्ति भी संघके लिए आत्मसमर्पण रूप सर्वमेध यज्ञ करके अपना जीवन सार्थक करता हुआ अर्थात् स्वतः संघरूप-विश्वात्मरूप बनता हुआ अमरत्व प्राप्त कर सकेगा। मनुष्योंका 'कर्मक्षेत्र' इन तीन मंत्रोंने दर्शाया है। [वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें ये तीन मंत्र पहिले तथा विद्या अविद्याके बादमें हैं।] सब आत्मोन्नति अपरिग्रहवृत्तिसे होती है। परिग्रहका अर्थ है अपना सुख बढानेके लिए सुख साधनोंको अपने पास इकट्ठा करना। यही सुवर्णका प्रलोभन है। इसके नीचे सब धर्मनियम दब जाते हैं, इसलिये इस प्रकारका स्वार्थी मनुष्य धर्मको जान नहीं सकता। इस प्रलोभनसे मुक्त होनेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है ॥ ११ ॥

[१९७०] (ये अ-विद्यां उपासते) जो अनात्मज्ञानकी [ही केवल] उपासना करते हैं। (ते अन्धं तमः प्रविशन्ति) वे गाढ अंधकारमें जाते हैं। (ये उ विद्यायां रताः ते ततः भूयः इव तमः) जो केवल आत्मज्ञानमें रमते हैं, वे तो उनसे भी मानो अधिक अंधकारमें जाते हैं ॥ १२ ॥

'विद्या' = ईश-विद्या, ब्रह्म-विद्या, आत्म-विद्या, विद्या, 'अ-विद्या' = अनीश-विद्या, अनात्म-विद्या [प्रकृति-विद्या, सृष्टिविद्या, 'जगद्विद्या'] अविद्या। प्रथम मंत्रमें 'ईशा वास्यं इदं सर्वं॰ जगत्= ईशसे बसनेयोग्य यह सब जगत्' है ऐसा कहा है। यही ज्ञान अनुभवसे जानना है। यही मनुष्यका 'ज्ञानक्षेत्र' है। इसे जाननेके लिए 'ईश' कौन है और 'जगत्' क्या है? इन दो बातोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। 'ईश और अनीश (=जगत्)' इन दो पदार्थोंके ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ईशकी विद्या और अनीशकी विद्या अर्थात् सृष्टिकी विद्या प्राप्त करनी चाहिए। आत्माका ज्ञान 'विद्या' और आत्मासे भिन्न अनात्माका ज्ञान 'अविद्या' है। अविद्या अर्थात् अज्ञान-ज्ञानहीनत्व-नहीं, क्योंकि मनुष्यके परमकल्याणार्थ जैसे आत्माको जानना चाहिए वैसेही जगत्को भी जानना चाहिए। जगद्विद्यासे अभ्युदय-ऐहिक उत्कर्ष होता है और आत्मविद्यासे निःश्रेयस अर्थात् आत्मिक शक्तिका विकास होता है। इसलिए परम कल्याण साधनेके लिए इन दोनों विद्याओंको प्राप्त करना चाहिए। ये दोनोंही ज्ञान प्राप्त न करते हुए यदि कोई मनुष्य किसी एकही विद्यामें रमेगा और दूसरीकी ओर दुर्लक्ष्य करेगा, तो उसकी कैसी अवनति होती है वह इस मंत्रमें उत्तमतया दर्शायी है।

'अविद्योपासक' = सृष्टिविद्याकेही जो केवल उपासक हैं, अर्थात् जो आत्मविद्याकी ओर पूर्णतया दुर्लक्ष्य करके केवल सृष्टिविद्याके पीछे लगे हुए हैं वे इस संसारमें व्यवहारके उपयोगी सुखके विपुल और उत्तमोत्तम साधन निर्माण तो कर लेंगे, पर केवल भोगेच्छा बढा लेनेसे कालान्तरसे उनकी स्वार्थी भोगतृष्णा अत्यन्त बढेगी और वे अपने सुखके लिए दूसरोंकी बलि लेनेकी खटपट करेंगे, जिससे इनके प्रयत्नोंसे जगत्में अशान्ति बढकर दुःख बढेंगे, अतः वे 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' = गाढ अंधकारमें प्रविष्ट होते हैं ऐसा यहां कहा है।

'विद्यारताः' = केवल आत्मविद्यामेंही जो रमते हैं अर्थात् सृष्टिविद्याकी ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य करके केवल आत्मविद्यामें ही रमते हैं और उसके सिवाय और कुछ नहीं करते, वे सृष्टि विद्याके उपासकोंसे भी अधिक गाढ अंधकारमें जाते हैं। क्योंकि जीवन यात्रा चलानेके लिए अत्यन्त आवश्यक और उसीसे प्राप्त होनेवाले व्यवहारके सुख-साधन भी इन्हें नहीं मिलते। इस प्रकार न प्रपंच और न परमार्थ, ऐसी इनकी स्थिति हो जाती है। [केवल सृष्टिविद्योपासक प्रपंचके साधन बढाकर कुछ तो चैन करते हैं, पर केवल आत्मविद्यामें रमनेवाले और उसके सिवाय कुछ न करनेवाले मनुष्य, यदि उनके लिए दूसरोंने कुछ भी न किया, तो वे ऐहिक साधनोंके विना जीवित भी नहीं रह सकते। अतः उनकी अधिक हीन अवस्था होती है, ऐसा जो इस मंत्रद्वारा कहा है, वह नितांत सत्य है।] ॥ १२ ॥

अन्यदे॒वाहुर्वि॒द्याया॑ अ॒न्यदा॑हु॒रवि॑द्यायाः । इति॑ शुश्रुम॒ धीरा॑णां॒ ये न॒स्तद्वि॑चचक्षि॒रे ॥ १३ ॥
वि॒द्यां चावि॑द्यां च॒ यस्तद्वेदो॒भय॑ꣳ स॒ह । अवि॑द्यया मृ॒त्युं ती॒र्त्वा वि॒द्यया॒ऽमृत॑मश्नुते ॥ १४ ॥

[१९७१] (विद्यया अन्यत् एव आहुः) आत्मज्ञानका [फल] भिन्न [है ऐसा] कहते हैं [और] (अविद्यया अन्यत् आहुः) अनात्मज्ञानका [फल] भिन्न है ऐसा कहते हैं। (इति धीराणां शुश्रुम) ऐसा हम धीरोदात्त लोगोंसे सुनते आये हैं। (ये नः तत् विचचक्षिरे) जिन्होंने हमें उस विषयमें उपदेश दिया ॥ १३ ॥

'विद्यया अन्यत्'= आत्मज्ञानसे एक भिन्नही फल मिलता है। इस आत्मविद्यासे आत्मशक्तिका विकास होता है, अमृतत्व प्राप्त होता है, बन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द मिलता है, आत्मिक बल बढता है, मनुष्य निर्भय होता है और सच्ची शान्तिका अनुभव मिलता है।

'अविद्यया अन्यत्'= अनात्माकी अर्थात् जगत्की या सृष्टिकी विद्याके फल भिन्न हैं। सृष्टिविद्यासे ऐहिक ऐश्वर्य, सांसारिक सुव्यवस्था, इस जगत्में सुखलाभकी समृद्धि, उपभोगके साधनोंकी विपुलता प्राप्त होती है। जिसको अभ्युदय कहा जाता है वह सृष्टिविद्यासे प्राप्त होता है। इस जगत्में सुखपूर्वक रहनेके लिए जिन जिन साधनोंकी आवश्यकता है वे सब साधन इससे मिलते हैं। इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न फल इन दोनों विद्याओंके हैं। इनमेंसे प्रत्येक विद्याके फलोंमें बहुत भारी प्रलोभन है। इससे साधारण मनुष्य उन प्रलोभनोंमें फंस जाता है। जगत् विद्यासे ऐहिक भोगके साधन बढानेसे ऐहिक ऐश्वर्य बढता है, इसलिए जो साधारण मनुष्य इस सृष्टिविद्याके पीछे लगता है, वह अपने भोग बढाता है और वह प्रलोभनमें फंसता जाता है और उसे वास्तविक कल्याणका मार्ग दीखता नहीं। इसी प्रकार जो आत्मज्ञानमें लीन हो जाता है, उसे उससे विशेष शांति मिलती है और वह और ज्यादा उसमें रमता जाता है और संसारमें रहनेके लिए अर्थात् जीवन व्यतीत करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक साधनको जुटानेका काम भी छोड देता है और अत एव धीमे धीमे उसकी इस लोककी यात्रा भी चलनी कठिन हो जाती है। यदि तो उसकी औरोंने सहायता की तो तो उसे कष्ट नहीं होता, पर न की तो इस लोककी यात्रा चलनी भी कठिन हो जाती है। दोनों ओर ये ऐसे दो प्रलोभन हैं। उन प्रलोभनोंका मोह हो जानेसे दोनोंही ओर ये दो भय हैं। अतः दोनों ओरके प्रलोभनोंमें न फंसते हुए समतोल वृत्ति रखते हुए दोनोंही विद्याओंसे लाभ लेनेवाला जो ज्ञानी है, वही सच्चा 'धीर' वृत्तिवाला मनुष्य है। लाभ होनेपर जो उन्मत्त होकर किंकर्तव्य विमूढ नहीं होता और हानि होनेपर भी खिन्न न होता हुआ जो कर्तव्यसे नहीं गिरता उसे 'धीर' कहते हैं। मनुष्यके सामने सदा दो मार्ग आते हैं। पहिला 'श्रेयमार्ग' इससे जो प्रथम कष्ट सहन करता है वह अन्तमें कल्याण प्राप्त करता है। और दूसरा 'प्रेयमार्ग' जो प्रथम सुख अनुभव करता है पर अंतमें भयंकर आपत्ति भोगता है। इस विषयमें 'कठ उपनिषद्' में कहा है- 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ कठ उ. १।१।२' अर्थात् श्रेय और प्रेय ये दो मार्ग मनुष्यके पास आते हैं, उनमेंसे श्रेय मार्गका स्वीकार धीर लोक करते हैं और प्रेय मार्गको मन्दबुद्धिवाले पसंद करते हैं और अन्तमें फंसते हैं। जो श्रेय मार्गसे जाता है वह 'धीर' है, इस धीर वृत्तिके मनुष्यको इन दोनों विद्याओंसे अपना सच्चा कल्याण किस प्रकारसे प्राप्त होता है यह अगले मंत्रमें देखो ॥ १३ ॥

[१९७२] (यः विद्यां च अविद्यां च तत् उभयं सह वेद) जो आत्मज्ञान तथा प्राकृतिकविज्ञान इन दोनोंको एकत्र [उपयुक्त] जानता है, [वह] (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा) प्रकृतिविज्ञानसे मृत्युको दूर करके (विद्यया अमृतं अश्नुते) आत्मज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

'विद्या और अविद्या'= आत्माका ज्ञान और सृष्टिका विज्ञान ये दो प्रकारकी विद्याएं मनुष्यकी उन्नतिके लिए समान उपयोगी हैं। आत्मविद्यासे आत्मिक बल बढता है, शान्ति मिलती है तथा मनका समाधान होता है। इसी प्रकार सृष्टिकी विद्यासे ऐहिक उत्कर्षके साधन प्राप्त होते हैं। इस रीतिसे इन दोनों विद्याओंसे मनुष्यकी वास्तविक उन्नति होती है। यह बात जिसकी समझमें आगई है वह मनुष्य—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ॥१५

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' = प्रकृतिकी विद्यासे, पंच महाभूतोंके ज्ञानसे, सृष्टिके शास्त्रोंकी सहायतासे मृत्युको दूर करता है। मृत्यु अर्थात् अपमृत्यु दुःख, व्यवहारमें दैनिक कार्योंमें होनेवाली रुकावटें। ये रुकावटें ज्यों ज्यों सृष्टि विद्यासे विविध साधन तैयार होंगे, ज्यों ज्यों अन्न तथा पेय वस्तुका निर्माण होता जाएगा, इसी प्रकार ज्यों ज्यों उपभोगके पदार्थ निर्माण होते जाएंगे त्यों त्यों उनकी सहायतासे दूर होती जाएंगी और इन साधनोंसे इस क्षेत्रके दुःख कम करनेके बाद, 'विद्यया अमृतं अश्नुते' आत्मविद्यासे अमरता, मोक्ष अथवा कैवल्य प्राप्त होगा। यह अंतिम साध्य है। इसी अंतिम साध्यको मनुष्यने प्राप्त करना है। परन्तु केवल इनमेंसे एकही साधन करूंगा और अन्य कुछ भी नहीं करूंगा ऐसा कहना योग्य नहीं है। अतः मनुष्य सृष्टिविद्या सीखकर अपनी यहांकी जीवनयात्रा सुखमय करे और आत्मविद्यासे अपने पारमार्थिक परम कल्याणको सिद्ध करे। [प्रथम मंत्रमें 'जगत्यां जगत्' जगतीमें वर्तमान जगत्- ऐसा शब्दप्रयोग है। 'जगत्' के समुदायको 'जगती' कहते हैं। 'जगत्' अर्थात् एक पदार्थ और 'जगती' उनका समुदाय है। 'व्यक्ति और समुदाय' ऐसा यह जगत् है। एक पदार्थ और उसकी जाति ऐसी जगतमें स्थिति है। इसीको 'व्यष्टि और समष्टि' ऐसा कहते हैं। ऐसी स्थिति होनेसे व्यक्तिको समाजके लिये और समाजको व्यक्तिके लिये कुछ कर्तव्य करने आवश्यक हैं। क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेसे उसे जैसे अपने कर्तव्य करने होते हैं उसी प्रकार जिस समाजका वह अंश है उसके लिये भी इसे कुछ कार्य करने पडते हैं। इस प्रकार 'व्यक्ति और समाज' ये मनुष्यके 'कर्म क्षेत्र' हैं। इसी संबन्धका उपदेश 'संभूति और असंभूति' प्रकरणमें कहा है। इसका विचार अब देखिए—] ॥ १४ ॥

[१२७३] (वायुः अन् इलं अमृतम्) प्राण अपार्थिव अमृत है। (अथ इदं शरीरं भस्मान्तम्) और यह शरीर अन्तमें भस्म होनेवाला है। (क्रतो ! ओं स्मर) हे कर्मकर्ता पुरुष ! सर्वरक्षक आत्माका ध्यान कर। (कृतं स्मर) किए हुए कर्मोंका स्मरण कर। (क्रतो स्मर) हे कर्म करनेवाले पुरुष ! स्मरण कर। (कृतं स्मर) किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ॥ १५ ॥

हे मनुष्य ! यदि तुझे उन्नत होना है तो तू यह लक्ष्यमें रख कि [वायुः] यह हमारा प्राण [अन्+इलं+अ+मृतं] अपार्थिव अमृतरूपी प्रचण्ड शक्तिवाला है।

और [इदं शरीरं भस्म+अन्तं] यह शरीर अंतमें भस्म होनेवाला है। अतः मर जानेवाले शरीरकी अपेक्षा अमर प्राणशक्तिकी आराधना करनी उचित है। मरनेवाले शरीरमें अमर प्राणशक्ति है और उस प्राणशक्तिके अन्दर तू (असौ पुरुषः = जीव-आत्मा) है। तेरी उन्नतिके लिए ये बाहिरके सर्व साधन हैं। इन साधनोंकी सहायतासे तुझे अपने अमर-पनका अनुभव लेना है। 'इन अनित्य साधनोंके योगसे तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है।' इसलिये —

हे 'क्रतो' = कर्म करनेवाले पुरुष ! कर्म करना जिसका स्वभाव है ऐसे हे मनुष्य ! 'ओं स्मर' = [अवति इति ओम्] उस सर्वरक्षक परमात्माका ध्यान कर। उसके गुणोंका चिन्तन कर। उसके कल्याणमय गुणोंको निदिध्यासनसे अपने आत्मबुद्धिमनमें नित्यप्रति बढा। 'कृतं स्मर' = राज प्रातः-सायं तूने जो कोई कर्म किए हों उनका स्मरण कर। ध्यानपूर्वक विचार करके देख कि तूने जो कोई कर्म किए हैं वे आत्माकी उन्नति करनेवाले हैं अथवा अवनति। दिनभर किए हुए कर्मोंका सायंकालको तथा रातको किए हुए कर्मोंका निरीक्षण प्रातःकाल कर। इस प्रकार अपने आचरणोंकी परीक्षा तू स्वयं कर और अपना तू स्वयं निरीक्षक बन; जिससे कि तेरी कहां भूल हो रही है और वहां तुझे वास्तवमें क्या करना चाहिए, यह अपने आप तेरे ध्यानमें आएगा। 'हमें स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए। जिससे अपनी अवनति हो ऐसे आचरण हमें कभी करने नहीं चाहिए।'

[वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें यह मंत्र १५ वां है। और इसके द्वितीयार्धमें 'क्लिबे स्मर' ऐसा अधिक पाठ है। 'क्लिब्, क्लिष्, क्लृप् का अर्थ 'समर्थ होना, योग्य होना' ऐसा है। अतः 'क्लिबे स्मर' = अर्थात् 'अपने सामर्थ्यकी वृद्धिके लिये यह स्मरण कर।' अपने आप समर्थ होनेके लिये ऊपर कहे अनुसार 'ईश-स्मरण कर और स्वयं कृत कर्मोंका स्मरण कर।' अपने उद्धारके लिए इस श्रेष्ठ मार्गका अवलम्बन कर।]

प्रतिदिन हम क्या करते हैं इसका निरीक्षण करना, यह आत्मपरीक्षण आत्मोन्नतिके लिए अत्यंत सहायक है। इसके विना किसी भी प्रकारकी उन्नति होना, संभव नहीं। साधकके शरीरका पोषण भी इस परीक्षणके विना नहीं होगा। अतः हमारी आध्यात्मिक उन्नति आत्मपरीक्षणके विना नहीं होगी ॥ १५ ॥

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रा॒ये अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॑स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ उक्तिं विधेम ॥ १६ ॥
हि॒रण्मये॑न पात्रे॑ण स॒त्यस्यापि॑हितं॒ मुख॑म् । यो॒ऽसावा॑दि॒त्ये पुरु॑षः॒ सो॒ऽसाव॒हम् ।
ओ३म् खं ब्रह्म॑ ॥ १७ ॥

[अ० ४०, कं० १७, मं० सं० १७]

इति चत्वारिंशोऽध्यायः । [उ० विं० मं० सं० १४०३]

इत्युत्तरविंशतिः समाप्ता । [सर्वे मिलित्वा ३९८८]

इति वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल यजुर्वेदसंहिता समाप्ता ।

[१९७४] (अग्ने ! अस्मान् सुपथा राये नय) हे प्रकाशक ! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयकी ओर ले चल। (देव !विश्वानि वयुनानि विद्वान्) हे देव ! तू सब हमारे कर्मोंको जानता है। (अस्मत् जुहुराणं एनः युयोधि) हमारे पापसे सब कुटिल पाप दूर कर। (ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) तेरी विशेष नमनपूर्वक स्तुति हम करते हैं॥१६॥

हे 'अग्ने '= प्रकाश देनेवाले ईश्वर ! 'अस्मान् सुपथा राये नय '= हमें अच्छे मार्गसे अभ्युदयको प्राप्त कर। हममें कुमार्गसे जानेकी बुद्धि कभी न हो। धन मिले, चाहे न मिले, पर हमारे आचरणका मार्ग शुद्धही हो। हे देव ! तू-

'विश्वानि वयुनानि विद्वान् '= हमारे सब कर्म जानता है। क्योंकि तू सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ है और सर्वत्र है। इस कारण हम जो कुछ करते हैं चाहे वह कितना भी चुपकेसे छिपकर किया गया हो, तो भी वह तुझे उसी समय पता लग जाता है। इतना ही नहीं, मनमें आया हुआ संकल्प भी तुझे विदित हो जाता है। ऐसी दशामें हम तेरेसे छिपकर कुछ भी नहीं कर सकते। हमारे सब अच्छे बुरे कर्मोंका तुझे पता होनेसे जिस मार्गसे जानेसे हमारा उद्धार हो, उस श्रेष्ठ और शुद्ध मार्गसे तू हमें ले चल। हमारेमें कुटिलता और पापभाव होंगे तो वे, ' जुहुराणं एनः अस्मत् युयोधि = कुटिलता और पाप, हमारेसे सर्वदाके लिए दूर कर। इन पापोंके साथ युद्ध करके उन्हें दूर करनेके लिये हमें शक्ति दे।

इस तेरी कृपाके लिए हम तुझे ' नमः विधेम ' = नमस्कार करते हैं। तुझे देनेके लिए हमारे पास नमस्कारके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। देव ! यह हमारा नमस्कार स्वीकार, और हमारा उद्धार कर ॥ १६ ॥

[१९७५] (हिरण्मयेन पात्रेण) सोनेके पात्रसे (सत्यस्य मुखं अपिहितम्) सत्यका मुख ढका हुआ है। (यः असौ असौ पुरुषः) जो यह प्राणोंमें पुरुष है (सः अहं अस्मि) वह मैं हूं (ओ३म् खं ब्रह्म) यह सत्य है कि द्यौ ब्रह्म है ॥ १७ ॥

' हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखं अपिहितम् ' = सुवर्णके चमकीले पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है। सोनेके नीचे सत्य छिपा पडा है यह अनुभव हमें व्यवहारमें भी मिलता है। अपराध करनेपर भी अधिकारियोंको घूस देकर उसे छिपाया जा सकता है। घूस न लेते हुए कर्तव्य-भ्रष्ट न होनेवाले बहुत थोडे हैं। घूस लुच्चाई आदिसे सत्यका मुख बंद कर दिया जाता है इसका दैनंदिनी व्यवहारमें अनुभव हमें मिलता है।

'सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वं अपावृणु '= सत्यधर्मके दर्शन करनेके लिए उस ढक्कनको तू दूर कर। सुवर्णका ढक्कन दूर होनेके बाद सत्यधर्म दीखने लगेगा। व्यवहारमें घूसखोरीकी ओर ध्यान न देनेवाले अधिकारीही स्वकर्ममें दक्ष रहकर सत्यकी खोज कर सकनेमें समर्थ होते हैं। इसका कारण यह है कि वे इस सुवर्णपात्रको एक ओर करते हैं। इस मंत्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। 'सत्यधर्मका पालन करनेकी इच्छा हो तो सुवर्णका लोभ छोडना चाहिए'। यह सुवर्ण नियम वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी सर्वथा सत्य है। 'राष्ट्रधर्म पालन करना हो तो सुवर्णका लोभ त्यागना चाहिए।' सुवर्णके लोभी मनुष्योंसे कितना राष्ट्रका नाश होता है यह इतिहास बता रहा है। इस मंत्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। इसका वास्तवमें अर्थ ऐसा है—

परमात्मा 'सत्य-स्वरूप है।' उसपर इस सृष्टिका चमकीला आच्छादन पडा हुआ है। उसको विना दूर किए उस सत्यस्वरूप परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते। उसको दर्शन करनेवालोंको इस सृष्टिके मोहसे दूर होना चाहिए। जिसे अपनी आत्माकी शक्ति बढानी हो उसे प्राकृतिक मोहजालमें फंसना नहीं चाहिए।

[वाजसनेयी-माध्यंदिन संहितामें इस मंत्रका उत्तरार्ध नहीं है, और इसके स्थानमें 'योऽसावादित्ये॰' यह मंत्र है। 'यः असौ असौ पुरुषः'= जो यह तेरे [असौ-असुमें] प्राणशक्तिके आधारसे रहनेवाला और [पुरुषः= पुरि+वसति] इस शरीररूपी नगरीमें रहनेवाला, देह धारण कर अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला, शरीर धारण कर परम पुरुषार्थ करनेकी इच्छावाला जो तेरा भक्त है 'सः अहं अस्मि'= वही मैं हूं। मैं तेरा एकनिष्ठ भक्त हूं। [इस मंत्रके पहिले दो भाग वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें नहीं हैं। मंत्रका अन्तिम भाग इस प्रकार है- 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओम् खं ब्रह्म ॥ १७ ॥' यह मंत्र भाग वहां १७ वां है और 'हिरण्मयेन॰' इस मंत्रका उत्तरार्ध है। इसका अर्थ- ' [यः असौ] जो यह [आदित्ये पुरुषः] आदित्यमें पुरुष है, [सः असौ अहम्] वह यह मैं हूं, [ओम् खं ब्रह्म] ब्रह्म आकाशकी तरह व्यापक ओंकारद्वारा दिखाया जाता है।'] इस मंत्रके कहनेके अनुसार भक्तको परमेश्वरकी उपासना करनी चाहिए ॥ १७ ॥

शांति-मंत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(ओम्) यह सत्य है कि, (अदः पूर्णम्) वह पूर्ण है और (इदं पूर्णम्) यह भी पूर्ण है। क्योंकि, (पूर्णात् पूर्णं उदच्यते) पूर्णसे पूर्ण निकलता है। (पूर्णस्य पूर्णं आदाय) पूर्णमेंसे पूर्ण लिया जाए तो भी (पूर्णं एव अवशिष्यते) पूर्णही अवशिष्ट रहता है।

(ओम्) हे सर्व-रक्षक ! (शान्तिः) [वैयक्तिक] शान्ति, (शान्तिः) [सामाजिक] शान्ति, (शान्तिः) [सांसारिक] शान्ति, [सर्वत्र स्थिर हो।]

पूर्णं = परिपूर्ण, संपूर्ण, अनंत, जैसा चाहिए वैसा, जिसमें जरा भी कमी नहीं है ऐसा, शक्तिमान्। ओम् = है, ठीक, निःसंदेह सत्य, सत्य। (अवति इति ओम्)= रक्षक; सबका रक्षण करनेवाला।

अदः = वह (आदितत्त्व, ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, ईश)

इदं = यह (जगत्, सृष्टि, विश्व, दृश्य, व्यक्त, अनात्मा, अनीश।)

शान्तिः = शांतता, समता, विषमताका अभाव। '(वैयक्तिक) शांति '= व्यक्तिके शरीरमें समता, सप्तधातुकी समानता, मन, इन्द्रियां आदि सर्वमें वैषम्यका अभाव, उत्तम आरोग्य इत्यादि। '(सामाजिक) शांति =' समाजमें सब वर्णों तथा सब जातियोंमें समता और अवरोध। '(सांसारिक) शांति =' भूमि, जल, अग्नि, वायु, भूकम्प आदियोंसे निर्भयता, अथवा इनसे होनेवाली आपत्तियोंसे बचाव करनेकी यथासंभव उपाययोजना करके शान्तिकी स्थापना करना।

ब्रह्म पूर्ण है और उस पूर्ण ब्रह्मसे प्रकट हुआ हुआ यह जगत् भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्णसे पूर्ण बनता है। पूर्ण ब्रह्ममेंसे यह इतना भारी जगत् प्रकट हुआ है, तो भी इससे उस ब्रह्ममें किसी भी प्रकारकी कोई भी न्यूनता नहीं हुई है; क्योंकि वह पूर्ण है। पूर्णमेंसे पूर्ण निकाला जाय तो मूल पूर्णमें कोई भी न्यूनता नहीं होती।

साधक जीव जगत्में समबुद्धिसे रहे; पूर्णका ध्यान करता हुआ वह स्वयं पूर्णत्वको प्राप्त करनेके लिए पुरुषार्थ करे। इसमें वैयक्तिक शांतिका अभिप्राय यह है कि अपने ही शरीरमें, सब आत्मिक और प्राकृतिक शक्तिओंके बीचमें स्वस्थता और समताको साधना, यही प्रथम पुरुषार्थ है। जाति, समाज, राष्ट्र अथवा मानव-समाज, इनमें समता और अविरोध स्थापना यह दूसरा पुरुषार्थ है; और सारे जगत्में शांतता उत्पन्न करनेके लिए कर्तव्यकर्म करना यह तीसरा पुरुषार्थ है। प्रत्येकको अन्तिम सिद्धि द्वारा क्रमशः जीवन्मुक्ति, मुक्ति और अतिमुक्ति मिलती है।

परमेश्वरका नाम-संकीर्तन

हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें ईश्वरके नामोंका संकीर्तन विशेष रूपसे करनेकी विधि है। वेदोंमें 'अनेक नामोंसे एकही सद्वस्तुके वर्णन हैं'। [ऋ. १।१६४।४६]। उपनिषदोंमें भी ऐसाही है। इतिहास और पुराणोंमें भी यह संकीर्तन भिन्न रीतिसे आया है। इस छोटीसी ईशोपनिषद्में भी पुनः पुनः 'परमात्म-गुणवर्णन' आया है। ऐसा जहां तहां परमात्माके गुणोंका संकीर्तन, क्यों किया है ? इस प्रश्नका विचार करना उपयुक्त है। इस संबन्धका मूल सिद्धान्त क्या है, उसे जाननेके विना इस नाम संकीर्तनका महत्त्व समझमें आना कठिन है, इसलिये इस विषयमें संक्षेपसे दो शब्द यहां कहने हैं।

सबसे पहिले बहुतसा प्रास्ताविक ऊहापोह न करते हुए वैदिकधर्मका एक मूलतत्त्व यहां कहना चाहिए और वह यह है कि- 'परमेश्वर सबका पिता है और हम सब उसके पुत्र हैं।' यह कल्पना इस नाम-संकीर्तनका मूल आधार है। मैं परमेश्वरका पुत्र हूं और परमेश्वर मेरा पिता है, यह कल्पना मनमें स्थिर हो जानेके दूसरे ही क्षणमें दूसरी कल्पना मनमें आती है, और वह यह कि 'पुत्र उन्नति होते होते कभी न कभी अपने पिताके सदृश हो जाएगा, इस नियमानुसार परमेश्वरके भी पुत्र उन्नति होनेके मार्गमें हैं और वे कभी न कभी परमेश्वरके सदृश 'स्वतंत्र [मुक्त]' 'सत्-चिद्-आनन्द-स्वरूप' होंगे। इस विचारधारासे आगेका सिद्धान्त हमारे ध्यानमें आ सकेगा—

[१] परमेश्वर सबका परम पिता है।

[२] हम सब उसके अमृत पुत्र हैं।

[३] पिताके गुणधर्म अंशरूपसे जन्मतः पुत्रोंमें होतेही है।

[४] पुत्रके गुणधर्म पूर्ण विकसित हुए कि वह अपने पिताके समान होता है।

[५] पुत्रके उन्नत होनेकी भी परम सीमा है, और कभी न कभी वह उन्नतिकी परम सीमा प्रत्येकको प्राप्त होगी ही।

जिन अर्थोंमें 'पिता पुत्रके गुणधर्म' पितामें पूर्णत्वको पहुंचे हुए हैं और पुत्रमें अंशरूपसे हैं, तो वे समानही हैं, उन अर्थोंमें जो गुणबोधक नाम होंगे वे पिता पुत्रके एकसे ही होने चाहिए, इसमें संदेश नहीं। जैसे 'द्रष्टा [देखनेवाला], श्रोता [सुननेवाला]' इत्यादी नाम केवल गणबोधक होनेसे, वे जैसे पिताके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं वेसे ही पुत्रके लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। यह जो व्यावहारिक अनुभव है वह वैसा ही इस परमार्थमें भी सत्य है और इसीलिए वेद, उपनिषद् तथा इतर धर्मग्रंथोंमें परमेश्वरके जो गुण-संकीर्तन किए हैं, वे यदि परमेश्वरका पूर्णतया वर्णन कर रहे हैं, तो वे ही कभी न कभी इस जीवात्माके लिए भी लागू होंगे। जैसे परमेश्वर 'ज्ञाता' है, यह जैसे आज परमेश्वरका सत्य वर्णन है, वैसाही जब यह जीव 'ज्ञाता' होगा, तब उसका भी यही वर्णन होगा। इस समय भी देखिये कि-परमेश्वरकी 'विशाल ब्रह्माण्ड व्याप्ति' को तथा जीवके शरीरमें 'छोटेसे पिण्डमें व्याप्तिको' मनमें यदि न लाया जाए, तो 'ज्ञातृत्व शक्ति' दोनोंमें ही होनेसे जैसे 'ज्ञाता' शब्द पूर्णतया परमेश्वरके लिए लगता है, वैसेही वह अंशरूपसे जीवके लिए भी अवश्य ही लागू होता है। इससे पता चलता है कि हमारे धर्मग्रन्थोंमें परमेश्वरके नामसंकीर्तनोंमें किए गए गुण-वर्णन जीवात्माको उन गुणोंके बढानेकी सूचना दे रहे हैं, और इसीलिए वे साधकको अत्यन्त सरल उन्नतिका मार्ग दर्शानेवाले हैं, यह निःसंदेह है।

'तेरा पिता शूर, वीर और धीर था, उसने इतिहासमें ये ये महत्त्वके कार्य किए' इत्यादी प्रकारके बडोंके वर्णन लडकोंके सुननेपर उनके अंतःकरणोंमें 'हम भी उनके सदृश बनें' ऐसा भाव आना स्वाभाविक है। इस तरह हमारेमें अपनी उन्नति करनेकी प्रेरणा नामसंकीर्तनसे मिलती है और वह जिस प्रकारसे होती है उसी प्रकारसे इन नामोंका स्मरण करते रहना चाहिए।

वेदोंमें जिन देवताओंका वर्णन है और उनमें जो परमेश्वरके वर्णन हैं, वे सब उपरोक्त कथनानुसार मनुष्यमें उन्नतिकी स्फूर्ति उत्पन्न करने तथा उसे उन्नतिके मार्गमें लगानेके लिए हैं। जैसे परमात्माका अंश यहांपर जीवरूपसे आया हुआ है, वैसेही अग्नि, वायु, सूर्य आदि तैंतीस देवता अंशरूपसे इस जीवात्माके साथ साथ शरीरमें आकर

इन्द्रियों और अवयवोंमें बसे हुए हैं। इसलिए चाहे किसी भी देवताका वर्णन हो, तो वह हमारे शरीरमें स्थित अंशभूत देवताका भी सूक्ष्मरूपसे वर्णन है ही। वन जलानेवाले बडे दावानलका वर्णन छोटीसी चिनगारीका भी अंशरूपसे है ही। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। इससे यह बात ध्यानमें आती है कि हमारे वेदादि धर्मग्रंथोंमें परमेश्वरका तथा इन देवताओंका वर्णन भी ब्रह्माण्ड-व्यापी शक्तिका वर्णन होता हुआ, वही पिण्डव्यापक अल्पशक्तिका भी है, और वह पिण्डमें उन उन अविकसित शक्तियोंको बढाकर पूर्ण करनेके लिए हमें आदेश दे रहा है। इस प्रत्येक वर्णनसे मनुष्यको बोध लेना और यथा संभव अपने आचरणमें उसे लाना है। इस बोधका कैसे पता चले इस बातको बतानेके लिए आगे तालिकामें उसको दर्शाया है, जिससे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। मूल वाक्य दर्शानेके लिए ऊपर मंत्राङ्क दिया है। अर्थात् उस उस अङ्कवाले मंत्रका वह मूल वाक्य है, ऐसा समझना चाहिये—

परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध

परमात्माके वर्णन।	मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध।
(शान्ति मंत्र)	
अदः पूर्णम्। (वह ब्रह्म पूर्ण है।)	मनुष्य पूर्ण बननेके लिए पुरुषार्थ करे। (इस जन्ममें कुछ विशेष नहीं तो किसी एक गुणमें पूर्णत्व संपादन करे।)
ओम्। (वह रक्षक है।)	आत्मसंरक्षणकी शक्ति शरीरमें लाओ और पीडा देनेवाले प्राणियोंसे पीडितोंका संरक्षण करो।
(मंत्र १)	
ईशा इदं सर्वं वास्यम्। (ईश्वरसे यह सब बसनेयोग्य है। ईश्वर ईश होकर सर्वत्र बसा हुआ है।)	अपनी शक्तिसे स्वामित्व संपादन करके जगत्में व्यवहार कर। पराधीन वृत्तिमें रहते हुए अपने दिन न बिता।
(मंत्र ४)	
अन्-एजत्। (वह कांपता नहीं, वह चंचल नहीं।)	किसीसे डरकर उसके सामने कांपे नहीं अर्थात् कभी किसीसे न डरे, चंचलपन छोड दे।
एकम्! (वह एक, अद्वितीय है।)	जगत्में अद्वितीय बने, (किसी भी एक विद्यामें तो अवश्य अद्वितीय बने।)
मनसः वजीयः। (वह मनसे वेगवान् है।)	अपना वेग बढावे, आलस्य दूर करे।
देवाः एनत् न आप्नुवन्। (देव उसे प्राप्त नहीं कर सकते, वह देवोंके प्रयत्न करनेपर भी उनसे अप्राप्य है।)	अपनी साधनायें दूसरे सहसा समझ लें ऐसे काम न करे। (अथवा स्वयं दूसरोंका संचालक बने, पर उनसे स्वयं न घेरा जाय ऐसे सुरक्षित स्थान पर रहे।)
पूर्वम्। (वह सबसे प्रथम, पूर्वसे है।)	सबसे प्रथम स्वयं कार्य आरंभ करे। (इस काममें यह प्रथम है ऐसा कहावे।)
अर्षत्। (वह ज्ञानी अथवा स्फूर्ति देनेवाला है।)	ज्ञान प्राप्त करे और जनतामें स्फूर्ति बढावे।

तिष्ठत्।
(वह स्थिर है।)

अपना आधार मजबूत करे। अपने स्थानपर स्थिर रहे। (युद्धमें अपना स्थान न छोडे।)

तत् धावतः अन्यान् अत्येति।
(वह दौडनेवाले दूसरोंके आगे जाता है।)

सब स्पर्धा करनेवाले पीछे रह जावें और स्वयं उनसे आगे निकल जाए ऐसी अपनी तैयारी करे।

तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति।
(इसके आधारसे जीव कर्म धारण करते हैं।)

अपने आप स्वयं कर्म करे और दूसरोंसे कर्म करावे।

(मंत्र ५)

तत् एजति तत् न एजति।
(वह दूसरोंको चलाता है, पर स्वयं हिलता नहीं।)

स्वयं अपने स्थानपर स्थिर रहे और दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित करके उन्हें सत्कर्मोंमें प्रवृत्त करावे।

तत् दूरे तत् उ अन्तिके।
(वह अज्ञानीके लिए दूर तथा ज्ञानीके लिए समीप है।)

दुर्जनोंसे दूर रहे और सदा सज्जनोंके पास रहे।

तत् सर्वस्य अन्तः बाह्यतः च।
(वह सबके अन्दर और बाहर है।)

अपनी अन्दरकी तथा बाहिरकी अवस्थाओंका निरीक्षण करे।

(मंत्र ६)

सर्वाणि भूतानि आत्मनि, आत्मा च सर्वे भूतेषु।
(सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है।)

सब भूतोंको अपना आधार देवे और स्वयं सब भूतोंमें प्रिय होकर रहे।

(मंत्र ७)

आत्मा एव सर्वाणि भूतानि।
(आत्माही सर्वभूत है।)

सब भूतोंको अपनी आत्माके समान देखे।

(मंत्र ८)

सः परि-अगात्।
(वह सर्वत्र गया हुआ है।)

स्वयं अपने सब कार्यक्षेत्रोंका निरीक्षण करे।

अकायं, अस्नाविरम्।
(वह देहरहित, स्नायुरहित है।)

शरीरकी स्थूल शक्तिको चलानेवाली आत्मिक शक्ति बढावे।

अव्रणम्।
(वह व्रणरहित है।)

व्रण, घाव आदि न होवें ऐसा आरोग्य प्राप्त करे।

शुद्धं, शुक्रम्।
(वह पवित्र और वीर्यवान् है।)

पवित्र और वीर्यवान् बने।

अपापविद्धम्।
(वह पापसे विद्ध हुआ हुआ नहीं है।)

पापसे विद्ध मत हो। (पाप मत कर)

कविः।
(वह अतीन्द्रियार्थदर्शी है।)

मनुष्य केवल स्थूलदर्शी न होता हुआ सूक्ष्मशक्तियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे।

मनीषी।
(वह मनका स्वामी है, विचारशील है।)

हमें मनका संयम करना चाहिए तथा विचारपूर्वक कर्तव्य करने चाहिए।

परिभूः।
(वह सबसे श्रेष्ठ अथवा विजयी है।)

अपनेको शत्रुके आधीन न करते हुए, जिससे विजय प्राप्त हो सके ऐसी अपनी शक्ति बढानी चाहिए।

स्वयंभूः । (वह अपनी शक्तिसे स्थित है ।)	अपनी शक्तिसे रहे, परावलम्बी न बने ।
याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् । (करनेयोग्य कार्य वह करता रहता है ।)	कर्तव्य जैसे करने चाहिए वैसे बिना भूल चूकके करता रहे ।

(मंत्र १६)

पूषा । (वह पोषक है ।)	गरीब–असमर्थोंका पालनपोषण करना चाहिए ।
एक ऋषिः । (वह एक ज्ञानी है ।)	विशेष ज्ञान संपादन करे ।
यमः । (वह नियामक है ।)	हम अपनी शक्तिपर प्रभुत्व प्राप्त करें, नियामक बनें ।
सूर्यः । (वह प्रकाशक है ।)	दूसरोंको प्रकाशका सन्मार्ग दिखावे ।
प्रजापत्यः । (वह पालक शक्तिसे युक्त है ।)	आश्रितोंका उत्तम रीतिसे पालन करे ।
कल्याणतमं रूपम् । (उसका रूप अत्यंत कल्याण कर है ।)	नित्य प्रसन्नचित्तसे व्यवहार करे ।

(मंत्र १८)

सुपथा राये नय (ति) । (वह उत्तम मार्गसे ऐश्वर्यके पास ले जाता है ।)	स्वतः उत्तम मार्गसे ऐश्वर्य प्राप्त करे और दूसरोंको उत्तत मार्गसे उन्नतिको पहुंचाए ।
विश्वानि वयुनानि विद्वान् (वह सब कर्म जानता है ।)	सब कर्तव्याकर्तव्य कर्मोंका योग्य ज्ञान प्राप्त करे ।
जुहुराणां एनः युध्यते । (वह कुटिलता और पापसे युद्ध करता है ।)	कुटिलता और पापसे (सत्यका पक्ष लेते हुए) युद्ध करके उनका पराभव करे ।

सूचना ।

यहां जो ईशोपनिषद्के मंत्रोंसे बोध दिया गया है, वह उस सूचक मंत्रसे उतनाही मिलता है ऐसा किसीको भी यहां समझना नहीं चाहिए। मंत्रका अर्थ मनमें समझकर उसका थोडा थोडा मनन करनेसे परमेश्वरके गुणोंका ज्ञान धीरे धीरे होने लगेगा। परमेश्वर इस विश्वव्यापक संसारमें जैसे प्रचण्ड कार्य अतुल स्वशक्तिसे कर रहा है वैसे थोडेसे कार्य हमें छोटेसे क्षेत्रमें करते हुए अपने पिताके समान बननेका प्रयत्न करना चाहिए।

येही कर्म मनुष्यको जन्मसे मृत्यु पर्यन्त करने हैं और इसी कर्म मार्गसे अपनी उन्नति साधनी है। परमेश्वरके गुणोंका शांत चित्तसे जितना अधिक मनन होगा, उतना अधिक स्वकर्तव्योंका स्फुरण साधकको होगा; और इस मार्गसे जाते जाते साधकका स्वभाव भी वैसा बन जाएगा और ज्योंही साधकका स्वभाव वैसा बन गया अर्थात् वह स्वाभाविकता अकृत्रिमतासे वैसे कर्म करने लग गया, कि वह साध्यके समीप समीप पहुंचने लगा ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है। 'परमेश्वरके नाम तारते हैं' यह कैसे, यह इस विवेचनसे समझा जा सकता है। वेदमंत्रोंमें इस वर्णनका यह ऐसा उपयोग साधकके लिए है। इस प्रकार वेदमंत्रोंका ज्ञानपूर्वक विचार करके बोध प्राप्त करनेसे 'वेदका एकाध सूक्त अथवा एक मंत्र या आधा मंत्र किंवा परमेश्वरका एक नाम भी मनुष्यके परम उत्कर्षके लिए पर्याप्त है,' ऐसा जो समझा जाता है, वह कितना यथार्थ है, यह पाठकोंके ध्यानमें आएगा। अब हम ईशोपनिषद्का थोडीसी भिन्न रीतिसे मनन करते हैं—

ईशोपनिषद्‌में वर्णित मनुष्यकी उन्नतिका मार्ग।

(१) मनुष्यका साध्य।

मनुष्यका साध्य 'तीन शांति' स्थापना करना और उन तीन शान्तियोंका अनुभव लेना है। (१) वैयक्तिक शान्ति- शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें किसी भी प्रकारकी अशान्ति न रहे और यहां पूर्ण शान्ति स्थिर रहे, उसेही 'आध्यात्मिक शांति' कहते हैं। योगादि साधन इसी अनुभवके लिएही हैं। (२) सामाजिक शान्ति- समाजमें विभिन्न मनोवृत्तिवाले लोगोंमें शान्ति स्थापन करना और यह दूसरा साध्य मनुष्यके सन्मुख है। सब प्राणियोंके विषयमें प्रेम और दया भावके विचार और आचारको बढानेसे भी यह शान्ति स्थापित हो सकती है। इसेही आधिभौतिक शान्ति कहते हैं। (३) जागतिक शान्ति- सब चराचर जगत्‌में शान्ति और समताका स्थापन करना यह अन्तिम साध्य है। इसे 'आधिदैविक शान्ति' कहते हैं। प्रत्येक मनुष्यको ये त्रिविध शान्तिके साध्य साधने हैं। इन कर्तव्योंका स्मरण प्रत्येकको करानेके लिए 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार तीनवार उच्चारण किया जाता है। (देखो शान्ति मंत्र)

(२) साधन।

उपरोक्त तीन साध्योंको साधनेके लिए 'ज्ञान और कर्म' ये दो साधन हैं। इन साधनोंको प्रयोगमें लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको स्थापित किया गया है। ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है और कर्मेन्द्रियोंसे कर्म किए जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियोंके लिए 'ज्ञान-क्षेत्र' और कर्मेन्द्रियोंके लिए 'कर्म-क्षेत्र' है। जगत्‌में जाननेयोग्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानक्षेत्रकी व्याप्तिके अन्तर्गत है। पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और अनात्मा, ये दोही प्रकारके पदार्थ संसारमें हैं। अतः इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना यह ज्ञान-क्षेत्रका साध्य है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इस अन्तःकरण चतुष्टयसे यह ज्ञान प्राप्त करना है। 'ईशा वास्यं इदं' (मं. १) 'ईश व्याप्त करता है इस सृष्टिको' ऐसा जो प्रथम मंत्रमें कहा है, उससे हमारा ज्ञानक्षेत्र व्यक्त हो रहा है। 'ईश' शब्दसे 'आत्मा या परमात्मा' और 'इदं' शब्दसे 'सृष्टि, जगत् अथवा संसार' का बोध होता है। मनुष्यको जो ज्ञान प्राप्त करना है वह इसी सम्बन्धमें है। अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो इन दोनोंको प्राप्त करना आवश्यक है। सृष्टि विज्ञानसे 'अभ्युदय' और आत्मज्ञानसे 'निःश्रेयस' प्राप्त हो सकता है। और इन दोनोंकी प्राप्तिसे मनुष्य कृतार्थ हुआ ऐसा माननेमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं दीखती। मनुष्य विशेषतः ऐहिक उन्नति प्रत्यक्ष होनेसे उसे प्राप्त करनेका यत्न करता है। ईशोपनिषद्‌में 'ज्ञानक्षेत्र' संबन्धी तीन (९-११) मंत्रोंने दोनों विद्यायें प्राप्त करके ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति बिना विरोधके किस प्रकार साधनी चाहिए, यह उत्तमतया दिखाया हैं।

(३) कर्म-मार्ग।

ज्ञान प्राप्त करनेके बाद वह ज्ञानकर्ममें प्रकट होना चाहिए। इसके बिना ज्ञानका उचित उपयोग होना संभव नहीं। 'खाना अर्थात् पेट भरना,' ऐसा ज्ञान होनेपर खानेके कर्म करनेही पडते हैं। ठीक ऐसा यहां भी समझना चाहिए। परमेश्वर पूर्ण और सर्वज्ञ होनेसे इस जगत्‌में उसके श्रेष्ठ कर्म सर्वत्र चल रहे हैं। उसी प्रकार मनुष्यको जितना जितना ज्ञान प्राप्त होता जाएगा, उतना उतना उसका कर्मक्षेत्र बढता जाएगा, यह सुस्पष्टही है। दोनोंके सम्बन्धसे कर्म उत्पन्न होते हैं। इस जगत्‌में 'जगत्यां जगत्' (मं. १) जगतीके आधारसे जगत् है, अर्थात् संघके आधारसे व्यक्ति है, अथवा समष्टिके आधारसे व्यष्टि है। अतः इस सम्बन्धके कारण व्यक्तिको समाजके हितके लिए कर्म करने चाहिए। व्यक्तिमें भी आत्मा और शरीरका सम्बन्ध होनेसे शरीरको आत्माके लिए और आत्माको शरीरके लिए कर्म करने आवश्यक हैं। परमात्मा सब जगत्‌में होनेसे वह सब जगत्‌को यथायोग्य गति देनेके पवित्र कर्म सर्वदा करही रहा है। अतः मनुष्योंको भी अपने कर्तव्य कर्म करने अत्यावश्यक हैं। इस प्रकार दोनोंका जहां संबन्ध होता है वहां एकका दूसरेसे जो सम्बन्ध होता है, उस संबन्धसे कुछ विशेष कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। इन्हें करनेपर उनकी उन्नति और न करनेपर अवनति होती है। सारांश रूपसे मनुष्यके कर्म-क्षेत्रका यह स्वरूप है।

(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र।

मनुष्यका प्रथम कर्तव्य अपने शरीरमें सम विकास करना है। शरीरमें स्थूल और सूक्ष्म, अनेक शक्तियां हैं। स्थूल

शक्ति अधिक बढानेसे सूक्ष्म शक्तियोंकी प्रगति रुक जाती है और सूक्ष्म शक्तियोंके बढानेका प्रयत्न किया तो स्थूल शक्तियां क्षीण होती हैं। इसलिए इन दोनों शक्तियोंका समविकास करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। मनुष्यके अंदरकी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंका नामही ' अध्यात्म शक्ति ' है और इन शक्तियोंका विकास करनाही ' आध्यामिक शक्ति-विकास ' है। ' वाक्...प्राण...चक्षुः... श्रोतं... इत्यध्यात्मम्। (छां. उ. ३।१८।२) ' वाणी, प्राण नेत्र, श्रोत्र इत्यादि शक्तियां आध्यात्मिक शक्तियां है। इनका विकास आध्यात्मिक शक्तिका विकास है। स्थूल शक्तियां बढकर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायता करें और सूक्ष्म शक्तियां बढकर स्थूल शक्तियोंकी सहायक बनें, इसका नाम है समविकास। ' आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ' का तात्पर्य वैयक्तिक शक्तियोंका कार्यक्षेत्र है।

(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र।

व्यक्तिकी यह शक्ति जैसे जैसे बढती जाएगी, त्यों त्यों उसके बाह्य कार्यक्षेत्र विस्तृत होते जाएंगे। उसके क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, संघ, जात, राष्ट्र, मानवजनता, प्राणी, समष्टि इत्यादि कार्यक्षेत्र एकसे एक उसकी अन्तःशक्तिके विकासानुसार विस्तृत होते जाएंगे। मनुष्य व्यक्ति सम्पूर्ण समष्टिके आधारसे स्थित है। व्यक्तिकी शक्तिका पूर्ण विकास होनेसे पूर्व वह व्यक्ति समष्टिके कार्य करनेके लिए योग्य नहीं हो सकती। अतः व्यक्तिको अपनी योग्यता बढाकर अपनी शक्तिका यज्ञ समष्टिके हितार्थ करना चाहिये।

(६) आधिदैविक कार्यक्षेत्र।

इससे अगला कार्य विश्वके सम्बन्धमें जो कुछ मनुष्यके करने योग्य है वह है। इस जगत्में जो विश्वशक्ति है, उस शक्तिसे व्यक्ति और संघकी सहायता करवाना, अग्नि, जल, वायु, विद्युत् इत्यादि प्रचण्ड देवी शक्तियां हैं उन्हें अनुकूल करके उनसे जनता और व्यक्तिके हितके कार्य कराना, यह ' आधिदैविक कार्यक्षेत्र ' है।

(७) यज्ञ और अयज्ञ।

मनुष्यको इन त्रिविध कार्यक्षेत्रोंमें अनेक कर्तव्य करने हैं। और उनके द्वारा वैयक्तिक तथा सामुदायिक सुख और शान्ति प्राप्त करनी है। यह मनुष्यके कार्यक्षेत्रकी व्याप्ति है। वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य करते हुए व्यक्तिके हितके लिए समाजके हितका अर्थात् व्यष्टिके हितके लिए समष्टिके हितका नाश होना नहीं चाहिए। व्यक्तिको समष्टिके लिए आत्म समर्पण करना ' यज्ञ ' और व्यक्तिका अपने सुखके लिए समष्टिके हितका नाश करना यह ' अयज्ञ ' है। यज्ञसे मनुष्यकी उन्नति और अयज्ञसे अवनति होती है। ऊपर जो ' जगत्यां जगत् ' (मं. १) = समष्टिके आधारसे व्यक्ति है, ऐसा कहा है उसका उद्देश यही है। जिस आधारसे व्यक्ति स्थित है, उस आधारको अपने सुखके लिए नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस आधारका नाश हुआ तो फिर वह व्यक्ति कहां रहेगी ? अतः अपने आधारको नष्ट करनेका भाव अपने आपका नाश करना है। अयज्ञसे जो नाश होता है वह इस प्रकार है।

(८) कर्म, अकर्म और विकर्म

व्यक्ति और संघके कर्तव्योंका कार्यक्रम परस्पर अविरोधसे होना चाहिए इसका स्पष्टीकरण ' कर्मक्षेत्र ' के तीन मंत्रोंमें किया है। उसके अनुसार प्रत्येकको अपने कर्तव्य करने चाहिए। केवल अस्तित्वके लिएही जो कर्तव्य करने हैं उनका नाम ' अकर्म ' है। क्योंकि उनका परिणाम व्यक्तितक सीमित है। [' अकर्म ' शब्दका निष्काम कर्म ऐसा दूसरा अर्थ भी है।] जो कर्तव्य व्यक्ति और समाजके हित करनेवाले हैं और जो यज्ञ बुद्धिसे किए जाते हैं, उनका नाम ' कर्म ' है। यज्ञवाचक सब शब्द इसी कर्मके पर्याय शब्द हैं और व्यक्ति तथा समाजका घात करनेवाले जो कर्म हैं, उन्हें ' विकर्म ' अर्थात् विरुद्ध कर्म या जो नहीं करने चाहिए ऐसे कर्म, कहते हैं। अकर्म तथा कर्म, ये दोनों अविरोधपूर्वक करने चाहिए। केवल विकर्म नहीं करने चाहिए। कर्मक्षेत्रोंमें यह कर्मकी व्याप्ति इतनी विशाल है। तथापि ज्ञान द्वारा अपने कर्तव्य कर्म योग्य रीतिसे करना मनुष्यकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए ' कुर्वन्नेवेह कर्माणि ' (मं. २) = ' कर्म करने चाहिए, ' ऐसा उपदेश किया गया है। इस मंत्रमें कर्म करने चाहिए ऐसा जो कहा है, वे कर्म कौनसे यह ऊपर दिखाया गया है। व्यक्ति और संघकी उन्नति करनेवाले जो यज्ञरूप कर्म हैं, वे ही करने चाहिए और इन कर्मोंको करते हुए जिजीविषेच्छतं समाः '। (मं. २) = ' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर '। यह वेदका उपदेश है ' न कर्म लिप्यते नरे '। (मं. २) = ' कर्मोंका लेप मनुष्यको नहीं लगता ' ऐसा जो कहा है, वे येही यज्ञरूप कर्म हैं। ये मनुष्यको पवित्र करते हैं, उच्च पदको प्राप्त कराते हैं और पूज्य बनाते हैं।

इस प्रकार 'ज्ञान और कर्म' इन दोनों साधनोंसे साधकका कैसे लाभ होता है और उनके द्वारा आत्मोद्धार कैसे करना चाहिए यह यहां दिखाया है। ये दो, एकहीकी दाई और बाई बाजू है, अथवा एकही उन्नतिके रथके ये दोनों पहिये हैं। इनके द्वारा उन्नतिके मार्गपर मनुष्यके चलनेसे उसका विकास होकर, उसे अंतमें जो पद प्राप्त करना है वहां वह पहुंच जाता है।

(९) अमरत्व प्राप्तिका मार्ग।

'कर्मक्षेत्र' का वर्णन करनेवाले जो (१२-१४) मंत्र हैं उनमें 'वैयक्तिक कर्मों द्वारा अपना विनाश दूर करके, संघनिष्ठा द्वारा समुदायके लिए कर्म करते हुए अमृतत्वको प्राप्त करे' (मं. १४) ऐसा कहा है। इसका थोडासा यहां मनन करना चाहिए। संघनिष्ठाका क्या अर्थ है और उससे अमरत्व कैसे प्राप्त होता है, यह यहां विचार करनेयोग्य प्रश्न है। संघनिष्ठ पुरुष यदि वास्तवमें अमर होता है तो चोर डाकू भी कहीं किसीसे कम संघनिष्ठ नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें यहां 'संघनिष्ठा' शब्दसे क्या दिखाया गया है इसका विशेष विचार करना चाहिए। इन (१२-१४) मंत्रोंके अर्थमें 'संघभाव और असंघभाव' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। यहां 'भाव' शब्दका अभिप्राय भक्ति ऐसा समझना चाहिए।

भाव अथवा भक्ति केवल ईश्वर परही रखनी चाहिए। ईश्वर हमारा पूज्य पिता है और उसके हम 'अमृत पुत्र' हैं। अथर्ववेदमें 'अनुव्रतः पितुः पुत्रः' (अथर्व. ३।३०।२) 'पिताके कार्यको आगे चलानेवाला पुत्र हो' ऐसा कहा है। इस नियमानुसार हम सब यदि परमेश्वरके पुत्र हैं, तो उसके चलाए हुए कार्योंको आगे चलाना या उसके कार्योंका भाग हम अपने ऊपर लेकर उसे योग्य रीतिसे पूर्ण करना हमारा कर्तव्य होता है।

ईश्वरके कौनसे कार्य जगत्‌में चले हुए हैं? ईश्वरके तीन प्रकारके कार्य यहां प्रचलित हैं। 'सज्जनोंका संरक्षण, दुष्टोंका दमन और धर्मका संस्थापन।' (भ. गी. ४।८) ये तीन प्रकारके कार्य परमेश्वर कर रहा है ऐसा सब आर्यशास्त्र कह रहे हैं। येही कार्य हमने किए, या इन कार्योंमें भाग लिया तो हम परमेश्वरके कार्य आगे चला रहे हैं ऐसा होगा। यही उसकी भक्ति या सेवा है। परमेश्वरकी भक्ति अथवा सेवा करनी चाहिए ऐसा जो कहा है, वह सेवा यही है। भक्ति, भजन, 'इन शब्दोंका अर्थ 'सेवा और सेवन' यही है। (भज् सेवायां। भज् धातुका अर्थ सेवा करना है) पिताकी सेवा पुत्रको करनी चाहिए इसका अर्थ यह है कि पिताद्वारा चलाए कार्योंमें अपना भाग बढाना चाहिए। सेवक यही कार्य स्वामीके लिये करता है। ईश्वरके सेवकको भी यही कार्य परमेश्वरार्पण बुद्धिसे नित्य करने चाहिए।

'सज्जनोंका परिपालन, दुर्जनोंका शासन और मानव-धर्मकी स्थापना' ये ईश्वरके कार्य हमें करने चाहिए, यही भक्ति है। और इन कर्मोंका करना यह सच्चा 'भक्ति मार्ग' है। अपनी शक्तिके कारण दुर्जन अनेक प्रकारके दुःख अशक्तोंको देते हैं। उन दुःखोंसे अशक्तोंका संरक्षण करके उन्हें सुखी करना, यह 'जनतामें जनार्दनकी उपासना' करना है। विद्यासे, शक्तिसे, अधिकारसे वा धनसे युक्त पुरुषोंकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनकी सेवा करनेवाले उन्हें चाहिए इतने मिल सकते हैं। परन्तु जो विद्वान् नहीं हैं, बलाढ्य नहीं हैं, अधिकारी नहीं हैं, या धनवान् नहीं हैं, उन्हें कोई सहायक नहीं मिलता। अतः ऐसे दीन जनोंकी सेवा करना, उसकी स्थिति सुधारना, उसकी उन्नतिके लिए अपने आपको समर्पित कर देना, यह 'ईश्वरकी सेवा' है। दीनोंकी दया यह संतोंका मूल धन है, (तुकाराम)। इसी मूल धनसे यह भक्तिका व्यापार करना है। जो संघभावना, संघनिष्ठा या संघोपासना अथवा संभूतिकी उपासना इस ईशोपनिषद्‌में कही है वह यही है। ईश्वर 'दीनोद्धारक' है। इसी दीन जनोद्धारणके कार्यका करना जनसंघकी उपासना है। 'गुरुकी सेवा करनी चाहिए' अर्थात् गुरुको किसी बातकी न्यूनता नहीं रहनी चाहिए। इसी प्रकार दीनोंकी सेवा करनी चाहिए अर्थात् उनका दीनपन हटाकर, उन्हें अदीन बनाकर उनके उद्धारार्थ जो कुछ करना आवश्यक हो वह करना चाहिए।

यही दीनोद्धारका काम परमेश्वरकी भक्ति है। दुःखितोंके दुःख देखकर अन्तःकरण खिन्न होना चाहिए। इस विषयमें अथर्ववेदका मंत्र देखिए—

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥
(अथर्व. २।३४।३)

'जो तेजस्वी लोग बद्ध मनुष्यको अपने मन और चक्षुसे अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें ही प्रजाजनके साथ रमण करनेवाले विश्वकर्ता तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रीतिसे मुक्ति करता है।'

इस मंत्रमें भी यही कहा है कि दीन, दुःखी, बद्ध और परतंत्र लोगोंपर जो लोग दया करते हैं, उनकी दीनता दूर करनेके लिए अविश्रांत परिश्रम करते हैं, उन्हेंही सबसे प्रथम (प्रमुमोक्तु) वह मुक्त करता है, क्योंकि विश्व निर्माता देव (प्रजया संरराणः) जनतामें रहता हुआ उनके आनन्दसे आनन्दित होनेवाला है। इसीलिए वह जनताके दुखोंको देखकर खिन्न होता है और जनताको कष्ट देनेवाले उन दुष्टोंके दलनेके लिए प्रेरणा करता है। 'संघभक्ति' क्या है, कैसी प्राप्त करनी चाहिए, और उसे करनेसे (अमृतत्वं) अमरत्व कैसे प्राप्त होता है, यह इस विवेचनसे ध्यानमें आ जायेगा।

वेद प्रतिपादित 'भक्तिमार्ग' यह है। किस मनुष्यकी जितनी योग्यता होगी, उतने अधिकारक्षेत्रमें वह कार्य कर सकेगा। एकाध वैद्य निर्धन रोगीका योग्य औषधोपचार करके मैंने ईश्वर सेवा की ऐसा समझ सकता है। दूसरा कोई तृषितको थोडा जल देकर वैसीही ईश्वर-सेवा कर सकता है। कोई वीर परतंत्र देशको पीडित करनेवाले शत्रुको दूर करके जनताको स्वतंत्र करके परमेश्वरकी सेवा की ऐसा समझ सकता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(भ. गी. १८।४६)

स्वकर्मोंसे ईश्वरको उपासना करके सिद्धि प्राप्त करनेका यह मार्ग है। ये कर्तव्य क्षेत्र विविध हैं और कर्ताकी पुरुषार्थ शक्तिके अनुसार उसके कर्तव्य भी अनेक हैं, परंतु उन सबका तत्व 'जनतामें जनार्दनकी सेवा' यही एक है। यही 'भक्ति मार्ग' है और पूर्वोक्त 'ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग' ये दोनों मार्ग इसके अन्तर्हित होते हैं। इस मार्गसे जानेवाला भक्तही सरल और शीघ्र मुक्त होता है, यह उपरोक्त अथर्व वचनसे स्पष्ट प्रतिपादित है।

आजकल प्रचलित भक्तिमार्गमें इस जनसंघोपासनासे ईश्वर भक्ति होती है ऐसा कोई भी नहीं मानता और केवल 'नाम-स्मरण' ही तारक है ऐसा माना जाता है। वह यद्यपि अन्तःशुद्धि मात्रके लिए ठीक है तथापि ईश्वरकी बहिरंग उपासना वह नहीं है। अतः उनके कार्य आधेही होते हैं। (तत् उ अन्तः बाह्यतः च। मं. ५) ईश्वर अन्दर है और बाहिर भी है, नामस्मरणसे यदि उसकी अन्तःकरणमें पूजा हुई, तो उसके 'नाम' से बताये कर्तव्य बहिस्थ जनता रूप जनार्दनके लिए उसे करनेही चाहिए। तभी कर्तव्योंकी आन्तरिक और बाह्य पूर्णता होनी संभव है। एक अन्तर्यामीके कर्तव्य किए तो आधा कार्य हुआ। दूसरा बहिस्थ ईश्वरके लिये कर्तव्य करनेतक कार्य पूर्णही नहीं होगा।

अब यहां एकही प्रश्नका विचार करना है और वह यह कि 'जन संघ भक्ति' अथवा 'संभूतिकी भक्ति' या पृथिवीपर संपूर्ण जनताकी सेवा एक मनुष्यसे कैसे हो सकती है? वस्तुतः 'संभूति' में सर्व प्राणियोंकी समष्टिकी कल्पना है। किसी भी एक मनुष्यके लिए सब मनुष्योंतक अपनी सेवा पहुंचाना संभव नहीं। इसलिए अपना दया भाव और प्रेमभाव जितना संभव हो, उतना विस्तृत करनेसे, उससे जितनी जनसंघ सेवा होगी, उतनी वह जनार्दनको अर्पण होगी और उतनी उसकी उन्नतीमें सहायक होगी। सब प्राणियोंतक उसकी सेवा पहुंचनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। केवल उसकी संघभक्तिसे अधर्म बढना नहीं चाहिए इतनी सावधानी उसे रखनी चाहिए।

राक्षस भी संघोपासक थे, परन्तु वे अपने संघबलसे दूसरोंका नाश करके अपने भोगको बढानेका प्रयत्न करनेके कारण उनके प्रयत्न जनताके दुःख बढानेके लिये कारण होते थे। इसलिये ऐसे प्रयत्नोंसे अधोगति होती है। 'सब दुष्ट दूर हों, अथवा दुष्टोंकी वृत्ति बदल जाए, सज्जनोंका संरक्षण हो और धर्मका उत्कर्ष हो'। इस दिशामें जो संघकी भक्ति होती है वही उद्धारक है। इसमें दूसरोंके रक्तसे सने हुए भोग हमें मिले ऐसा उद्देश नहीं है, अपितु सर्वत्र शांति फैले, मानवधर्मका उत्कर्ष हो और सब लोग सुखी हों, इस दृष्टिसे प्रयत्न करना चाहिये। इस कर्तव्यकी दिशा इस उपनिषद्ने संभूति प्रकरणद्वारा दर्शायी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति, यह जो शुद्ध सनातन धर्म है, उसका प्रारंभ अहिंसासे अर्थात् भूतदयासे होकर अंत 'सर्वस्व समर्पण' में होता हैं। इससे राक्षसी स्वार्थको इस धर्ममें जरा भी स्थान नहीं है।

सत्यनिष्ठा।

जगत्में शान्तिकी स्थापना करना यह मनुष्यका साध्य है। और इस साध्यको साधनेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन साधन हैं। इन तीनों साधनोंका दुरुपयोग न हो इसलिए 'सत्य' की कसौटी मनुष्यको सदा अपने पास रखनी चाहिए ऐसा पंद्रहवें मंत्रने सूचित किया है। 'सुवर्णका मोह छोडनेमें सत्य दिखेगा'। 'लोभ छोडना चाहिए' ऐसा कहनेके कारण संघभक्तिसे सब राक्षसी स्वार्थ और अनर्थ दूर हो सकते हैं।

ऐसी इस निर्लोभ सत्यनिष्ठासे पवित्र हुए ज्ञान, कर्म और भक्तिसे सर्वत्र शांति स्थापित करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

सिंहावलोकन।

'हमने जो कुछ किया उसका क्या परिणाम हुआ, वह हमारे उद्धारके लिए सहायक हुआ वा नहीं, कौनसे प्रतिबन्ध आए इसका सिंहावलोकन करते हुए उपरोक्त मार्गका अनुसरण करना चाहिए' ऐसा पुनः १७ वें मंत्रमें बताया है। 'कृतं स्मर'='क्या किया है वह देखो और फिर आगे जो कुछ करना है वह करो'। यह उपदेश सबको सदा ध्यानमें रखने योग्य है।

इस प्रकार ईशोपनिषद्के मुख्य उपदेशोंका मनन यहां समाप्त हुआ। इसका इस रीतिसे अधिक विचार करके साधक अपनी उन्नति करते रहें। शेष उपदेश यद्यपि विशेष बोधप्रद हैं, पर वह सुगमतासे समझने योग्य होनेसे उसका यहां अधिक स्पष्टीकरण नहीं किया है।

वेदका आदेश।

कितने लोग ऐसा समझते हैं कि वेदके मंत्रभागोंमें 'आज्ञा' (विधि) नहीं है। 'मनुष्य! तू यह कर और यह न कर' ऐसी स्पष्ट आज्ञा नहीं है, ऐसा जो समझते हैं, उसका अर्थ इतनाही है कि सब संहिताओंमें सभी आज्ञार्थक वाक्य नहीं हैं। परन्तु वेदोंमें बहुत आज्ञायें हैं—

(१) मा गृधः= लोभ मत कर।

(२) त्यक्तेन भुञ्जीथाः= दानसे भोग कर।

(३) कृतं स्मर= किए हुए कृत्योंका स्मरण कर।

इत्यादि आज्ञा इस ईशोपनिषद्में (अर्थात् यजु. अ. ४० में) हैं। इन्हें देखनेपर वेदमें आज्ञायें नहीं है ऐसा किसीको भी समझना नहीं चाहिए। परन्तु जो लोग, आज्ञायें नहीं है ऐसा मानते हैं, उनका अर्थ वह यह है कि– उन्हें चाहिए उतनी आज्ञायें वेदमें नहीं हैं। 'आज्ञा होनेपरही काम करना, नहीं तो नहीं' यह वृत्ति दास मनुष्योंकी है।

स्वतंत्र मनुष्य आन्तरिक स्फूर्तिसे काम करता है। लोगोंको गुलाम बनानेकी वेदकी इच्छा नहीं है, अतः वह किसीको बहुतसी आज्ञा नहीं करता; परन्तु वह ऐसी शब्द योजना करके वर्णन करता है कि उससे मनुष्यके अन्तःकरणमें स्वयं स्फूर्ति उत्पन्न हो। और वह अपनी अन्तःस्फूर्तिसे स्वतंत्रतासे अपने कर्तव्य करे तथा अपनी उन्नति करे।

इससे पाठकोंको पता चलेगा कि वेदमंत्रमें आज्ञार्थक प्रयोग बहुतसे नहीं हैं यह वैदिक धर्मके महत्त्वको बढानेवाली बात है। 'इन्द्र अपने बलसे शत्रुका नाश करता है' ऐसा कहतेही, 'हम अपना बल बढाकर शत्रुका नाश करना चाहिए' ऐसी स्फूर्ति मनमें उत्पन्न होती है। इसी प्रकार वेदोंमें जिस देवताकी स्तुति है वह उपासकके अन्तःकरमें वैसी स्फूर्ति उत्पन्न करनेके लिये ही है। अतः वह आज्ञा न भी हुई तो भी आज्ञाकाही काम करती है। इतनाही नहीं परंतु उसका परिणाम उससे भी अधिक बडा होता है। इस दृष्टिसे वेदके प्रशंसापरके मंत्र अत्यन्त महत्त्वके हैं। इस ईशोपनिषद्में बहुतसे मंत्र 'आत्मा' देवताकी प्रशंसा परक हैं। केवल तृतीय मंत्र 'आत्मघातक' लोगोंकी निन्दा परक है। इस प्रकारसे निन्दा करनेवाले जो मंत्र हैं, वे अवनतिकारक कर्म न करनेका उपदेश करते हैं। 'अमुक मत करो' ऐसी निषेधक आज्ञा न करते हुए 'ऐसे आत्मघातक कर्म करनेसे ऐसी अधोगति होती है' ऐसे वेदमंत्रोंमें कहा है। यह निन्दा सुनकर ऐसे अधोगतिकारक कर्म न करने चाहिए ऐसी स्वाभाविक इच्छा मनमें उत्पन्न होती है। स्तुतिके मंत्रोंसे सत्कर्मोंकी ओर प्रेरणा तथा निन्दाके मंत्रोंसे हीन कर्मोंकी ओरसे निवृत्ति होती है। मनुष्यको दुष्ट कर्मोंसे निवृत्त कर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त करना यह धर्मका उद्देश इस प्रकार वैदिक धर्मसे सिद्ध होता है। आज्ञा करके मनुष्योंमें गुलामोका भाव बढानेकी अपेक्षा इस प्रकारसे मनुष्यकी अन्तःप्रवृत्तिको ही बदलना सर्वथा श्रेयस्करही है।

अब वेदके सम्बन्धमें दूसरी एक बात यहां ध्यानमें रखने योग्य है। और वह यह कि वेदमें 'प्रशंसा' रूप मंत्रोंकी संख्या बहुत अधिक है और 'निन्दा' रूप मंत्रोंकी संख्या बहुत थोडी है। इस छोटीसी उपनिषद्में अठारह मंत्रोंमेंसे केवल एकही मंत्र निन्दापरक है, शेष सब मंत्र प्रशंसात्मक हैं। इसका कारण यह है कि 'मनुष्यका मन जिस बातका अधिक मनन करता है तदनुसार वह बनता है।' मनका यह धर्म है। इसलिए मनके सामने कौनसी बात लानी चाहिए और कौनसी नहीं, इस विषयमें अत्यधिक विचार करना चाहिए। निषेधरूपमें भी यदि बुरी कल्पना मनके सामने रख दी जाय तो भी उसका बुरा परिणाम मनपर होता है। बुरी बुरी कल्पनायें निषेधरूपमें बार बार सामने आनेसे उनका प्रभाव धीरे धीरे मनपर पडता जाता है और अन्तमें मनके वह स्थिर रूपसे मनपर जम जाता है। इसलिये निषेधकी आज्ञायें भी बहुत थोडी होनी चाहिए और वे ऐसी भाषामें होनी चाहिए कि उनका यथासंभव

मनपर प्रभाव कम पडे। 'बुरी बात मत करो' ऐसा कहनेमें प्रथम बुरी बातकी कल्पना मनुष्यको दी गई और फिर उसका निषेध किया गया। इसलिए ऐसे निषेध वारंवार मनके सामने आने लगे तो उनका अच्छा परिणाम होनेके स्थानपर उनका मनपर अनिष्ट परिणामही होगा। इसीलिए मनके इस धर्मका विचार करते हुए वेदमें बुरी बातोंके निषेधोंके भी मंत्र बहुत थोडे हैं और प्रशंसाके मंत्र प्रकाशके धर्मकी स्फूर्ति देनेवाले होनेसे अधिक हैं। ईशोपनिषद्‌में अथवा यजुर्वेदके ४० वें अध्यायमें १६ मंत्र प्रशंसापरके हैं और केवल एकही मंत्र निन्दापरक है।

. उपदेश भी केवल 'सत्यधर्मकी दृष्टि' (मं. १५) मनुष्यके मनमें उत्पन्न करनेके लियेही करना चाहिये और वह सत्यकी प्रशंसा करके किया जाना चाहिये न कि असत्यका निषेध करते हुए। वेदके उपदेशमें यह विवेक अवश्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए ईशोपनिषद्‌का उपदेश सर्वथा सरल शब्दोंमें नीचे दिया जाता है। भावार्थ स्पष्टतया ध्यानमें आनेके लिए उसमें कुछ शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं और कहीं कहीं क्रियापदोंमें थोडासा परिवर्तन भी किया है। कहां क्या परिवर्तन किया गया है यह पीछे दिए गए उपनिषद् वचनोंसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकता है। यह परिवर्तन इसलिये किया है कि किस मंत्रसे किस भावनाकी जागृति मनमें उत्पन्न होती है, यह पाठकोंके ध्यानमें शीघ्र आ सके।

उपनिषद्‌का भावार्थ।

शान्ति मंत्र।

वह आत्मा पूर्ण है और उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है। यद्यपि उस पूर्णसे यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है तथापि वह जैसाका वैसाही परिपूर्ण रहा है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई है।

आत्मज्ञान।

(१) [आत्मा] ईश इस सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप रहा है। इस जगत्‌में संघके आधारसे व्यक्ति रहता है। अतः व्यक्तिको अपने भोगोंका त्याग [यज्ञ] संघके लिए करना चाहिए और त्याग करके जो कुछ अवशिष्ट रहे उसका अपने लिए भोग करना योग्य है। कोई लोभ न करे। धन किसी एक व्यक्तिका नहीं, वह सब जनसंघका है।

(२) मनुष्य इस जगत्‌में सर्वदा प्रशस्त कर्मही करता रहे, और सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न करे। यह ही मनुष्यका धर्म है; इसे ध्यानमें रखना चाहिए। इसको छोडकर दूसरा उन्नतिका मार्ग नहीं है। सत्कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता।

(३) केवल शारीरिक शक्तिके लिये ही प्रसिद्ध कुछ लोग हैं, परन्तु उनमें आत्मिक ज्ञान जरा भी नहीं होता। जो आत्मघातकी लोग हैं वे मरनेके बाद और जीतेजी भी, ऐसेही लोगोंमें गिने जाते हैं।

(४) वह आत्मा अद्वितीय, स्थिर, सबसे प्रथम, द्रष्टा और मनका भी प्रेरक है। वह इन्द्रियोंको नहीं दीखता। सब वेगवान् पदार्थोंकी अपेक्षा भी उसका वेग अधिक है। उसके आधारसेही मनुष्य अपने कर्म धारण करता रहता है।

(५) वह स्वयं नहीं हिलता तो भी सबको चलाता है। वह दूर होता हुआ भी सबके पास है। वह सबके अन्दर और बाहिर भी है।

(६) जो सर्व प्राणियोंको आत्मामें और आत्माको सब प्राणियोंमें देखता है वह किसीका भी तिरस्कार नहीं करता।

(७) जिस समय आत्माही सब भूत बन गया उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव प्रतीत होनेसे उसे किसी भी कारणसे शोक अथवा मोह नहीं होता।

(८) वह सर्व व्यापक है। वह देह रहित, स्नायु और व्रणसे रहित है। उसी प्रकार वह शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, मनका स्वामी, विजयी और स्वयंभू है, और वह सदा सब कर्तव्य योग्य रीतिसे करता रहता है।

(९) जिनकी दृष्टि केवल व्यक्तितकही सीमित है वे अधोगतिको जाते हैं और जिनकी दृष्टि केवल संघतक सीमित है वे भी अधोगतिको पाते हैं।

(१०) व्यक्ति निष्ठासे एक लाभ होता है और संघ-निष्ठासे दूसरा लाभ होता है ऐसा विचारशील उपदेशक कहते आये हैं।

(११) व्यक्तिका हित और संघका हित इन दोनोंको साधना चाहिए। व्यक्तिकी उपासनासे वैयक्तिक कष्ट दूर करके संघसेवासे साधक अमर हो सकता है।

(१२) जो केवल जगत्‌की विद्याकेही पीछे लग जाते हैं वे अवनत होते हैं। इसी प्रकार जो केवल आत्माकी विद्याके पीछे लग जाते हैं वे भी अवनत होते हैं।

(१३) जगत्की विद्याका फल और आत्माकी विद्याका फल पृथक् पृथक् है ऐसा विचारशील उपदेशकोंका कहना है।

(१४) जगत्की विद्या और आत्माकी विद्या ये दोनोंही साथ साथ उपयोगी हैं। जगत्की विद्यासे (सांसारिक) दुःख दूर करके साधक आत्माकी विद्यासे अमर हो सकता।

(१५) प्राण अपार्थिव अमृत है और यह स्थूल शरीर नाशवान् है। अतः हे जीव ! ओंकारका जप कर और अपने किए हुए कर्मोंपर विचार कर।

(१६) हे देव ! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयके पास ले जा। तू हमारे सब कर्मोंको जानताही है। हमारेसे कुटिल पापोंको दूर कर। इसके लिए हम सब तुझे नमस्कार करते हैं।

(१७) सत्यका मुख सुवर्णके ढक्कनसे ढका गया है। अतः यदि सत्य देखना हो तो वह सुवर्णका ढक्कन दूर करना चाहिए। शरीर धारण किया हुआ मैं प्राणशक्तिसे उन्नति चाहनेवाला तेरा उपासक हूं।

यह ईशोपनिषद्का सरल रूपान्तर है। शब्वशः अनुवाद पूर्व स्थानमें दिया है। यह यहां पुनः देकर द्विरुक्तिका दोष किया है, तथापि कई मंत्रोंका आशय केवल भाषान्तरसे एकदम ध्यानमें नहीं आसकता, अतः यह सरल शब्दोंमें रूपान्तर दिया है। इस आत्म-सूक्तमें मुख्यतः आत्माका गुणवर्णन है तथापि प्रार्थना, उपासना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, आज्ञा, याचना, आदेश आदि सब प्रकारके मंत्र इसमें हैं, इस दृष्टिसे विचार करनेवालेको यह सरल रूपान्तर सहायक होगा। आज्ञा और निन्दा कितनी थोडी है और प्रशंसा कितनी अधिक है, इनकी तुलना यहां देखने योग्य है। बुराईकी निन्दातक अधिक नहीं करनी चाहिए, और की भी तो बहुत थोडी। बुरे शब्दोंसे जिह्वाको थोडासा भी खराब करना नहीं चाहिए। सुविचारके शब्दही उच्चारने चाहिए। यही वेदका आशय है। देखिए—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ (ऋ. १।८९।८)

'अच्छी बातें कानोंसे सुनें और अच्छीही बातें आंखोंसे देखें।' किसी भी तरहसे, निषेध करनेके लिए भी बुराईका स्मरणतक न करें। वेदमें स्तुति और प्रशंसापरक मंत्र अधिक तथा निन्दा और आज्ञापरक कम हैं, इसका यही कारण है। मनका स्वभावधर्म 'मननसे तद्रूप होनेका' होनेसे वेदोंने प्रशंसनीय दिशाही लोगोंके सामने रखी है। सत्यके शिवाय शेष जो कुछ है वह असत्यही है। उसका वर्णन करके मनको कलुषित करनेसे क्या लाभ ? इसके अतिरिक्त 'सत्य एक' होनेसे उसको कहा जा सकता है, पर असत्योंकी गणना करके कहना असंभव है। उदाहरणार्थ एक और एक कितने होते हैं ? इस प्रकार उत्तर एकमात्र सत्य 'दो' है, इसके सिवाय शेष सब संख्याएं असत्य हैं। ऐसी दशामें उन सब असत्य उत्तरोंका कहना कठिन है पर इस प्रश्नका एक मात्र सत्य उत्तर 'दो' अति सुगमतासे प्रकट किया जा सकता है। यही बात सब विषयोंके सत्यासत्यके कथनमें समझनी चाहिए।

उपरोक्त मंत्रोंमें जो स्तुतिविषयक मंत्र हैं, वे परमात्माके गुणोंकी प्रशंसा कर रहे हैं। परन्तु कभी न कभी इस उपासककी आत्मा उन गुणोंसे युक्त होनेवाली है, अतः 'हमारे अन्दर विद्यमान् आत्माके भावी स्वरूपका वर्णन' यह है, अथवा 'सोऽहं' (मं. १७) = 'वह मैं हूं' ऐसा समझते हुए वह वर्णन पढनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है और कितनी होनी है, यह उससे ठीक ठीक ज्ञान होगा। इस तरह जाननेसे अपनी कर्ममार्गपर कितनी प्रगति हुई है इसका ज्ञान प्रत्येकको हो सकता है।

तीन मार्ग।

ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग ये तीन मार्ग हैं। इन्हें एकही स्तुति विषयक मंत्रमें अथवा सूक्तमें कैसे समझा जा सकता है यह अब देखिए। उपरोक्त सूक्तमें (१) जो परमात्मापरक स्तुतिका वर्णन है, वह हमारी आत्माका, उसके पूर्णत्वको प्राप्त करनेकी अन्तिम अवस्थाका वर्णन है, क्योंकि 'सोऽहं (मं. १७)'='वह मैं' होनेसे वह वर्णन जैसा उसका है वैसा मेरा भी है, ऐसा समझकर यह आत्माका ज्ञान हमें कितना प्राप्त हुआ है, यह देखते जाना और आगे अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न करते जाना यह, 'ज्ञान मार्ग' है। (२) परमात्मा क्या करता है यह उसके वर्णनसे या स्तुतिसे जानकर तत्सदृश कर्म 'स (इव) अहं'= 'उसके सदृश मैं' होऊंगा ऐसी भावनासे अपने कर्तव्य क्षेत्रानुसार यथा संभव निर्दोषपूर्ण कर्म करते रहना यह 'कर्ममार्ग' है। इस विषयमें, क्या क्या बोध लेना चाहिए यह मंत्रखण्डोंसे तालिका द्वारा पहिले दिया है। (३) इन दोनों मार्गोंमें कुछ समानताका नाता दिखाया जाता है। जगत्में परमेश्वरके जो महान्से महान् कार्य चल रहे हैं उनमेंसे यथा संभव भाग परमेश्वरार्पण बुद्धिसे बंटाना, उससे जनतामें जनार्दनकी यथाशक्ति सेवा करनी और फलेच्छाकी जरा भी इच्छा न रखते हुए '(तस्याऽहं)'=

'उसका मैं हूं' ऐसी भावनासे केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे की गई सेवाको परमेश्वरकोही अर्पण करना, यह 'भक्तिमार्ग' है। एकही स्तुति विषयक सूक्तसे ये तीनों मार्ग इस रीतिसे विचार और मनन करनेवालेको सुगमतया समझमें आ सकते हैं। आधुनिक समयमेंही ये मार्ग प्रचलित हुए हैं ऐसी बात नहीं है। अपितु वेदमें ये पूर्वसेही इस प्रकारसे हैं। इस ईशोपनिषद्‌के मंत्रोंसे ये तीनों मार्ग पाठक समझ सकेंगे। भक्तिमार्गका उत्तम उदाहरण हनुमान्‌जीका है। रामनामके जपसे अंतरंगकी पवित्रता करनी और श्रीरामके जगदुद्धारक कर्मोंका यथाशक्ति अपने ऊपर भार लेकर ईश्वरकीही बहिरंग उपासना करनी, ये भक्तिमार्गके द्विविध कार्य श्री हनुमान्‌जीकी जीवनीको देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होते हैं। ऐसे और भी बहुत भक्त हैं। उनके चरित्रोंमें भी यही बात दिखाई देगी।

विरोधका परिहार

ईशोपनिषद्‌में 'विद्या प्रकरण' और 'संभूति प्रकरण' हैं। उनमें 'विद्या अविद्या' और 'संभूति असंभूति' इन शब्दोंके अनेक भाष्यकारोंने अत्यन्त विविध अर्थ किए हैं। इसीलिए इनके अर्थ अन्तर्गत प्रमाणोंसे क्या होते हैं यह यहां दिखाना आवश्यक है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

प्रथम मंत्रमें 'ईशा वास्यमिदं सर्वं' ऐसा वाक्य है। इसमें 'ईश और इदं' ये दो पदार्थ ज्ञातव्य हैं और ये एक दूसरेसे भिन्न हैं। इनका ज्ञानक्षेत्र है।

ईश	इदं
ईश	जगत्
ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
आत्म–विद्या	अनात्म–विद्या
...विद्या	अ...विद्या

इसप्रकार ये शब्द प्रथम मंत्रके अनुरोधसे बनते हैं। येही शब्द विद्या अविद्या प्रकरणमें क्रमशः 'आत्मज्ञान और जगत्‌का विज्ञान' इस अर्थमें आए हैं। पहिले मंत्रके पदोंका विचार करनेपर अगले मंत्रोंका स्पष्टीकरण सुगमतासे हो जाता है। और किसी भी प्रकारकी शंका नहीं रहती।

इसी मंत्र भागके अगले 'जगत्यां जगत्' ये शब्द जगत्‌का स्वरूप वर्णन करनेवाले हैं। जगत् कैसे है? इसका उत्तर है कि वह 'जगतीके आधारसे जगत्' स्थित है। जगतीके समूहका नामही 'जगती' है। 'संघके आधारसे व्यक्ति इस जगत्‌में रहती है' यह जगत्‌का नियम है। 'एक और उसकी जाति', यह जगत्‌का रूप है।–

जगती	जगत्
सं+भूति	अ+संभूति
संघ	व्यक्ति

'सं+भू' धातुका अर्थ 'एक होकर रहना' है। एक होकर न रहनेके भावको 'अ+सं+भू' धातु दर्शा रही है। एक होकर जमा करके रहनेकी एक कल्पना और अकेले अकेले रहनेकी दूसरी कल्पना, ऐसी दो कल्पनायें 'संभूति और असंभूति' इन दो शब्दोंसे दिखाई गई। इन दोनोंकी जंजीर बनाकर उससे मनुष्यकी उन्नति किसप्रकार साधी जा सकती है, यह इस प्रकरणमें दर्शाया गया है।

परस्पर विरोधी शक्तियोंसे एक दूसरेके लिए सहायता कैसी प्राप्त करनी चाहिए, यह बात पाठक यहां अवश्य ध्यानपूर्वक देखें, क्योंकि जगत्‌में सर्वदा परस्पर विरोधी विचारकोंकी यदि कहीं भेंट भी हो गई तो एक दूसरेके विचारोंकी एकता न होनेसे प्रायः झगडे होते हैं और उनके बढ जानेसे दोनोंका नाश हो जाता है। परन्तु यदि दोनों विरुद्ध शक्तियोंको एक केन्द्रमें परस्पर सहायक बनाया जाय, तो दोनोंका अनेक प्रकारसे कल्याण हो सकता है। विरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियोंको सहायक कैसे बनाना चाहिए, यह इस प्रकरणका विचार करनेवाला सुगमतासे समझ सकता है।

असुर्य लोक।

'असुर्य लोक' गाढ अंधकारसे व्याप्त हैं ऐसा तृतीय मंत्रमें कहा है। ये असुर्य लोक कौनसे हैं, इस विषयमें बहुतोंने बहुतसे तर्क किए हैं। कितनोंने 'सूर्य जहां नहीं है ऐसे देश' ऐसा अर्थ किया है। परन्तु यहांपर 'असुर्य' शब्द है 'असूर्य' नहीं। दूसरे कुछ मानते हैं कि 'असुर' का अर्थ राक्षस है, और उनके देशका नाम 'असुर्यलोक' है। परन्तु ये सब अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होते। वेदमें 'असु+र' यह शब्द 'प्राणशक्ति (असु+र) देनेवाला' इस अर्थमें परमेश्वरके लिए आया है। वेदमें बहुतसे देवताओंके लिए 'असुर' शब्द इसी अर्थमें विशेषण रूपसे आया है। 'असुरत्व' शब्द (ऋग्वेदमें २८ बार,) वाज. यजुर्वेदमें ३ बार, और अथर्वमें २ बार) उपरोक्त अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'असुर्य' शब्द वेदमें अन्य दूसरे किसी अर्थमें भी नहीं आया है और केवल 'परमेश्वरसे मिलनेवाले (असु–र्य) प्राणोंके बल' इसी एक अर्थमें आया है। प्राणके ऊपरके बौद्धिक, मानसिक आदि बल इससे भिन्न हैं।

इस अर्थको ठीक ठीक समझनेके लिए यहां थोडासा भिन्न रीतिसे विचार करना आवश्यक है। शरीरमें (असु) प्राणोंकी शक्तिको गति देनेवाला आत्मा है। उसके रहते हुए शरीरमें प्राण शक्ति कार्य करती रहती है और वह गया कि प्राणोंका कार्य बन्द होता है। इस दशामें शरीरमें (असु+र) प्राणशक्ति देनेवाला आत्माही है इसमें शंका नहीं। इस आत्माके जो बल शरीरमें दीखते हैं वे 'असुर्य' बल हैं। आत्मासे प्राप्त जो प्राणोंके बल हैं वे येही हैं। ये प्राणोंके बल इन्द्रियोंमें और शरीरमें संचार करते हैं, इसीलिए प्राणोंके बल इस स्थूल शरीरमें दीखते हैं। रावणके शरीरमें जैसे ये असुर्य बल थे वैसेही रामके भी ' शरीरमें थे। केवल दोनोंमें भेद इतना था कि रावण अपनी शक्तिसे दूसरोंको परतंत्र करके अपने शारीरिक भोग बढाता था और इसलिए राक्षस गिना जाता था और श्रीरामचंद्र समर्थ होते हुए भी स्वयं कष्ट उठाकर दुःखितोंके दुःखको दूर करनेके लिए आजन्म प्रयत्न करते रहे। अतः उनकी गणना देवोंमें हुई। असुर्य बल दोनोंमें होता हुआ भी एक देव और दूसरा राक्षस बन सकता है। इसका कारण उनकी आत्मिक शक्तिकी प्रवृत्तिमें भेद है। इसीलिए ही—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।

'असुर्य बलसे प्रसिद्धि पाए हुए वे लोग हैं जो गाढ अंधकारसे व्याप्त हैं।' इस मंत्रमें 'असुर्यलोकों' का 'गाढ अन्धकारसे व्याप्त' ऐसा विशेषण दिया है। वह इसीलिए कि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले दूसरे असुर्य लोक भी हैं, उनका बोध इस मंत्रमें न हो। उनका वर्णन हम इसप्रकार कर सकते हैं—

असुर्या नाम ते लोका आत्मभासा प्रकाशिताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्मविदो नराः॥

'असुर्य बलसे प्रसिद्ध वे लोग हैं कि जो आत्माके तेजसे प्रकाशित होते हैं। उनमें मरनेके बाद भी उनकी गणना होती है जो कोई आत्मज्ञानी नर है।' (यह श्लोक हमने अपनी कल्पनासे बनाया है।)

ऐसी अर्थापत्तिसे और विशेषणके अनुसंधानसे श्लोकका हम निर्माण कर सकते हैं, और इससे पता चलेगा कि असुर्य लोग जैसे राक्षसोंमें हो सकते हैं, ठीक वैसेही देवोंमें भी हो सकते हैं। रावण और राम दोनोंही असुर्य शक्तिसे युक्त थे, पर रावण अंधतमसे व्याप्त था और दूसरा आत्मप्रकाशसे पूर्ण था; क्योंकि प्रथमकी अन्तःकरण-प्रवृत्ति स्वार्थी भोग

तृष्णासे अन्ध हुई थी और उसके विरुद्ध दूसरेकी शुद्धाचरण और जगदुद्धारकी प्रेरणासे प्रकाशित हुई थी। अन्तःशक्ति भी एंजिनकी तरह है। वह केवल गति देती है। एंजिनकी शक्तिसे काटनेके यंत्र जैसे फिरते हैं वैसेही जोडनेके यंत्र भी फिरते हैं। इसीप्रकार यहां भी समझना चाहिए।

धनका अपहार।

प्रथम मंत्रमें 'मा गृधः, कस्य स्विद् धनं'। (मं. १) ऐसा एक चरण है। उसका, '(१) लोभ मत कर, (२) धन भला किसका है?' ऐसा अर्थ हम पहिले कर आए हैं। कुछ लोग इस मंत्रखण्डके ऐसे दो भाग न मानते हुए 'कस्य स्विद् धनं मा गृधः।' किसीके भी धनका लोभ मत रख, ऐसा अर्थ करते हैं। यद्यपि यह अर्थ बुरा नहीं है तथापि इस मंत्रमें जो 'स्वित्' शब्द है वह प्रश्नार्थक है। 'क्या, भला' ऐसाही उसका अर्थ होता है। 'कस्य स्वित्' इसका 'कस्य चित्' ऐसा अर्थ नहीं होता। 'दूसरे किसीके भी धनपर लोभ मत रख' ऐसा अर्थ कई मानते हैं। दूसरेके धनका अपहार मत कर, दूसरोंको लूट करके अपने उपभोग मत बढा। यह एक उत्तमही उपदेश है पर इससे अर्थापत्ति-द्वारा एक ध्वनि निकलती है कि 'स्वयं कष्ट उठाकर प्राप्त की हुई जो धन संपत्ति हो और जो पैत्रिक संपत्ति अपने भागमें आई हुई हो, वह दूसरेकी न होनेसे और केवल अपनी ही होनेसे उस सर्व संपत्तिका हम स्वयं चाहिए जैसा उपभोग करें, उसमें कोई भी आपत्ति नहीं।' इस दृष्टिसे यह अर्थ धर्मकी दृष्टिमें थोडासा गौणही प्रतीत होता है। धर्म ऐसा कहता है कि जो कुछ हमारा धन हो उसका भी लोभ न करते हुए उसका यज्ञ करना चाहिए अर्थात् 'उसका विनियोग सज्जनोंके सत्कार करनेमें, समान लोगोंकी संगतिकरणमें और जिनमें न्यूनता है उनकी न्यूनता हटाकर पूर्णता करनेके लिये दान देनेमें व्यय करना चाहिये।' यज्ञ अर्थात् 'सत्कार-संगति-दानात्मक सत्कर्म।' अपने धनका इन कार्योंमें उपयोग करना चाहिये। अपने धनका ऐसा उपयोग करना ही वास्तविक [त्यक्तेन भुञ्जीथाः। (मं. १)] है ऐसा माने, और ऐसा अपने धनका यज्ञ करके जो कुछ अवशिष्ट रहेगा उसका अपने लिए भोग करे। यज्ञशेष भक्षण धर्म है, यहां दूसरेके धनका लोभ नहीं करना चाहिये; इतनाही अर्थ है यह बात नहीं, अपितु अपने धनका भी लोभ नहीं करना चाहिये ऐसा यहां दर्शाया है। (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) दानसे अपने धनके भोगकी आज्ञा है। (मं.

गृधः) धनका लोभ मत कर। (कस्य स्वित् धनं ?) किस एक व्यक्तिका भला धन है ? इसका विचार कर। ऐसा मंत्रका अर्थ सीधा दीखता है। विचारकको उसी समय पता लग जाएगा कि धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है; क्योंकि जो व्यक्ति धन मेरा है ऐसा मानता है, वह व्यक्ति थोडेही समयमें सब धन यहींपर छोडकर चला जाता है। इसलिये धन किसी भी एक व्यक्तिका नहीं, यह सत्य है। धन सब जनताका, समाजका, संघका अथवा जातिका या समष्टिका है, व्यक्तिका नहीं। यद्यपि धन कुछ कालके लिए एक व्यक्तिके आधीन होता है, तथापि उस धनका वास्तविक स्वामी समाज है और वह व्यक्ति उस समाजके धनके एक भागका 'विश्वस्त पंच' है। पंच अपने आधीन धनका अपने लिए उपभोग नहीं कर सकता, वह जिसका है उसके लिए उसका उपयोग कर सकता है। ठीक इसी प्रकार यहां प्रत्येक व्यक्तिको अपने धनका यज्ञ करनेकाही अधिकार है, अर्थात् जनताके हितार्थ कर्तव्यकर्म करनेमेंही खर्च करनेका उसे अधिकार है। उस धनका अपने भोगके लिए खर्च करनेका उसे अधिकार नहीं।

अग्निदेवता।

ईशोपनिषद्के अन्तिम मंत्रमें 'अग्नि' देवताकी प्रार्थना है। वहां अग्नि शब्दसे किसका बोध लेना चाहिए इसका विचार करना चाहिए। बहुतसे लोग अग्नि शब्दसे 'यज्ञमें उपयोगमें आनेवाली आग' ऐसा यहां समझते हैं। यद्यपि अग्नि शब्दका ऐसा अर्थ है तथापि वह यहां इष्ट नहीं है। यह सम्पूर्ण सूक्त एकही देवताका वर्णन करता है। उसी एकही देवके लिए इस सूक्तमें निम्नलिखित नाम आए हैं- (मं. १) ईश, (मं. ४) एकं, तत्, एनत्, पूर्वं, (मं. ५) तत्, (मं. ६-७) आत्मा, (मं. ८) सः, कविः, स्वयंभूः, (मं. ९) सत्यं, (मं. १६) पूषा, ऋषिः, यमः, सूर्यः, (मं. १८) अग्निः।

इन शब्दोंपर विचार करनेपर 'सः, तत्, ईशः, स्वयंभूः, कविः, सत्यः, पूषा, यमः, अग्निः, आत्मा' इत्यादि सब नाम एकही परमात्माके हैं ऐसा स्पष्ट दीखता है। एक सूक्तमें एक देवताकेही गुण दिखानेके लिए ये सब शब्द आए हैं। 'आत्मा' के अतिरिक्त इस सूक्तका अन्य कोई देवता आजतक किसीने भी नहीं माना है। अतः अग्नि आदि शब्द एक आत्माकेही वाचक इस सूक्तमें आए हैं यह निर्विवाद है। यही आशय निम्न ऋचा भी दर्शा रही है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ. १।१६४।४६)

इस मंत्रमें एक आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं ऐसा कहा है। इस वेदमंत्रको देखनेसे अग्नि, यम आदि शब्द उस एक अद्वितीय स्वयंभू परमात्माकेही वाचक हैं इस विषयमें शंका नहीं रहेगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ चालीसवां अध्याय समाप्त॥

वाजसनेयि-शुक्ल-यजुर्वेद-संहितायाः कण्डिकानां

वर्णानुक्रम-सूची ।

—×—

वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल

यजुर्वेद-संहिताऽध्यायानां सूची

